॥ श्रीहरिः ॥

616

कल्याण

योगाङ्क

[दसवें वर्षका विशेषाङ्क]

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण

योगाङ्क

[दसवें वर्षका विशेषाङ्क]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

प्रथम संस्करणसे छः पुनर्मुद्रणतक २३,०००
सं० २०६२ सातवाँ पुनर्मुद्रण ३,०००
योग २६,०००
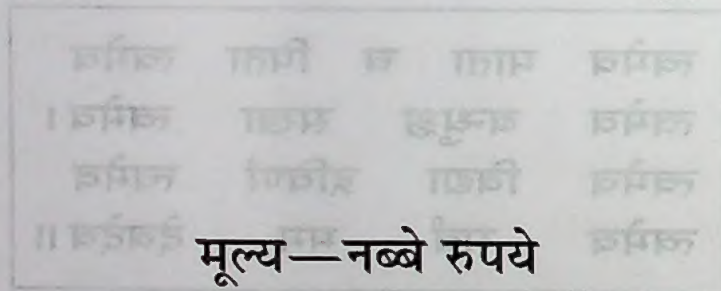
मूल्य—नब्बे रुपये

ISBN 81-293-0048-6

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक — एल० एन० गर्दे, हनुमानप्रसाद पोद्दार
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित
website : **www.gitapress.org** e-mail : **booksales@gitapress.org** ✆ (0551) 2334721

निवेदन

प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने जो धर्म मानव-जातिके कल्याणके लिये प्रकाशित किया उसमें योगसाधनको प्रधान स्थान प्राप्त है। यदि मानवधर्मसे योगसाधनको पूर्णतया हटा दिया जाय तो उसमें कुछ भी नहीं बचेगा। भारतीय ऋषियोंने योगका मानव-जीवनके साथ अटूट सम्बन्ध देखकर मनुष्यको योगमय जीवन व्यतीत करनेकी प्रेरणा दी। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण, गीता आदि धर्मग्रन्थ सभी योगदर्शनके ही चमत्कार हैं। ऋषियोंने आत्मकल्याण और लोककल्याणके सन्मार्गका अनुसंधान समाधिस्थ अवस्थामें योगारूढ़ होकर ही किया था। वेदोंमें कर्म, उपासना और ज्ञानके नामसे योगका ही वर्णन किया गया है। पातञ्जलयोगदर्शनमें योग-साधनपर ही विचार किया गया है, कपिलमुनिके सांख्यदर्शनमें सांख्ययोगकी महत्ता बतलायी गयी है, पूर्वमीमांसामें कर्मयोगकी व्याख्या है और उत्तरमीमांसामें ब्रह्मयोगकी चर्चा है। श्रीमद्भागवतादि पुराण और रामायण आदि भक्तियोगप्रधान ग्रन्थ हैं तथा श्रीमद्भगवद्गीताका प्रत्येक अध्याय तो मात्र योगकी ही चर्चा विभिन्न रूपोंमें करता है। अतः योगधर्म ही मनुष्योंके लौकिक और पारलौकिक कल्याण तथा मुक्तिमार्गका एकमात्र पथ है। योगाभ्यासके द्वारा चित्तकी एकाग्रता प्राप्त हो जानेपर ज्ञान उत्पन्न होता है और उसी ज्ञानके प्रकाशमें जीवात्मा कर्मबन्धनका उच्छेद करके मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

योगकी उपयोगिता और महत्तासे सर्वसामान्यको परिचित करानेके जन-कल्याणकारी उद्देश्यसे 'कल्याण' (वर्ष १०, सन् १९३५)-के विशेषाङ्करूपमें 'योगाङ्क' का प्रकाशन किया गया था। इस विशेषाङ्कमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, लययोग, राजयोग, ध्यानयोग, हठयोग, सूरतशब्दयोग आदि विभिन्न योगोंकी व्याख्या और उनकी उपयोगितापर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वय-मीमांसा, भक्तियोग और शरणागतियोग, 'योगः कर्मसु कौशलम्' योगका विषय-परिचय, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, योगवासिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन आदि ग्रन्थोंमें योग और उसके स्वरूपकी व्याख्या आदि विभिन्न विषयोंके माध्यमसे योगके गम्भीर रहस्यों एवं अङ्ग-उपाङ्गोंकी बृहत् जानकारी प्रस्तुत की गयी है। इसमें योग-सम्बन्धी विषयोंपर इतने संक्षेपमें तथ्यपूर्ण और अनुसंधानात्मक सामग्रीका संचयन है कि पाठकगण इस विशेषाङ्कके पठन-पाठन तथा संग्रहसे सहज ही तत्त्वज्ञान एवं योगके गम्भीर रहस्योंसे परिचित हो सकते हैं तथा अपनी साधनाके लिये कल्याणकारी दिशा-निर्देश प्राप्त कर सकते हैं।

योगाङ्कका प्रकाशन पहले लेटरप्रेससे किया गया था। पाठकोंकी रुचि, आग्रह एवं इस विशेषाङ्कके विषय-वस्तुकी लोकोपयोगिताको ध्यानमें रखते हुए अब इसको कम्प्यूटरके द्वारा टाइप सेटिंग कराकर ऑफसेटकी सुन्दर छपाई, आकर्षक बहुरंगे चित्र तथा मजबूत जिल्द आदि विशेषताओंसे युक्त करके आकर्षक साज-सज्जामें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आशा है, 'कल्याण' के अन्य विशेषाङ्कोंकी भाँति 'योगाङ्क' के द्वारा भी पाठकगण आध्यात्मिक दिशा-निर्देश प्राप्त करके अपनी जीवनयात्राको सुगम बनायेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

पद्य

संगृहीत

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, श्रावण १९९२, अगस्त १९३५ | संख्या १ पूर्ण संख्या १०९

ॐ स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरं ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः। ॐ

(ऋग्वेद १। ५। ३)

शरणागतियोग

(भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य उपदेश)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३२-३३)

हे अर्जुन! मेरे अनन्यशरण होकर स्त्री, वैश्य और शूद्रगण तथा चाण्डालादि पापयोनिवाले भी निश्चय परमगतिको प्राप्त होते हैं। फिर पुण्ययोनि ब्राह्मण तथा राजर्षि (मेरे शरणागत) भक्तोंकी तो बात ही क्या है। अतएव तुम इस सुखरहित और अनित्य मनुष्यजन्मको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

तुम मुझमें ही मन रखो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे शरण होकर आत्माको मुझमें समाहित करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(१८। ६४)

सब गोपनीयोंमें भी परम गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन तुम फिर सुनो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी बात बताता हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६५-६६)

हे अर्जुन! तुम केवल मुझमें ही मन रखो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। ऐसा करनेपर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे। यह मैं तुम्हें सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे (बहुत ही) प्यारे हो। सब धर्मों (दूसरे सब तरहके आश्रयों)-को त्यागकर एकमात्र मेरी ही अनन्य-शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे सर्वथा छुड़ा दूँगा। तुम चिन्ता न करो।

यही सर्वोत्तम योग है।
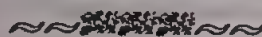
श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री १९०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

ऐहिकौर्ध्विकफलालिविरक्तिं भक्तियुक्तनिजधर्मनिषक्तिम्।
शान्तिदान्त्युपरतार्तितितिक्षामुख्यषड्गुणविवेकमुमुक्षाः॥
शास्त्रदिष्टविधितत्यनुरोधं स्वान्तवृत्तिनिकुरुम्बनिरोधम्।
यो ददाति गुरुरीश्वरयोगं नौमि नाशितनमद्भवरोगम्॥
होमप्रमुख्यैर्जगति द्विजाद्याः कर्मव्रजैर्भक्तिविबोधनाभ्याम्।
इच्छन्ति यत्तत्फलदायिकाभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम्॥
हिरण्यगर्भाधिकबोधदाभ्यां शरण्यसंघातशिरोमणिभ्याम्।
अरण्यसौधैक्यमतिप्रदाभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम्॥
हौत्राग्निहोत्राग्निहविष्यहोतृहोमादिसर्वाकृतिभासमानम्।
यद्ब्रह्म तद्बोधवितारिणीभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम्॥

कल्याणकी इच्छासे प्रेरित होकर कल्याणके रास्ते और साधनकी खोजमें निकले हुए प्रत्येक विचारशील मनुष्यका अनुभव है कि यद्यपि भगवान्‌की रची हुई सृष्टिके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाले अनन्तकोटि जीवोंमें शरीर, इन्द्रिय, चित्तवृत्तियों, बुद्धि, विद्या, अभ्यास आदि अंशोंमें अनन्त भेदोंके होनेके कारण कल्याण या शाश्वत श्रेयके साधनके विचारमें अनन्तकोटि मतभेद हुआ करते हैं, और एक-एक जीवके मनमें भी एक ही दिनमें असंख्य मतपरिवर्तन हो जाया करते हैं, तो भी सब जीवोंके विचारमें इस बातमें अत्यन्त एकता हमेशा नजर आती है कि उनका अन्तिम लक्ष्य तो एक ही हुआ करता है। वह यह है कि हमें सब स्थानोंमें, सब समयोंमें, सब अवस्थाओंमें और सब प्रकारसे सुख-शान्ति मिलती रहे और हमारी उन्नति ही होती रहे; किसी स्थानमें, किसी अवस्थामें, किसी बातमें, किसी प्रकारका तनिक भी दुःख, अशान्ति या अवनति न होने पावे। इसी स्वाभाविक एवं अनिवार्य चित्तवृत्ति तथा इच्छासे प्रेरित होकर सब जीव अपने-अपने विचार तथा शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं।

जीवनका चिह्न

इसमें तो सन्देह या मतभेद नहीं है कि उन्नतिकी इच्छा स्वाभाविक ही नहीं, अपितु अत्यन्त आवश्यक एवं उचित भी है। क्योंकि उन्नतिकी इच्छा तथा उसके साधनका विचार और उसे प्राप्त करनेका उद्योग करना, यही हर एक जीवके जीवनका मुख्य एवं असंदिग्ध चिह्न है। सच पूछिये तो यह कहनेमें भी अत्युक्ति न होगी कि जहाँ उन्नतिकी इच्छा, विचार और प्रयत्न न होते हों वहाँ या तो जान ही नहीं है अथवा वह जान घटते-घटते शनैः-शनैः मृत्युकी ओर अग्रसर हो रही है। अर्थात् ऐसा जीव **'जीवन्नपि मृत एव'**—कहनेको जीवित होते हुए भी यथार्थमें मुर्दा ही है। यह एक ऐसी सर्वथा सत्य बात है जिसका निराकरण या प्रतिवाद तो दूर रहा, जिसके बारेमें मतभेद या शङ्कातक नहीं हो सकती।

उन्नतिका सच्चा अर्थ

परन्तु साथ-ही-साथ उन्नतिके विचार और प्रयत्नमें इसलिये कठिनाई होती है कि हमलोग सच्चे दिलसे अपने कल्याण और उन्नतिको चाहते हुए भी किसी तत्त्वका भलीभाँति विचार नहीं करते और उन्नतिके यथार्थ लक्षणको न समझकर भ्रममें पड़ जाते हैं, बल्कि अपनी उन्नतिकी इच्छासे जो कुछ करते हैं उसीसे अवनतिके मार्गमें पहुँचकर स्वयं अपने ही अपराधोंसे अनेक नये-नये दुःखोंको भोगते हुए लाचार होकर पश्चात्तापसे बारंबार सन्तप्त होते रहते हैं। इसलिये इस बातकी अत्यन्त आवश्यकता होती है कि पहले हम अपने असली और सच्चे लक्ष्यका पता लगाकर उसके बाद साधन या रास्तेके विचारमें उतरें।

लक्ष्य और साधनका क्रम

लौकिक कार्योंमें भी तो यही क्रम होता है कि पहले हम अपने प्राप्तव्य स्थान (Goal या Destination)-का संकल्प या निश्चय कर लेते हैं और तत्पश्चात् रास्तेके बारेमें जिज्ञासा करने लगते हैं। यदि अनेक रास्ते हों तो उनमेंसे कौन-सा रास्ता सबसे नजदीक है, कौन-सा सबसे शीघ्र पहुँचानेवाला है, कौन-सा सबसे सस्ता है और किसमें सबसे अधिक आराम है—इस बातका निश्चय करते हैं। किन्तु बड़े खेदकी बात है कि इन छोटी-छोटी यात्राओंमें भी इसी क्रमसे काम करते हुए और अपनी बुद्धिमत्ता, होशियारी और चालाकीपर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भी अपने जीवनरूपी इस बड़ी सांसारिक यात्राके विषयमें (जिसपर हमारे इसी जन्मके नहीं, अपितु सम्भवतः हजारों जन्मोंके सुख-दुःख निर्भर करते हैं) हमलोग अपने महान् उत्तरदायित्वका तनिक भी खयाल

न करके इतनी विचारशून्यता दिखाया करते हैं कि हम इस प्रारम्भिक बातको भी नहीं सोचते कि हमारी इस जीवनरूपी लंबी यात्राका लक्ष्य क्या है।

उपहासकी बात

यात्रा तो शुरू हो चुकी है और हम अपने लक्ष्यकी दिशाको भी न जानते हुए, यात्रामें बहुत दूर निकल जानेके बाद भी, लक्ष्यका विचार न करके रास्तेमें मिलनेवाले प्रत्येक व्यक्तिसे पूछते रहते हैं कि हमें किस मार्गसे चलना चाहिये, अथवा केवल चर्चामात्र करते रहते हैं कि अमुक मार्ग ही अच्छा है, अमुक नहीं, इत्यादि। इससे बढ़कर अथवा इसके समान भी उपहासकी बात और क्या हो सकती है कि स्वयं हम ही न जानें कि हमें कहाँ जाना है, यही नहीं, हम औरोंके साथ चर्चा भी करते रहें कि कौन-सा रास्ता अच्छा है, इत्यादि?

इसका परिणाम

जब स्वयं हम ही नहीं जानते कि हमें कहाँ जाना है और इसीलिये अपने लक्ष्यका निर्देश न करते हुए हर एक व्यक्तिसे अपने मार्ग या साधनके बारेमें प्रश्न करते या सलाह माँगते चलते हैं, तब इसका यही परिणाम स्वाभाविक, उचित एवं अनिवार्य भी है कि जिससे सलाह माँगी जाती है वह हमारे भीतरके लक्ष्यको न जानते हुए, और कदाचित् अपने अन्दरके लक्ष्यका भी विचार न करते हुए उसी क्षण उसके मनमें जो मार्ग अच्छा या हितकर लगेगा उसीको बता सकेगा और बतानेको विवश होगा। अतः हमें सबसे पहले अपने असली और सच्चे लक्ष्यका पता लगाना होगा। लक्ष्यका निश्चय हो जानेके बाद साधनका विचार अपने-आप उपस्थित होगा। इसलिये इस लेखके आरम्भमें इसी बातका उपोद्घातरूपसे विचार किया जाता है कि मनुष्यजातिका असली लक्ष्य क्या है?

असली लक्ष्य एक ही है

यह विचार आरम्भ करनेसे पहले यह आक्षेप हो सकता है कि एक-एक मनुष्यके मनमें भी एक ही दिनमें और एक-एक क्षणमें बहुत-सी इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनमें बारंबार परिवर्तन भी हुआ करते हैं, अतः एक ही व्यक्तिके हृदयका भी एक ही निश्चित और नियत लक्ष्य नहीं होता। ऐसी हालतमें हजारों प्रकारके और अत्यन्त विभिन्न विचारोंके मनुष्योंका एक ही लक्ष्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जब एक-एक मनुष्यके विचारों और इच्छाओंमें भी विपुल भेद हो जाया करते हैं तब अनन्तकोटि मनुष्योंके विचारोंमें अनन्त भेदोंका होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामें सबके मनमें एक ही इच्छा या लक्ष्यका होना असम्भव-सा ज्ञात होता है। तो भी बड़े आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि जब हम ऊपर-ऊपरका विचार छोड़कर गहरे विचारमें उतरते हैं तब हमें उसी क्षण पता लग जाता है कि यद्यपि मनुष्य-मनुष्यके विचारोंमें और चित्तवृत्तियोंमें संख्यातीत भेद हैं तो भी हम सबका अन्तिम, असली और सच्चा लक्ष्य तो एक ही है, एक ही प्रकारका है और एक ही प्रकारके लक्षणोंवाला है।

साधनके विचारमें भेद

यह बिलकुल सत्य है कि एक आदमी पैसेके पीछे पड़ा हुआ नजर आता है, दूसरा शरीरकी तंदुरुस्ती एवं बलकी खोजमें है, तीसरा विद्याकी चिन्तामें रहता है, चौथा कीर्तिका भूखा है, इत्यादि, इत्यादि। किंतु ऊपर-ऊपर न जाकर थोड़ा ही गहरा विचार करनेपर हम सबको स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी इन चीजोंके लिये इन चीजोंको नहीं चाहता, बल्कि उपर्युक्त एक-एक वस्तुको—सच्चे सिद्धान्तके अनुसार या भ्रमसे—अपने हृदयके अभीष्ट अखण्ड, परिपूर्ण और शाश्वत शान्ति और आनन्दरूपी असली एवं सच्चे लक्ष्यका साधन समझकर और मानकर, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, रात-दिन पैसेका ही चिन्तन और ध्यान करनेवाले किसी व्यक्तिसे पूछा जाय कि तू पैसा क्यों चाहता है, तो वह जवाब देगा कि पैसेसे मैं अमुक-अमुक भोगोंका उपभोग कर सकता हूँ। इसपर उससे पूछा जाय कि तू अमुक-अमुक भोगोंको क्यों भोगना चाहता है, तो वह यही उत्तर देगा कि मुझे अमुक-अमुक भोगसे आनन्द होता है। अगर फिर उससे पूछा जाय कि तू आनन्दको क्यों चाहता है तो इस प्रश्नके उत्तरमें यही जवाब हमेशा मिलता है कि आनन्द चाहना स्वाभाविक है। कोई यह नहीं कहता कि मैं अमुक प्रयोजन या लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये आनन्द चाहता हूँ। तंदुरुस्ती, बल, विद्या, कीर्ति आदि अन्य सब पदार्थोंके बारेमें भी इसी प्रकारके प्रश्नोत्तर होते हैं।

लक्ष्यकी एकता और लक्षण

तात्पर्य यह है कि आनन्द ही सबका एकमात्र लक्ष्य

है और धन-धान्य, गृह, स्त्री, पुत्र, विद्या, आरोग्य, कीर्ति आदि सब पदार्थोंको आनन्दरूपी अपने हृदयके असली, सच्चे और अन्तिम लक्ष्यका साधन समझकर हमलोग उन सब चीजोंके पीछे पड़ा करते हैं। अर्थात् विचारमें जितने भेद होते हैं वे सब-के-सब साधनके बारेमें हैं, लक्ष्यके विषयमें तो तिलमात्र या अणुमात्र भी भेद नहीं होता और न हो सकता है। अब आगे हमें इस बातका विचार करना है कि हम सबके हृदयके भीतर हमेशा रहनेवाले इस शाश्वत और अखण्ड आनन्दरूपी लक्ष्यके अन्तर्गत क्या-क्या लक्षण होते हैं, उन्हें जाननेके लिये शास्त्रीय ग्रन्थोंके प्रमाण अथवा अन्य किसी मनुष्यविशेषकी साक्षी लेनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने ही दिलसे पूछ-पूछकर कि हे दिल! तू क्या-क्या चाहता है, हम पता लगा सकते हैं कि हमारे हार्दिक लक्ष्यके कितने लक्षण होते हैं और वे क्या-क्या हैं।

पहला लक्षण—सत्स्वरूप

प्रत्येक जिज्ञासुको अपने दिलसे ही पूछनेपर कि हे हृदय! तू क्या चाहता है, पता लग सकता है कि मनुष्यमात्रके ही नहीं, बल्कि जीवमात्रके मनमें स्वभावसे ही सबसे पहले यही इच्छा हुआ करती है कि मैं सदा जीवित रहूँ। जो अत्यन्त वृद्ध और बिलकुल कमजोर हो गया है, जिसके नेत्र, श्रोत्र, बुद्धि आदिसे कुछ भी काम नहीं होता, जिसकी जठराग्निमें अत्यन्त हलके खाद्य और पेय पदार्थोंको भी हजम करनेकी शक्ति नहीं रह गयी है और जो नाममात्रको जिन्दा रहते हुए भी यथार्थमें मरा हुआ ही समझा जाना चाहिये, ऐसा मनुष्य भी मरना नहीं चाहता, बल्कि सर्वदा जीते ही रहना चाहता है। ऐसे आदमीसे यदि पूछा जाय कि तू जिन्दा रहकर क्या करेगा और क्या कर सकता है, अथवा तू जिन्दा रहना क्यों चाहता है इत्यादि, तो कदाचित् उससे यही उत्तर मिलेगा कि जिन्दा रहनेकी इच्छा स्वाभाविक है, उसमें कारणकी अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् जिन्दा रहना ही स्वतः एक लक्ष्य है, किसी इतर लक्ष्यका साधन नहीं है। इस प्रकारके विचारसे स्पष्ट है कि सदा जीवित रहना हम सबका प्रथम लक्ष्य है। और इसीका हमारे शास्त्रोंमें सत्पदार्थ (**त्रिकालाबाध्यमस्तित्वम्**) नाम है।

दूसरा लक्षण—चित्पदार्थ

इसी प्रकार अपने-अपने दिलसे पूछनेपर सबको पता लग सकता है कि हम सब जिन्दा रहते हुए सब पदार्थोंको जानना चाहते हैं। अर्थात् ज्ञान है हम सबका दूसरा लक्ष्य और इसीका नाम है हमारे वेदान्तकी परिभाषामें चित्।

तीसरा लक्षण—आनन्द-पदार्थ

पुनः इसी तरह विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि केवल जिन्दा रहने और सब बातोंको जाननेसे ही तृप्त न होकर हम दुःखलेशसे भी रहित, केवल एवं अखण्ड और परिपूर्ण सुखको भी चाहते हैं। अर्थात् दुःखलेशसे भी रहित केवल शुद्ध, अखण्ड, परिपूर्ण सुख है हमारा तीसरा लक्ष्य और इसीका नाम हमारी संस्कृत भाषामें आनन्द है।

चौथा लक्षण—मुक्तस्वरूप

परन्तु, यदि अपने हृदयकी अभीष्ट सब सुखसामग्री हमें अपने स्वतन्त्र अधिकारसे न मिलकर दूसरे किसीके अनुग्रहसे मिला करे तो ऐसे सुखसे हमें तृप्ति और संतोष नहीं होता और हम कहने लगते हैं कि 'पराधीनतामें रहकर इन सब सुखोंको भोगनेकी अपेक्षा स्वतन्त्रतामें रहते हुए कम सुखोंका भोग करना श्रेष्ठ है, पराधीनता परम दुःख है,' इत्यादि।

भारतका इस समय बड़ा दुर्भाग्य है कि हमारे यहाँकी प्रचलित शिक्षाप्रणाली ही मिथ्या इतिहास सिखानेवाली है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हमलोग इस बातको भी नहीं जानते कि हमारे प्राचीन महर्षियोंसे पैत्रिक सम्पत्तिके रूपमें हमें कौन-कौन-सी विद्याएँ मिली हैं और यूरोप, अमेरिका आदि पाश्चात्त्य देशोंसे हमारे यहाँ कौन-कौन-सी वस्तुएँ आयी हैं, इत्यादि। अतएव हमलोग मिथ्या इतिहास सिखानेवाले पाश्चात्त्य देशोंके स्वार्थी प्रचारकोंकी अपने स्वार्थके लिये बतायी हुई हजारों असत्य बातोंको सत्य मानने और धोखा खानेको विवश हो गये हैं। उदाहरणार्थ, पाश्चात्त्य देशोंके स्वार्थी प्रचारक हिन्दुस्थानमें व्याख्यानों और पुस्तकोंके द्वारा प्रचार करते हैं कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, स्वराज्य आदिका सिद्धान्त पाश्चात्त्य देशोंसे आया है, साइमन डी मांटफोर्ड (Simon De Montford), जॉन हैम्प्डेन (John Hampden), जॉन मिल्टन (John Milton), ऑलिवर क्रॉमवेल (Oliver Cromwell), जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill), सर हेनरी कैम्बेल बैनरमैन (Sir Henry Compbell Bannerman), प्रेजिडेंट विल्सन (President Wilson) आदि पाश्चात्त्य राजनैतिक नेता ही स्वतन्त्रताके सिद्धान्तके जगत्के लिये

संस्थापक, सञ्चालक और प्रचारक थे और अँगरेजी साहित्य तथा इतिहासका परिचय न मिलनेतक भारतवर्षमें स्वतन्त्रताका खयालतक न था, इत्यादि, इत्यादि। इन लोगोंकी असत्यप्रियता एवं असत्यवादिताके प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दुनियाभरके समस्त देशोंके समस्त स्मृतिकारोंमें सर्वप्रथम स्मृतिकार भगवान् मनुने भी दुःख और सुखका निर्वचन (Definition) करते हुए यही बताया है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

'परतन्त्रता ही दुःख है और स्वतन्त्रता ही सुख है।'

इसके अतिरिक्त इस बातको भी सबको स्मरण रखना चाहिये कि दूसरे किसी मतमें न मिलनेवाले, केवल सनातनधर्ममें ही मिलनेवाले मोक्ष या मुक्तिरूपी परम लक्ष्यका भी हमारे शास्त्रकारोंने यही निर्वचन किया है कि '**सर्वबन्धनिवृत्तिरूपो मोक्षः**', अर्थात् समस्त बन्धनोंसे निवृत्ति ही मोक्षका स्वरूप है। इस लक्ष्यका दूसरे किसी देशके किसी धर्म, मत या मजहबने कहीं भी कभी भी निर्देश नहीं किया, इससे यह स्पष्ट है कि यदि दुनियाभरमें कोई देश और कोई धर्म स्वतन्त्रताके सिद्धान्तको माननेवाला है तो वह देश हमारा हिन्दुस्थान है और वह धर्म हमारा सनातनधर्म है।

सब बन्धनोंकी निवृत्ति (Emancipation from all bondage) है हमारा लक्ष्य; दुनियाके और सब मतोंका लक्ष्य है स्वर्गमें सुखमय जीवन व्यतीत करना। किन्तु हम सनातनी भारतवासियोंकी दृष्टिमें तो स्वर्गवास भी तुच्छ एवं क्षुद्र, अतएव हेय है और हमारे मतमें मोक्ष ही (जिसका स्वरूप है सर्वबन्धनिवृत्ति) एकमात्र इच्छाकी वस्तु है।

इस आदर्शरूप परम ध्येयको अपने दिलसे कोई भी विचारशील मनुष्य निकाल नहीं सकता, क्योंकि यह इच्छा तो प्राणिमात्रके हृदयमें ईश्वरद्वारा ही स्थापित है। निम्नलिखित लौकिक दृष्टान्तोंसे भी यह बात सिद्ध होती है। तोते, चूहे आदि छोटे-छोटे जानवर भी किसी बड़े धनिक आदमीके घरमें सुवर्णके पिंजरे आदि अत्यन्त सुखमय स्थानमें खाने-पीने आदिकी दृष्टिसे भी खूब आनन्दमें रहते हुए भी, मौका मिलनेपर तुरंत अपने हीन-दीन जङ्गली स्थानकी ओर चल पड़ते हैं। इसका कारण यही है कि जीवमात्रके हृदयमें प्राकृतिक नियमोंके अनुसार यही भाव रहता है कि परतन्त्रतामें रहकर सुख भोगनेकी अपेक्षा दुःख भोगते हुए भी स्वतन्त्रतामें रहना श्रेष्ठ है। जब कृमि, कीट आदिके मनमें भी यही इच्छा होती है तब मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुए उत्कृष्ट कोटिके जीवोंके लिये यह बात कैसे हो सकती है कि वे सर्वबन्धनिवृत्तिरूपी मोक्षसाम्राज्यको न चाहते हुए पराधीनताको पसंद करते रहें? इन सब विचारोंसे स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता है हम सबका चौथा लक्ष्य और इसीका नाम है हमारे वेदान्तकी परिभाषामें मोक्ष।

पाँचवाँ लक्ष्य—ईशस्वरूप

अगला प्रश्न यह है कि क्या शाश्वत अस्तित्व, अखण्ड ज्ञान, परिपूर्ण आनन्द और स्वतन्त्रताके मिल जानेपर हम तृप्त हो जाते हैं? नहीं, क्योंकि फिर एक पाँचवीं वस्तुकी भी हमारे मनमें स्वाभाविक इच्छा हुआ करती है। वह यह है कि हमें किसी दूसरेकी इच्छाके अनुसार न चलना पड़े, केवल इतनेसे ही हम सन्तोष नहीं कर लेते, अपितु यह चाहते हैं कि सारे जगत्के समस्त जीव हमारी इच्छाके अनुसार चलें। जिन्हें दुनियाका लेशमात्र भी अनुभव नहीं है, ऐसे छोटे-छोटे बालक भी तो यही चाहते हैं कि उनकी इच्छाके अनुसार उनके अनुभवी माता-पिता आदि भी चलें। अर्थात् हम औरोंके अधीन तो रहना चाहते ही नहीं, साथ-ही-साथ औरोंके ऊपर शासन करना भी अवश्य चाहते हैं। हमारे हृदयके इसी पाँचवें लक्ष्यका संस्कृतनाम ईशन या ईश्वरस्वरूप है।

छठा लक्षण—कोई नहीं है

और आगे विचार करनेपर पता लगता है कि इन पाँच लक्षणोंके बाद छठा लक्षण कोई नहीं है। इसका कारण यह है कि जब शाश्वत अस्तित्व, परिपूर्ण ज्ञान, अखण्ड आनन्द, सर्वथा स्वतन्त्रता और सर्वोपरि शासन—ये पाँच लक्षण प्राप्त हो जाते हैं तब इनके अतिरिक्त चाहनेयोग्य कोई वस्तु चौदह भुवनोंमें भी बाकी नहीं रह जाती। इसलिये हमारे हृदयके असली लक्ष्यके यही पाँच लक्षण हैं और हम जो-जो कार्य और प्रयत्न करते हैं वे सब-के-सब इन्हीं पाँचमेंसे किसी-न-किसी इच्छाकी प्रेरणासे किये जाते हैं।

इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम

अब इस बातका विचार करना है कि इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम क्या है, उसका स्थान कहाँ है, इत्यादि। सब धर्मोंके शास्त्रग्रन्थोंने बताया है कि ये पाँच लक्षण परमेश्वरमें पाये जाते हैं, और कहीं

नहीं। अर्थात् इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम है भगवान्, और उसका स्थान भी वही है। जो मनुष्य अपनेको नास्तिक कहता हुआ बड़े गर्वके साथ कहता है कि मैं ईश्वरको नहीं मानता इत्यादि, वह भी तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सच्चिदानन्दघनस्वरूपी परमात्माके इन्हीं पाँच लक्षणोंको अपनेमें चाहता है। अर्थात् हम सब नर होते हुए भी, नारायणके लक्षण या अस्तित्वको भी न जानते हुए यथार्थमें नारायण ही बनना चाहते हैं और इसी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये अपने-अपने विचारके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं।

मतान्तरोंका लक्ष्य

इस लक्ष्यकी दृष्टिसे विवेचन करनेपर आश्चर्य और चमत्कारका अनुभव होता है कि एक सनातनधर्मके अतिरिक्त और जितने मत-मतान्तर संसारमें हैं, उनमेंसे एक भी इस लक्ष्यको (जो हर एक जीवके हृदयमें रहता है) नहीं बताता; बल्कि हमारे यह बतानेपर कि यही प्राणिमात्रके हृदयका असली और सच्चा लक्ष्य है, मतान्तरोंके अनुयायी हमसे लड़ पड़ते हैं और कहते हैं कि ऐसा खयाल करना भी blasphemous or sacrilegious (बड़ा भयङ्कर पाप) है, इत्यादि। परन्तु सनातनधर्म तो स्पष्ट कहता है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

'जैसे बाण इधर-उधर न जाकर, अपने लक्ष्यके भीतर पैठकर उसके साथ एक हो जाता है, वैसे ही जीवरूपी बाणको इधर-उधर न भटककर अपने परमात्मरूपी लक्ष्यके भीतर प्रवेशकर उसके साथ एक हो जाना चाहिये।'

लक्ष्यप्राप्तिका साधन

यदि हम नरोंको अपने-अपने दिलकी गवाहीसे सिद्ध हुए इस नारायणरूपी लक्ष्यको प्राप्त करना हो तो हमें उन विधर्मोंसे, जो हमारे हृदयके इस लक्ष्यका विचारतक नहीं करते, उसके साधनका ज्ञान कैसे मिल सकता है? इसलिये हमें अपने सनातनधर्मसे ही, जिसमें हमारे लक्ष्यका पता लगाकर उसकी प्राप्तिके उपाय भी बतलाये गये हैं, इसका साधन सीखना होगा।

साधनका नाम योग है

नारायणके साथ नरके एक हो जानेके लिये सनातनधर्ममें जो साधन या साधनसामग्री बतलायी है, उसीका नाम है संस्कृतमें योग। 'युजिर् योगे' इस धातुके आगे 'कर्तरि घञ्' प्रत्यय लगानेसे व्युत्पन्न होनेवाले 'योग' शब्दका अर्थ है मेल और 'करणे घञ्' लगानेपर उसका अर्थ मिलानेवाला होता है। अर्थात् नर-नारायणसंयोगरूपी लक्ष्य भी 'योग' शब्दका अर्थ है और उन दोनोंको एक करनेवाली साधनसामग्रीका नाम भी 'योग' है। क्रियात्मक दृष्टिसे रूढ़िमें तो साधनका ही नाम 'योग' है।

अनेक प्रकारके योग

इस साधनरूपी योगका जब विचार किया जाता है तब इस बातका अनुभव होता है कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सब दृष्टिकोणोंसे विवेचन करनेपर साधकोंकी अभिरुचि और सामर्थ्यमें जो अनन्त भेद होते हैं, उनके कारण स्वाभाविक और अनिवार्य अधिकारिभेदके अनुसार साधनमें भी अनेक प्रकारके भेदोंका होना अवश्यम्भावी और अनिवार्य है। इसलिये नरकी नारायणके साथ एकता करानेवाला साधन सबके लिये एक नहीं हो सकता; बल्कि अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्रत्येक साधकको अपने साधनका निश्चय करके उससे काम लेना होगा, अतएव परम कल्याणके साधनरूपी योग अनेक प्रकारके होते हैं और हमारे शास्त्रोंमें उन सबका नाम योग ही पाया जाता है। अर्थात् जो-जो साधनसामग्री जीवको परमात्मस्वरूपमें पहुँचानेवाले किसी-न-किसी रास्तेपर या सीढ़ीपर चढ़ानेवाली हो या उसमें तनिक भी आगे बढ़ानेवाली हो उसका 'योग' शब्दसे निर्देश किया जा सकता है। और उनमेंसे भी जो साधनसामग्री नरको नारायणस्वरूपमें ही पहुँचा देती हो वही मुख्य वृत्ति (Primary meaning)-से 'योग' कहलाती है, तथा जो-जो साधनसामग्री इस काममें सिर्फ सहायक हो वह तो गौण (Secondary) ही कहला सकती है। इस तरह गौण और मुख्यके विचारसे भी योगोंमें तारतम्यकी बात होती है।

आनुपूर्वीका विवेचन

इसके अतिरिक्त यह भी शास्त्रसिद्ध एवं युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध है कि एक-एक रास्तेपर चलनेवाले साधकोंके लिये भी जिन अनेक साधनोंकी आवश्यकता हुआ करती है, उनमें भी आनुपूर्वी (आगे-पीछेके क्रम)-का हिसाब करना पड़ता है और साधकोंको उन साधनोंसे उसी क्रमसे काम लेना अच्छा होता

है जिसे शास्त्रोंने अधिकारिभेद आदिके विचारसे उस-उस साधकके लिये कल्याणकारी बताया हो।

योगोंके अवान्तरविभाग

उक्त कारणोंसे अधिकारिभेद एवं आनुपूर्वीके भेदके कारण क्रियायोग, समाधियोग, मन्त्रयोग, जपयोग, लययोग प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग, नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोग, कुलकुण्डलिनीयोग, अकुलकुण्डलिनीयोग, वाग्योग, शब्दयोग, अस्पर्शयोग, साहसयोग, शून्ययोग, श्रद्धायोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, प्रपत्ति (शरणागति)-योग, निष्काम कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, राजयोग, राजाधिराजयोग, महायोग, पूर्णयोग आदि अनेकानेक योगोंका पतञ्जलि आदिके ग्रन्थोंमें विस्तृत वर्णन मिलता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगोंकी संख्या

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीताके मूल वाक्योंमें ही बहुत-से और अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख आता है, जिनमेंसे कुछ नाम ये हैं—१ समत्वयोग (२। ४८, ६। २९—३३) २ ज्ञानयोग (३। ३, १३। २४, १६। १) ३ कर्मयोग (३। ३, ५। २, १३। २४) ४ दैवयज्ञयोग (४। २५) ५ आत्मसंयमयोग (४। २७) ६ योगयज्ञ (४। २८) ७ ब्रह्मयोग (५। २१) ८ संन्यासयोग (६। २, ९। २८) ९ दुःखसंयोगवियोगयोग (६। २३) १० अभ्यासयोग (८। ८, १२। ९) ११ ऐश्वरयोग (९। ५, ११। ४—९) १२ नित्याभियोग (९। २२) १३ सततयोग (१०। ९, १२। १) १४ बुद्धियोग (१०। १०, १८। ५७) १५ आत्मयोग (१०। १८, ११। ४७) १६ भक्तियोग (१४। २६) १७ ध्यानयोग (१८। ५२)।

अनासक्तियोग और असहयोग

इस खास मौकेपर कोई पूछे कि अनासक्तियोग और असहयोग (जो आजकल हिन्दुस्थानमें पुस्तकरूपसे एवं प्रचारके द्वारा प्रसिद्ध हुए हैं) क्या चीजें हैं, तो उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

(१) श्रीमद्भगवद्गीतामें जो कर्मयोग अथवा निष्काम कर्मयोग जगत्प्रसिद्ध है उसीका अनासक्तियोग—यह नया नाम रखा गया है। अनासक्तियोग कोई नयी वस्तु नहीं है।

(२) असहयोग तो कोई योग ही नहीं है। पातञ्जलादि योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगसाधनोंके बीचमें यह बताया गया है कि सज्जनोंके साथ मैत्री और दुष्टोंके प्रति केवल उपेक्षाका भाव (द्वेष नहीं) रखना चाहिये। और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'अनपेक्ष', 'उदासीन' आदि शब्दोंके द्वारा उपेक्षाका ही वर्णन मिलता है। योगसाधनान्तर्गत साधनोंमेंसे इसी उपेक्षारूपी एक छोटे टुकड़ेका ही आजकल असहयोग नाम रखा गया है। यह भी कोई नयी चीज नहीं है और पूरा योग भी नहीं है। अस्तु।

परस्पर सम्बन्ध

पूर्वोक्त सब प्रकारके योगोंके जो वर्णन भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें मिलते हैं उनके आधारपर इन सब योगोंके परस्पर सम्बन्ध, आनुपूर्वी आदिका विवेचन करना इसलिये बहुत कठिन है कि वे परस्परविरुद्ध प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके समन्वयकी अत्यन्त आवश्यकता सभी जिज्ञासुओंके अनुभवसे सिद्ध है।

योगका निर्वचन

इसके अतिरिक्त जिज्ञासुओंके लिये यह भी एक कठिनाईका कारण हो जाता है कि योगके निर्वचनके बारेमें भी गड़बड़ नजर आती है। क्योंकि भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें योगका—

'चित्तवृत्तिनिरोधः'

—यह एक सरल निर्वचन दिया है, किन्तु दूसरोंने और-और प्रकारके निर्वचन दिये हैं। श्रीमद्भगवद्गीतारूपी एक ही ग्रन्थमें इसके अनेकानेक निर्वचन दिये गये हैं। इन सब निर्वचनोंके भी (जो परस्परविरुद्ध या कम-से-कम परस्पर असम्बद्ध अवश्य मालूम देते हैं) समन्वयकी आवश्यकता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगनिर्वचन

श्रीमद्भगवद्गीतामें योग और योगीके जो अनेकानेक निर्वचन मिलते हैं उनमेंसे कुछ निम्नलिखित हैं—

१. **समत्वं योग उच्यते।** (२। ४८)

२. **योगः कर्मसु कौशलम्।** (२। ५०)

३. **श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।**
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (२। ५३)

४. **योगसन्न्यस्तकर्माणम्।** (४। ४१)

५. **योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः॥** (५। ७)

६. **नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।** (५। ८)
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (५। ९)

७. **कायेन मनसा बुद्ध्या कैवलैरिन्द्रियैरपि।**
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ (५। ११)

८. **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा..................।**

ॐ

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

श्रीपातञ्जलयोगदर्शनम्।

समाधिपादः

१. अथ योगानुशासनम्।

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

३. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

४. वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

५. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।

६. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।

७. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

८. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

९. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।

१०. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।

११. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।

१२. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

१३. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

१४. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

१५. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

१६. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

१७. वितर्कविचारानन्दास्मिता-नुगमात्सम्प्रज्ञातः।

१८. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार-शेषोऽन्यः।

१९. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

२०. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

२१. तीव्रसंवेगानामासन्नः।

२२. मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।

२३. ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

२४. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

२५. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

२६. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

२७. तस्य वाचकः प्रणवः।

२८. तज्जपस्तदर्थभावनम्।

२९. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया-भावश्च।

३०. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्या-विरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानव-स्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

३१. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

३२. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

३३. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।

३४. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

३५. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।

३६. विशोका वा ज्योतिष्मती।

३७. वीतरागविषयं वा चित्तम्।

३८. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।

३९. यथाभिमतध्यानाद्वा।

४०. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।

४१. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।

४२. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

४३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

४४. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।

४५. सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।

४६. ता एव सबीजः समाधिः।

४७. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।

४८. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

४९. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

५०. तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।

५१. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

इति श्रीपातञ्जलयोगशास्त्रे समाधिनिर्देशो नाम प्रथमः पादः॥ १॥

अथ साधनपादः

१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

२. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

३. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

४. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणाम्।

५. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या।

६. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

७. सुखानुशयी रागः।

८. दुःखानुशयी द्वेषः।

९. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।

१०. ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।

११. ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।

१२. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट-जन्मवेदनीयः।

१३. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

१४. ते ह्लादपरितापफलाः पुण्या-पुण्यहेतुत्वात्।

१५. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

१६. हेयं दुःखमनागतम्।

१७. द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

१८. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

१९. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।

२०. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

२१. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।

२२. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

२३. स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।

२४. तस्य हेतुरविद्या।

२५. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

२६. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

२७. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।

२८. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिराविवेकख्यातेः।

२९. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

३०. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

३१. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

३२. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः।

३३. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

३४. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

३५. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

३६. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

३७. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

३८. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

३९. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः।

४०. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

४१. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय-जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

४२. संतोषादनुत्तमसुखलाभः।

४३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

४४. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

४५. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

४६. स्थिरसुखमासनम्।

४७. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।

४८. ततो द्वन्द्वानभिघातः।

४९. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

५०. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

५१. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

५२. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

५३. धारणासु च योग्यता मनसः।

५४. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

५५. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

इति श्रीपातञ्जलयोगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः॥ २॥

अथ विभूतिपादः

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

४. त्रयमेकत्र संयमः।

५. तज्जयात्प्रज्ञालोकः।

६. तस्य भूमिषु विनियोगः।

७. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।

८. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।

९. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभव-प्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।

१०. तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।

११. सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।

१२. शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।

१३. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था-परिणामा व्याख्याताः।

१४. शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।

१५. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।

१६. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।

१७. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्व-भूतरुतज्ञानम्।

१८. संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।

१९. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।

२०. न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।

२१. कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।

२२. सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

२३. मैत्र्यादिषु बलानि।

२४. बलेषु हस्तिबलादीनि।

२५. प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टज्ञानम्।

२६. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।

२७. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।

२८. ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।

२९. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

३०. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।

३१. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।

३२. मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।

३३. प्रातिभाद्वा सर्वम्।

३४. हृदये चित्तसंवित्।

३५. सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्यया-विशेषो भोगः परार्थत्वात्-स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।

३६. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।

३७. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

३८. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

३९. उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्व सङ्ग उत्क्रान्तिश्च।

४०. समानजयाज्ज्वलनम्।

४१. श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।

४२. कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-समापत्तेश्चाकाशगमनम्।

४३. बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।

४४. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।

४५. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय-सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

४६. रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्।

४७. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्व-संयमादिन्द्रियजयः।

४८. ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

४९. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्व-भावाधिष्ठातृत्वं सर्वं ज्ञातृत्वं च।

५०. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

५१. स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

५२. क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।

५३. जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।

५४. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

५५. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

इति श्रीपातञ्जलयोगशास्त्रे विभूतिनिर्देशो नाम तृतीयः पादः॥ ३॥

अथ कैवल्यपादः

१. जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

२. जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।

३. निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।

४. निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।

५. प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।

६. तत्र ध्यानजमनाशयम्।

७. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

८. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभि-व्यक्तिर्वासनानाम्।

९. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यान-न्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।

१०. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।

११. हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वा-देषामभावे तदभावः।

१२. अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्।

१३. ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।

१४. परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।

१५. वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।

१६. न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।

१७. तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।

१८. सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।

१९. न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।

२०. एकसमये चोभयानवधारणम्।

२१. चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च।

२२. चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।

२३. द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।

२४. तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।

२५. विशेषदर्शिन आत्मभावभावना-विनिवृत्तिः।

२६. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।

२७. तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।

२८. हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।

२९. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

३०. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।

३१. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।

३२. ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।

३३. क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।

३४. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

इति श्रीपातञ्जलयोगशास्त्रे कैवल्य-निरूपणं नाम चतुर्थः पादः॥ ४॥

॥ समाप्तं योगदर्शनम्॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

गीताप्रेस गोरखपुर

माया
ब्रह्म
तत्त्वमसि
अयमात्मा ब्रह्म
जीव
जल
नभ
वायु
तेज
भूमि
जगद्गुरु
श्रीगोविंदानंद परमहंस
श्रीराम
राघव
रघुवीर
रमापति
मधुसूदन
माधव
मुकुंद
मुरारि
मदन मोहन
मेघ श्याम
दामोदर
दीनबंधु
दयालु
देवाधिदेव
देवकीसुत
कूटस्थ
कुंजविहारी
केशव
श्रीकृष्ण
कमलाकांत
करुणानिधि
कपिल
वासुदेव
विठ्ठल
वनमाली
वामन

ॐकार महिमा

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा.....................॥(५।२१)

९. शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (५।२३)

१०. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी.................................... ॥ (५।२४)

११. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ (६।१)

१२. यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ (६।२)

१३. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (६।४)

१४. शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ (६।७)
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ (६।८)

१५. सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ (६।९)

१६. एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥(६।१०)

१७. प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। (६।१४)

१८. यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥(६।१८)
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥(६।१९)

१९. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥(६।२०)
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥(६।२१)
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (६।२२)
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥(६।२३)

२०. प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥(६।२७)

२१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥(६।२९)
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥(६।३०)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥(६।३२)

२२. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥(६।४७)

२३. सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥(८।१२)

२४. अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥(८।१४)

२५. नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥(८।२७)

२६. मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।(९।४-५)

२७. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥(९।१४)

२८. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां................॥(९।२२)

२९. मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥(१०।९)

३०. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥(१०।१०)

३१. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥(११।५५)
एवं सततयुक्ता ये............ ।(१२।१)

३२. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२।२)

३३. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ (१२।६)

३४. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (१२।७)

३५. मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥(१४।२६)

३६. धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।(१८।३३)

भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे निकले हुए इन सब निर्वचनोंका आपसमें एवं भगवान् पतञ्जलिके दिये हुए—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

—इस निर्वचनके साथ समन्वय स्पष्ट नहीं होता, बल्कि आपसमें विरोधकी शङ्का भी होती है। इसलिये भी इन सब योगनिर्वचनों और योगोंके समन्वयकी आवश्यकता है।

तीन ही काण्ड

परन्तु इन सब निर्वचनोंका एक-दूसरेके साथ समन्वय स्पष्ट न होनेपर भी, इन निर्वचनोंका साधारण तौरपर अनुशीलन करनेसे भी यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त और मनसे सम्भावना करनेयोग्य सब प्रकारके (मुख्य एवं गौण) योगों और योगप्रक्रियाओंका समन्वयकी दृष्टिसे वर्गीकरण करनेपर, प्रत्येक रीतिके योगका (कितने भी नामभेद होते हुए) कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंमेंसे किसी-न-किसी काण्डमें अवश्य अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इन्हीं तीनों काण्डोंके समन्वयका विचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है।

काण्डत्रयविरोधाभास

परन्तु इस प्रकारसे सब प्रकारके योगोंको इन तीन काण्डोंके भीतर ले आनेपर भी इन तीनों काण्डोंका आपसमें भयङ्कर विरोध ही मालूम देता है। एक श्रीमद्भगवद्गीतामें ही इस परस्पर आत्यन्तिक विरोधाभासकी प्रतीतिके समर्थक कारण मिलते हैं। यह कोई बड़ी बात नहीं है कि एक स्थानमें कर्मकाण्ड, दूसरेमें उपासनाकाण्ड और तीसरेमें ज्ञानकाण्डकी महिमा जोर-शोरसे बतायी गयी है। परन्तु जब स्थान-स्थानपर एक-एक काण्डके प्राशस्त्यके वर्णनके बाद बाकी दोनों काण्डोंका आत्यन्तिक खण्डन, निन्दा और निषेध करनेवाले वचन श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे निकले हुए प्रतीत होते हैं, तब इनके समन्वयकी अत्यन्त आवश्यकता अति स्पष्ट है।

कर्मयोगका प्राशस्त्य

उदाहरणार्थ, कर्मकाण्डकी महिमा बताते हुए श्रीभगवान्‌ने ज्ञानकाण्डका तिरस्कार-सा करनेका कम-से-कम अर्जुनके मनमें भी भ्रम पैदा करते हुए कहा है—

१. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। (३।८)
२. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (३।२०)
३. कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते। (५।२)
४. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। (६।४६)

भक्तियोगकी प्रशस्ति

इसी प्रकार भक्तियोगकी महिमा भी ज्ञानकाण्ड और खास करके कर्मकाण्डके तिरस्कारके साथ ही निम्नलिखित श्लोकोंमें की गयी मालूम होती है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ (९।३०)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ (११।४८)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ (११।५३)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ (११।५४)

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ (१२।२)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)

ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता

इसी तरह श्रीभगवान्‌ने ज्ञानयोगकी जो प्रशंसा की है उसमें तो केवल भक्ति और कर्मोंका ही नहीं, बल्कि वेदोंका भी तिरस्कार है, इत्यादि कहते हुए आर्यसमाजी लोग श्रीमद्भगवद्गीताका विरोध एवं खण्डन करते हैं। ऐसे वाक्योंमेंसे कुछ दृष्टान्त स्थालीपुलाकन्यायसे नीचे दिये जाते हैं।

१. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (२।४२)
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ (२।४३)
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (२।४४)
२. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन॥ (२।४५)
३. यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (२।४६)
४. दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय॥ (२।४९)
५. श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (२।५३)
६. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (४।३३)
७. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (४।३६)
८. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (४।३७)
९. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (४।३८)

विरोधाभासमें भी चमत्कार

अब उदाहरणार्थ कर्म और ज्ञानके बारेमें जब यह विचार करते हैं कि इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है और श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने इस विषयपर क्या कहा है, तो बड़े आश्चर्य और चमत्कार अथवा गड़बड़, गोलमाल और दिल्लगीकी बात यह देखनेमें आती है कि श्रीभगवान्ने तो इस विषयपर गीताके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें परस्परविरुद्ध तीन मत प्रकट किये हैं—

१. **दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।** (२। ४९)

'ज्ञानयोगसे कर्मयोग अत्यन्त नीचा है।'

२. **......कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।** (३।८)

कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ (५।२)

ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। (६।४६)

'कर्मत्यागसे कर्म श्रेष्ठ है। ज्ञानियोंसे भी कर्मयोगी श्रेष्ठ है।'

३. **सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।** ....(५।४)

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (५।५)

'सांख्य और योगको बालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं कहते। जो सांख्य और योगको एक देखता है वही ठीक देखता है।'

इसको समझानेके लिये एक काल्पनिक दृष्टान्त दिया जा सकता है कि राम और कृष्णके बारेमें वाद-विवाद होनेपर कि दोनोंमें उम्रकी दृष्टिसे कौन बड़ा है, अगर एक ही आदमी एक साथ तीन फैसले दे कि—

१. राम ही कृष्णसे बड़ा है।

२. कृष्ण ही रामसे बड़ा है। और ३. दोनोंकी उम्र बराबर है।

—तो श्रीमद्भगवद्गीतावाली कर्मज्ञानसम्बन्धी परिस्थितिका ठीक-ठीक नमूना सामने आ जाता है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंकी समालोचना

परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रतीत होनेवाले सिद्धान्तोंका एक ही गीतामें जो यह अद्भुत समावेश हुआ है उसके कारण Western Orientalists, Indologists and Research Scholars) (पाश्चात्त्य समालोचकों)-ने इन बातोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तंग आकर यहाँतक कह डाला है कि श्रीमद्भगवद्गीता एक ही श्रीकृष्णका दिया हुआ उपदेश नहीं हो सकता, तीनों काण्डोंके भिन्न-भिन्न अनुयायियोंके ग्रन्थोंको किसी मूर्खने मिला दिया होगा, इत्यादि

अर्जुनको भी भ्रम हो गया था

पाश्चात्त्योंकी बात तो जाने दीजिये, स्वयं अर्जुनकी भी तो यही दशा हुई। दूसरे अध्यायको सुनकर इन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाली अनोखी बातोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तीसरे अध्यायके आरम्भमें वह भी तो यही कहने लगा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥(३।१)
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥(३।२)

और आगे बढ़नेपर, तीसरे एवं चौथे अध्यायको सुनकर, पाँचवें अध्यायके आरम्भमें भी वह यही कहने लगा—

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥(५।१)

परन्तु अर्जुनकी इन प्रार्थनापर श्रीभगवान्ने जो उत्तर दिये उनसे तृप्त होकर अर्जुन अन्तमें कहता है—

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (१८।७३)

तो भी केवल पाश्चात्त्य विद्वानोंके मनमें ही नहीं, बल्कि हमारे इस पवित्र हिन्दुस्थानके निवासी षट्शास्त्रपारंगत विद्वच्छिरोमणियोंके हृदयमें भी इन तीनों काण्डोंके समन्वयके बारेमें कुछ-न-कुछ शंका उठती ही रहती है। यह बात अनुभवसे बारंबार जाननेमें आयी है।

इस लेखका लक्ष्य

अतः इन तीनों काण्डों, सब योगों और समस्त प्रक्रियाओंके परस्पर समन्वयका विचार करना ही प्रस्तुत लेखका लक्ष्य है। इनकी आनुपूर्वी आदि सम्बन्धोंकी बातें भी कहीं-कहीं आनुषंगिकरूपसे आ सकती हैं; परन्तु इस लेखका यह लक्ष्य नहीं है। खास मतलब तो समन्वयका ही है। और क्योंकि सनातनधर्मके वेदादि समस्त मूल प्रमाणग्रन्थोंका सारांश श्रीमद्भगवद्गीतामें है और क्योंकि उसमें तीनों काण्डोंके सम्बन्धमें गड़बड़ भी बहुत है, इसलिये प्रकृत लेखके उद्दिष्ट समन्वयका विशेष करके और प्रायशः श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर ही विचार किया जाता है।

जटिल पारिभाषिक प्रक्रियाएँ

अतएव भक्ति और प्रपत्तिका पारिभाषिक भेद, वैधी और रागानुगा भक्तिका भेद, भक्तियोगमें रसोंका सोपानक्रम,

प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग और नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोगका भेद, हठयोगके षट्कर्म, योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूपी अष्टाङ्ग, योगमार्ग और वियोगमार्गका भेद, षट्चक्रभेदनविधि, अधोमुख सहस्रार और ऊर्ध्वमुख सहस्रार, नाडीचक्र, दशमद्वार-रहस्य, भ्रमरगुहा, गुप्त अष्टदलकमल, बन्धप्रक्रिया, मुद्राभेद, वज्रोली, राजोली, अमरोली और सहजोलीके तत्त्व, प्रज्ञाकी सप्तभूमिका, अ-क-थका त्रिचक्र, क्रियायोग और समाधियोगके भेद एवं अधिकारी, गुरुतत्त्व, गुरुपादुकातत्त्व, गुरुदीक्षातत्त्व, दीक्षामें आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, वैष्णवी, कलावती, मान्त्री, हौत्री, स्मार्ती, चाक्षुषी, वैधी आदि भेद, गुरुदयासे शक्तिसञ्चार, गुरुवचनसे तत्त्वबोधका उदय, तारकज्ञानका लक्षण, योगविभूति, कायाकल्प (अर्थात् कायापलट), भूतजय, अष्टमहासिद्धि, इन्द्रियजय, मधुप्रतीकसिद्धि, परकायप्रवेश, विशोका सिद्धि, व्योमपथ (शून्यपथ), ऋतम्भरा प्रज्ञा, बिन्दु और महाबिन्दुका स्वभाव एवं परस्परसम्बन्ध, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, नादानुसन्धान, स्मृतिपरिशुद्धि, ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि-भेदनरहस्य, कायशुद्धि (कायसिद्धि), युक्तत्रिवेणी और मुक्तत्रिवेणी, भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि, सहजमार्ग, भावदेह और ज्ञानदेह, प्रणवतत्त्वरहस्य और उसके भ्रामरीनाद, शंखनाद, घण्टानाद आदि भेद, बीजमन्त्रोंका प्रणवके साथ सम्बन्ध, श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा और भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा प्राणायामरहस्य, कुम्भकके अनेक प्रकारके भेद, लोकसंस्थान, पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग, रूपध्यान और अरूपध्यान, पञ्चस्वरतत्त्व, स्वरोदयतत्त्व, स्मृत्युपस्थान, शुक्ल-नीलपीतप्रभावलीरहस्य, दर्शनमार्ग और भावनामार्ग, सगुणध्यान और निर्गुणध्यान, कायव्यूह, निर्माणकाय एवं निर्माणचित्त, क्लेशस्वरूप-क्लेशविभाग-क्लेश-निवारणोपाय, शून्यध्यान, शून्य-महाशून्य-अतिशून्यविवेचन, योगके तन्त्रोक्त आणव-शाम्भव-शाक्तमार्ग, अनुपायमार्ग, गुणस्थान, साधनसोपान, सिद्धशिला, अभिमतध्यानरहस्य, लोकाकाश और अलोकाकाश, भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिका भेद, सम्प्रज्ञात समाधिके प्रभेद, धर्ममेघ, संवर और निर्जर, अपरवैराग्य और परवैराग्यका विवेचन, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान, सात्मकयोग और निरात्मक-योगका पाशुपतशास्त्रोक्त भेद, कर्मस्वभाव, कर्मप्रभेद, कर्मविपाक, असंगोक्त योगप्रक्रिया, नागार्जुनोक्त योगप्रक्रिया, ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्वरेतस्त्व, प्रज्ञापारमिता, मधुमती, योगान्तराय, प्रेतात्मवाद, योगासन-प्रक्रिया, योगासनों तथा षट्कर्मसे व्याधिचिकित्सा, रश्मिविज्ञान, जड समाधि, योगक्षेम इत्यादि अति जटिल पारिभाषिक विषयोंके (जिनका केवल स्वानुभूति ही एकमात्र प्रमाण और निरूपक है) निरूपणमें हम नहीं उतरेंगे। केवल इन सब प्रकारके योगभेदोंके समन्वयके स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगशास्त्र

चूँकि योगकी अर्थात् नरके नारायण बननेकी साक्षात् विधि बतानेके खास मतलबसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनरूपी नरको निमित्त बनाकर तीनों काण्डोंके योगका निरूपण किया है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र कहलाती है और इसीलिये उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिया गया है—'**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे**' अमुक योग नामक अमुक अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्याय

इन अठारह अध्यायोंके क्रमशः ये नाम हैं—

१. अर्जुनविषादयोग, २. सांख्ययोग, ३. कर्मयोग, ४. ब्रह्मार्पणयोग (ज्ञानकर्मसंन्यासयोग), ५. कर्मसंन्यासयोग, ६. आत्मसंयमयोग, ७. ज्ञानविज्ञानयोग, ८. अक्षरब्रह्मयोग, ९. राजविद्याराजगुह्ययोग, १०. विभूतियोग, ११. विश्वरूप-दर्शनयोग, १२. भक्तियोग, १३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, १४. गुणत्रयविभागयोग, १५. पुरुषोत्तमयोग, १६. दैवासुर-संपद्विभागयोग, १७. श्रद्धात्रयविभागयोग, १८. मोक्ष-संन्यासयोग।

अठारह अध्यायोंमें अठारह योग

इन अठारह अध्यायोंके विषयोंका विचार करनेपर विदित होता है कि—

पहले अध्यायमें अर्जुनके दुःखका ही वर्णन है। दूसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंका समन्वय करते हुए भगवान्‌ने सारी भगवद्गीताका संक्षेपसे उपदेश दिया। परन्तु तीन इस संक्षिप्त उपदेशके पर्याप्त न होनेके कारण, अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमें जब अर्जुन कर्मभक्तिज्ञानसमन्वयको नहीं समझता और पूछता है कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (३।१)

—इत्यादि, तब श्रीभगवान् दूसरे अध्यायमें संक्षेपसे बताये हुए सिद्धान्तका ही बाकी सोलह अध्यायोंमें विवरण करते हुए तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायोंमें कर्मकाण्डके अन्तर्गत चार योगविभागों तथा बीचके छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्डान्तर्गत छः योगविभागों और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत छः योगविभागों अर्थात् कुल मिलाकर सोलह योगोंका अर्जुनको उपदेश देते हैं। इनके परस्पर सम्बन्धों और आनुपूर्वी आदि विषयोंका इस लेखमें वर्णन नहीं हो सकता। तो भी, ऐसी कुछ खास-खास बातोंका विवेचन या कम-से-कम दिग्दर्शन तो अवश्य करना है, क्योंकि उनके समझे बिना योगशास्त्रके श्रीमद्भगवद्गीतारूपी परम ग्रन्थके खास-खास सिद्धान्त भी समझमें नहीं आ सकते। इसलिये ऐसी ही कुछ खास-खास बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

योगारम्भकी पहली सीढ़ी—सकाम कर्मयोग

उपर्युक्त सोलह योगोंके अतिरिक्त, अष्टमाध्यायमें श्रीभगवान्ने—

१. **यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।** (८।२३)
२. **तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥** (८।२५)

—इन दोनों, श्लोकोंमें, मोक्षको प्राप्त करनेवाले निष्कामकर्मीकी भाँति, स्वर्गलोकमें जाकर लौटनेवाले कर्मफलेच्छु कर्मकाण्डीका भी 'योगी' शब्दसे जो निर्देश किया गया है उसके ऊपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—

१. **आवृत्तिं चैव योगिनः।**
२. **योगी प्राप्य निवर्तते।**

—क्या इसीसे स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान्ने सकामकर्मीको भी योगी ही माना है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वहाँ मालूम तो ऐसा ही होता है; परन्तु समस्त भगवद्गीतामें केवल इन दो श्लोकोंको छोड़कर सकाम कर्मकी जो अतिशय निन्दा और खण्डन ही उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान्के बताये हुए किसी भी निर्वचनके अनुसार ये सकामकर्मी कर्मठ गीताके सिद्धान्तानुसार किसी प्रकारके भी योगी नहीं माने जा सकते। अतः इनके बारेमें उदाहृत दो श्लोकोंमें जो 'योगी' शब्द (दो बार) मिलता है उसे केवल औपचारिक प्रयोग माननेको हमें बाध्य होना पड़ता है। नहीं तो समस्त गीताकी इन दो श्लोकोंसे निरर्थकता हो जानेकी आपत्ति आती है।

औपचारिक प्रयोग

ऐसे कर्मकाण्डीको औपचारिक रीतिसे योगी मानना भी इस आधारपर ही स्वीकार हो सकता है कि ऐसे आदमी (जो फलकी कामनासे कर्म करते हैं)—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(९।२१)

—इस हिसाबसे बारंबार स्वर्गादिमें सुख भोगकर फिर गर्भवास आदि सङ्कटमें आकर—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

—इस मुण्डकोपनिषद्के बताये हुए प्रकारसे अनन्त पुनरावृत्तिमें पहुँचानेवाले सकाम कर्ममार्गसे बिलकुल तंग आकर—निर्विण्ण (Disgusted) होकर एक दिन निष्कामकर्मके मार्गपर आरूढ़ होनेवाले जरूर बन जायँगे। अतः मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये पहली सीढ़ी यह है कि आदमी नरकको प्राप्त करानेवाले पापके रास्तेसे बचकर स्वर्गादिमें ले जानेवाले सकाम कर्ममार्गमें चलने लगे।

योगारम्भकी दूसरी सीढ़ी—अर्जुनविषादयोग

अब प्रश्न यह है कि श्रीमद्भगवद्गीताके उपर्युक्त अठारह अध्यायोंके नामोंको सुनकर ही जिज्ञासुओंके मनमें यह जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न होगी कि और सब योगोंकी बात तो ठीक है, परन्तु यह कैसा खेल या गोलमाल है कि गीतामें बताये हुए अठारह योगोंमेंसे पहले योगका नाम 'अर्जुनविषादयोग' (अर्थात् नरके रोनेका योग) है। हाँ, गीतारूपी योगोपदेशकी ऐतिहासिक भूमिका, प्रस्तावना या उपोद्घातरूपसे अर्जुनके दुःखका (जिसका ही यह गीतारूपी परिणाम हुआ) पहले अध्यायमें वर्णन हो, यह ठीक है, परन्तु उसका भी नाम केवल 'अर्जुनविषाद' (नरका रोना) न होकर उसे भी एक योगकी गिनतीमें ले आनेवाला अर्जुनविषादयोग क्यों हुआ, इत्यादि। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जबतक कोई नर भूख लगनेपर खाते हुए, प्यास लगनेपर पीते

हुए और अन्य विषय-वासनाके उठनेपर उनको पूर्ण करते हुए निश्चिन्त रहता हो वह जीव शरीरसे नररूपमें रहते हुए भी यथार्थमें मन-बुद्धि आदिकी योग्यतासे पशु-पक्षी, कृमि-कीट आदिके समान जानवर ही रह जाता है। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि रोबर्ट ब्राउनिंग (Robert Browning)-ने अपने Rabbi Ben Ezra नामके अत्युत्तम काव्यमें लिखा है—

"Irks care the cropful bird?
Irks care the maw crammed beast?"

(अर्थात् जिस पक्षी या पशुने उदरादिको भर लिया हो उसे किस बातकी चिन्ता है?) इत्यादि। इसी प्रकारकी चित्तवृत्तिमें रहनेवाला नर भी यथार्थमें द्विपाद पशु ही कहलाने योग्य है। किन्तु जब जानवरकी श्रेणीमें रहनेवाले नरके मन, बुद्धि एवं हृदयके अन्दर यह विचार प्रवेश करता है कि 'खाने, पीने और मौज उड़ाते रहनेसे ही हम कृतार्थ नहीं हो जाते, इन सब चीजोंके रहते हुए भी परमार्थकी दृष्टिसे हमारे आनन्दमें अमुक-अमुक भयंकर त्रुटियाँ और कमियाँ हैं, स्वार्थके लिये ही यदि हम हमेशा चिन्तित रहें तो हममें और जानवरोंमें भेद ही क्या है, हमें ऐसे सुखोंकी कोई जरूरत नहीं,' इत्यादि, अर्थात् जब अर्जुनकी भाँति नर रोते हुए कहने लगता है—

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।

तभी वह नर अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सच्चिदानन्द-घनस्वरूपी मूलस्वरूपका विचार करने लगता है, अर्थात् नारायणस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले योगके रास्तेपर चल निकलता है। इसलिये अर्जुनका विषाद (रोना) भगवद्गीताके Mere historical setting (भूमिका या जन्मकारणरूपी केवल ऐतिहासिक प्रसंग)-की हैसियतसे ही नहीं है, बल्कि भगवद्गीतामें बताये हुए योगमार्गमें नरके प्रविष्ट होनेके लिये जो spiritual ladder or staircase (आध्यात्मिक सीढ़ी या सोपान) है, उसमें पहली सीढ़ीका काम देता है। अतएव उसका नाम सिर्फ '**अर्जुनविषाद नाम भूमिका वा प्रस्तावना वा उपोद्घाताध्यायः**।'न होकर '**अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः**' इस रूपमें वह योगके गौरवान्वित नामसे निर्देश करने योग्य हुआ।

द्वितीयाध्यायसंगति

अतएव श्रीगीताजीके दूसरे अध्यायका आरम्भ ही निम्नलिखित श्लोकसे होता है—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥

और श्रीभगवान्‌के उपदेशारम्भकी अवतरणिका भी इस प्रकार होती है—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥

(२।१०)

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक साधकको, अपने तात्कालिक नररूपके अन्तर्गत पाशवी योग्यता और दैवी योग्यता इन दोनोंमेंसे पशुलक्षणवाली योग्यतासे निकलकर अपनी परमात्मस्वरूप योग्यताकी ओर दृष्टि लगाते हुए, उस मूलस्वरूपमें पहुँचानेवाली साधनसामग्रीरूपी योगके मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये 'अर्जुनविषादयोग' रूपी पहली सीढ़ीपर सर्वप्रथम चढ़ना ही होगा, उसके बाद अगली सीढ़ियोंका विचार हो सकेगा। अर्थात् चूँकि भगवद्रूपी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अर्जुन (अर्थात् नर)-का विषाद ही पहली सीढ़ी है और क्योंकि सब साधनसामग्री योग कहलाती है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथमाध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' रखा गया है और यही मुनासिब भी है; क्योंकि यह विषाद राज्यादिके लोभको लेकर पाशवी चित्तवृत्तिके कारण नहीं हैं, अपितु सर्वत्यागकी इच्छाके आधारपर उत्पन्न हुआ विषाद है।

तीसरी सीढ़ी—शिष्यता और शरणागति

इस प्रकार अत्यन्त दुःखी होकर, अपना सारा दुःख कहकर, खूब रोते हुए, शास्त्रसिद्धान्तके विरुद्ध खूब शास्त्रार्थ करके भी अर्जुन जब इस बातका अनुभव करता है कि—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्॥

(२।८)

'मेरी समझमें नहीं आता कि मेरे मन, इन्द्रियों, बुद्धि और हृदयको सुखा देनेवाले इस दुःखको दूर कर सकनेवाला साधन क्या है', तब उस हालतमें अर्जुन साधनकी तीसरी सीढ़ीपर पहुँच जाता है और श्रीभगवान्‌से कहता है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

(२।७)

—'मैं तेरा शिष्य हूँ और तेरे प्रपन्न अर्थात् शरणागत हूँ, इसलिये मेरे श्रेयका जो साधन है उसका तू ही निश्चय करके मुझे आज्ञा कर।' इससे स्पष्ट है कि यदि हम नरोंको नरकी स्वाभाविक अशान्ति और दुःखसे बचकर श्रीनारायणकी शान्ति एवं आनन्दमें पहुँचानेवाले साधनको जानना हो तो हमें अर्जुनके दृष्टान्तसे शिक्षा ग्रहणकर श्रीभगवान्‌के साथ वही सम्बन्ध स्थापित करना होगा, जो अर्जुनरूपी नरने श्रीकृष्णरूपी नारायणके साथ श्रीगीताजीके प्रसंगपर किया था। अर्थात् हम नरोंका भी नारायणके साथ वही सम्बन्ध होना चाहिये जो रथीका सारथीके साथ हुआ करता है और भगवान्‌को अपने रथका सारथी बनानेका काम तभी यथार्थमें सिद्ध हो सकता है जब हम भी—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

—इस चित्तवृत्तिको वास्तवमें ग्रहण कर लेंगे।

'शिष्य' शब्द और 'प्रपन्न' शब्दका अर्थ

परन्तु इस प्रसंगमें हमें पहले आये हुए 'शिष्य' शब्द और आगे आये हुए 'प्रपन्न' शब्दके अर्थको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये, ताकि हम धोखा खाकर पश्चात्तापके भागी न बनें। 'शिष्य' शब्दका अर्थ है शासनमें रहनेवाला अर्थात् आज्ञापालन करनेवाला। और हम 'प्रपन्न' और 'शरणागत' तभी कहला सकेंगे जब हम अपने मन एवं हृदयसे एक स्वरसे कहने लगे हों कि—

बुद्धिर्मे कुण्ठिता देव समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किञ्चिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम॥

'हे भगवन्! मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी है और मेरी सब युक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं, मैं दूसरी किसी सहायक या रक्षक वस्तुको नहीं जानता, तू ही मेरे लिये एकमात्र शरण है।' मतलब यह है कि सहायता लेनेके लिये श्रीभगवान्‌के चरणोंमें गिरकर शरणागत होने या शिष्य बननेके दिखावेसे काम नहीं बनेगा। आवश्यकता तो इस बातकी है कि हम 'शिष्य' शब्द और 'प्रपन्न' शब्दके यथार्थ अर्थोंका अनुसन्धान करते हुए पहले-पहल श्रीभगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलनेके लिये बिल्कुल तैयार होकर अर्थात् सच्चे शिष्य बनकर उसके बाद श्रद्धा-भक्ति-प्रेमभावसे और सच्चे मनसे श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें शरणागत या प्रपन्न होकर, उन्हींकी आज्ञारूपी शास्त्रोंसे अपने श्रेयके रास्तेका पता लगाकर उसीपर हमेशा चलें। यह है सब साधकोंके लिये तीसरी सीढ़ी, जिसका श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायकी प्रस्तावनामें ही पता लग जाता है।

चौथी सीढ़ी—नित्यानित्यविवेक

जब हम पहले इस प्रकारसे भगवान्‌के सच्चे आज्ञा-पालक बनकर, पश्चात् इसी हैसियतसे उसके शरणागत होकर, उससे अपने यथार्थ एवं शाश्वत श्रेय अर्थात् नारायणस्वरूपरूपी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये आवश्यक साधकका ज्ञान माँगते हैं तब वे हमारी अशान्ति और दुःखके मूल कारणको ही पकड़कर उसे जड़से काटनेकी दृष्टिसे हमको नित्यानित्य वस्तुविवेचनका उपदेश देकर श्रेयके रास्तेपर चलाने लगते हैं। क्योंकि हमारी खास और असली बीमारी तो यही है कि जैसे भीष्म-द्रोणादिके बारेमें उनके अनित्य शरीर और नित्य आत्माका विवेचन न करते हुए अर्जुन रोता रहा, वैसे ही हम भी शरीरको ही आत्मा समझकर नित्यानित्य वस्तुविवेकके अभावसे या कमीसे ही दुःखी होते रहते हैं। इसलिये श्रीभगवान्‌रूपी भवरोगवैद्य चमड़ेके ऊपर लगाये जानेवाली मरहम आदि औषधोंसे (जो तत्काल फल देनेवाली हैं) काम न लेकर, हमारे भीतरकी बीमारीको जड़से काट डालनेके अभिप्रायसे, सब अनर्थोंके मूल कारण उसी नित्यानित्य वस्तुविवेका-भावको सीधे पकड़कर उसीको मारने लगते हैं और अपने उपदेशका आरम्भ करते हुए ही कहने लगते हैं—

(१) एक ओर तो जिनके लिये रोना नहीं चाहिये उनके लिये तुम रोते हो और दूसरी ओर बड़े ज्ञानकी बातें करते हो (जो यथार्थमें अज्ञानकी ही बातें हैं)। मरे हुए या जीते हुएके बारेमें ज्ञानी रोते नहीं। (२।११)

(२) हम, तुम और ये सब राजालोग भी पहले भी थे। और आगे भी रहनेवाले हैं। (२।१२)

(३) इस शरीरमें जैसे लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा आता है वैसे ही इस शरीरमें रहनेवाला आत्मा दूसरे शरीरमें चला जाता है। इसपर धीर (ज्ञानी) दुःखी नहीं होते। (२।१३)

(४) उसे नाशरहित जानो जो इन सब शरीरोंमें ओतप्रोत रहता है। उस निर्विकार आत्माका कोई नाश नहीं कर सकता। (२।१७)

(५) उसी नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्माके ये सब विनाशवाले शरीर हैं। इसलिये युद्ध करो। (२।१८)

(६) आत्माको जो मारनेवाला मानता है और जो उसे मारे जानेवाला मानता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं। आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है। (२। १९)

(७) यह न तो कभी जन्म लेता है, न मरता है, अज (अनादि) है, अनन्त है, शाश्वत है, पुरातन है और शरीरके मारे जानेपर मरता नहीं। (२। २०)

(८) जो इस अनादि और निर्विकार आत्माको अविनाशी और शाश्वत जानता है वह पुरुष न तो किसी-को मारता है और न मरवाता है। (२। २१)

(९) जैसे मनुष्य फटे हुए पुराने कपड़ोंको त्यागकर अच्छे नवीन वस्त्रोंको धारण करता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण हुए पुराने शरीरको त्यागकर नये शरीरमें चला जाता है। (२। २२)

(१०) इसे शस्त्र काटते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं। (२। २३)

(११) यह तो अकाट्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अटल और सनातन है। (२। २४)

(१२) यह अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार है। अतः इसे इस प्रकार जानकर दुःखको छोड़ दो। (२। २५)

(१३) क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। इसलिये इस अनिवार्य (जिससे बचना नहीं हो सकता) विषयपर दुःख न करो। (२। २७)

(१४) सब पदार्थ पहले अव्यक्त, बीचमें व्यक्त, और अन्तमें फिर अव्यक्त होते हैं। इसमें दुःखकी क्या बात है? (२। २८)

(१५) सबके शरीरमें जो आत्मा है वह कदापि मारा नहीं जा सकता। इसलिये तुमको किसीके बारेमें दुःखी नहीं होना चाहिये। (२। ३०)

और आगे त्रयोदशाध्यायमें भी ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्ने फिर भी—

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।'

—कहकर शरीरकी अनित्यतापर जोर देते हुए नित्यानित्य वस्तुविवेचनकी (जो ज्ञानीके लिये प्रारम्भिक साधन है) आवश्यकता बतलायी है। इसलिये शरीरकी नश्वरता और आत्माके नित्यत्वका विचारके द्वारा विवेचन करना ही साधकोंकी दृष्टिसे चौथी सीढ़ी है।

पाँचवीं सीढ़ी—तितिक्षा

जब साधक नर अपने नरत्वसे उठकर नारायणत्वरूप अपने लक्ष्यकी ओर निकलकर नित्यानित्य वस्तुविवेचनरूपी चौथी सीढ़ीपर कदम रख लेता है तब उसके लिये पाँचवीं सीढ़ी अपने-आप स्पष्ट हो जाती है और वह सोचने लगता है कि मुझे अब अनित्य पदार्थोंकी गुलामीमें रहना और ऐसी नश्वर वस्तुओंके लालनार्थ अपने नित्य श्रेयको नहीं बिगाड़ना चाहिये, बल्कि अपने अनित्य शरीर, इन्द्रियों और मनको शाश्वत आत्म-कल्याणके लिये अपने वशमें रखना चाहिये। क्योंकि—

अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

—इस न्यायके अनुसार महान् लाभके लिये छोटी वस्तुका त्याग उचित होता है, किन्तु अल्प एवं क्षणिक पदार्थके लिये महान् एवं शाश्वत वस्तुका खोना विचारशून्यताका चिह्न है। अतः उपर्युक्त नित्यानित्य वस्तुविवेचनरूपी चौथी सीढ़ीसे आगे बढ़कर साधकको पाँचवीं सीढ़ीमें, जो तितिक्षा की है, पहुँचना चाहिये। अतएव श्रीभगवान्ने दूसरे अध्यायमें अपने उपदेशके आरम्भमें, सर्वप्रथम आत्माके नित्यत्व और शरीरादिकी नश्वरताको बताते हुए, उसके बीच-बीचमें ही तितिक्षा (अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मनके निग्रह)-का भी साथ-साथ उपदेश दिया है। वे कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(२। १४)

'शीतोष्ण सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रियसंयोग आते-जाते रहनेवाले हैं, क्षणिक हैं, उनको सहो।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(२। १५)

'जिस धीर पुरुषके लिये सुख और दुःख समान हैं, अतएव जिसको इन्द्रियसंयोगोंसे कोई सुख-दुःख नहीं होता वह मोक्षका अधिकारी होता है।'

चूँकि तितिक्षाका यह उपदेश श्रीभगवान्के गीतावाले उपदेशके आरम्भमें ही आ जाता है, इसलिये हम

सबको नित्यानित्य अर्थात् आत्म एवं अनात्म पदार्थोंके विवेचनके साथ-साथ उसीके फलस्वरूप तितिक्षाको सीखना और उसका अभ्यास करना चाहिये।

स्थितप्रज्ञ और तितिक्षा

इस तितिक्षारूपी महान् साधनकी आवश्यकता और मुख्यता इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि इसी दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानीके लक्षण बताते हुए, उन लक्षणोंके बीच-बीचमें श्रीभगवान्ने तितिक्षाका बारंबार सन्निवेश किया है और कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ (२।५६)

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (२।५७)

जिसका मन दुःखोंसे उद्विग्न न होता हो और सुखोंको न चाहता हो और इच्छा, भय और क्रोधसे मुक्त रहता हो, वही स्थितप्रज्ञ और मुनि है।

जो किसीके मोहपाशमें नहीं रहता, किसी सुखके आनेपर प्रसन्न नहीं होता और दुःखके आनेपर दुःखी नहीं होता, वही स्थितप्रज्ञ है।

त्रिगुणातीत और तितिक्षा

इसी प्रकारसे चतुर्दशाध्यायमें गुणत्रयविभाग-योगके वर्णनमें त्रिगुणातीत अर्थात् जीवन्मुक्तके लक्षण बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति। (१४।२२)

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ (१४।२४)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। (१४।२५)

'जो आये हुए [प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह]-का द्वेष नहीं करता और गये हुएकी इच्छा नहीं करता।'

'जिसे सुख और दुःख, मिट्टीका पिण्ड, पत्थर और सोना, प्रिय और अप्रिय, निन्दा और स्तुति, मान और अपमान एवं मित्र और शत्रु समान हैं, जो धीर हैं और हमेशा अपने आनन्दमें मस्त रहते हैं।'

ज्ञान और तितिक्षा

त्रयोदशाध्यायमें तो क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगके प्रसंगमें ज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान्के ज्ञानकी लक्षण कोटि या निर्वचनके अन्दर ही—

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

'क्षान्तिः', 'आत्मविनिग्रहः', 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' इत्यादि पदोंको प्रयुक्तकर तथा—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ २॥

—यह कहकर इस बातको स्पष्ट किया है कि तितिक्षा ज्ञानके स्वरूपके अन्तर्गत ही है, अर्थात् तितिक्षाके बिना ज्ञानका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इत्यादि।

लक्ष्यप्राप्ति और तितिक्षा

फिर पञ्चदशाध्यायमें इस बातका वर्णन करते हुए कि अव्यय (अर्थात् एकाकार, निर्विकार, शान्ति एवं अखण्ड आनन्दके भण्डाररूपी) परम पदवीमें पहुँचनेवाले कौन हैं, भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्। (१५।५)

'जो सुख और दुःखके नामसे प्रसिद्ध द्वन्द्वोंसे रहित अर्थात् तितिक्षु या सहनशील हैं, वे ही उस अव्यय पदवीपर पहुँचते हैं।'

संन्यासी और तितिक्षा

सच्चे संन्यासीका निर्वचन करते हुए पञ्चमाध्यायमें भी श्रीभगवान्ने यही कहा है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥ (५।३)

अर्थात् वही सच्चा संन्यासी है जो किसी वस्तुसे द्वेष नहीं रखता और न किसीकी इच्छा ही करता है; क्योंकि जो द्वन्द्वोंसे मुक्त है वही बन्धनसे मुक्त होता है।

दैवी सम्पत्ति और तितिक्षा

षोडशाध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करते हुए भी श्रीभगवान्ने दम, तप, अक्रोध, शान्ति, मार्दव, क्षमा, अद्रोह आदि शब्दोंसे दैवी सम्पत्तिका और **'उग्रकर्माणः', 'कामक्रोधपरायणाः'**—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

(१६।१८)

—इत्यादि शब्दोंसे आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करके तथा—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

(१६।५)

—यह कहकर इस बातको स्पष्ट किया है कि तितिक्षारूप गुणसम्पत्ति मोक्षका खास साधन है और उसका अभाव बन्धनका कारण है।

तपस्या और तितिक्षा

आगे सप्तदशाध्यायमें श्रद्धात्रयविभागयोगके प्रसंगमें शरीर, वाणी और मनकी तपस्याका विवेचन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने अहिंसा, अनुद्वेगकर वाक्य, मनःप्रसाद, सौम्यत्व, मौन, आत्मविनिग्रह इत्यादि शब्दोंसे पुनः इसी बातपर जोर दिया है कि तितिक्षा तीनों प्रकारकी तपस्याके अन्तर्गत और उसका आधार भी है, क्योंकि उसके बिना तपस्यारूपी पदार्थका मूल लक्षण ही बिगड़ जाता है।

योगी और तितिक्षा

यदि कोई इसपर यह समझ ले कि तितिक्षा आदिका यह सब झंझट तो स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, ज्ञाननिष्ठ, संन्यासी, तपस्वी, दैवी सम्पत्सम्पन्न आदि पुरुषोंके लिये है, योगीके लिये नहीं; तो इस भ्रमके निवारणके लिये षष्ठाध्यायमें (जिसका नाम ही आत्मसंयमयोग है और जो गीताजीके अन्दर योगका खास अध्याय है), योगीका भी इसी प्रकारसे निर्वचन किया है कि—

(१) शीतोष्ण, सुख-दुःख एवं मान-अपमानमें समाहित (शान्त और सन्तुष्ट), (६।७)

(२) जिसकी दृष्टिमें मिट्टीका पिण्ड, पत्थर और सुवर्ण समान हों वही योगी युक्त कहलाता है। (६।८)

(३) सखा, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, शत्रु एवं बन्धुओंमें (समान बुद्धिवाला)—(६।९)

(४) जिसमें स्थित हुआ बड़ेसे भी बड़े दुःखसे विचलित नहीं होता उसी सर्वथा दुःखाभावकी अवस्थाका नाम योग है। इसी योगका अनिर्विण्ण चित्तसे अभ्यास करना चाहिये। (६।२२,२३)

(५) इन्द्रियोंकी समष्टिको मनके द्वारा चारों ओरसे निगृहीत करके (६।२४)

(६) सुखमें या दुःखमें जो हमेशा समान दृष्टि रखता है, वही योगी श्रेष्ठ है। (६।३२)

(७) जिसने अपने शरीरादिका निग्रह नहीं किया उसे योगकी प्राप्ति नहीं होती। शरीरादिको वशमें रखकर जो प्रयत्न करता है उसे उपायसे योगकी प्राप्ति हो सकती है। (६।३६)

भक्त और तितिक्षा

इसपर 'योगी' शब्दसे डरकर कोई कहे कि यदि योगीके लिये भी यह झंझट मौजूद ही है तो हम इन सब बातोंको छोड़कर केवल भगवद्भक्तिको ग्रहणकर उसीसे अपने अभीष्टको सिद्ध कर लेंगे, क्योंकि भक्ति तो अपने वशकी चीज है और त्रिगुणातीत अवस्था, जीवन्मुक्ति, ज्ञाननिष्ठा, संन्यास, तपस्या, योग आदिकी भाँति तितिक्षा आदिके झंझटोंसे भरी हुई नहीं है इत्यादि, तो भक्तके लक्षणोंको बतानेवाले द्वादशाध्यायको खोलकर देखनेपर साधक देखेंगे कि वहाँ भी श्रीभगवान्ने यही कहा है—

(१) किसीसे द्वेष न करनेवाला, सबके साथ प्रेम और सबपर दया करनेवाला ममतारहित, अहङ्काररहित, सुख-दुःखोंमें समान और तितिक्षु (१२।१३)।

(२) सदा सन्तुष्ट, योगी, जितेन्द्रिय और दृढ़ निश्चयवाला (१२।१४)।

(३) जिसके कारण लोग दुःखी न हों और जो स्वयं दूसरोंके कारण दुःखी न हो, जो हर्ष, द्वेष, भय और दुःखसे मुक्त हो, वह मुझे प्यारा है। (१२।१५)

(४) इच्छारहित, पवित्र, समर्थ सर्वसहिष्णु और दुःखरहित (१२।१६)।

(५) जो हर्षित नहीं होता, द्वेष नहीं करता, दुःखी नहीं होता, इच्छा नहीं करता, शुभ तथा अशुभको भी छोड़े हुए है, वह भक्त मुझे प्यारा है। (१२।१७)

(६) शत्रु एवं मित्रमें, मान-अपमानमें, शीत-उष्ण एवं सुख-दुःखमें समान और आसक्तिरहित (१२।१८)

(७) निन्दा और स्तुतिमें समान, मननशील और जो-जो कुछ प्राप्त हो (सुख हो या दुःख हो) उससे सन्तुष्ट (१२।१९)।

तितिक्षाकी विधि

जब इतने विस्तारके साथ, इतने-इतने दृष्टिकोणोंसे यह निरूपण हुआ कि तितिक्षारूपी पाँचवीं सीढ़ीकी कितनी अधिक आवश्यकता है, जिसके कारण वह प्रत्येक मार्गमें साधनरूपसे मिलती है और उसे हमें अवश्य प्राप्त करना चाहिये, तब यह भी स्वाभाविक और उचित ही है कि उसका केवल उस-उस अधिकारीके

लक्षणोंमें ही वर्णन नहीं होना चाहिये जिससे उसकी आवश्यकताका ऊहापोह विचक्षण बुद्धिमान् पुरुषोंको अनुमानसे पता चल सके, बल्कि उसकी अत्यन्त और अनिवार्य साधनरूपसे साक्षात् एवं स्पष्ट विधि भी होनी चाहिये, जिससे अति मन्द बुद्धिवाला जिज्ञासु भी समझ सके कि तितिक्षाकी हर एक प्रकारके योगमें अत्यन्त आवश्यकता होती है। अतएव दूसरे अध्यायमें अपने उपदेशके प्रारम्भसे ही लेकर श्रीभगवान्‌ने तितिक्षाकी स्थान-स्थानमें विधि भी बतायी है—

(१) इन्द्रियोंके संयोग शीतोष्णादि सुख-दुःखोंके कारण हैं, आते-जाते रहनेवाले हैं, अनित्य हैं, उन्हें सहन करो। (२।१४)

(२) इस बातको जानकर दुःखको छोड़ो। (२।२५)

(३) तो भी दुःखी नहीं होना चाहिये। (२।२६)

(४) जिसका परिहार (इलाज) न हो सके उसके विषयमें दुःख नहीं करना चाहिये। (२।२७)

(५) किसीके बारेमें दुःखी नहीं होना चाहिये। (२।२८)

(६) सुख-दुःख, हानि-लाभ और जय-पराजयको समान मानकर। (२।३८)

(७) अत्यन्त बुद्धिमान् और (इन्द्रियनिग्रहके लिये) अत्यन्त प्रयत्नशील पुरुषके मनको भी इन्द्रियाँ जबर्दस्ती खींच लेती हैं। (२।६०)

(८) उन सबका निग्रह करके मेरे परायण होकर युक्त रहो (योगी बनकर रहो)। (२।६१)

तितिक्षाका पर्यवसितार्थ सिद्धान्त

इन सब विचारोंसे सिद्ध होता है कि दूसरे अध्यायमें—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

—इस उपदेशारम्भसे ही लेकर जिस तितिक्षारूपी पाँचवीं सीढ़ीका वर्णन मिलता है, वह किसी एक ही प्रकारके साधक या अधिकारीकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि श्रीमद्भगवद्गीतामें स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, ज्ञाननिष्ठ, भगवत्प्राप्तिके अधिकारी, संन्यासी, तपस्वी, योगी, भक्त, कर्मयोगी, दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति आदि जिस-जिस दृष्टिकोणसे विचार हुआ हो उन सब दृष्टियोंसे भी तितिक्षा अत्यन्त आवश्यक साधन है, जिसके बिना इन सब मार्गोंमेंसे किसी मार्गमें भी साधकका नारायणरूपी लक्ष्यकी प्राप्तिका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

आनुषंगिक फलितार्थ

इस विचारसे आनुषंगिक अनुमानरूपसे यह भी असली और सच्चा सिद्धान्त सिद्ध होता है कि चूँकि स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, संन्यासी, तपस्वी, योगी, दैवी सम्पत्सम्पन्न और भगवद्भक्तके श्रीमद्भगवद्गीतामें बताये हुए लक्षणोंमें शब्दका ही भेद है, अर्थमें तो कोई भेद नहीं है, इसलिये अधिकारियोंकी चित्तवृत्तिकी भिन्नताके कारण केवल दृष्टिकोणमें और रूपमें भेद है; परन्तु कर्म, भक्ति और ज्ञानके यथार्थ स्वरूप एवं लक्षणोंमें और अन्तिम परिणामरूपी यथार्थ लक्ष्यमें तो किञ्चित् भी भेद नहीं है। अर्थात् तीनों काण्डों और सब मार्गोंका यथार्थमें विरोध नहीं है, किन्तु अविरोध एवं समन्वय ही है।

तितिक्षाकी अयथार्थ कल्पना

इतने-इतने विस्तारसे और प्रत्येक प्रकारकी दृष्टिसे एवं अनेक प्रकारके योगोंके हिसाबसे विचार करनेपर जो तितिक्षारूपी परमावश्यक साधन प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ है, उसके बारेमें उससे अगले विषयमें प्रवेश करनेके पूर्व अब इसी खास सन्धिस्थानरूपी घट्टपर एक चेतावनी देनेकी भी अत्यन्त आवश्यकता है। वह यह है कि अनेक मनुष्योंके मनमें बार-बार यह भ्रमात्मक धारणा या प्रतीति होती हुई देखी जाती है कि तितिक्षा या तपस्याके नामसे शरीर, इन्द्रियों और मनको रोकनेमें सफलताकी प्राप्तिके लिये इन तीनों करणोंकी अत्यन्त हिंसा भी करनी चाहिये इत्यादि; परन्तु यह बड़ा अपसिद्धान्त है, तितिक्षाका यह सच्चा अर्थ नहीं है। इस भ्रमात्मक प्रतीतिपर काम करनेवालोंको योगादिकी सिद्धि तो मिलती ही नहीं, बल्कि उलटा ही फल मिलता है और इहलोक तथा परलोकमें भी हानि उठानी पड़ती है।

आहारादि-व्यवस्था

अतएव आत्मसंयमयोग नामक षष्ठाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

अति भोजन करनेवालेको योगकी प्राप्ति नहीं होती, और बिल्कुल भोजन न करनेवालेको भी नहीं हो सकती।

अधिक सोनेवालेको तथा बिल्कुल न सोनेवालेको भी वह नहीं प्राप्त होता। आहार-विहार, कर्मचेष्टा, निद्रा, जागरण आदि सब व्यवहारोंमें जो उचित परिमाणसे प्रवृत्त होता है, उसीको दुःखनाशक योगकी सिद्धि होती है।

इससे स्पष्ट है कि जैसे खेती, शरीरके आरोग्य आदिकी दृष्टिसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि दोनों ही खराब हैं, इसी प्रकार अत्याहार और अनाहार एवं अतिनिद्रा और अनिद्रा इत्यादिसे योगसिद्धिमें विघ्न ही पड़ता है, लाभ नहीं होता।

आसुरी तपस्या

इसपर यदि कोई यह शंका करे कि अभोजन, अनिद्रा आदिसे योगसिद्धि न होनेकी बात तो षष्ठाध्यायमें बतायी गयी है, परन्तु उससे भावरूपी खराबीकी बात श्रीभगवान्‌ने कहाँ बतायी है, तो इसका उत्तर यह है कि षोडशाध्यायमें दैवासुरसम्पद्विभागयोग बतानेके बाद सप्तदशाध्याय और अष्टादशाध्यायमें श्रद्धात्रय आदिका विवेचन करते हुए श्रीभगवान्‌ने यही कहा है—

(१) जो दम्भाहंकार और काम-रागादिके बलसे अशास्त्रीय घोर तपस्या करते हैं, शरीरमें रहनेवाले समस्त भूतसमष्टिको एवं भीतर रहनेवाले मुझको भी सुखाते हैं, उनको अज्ञानी और आसुरी निश्चयवाले जानो। (१७।५-६)

(२) जो तपस्या मूर्खतापूर्ण दुराग्रहसे, अपनी हिंसासे या दूसरेके दुःखके लिये की जाती है, वह तामसी तपस्या है। (१७।१९)

(३) जो दान प्रत्युपकारके लिये या फलकी इच्छासे, दुःखके साथ दिया जाता है, वह राजस दान है।

(१७।२१)

(४) जो कर्म किसी कामनासे या अहङ्कारसे, दुःखके साथ किया जाता है, वह राजस कर्म है।

(१८।२४)

(५) जो कर्म सम्बन्ध, दुःख, हिंसा और सामर्थ्यके विचारके बिना मोहसे किया जाता है, वह तामसिक कर्म है। (१८।२५)

(६) जिस धृति (स्थिरता या हठ)-से दुर्बुद्धिमनुष्य निद्रा, भय, शोक, विषाद और मदको नहीं छोड़ता, वह तामसिक है। (१८।३५)

इस सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि जब दानादि साधारण कर्मोंमें भी आत्महिंसाको श्रीभगवान्‌ने इतनी कड़ाईके साथ मना किया है, तब कठोर आसुरी तपस्याका निषेध तो कैमुतिक न्यायसे ही सिद्ध है।

रजोगुण और तमोगुणके परिणाम

इस प्रसङ्गपर इस बातका भी स्मरण रखना चाहिये कि चतुर्दशाध्यायमें गुणत्रयविभागयोगके प्रसंगमें श्रीभगवान्‌ने तमोगुण और रजोगुणके परिणामका इस प्रकार वर्णन किया है—

(१) तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राके बन्धनमें डालता है। (१४।८)

(२) तमोगुण ज्ञानको छिपाकर अज्ञानमें आसक्ति पैदा करता है। (१४।९)

(३) तमोगुणके बढ़नेपर अज्ञान, आलस्य, प्रमाद और मोह होते हैं। (१४।१३)

(४) तमोगुणमें रहते हुए जो मरता है वह (पशु, पक्षी, कृमि आदि) मूढ़ योनिमें जन्म लेता है।

(१४।१५)

(५) रजोगुणका फल दुःख है और तमोगुणका फल अज्ञान है। (१४।१६)

(६) तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं।

(१४।१७)

(७) सत्त्वगुणी ऊपर (स्वर्गको) जाते हैं, रजोगुणी बीचमें (भूलोकमें) जाते हैं और तमोगुणी नीचे (नरकमें) जाते हैं। (१४।१८)

हठयोगकी प्रक्रिया

इस प्रसंगमें हठयोग आदिके बारेमें इतनी चेतावनी जरूर देनी है कि उनकी कुछ प्रक्रियाएँ ऐसी हैं जिनमें सावधानी और हिसाबसे काम न होनेपर अभीष्ट फलकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, बल्कि उलटा नतीजा भी निकल आता है। शरीरमें भयंकर व्याधि, पागलपन आदि अनेक प्रकारकी हानियाँ हो जाती हैं और इहलोकमें इतने कष्ट होनेके अतिरिक्त, चूँकि ये काम श्रीभगवान्‌के बताये हुए सिद्धान्तकी दृष्टिसे राजसिक, तामसिक और आसुरी स्वभावके होते हैं, इसलिये परलोकमें भी इनसे बहुत कुछ नुकसान होनेकी सम्भावना रहती है।

प्राणायामादिसे लाभ

हठयोगान्तर्गत प्राणायाम, आसन आदि क्रियाओंसे सब प्रकारके रोगोंकी अति शीघ्र एवं अति सुलभ चिकित्सा, मनकी एकाग्रता आदि अच्छे लाभदायक

परिणाम होने चाहिये और ध्यानयोगमें एकाग्रतासे भक्तिकाण्डवाली उपासना एवं ज्ञानकाण्डवाले निदिध्यासन आदि योगके कार्योंमें खूब मदद मिलनी चाहिये। परन्तु, चूँकि ये फलके उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म हैं, निष्काम कर्म नहीं हैं, इसलिये इनमें श्रीभगवान्का—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२।४०)

—यह वाक्य लागू न होकर इस तरहके उलटे पाठान्तरके हो जानेका खास डर हमेशा बना रहता है—

अत्राभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायोऽपि विद्यते।
न्यूनातिरेकतो मंक्षु जायते च भयं महत्॥

इसमें न्यूनता या अधिकताके कारण, किये हुए कर्म केवल व्यर्थ ही नहीं जाते, बल्कि उनसे बड़ी खराबी भी होती है, अति शीघ्र भयानक परिणाम भी हो जाते हैं।

हम प्राणायामादि कार्योंके विरुद्ध नहीं हैं, बल्कि स्वयं हमेशा उनके पक्षपाती रहे हैं, परन्तु तो भी हम औषधादि तथा खाने-पीने आदिके बारेमें न्यूनाधिक मात्रासे हो सकनेवाली आपत्तिकी चेतावनी देनेको जिस प्रकार बाध्य हैं, वैसे ही इन क्रियाओंके बारेमें भी उसी प्रकारकी चेतावनी देनेके लिये पाबन्द हैं। अतएव इसी प्रसंगपर उसे दे देना आवश्यक है।

जीवित और मृतका अभेदानुभव-योग

इसपर पुनः यह आक्षेप किया जा सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने तो पञ्चमाध्यायमें योगीका इस प्रकार निर्वचन किया है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

—और इस श्लोकका अर्थ बताते हुए अद्वैतसिद्धि, गूढ़ार्थदीपिका, भक्तिरसायन आदि ज्ञानकाण्ड एवं भक्तिकाण्डके बड़े-बड़े प्रामाणिक ग्रन्थोंके कर्त्ता श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि सभी टीकाकारोंने यही कहा है कि जैसे किसी आदमीके मर जानेपर उसके शवको श्मशानमें ले जाकर चितापर रख उसमें आग लगा देते हैं, वैसे ही जीवित मनुष्यको चितापर रखकर आग लगा दें और उसे उस शरीरको भस्म कर देनेवाली अग्निसे तापप्रयुक्त दुःख तनिक भी न हो वही योगी है इत्यादि, फिर कायशोषण करनेवाली तपस्याको क्यों मना करते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह ठीक है कि योगारूढ इतना द्वन्द्वातीत हो जाता है कि उसे शरीर-सम्बन्धी किसी भी कारणसे तनिक भी दुःख नहीं होता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक कच्चा साधक या मुमुक्षु अपने सारे शरीरको आगसे जला दे तो वह योगी बन जायगा! मतलब इतना ही है कि योगसाधनोंके द्वारा शास्त्रीय विधिके अनुसार आगे बढ़नेपर योगीके अन्दर इतनी सहिष्णुता एवं मनोदार्ढ्यादि गुणसम्पत्ति आ जाती है कि वह अग्निसे जलाये जानेपर भी दुःखी नहीं होता। अर्थात् चितापर जलानेकी यह बात वस्तु-गति (यथार्थ परिस्थिति)-का वर्णन करनेवाली है, विधिरूप (अर्थात् साधन बतानेवाला वाक्य) नहीं। अतः विधि-निषेध शास्त्रके अनुसार सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक विभागादिका विचार करते हुए ही तितिक्षाका अभ्यास करना चाहिये। नहीं तो राजसिक, तामसिक एवं आसुरी क्रियाओंके जो फल श्रीभगवान्ने बताये हैं, उनको भोगना ही पड़ेगा और योग (अर्थात् श्रीनारायण-स्वरूपको प्राप्त करने)-की इच्छासे निकलकर स्वर्गादिमें भी न पहुँचकर नरकमें जाने और तिर्यग्योनिमें जन्म लेनेकी दुर्गति अवश्य उठानी पड़ेगी। इसलिये शास्त्रविहित तितिक्षा ही होनी चाहिये। यही श्रीनारायण-स्वरूपप्राप्तिरूपी लक्ष्यके साधनरूप योगके मार्गपर आरूढ़ हुए साधकके लिये पाँचवीं सीढ़ी है।

छठीं सीढ़ी—कामनात्याग

पाँचवीं सीढ़ी—तितिक्षाका इतने दृष्टिकोणोंसे तथा इतने विस्तारके साथ निरूपण करनेके बाद अब हम अपने-आप सोच सकते हैं कि जब तितिक्षाका आरम्भ किया जाता है तब अनुभवसे यह बात सिद्ध हो जाया करती है कि जबतक हम अपने मनकी अनेक प्रकारकी कामनाओंको जड़से नहीं काट डालते तबतक हमारा तितिक्षावाला प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकता। क्योंकि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(२।६२-६३)

विषयोंके ध्यानसे उनमें सङ्ग (अच्छेपनकी प्रतीति) उत्पन्न होता है। सङ्गसे उन चीजोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। इच्छा पूरी करनेके प्रयत्नमें जिसके कारण विघ्न

उत्पन्न होता है, उसपर क्रोध आता है, क्रोधसे (जोश या आवेशरूपी) सम्मोहकी उत्पत्ति होती है। सम्मोहसे स्मृतिभ्रंश अर्थात् आगे-पीछेका विचार करनेकी शक्तिका नाश हो जाता है और इस तरह स्मृतिभ्रंशसे अपना सर्वश्रेय नष्ट हो जाता है। अर्थात् कामनासे इतनी लंबी और जबर्दस्त अनर्थपरम्परा पैदा हो जाती है, यह स्वाभाविक, अनिवार्य और अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये साधकोंको विचार करना चाहिये कि जब किसी चीजकी कामना की जाती है तब उसकी प्राप्तिमें जिससे विघ्न उपस्थित होता है उसपर क्रोध जरूर आता है अर्थात् कामनासे क्रोध ही उत्पन्न होता है और जब कामनासे ही क्रोध उत्पन्न होता है तब कामनाओंके रहते हुए तितिक्षाकी आशा कैसे की जा सकती है? अतः यह जानना चाहिये कि कामनाका त्याग भी अत्यावश्यक है और यही छठीं सीढ़ी है, जिसके बिना वह तितिक्षा भी नहीं हो सकती जिसकी अत्यन्तावश्यकताके विषयमें इतने अधिक विस्तारके साथ अबतक विचार किया गया है।

ज्ञाननिष्ठा और कामनात्याग

अतएव द्वितीयाध्यायमें अर्जुनके इस प्रकार प्रश्न करनेपर कि—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

योगसमाधिमें रहनेवाले स्थितप्रज्ञ अर्थात् ज्ञाननिष्ठाका क्या लक्षण है, वह किस तरह बोलेगा, किस तरह बैठेगा, किस तरह चलेगा इत्यादि। भगवान् श्रीकृष्णने स्थितप्रज्ञका लक्षण बताते हुए उसके बोलने, बैठने, चलने आदिका नामतक न ले एकदम उसके अन्दरके लक्षणोंका ही वर्णन करते हुए साफ-साफ कहा कि—

जब आदमी आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहते हुए मनकी सब कामनाओंको छोड़ देता है तभी वह स्थितप्रज्ञ (ज्ञाननिष्ठ) कहा जाता है। (२।५५)

जो किसी दुःखसे दुःखित नहीं होता, किसी सुखकी इच्छा नहीं करता और राग, भय एवं क्रोधसे मुक्त रहता है, वही स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है।

(२।५६)

जो किसीके साथ ममताका सम्बन्ध नहीं रखता, किसी सुखके आनेपर प्रसन्न नहीं होता और न किसी दुःखके आनेपर दुःखी होता है, वही स्थितप्रज्ञ है।

(२।५७)

जैसे कछुआ अपने सब अवयवोंको सब ओरसे खींच लेता है, वैसे ही जो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको सब ओरके विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूपी भोग्य पदार्थों)-से खींच लेता है, वही स्थितप्रज्ञ है। (२।५८)

भोग्य पदार्थोंसे निवृत्त हुए व्यक्तिमें भोग्य वस्तुओंके छूट जानेपर भी उनकी अभिरुचि (इच्छा) तो रहती है; मगर स्थितप्रज्ञ तो परमात्माका साक्षात्कार करके किसी चीजकी इच्छा नहीं रखता। (२।५९)

चलनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन दौड़ता रहता है, वह मन समुद्रमें नौकाका ध्वंस करनेवाली वायुके समान बुद्धिका नाश कर देता है। (२।६७)

इसलिये जिसने अपनी इन्द्रियोंको सब ओरके भोग्य पदार्थोंसे खींच लिया हो, वह स्थितप्रज्ञ है।

(२।६८)

जिसका सारी (अज्ञानी) दुनियाको खयाल ही नहीं होता, उस (परमार्थ-साक्षात्कारके आनन्द)-में ज्ञानी हमेशा जागता रहता है और जिसका सारी दुनिया खयाल करती है उस (विषय-वासना-सम्बन्धी पदार्थ)-का ज्ञानी कभी खयाल ही नहीं करता। (२।६९)

त्रिगुणातीत और कामना-त्याग

इसी प्रकार त्रिगुणातीतके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी श्रीभगवान्ने चतुर्दशाध्यायमें जो कुछ कहा है, जिसका वर्णन हम तितिक्षाके प्रसङ्गमें कर ही चुके हैं, उससे भी यह स्पष्ट है कि कामनात्याग त्रिगुणातीतका घटक लक्षण है, अर्थात् ऐसा लक्षण है जिसके बिना त्रिगुणातीत अवस्था हो ही नहीं सकती।

ज्ञानका स्वरूप और कामना-त्याग

फिर इसी प्रकार त्रयोदशाध्यायमें ज्ञान और अज्ञानके स्वरूपोंका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्ने **'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्'** (१३।८) और—

'नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।'

(१३।९)

इत्यादि लक्षणोंद्वारा ज्ञानके स्वरूपका निर्वचन करके यह स्पष्ट किया है कि कामना-त्याग भी ज्ञानके स्वरूपके अन्तर्गत आवश्यक लक्षण है, अर्थात् कामना ज्ञानके स्वरूपका नाश करनेवाली चीज है। इत्यादि।

लक्ष्यप्राप्ति और कामना-त्याग

पञ्चदशाध्यायमें भी अव्यय पदार्थकी किसे प्राप्ति होती है, यह बताते हुए श्रीभगवान्ने **'विनिवृत्तकामाः'**

योगीश्वर श्रीशिव
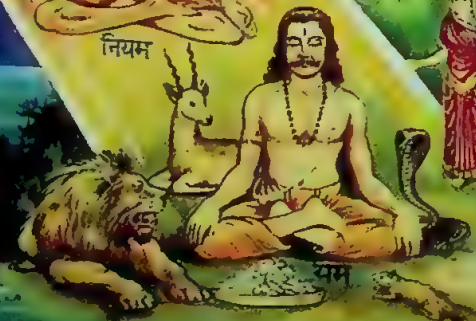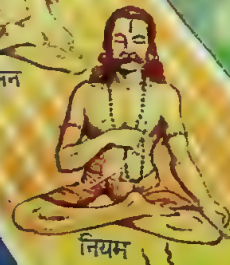
अष्टाङ्गयोग

ध्यानस्थ भगवान् बुद्धदेव

मर्यादायोग श्रीसीताराम

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'

संसारदशा

गीताप्रेस, गोरखपुर
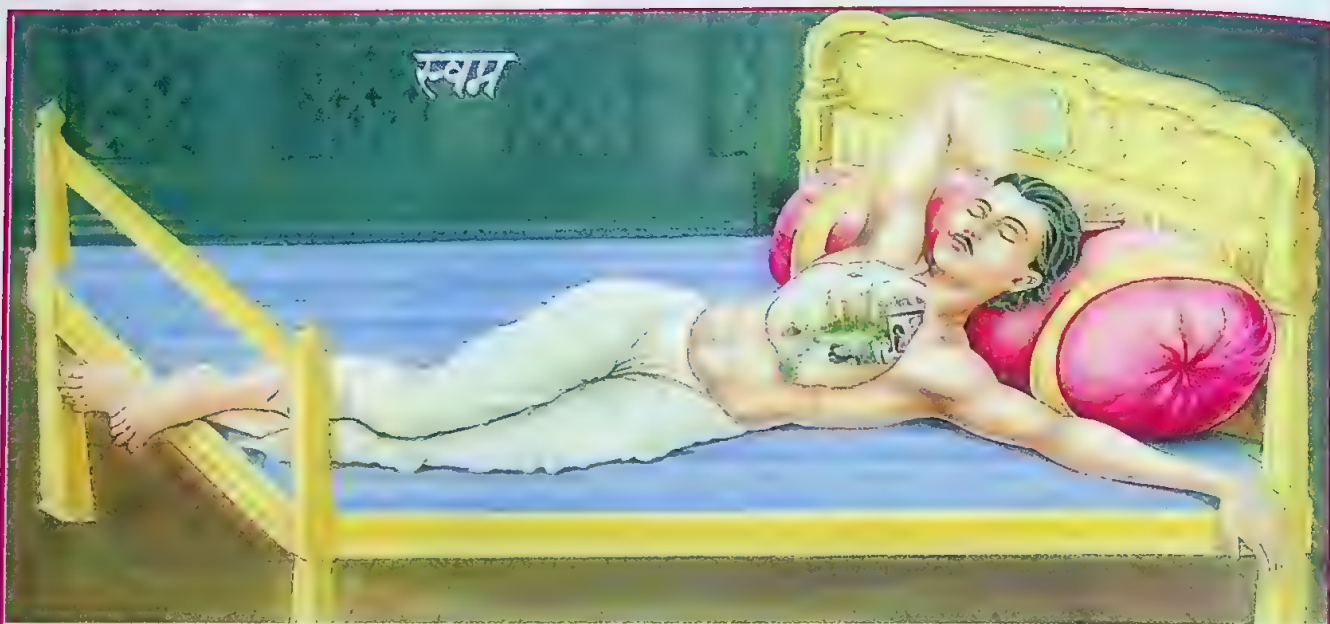
भक्तियोग, ज्ञानयोग

पयाराशेस्तीरे स्फुरदुपवनालीकलनया मुहुर्वृन्दारण्यस्मरणजनितप्रेमविवशः।
क्वचित् कृष्णावृत्तिप्रचलरसनो भक्तिरसिकः स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥

(१५।५) विशेषण लगाकर यह कहा है कि वे ही **'पदमव्ययं तत्'** (उस अव्यय अर्थात् निर्विकार शान्ति और आनन्दमय पदवी)-को प्राप्त करते हैं जिनके मनसे सब प्रकारकी कामनाएँ निकल जाती हैं।

संन्यास और कामना-त्याग

सर्वैषणात्यागरूपी संन्यासके बारेमें तो यह कहनेकी जरूरत ही नहीं है कि जबतक सब कामनाओंका त्याग नहीं हो जाता तबतक संन्यासका आरम्भ ही नहीं होता। संन्यासमें तो कामनात्याग केवल अत्यन्त आवश्यक ही नहीं है बल्कि यह संन्यासका अनिवार्य और घटक (अर्थात् स्वरूपान्तर्गत) लक्षण है। अतएव श्रीभगवान्ने पञ्चमाध्यायमें संन्यासके लक्षण बताते हुए कहा है कि—

'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।' (५।३)

सच्चा संन्यासी वही है जो न तो किसी चीजसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी इच्छा ही करता है।

तथा—

'कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।' (५।२६)

जो कामक्रोधसे रहित हैं और जिन्होंने मनको काबूमें कर लिया है, वे ही संन्यासी हैं। इत्यादि।

दैवासुरसम्पत्ति और त्यागात्याग

षोडशाध्यायमें भी दैवी सम्पत्तिके घटक लक्षणके रूपमें त्यागका जिक्र करके, आगे आसुरी सम्पत्तिके प्रसङ्गमें कामनाका खूब खण्डन करते हुए श्रीभगवान्ने कहा है—

कामनाके (जिसे तृप्त किया ही नहीं जा सकता) आश्रित होकर दम्भ, अहङ्कार एवं मदसे युक्त होते हैं (आसुरी प्रकृतिके मनुष्य)। (१६।१०)

अपार चिन्ताओंको (जिसका प्रलयकालमें अन्त हो सकता है) लेकर, कामनाके उपभोगको ही परम पदार्थ मानते हुए यह समझते हैं कि दुनियामें इससे बढ़कर कोई चीज नहीं है। (१६।११)

सैकड़ों आशापाशोंसे बद्ध और कामक्रोधपरायण रहते हैं। (१६।१२)

अब मुझे यह (अमुक पदार्थ) मिल गया है, फिर इस (अमुक) अभीष्टको प्राप्त करूँगा, अबतक इतना पैसा मिल गया है, फिर भी पैसा मिलनेवाला है, इत्यादि—इस प्रकार खयाल करते रहते हैं। (१६।१३)

इस प्रकार कामभोगोंमें जो प्रवृत्त रहते हैं, वे अपवित्र नरकमें जा गिरते हैं। (१६।१६)

अहङ्कार, बल, गर्व, कामना और क्रोधको जोरसे पकड़कर अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझसे द्वेष और असूया करते हैं। (१६।१८)

इन द्वेषी, क्रूर और अशुभ आचरण करनेवाले नराधमोंको मैं संसारमें आसुरी योनियोंमें ही हमेशा डालता हूँ। (१६।१९)

ये मूढ़ात्मा हर एक जन्ममें आसुरी योनिको ही प्राप्तकर, मुझमें न पहुँचकर, अधम गतिको प्राप्त किया करते हैं। (१६।२०)

यज्ञादिके तीन प्रकारोंका विवेचन

सप्तदशाध्याय और अष्टादशाध्यायमें भी सब पदार्थोंके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे विभाग दिखाते हुए श्रीभगवान्ने वहाँ भी कहा कि—

काम और रागके बलसे (जो करते हैं), उनको आसुरी वृत्तिवाले जानो। (१७।५-६)

फलकी इच्छा न रखनेवाले पुरुषोंद्वारा, अपने कर्तव्यको पूरा करनेके खयालसे, शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है। (१७।११)

फलकी अभिसन्धिसे या दम्भके लिये जो क्रिया जाता है, वह राजसिक है। (१७।१२)

फलाकांक्षा न रखनेवाले योगियोंद्वारा, अत्यन्त श्रद्धासे, (शरीर, वाणी और मनकी) जो त्रिविध तपस्या की जाती है, वह सात्त्विक है। (१७।१७)

सत्कार, मान एवं पूजाकी इच्छासे या दम्भसे जो की जाती है, वह राजसिक, चञ्चल और अस्थिर कही जाती है। (१७।१८)

दान देना अपना कर्तव्य समझकर, प्रत्युपकार न कर सकनेवालेको, देश, काल और पात्रमें जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक है। (१७। २०)

प्रत्युपकार या फलके उद्देश्यसे, दुःखके साथ जो दिया जाता है, वह राजसिक दान है। (१७।२१)

(ओं तत्सत्—इन तीन शब्दोंमेंसे तत् शब्दका अर्थ) मोक्षकी इच्छा रखनेवाले, फलकी इच्छा न कर, अनेक प्रकारके यज्ञ, तपस्या, दान आदि क्रियाएँ करते हैं। (१७।२५)

फलेच्छा न रखनेवालेके द्वारा जो शास्त्रविहित कर्म

निःसङ्ग भावसे और रागद्वेषके बिना किया जाता है, वह सात्त्विक है। (१८।२३)

फलेच्छु या अहंकारी पुरुषके द्वारा जो दुःखके साथ किया जाता है, वह राजसिक है। (१८।२४)

जो कर्ता सङ्गरहित, अनहंकारी, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें एक समान निर्विकार चित्तवाला होता है, वह सात्त्विक है। (१८।२६)

जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसक, अशुचि या सुखदुःखवाला होता है, वह राजसिक है। (१८।२७)

योगी (निष्काम कर्म करनेवाले) जिस अटल धृतिसे (निर्विकार रहते हुए) मन, प्राण और इन्द्रियोंके कामोंकी धारणा किया करते हैं, वह सात्त्विक है। (१८।३३)

जिस धृतिसे फलासक्त कार्यकर्त्ता धर्म, कामना और अर्थोंको धारण करता है, वह राजसिक है। (१८।३४)

आत्मज्ञानके प्रसादसे उत्पन्न ज्ञान, जो आरम्भमें विष और परिणाममें अमृतके समान होता है, वह सात्त्विक है। (१८।३७)

विषयों (शब्दस्पर्शादि भोग्य पदार्थों) और इन्द्रियोंके सम्पर्कसे जो आरम्भमें अमृत और परिणाममें जहरके समान होता है, वह सुख राजसिक है। (१८।३८)

निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख जो आरम्भमें और परिणाममें भी अपनेको मोहान्धकारमें डालता है, वह तामसिक है। (१८।३९)

इस गुणत्रयविवेचनसे भी स्पष्ट हो जाता है कि कामना-त्यागकी कितनी आवश्यकता है; क्योंकि जो सात्त्विक भी नहीं हुआ, वह त्रिगुणातीत तो कैसे हो सकता है?

योगाभ्यास और कामना-त्याग

इन सब विचारोंको सुनकर यदि कोई यह समझे कि त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, ज्ञाननिष्ठ, संन्यासी, दैवी सम्पद्वाले, सत्त्वगुणनिष्ठ आदिके लिये यह सब झंझट है, योगीके लिये तो नहीं है, तो यह एक बड़ी भूल होगी। क्योंकि आत्मसंयमयोग नामक षष्ठाध्यायमें (जो योगकी विधि बतानेवाला खास अध्याय है) भगवान् श्रीकृष्णमें शुरूसे ही योगीके बारेमें यही निर्वचन किया है कि—

कर्मफलकी इच्छा न करते हुए जो अपने कर्तव्यको पूरा करता हो, वही संन्यासी है और वही योगी है। अग्नि या कर्मका त्याग करनेवाला संन्यासी या योगी नहीं है। (६।१)

जबतक सर्वसंकल्पका त्याग न हो जाय तबतक कोई भी योगी नहीं होता। (६।२)

जब सर्वसंकल्पका त्याग हो जाता है और भोग्य पदार्थों एवं कर्मोंकी आसक्ति छूट जाती है तब योगारूढ़ कहा जाता है। (६।३)

शीतोष्ण, सुख-दुःख एवं मानापमानमें (समाहित यानी निर्विकार)। (६।७)

जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और काञ्चन एक समान हैं, वही योगी, युक्त कहा जाता है। (६।८)

इच्छारहित और परिग्रहरहित होकर योगाभ्यास करें। (६।१०)

समस्त कामनाओंसे जब निवृत्त हो जाता है, तभी योगी कहा जाता है। (६।१८)

जिसमें पहुँचकर अतीन्द्रिय (अतएव) बुद्धिसे ही वेद्य आत्यन्तिक सुखको ही जानता है और परमात्मतत्त्वसे हिलता नहीं है, (वही योग है)। (६।२१)

जिसके मिलनेपर फिर किसी दूसरे लाभको नहीं चाहता, वही योग है। (६।२२)

सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली कामनाओंको निःशेष छोड़कर। (६।२४)

(इस प्रकारसे) जो रजस्तमोगुणरहित, निर्मल और शान्तचित्त हो गया है, उस ब्रह्मस्वरूपमें पहुँचे हुए योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है। (६।२७)

(इस प्रकार) निर्मल होकर योगक्रिया करनेवाला योगी ब्रह्मस्पर्शसुखको सुखपूर्वक प्राप्त करता है। (६।२८)

सुख हो या दुःख हो, (जो समदृष्टि रखता है) वह योगी श्रेष्ठ है। (६।३२)

कोई सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और इसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे वशमें आता है। (६।३५)

योगीकी श्रेष्ठता

अतः श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठाध्यायके

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

—इस उपान्त्य श्लोकके आधारपर जो लोग योगीकी सर्वश्रेष्ठता बताते हुए आनन्दसे मस्त हो जाया करते हैं, उन सब लोगोंको जानना और सर्वदा याद रखना चाहिये कि इसी अध्यायमें पहले श्लोकसे लेकर ४५ वें श्लोकतक श्रीभगवान्ने '**अनाश्रितः कर्मफलं, संन्यस्तसङ्कल्पः, सर्वसङ्कल्पसंन्यासी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः, निराशीः, अपरिग्रहः, निस्पृहः सर्वकामेभ्यः, सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः**' इत्यादि स्पष्ट शब्दोंद्वारा जिस योगीका निर्वचन (Definition) दिया है और जिसको संन्यासीसे सर्वथा अभिन्न बताया है, उसीकी महिमा उपर्युक्त ४६ वें श्लोकमें गायी गयी है। अर्थात् कामना-त्यागके विषयमें तो श्रीभगवान्की परिभाषाके अनुसार योगी और संन्यासीमें तनिक भी भेद है ही नहीं।

सच्ची भक्ति और कामना-त्याग

फिर भी यदि किसीके भी मनमें यह शङ्का हो कि अगर योगी भी सर्वकामनात्यागसे ही बनता है तो बेशक बने, भक्तिमें तो यह झंझट नहीं है, तो भक्तोंके लक्षण बतानेवाले द्वादशाध्यायको एक बार देखनेपर पता लग जायगा कि यह भी बड़ी भूल है; क्योंकि उसमें भी तो श्रीभगवान्ने यही कहा है कि—

जिसे दुःख एवं सुख समान हो। (१२। १३)

जो सर्वदा सन्तुष्ट हो। (१२। १४)

सुख, क्रोध, भय और दुःखसे जो मुक्त है, वह मेरा भक्त है (मुझे प्यारा है)। (१२। १५)

जिसे कोई इच्छा नहीं, विकार नहीं, दुःख नहीं। (१२। १६)

जो किसी कारणसे सुखी नहीं होता, द्वेष नहीं करता, दुःखी नहीं होता, कोई इच्छा नहीं करता और जिसने शुभाशुभ दोनोंको छोड़ दिया है, वह भक्त मुझे प्यारा है। (१२। १७)

शीतोष्ण, सुख-दुःखमें जो समान रहता है और सङ्गरहित होता है। (१२। १८)

जो निन्दा और स्तुतिमें समान रहता है, मननशील होता है, जो-जो कुछ (सुख या दुःख) आता है, उससे सन्तुष्ट रहता है एवं स्थिरबुद्धि रहता है और जिसे अपना कोई स्थान भी नहीं है, वह भक्त मुझे प्यारा है। (१२। १९)

क्या भक्तिके इन लक्षणोंमें और स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, संन्यासी, दैवीसम्पत्सम्पन्न, ज्ञाननिष्ठ और योगीके पूर्वोक्त लक्षणोंमें थोड़ा भी भेद है? यह तो स्पष्ट है कि दृष्टिकोणोंके भेदसे नामोंमें ही सबमें भेद है; वस्तुस्वरूप या लक्षणोंमें तनिक भी भेद नहीं है।

और भी कुछ प्रमाण

इन सब बातोंके अतिरिक्त श्रीभगवान्ने अन्यान्य प्रसंगोंमें भी कामना-त्यागकी आवश्यकता बताते हुए कहा है—

बाह्य पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंके सम्पर्कसे होनेवाले सुखोंमें आसक्त न होकर आत्मामें जो सुख प्राप्त करता है वह ब्रह्मयोगी होकर शाश्वत सुखको भोगता है। (५। २१) जो अन्तरात्मामें ही सुख और ज्योतिका अनुभव करते हुए उसीमें रमता रहता है, वह योगी परब्रह्मस्वरूप होकर परब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है। (५। २४)

जो ऋषि (ज्ञानी) निर्मल, द्वैतरहित, जितेन्द्रिय और सर्वभूतहितमें रत हो गये हैं, वे परब्रह्मानन्दको प्राप्त करते हैं। (५। २५)

जो मुमुक्षु होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको काबूमें करके इच्छा, भय एवं क्रोधसे मुक्त हो गया हो, वह हमेशा मुक्त ही है। (५। २८)

बलवानोंका जो कामरागरहित बल है, वह मैं हूँ (अर्थात् वह मेरी विभूति है)। (७। ११)

त्रिवेदविद्याध्यायी (कर्मनिष्ठ पुरुष) यज्ञोंद्वारा मेरी पूजा करके, सोमपान करके निष्पाप होकर स्वर्गमें पहुँचनेकी इच्छा करते हैं और देवेन्द्रादि श्रेष्ठ देवोंके पुण्यलोकोंमें पहुँचकर स्वर्गमें देवताओंके दिव्य सुखोंको भोगते हैं। (९। २०)

वे उस स्वर्गके सुखको बहुकालतक भोगकर पुण्यके खर्च हो जानेपर पुनः मर्त्य (इसी भू)-लोकमें जन्म लेते हैं। काम्य वस्तुओंकी कामनासे त्रिवेदोक्त कर्ममार्गका आश्रय लेनेवाले आदमी इस प्रकार जन्म-मरण-प्रवाहरूपी संसारको प्राप्त करते हैं। (९। २१)

जो दुःखसे द्वेष नहीं करता, सुखकी इच्छा नहीं करता, त्यागी होकर आत्म-स्वरूपके बलपर रहता है, वह ज्ञानी है और वही संशयरहित होता है। (१८। १०)

कामना त्यागनेकी आज्ञा

अतः कामनाका त्याग करनेकी विधि प्रत्यक्षरूपमें और स्पष्ट शब्दोंमें श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायसे ही

खूब मिलती है और उस विषयपर अर्जुनकी ओरसे प्रश्न होनेपर उन प्रश्नोंके उत्तर भी विशेष विस्तारके साथ मिलते हैं। उन्हींमेंसे स्थालीपुलाकन्यायके अनुसार कुछ विशेष दृष्टान्तोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है। भगवान् कहते हैं—

१-सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणीके लिये हैं वेदके बताये हुए सब (सकाम) कर्म। तुम त्रिगुणातीत, द्वन्द्वरहित, अपने आत्मस्वरूपके बलपर सर्वदा अवलम्बित, योगक्षेमचिन्तारहित और ज्ञाननिष्ठ बनो। (२।४५)

२-बुद्धिमान् और (इन्द्रियनिग्रहके लिये) प्रयत्नशील पुरुषके मनको भी बलवान् इन्द्रियाँ बरबस खींच लेती हैं। (२।६०)

३-उन सबको वशमें करके, मुझमें तत्पर होकर योग करो। (२।६१)

४-प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें (अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि भोग्य पदार्थोंमें) रागद्वेष भलीभाँति निवास करते हैं। उन दोनोंके वशमें न आना, क्योंकि वे इस (मुमुक्षु)-के परिपन्थी (बड़े शत्रु) हैं। (३।३४)

५-अर्जुनने कहा—तो, हे भगवन्! वह कौन है जिसकी जबर्दस्त प्रेरणासे प्रेरित होकर मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप कर लिया करता है? (३।३६)

६-श्रीभगवान्‌ने कहा—ये काम-क्रोध हैं जो रजोगुण-से उत्पन्न होते हैं, कभी तृप्त होनेवाले नहीं हैं और महापापी हैं। इन्हें शत्रु जानो। (३।३७)

७-जैसे धुएँसे अग्नि, मैलेसे दर्पण और उल्बसे गर्भ आवृत रहता है, वैसे ही इस (कामक्रोधरूपी शत्रु)-से यह सब (सारा जगत्) आवृत रहता है। (३।३८)

८-अपनी इच्छाके अनुसार अनेक रूप धारण करके धोखा देनेवाले और अग्निकी भाँति हमेशा अतृप्त रहनेवाले इसी (ज्ञानियोंके) परम शत्रुसे ज्ञान आवृत (छिपा हुआ) रहता है। (३।३९)

९-इन्द्रिय, मन और बुद्धि इसके वासस्थान हैं। इन्हीं (-के बल)-से यह (कामक्रोधरूपी शत्रु) ज्ञानको छिपाकर शरीरमें रहनेवाले (जीव)-को मोहमें डाल दिया करता है। (३।४०)

१०-इसलिये हे भरतश्रेष्ठ! इन्द्रियोंको पहले वशमें लाकर फिर ज्ञानविज्ञाननाशक इस (कामक्रोधरूपी शत्रु)-को मार डालो। (३।४१)

११-(शरीरसे) इन्द्रियाँ परे (ऊपर) हैं, इन्द्रियोंसे मन, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे भी आत्मा ऊपर है। (३।४२)

१२-इस प्रकार बुद्धिसे भी ऊपर जो है उसे जानकर, अपनेसे अपनेको वशमें करके, इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार डालो। (३।४३)

१३-स्थिरबुद्धि और मोहरहित होकर, ब्रह्मज्ञानी बनकर ब्रह्ममें पहुँचकर, किसी सुखसे सुखी न हो और किसी दुःखसे दुःखी न हो। (५।२०)

१४-इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे जो सुख भोगे जाते हैं, वे दुःखके ही कारण और नश्वर हैं। उनमें कोई बुद्धिमान् नहीं रमता। (५।२२)

१५-मनका निग्रह करके, मुझमें चित्त लगाकर, मुझमें मग्न होकर योग करो। (६।१४)

१६-जिसमें पहुँचनेके बाद फिर और किसी चीजकी चाह नहीं रह जाती, उसी योगका अनिर्विण्ण-चित्त होकर दृढ़ निश्चयके साथ अभ्यास करो। (६।२२-२३)

१७-सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंको निःशेष छोड़कर। (६।२४)

१८-इस अत्यन्त दृढ़ मूलवाले, परन्तु नश्वर संसार-वृक्षको दृढ़ असंगरूपी शस्त्रसे काटकर, उसके बाद उस पदवीकी खोजमें जाना चाहिये, जिसमें पहुँचनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता। (१५।३-४)

१९-कामना, क्रोध और लोभ ये ही नरकके तीन दरवाजे हैं, जिनसे आत्मज्ञान नष्ट हो जाता है। इसलिये इन तीनोंका त्याग करो। (१६।२१)

२०-[तमः (नरक-) के इन तीनों द्वारोंसे जो मुक्त हो गया है, वह अपने श्रेयका आचरण करके परमगतिको प्राप्त होता है। (१६।२२)]

अणिमादि सिद्धि-प्रकरण

इसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि अगर सब कामनाओंके त्यागकी ही सब काण्डोंमें शास्त्रविहित आज्ञा है तब अणिमादि सिद्धियोंके लिये योगशास्त्रमें जो साधनादि प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं, उनके विषयके सिद्धान्तका समन्वय कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यद्यपि केवल हठयोगमें ही नहीं, बल्कि राजयोगमें भी अणिमादि सिद्धियों तथा जलस्तम्भन, वायुस्तम्भन, अग्निस्तम्भन, विषस्तम्भन, परकायप्रवेशादिके लिये साधनक्रम बताया गया है, और इन सबमें किसी-न-

किसी वस्तुके योगशास्त्रानुसार एकाग्र ध्यानका अभ्यास होनेके कारण चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगकी प्राप्तिरूपी लाभ अवश्य होता है, तथा इस कारण इन सबकी विधियाँ केवल योगशास्त्रमें ही नहीं, बल्कि श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धादिमें भी मिलती हैं, तो भी यह चेतावनी तो हमें फिर भी अवश्य देनी है कि इन सिद्धियोंको प्राप्त करानेवाले विहित अभ्यासोंके द्वारा एकाग्र ध्यानका लाभ होनेपर भी आध्यात्मिक दृष्टिसे यह आपत्ति तो अवश्य रहती ही है कि इन अभ्यासोंसे मनके ऐसी सिद्धियोंकी लालच और मोहमें फँसकर अपने श्रेय:साधक आध्यात्मिक वृत्ति एवं मननादिविशिष्ट आध्यात्मिक साधनोंसे निवृत्त हो जानेका डर रहता है। अर्थात् श्रेयको छोड़कर प्रेयमें लग जानेकी सम्भावना रहती है। अतएव भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतमें उद्धवको इन सिद्धियोंकी बातें एवं प्रक्रियाएँ बतानेके बाद सावधानीके साथ कहा है कि—

अन्तरायान्वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥
(११।१५।३३)

[मुझसे मिलनेके लिये उत्तम योगाभ्यास करनेवालोंके समयको व्यर्थ नष्ट करनेके कारण ये सिद्धियाँ श्रेयके रास्तेमें विघ्न हो जाती हैं।]

विघ्नका मुख्य कारण

वृथा कालक्षेप होनेके अतिरिक्त इन सिद्धियोंके द्वारा साधकके श्रेयमार्गमें विघ्न उपस्थित होनेका मुख्य कारण यह है कि ऐसी सिद्धियोंके आ जानेपर प्राय: बुद्धि बिगड़ जाती है और आसुरी चित्तवृत्ति अपना जबर्दस्त साम्राज्य फैलाने लग जाती है जिसका वर्णन श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताके षोडशाध्यायमें किया है—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

—और इससे बचना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो जरूर है। इसलिये भी इन सिद्धियोंकी कामना भी त्यागने ही योग्य है।

कायसिद्धि

इसपर यदि कोई यह कहे कि हम तो श्रेय:साधनका खूब अभ्यास करनेके लिये ही अपने शरीरको शाश्वत और अत्यन्त बलिष्ठ बनानेके उद्देश्यसे इन सिद्धियोंकी इच्छा करते हैं, इसमें क्या दोष है, इत्यादि, तो इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हम भी इन बातोंका आठ-दस सालतक एकान्तमें रहकर अच्छी तरह अनुभव कर चुके हैं और उसके आधारपर यह मानते हैं कि हठयोगके इन प्रयोगोंसे शरीरकी सब बीमारियाँ निकल जाती हैं और स्वास्थ्यकी प्राप्ति अच्छी तरहसे हो जाती है, अत: इन प्रयोगोंके द्वारा रोगोंको हटाने एवं आरोग्य प्राप्त करनेका प्रयत्न जरूर हो; परन्तु यह तो बिल्कुल निराधार भ्रम है कि किसी प्रयोगके द्वारा शरीर शाश्वत बनाया जा सकता है। यह बात तो **''यज्जन्यं तदनित्यम्''** इस न्याय और श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायके नित्यानित्यविवेकवाले प्रकरणमें आये हुए श्रीभगवान्द्वारा प्रतिपादित **''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।(२।२७)''** इस अनुभवसिद्ध और निरपवाद नियमके विरुद्ध है, अतएव मान्य नहीं है साधकोंको समझना चाहिये कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
(२।२३)

—इत्यादि श्रीभगवद्वाक्योंका विषय आत्मा है कि शरीर, और—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
(२।१०)

—इत्यादि वचनोंके अनुसार शरीर तो नश्वर ही है, फिर उसको अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य बनानेकी आशा करना अपनेको धोखा देनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि आत्मा एवं अनात्माके यथासंख्य नित्यत्व और अनित्यत्वका इस लेखमें पहले ही (चौथी सीढ़ीके प्रकरणमें) पर्याप्त वर्णन हो चुका है, इसलिये इस विषयका फिर यहाँ विस्तारसे विचार नहीं किया जाता।

श्रीमद्भागवतका संवाद

यदि कोई यह कहे कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कुछ भी हो, श्रीमद्भागवतमें तो भगवान् श्रीकृष्णने ही इन सिद्धियोंका उपदेश उद्धवको दिया है, इसलिये हम मानते हैं कि शरीरको शाश्वत और वज्रके समान बना सकनेवाली सिद्धियाँ भी हैं। तो इसका उत्तर यह है कि यह बात गलत है। क्योंकि उसी श्रीमद्भागवतके उसी एकादश स्कन्धमें उसी उद्धवके सामने उसी भगवान् श्रीकृष्णने ऐसी सिद्धियोंके लिये प्रयत्न करनेका (उलटा) खण्डन ही किया है; उन्होंने कहा है—

१-कुछ धीर पुरुष इस शरीरको अनेक प्रकारके

उपायोंसे उम्रमें शाश्वत और अत्यन्त समर्थ बनाकर फिर श्रेय:सिद्धिके लिये योगारम्भ करते हैं। (११ । २८ । ४१)

२-परन्तु यह समझदारोंके लिये मान्य नहीं है, क्योंकि यह परिश्रम इसलिये निरर्थक (व्यर्थ) है कि वृक्षके फलोंके समान शरीर नश्वर है। (११ । २८ । ४२)

३-मेरे बताये हुए (भक्तियुक्त और निर्लिप्त स्वधर्माचरणरूपी निष्काम कर्म) योगसे ही जब शरीर समर्थ हो सकता है तब मेरे बुद्धिमान् भक्तको ऐसे योगको छोड़कर इस (सिद्धिवाली) बातपर विश्वास नहीं करना चाहिये। (११ । २८ । ४३)

४-मेरे शरणागत होकर, निष्काम होकर, इस (मेरे बताये हुए निष्काम कर्माचरणरूपी सांख्य) योगका अभ्यास करता हुआ विघ्नोंसे पीड़ित न होकर परब्रह्मानन्दका आस्वादन करता रहता है (११ । २८ । ४४) इत्यादि।

सिद्धिवाले प्रकरणका समन्वय

अब इसपर यदि कोई यह पूछे कि जब २८वें अध्यायमें ये सब बातें कही हैं तब उसीके पञ्चदशाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने इन सिद्धियोंकी सब विधियाँ क्यों बतायीं? तो इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान्‌ने उस अध्यायमें भी ऐसी कोई आज्ञा नहीं की है, बल्कि इतनी ही बात हुई कि चतुर्दशाध्यायमें भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगका वर्णन करके पञ्चदशाध्यायके आरम्भमें उन्होंने अपने-आप कहा कि—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥
(११। १५। १)

(मेरे बताये हुए ढंगसे) जितेन्द्रिय होकर, श्वासको भी अपने वशमें करके, मुझमें मनको एकाग्रताके साथ रखनेवाले योगीकी सेवामें सिद्धियाँ अपने-आप आ जाती हैं।

और उद्धवके पूछनेपर कि कौन-कौन-सी सिद्धियाँ हैं, श्रीभगवान्‌ने आठ प्रधान सिद्धियों एवं दस गौण सिद्धियोंका वर्णन करके अन्तमें फिर कहा कि—

१-मेरी ऊपर बतायी हुई योगधारणासे मेरी उपासना करनेवाले मुनि (योगी)-को पूर्वोक्त सब सिद्धियाँ अपने-आप सेवामें उपस्थित होती हैं। (११ । १५ । ३१)

२-जितेन्द्रिय, जितशरीर और जितश्वास होकर जो योगी मेरी योगधारणा करता है, उसके लिये कौन-सी सिद्धि दुर्लभ है? (अर्थात् सब सिद्धियाँ आसान हैं)। (११ । १५ । ३२)

३-मुझमें पहुँचनेके लिये (मेरे ऊपर बताये हुए) उत्तम योगाभ्यासको करते रहनेवालेके समयको व्यर्थ व्यतीत करा देनेके कारण इन सिद्धियोंको श्रेयके मार्गके विघ्न बताते हैं। (११ । १५ । ३३)

४-प्रारब्ध, ओषधि, तपस्या और मन्त्रोंके बलसे जितनी सिद्धियाँ मिल सकती हैं, उन सबको (मेरे बताये हुए निष्काम कर्म, भक्ति, ज्ञान) योगसे प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु ऐसी (मेरी बतायी हुई) योगचर्यासे जो गति मिलती है, उसको तो दूसरे किसी उपायसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। (११ । १५ । ३४)

पञ्चम स्कन्धवाली चेतावनी

इस प्रकार अपने-आप उपस्थित होनेवाली सिद्धियोंमें भी यह आपत्ति तो अवश्य रहती है, जिसका वर्णन श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके षोडशाध्यायमें किया है कि—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

—इत्यादि आसुरी वृत्तिवाला अहंकार आ जाता है। अतएव उसी भगवान्‌के अवतार सिद्धेश्वर भगवान् श्रीऋषभदेवके विषयमें भी श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धके पञ्चमाध्यायमें सब योगैश्वर्यमहिमा बताकर अन्तिम श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने स्वयं कहा कि—

योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत।

अपनी सेवामें अपने-आप आयी हुई आकाशगमन, अन्तर्धान, परकायप्रवेश, दूरदृष्टि आदि योगैश्वर्यसिद्धियोंका अपने हृदयसे अभिनन्दन नहीं किया।

और श्रीमद्भागवतके श्रोता महाराज परीक्षितके पूछनेपर कि—

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि। (५। ६। १)

श्रीशुकदेवजीने उत्तर दिया कि हाँ, ठीक है। परन्तु—

नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः।
कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः॥
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः॥
(५। ६। ४, ५)

जो हमेशा कामना और उसके अनुयायी क्रोध, मद,

लोभ, शोक, मोह, भय आदि शत्रुओंको भीतर आनेके लिये छिद्र देनेवाला है और जिससे कर्मबन्धन भी हो जा सकता है, ऐसेको (अर्थात् अणिमादि योगैश्वर्यसिद्धियोंको) कोई बुद्धिमान् कैसे पसन्द कर सकता है?

सिद्धियाँ भी विघ्न हैं

इन सब उद्धृत वाक्योंसे स्पष्ट होता है कि भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमद्भगवद्गीताके षोडशाध्यायमें और श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें बताये हुए सिद्धान्तमें एवं श्रीशुकदेवजीके पञ्चम स्कन्धवाले उपदेशमें कोई विरोध या विसंवाद नहीं है, बल्कि अविरोध और समन्वय ही है कि कामना सामान्य मोक्षके मार्गमें विघ्न है और अणिमादि योगैश्वर्यसिद्धियोंकी इच्छा भी श्रेयकी प्राप्तिमें विघ्न ही है, अतः उसको भी छोड़ना ही चाहिये।

कामनात्यागकी अयथार्थ कल्पना

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चूँकि त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ, संन्यासी, तपस्वी, योगी या भगवद्भक्त होनेके लिये (अर्थात् सब प्रकारके साधकोंको) एक ओर सर्वकामना-त्यागकी और दूसरी ओर सर्वदुःख-तितिक्षाकी आवश्यकता है, इसलिये त्रिगुणातीतसे लेकर भक्ततक सब प्रकारके साधक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और खाने-पीने आदिसे बचते हुए अपने शरीरकी हिंसा ही करते रहनेवाले होंगे। ऐसे भ्रमात्मक विचारका पहले ही (तितिक्षावाले प्रकरणके अन्तमें) हमने निराकरण कर दिया है कि इस प्रकारकी अयथार्थ कल्पना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसी हिंसात्मक तपस्याका श्रीभगवान्ने **'तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्'** (गीता १७।६) इत्यादि शब्दोंसे खूब खण्डन किया है और नरकप्राप्ति तथा तिर्यग्योनिमें जन्म लेनेको ही ऐसी तपस्याका परिणाम बताया है। इसलिये इस विषयमें पुनः केवल चेतावनी ही दी जाती है कि ऐसी अयथार्थ कल्पना न की जाय; इस विषयका विस्तृत वर्णन नहीं दिया जाता।

अकामकामीकी निर्मल अवस्था

यहाँपर जिज्ञासुओंके मनमें यह जिज्ञासा उठ सकती है कि अगर कामना रखना भी मना है और कायशोषणादि भी निषिद्ध है तो श्रेयार्थी साधकको शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि पदार्थोंके सम्बन्धमें किस प्रकारकी चित्तवृत्ति और आचरणसे काम लेना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि—

नाभिनन्दति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति॥

इस उपदेशके अनुसार चलना चाहिये। अर्थात् कामना भी न करते हुए, दैवयोगसे प्राप्त सुखसे द्वेष भी न करते हुए, अपने कर्तव्यको निष्कामभावसे करते रहना चाहिये। यही ज्ञाननिष्ठाका लक्षण है। अतएव भगवान् श्रीकृष्णने फलेच्छुओंकी निन्दा करते हुए दूसरे अध्यायमें अपने उपदेशके आरम्भसे ही बारंबार यह कहा कि—

१-अपने वशमें रहनेवाले और रागद्वेषरहित इन्द्रियोंसे जो विषयोंको भोगता है, वह योगी पुरुष प्रसन्नताको प्राप्त करता है। (२।६४)

२-प्रसन्नताके प्राप्त होनेपर समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है; क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न हो गया है, उसकी बुद्धि (निर्विकार होकर अपने कामको अच्छी तरह सँभालनेके सामर्थ्यके साथ) उपस्थित हो जाती है। (२।६५)

३-जो (निष्काम कर्म) योगी नहीं होता, उसकी बुद्धि काम नहीं देती और उसमें भावना भी नहीं होती। जिसमें भावना नहीं होती उसे शान्ति नहीं मिलती, जिसमें शान्ति नहीं होती उसे सुख कहाँसे और कैसे मिल सकता है? (२।६६)

४-लगातार भरते रहनेपर भी अपनी सीमाका उल्लंघन न करनेवाले समुद्रमें जिस तरह जल प्रवेश करता है, उसी तरह जिसमें काम्य पदार्थ आ पहुँचते हैं, उसे शान्ति मिलती है, काम्य वस्तुओंकी कामना करनेवालेको नहीं मिलती। (२।७०)

५-जो पुरुष अहंकार और ममतासे मुक्त होकर, सब कामनाओंको छोड़कर, (विधिवशात् प्राप्त) काम्य वस्तुओंको निर्लिप्त होकर भोगता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है। (२।७१)

६-यही ब्रह्मज्ञानकी दशा है, जिसके मिल जानेके बाद मोह नहीं रह सकता। अन्तिम समयमें भी इस अवस्थामें रहनेपर परब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। (२।७२)

समस्त गीताके साररूप दूसरे अध्यायमें यह जो सिद्धान्त बताया है, उसीका अगले अध्यायोंमें विस्तृत वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार सिद्ध किया है कि काम्य पदार्थोंकी कामनाको त्याग देनेसे ज्ञानसिद्धि, योगसिद्धि, भक्तिसिद्धि और कर्मसिद्धि प्राप्त होती है और ज्ञानी, योगी एवं भक्त वे हैं जो भोजनादि भोग्य पदार्थोंको भोगते हुए निर्लिप्त रहते हैं, अर्थात् उनके मोह

या बन्धनमें नहीं पड़ते और उनकी इच्छा या संकल्प भी नहीं करते। इसी चित्तवृत्तिका कविकुलतिलक और साथ-ही-साथ ज्ञानिशिरोमणि श्रीभर्तृहरि महाराजने वर्णन करते हुए कहा कि—

अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसङ्कल्पय-
न्नतर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम्॥

पिछली बातोंका स्मरण भी न करते हुए, होनेवाली बातोंका संकल्प भी न करते हुए, उन (सुखदुःख-रूपी) भोगोंको भोगता रहता हूँ, जिनके आनेकी अपने मनमें भावना भी नहीं रहती।

कामनात्यागका पर्यवसितार्थ सिद्धान्त

इन सब विचारोंका पर्यवसितार्थ यह है कि कामना-त्याग भी स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, संन्यासी, सत्त्वनिष्ठ, योगी, भगवद्भक्त आदि सब प्रकारके जिज्ञासुओं और साधकोंकी दृष्टिसे अत्यावश्यक साधन है, जिसके बिना तितिक्षारूपी पूर्वसाधन भी यथार्थ रूपमें नहीं मिल सकता।

आनुषंगिक फलितार्थ

कामनात्यागसम्बन्धी इन विचारोंका भी यही आनुषंगिक फल निकलता है कि तितिक्षाकी तरह ही कामना-त्यागके विषयमें भी यही सच्चा सिद्धान्त है कि साधकोंके अधिकार एवं चित्तवृत्तियोंमें भेद होनेके कारण केवल दृष्टिकोणमें तथा नाम, रूप और पारिभाषिक प्रक्रियामें भेद है। कर्मकाण्ड, भक्तिकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें कामनात्यागके विषयमें यथार्थ भेद या विरोध नहीं है, बल्कि अविरोध और समन्वय ही है।

भ्रमनिवारण

परन्तु इस प्रकार कामना-त्यागके सम्बन्धमें विस्तारके साथ बताये हुए सिद्धान्तका यह भी तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि चूँकि सर्व कामना-त्यागकी जबर्दस्त विधि प्रत्येक काण्डके श्रेयोऽर्थीके लिये है और श्रीभगवान्ने त्रिगुणातीत एवं भक्तको भी '**सर्वारम्भपरित्यागी**' (१४। २५; १२। १६) बताया है, इसलिये सब प्रकारके साधकोंको अपने-अपने वर्णाश्रमादि व्यवस्थाके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मोंको निवृत्तिपरायण होकर, प्रवृत्ति-मार्गसे घृणा करते हुए (कि यह नरकका मार्ग है या कम-से-कम पुनरावृत्तिका रास्ता है), एकदम छोड़ देना चाहिये। बल्कि इन सब बातोंका मतलब यह है कि सबको कर्ममें और कर्मफलमें आसक्ति न रखकर—

१-यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(१६। २३)

२-तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६। २४)

३-श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।

—इत्यादि कहनेवाले श्रीभगवान्की आज्ञारूपी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि धर्मशास्त्रग्रन्थोंमें अपने-अपने वर्णाश्रमादि अधिकारके अनुसार जो-जो कर्तव्य बतलाये गये हैं, उन सबको ईश्वराज्ञापालन एवं ईश्वरार्पणकी दृष्टिसे, अपने कर्तव्य-पालनके विचारसे, निर्लिप्त बुद्धिके साथ अवश्य करना चाहिये। इसीका नाम त्रिगुणातीत अवस्था है, इसीका नाम ज्ञाननिष्ठा है, इसीका नाम दैवी सम्पत्ति है, यही निष्काम कर्मयोग है, यही सच्चा भक्तियोग है, यही असली ज्ञानयोग है। और तो क्या, यही सब प्रकारके योगोंका यथार्थ और असली तात्पर्य है।

निष्काम कर्मका द्वितीयाध्यायमें उपदेश

अतएव श्रीभगवान्ने दूसरे अध्यायके (जो श्रीमद्भगवद्गीताका सार-भाग है) आरम्भमें ही तितिक्षा और कामनात्यागरूपी प्रारम्भिक साधन बतानेके बाद, सांख्ययोग (अर्थात् ज्ञानयोग) बताते हुए सर्व कर्म-त्यागरूपी निवृत्तिको मना करके, निष्काम कर्ममें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दी; कहा कि—

१-सुख-दुःख, लाभालाभ और जयाजयको समान करके अर्थात् कार्यसिद्धि या असिद्धिकी परवा न करके केवल अपने कर्तव्यकी दृष्टिसे युद्धमें प्रवृत्त हो जाओ; तब पाप नहीं लग सकता। (२। ३८)

२-अपने कर्तव्यके करनेका अधिकार है, फलोंका खयाल मत करो। फलकी इच्छासे कर्म करनेवाले भी मत बनो, अपने कर्तव्यका त्याग करनेकी इच्छा भी मत करो। (२। ४७)

३-आसक्ति छोड़कर (मेरी बतायी हुई) योग-धारणामें रहते हुए अपने कर्तव्यका पालन किया करो। (२। ४८)

४-ज्ञानयोगकी शरण ले लो। फलके लिये काम करनेवाले कृपण (लोभी) हैं। (२। ४९)

५-ज्ञानयोगी पुण्य और पाप दोनोंसे रहित रहता

है। अतः योगके लिये उद्युक्त हो जाओ। कर्ममें कुशलता योग है। (२।५०)

६-बुद्धिमान् मनको जीतकर, कर्मफलको छोड़कर, जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर अभय पदवीमें पहुँचते हैं। (२।५१)

निष्काम कर्मका तीसरे अध्यायमें उपदेश

द्वितीयाध्यायमें इस प्रकार संक्षेपमें मिली हुई भगवदाज्ञाको सुनकर जब अर्जुन निष्कामकर्म-ज्ञान-सम्बन्धको न समझकर पूछता है कि—

'हे केशव! अगर कर्मसे ज्ञान इतना श्रेष्ठ है तो मुझको इस युद्धरूपी घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?' इत्यादि।

तब श्रीभगवान्ने निष्काम कर्मयोगके सिद्धान्तका, जिसका अगले सोलह अध्यायोंमें वर्णन करना था, आरम्भ करते हुए, उस सिद्धान्तको सिद्ध करते हुए कहा कि—

१-जो इन्द्रियोंका मनसे निग्रह करके कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग करता है, वह अनासक्त पुरुष श्रेष्ठ है। (३।७)

२-यज्ञ (अर्थात् केवल अपने कर्तव्यके पालनके ही खयालसे किये जानेवाले निष्काम उपासना-कर्म)-के अतिरिक्त सब कर्मोंसे (अर्थात् काम्य कर्मोंसे) बन्धन होता है। अतः अनासक्त होकर यज्ञार्थ कर्म करो। (३।९)

३-यज्ञ (निष्काम-उपासना-कर्म) करनेके बाद जो बच जाता है उस (प्रसादी)-को खानेवाले सत्पुरुष सब पापोंसे मुक्त होते हैं। (३।१३)

४-अतः सर्वव्यापी परब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं। (३।१५)

५-इस प्रकार (ब्रह्माद्वारा) प्रवर्तित निष्काम कर्म-चक्रको जो नहीं चलाता है, उस पापमय जीवनवाले और इन्द्रियोंके गुलामकी जिन्दगी व्यर्थ है। (३।१६)

६-अतः अनासक्त होकर अपने कर्तव्य-कर्मको हमेशा करो। क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करनेवाला पुरुष परम पदार्थको प्राप्त करता है। (३।१९)

७-अध्यात्मचित्तवृत्तिसे मुझमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर, कामना और ममताको छोड़कर, चित्तक्षोभसे निवृत्त होकर युद्ध करो। (३।३०)

८-जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और असूयारहित होकर मेरे इस आदेशके अनुसार सर्वदा चलते हैं, वे कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। (३।३१)

९-परन्तु जो मनुष्य असूया करनेवाले होते हैं और मेरे इस मत (आज्ञा)-के अनुसार नहीं चलते, उनको सर्वज्ञानरहित, नष्ट और बुद्धिहीन जानो। (३।३२) इत्यादि।

चतुर्थाध्यायमें निष्काम कर्मका युक्तिसे समर्थन

तीसरे अध्यायके अन्तमें पापके कारणके विषयमें किये गये अर्जुनके प्रश्नका जवाब यह देकर कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। (३।३७)

—और समस्त पापोंके मूलकारण कामरूपी महाशत्रुको मार देनेकी आज्ञा देकर चतुर्थाध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकमें श्रीभगवान्ने—

१-इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। (४।१)

२-स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप। (४।२)

३-स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। (४।३)

—इत्यादि वचनोंद्वारा उसी निष्काम कर्मयोगका [जिसे (अव्यवहितपूर्व) तीसरे अध्यायमें बताया था], केवल और शुद्ध योग शब्दके द्वारा परामर्श देते हुए स्पष्ट किया है कि जगत्के आरम्भसे लेकर श्रीभगवान्ने सूर्य, वैवस्वतमनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियोंको जिस योगका उपदेश दिया था वह केवल योगशब्दवाच्य सनातन योग श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीयाध्यायमें बताया हुआ निष्काम कर्मयोग ही है। और उसपर जो यह शंका हो सकती है कि अगर ज्ञानी भी कर्म करें तो उस कर्मके फलको भोगनेके लिये क्या उनको भी लोकान्तरोंमें जाना और जन्म लेना पड़ेगा, उसका निवारण करते हुए श्रीभगवान्ने इसी चतुर्थाध्यायमें कहा कि—

१-मुझे इस प्रकार जो अपनेमें पहचानता है कि मैं निर्लिप्त हूँ और मैं कर्मफलकी इच्छा नहीं करता, वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। (४।१४)

२-ऐसा जानकर प्राचीन मुमुक्षुओंने भी कर्म किया था। अतः तुम भी पूर्वजोंके किये हुए प्राचीन कर्मोंको ही करो। (४।१५)

३-निष्काम कर्ममें बन्धनराहित्यको और कर्तव्य-कर्मत्यागमें बन्धक पापको जो देखता है, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्मोंका कर्ता है। (४।१८)

४-जिसके सब कार्य कामना-संकल्प-रहित होते हैं, ज्ञानाग्निसे उसके सब कर्मोंके जले हुए होनेके कारण उसीको ज्ञानीलोग ज्ञानी बताते हैं। (४।१९)

५-जो नित्य तृप्त और निराश्रय होकर, कर्मफलासक्तिको छोड़कर रहता है, वह कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी कुछ नहीं करता। (४।२०)

६-अनासक्त, जितेन्द्रिय, जितशरीर और समस्त परिग्रहको त्यागकर रहनेवाला, केवल शारीरिक (अर्थात् इन्द्रियासक्तिरहित) कर्म करते रहनेपर दोषी नहीं होता। (४।२१)

७-जो यदृच्छा प्राप्त पदार्थोंसे सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत, द्वेषरहित और कार्यकी सिद्धि तथा असिद्धिमें समान (निर्विकार) रहता है, वह कुछ करनेपर भी कर्मसे बद्ध नहीं होता। (४।२२)

८-अनासक्तचित्त और ज्ञानावस्थितचित्त होकर जो यज्ञ (अर्थात् अपने कर्तव्यके पालन)-के लिये कर्म करता है, वही जीवन्मुक्त है और उसकी ओरसे किये हुए सब कर्म लीन हो जाते हैं (अर्थात् कुछ भी फल नहीं देते)। (४।२३)

९-ब्रह्मप्राप्त्यर्थ निष्काम कर्मनिष्ठामें जो रहता है, उसके लिये अर्पणकी क्रिया, अर्पण किया जानेवाला हविष्यादि, जिसमें अर्पण किया जाता है वह अग्नि, अर्पण करनेवाला और उसका प्राप्तव्य फल सब कुछ परब्रह्म ही है। (४।२४)

१०-उक्त अनेक प्रकारके कर्म करनेवाले यज्ञको जाननेवाले और यज्ञशेषरूपी अमृत खानेवाले होनेके कारण यज्ञाचरणसे ही निष्कल्मष होकर सनातन परब्रह्म-पदवीको पहुँच जाते हैं। यज्ञहीनको इहलोक भी नहीं मिलता, परलोक तो मिल ही कहाँसे सकता है? (४।३०-३१)

११-इस प्रकारसे बहुत प्रकारके यज्ञ ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हैं। उन सबको कर्मसे उत्पन्न जानो। ऐसे जानने-पर कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे। (४।३२)

१२-आत्मज्ञानके आश्रयमें रहते हुए, ज्ञानसे सब सन्देहोंको काटकर योगबलसे जो सर्वकर्मफलत्यागी बन जाता है, वह (कर्म करते हुए भी) कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। (४।४१)

१३-अतः अज्ञानसे उत्पन्न होकर हृदयमें आये हुए इस संशयको ज्ञानरूपी खड्ग (तलवार)-से काटकर इस (निष्काम कर्म) योगका आचरण करो, उठो। (४।४२)

संन्यासयोगकी दृष्टिसे भी निष्काम कर्मोपदेश

चतुर्थाध्यायके उपर्युक्त उपदेश सुनकर अर्जुनने जब संन्यास और कर्मयोगका स्पष्ट विवेचन करनेकी प्रार्थना की तब उसके जवाबमें कर्मसंन्यासयोग बतानेवाले पञ्चमाध्याय एवं आत्मसंयमयोग बतानेवाले षष्ठाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने संन्यासयोगकी दृष्टिसे भी निष्काम कर्मका ही इस प्रकार उपदेश दिया—

१-योगयुक्त, जितशरीर, जितेन्द्रिय और निर्मल होकर जो सर्वभूतान्तरात्मस्वरूपी परमात्मस्वरूपमें पहुँच गया है, वह कर्म करते रहते हुए भी निर्लिप्त है। (५।७)

२-तत्त्वको जाननेवाला (निष्काम कर्म) योग करते हुए इस ज्ञानधारणामें स्थिर रहता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें लगी रहती हैं। (५।८-९)

३-जैसे पद्मपत्र जलसे लिप्त नहीं होता है, वैसे ही जो आसक्तिको छोड़कर परमात्माको अर्पित करके कर्म करता है, वह पापोंसे निर्लिप्त रहता है। (५।१०)

४-योगी आसक्तिको छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म करते हैं। (५।११)

५-कर्मफल छोड़कर (निष्काम कर्म) योग करनेवाला निष्ठाप्रयुक्त शान्तिको प्राप्त करता है। और कर्तव्य कर्मको छोड़ देनेवाला फलकी कामना रखनेके कारण बन्धनमें पड़ता है। (५।१२)

६-जो जितेन्द्रिय है, वह मनसे ही (शरीरसे ही)सब कर्मोंको त्यागकर (अर्थात् उनके फलमें आसक्त न होकर) नौ द्वारवाली शरीररूपी पुरीमें सुखसे रहते हुए कुछ करता नहीं, कुछ कराता नहीं। (५।१३)

७-कर्मफलको न चाहते हुए जो अपने कर्तव्यको करता है वही संन्यासी है, वही योगी है (अग्नि और कर्मका जो त्याग करता है वह नहीं है)। (६।१)

८-योगारुरुक्षु मुनिके लिये (निष्काम) कर्मयोग ही कारण (साधन) है। (६।३)

९-जो निष्काम कर्मयोगी समस्त वस्तुओंमें रहनेवाले मुझको एकात्मविज्ञान प्राप्तकर भजता है, वह किसी प्रकारसे रहनेपर भी मुझमें ही रहता है। (६।३१) इत्यादि।

शेष अध्यायोंमें भी निष्काम कर्मोपदेश

इसी प्रकार शेष बारह अध्यायोंमें भी निष्काम कर्मका

उपदेश खूब मिलता है। उनमेंसे राजविद्या-राजगुह्ययोग (नवमाध्याय), विश्वरूपदर्शनयोग (एकादशाध्याय), भक्तियोग (द्वादशाध्याय), क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग (त्रयोदशाध्याय) और गुणत्रयविभागयोग (चतुर्दशाध्याय) इन पाँच विशेष अध्यायोंसे स्थालीपुलाकन्यायसे कुछ दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं—

१-जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो और तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पण कर दो। (९।२७)

२-ऐसा करनेसे शुभाशुभ सब फलोंसे (जो कर्मोंके साथ सम्बद्ध हैं) मुक्त होकर, संन्यासयोगयुक्त और मुक्त होकर मुझमें ही पहुँच जाओगे। (९।२८)

३-मेरा भक्त होकर, मुझमें तत्पर होकर, किसीसे द्वेष न करते हुए, अनासक्त रहते हुए, मेरे लिये जो कर्म करता है, वह मुझमें पहुँच जाता है। (११।१५)

४-मेरे लिये कर्म करते हुए भी सिद्धि प्राप्त करोगे। (१२।१०)

५-अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है। और त्यागसे सद्यः (तुरन्त ही) शान्तिकी प्राप्ति होती है। (१२।१२)

६-पुरुषको और त्रिगुणात्मक प्रकृतिको इस प्रकार जो जानता है, वह योगी है और वह किसी प्रकार भी रहे, मुझमें ही रहता है। (१३।२३)

७-प्रवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोहको भी त्रिगुणातीत (ज्ञानी) द्वेषदृष्टिसे नहीं देखता और न निवृत्त होनेपर उन्हें चाहता है। (१४।२२)

८-अनन्य भक्तिके साथ जो मेरी सेवा करता है, वह भी त्रिगुणातीत होकर परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है। (१४।२६)

कर्मत्यागका निषेध

भगवदाज्ञारूपी इतने वचनोंका विस्तृतरूपसे विचार होनेपर भी यदि कोई यह कहे कि यह तो ठीक है कि जो निष्काम भावसे कर्तव्यकर्म करता है उसको भी अन्तमें संन्यासका फल मिल जाता है, परन्तु ऐसे कर्मठसे भी कर्मत्यागी ही श्रेष्ठ है, अथवा कम-से-कम उसके बराबर है तथा सर्वकर्मसंन्यासमें कोई हर्ज तो है ही नहीं इत्यादि, तो इसका भी जवाब देते हुए श्रीभगवान्‌ने तृतीयाध्यायमें कहा है कि—

१-न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(३।४)

२-एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
(३।१६)

३-श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३।३५)

१-कर्म न करनेसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि नहीं होती। कर्मोंको त्याग देनेसे ही कोई सिद्धिको प्राप्त नहीं करता। (३।४)

२-उपर्युक्त यज्ञकर्मचक्रको जो नहीं चलाता, उसका जीवन पापमय है। वह सदा इन्द्रियोंमें रमण करनेवाला है और उसका जीवित रहना व्यर्थ है। (३।१६)

३-अच्छी तरह न हो सकनेवाला स्वधर्म भी अत्युत्तम रीतिसे बने हुए परधर्मसे श्रेष्ठ है। स्वधर्ममें मर जाना उत्तम है; परधर्ममें जीता रहना (नरकादि) भयका कारण होता है। (३।३५)

श्रीभगवान्‌का दृष्टान्त

साधारण तौरपर इस सिद्धान्तको बतानेसे तृप्ति न होनेपर तीसरे अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने अपना भी दृष्टान्त देकर कहा है कि—

१-तुझको लोकसंग्रह (दुनियाको अपने आचरणसे अच्छा मार्ग दिखाने)-के लिये भी अपने कर्तव्यरूपी कर्मको करना चाहिये। (३।२०)

२-श्रेष्ठ आदमी जो-जो आचरण करता है, अन्य सब लोग उसीको करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, उसीके पीछे दुनिया चलती है। (३।२१)

३-हे अर्जुन, त्रिलोकीभरमें ऐसी एक भी चीज नहीं है जो मुझे न मिली हो, जिसको मुझे प्राप्त करना हो और जिसके लिये मुझे कुछ कर्म करनेकी आवश्यकता हो, तो भी मैं तो हमेशा कर्म करता ही रहता हूँ। (३।२२)

४-यदि मैं कभी भी अत्यन्त जागरूकताके साथ कर्ममें न रहूँ तो सब ओरके मनुष्य मेरे रास्तेको पकड़ेंगे। (३।२३)

५-अगर मैं कर्म न करूँ तो दुनियाके सब आदमी

नष्ट हो जायँगे, मैं ही वर्णधर्मादिके संकरका कारण बन जाऊँगा और इन सब प्रजाओंको मैं ही मारनेवाला बनूँगा। (३। २४)

६-अज्ञानी मनुष्य कर्ममें आसक्त होकर जिस प्रकार कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीको भी कर्म करना चाहिये, परन्तु अनासक्त होकर और लोकसंग्रहके खयालसे प्रेरित होकर करना चाहिये। (३। २५)

७-कर्मासक्त अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धिमें भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये। ज्ञानीको निष्काम कर्मयोगी होकर स्वयं कर्म करते हुए औरोंसे भी करवाना चाहिये। (३। २६)

८-जिन कर्मोंको प्रकृतिके गुण करा रहे हैं, उनके विषयमें अहङ्कारसे मूढ़ बना हुआ आदमी यह समझ लेता है कि इन सबको मैं कर रहा हूँ। (३। २७)

९-तत्त्वज्ञानी तो जानता है कि गुणकर्मविभागोंमें गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं। इसलिये उनमें वह आसक्त नहीं होता है। (३। २८)

१०-प्रकृतिके गुणोंसे जो सम्मूढ़ हैं, वे गुणकर्मोंमें आसक्त रहते हैं। उन अल्पज्ञों और मन्दबुद्धियोंको ज्ञानी न बिगाड़ें। (३। २९)

संन्यासका यथार्थ स्वरूप

यदि यहाँपर कोई यह शङ्का करे कि कर्मकाण्डका प्रतिपादन करनेवाले पहले अध्यायषट्कके अन्तर्गत तीसरे अध्यायमें (जिसका नाम ही कर्मयोग है) कर्मका बताया जाना ठीक ही है; परन्तु ज्ञानकाण्डमें तो कर्म-त्यागका ही सिद्धान्त होना इत्यादि, तो उसे इसके उत्तरके लिये श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टादशाध्यायको (जिसे ज्ञानकाण्डके प्रतिपादनमें खास तौरपर प्रवृत्त हुए तीसरे षट्कका अन्तिम अध्याय होनेके कारण ज्ञानपर खूब जोर देनेवाला होना चाहिये और गीताका अन्तिम अध्याय होनेकी हैसियतसे वेदान्तका अन्तिम सिद्धान्त बताना चाहिये) खोलकर देखना चाहिये। तब पता लगेगा कि ज्ञानकाण्डवाले इस अन्तिम अध्यायका प्रारम्भ अर्जुनने इसी विषयपर यह प्रश्न करते हुए किया है कि—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ (१८। १)

'हे भगवन्! संन्यास और त्यागके तत्त्वोंको मैं अलग-अलग और स्पष्टरूपमें जानना चाहता हूँ।'

और इसका जवाब देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—

१-काम्य-कर्मोंका त्याग ही संन्यास है; सब कर्मफलों-का त्याग ही त्याग है। (१८। २)

२-कुछ बुद्धिमान् कहते हैं कि कर्म करनेमें दोष है, अतः छोड़ देना चाहिये और कुछ विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मोंको त्यागना नहीं चाहिये। (१८। ३)

३-अतः इस त्यागके विषयमें मेरे निश्चय (सिद्धान्त) को जानो। त्याग तो तीन प्रकारके होते हैं। (१८। ४)

४-यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मोंको छोड़ना नहीं चाहिये। जरूर करना चाहिये। यज्ञ, दान और तपस्या अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले कर्म हैं। (१८। ५)

५-यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है कि आसक्ति एवं कर्मफलको त्यागकर इन कर्मोंको करना ही चाहिये। (१८। ६)

६-शास्त्रविहित कर्मका त्याग करना उचित नहीं है। उसको मोहसे छोड़ना तामसिक त्याग कहा जाता है। (१८। ७)

७-यह समझकर कि कर्म करनेमें तकलीफ है, जो आदमी शरीरके कष्टके डरसे छोड़ता है, वह राजसिक त्याग करता है; अतः उसे त्यागका फल नहीं मिलता। (१८। ८)

८-आसक्ति और फलको छोड़कर जो शास्त्रविहित कर्म इस खयालसे किया जाता है कि यह मेरा कर्तव्य है, वह सात्त्विक त्याग है। (१८। ९)

९-छिन्नसंशय होकर आत्मस्वरूपमें रहते हुए, अशुभ कर्मका द्वेष न करते हुए और शुभमें आसक्त न होते हुए जो कर्तव्य करता है, वही ज्ञानी है, वही त्यागी है। (१८। १०)

१०-कर्मको सर्वथा छोड़ देना तो किसी शरीरवाले-से हो ही नहीं सकता। अतः कर्मफलको छोड़नेवाला ही त्यागी कहा जाता है। (१८। ११)

११-पुण्य, पाप और मिश्र ये तीन प्रकारके जो फल कर्मसे उत्पन्न होते हैं, वे तो कर्मफलको न त्यागनेवालोंको मिलते हैं, त्यागियोंको नहीं मिलते। (१८। १२)

१२-जिसमें अहङ्कारका भाव नहीं है और जिसकी

बुद्धि निर्लिप्त रहती है, वह सारी दुनियाको मारकर भी यथार्थमें नहीं मारता और न अपने किये हुए उस कर्मसे बद्ध होता है। (१८।१३)

निष्काम कर्मसे मोक्ष-प्राप्तिका प्रकार

इतने विस्तारके साथ निष्काम कर्मयोगके बताये जानेपर भी जिनके हृदयमें '**कर्मणा कर्मनिर्हारः**'की शङ्का रह गयी हो उनको समझानेके लिये उसी मोक्षसंन्यासयोग नामक अन्तिमाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने यह स्पष्टरूपमें बताया है कि निष्काम कर्मसे मोक्षकी सिद्धि कैसे होती है। उन्होंने कहा है—

१-स्वधर्मतत्पर पुरुष संसिद्धिको प्राप्त करता है। सुनो कि स्वकर्मनिष्ठ कैसे सिद्धिको पाता है। (१८।४५)

२-जिससे सब दुनिया प्रवृत्त हुई है और जिससे सारी दुनिया ओतप्रोत है, उस परमेश्वरकी उपासना स्वधर्मानुष्ठानके द्वारा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है। (१८।४६)

३-अच्छी तरहसे किये हुए परधर्मसे हीन तरीकेसे किया हुआ स्वधर्म श्रेष्ठ है। अपने-अपने स्वभावके अनुसार शास्त्रविहित कर्म करनेसे कोई दोषी नहीं होता। (१८।४७)

४-अपने साथ आये हुए कर्मको सदोष होनेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि जैसे अग्निमात्रके साथ धुआँ रहता है वैसे ही कर्ममात्रके साथ दोष होता ही है। (१८।४८)

५-किसीमें आसक्त न होकर, जितेन्द्रिय होकर, कामनाको त्यागनेवाला इसी संन्यासयोगसे परम नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त करता है। (१८।४९)

६-सिद्धिको प्राप्त करके परब्रह्मको कैसे प्राप्त करता है। इस बातको, जो ज्ञाननिष्ठाकी पराकाष्ठा है, मुझसे संक्षेपमें जान लो। (१८।५०)

७—९—निर्मल बुद्धिवाला होकर, अपनेको धृतिसे वशमें करके, शब्दादि विषयोंकी कामना छोड़कर, रागद्वेषको निकालकर, एकान्तमें रहकर, हल्का भोजन करके, वाणी, शरीर और मनका निग्रह करके, हमेशा ध्यानमें तत्पर रहकर, वैराग्यवान् बनकर तथा अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर स्वधर्मको करनेवाला परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करता है। (१८।५१—५३)

१०-ब्रह्मभावके द्वारा प्रसन्न अन्तःकरणवाला होकर दुःखी नहीं होता, किसी चीज़को नहीं चाहता। समस्त वस्तुओंमें समदृष्टि होकर मेरा परम भक्त बन जाता है। (१८।५४)

११-भक्तिके द्वारा ठीक तरहसे मुझे पहचानता है कि मैं क्या हूँ और कितना हूँ। सच्ची रीतिसे मुझे जानकर मेरे साथ एक हो जाता है। (१८।५५)

१२-मेरे आश्रित होकर, सब कामोंको करनेपर भी, मेरे अनुग्रहसे शाश्वत और निर्विकार पदवीको पाता है। (१८।५६)

१३-मनसे सब कर्मोंको मुझे सौंपकर, ज्ञानयोगके बलसे मुझमें चित्तको हमेशा लगाओ। (१८।५७)

१४-अपने मनको मुझमें लगानेपर मेरे अनुग्रहसे सब दुर्गोंको पार कर जाओगे। अगर अहंकारवश न सुनोगे तो तुम्हारा विनाश हो जायगा। (१८।५८)

१५-ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें रहकर यन्त्रारूढ़ खिलौने (Puppets)-के समान अपनी मायासे उन सबको भ्रमण कराता है। (१८।६१)

१६-सर्वतोभावेन उसीके शरणागत हो जाओ। उसके अनुग्रहसे परम शान्ति और शाश्वत पदवीको प्राप्त कर लोगे। (१८।६२)

इन सब वचनोंसे स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता-के अन्तिम अध्यायमें भी (जिसका नाम ही मोक्षसंन्यासयोग है) श्रीभगवान्‌ने यही अन्तिम सिद्धान्त बताया है कि श्रद्धा-भक्तिके साथ निष्काम भाव और निर्लिप्त बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण करना ही कर्मयोग है तथा वही भक्तियोग, वही ज्ञानयोग और वही मोक्षसंन्यासयोग भी है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषत्सारांश और योगशास्त्रग्रन्थमें यह आज्ञा मिलती है कि—

१ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
२ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६।२३-२४)

'जो आदमी शास्त्रकी विधिको छोड़कर अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करता है, वह न तो कार्यसिद्धिको, न सुखको और न सद्गतिको ही प्राप्त करता है।'

'अतः कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके

लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रकी विधिको जानकर तुझको शास्त्रके बताये हुए काम ही करना चाहिये।'

और चूँकि यह भी सिद्ध हो गया है कि यह आदेश कर्मकाण्डी, भक्तिकाण्डी और ज्ञानकाण्डी साधकोंके लिये भी लागू होता है, इसलिये अब इस बातका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है कि ज्ञानीको वर्णाश्रम-व्यवस्था माननी चाहिये या नहीं। फिर भी आजकल ऐसे प्रचारक बहुत हो गये हैं जो इस बातका प्रचार किया करते हैं कि ज्ञानीको वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी परवा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; और आजकल ज्ञान इतनी सस्ती चीज हो गयी है कि चाहे जो आदमी अपनेको ब्रह्मनिष्ठज्ञानी बताकर वर्णाश्रम-व्यवस्थासे अतीत मानने या लोगोंमें प्रचार करने लगा है। अतएव यहाँ इस विषयपर श्रीमद्भगवद्गीताके यथार्थ सिद्धान्तका संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक मालूम होता है। इस विषयमें श्रीभगवान्‌के कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—

१-स्वधर्मके खयालसे भी तुझको अपने इस युद्धरूपी कर्तव्यपर अटल रहना चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्म-युद्धके अतिरिक्त कोई दूसरा श्रेयःसाधन नहीं है। (२।३१)

२-दैवयोगसे स्वर्गका द्वार अपने-आप खुल गया है। वे क्षत्रिय भाग्यवान् हैं जिनको इस प्रकारका युद्ध करनेका मौका मिलता है। (२।३२)

३-अगर तू यह धर्मयुद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म एवं कीर्तिको भी छोड़कर पाप पावेगा (और नरकमें पहुँचेगा)। (२।३३)

४-मारे जानेपर तू स्वर्गमें पहुँचेगा, जीत जानेपर राज्य भोगेगा। अतः युद्धके लिये निश्चय करके उठ खड़ा हो। (२।३७)

५-अगर मैं कर्म नहीं करूँगा तो सारी प्रजाका नाश हो जायगा। वर्णसंकरका मैं ही कारण बन जाऊँगा और इनका नाश करनेवाला भी मैं ही बन जाऊँगा। (३।२४)

६-गुणयुक्त परधर्मानुष्ठानसे गुणहीन स्वधर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है। स्वधर्ममें मरना अच्छा है, परधर्ममें जिन्दा रहना भी भयंकर (नरकका कारण) है। (३।३५)

७-मेरी शरणमें आनेपर पापयोनि (चाण्डाल) भी, स्त्रियाँ भी एवं वैश्य और शूद्र भी परम गतिको प्राप्त होते हैं। अतः पवित्र ब्राह्मणों एवं भक्त राजर्षियोंकी बात कैमुतिकन्यायसे सिद्ध होती है। (९।३२-३३)

८-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्तव्य उनके स्वाभाविक गुणोंके आधारपर ही नियत किये गये हैं। (१८।४१)

९-अपने-अपने स्वधर्माचरणसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है। (१८।४२)

१०-विगुण होनेपर भी स्वधर्म तो गुणयुक्त परधर्मसे श्रेष्ठ ही है। अपने स्वभावसे ही शास्त्रद्वारा नियत किये हुए कर्मोंके करनेपर दोष नहीं लगता। (१८।४७)

११-अपने सहज कर्मको सदोष होनेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि जैसे सब अग्निके साथ धुआँ रहता ही है, वैसे ही समस्त कर्मोंके साथ दोष लगा ही रहता है। (१८।४८)

१२-अतः यदि तू अहङ्कारके कारण न सुनेगा तो तेरा विनाश हो जायगा। (१८।५८)

१३-अहङ्कारके वशमें आकर जो तू यह समझता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, वह मिथ्या अहङ्कारके अध्यवसायके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तेरी (सहज क्षत्रिय) प्रकृति इस काममें तुझे जबर्दस्ती लगानेवाली है। (१८।५९)

१४-मोहके वशमें होकर जिस कामको तू करना नहीं चाहता, उसीको तू अपने (क्षत्रिय) स्वभावसे उत्पन्न हुए कर्मसे बद्ध होनेके कारण विवश होकर करेगा। (१८।६०) इत्यादि।

इन थोड़े-से दृष्टान्तोंसे स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था श्रीभगवान्‌की ही बनायी हुई है और इसलिये आदरणीय है।

गुणकर्मविभागशः

ऐसे-ऐसे अति स्पष्ट भगवद्वाक्योंके होते हुए भी कुछ ऐसे पूर्वपक्षी आजकल निकल आये हैं जो—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (४।१३)

—का अपार्थ करते हुए यह कहते हैं कि श्रीभगवान्‌ने जिस वर्णव्यवस्थाको बनाया है वह गुणकर्मके आधारपर है, जन्मके आधारपर नहीं है। यह कहना बिलकुल गलत है। यदि जन्मकी परवा न कर गुणकर्मके आधारपर ही व्यवस्था करनेका सिद्धान्त ठीक होता तो श्रीभगवान्‌को अर्जुनके क्षत्रिय-कुलमें जन्म लेनेकी बातको लेकर क्षत्रियोंके स्वधर्मादिके ऊपर कुछ भी नहीं कहना चाहिये

था, बल्कि उसके द्वारा प्रकट की हुई अत्यन्त वैराग्यमयी चित्त-वृत्तिको देखकर उसे केवल ब्राह्मण ही नहीं, परं च परम संन्यासी मान लेना चाहिये था और उसे युद्ध करनेके लिये मजबूर न कर भीख माँगनेके लिये भेज देना चाहिये था। परन्तु वैसा न कर उन्होंने क्षत्रियके परम कर्तव्यरूपी धर्मयुद्धमें लगनेकी उसे जबर्दस्त आज्ञा की और फलस्वरूप दुनियामें श्रीमद्भगवद्गीता-जैसी अजर-अमर ग्रन्थने जन्म लिया। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीभगवान्‌के सिद्धान्तमें वर्णव्यवस्था केवल गुणकर्मसे न होकर जन्मके आधारपर ठहरती है।

यथार्थ अर्थ

तो फिर श्रीभगवान्‌के—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

इस वाक्यका सच्चा अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि 'चातुर्वर्ण्यकी मैंने ही सृष्टि की है और हर एक आदमीको उसके पिछले गुणों एवं कर्मोंसे प्राप्त योग्यताके अनुसार अगले वर्णका निश्चय करके उस वर्णमें जन्म देता हूँ।' अन्यथा श्रीभगवान्‌ने—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

न कहकर—

चातुर्वर्ण्यं त्वं निश्चिनु गुणकर्मविभागशः।

—कहा होता। परन्तु ऐसा नहीं कहा है। इसलिये श्रीभगवान्‌के इस कथनका यही समुचित अर्थ है कि प्रत्येक आदमीको अपने पूर्वजन्मके गुणों एवं कर्मोंके अनुसार जिस वर्णमें अगले जन्ममें उत्पन्न होनेकी योग्यता प्राप्त होती है, उसीमें श्रीभगवान् उसे अगला जन्म दिया करते हैं और इस प्रकार जन्मसे ही (अर्थात् माता-पिताके रक्तसे ही) सिद्ध स्वरूपयोग्यताकी रक्षाके लिये शास्त्रविहित गुणों तथा कर्मोंसे काम लेना चाहिये। जन्म और गुण-कर्मोंकी यही शास्त्रसम्मत व्यवस्था और समन्वय है। अतः यही श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है कि वर्णाश्रम-व्यवस्थाके अनुसार अपने-अपने स्वकर्मका भगवद्भक्ति एवं निष्कामभावके साथ आचरण करना ही श्रेयका मार्ग है।

अन्यथानुपपत्ति

इन पूर्वोक्त प्रमाणों, युक्तियों और तर्कोंके अतिरिक्त सिद्धान्त-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये हम इस प्रकार अति सरल ढंगसे भी विचार कर सकते हैं कि यदि यही सच्चा सिद्धान्त होता कि त्याग, संन्यास, वैराग्य, ज्ञानकाण्ड आदिके नामपर स्वधर्मको भी त्यागा जा सकता है, तो—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

मैं जय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता, सुख भी नहीं चाहता। राज्यसे या सुखसे या जिन्दगीसे भी हमें क्या (लाभ) है? इत्यादि कहते हुए, पहलेसे भी अधिक रोते हुए, परम वैराग्यकी बातें करनेवाले अर्जुनको अत्यन्त निर्दयता, जबर्दस्ती और जुल्मके साथ खूब डाँटते हुए श्रीभगवान् द्वितीयाध्यायके आरम्भमें क्यों कहते कि—

१-कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
२-क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥
(२।२-३)

हे अर्जुन! इस विषम (युद्धके) प्रसंगमें यह मालिन्य (जो मोक्षेच्छुके लिये मुनासिब नहीं, नरकमें पहुँचानेवाला है और इहलोकमें भी अपयशका कारण है) तुममें कहाँसे आ गया?

हृदयकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोड़कर उठो। और जब अर्जुनने फिर आँसू गिराते हुए कहा कि—

१-कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥
(२।४)

२-श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। (२।५)

जो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य पुष्पोंसे पूजने योग्य हैं, उन्हें मैं बाणोंसे कैसे मारूँ?

भीख माँगकर गुजारा करना इससे अच्छा है। तब भी श्रीभगवान्‌ने उसपर दया न कर, किसी एक ही दृष्टिसे नहीं, बल्कि—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
(२।३९)

सांख्य, योग, नास्तिकता, दुनियामें मानापमानका विचार आदि सब प्रकारकी दृष्टियोंसे सिद्धान्त बताते हुए, स्वधर्म न छोड़नेके अत्यन्त आग्रहके साथ केवल एक ही आज्ञा देते हुए कि **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** बेचारे दुःखी अर्जुनको और भी दुःखी बनाते हुए, इस तरह

तंग करते हुए क्यों कहा होता कि—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(२।३३)

अगर तुम धर्मयुद्धरूपी अपने इस कर्तव्यको न करोगे तो स्वधर्म और कीर्तिको भी छोड़कर पापको प्राप्त करोगे (नरकमें जाओगे) इत्यादि। यदि स्वधर्मका त्याग ही सिद्धान्तानुमत होता तो भगवद्गीताका जन्म ही नहीं हुआ होता। अतः अन्यथानुपपत्तिरूपी प्रमाणसे भी निष्काम कर्मयोग ही साधकोंके लिये आदरणीय है (कर्मत्याग नहीं)।

सिंहावलोकन

द्वितीयाध्यायमें स्वधर्माचरणपर इतना अधिक जोर देते हुए भी जब श्रीभगवान्‌ने बीचमें कहा था कि '**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय**' (२।४९)—ज्ञानयोगसे कर्म केवल नीचा ही नहीं, बल्कि अत्यन्त नीचा है और आगे चलकर अध्यायके अन्तमें स्थितप्रज्ञकी महिमा भी खूब बतायी, तब इसके आधारपर ज्ञानके नामपर स्वकर्माचरणसे बच सकनेकी पुनः आशा करते हुए तृतीयाध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
(३।१)

तब भी, चूँकि द्वितीयाध्याय ही सारी भगवद्गीताका संक्षेपाध्याय है, इसलिये श्रीभगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें बताये हुए सिद्धान्तका तीसरेसे लेकर अठारहवेंतकके सोलह अध्यायोंमें विस्तारके साथ समर्थन और वर्णन करते हुए स्वधर्माचरणकी ही आरम्भसे अन्ततक बारंबार आज्ञा दी, जिसमेंसे हमने पहले ही बहुतसे वचनोंको उद्धृत करके यह दिखाया है कि श्रीभगवान्‌का इस विषयपर बताया हुआ सिद्धान्त क्या है। अतः उन्हीं बातोंका यहाँ पुनः वर्णन करनेकी जरूरत नहीं है। यहाँपर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि श्रीभगवान्‌ने जो अपने उपदेशका उपसंहार करते समय यह कहा कि '**न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि**' (१८।५८)। न सुनोगे तो तुम्हारा विनाश हो जायगा—इस कठोर वाक्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वधर्मानुष्ठानकी जो आज्ञा बार-बार दी गयी है वह अर्थवाद नहीं है, बल्कि नरके परम कल्याणके लिये अर्थात् श्रीनारायणमें नरको पहुँचानेवाला यथार्थ रास्ता बतानेके ही विशेष उद्देश्यसे श्रीनारायणकी अर्जुनरूपी नरके द्वारा हम सब नरोंको दी हुई साधनबोधक (स्वार्थे तात्पर्यवती) सच्ची आज्ञा है।

स्वकर्माचरणकी आज्ञामें चमत्कार

श्रीभगवान्‌द्वारा इस प्रकार बीच-बीचमें और बार-बार अर्जुनको दी हुई आज्ञाके सम्बन्धमें यह एक चमत्कारकी बात भी है कि जहाँ वह भक्तिकाण्ड और ज्ञानकाण्डका अत्यन्त जोरदार उपदेश करती हुई मालूम देती है, वहाँ भी '**तस्माद्युध्यस्व भारत**' या इसी मतलबके दूसरे शब्द एकाएक लाकर कर्मकाण्डको (परन्तु निष्काम कर्मकी दृष्टिसे) घुसा दिया करती है।

अन्तिम स्मरणके प्रसङ्गका दृष्टान्त

उदाहरणार्थ, आठवें अध्यायमें जहाँ श्रीभगवान्‌ने कहा कि—

१　**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
　यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
२　**यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।**
　तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८।५-६)

अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए जो आदमी शरीर छोड़ता है, वह मेरे साथ एक हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है उसी-उसीकी भावनासे सर्वदा भावित होकर उसी-उसीको प्राप्त होता है।

वहाँ भी अव्यवहितोत्तर (अगले ही) श्लोकमें एकदम यही बात आ जाती है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

इसलिये सब समयमें मेरा ही अनुस्यूत सतत धारा-प्रवाहसे स्मरण करो और युद्ध करो। मुझमें मन और बुद्धिको सर्वदा अर्पण किये रहनेके कारण मुझमें ही तुम पहुँच जाओगे।

इसमें आश्चर्य यह है कि पिछले दो श्लोकोंमें दी हुई दलील (युक्तिवाद)-के ऊपर '**तस्मात्**' (इसलिये) शब्द लगाकर, श्रीभगवान्‌के ही सतत स्मरणकी जो आज्ञा

दी है, वह तो बिलकुल ठीक है, मगर इस बातका पता नहीं चलता कि उक्त दलीलके बाद 'तस्मात्' शब्द लगाकर '**युध्य च**' को श्रीभगवान् कहाँसे ले आये?

विश्वरूपाध्यायका दृष्टान्त

ऐसा ही आश्चर्यजनक दूसरा दृष्टान्त यह है कि एकादशाध्यायमें, विश्वरूपदर्शनयोगमें श्रीभगवान्ने अर्जुनको दिव्य चक्षु देकर अपना विश्वब्रह्माण्डव्यापी रूप दिखाया और उस प्रसङ्गमें भी अर्जुनके कर्तव्यरूपी कुरुक्षेत्र-युद्धको न भूलकर, विश्वरूप दिखाते समय बीचमें ही एकदम कहा—

१ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
२ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥
(११। ३३-३४)

इसलिये उठो, कीर्ति प्राप्त करो, शत्रुओंको हराकर समृद्धिपूर्ण राज्यसुखको भोगो। पहलेसे ही मेरे द्वारा ये सब मारे गये हैं। तुम केवल निमित्त बनो।

इन मेरे द्वारा मारे हुओंको तुम मार डालो, दुःख न करो, लड़ो, युद्धमें तुम शत्रुओंको जीतनेवाले हो।

इस आश्चर्यजनक प्रसङ्गका यही तो मतलब है कि श्रीभगवान्के विराट् विश्वरूपके दर्शनके समाप्त होनेके बाद नहीं, बल्कि दर्शन करते समय भी नरको युद्धादिरूप अपने स्वधर्माचरणसे छुट्टी नहीं है! इस बातमें भगवान्की कितनी कठोरता है!

पूर्ण आत्मज्ञानीका दृष्टान्त

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि भक्तिकाण्डमें कुछ भी हो, पूर्ण ज्ञानीकी बात तो ऐसी नहीं है? क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्ने ही कहा है कि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(३। १७)

जो आत्मामें ही रमनेवाला, उसीसे तृप्त और उसीसे सन्तुष्ट रहनेवाला है, उसका कोई कर्तव्य नहीं है।

इस बातका उत्तर यह है कि अवश्य ही इस श्लोकका अर्थ यही मालूम होता है; परन्तु इसमें भी खूब रहस्य है। पहली बात इसमें यह है कि आत्मरति और आत्मतृप्त शब्दोंसे ही '**असति बाधके सर्वं सावधारकम्**' इस नियमके अनुसार अपने-आप '**आत्मन्येव रतिर्यस्य सः**' '**आत्मनैव तृप्तः**' करके अवधारणा आ जाती है, फिर भी श्रीभगवान्ने '**आत्मरतिरेव**', '**आत्मन्येव च सन्तुष्टः**' कहते हुए दो बार '**एव**' शब्दको जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ अन्तर्मुखावस्थामें रहनेवाले आत्मज्ञाननिष्ठका जिक्र है; और यह निर्विवाद बात है कि अन्तर्मुखावस्थामें या निर्विकल्प समाधिमें (जहाँ त्रिपुटी है ही नहीं) कोई कर्म हो ही नहीं सकता। परन्तु अन्तर्मुखावस्थामें बार-बार रहनेवाला महायोगी और महाज्ञानी पुरुष भी जब अपने प्रारब्ध कर्मके कारण निर्विकल्प समाधिसे निकलकर बहिर्मुखावस्थामें आता है तब तो उसके लिये श्रीभगवान्का बताया हुआ यह न्याय ही लागू हो जाता है कि—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
(१८। ११)

और '**तस्य कार्यं न विद्यते**' (३। १७) यह श्लोक उस आदमीपर नहीं घट सकता; क्योंकि बहिर्मुखावस्थामें '**आत्मरतिरेव, आत्मतृप्तः, आत्मन्येव च संतुष्टः**' इन तीन विशेषणोंमेंसे एक विशेषणका भी उसके साथ समन्वय नहीं हो सकता। फिर भी यदि ऐसे आत्मनिष्ठ ज्ञानीको बहिर्मुखावस्थामें भी '**तत्र तत्र समाधयः**' न्यायके अनुसार अन्तर्मुखावस्थावाला आत्मनिष्ठ ही माननेका और 'आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट' शब्दोंको उसपर घटानेका किसीको आग्रह हो तो श्रीभगवान्के ही बताये हुए '**न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः**' (१८। ११) इस नियमके विरुद्ध होनेके कारण '**तस्य कार्यं न विद्यते**' (३। १७)-वाले श्लोकका दूसरा ऐसा अर्थ निकालना होगा जो श्रीभगवान्के गीतामें बताये हुए किसी सिद्धान्तके विरुद्ध न हो। और ऐसा अर्थ भी आसानीसे किया जा सकता है कि '**तस्य**' शब्दका अर्थ 'उसको' नहीं है, बल्कि 'उसके लिये' है। इसीका नाम संस्कृत-व्याकरणमें तादर्थ्ये षष्ठी है। अर्थात् जो आत्मज्ञाननिष्ठ है, उसे अपने लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है।

दूसरे अर्थका निरूपण

इस श्लोकके इस दूसरे अर्थका निरूपण अगले दो श्लोकोंके द्वारा स्वयं श्रीभगवान्ने किया है। अगले पहले श्लोकमें तो कहा है कि—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

उसका किसी कर्मसे या अकर्मसे कोई स्वार्थ नहीं सधता है। उसका किसीके आश्रयसे कोई स्वार्थ नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि इसके पीछेके श्लोकमें **'तस्य'** शब्द तादर्थ्ये षष्ठी है (जैसे, **धर्मार्थं पत्नी धर्मपत्नी, मुनिहोमार्थं धेनुः मुनिहोमधेनुः** इत्यादि शब्द होते हैं), अर्थात् आत्मनिष्ठ ज्ञानीको अपने लिये कुछ नहीं करना है, फिर भी **'उभे पुण्यपापे विधूय'** के हिसाबसे कर्ममार्गसे निवृत्त ज्ञानी भी **'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'** (३। २०) इस न्यायके अनुसार जगत्‌के कल्याणके लिये निष्काम कर्म करता ही रहता है।

स्पष्टीकरण

यह अर्थ अगले दूसरे श्लोकमें और भी स्पष्ट हो गया है, क्योंकि उसमें तो श्रीभगवान्‌ने पुनः **'तस्मात्'** शब्द लगाकर यह कहा है कि—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
(३। १९)

इसलिये अनासक्त होकर अपने स्वधर्मरूपी कर्तव्यको सर्वदा करते रहो।

यदि ऐसी आनुपूर्वीमें **'तस्य कार्यं न विद्यते'** (३। १७) का मतलब कर्मत्यागसे हो तो उसके आगे **'तस्मात्'** शब्दके साथ **'कार्यं कर्म समाचर'** उपदेशका एकदम सामञ्जस्य नहीं होता है। इसलिये स्पष्ट है कि आत्मज्ञाननिष्ठ महायोगी पुरुष भी बहिर्मुखावस्थामें आनेपर निष्काम कर्मके ही अधिकारी होते हैं।

पापकृत्तमका प्रसङ्ग

इस प्रसङ्गपर श्रीमद्भगवद्गीताके—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥
(४। ३६)

इस श्लोकके अर्थका भी विचार करना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि पापीशिरोमणि रहते हुए ही कोई आदमी ज्ञानकाण्डका यदि नामोच्चार करे तो उसीसे उसका काम बन जायगा। बल्कि यथार्थ तो यह है कि चतुर्थाध्यायमें जिस निष्काम कर्मका अत्यन्त विस्तारके साथ निरूपण किया गया और जिसका नाम वहाँ ज्ञान बताया, उसके द्वारा पिछले पापोंका भी नाश धीरे-धीरे हो जाता है। अर्थात् भक्तिसहित स्वधर्मका आचरण निष्कामभावसे करनेवाला व्यक्ति सच्चा ज्ञाननिष्ठ हो जाता है। और इस श्लोकके बादके श्लोकोंमें श्रीभगवान्‌ने बताया है कि—

१ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
२ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४। ३७-३८)

जैसे प्रदीप्त अग्नि लकड़ीको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्मरूपी इन्धनको भस्म कर देती है; क्योंकि अन्तःकरणकी शुद्धिका ज्ञानके समान दूसरा कोई साधन नहीं है और उसकी प्राप्ति तो निष्कामभावसे स्वकर्माचरणरूपी योगसे नियत कालपर अपने-आप हो जाती है।

इस आनुपूर्वीसे भी स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त श्लोकका यह मतलब नहीं है कि ज्ञानी पाप करते ही रहें; तात्पर्य तो बिल्कुल उलटा है कि जो अत्यन्त पापी रहा हो वह भी निष्काम कर्मनिष्ठारूपी योगके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि करके ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसके ज्ञानी हो जानेपर उसकी कर्मयोगप्राप्त ज्ञानाग्नि उसके सञ्चित और आगामी कर्मोंको जला देती है (जैसा कि श्रीवेदव्यासने वेदान्तसूत्रोंमें—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ।

—सूत्रके द्वारा बताया है)। अतः इस पापकृत्तमके प्रसङ्गका भी निष्काम कर्मनिष्ठासिद्धान्तके साथ विरोध नहीं है, बल्कि समन्वय ही हो जाता है।

सुदुराचारका प्रसंग

अबतक विचार हुआ उन लोगोंकी बातोंपर जो ज्ञानकाण्डके नामपर कर्मकाण्डको उड़ा देना चाहते हैं। अब थोड़ा उनकी बातोंपर भी विचार कर लेना चाहिये जो भक्तिकाण्डका नाम लेकर कर्मकाण्डसे शत्रुता रखते हैं और यह कहते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीताके नवमाध्यायमें (जिसका नाम ही राजविद्या राजगुह्ययोग है) श्रीभगवान्‌ने कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः.............................॥
(९।३०)

अत्यन्त दुराचारी पुरुष भी हो, अगर अनन्य भावसे वह मेरा भक्त बन जाय, तो उसे सत्पुरुष ही मानना चाहिये।

इस श्लोकका अर्थ करते हुए एक बड़े महाशयने तो यहाँतक लिख मारा है कि '**अतो भगवद्भक्तः कस्यापि विहितस्य कर्मणोऽननुष्ठानेन निषिद्धस्य कर्मणोऽनुष्ठानेन वा प्रायश्चित्ती न भवति।**' (अतः भगवद्भक्तको किसी स्वधर्मके छोड़नेपर या किसी निषिद्ध कर्मके करनेपर भी कोई पाप नहीं लग सकता) इत्यादि। यह बड़ा ही अपसिद्धान्त है; क्योंकि श्रीभगवान्‌ने उसी श्लोकके चौथे चरणमें '**सम्यग्व्यवसितो हि सः**' (९।३०) कहकर कारण बताया है कि 'जो अत्यन्त पापी अनन्य भावसे मेरा भक्त हो जाता है, वह अच्छे प्रयत्नके मार्गपर आ जाता है (अर्थात् भक्तिके प्रभावसे इस बातका अवश्य खयाल रखने लगता है कि जिस भगवान्‌की मैं भक्ति करता हूँ, उसकी आज्ञाका पालन करना मेरा प्रथम कर्तव्य है और इसलिये वह धीरे-धीरे पापको छोड़ते-छोड़ते और पुण्य करते-करते अन्तमें बिल्कुल निष्पाप होकर निर्मल सत्पुरुष हो जाता है), इसलिये उसे सत्पुरुष जानो।'

अगले श्लोकद्वारा अर्थनिर्णय

यहाँ कोई यह न समझे कि हमने स्वकर्मनिष्ठाके सिद्धान्तके साथ इस श्लोकका समन्वय करनेके लिये कृत्रिम और क्लिष्ट अर्थ निकाला है। श्रीभगवान्‌ने ही इस श्लोकके अर्थको अव्यवहित उत्तर (अगले) श्लोकमें स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(९।३१)

वह अति शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और भक्तिसहित स्वधर्माचरणसे जो अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसके लक्षणस्वरूप शाश्वत शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

इससे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्तको इच्छानुसार पाप करते रहनेकी एकदम छूट नहीं दे दी गयी है, बल्कि उसके लिये भी अत्यन्त दुराचारीपनसे धीरे-धीरे निकलकर क्रमशः साधारण पापी, निष्पाप, साधारण सज्जन, अत्यन्त पुण्यवान् और अन्तमें धर्मात्मा (**धर्मः आत्मा स्वरूपं यस्य सः**, अर्थात् धर्ममूर्ति) भी बन जानेका, भगवद्भक्तिकी महिमासे, रास्ता खुला हुआ है। और जब भक्ति और कर्म मिल जाते हैं तब तो अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे ज्ञान (अर्थात् जीवन्मुक्ति) मिल जानेपर सब स्थानोंमें, सब समयोंमें एवं सब अवस्थाओंमें एकाकार, निर्विकार शान्ति और आनन्दमें रहनेका सौभाग्य मिल ही जाता है। इस तरह नवमाध्यायके इस 'सुदुराचार' वाले प्रसङ्गसे भी स्वधर्माचरणके सिद्धान्तका विरोध नहीं है, बल्कि समन्वय ही सिद्ध हुआ है।

पर्यवसितार्थ

इस तरह इन सब प्रमाणों और विचारोंसे यह सिद्ध होता है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें तीनों काण्डोंमेंसे केवल निष्काम कर्मयोगकी ही आज्ञा सब साधकोंको दी गयी है।

अर्जुनका प्रारम्भमें सिद्धान्तोपक्रम

यथार्थमें तो अर्जुनने द्वितीयाध्यायके आरम्भमें ही जो यह प्रार्थना की थी कि—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(२।७)

उसीमें उसने ही अनजानमें (न जानते हुए कि मैं यह काम कर रहा हूँ) तीनों काण्डोंका सम्बन्ध बतानेवाले यथार्थ सिद्धान्तको स्पष्ट कर दिया था; क्योंकि 'शिष्य' शब्दसे ही आज्ञा पालने (अर्थात् भगवदाज्ञारूपी शास्त्रोक्त स्वधर्म करने) और 'प्रपन्न' शब्दसे ही केवल भक्ति (अर्थात् निष्कामभाव)-की बात आ गयी है। मतलब यह कि भक्तियुक्त निष्काम कर्मसे ही श्रेय (अर्थात् ज्ञान और मोक्ष)-के मिल सकनेकी सूचना अर्जुनकी उस शिष्यता और प्रपन्नतावाली चित्तवृत्तिसे ही पहले ही अपने-आप मिल चुकी है।

श्रीकृष्णका मध्यमें सिद्धान्तोद्घाटन

उसके बाद सिद्धान्त बताते हुए भगवान् श्रीकृष्णने सारी गीताजीमें जिस सिद्धान्तका अत्यन्त विस्तारके साथ निरूपण, समर्थन और वर्णन किया है, उसका सारांश उन्होंने एक ही श्लोकके भीतर सप्तमाध्यायका आरम्भ करते हुए बता दिया कि—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
(७।१)

मेरी भक्ति करते हुए, मेरी शरण होकर, अपने स्वकर्मानुष्ठानरूप कर्मयोगको करनेसे तू मेरे सन्देह-विकल्प-विपरीतभावनारूपी दोषत्रयरहित और परिपूर्ण ज्ञानको जिस तरह प्राप्त कर सकेगा, उसे सुन।

इसमें '**मय्यासक्तमनाः**' एवं '**मदाश्रयः**' इन दोनों शब्दोंमें भक्तियोग और '**योगं युञ्जन्**' विशेषणमें निष्काम कर्मयोग भी आ गया। फिर इनका परिणाम ज्ञान ही बताया गया है। अतएव ज्ञानकाण्ड भी आ गया। अर्थात् इन तीनोंका आपसमें सम्बन्ध यह है कि भक्तिसहित कृत निष्काम कर्मयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यही है श्रीमद्भगवद्गीताका असली सिद्धान्त। और सातवें अध्यायके केवल एक पहले श्लोकके बताये हुए इस सिद्धान्तको ही नवमाध्यायके पूर्वोदाहृत दो श्लोकोंके—

(१) **भजते मामनन्यभाक्;**

(२) **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा;** और—

(३) **शश्वच्छान्तिं निगच्छति।** (९।३०-३१)

—इन तीन वाक्योंने भी स्पष्ट किया है।

अर्जुनका अन्तमें सिद्धान्त स्वीकार करना

अतएव इस बातका सामञ्जस्य होता है कि साक्षात् श्रीभगवान्के श्रीमुखसे सब योगों और विशेषकर अन्तिमाध्यायमें मोक्षसंन्यासयोगका भी श्रवण करके उपसंहारमें श्रीभगवान्के यह प्रश्न करनेपर कि—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥
(१८।७२)

क्या तूने इन सब बातोंको एकाग्र मनसे सुना और अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह तेरे चित्तसे नष्ट हो गया?

उत्तरमें अर्जुन कहता है कि—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(१८।७३)

हे अच्युत! मोह नष्ट हो गया, स्मरण हो आया, सन्देह सब चले गये, तेरी आज्ञाके अनुसार करूँगा।

—और श्रीभगवान्के आज्ञानुसार अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये तैयार हो जाता है।

गीताके अन्तिम श्लोकका सामञ्जस्य

अतएव श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारस्वरूप अन्तिम श्लोकका भी सामञ्जस्य होता है, जिसमें गीताका सारांश बताता हुआ संजय भी यही कहता है कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८।७८)

जहाँ श्रीयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण सारथीरूपसे और धनुर्धारी अर्जुन रथीरूपसे आपसमें सम्बन्ध रखते हैं वहाँ श्री, विजय, भूति इत्यादि ऐहिक, आमुष्मिक और पारमार्थिक कल्याण होता है।

यहाँपर हमें खास तौरपर इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि संजय इस श्लोकमें उसी अर्जुनका जिक्र करता है जो धनुर्धर था। सफलता उस अर्जुनको नहीं मिलती जो '**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः**' (१।४७) होकर खूब आँसू गिराते हुए रोता है, बल्कि उस अर्जुनको मिलती है जो श्रीभगवान्की आज्ञाके अनुसार, निर्लिप्त होकर ईश्वराज्ञाका पालन करने और ईश्वरार्पणबुद्धिसे अपने कर्तव्यको पूरा करनेके लिये धनुर्धारी बनता है। अर्थात् हम सब नरोंको भी परम श्रेयरूपी कल्याणकी तभी प्राप्ति हो सकती है, जब हम निष्कामभावसे और ईश्वरार्पणबुद्धिसे श्रीभगवान्की आज्ञारूपी अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये उद्युक्त होंगे। यही है नरके रथी बनकर नारायणको अपने रथका सारथी बनानेके तत्त्वका रहस्य, जिसे श्रीमद्भगवद्गीतासे हमलोगोंको सीखना चाहिये और अपने आचरणमें लाकर अपने पारमार्थिक एवं शाश्वत कल्याणका साधन बनाना चाहिये।

आनुषंगिक फलितार्थ

इन सब विचारोंसे सिद्ध होता है कि तीनों काण्डोंमें (यानी कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगमें) निष्काम कर्मयोगका ही उपदेश मिलता है; अर्थात् तीनों काण्डोंका समन्वय निष्काम कर्मयोगमें ही होता है, किसीका इसके साथ विरोध नहीं है।

योगनिर्वचनसमन्वय

अतः इस लेखमें पहले एक भागमें जो यह प्रश्न उठाया था कि श्रीमद्भगवद्गीतामें ही योगके अनेक प्रकारके निर्वचन मिलते हैं, इनका ही आपसमें समन्वय होना कठिन मालूम होता है उस प्रश्नका भी उत्तर

मिल गया; अर्थात् कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके उपर्युक्त विस्तृत समन्वयसे श्रीमद्भगवद्गीताके सब योगनिर्वचनोंका आपसमें समन्वय हो गया।

पातञ्जल योगसे समन्वय

अब बाकी रहा इन निर्वचनोंका भगवान् पतञ्जलिके योगसूत्रवाले योगनिर्वचनके साथ समन्वय करना। परन्तु वह भी ऊपर किये हुए विस्तृत विवेचनसे यथार्थमें सिद्ध हो गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने अपने बताये हुए सब प्रकारके योगोंके विषयमें (जो असलमें एक ही योगके वस्तुसम्बद्ध दृष्टिकोणोंके भेदोंसे अनेक नाममात्र हैं) स्थान-स्थानपर एकाग्रतापर जोर देते हुए कहा है कि—

१ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (२। ४१)

२ समाधौ न विधीयते। (२। ४४)

३ समाधावचला बुद्धिः। (२। ५३)

४ समाधिस्थस्य केशव। (२। ५४)

५ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। (६। ११)

६ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। (६। १८)

७ यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। (६। १९)

८ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। (६। २०)

९ न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः। (६। २१)

१० शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ (६। २५)

११ यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (६। २६)

१२ प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं.........। (६। २७)

१३ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। (८। १२)

१४ अनन्यचेताः सततं......। (८। १४)

१५ भजन्त्यनन्यमनसो.....। (९। १३)

१६ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां....। (९। २२)

१७ भजते मामनन्यभाक्......। (९। ३०)

१८ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। (९। ३४)

१९ सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः। (१०। ७)

२० मच्चित्ता मद्गतप्राणाः.........। (१०। ९)

२१ तेषां सततयुक्तानां.........। (१०। १०)

२२ भक्त्या त्वनन्यया शक्य.........। (११। ५४)

२३ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः.........। (११। ५५)

२४ संनियम्येन्द्रियग्रामं..........। (१२। ४)

२५ अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ (१२। ६)

२६ मय्यावेशितचेतसाम्। (१२। ७)

२७ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। (१२। ८)

२८ मय्यर्पितमनोबुद्धिः..........। (१२। १४)

२९ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। (१३। १०)

३० उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। (१४। २३)

३१ धृत्या यया धारयते.... योगेनाव्यभिचारिण्या..... (१८। ३३)

३२ धृत्यात्मानं नियम्य च। (१८। ५१)

३३ शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा....... (१८। ५१)

३४ ध्यानयोगपरो नित्यं.........। (१८। ५२)

३५ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। (१८। ६५)

३६ मामेकं शरणं व्रज......। (१८। ६६)

कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग इन तीनों काण्डों-में एक ही प्रकारसे समाधि, अनन्यभक्ति, एकाग्रता आदि शब्दोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने उसी योगका वर्णन किया है जिसका भगवान् पतञ्जलिने 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्दसे निर्वचन किया है। अतः श्रीमद्भगवद्गीताके योगनिर्वचनोंका आपसमें एवं पतञ्जलिकृत निर्वचनके साथ भी समन्वय है। यहाँ भी किसी बातका यथार्थमें विरोध नहीं है।

सातवीं सीढ़ी—अद्वैतज्ञाननिष्ठा

इस प्रकार सकाम कर्मयोग, अर्जुनविषादयोग, शिष्यभावसे शरणागति, नित्यानित्यवस्तुविवेचन, तितिक्षा और फलेच्छात्यागपूर्वक श्रद्धाभक्तिसहित स्वकर्माचरणरूपी सब साधनोंके होनेपर सातवीं सीढ़ी वही है जो इन सब साधनोंमें अन्तिम साधन (निष्काम कर्म)-से मिलनेवाली अद्वैतज्ञाननिष्ठा है और जिसका मिलना और अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मरूपी लक्ष्यमें पहुँचना एक ही बात है।

अद्वैतके प्रमाण

यह तो जगत्प्रसिद्ध बात है कि अद्वैत ही उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है। इस अद्वैत सिद्धान्तके विषयमें हम अनेक लेखोंमें और 'कल्याण' के ईश्वराङ्कमें भी बहुत कुछ लिख चुके हैं। इसलिये इस लेखमें इस विषयका वर्णन नहीं किया

जाता। हाँ, आजकल अद्वैतके सम्बन्धमें जो भ्रम सर्वत्र फैला हुआ है उसके निवारणके लिये कुछ लिखनेकी आवश्यकता है।

साम्यवादका प्रश्न

आजकल अद्वैत सिद्धान्तकी अपार्थ कल्पना करके बहुत पाखण्ड फैला हुआ है, जिसका कहना है कि श्रीभगवान्‌ने गीतामें अद्वैत सिद्धान्त बताते हुए साम्यवाद-का उपदेश दिया है और उसके विचारमें साम्यवादका यही अर्थ है कि वर्णाश्रमादिके भेदोंको दूरकर, स्पर्शास्पर्श-सम्बन्धी शास्त्रीय विचारोंको त्यागकर खाने-पीने तथा विवाहादि सब विषयोंमें सब लोग एक हो जायँ इत्यादि। परन्तु भगवद्गीताका सिद्धान्त यह नहीं है, बल्कि उसके बिल्कुल (diametrically) विपरीत है।

गीतामें साम्यवाद

श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक स्थानोंमें 'सम' शब्द आता है और उसके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इनके अनुसार गीताजीमें श्रीभगवान्‌का बताया हुआ एक यथार्थ साम्यवाद भी है, जिसे समझ लेनेपर नकली साम्यवादका अपने-आप खण्डन हो जायगा। इसलिये यहाँ संक्षेपमें उसका विवेचन किया जाता है।

'सम' शब्दका पहला अर्थ

गीताजीमें जो यह कहा है कि—

१ **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५। १८)

२ **समबुद्धिर्विशिष्यते।** (६। ९)

३ **ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥** (६। २९)

४ **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।** (६। ३२)

५ **योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।**
(६। ३३)

६ **अहिंसा समता तुष्टिः।** (१०। ५)

७ **सर्वत्र समबुद्धयः।** (१२। ४)

८ **समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।** (१३। २७)

९ **समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।**
(१३। २८)

—इत्यादि, उसीके आधारपर आजकलके नूतनाद्वैती कहते हैं कि सबको समान दृष्टिसे देखते हुए वर्णभेदादिको छोड़ देना चाहिये इत्यादि। परन्तु ऐसा करना बिल्कुल गलत है। क्योंकि उपर्युक्त उदाहरणोंमें पहलेसे लेकर अन्ततक सबमें जो 'सम' शब्द आया है, उसका अर्थ श्रीभगवान्‌ने प्रथम श्लोकके बादके श्लोकमें ही स्पष्ट बता दिया है कि—

निर्दोषं हि समं ब्रह्म। (५। १९)

अतः इन उदाहरणोंमें 'सम' शब्दका अर्थ 'समान' नहीं है, बल्कि 'परब्रह्म' है। अतएव इन सब वाक्योंसे केवल यह अद्वैत सिद्धान्त ही सिद्ध होता है कि सब चीजें परमात्माके ही अनेक रूप हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सबके साथ एक ही प्रकारका व्यवहार हो।

'सम' शब्दका दूसरा अर्थ

अगर कोई यह आग्रह करे कि 'सम' बुद्धिका यही अर्थ है कि सबमें परमात्माको देखकर समान दृष्टिसे व्यवहार भी किया जाय, तो यह बड़ी भूल होगी। क्योंकि साधन बतानेके समय स्थान-स्थानपर जो 'सम' बुद्धिकी आज्ञा दी गयी है, उसमें तितिक्षाभ्यास और कामनात्यागके लिये सुख-दुःख, लाभालाभ, जयाजय आदि द्वन्द्वोंमें 'समान' रहनेको कहा है। जैसे—

१ **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
(२। ३८)

२ **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥**
(२। ४८)

३ **समः सिद्धावसिद्धौ च......।** (४। २२)

४ **समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥** (६। ८)

५ **समदुःखसुखः क्षमी॥** (१२। १३)

६ **शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥**
(१२। १८)

७ **तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी.......।** (१२। १९)

८ **नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥**
(१३। ९)

९ **समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।**
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
(१४। २४)

१० **मानापमानयोस्तुल्यः...............।** (१४। २५)

११ **सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः..............।** (१८। २६)

—इत्यादि (जिनका हमने पहले ही कामना-त्याग और तितिक्षाके प्रकरणमें हिन्दी अर्थ बता दिया है।) यही साम्य श्रीभगवान्‌के उपदेशमें आता है जिससे तितिक्षा और कामना-त्यागका अभ्यास करनेकी आज्ञा मिलती है। किसी स्थानमें भी ऐसा एक वचन भी नहीं आता जिससे सबके साथ एक ही प्रकारका व्यवहार करनेकी आज्ञाका भ्रमतक होता हो।

अनभीष्ट साम्यवाद

इसपर भी यदि कोई दुराग्रह करे कि अद्वैत सिद्धान्त बतानेपर व्यवहारमें साम्यकी बात अपने-आप आ जाती है; उसके लिये विधिवाक्यकी कोई जरूरत नहीं रहती इत्यादि, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसे साम्यवादका तो गीतामें प्रत्यक्ष निषेध भी किया गया है। अतः वह सर्वथा त्याज्य है। **'साधुष्वपि च पापेषु'**

अब इस बातपर विचार करना है कि श्रीभगवान्‌ने तो यह कहा है कि—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६।९)

तो क्या इसका यही अर्थ है कि सज्जन और पापीको समान दृष्टिसे देखते हुए दोनोंका समान रीतिसे सत्कार करना चाहिये या दण्ड देना चाहिये? ऐसा करनेपर तो भगवान् श्रीमनुकी इस आज्ञाका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता कि—

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति निरयं चापि गच्छति॥

जो निर्दोषको दण्ड देता है और अपराधीको दण्ड नहीं देता, वह राजा इहलोकमें अपकीर्ति और परलोकमें नरकको प्राप्त होता है।

भगवान्‌की समता

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने अपने बारेमें यह कहा कि—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि व्यवहारमें सच्ची समता यही है कि अपने मनमें किसीके प्रति प्रेम या द्वेषका भाव न रख शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार जिसके साथ प्रेम करना उचित हो उसके साथ प्रेम और जिसका विरोध मुनासिब हो उसका विरोध किया जाय। यही वास्तविक समता है। नहीं तो **'साधुष्वपि च पापेषु'** समबुद्धिसे व्यवहार करनेपर बड़ा भारी पाप ही होगा।

फिर अन्यथानुपपत्ति

इसके अतिरिक्त इस नकली साम्यवादके निर्मूलनके लिये यह एक ही विचार पर्याप्त होगा कि अगर वर्णाश्रमादिके भेदको छोड़कर, शास्त्रमर्यादाको तोड़कर, **'साधुष्वपि च पापेषु'** समबुद्धि (परमात्मबुद्धि)-से तृप्त न होकर, समान व्यवहार करना ही श्रीभगवान्‌का सिद्धान्त होता तो शुरूसे ही दुर्योधनादिसे लड़नेके लिये अर्जुनको श्रीभगवान् बार-बार आज्ञा क्यों देते और विश्वरूप दिखाते हुए भी यह क्यों कहते कि—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

(११।३४)

—क्या इस उपदेशके साथ श्रीभगवान्‌के ही कहे हुए—

१ **समः शत्रौ च मित्रे च।** (१२।१८)

२ **तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।** (१४।२५)

—इन वचनोंका विरोध नहीं होगा? और अन्तमें **'करिष्ये वचनं तव'** (१८।७३) कहकर भीष्मद्रोणादिको मारनेके लिये भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार अर्जुनके उठनेकी बात भी असंगत क्यों नहीं होगी? इसलिये स्पष्ट है कि अद्वैत सिद्धान्तसे उक्त नकली साम्यवादका समर्थन नहीं हो सकता, बल्कि वर्णाश्रमव्यवस्थाके अनुसार भक्तिश्रद्धापूर्वक स्वधर्मका आचरण करना ही अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यके अन्तिम और असली लक्ष्यरूप परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिका साधन है।

उपसंहार

तीनों काण्डोंके समन्वयका श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार इस प्रकार निरूपण करके इस लेखका उपसंहार करते हुए हम उसी त्रिकाण्डप्रतिपाद्य और स्वप्रतिपादित

योगलक्ष्य योगेश्वर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

१ ऐहिकौर्ध्विकफलालिविरक्तिं
भक्तियुक्तनिजधर्मनिषक्तिम् ।
शान्तिदान्त्युपरमात्तितितिक्षा-
मुख्यषड्गुणविवेकमुमुक्षाः ॥

२ शास्त्रपूगविधितत्यनुरोधं
स्वान्तवृत्तिनिकुरुम्बनिरोधम् ।
द्राग्वितीर्य पुरुषोत्तमयोगं
मङ्क्षु नाशय जनुर्मृतिरोगम् ॥
ॐ तत्सत्

भक्तियोग और शरणागतियोगका वैलक्षण्य

(लेखक—श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयङ्करमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने। प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षशतैरपि॥

मोक्षोपाय

वेदान्तसिद्धान्तानुसार परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिको ही अधिकांश लोग मोक्ष मानते हैं। उस परब्रह्मकी प्राप्ति किस रूपमें होती है—चाहे इस विषयमें भले ही मतभेद हो, किन्तु मोक्षका साधन **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'**, **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'**, **'तमेवं विद्वानमृत इह भवति'**, **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'** इत्यादि उपनिषद्वाक्यानुसार ब्रह्मवेदन है। **'विद् ज्ञाने'** इस धातुसे 'वित्', 'वेद', 'विद्वान्', 'विदित्वा' आदि शब्द बनते हैं। अतएव 'वेदन' शब्दका अर्थ होगा ज्ञान। **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते'**, **'ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया'** इत्यादि वचनोंके देखनेसे मालूम होता है कि वेदन ही 'विद्या' शब्दसे व्यवहृत होता है। उसीको 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। वेदान्तदर्शनमें सूत्रकार बादरायणने 'विद्या' शब्दका प्रयोग किया है। तृतीयाध्याय, तृतीय पादमें **'पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात्'**, **'विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च'**—इन सूत्रोंमें 'विद्या' शब्दका प्रयोग हुआ है। चतुर्थ पादके आरम्भमें **'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः'** इस सूत्रमें **'अतः'** शब्दसे पूर्व प्रस्तुत ब्रह्मविद्याका परामर्श करके उसीसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति बताते हुए सूत्रकारने ब्रह्मविद्याको ही मोक्षसाधन सिद्ध किया है।

ब्रह्मविद्याएँ अनेक हैं; सद्विद्या, दहरविद्या, अन्तरादित्यविद्या इत्यादि उनके नाम हैं। इन विद्याओंमेंसे किसी भी एक विद्याका अनुष्ठान करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। ये विद्याएँ उपासनारूप हैं; यह बात **'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'** इस सूत्रसे ब्रह्मसूत्रकारने सिद्ध की है। उपासना ध्यानरूप है। **'ध्यै चिन्तायाम्'** धातुसे 'ध्यान' शब्द बनता है। अतएव ध्यान उस ज्ञानधारा या धारावाहिक ज्ञानका नाम है जो अविच्छिन्न-एकरूपप्रत्ययवाहिनी हो। भगवान् पराशरने ध्यानका स्वरूप निम्नलिखित श्लोकमें बताया है—

**तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा॥**

अर्थात् विषयान्तरसम्बन्धरहित केवल भगवद्रूपमात्र-विषयक प्रत्ययसन्तति ही ध्यान है। अतएव मोक्षसाधनभूत वेदन ज्ञानमात्र न होकर उपासन, निदिध्यासन आदि शब्दवाच्य ध्यानरूप ज्ञान होगा। वही ब्रह्मविद्या और वही मोक्षसाधन है। **'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्'** इस ब्रह्मसूत्रके अनुसार अनेक ब्रह्मविद्याएँ तुल्यफलदायी होनेके कारण वैकल्पिक हैं। अर्थात् इच्छानुसार किसी भी एक ब्रह्मविद्याका आश्रय लेकर पुरुषार्थलाभ किया जा सकता है। उपायभक्ति या भक्तियोग ब्रह्मविद्या ही है, यह बात आगे व्यक्त होगी। और शरणागतियोग भी ब्रह्मविद्याभेदोंमेंसे है। अतएव ये भी मोक्षसाधन हैं। इनको ब्रह्मविद्या मान लेनेपर **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**, **'नान्यः पन्था अयनाय विद्यते'** इत्यादि वाक्योंका विरोध भी दूर हो जाता है। ये वाक्य स्पष्ट कह रहे हैं कि वेदन ही मोक्षसाधन है, दूसरा नहीं। यदि हम भक्तियोग और शरणागतियोगको वेदनप्रभेद नहीं मानते हैं तो इन वाक्योंमें विरोध आवेगा। क्योंकि वेदनभिन्न किसीका मोक्षसाधनत्व इन वाक्योंको सह्य नहीं है। **'नान्यः पन्थाः'** स्पष्ट शब्द है, दूसरा मार्ग ही मोक्षके लिये नहीं है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वेदान्तके मोक्षोपायकथनप्रकरणमें वेदन, ध्यान, उपासन, निदिध्यासन आदि शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

क्योंकि एक प्रकरणमें एक विषयका वर्णन करते हुए **'विदि'** और **'उपासि'** धातुओंका प्रयोग एक दूसरेके स्थानपर किया हुआ मिलता है। कहीं **'विदि'** धातुसे उपक्रम होकर **'उपासि'** धातुसे उपसंहार हुआ है। और कहीं **'उपासि'** से उपक्रम होकर **'विदि'** से उपसंहार हुआ है। यदि इन धातुओंके अर्थ एक न होते तो ऐसा न होता। छान्दोग्य उपनिषद्के प्रपाठक ४ खण्ड १ में **'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः'** इस स्थलमें **'विदि'** से उपक्रम होकर **'अनु म एतां भगवो देवता ॰ शाधि यां देवतामुपास्से'** इस प्रकार **'उपासि'** धातुसे उपसंहार हुआ है। एवं **'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'** इस स्थलमें **'उपासि'** धातुसे उपक्रम होकर **'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद'** इस प्रकार **'विदि'** धातुसे उपसंहार हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षोपायकथनप्रकरणमें जो **'विदि'** और **'उपासि'** धातु आये हैं वे एकार्थवाची हैं। सेवा और उपासना पर्यायवाची शब्द हैं। **'भज सेवायाम्'** धातुसे **'भक्ति'** शब्द बनता है। **'सेवा भक्तिरुपास्तिः'** निघण्टुवचन है।

भक्तियोग और शरणागतियोगमें परस्पर अनेक प्रकारसे वैलक्षण्य है। क्रमसे हम उनका निरूपण करेंगे।

स्वरूप-वैलक्षण्य

भक्ति दो प्रकारकी मानी जाती है—उपाय-भक्ति और साध्य-भक्ति। इनमेंसे उपाय-भक्ति तैलधारावत् अविच्छिन्न विषयान्तररहित दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तान (परम्परा)-को कहते हैं। समस्त उपनिषद्वाक्य एक स्वरसे इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि मोक्षोपायविधानप्रकरणोंमें—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः', 'आत्मानमेव लोकमुपासीत', 'तमेवैकं ध्यायथ', 'ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'
'भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा
ज्ञानस्वरूपं परिपश्यन्ति धीराः।'
'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥'
'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥'

—इत्यादि मोक्षोपायविधायक वचनोंमें वेदन, दर्शन, निदिध्यासन, उपासन, ध्यान, ध्रुवा स्मृति, भक्ति इत्यादि शब्दोंसे मोक्षोपायका विधान पाया जाता है। मीमांसाके 'छागपशुन्याय' अर्थात् सामान्यविशेष-न्यायसे इन सब शब्दोंका एक अर्थमें पर्यवसान करनेसे भक्तिका ऊपर बताया हुआ स्वरूप सिद्ध होता है। ऐसा न करनेपर इन सबको अलग-अलग मोक्षोपाय मानना पड़ेगा। ऐसा होनेपर कुछ वाक्योंमें परस्परविरोध अपरिहार्यरूपसे उपस्थित होगा। यथा—

'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'नाहं वेदैर्न तपसा······भक्त्या त्वनन्यया शक्यः।'

—इन दोनोंमें पहला कहता है, वेदनके सिवा दूसरा उपाय ही नहीं। दूसरा कहता है, भक्तिके सिवा दूसरा उपाय नहीं। यदि इन दोनों वचनोंको एक सूत्रमें नहीं बाँधते हैं तो परस्परविरोधसे या तो दोनोंको ही सुन्दोष-सुन्दन्यायसे अप्रमाण स्वीकार करना होगा, या प्राबल्य-दौर्बल्यावलम्बनसे एकको अप्रमाण स्वीकार करना होगा। यदि दोनोंका ही प्रामाण्य अक्षुण्ण रखना है तो तो दोनोंका एकार्थत्व स्वीकार कर लेना होगा। यद्यपि उत्सर्गापवादन्यायसे निषेधका विहितव्यतिरिक्त विषयमें सङ्कोच किया जा सकता है, तथापि विरोधका परिहार प्रमाणान्तरानुसार जब अन्य प्रकारसे हो रहा है तब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। बात इतनी ही है कि एक वेदनको मोक्षोपाय बताता है, दूसरा उसीको विशिष्ट रूप देकर मोक्षोपाय बताता है। 'वेदन' सामान्य शब्द होनेके कारण उसका भक्ति-शब्दार्थमें पर्यवसान हो जाता है। तब यह सिद्ध होता है कि भक्तिरूपताको प्राप्त वेदन ही मोक्षसाधन है।

वर्तमानकालमें जो भक्तिशास्त्रके ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र और नारद-भक्तिसूत्र ये दो मुख्य माने जाते हैं। नारद-भक्तिसूत्र दो प्रकारके हैं—एक छोटा और दूसरा बड़ा। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** इस सूत्रमें भक्तिका स्वरूप बताया गया है। अर्थात् परमेश्वरविषयक अनुराग ही भक्ति है। नारदभक्तिसूत्रके **'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'** इस सूत्रमें

भक्तिको परमेश्वरविषयक परमप्रेमरूप बताया है। अब हमें यह विचारना है कि अनुराग अथवा प्रेम क्या चीज है। इतना तो मालूम होता है कि वह सविषयक पदार्थ है। न्याय-वैशेषिक-मतानुसार बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार आदि सविषयक पदार्थ माने गये हैं। परन्तु कुछ बुद्धिमान्, विचारशील विद्वानोंने यह सिद्ध किया है कि जैसे स्मृति ज्ञानका ही भेद है वैसे ही इच्छा, द्वेष, अनुराग, प्रेम आदि भी ज्ञानके ही भेद हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। ज्ञानकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। ये ही स्मृति, इच्छा, द्वेष अनुराग आदि हैं। यदि इस सिद्धान्तको मान लेते हैं तो ज्ञानहीकी एक विशिष्ट अवस्थाको, जब वह दर्शनसमानाकार प्रेमरूप स्मरणधारात्वको प्राप्त होती है, 'भक्ति' नाम दिया जाय तो कोई विरोध नहीं होगा।

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

—इस प्रमाणसे तो सब कुछ मनोवृत्तिमात्र है। इस प्रकार पूर्वोक्त ज्ञानावस्थाविशेषको भक्ति न मानकर केवल अनुराग या प्रेमको भक्ति मानें तो शास्त्रोंमें उसका विधान अयोग्य होगा। क्योंकि जैसे इच्छा पुरुषतन्त्र नहीं है वैसे अनुराग भी पुरुषतन्त्र न होनेसे उसका विधान नहीं हो सकता। विधान उसीका हो सकता है जो मनुष्यके प्रयत्नसे साध्य हो, जो ऐसा नहीं है उसका विधान नहीं हो सकता। किसीपर प्रेम स्वतः ही उत्पन्न होता है, प्रयत्नसाध्य नहीं है। प्रेम करो, प्रेम करो, कहनेसे कोई प्रेम नहीं कर सकता। जो दृष्टिगोचर हैं उनके देखनेसे तथा उनके गुणोंके ज्ञानसे प्रेम उत्पन्न होता है; करो, करो, कहनेसे कोई लाभ नहीं। हम जब भक्तिका विधान मोक्षोपायके रूपमें शास्त्रोंमें पाते हैं तो वह कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिये जिसको मनुष्य शास्त्राज्ञावशीभूत होकर स्वप्रयत्नसे सिद्ध कर सके। ऊपर जो भक्तिका स्वरूप बताया गया है वह परमात्माके स्वरूप, रूप-गुण आदिको शास्त्रद्वारा जानकर, उनकी भक्तिको मोक्षोपाय समझकर अनवरत—अविच्छिन्नभावसे उनका स्मरण प्रेमपूर्वक करते रहनेसे सतत भावनाके कारण वही स्मरण दर्शनसमानाकारताको जब प्राप्त होगा तब सिद्ध होगा। उस अवस्थामें वह स्मरण प्रेमरूप भी हो जाता है। अतएव अनुरागरूपता या प्रेमरूपतामें भी कोई न्यूनता नहीं रह जाती। अतएव शाण्डिल्य आदि महर्षियोंकी उक्ति भी सार्थक हो जाती है। अथवा हम ऐसा भी मान सकते हैं कि शाण्डिल्य आदिने जो स्वरूप भक्तिका कहा है वह साधन-भक्तिका न होकर साध्यभक्तिका है। साधन-भक्तिद्वारा परमात्मसाक्षात्कार हो जानेपर साध्य-भक्ति उत्पन्न होती है। उसीको भक्तोंने भगवान्से माँगा है। जैसा कि भक्त प्रह्लादने कहा है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है— '**मद्भक्तिं लभते पराम्**'। किसी-किसीके अन्दर यह भक्ति केवल भगवत्कृपासे प्रकट होती है।

यह तो हुआ उपाय-भक्ति या साधन-भक्तिका स्वरूप। अब शरणागतिका स्वरूप बताते हैं। 'न्यास', 'प्रपत्ति', 'प्रपदन' आदि शरणागतिके ही वाचक हैं। 'शरणागति' शब्दमें जो 'शरण' पद आता है उसके कई अर्थ होनेपर भी यहाँ वह 'उपाय' अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। '**गम्**' धातुका अर्थ गति या गमन है। परन्तु '**गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः**' इस न्यायसे गतिवाचक धातुओंका बुद्धि अर्थ भी होनेके कारण यहाँ बुद्धिरूप अर्थ ही मुख्यतया लिया जाता है। वह बुद्धि सामान्य बुद्धि न होकर अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही विवक्षित है। अतएव 'शरणागति' शब्द उपायविषयक अध्यवसायात्मिका बुद्धिका वाचक है। यही शरणागतिका स्वरूप भी है।

त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥

—इस वचनके अनुसार 'आप ही हमारे लिये मोक्षका उपाय बन जायँ' इस प्रकारकी प्रार्थनारूप दृढ़ अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही शरणागति है।

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥

—इस श्लोकमें प्रपत्तिस्वरूप स्पष्ट बताया गया है। अर्थात् उपायान्तरासाध्य स्वाभीष्टसिद्धिके लिये किसी एक ही समर्थ व्यक्तिसे दृढ़ विश्वासके साथ उपाय बननेकी याचना करना शरणागति है। मोक्षार्थियोंको ईश्वरसे ही

ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है तथा फलान्तरार्थीको जो उस फलके दाता हैं उनसे ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है। ईश्वरसे भी फलान्तरोंके लिये ऐसी प्रार्थना की जा सकती है। परन्तु शरणागति करनेवालेको यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि हमारा अभीष्ट दूसरेसे नहीं प्राप्त हो सकता, इन्हींसे प्राप्त हो सकता है और अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस विश्वासके बिना शरणागति नहीं होती।

भक्तियोगका आचरण भक्तियोगमें मोक्षोपायत्वबुद्धिके साथ किया जाता है। यद्यपि भक्त और प्रपन्न दोनोंको मोक्षरूप फल देनेवाले भगवान् ही हैं, किन्तु भक्त भक्तिको मोक्षोपाय समझकर उसका आचरण करता है। शरणागति करनेवाला उसमें मोक्षोपायत्वबुद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि शरणागतिका स्वरूप ही इस प्रकारकी बुद्धिका विरोधी है। ऊपर जो शरणागतिका स्वरूप बताया गया है वह केवल भगवान्में उपायत्वबुद्धिके साथ उनसे उपायत्वकी प्रार्थनारूप है। यदि कोई शरणागतिमें उपायत्वबुद्धि करने लगे तो वह शरणागति कर ही नहीं सकता, शरणागति तो केवल भगवान्में उपायत्वनिश्चयरूप है। भक्ति और प्रपत्तिमें यह विशिष्ट वैलक्षण्य है।

ऊपरके वर्णनसे भक्ति और शरणागतिमें स्वरूपतः वैलक्षण्य स्पष्ट हो गया। भक्तियोग उसमें उपायत्वबुद्धिके साथ किया जानेवाला तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार प्रेमरूप भगवत्स्मरणात्मक ध्यान है। शरणागतियोग अनन्योपायसाध्य स्वाभीष्टसिद्धिमें एक ईश्वरको ही उपाय समझकर परमात्मासे उपाय होनेकी प्रार्थना करना है। शरणागतिका दूसरा नाम न्यास है। तदनुसार शरणागतिका स्वरूप परमात्माके प्रति स्वात्माका अर्पण करना अथवा परमात्मामें स्वात्माको निक्षेप करना है—

'ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीत।'

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयेन हि॥'

—इत्यादि प्रमाणोंके पर्यालोचनसे यह बात सिद्ध होती है। आत्मा कोई ऐसी चीज नहीं है जो एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह रख दी जाय। 'न्यास' और 'निक्षेप' शब्द पर्यायवाची हैं। न्यास वा निक्षेपकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता।
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते॥

अर्थात् न्यास या निक्षेपका अर्थ है अर्पणपर्यन्त फलस्वाम्याभावबुद्धि। जब कोई ईश्वरको ही अनन्योपाय मानकर मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये उन्हींसे उपाय बननेकी प्रार्थना करता है तब वह अपने-आपको परमात्माके ही भरोसे छोड़ देता है, स्वरक्षणमें अपना कोई भी सम्बन्ध न रखते हुए सब भार परमात्मापर रख देता है। आत्मार्पणका तात्पर्य स्वात्मरक्षणभारार्पण है। शरणागतिके छः अंग हैं— उनमें गोप्तृत्ववरण और आत्मनिक्षेप दोनों ही हैं। तब एक अङ्गकी प्रधानता मानकर इसको शरणागति कहते हैं और दूसरे अङ्गकी प्रधानता मानकर न्यास कहते हैं। जब शरणागति करनेवाला पूर्ण षडङ्गोंका अनुष्ठान करता है तब उपर्युक्त दोनों ही अङ्गोंका अनुष्ठान हो जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो शरणागति चाहे जिस रूपमें की गयी हो, वह मोक्षोपाय है ही नहीं। मोक्षोपाय तो ईश्वर ही हैं, उस ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकारमात्र ही शरणागति है, उसको स्वात्मसमर्पण करना आत्मनिक्षेप या न्यास है।

न्यास इति ब्रह्म, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यपराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्।

—इस उपनिषद्वाक्यमें ब्रह्मको ही न्यास बताया है। तात्पर्य इतना ही है कि मोक्षोपाय परमात्मा है, न्यास नामक क्रियाविशेष नहीं; अतएव शरणागति या न्यासमें उपायत्वबुद्धि नहीं की जा सकती। भक्ति उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है।

इयं केवललक्ष्मीशोपायत्वप्रत्ययात्मिका।
स्वहेतुत्वधियं रुन्धे किं पुनः सहकारिणाम्॥

—यह प्राचीनाचार्यकी सूक्ति है। इससे स्पष्ट है कि शरणागति उपायत्वबुद्धिके बिना की जाती है। किन्तु भक्ति उसीके अन्दर उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है। उपायभक्तिके विषयमें भी एक प्राचीन सूक्ति है—

उपायो भक्तिरेवेति तत्प्राप्तौ या तु सा मतिः।
उपायभक्तिरेतस्याः पूर्वोक्तैव गरीयसी॥

अर्थात् भक्ति ही उपाय है, ऐसी बुद्धि ही उपायभक्ति है; इससे शरणागति श्रेष्ठ है।

अङ्गवैलक्षण्य

भक्तिके अङ्ग कर्म और ज्ञान हैं।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।'

'इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया॥'
'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे उपासनात्मक उपायभक्ति कर्मज्ञानाङ्गक सिद्ध होती है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।'
'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषम्।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी कर्तव्यता सिद्ध होती है। भगवान् बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें '**सहकारित्वेन च**', '**विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि**' इत्यादि सूत्रोंसे भक्तिको कर्माङ्गक सिद्ध किया है। अतएव भक्तोंको नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका भक्त्यङ्गत्वबुद्धिसे अनुष्ठान करना पड़ता है। शरणागति—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—इत्यादि शास्त्रानुसार धर्मत्यागाङ्गक है। शरणागतोंको भी यद्यपि कर्तव्यबुद्ध्या नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है, तथापि अङ्गत्वबुद्धिसे नहीं; क्योंकि शरणागति धर्मत्यागाङ्गक है। अतएव भक्तोंको भक्तिनिष्पत्तिके लिये विहित समस्त कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक होता है, क्योंकि वे अङ्ग हैं। शरणागतोंको यथासम्भव अकरणे प्रत्यवायजनक कर्ममात्रका अनुष्ठान करना पड़ता है।

**क्रियमाणं न कस्मैचिद्यदर्थाय प्रकल्पते।
अक्रियावदनर्थाय तत्तु कर्म समाचरेत्॥**

—यह शरणागतकर्तव्यप्रतिपादक वचन है। इसमें यह स्पष्ट बता दिया गया है कि जिन कर्मोंके करनेसे कोई फल न मिले, किन्तु न करनेपर प्रत्यवाय हो वे ही कर्म कर्तव्य हैं।

भक्ति ध्यानरूप है—यह ऊपर बताया गया है। भगवान् महर्षि पराशरके—

**तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा॥**

—इस कथनके अनुसार यम-नियमादि योगाङ्गोंका अनुष्ठान भक्तिनिष्पत्तिके लिये आवश्यक है। एवं—

तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्च।

—इस वाक्यकारवचनानुसार सम्पूर्ण भक्तिलाभके लिये विवेकादि साधनसप्तकोंका अनुष्ठान भी प्राप्त होता है, इसके बिना भक्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकती।

विवेक कहते हैं अदुष्ट, शुद्ध, सात्त्विक आहारसेवनसे शरीरपोषणको। विमोक कहते हैं कामानभिष्वङ्गको। भगवान्के दिव्य एवं शुभाश्रय रूपके सततानुशीलनको अभ्यास कहते हैं। क्रिया कहते हैं समस्तजात्याश्रमोचित कर्मानुष्ठानको। कल्याण छः प्रकारके हैं—सत्य, आर्जव, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या; ये सभी कल्याणशब्दवाच्य हैं। सत्यसे अहिंसातक पाँच तो प्रसिद्ध ही हैं। अनभिध्या कहते हैं अभिध्याके अभावको। परकृतापकारचिन्ता अथवा निष्फल चिन्ताको अभिध्या कहते हैं। उसका अभाव अनभिध्या है। अनवसाद दैन्याभावको कहते हैं। अनुद्धर्ष अतिसन्तोषाभावको कहते हैं। अतिसन्तोष भी भक्तिविरोधी है। इन सात साधनोंसे भक्तिकी निष्पत्ति होती है।

शरणागतियोगके पाँच अङ्ग हैं—

**आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।**

इस वचनमें शरणागतिको षड्विध बताया है; किन्तु इनमें पाँच अङ्ग हैं, एक गोप्तृत्ववरण या आत्मनिक्षेप अङ्गी है; जैसे 'अष्टाङ्गयोग' नाम प्रसिद्ध होनेपर भी यम आदि सात अङ्ग हैं, समाधिरूप एक अङ्गी है। यद्यपि शरणागतिके पाँच अङ्ग हैं, अतएव उन अङ्गोंकी भी आवश्यकता अङ्गीकी सिद्धिके लिये नियमानुसार है, तथापि यह कहा गया है कि यदि केवल अङ्गीरूप शरणागति ही हो जाय तो अङ्गोंको भगवान् स्वयं क्रमशः पूरा कर देते हैं। उनकी प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहनेकी आवश्यकता नहीं है, वे आप ही सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि कहा है—

दृप्तप्रपत्तावेतानि भविष्यन्त्युत्तरोत्तरम्।

ये अङ्ग सुकर भी हैं। केवल बुद्धिमात्रकार्य हैं और स्वतः प्राप्त होते हैं। मुख्यतया अनन्योपायत्व और अकिञ्चनत्व ही अपेक्षित है। इस विषयमें बहुत कुछ लिखनेकी आवश्यकता है, किन्तु यहाँ अधिक विस्तार करना योग्य न समझकर इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

अधिकारिवैलक्षण्य

भक्तिके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन ऊपर हो

चुका। उससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि इस उपाय-भक्तिके अधिकारी त्रैवर्णिकमात्र हैं। '**श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**' इस शास्त्रके अनुसार निदिध्यासन करनेके पूर्व श्रवण और मननकी आवश्यकता होती है। वेदान्तमें जो परब्रह्मस्वरूप आदिके प्रतिपादक भाग हैं उनका गुरुमुखसे सुनना ही श्रवण है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यत् परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो......अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यम्—

—इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें परमात्माके स्वरूपादि-वर्णनपरक वेदान्तभागको पराविद्या कहा है। इस भागको गुरुमुखसे सुनना आवश्यक है।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'

—इत्यादि शास्त्रोंसे यह बात सिद्ध होती है।

भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार—अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

—इत्यादि शास्त्रोंमें गुरुमुखसे ब्रह्मस्वरूपश्रवणका वर्णन पाया जाता है। मनन कहते हैं गुरुमुखसे श्रुत अर्थोंको युक्तियोंसे मनमें दृढ़ करना। श्रवण बिना मनन नहीं हो सकता। इन दोनोंके बिना निदिध्यासन नहीं हो सकता। वेदान्तश्रवणका अधिकारी उपनयन आदि संस्कारोंसे संस्कृत त्रैवर्णिक पुरुष है। अतएव वे ही ब्रह्मविद्याधिकारी भक्ति करनेके अधिकारी हैं, यह बात सिद्ध होती है। भगवान् बादरायणने भी ब्रह्मसूत्रके अपशूद्राधिकरणमें यही सिद्ध किया है।

'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्', 'संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च।'

—इत्यादि सूत्रोंमें कहा गया है कि शूद्रोंको वेदोंका श्रवण, अध्ययन, वेदार्थज्ञान एवं तदनुष्ठान निषिद्ध होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है; वेदाध्ययन करनेके पूर्व उपनयनसंस्कार करनेका विधान है, शूद्रोंके लिये संस्कारका अभाव बतलाया गया है। अतएव वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते। वेदाध्ययन, श्रवण आदिके अभावमें वेदान्तमूलक ब्रह्मज्ञानके न होनेके कारण शूद्रोंको ब्रह्मविद्याधिकार नहीं है—यह वेदान्तदर्शनका सिद्धान्त है। यहाँ प्रसंगवश इतना कह देना आवश्यक होगा कि विदुर आदि कुछ महापुरुष पूर्वजन्मसंस्कारवश शूद्रयोनिमें जन्म लेनेपर भी बिना ही वेदान्तश्रवणके ब्रह्मनिष्ठ हो गये थे। ऐसे कुछ व्यक्तिविशेषोंको छोड़कर साधारण नियम यही है कि वेदान्तश्रवणद्वारा प्राप्त ब्रह्मज्ञानसे ही मनन-निदिध्यासन होकर पूर्ण उपायभक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। साध्य भक्तिकी बात दूसरी है। स्त्रियोंको भी इस उपाय-भक्तिका अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त भक्तिका अधिकारी वही पुरुष होता है जो अपनेको स्वतन्त्र कर्ता एवं स्वयं भक्ति करके मोक्ष-साधन करनेमें समर्थ समझता है। इस प्रकारकी दृढ़ भावनाके बिना चिरकाल और परिश्रमसाध्य भक्तिके अनुष्ठानमें कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता।

शरणागतिमें सबका अधिकार है।

न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः।
न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते॥

—इस वचनके अनुसार शरणागति उत्तम जाति, कुल, पुरुषत्व, सद्गुण, सदाचार, उत्तम देश-काल, शुचि अवस्था आदि किसीकी अपेक्षा नहीं रखती। अर्थात् किसी भी जाति-कुलमें जन्मा हुआ स्त्री या पुरुष, सद्गुणी या दुर्गुणी, सदाचारी या दुराचारी, शुद्ध या अशुद्ध, किसी भी देश या कालमें शरणागति कर सकता है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—इस उपनिषद्वाक्यमें केवल मुमुक्षुको ही शरणागतिका अधिकारी बताया गया है।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युः पापयोनयः।
सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम्।

—यह वचन स्पष्ट ही स्त्री-शूद्रादिकोंका भी शरणागतिमें अधिकार बता रहा है।

शरणागतिका अधिकारी वह है जो अपनेको सर्वथा असमर्थ, अस्वतन्त्र एवं परमात्माके परतन्त्र समझता है और स्वप्रयत्नसे मोक्षलाभ असम्भव समझता है, तथा स्वयं अपनेको स्वात्मरक्षामें अनधिकृत एवं परमात्माको ही अधिकृत मानता है। शरणागति करनेवालेको परमात्मामें रक्षकत्वबुद्धि, अर्थात् स्वामी परमात्मा अपनी वस्तुकी रक्षा अवश्य करेंगे—इस प्रकारके दृढ़ निश्चयकी भी आवश्यकता है। अतएव भक्तिके अधिकारी और

शरणागतिके अधिकारीमें महती विलक्षणता है। कोई अज्ञताके कारण शरणागत होते हैं, कोई विशिष्ट ज्ञानवान् पुरुष स्व-पर-स्वरूपज्ञानके कारण शरणागत होते हैं। अत्यन्त भक्तिमान् पुरुष भी भक्तिपारवश्यसे कर्तव्यान्तरमें प्रवृत्त न होनेके कारण शरणागत हो जाते हैं। अज्ञानी, ज्ञानी, भक्त, सब इसके अधिकारी हैं। भगवान् शौनककी उक्ति है—

अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवेद्धरिः।

अज्ञानी, सर्वज्ञ और भक्तके लिये भगवान् हरि ही गति-उपाय और गम्य-प्राप्य हैं।

सापेक्षत्व-निरपेक्षत्व-वैलक्षण्य

भक्तियोग जैसे कर्म-ज्ञानसापेक्ष है वैसे शरणागति-सापेक्ष भी है। कर्म-ज्ञानसापेक्षता तो कर्म-ज्ञानाङ्ग होनेसे ही सिद्ध हो जाती है। शरणागतिसापेक्षता—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥'
'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'
'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥'

—इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। चञ्चल मनके निग्रहके लिये भी भगवच्छरणागतिकी अपेक्षा होती है। शरणागति तो केवल ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकार है। ईश्वर सिद्ध उपायरूप हैं, उनको कार्य करनेके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं रहती। अतएव शरणागति निरपेक्षोपाय है। यह बात—

प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं परापेक्षा न विद्यते।
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा॥

—इस वचनमें बतायी गयी है।

विलम्बिताविलम्बितफलप्रदत्व

भक्तिरूप उपासन अर्थात् ब्रह्मविद्या और शरणागति दोनों ही यद्यपि सर्वाभीष्टफलप्रद माने गये हैं, तथापि उनमें फलभेद अवश्य है।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

—इत्यादि वचनोंमें चार प्रकारके भक्त बताये गये हैं, वह फलभेदके कारण ही है। अवश्य ही भक्ति सर्वापेक्षित ऐहिकामुष्मिक फलोंको दे सकती है और यही बात शरणागतिके सम्बन्धमें भी है—

सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा।

—वचनमें यह बात स्पष्ट कही गयी है। इसके उदाहरण रामायण आदिमें मिलेंगे। किन्तु मोक्षरूप फलप्रदानकी दृष्टिसे इन दोनोंमें वैलक्षण्य है। भक्ति विलम्बसे फल देती है। शरणागति तत्काल फल देती है। भक्ति और शरणागति दोनों ही समस्त कर्मक्षय होनेपर ही मोक्ष देती हैं; किन्तु भक्तिरूप ब्रह्मविद्या स्वयं समस्त कर्मक्षय नहीं कर सकती, शरणागति कर सकती है। कर्म सञ्चित और प्रारब्ध-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। प्रारब्धकर्म भी आरब्धकार्य और अनारब्धकार्य-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इनमें सञ्चित और अनारब्धकार्यका तो ब्रह्मविद्याके प्रभावसे नाश हो जाता है। आरब्धकार्य प्रारब्धका नाश नहीं होता, उसका फल भोगना ही पड़ता है। अतएव प्रतिबन्धक पापके अवशेष रहनेपर एक, दो या अधिक जन्म लेने पड़ते हैं। जिस जन्ममें भक्ति सिद्ध हुई उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष नहीं मिलता।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।

—इस सूत्रमें वेदान्तदर्शनकारने यह बात बतायी है। शरणागति उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष देती है जिसमें वह की गयी हो।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।

—इत्यादि भगवद्वचनसे यह बात सिद्ध होती है। सर्वशक्त सर्वेश्वर कह रहे हैं कि मैं सर्व पापोंसे तुझे छुड़ा दूँगा। यहाँ 'सर्व' शब्दका सङ्कोच करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शरणागतिके प्रभावसे सर्व कर्मोंका क्षय होकर उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष मिल जाता है। इतना ही नहीं, यदि शरणागतिकर्ता आर्त हुआ तो शरीरावसानतक भी विलम्ब नहीं होता, शरणागति करते ही उसी क्षणमें सर्वकर्मक्षय होकर तत्काल मोक्ष मिल जाता है—

आर्तानामाशु फलदा सकृदेव कृता ह्यसौ।
दृप्तानामपि जन्तूनां देहान्तरनिवारणी॥

आर्त उसको कहते हैं जो क्षणभर भी सांसारिक तापत्रयके सहनेमें असमर्थ होकर आतुरताके साथ शरणागति करता है, इसको भगवान् तत्काल मोक्ष देते हैं। दृप्त उसको कहते हैं जो शरीरावसानके समय मोक्षकी इच्छा करते हुए शरणागति करता है। उसको शरीरावसानतक प्रारब्ध कर्मका फल भोगना पड़ता है, शरीरावसानके समय मोक्ष प्राप्त होता है। किसी भी

कारणसे जन्मान्तर लेनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

सकृत्कर्तव्यत्वासकृत्कर्तव्यत्ववैलक्षण्य

भक्तिका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। उपायभक्ति तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार अत्यर्थप्रियस्मृतिसन्तानरूप ध्यान है। स्मृतिसन्तानको दर्शनसमानाकारत्व प्राप्त होना आवश्यक है। अन्यथा—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

—इत्यादि दर्शनविधायक वचनोंका समन्वय नहीं हो सकता। यद्यपि इन वचनोंमें साक्षात् परमात्मदर्शनका विधान मालूम होता है, तथापि—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'

'मनसा तु विशुद्धेन'

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्'

—इत्यादि शास्त्रोंमें परमात्मस्वरूपको चक्षुरादीन्द्रियावेद्य केवल मनोमात्रग्राह्य बताया गया है। दोनों शास्त्रोंमें अविरोध स्थापन करना आवश्यक है। अतएव 'दर्शन' शब्दका दर्शनसमानाकारत्व अर्थ स्वीकार करके दोनोंमें अविरोध स्थापन किया गया है। स्मरणमें दर्शनसमानाकारता साक्षात्कारीय विषयतारूप है। अर्थात् प्रत्यक्षवत् दिखायी देना—यही दर्शनसमानाकारता है, ऐसी दर्शनसमानाकारता स्मृतिको अनवरत भावनाबलसे प्राप्त होती है। जिस वस्तुकी अनवरत भावना की जाय वह वस्तु सामने न होनेपर भी तद्रूप प्रत्यक्षवत् दीखने लगती है। यह अनुभववेद्य है।

वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।

—इस वाल्मीकीय रामायणोक्त मारीचवचनमें मारीचको रामदर्शन होना भी भावनाप्रकर्षसे ही है। अतएव—

ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।

—इस श्रुतिमें स्पष्ट ही **'ध्यायमानः पश्यति'** निर्देश हुआ है।

इस प्रकार परमात्माका सतत स्मरण करनेकी आवश्यकता होनेके कारण ही वेदान्तदर्शनमें **'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'** सूत्रमें परमात्मवेदनकी आवृत्ति करनेकी आवश्यकता बतायी गयी है। 'ध्यान' शब्द भी इसी अर्थको सूचित करता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि भक्ति असकृत्कर्तव्य है। एक-दो बार करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। शरणागति वैसी नहीं है। वह तो सकृत्कर्तव्य है, क्षणमात्रसाध्य है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

—इस श्रीरामायण-श्लोकमें यह बात स्पष्ट है।

सकृत्प्रपन्नाय—सकृदेव प्रपन्नाय अभयं ददामि।

—श्रीरामचन्द्रभगवान्‌की श्रीसूक्ति है।

सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम्।

—इत्यादि प्रमाण शरणागतिको सकृत्कर्तव्य बताते हैं। शरणागतिस्वरूपके देखनेसे असकृदावृत्तिकी आवश्यकता नहीं मालूम होती।

अन्तिमस्मृतिसापेक्षत्व-तन्निरपेक्षत्व-वैलक्षण्य

यह बात भगवद्गीताशास्त्रमें स्पष्ट है कि भगवद्भक्तोंको अन्तसमयमें स्मरण हुए बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

अर्थात् अन्तकालमें जिस-जिस भाव-स्वभावका स्मरण होगा जन्मान्तरमें स्मरणकर्ता तद्भावको ही प्राप्त होगा। अतएव अन्तकालमें भगवत्स्मरणकी आवश्यकता निम्न श्लोकमें बतायी गयी है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

शरणागत पुरुषको अन्तकालमें स्मृतिकी आवश्यकता नहीं रहती, उसके बिना भी उनको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि परमात्मा ही स्वयं काष्ठ-पाषाण-समान पड़े हुए उसको सद्गति प्रदान करते हैं; जैसा कि वराहपुराणमें भगवान् कहते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

यद्यपि इस श्लोकमें **'मद्भक्तम्'** शब्द आया है, किन्तु वह प्रकरण शरणागतिका है। इस श्लोकमें **'काष्ठपाषाणसन्निभम्'** शब्दसे अन्तिम स्मृतिका अभाव बताया गया है। श्रीवराहभगवान् भूमिदेवीसे कहते हैं कि शरणागत पुरुष शरणागति करनेके पश्चात् कृतकृत्य

हो जाता है, उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। उसके पश्चात्का कर्तव्य हमारा है। अतएव वह यद्यपि स्वाभाविक रीतिसे निश्चेष्ट, स्मरणशून्य पड़ा हुआ है, तथापि हम अपने अनन्तरकालीन कर्तव्यको पूर्ण करते हैं। उसको सद्गति देनेका भार हमारे ऊपर है। अतएव मैं उसका स्मरण करता हूँ और गन्तव्य मार्गसे ले जाकर गम्यस्थानमें पहुँचा देता हूँ।

निश्चित-अनिश्चितफलदानवैलक्षण्य

भक्ति मनुष्यप्रयत्नसाध्य है, यह बात उसके स्वरूप और अङ्गोंके विचारसे सिद्ध होती है। भक्ति करनेवालेको यह निश्चय नहीं हो सकता कि हमें मुक्ति मिलेगी ही। परिपूर्ण ब्रह्मविद्याकी सिद्धि हुए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, इसमें शंकाका अवकाश ही नहीं है। यमादि अङ्गोंसे सम्पन्न होकर अचञ्चल—एकाग्रमनसे परमात्माका समाधिपर्यवसायी ध्यान करना होगा। मनकी चञ्चलताको देखते हुए कोई नहीं कह सकता कि ऐसी योग्यता सुखसे प्राप्त हो जायगी। अतएव भगवान्का कहना है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

परमात्माकी भक्तिमें प्रवृत्त होना ही जन्मान्तरके महापुण्यका फल है। प्रवृत्त होनेपर भी दीर्घकाल-साध्य होनेके कारण अनेक विघ्नोपहतिके कारण सिद्धि मिलना कठिन है। सिद्धि मिलनेकी अवस्थामें भी ऐहिक सिद्धियोंमें चित्त न जाकर परमात्मप्राप्तिकी तरफ दृढ़ताके साथ चित्तको लगाये रखना महाकठिन है। तभी तो—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

—कहा गया है। इन सब बातोंपर विचार करनेपर यही कहना पड़ता है कि भक्तिनिष्ठके लिये मोक्षसिद्धि निश्चित नहीं है। यदि मध्यमें विच्छेद हो गया तो अन्तकालकी मनोवृत्तिके अनुसार जन्मान्तरीय परिस्थिति होगी। यहाँ सब कुछ मनुष्यके प्रयत्न-बलके अधीन है। मनोनिग्रह तो—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

—के अनुसार कष्टसाध्य है।

शरणागतियोगकर्ताकी परिस्थिति ऐसी नहीं है। शरणागतियोग क्षणमात्रसाध्य होनेके कारण विघ्न-बाधाएँ और प्रच्युतिभय नहीं है। एक बार शरणागतिका अनुष्ठान होते ही फल निश्चित है।

'तस्मादपि वध्यं प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति।'—तैत्तिरीय

'वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्।'—रामायण

'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।'—रामायण

'आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृपालुना॥'

—रामायण

ऊपर उद्धृत श्रुति तथा रामायणके वचनोंसे शरणागतको निश्चितरूपसे फल मिलनेकी बात स्पष्ट है। श्रीकृष्ण-भगवान्की उक्ति **'मा शुचः'** भी इसका पोषक है। सञ्चित, प्रारब्ध, समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है।

प्रारब्धेतरपूर्वपापमखिलं प्रामादिकं चोत्तरं
न्यासेन क्षपयन्ननभ्युपगतं प्रारब्धखण्डं च नः।
धीपूर्वोत्तरपाप्मनामजननाज्जातेऽपि तन्निष्कृतेः
कौटिल्ये सति शिक्षयाप्यनघयन् क्रोडीकरोति प्रभुः॥

अर्थात् समस्त सञ्चित, अनभ्युपगत प्रारब्ध, उत्तरकालीन प्रामादिक पाप, सब शरणागतिके प्रभावसे नष्ट हो जाते हैं। शरणागतिके पश्चात् बुद्धिपूर्वक पाप हो ही नहीं सकता, कदाचित् हो भी गया तो प्रायश्चित्तसे वह नष्ट हो जायगा। यदि वह प्रायश्चित्त न करे, कुटिल बना रहे तो भगवान् उसको तत्काल दुःखानुभव कराकर पापमुक्त कर देते हैं। चाहे जैसा भी हो, भगवान् शरणागतको स्वीकार कर ही लेते हैं, मोक्ष दे ही देते हैं, जन्मान्तरके लिये बाकी नहीं रहने देते।

भक्तियोग और शरणागतियोगके कुछ वैलक्षण्य बताये हैं, ऐसे और भी बताये जा सकते हैं। और, जो कुछ भी लिखा है, संक्षेपमें लिखा है। विस्तारभयसे इस लेखको यहीं समाप्त करते हैं।

हमारा लक्ष्य

(लेखक— श्रीअरविन्द)

योगके जिस मार्गका यहाँ अवलम्बन किया जाता है उसका हेतु अन्य योगमार्गोंसे भिन्न है। इस योगमार्गका लक्ष्य केवल सामान्य सांसारिक देहात्मभावसे ऊपर उठकर परमात्मभावको प्राप्त होना ही नहीं है, प्रत्युत उस परमात्मभावके विज्ञानको इस मन, बुद्धि, प्राण और जीवनके तमस्‌में ले आना, इनको रूपान्तरित कर देना, इनमें भगवान्‌को प्रकट करना और जड पार्थिव प्रकृतिमें दिव्य जीवन निर्माण करना इसका लक्ष्य है। यह बड़ा ही दुर्गम लक्ष्य और कठिन योगसाधन है; बहुतेरोंको, या प्रायशः सभी लोगोंको यह असम्भव ही प्रतीत होगा। सामान्य, अनभिज्ञ सांसारिक देहात्मभावमें अज्ञानकी जो क्रियाशक्तियाँ जमकर डटी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं और इसका होना ही नहीं मानतीं और इसके होनेमें बाधा ही डालनेका यत्न करती हैं और साधक स्वयं भी देखेगा कि अपने ही मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्तिमें कितनी जबर्दस्त रुकावटें डालेंगे। यदि तुम इस लक्ष्यको सर्वात्मना स्वीकार कर सको, इसके लिये सब कठिनाइयोंका सामना करनेको तैयार हो, पीछे जो कुछ हुआ उसे और उसके बन्धनोंको पीछे ही छोड़ दो और इस भगवद्भावकी सम्भावनाके लिये सब कुछ छोड़ देने और, चाहे जो हो जाय, इसके पीछे लगनेको प्रस्तुत हो, तो ही तुम यह आशा कर सकते हो कि इसके पीछे जो महत् सत्य है उसका तुम्हें साक्षात्कार होगा।

इस योगकी साधनाका कोई बँधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यानका कोई निश्चित प्रकार, कोई मन्त्र या तन्त्र नहीं है; यह साधना आरम्भ होती है साधककी आरोहणेच्छासे; उसके अपने ऊपर या अन्दर आत्मध्यानसे; अपने-आपको भगवत्प्रभावकी ओर, उस भगवच्छक्तिकी ओर जो हमारे ऊपर है तथा उसके कार्यकी ओर और उस भगवत्सत्ताकी ओर जो हमारे हृदयमें है—अपने-आपको खोल देनेसे; और इन सब बातोंके विरुद्ध जो-जो कुछ है उसका त्याग करनेसे। श्रद्धाविश्वास, आरोहणेच्छा तथा आत्मसमर्पणके द्वारा ही इस प्रकार अपने-आपको भगवत्सत्ताकी ओर खोल देना होता है।

* * * *

यहाँ सृजन करनेके लिये यदि कुछ है तो वह विज्ञानका ही सृजन है। अर्थात् इस पृथिवीपर, केवल मन-बुद्धि और प्राणमें ही नहीं, प्रत्युत शरीरमें और इस जड प्रकृतिमें भी भगवत्सत्ताका अवतरण कराना है। हमारा उद्देश्य अहंभावके फैलावको रोकनेवाले प्रतिबन्धोंको हटाना अथवा मानवमनकी कल्पनाओं या अहंकारगत प्राणवासनाओंकी स्वार्थपूर्तिके लिये खुला मैदान छोड़ देना और बेरोक आश्रय प्रदान करना नहीं है। यहाँ कोई भी इसलिये नहीं है कि 'जो मन भावे करे' या किसी ऐसे संसारको रचे जिसमें हमलोग अपनी मनमानी कर सकें; यहाँ हमें तो वही करना है जो भगवान् चाहते हैं और ऐसा ही संसार रचना है जिसमें भगवदिच्छा अन्तर्निहित सत्यको प्रकट करे—वह भगवदिच्छा किसी मानव-अज्ञानसे विकृत न हो या किसी प्राणवासनासे विपर्यस्त और अन्यथाकृत न हो। विज्ञानके इस योगमें साधकको जो काम करना होता है वह कोई उसका अपना काम नहीं है जिसपर वह अपनी शर्तें भी लाद सके, प्रत्युत वह कर्म भगवान्‌का है और उसे वह कर्म भगवन्निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार ही करना होगा। हमारा योग हमारे अपने लिये नहीं है, बल्कि भगवान्‌के लिये है। हम जो कुछ व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा वैयक्तिक व्यक्तीकरण नहीं है—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वबन्धविनिर्मुक्त वैयक्तिक अहंकारका भी व्यक्तीकरण नहीं है; यह स्वयं भगवान्‌का व्यक्त होना है। हमारी मुक्ति, हमारी पूर्णकामता और हमारी परिपूर्णता तो भगवान्‌के व्यक्त होनेका ही एक परिणाम और अंगमात्र है और सो भी किसी अहंभावसे नहीं, न किसी अहंता-ममतासे निकले स्वार्थके लिये। यह मुक्ति, पूर्णकामता, परिपूर्णता भी हमारे अपने लिये नहीं, भगवान्‌के लिये है।

* * * *

योगका अर्थ केवल ईश्वरकी प्राप्ति नहीं बल्कि आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवनका ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग और परिवर्तन है कि उसके द्वारा भगवच्चैतन्य व्यक्त हो और वह स्वयं भगवत्कर्मका एक अङ्ग हो। इसके लिये एक

ऐसे आभ्यन्तरिक अभ्यासके होनेकी आवश्यकता है जो केवल सदाचार और कृच्छ्रचान्द्रायणादि कायिक तपोंसे बहुत अधिक कड़ा और कठिन है। यह योगमार्ग अन्य बहुतेरे योगमार्गोंकी अपेक्षा बहुत ही अधिक विशाल और दुर्गम है। कोई ऐसा मनुष्य कदापि इस मार्गपर पैर न रखे जिसको यह निश्चय न हो कि हमारे अन्तरात्माकी यह पुकार है और इस मार्गपर अन्ततक चलनेकी हमारी तैयारी है।

* * * *

पहलेके योगोंमें उस आत्माके अनुभवकी ही खोज थी जो आत्मा सदा ही मुक्त है और परमात्मासे अविभक्त है। उस आत्मज्ञान और आत्मानुभवमें अपनी मानवप्रकृति बाधक न हो, इस ध्यानसे उतने ही अंशमें प्रकृति—स्वभाव बदलनेका यत्न किया जाता था। कुछ थोड़े-से ही लोग, और सो भी प्राय: 'सिद्धि' प्राप्त करनेके लिये, पूर्ण परिवर्तन अर्थात् शरीरतकको बदलनेका यत्न करते थे। पृथ्वीकी पार्थिव चेतनामें नवीन प्रकृतिके प्राकट्यके लिये उनका प्रयास नहीं था।

* * * *

मनुष्य प्राणी जो सचेतन प्रकृतिमें मूर्तिमान् मन ही है, उसकी सम्पूर्ण चेतना या बोधशक्तिको परम चैतन्यकी प्रकृतिसे मिलनेके लिये ऊपर उठना होगा और परम चैतन्यकी प्रकृतिको भी मन, प्राण और भौतिक आकारमें नीचे उतरना होगा। तभी बीचकी रुकावटें दूर होंगी और परा प्रकृति सम्पूर्ण अपरा प्रकृतिको ऊपर उठा लेने और उसे विज्ञानकी शक्तिसे बदलकर दिव्य बनानेमें समर्थ होगी।

पृथ्वी विकासक्रमका भौतिक क्षेत्र है और मन-बुद्धि और प्राण, विज्ञान, सच्चिदानन्द तत्त्वत: इस भौतिक चैतन्यमें भी छिपे हुए हैं। पर विकासक्रममें सबसे पहले भौतिक जगत्की रचना होती है; तत्पश्चात् उसमें प्राणलोकसे प्राण आकर पृथ्वीके प्राणतत्त्वको आकृति, संहति और गति प्रदान करता है और वनस्पतिजाति और पशुजाति उत्पन्न करता है; तब मनोमयलोकसे मन उतरकर मनुष्यका सृजन करता है। अब मन-बुद्धिके परे जो विज्ञान है वह उतरनेवाला है, इसलिये कि विज्ञानमय मानवजाति उत्पन्न हो।

आत्मानुभवके कार्यक्षम होनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि पुरुष (जीव) प्रकृतिके वशसे मुक्त हो; बल्कि यह आवश्यक है कि पुरुषकी अपरा प्रकृति और उसकी अनभिज्ञ क्रियाशक्तियोंके प्रति जो स्नेहासक्ति है वह वहाँसे हटाकर परा भागवती शक्ति श्रीमाताको समर्पित हो।

अपरा निम्नगा प्रकृतिको और उसकी यन्त्रवत् अन्ध क्रियाशक्तियोंको माता समझ लेना भूल है। यह प्रकृति तो एक यन्त्रसामग्री है जो विकासशील अज्ञानको गति देनेके लिये प्रस्तुत की गयी है। जैसे मनोऽभिमानी, प्राणाभिमानी या देहाभिमानी आत्मा ही परमात्मा नहीं है, यद्यपि वह आता परमात्मासे ही है—वैसे ही प्रकृतिकी यह यान्त्रिकता ही भागवतशक्ति या माता नहीं हैं। अवश्य ही इस यान्त्रिकतामें और इसके पीछे माताका अंश है, जो विकासक्रम साधनेके लिये इसे बनाये हुए है। पर माता स्वयं जो कुछ हैं वह कोई अविद्याकी शक्ति नहीं हैं, बल्कि भगवान्की चिच्छक्ति, ज्योति, परा प्रकृति हैं, जिनसे हम मुक्ति और भागवती पूर्णताकी कामना करते हैं।

पुरुष-चैतन्यका अनुभव—शान्त, स्वच्छन्द, त्रिगुण-कर्मोंका अनासक्त, अलिप्त साक्षित्व मुक्तिका साधन है। शान्ति, अनासक्ति, शान्तिमय शक्ति और आत्मरतिको प्राणोंमें, देहमें और मन-बुद्धिमें ले आना होगा। यदि इस आत्मरतिकी इस प्रकार मन, बुद्धि, प्राण और देहमें प्रतिष्ठा हो गयी तो प्राणगत शक्तियोंके उपद्रवोंका शिकार होनेका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। पर यह शान्ति, समत्व, स्थिर शक्ति और आनन्दका संस्थापन आधारमें माताकी शक्तिका केवल प्रथम अवतरण है। इसके परे एक ऐसा ज्ञान है, एक ऐसी सञ्चालन-शक्ति है, एक ऐसा गतिशील आनन्द है जिसका अनुभव सामान्य प्रकृतिकी उत्तमावस्थामें, अत्यन्त सात्त्विक अवस्थामें भी नहीं हो सकता; क्योंकि वह भागवतगुण है।

सबसे पहले शान्ति, समता, मुक्ति आवश्यक है। गतिशील आत्मानन्दको अपरिपक्व अवस्थामें नीचे ले आनेका प्रयास करना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसका नीचे आना क्षुब्ध और अशुद्ध प्रकृतिमें आना होगा, जो उसे अपना न सकेगी और इससे भयङ्कर उपद्रव हो सकते हैं।

* * * *

यदि परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानससे किसी ऐसे महत्तर और पूर्णतर सत्यका अनुभव न होता हो जो उसके नीचेके लोकोंमें नहीं है, तो वहाँ पहुँचनेका प्रयास करना भी व्यर्थ ही है। प्रत्येक लोकके अपने-अपने विशिष्ट सत्यानुभव हैं। सभी सत्य सर्वत्र वैसे ही नहीं हैं। कुछ सत्य ऐसे हैं जो ऊर्ध्वतर लोकमें हैं ही नहीं। उदाहरणार्थ, वासना और अहंकार मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अज्ञानकी सत्ता थे; वहाँ कोई अहङ्काररहित या वासनारहित हो तो वह एक निर्जीव-सा तामसिक यन्त्रमात्र है। पर इस लोकसे जब हम ऊपर उठते हैं, तब अहङ्कार और वासनाकी कोई सत्ता ही नहीं रहती, वहाँ वे असत् प्रतीत होते हैं और सदात्मा और सत्यसङ्कल्पको विकृत—विपर्यस्त करनेका काम करते हैं। दैवी और आसुरी शक्तियोंका संग्राम यहाँकी एक नित्य-सत्य घटना है; पर ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों इसकी सत्ता कम होती जाती है और परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानसमें इसकी कोई सत्ता रह ही नहीं जाती। अन्यान्य सत्ताएँ हैं; पर पूर्ण स्थितिमें आकर उनका स्वरूप, महत्त्व और स्थान बदल जाता है। व्यक्त और अव्यक्तका भेद या तारतम्य परा प्रज्ञाकी सत्तामें सत्य भासित होता है—परात्परा प्रज्ञामें इस भेदका भेदरूप अस्तित्व नहीं है, वहाँ व्यक्त और अव्यक्त दोनों अभिन्नरूपसे एक हैं। पर परा प्रज्ञाकी स्थिति साधकर उसमें जो पूर्ण होकर न रहा हो वह परात्पर विज्ञानकी सत्ताका अनुभव नहीं कर सकता। मनुष्यका मन तो ऐसा है कि इसे एक प्रकारसे अक्षम-सा अर्थात् व्यर्थका दर्प होता है और उस दर्पमें वह भिन्न-भिन्न स्थितियोंके सदनुभवोंको छाँटने लगता है और अन्य सब सदनुभवोंको असत्य, अलीक जानकर केवल उस एक महत्तम सत्यकी ओर उछल पड़ता है जिसे उसने स्वरूपत: तो नहीं, अनुमानसे जाना है; पर यह एक प्रकारका उच्चपदाभिलाष और गर्वयुक्त प्रमादमात्र है। बात यह है कि जो कोई ऊपर चढ़ना चाहता है उसे पौड़ी-पौड़ी चढ़ना होगा और हर पौड़ीपर मजबूतीसे पैर रखकर, स्थिर होकर ऊपर उठना होगा, तभी वह शिखरतक पहुँचेगा।

*　　*　　*　　*

विषयासक्तिवाली निम्न प्रकृति और उससे अपने मार्गमें पड़नेवाली बाधाओंके सोचमें ही रहना भूल है। इस प्रकृति और उसकी इन बाधाओंका निस्तार साधनाका अभावपक्ष है। इन बाधाओंको देखना, समझना और हटाना अवश्य ही एक काम है; पर इसीको सब कुछ समझकर इसीमें सर्वात्मना सदा लगे रहना ठीक नहीं। साधनाका जो भावपक्ष है, अर्थात् परा शक्तिके अवतरणका अनुभव, वही मुख्य बात है। यदि कोई यही प्रतीक्षा करता रहे कि पहले निम्न प्रकृति सदाके लिये सर्वथा शुद्ध हो ले, तब परा प्रकृतिके आनेकी बाट जोही जाय, तो ऐसी प्रतीक्षा तो सदा करते ही रह जाना पड़ेगा। यह सच है कि निम्न प्रकृति जितनी ही शुद्ध होगी, उतना ही परा प्रकृतिका उतर आना आसान होगा; पर यह भी सच है, बल्कि उससे भी अधिक सच है, कि परा प्रकृतिका उतरना जितना होगा उतनी ही निम्न प्रकृति निर्मल होगी। पूर्ण शुद्धि या स्थिररूपसे पूर्ण अवतरण एकबारगी ही नहीं हो सकता, यह दीर्घकालमें निरन्तर धैर्यपूर्वक क्रमश: ही होनेका काम है। चित्तकी शुद्धि और भगवच्छक्त्यवतरण दोनोंका काम एक साथ चलता है और दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढ़ताके साथ दोनों एक-दूसरेको आलिङ्गन करते हैं—साधनाका यही सामान्य क्रम है।

*　　*　　*　　*

किसी सद्भावका आत्यन्तिक अभिनिवेश चित्तमें होकर भी तबतक नहीं ठहरता जबतक अपनी मानवी बोधशक्ति बदलकर दिव्य नहीं हो जाती—दिव्य भावको आत्मसात् कर सकनेमें कुछ काल लगता है। जब जीव स्वयं अबोध-सा रहता है तब आत्मसात् करनेकी यह क्रिया परदेके अन्दर ऊपरी आवरणसे छिपकर भीतर हुआ करती है और ऊपरी आवरणकी बोधशक्तिको केवल मूढताकी-सी स्थितिका अनुभव होता है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि जो कुछ दिव्य भाव-सा पहले मिला था वह भी चला गया; पर जब जीव जागता है, उसकी बोधशक्ति जाग उठती है, तब वह देख सकता है कि किस प्रकार भीतर-ही-भीतर आत्मसात् करनेकी क्रिया हो रही है, और कोई भी दिव्य भाव पाया हुआ नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि जो दिव्य भाव उतर आया था वह अब स्थिर होकर बैठा है।

विशालता और अपार शान्ति और मौनका साधकको जो अनुभव होता है वह आत्मा—शान्त ब्रह्म है। कई

योगोंका तो इसी आत्मा या शान्त ब्रह्मको पाकर उसमें रहना ही एकमात्र ध्येय होता है। परन्तु हमारे योगमें तो भगवत्सत्ताकी अनुभूतिका तथा जीवके क्रमशः उस भगवच्चैतन्यको प्राप्त होनेका—जिसे हम दिव्यीकरण कहते हैं—यह केवल प्रथम सोपान है।

*　　*　　*　　*

सदात्माके दो रूप हैं, एक आत्मा और दूसरा अन्तरात्मा—हृत्पुरुष, जिसे हम चैत्यपुरुष भी कहते हैं। सदात्माकी अनुभूति इनमेंसे किसी एक रूपमें अथवा इन दोनों ही रूपोंमें हो सकती है। इन दोनों अनुभूतियोंमें अन्तर यही है कि आत्मा विश्वभरमें व्याप्त प्रतीत होता है, और अन्तरात्मा व्यक्तिविशेषके मन, प्राण और शरीरको धारण करनेवाला व्यष्टि पुरुष प्रतीत होता है। पहले-पहल जब किसीको आत्मानुभव होता है तब वह आत्माको सब पदार्थोंसे पृथक्, अपने-आपमें ही स्थित और संसारसे सर्वथा असक्तरूपमें देखता है। इस प्रकारके आत्मानुभवको सूखे हुए नारिकेल-फलकी उपमा दी जा सकती है। पर अन्तरात्मा या चित्पुरुषका अनुभव ऐसा नहीं है, इस अनुभवमें भगवान्‌के साथ एकत्व, भगवान् ही आश्रय और भगवान् ही एकमात्र शरण्य देख पड़ते हैं और निम्न प्रकृतिको बदल डालने तथा अपने सदन्तःकरणात्मा, सत्प्राणात्मा और सच्छरीरात्माको ढूँढ़ निकालनेकी शक्ति अनुभूत होती है। इस योगमें इन दोनों प्रकारके अनुभवोंकी आवश्यकता होती है।

'मैं' यानी यह छोटा-सा अहङ्कार प्रकृतिकी रचना है और साथ ही मानसिक, प्राणगत और भौतिक रचना भी है। इसका हेतु बाह्यबोध और कर्मको केन्द्रीभूत करके व्यष्टिविशेषमें व्यक्त करनेके काम आना है। जब सदात्मा मिल जाता है तब अहङ्कारका काम पूरा होता है, फिर उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती और उसका अन्त हो जाता है—उसके स्थानमें सदात्माकी अनुभूति होती है।

*　　*　　*　　*

तीनों गुण शुद्ध और विमल होकर अपनी दिव्य सत्ताको प्राप्त होते हैं—सत्त्वकी हो जाती है ज्योति अर्थात् विशुद्ध आत्मतेज, रज हो जाता है तप अर्थात् शान्तिमय प्रचण्ड दिव्य शक्ति और तम हो जाता है शम अर्थात् निर्द्वन्द्व समता—शान्ति।

*　　*　　*　　*

विश्वब्रह्माण्डकी तीन शक्तियाँ हैं, जिनके अधीन सब पदार्थ हैं—सृष्टि, स्थिति और संहार; जो-जो कुछ सृजा जाता है वह कुछ कालतक रहता है, बाद क्षीण होकर नष्ट होने लगता है। संहारशक्ति निकाल लेनेका यह मतलब होगा कि एक ऐसी सृष्टि होगी जिसका नाश नहीं होगा, बल्कि जो बनी रहकर सदा बदलती रहेगी। अज्ञानमें रहते हुए, उन्नतिके लिये नाश आवश्यक है; पर ज्ञानमें, सत्यकी अपनी दिव्य सृष्टिमें, प्रलयके बिना ही सतत रूपान्तरका होते जाना ही नियम है।*

महात्मा गान्धीजीका सन्देश

सब योगोंका सम्राट् निष्काम कर्मयोग है।
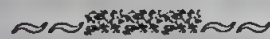
निष्काम कर्मयोगी

गीताका कर्मयोगी फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ उन कर्मोंद्वारा भगवान्‌की भक्ति करता है। (देखिये गीता २। ४७ से ५१; ३। ७,१९,३०; ४। १४; ५। १०; ६। १; ८। ७; ९। २७-२८; १२। ६, १०-११; १८। ६, ९, ४६, ५६, ५७ आदि।)
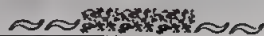
* श्रीअरविन्दका यह लेख उन्हींकी आज्ञासे उनकी 'Lights on Yoga' नामक अंग्रेजी पुस्तकसे लिया गया है। श्रीअरविन्दने समय-समयपर अपने शिष्योंके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए जो पत्र लिखे हैं उन्हींमेंसे कुछ अंश इस पुस्तकमें संगृहीत हुए हैं, जो साधकोंके लिये बड़े कामके हैं और श्रीअरविन्दके योग-विषयक सिद्धान्तोंको समझनेमें बड़े सहायक हैं।—सम्पादक

वर्तमान कालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये?

(परमपूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके विचार)

पहले मैंने आसाम और भूटान आदि प्रान्तोंमें हठयोगियोंकी बहुत खोज की थी। मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगीका पता लगता उसीके पास जाता और उसकी सेवा कर उसके अनुभवका पता लगानेका प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं जिन्हें तीन-तीन, चार-चार घंटेकी समाधि होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक स्थितिका पता लगानेपर यही विदित हुआ कि उनमेंसे किसीको भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं हुई। हाँ, सविकल्प समाधिमें उनकी स्थिति अवश्य थी। इसके सिवा, मैंने प्राय: सभी हठयोगियोंको रोगी भी पाया। हठयोगका मुख्य लक्ष्य वीर्यकी पुष्टि है; परन्तु मैंने अधिकांश हठयोगियोंको वीर्यसम्बन्धी रोगोंसे भी ग्रस्त पाया है। किसीको मूत्रकृच्छ्र, किसीको स्वप्नदोष और किसीको किसी अन्य रोगके चंगुलमें फँसे देखा है। इससे मेरी यह दृढ धारणा हो गयी है कि वर्तमान काल हठयोगके अनुकूल नहीं है; इस समय हठयोगद्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्राय: सर्वथा असम्भव है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोगका मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसका जो विपरीत परिणाम होता है उसके मुख्य कारण ये हैं—

१. हठयोगीका वीर्य शुद्ध होना चाहिये, और इसका इस समय प्राय: सर्वथा अभाव है।

२. हठयोगका अभ्यास सहन करनेयोग्य बल प्राय: नहीं देखा जाता।

३. सिद्ध हठयोगी गुरुका मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है।

इसके सिवा ध्यान और वैराग्यकी कमी होनेके कारण आधुनिक हठयोगी प्राय: अर्थलोलुप और चञ्चल प्रकृतिके देखे जाते हैं। उनके जालमें फँसकर मैंने बहुत-से साधकोंके जीवन नष्ट होते देखे हैं। इसलिये मेरा विचार है कि अपने कल्याणकी इच्छावालोंको इस ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत-से हठयोगियोंसे निराश होनेपर मुझे एक ऐसे महात्मा मिले जिन्हें ध्यानयोगद्वारा निर्विकल्प समाधि सिद्ध थी। उनके संसर्गसे मुझे यह अनुभव हुआ कि सिद्धासन और शाम्भवी मुद्राके* द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। इसके सिवा भगवद्भजन, नाम-सङ्कीर्तन और जपके द्वारा भी भावसमाधि प्राप्त होती देखी गयी है। यह मार्ग सर्वसाधारणके लिये बहुत उपयोगी है। परन्तु ऐसे भावुक साधकोंमें भी विचारकी कमी होनेके कारण प्राय: आन्तरिक क्रोध और लोभादि दोष देखे गये हैं। इसलिये इस मार्गका अनुसरण करनेवालोंको भी विचारकी बहुत आवश्यकता है; तभी वे भगवद्भक्तिसे पूरा लाभ उठा सकेंगे।

—प्रेषक— मुनिलाल

---
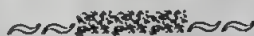
* शाम्भवी मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

'जिसमें चित्तका लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहता है और दृष्टि बाहरकी ओर रहती है अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं, किन्तु कोई बाह्य पदार्थ दिखायी नहीं देता, वह सम्पूर्ण शास्त्रोंमें छिपी हुई 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है।'

इसका अभ्यास करनेके लिये श्रीमहाराजने इस श्लोकद्वारा उपदेश दिया—

तिर्यग्दृष्टिमधोदृष्टिं विहाय च महामति:। स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत्॥

'मतिमान् साधकको इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोड़कर निश्चलभावसे स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योगका अभ्यास करना चाहिये।' (प्रेषक)

समाधियोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कितने ही मित्र पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार समाधिविषयक लेखके लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं। उन लोगोंका आग्रह देखकर मेरी भी लिखनेकी प्रवृत्ति होती है, परन्तु मैंने इसका सम्पादन किया नहीं। समाधिका विषय बड़ा दुर्गम और गहन है। महर्षि पतञ्जलिजीका समाधिके विषयमें क्या सिद्धान्त था, यह बात भाष्य आदि टीकाओंको देखनेपर भी अच्छी प्रकारसे समझमें नहीं आती। पातञ्जलयोगके अनुसार योगका भलीभाँति सम्पादन करनेवाले योगी भी संसारमें बहुत ही कम अनुमान होते हैं। इस विषयके तत्त्वज्ञ योगीसे मेरी तो भेंट भी नहीं हुई। ऐसी परिस्थितिमें समाधिके विषयमें न तो मुझमें लिखनेकी योग्यता ही है और न मेरा अधिकार ही है। तथापि अपने मनके विनोदके लिये पातञ्जलयोगदर्शनके आधारपर, समाधिविषयक अपने भावोंको पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ। अतएव पाठकगण मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार समाधिके मुख्यतया दो भेद हैं—१. सम्प्रज्ञात और २. असम्प्रज्ञात।

असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरंग है।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। (३।८)

वह (संयमरूप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधिकी अपेक्षा बहिरंग ही है। इस असम्प्रज्ञातयोगको ही निर्बीज समाधि, कैवल्य, चितिशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा[१] आदि नामोंसे पातञ्जलयोगदर्शनमें कहा है। और उस योगीकी सदाके लिये अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति हो जाती है तथा किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये उसको चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं। उस अवस्थामें संसारके बीजका अत्यन्त अभाव है। इसलिये यह निर्बीज समाधिके नामसे प्रसिद्ध है।[२]

सम्प्रज्ञात योगके मुख्य चार भेद हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः। (१।१७)

वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगम, विचारके सम्बन्धसे होनेवालीका नाम 'विचारानुगम', आनन्दके सम्बन्धसे होनेवालीका 'आनन्दानुगम' और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम 'अस्मितानुगम' है।

(१) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, ये पाँच स्थूलभूत, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच स्थूलविषय, इन पदार्थोंमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' समाधि है। इसमें केवल पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदिसहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड अन्तर्गत है। इस वितर्कानुगम समाधिके दो भेद हैं—१. सवितर्क और २. निर्वितर्क।

(क) सवितर्क

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। (१।४२)

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य उन स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त, समापत्तिका नाम 'सवितर्क' समाधि है। जैसे कोई सूर्यमें समाधि लगाता है, तो उसमें सूर्यका नाम, सूर्यका रूप और सूर्यका ज्ञान—यह तीनों प्रकारकी कल्पना रहती है,[३] इसलिये इसे सवितर्क समाधि कहते हैं, इसीको 'सविकल्प' भी कहते हैं।

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (४। ३४)

२. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। (१। ५१)

३. जिस पदार्थमें योगी समाधि लगाता है, उस पदार्थके वाचक या नामको तो शब्द तथा वाच्य यानी स्वरूपको अर्थ और जिससे शब्द-अर्थके सम्बन्धका बोध होता है, उसको ज्ञान कहते हैं। जैसे सूर्य यह शब्द तो सूर्यदेवका वाचक है, सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाला आकाशमें जो सूर्यमण्डल दीख पड़ता है, वह सूर्य शब्दका वाच्य है, और उस मण्डलको देखकर यह सूर्य है—ऐसा जो बोध होता है, उसका नाम ज्ञान है।

(ख) निर्वितर्क

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। (१।४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभाँति रहित होनेपर, जिसमें साधकको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थ यानी ध्येयमात्रकी ही प्रतीति रहती है; उसका नाम 'निर्वितर्क' समापत्ति अर्थात् समाधि है। जैसे सूर्यका ध्यान करनेवाला पुरुष मानो अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है और उसे केवल सूर्यका स्वरूपमात्र ही प्रतीत होता है। उसका नाम निर्वितर्क समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

(२) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्मतन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार और मूलप्रकृति एवं दस इन्द्रियाँ, इनमें होनेवाली समाधिका नाम 'विचारानुगम' समाधि है। कोई-कोई इन्द्रियोंमें होनेवाली समाधिको आनन्दानुगम समाधि मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। (१।४४)

इस सवितर्क और निर्वितर्कके भेदके अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधिकी व्याख्या समझनी चाहिये। सूक्ष्म विषयकी मर्यादा, स्थूल पञ्चभूतोंको और स्थूल विषयोंको बाद देकर, मूलप्रकृतिपर्यन्त बतलायी है। इससे सूक्ष्म विषयकी व्याख्याके अन्तर्गत ही इन्द्रियाँ आदि आ जाते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। (१। ४५)

तथा सूक्ष्मविषयताकी सीमा अलिङ्ग यानी मूल प्रकृतितक है। मूल प्रकृतितक होनेसे दृश्यका सारा सूक्ष्मविषय, 'विचारानुगम' समाधिके अन्तर्गत आ जाता है।

इस विचारानुगम समाधिके भी दो भेद हैं। १. सविचार, २. निर्विचार।

(क) सविचार—स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें नाम (शब्द), रूप (अर्थ), ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त समापत्ति अर्थात् समाधिका नाम सविचार समाधि है। तीनों प्रकारके विकल्पोंसे युक्त होनेके कारण, इस सविचार समाधिको सविकल्प भी कहते हैं*।

(ख) निर्विचार—जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभाँति रहित होनेपर जिसमें योगीको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्विचार समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

ग्रहण तेरह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, अहङ्कार। ग्राह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें द्वार होनेसे, इन्हें 'ग्रहण' कहा गया है।

इनके अलावा—स्थूल, सूक्ष्म समस्त जड दृश्यवर्ग, ग्राह्य हैं। ये उपर्युक्त तेरह ग्रहणोंके द्वारा पकड़े जानेवाले होनेसे इन्हें 'ग्राह्य' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि दृश्यमात्र जड है और इस जडमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है।

कार्यसहित प्रकृति जो दृश्यवर्ग है, इसीका नाम बीज है; इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम सबीज समाधि है।

ता एव सबीजः समाधिः। (१।४६)

(३) अन्तःकरणकी स्वच्छतासे उत्पन्न होनेवाले आह्लाद यानी प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोंमें जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है। उपर्युक्त वितर्क और विचार ये दोनों समाधियाँ तो केवल जडमें अर्थात् दृश्य पदार्थोंमें हैं परन्तु यह केवल जडमें नहीं है, क्योंकि आनन्दकी उत्पत्ति जड और चेतनके सम्बन्धसे होती है। इस आनन्दमें आत्माकी

* ध्यानमें तो ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है और इस सवितर्क और सविचार समापत्तिमें, केवल ध्येयविषयक ही शब्द, अर्थ, ज्ञानसे मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधिमें केवल ध्येयका स्वरूपमात्र ही रह जाता है। इसलिये यह समापत्ति, ध्यानसे उत्तर एवं समाधिकी पूर्वावस्था है; इसे तटस्थ समापत्ति भी कहते हैं, अतएव इसको भी समाधि ही समझना चाहिये।

भावना करनेसे विवेकख्याति द्वारा[१] आत्मसाक्षात्कार भी हो जाता है।

(४) चेतन द्रष्टाकी चिन्मयशक्ति एवं बुद्धिशक्ति इन दोनोंकी जो एकता-सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (२। ६)

पुरुष और बुद्धिकी एकरूपताकी-सी प्रतीति होना अस्मिता है[२]। इसलिये बुद्धिवृत्ति और पुरुषकी चेतनशक्तिके एकताके-से स्वरूपमें जो समाधि होती है उसका नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। आनन्दानुगम तो चेतनपुरुष और बुद्धिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले आह्लादमें होती है। किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धिकी एकात्मताकी-सी स्थितिमें होती है। इस समाधिसे पुरुष और प्रकृतिका पृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान हो जाता है। उस सत्त्वपुरुषके पृथक्-पृथक् ज्ञानमात्रसे समस्त पदार्थोंके स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। (३। ४९)

फिर इन सबमें वैराग्य होनेपर, क्लेश-कर्मके मूलभूत अविद्यारूप दोषकी निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्थाको प्राप्त हो जाता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। (३। ५०)

असम्प्रज्ञात योग अर्थात् निर्बीज समाधि तो सङ्कल्पोंका अत्यन्त अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प है ही किन्तु सम्प्रज्ञातयोगमें निर्वितर्क और निर्विचार आदि सबीज समाधियाँ भी, विकल्पोंका अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प हैं।

'ग्रहण' और 'ग्राह्यों' में तथा आनन्द और बुद्धिसहित ग्रहीतामें सम्प्रज्ञात योगको बतलाकर, अब केवल ग्रहीतामें होनेवाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है। चेतनरूप ग्रहीताके स्वस्वरूपमें होनेवाली समाधिका नाम असम्प्रज्ञात योग है। इसमें दृश्यके अभावसे, द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें समाधि होती है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। (१। १८)

चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्याससे उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें केवल चित्तनिरोधके संस्कार ही शेष रहते हैं, वह अन्य है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्तनिरोधके संस्कार ही रह जाते हैं।

गुण और गुणोंके कार्यमें अत्यन्त वैराग्य होनेसे, समस्त दृश्यका आलम्बन चित्तसे छूट जाता है, दृश्यसे अत्यन्त उपरामता होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है और क्लेश कर्मोंका नाश हो जाता है तथा क्लेश कर्मोंका नाश हो जानेसे, उस योगीका चित्तके साथ अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सत्, रज, तम-गुणमयी प्रकृति उस योगीको मुक्ति देकर कृतकार्य हो जाती है। यही योगीकी कैवल्य अवस्था अथवा चितिशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा है। इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात योगमें जिस पदार्थका आलम्बन किया जाता है, उस पदार्थका यथार्थ ज्ञान होकर, योगीकी भूमियोंमें वृद्धि होते-होते, शेषमें प्रकृति-पुरुषतकका यथार्थज्ञान हो जाता है। और उसमें वैराग्य होनेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें तो शुरूसे ही दृश्यके आलम्बनका त्याग किया जाता है जिससे दृश्यका अत्यन्त अभाव होकर, त्याग करनेवाला केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है। अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातका प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसीको ध्येय बनाकर यानी किसीका आलम्बन करके किया जाता है। यहाँ आलम्बन ही बीज है, इसलिये किसीको आलम्बन बनाकर, उसमें समाधि होती है,

---

१. सत्त्व और पुरुषकी ख्यातिमात्रसे तो सब पदार्थोंपर स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है, और उसमें वैराग्य होनेसे संशय-विपर्ययसे रहित निर्मल विवेकख्याति होती है, इसीको 'सर्वथा विवेकख्याति' भी कहते हैं, इससे 'धर्ममेघ समाधि' लाभ और क्लेश-कर्मकी निवृत्ति होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है।

यह 'धर्ममेघ समाधि' सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग यानी निर्बीज समाधिकी पूर्वावस्था है, क्योंकि इससे समस्त क्लेश-कर्मोंकी निवृत्ति होकर कैवल्य पदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

२. वितर्कानुगम और विचारानुगम समाधिके जैसे सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविचार और निर्विचार दो-दो भेद होते हैं वैसे ही आनन्द और अस्मिताके भी दो-दो भेद किये जा सकते हैं।

उसका नाम सबीज समाधि है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें आलम्बनका अभाव है। आलम्बनका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाली वृत्तियोंका भी अभाव होनेपर, जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्ब होनेके कारण इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

ऊपर बताये हुए असम्प्रज्ञात योगकी सिद्धि दो प्रकारसे होती है। जिनमें एकका नाम 'भव-प्रत्यय' है और दूसरेका नाम 'उपाय-प्रत्यय'। जो पूर्वजन्ममें विदेह और प्रकृतिलयतक पहुँच चुके थे वे ही योगभ्रष्ट पुरुष इस जन्ममें भव-प्रत्ययके अधिकारी हैं, शेष सब मनुष्य उपाय-प्रत्ययके अधिकारी हैं। उनमें भव-प्रत्यय यह है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। (१। १९)

विदेही और प्रकृतिलयोंको भव-प्रत्यय होता है।

भव नाम है जन्मका, प्रत्यय नाम है प्रतीति-प्रकट होनेका। जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अर्थात् जो जन्मसे ही प्रकट होता है, उसे 'भव-प्रत्यय' कहते हैं। अथवा, **भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः।** भवात् नाम जन्मसे, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्मसे ही है ज्ञान जिसका अर्थात् जिस असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम है 'भव-प्रत्यय'। सारांश यह है कि विदेही और प्रकृतिलय योगियोंको जन्मसे ही, असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविषयक ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञाकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्वजन्ममें हो चुका है।

इसलिये पूर्वजन्मके संस्कारबलसे[1] उनको पर-वैराग्य होकर विराम प्रत्ययके अभ्यासपूर्वक यानी चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्यास अर्थात् दृश्यरूप आलम्बनके अभावके अभ्याससे असम्प्रज्ञात यानी निर्बीज समाधि हो जाती है।

(१) विदेही उन्हें कहते हैं, जिनका देहमें अभिमान नहींके तुल्य है। सम्प्रज्ञात योगकी जो चौथी समाधि अस्मिता है, उसमें समाधिस्थ होनेसे पुरुष और बुद्धिका पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे आत्माको ज्ञाता और बुद्धिको ज्ञेयरूपसे समझकर, शरीरसे आत्माको पृथक् देखता है। तब उसको 'विदेह' ऐसा कहा जाता है।

(२) 'प्रकृतिलय' उन्हें कहते हैं जिनमें निर्विचार समाधिद्वारा प्रकृतिपर्यन्त संयम करनेकी योग्यता हो गयी है। इस प्रकारके योगियोंको अध्यात्मप्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। (१। ४७)

निर्विचार समाधिमें वैशारद्य यानी प्रवीणता होनेपर, अध्यात्मप्रसाद होता है। रज, तमरूप मल और आवरणका क्षय होकर, प्रकाशस्वरूप बुद्धिका स्वच्छ प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, इसीका नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृतिके सारे पदार्थोंका, संशयविपर्ययरहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है; इसका नाम 'अध्यात्मप्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योगकी निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिलय योगियोंका विषय बतलाकर अब साधारण मनुष्योंके लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करनेके लिये 'उपाय-प्रत्यय' कहते हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। (१। २०)

जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उन पुरुषोंका श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक, विराम-प्रत्ययके अभ्यासद्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

श्रद्धा—योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि या उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। जिनका अन्तःकरण जितना स्वच्छ यानी मलदोषसे रहित होता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा[2] होती है। श्रद्धा ही कल्याणमें परम कारण है, इसलिये आत्माका कल्याण

१. भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी योगभ्रष्ट पुरुषकी गति बतलाते हुए कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। (६। ४३-४४)

और वह योगभ्रष्ट पुरुष, वहाँ उस पहिले शरीरमें साधन किये हुए बुद्धिके संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है, और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है। और वह विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्याससे निःसन्देह भगवत्की ओर आकर्षित किया जाता है।

२. भगवद्गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

चाहनेवाले पुरुषोंको श्रद्धाकी वृद्धिके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये।

वीर्य—योगकी प्राप्तिके लिये साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम 'वीर्य' है। क्योंकि श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है। और उस तत्परतासे मन और इन्द्रियोंके संयमकी भी सामर्थ्य हो जाती है।

स्मृति—अनुभूत विषयका न भूलना यानी उसके निरन्तर स्मरण रहनेका नाम 'स्मृति' है, इसलिये यहाँ अध्यात्मबुद्धिके द्वारा सूक्ष्म विषयमें जो चित्तकी एकाग्रता होकर, एकतानता है अर्थात् स्थिर स्थिति है, उसको 'स्मृति' नामसे कहा है।

समाधि—फिर उसीमें अपने स्वरूपका अभाव-सा होकर, जहाँ केवल अर्थमात्र ध्येय वस्तुका ही ज्ञान रह जाता है, उसका नाम 'समाधि' है।

प्रज्ञा—ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञा नामसे कथित हुई है। उपर्युक्त समाधिके फलस्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगीको प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। (१। ४८)

वहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है। ऋत सत्यका नाम है। उसका धारण करनेवाली बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। (१। ४९)

विशेष अर्थवाली होनेसे यह प्रज्ञा, श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञासे अन्य विषयवाली है।

अर्थात् श्रुति, स्मृतिद्वारा सुने हुए और अपनी साधारण बुद्धिके द्वारा अनुमान किये हुए विषयोंसे भी इस बुद्धिके द्वारा विशेष अर्थका यानी यथार्थ अर्थका अनुभव होता है।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे संसारके पदार्थोंमें वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर उससे आत्मविषयक साधनमें आनेवाले विक्षेपोंका अभाव हो जाता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। (१। ५०)

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न ज्ञानरूप संस्कार अन्य दृश्यजन्य संस्कारोंका बाधक है।

इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञाके संस्कारोंद्वारा विराम-प्रत्ययका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् विषयसहित चित्तकी समस्त वृत्तियोंके विस्मरणका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते दृश्यका अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्यका अत्यन्ताभाव होनेपर, दृश्यका अभाव करनेवाली बुद्धिवृत्तिका भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसके निरोध होनेपर निर्बीज समाधि हो जाती है। यही इस योगीकी स्वरूपमें स्थिति है, या यों कहिये कि कैवल्यपदकी प्राप्ति है*।

इनका सार निकालनेसे यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणकी स्वच्छतासे श्रद्धा होती है। श्रद्धासे साधनमें तत्परता होती है, तत्परतासे मन और इन्द्रियोंका निरोध होकर परमात्माके स्वरूपमें निरन्तर ध्यान होता है, उस ध्यानसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है। और ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसीको भगवत्-प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतामें बतलाया गया है। और यहाँ इस प्रकरणमें इसीको 'निर्बीज समाधि' या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहा है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ (१७। ३)

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसा श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।

* श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसीसे मिलता-जुलता वर्णन किया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (४। ३९)

जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

योगतत्त्वम्

(लेखक— श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य-दार्शनिकसार्वभौम-साहित्यदर्शनाद्याचार्य-तर्करत्न-न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

योगमाश्रयते नीपं योगभाग्मत्यगोचरः। योऽगम्यो विषयासक्तौ योगमेतु स मे हृदि॥

अयि कल्याणप्रियजनते!

आपलोग अनेक वर्षोंसे बहुविध मधुर रसका ही आस्वादन करते आ रहे हैं, सम्भव है कि कुछ अरुचिका भी उन्मेष हुआ हो; इससे तरह-तरहके मसाले पड़ी हुई योगरूप चटनीसे आस्वाद बदलना भी लोकरीतिसे अनुचित न होगा; होता अनुचित यदि इमली वा नीमकी बेमेल चटनी होती। यह तो किसमिसकी चटनी होनेसे मेलकी ही है; क्योंकि बिना इसके पूर्वास्वादित गरिष्ठ रसका परिपाक होता ही नहीं।

यह 'योग' शब्द एकाग्रतार्थक '**युज्**' धातुसे निष्पन्न है, संयोगार्थक '**युजिर्**' धातुसे नहीं; क्योंकि कर्म, ज्ञान, भक्ति, अष्टाङ्गादि योगमें नियमसे चित्तैकाग्रता ही अपेक्षित है।

इस स्वतन्त्र योगके भी हठ, लय, मन्त्र, राजरूपसे तथा अन्य स्पर्शादि प्रभेदोंसे अनेकानेक प्रकार होते हैं; किन्तु हम यहाँ हिरण्यगर्भाचार्यप्रवर्तित एवं महर्षि 'पतञ्जलि' द्वारा अनुशासित 'पातञ्जल' दर्शनादि नामोंसे प्रसिद्ध योगशास्त्रोक्त 'योग' को मुख्य समझकर तदुक्त रीतिसे ही योगतत्त्वका संक्षेपसे निरूपण करते हैं।

जब यह भी एक प्रधान दर्शन है, तब दर्शनोचित रीति कैसे छूटेगी? इस दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द—ये तीन ही प्रमाण अनुमत हैं; इनसे ही प्रमेय-सिद्धि की जाती है। यह शास्त्र महर्षि कपिलोक्त सांख्यका परिशिष्ट रूप है, इसीसे 'उत्तरसांख्य' भी कहाता है। अतएव कपिलोक्त पचीस तत्त्व यहाँ भी सम्मत हैं, केवल छब्बीसवाँ तत्त्व 'ईश्वर' इसमें अधिक सिद्धान्तित है।

ये दोनों महर्षि 'परिणामवादी' हैं—इसीसे किसीकी उत्पत्ति या नाश इनके यहाँ नहीं माना गया है। श्रीभगवान्ने गीतोपनिषद्में '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' ऐसा कहकर परिणामवादका ही अनुमोदन किया है। इस वादमें उपादानकारणसे कार्यका सर्वथा भेद नहीं है, सर्वथा अभेद भी नहीं है, अतएव तादात्म्य है।

उक्त छब्बीस तत्त्वोंमें महापुरुष या पुरुषोत्तम—ईश्वर और पुरुष वा जीव ये ही दोनों चिन्मात्रस्वरूप हैं, बाकीके चौबीस सब जडात्मक हैं; क्योंकि सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणोंकी समष्टिरूप प्रकृति वा प्रधान मूल-कारण है। इसीसे साक्षात् वा परम्परासे तेईसोंका सृष्टिसमयमें आविर्भाव होता है और प्रलयकालमें तेईसों प्राकट्यके विपरीत क्रमसे तिरोभूत होते हैं।

इस दर्शनमें पुरुषमें ज्ञान-इच्छा, सुख-दुःख, धर्माधर्मादि विशेष गुण कभी नहीं रहते; किन्तु प्रकृतिका प्रथम कार्य वा विकृति, जो बुद्धितत्त्व वा महत्तत्त्व कहाता है, उसीमें उक्त गुण वस्तुतः रहते हैं। यह अन्तःकरणका मुख्यरूप है, अनादिकालसे इसके साथ पुरुषको तादात्म्य-भ्रम चला आया है। यही बन्धका हेतु है। जब पुरुषको इसके साथ भेद प्रत्यक्ष होता है, तब उसे 'विवेकख्याति' कहते हैं। इस वृत्तिके बाद ही मुक्ति है। तब उक्त वृत्ति भी अनन्त कालतक निरुद्ध रहती है। प्रारब्ध कर्म भुक्त ही हो जाते हैं, सञ्चित कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं, आगामी कारणाभावसे होते ही नहीं। अतः वृत्तिमात्रका निरोध होनेसे पुरुष वास्तविक स्वरूपमें सर्वदा स्थित रहेगा, यही योगदर्शनमें मोक्ष है।

एक दर्शनका सम्पूर्ण विवरण थोड़े-से लेखमें कैसे आवेगा? तथापि योगरसिकोंके विनोदार्थ दिग्दर्शन कराया गया। विशेष जिज्ञासु यदि प्रश्न करेंगे तब उत्तर अवश्य दिया जायगा। इति शम्।
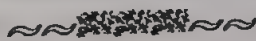
श्रीश्रीशरणागतियोग

(लेखक—अनन्त श्रीस्वामी पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, अयोध्या)

बीजांकुरन्यायसे अनादिकालोपचित विविध कर्म-बन्धनोंसे बद्ध जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें तत्तत्कर्मानुगुण तत्तच्छरीरग्रहणपूर्वक तत्तच्छरीरभोग्य भोगोंको भोगते आये हैं और भोगते हैं तथा भविष्यमें भी भोगते रहेंगे—

'दैवाधीनं जगत् कृत्स्नम्'

'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिह कथ्यते।'

कर्मसञ्चयको ही संसार कहते हैं। जबतक कर्म सञ्चित रहता है तबतक सुख (मोक्ष) हो ही नहीं सकता, चाहे वह सञ्चित कर्म पुण्यजनकतावच्छेदक हो अथवा पापफलप्रद हो। श्रुति कहती है—

पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।

अतः उभयविध कर्म बन्धप्रद होनेसे त्याज्य ही बतलाये गये हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि उभयविध कर्मोंका निर्हार कैसे हो, इसके लिये—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यः ....(महिम्नःस्तोत्र)

—के अनुसार ज्ञानयोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसमुच्चययोग, हठयोग, राजयोग आदि नाना योग प्रतिपादित किये गये हैं। ये सब योग अपशूद्राधिकरणानुरोधेन नियताधिकार होनेके कारण सर्वजनसुलभ नहीं हैं। शरणागतियोग ही सर्वकाल-सर्वदेश-सर्वजनसुलभ है। अन्य योगोंमें साक्षान्मोक्षप्रदत्व नहीं है, किन्तु तत्तद्योगद्वारा अन्तः-करणनैर्मल्यापादनपूर्वक भक्तियोगोत्पादनद्वारा परम्परया मोक्षप्रदत्व है; तथा कर्मयोगादिमें क्रमवैगुण्य होनेसे प्रत्यवाय भी बतलाया गया है। लेकिन इस शरणागतियोगमें उपर्युक्त उभयविध विप्रतिपत्तियोंका अभाव है, भगवान् श्रीगीताचार्यजी कहते हैं— **'प्रत्यवायो न विद्यते'** (गीता)। इस शरणागतियोगमें किसी प्रकारका प्रत्यवाय नहीं है। **'शरणागति'** शब्दमें ही कितना कारुण्य, कितना वात्सल्य, कितना औदार्य और कितना प्रभाव भरा हुआ है, जिसने बड़े-बड़े कुलिशकठोर हृदयोंको भी क्षणमात्रमें द्रवीभूत कर दिया है। इसके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं। जल्लादोंसे अधिक निर्दयी कठोर हृदयका कोई नहीं होता। पर वे भी इस अद्भुत शक्तिसम्पन्न (**शरणम्**) शब्दको सुनकर द्रवीभूत हो गये हैं। तो फिर जो—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

—की स्वप्रतिज्ञा उद्घोषित करते हैं वे द्रवीभूत हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या है।

अब हमें उस शरणागतियोगके स्वरूपका विचार करना है जो सर्वसाधनापेक्षया सुलभ और सर्वजनसाधारणको सहजमें प्राप्य है।

शरणागति दो प्रकारकी होती है—एक आर्ता शरणागति, दूसरी दृप्ता। एक शरणागत वह है जो **'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** इस श्रुत्युक्त लक्षणलक्षित श्रीपरमाचार्यकी कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेसे तथा कृपापूर्ण भगवन्निरीक्षणसे भगवान्के अनुभव करनेमें विघ्नरूप शरीरको भी भार समझता है और भगवन्नित्यकैङ्कर्यप्राप्तिके लिये भगवान्से प्रतिक्षण प्रार्थना करता है कि—'हे भगवन्! आपके कैङ्कर्यका विरोधी, त्यागने योग्य यह मेरा शरीर शीघ्र छुड़ाइये।' ऐसी प्रार्थनापूर्वक जो शरणागति की जाती है उसे आर्ता शरणागति कहते हैं। और देहान्तरादिकी प्राप्तिमें स्वर्ग-नरक तथा गर्भ-जरा आदि अवस्थाओंमें दुःखके अनुभवसे डरकर, संसारसे विरक्त होकर, संसारसे निवृत्तिके लिये तथा भगवत्प्राप्त्यर्थ सदाचारसम्पन्न श्रीगुरु महाराजके उपदेशसे स्ववर्णाश्रमोचित कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोंको करते हुए तथा यथाशक्ति भगवत्कैङ्कर्य करते हुए शेषशेषिभाव, पितापुत्रभाव, भार्याभर्तृभाव, नियाम्यनियामकभाव, आधाराधेयभाव, स्वस्वामिभाव, शरीरशरीरिभाव, धर्मधर्मिभाव, रक्ष्यरक्षकभाव, व्याप्यव्यापकभाव, भोग्यभोक्तृभाव, अशक्तसर्वशक्तिमद्भाव, अज्ञसर्वज्ञभाव, अपूर्णपरिपूर्णभाव, अकिञ्चन-आप्तकामभाव आदि अनेक भावोंमें स्वोचित एक सम्बन्ध प्रभुसे मानकर, आप ही मेरे उपाय हैं, मेरे पास और कोई भी साधन नहीं है, इस तरह अपना समस्त भार भगवान्के सुपुर्दकर सर्वप्रयत्नशून्य होकर केवल भगवान्के वात्सल्य, सौशील्य, औदार्यादि अनेक कल्याणगुणोंके चिन्तनपूर्वक जो शरणागति की जाती है उसको दृप्ता शरणागति कहते हैं। इस प्रकार

यह द्विविध शरणागतियोग है। अन्य योगोंमें साधकको स्वावलम्बित होकर रहना पड़ता है तथा स्वकर्तव्यका अभिमान रहता है कि इस साधनसे मैं प्रभुको सन्तुष्ट कर लूँगा; यह यज्ञ करता हूँ, दान देता हूँ, जप करता हूँ, ईश्वर अथवा वेदोंकी आज्ञाओंका मैं पालन करता हूँ, अतः मैं अपने कर्तव्योंसे प्रभुको प्रसन्नकर इस अगाध अपरिमित संसारसागरसे पार हो जाऊँगा। इस प्रकार अन्य योगोंमें स्वावलम्बनावृत्ति रहती है, जिसको तत्त्वज्ञोंने वानरीवृत्ति कहा है। इस वृत्तिमें अपने च्युत होनेकी बड़ी आशङ्का रहती है, थोड़ी भी भूल (असावधानी) हुई कि उस वृत्तिका पता नहीं रहता कि कहाँ गयी। परन्तु यह शरणागतियोग परम सुलभ है और अनायास ही भगवत्सान्निध्य प्राप्त करा देता है। शरणागत भक्त अपने किसी भी साधनका भरोसा नहीं करता; वह जानता है कि मुझमें ऐसी कोई भी शक्ति, कोई भी साधन नहीं है जिसके बलसे मैं प्रभुको प्रसन्न कर सकूँ।

अनादिकालसे अनेक जन्मार्जित कर्मोंका कर्मद्वारा निर्हार करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, सुतरां दुःसाध्य है। यदि एक-एक जन्मके कर्मोंके निर्हारार्थ एक-एक वर्ष रखा जाय तो भी त्रैराशिकानुपातसे अनेकानेक वर्षावधि तादृश साधनोंकी अपेक्षा है जिनसे कर्मक्षय होता है। पहले कहा जा चुका है कि पुण्यात्मक अथवा पापात्मक कैसा भी कर्म हो, वह बन्धप्रद ही है। अनवरत अनेक वर्षपर्यन्त प्रत्यूहरहित तादृश साधनोंका होना बहुत ही कठिन है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।
(कठोपनिषद्)

आवत देखहिं बिषय बयारी। ते पुनि देहिं कपाट उघारी॥
(मानसरामायण)

यह तो सर्वसम्मत है कि कर्म-बन्धनद्वारा भगवती श्रीमायादेवी जीवोंको संसारसमुद्रमें डालती हैं। श्रीमुखका वचन है—

..............................मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता)

अतः भगवच्छरणागतिको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय उस मायासे बचनेका नहीं है। शरणागति वह सरल, सुलभ साधन है जिसके करनेसे **'कर्तव्यं नावशिष्यते।'** शरणागतको स्वविषयक किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती। जैसे माता अपने छोटे बच्चेकी अष्टप्रहर रक्षा करती रहती है, बालक स्वयं अपनी कुछ भी चिन्ता नहीं करता; वही वात्सल्यसम्पन्ना माता अपने प्रौढ़ बालककी रक्षामें उतनी दत्तावधाना नहीं होती जितनी उस दुधमुँहे बालककी रखती है; ठीक इसी प्रकार परमभक्तवत्सल सौशील्यादि निखिल-कल्याणगुणगणार्णव भगवान् भी अपने उन भक्तोंकी सतत रक्षामें रहते हैं जो **'पिता त्वमेव माता त्वमेव'**, **'माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः'**, **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'**, **'न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी'** ऐसा सततानुसन्धान करते हैं और जो अपना सर्वस्व प्रभुके चरणारविन्दोंको ही जानते हैं।

अतः अन्य उपायोंका सहारा त्यागकर भक्त केवल प्रभुकृपैकसाधनका ही सहारा लेते हैं और 'हे नाथ! हे दयामय! मैं अकिञ्चन हूँ, अनन्यगतिक हूँ, सर्वसाधनशून्य हूँ, अनेक दुःखदावानलसे सन्तप्त हूँ; आप जगच्छरण्य हैं, अतः आपकी शरणमें आया हूँ।' इस प्रकार अनन्यभावेन वे प्रभुकी शरणागति करते हैं। उनके लिये भगवान् तुरन्त प्रतिज्ञा कर लेते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

परमोदार परमभक्तवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रतिज्ञा करते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वाल्मीकीय रामायण)

अर्थात् केवल एक बार 'शरणागत हूँ', 'मैं आपका हूँ' ऐसी जो प्रार्थना करता है उसको मैं सर्वभूतोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरी प्रतिज्ञा है।

यदि कोई कहे कि शरणमें आया हुआ दूषित है, पापी है, उसको कैसे शरणमें लेंगे, तो प्रभु स्वयमेव इस शङ्काका निराकरण करते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥
(वा० रा० लं० का०)

जब भगवान् **'अद्मो द्विजान्'** वृत्तिवाले सर्वदोषौघागार रावणके भी शरणागत होनेपर उसके ग्रहण और रक्षणकी प्रतिज्ञा करते हैं, तब उक्त शङ्काको अवकाश ही कहाँ है?

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की शरणमें आये हुए जीवको उभयतः कल्याण है। यदि प्रभुने अपना लिया तो अच्छा ही है, और यदि न स्वीकार किया तो भी अच्छा ही है। क्योंकि यदि स्वीकार कर लिया तब तो कल्याण ही है, और यदि न अपनाया तो शरणागत जीव अपने सर्व दुष्कृत शरण्यको देकर स्वयं निष्पाप हो जाता है, तब उसे अवश होकर अपनाना ही पड़ता है। इसी बातको आप महर्षि कण्डुके वचनसे दृढ़ करते हैं—

आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः।
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः॥

(वा० रा० लं० का०)

इससे शरणमें आया हुआ सदोष हो अथवा निर्दोष, वह अवश्य ही शरण्यके द्वारा रक्षणीय है, अन्यथा बड़ा दोष होगा—यह भी आप अग्रिम श्लोकमें बतलाते हैं—

एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥

(वा० रा० लं० का०)

तात्पर्य यह है कि शरणागतके दोष शरण्यके लिये सर्वदा ही उपेक्षणीय हैं। शरणागत होनेके पूर्व जीवने जो अपराध किये हैं वे तो सर्वदा उपेक्ष्य हैं ही, पर शरणागतियोगग्रहणके उपरान्तके भी अपराध सदा उपेक्षणीय ही हैं। क्योंकि सापराध जीव जब **'तवास्मि'** कहता हुआ आपकी शरणमें आता है तब आप उसी समय उसके अनेक जन्मोंके अपराधोंको नाश कर देते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस)

—और सर्वभूतोंसे अभय प्रदान कर देते हैं। उसी एक बारकी की हुई शरणागतिके कारण भूत, भविष्य, सर्वविध समस्त अपराध उपेक्षणीय हैं। आपकी द्वितीय प्रतिज्ञा है—

द्विः शरं नाभिसन्धत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥

(वा० रा० अ० का०)

अतः अन्यान्य योगोंकी अपेक्षा शरणागतियोग ही प्रभुको अत्यन्त प्रिय है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता १८। ६६)

'(यहाँ सर्वधर्मत्यागसे मतलब धर्म त्यागकर अधर्मी बन जानेका नहीं; किन्तु मोक्ष अन्यान्य योगोंसे सद्यः-साध्य नहीं है, शरणागतियोगसे ही है, अतः) सर्व धर्मोंसे मोक्षकी आशाको त्यागकर एक शरणागतियोगद्वारा ही उसे प्राप्त करनेकी आशा करो।'

इस शरणागतियोगको हमारे पूर्व महर्षियोंने वैडालीवृत्ति कहा है। जिस तरह बिल्लीका बच्चा स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं करता, उसकी माता ही उसे जहाँ चाहती है मुखमें दबाकर ले जाती है, बच्चा कुछ भी परवा नहीं करता कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, क्या होगा, किसलिये माता लिये जाती है, इत्यादि, उसी तरह प्रपन्न (शरणागत)-को स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं रहती, किन्तु अपने सर्व कर्तव्योंकी आशाको त्यागकर भगवान्‌को ही अपना उपाय समझता है और उन्हींको उपेय भी जानता है। निर्भय होकर **'विनायकानीकपमूर्धसु'** (भागवत) विचरता है, उसे किसीसे भी भय नहीं रहता।

श्रीभगवत्स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—

'नृषु तव मायया..........................अभवच्छरणेषु भयम्'

(श्रीमद्भागवत)

'जो आपकी शरणमें नहीं हैं उन्हींको भय होता है।'

एवम्भूत भगवत्प्राप्तिका जो योग बतलाया गया है, वह भी भगवत्कृपासाध्य है। जब प्रभु अनादिकाल-दुर्वासनावासितान्तःकरण जीवके ऊपर निर्हेतुक स्व-स्वरूपानुरूपा कृपा करते हैं तभी इस शरणागतियोगमें प्रीति तथा विश्वास होता है; और ज्यों ही जीवको इस शरणागतियोगमें प्रीति वा विश्वास हुआ, बस, त्यों ही प्रभु उस जीवके सर्वापराधोंको भुलाकर स्वसान्निध्य प्रदान कर देते हैं। भगवत्प्राप्तिसाधनीभूत शरणागतियोगके लिये भगवत्कृपातिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं है, केवल उनकी कृपा ही उपाय है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस ७। ४३। ३)

भगवती श्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूᳪ स्वाम्॥
(कठोपनिषद्)

अतः एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा करना चाहिये। उन्हींको अपना भर्ता, त्राता, उद्धर्ता समझना चाहिये। वही एकमात्र शरण्य और सर्वभावेन वरेण्य हैं। उनके सिवा और कोई भी दुःखसागरसे पार करनेवाला नहीं है, और शरणागतियोगके अतिरिक्त कोई सरल, सर्वजन-सुलभ साधन भी नहीं है जिसके द्वारा हम उसके पार हो सकें।

अतः **'रक्षिष्यतीति'** विश्वासपूर्वक भगवच्छरणागति करनी चाहिये। तभी कल्याण प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके अनेक ज्वलन्त दृष्टान्त पुराणोंमें मिलते हैं। द्रौपदी, गजेन्द्र आदिको जबतक स्वपुरुषार्थका लेशमात्र भी अभिमान रहा तबतक भगवान्‌ने रक्षा नहीं की; और जब भगवान्‌को ही अपना रक्षक-पोषक समझा और अनन्यभावसे पुकारा, तब आपने तुरन्त रक्षा की, क्षणमात्र भी देर न लगायी। अनन्यभावसे शरणागत होनेकी ही देर है, फिर जीवको किसी प्रकारका दुःख नहीं रह जाता। वह सुखस्वरूप हो जाता है, उसका अन्तःकरण स्वच्छ दर्पणकी तरह निर्मल हो जाता है। अन्तःकरणनैर्मल्य हो जानेपर शरणागत जीव जैसी-जैसी भावनाएँ, जैसी-जैसी कामनाएँ भगवदिच्छानुकूल है वे शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो जाती हैं—

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुपतिष्ठन्ति। (छान्दोग्योपनिषद्)

जो सुख अन्यान्य योगोंसे बड़े कष्टसे प्राप्त होता है वही शरणागतियोगसे अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

योग

(लेखक—एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा)

योग क्या है?

'योग' शब्द 'युज्' धातुके बाद करण और भाववाच्यमें घञ् प्रत्यय लगानेसे बनता है। 'युज्' धातुका अर्थ है समाधि। अतएव 'योग' शब्दका वास्तविक अर्थ समझनेके लिये 'समाधि' शब्दका भी वास्तविक अर्थ समझनेकी थोड़ी चेष्टा करनी होगी। 'समाधि' शब्दका अर्थ है सम्यक् प्रकारसे भगवान्‌के साथ युक्त हो जाना, मिल जाना; जीवका कामना, वासना, आसक्ति, संस्कार आदि सब प्रकारकी आगन्तुक मलिनताको दूरकर, स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर, मुख्य भावसे भगवान्‌में मिल जाना। गौणभावसे भगवान्‌से युक्त होनेका सहज सुन्दर स्वाभाविक उपाय भी 'समाधि' शब्दके अन्तर्गत है। 'योग' शब्दके अन्दर भी हम इन्हीं दो तत्त्वोंको निहित देखते हैं। 'योग' शब्दका अर्थ है जीव और ब्रह्मका पूर्णरूपसे मिलन अर्थात् विजातीय, स्वजातीय एवं स्वगतभेदसे रहित होकर जीव और ब्रह्मका एकत्व प्राप्त कर लेना—भगवान्‌के साथ, भगवद्विधानके साथ सम्पूर्णरूपमें ताल-तालपर मिल जाना, एक हो जाना, जिस अवस्थामें भगवान्‌के अस्तित्वके सिवा हमारा पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जायगा, भगवान्‌की इच्छा पूरी करनेके अतिरिक्त हमारे जीवनमें दूसरा कोई काम ही नहीं रह जायगा। एक शब्दमें—जिस अवस्थामें भगवान्‌की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने-आप हमारी वाणी, भाव और कार्यके द्वारा पूर्णरूपसे प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसीका नाम योग है। इसी अवस्थाको लक्ष्य करके मनुष्यको भगवान्‌का अवतार कहा जाता है।

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

—इत्यादि वाक्य इसी भावको प्रकट करते हैं। वास्तविक योगकी अवस्थामें क्या हो जाता है, यह समझना भी कठिन है। इसी बातको लक्ष्य करके कहा गया है—

योगवियोगै रहितो योगी
भोगविभोगै रहितो भोगी।

एवं चरति हि मन्दं मन्दं
मनसाकल्पितसहजानन्दम् ॥

इसी योगकी अवस्थाकी ओर लक्ष्य करके महर्षि अष्टावक्रने अपने प्रिय शिष्य राजर्षि जनकसे एक दिन कहा था कि वास्तविक योगी संसारमें दुर्लभ हैं—

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी विरलो हि महाशयः॥

इस योगकी अवस्था समस्त द्वन्द्वभावोंके ऊपर गुणातीत, उदासीन अवस्थामें स्थित है। मिलन या योगके दो प्रकार देखे जाते हैं। एक मिलन है अपने अस्तित्वको पूर्णतया खो देना, जैसा कि शङ्करके विशुद्धाद्वैतवादका मत है; दूसरा मिलन है अपने पृथक्-पृथक् स्वरूपको, स्वगत भावको कुछ अंशमें बचा रखना—जैसा कि रामानुजके विशिष्टाद्वैतवादका मत है। यहाँपर 'योग' शब्द '**युज्**' धातुसे भाववाच्यमें प्रत्यय लगानेसे सिद्ध हुआ है, जैसे '**ज्ञायते यत् तत् ज्ञानम्**'। यहाँ ज्ञान भगवान्‌के चित्स्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं। इसके बाद जिसके द्वारा यह मिलन साधित होता है, मिलनके उस सहज-सुन्दर-स्वाभाविक उपायको भी 'योग' शब्दके द्वारा निर्देश किया जाता है। यहाँपर चित्तकी वृत्तिका निरोध करना, चित्तको वृत्तिशून्य करना और चित्तवृत्तिनिरोधके लिये जो कुछ किया जाता है वह सब 'योग' शब्दके अन्तर्गत है। जैसे '**ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्**', इस प्रकार करणवाच्यसे 'ज्ञान' शब्द सिद्ध करके गीताकारने '**अमानित्वमदम्भित्वम्**' आदि ज्ञानके साधनभूत अङ्गोंको भी 'ज्ञान' शब्दके अन्तर्गत माना है, इसी तरह '**युज्यते अनेन इति**' करणवाच्यसाधित 'योग' शब्दके द्वारा आसन, प्राणायाम आदि अष्टाङ्गयोगप्रणालीको भी योगके, भगवान्‌के साथ युक्त होनेके, सहायकरूपमें 'योग' शब्दके अन्तर्गत रखा गया है। अतएव 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ है भाववाच्यमें साधित भगवत्-मिलन, और गौण अर्थ है करणवाच्यमें साधित भगवान्‌के साथ मिलनेके लिये आवश्यक समस्त साधनप्रणाली। किसी भी कार्य-साधनकी सहज, सुन्दर और स्वाभाविक प्रणाली 'योग' शब्दके अन्तर्गत मानी जा सकती है। सभी कार्य योग हैं, सभी काम मनोयोगके ऊपर निर्भर करते हैं। चित्तकी एकाग्रताके बिना कोई भी काम सुन्दरताके साथ सम्पन्न नहीं हो सकता।

योगके विभिन्न अर्थ

अब हम देखें कि वर्तमान समयमें 'योग' शब्द किन-किन अर्थोंमें व्यवहृत होता है—

(१) जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्णरूपमें मिलन—अद्वैतानुभूति-योग।

(२) देहात्मबुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना योग है—जैसे '**योगेनान्ते तनुत्यजाम्।**'

(३) योगका अर्थ है—योगदर्शन, पतञ्जलिका योगदर्शन नामक ग्रन्थ, जिसका उद्देश्य है जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्ण मिलन कराकर कैवल्य-प्राप्तिमें सहायक होना।

(४) पातञ्जलमतानुसार चित्तवृत्तिका निरोध करके स्वरूपप्रतिष्ठ होना योग है। '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**'

(५) सांख्यमतानुसार पुरुष-प्रकृतिका पृथक्त्व स्थापितकर, दोनोंका वियोग करके पुरुषका स्वरूपमें स्थित होना योग है; '**पुंप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।**'

(६) सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होकर समत्व प्राप्त करना भी योग नामसे अभिहित होता है। जैसे गीतामें कहा है—'**समत्वं योग उच्यते।**'

भक्त प्रह्लादने—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत समत्वमाराधनमच्युतस्य।

—इस 'आराधना' शब्दके द्वारा भी योगकी वास्तविक अवस्थाको सूचित किया है।

(७) कर्म बन्धन न कर सकें, इस प्रकारसे कर्मके प्रति उदासीन भावको धारणकर मुक्तावस्थाको प्राप्त करनेके उपायको भी योग कहते हैं। जैसे गीतामें कहा है—'**योगः कर्मसु कौशलम्।**'

(८) दो विभिन्न पदार्थोंका अपने-अपने स्वरूपको खोकर एक अद्भुत पदार्थमें परिणत होनेका नाम भी योग (Chemical combination) है। जैसे हाइड्रोजन (अम्लजान) और आक्सिजन (यवक्षारजान) मिलकर जलके रूपमें परिणत हो जाते हैं।

इसी प्रकार अपने-अपने पार्थक्यको बनाये रखकर दो द्रव्योंका मिलन भी योग है। जैसे काठका काठके साथ, लोहेका लोहेके साथ मिलना भी योग है।

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।
(शकुन्तला ७।१२)

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः
सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
(रघुवंश ३। २६)

कथायोगेन बुध्यते। (हितोपदेश)

(९) योगफल— Consequence, result.

रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
(शकुन्तला २। १४)

(१०) वैयाकरणिक योग—शब्दके बाद धातु-प्रत्ययगत अर्थ, यौगिक (रूढ़ नहीं) अर्थ— Etymological meaning प्रकट करना।

(११) गणितशास्त्रोक्त योग—जोड़, Addition.

(१२) कर्मका कौशलरूप योग—इस शब्दके विकृत भावसे मारण, उच्चाटन, वशीकरण, जादू, इन्द्रजाल आदि विद्याओंको भी 'योग-विद्या' नाम दे दिया गया है। अलौकिक ढंगसे रोगनिवारण (Remedy, cure) आदि, यहाँतक कि बुरी नीयत, विश्वासघात आदि उद्देश्यपूर्तिके घृणित उपाय भी आजकल 'योग' शब्दके अन्तर्गत आ गये हैं।

योगके अलौकिक प्रभाव—अलौकिक आविष्कार

(१) योगियोंने योगबलसे मन स्थिर करके, देहके भीतर कहाँपर क्या है, यह सब जानकर, मानसिक अवस्थाओंका पूर्णरूपसे विचार कर यन्त्र, तन्त्र और मन्त्रोंके रहस्यका आविष्कार किया है। उनके मतानुसार हर एक चक्रमें, हर एक स्नायविक केन्द्रमें एक-एक प्रकारकी अलौकिक शक्ति निहित है। उन निद्रिता शक्तियोंको प्राणवायु और ध्यानकी सहायतासे जागृत करके साधक दूरदर्शन, दूरश्रवण, परिचित्तविज्ञान, परकायप्रवेश, आकाशारोहण, योगबलसे देहत्याग आदि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है।

(२) योगी सर्प, मेढक आदि जन्तुओंसे आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि योगाङ्गोंको सीखकर अपने स्वास्थ्य और आयुकी वृद्धि करनेमें समर्थ हुए थे। प्राचीन ऋषियोंकी, ईसा आदि महात्माओंकी योगबलसे रोगियोंके रोग दूर करनेकी बात प्रसिद्ध ही है। भूकैलासमें एक बार मिट्टीके नीचेसे तीन योगियोंके शरीर निकले थे, जिसे बहुत लोग जानते हैं। महाराज रणजीतसिंहके समयमें हरिदास साधुकी योगविभूतिको देखकर बहुत-से लोग विस्मित हुए थे।

(३) योगी पञ्चभूतोंके ऊपर प्रभुत्व प्राप्तकर कैसे-कैसे अलौकिक कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, इसका विशेष विवरण पातञ्जलदर्शनके विभूतिपादमें पाया जाता है। आजकल भी देखा जाता है कि योगी पुरुष देहके विभिन्न अङ्गोंमें चित्त स्थिर करके और प्राणवायुका सञ्चार करके कैसे-कैसे अलौकिक कार्य सम्पन्न करते हैं। मन्त्र, औषध और समाधिजनित सिद्धि देखकर वर्तमान समयके वैज्ञानिक भी समय-समयपर विस्मित हो जाते हैं। मेस्मर साहबद्वारा आविष्कृत मेस्मेरिज्म (वशीकरण-विद्या) और हिप् नॉटिज्म प्रभृति विद्याएँ वर्तमान युगके अनेक शिक्षित लोगोंका चित्त आकर्षित करती हैं। इन सब विद्याओंको हम प्राचीन योगियोंकी मारण, उच्चाटन और वशीकरणविद्याके अन्तर्गत ही समझते हैं।

(४) योगबलसे साधक ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वभाव दूरकर, जितेन्द्रिय, शान्तचित्त आत्मदर्शी होकर किस प्रकार पृथिवीपर शान्तिराज्य स्थापित करनेमें सहायक हुए थे, इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं शङ्कर, ईसामसीह, बुद्ध इत्यादि। ये लोग आत्मतत्त्वको जानकर, सुख-दुःखसे अतीत होकर, निर्वाण प्राप्तकर अमर हो गये हैं और मनुष्यजातिके लिये वास्तविक शान्ति, मुक्ति और आनन्दका पथ बहुत कुछ सुलभ बना गये हैं। संसारमें जितना कुछ सारतत्त्वका आविष्कार हुआ है, उसका अधिकांश योगबलसे ही हुआ है। हम यहाँपर 'योग' शब्दको केवल भारतकी साधन-प्रणालीविशेषसे सीमाबद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास नहीं करेंगे। समस्त वैज्ञानिक और दार्शनिक आविष्कार योगके एकाग्रतासाधनके ही फल हैं।

जो लोग योगतत्त्वके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे पातञ्जलदर्शन, योगियाज्ञवल्क्य, पवनविजयस्वरोदय, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता आदि ग्रन्थ पाठ करें अथवा सच्चे योगियोंका संग प्राप्त करनेकी चेष्टा करें।

योगके प्रकारभेद

विभिन्न साधकोंकी रुचि और अभिज्ञताके अनुसार योगकी साधन-प्रणालीको विभिन्न भागोंमें विभक्त किया गया है। गीताकार और वर्तमान महापुरुषोंने योगको

साधारणतः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग, इन तीन भागोंमें विभक्त किया है। योगके प्राचीन ग्रन्थोंमें हम हठयोग, लययोग और राजयोग, ये तीन प्रकारके भेद देखते हैं। इनमें हठयोगी नेति, धौति, वस्ति, कपालभाति, आसन, मुद्रा, त्राटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओंकी ओर विशेष दृष्टि रखकर देहको स्वस्थ, बलिष्ठ और कार्यशील बनानेकी विशेष चेष्टा करते हैं। लययोगी समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा सङ्कल्प-विकल्पके जालसे मुक्त होकर, चित्तको वृत्तिशून्य बनाकर शान्त-अवस्था प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि नित्यसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व शुद्ध, शान्त चित्तमें स्वयं स्फुरित होता है। राजयोगी देहतत्त्व और मनस्तत्त्व तथा आत्मतत्त्वको सम्यक्-रूपसे जानकर स्वरूपप्रतिष्ठ, '**स्वे महिम्नि अवस्थितः**' होकर इस देहराज्यके' जगत्-ब्रह्माण्डके मालिक होकर, अन्तरिन्द्रिय, बहिरिन्द्रिय और देहके ऊपर अधिकार प्राप्त करके, इन सब यन्त्रोंको अपने-अपने कार्यमें, भगवदिच्छा पूरी करनेमें नियुक्तकर मुक्त राजाके समान विराजमान होते हैं। कोई-कोई साधक इस हठयोग, लययोग और राजयोगको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके ही अन्तर्गत समझते हैं। आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि अष्टाङ्गयोग एवं मन्त्रयोग, जपयोग आदि यावत् योगप्रणाली इस त्रिविध योगके अन्तर्गत है। प्राचीन समयमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका अत्यन्त सुन्दर सामञ्जस्य करनेके कारण जनक, याज्ञवल्क्य प्रभृति राजर्षि और ऋषि-मुनि विशेषरूपसे प्रसिद्ध हो गये हैं। शिवका योगसाधनके प्रवर्त्तक योगीश्वर और श्रीकृष्णका योगेश्वरेश्वरके रूपमें वर्णन किया गया है।

गीतादि ग्रन्थोंमें योगको कर्मकी कुशलता कहा गया है। जिस उपायसे कर्म (इष्ट) सहज, सुन्दर, स्वाभाविक रूपमें सिद्ध हो सके, अथ च बन्धनका कारण न हो उसीका नाम योग है ('**योगः कर्मसु कौशलम्**'—गीता)। प्राचीन कालमें ऋषिकुमार यज्ञके लिये कुश बटोरकर लानेको जाया करते थे। उनमें तीन श्रेणीके लोग होते थे। एक श्रेणीके बालक इस प्रकार सावधानीके साथ कुश उखाड़ते कि कुश उखड़ भी आता और उनका हाथ भी न कटता; दूसरी श्रेणीके बालक कुश उखाड़ते समय अपना हाथ काट लेते और तीसरी श्रेणीके बालक हाथ कटनेके भयसे अपने अन्य साथियोंसे कुश माँगकर अपना काम चला लेते। '**कुशं लाति इति कुशलः**' जो कुश भी ले आते हैं और हाथ भी नहीं काटते, जो संसारके सब कार्य करते हैं, परन्तु मायामें आबद्ध नहीं होते वे ही कुशल हैं और उनके इस भावको ही कौशल या योग कहते हैं। इस कुश एकत्र करनेकी प्रणालीको संसारके कर्मकाण्डके प्रतीकके रूपमें लिया जा सकता है। जो लोग संसारमें अनासक्त, निर्लिप्त रहकर, फलाकांक्षारहित हो संसारके सब कर्म सम्पादित कर सकते हैं, वे ही योगी हैं। जो लोग संसारमें कर्म करते हुए संसारकी चोटोंसे घायल हो जाते हैं, वे घोर संसारी हैं, और जो संसारको दुःख, कष्ट, बन्धनका कारण समझकर संसारसे बहुत दूर रहते हैं और दूसरोंके कर्मफलके ऊपर निर्भर करते हैं, वे साधारण भिक्षुक या संन्यासी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। कहना नहीं होगा कि यहाँपर गीतोक्त संन्यासीकी बात न कहकर साधारण वेशधारी संन्यासियोंकी ओर ही लक्ष्य रखा गया है।

'योग' शब्दका दुरुपयोग

'कर्मकी निपुणता योग है', इस भावसे 'योग' शब्द कितने प्रकारसे देश और भाव-राज्यके पतनके साथ-साथ नीचे गिर गया है, और कितने विकृत अर्थमें अब इसका प्रयोग होने लगा है, यह भी यहाँपर विचारणीय है। वर्तमान समयमें ऐन्द्रजालिक कौशल (magic) आदि भी योगका अङ्ग समझा जाता है। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदिकी ओर ही आजकलके योगियोंका विशेष ध्यान रहता है। किसी प्रकारकी कोई अस्वाभाविक क्रिया दिखा देनेवालोंको ही आजकल सब लोग योगी समझ लेते हैं, उनकी भक्ति करने लगते हैं और ठगाते हैं। ताबीज, कवच आदिके द्वारा जो लोगोंके कर्मफलका खण्डन करनेकी हिमाकत रखते हैं, जो वन्ध्याको पुत्रप्राप्तिके लिये दवा देते हैं और रोगियोंका रोग दूर करनेकी बात करते हैं, वे भी आजकल योगी कहे जाते हैं और पूजित होते हैं। प्राचीन कालमें जिनके हाथ ऊँचे रहकर भगवत्-कार्य करनेमें ही लगे रहते वे ही ऊर्ध्वबाहु होते थे। आजकल जो लोग भगवदुद्देश्यकी अवहेलना करके, प्राकृतिक नियमोंका उल्लंघन करके, दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर उन्हें परवश कर रखते हैं वे ही ऊर्ध्वबाहु

योगी माने जाते हैं। प्राचीन समयमें योगी ध्यान,, धारणा, समाधिमें इतने तन्मय हो जाया करते कि शरीरकी ओर उनका ध्यान ही न जाता, उनके बालोंमें जटाएँ बँध जातीं, शरीरपर धूल-मिट्टी आकर जम जाती। आकुल उसकी जगह बड़के दूध इत्यादिसे ताबड़तोड़ जटा बना ली जाती है और शरीरमें मिट्टी-राख आदि मलकर योगीका स्वाँग बना लिया जाता है और भोले लोग भी यह देखकर वशीभूत हो जाते हैं। बड़े-बड़े शहरोंमें घरके मालिक जब ऑफिसमें या बाजार चले जाते हैं, तब न मालूम कितने पाखण्डी धूर्त योगीकी पोशाक, गेरुआ वस्त्र, विभूति आदि धारणकर गृहस्थोंके घरोंमें जाकर भोली स्त्रियोंपर अपना प्रभाव जमाकर छल, बल, कौशलसे कितने प्रकारसे धन ठगते हैं, इस बातका खयाल आते ही मर्माहत होना पड़ता है। आजकल ऐसे धूर्त योगियोंकी संख्या और प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी है कि इनके कारण वास्तविक योगियोंने लोकालय और प्रसिद्ध तीर्थ आदिसे बहुत दूर जाकर रहना आरम्भ कर दिया है और गृहस्थ नकली योगियोंद्वारा ठगे जा रहे हैं। आजकल अणिमा-लघिमादि अष्ट सिद्धियोंका प्रभाव कहीं नहीं दिखायी देता। सिद्धि आजकल दूकानोंमें भाँग और गाँजा आदिमें सीमाबद्ध होकर नशेबाजीको बढ़ा रही है। भीतरसे भगवत्प्राप्तिजनित ब्रह्मानन्दके नशेमें विभोर न होकर आजके बने हुए योगी मदिरा, गाँजा, भाँग आदि नशैली चीजोंको साधनका अङ्ग कहकर उनका प्रचार करते हैं। यहाँतक कि देवादिदेव महादेवके हाथोंमें भी उन्होंने सङ्कोच छोड़कर अणिमादि अष्ट सिद्धियोंके बदले भंगका प्याला और गाँजेकी चिलम दे दी है।

यथार्थ योगके प्रचारकी आवश्यकता

देश और भावके पतनके साथ-ही-साथ सभी बातोंमें स्वाभाविक ही कुछ-न-कुछ विकृति आ गयी है। वर्तमान समयमें आवश्यकता है उसके उचित संशोधनकी। योगादि साधन-प्रणालीके अन्दर जब बहुत-से सुन्दर-सुन्दर तत्त्व निहित हैं, उसकी सहायतासे जब स्वास्थ्य-प्राप्ति, एकाग्रताशान्ति-आनन्द-प्राप्ति, उन्नति-प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्राप्ति, जीवका कल्याण-साधन सहज, सुन्दर और स्वाभाविकरूपमें सुसाधित होनेकी सम्भावना है, तब इस योगसाधनप्रणालीका संशोधन करने, इसकी उन्नतिका उपाय करने, इसकी शिक्षा देने तथा सर्वसाधारणके सामने योगके उदार मत, भाव और कालका एक उच्च आदर्श रखनेकी विशेष आवश्यकता है। यह सर्वसाधारणको समझा देना होगा कि वास्तविक योग क्या है, वह कितने रूपोंमें विभक्त है, उसकी साधन-प्रणाली क्या है, किस तरह संसारके जीवोंके हितसाधनमें, उन्हें आनन्द प्रदान करनेमें इसका प्रयोग किया जा सकता है। कर्मयोगी किस प्रकार कर्मके रहस्यको समझकर, अनासक्त, निष्काम, फलाकांक्षासे रहित होकर केवल भगवत्-प्रीतिके लिये जीवोंका कल्याण करनेमें भगवद्बुद्धि रखकर कर्म किया करते हैं, यह सुन्दररूपमें समझा देना होगा। ज्ञानयोगी इन्द्रियोंको संयत करके, चित्तको शुद्ध और शान्त करके, स्वरूपप्रतिष्ठ, आत्मभावमें स्थित होकर किस प्रकार समाधियोगके द्वारा परमात्मामें तन्मय हुए रहते हैं, यह भी समझ लेना होगा।

सच्चे योगियोंकी स्थिति

योगीगण देह, मन, प्राणको शुद्ध और शान्त करके मूलाधारसे कुलकुण्डलिनीको जागृत करके, सब चक्रोंमें, सब केन्द्रोंमें छिपी हुई शक्तिको प्रबुद्ध करके, समस्त शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्यसे विभूषित होकर, सहस्रारमें स्थित सदाशिवसे, परमात्मासे युक्त होकर, तन्मयत्व प्राप्त करके, ज्योतिर्मय देहसे भगवान्के साथ किस प्रकार आनन्दसमाधिमें विभोर रहते हैं, जगत्का कल्याण करनेमें भगवान्की इच्छा पूरी करनेमें नियुक्त रहते हैं, यह तत्त्व अच्छी तरह समझ लेना होगा। भक्तियोगी प्रेमके साधक होते हैं; उनके भगवान् सब भूतोंमें विराजमान रहते हैं। समस्त जगत्, समस्त जीवदेह उनके प्रियतम श्रीभगवान्की मूर्ति या मन्दिर हैं। श्रीभगवान् प्रकृतिके सब तत्त्वोंमें, सब देहोंमें विराजित रहकर जीवके कर्म, ज्ञान और भक्तिके अन्दरसे अपना सच्चिदानन्दभाव प्रकट कर रहे हैं। वास्तविक साधक आँख, कान, नाक आदि बाहरी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त आदि भीतरी इन्द्रियोंके द्वारा अपने प्राणाराम श्रीभगवान्के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य आदिका अनुभव कर हृषीकेश-सेवारूप उत्तमा बुद्धिके साधनकी सहायतासे भगवत्-मिलनके आनन्दमें विभोर रहते हैं।

साधनराज्यके योगसाधनका सार-तत्त्व यही है कि

हमारे अन्दर भगवान्‌की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और आनन्द निहित है। हमारी कामना, वासना, आसक्ति; हमारी अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, हमारा स्वार्थ, आत्मसुखकी स्पृहा, अहंकार और प्रतिष्ठाका मोह आदि उस भगवत्-शक्तिके विकासमें बाधा पहुँचाते हैं। अतएव हम जितना ही इन सब बाधाओंसे मुक्त, शुद्ध, शान्त, पवित्र होंगे उतने ही भगवत्-भाव हमारे अन्दर प्रकाशित होंगे, हम साधनराज्यमें सिद्धि प्राप्त करेंगे। भगवान्‌के और हमारे बीचका यह काल्पनिक व्यवधान जितना ही दूर होगा उतना ही हम भगवान्‌के साथ युक्त होने और मिलनेकी योग्यता प्राप्त करेंगे। जहाँ इन सब उपाधियोंके प्रति आसक्ति, स्पृहा दृष्टिगोचर हो वहीं यह समझ लेना चाहिये कि साधक गलत रास्तेपर चल रहा है, उसका पतन और उसके द्वारा देशका अमङ्गल अवश्यम्भावी है। योगी थे भारतके प्राचीन ऋषि-मुनि, जो संयत, शुद्ध, शान्त और पवित्र होकर, भगवान्‌में तन्मयता प्राप्त करके जीवोंका कल्याण करनेमें तल्लीन रहा करते थे। वे लोग ममतारहित, अहंकाररहित थे; वे लोग प्रतिष्ठाको शूकरकी विष्ठाकी तरह त्याग देते थे। वे जगत्‌को ब्रह्ममय देखते थे; सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मानुभूति, ब्रह्मसेवा, जीवसेवा उनके जीवनकी प्रधान साधना थी। योगिनियाँ थीं वृन्दावनकी गोपियाँ—जिनकी आँखोंकी साधना थी सर्वत्र भगवद्दर्शन, कानोंकी साधना थी सब शब्दोंके भीतर श्रीभगवान्‌की वंशीध्वनि सुनना; उनका मन, प्राण सर्वदा भगवान्‌की सेवा और ध्यानमें डूबे रहते। इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रियाधीशकी अनुभूति और सेवा क्या चीज है, कर्म किस तरह भगवदाराधनामें पर्यवसित होता है, बातचीत किस प्रकार भगवद्गुण गानेमें, चलना किस प्रकार भगवत्प्रेममें नाचने और भगवान्‌के मन्दिरकी प्रदक्षिणामें, चिन्तन किस प्रकार ध्यानमें और समस्त जीवन किस प्रकार ब्रह्मानन्दकी अनुभूतिमें पर्यवसित होता है, गोपी-प्रेमके भीतर इसका आस्वाद करनेका सुयोग हम पाते हैं। उनकी देह, मन, प्राण, आत्मा सर्वदा श्रीभगवान्‌में, भगवान्‌के कार्य करनेमें युक्त रहा करते, अतएव हम प्रधान योगियोंके रूपमें उनकी भक्ति करनेके लिये बाध्य हैं। श्रीकृष्णको देखना, श्रीकृष्णका ध्यान करना और श्रीकृष्णकी सेवा करना ही उनकी प्रधान साधना थी। वे इस साधनामें तन्मयता प्राप्त करके सम्पूर्णरूपमें अपनेको भूलकर, 'इतर-राग-विस्मारक' कृष्णप्रेमार्णवमें निमग्न होकर, श्रीकृष्णमें तन्मयता प्राप्त कर श्रीकृष्णके साथ युक्त हो जातीं, मिल जातीं।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनमेतदेकपरत्वम्।

—इस भावकी साधना ही थी गोपियोंकी परम योगसाधना। वे थीं तन्मनस्का, तदात्मिका। वे अपनी देहके प्रत्येक तत्त्वमें अपने प्राणाराम श्रीकृष्णचन्द्रके साथ युक्त रहकर श्रीकृष्णमय हो जातीं। वे जगत्‌को कृष्णमय देखतीं।

'जित देखौं तित स्याममयी है।'

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्।

—रूपी योगकी सिद्धावस्था वे प्राप्त कर चुकी थीं। इसी योगके फलस्वरूप अष्ट सिद्धियाँ उनके चरणोंमें आकर लोटतीं तो भी वे सिद्धिको, भुक्ति-मुक्तिकी वासनाको बन्धनका कारण समझकर उनसे घृणा करतीं।

सांख्ययोगी

गीताका सांख्ययोगी, मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है (देखिये गीता ३। २८; ५। ८-९-१३; ६। ३१; १३। २९-३०; १४। १९-२०; १८। १७—४९ से ५५ आदि)।

अष्टाङ्गयोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकती। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अङ्गोंका साधन करना चाहिये, किन्तु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनुस्मृति ४।२०४)

'बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, केवल नियमोंका नहीं; जो यमोंका पालन न करके, केवल नियमोंको करता है वह साधनपथसे गिर जाता है।' इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर, अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एवं आत्माका साक्षात्कार भी, साधक जो चाहता है वही हो सकता है। परन्तु यम-नियमोंके पालन किये बिना, ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही, अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते हैं, किन्तु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार एवं प्राणायामविषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको, दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही, योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होनेपर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २।२९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।'

इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ हैं—१. बहिरङ्ग, २. अन्तरङ्ग। ऊपर बतलाये हुए आठ अङ्गोंमेंसे पहले पाँचको बहिरङ्ग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोंको 'संयम' भी कहा है—

त्रयमेकत्र संयमः। (३।४)

अब इन आठों अङ्गोंका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१. यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योगदर्शन २।३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँचोंका नाम यम है।'

(क) किसी भूतप्राणीको या अपनेको* भी मन, वाणी, शरीरद्वारा कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमें वैसा-का-वैसा ही प्रकट करनेका नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक)-को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले कामविकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोगसामग्रीका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी भी निमित्तसे इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

(योगदर्शन २।३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार हैं—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जङ्गम प्राणी, हिन्दू-मुसलमान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त)-गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२. नियम

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २।३२)

'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१. बाहरी और २. भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी; यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम सन्तोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा एवं व्रतादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीरद्वारा ईश्वरके लिये, ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं।

* स्वधर्मरक्षा, परोपकार, ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है; यहाँ केवल अशास्त्रीय, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।
(योगदर्शन २।३३)

'हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।'

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (योगदर्शन २।३४)

कृत, कारित और अनुमोदितभेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे, मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे, ये हिंसादि वितर्क अनन्त दुःख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं; इस प्रकारकी बारंबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका संग्रह, अपवित्रता और असन्तोषकी वृत्ति एवं तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानके विरोधकी वृत्ति, इनका नाम वितर्क है।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वयं करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह, ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष, तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण, नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढ़ता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष, मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है। लेखका विस्तार बढ़ जानेके सङ्कोचसे इनका स्वरूप बहुत ही संक्षेपमें कहा गया है।

यम-नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।
(योगदर्शन २।३५)

'अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसावृत्तिका त्याग कर देते हैं।'

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योगदर्शन २।३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (योगदर्शन २।३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योगदर्शन २।३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। (योगदर्शन २।३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका संयम होता है और मनःसंयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (योगदर्शन २।४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा और अन्य मनुष्योंके संसर्गका अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका संसर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।
(योगदर्शन २।४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २।४२)

सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (योगदर्शन २।४३)

तपसे मलदोष अर्थात् पापोंका नाश हो जानेपर, अणिमादि अष्ट कायाकी सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (यो० २।४४)

अपने इष्टदेवके नामका जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदिके पठन, पाठन, श्रवण, मनन-रूप स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो० २। ४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३. आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो; परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जिस आसनसे जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है।

स्थिरसुखमासनम्। (यो० २।४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। (यो० २।४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अर्थात् इनसे उपराम होनेपर अथवा अनन्त परमात्मामें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है। कम-से-कम एक पहर यानी तीन घंटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (यो० २। ४८)

उस आसनोंकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते।

४. प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है। असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (यो० २।४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है। बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। (यो० २।५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा)-के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले, ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है—आठ प्रणव (ॐ)-से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्तिप्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्तिप्राणायाम है।

बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है। अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है।

इनके और भी बहुत-से भेद हैं; जितनी संख्या और जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है। और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अंगुलतक 'बाहरी देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अंगुलतक बाहर फेंके; जो हृदयतक अन्दर खींचता है, वह बारह अंगुलतक बाहर फेंके; जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अंगुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अन्दर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अंगुल बाहरतक श्वास फेंके। इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण, इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकंड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकंड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकंड समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योगदर्शन २।५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

शब्द-स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें, प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं, तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (योगदर्शन २।५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः। (योगदर्शन २।५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५. प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन २।५४)

अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको ब्राह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है। क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने-आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। (योगदर्शन २।५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

६. धारणा

योगके आठ अङ्गोंमें पाँच बहिरंग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती है। यह योगका छठा अंग है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन ३।१)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७. ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३।२)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येय वस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८. समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० ३।३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान,

ध्येय, यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येय वस्तु ही रहती है; अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय, तीनोंकी एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है। और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें परिपक्वता होनेपर, अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है* और उस विवेकख्यातिसे अविद्याका नाश होकर, कैवल्यपदकी प्राप्ति याने आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

समाधिपर्यन्त अष्टाङ्गयोगका यह अर्थ प्रायः ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है। महर्षि पतञ्जलिके सूत्रोंपर अपने भावका यह विवेचन है। इनका असली तात्पर्य या तो महर्षि पतञ्जलि जानते हैं अथवा इसके अनुसार साधन करके जिन्होंने समाधि-अवस्था प्राप्त की है, वे कुछ जानते हैं। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

योगः कर्मसु कौशलम्

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम्० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी०)

'योग' के विषयको लोगोंने ऐसा जटिल बना और समझ रखा है कि इसका नाम ही भयङ्कर हो गया है। इसका कारण यह है कि इधर कुछ समयसे 'योग' पदसे लोग 'हठयोग'—केवल आसन-मुद्रादिको समझने लगे हैं। और आसन-मुद्रादि एक तो स्वयं जटिल विषय हैं, दूसरे इन शारीरिक क्रियाओंसे आध्यात्मिक लाभ क्या और कहाँतक हो सकता है सो भी समझना कठिन है। बात तो यों है कि अभ्यासात्मक योगके सर्वांग तत्त्वोंका समझना गुरुके बिना कठिन है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करनेसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'हठयोग' यद्यपि योगका अङ्ग अवश्य है पर तो भी है 'योग' का अङ्ग ही, स्वयं 'योग' नहीं, अर्थात् योगका साधनमात्र है, और सो भी प्रधान नहीं।

ऐसे 'अङ्ग' योगके आठ कहे गये हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। इनमें पहले पाँच योगके 'बाह्य अङ्ग' हैं, बाकी तीन 'अन्तरङ्ग' हैं (योगभाष्य ३। १)। ये तीन हैं धारणा, ध्यान, समाधि। ये ही तीन प्रधान हैं। कारण यह है कि ये ही तीन प्रक्रियाएँ हैं जिनका उपयोग सब कार्योंमें होता है। जिस किसी ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा हो उस ज्ञानके विषयमें जब ये तीनों लगायी जाती हैं तभी उचित ज्ञान प्राप्त होता है। जबतक ज्ञेय पदार्थपर मन एकाग्ररूपेण नहीं लगाया जाता तबतक उसका ज्ञान असम्भव है। इसलिये प्रथम सीढ़ी हुई यही एकाग्रता जिसे 'धारणा' कहा है (सू० ३। १)। इसके बाद मन जब लगातार बहुत कालतक इसी तरह एकाग्र रहे तो यह हुआ 'ध्यान' (सू० ३। २)। और जब मन इस ध्यानमें इस तरह मग्न हो गया कि उसका ध्येय पदार्थमें लय हो गया तो यही हुई 'समाधि' (सू० ३। ३)। किसी कार्यके सम्पन्न होनेमें इन तीनोंकी आवश्यकता होती है। यह केवल आध्यात्मिक अभ्यास या ज्ञानके ही लिये आवश्यक नहीं है, कार्यमात्रके लिये आवश्यक है। कोई भी कार्य हो, जबतक उसमें मन नहीं लगाया जाता, कार्य सिद्ध नहीं होता। इसी 'मन लगाने' को 'धारणा-ध्यानसमाधि' कहते हैं।

ये तीनों एक ही प्रक्रियाके अङ्ग हैं। इसीसे इन तीनोंका साधारण एक नाम 'संयम' कहा गया है (सू० ३। ४)। इसी 'संयम' (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि)-से ज्ञानकी शुद्धि होती है।

इन योगसूत्रोक्त उपदेशोंको जब हम मामूली कामोंमें

* योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। (योग० २। २८)

लगाते हैं और इनके द्वारा सफलता प्राप्त करते हैं तब हमको मानना पड़ता है कि 'योग' का सबसे उत्कृष्ट और उपयोगी लक्षण जो श्रीभगवान्ने कहा है वही है—

'योगः कर्मसु कौशलम्'।

इस 'योग' के अभ्यासके लिये प्रत्येक मनुष्य सदा तैयार रहता है। 'गुरु' मिलें तब तो योगाभ्यास करें—ऐसे आलस्यके साधन सभी निर्मूल हैं। यों कोई कर्तव्य सामने आ जाय उसमें संयम (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि)-पूर्वक लग जाना ही 'योग' है। इसमें यदि कोईकी स्वार्थ-कामना हुई तो यह योग अधम श्रेणीका हुआ, और यदि निष्काम है—'कर्तव्य'-बुद्धिसे किया गया है और फल जो कुछ हो सो ईश्वरको अर्पित है तो यही 'योग' उच्च कोटिका हुआ। जब अपने सभी काम इसी रीतिसे किये जाते हैं तो वही आदमी जीवन्मुक्त कहलाता है।

कैसा सुगम मार्ग है, लोगोंने दुर्गम बना रखा है। पर मनका 'लाग' चाहिये—तत्परता, तन्मयता। कठिन नहीं है—दूसरे किसीकी आवश्यकता नहीं है—अपने हाथका खेल है। पर श्रद्धा और साहस चाहिये।

इसमें शास्त्रार्थ या तर्क-वितर्ककी जरूरत नहीं है। इसको कोई भी आदमी किसी सामान्य कार्यके प्रति इस प्रक्रियाकी परीक्षा करके स्वयं देख सकता है। पर आदिमें श्रद्धा और आगे चलकर साहसकी अपेक्षा होगी, जिससे प्रक्रिया अपनी चरम कोटितक पहुँच जाय।

राजयोग

(लेखक—डॉ० श्रीबालकृष्णजी कौल)

'कल्याण' के सर्वस्व श्रीपोद्दारजीका बड़ा आग्रह है कि 'कल्याण' के 'योगाङ्क' के लिये, योगसम्बन्धी किसी विषयपर मैं भी कुछ अवश्य लिखूँ। पर मैं क्या लिखूँ, इसका निर्णय करना कुछ कठिन-सा प्रतीत हो रहा है—केवल विषयकी गम्भीरता और व्यापकताके ही कारण नहीं, इसलिये भी कि 'योग' पर हमारे ऋषि-महर्षियोंने इतना अधिक कह दिया है कि अब, मेरे-जैसे साधारण जनके लिये, उसपर कुछ कहनेको रह ही नहीं गया है। हमारा योगशास्त्र बहुत ही विस्तृत है। गीताके छठे अध्यायमें मुख्यतः 'योग' की ही व्याख्या की गयी है। गौडपादाचार्यने 'माण्डूक्योपनिषद्' में इस विषयका विश्लेषणात्मक विवेचन बड़े विस्तारके साथ किया है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि महर्षि पतञ्जलिके गम्भीर सूत्रों तथा उनके ऊपर दिये गये 'व्यासभाष्य' के अनन्तर कोई ऐसी बात ही नहीं जिसे हम नवीनताकी संज्ञा देकर जनताके समक्ष उपस्थित कर सकें। अतएव, 'कल्याण' के प्रेमवश, तथा श्रीपोद्दारजीके आग्रहका पालन करते हुए, मैं यहाँ जो कुछ कहूँगा वह अपने इन्हीं पूर्वपुरुषोंसे उधार माँगकर—अपनी ओरसे कुछ नहीं। मेरा यह छोटा-सा निबन्ध 'योगाङ्क' के पाठक तथा पाठिकाओंको आर्यजातिके एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विषयका स्मरणमात्र करा सकेगा—इतना भी यह कर सका तो मैं अपनेको कृतार्थ समझूँगा।

'योग' के सम्बन्धमें किसी भी प्रकारकी चर्चा चलानेके पूर्व यह जान लेना नितान्त आवश्यक समझा जाना चाहिये कि इसके वास्तविक अधिकारी कौन हो सकते हैं। जीवनकी किसी भी अवस्थामें, किसी भी स्थितिमें, वे लोग तो इसके ('योग' के) अधिकारी हो ही नहीं सकते जिनमें 'निर्वेद'-भावनाकी अनुपस्थिति है—जो निर्वेदरहित हैं। जिनमें निर्वेद-भावना नहीं, वे मुमुक्षु नहीं हो सकते, और जो मुमुक्षु नहीं उनके लिये 'योगशास्त्र' किसी प्रकारके जीवन-साधनका कार्य नहीं कर सकता; क्योंकि 'योग' एकमात्र 'मोक्ष' का ही साधन है।

योगारूढ होनेपर पहला काम होता है 'साधनचतुष्टय' से सम्पन्न होना—इसके बिना कार्यसिद्धि नहीं हो सकती।

'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न होनेमें विलम्ब लगता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

ऐसा भी होता है कि पूर्वजन्ममें जो जितनी ही

अधिक मात्रामें 'साधनचतुष्टय' सम्पन्न हो चुके होते हैं, इस जन्ममें उन्हें उतना ही कम समय लगता है। ये 'साधनचतुष्टय' चित्तशुद्धिके विधायक हैं। जैसे-जैसे इनका परिपाक होता जाता है वैसे-ही-वैसे, चित्तशुद्धिद्वारा योगाभ्यासमें सिद्धि बढ़ती जाती है। अतः जो सम्पूर्णरूपसे 'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न हो जाते हैं, वे ही 'ज्ञान'के अधिकारी होते हैं और फिर 'ज्ञान' से 'कैवल्य' को प्राप्त होते हैं।

योग, चाहे वह किसी भी प्रकारका हो, चित्तवृत्तिके निरोधसे ही सम्बन्ध रखता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

साधारण अवस्थामें चित्तवृत्ति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। किन्तु समाधि-अवस्थामें चित्तवृत्ति एकाकार हो जाती है। चित्तवृत्ति बदलते रहनेके दो मुख्य कारण हैं। पहला तो यह कि यह मन, इन्द्रियोंद्वारा बहिर्मुख होकर, बाह्य विषयोंमें आसक्त रहता है। दूसरे, यदि इन्द्रियोंको बन्द करके, मनको बाह्य विषयोंसे खींच भी लिया जाय तो भी अन्तःकरणकी क्रियाएँ बन्द नहीं हो जातीं—वे बराबर चलती ही रहती हैं। जैसे जाग्रदवस्थामें तो मन बहिर्मुख-सा व्यवहार किया ही करता है; पर शब्दादिसे दूर, किसी बन्द कमरेमें, आँखें बन्द करके बैठ जानेपर भी साधारण जनका—और स्वप्नावस्थामें सभी प्राणियोंका—अन्तःकरण जाग्रदवस्थाके समान ही सब क्रियाएँ करता रहता है। योगाभ्यासियोंको अन्तःकरणकी पूरी अनुशासना करनी पड़ती है—चित्तकी वृत्तियोंका संयम करना पड़ता है। इन दोनों ही अवस्थाओं (जाग्रत् और स्वप्न)-में चित्तकी वृत्तियोंपर सम्यक् नियन्त्रण रखनेमें सफलता प्राप्त होनेपर ही 'मन' का निरोध सम्भव है।

पर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध किया कैसे जाय? इसके दो प्रकार हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि 'मन' का और 'प्राण' का पारस्परिक सम्बन्ध अटूट है, अविच्छेद्य है। 'मन' के निरोधसे 'प्राण-स्पन्द' रुक जाता है और 'प्राण-स्पन्द' की शिथिलता 'मन' को एकाग्र बना देती है। इसलिये, मनके निरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द' की गति-विधिपर सम्यक् अनुशासन रखना नितान्त आवश्यक है। 'प्राण-स्पन्द' का सम्बन्ध श्वास-निःश्वाससे है; अर्थात् जितनी ही तीव्रतासे साँस चलेगी, 'प्राण-स्पन्द' में भी उतनी ही अधिक गतिशीलता आवेगी और साँस जितनी ही धीरे-धीरे चलेगी, 'प्राण-स्पन्द' में भी उतनी ही अधिक शिथिलता आवेगी। अतएव मनोनिरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द' को वशीभूत करना पड़ता है और इसके लिये 'अष्टाङ्गयोग-साधना' से और उनमें भी विशेषकर प्राणायामसे काम लेना पड़ता है। 'अष्टाङ्गयोगसाधना'से 'प्राण-स्पन्द' रुक जाता है और उसी अवस्थामें मनका निरोध होता है। यह मनोनिरोधकी एक विधि है।

मनोनिरोधका दूसरा उपाय यह है कि 'मन' को विवेक और वैराग्यद्वारा बाह्य विषयोंसे हटानेका अभ्यास किया जाय। प्रवृत्ति-भावनासे अलग होकर निवृत्तिभावनाको सुदृढ़ बनानेका यह अभ्यास जब पक्का हो जाता है, तब मनका निरोध होता है। इसके लिये शास्त्रोंके श्रवण और मननकी आवश्यकता अपरिहार्य है। जितना ही शास्त्रका श्रवण और मनन अधिक होगा उतना ही शीघ्र 'वस्तु' के वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होगा और फलतः, उतनी ही सत्वरता तथा दृढ़तासे, उक्त प्रक्रियाद्वारा, 'मन' का निरोध होगा। इसीको 'राजयोग' कहते हैं।

मनोनिरोधकी जो दो प्रक्रियाएँ ऊपर बतायी गयी हैं, उन दोनोंका ही श्रद्धासहित और लगातार चिर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। इन दोनोंमेंसे चाहे जिस किसीसे काम लेना हो, उसका कठोर और सनियम अभ्यास करना चाहिये। कहा भी है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

अभ्यास नियमितरूपसे, नियत समयपर, यथासम्भव नियत स्थानमें नित्य किया जाना चाहिये। प्रारम्भमें अभ्यासका समय थोड़ा होना चाहिये और उसमें धीरे-धीरे वृद्धि की जानी चाहिये—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

अभ्यासके समयकी अवधि बढ़ाकर फिर घटायी नहीं जानी चाहिये। और सबसे बड़ी बात यह है कि अभ्यासीकी दिनचर्या नियमित होनी चाहिये—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

योगका विषय-परिचय

(लेखक—महामहोपाध्याय आचार्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

'कल्याण' पत्रके योगाङ्ककी विषय-सूची प्रकाशित हुई है। माननीय कल्याण-सम्पादक महाशयने मुझसे इस सूचीके परिचयके विषयमें 'कल्याण' के लिये कुछ लिख भेजनेका अनुरोध किया है। विषय-सूचीने इतना बड़ा आकार धारण कर लिया है कि उसके अन्दरके प्रत्येक विषयकी आलोचना करना मासिक पत्रके तुच्छ कलेवरके लिये सम्भव नहीं। अतएव व्यापक एवं सूक्ष्मरूपमें मैं सूचीकी आलोचना नहीं कर सकूँगा—यथासम्भव संक्षेपमें इस सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन करनेकी चेष्टा करूँगा।

प्राचीन भारतीय साहित्यमें 'योग' शब्द नाना प्रकारके व्यापक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होनेपर भी, मूलतः कुछ अंशमें सामञ्जस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्माके संयोगको योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपानके संयोग, चन्द्र और सूर्यके मिलन, शिव और शक्तिके सामरस्य, चित्तवृत्तिके निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे योगका लक्षण निश्चित किया जाय, मूलमें विशेष पार्थक्य नहीं है।

महायोग और पूर्णयोग

योगशिखा-उपनिषद्में वर्णन आया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं हैं। वही महायोगके नामसे साधकोंमें प्रसिद्ध है। अवस्था-भेदके अनुसार महायोग ही मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोगके रूपमें प्रकाशित होता है।

मन्त्रयोग और जपयोग

योगशास्त्रमें 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम मन्त्रयोगका मुख्य अर्थ मन्त्रके आश्रयसे जीवात्मा और परमात्माका सम्मिलन मान लें तो इसमें कोई आपत्ति न होगी। शब्दात्मक मन्त्र चेतन होनेपर उसीकी सहायतासे जीव क्रमशः ऊपर गमन करते-करते शब्दसे अतीत परमानन्दधामतक पहुँच सकता है। वैखरी शब्दसे क्रमशः मध्यमा अवस्थाको भेदकर पश्यन्तीमें प्रवेश करना ही मन्त्रयोगका प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाशमान चिदानन्दमय है—चिदात्मक पुरुषकी वही अक्षय और अमर षोडशी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्टदेवताके साक्षात्कार अथवा शब्दचैतन्यका प्रकृष्ट फल है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर जीव कृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने-आप उदित होता है। वही शब्दकी तुरीय-अवस्था है। मूलाधारसे निरन्तर शब्दस्रोत ऊपरकी ओर उठ रहा है, यही शब्द समस्त जगत्के केन्द्रमें नित्य विद्यमान है। बहिर्मुख जीव इन्द्रियोंके अधीन होकर विषयोंकी ओर दौड़ रहा है, इसीसे उसे इसका पता नहीं लगता। जब किसी क्रिया-कौशलसे अथवा अन्य किसी उपायसे इन्द्रियोंकी बहिर्गति रुद्ध हो जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित-से हो जाते हैं, तब साधक इस चेतन शब्दको सुननेके अधिकारी होते हैं। षण्मुखी मुद्राद्वारा कृत्रिम उपायसे इस नादके अनुसन्धानकी चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिघातजनित शब्दको अनाहत नादमें लीन न कर सकनेपर मन्त्र अक्षरसमष्टि ही रह जाता है। उसका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभवगोचर नहीं होता। इडा-पिङ्गलाकी गति रुककर प्राण और मनके सुषुम्नाके अन्दर प्रविष्ट होनेपर यह नित्य सारस्वत स्रोत अनुभूत होता है। यही क्रमशः साधकको आज्ञाचक्रमें ले जाता है और वहाँसे बिन्दुस्थान भेदकर क्रमशः सहस्रारके केन्द्रमें महाबिन्दुपर्यन्त पहुँचा देता है। हंस-मन्त्र, जिसका जीव निरन्तर श्वास-प्रश्वासके साथ जप करता है, गुरुकृपासे प्राणकी विपरीतभावापन्न अवस्थामें सोऽहं-मन्त्रके रूपमें परिणत हो जाता है।

अस्पर्शयोग

माण्डूक्यकारिकामें आचार्य गौडपादने अस्पर्शयोगका उल्लेख किया है। यद्यपि उस ग्रन्थमें इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है तथापि प्रसङ्गवश तथा विशेषणके रूपमें कुछ वर्णन उसमें मिल जाता है। उससे ऐसा मालूम होता है कि यह योग अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि साधारण योगी अस्पर्शयोगमें प्रवेश नहीं कर सकता। सब भूतोंके मङ्गल और आनन्दका निदानस्वरूप यह योग सब प्रकारके विरोधोंके ऊपर प्रतिष्ठित है और

वास्तविक अभयपद कहे जाने योग्य है। प्रसङ्गवश किसी-किसी वेदान्त-ग्रन्थमें भी इसका उल्लेख देखा जाता है। जिन कुयोगियोंने निरालम्बपदपर पहुँचनेका अधिकार नहीं प्राप्त किया है, वे आत्मलोप होनेकी आशङ्कासे इस निर्विकल्प परमभूमिमें प्रवेश करनेकी न तो सामर्थ्य ही रखते हैं और न इच्छा ही करते हैं। वस्तुतः अस्पर्शयोग असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधिकी ही अवस्थाविशेष है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षरूप स्पर्शसे वृत्तिज्ञानका उदय होता है। किन्तु बहिरिन्द्रिय और अन्तःकरणके सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध हो जानेपर जिस अस्पर्श-अवस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, वह वृत्तिरहित शुद्ध चैतन्यकी भूमिको ही सूचित करती है। न्यायशास्त्रके मतसे भी स्पर्शेन्द्रिय त्वक्के साथ मनका संयोग हुए बिना अन्य किसी प्रकारका ज्ञान नहीं प्रकट हो सकता। इसका कारण यही है कि मनोवहा तथा ज्ञानवहा नाडियाँ त्वक्का आश्रय लेकर ही प्रकट होती हैं और वे सभी वायवीय हैं। स्पर्श वायुका धर्म है; अतएव अस्पर्शयोगकी अवस्थामें वायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जानेके कारण पूर्वोक्त नाडियाँ जब अव्यक्त हो जाती हैं तब एक ओर जैसे मनकी वृत्ति शून्य हो जाती है, दूसरी ओर वैसे ही इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। उस समय आत्मा निज स्वरूपमें प्रकाशित रहता है।

शब्दयोग और वाग्योग

प्राचीन आगमशास्त्रोंमें वाग्योग अथवा शब्दयोगके नामसे जिस योगप्रणालीका उल्लेख पाया जाता है, उसका तात्पर्य और रहस्य आजकल बहुत-से लोग प्रायः भूल गये हैं। शैवागमके अन्तर्गत व्याकरण-आगममें भी इस योगसाधनका परिचय मिलता है। जिन्होंने भर्तृहरिके वाक्यपदीय और उसकी साम्प्रदायिक प्राचीन व्याख्याका अनुशीलन किया होगा, उन्हें वाग्योगकी बात अवश्य मालूम होगी। व्याकृत शब्दका वैखरी अवस्थासे मध्यमामें उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती-स्वरूपमें प्रवेश कर जाना ही इस योगसाधनका प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती-अवस्थासे परा-अवस्थामें—अव्याकृत पदमें—गति और स्थितिप्राप्ति स्वाभाविक नियमसे आप ही हो जाती है। वह किसी भी साधनाका आन्तरिक लक्ष्य नहीं है। वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्दविशेष मिश्र अवस्थामें होनेके कारण उसमें असंख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं। गुरूपदिष्ट प्रणालीसे साधन कर चुकनेपर चाहे जिस शब्दको उसकी स्थूल अवस्थासे मुक्त करके विशुद्ध बनाया जा सकता है। इस शोधन-क्रियाका नाम ही शब्दसंस्कार है। जब शब्द सम्यक् प्रकारसे शुद्ध या संस्कृत हो जाता है तब वह दिव्यवाणी या संस्कृत-भाषा, अथवा सृष्टिकारिणी ब्राह्मी शक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। केवल एक शब्दको भी इस प्रणालीसे शुद्ध कर लेनेपर जीव सदाके लिये कृतकृत्य हो सकता है—

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।

जो एक शब्दका भी संस्कार करनेमें समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी तरहका अभाव नहीं रह सकता। वह एक ही शोधित शब्द शक्तिके स्वरूपमें प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनुके आकारमें आविर्भूत हो जाता है। शब्दके मर्मको जाननेवाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपायसे अलौकिक शक्तिके अधिकारी बन गये थे। आवर्तन अथवा जपयज्ञ इत्यादिके अभ्याससे जब वैखरी शब्दसे आगन्तुक समस्त मल दूर हो जाते हैं तब इडा-पिङ्गलाका अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना-पथ कुछ परिमाणमें उन्मुक्त हो जाता है। फिर प्राणशक्तिकी सहायतासे वह शोधित शब्द-शक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्मपथका आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्दकी सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्थामें अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाहमें निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव धारण कर लेता है। यही मन्त्र-चैतन्यका उन्मेषभाव है। साधक इस अवस्थामें पहुँच जानेपर जीवमात्रकी चित्तवृत्तिको अपरोक्षभावसे शब्दरूपमें जान लेता है। देश अथवा कालका व्यवधान शब्दकी इस स्फूर्तिको नहीं रोक सकता। इसके बाद प्रातःकालीन बालसूर्यके समान शब्दब्रह्मरूपी आदित्य साधकके आत्मा अथवा इष्टदेवताके रूपमें प्रकाशित होकर अन्तराकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं। आगमशास्त्रमें इसीको 'पश्यन्ती वाक्' कहा जाता है। प्राचीन वैदिक साहित्यमें ऋषित्वप्राप्ति अथवा मन्त्रसाक्षात्कारके नामसे जिसका उल्लेख किया गया है, यह वही अवस्था है। आत्मदर्शन, इष्टदेवदर्शन, ज्ञान-चक्षुका उन्मीलन, शिवनेत्रका विकास, षोडशी कलाका उन्मेष अथवा सांख्यवर्णित

द्रष्टा पुरुषका स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य—ये सब इसी पश्यन्ती भूमिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। पश्यन्तीकी अपेक्षा पराभूमिका पथ अत्यन्त गुप्त है। अतएव यहाँपर उसकी आलोचना करना अप्रासंगिक और अनधिकार चर्चा होगी।

योगमार्ग और वियोगमार्ग

योग और वियोग (अथवा विवेक)-मार्गमें परस्पर क्या भेद है, इस सम्बन्धमें साधारण पाठकोंको कोई विशेष धारणा है ऐसा मालूम नहीं होता। अवश्य ही आत्यन्तिक परमार्थदृष्टिसे किसी प्रकारका भेद नहीं है, यह सत्य है; परन्तु व्यावहारिक भूमिमें दोनोंमें परस्पर भेद दिखायी पड़ता है और उस भेदके अनुसार सिद्धिमें भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्थामें संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर मिले हुए रहते हैं। केवल यही नहीं, सूक्ष्मभावमें स्थूलका अंश और स्थूलभावमें सूक्ष्मका अंश अनिवार्यरूपसे ओतप्रोत है। सुतरां विशुद्ध दृष्टिसे यदि देखा जाय तो दोनोंमेंसे कोई-सा एक-दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकता। काठके अन्दर अग्निकी तरह, तिलमें तैलकी तरह, दूधमें घीकी तरह, स्थूलके भीतर सूक्ष्म तत्त्व प्रच्छन्नरूपमें निहित है। क्रिया-विशेषके द्वारा इसे स्थूलसे अलग कर लेनेकी आवश्यकता होती है। सांख्यादि शास्त्रानुमोदित साधन-प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेकमार्गका पक्षपाती है। वेदान्तका पञ्चकोष-विवेक भी एक प्रकारसे विवेक-पन्थके ही अन्तर्गत है। योगियोंका कहना है कि यह वियोग पूर्णरूपेण सिद्ध हो जानेके बाद दोनोंमें योग स्थापित करना आवश्यक होता है। वियोग-साधनाके द्वारा परस्पर पृथक्-रूपमें जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं हैं—वे दोनों मूलीभूत एक परम पदार्थके ही पृथक्-अवभासमात्र हैं, इस तत्त्वकी उपलब्धि करनेके लिये योगप्रक्रियाका अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। स्थूल और लिङ्ग एक-दूसरेके साथ आश्लिष्ट होकर जब चरम अवस्थामें एक परम पदार्थके रूपमें परिणत हो जाते हैं तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वयभावसे ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावोंका विकास सम्पन्न होता है।

दृष्टान्तके रूपमें यहाँ सर्वसाधारणके समझने योग्य भाषामें एक तत्त्वका उल्लेख किया जाता है। जिन्हें शास्त्रज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषयकी कुछ भी जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि जीवके स्थूल शरीरकी तरह एक सूक्ष्म शरीर भी है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीरके साथ इतनी घनिष्ठतासे आश्लिष्ट है कि दीर्घ कालतक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल शरीरसे पृथक् नहीं कर सकता। परन्तु अलग न कर सकनेपर भी वह अनेक कारणोंसे सहज ही उसके पृथक् होनेका अनुभव कर सकता है। स्वप्नादिमें अथवा जीवित दशाकी किसी-किसी अनुभूतिमें और सूक्ष्मदर्शियोंद्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभवमें सूक्ष्म शरीरकी पृथक् सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह मन्थनकी प्रक्रियाके द्वारा यानी कोल्हूमें पेलकर तिलसे तेल निकाला जाता है, उसी तरह प्रक्रियाविशेषद्वारा स्थूल शरीरसे भी सूक्ष्म शरीरको अलग किया जा सकता है। सम्पूर्णरूपमें न सही, आंशिक रूपमें प्रायः सभी अभ्यास करनेवाले इसे कर सकते हैं। इस अवस्थामें स्थूल शरीर अकर्मण्यवत् कङ्कड़-पत्थरकी तरह पड़ा रहता है। और सूक्ष्म शरीर उससे बाहर निकलकर नाना स्थानोंमें घूम-फिरकर पुनः जब स्थूल शरीरमें घुस जाता है तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहलेकी तरह ही ज्ञान और क्रियाका सञ्चार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक आवरणके द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं होता, और न स्थूल जगत्का कोई भी नियम विशेषरूपसे इसपर प्रभाव डाल सकता है। कोई-कोई योगी घरके अन्दर बन्द रहकर और स्थूल शरीरको जहाँ-का-तहाँ रखकर भी, सूक्ष्म शरीरके द्वारा दीवाल आदि तथाकथित आवरणात्मक घेरेको भेदकर बहिर्जगत्में भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्थामें उनका स्थूल शरीर घरके अन्दर निष्क्रिय अवस्थामें आबद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियोंद्वारा इस स्थूल शरीरका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्तसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घरमें आबद्ध रहता है वह स्थूल शरीर है और जो निकलकर इधर-उधर विचरण करता है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर परस्पर सम्बद्ध होनेपर भी पृथक् हैं। यह पार्थक्य वियोगमार्गके द्वारा उपलब्ध होता है। परन्तु एक ऐसी

अवस्था भी होती है जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह पूर्वलिखित देह स्थूल है या सूक्ष्म। क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि एक योगी घरके अन्दर बन्द रहकर जब घरसे बाहर निकले तब घरमें पहलेके समान स्थूल शरीर आसनपर नहीं रहा; अर्थात् वह समस्त शरीर लेकर ही बाहर निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे तथा किसी-किसीको दिखायी भी पड़े। जिस शरीरसे वह घरसे निकलकर दीवाल आदि आवरण भेदकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था—यह कहना न होगा। क्योंकि वैसा शरीर प्रतिघात-धर्मविशिष्ट दीवालको भेदकर जानेमें समर्थ नहीं होता। और साथ ही वह सूक्ष्म शरीर नहीं है, यह भी निश्चित है। क्योंकि वह यदि सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्क्रियरूपमें आसनपर पड़ा रहना चाहिये था। योगी लोग ऐसे देहको सिद्ध देह कहते हैं। यह सिद्धि स्थूल और सूक्ष्मके परस्पर अत्यन्त घन संश्लेषणसे उत्पन्न होती है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनोंके धर्म दृष्टिगोचर होते हैं; इस कारण इसे एक हिसाबसे स्थूल भी कह सकते हैं और साथ ही सूक्ष्म भी कह सकते हैं। परन्तु वास्तवमें वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये योगमार्गका अवलम्बन आवश्यक है। कहना नहीं होगा कि सर्वारम्भमें इस प्रकारका योग सम्भव नहीं। पहले वियोगमार्गकी साधनाके द्वारा मिश्रसत्ताके अन्दर वर्तमान दोनों सत्ताओंको पृथक् कर लेना होता है और उसके बाद योगमार्गकी साधनाके द्वारा उन दोनोंको मिलाकर एक कर लेना होता है।

योग और वियोगमार्गका यही संक्षिप्त परिचय है। इससे अधिक यहाँ इसकी आलोचना करना अप्रासङ्गिक होगा।

नादानुसन्धान

पहले शब्दयोगकी आलोचना करते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे नादानुसन्धानका तत्त्व भी कुछ अंशमें समझमें आ जायगा। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वासके अधीन होकर निरन्तर इडा-पिङ्गला-मार्गमें चल रहा है. उसका सुषुम्ना-पथ प्रायः बन्द है। इसीलिये उसकी इन्द्रियाँ और चित्त सब बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तस्तलमें, आकाशमण्डलमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह चित्त और प्राणोंकी विक्षिप्तताके कारण सुन नहीं पाता। परन्तु जिस समय गुरुकृपासे तथा क्रियाविशेषके द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होकर उसमें प्रविष्ट होते हैं और उस शून्य-पथसे मन अनाहत ध्वनिको श्रवण करता है। निरन्तर इस ध्वनिका अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शान्त अवस्थाको प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नादध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होकर बाह्य प्रकृतिके स्पर्शसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

नाद मूलतः एक होनेपर भी औपाधिक सम्बन्धके कारण विभिन्न स्तरोंमें विभक्त है। योगियोंने साधारणतः इस प्रकारके सात स्तरोंका उल्लेख किया है। शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणवका स्वरूप कहते हैं, वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। वैयाकरणोंने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक-सम्प्रदायने 'स्फोट' नामसे इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्तारूप ब्रह्मतत्त्वका वाचक है। अर्थात् इसीसे ब्रह्मभावकी स्फूर्ति होती है। प्रणव ईश्वरका वाचक है, इस बातका भी तात्पर्य यही है। वाचक स्फोट शब्दब्रह्मके रूपमें और वाच्य सत्ता परब्रह्मके रूपमें वर्णित है। अतएव, एक तरहसे, ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूपके अतिरिक्त और किसी पदार्थके द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता—यह कहनेकी जरूरत नहीं। परन्तु स्फोट या शब्दतत्त्व जबतक जीवके लिये अव्यक्त रहता है तबतक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नादका अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनीका उद्बोधन भी कुछ अंशोंमें इसी कार्यके समान है। मूलाधारसे नाद उठना आरम्भ होता है और सहस्रारमें जाकर लयको प्राप्त हो जाता है। साधकका मन इस नादके साथ युक्त होनेपर अनायास परब्रह्मपदतक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्यके अन्दर अपने-आपको मिला देता है।

हठयोगप्रदीपिका, योगतारावलि तथा अन्यान्य अनेक ग्रन्थोंमें इस नादानुसन्धानका विस्तृत वर्णन मिलता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

पातञ्जल योगशास्त्रमें असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकारकी बतलायी गयी है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्तवृत्तिका सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधिका लक्षण है। चित्त आत्माका अत्यन्त निकटवर्ती है—यहाँतक कि दोनोंमें स्व-स्वामि-सम्बन्ध वर्तमान है। व्युत्थान-अवस्थामें द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसंकुल चित्तके साथ अपनेको अभिन्न समझता है और वृत्तियोंका आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियोंका आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्थामें पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षीके रूपमें अवस्थित होता है। अथवा गभीर अज्ञानसे आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानशून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्स्वरूपकी उपलब्धिसे भी वञ्चित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति-लय अथवा जड समाधिकी अवस्था है। यह योगियोंके लिये कदापि काम्य नहीं। वृत्तिहीन होनेसे यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत ही है तथापि ज्ञानका उन्मेष न होनेके कारण यह योगावस्था नहीं है। पतञ्जलि इसीको भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीनकी तरह विदेह देवता भी इसी अवस्थामें रहते हैं। योगियोंकी वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके रूपमें ही साधकसमाजमें परिचित है। 'उपाय' का अर्थ यहाँपर प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक्-ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेपर जिस असम्प्रज्ञात समाधिका आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञानके अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात समाधिके साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय-अवस्थामें कुछ समयतक चित्त निरुद्ध रहनेपर भी कालान्तरमें उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है; क्योंकि तबतक चित्तके संस्कार सम्पूर्णरूपमें वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रज्ञा उत्पन्न होनेपर क्रमशः संस्कारोंका दाह करनेसे जो असम्प्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थानकी कोई आशङ्का नहीं रहती। वास्तवमें उसीको एक प्रकारसे कैवल्यका पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

बौद्ध योगी प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध नामसे जो दो प्रकारके निरोधका वर्णन करते हैं, वे अधिकांशमें उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधिमें प्रवेश किये बिना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी योगियोंके लिये प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशोंका दाह न कर केवलमात्र वृत्तियोंका निरोध कर लेनेसे ही पुरुष आत्मस्वरूपमें अवस्थित होनेमें समर्थ नहीं होता। ज्ञानके अतिरिक्त अविद्याका बीज नष्ट करनेका और कोई उपाय नहीं है। क्रियायोगके द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानका अनुष्ठान यथाविधि करनेपर भी अविद्या-संस्कारको दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है, क्योंकि क्रियायोगके प्रभावसे संस्कारोंका स्थूल रूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होते ही वह दग्ध हो जाता है, और पुनः जागृत होनेकी शक्तिसे रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधिकी प्रत्येक भूमिमें ही उसके आश्रयसे ज्ञानका विकास होता है। फिर सास्मित भूमिमें सालम्ब ज्ञानकी चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम गृहीतसमापत्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्तिका यही स्वाभाविक क्रम है। **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** गीताके इस वचनमें भी ज्ञानप्राप्तिके मूलमें श्रद्धाको ही स्थापित किया गया है। श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करनेपर भी ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तका निरोध होनेपर भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहनेपर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, यही योगशास्त्रका सिद्धान्त है।

निर्माणकाय और निर्माणचित्त

निर्माणकाय और निर्माणचित्तका विषय योगशास्त्रमें विशेषरूपसे आलोचित हुआ है। उच्च श्रेणीके योगी अनेक समय इसकी रचना करके आवश्यकतानुसार कार्य पूरा कर लेते हैं। लौकिक साहित्यमें इस प्रकारकी देह अथवा चित्तका वर्णन कहीं न होनेके कारण साधारणतः बहुत-से लोग इससे अपरिचित हैं। संसारमें हम साधारणतः जिस देहसे परिचित हैं वह भौतिक देह है। पञ्चभूत—उपादानरूप हों अथवा एक उपादान और अन्य सब उपष्टम्भक रूपमें हों—परस्पर संश्लिष्ट होकर

स्थूल देहकी रचना करते हैं। इस रचनाके मूलमें अथवा भौतिक संयोगके मूलमें देहधारी जीवके पूर्वजन्मार्जित प्रारब्धकर्म वर्तमान रहते हैं। प्रारब्धकर्मसे देह उत्पन्न होती है। देहकी आयु अथवा स्थितिकाल, और उस देहमें जितने सुख-दुःखका भोग होता है वह उस प्रारब्धकर्मके द्वारा ही नियन्त्रित होता है। परन्तु योगी केवल अपने संकल्पबलसे अर्थात् प्रारब्धकर्मकी सहायताके बिना भी देहका निर्माण कर सकते हैं और करते भी हैं। अवश्य ही इस प्रकार देहनिर्माणकी नाना प्रकारकी प्रणालियाँ हैं। मन्त्रबलसे, द्रव्यविशेषके प्रभावसे, तपस्याके फलसे और समाधिसिद्ध योगीके योगके प्रभावसे इस प्रकार देह बनायी जा सकती है। विशिष्ट और प्राक्तन कर्म रहनेपर, केवल योनिविशेषमें जन्म ग्रहण करनेसे भी ऐसी देह प्राप्त हो जाती है। दृष्टिभेदसे इस निर्माणदेहको कोई-कोई निर्माणचित्त भी कहते हैं। न्यायकुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने प्रथम स्तबकके आरम्भमें पातञ्जल-सम्प्रदायका निर्देश करते हुए 'निर्माणकाय' शब्दका प्रयोग किया है। बौद्ध धर्मशास्त्रमें सर्वत्र धर्मकाय, सम्भोगकाय इत्यादिके साथ निर्माणकायका भी उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन बहुत-से बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें इन सब भिन्न-भिन्न देहोंका विशेष वर्णन है। खोज करनेकी इच्छा रखनेवाले पाठकोंको वसुबन्धु, असङ्ग, हरिभद्र आदि आचार्योंके ग्रन्थोंको देखनेसे इस विषयमें बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं। पञ्चशिखाचार्यने एक स्थानमें लिखा है कि परमर्षि कपिलने करुणावश निर्माणचित्तका अवलम्बन कर अपने शिष्य जिज्ञासु आसुरिका षष्टितन्त्रका उपदेश दिया था। निर्माणकाय और निर्माणचित्तमें वास्तविक कोई भेद नहीं। लौकिक देह और लौकिक चित्तमें जो भेद हैं उस प्रकारका कोई भेद योगिसङ्कल्पनिर्मित देह और चित्तमें नहीं रहता; क्योंकि सिद्ध योगीके सङ्कल्पसे जिस आकारकी उत्पत्ति होती है वह देखनेमें देहके समान होनेपर भी वास्तवमें वह चित्तके सिवा और कुछ भी नहीं है। वह इच्छाशक्तिके प्रभावसे निर्मित होता है, ऐसा प्रसिद्ध है।

यह निर्माणचित्त या निर्माणदेह एक होनेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे भिन्न रूपोंमें प्रतिपादित होता है। प्रयोजक चित्त और प्रयोज्य चित्त नामक जो निर्माणचित्तके दो पृथक्-पृथक् भेद बतलाये जाते हैं, वे व्यवहारमूलक हैं। योगीके योगबलसे जो निर्माणचित्त बनता है उसकी प्रधान विशेषता यह है कि उसमें शुक्ल, कृष्ण या अन्य किसी प्रकारका कर्माशय नहीं रहता। अन्यान्य उपायसे रचित होनेपर निर्माणचित्तमें किसी-न-किसी आकारका कर्म-संस्कार लगा ही रहता है। इसी कारण ज्ञानलिप्सु अधिकारी शिष्यको ज्ञानका उपदेश देते समय योगी इस प्रकार चित्तनिर्माण करके उपदेश देते हैं। निर्माणदेहका अवलम्बन करके जो ज्ञानोपदेश आदि दिया जाता है उसमें भ्रम, प्रमाद आदिकी सम्भावना नहीं रहती। वास्तवमें यही गुरुदेह है। भौतिक देहसे तत्त्वज्ञानका उपदेश संशय अथवा विपर्ययशून्य रूपमें नहीं दिया जा सकता। शुद्ध अस्मितातत्त्वसे यह देह निर्मित होती है। जैनाचार्योंने आचार्यदेहके रूपमें जिस देहका वर्णन किया है, वह बहुत कुछ इसी जातिका है।

ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता

आध्यात्मिक साधनामें उन्नति करनेके लिये ब्रह्मचर्यका विशेषरूपसे पालन करनेकी आवश्यकता है। वैदिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन एवं अन्यान्य देशोंके अन्यान्य प्रकारके धर्मसम्प्रदायोंमें भी इसकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जिन ऋषियोंने आश्रमचतुष्टयकी व्यवस्था की थी उन्होंने भी इसीलिये सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यको स्थान दिया था। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक किसी प्रकारका बल सञ्चित नहीं होता और बलका सञ्चय हुए बिना कार्यमें सिद्धि प्राप्त करनेकी आशा आकाशकुसुममात्र है। शास्त्रमें कहा है— **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**; अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्यके बिना आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह बतलानेके लिये अनेकों प्रकारकी बातें कहनी चाहिये। परन्तु यह सोचकर कि वर्तमान प्रबन्धमें इस सम्बन्धमें विस्तारसहित आलोचना करना उचित नहीं, यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक दो-एक बातोंका उल्लेख किया जायगा।

साधारणतः लोग वीर्यधारणको ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। वीर्यधारण ब्रह्मचर्यका एक प्रधान अङ्ग है, इसमें सन्देह नहीं और इस अङ्गका सम्यक्-रूपसे पालन करनेसे इसके अन्यान्य अङ्ग सहज ही सिद्ध हो जाते

हैं। जो लोग अष्टाङ्गमैथुनके त्यागको ब्रह्मचर्य बताते हैं, वे भी इस वीर्यरक्षाकी ओर ही अपना लक्ष्य रखकर इस प्रकारके लक्षण निर्धारित करते हैं। यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य योगशास्त्रमें यमके अन्तर्गत माना गया है। बौद्धोंने भी शीलसम्पत्तिके अन्दर इसको प्रधान स्थान प्रदान किया है। जैन और अन्यान्य शास्त्रोंमें भी प्रायः उसी रूपमें देखा जाता है। ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र तथा गृह्य और धर्मसूत्रादिमें ब्रह्मचारीकी आदर्श दिनचर्याके विषयमें बहुत-सी बातें कही गयी हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्यके तत्त्वकी खोज करना चाहते हैं, वे थोड़ा-सा अनुसन्धान करनेपर सहज ही समझ सकते हैं कि बिन्दुका संरक्षण, संशोधन और उद्‌बोधन—ये तीन ही ब्रह्मचर्यके यथार्थ उद्देश्य हैं। ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मपथमें जिसके द्वारा सञ्चार नहीं होता वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं। जो शास्त्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसम्पन्न हैं वह वस्तुतः एकमात्र ब्रह्मपथमें ही सञ्चरण करते हैं। क्योंकि वासना, मिथ्या सङ्कल्प, इन्द्रिय-चाञ्चल्य और चित्तकी विक्षेपवृत्ति निवृत्त होनेपर बिन्दुकी जो आपेक्षिक साम्यावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठाकी प्रथम भूमि है; बिन्दुके क्षरणसे संसार और बिन्दुकी स्थिरतासे अमृतत्त्व अथवा मोक्ष सिद्ध होता है। गणितशास्त्रमें जिस तरह वृत्त और त्रिकोण आदिका केन्द्र ही बिन्दु कहलाता है, उसी तरह देहतत्त्वविद्‌गण भी देहके अथवा कोषके केन्द्रको ही बिन्दु नामसे ग्रहण करते हैं। अन्नमय कोष या स्थूल शरीर जिसके आधारपर प्रतिष्ठित है, उसीको अन्नमय कोषका केन्द्र या स्थूल बिन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह जिन प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषके आधारपर सूक्ष्म शरीर गठित हुआ है, उनके भी कोषगत केन्द्ररूपमें एक-एक बिन्दु है। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार साधारणतः आनन्दमय कोषको ही कारणशरीर कहा जाता है। कहना नहीं होगा कि इसका भी केन्द्र है और यही अमृतबिन्दुके नामसे परिचित है। ये सब बिन्दु वस्तुतः एक ही महाबिन्दुके देशगत और संस्कारगत भेदमात्र हैं। जबतक औपाधिक भेद वर्तमान रहता है तबतक यह भेद अनिवार्य है। इस भेदको मानकर ही क्रमशः इसके अतिक्रम करनेकी चेष्टा करनी होगी। जिस कारणसे बिन्दु क्षरित होता है, उसको रोके बिना बिन्दुकी ऊर्ध्वगति तो दूर रही, उसकी स्थिरता भी सम्भव नहीं। पहले स्थिररेता हुए बिना कोई भी ऊर्ध्वरेता-भूमिपर आरोहण नहीं कर सकता। जो लोग अप्राकृत कामबीजका रहस्य जानते हैं और जिन्होंने गुरूपदिष्ट प्रणालीसे रसतत्त्वका सम्यक्-रूपसे परिशीलन किया है, वे इसे सहज ही समझ सकते हैं। साधारणतः हठयोगी कहा करते हैं कि बिन्दुके स्थिर होनेपर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राणके स्थिर होनेपर बिन्दु भी स्थिर हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार बिन्दुके साथ मनका और मनके साथ प्राणका परस्पर सम्बन्ध समझना चाहिये। कौशलसे इनमेंसे किसी एकको भी बद्ध कर लेनेपर शेष दोको अधीन करना सहज हो जाता है। हठयोगशास्त्रमें तथा योगवासिष्ठरामायणमें इस सम्बन्धमें प्रासङ्गिक अन्यान्य बातें भी लिखी हैं। शास्त्रका यह सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भित है; क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि एक ही बिन्दु आधारभेदसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकाशित हुआ है। अतएव साधकके पूर्वसंस्कार तथा योग्यताके अनुसार चाहे जिस स्थानमें संयम सम्भव हो, उसीसे अन्यान्य स्थानगत विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है एवं वहाँ-वहाँके बिन्दु भी स्थिरभावको प्राप्त हो जाते हैं।

चक्षु जिस समय रूप देखता है, श्रोत्र जिस समय शब्द ग्रहण करता है और अन्यान्य इन्द्रियाँ जिस समय अपना-अपना विषय ग्रहण करती हैं, उस समय वास्तवमें देहके मध्यमें स्थित बिन्दु ही क्षरित होकर उस-उस स्थानमें विषय-प्रतिभासके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। बिन्दुका क्षरण हुए बिना विषय ग्रहण करना असम्भव है। अतएव जबतक हम इन्द्रियोंके मार्गसे विषय ग्रहण करते हैं तबतक तथाकथित रूपमें वीर्यरक्षा करनेपर भी व्यभिचार होता ही है। विषयका भेद हट जानेपर जब सर्वत्र ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तब समझना चाहिये कि व्यभिचार निवृत्त हो गया है और साधक ब्रह्मचर्यमें स्थित हो गया है। बिन्दु क्षरित हुए बिना अखण्ड एवं कूटस्थ ब्रह्मतत्त्व अपने सामने स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्मकी जो स्वयं प्रकाश-अवस्था है, जिस अवस्थामें एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही अपने सामने आप प्रकाशित है, वह भी ब्रह्मचर्यकी अवस्था है। उस अवस्थामें बिन्दुके क्षरित होनेपर भी वह सरल मार्गसे सम्पन्न होता है, इस कारण

अद्वैत-भावमें व्याघात नहीं पहुँचता, भेदप्रतीति उत्पन्न नहीं होती और विषयसत्ता भी भासमान नहीं होती। यह अवस्था रहस्यदृष्टिसे 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की अवस्था है। इसीका अनुकरण करके समाजके अन्दर भी उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य की व्यवस्थाकी गयी है। गुणभेदसे उपकुर्वाण ब्रह्मचर्यके तीन भेद हैं—शुक्ल, रक्त और कृष्ण। यहाँपर इनकी आलोचना नहीं करनी है। परन्तु जिसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कहते हैं, उसमें बिन्दुक्षरण बिलकुल ही सम्भव नहीं है। बिन्दुका क्षरण नहीं हो सकता, इसी कारण उस निर्गुण ब्रह्मचर्यावस्थाकी गणना अव्यक्तभावके अन्दर होती है। सामाजिक दृष्टिसे विवाह न करना और विवाह करके स्वपत्नीके साथ संयत रहना, दोनों ब्रह्मचर्यके स्वरूप हैं। पर-स्त्रीके प्रति तनिक भी चित्तमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर ब्रह्मचर्यावस्थासे पतन हो जाता है। क्योंकि चित्तकी वह अवस्था व्यभिचारके ही अन्तर्गत मानी गयी है। स्वदाराके प्रति निरत रहनेपर भी चित्तसंयमके तारतम्यके अनुसार गुणभेदसे गृहस्थका ब्रह्मचर्य सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारका होता है।

बिन्दुका शोधन सम्यक् प्रकारसे हुए बिना अन्य क्रिया-कौशलद्वारा उसे स्थिर करनेपर भी उसमें स्थायित्व नहीं आता। क्योंकि संस्कारात्मक मलके आकर्षणसे निर्दिष्ट स्थितिकाल अतीत होनेके बाद बिन्दु पूर्वकी तरह नीचेकी ओर गतिशील हो जाता है। वैदिक तथा तान्त्रिक साधनामें बिन्दु-शोधनके अनेक प्रकारके उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। महायानसम्प्रदायके बौद्धोंके अन्दर भी वज्रयान, मन्त्रयान एवं सहजयानके साधनमार्गोंमें इस प्रकारके सूक्ष्म तथा अकृत्रिम उपायका वर्णन पाया जाता है। हठयोगमें अपना विशेष अधिकार प्राप्त करनेके लिये भी इस प्रकार बिन्दुस्थिरताके उपायका अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। बिन्दु शुद्ध होनेपर ही वह स्वभावतः स्थिर होता है। इस स्थिर बिन्दुको किसी अलौकिक प्रक्रियाके द्वारा विक्षुब्ध कर लिया जाय तो यह स्वभावतः ही ऊर्ध्व दिशामें सञ्चरणशील हो जाता है। बिन्दुकी यह ऊर्ध्वगति प्रबुद्ध कुण्डलिनीके सहस्रारके आकर्षणसे ऊर्ध्वप्रवाहका नामान्तर है। बिन्दु क्रमशः स्थूलभाव छोड़कर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्थाको प्राप्त होता है और अन्तमें सहस्रदलकमलकी कर्णिकामें स्थित महाबिन्दुके साथ मिल जाता है। यही चिच्चन्द्रमाका षोडशी कलारूप अमृत-बिन्दु है। नाभिग्रन्थिका भेद करके बिन्दुको ऊर्ध्वस्रोतमें संश्लिष्ट कर देना ही उपनयन या दीक्षाका यथार्थ रहस्य है। नाभिचक्रसे ऊपर उठे बिना बिन्दु माध्याकर्षणके चक्रसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माध्याकर्षणके चक्रके अन्दर रहना संसारका ही दूसरा नाम है। ब्रह्मचर्यकी साधनाके द्वारा बिन्दुको विषय-जगत्से पृथक् करके, उसे पवित्र बनाकर, ब्रह्ममार्गमें लगाना ही संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। बिन्दुके विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्वकी ओर सञ्चरण करनेपर ही नादका विकास होता है। अतएव नाभिचक्रसे ऊपर स्वाभाविक खेल नाद एवं ज्योतिके रूपमें अनुभूत होता है। यही शब्दब्रह्मके सञ्चारकी अवस्था है। इसके बाद नाद, ज्योति इत्यादिकी पूर्णतासे जो परम भावका उदय होता है, वही निजबोधरूप आत्मज्ञानका विकास है। इसका विशेष विवरण 'दीक्षातत्त्व' तथा तत्सम्बन्धी षडध्वशुद्धिकी आलोचनाके अङ्गीभूत है।

भगवान् पतञ्जलिने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य धारण करनेसे वीर्यकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें ब्रह्मचारीकी अवस्थाका ही वर्णन योगसूत्रमें प्रकारान्तरसे श्रद्धारूपमें किया गया है। ब्रह्मचर्यसम्भूत वीर्यकी प्राप्ति होनेपर देहके अन्दर दिव्य तेज अथवा विद्युत्-शक्तिका विकास होता है—इस तेजकी अधिकताके कारण चित्तकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है, प्राणोंकी गति स्थिर हो जाती है और ध्येयकी ओर चित्तका एकतान प्रवाह उत्पन्न होता है। इसीका दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है। उपासनाका यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके घनीभूत होते-होते चित्तकी समाधि-अवस्था उत्पन्न होती है। चित्तके समाहित होनेपर ध्येय वस्तु आवरणविमुक्त होकर उज्ज्वलरूपमें स्वीयभावकी ज्योतिसे उद्भासित और प्रकाशित हो उठता है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एकमात्र ध्येय ही उसके अनुभवक्षेत्रमें जागरूक रहता है। कहना नहीं होगा कि यह ध्येय चित्तका ही एक आकारविशेष है, यह चित्तसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकाशको प्रज्ञाका उन्मेष अथवा ज्ञानचक्षुका खुल जाना कहते हैं। इस प्रज्ञाके निरुद्ध

होनेके बाद जिस असम्प्रज्ञात समाधिका उदय होता है, वही वास्तवमें योग कहलाने योग्य है। ब्रह्मचर्य योगकी पूर्णावस्था प्राप्त करनेके लिये नितान्त आवश्यक है, इस संक्षिप्त विवरणसे सम्भवतः यह बात पाठकोंको अवश्य मालूम हो जायगी।

सिद्धिसे पारमार्थिक हानि

आध्यात्मिक मार्गमें सिद्धिका स्थान क्या है, इस विषयमें विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालोंमें नाना प्रकारकी बातें कही गयी हैं। यहाँपर उन सबकी चर्चा करना अप्रासङ्गिक मालूम होता है। फिर भी सिद्धिकी सार्थकता क्या है एवं कौन सिद्धि किस समयमें आध्यात्मिक साधनामें बाधक समझी जाने योग्य है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है। बहुत लोगोंका ऐसा विश्वास है कि सिद्धि वाञ्छनीय नहीं और उसकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षु योगीके योगमार्गमें विघ्न उत्पन्न होता है। इस विश्वासके मूलमें कुछ सत्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु असलमें यह विश्वास भ्रान्त मालूम होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत् और असत् दो प्रकारका व्यवहार हो सकता है। व्यवहारके दोषसे वस्तु-सत्ता आक्रान्त नहीं होती। अग्निका स्पर्श करनेसे अबोध शिशुकी सुकुमार देह जल जाती है, इस कारणसे अग्निकी निन्दा करना अथवा उसका त्याग करना बुद्धिमानीका काम नहीं। अग्नि अपने स्वभावके अनुसार अवश्य कार्य करेगी। जो उसके स्वभावको जानकर और उसे नियन्त्रित करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर सकता है, उसीको चतुर कहना उचित है। अग्निसे व्यवहारानुसार अच्छा या बुरा दोनों प्रकारका कार्य सम्पन्न होता है। परन्तु इसी कारण अग्निको उन सब कार्योंका दायी मान लेनेसे काम नहीं चलता। शक्तिमात्रको इसी प्रकार समझना चाहिये।

मधुमती भूमि और योगके विघ्न

भगवान् पतञ्जलिका नाम जिस योगसम्प्रदायके साथ संश्लिष्ट है, उसमें चार प्रकारके योगियोंका निर्देश मिलता है। उनमें प्रथम अवस्थापन्न योगियोंको 'प्रथमकल्पिक' कहा गया है। ये लोग अष्टाङ्गयोगसम्पन्न होनेपर ही योगभूमिमें सद्यः प्रवेश करते हैं, इसलिये इनकी गणना सबसे निम्न श्रेणीमें होती है। ये स्थूल समाधि-सिद्ध हैं अर्थात् वितर्कानुगत समाधिमें अधिकार प्राप्त करनेके कारण इनमें अन्तर्ज्योतिका स्फुरण होना आरम्भ हुआ है। चित्त समाहित हुए बिना ज्योतिका उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु ज्योतिका आविर्भाव होनेपर भी उसकी क्रमशः शुद्धि होनेकी आवश्यकता है। जबतक उसकी विशुद्धि नहीं होती तबतक तत्त्वोंको जीतकर (अर्थात् अपने वशमें करके) स्वयं योगकी उच्च भूमिपर नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथमकल्पिक अवस्थाके बाद योगी 'मधुमती' नामक योगकी दूसरी भूमिमें पदार्पण करते हैं। इस समय उनका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है; इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि, अप्सरा इत्यादि अनेकों उनके पास उपस्थित होकर नाना प्रकारके अलौकिक प्रलोभनोंके द्वारा उन्हें भुलानेकी चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्थामें साधारणतः मनुष्यके हृदयमें आसक्ति और अहङ्कारका भाव जग उठना स्वाभाविक है। परन्तु जो योगी गुणातीत आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनके लिये उद्यत हैं, उनके लिये ये सब क्षुद्र प्रलोभन सर्वथा उपेक्षाके योग्य हैं। जब वे संयत होकर चित्तमें बलका सञ्चय करके साधनपथपर अग्रसर होते हैं तब क्रमशः इन सब भयोंसे छुटकारा पा जाते हैं। यह मधुमती अवस्था ही योगियोंकी परीक्षाकी अवस्था है। प्रथम भूमिमें चित्त सम्यक्-रूपसे विशुद्ध न रहनेके कारण देवता आदिके इस तरहके प्रलोभन देनेकी सम्भावना नहीं रहती। तथा तृतीय अवस्थामें समस्त प्रलोभनकी वस्तुएँ योगियोंके अपने सङ्कल्पके द्वारा निर्मित हो सकती हैं और योगी साधक स्वयं दिव्यभावापन्न होते हैं, इस कारण उनके लिये भी विशेष आशङ्काकी सम्भावना नहीं रहती।

तृतीय अवस्थामें योगी विशोधित प्रज्ञाज्योतिके द्वारा पञ्चभूतोंकी पाँच प्रकारकी अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रियकी भी उसी प्रकारकी पञ्चविध अवस्थाओंके ऊपर अधिकार प्राप्त करके भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय होनेपर योगी वज्रके समान सिद्धदेह प्राप्त करते हैं और अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट-महासिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। ऐसे योगीकी देहपर पञ्चभूतोंके प्रभावसे आघात नहीं होता अर्थात् भौतिक पदार्थोंके गुण योगीदेहमें अपनी क्रिया नहीं करते। इन्द्रियजयद्वारा मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधान या मूलप्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाती है। योगशास्त्रमें इन

सब सिद्धियोंका वर्णन 'मधुप्रतीक' के नामसे किया गया है। जिन योगियोंने भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होकर इस प्रकार अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं, वे अधिकांशमें देवताओंके स्तरसे, शक्ति और शुद्धिमें ऊपर उठ गये हैं, यह निश्चित है। अतएव साधारण देवताके द्वारा उन्हें लोभमें डाले जानेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। विशेषकर पञ्चभूत तथा पञ्चेन्द्रियपर योगियोंका अधिकार होनेके कारण उन्हें सृष्टि, स्थिति और संहार करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है और उनके चित्तमें विमल वैराग्यकी छटा छिटकी होनेके कारण वे ऐसा कोई भी अभाव अनुभव नहीं करते, जिसकी निवृत्तिके लिये किसी भी प्रलोभनमें पड़नेकी सम्भावना हो।

इस प्रकार साधनाक्रमसे जब योगी भूतेन्द्रियराज्यको अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्वमें प्रतिष्ठित होते हैं तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा सर्वदा सब भावोंमें अवस्थान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्रकी भाषामें इसीका दूसरा नाम 'विशोका सिद्धि' है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त योगियोंकी अवस्था है। इसके बाद पर-वैराग्यके साथ-ही-साथ त्रिगुणका राज्य क्रमशः समाप्त हो जाता है और योगी समस्त दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थोंकी सीमा पार करके, ऊपर उठकर अव्यक्त परमपदमें स्थित हो जाते हैं। यही चौथे प्रकारके योगियोंका स्वरूप है। भाष्यकार व्यासजीने इस सर्वश्रेष्ठ योगभूमिको 'अतिक्रान्तभावनीय' नाम दिया है।

हठयोग

हठयोगके आदि आचार्य कौन थे, यह बतलाना तो बहुत कठिन है। हमारे भारतवर्षीय आचार्योंका यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रोंकी प्रथम प्रवृत्ति परमेश्वरसे ही होती है। इस कारण हठयोग भी ईश्वरप्रोक्त कहा जाता है। हठयोगी कहा करते हैं कि आदिनाथ श्रीशिवजी ही हठयोगके प्रवर्तक हैं। जिस विचित्र उपायसे मत्स्येन्द्रनाथने इस विद्याको प्राप्त किया था उसका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस सम्बन्धमें एक दन्तकथा हठयोगके बहुत-से ग्रन्थोंमें मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथकी तरह गोरखनाथ, चर्पटि, जलन्धर, कनेड़ी, चतुरंगी, विचारनाथ आदि नाथ-सम्प्रदायके आचार्योंने हठयोगमें निष्णात होकर संसारमें इसका प्रचार किया था। इस सम्प्रदायके इतिहास तथा शास्त्रकी आलोचना करनेपर हठविज्ञानकी बहुत-सी अवश्य जानने योग्य बातें मालूम हो सकती हैं। गोरक्षशतक, गोरक्षसंहिता, सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति, सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रह, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, अमनस्क, योग-बीज, हठयोगप्रदीपिका, हठतत्त्वकौमुदी, घेरण्डसंहिता, निरञ्जनपुराण इत्यादि बहुत-से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथके पूर्व भी हठयोगका प्रचलन था, इसमें सन्देह नहीं। कहा जाता है कि प्राचीन कालमें मार्कण्डेय मुनि इस योगके साधक थे।

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधकैः।
अन्यो मृकण्डपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

गोरक्षोपदिष्ट हठयोगके छः अंग हैं—उसमें यम और नियम ग्रहण नहीं किये जाते। परन्तु मार्कण्डेय अष्टाङ्ग हठयोगके पक्षपाती थे। योगतत्त्व-उपनिषद्में भी हठयोगके आठ प्रकारके अङ्ग बतलाये गये हैं।

हठयोगकी पूर्ण परिणति राजयोग है। पातञ्जलदर्शनमें असम्प्रज्ञात समाधिके नामसे इसीका वर्णन किया गया है। हठयोगकी नियमित साधनाके द्वारा राजयोगकी सिद्धि होती है, इसी कारण आचार्यगण हठयोगका राजयोगके सोपानके रूपमें वर्णन किया करते हैं। इस राजयोगके प्रभावसे ही साधनशील जीव कालके पराक्रमसे छुटकारा पानेमें समर्थ होता है। हठयोगप्रदीपिकाके मतानुसार समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहज, तुरीय—ये सब राजयोगके नामान्तर हैं। स्वात्मारामने स्पष्ट ही कहा है कि कुम्भकद्वारा प्राणकी गति रुद्ध हो जानेपर चित्त निरालम्ब हो जाता है। ब्रह्मानन्दने भी अपनी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि जिस समय सम्प्रज्ञात समाधिके बाद ब्रह्माकार स्थितिका उदय होता है उस समय पर-वैराग्य धारण करके चित्तको सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध करना जरूरी है। इससे यह स्पष्ट ही समझमें आ सकता है कि हठयोगसे स्वभावतः राजयोगका विकास होता है।

देहशुद्धि हठयोगका अव्यवहित उद्देश्य है। योगियोंकी पारिभाषिक भाषामें यह घटशुद्धिके नामसे विख्यात है। घेरण्डसंहिताका मत है कि हठशास्त्रोक्त, धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति—इस षट्कर्मद्वारा

देहकी शुद्धि होती है। देहकी दृढ़ता और स्थिरता आसन और मुद्राका अभ्यास करनेसे सिद्ध होती है। तथा प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधिके द्वारा क्रमश: दैहिक धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष तथा निर्लेपता सुसम्पन्न होती है। अनेक आचार्य आसन, प्राणायाम अथवा कुम्भक, मुद्रा या करण तथा नादानुसन्धान—इन चारको हठयोगका प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहते हैं। इनमें आसनका अभ्यास विधिवत् करनेसे देहकी स्थिरता, निरोगता तथा लघुता सम्पन्न होती है। **'आसनेन रजो हन्ति'**—यह सिद्धान्त योगिसम्प्रदायमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीर्घ कालतक विधिके साथ आसनका अभ्यास करनेसे रजोगुणजनित देहकी चञ्चलता और मनकी अस्थिरता दूर हो जाती है। रोग विक्षेपका एक प्रधान कारण है—आसनके अभ्याससे उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस अभ्याससे तमोगुणकी क्रियासे उत्पन्न देहका भारीपन भी दूर होता है। देहमें सात्त्विक तेजकी वृद्धि होनेसे तमोगुणका ह्रास होता है और स्वभावत: ही देह हलकी हो जाती है। बार-बार अभ्यास करके आसनको स्थिर कर लेनेपर प्राणायामकी क्रिया सहजसाध्य हो जाती है। परन्तु नाडी-चक्र नाना प्रकारसे आच्छन्न रहनेके कारण वायु सुषुम्ना-मार्गमें प्रवेश नहीं कर सकती। इसीलिये प्राण-संग्रहके पहले नाडी-शोधनकी आवश्यकता होती है। नाडी विशुद्ध हुए बिना उन्मनीभाव अथवा मनोनिवृत्तिकी कोई आशा नहीं रहती। विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे सुषुम्नानाडीके अन्दरका समस्त मल नष्ट हो जाता है। शाण्डिल्य उपनिषद्के मतानुसार नाडीशोधन-प्राणायाम कई महीनेतक नित्य दो बार करना चाहिये[1]। देहकी कृशता, कान्ति, इच्छानुसार वायुधारण करनेका सामर्थ्य, अग्निवृद्धि, नादकी अभिव्यक्ति और आरोग्यता—ये सब लक्षण जब क्रमश: आविर्भूत हो जायँ तब समझना चाहिये कि सब नाडियाँ शुद्ध हो गयी हैं[2]। त्रिशिखिब्राह्मण-उपनिषद्में लिखा है कि यम, नियम और आसन सिद्ध हुए बिना प्राणायाम यथार्थरूपमें नहीं किया जा सकता। अतएव उस अवस्थामें नाडी-शुद्धिकी चेष्टा करना अनुचित है। हठाचार्योंका कहना है कि सब साधकोंके लिये षट्कर्मकी आवश्यकता नहीं होती। वायु, पित्त या कफ, इन तीनों दोषोंमेंसे किसी एक या दोकी अधिकता होनेपर षट्कर्मकी सहायता लेना आवश्यक है। घटशुद्धिकी तरह स्थूलताका नाश इत्यादि भी हठयोगका एक अव्यवहित फल है। याज्ञवल्क्य प्रभृति आचार्य कहते हैं कि जब एकमात्र प्राणायामके द्वारा ही समस्त मलकी निवृत्ति हो जाती है तब षट्कर्मकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

मुद्रासाधनका उद्देश्य यह है कि इससे ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना-मुखसे निद्रिता कुलकुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊपरकी ओर उठती है। कुण्डलिनीके जागनेपर चक्र और ग्रन्थि सबका भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्नामें प्रवेश करता है, चित्त निरालम्ब होता है और मृत्युभय छूट जाता है। आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यासका मूल अवलम्ब है। मुद्रा आठ प्रकारकी है और मुद्राके अभ्यासका फल है अष्टैश्वर्य-प्राप्ति।

---
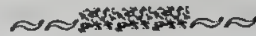
१. टीकाकार कहते हैं कि ४३ दिन अथवा ३ मास अथवा ४ मास, ७ मास या एक सालतक इस प्राणायामका विधान है।

२. हठयोगप्रदीपिकामें तथा दशम उपनिषद्में कृशताकी बात आती है। शाण्डिल्य-उपनिषद्में कृशताकी जगह लघुता शब्दका प्रयोग हुआ है। योगतत्त्व-उपनिषद्में एक ही साथ कृशता और लघुता दोनों पाठ मिलते हैं। शिवसंहिताके मतसे नाडी शुद्ध हो जानेपर दोष नष्ट हो जाते हैं, देहमें साम्य, सुगन्धि और कान्तिकी आभा प्रस्फुटित हो उठती है तथा स्वरमें माधुर्य सिद्ध हो जाता है।

योगकी कुछ आवश्यक बातें

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविध निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविध प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।'

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान), मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध, लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—'कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्, **मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। मामेकं शरणं व्रज।'**

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

पञ्चभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी।

विरहकी दस दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु।

चतुर्विध भाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति।

द्विविध महाभाव—रूढ और अधिरूढ।

द्विविध अधिरूढ महाभाव—मोदन और मादन (या मोहन)।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ। प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन।

मुद्रा और बन्ध—अनेक हैं। परन्तु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धोति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।

दैनिक श्वास—२१६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना।

दस वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

योगके सप्तचक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमें ललनाचक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमें गुरुचक्र।

षोडश आधार—१. दाहिने पैरका अँगूठा, २. गुल्फ, ३. गुदा, ४. लिङ्ग, ५. नाभि, ६. हृदय, ७. कण्ठकूप, ८. तालुमूल, ९. जिह्वामूल, १०. दन्तमूल, ११. नासिकाग्र, १२. भ्रूमध्य, १३. नेत्रमण्डल, १४.ललाट, १५. मस्तक और १६. सहस्रार।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और विहङ्गम-मार्ग।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें)।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक)।

त्रिविध मन्त्र—पुं, स्त्री, क्लीब।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी।

योगके आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

संयम—धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

असम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।

पञ्चवृत्ति—मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषयतृष्णा, भ्रान्ति, फलमें सन्देह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चञ्चलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व, सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना, दम्भ करना।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोड़कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।
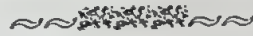
पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग

(लेखक—गङ्गोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

हिन्दुओंके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, उपपुराण, संहिता, धर्मशास्त्र और तन्त्रशास्त्र, सभी एक स्वरसे कहते हैं कि साधनजगत्में साधकको मुक्ति प्रदान करनेवाले दो प्रशस्त मार्ग विद्यमान हैं। उनमें एकका नाम है पिपीलिकामार्ग और दूसरेका नाम है विहङ्गममार्ग। अतएव यह जिज्ञासा होती है कि ये दोनों मार्ग क्या हैं? तथा इन दोनों मार्गोंके प्रवर्तक कौन हैं?

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते।
शुको विहङ्गमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका॥
अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा।
महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना॥
विदित्वा स्वात्मनो रूपं सम्प्रज्ञातसमाधितः।
शुकमार्गेण विरजाः प्रयान्ति परमं पदम्॥
यमाद्यासनजायासहठाभ्यासात्पुनः पुनः।
विघ्नबाहुल्यसञ्जात अणिमादिवशादिह॥
अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले।
पूर्ववासनयैवायं योगाभ्यासं पुनश्चरन्॥
अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा।
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥
द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ।
सद्योमुक्तिप्रदश्चैकः क्रममुक्तिप्रदः परः॥

(वराहोपनिषद्)

काम-क्रोधादि रिपुओंसे सङ्कुलित इस संसाररूपी महारण्यके सुदीर्घ मार्गमें संसार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीवके नित्यसुख, परमशान्ति, स्थायी आनन्दके लीला-निकेतन निज भवनमें उपनीत होनेके लिये देवनिर्मित सुप्रशस्त दो मार्ग विद्यमान हैं—शुकमार्ग और वामदेवमार्ग। उनमें बालविरागी परम आत्मज्ञानी शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको विहङ्गममार्ग तथा वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको पिपीलिकामार्ग कहा गया है। शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग

इन दोनों मार्गोंका अनुसरण करनेसे संसार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीवको मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु शुकदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला महावाक्यविचारद्वारा अथवा सांख्ययोगसमाधिद्वारा अपने हृदयकमलके रक्त दलमें सजल जलद-जालमध्य चकितोज्ज्वला विद्युन्मालाके समान कोटिसूर्यप्रदीप्त, कोटिचन्द्रोत्फुल्ल, चिर-उज्ज्वल, चिर-ज्योतिष्मान् स्वस्वरूपको जानकर अनायास चिरसुखशान्तिमय ब्रह्मानन्दसुखाह्वय परमपद मोक्षसाम्राज्यको प्राप्त करता है। और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला संसार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीव यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्ग हठयोगका अभ्यास कर विघ्नबाहुल्यसञ्जात अणिमादि अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करता हुआ, कभी ऊर्ध्वगामी और कभी अधःपतित होता हुआ असीम सुषमाकर अनन्त वैचित्र्यपूर्ण नाना जीव-सङ्कुल, शोभनसौन्दर्यमय सुविशाल मर्त्यधामको पुनः लौटकर अतुल ऐश्वर्यका अधीश्वर होकर, राजराजेश्वरकी सुधाधवलित आकाशभेदी सुरम्य हर्म्यावलीमें निवास करता हुआ, पार्थिव सुखैश्वर्यको प्राप्त होता है, अथवा अणिमादि अष्टसिद्धिरूप फलको बिना प्राप्त किये सत्कुलमें जन्म लेकर, पूर्वाभ्यासद्वारा पुनः योगाभ्यास करते-करते, सौभाग्यसे ज्ञानोदय होनेपर परमशान्ति—मुक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। अतएव यह ज्ञात हुआ कि वामदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला जीव उत्थान-पतनके विवर्त्तनमें पड़कर अनेक जन्मोंके बारंबार प्राप्त किये हुए ज्ञानके क्रमविकाससे अनेकों जन्मोंके अन्तमें परमपदलाभ करनेमें समर्थ होता है। परन्तु बालविरागी, ज्ञानरसिक शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला जीव केवल भक्तिरसमें अपने हृदयको आप्लुतकर महावाक्यविचारद्वारा, सांख्ययोग-समाधिद्वारा अथवा असम्प्रज्ञात समाधिमें स्थित होकर क्षिप्त मनको शान्तकर षड्‌रिपुओंका दमन कर, इन्द्रियोंके मार्गका अवरोध कर मिथ्या आडम्बरको त्यागकर, निर्लिप्तचित्त होकर, अपने हृदयकमलके रक्त स्तबकमें—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

—त्रितापहारी सनातनसखा जगज्ज्योतिकी दिव्यद्युतिका निरीक्षण कर, ब्रह्मसायुज्यकारिणी, मोक्षद्वारके कपाटको अनावृत करनेवाली भक्तिदेवीके प्रसादसे देवदुर्लभ मुक्तिलाभ करता है। अतएव शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग, ये दोनों ही मार्ग ब्रह्मप्राप्तिकर और मङ्गलजनक हैं। इनमें विशेषता यही है कि शुकदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव आत्मकल्याणमें निरत होकर शीघ्र ही अभीष्टलाभ करनेमें समर्थ होता है, और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव एक जन्ममें समर्थ नहीं होता, कितने ही युग-युगान्तर घूमते-घूमते अनेकों जन्म योगाभ्यासमें व्यतीत कर अनेक जन्म-जन्मान्तरके बारंबार प्राप्त ज्ञानके विकाससे अभीष्ट-लाभ करनेमें समर्थ होता है। अतएव बालविरागी शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही सद्योमुक्तिप्रद है। तथा योगिराज वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग क्रममुक्तिप्रद है। तथापि दोनों ही मार्ग जीवके लिये कल्याणप्रद हैं। क्योंकि—

शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्त-
स्ताभ्यां विना मुक्तिभाजो न सन्ति।
शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः
सद्यो मुक्तास्ते भवन्तीह लोके॥
वामदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं
मृत्वा जनित्वा च पुनः पुनस्तत्।
ते वै लोके क्रममुक्ता भवन्ति
योगैः साङ्ख्यैः कर्मभिः सत्त्वयुक्तैः॥

(वराहोपनिषद्)

ज्ञान-वैराग्य-रसिक बालविरागी शुकदेव गोस्वामी अथवा योगिराज वामदेव दोनों ही मुक्त पुरुष हैं। परन्तु इनमेंसे एकने तो शीघ्र ही मुक्तिलाभ किया है और दूसरेने अनेकों जन्मोंके अन्तमें मुक्तिलाभ किया है। यही इन दोनोंमें अन्तर है। अतएव इन दोनों मार्गोंमें जो बालविरागी, वैराग्यरसिक शुकदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे, वे अनायास ही सद्योमुक्तिलाभ करेंगे और जो उसे छोड़कर आयाससाध्य योगिराज वामदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे वे पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके विवर्त्तनमें पड़कर युग-युगान्तरके आवागमनके पश्चात् अनेक जन्मोंके पुण्यप्रभावसे अनेक जन्म धारणकर अष्टाङ्गयोगसाधन, सांख्ययोगसाधन तथा कर्मानुष्ठान कर साधनसम्पत्तिसे युक्त होकर सत्त्वगुणसे भूषित हो शुद्ध सत्त्वबुद्धिद्वारा अनेकों ज्ञानान्वेषण, प्रमाण-पर्यवेक्षण, ध्यान-धारणादिके द्वारा आत्मज्ञान होनेपर जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित ज्ञानके क्रमिक विकाससे क्रममुक्ति प्राप्त करेंगे।

गीताका योग

(लेखक—श्रीगीतानन्दजी शर्मा)

श्रीगीतामाहात्म्यमें कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो..............

..............दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात् 'गीतामाहात्म्य' कारकी सम्मतिमें गीता केवल उपनिषद् ही नहीं, किन्तु उपनिषदोंकी भी उपनिषद् है। गीताके उपनिषद् होनेमें यह प्रमाण अवश्य ही बहिर्भूत है। अन्तर्भूत प्रमाण गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें कहा जानेवाला वाक्य है—अर्थात् '**इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु......**' इत्यादि। इसपर यदि यह शङ्का हो कि यह वाक्य गीताकारका ही है—इस बातका कोई प्रमाण नहीं; हो सकता है कि किसी औरका हो, तो इसका अति सरल और सोपपत्तिक निराकरण यह है कि गीताके उपसंहारमें संजयने '**इत्यहं वासुदेवस्य**' (१८। ७४) इत्यादिसे '**तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य।**' (१८। ७७) तक जो चार श्लोक कहे हैं उन्हींके आधारपर '**इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु.....**' इत्यादि वाक्यकी रचना हुई है, यह बात उन श्लोकोंके साथ इस वाक्यको मिलाकर देखनेसे स्पष्ट ही प्रतीत हो जायगी। वे चार श्लोक ये हैं—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः[८]।
संवादमिमम[१०]श्रौषम[१]द्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं[६] परम्[५]।
योगं[७] योगेश्वरात्कृ[४]ष्णात्साक्षात्[३]कथयतः स्वयम्॥ ७५॥
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च[११] मुहुर्मुहुः॥ ७६॥
तच्च संस्मृत्य[१२] संस्मृत्य रूपम[२]त्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

१. इति	...	....	इत्यहमश्रौषम्
२. श्रीमत्	...	....	रूपमत्यद्भुतम्
३. भगवत्	...	....	साक्षात् योगेश्वरात्
४. गीतासु	...	....	कथयतः
५. उपनिषत्सु	...	....	परम्
६. ब्रह्मविद्यायां	...	....	गुह्यम्
७. योगशास्त्रे	...	....	योगम्
८. श्री	...	....	महात्मनः

९. कृष्णार्जुन....................केशवार्जुनयोः
१०. संवादे....................संवादम्
११. (अमुक) योगो नाम....................हृष्यामि मुहुर्मुहुः
१२. (अमुक) अध्यायः..............संस्मृत्य संस्मृत्य।

इस अन्तःस्थ प्रमाणसे गीताका उपनिषद् होना निर्विवाद सिद्ध है। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि उपनिषद् होनेपर भी ऋषिगीत न होनेसे आर्ष उपनिषद् नहीं है—भागवत उपनिषद् है। यह तो इष्टापत्ति ही है। इससे इसका उपनिषदोंकी भी उपनिषद् होना सिद्ध हुआ।

इससे यह भी फलित हुआ कि गीताके पदोंका (विशेषतः पारिभाषिक पदोंका) वही अर्थ ग्राह्य है जो उपनिषद्के अनुसार सिद्ध हो।

गीताका प्रतिपाद्य विषय योग है। भगवान्का ही वचन है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

'यह योग हमने विवस्वान्से कहा था।'

संजय भी साक्षी हैं—'**व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्....योगम्**'—'व्यासदेवकी कृपासे मैंने यह योग सुना।' इसलिये इस लेखमें उपनिषद्की दृष्टिसे 'योग' शब्दका ही विचार करें।

परमात्माने 'अग्रे' सृष्टिविषयक जो 'ईक्षण' किया उसका स्वरूप यह था—'**एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।**' अर्थात् मैं एक हूँ, बहुत होऊँ, शरीर धारण करूँ।

इस सङ्कल्पके '**बहु स्याम्**' अंशकी पूर्ति हुई, तब 'बहुत्व' की—'संख्या' की सृष्टि हुई—अनेक जीव उत्पन्न हुए; अथवा यों कहिये कि भगवान् एक थे, अब अनेक हुए। यह भगवान्का 'संख्या' के साथ योग हुआ। भगवान् अनेक हैं, अनेक होते हुए भी एक हैं। यह भगवान्का 'सांख्ययोग' है। भगवान्ने अर्जुनको पहले यही '**सांख्ये बुद्धिः**' दी। इसीका नामान्तर सात्त्विक '**कर्मचोदना**' है। इस सात्त्विक ज्ञानकी दृष्टिसे नानात्व मिथ्या है। राजस ज्ञानकी दृष्टिसे वह सत्यवत् प्रतीत होता है। वस्तुतः, '**नायं हन्ति न हन्यते**'—यही सिद्धान्त है।

परमात्माके सङ्कल्पके शेष अंश 'प्रजायेय' की जब पूर्ति हुई तब आत्माका शरीरसे योग हुआ। और फिर—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।

'उसका सृजन कर उसमें परमात्माने प्रवेश किया। वह सत् भी हुआ और असत् भी हुआ, निरुक्त भी और अनिरुक्त भी, निलयन भी और अनिलयन भी, सत्य भी और असत्य भी।'

अर्थात् क्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शरीरपञ्चकमें प्रवेश करके भी—उपनिषद्की भाषामें 'शारीर आत्मा' होकर भी—वह अन्नमयातीत, प्राणमयातीत, मनोमयातीत, विज्ञानमयातीत और आनन्दमयातीत बने रहे। ब्रह्मसूत्रके शारीरकभाष्यमें इसकी विशेष मीमांसा है।

यह परमात्माका शरीरके साथ योग है। गीतामें इसे केवल 'योग' कहा है। यथा—

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

दशमाध्यायके इन श्लोकोंमें प्रजाकी प्रवृत्ति और सृष्टि कथन करके इसे ही इसके बादके श्लोकमें 'योग' कहा है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

नवमाध्यायके—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ५॥

—इस श्लोकमें, तथा दशमाध्यायके—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

—इस श्लोकमें 'योग' शब्द उसी औपनिषदार्थमें प्रयुक्त हुआ है।

तात्पर्य कि उपनिषद् और गीतामें, एक समयावच्छेदेन एक और अनेक, सशरीर और अशरीर होना ही 'योग' शब्दका मुख्यार्थ है।

विवक्षाके अनुसार तथा प्रसङ्गानुरोधसे गीताके विशेष स्थलोंमें 'योग' शब्दका यही अर्थ अभिप्रेत है। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे कथित होनेपर भी गीतोक्त योगका लक्षण मूलतः एक ही है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२।४८)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२।५०)

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

—इत्यादि श्लोकोंमें भी 'योग' शब्दका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भावसे वही एक ही अर्थ है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
(८।३)

यह सृष्टि, स्थिति, संहार करना भगवान्‌का 'कर्म' है। यह उनका कर्मयोग है। इसको गीतामें 'आत्मयोग' भी कहा है—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
(११।४७)

'मैंने प्रसन्न होकर आत्मयोगसे अपना परमरूप तुम्हें दिखाया।'

आत्मरूपसे अविकृत रहते हुए भी अनात्मजगत्से अभिन्न रहना ही भगवान्‌का योग है। गीतोपनिषद्में 'योगेश्वर' और 'योगमाया' शब्द भी वेदान्तसूत्रके ईश्वर और मायाकी अपेक्षा बहुत अधिक अन्वर्थक हैं। इनके गूढार्थकी सूक्ष्म मीमांसा करनेसे 'योग' शब्दका अर्थ और भी खुल जाता है।

तब योग क्या है? ब्रह्मका मायाके साथ युगपत् संयोग-वियोग ही योग है।
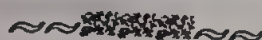
कल्याण

योगका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये। वह है 'श्रीभगवान्‌के साथ युक्त हो जाना', 'भगवान्‌को यथार्थमें पा लेना', या 'भगवत्प्रेमरूप अथवा भगवद्रूप हो जाना।' यही जीवका परम ध्येय है। जबतक जीव इस स्थितिमें नहीं पहुँच जायगा, तबतक न उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, सनातन, आनन्दरूप तत्त्वके संयोगकी अतृप्त और प्रच्छन्न आकांक्षाकी ही पूर्ति होगी। इस पूर्णके संयोगका नाम ही योग है। अथवा इसको पानेके लिये जो जीवका विविधरूप सावधान प्रयत्न है उसका नाम भी योग है। यह पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है, वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसीके नाम हैं; परन्तु यह याद रखो कि जो कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सांख्य, मन्त्र, लय या हठकी क्रिया भगवन्मुखी नहीं है, वह योग नहीं है, कुयोग है और उससे प्राय: पतन ही होता है।

अतएव इन सब योगोंमेंसे, जिसमें तुम्हारी रुचि हो, उसीको भगवत्प्राप्तिका मार्ग मानकर ग्रहण करना चाहिये। ये सब योग भिन्न-भिन्न भी हैं और इनका परस्पर मेल भी है। यों तो किसी भी योगमें ऐसी बात नहीं है कि वह दूसरेकी बिलकुल अपेक्षा न रखता हो, परन्तु प्रधानता-गौणताका अन्तर तो है ही। कुछ योगोंका सुन्दर समन्वय भी है। गीतामें ऐसा ही समन्वय प्राप्त होता है। केवल शरीर, केवल वाणी, केवल मन, केवल बुद्धि आदिसे जैसे कोई काम ठीक नहीं होता, इसी प्रकार योगोंमें भी समझना चाहिये।

हाँ, इतना जरूर ध्यान रहे कि जिन योगोंमें मनका संयोग होनेपर भी (जैसे नेति, धौति आदि षट्कर्म, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी-जागरण आदि) शारीरिक क्रियाओंकी प्रधानता है, अथवा मन्त्र-तन्त्रादिसे सम्बन्धित देवविशेषकी पूजा-पद्धति मुख्य है, उनमें अज्ञान, अविधि, अव्यवस्था, अनियमितता होनेसे लाभ तो होता ही नहीं, उलटी हानि होती है। भाँति-भाँतिके कष्टसाध्य या असाध्य शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। अतएव ऐसे योगोंकी अपेक्षा भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उत्तम हैं; ये अपेक्षाकृत बहुत ही निरापद हैं। इनमें भी अनुभवशून्य लोगोंकी देखा-देखी अविधि करनेसे हानि हो सकती है; अतएव शान्त, शीलवान्, शास्त्रज्ञ एवं अनुभवी गुरुकी—पथप्रदर्शककी सभी योगोंमें अत्यन्त आवश्यकता है।

परन्तु अध्यात्ममार्गका पथप्रदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिलता। भगवत्कृपासे ही अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्जके कारण अनुभवी और दयालु सद्‌गुरु मिलते हैं। हर किसीको गुरु बना लेनेमें तो बहुत ही खतरा है। आजकल देशमें गुरु बननेवालोंकी भरमार है। यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि आज अनेकों लुच्चे-लफंगे, काम और लोभके गुलाम साधु, योगी, ज्ञानी और महात्मा बने फिरते हैं। इन्हींके कारण सच्चे साधुओंकी भी अनजान लोगोंमें कद्र नहीं रही। दूधका जला छाछको भी फूँक-फूँककर पीता है, यह प्रसिद्ध कहावत चरितार्थ हो रही है। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है; क्योंकि आज साधुवेशमें फिरनेवाले लोगोंमें व्यसनी, कामी, क्रोधी, लम्पट, दुराचारी मनुष्य या पेशेवर, धन कमानेवाले लोग बहुत हो गये हैं। लोगोंको ठगनेके लिये बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाले और चालाकीसे भोले-भाले लोगोंको झूठी सिद्धिका चमत्कार दिखानेवाले, अथवा कहीं एकाध मामूली सिद्धिके द्वारा लोगोंमें अपनेको परमसिद्ध साबित करनेवाले लोगोंकी आज कमी नहीं है। आज हठयोगमें अपनेको सिद्ध माननेवाले लोग रोगी, ज्ञानयोगमें सिद्ध माननेवाले कामी, क्रोधी या मानी, लययोगमें सिद्ध माननेवाले शरीरकी नाडियोंसे और आभ्यन्तरिक अवयवोंसे अनभिज्ञ, भक्तियोगमें अपनेको परमभक्त बतानेवाले विषयी और मन्त्रयोगमें अपनेको सिद्ध प्रसिद्ध करनेवाले सर्वथा असफल पाये जाते हैं और इसपर भी अपनी मान-प्रतिष्ठा जमाने या कायम रखनेके लिये सिद्धाईका दावा करते देखे जाते हैं। ऐसे लोगोंसे साधकको सदा सावधान ही रहना चाहिये।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज सच्चे सिद्धिप्राप्त पुरुष हैं ही नहीं। हैं, अवश्य हैं; परन्तु लोगोंके सामने अपनेको सिद्ध प्रसिद्ध करके जान-बूझकर आसक्ति और स्वार्थवश कामिनी-काञ्चन या मान-सम्मान चाहनेवाले लोगोंमें तो कदाचित् ही कोई सच्चे सिद्ध होंगे!

सिद्धिप्राप्त पुरुषोंसे मेरा मतलब पातञ्जलोक्त अष्टसिद्धियाँ या अन्यान्य प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त पुरुषोंसे नहीं है। किसी भी मार्गसे शेष सीमातक पहुँचकर जो भगवान्‌को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हीं महापुरुषोंसे मेरा अभिप्राय है। ऐसे महापुरुष यौगिक सिद्धियोंकी और चमत्कारोंकी कोई परवा नहीं करते। वास्तवमें सिद्धियाँ परमार्थके मार्गमें बाधक ही होती हैं। जिसकी चित्तवृत्ति भगवान्‌की ओर नहीं लगी है और जिसमें थोड़ी भी विषयासक्ति बची है, ऐसा पुरुष यदि किसी साधनसे सिद्धियाँ पा जायगा तो इससे उसका अभिमान बढ़ जायगा; विषयोंकी प्राप्ति और उनके भोगमें सिद्धियोंका प्रयोग होगा; जिनसे भोगोंमें बाधा पहुँचनेकी आशङ्का या सम्भावना होगी, चाहे वह भ्रमवश ही हो, उनको वैरी समझा जायगा, और उनके विनाशमें सिद्धियोंका उपयोग किया जायगा। परिणाममें वह साधक रावण और हिरण्यकशिपु आदिकी भाँति असुर और धीरे-धीरे राक्षस बन जायगा। अवश्य ही सिद्धियोंको पानेपर भी उनमें न रमकर, उन्हें तुच्छ मानकर लाँघ जानेवाला पुरुष भगवान्‌को पा सकता है। परन्तु ऐसा होना है बड़ा ही कठिन। अतएव परमार्थके साधकगण ब्रह्मलोकतकका भोग और ब्रह्मातककी सामर्थ्य प्रदान करनेवाली सिद्धियोंसे भी अलग ही रहना चाहते हैं।

सच्ची सिद्धि तो अन्तःकरणकी वह शुद्ध स्थिति है जिसमें भगवान्‌के सिवा दूसरेको स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसी शुद्धान्तःकरणरूप सिद्धिको प्राप्त करके और फिर इसके द्वारा साधन करके जो भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही परमसिद्ध हैं। यह परमसिद्धि प्राप्त होती है अन्तःकरणकी सम्यक् प्रकारसे शुद्धि होनेपर ही, फिर चाहे वह शुद्धि किसी भी योगरूप उपायसे हुई हो। ऐसे परमसिद्ध महात्मा भी मिल सकते हैं, परन्तु उन्हें प्राप्त करनेके लिये हृदयमें लगन होनी चाहिये। सच्चे सत्सङ्गके लिये जब हृदयमें छटपटाहट पैदा हो जायगी, जब संतमिलनके लिये प्राण व्याकुल हो उठेंगे, जब योगजिज्ञासारूपी अग्नि प्रबल और प्रचण्ड होकर हृदयमें छिपे हुए चोरोंको भस्मीभूत कर देगी और अपने प्रखर प्रकाशसे विषयाभिलाषरूपी तमको नाश कर देगी, और सारे प्रपञ्चको जलाती हुई दौड़ेगी भगवान्‌की ओर, तब भगवान् स्वयं व्याकुल होकर उसे बुझानेके लिये संतरूपी मेघ बनकर अमृतवर्षा करेंगे!

एक महानुभाव ढोंगी नहीं हैं, उनके मनमें कामिनी-काञ्चन या मानका लोभ भी नहीं है, अच्छे शास्त्रज्ञ भी हैं, परन्तु साधन करके परमतत्त्वको पहचाने और पाये हुए नहीं हैं। योगग्रन्थोंके पण्डित हैं, परन्तु साधक या सिद्ध योगी नहीं हैं। ऐसे पुरुषका संग करनेसे शास्त्रज्ञान तो हो सकता है। ग्रन्थीय विद्याप्राप्तिके लिये ऐसे सज्जनको अवश्य गुरु बनाना चाहिये, और इसकी आवश्यकता भी है। क्योंकि ग्रन्थीय विद्या क्रियात्मिका विद्यामें बहुत सहायक होती है। परन्तु ऐसे गुरुसे पढ़कर साधना करना—क्रियात्मक योग साधना विपद्‌से शून्य नहीं है। इससे हानिकी बड़ी सम्भावना है। जब वैद्यक और इंजिनियरी आदिमें भी केवल पुस्तकज्ञानसे काम नहीं चलता, अनुभवी गुरुकी आवश्यकता होती है, तब योग-सरीखा साधन केवल पुस्तकज्ञानके आधारपर करना तो बहुत ही भयकी बात है।

अनुभवी गुरुसे जानकर भी यदि साधक उनकी बतायी हुई प्रत्येक बातको नहीं मानता, तो उसे भी सफलता नहीं हो सकती। बल्कि किसी-किसी प्रसंगमें तो उलटा नुकसान हो जाता है। अतएव यदि योगसाधना करनी हो तो पहले चित्तमें दृढ़ निश्चय करो, फिर गुरुको खोजो, और भगवत्कृपासे गुरु मिल जायँ तब उनकी एक-एक छोटी-से-छोटी बातको भी महत्त्वपूर्ण और परमावश्यक समझकर श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करो।

एक बात और है; सभी साधनोंका लक्ष्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। सारे ही योगोंकी गति उस एक ही परम योगकी ओर है। फिर ऐसा योग क्यों न साधना चाहिये, जिसमें रुकने या गिरनेका डर न हो, मार्गमें कष्ट भी न हो, सरल, सहज हो और इसी जीवनमें लक्ष्यतक पहुँच जानेका निश्चय हो। ऐसा योग है शरणागति-योग। भगवान्‌का अनन्य आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌का सतत स्मरण करते हुए अपने जीवनके सभी कर्मोंके द्वारा उन्हींकी पूजा करना और जीवनको सम्पूर्णतया उन्हींपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना। यही शरणागति-योग है। और सभी योगोंमें विघ्न हैं, परन्तु यह सर्वथा निर्विघ्न है। अतएव इसीको परम साधन समझकर इसीमें लग जाओ।

योगका अर्थ

(लेखक—डॉ० श्रीभगवानदासजी, एम्० ए०, डी० लिट्)

'कल्याण' के सम्पादकजीकी इच्छा है कि 'योग' के विषयपर 'योगाङ्क' के लिये लेख लिखा जाय। लेखसूची भी मिली। उसे देखकर लिखनेकी इच्छाके स्थानपर पढ़नेकी ही इच्छा प्रबल हुई। इन विषयोंपर प्रामाणिक लेख पढ़नेको मिलें तो अहोभाग्य। जिसको किसी विषयका साक्षात् अनुभव हो उसीको तो उस विषयपर लिखनेका अधिकार हो सकता है। अपने पास 'योग' का अनुभव नहीं। क्या लिखूँ? कई पत्र आये। इसलिये विवश होकर 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' अनुभवकी आड़में शरण लेकर, पढ़े और सुनेके भरोसे कुछ लिखता हूँ, यद्यपि 'परोक्ष' भी और 'अनुभव' भी यह व्याहत-सी ही बात है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता ६।४६)

योगकी महिमा ऐसी है। मेरे-ऐसा नितान्त अनजान उसपर क्या लिखे?

अमरकोषमें **'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु'** कहा है। पुराणकालमें जब देशकी बोली संस्कृत थी, तब युद्धके लिये योधाओंको 'सन्नहन', सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने और हथियार उठानेके लिये, **'योगो योगः'** ऐसी पुकार होती थी। 'उपाय' को भी 'योग' कहते हैं। वैद्यकमें नुसखेको भी 'योग' कहते हैं— **'इत्येको योगः', 'इति द्वितीयो योगः',** अर्थात् रोगको दूर करनेका उपाय। 'ध्यान' के विशेष प्रकारका नाम 'योग' प्रसिद्ध ही है। 'सङ्गति', सङ्गम, दो वस्तुओंका मिलना भी 'योग' है। तथा 'युक्ति' भी। 'युक्ति' का अर्थ उपाय भी है, और विशेष तर्क भी, जो खण्डन-मण्डनका उपाय ही है। दूसरे कोषकारोंने 'योग' शब्दके पैंतीस-चालीसतक अर्थ गिनाये हैं। इन सब रूढ़ अर्थोंका मूल यौगिक अर्थ ही है, अर्थात् दो पदार्थोंका मिलना, संयोग। यथा—योधाका कवच और हथियारसे संयोग, किसी इष्ट फलके साधनेके लिये विविध कारणों और करणोंका संयोग, औषधोंका संयोग, चित्तका ध्येय विषयसे संयोग, अन्ततः जीवात्मा-परमात्माका अभेदानुभवात्मक संयोग।

इस देशमें आपामरप्रसिद्ध रूढ अर्थ 'योग' का 'विशेष सिद्धि साधनेवाली चर्या' हो रहा है। शरीरकी और चित्तकी वह क्रिया, वह अभ्यास, जिससे कोई विशेष सिद्धि मिल जाय, 'योग' है। तथा योगी-योगिनी वह पुरुष या स्त्री जो कोई अलौकिक कर्म कर सके, जो साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।

देशके इस भोले विश्वासके भरोसे, कितने ही ठग केवल जटा बढ़ाकर, 'भभूत' (विभूति) रमाकर, आसन जमाकर, नशेकी चीजोंसे (गाँजा, भाँग, चण्डू, शराब आदिसे) आँख चढ़ाकर, तामस तपस्याके कुछ प्रकार साधकर, भीड़को दिखाकर, सीधी-सादी पर स्वार्थी— **'कृपणाः फलहेतवः',** दुनियावी छोटा-मोटा सुख उन जटाधारियों या दिगम्बरोंसे चाहनेवाली, जनताको धोखा देते फिरते हैं। ऐसोंसे आप खबरदार रहना और दूसरोंको करना, यह इस समयमें आवश्यक पहला कर्तव्य है। दूसरा कर्तव्य है योगके सच्चे अर्थका पता लगाना।

गुरवो (योगिनो) बहवस्तात शिष्यवित्तापहारकाः।
विरला गुरवस्ते ये शिष्यसन्तापहारकाः॥

सूफियोंने भी कहा है—

ऐ बसा इब्लीस् आदम-रूय अस्त।
पस् बहर् दस्ते न बायद् दाद दस्त॥

'आदमीकी शकल बनाये बहुतेरे शैतान दुनियामें फिरते रहते हैं, इसलिये जल्दीसे किसी आदमीको योगी और गुरु मानकर उसके हाथमें अपना हाथ रख देना नहीं चाहिये।' योगकी चर्चा भारतवर्षकी हवामें भरी है— हिन्दुओंमें 'योग' के नामसे, मुसलमानोंमें 'सुलूक' के नामसे। पुराण-इतिहासमें, योगवासिष्ठमें, साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें, स्मृतियोंमें, दार्शनिक ग्रन्थोंमें, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, गोरक्षसंहिता आदि सैकड़ों निबन्धोंमें, हठयोग, राजयोग, लययोग आदि तरह-तरहके योगोंकी बातें लिखी हैं। पर **'श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः',** कही-सुनी बातको प्रत्यक्ष कर दिखानेवाले प्रायः मिलते नहीं। मिलें भी कैसे? जैसे खोजनेवाले वैसे पाये जानेवाले।

साँचे मनके मीता प्रभुजी, साँचे मनके मीता।

सच्चे मनसे कोई खोजता नहीं, सांसारिक लालचोंसे ही खोजता है। इसलिये ढोंगी, दाम्भिकों, ठगोंको ही पाता है। योगसूत्रभाष्यमें कहा है—'**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।**' जिसका मन सचमुच स्वाध्यायमें, मोक्षशास्त्रोंके अध्ययनमें, प्रणव आदि पवित्र मन्त्रोंके जपमें, सच्ची मुमुक्षासे लगा हो, उसके पास देवता, ऋषि, सिद्ध पुरुष, आप ही आकर उसकी सहायता जाग्रदवस्था अथवा स्वप्नावस्थामें करते हैं। बिना सात्त्विक तपस्याके, बिना यम-नियमादिका अंशतः भी सेवन किये 'योग' कैसे मिले? कठोपनिषद्में कहा है कि कठिन परीक्षाके बाद यमराजने नचिकेता बालकको '**योगविधिं च कृत्स्नम्**' बताया तथा मुण्डकमें कहा है—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्। नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

जिन्होंने 'शिरोव्रत' नामक योग और तपस्याके प्रकारका चरण नहीं किया वे ब्रह्मज्ञानके अधिकारी नहीं। देवीभागवतके एकादश स्कन्धमें 'शिरोव्रत' के प्रकारका संकेत किया है। सुप्त 'कुण्डलिनी' शक्तिके जागरण, उत्थापन, सञ्चालन, शिरःस्थित ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उन्नयन आदिकी बात 'शिरोव्रत' के सम्बन्धमें कही है। पर इस सबका ठीक अर्थ क्या है, 'कुण्डलिनी' क्या है, उसका उत्थापन, संनयन कैसा होता है, यह सब केवल पोथीमें पढ़ लेने या ज़बानी कह-सुन लेनेसे ही नहीं समझमें आता। यह प्रक्रियाके, अभ्यासके और सद्गुरुकी देख-रेखमें ही प्रयोगके अधीन है। वायुयानका वर्णन अच्छी वैज्ञानिक पुस्तकमें भी पढ़ लेनेसे, वायुयानको बनाने और उड़ाने-चलानेकी शक्ति नहीं हो जाती। विशेषज्ञ प्रयोक्ताके पास बहुत परिश्रम और अभ्याससे ही हो सकती है।

भगवद्गीताके सात सौ श्लोकोंमें, **योगः, योगी, युक्तः, योगारूढः, युञ्जन्, युञ्जीत, योगयज्ञाः, योगसेवया, सांख्ययोगौ** इत्यादि 'युज्' धातुसे बने शब्द और उनके साथ समस्त पद एक सौ अठारह बार आये हैं। गीताकी शब्दानुक्रमणी देखनेसे यह जान पड़ता है। इनके सिवा प्रति अध्यायके समाप्तिपर जो उसका नाम दिया है उसको भी गिनें तो अठारह और होते हैं। '**आत्मा**', '**अहं**', '**बुद्धि**', '**योग**'—ये ही चार शब्द और इनके प्रकार-विकार सबसे अधिक बार गीतामें कहे गये हैं। स्वयं श्रीकृष्णभगवान्ने 'योग' की परिभाषा क्या की है?

समत्वं योग उच्यते (२।४८)
योगः कर्मसु कौशलम् (२।५०)
निःस्पृहः युक्त उच्यते
अर्थात्—
योगो निःस्पृहता स्मृता (६।१२)
दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् (६।२३)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

अर्थात्—
(आत्मौपम्येन सर्वत्र योगस्तु समदर्शनम्।)
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।
(६।४७)

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२।२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९।३४)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८।६४-६५)

अर्थात्—
(आत्मश्रद्धात्मभक्तिश्चाप्यात्मयज्ञनमस्क्रिये ।
आत्मन्येवापि मनसः सर्वथा विनिवेशनम्॥
अयं गुह्यतमः श्रेष्ठः परो योगतमः स्मृतः।)

सारांश, श्रीकृष्णजीका मत यही है कि जीवका परमात्माके साथ अपना अभेद सर्वदा सर्वथा अनुभव करते रहना, और इसके कारण सब जीवोंके साथ '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' व्यवहार करना—यही परमयोग, जीवात्मा-परमात्माका अभेदात्मक संयोग और भेदभावजनित दुःखोंका वियोग है। यहाँ 'योग' शब्द योगसे साधनीय अवस्थाके अर्थमें कहा गया है। योग तो साधन है। जीवात्मा-परमात्माका अभेद, कैवल्य, यह साध्य है।

योगसूत्र, योगभाष्यके सिद्धान्त सब इस निष्कर्षके अनुकूल ही जान पड़ते हैं।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

चित्तकी वृत्तियोंका, भेदानुभवात्मक स्वच्छन्द प्रवृत्तियोंका निरोध करना—यह योग है। यदि सब वृत्तियोंका निरोध हो जाय तो द्रष्टा, पुरुष, जीवात्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, **'अहमेव केवलः' 'अहमेव न मत्तोऽन्यत्'** (भागवत ११। १३। २४), इस 'कैवल्य' का अनुभव करता है। योग-सूत्र-भाष्यमें जीवात्मा-परमात्माके अभेदकी चर्चा नहीं की है, सांख्यानुकूल 'पुरुषबहुत्व' माना है, और **'पुरुषविशेष ईश्वरः', 'पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्',** 'क्लेशादिसे अपरामृष्ट', 'निरतिशयसर्वज्ञबीज' आदि कहा और माना है। वेदान्तकी दृष्टिसे यह ठीक नहीं पड़ता। इसीलिये ब्रह्मसूत्रमें **'योगः प्रत्युक्तः'** कहा है। पर योगशास्त्रकी प्रारम्भिक दृष्टिसे ही पुरुषविशेष देख पड़ता है। अन्तिम दृष्टिका वेदान्तदृष्टिमें ही पर्यवसान होता है; क्योंकि पुरुषविशेष भी, और कालाद्यतीत, क्लेशाद्यपरामृष्ट भी, यह बात बनती नहीं। 'विशेष' तो देश-कालादिसे अवच्छिन्न होता है। योगाभ्यास, मनन, विचारणका, भेद-दृष्टि, विशेषदृष्टिसे जीव आरम्भ करता है। अन्तमें अभेदका, कैवल्यका दर्शन करता है। तब अपने असली स्वरूपको, परमात्मासे अपनी एकताको पहचानता है, और उसमें स्थित हो जाता है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपे, स्वे महिम्नि, भूम्नि, अन्यनिषेधके, भेदभावप्रतिषेधके, स्वभावे, स्वविभवे, विभुत्वे, व्यापकत्वे, स्थितः', 'अहमेव सर्वः'।**

एकका निरोध, दूसरेका अनुरोध। वृत्तियोंका, दृश्योंका निरोध, द्रष्टाका अनुरोध। एक ओर वैराग्य, दूसरी ओर अभ्यास। एक ओरसे हटना, दूसरी ओर सटना। प्रकृतिकी विकृतियोंको, विकारोंको छोड़ना, आत्माको पकड़ना। **'एतत् न इति'** के साथ **'अहम् इति'** कहना। यदि ऐसा न होता तो केवल निषेधात्मक निरोध अकिञ्चित्कर होता, सुषुप्ति—निद्रामात्र होता।

योगसूत्रभाष्यके प्रक्रियांशको छोड़कर दर्शनांशमें जो अन्य शङ्काएँ उठती हैं उनका यों ही समाधान करना उचित जान पड़ता है। यथा—**'वृत्तयः पञ्चतय्यः',** पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमें 'विपर्यय' को गिनाया है और फिर **'पञ्चक्लेशाः'** में अविद्याको प्रथम कहा है, और उसका लक्षण **'विद्याविपरीतं ज्ञानमविद्या'** कहा है। अर्थात् जो 'विपर्यय' वही 'अविद्या'। और अविद्या ही मुख्य क्लेश है, अन्य चार क्लेशोंकी जड़मूल है। पर **'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः'** यह भी सूत्रहीमें कहा है। तो 'विपर्यय'-रूपिणी, 'अविद्या'-रूपिणी, 'मिथ्याज्ञान'-रूपिणी, 'मुख्यक्लेश'-रूपिणी वृत्ति 'अक्लिष्ट' भी हो सकती है—यह बात जल्दी समझमें नहीं आती। एवं चित्तवृत्तिका निरोध करनेवाला कौन है, स्वयं चित्त ही या पुरुष? परन्तु पुरुष तो अपरिणामिनी चितिशक्ति है, निष्क्रिय है। और चित्त अपना निरोध क्यों करे, किस उद्देश्यसे करे? यदि इष्टसाधनबुद्धिपूर्वक उसमें अपना आत्मघात करनेकी शक्ति है (जो कि व्याहत बात है) तो फिर वही चैतन्यमय सर्वशक्तिमान् ठहरा, उससे भिन्न 'पुरुष' क्यों माना जाय? ऐसी ही सूक्ष्मेक्षिकाओंके कारण आरम्भिक दृष्टिको छोड़कर अन्तिम दृष्टिपर स्थिति करना पड़ता है। वही 'सम्प्रज्ञातयोग' का मुख्य लक्ष्य वा साध्य जीवन्मुक्ति-दृष्टि जान पड़ती है। तथा 'असम्प्रज्ञातयोग' की पराकाष्ठा यह जान पड़ती है कि जब भेदभाव सर्वथा अस्त हो जाय और उसका सूचक स्थूल-सूक्ष्म आदि शरीर कुछ भी न रहे, तब विदेह कैवल्य प्राप्त हो।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जीवात्मा-परमात्माका योग, अभेदात्मक संयोग ही मुख्य योग। इस एकत्वके 'प्रत्यभिज्ञान', पहिचानको जगानेवाले उपाय—गौण योग। यों तो, **'योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः'** (योगभाष्य)। चित्तकी सभी पाँचों क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, समाहित भूमियों, अवस्थाओंमें, कमबेश 'योग' होता है। तितलीके पीछे आँख दौड़ाता हुआ क्षिप्तचित्त बच्चा, गुरुजीके आदर वा भयसे, वर्णमालाकी पोथीमें 'क', 'ख' पर जो एक-एक क्षणके लिये मनोयोग कर देता है, वह भी उस क्षणमें और उस क्षणभरके लिये योग ही है। एवं लैलाके लिये मजनूँकी, एवं **'पाती लेके आये दौरे, ऊधौ तुम भये बौरे, योग कहाँ राखैं, यहाँ रोम-रोम स्याम है'** यह व्रजगोपिकाओंकी, सात्त्विक विक्षिप्त-अवस्था तो (जो द्वैतभावात्मक भक्तिकी दृष्टिसे 'एकाग्रता' और 'समाधि' की भूमियोंसे भी ऊँची है) योगसे

अधिकांश भरी है। इसीसे तो 'इश्के मजाज़ी' को, मानवस्नेह—प्रेम——अनुरागको, 'इश्के हक़ीकी' का, **'वासुदेवः सर्वमिति'**, **'सर्वमात्मैवाभूत्'**, विश्वभक्तिका दर्वाज़ा कहा है। एवं पश्चिम देशके यशस्वी विज्ञानाचार्योंने बड़ी-बड़ी गवेषणासे बड़े-बड़े आविष्कार किये हैं, बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक सिद्धियाँ साधी हैं, यह सब चित्तकी चौथी भूमि, बड़ी एकाग्रताका फल हैं। बल्कि यह कहना भी अनुचित न होगा कि कुछ अंशतक पाँचवीं भूमि 'समाधि' में पहुँचनेसे, **'स्वरूपशून्य इव'** **'तन्मय इव'**, **'अर्थमात्रनिर्भास इव'** होनेसे मिली हैं।

योग-सूत्र-भाष्य प्रभृति ग्रन्थोंमें कही हुई सिद्धियाँ इन वैज्ञानिक सिद्धियोंसे बहुत आगे बढ़कर हैं। इनकी भी चर्चा एक सूत्रमें की है। **'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः'**। वैज्ञानिक सिद्धियोंको यदि ओषधिजा और मन्त्रजा और तपोजा कहें तो अनुचित न होगा। हाँ, **'ओषधि'** **'मन्त्र'** और **'तपः'** शब्दोंका अर्थ थोड़ा संकोच छोड़कर विस्तारसे करना होगा। योगोक्त सम्प्रज्ञात समाधिजा सिद्धियाँ कठिन तपस्या और अभ्याससे मिलती हैं—ऐसी पौराणिक प्रथा है, और स्पष्ट ही है कि सहजमें नहीं मिल सकतीं।

समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः।

—कहकर ऐसी सिद्धियोंका अपवाद-सा भी योगसूत्रमें किया है। तथा भागवतके एकादश स्कन्धके १४, १५, २८ आदि अध्यायोंमें भी स्वयं श्रीकृष्णजीके मुखसे, यथा—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्॥
न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥

इत्यादि।

साथ ही इसके यह भी कहा है—

जितेन्द्रियस्यायुक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥
उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः।
जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वाः नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्॥
सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्॥

अर्थात् जो परमात्माकी उपासनामें लीन है, सर्वभूतहिते रत है, सर्वमय हो रहा है, उसको विशेष स्वार्थइच्छा किसी प्रकारकी सिद्धियोंकी नहीं हो सकती। हाँ, जीवन्मुक्तावस्थामें, शरीरधारणावस्थामें, कालक्षेपके लिये, स्थूलेन्द्रियोंके प्रयोग और मात्रास्पर्श और तत्तद्विषय-सम्पर्क और तज्जनित सुख-दुःख कम हो जानेपर, दिव्य अनुभवार्थ, तथा अधिक लोकोपकारशक्त्यर्थ, अन्तरात्माकी प्रेरणासे आपसे आप सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

निष्कर्ष यह कि योगसाधनद्वारा स्वार्थबुद्धिसे सिद्धियोंकी आकांक्षा-अभिलाषा न करे, नहीं तो दुर्गति होगी, जैसी दानवों, दैत्यों, राक्षसोंकी, कठिन-कठिन तपस्यासे, भारी-भारी सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त करके हुई, और जैसी प्रत्यक्ष, हमलोगोंकी आँखोंके सामने, पाश्चात्त्य विज्ञानकी यन्त्रात्मक सिद्धियोंसे पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य समस्त मानवजगत्‌की हो रही है।

एकमात्र सात्त्विक भावसे **'आत्मौपम्येन सर्वत्र'** सर्वदर्शी हो, 'मन्मना' हो, तपस्या, सद्व्यवहार, त्याग, धर्मका आचरण करे, जबतक शरीर रहे तबतक। यदि इस बीचमें, उसकी चित्तशुद्धिके कारण अन्तरात्मा-परमात्माको ही मंजूर हो कि उसके शरीरसे कुछ विशेष लोकसेवा ली जाय, तो वही इस शरीरमें सिद्धियाँ स्वयं उत्पन्न करेगा, जैसे विश्वासपात्र सज्जनको लोग अपनी निधि न्यासरक्षाके लिये आप सौंपते हैं, वह माँगने नहीं जाता, और उन सिद्धियों-शक्तियोंसे लोकसेवा अधिक कर सकेगा।

इस प्रकारसे यही समझमें आता है कि—

'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्'।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

वेदान्त और योग

(लेखक—डॉ० श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार)

हिन्दुस्तानका जीवन और तत्त्वज्ञान सदा एक साथ रहा है। तत्त्वज्ञानका अर्थ हिन्दुस्तानमें केवल 'पदार्थोंको विचारदृष्टिसे देखना' ही नहीं है। तत्त्वज्ञानका वास्तविक अर्थ तो आत्मप्रकाश है। इसलिये हिन्दुस्तानके तत्त्व-वेत्ता केवल सिद्धान्तका प्रतिपादन कर चुप नहीं रहते, किन्तु साथ ही ऐसी साधना भी बतलाते हैं जिससे आत्मबोधके जो अनेक स्तर हैं वे खुल जायँ और अन्तमें सत्यका साक्षात्कार हो। वेदान्तमें इस विषयकी समीक्षा विचारदृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि दोनोंसे होती है। इसलिये यह एक 'दर्शन' भी है और साथ ही आत्मस्फूर्ति भी।

इसकी विचारदृष्टिमें सविशेष ब्रह्म और निर्विशेष ब्रह्म दोनों एक चीज नहीं हैं; ब्रह्म एक ही है और वह निर्विशेष है, उसपर मायाका जो विश्वप्रपञ्च दीखता है वह केवल भ्रम है। अद्वैत वेदान्तका यही परम सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तको माननेवाला कोई भी साधक तबतक सन्तुष्ट नहीं हो सकता जबतक उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्यका साक्षात् अनुभव न हो। इस सत्यके अनुभव करनेका सर्वोत्तम मार्ग यही है कि बुद्धि इतनी निर्मल और ज्ञानप्रवण हो जाय कि वह सदसत् या नित्यानित्यके भेदको अनुभव कर सके। वेदान्तकी साधना मुख्यतया ज्ञानसाधना है, जिसके अभ्याससे धीरे-धीरे वह बोध होता है जिससे सब पदार्थ एक ही सनातन सत्तामें देख पड़ते हैं। वेदान्तकी मुख्य साधना 'दृश्यमार्जन' है अर्थात् पदार्थों और उनके रूपोंको नित्यानित्यवस्तुविवेकसे देखकर सत्‌को असत्‌से अलग करना। इस व्यतिरेक-क्रमसे साधकको सबके आधारभूत एक ही सत्‌की सत्ताका साक्षात्कार हो सकता है।

वेदान्तके मननादिरूप अभ्याससे ऐसी विचारप्रणाली बँधती है और मनको ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि पीछे सदसत्‌का ज्ञान (विचारकी अपेक्षा न रख) अपने-आप ही होने लगता है और सत्‌की जो सर्वत्र व्याप्त समसत्ता है वह अनुभूत होती है। वेदान्त दार्शनिक सिद्धान्तके नाते सत्‌के साथ नामरूपात्मक जगत्‌का समन्वय नहीं साध सका है; क्योंकि इसका सिद्धान्त ही यह है कि नामरूपात्मक जगत् ब्रह्मपर आरोपित एक मानसिक व्यापार मात्र है, यथार्थमें ब्रह्ममें उसकी कोई सत्ता नहीं है। कारणमें कार्यके होनेकी बातको वेदान्त परमार्थतः नहीं स्वीकार करता, यद्यपि यह मानी हुई बात है कि कारण ही कार्यके रूपमें भासता है।

सामान्य सांसारिक बुद्धिमें यह नामरूपात्मक जगत् सत्य है। इसलिये वेदान्त सृष्टिरचनाका क्रम बतलाते हुए, माया और ईश्वर इन दो तत्त्वोंको मानकर चलता है। मायाको ब्रह्मका व्यष्टितत्त्व माना है। इस व्यष्टितत्त्वकी सत्ता अवश्य ही वैसी नहीं है जैसी कि ब्रह्मकी सत्ता। वेदान्तका विचार इस प्रकार है कि मनुष्यकी बुद्धिको जब यह तत्त्वजिज्ञासा होती है कि इस दृश्य जगत्‌का कारण क्या है, तब उसे कारणके लिये मूल् सत्ताकी ही भावना करनी पड़ती है। यह मूल सत्ता अवश्य ही ऐसी सत्ता है जिसमें इस नामरूपात्मक विश्वकी विविध रचनाके लिये किञ्चित् भी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। व्यष्टितत्त्व केवल मायामें कल्पित है।

परब्रह्मके अन्दर अपने-आपको परिच्छिन्न और परिवृत करनेवाला जो तत्त्व है उसे माया कहते हैं। मानो ब्रह्म अपने सङ्कल्प और सृष्टिक्रममें अपने-आपको बाँधता है। पर यह केवल प्रतीत होता है; ऐसा है नहीं।

इस ज्ञानके आधारपर वेदान्तकी साधना प्रतिष्ठित है, इस कारण इसमें दृश्य जगत्‌से विरक्तका भाव धारण करना स्वाभाविक ही हो गया है। वेदान्तमें जीवनको प्रापञ्चिक और पारमार्थिक दोनों ही रूपोंमें साधा जाता है और यद्यपि प्रापञ्चिककी सत्ता वेदान्तने अस्वीकार की है तथापि उसके व्यावहारिक उपयोगको उसने ग्रहण किया है। इसी दृष्टिसे वेदान्तने जीवनमें तथा आत्मानुभूतिके क्षेत्रमें भी एक नया रास्ता निकाला है—गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके पश्चात् अवश्य ही इस रास्तेका कुछ महत्त्व नहीं रह जाता। बात यह है कि वेदान्तका वास्तविक कार्य चैतन्यको अज्ञानसे मुक्त कर देना है; पर मुक्ति भी क्रमशः होती है, पहले साधकके जीवनमें ऐसी शुद्धता और सूक्ष्मता आती है जो सामान्य सांसारिक जीवनमें नहीं होती। वेदान्तमें आध्यात्मिक जीवनके दो भाग किये जा सकते हैं—एक अध्यात्ममूलक व्यावहारिक

साधन और दूसरा आध्यात्मिक परा गति। पूर्वोक्त साधन करते हुए चित्त शुद्ध और बुद्धिबोधशक्ति सूक्ष्म होती जाती है। यह साधनावस्था देहाभिमानी अबोध प्राकृत जीवनकी अपेक्षा उन्नत जीवन है। यह दिव्य जीवन है, क्योंकि इसमें क्रमशः उन शुभ वृत्तियोंका उदय होता है जो अज्ञानसे दबी रहती हैं और जीवनमें स्वच्छता और पवित्रताका आनन्द आता है; यहाँ साधनामें तो क्रमविकास हो रहा है, पर इस हालतमें भी लक्ष्य वही निर्गुण ब्रह्म है जिसमें कोई विकार नहीं होता। यह विकास अवश्य ही अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि इसमें दैवी वृत्तियाँ उदय होती हैं और विकासक्रममें यह ऊँची चढ़ाई है; तथापि जीवनका सूत्र जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें वही एक ही चला आता है और इस कारण द्विधाविभक्त बोधके बोझसे जीवन दब जाता है।

वेदान्तमें आत्मानुभवके दो मार्ग हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष मार्ग है नित्यानित्यवस्तु-विवेक। इसका ऐसा अभ्यास हो कि छोटी-छोटी बातोंमें भी मन विवेकसे च्युत न हो और प्रत्येक पदार्थमें उसी अविकार्य सत्को ढूँढे।

परन्तु प्रत्येक पदार्थमें सत्को ढूँढ़नेकी इस वृत्तिसे बाह्य पदार्थोंकी सत्ताका लोप हो सकता है और पदार्थमात्रके मूलमें अव्यय चैतन्य प्रकट हो सकता है।

इस प्रकार दृश्यमार्जनकी पद्धतिसे जैसे पृथक् सत्ता-सी प्रतीत होनेवाली अनात्म प्रकृतिके रूपमें भासनेवाला बाह्य अन्तराय नष्ट हो जाता है, वैसे ही आभ्यन्तर प्रकृति (मन-बुद्धि आदि)-के अवहित निरीक्षण-क्रमसे उसकी भी अनित्यता और क्षण-क्षणमें पलटनेकी वृत्ति प्रकट हो जाती है। यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि हमारी चेतनप्रकृति स्वभावसे गतिशील है।

वेदान्तने हमारी आन्तर प्रकृति और हमारे चित्स्वरूप-में भेद बताया है। मनुष्यका अन्तःकरण चित्स्वरूपको प्रतिबिम्बित करता और प्रकाशयुक्त देख पड़ता है; पर यह आत्माकी अन्तःकरणपर पड़ी हुई केवल छाया है।

यहाँ भी, वेदान्तमें विचारणाके द्वारा आन्तर प्रकृतिके चक्करोंमेंसे बाहर निकलकर अन्तर्हित आत्माको पुनः प्राप्त करना होता है। इसके लिये चेतन प्रकृतिके केन्द्रस्थानमें अर्थात् उस कालातीत सत्तामें जो आन्तर प्रकृतिकी अप्रतिहत सतत गतिमें सदा स्थिर और अव्यवहित रहती है, दृष्टिको एकाग्र करना पड़ता है। आन्तर प्रकृतिकी विकृतियोंको इस प्रकार देखनेका जो अभ्यास है उससे दृष्टि विशाल होती है और क्रमशः अन्तःसाक्षीका साक्षात्कार होता है। यह अन्तःसाक्षी शान्तिस्वरूप है और मन, बुद्धि, अहङ्कारकी वृत्तियोंके खेलका द्रष्टा है। यह द्रष्टा है, नैयायिकोंका कर्ता नहीं; यह मोक्षस्वरूप है, काल और कालावच्छिन्न आन्तर प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त।

द्रष्टा गुणी या कर्मी नहीं है, उसमें गुण और कर्म होनेका मतलब तो यह होगा कि उसका द्रष्टृत्व और कर्तृत्व अन्तःकरणमें आबद्ध है। यह मोक्षस्वरूप है, वैसा कर्ता नहीं जो अन्तःकरणमें अपना प्रतिबिम्ब डाले, उसे प्रकाशित करे, अभिप्राय व्यक्त करे अथवा किसी प्रकारका भी कोई काम करे। द्रष्टाके इस मुक्तस्वरूपको श्रीमतशङ्कराचार्यने पहचाना, कैंट आदि नहीं पहचान सके।

मोक्षस्वरूप द्रष्टृत्व ही आध्यात्मिक और पारमार्थिक अनुभूतिकी पराकाष्ठा है। इस अनुभूतिमें जीव और ईश्वर, हृत्पुरुष और विराट्पुरुष इस प्रकारका कोई भेद नहीं रह जाता। कारण, यथार्थमें वेदान्तका 'तत्त्वमसि' महावाक्य किसी प्रकारका समन्वय नहीं है, बल्कि वह परा स्थिति है जिसमें भेद या समन्वयका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतः वास्तविक वैदान्तिक साधना इसी परम बोधको प्राप्त होनेका प्रयास है जहाँ ये सामान्य संकुचित भेदज्ञान नहीं रह पाते।

वेदान्तकी साधना इसी ज्ञान-धारणापर निर्भर करती है कि अनेकत्व जो कुछ देखनेमें आता है वह सब मिथ्या है और चिन्मय ब्रह्मका जीव या ईश्वररूपमें घनीभूत होकर कर्म करना भी मिथ्या है और अद्वितीय सत्य केवल वही परब्रह्म है जो इन सबके परे है। सविशेष और निर्विशेष ब्रह्मके इस भेदको जानना और सविशेषको अनित्य और मिथ्या मानना वास्तविक ज्ञानका आरम्भ है। पर सविशेषको केवल अनित्य माननेसे पूरा काम नहीं होता, इसके साथ इसके परे जो अद्वितीय सत्य है उसकी खोज होनी चाहिये। इससे उस चैतन्यके कपाट खुलते हैं जो न अक्रिय है न सक्रिय, मन और वाणीसे जिसका वर्णन ही नहीं हो पाता।

ऐसी साधना और ऐसी अनुभूति उन उदार आत्माओंसे

ही बन पड़ती है जिन्होंने प्रखर वैराग्यसाधन किया है और बोधशक्तिका तुरीय मान खोल दिया है।

इस बोधको प्राप्त होनेकी अवस्था पहले तर्कसे जानी जा सकती है, पर है यह यथार्थमें मनकी साधना। वस्तु जब प्रत्यक्ष या समीप होती है तभी विश्वासकी पूर्णता होती है। इसका यह मतलब है कि इस वेदान्त-सिद्धान्तका सतत मनन और निदिध्यासन हो। इससे वृत्ति ब्रह्माकार होती है और मन और अहङ्कारकी दुस्तर मायाको तर जानेमें बड़ी मदद मिलती है और मन अन्तर्मुख होकर जीवनके उस क्षेत्रमें प्रवेश करता है जो देशकालके परे है। वेदान्तमें योगका माहात्म्य यही है।

'योग' शब्दके अनेक अर्थ और रूप हैं, पर इसका जो सर्वसम्मत अर्थ है वह चैतन्यके विविध स्तरोंका खुलना ही है। और योगका लक्ष्य प्रायः आत्माकी विज्ञानमय स्थितिपर पड़े हुए आवरणको हटाना, चित्तको अधिकाधिक चिन्मय बनाना और विश्वजीवनके जगमग प्राणस्वरूपको अपने अन्दर अनुभव करना होता है। विज्ञानमय जीवनका जो विस्तृत क्षेत्र है, जो विविध ब्रह्माण्डोंमें तरतमभावसे प्रकट हुआ है, जीव उसी क्षेत्रमें पहुँचनेकी इच्छा करता है। योगसे विश्वजीवनका सूत्र हाथमें आता है और जीव भगवत्सत्ताके साथ सगुणरूपमें मिलना चाहता है।

यह मार्ग अप्रत्यक्ष है; क्योंकि यह सान्त साकार चैतन्यको आधारभूमिके तौरपर ग्रहण करनेका एकबारगी निषेध नहीं करता। पर इसका लक्ष्य क्रमशः सान्त जीवनमें अनन्त जीवनको भरना और सान्त चिन्मय सत्ताको अनन्तकी वृत्ति, शक्ति और ज्ञप्तिमें मिला देना ही है। जो लोग उपासनामार्गी हैं और अपर ब्रह्मका ध्यान करते हैं उन्हें सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता ही है।

इस योगका वास्तविक स्वरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके सगुण रूपका एकाग्रध्यान और उसीमें मिलना है। यह मिलन अन्तःकरणमें होता है और तब शान्ति और शक्तिका उदय होता है। पर इसमें साधनकी मुख्य और गुप्त बात यह है कि हमारे स्थूल शरीर और स्थूल प्राण हमारे वशमें हों और सूक्ष्म प्राण और सूक्ष्म अन्तःकरणके साथ अपने जीवनका अभेद-सम्बन्ध हो।

जब हमारी प्रकृतिकी जडता दूर होगी तब सगुण ब्रह्मकी सूक्ष्म जीवनधाराओंकी अनुभूति होगी। पर इस मार्गकी परिसमाप्ति तब होती है जब अन्तःकरणमें सगुण ब्रह्मका, केवल जब कभी नहीं बल्कि सतत अनुभव हो। जिनको ऐसा सतत अनुभव होता है उनमें प्रचण्ड शक्ति और अगाध ज्ञान होता है, क्योंकि सगुण ब्रह्मके साथ उनका जीवनसूत्र इस तरह मिला हुआ होता है कि ईश्वरीय कार्योंकी उन्हें स्पष्ट सूचना मिलती रहती है और विश्वजीवनकी गतिके साथ-साथ उनके पैर पड़ा करते हैं।

यह जो सगुण-साधक योग है उससे ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करनेकी वृत्ति अत्यन्त प्रबल होती है और वह सायुज्यमुक्तिके साधनके लिये साधकको तैयार करती है।

वेदान्तके इस योगमें जीव और शिवकी जो एकरूपता होती है वह एकरूपता केवल परात्पर ब्रह्मकी स्थितिमें ही नहीं होती—परात्पर ब्रह्मके साथ एकरूप होना तो इस योगकी परिसमाप्ति ही है—बल्कि त्रिगुणात्मक जगत्कर्ममें भी ईश्वरके साथ जीव एकरूप होता है और यह यों होता है कि वेदान्तमें व्यवहारतः जीव और ईश्वरमें भेद है, परमार्थतः नहीं है। इस तरह मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छामें भेद है, और इसलिये वेदान्तमें मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छाके योगका विधान है। वेदान्तकी साधनामें योगके इस अङ्गपर जो अधिक ध्यान दिया-दिलाया जाता है, इसका कारण यह है कि मोक्षका ध्यान मुख्य होनेसे इसका ध्यान दब-सा गया है।

ईश्वर और जीवकी इच्छाके एक होनेका अर्थ तो वास्तवमें यही है कि मनुष्यकी इच्छा ईश्वरेच्छाके पूर्ण शरणागत हो; पर यह शरणागति 'जो कुछ होता है, होने दो' ऐसा मानकर चुप पड़े रहनेकी स्थिति नहीं है, बल्कि अपनी इच्छाको नये साँचेमें ढालना है और अपनी वृत्तिको विश्वकी गतिके साथ मिलाना है। इस प्रकार मनुष्यका चित्त अहङ्कार और ममकारकी सीमा तोड़कर अन्तमें अपने परमात्मस्वरूपको अनुभव करता है। तब वह विधि-निषेधरूप कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है और उस लोकमें प्रवेश करता है जहाँ सब चित्त पृथक् होते हुए भी एक होते हैं और यहाँ उसका व्यष्टि-अहङ्कार और ममकार पीछे छूट जाता है। वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यकी चित्तवृत्ति इतनी विशाल हो सकती है कि उसमें अहंता-ममता कुछ रह ही न जाय। चित्तका वास्तविक मोक्ष यही है, क्योंकि इसीसे उसको अपने स्वच्छन्द, विश्वव्याप्त और विधि-निषेधातीत

तथा निरहङ्कार स्वरूपका बोध होता है।

यही चित्तका मोक्ष है, क्योंकि यही चित्तको सब प्रकारकी सीमाओंसे मुक्त कर देता है। पर यह मोक्ष वह मोक्ष नहीं है जो परात्पर ब्रह्मके साक्षात्कारसे प्राप्त होता है। यह केवल चित्तवृत्तिका स्वातन्त्र्य है और वह आत्माका स्वातन्त्र्य है। वेदान्त आत्मस्वातन्त्र्यको ही उच्चतर स्थिति मानता है, जिसमें ध्याता-ध्यान-ध्येयकी त्रिपुटी समाप्त हो जाती है।

इस सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मता होनेसे अहंता-ममतारूप सत्ता बदलकर सत्ताका कुछ दूसरा ही स्वरूप हो जाता है और अपनी ससीमताका ध्यान भी नहीं रहता। यद्यपि पूर्वके संस्कार इस अवस्थामें भी उठकर अहङ्कारके समवस्थित करनेमें सचेष्ट होते हैं तथापि सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मताका जो भाव है वह अहंभावसे क्रमशः मुक्ति दिलानेवाला है। और उससे अन्तःकरणमें अनन्तकी सत्ता स्थापित होती है। अन्तःकरणका इस प्रकार पूर्ण परिवर्तन होनेसे बाह्य जगत्के अनुभव करनेका प्रकार भी बदल जाता है। फिर व्यक्तिगत या व्यष्टिगत स्वरूपमें रमना नहीं होता, अव्यक्त अनन्तकी अनुभूति होने लगती है।

यह मानना कि पृथक् मन और अहङ्कारके बिना कोई प्रतीति नहीं हो सकती, गलत है। प्रतीति—अनुभूति—बोधको अहङ्कारकी विमूढतासे मुक्त करना ही वेदान्त सिखाता है।

इस मुक्तिके बिना चित्तवृत्ति या इच्छाका मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि बोधशक्ति और चित्तवृत्तिका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक साथ ही रहती हैं। इस प्रकार वैयक्तिक मनोगत इच्छा या सङ्कल्पसे मुक्त होकर ही साधक विश्वात्मा और विश्वसङ्कल्पको साक्षात् करके विश्वबोधके आनन्दको प्राप्त होता है।

बोधशक्ति और चित्तवृत्तिको इस प्रकार नियत करनेसे इतना ही होता है कि मुक्तिका आस्वाद मिलनेसे आगे बढ़नेको जी चाहता है—इससे यह नहीं होता कि त्रिगुणकी वृत्तियोंसे पूर्ण मोक्ष मिल जाय। कारण, यह भी साधनकी अवस्था है—चेष्टा है और चेष्टा चाहे कितनी भी स्वयं स्फूर्त हो वह बद्धताका ही लक्षण है—मुक्त आत्मस्वरूप नहीं। इसलिये वेदान्तका अन्तिम लक्ष्य इस सगुणकी अवस्थाके परे पहुँचना है। यह तब हो सकता है जब हम विश्वात्मबोधसे क्रमशः ऊपर उठकर उस परम भावको प्राप्त हों जहाँ कोई इच्छा नहीं है, केवल एक अद्वितीय परमात्मसत्ता है—वहाँ कोई चेष्टा नहीं है, न फल पानेका कोई सुख है, प्रत्युत एक ऐसा आनन्द है जो चिन्मय है।

पूर्वसाधनासे चित्तवृत्ति उन्नत, उदार और विशाल होती है, और उत्तर साधनासे परा सत्ता—परम भावका बोध होता है। चित्तवृत्ति देशकालसे सर्वथा स्वाधीन नहीं है, उसे कार्यरूपमें व्यक्त होनेके लिये किसी-न-किसी माध्यमकी आवश्यकता होती है और माध्यमकी इस आड़के कारण अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये वेदान्तमें योगका वास्तविक परम अर्थ वह साधन है जिससे देशकालाद्यनवच्छिन्न नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मचैतन्यमें चित्त लग जाय—पूर्वसाधनामें चैतन्यका जो देशकालावच्छिन्न परिचित-अभ्यस्त व्यक्त रूप है उससे चित्त मुक्त हो, क्योंकि देशकालावच्छिन्नता ही यहाँ बद्धता है। कैंटके 'विशुद्ध तर्क' वाद (Pure reason)-में बुद्धिकी विषयातीत सत्ता होनेसे उसमें देशकालसे स्वतन्त्र स्वतःसिद्ध बुद्धिके साथ बाह्य जगत्के तदनुरूप होनेवाले बोधकी समन्वित एकता साधित हो सकती है, पर यह जो बाह्य जगत्का बोध है वह तो देशकालसे परिच्छिन्न ही है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

वेदान्तने उस चिन्मय ब्रह्मका पता पाया है जो देशकालके परे है। वह गुणवृत्तियोंसे सर्वथा स्वतन्त्र और देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण कैवल्यस्वरूप है। वेदान्तका यह विशिष्ट अनुभव है। योग अन्तःकरणकी ग्रन्थियोंको भेदने और ज्ञानके भिन्न-भिन्न स्तरोंको खोलनेकी कला है और वेदान्तकी विशिष्ट योगसाधना देशकालाद्यनवच्छिन्न चिन्मय ब्रह्मको पाना है। यह मोक्ष आत्माको सगुणरूपसे नहीं प्राप्त होता, निर्गुण परमभावके साक्षात्कारसे होता है। कारण, सगुण देशकालपरिच्छिन्न है और परम भावमें ऐसी कोई परिच्छिन्नता नहीं। कालकी परिच्छिन्नताको हटाकर चिन्मय ब्रह्मको पाना ही मोक्षका परम साधन है। यही वैदान्तिक योग या ज्ञानयोगकी मूल भित्ति है।

योग क्या है?

(लेखक—स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच्० डी०)

'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। अंग्रेजीका 'योक' (yoke) शब्द भी उसी धातुसे बना है। आरम्भमें अंग्रेजीके 'yoke' और संस्कृतके 'योग' का शाब्दिक भाव एक ही था। 'युज्' धातुका अर्थ है किसी वस्तुसे अपनेको जोड़ना अथवा किसी कार्यमें अपनेको लगाना। इस प्रकार मूल अर्थमें इसका अभिप्राय है किसी कठिन-कठोर कार्यके लिये अपनेको तैयार करना। अंग्रेजीमें इस भावकी व्याख्या 'to go into harness' अथवा 'to buckle to' अर्थात् कार्यके लिये आरूढ़ हो जाना, कमर कस लेना आदि प्रयोगोंके द्वारा करते हैं। जिस प्रकारके उद्देश्यकी सिद्धि करनी होती है उसी प्रकारका उद्योग भी होता है; इसलिये उद्योग मानसिक भी हो सकता है, शारीरिक भी। पूर्ण स्वस्थता अथवा दीर्घजीवन प्राप्त करनेके उद्देश्यको लेकर मनसे और शरीरसे जो क्रिया होगी उसे 'योग' (हठयोग) कहेंगे।

यही बात मनःशक्तिकी वृद्धि तथा विकासके सम्बन्धमें कही जा सकती है। आत्मसंयमके लिये जिस प्रकारके मानसिक अभ्यासकी आवश्यकता है, आत्माको परमात्मासे मिलानेमें जिस साधनका आश्रय लिया जाता है, परमात्ममिलन अथवा आध्यात्मिक पूर्णताके लिये जो प्रक्रिया काममें ली जाती है उसे भी 'योग' ही कहते हैं। उसका नाम है 'राजयोग'।

'योग' शब्दका व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थमें किया जाता है और इसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, लययोग इत्यादि-इत्यादि इसके अन्तर्गत हैं। इनमेंसे प्रत्येक योगका भिन्न आदर्श है जिसकी प्राप्ति उसके अनुकूल विशिष्ट साधना और अभ्यासद्वारा ही हो सकती है।

राजयोग

योगके क्रियात्मक भागकी सभी शाखाओंमें 'राजयोग'-का सम्बन्ध केवल मन और मनःशक्तिसे है। इसे हम क्रियात्मक मनोविज्ञान कह सकते हैं। इसका उद्देश्य है, सभी प्रकारकी मानसिक बाधाओंको हटाकर मनको पूर्णतया स्वस्थ और संयमी बनाना। इसके अभ्यासका मुख्य अभिप्राय है इच्छा-शक्तिको जगाना तथा उसे बलवती बनाना। इसके साथ ही धारणा-शक्तिको जागृत करके राजयोग साधकको ध्यान और धारणाके द्वारा सभी धर्मोंके चरम उद्देश्यकी प्राप्ति करा देता है।

योगकी इस साधनप्रणालीको राजयोग अथवा सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहते हैं। क्योंकि धारणा-शक्ति और इच्छा-शक्ति सभी प्रकारकी भौतिक शक्तियोंसे श्रेष्ठ हैं—इतना ही नहीं, अपितु सभी दूसरी शक्तियोंकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य हैं। जिस मनुष्यने पूर्ण विकसित इच्छा-शक्तिद्वारा संयत, सुदृढ़ मन पाया है और जिसकी धारणा-शक्ति अत्यन्त बलवती है वह सहज ही भौतिक शक्तियोंपर प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। और अल्पकालमें ही सत्यका साक्षात्कार कर सकता है। राजयोग ही यह सिखला सकता है कि इसे कैसे प्राप्त किया जाय। वे सभी लोग जो प्राचीन अथवा अर्वाचीन हिन्दू राजयोगियोंसे परिचित हैं, राजयोगके अनुशीलन तथा अभ्यासको प्रोत्साहन देते हैं।

पीथैगरस (Pythagoras) तथा प्लेटो (Plato)-जैसे ग्रीसदेशके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने हमारे राजयोगकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्लॉटिनस (Plotinus) तथा प्रोक्यूलियस (Proculeius)-जैसे Neo-Blatonism नामक सम्प्रदायके अनुयायियोंने, मिश्रदेशवासियोंने, यहूदियोंमें 'इसेन' सम्प्रदाय (Essene)-के अनुयायियोंने, ईसाइयोंमें Gnostic सम्प्रदायके लोगोंने, फारसके Manichean सम्प्रदायवालोंने तथा योरपके मध्यकालीन ईसाई रहस्यवादियोंने भी राजयोगकी बड़ी प्रशंसा की है तथा इसका अभ्यास रोमन कैथलिक सम्प्रदायकी ऊँची श्रेणीके साधु और साध्वियाँ भी करती थीं। स्पिनोज़ा, कांट, शोपेनहॉर, एमर्सन आदि दार्शनिकोंने भी इसकी प्रशंसा की है तथा यह बताया है कि राजयोगकी साधनाका उद्देश्य प्रकृति तथा आत्माके रहस्यका उद्घाटन करना तथा प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर छिपी हुई शक्तियोंको जागृत करना है। योगियोंने अपने जीवनके द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखला दिया है कि राजयोगके अभ्याससे वह

शक्ति प्राप्त होती है जो संसारकी अन्य सभी शक्तियोंका नियन्त्रण करनेवाली है। राजयोगका यह कहना है कि जिसने अपने मनपर विजय प्राप्त कर ली वह प्रकृतिके समस्त व्यापारोंपर शासन कर सकता है।

राजयोगकी शिक्षा यह है कि संसारकी सर्वोपरि शक्ति मनःशक्ति है। यदि मनकी शक्तियोंको पूरी तरह समाहित करके किसी वस्तुविशेषपर केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो उस वस्तुकी वास्तविक सत्ता प्रकट हो जायगी। यदि हम एक बिन्दुपर अपनी समग्र मनःशक्तिको पुञ्जीभूत कर एकाग्र कर सकें तो हम सहज ही उस वस्तुविशेषकी, जिसपर हमने अपनी वृत्तियोंको एकाग्र किया है, सारी विशेषताएँ जान जायँगे— चाहे वह वस्तु भौतिक हो, चाहे मानसिक, चाहे आध्यात्मिक।

राजयोगीके समाहित चित्तकी तुलना बिजलीकी सर्चलाइटसे की जा सकती है। अपने मनकी केन्द्रीभूत तथा एकोन्मुखी किरणोंको जब वह किसी पदार्थविशेषपर फेंकता है, चाहे वह स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, तब उस वस्तुका रेशा-रेशा जगमगा उठता है और उसके सामने अपने सत्यरूपमें प्रकट हो जाता है। साधारण मनुष्योंकी दृष्टि वस्तुओंकी तहतक इसलिये नहीं पहुँच सकती कि उनकी मानसिक शक्तियाँ साधारण प्रकाशकी बिखरी हुई किरणोंकी भाँति अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार यदि मनकी वृत्तिको आभ्यन्तरिक वस्तुओंपर स्थिर किया जाय, अथवा आध्यात्मिक जगत्के सत्योंपर ठहराया जाय तो विश्वात्माका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि इन्द्रिय-शक्ति अथवा वैज्ञानिक यन्त्रोंद्वारा प्राप्त सभी प्रकारकी शक्तियोंसे ध्यान-शक्ति बढ़कर है। यदि हम अपनी मनःशक्तियोंका नियमन करके, मनको अन्तर्मुखी करके और मनको क्षुब्ध तथा विक्षिप्त करनेवाले सभी विघ्नोंका उपशमन करके अपनी केन्द्रीभूत मानसिक शक्तिको आत्माकी ओर मोड़ सकें तो अपनी व्यष्टि आत्माका सत्यस्वरूप हमारे सामने आ जायगा और हम इस बातको समझ जायँगे कि हमारा शुद्ध, नित्य, अपरिच्छिन्न अहं ही सर्वात्मा अथवा परमात्मा है और वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। तब हमें इस बातका भी बोध हो जायगा कि ब्रह्मकी दिव्य सनातन सत्ता, जिसे हम अज्ञानवश अपनेसे भिन्न मानकर पूजते थे, हमसे अलग नहीं है—वह हमारे भीतर ही है और उसे पानेके लिये हमें बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। वह तो हमारी ही सर्वशक्तिमान् आत्मा है जिसका निवास हमारे भीतर है। हम यह भी देखेंगे कि वही एक अव्यय सनातन आत्मा सर्वत्र व्याप्त है और उससे परे कुछ है ही नहीं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सच्चा योगी सभी वस्तुओंमें सर्वत्र आत्माको और आत्मामें ही सब वस्तुओंको देखता है। इस प्रकार वह समस्त जगत्के नाम और रूपके मूलमें 'एक सत्' परम तत्त्वको जान लेता है और इसी कारण वह 'समदर्शी' हो जाता है। इस ज्ञानके द्वारा ही आत्मा अज्ञानसे मुक्त हो सकता है।

राजयोगकी साधनाके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। पहले चार, अर्थात् यम, नियम, आसन और प्राणायाम, हठयोगमें भी समानरूपसे मिलते हैं। यम-नियमोंमें सदाचारसम्बन्धी सारे नियमोंका समावेश हो गया है। आगेके साधनोंका अभ्यास करनेके लिये यह आवश्यक है कि यम-नियमका पूरी तरहसे पालन किया जाय। बुद्ध, ईसा तथा संसारके अन्यान्य सभी धर्माचार्योंके प्रधान उपदेश तथा मूल सिद्धान्त यम और नियमके अन्तर्गत आ जाते हैं। यमके अन्दर निम्नलिखित बातें आ जाती हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी नियमकी है, जिसके अन्तर्गत हैं—तप, शौच, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी इच्छामें आत्मसमर्पण कर देना। तीसरी सीढ़ी है आसन—अर्थात् शरीर तथा इसके अवयवोंको भिन्न-भिन्न प्रकारसे स्थिर करना। हठयोग-शास्त्रमें सब मिलाकर कुल चौरासी आसनोंका वर्णन मिलता है। इनमेंसे प्रत्येकको यदि उसके अनुकूल विशेष प्रकारके प्राणायामके साथ किया जाय तो नाडी-चक्रों तथा शरीरके भीतरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी प्रसुप्त शक्तियाँ जाग जाती हैं। योगके सर्वोच्च आदर्शकी प्राप्तिके लिये यह आवश्यक है कि शरीर स्वस्थ और

सुदृढ़ हो। जो शरीरसे रुग्ण हैं वे अपने चित्तको एकाग्र नहीं कर सकते और न वे ऊँचे तत्त्वोंपर अपना ध्यान ही टिका सकते हैं। इस हेतु योगसाधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधकोंको कुछ आसनोंका अभ्यास करना चाहिये, जिससे वे अपने शरीरको स्वस्थ और चित्तको सुस्थिर कर सकें। चौथी सीढ़ी है प्राणायाम। यह श्वासोंका व्यायाम है। मूढ़ता, आलस्य, शारीरिक दुर्बलता आदि विघ्न कुछ खास प्रकारके प्राणायाम करनेसे दूर हो जाते हैं। और उनसे इन्द्रियों तथा नाडी-चक्रोंको वशमें और मनको सुस्थिर करनेमें बहुत अधिक सहायता मिलती है।[१]

इसके अनन्तर पाँचवीं सीढ़ी प्रत्याहारकी है। यदि हम बाह्य विषयोंसे मनको हटाकर किसी आन्तरिक वस्तुपर इसे स्थिर कर सकें और अपनी इच्छाके अधीन कर लें, अर्थात् इसे अपने वशमें करके जहाँ चाहें वहाँ ले जा सकें, तो समझ लीजिये कि हमारा प्रत्याहार सध गया। पतञ्जलि ऋषिका कथन है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (२।५४)

मनकी शक्तियोंको एकत्र कर उन्हें बाह्य विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेकी प्रक्रियाका नाम ही प्रत्याहार है। धारणा इसके अनन्तर आती है और यह धारणाकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। इन पाँच प्रारम्भिक सीढ़ियोंको पारकर यदि साधक 'धारणा' का अभ्यास करे तो उसे अपूर्व लाभ होगा।

धारणासे आगे योगसाधनकी सातवीं सीढ़ी—'ध्यान' है। ध्यानके द्वारा ही मनुष्य समाधि अथवा तुरीयावस्थामें प्रविष्ट होता है, जो योगकी आठवीं और अन्तिम सीढ़ी है।[२] समाधि-अवस्थामें सूक्ष्म बोध करानेवाली छठी इन्द्रियका विकास होता है, आध्यात्मिक अथवा दिव्य चक्षु खुल जाती है और हमारी आत्माके आत्मा—परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। समाधि अथवा तुरीया अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये अनवरत चेष्टा, धैर्य और अध्यवसायकी आवश्यकता है। समाधिके अनेक विघ्न हैं—जैसे शोक, व्याधि, मन:शैथिल्य, संशय, चेष्टाका परित्याग, मन और शरीरका भारीपन, सांसारिक पदार्थोंकी कामना, विपर्यय-ज्ञान, चित्तका एकाग्र न होना, एक स्थितिपर पहुँचकर उससे च्युत हो जाना, श्वास-प्रश्वासकी विषम क्रिया, इत्यादि-इत्यादि। एकनिष्ठ योगीको चाहिये कि वह इस मार्गके सारे विघ्नों और बाधाओंको हटाकर आगे बढ़ता चले। जबतक वह लक्ष्यपर न पहुँच जाय, पथमें उसे नाना प्रकारकी सिद्धियाँ लुभाने आवेंगी। उन-उन विभूतियोंमें—बहुत दूरका दृश्य देख लेना, बहुत दूरका शब्द सुन लेना, (Clairvoyance and Clairaudience), दूसरोंके मनकी बात जान लेना (Thought-reading), तथा अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ मुख्य हैं। कैवल्य मुक्ति अर्थात् सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा चाहनेवाला योगी इन सारी विभूतियोंको विघ्नरूप समझकर इनसे सदा बचता रहे और कभी उनका उपयोग स्वार्थसाधनमें न करे। निर्विकल्प समाधिरूप योगकी चरमावस्थामें स्थित हुआ राजयोगी फिर कभी संसारके जालमें नहीं फँसेगा। समस्त संसार उसे परमात्माकी रंगस्थली प्रतीत होने लगेगा और वह निरन्तर इस बातका अनुभव करेगा कि उसका शरीर और मन उस सर्वसमर्थ शक्तिके हाथका एक यन्त्र है, जिसका स्फुरण समस्त नामरूपमें हो रहा है। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञानकी दिव्य ज्योति तथा आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर चुकनेपर सच्चा राजयोगी जीवन्मुक्त हो जाता है, आत्मजित् हो जाता है और इसी जीवनमें वह समस्त प्रकृतिका स्वामी बन जाता है। **ॐ तत्सत्**

---

१. इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये पाठक मेरी ('How to be a Yogi' पुस्तकके 'प्राणायाम' The Science of Breathing) नामक प्रकरणको देख सकते हैं।

२. इन पिछली तीन अवस्थाओंका विशदरूपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पाठक मेरी लिखी हुई 'Spiritual Unfoldment' अथवा 'आत्मविकास' नामक पुस्तक देखें।

सुरत-शब्द-योग

[लेखक— श्रीआनन्दस्वरूपजी (साहेबजीमहाराज)]

राधास्वामीसम्प्रदायमें जो योगसाधन प्रचलित है वह सुरत-शब्द-योगके नामसे प्रसिद्ध है। बतलाया जाता है कि शब्द दो प्रकारके हैं, आहत और अनाहत। आहत शब्द वे हैं जो आघात अर्थात् दो वस्तुओंके टकरानेसे उत्पन्न होते हैं और अनाहत वे हैं जो स्वतः अर्थात् आघातके बिना उत्पन्न होते हैं। अनाहत शब्दोंमें सुरत अर्थात् ध्यानके जोड़नेहीको सुरत-शब्द-योग कहते हैं।

हर कोई जानता है कि प्रत्येक शक्तिके दो रूप होते हैं, गुप्त और प्रकट। जब कोई शक्ति गुप्तरूप होती है तो मनुष्यको उसका कोई ज्ञान नहीं हो सकता। वह अरूप और अनाम रहती है। जब वह क्रियावती होती है तभी मनुष्यको उसका ज्ञान होता है। और जब कोई शक्ति क्रियावती होती है तो उसका विकास धारारूपसे हुआ करता है। अर्थात् उसकी धाराएँ चतुर्दिक् फैलकर अपना मण्डल बाँधती हैं। और ऐसी प्रत्येक धाराके संग-संग एक शब्दकी धारा प्रवाहित होती है। इसीलिये कहा जाता है कि जहाँ कोई शक्ति क्रियावती होती है वहाँ शब्दकी ध्वनि भी विद्यमान रहती है। देखिये, सूर्यकी किरणोंके द्वारा जो सौरशक्ति वायुमण्डलमें विकीर्ण होकर पृथ्वीमण्डलपर उतरती है उससे भी ध्वनि उत्पन्न होती है; परन्तु हमारी श्रवणेन्द्रिय इस सूक्ष्म शब्दके ग्रहण करनेमें अशक्त है। इस कारण हम उसे सुन नहीं पाते, पर वह शब्द होता है अवश्य। एक श्रवणेन्द्रिय ही क्या, हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियोंकी गति सीमाबद्ध है। हम अपने चर्म-चक्षुओंसे जलकी बूँदको स्वच्छ और शुद्ध प्रतीत करते हैं, परन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope)-से देखनेपर उस बूँदमें शतशः कीटाणु (Germs) विचरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीरमें विद्यमान आत्मशक्तिकी धाराओंसे भी अनेक ध्वनियाँ होती हैं, जिन्हें सुननेमें हमारी स्थूल श्रवणेन्द्रिय अशक्त है। परन्तु यदि कोई मनुष्य साधन करके अपनी सूक्ष्म और चेतन श्रवणेन्द्रियोंको जागृत कर ले तो उनके द्वारा उसको अवश्य ही सूक्ष्म और चेतन शब्दोंका अनुभव प्राप्त होगा। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक सुरत-शब्द-मार्गानुयायी इन दिव्य शक्तियोंके जगानेका साधन करता है। जब किसी अभ्यासीको ये शब्द सुनायी देने लगते हैं तो उसके अन्तरमें महान् परिवर्तन होने लगता है। कारण, यह एक सृष्टि-नियम है कि प्रत्येक शब्द अपने उत्थान-स्थान या भाण्डारका प्रभाव लिये रहता है। किसी दुःखिनीके रुदन और क्रन्दनके स्वरको सुनकर हमें तत्क्षण ज्ञात हो जाता है कि उसके हृदयमें कोई घोर दुःख व्याप रहा है। पुत्रकी मृत्यु होनेपर किसी माताके विलापको सुनकर बिना किसीके बतलाये ही हम समझ जाते हैं कि उसके हृदयको क्या आघात पहुँचा है। इसी प्रकार वे सूक्ष्म और चेतन शब्द भी, जो सुरत-शब्द-अभ्यासीको अन्तरमें सुनायी देते हैं, अपने उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव लिये होते हैं। अतः उन शब्दोंसे सम्बन्ध होते ही अभ्यासीके अन्तरमें उन शब्दोंके उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव व्याप्त हो जाता है। प्रथम उसे नूतन प्रकारकी शीतलता और निर्मलताका अनुभव होता है और कुछ कालके बीतनेपर उच्च कोटिके शब्दोंके प्रभावसे उसकी चेतन ज्ञानेन्द्रिय जागृत होकर उसे चेतनसृष्टि प्रत्यक्ष होने लगती है, जिसके कारण उसका हृदय अत्यन्त गद्गद हो जाता है।

हमारा मनुष्यशरीर देखनेमें तो केवल हाड़-मांस-चामका पुलिंदा ही है, परन्तु 'सत्-कर्त्तार' ने इसके भीतर नाना प्रकारकी दिव्य शक्तियाँ स्थापित कर दी हैं। शरीरके उन स्थलोंको जहाँ इन गुप्त शक्तियोंके केन्द्र नियत किये गये हैं, चक्र, कमल और पद्म कहते हैं। जो पाठकवृन्द योगविद्याकी परिभाषासे परिचित हैं वे इन शब्दोंके अर्थ भली प्रकार समझते हैं। हर कोई जानता है कि जाग्रत् अवस्थामें मनुष्यकी समझने-बूझने और देखने-सुनने आदिकी सभी क्रियाएँ उसके मस्तिष्कमें स्थित विभिन्न केन्द्रोंके क्रियावान् (Active) होनेहीपर बन पड़ती हैं। इन केन्द्रोंमें तो केवल इसी प्रकारकी क्रियाओंके प्रकट करनेकी योग्यता है; परन्तु उन कमलों और पद्मोंकी योग्यता अत्यन्त उच्च कोटिकी है, यहाँतक कि एक ऐसा कमल है जिसके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको ब्रह्म-पुरुषका ऐसे ही प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो जाता है जैसे कि

इन चर्मचक्षुओं या साधारण दर्शनेन्द्रियके क्रियावान् होनेपर भौतिक जगत्‌के सूर्यका होता है, और एक कमल ऐसा है कि उसके चैतन्य होनेपर अभ्यासीको निर्मल चेतन अर्थात् प्रकृतिकी हदसे परेके शुद्ध चेतनका अनुभव हो जाता है, और विश्वास किया जाता है कि इन कमलोंमें उच्चतम कमल या पद्मके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको सच्चे कुलमालिकका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो सकता है। सुतरां, राधास्वामीमतमें जो साधन बतलाये जाते हैं उनका प्रयोजन यही है कि अभ्यासीकी सुरत अर्थात् आत्मा क्रमशः अन्तरमें चढ़कर इन गुप्त चक्रों, कमलों और पद्मोंको चैतन्य करे और सूक्ष्म और चेतनमण्डलोंकी रचनाका अनुभव करती हुई अन्तमें सच्चे कुलमालिकका दर्शन प्राप्त करके कृतकृत्य हो।

यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि सुरत-शब्द-योगका साधन ऐसा सुगम नहीं है जैसा कि ऊपरके लेखसे प्रतीत होनेकी सम्भावना है। मनकी चञ्चलता और मलिनता इस साधनकी कमाईमें भी वैसी ही बाधक होती हैं जैसी कि ये दूसरे योग-साधनोंकी कमाईमें हुआ करती हैं। परन्तु अभ्यासीकी सहायताके लिये इस विषयमें एक विशेष प्रबन्ध है, अर्थात् सुरत-शब्द-मार्गानुयायीको दो ऐसी युक्तियाँ सिखलायी जाती हैं जिनके द्वारा वह इन विघ्नोंसे बहुत कुछ छुटकारा पा सकता है। ये सुमिरन और ध्यानकी युक्तियाँ हैं। सुमिरनसे अभिप्राय एक खास बीजमन्त्रका अन्तरमें जप या उच्चारण और ध्यानसे अभिप्राय अन्तरमें चेतनस्वरूपका चिन्तन है। ये युक्तियाँ कोई नयी बात नहीं हैं। **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** और **'वीतरागविषयं वा चित्तम्'** इन दो योग-सूत्रोंमें इन्हींके लिये संकेत किया गया है।

अभ्यासीको यह भी निर्देश है कि अपने आहार-व्यवहारमें सावधान रहे और संयमसे बरते। उसे मद्य, मांस आदि तामसी पदार्थोंसे सर्वथा परहेज़ करना होगा और साधारण खान-पानमें भी विचार रखना होगा कि भोजन धर्म्य, स्वच्छ तथा पथ्य हो और वह न तो अति मात्राको पहुँचने पावे और न इतनी अल्प मात्रामें ही रहे कि दिनभर खाद्य पदार्थोंके स्वप्न आते रहें और शरीर निर्बल हो जाय। इसके अतिरिक्त उसे संसारके अनावश्यक व्यवहार और व्यापारसे भी पृथक् रहना होगा। दुष्ट और अनिष्ट सम्पर्क तो उसके लिये सर्वथा ही त्याज्य हैं। उसे उचित है कि जीवनसम्बन्धी धंधोंसे निबटनेपर जो समय बचे उसे या तो अन्तरी साधनकी कमाईमें लगावे या महात्माओं और प्रेमी जनोंके संगमें या महापुरुषोंकी पवित्र बानीके स्वाध्यायमें व्यतीत करे, ताकि मनको मलिन और चञ्चल होनेके लिये न्यून-से-न्यून अवसर प्राप्त हो।

इन निर्देशोंपर आचरण करनेसे प्रेमी परमार्थीका काम चल निकलता है और शनैः-शनैः नवीन आत्मबल उत्पन्न होनेसे उसकी सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और एक दिन उसकी सुरत-शब्दकी डोरके सहारे पिण्ड और ब्रह्माण्डके पार सच्चे कुलमालिक राधास्वामी-दयालके चरणोंमें विश्राम पा लेती है।

प्रार्थना

(१)

बनि दीन गरीब अनाथ महा यह दासी परी शरणागत तेरे,
सब स्वारथ मित्रसे विश्व भरा, अब तेरे सिवाय नहीं कोउ मेरे।
किये दोष अनेक अजानपने, करि माफ प्रभो करो रावरे चेरे,
तकसीरोंको याद करो मत हा, अब राखो दया निधि चर्णसे नेरे॥

(२)

मोह भरी मद मत्त भई, कितनेहूँ किये जग काम निकामी,
रावरेसों कछु भेद नहीं, तुम हो हरि केशव अन्तरयामी।
दूर कै दोष हरो भ्रम बन्धन, हूँ तव चर्ण सरोज नमामी,
आय परी शरणागत मैं अपनाओ मुझे अब विश्वके स्वामी॥

—सुदर्शनदासी

वेदोंमें योग

(लेखक—उदासीन परिव्राजकाचार्य, वेददर्शनाचार्य, मण्डलेश्वर श्रीस्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम्। औदास्यप्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे॥

योग भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति है। दर्शनशास्त्र महर्षियोंकी योगविद्याका ही चमत्कार है। स्मृति, पुराण, अन्यान्य चिकित्सा-ज्योतिषादि शास्त्र, अधिक क्या, समस्त विद्याएँ योगाभ्यासजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञाके ही मधुर एवं मनोहर फल हैं। अतएव आर्यजातिके समस्त साहित्यमें ही योगका मुक्तकण्ठसे गुणगान हुआ है। एकाग्रता, समाधि तथा योग—ये तीनों शब्द एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि संसारका कोई भी ऐसा कार्य व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं है, जो बिना चित्तकी एकाग्रताके निष्पन्न हो सकता हो।

आजकल नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार भी अमरकीर्ति न्यूटन प्रभृति वैज्ञानिक महानुभावोंकी एकाग्रताके ही दिव्य चमत्कार हैं। अतः प्रत्येक प्राणीको एकाग्रता या योगकी शरणमें अवश्य आना ही होगा। अन्यथा वह अपने लौकिक और पारलौकिक किसी भी अभीष्टको सिद्ध न कर सकेगा।

सब धर्मोंका साधन योग ही है

इसके अतिरिक्त पुरुषके प्रत्येक अभीष्टकी सिद्धिके लिये, पुत्र-वत्सला श्रुतिजननी धर्मानुष्ठानकी आज्ञा कर रही है, **'धर्मं चर'**—धर्मका अनुष्ठान करो। यह अनुष्ठेय धर्म तीन अङ्गोंमें विभक्त है—यज्ञ, तप और दान। इनमें भी मुख्य स्थान यज्ञका है। अतएव श्रीकृष्ण परमात्माने—

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥'

(गीता १८।५)

'यज्ञ, दान और तप ही बुद्धिमान् मनुष्योंके पावन करनेवाले हैं।' इस उक्तिमें यज्ञको ही प्रथम स्थान दिया है।

वह यज्ञ तीन प्रकारका है—कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ। उक्त त्रिविध यज्ञकी निष्पत्ति योगपर अवलम्बित है। कर्मयज्ञमें अनन्त क्रियाओंका पूर्वापरभावसे अनुष्ठान, तत्तद् वेदमन्त्रोंद्वारा अनुष्ठेय कर्तव्यका स्मरण, सम्पूर्ण अङ्गोंका सङ्कलन आवश्यक है। यदि पश्चात् अनुष्ठेय क्रियाका प्रथम और प्रथमानुष्ठेय क्रियाका पश्चात् अनुष्ठान हो, अनुष्ठेय कर्तव्यस्मारक वेदमन्त्रके उच्चारणमें शब्द, वर्ण और स्वरकी भूल हो जाय या कोई अङ्ग छूट जाय, तो वह यज्ञ अपूर्ण ही नहीं वरं प्रत्यवायका कारण होगा। अतः कर्मयज्ञकी निष्पत्तिके लिये ऋत्विजोंको सर्वथा सावधान रहना पड़ता है। चतुर्वेदपारग ब्रह्मानामक ऋत्विक् तो इसीलिये नियुक्त किया जाता है कि वह एकाग्रमना रहकर कर्मानुष्ठानमें व्यग्र ऋत्विजोंकी मानवस्वभावसुलभ भूलोंको समय-समयपर सुधारता रहे।

उपासनायज्ञकी तो बात ही क्या कहनी है, क्योंकि प्रेम या भक्तिको उपासनाका जीवन और योगको शरीर माना है। जिस प्रकार शरीरके बिना शरीरी आत्माका कोई भी भोग सिद्ध नहीं हो सकता, ठीक उसी तरह उपासनाका कोई भी अङ्ग योगकी सहायता बिना निष्पन्न नहीं हो सकता।

सर्वव्यापक जीवहृदयविहारी परमात्मा, विविध वृत्तितरङ्गोंसे अन्तःकरण-जलाशयके चञ्चल होनेके कारण, मनुष्यके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका मनुष्यसे दूर होना है। जिन क्रियाओंसे उस तरह दूर हटे हुए परमात्मा जीवके हृदयमें वृत्तितरङ्गोंके एक बार ही शान्त होनेपर प्रकट हो जायँ, अर्थात् जलाशयमें सूर्यके समान परमात्माके वास्तविक स्वरूपके दर्शन होने लगें, यही परमात्माका जीवके समीप होना है। अन्य प्रकारकी समीपता और विप्रकृष्टता सर्वव्यापी परमात्मामें बन ही कैसे सकती है? शान्तचित्तमें परमात्माके प्रादुर्भावरूप समीप-स्थितिके सम्पादक क्रिया-कलापका नाम ही उपासना है। चित्तशान्ति-साधनयोगके बिना उसका होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

रहा ज्ञानयज्ञ, वह भी बिना योगके आत्मलाभ करनेमें असमर्थ है। बृहदारण्यकोपनिषद्के मैत्रेयी ब्राह्मणमें—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(२।४।५)

'अरे आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

इस वचनद्वारा श्रवण-मननके सदृश निदिध्यासनको आत्मसाक्षात्कारका साधन माना है।

निदिध्यासन ध्यानका नामान्तर है। ध्यान विशाल योगभवनका सप्तम सोपान है। अतः यह निश्चित हुआ कि बिना योगके कोई भी यज्ञ विशेषतः ज्ञानयज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकता, अतएव योगी याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

'यज्ञाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय प्रभृति धर्मोंसे योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है।' इस परम धर्मका साधन है योग।

दर्शनशास्त्र और पुराणादि स्मृतियोंमें भी योगकी महिमा और यज्ञोंकी सिद्धिके लिये उसकी परमावश्यकता बतलायी गयी है। इसी सिद्धान्तका ऋक्संहितामें स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥

(ऋक्संहिता, मण्डल १, सूक्त १८, मन्त्र ७)

अर्थात् 'योगके बिना विद्वान्‌का भी कोई यज्ञकर्म नहीं सिद्ध होता, वह योग क्या है सो चित्तवृत्तियोंका निरोध है, वह कर्तव्य कर्ममात्रमें व्याप्त है।'

कर्म, उपासना तथा ज्ञानभेदसे यज्ञ तीन प्रकारका है। वह योगके बिना निष्पन्न नहीं हो सकता। अज्ञानीकी तो बात ही क्या, ज्ञानी भी योगकी सहायताके बिना उसे सिद्ध करनेमें असमर्थ है, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग या एकाग्रतासे समस्त कर्तव्य व्याप्त हैं, अर्थात् सब कर्मोंकी निष्पत्तिका एकमात्र उपाय चित्तसमाधि या योग ही है।

योग क्या है?

योग शब्द **'युज् समाधौ'** धातुसे **'घञ्'** प्रत्यय होकर बना है, अतएव इसका अर्थ संयोग न होकर समाधि ही हुआ है। समाधि नाम चित्तवृत्तिनिरोधकी क्रिया-शैलीका है, उस क्रियाशैलीको पूज्यपाद महर्षियोंने चार भागोंमें विभक्त किया है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।

परिदृश्यमान् प्रपञ्चका कोई भी भाग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। जीव नामरूपमें ही फँसकर बद्ध होता है, जिस भूमिपर गिरता है, उसी भूमिको पकड़कर मनुष्य उठ सकता है, आकाशको नहीं। इस नियमके अनुसार जीवको नामरूपके अवलम्बनसे ही मुक्तिपथकी ओर अग्रसर होना होगा। अतः दिव्य नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाएँ हैं, शास्त्रमें उन्हें मन्त्रयोग नामसे कहा गया है।

स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली षट्कर्मादि योगक्रियाओंके अभ्यासद्वारा स्थूल शरीरपर आधिपत्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाशैलियाँ हैं, उनका नाम हठयोग है।

समष्टि-व्यष्टिके सिद्धान्तानुसार जीवशरीररूपी पिण्ड, समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड दोनों एक हैं। अतः ब्रह्माण्डकी समस्त वस्तुओंका अस्तित्व उसीके समान पिण्डमें अवश्य है। पिण्डमें ब्रह्माण्डव्यापिनी प्रकृतिशक्तिका केन्द्र मूलाधारपद्ममें स्थित सार्धत्रिवलयाकारा—साढ़े तीन चक्र लगाये हुए सर्पवत् कुण्डलाकृति कुण्डलिनी है। ब्रह्माण्डव्यापी पुरुषका केन्द्र सहस्रदलकमल है, निद्रित कुलकुण्डलिनीको गुरूपदिष्ट योगक्रियाओंसे प्रबुद्ध करते हुए कुलकुण्डलिनीस्थ प्रकृतिशक्तिको सुषुम्नानाड़ीगुम्फित षट् चक्रोंके भेदनद्वारा ले जाकर सहस्रदलकमलविहारी परमात्मामें लय करनेकी जो क्रियाशैली है और तदनुयायी जितने साधन हैं, उनको लययोग कहते हैं।

मनकी क्रिया मनुष्यके बन्धनका कारण है। बुद्धिकी क्रिया मनुष्यके मुक्त करानेमें सहायक होती है। बुद्धिकी क्रिया विचार है, अतः उसके द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधकी जो क्रियाशैली है, उसका नाम राजयोग है। इसका अधिकार सबसे बढ़कर है।

योगके विघ्न और उपविघ्न

उक्त चतुर्विध योगके नौ अन्तराय (विघ्न) और पाँच उपान्तराय (उपविघ्न) हैं।

महर्षि पतञ्जलि उनकी नामावली इस प्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(योग० १।३०)

'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः'

(योग० १।३१)

१. व्याधि (रोग), २. स्त्यान (शिथिलता), ३. संशय,

४. प्रमाद (जान-बूझकर योगाङ्गोंका अनुष्ठान न करना), ५. आलस्य, ६. अविरति (विषयोंमें ग्लानिका न होना अर्थात् विषयभोगाभिरुचि), ७. भ्रान्तिदर्शन (विपरीत निश्चय), ८. अलब्धभूमिकत्व (योगाङ्गोंका अनुष्ठान करनेपर भी मधुमती, मधुप्रतीका आदि समाधिभूमिविशेषका लाभ न होना), ९. अनवस्थितत्व (भूमिविशेषका लाभ होनेपर भी चित्तका स्थिर न रहना)। यह नौ चित्तविक्षेपकारी अतएव योग या समाधिके अन्तराय (विघातक) हैं। योगमल, योगप्रतिपक्ष, योगविघ्न इन्हींका नामान्तर है।

इनके साथी पाँच उपविघ्न ये हैं—१. दुःख, २. दौर्मनस्य (इच्छाके पूर्ण न होनेसे मनका क्षुब्ध होना), ३. अङ्गमेजयत्व (अङ्गकम्पन), ४. श्वास (बाह्य वायुको भीतर ले जाना), ५. प्रश्वास (भीतरकी वायुको बाहर निकालना)।

योगसिद्धिके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता

इन विघ्नोपविघ्नोंका निराकरण और चतुर्विध योगानुष्ठानका फल समाधिलाभ तभी होगा, जब साधक ईश्वरका अनुकम्पापात्र हो। सच्चे हृदयसे विनीत प्रार्थी भक्तके ऊपर ही ईश्वर अनुकम्पा करते हैं, अतः निर्विघ्न चतुर्विध योगसिद्धिके निमित्त जगदीश्वरकी प्रार्थनाका वह मन्त्र जिसके द्वारा साधक भगवान्‌को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, निम्न निर्दिष्ट है—

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये॥

अर्थात् प्रत्येक योगमें, प्रत्येक सङ्कट-संग्राममें हम सखा (साधक लोग) बलवान् इन्द्रको बुलाते हैं। ऋग्वेद—१। ३०। ७; शुक्लयजुः—१। १४; सामवेद, उ० १। २। ११। १; पू० २। २। ७। ९; अथर्ववेद १९। २४। ७ एवं २०। २६। १।

योग—मन्त्रयोगादि भेदसे चार प्रकारका है। उक्त सर्व प्रकारके योगमें प्रवृत्त हुए मित्रके समान अति प्रिय हम साधक सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्माको व्याध्यादि विघ्न, दुःख, दौर्मनस्यादि उपविघ्न तथा लोभ, क्रोध, मोहादि राजस-तामस चित्तविकार जो समाधिके प्रबल शत्रु हैं, उनके द्वारा जब-जब समाधिविघातकी चेष्टारूपी संग्राम उपस्थित हो, उस समय रक्षाके लिये कहीं प्रबल शत्रुओंद्वारा समाधिका विघात न हो जाय, इस अभिप्रायसे उन प्रबल शत्रुओंके दमनपूर्वक समाधिको सुरक्षित बना रखनेके लिये आह्वान करते हैं—अर्थात् प्रार्थना करते हैं।

तात्पर्य—प्रार्थनासे आकृष्ट ईश्वरकी दयासे चतुर्विध योग जिसका हम अनुष्ठान कर रहे हैं, वह निर्विघ्न निष्पन्न हो।

समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञाके जनक योगानुष्ठानको ही महर्षिवृन्दने एक स्वरसे स्वीकार किया है। केवल योगानुष्ठानके ही नहीं, किन्तु उसके विवेकख्यात्यादि फलकी निष्पत्तिमें भी ईश्वरानुकम्पाका विशेष हाथ है।

वेदका निम्न निर्दिष्ट मन्त्र इसी भावको प्रकट करता है—

स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरं ध्याम्।
गमद् वाजेभिरा स नः। (ऋ० १। ५। ३, साम० उ० १। २। १०। ३, अथर्व० २०। ६९। १,)

अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधिके निमित्त अभिमुख हो, वही विवेकख्यातिरूपी धन तथा अतीतानागतादि अनन्त वस्तुविषयक होनेसे बहुविध बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा नामक प्रज्ञाके उत्पादनिमित्त अनुकूल हो, अर्थात् उसकी दयासे समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञाका हमें लाभ हो, अपि च वही परमात्मा अणिमादि सिद्धियोंके सहित हमारी ओर आगमन करे।

तात्पर्य—अणिमादि सिद्धियाँ भी भगवत्कृपासे चरणसेविकाओंके समान हमारी सेवाके लिये प्रतिक्षण प्रस्तुत रहें।

अष्टाङ्गयोग

पूर्वोक्त चतुर्विध योगकी क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन आठ अङ्गोंकी सहायतासे निर्णीत की है।

भेद इतना ही है कि किसीमें किसी अङ्गके सङ्कोच और किसीमें किसी अङ्गके विस्तारसे अङ्गसंख्याकी न्यूनाधिकता दृष्टिगोचर होती है। जैसे हठयोगके सात अङ्ग, राजयोगके सोलह अङ्ग और लययोगके नौ अङ्ग हैं। उन सबका विवरण निम्नलिखित है—

हठयोगके सप्ताङ्ग

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—ये हठयोगके सात अङ्ग हैं।

इनके शरीरसंशोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष, निर्लिप्तता और मुक्तिलाभ क्रमशः फल हैं। प्रथमाङ्ग षट्कर्मसाधनके विषयमें योगशास्त्रमें इस प्रकार लिखा है—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत्॥

धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति—ये षट्कर्म हैं। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन स्थान-सङ्कोचसे अशक्य है। ये सब क्रियाएँ योगिराज गुरुदेवकी कृपासे सुविज्ञेय हैं, केवल शास्त्रावलोकनसे नहीं।

हठयोगका द्वितीयाङ्ग आसन है। जिसके अभ्याससे शरीर दृढ़ एवं मन स्थिर हो, उसका नाम आसन है। जगत्में जितनी जीवयोनियाँ हैं, उतने ही प्रकारके आसन हैं।

भगवान् महादेवने चौरासी लक्ष आसनोंका वर्णन किया है, उनमें चौरासी आसन मुख्य हैं, उनमें भी तैंतीस मर्त्यलोकमें मङ्गलजनक हैं। तैंतीस आसनोंके नाम ये हैं—सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुडासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन और योगासन।

उनमें भी हठयोगप्रदीपिकामें प्रधानासन चार एवं सर्वश्रेष्ठ सिद्धासन माना है—

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा॥

(प्रथमोपदेश श्लोक ३४)

'सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र—ये चार मुख्य आसन हैं; इनमें भी श्रेष्ठ यह है कि सदा सुखस्वरूप सिद्धासनपर बैठे।'

जिन क्रियाओंसे प्राणायाम प्रत्याहारादि अङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है, उन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंका नाम मुद्रा है।

उनमेंसे मुख्य मुद्राओंके नाम ये हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेधा, खेचरी, विपरीतकरणी, योनिमुद्रा, वज्रोली, शक्तिचालनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मतंगी और भुजङ्गिनी।

आसनों एवं मुद्राओंका विशेष निरूपण स्थानाभावसे नहीं किया गया। पाठक उनके विशेष ज्ञानार्थ योगग्रन्थोंका ही अवलोकन करें।

प्राणायाम तीन प्रकारका है—रेचक, पूरक तथा कुम्भक। कुम्भक दो तरहका है—सहित और केवल। इस लघु निबन्धमें शिष्टाङ्गसम्बन्धी विशेष वक्तव्य नहीं।

राजयोगके षोडश अङ्ग

भक्ति तथा छः दर्शनोंके अनुसार राजयोगके सात अङ्ग हैं। वे सब विचारप्रधान हैं। धारणाके दो अङ्ग हैं—प्रकृतिधारणा और ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराड्ध्यान, ईशध्यान तथा ब्रह्मध्यान। समाधिके चार अङ्ग—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। उनके स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, अहंकार तादात्म्यापन्न पुरुष क्रमशः ध्यातव्य विषय हैं।

लययोगके अङ्ग

यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि।

सूक्ष्म क्रियाके साथ स्वरोदयसाधनका, प्रत्याहारके साथ नादानुसन्धानक्रियाका और धारणाके साथ षट्चक्रभेदन- क्रियाका सम्बन्ध है।

पायुसे दो अङ्गुल ऊपर और उपस्थसे दो अङ्गुल नीचे चतुरङ्गुलविस्तृत समस्त नाड़ियोंका मूलस्वरूप पक्षीके अण्डकी तरह एक कन्द विद्यमान है, जिसमेंसे बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकलकर सारे शरीरमें व्याप्त हुई हैं। उनमेंसे योगशास्त्रमें तीन नाड़ियाँ मुख्य कही गयी हैं, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

चन्द्ररूपिणी इड़ा मेरुदण्डके वाम भागमें, सूर्यरूपिणी पिङ्गला मेरुदण्डके दक्षिण भागमें और चन्द्र-सूर्याग्निरूपिणी त्रिगुणमयी सुषुम्ना मध्य भागमें विराजमान रहती है। मूलसे उत्थित इड़ा और पिङ्गला मेरुदण्डके वाम और दक्षिण भागमें समस्त पद्मोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रपर्यन्त धनुषाकारसे जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती हैं।

भ्रूमध्यके ऊपर जहाँपर इड़ा और पिङ्गला मिलती हैं, वहाँपर मेरुमध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है।

इसलिये यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है। क्योंकि शास्त्रमें इन तीनों नाड़ियोंको गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। यथा—

इडा भोगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इस त्रिवेणीमें योगबलसे जो योगी अपने आत्माको स्नान करा सकते हैं—

त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्।

—इस शास्त्रीय वचनके अनुसार उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्रणवाकृति सुषुम्ना, धनुषाकार इड़ा और पिङ्गलाके बीचमेंसे मेरुदण्डके अन्ततक जाकर उससे पृथक् हो वक्राकारको धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर इड़ा और पिङ्गलाके साथ ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। बस, इड़ा, पिङ्गलाके समान सुषुम्ना भी मूलकन्दसे निर्गत हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त गयी है।

इस प्रकार मूलकन्दसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त विस्तृत सुषुम्ना नाड़ीकी छः ग्रन्थियाँ हैं, जो षट्चक्र कहलाती हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुलकुण्डलिनीको जाग्रत् कर इन छः चक्रोंके द्वारा सुषुम्नापथमें प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है।

प्रथम चक्रका नाम मूलाधार पद्म है, वह गुदाके ऊपर और लिङ्गमूलके नीचे सुषुम्नाके मुखमें संलग्न है। अर्थात् कन्द और सुषुम्नाके सन्धिस्थलमें इसकी स्थिति है। इसके व-श-ष-स, ये वर्ण चार दल हैं, इसका रक्त वर्ण है, इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी डाकिनी है। आधारपद्मकी कर्णिकाओंके गह्वरमें वज्रा नाड़ीके मुखमें त्रिपुरसुन्दरीका निवासस्थान एक त्रिकोण शक्तिपीठ है। वह कामरूप कोमल और विद्युत्के समान तेजपुंज है। उसमें कन्दर्प नामक वायुका निवास है, वह वायु जीवधारक बन्धुजीव पुष्पके समान विशेष रक्तवर्ण तथा कोटि सूर्य-समान प्रकाशशाली है, उक्त त्रिकोण शक्तिपीठमें स्वयम्भूलिङ्ग विराजमान है, जो पश्चिम मुख, तप्त काञ्चनतुल्य कोमल, ज्ञान और ध्यानका प्रकाशक है। इस स्वयम्भूलिङ्गके ऊपर मृणाल अर्थात् कमलकी डण्डीके तन्तुके सदृश सूक्ष्मा शङ्खवेष्टनयुक्ता और साढ़े तीन वलयोंके आकारकी सर्पतुल्य कुण्डलाकृति नवीन विद्युन्मालाके समान प्रकाशशालिनी कुलकुण्डलिनी निज मुखसे उस स्वयम्भूलिङ्गके मुखको आवृत करके निद्रिता रहती है। उसके प्रबोधकी क्रियाएँ अति कठिन, गोप्य तथा गुरुप्रसादैकलभ्य हैं।

द्वितीय चक्रका नाम स्वाधिष्ठान पद्म है, इसकी स्थिति लिङ्गमूलमें है। ब, भ, म, य, र, ल—ये छः वर्ण उसके दल हैं। इसका रक्त वर्ण है। उसमें बालाख्य सिद्धकी स्थिति है और अधिष्ठात्री देवी राकिणी है।

तृतीय मणिपूर नामक चक्र है, जो नाभिमूलमें है और ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ—ये दस सुवर्णमय वर्ण जिसके दस दलरूपसे शोभायमान हैं, जहाँ रुद्राक्ष सिद्ध लिङ्ग सब प्रकारके मङ्गलोंको दान कर रहे हैं, और जहाँ परम धार्मिका लाकिनी देवी विराजमान है।

चतुर्थ हृदयस्थित चक्रका नाम अनाहतचक्र है—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ इन द्वादश वर्णयुक्त, अति रक्तवर्ण इसके द्वादश दल हैं। हृदय अति प्रसन्न स्थान है। इस अनाहत पद्ममें परम तेजस्वी रक्तवर्ण बाणलिङ्गका अधिष्ठान है, जिसका ध्यान करनेसे इहलोक और परलोकमें शुभ फलकी प्राप्ति हुआ करती है। दूसरे पिनाकी नामक सिद्ध लिङ्ग और काकिनी नामक अधिष्ठात्री देवी वहाँ स्थित हैं।

पञ्चम पद्मका स्थान कण्ठ है और नाम विशुद्धचक्र है, उनका रङ्ग सुन्दर स्वर्णकी तरह है (मतान्तरमें धूम्रवर्ण है)—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन षोडश वर्णसुशोभित उसके षोडश दल हैं। इस पद्ममें छगलाण्ड नामक सिद्ध लिङ्ग और शाकिनी नामक देवीकी स्थिति है।

भ्रूद्वयके मध्यमें आज्ञापद्म छठा चक्र है। यह शुभ्र वर्ण है और ह, क्ष युक्त इसके दो दल हैं, शुक्ल नामके महाकाल इस पद्मके सिद्ध लिङ्ग और हाकिनी नाम्नी महाशक्ति इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी हैं।

द्विदल पद्मके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें ही इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गमस्थान तीर्थराज प्रयाग है, इसमें स्नान करनेसे तत्क्षण साधक मुक्तिपदको प्राप्त होता है। ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमल स्थित है। उस स्थानका नाम कैलास है और वहाँ देवादिदेव महादेव सदा विराजमान

हैं और वही महेश्वर नामक परम शिव हैं। उनको नकुल भी कहते हैं। वह नित्यविलासी हैं, उनकी क्षय और वृद्धि कदापि नहीं होती, अर्थात् वह सदा एकरूप ही हैं। इस सहस्रदलकमलमें जो साधक अपनी चित्तवृत्तिको निश्चलरूपसे लीन करता है, वह अखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन परमात्माकी स्वरूपताको लाभ कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस सहस्रदलपद्मसे निर्गत पीयूषधाराको जो योगी निरन्तर पान करता है वह अपनी मृत्युको मारकर कुलजयद्वारा चिरञ्जीवी हो जाता है। इसी सहस्रदलकमलमें कुलरूपा कुण्डलिनी महाशक्तिका लय होनेपर चतुर्विध सृष्टिका भी परमात्मामें लय हो जाता है। मूलाधारमें जो चार दलोंका पद्म है, इस अवस्थामें वहाँकी कुण्डलिनी शक्ति निश्चय करके अपने स्थानको त्याग कर देती है। क्रमशः कुण्डलिनी षट्चक्रभेदनद्वारा सहस्रदलपद्ममें जाकर लयको प्राप्त हो जाती है। यहाँ शिवशक्तिसंयोगरूप मुक्तिक्रिया कहलाती है, और इस अवस्थामें वह योगी अखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन परमात्माके रूपको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है।*

लययोगके दर्शित अलौकिक रहस्यविज्ञानके लिये हम ही नहीं, मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी कितने लालायित एवं उत्कण्ठित रहा करते थे, इसका पता अधोनिर्दिष्ट मन्त्रके अवलोकनसे चलता है—

क्व त्रीचक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो ये सनीळाः।
कदा योगो वाजिनो रास्भस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः॥

(ऋक्संहितामण्डल १, सूक्त ३४, मन्त्र ९)

[त्रिवृतः] त्रिवृद्भूतकार्यस्य तेजोऽबन्नविकारस्य, [रथस्य] शरीरस्य 'शरीरं रथमेव तु' इति श्रुतेः [त्रीचक्रा] त्रीणि चक्राणि अधस्तनानि मूलाधारस्वाधिष्ठान-मणिपूराभिधानि [क्व] कुत्र वर्तन्ते, तेषां स्थानविशेषः क इति न अस्माभिर्ज्ञायते, [बन्धुरः] बन्धुजीवपुष्पसन्निभो रक्तवर्णो जीवधारकः कन्दर्पाभिधो वायुः, त्रिकोण-शक्तिपीठमध्यवर्ती क्वेति सम्बन्धः [सनीळाः] नीडं ब्रह्मरन्ध्रस्योपरि वर्तमानं सहस्रारं पद्मं शिववासस्थानं तेन सहिताः [त्रयः] उपरितनचक्रविशेषाः अनाहतविशुद्धा ज्ञानामकाः क्व कुत्रेत्यपि च न ज्ञायते [वाजिनः] बलशालिनः सर्वशक्तिसम्पन्नस्य [रास्भस्य] रासेन रसप्रचुरेण—आनन्दघनेन स्वात्मना भासमानस्य, आनन्दघनस्वप्रकाशस्य रासो रासलीला शिवशक्तिसंगमलक्षणा सर्वरसाधारभूता, ततः शोभमानस्य वा शिवस्य [योगः] कुलकुण्डलिनीरूपया शक्त्या समं सम्बन्धः, योगशास्त्रोपदिष्टषट्चक्रभेद-नादिक्रियाकौशलेन प्रबोधितायाः कुलकुण्डलिनीरूपाया महाशक्तेः सहस्रारपद्ममध्यवर्तिनि भगवति शिवे लय इति यावत्, [येन] लययोगेन [यज्ञम्] यजनं मिथः सङ्गमनम् 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, इति धातुपाठः [नासत्या] सर्वदा वर्तमानौ शक्तिशिवौ युवां [उपयाथः] उपगच्छथः—संयोगः, [कदा] कस्मिन् काले इत्यपि न ज्ञायते, अपि मातापितरौ शक्तिशिवौ, युष्मत्प्रसादात् अस्मिन् पिण्डे कस्य चक्रस्य किं स्थानं का अधिष्ठात्री देवी कियन्ति दलानि को वर्णो मूलाधारपद्मस्थकुलकुण्डलिनीशक्तेः सहस्रदल-पद्मस्थशिवे लयगमनसमयश्च क इत्येतत् सर्वमवगतं भवतु, अवगत्य च तथानुतिष्ठेयं भवत्करुणयेति भावः।

अर्थात् (छान्दोग्यप्रतिपादित सृष्टिके अनुसार) अग्नि, जल, पृथिवी इन तीन भूतोंका कार्य शरीर है, रथ नाम—'शरीरं रथमेव तु' शरीरको ही रथ समझो, इस कठश्रुतिके प्रमाणसे—शरीरका ही है। उस शरीररथके मध्यमें नीचेके तीन चक्र, जिनके मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर ये नाम हैं, वे कहाँ हैं, उनका स्थानविशेष कौन-सा है, यह हमें ज्ञात नहीं। जीवधारक बन्धुजीव पुष्पके समान नितान्त रक्तवर्ण कन्दर्प नामक वायु कहाँ है, अर्थात् उसके निवासस्थानके ज्ञानसे भी हम वञ्चित हैं। शिववासस्थान सहस्रदलकमलसहित ऊपरके तीन चक्र, जिनके अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये नाम हैं, कहाँ हैं, यह भी हमें ज्ञात नहीं; सर्वशक्तिसम्पन्न आनन्दघन स्वप्रकाश शिव परमात्मा, जो शिवशक्तिसंगमरूप रासलीलासे शोभित होते हैं, उनका आधारपद्मस्थित कुलकुण्डलिनी महाशक्तिसे योग अर्थात् कुलकुण्डलिनीका उनमें लय जिसके द्वारा शिवशक्ति दोनों परस्पर सङ्गत होते हैं, वह लय किस समय होता है, इसका भी हमें पता नहीं है। हे अविनाशी शिवशक्ति माता-पिता! आपकी कृपासे लययोगसम्बन्धी ये सब बातें मुझे ज्ञात हों और मैं जानकर उस लययोगका अभ्यास करूँ।

वेद पूर्णपुरुष जगदीश्वरकी कृति हैं, उनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों भाव रहते हैं, क्योंकि कार्य कारणके अनुरूप ही होता है।

* सातों चक्रोंके चित्र पूर्ण विवरणसहित 'शक्ति-अंक' में प्रकाशित हो चुके हैं।

जब वेदके रचयिता प्रभुमें क्रमशः ब्रह्म, ईश तथा विराट् ये पूर्वोक्त तीन भाव हैं तब प्रभुकी कृति वेदमें भी क्यों न होंगे?

भाष्यकार यथारुचि केवल एक भावके दृष्टिकोणसे वेदमन्त्रोंकी व्याख्या किया करते हैं, इससे यह समझना भारी भूल है कि अन्य भावका अर्थ है ही नहीं या भाष्यकार उसको जानते ही न थे। आचार्य सायणने आधिदैविक भाव जिसका सम्बन्ध कर्मकाण्डसे है, उसी भावके दृष्टिकोणसे रचना की है। अतः सायणभाष्यमें आध्यात्मिक योगपक्षका अर्थ न मिलना युक्तिसङ्गत ही है। परन्तु अनन्त स्थलोंमें आध्यात्मिक पक्षके अनुकूल भी व्याख्या की है जिसके द्वारा कृपालु सायणाचार्यने जिज्ञासुओंकी दर्शित भ्रान्तिका सर्वथा मूलोच्छेद कर दिया है।

इस निबन्धमें उद्धृत वेदमन्त्रोंके योगसम्बन्धी अर्थ श्रीसनत्कुमारप्रवर्तित मुनि (उदासीन) सम्प्रदायके पुनरुत्थापक आचार्य योगिराज शिवस्वरूप विश्वगुरु, सोलहवीं शताब्दीके महापुरुष श्रीश्रीचन्द्र महाराजनिर्मित योगप्रदीपसे लिये गये हैं।

आचार्यश्रीकृपासे बाबा श्रीहजारा, महाराज श्रीबनखण्डीजी, पञ्जाबकेसरी महाराज रणजीतसिंहके परम श्रद्धेय तत्समकालीन योगिराज महाराज श्रीहरिदास प्रभृति अनन्त महापुरुष भारतवर्षके रत्न मुनिसम्प्रदायमें हुए हैं। अब भी ऋषिकेशवासी योगिराज श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज हैं जो इस समय योगविद्याके अद्वितीय वेत्ता हैं।

दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥

'हे राम! इस संसाररूपी विषके वेगकी वेदना बड़ी दुःसह है। यह पावन योगगारुड-मन्त्रसे ही शान्त होती है।'

ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

उपक्रम

भारतीय दर्शनमें प्राणविद्याका विशेष महत्त्व है। इस विद्याका जितना चिन्तन तथा अध्ययन हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने किया था, उतना शायद ही किसी अन्य देशके विद्वानोंने किया होगा। सच तो यह है कि प्राणोपासनाकी विद्या हमारी अपनी सम्पत्ति है। प्राणके वास्तविक महत्त्वको समझना, इस शरीर तथा बाह्य जगत्में उसके सच्चे कार्य तथा व्यापक प्रभावको परखना, तथा किसी देवताका आरोप कर उसकी उपासना करना—ये सब सिद्धान्त इस भारत-भूमिपर ही हमारे पूर्वजोंको सात्त्विक बुद्धि तथा उर्वर मस्तिष्कके कारण ही प्राचीन कालमें उत्पन्न हुए तथा अब भी हममें किसी-न-किसी रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। यह विद्या कबसे चली? यह कहना बिलकुल असम्भव है, परन्तु जब हमारे साहित्य तथा धर्मका प्रथम प्रभात हुआ, तभीसे इस विद्याका उदय हुआ होगा, यह हम बिना रोक-टोक कह सकते हैं, क्योंकि हमारी वैदिक संहिताओंमें, विशेषतः ऋक् तथा अथर्ववेदकी संहिताओंमें इस विद्याका समुल्लेख सबसे पहले किया गया मिलता है। विद्वानोंसे यह अपरिचित नहीं कि उपनिषदोंमें प्राणविद्या भरी पड़ी है, परन्तु उपनिषदोंमें नहीं, प्रत्युत आरण्यक तथा संहितामें इस विद्याका यथेष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। बहुत-से विद्वानोंको यह सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है बिलकुल ठीक। इस महत्त्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा संकेत उपनिषदोंसे पूर्व वैदिक संहिताओं तथा आरण्यकोंमें भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोंके पढ़नेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। '**मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः**।' मन्त्रोंके संग्रहोंको 'संहिता' कहते हैं। ऐसी संहिताएँ हमारे यहाँ बहुत हैं, ऋक्संहिता, सामसंहिता आदि। ब्राह्मणोंके तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद्में ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह ज्ञानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह

गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते हैं। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंके बीचमें आता है। 'आरण्यक' नाम पड़नेके दो कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पढ़ने योग्य हैं, इनका अध्ययन तथा मनन अरण्य (जंगल)-में ही करना चाहिये। अत: अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा[1]। दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये हैं जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रममें हैं। अत: जो लोग घर-द्वार छोड़कर जंगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते हैं उन्हीं तृतीय आश्रममें रहनेवालोंके लिये 'आरण्यक' ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोंके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक-ग्रन्थोंमें कर्मकाण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोंके उद्गम यहाँ दिखायी पड़ते हैं जिसका प्रचुर विकास उपनिषदोंमें हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करना भारतीय दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमें पता चलेगा कि वैदिक संहिताओंसे आरम्भ होकर उपनिषदोंमें विकसितरूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादों तथा सिद्धान्तोंके कौन-कौन-से रूप थे। संक्षेपमें औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

ऐतरेय आरण्यक

अथर्ववेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक हैं। ऋग्वेदके दो आरण्यक हैं— ऐतरेय तथा शांखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमें विशेष महत्त्वका है। इसके पाँच खण्ड हैं। उन्हें भी आरण्यक ही कहते हैं। प्रत्येक आरण्यकमें कई अध्याय हैं। पहले आरण्यकमें पाँच अध्याय, दूसरेमें सात, तीसरेमें दो, चौथेमें एक और पाँचवेंमें तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमें अठारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें कई खण्ड हैं। इनमें दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोंमें ऐसे विषय हैं जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमेंसे अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय-उपनिषद् हैं। आदिके तीन अध्यायोंमें प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमें इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिज्ञासु पाठकोंके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इन अध्यायोंमें प्रमाणके लिये— वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अत: मुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र ऋग्वेदसे दिये जायँगे जिससे प्राणविद्याके ऋग्वेदीय स्वरूपका स्वल्प परिचय प्राप्त हो जाय।

ऋग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्याविषयक अध्यायोंमें ऋग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए है, इस विषयमें यह मन्त्र 'तदुक्तमृषिणा' कहकर दिया गया है[2]—

अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः[3]॥

इस मन्त्रके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमें इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमें— अध्यात्मरूपमें— वायुके रूपमें है, परन्तु अधिदैवरूपमें सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। (प्रश्नोपनिषद् ३।८)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्याप्त कर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें बारम्बार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश

१. अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यताम्। (सायणभाष्य ऐतरेय। आरण्यक)
२. ऐतरेय आरण्यक, आनन्दाश्रम संस्करण।
३. ऋ० वे० १।१६४।३१; १०।१ ७७।३।

निकलता है—'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्'[1]। इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायुके द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमें वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदका यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥
(१।१६४।३८)

यह प्राण इस शरीरमें स्वधा—अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मल-मूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमें जाया करता है तथा श्वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमें सञ्चरण किया करता है अर्थात् वह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमें सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु वह मरणधर्मवाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण विविधव्यापारसम्पन्न हैं तथा आपसमें विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परन्तु प्राण ऊपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमेंसे देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राणको अन्न और पानेसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका यथार्थ वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अवसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्धृत करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्ताको ऋग्वेदकी संहितामें भी स्वीकार किया गया है। यही हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है, जिसका विकास आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५।१), कौषीतकि (२।१४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२।१—१३)-में आया हुआ है। छान्दोग्य (५।१।६—१५)-का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यों-का-त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राण-संवाद बड़ी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है? सब झगड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्तमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें; जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर बिना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया; यह देह बिना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर बिना सुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें झगड़ा करती ही रहीं। अब यह स्थिर हुआ कि जिसके प्रवेश करनेपर यह शरीर उठ खड़ा हो, वही उक्थ है—वही हममें श्रेष्ठ है। वागिन्द्रिय पहले घुसी, परन्तु यह शरीर सोया ही रहा। चक्षु, श्रवण, मन बारी-बारी प्रवेश करते गये, परन्तु कोई परिणाम नहीं हुआ। यह शरीर पहलेकी भाँति ही सोया-सा रहा—पृथ्वीपरसे उठ नहीं सका। अन्तमें प्राणने प्रवेश किया, उसके प्रवेश करते ही यह शरीर उठ खड़ा हुआ। अतः प्रतिज्ञाके अनुसार प्राण ही उक्थ माना गया। वही सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ माना गया।[2]

आरण्यकका यह वर्णन उपनिषद्के वर्णनसे कई अंशोंमें भिन्न-सा है। उपनिषद्में तो प्राणके निकलते समय शरीरकी अन्य इन्द्रियोंके खिन्न तथा निर्जीव होनेकी घटनाका वर्णन है, परन्तु इस आरण्यकमें प्रवेशसे पतित शरीरको खड़ा करा देनेकी योग्यताका एक नवीन उल्लेख प्राणके विषयमें किया गया है। प्राणकी श्रेष्ठता इस प्रकार उत्क्रमणसे ही नहीं, बल्कि प्रवेशसे भी सिद्ध की गयी है। इस आरण्यकके अध्ययनसे यह भी पता चलता है कि यह विषय ऋग्वेदकी संहितामें भी निर्दिष्ट

१. ऐत० आर०
२. ऐत० आर०

किया गया है। इन्द्रियोंने '**त्वमस्माकं तव स्मसि**' (तुम हमारे स्वामी हो और हम तुम्हारे भृत्य हैं) कहकर प्राणकी श्रेष्ठता स्वयं मानी है। यह इस मन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है[१]।

प्राणकी उपासना

प्राणकी सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेके अनन्तर उसकी उपासनाके प्रकारका विस्तृत वर्णन इस आरण्यकमें किया गया है। इस प्राणके अनेक गुणोंका विशद विवेचन किया गया है। अनन्तर उसमें भिन्न-भिन्न देवता तथा ऋषियोंकी दृष्टि कर प्राणोपासनाके ढंग तथा उसके फलका उल्लेख किया गया है। इस लेखमें इस वर्णनका थोड़ा-सा सारांश प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

हमारे शास्त्रोंमें इस पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्डकी एकतापर सर्वत्र जोर दिया गया मिलता है। बाहर जो यह विशाल ब्रह्माण्ड नानाकारोंसे हमारे सामने उपस्थित है, उसका एक छोटा प्रतिनिधि है यह हमारा लघु शरीर। अतः भीतर तथा बाहर सब जगह भिन्न-भिन्न आकारसे एक ही तत्त्व इस मानव-शरीर तथा विश्वरूपमें समभावसे व्याप्त दृष्टिगोचर हो रहा है। बाह्य जगत्‌में जो विश्वका पोषक आदित्य है, इस शरीरमें सब इन्द्रियोंकी स्थितिका कारण वही प्राण है। श्रुतिमें प्राण तथा आदित्यकी एकता सर्वत्र प्रतिपादित की गयी है। प्रश्नोपनिषद्‌में कहा गया है—'**आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः**' (प्रश्न० १। ७)। आरण्यकोंमें भी इसी एकताका प्रतिपादन स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। अतः जिस प्रकार आदित्य हमारी उपासनाका विषय है, उसी प्रकार इस शरीरमें प्राण भी हमारी उपासनाका विषय है। हमारा यह सतत ध्येय होना चाहिये कि हम इस प्राणकी उपासना सदा किया करें।

प्राणकी महिमा

सोऽयमकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथाय-माकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आ-पिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।

(ऐत० आर० २। १। ६)

अर्थात् प्राण इस विश्वका धारक है। 'प्राणकी ही शक्तिसे जैसे यह आकाश अपने स्थानपर स्थित है, उसी तरह सबसे बड़े प्राणीसे लेकर चींटीतक समस्त जीव इस प्राणके द्वारा ही विधृत हैं।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्वका जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रोंके सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। '**सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्**' (प्राणसे यह सारा जगत् आवृत है।) वह विश्वका धारक है, अतः वह उसका रक्षक है। मन्त्रमें इसीलिये प्राणको 'गोपा' कहा गया है। प्राण ही आयुका कारण है। कौषीतकि-उपनिषद्‌में प्राणके यह आयुष्कारक होनेकी बात स्पष्ट ही कही गयी है—

यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।

(१। २)

जबतक इस शरीरमें प्राण रहता है तभीतक आयु है। अतः श्रुतिमन्त्रोंमें प्राणके लिये 'गोपा' शब्दका व्यवहार उचित ही है।

प्राणके द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायुकी सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं। जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र अपने सत्कर्मोंसे पिताकी सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राणकी सेवामें लगे रहते हैं। अन्तरिक्षका अनुसरण करके ही प्राणिमात्रका सञ्चरण होता है और अन्तरिक्षकी सहायतासे ही आदमी दूर स्थानपर कहे गये शब्दोंको सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राणकी परिचर्या करता है। वायु भी शोभनगन्ध ले आकर प्राणको तृप्त कर देता है तथा इस प्रकार अपने पिता प्राणकी सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यकमें प्राणके स्रष्टा तथा पिता होनेकी बात इस प्रकार कही गयी है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति; अन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।

अर्थात् 'प्राणसे अन्तरिक्ष और वायुकी सृष्टि हुई। अन्तरिक्षका अनुसरण करके प्राणी चलते हैं और अन्तरिक्षका अनुसरण करके सुनते हैं। वायु इसके पास पुण्यगन्ध ले आता है। इस प्रकार ये अन्तरिक्ष और वायु अपने पिता प्राणकी परिचर्या करते हैं।'

प्राणकी ध्यानविधि

ध्यान करनेके लिये प्राणके भिन्न-भिन्न गुणोंका

१. ऐत० आर०

उल्लेख विस्तृततररूपसे किया गया है। तत्तद्रूपसे प्राणका ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपोंसे उपासना करनेसे फल भी तदनुरूप ही उपासकको प्राप्त होंगे। उस ध्यानके कतिपय प्रकारोंका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राण ही अहोरात्रके रूपमें कालात्मक है। दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपानरूप। सबेरे प्राण सब इन्द्रियोंको इस शरीरमें अच्छी तरह फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देखकर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्राताथि' अर्थात् प्रकर्षरूपसे प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिनके आरम्भ-कालको जिसमें प्राणका प्रसरण दृष्टिगोचर होता है। 'प्रातः' (सबेरा) कहलाता है। दिनके अन्त होनेपर इन्द्रियोंमें संकोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं 'समागात्'। इसी कारण उस कालको 'सायं' कहते हैं। विकासके कारण दिन प्राणरूप है और संकोचके हेतु रात्रि अपान है। प्राणका ध्यान इस प्रकार अहोरात्रके रूपमें करना चाहिये।

प्राण ही देवतात्मक है। वाग्में अग्नि-देवताका निवास है; चक्षु सूर्य है; मन चन्द्रमा है; श्रोत्र दिशाएँ हैं। प्राणमें इन सब देवताओंकी भावना करनी चाहिये। 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषिने प्राणके इस रूपको जाना था तथा प्राणकी देवतारूपसे उपासना की थी। इस उपासनाका ज़ो विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ, उसका वर्णन ऐतरेय आरण्यकमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है (ऐत० आर० पृ० १०३। १०४)।

प्राण ही ऋषिरूप है। ऋग्वेदके मन्त्रोंके द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियोंकी भावना प्राणमें करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके आकारमें विद्यमान है। प्राण ही शयनके समयमें वाग्, चक्षु, आदि इन्द्रियोंके निगरण करनेके कारण 'गृत्स' कहलाता है और रतिके समयमें वीर्यके विसर्गजन्य मद उत्पन्न करनेके कारण अपान ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और अपानके संयोगको ही गृत्समद कहते हैं, प्राण ही विश्वामित्र है, क्योंकि इस प्राण देवताका यह समस्त विश्व भोग्य होनेके कारणसे मित्र है (**विश्वं मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः**)। प्राणको देखकर वागाद्यभिमानी देवताओंने कहा, 'यही हममें वाम'—वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हममें श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवोंमें 'वाम' होनेसे प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राणने ही समस्त विश्वको पापसे बचाया है (**सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः**)। प्राण ही भरद्वाज है। गतिसम्पन्न होनेसे मनुष्यके देहको 'वाज' कहते हैं। प्राण इस शरीरमें प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत किया करता है। अतः वह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है। इसी कारण वह भरद्वाज है। देवताओंने प्राणको देखकर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीरमें इन्द्रियोंके निवास करनेका कारण प्राण ही है। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवासका हेतु है। अतः वह वसिष्ठ हुआ। इन निर्वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषिरूप है। अतः प्राणमें इन ऋषियोंकी भावना करनी चाहिये तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य ऋषियोंकी भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है।

इस आरण्यकमें यहाँतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २।२।१०)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्तद्रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर प्राणविद्याका जो एक स्वल्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परन्तु सच तो यह है कि संहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुत-से निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्गम तथा विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इति शम्।

उपनिषदोंमें योग-चर्चा

(लेखक—पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसन्तापहर भगवान्से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुञ्जी पाना परमावश्यक है।

इस कालमें सर्वसाधारणजनको योगका ज्ञान बहुत ही कम है। पण्डितसमाजको जो कुछ ज्ञान है वह पातञ्जलयोगका और वह भी दुरधीत तथा दुरध्यापित शास्त्ररूपेण। योगचर्या तथा योगाभ्याससे हमारा सभ्य-सङ्घ उतना ही सम्पर्क रखता है जितना माया-परिष्वक्त जीव सर्वदुःखहर महेश्वरसे रखता है। यही एक प्रधान कारण है कि इस समय योगके सम्बन्धमें विचित्र-विचित्र बातें विद्वज्जनके मुखसे भी सुननेमें आती हैं। अस्तु। इस समय इसकी कैसी भी दुर्दशा अनात्मज्ञ लोगोंमें क्यों न हो, भारतवर्षके आध्यात्मिक इतिहासमें योगका सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्शनिक मत-मतान्तरोंके परस्पर इतने भिन्न रहनेपर भी, योगाभ्यासमें किसीकी विप्रतिपत्ति सुननेमें नहीं आती। वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते थे जितनी श्रद्धा वेदसम्मतमतानुयायी आर्यजनता रखती थी। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। कहाँतक कहें, हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है। डायसन इसीको 'भारतके धर्मजीवनकी एक सबसे विलक्षण बात' कहते हैं।* अन्यत्र हम यह दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं कि वैदिक संहिताओंके कालमें भी योगचर्या अच्छी तरह ज्ञात थी। वेद ही हमारे—हमारे क्या संसारभरके—सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि यह दिखाया जा सकता है कि वेदके प्रत्येक विभागमें योगके विषयमें बहुत कुछ मिलता है, तब यह बात कभी अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि योग हमारी सबसे पुरानी सम्पत्ति है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यहाँ हम उपनिषदोंमें आये हुए योग-वर्णनकी कुछ चर्चा करते हैं।

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। '**मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः**'। मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुत करके उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य, गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् थे। ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १०००, तथा अथर्ववेदकी ५० शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतने ही उपनिषद् भी होने चाहिये। किन्तु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ उपनिषद् भी लुप्त हो गये। मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीरामचन्द्र सारतर १०८ उपनिषदोंके नाम यों कहते हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः।
गर्भो नारायणो ब्रह्मबिन्दुनादशिरः शिखा॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका॥

* Paul Dcussen: The Philosophy of the Upanishads, p. 117.

सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम्।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम्।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम्॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम्।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका॥

सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम्।
त्रिपुरा तपनं देवी त्रिपुरा कठभावना।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम्॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ॥

इन १०८ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदोंका एक संग्रह दो वर्ष हुए अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास)-से निकला है। इस संग्रहमें ७१ उपनिषद् सङ्गृहीत हैं। उनके नाम ये हैं—

१. योगराजोपनिषत्
२. अद्वैतोपनिषत्
३. आचमनोपनिषत्
४. आत्मपूजोपनिषत्
५. आर्षेयोपनिषत्
६. चतुर्वेदोपनिषत्
७. इतिहासोपनिषत्
८. चाक्षुषोपनिषत्
९. छागलेयोपनिषत्
१०. तुरीयोपनिषत्
११. द्वयोपनिषत्
१२. निरुक्तोपनिषत्
१३. पिण्डोपनिषत्
१४. प्रणवोपनिषत्
१५. प्रणवोपनिषत्
१६. वाष्कलमन्त्रोपनिषत्
१७. वाष्कलमन्त्रोपनिषत् (सवृत्तिका)
१८. मठाम्नायोपनिषत्
१९. विश्रामोपनिषत्
२०. शौनकोपनिषत्
२१. सूर्यतापिन्युपनिषत्
२२. स्वसंवेद्योपनिषत्
२३. ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्
२४. कात्यायनोपनिषत्
२५. गोपीचन्दनोपनिषत्
२६. तुलस्युपनिषत्
२७. नारदोपनिषद्
२८. नारायणपूर्वतापिनी
२९. नारायणोत्तरतापिनी
३०. नृसिंहषट्चक्रोपनिषत्
३१. पारमात्मिकोपनिषत्
३२. यज्ञोपवीतोपनिषत्
३३. राधोपनिषत्
३४. लाङ्गूलोपनिषत्
३५. श्रीकृष्णपुरुषोत्तम-सिद्धान्तोपनिषत्
३६. सङ्कर्षणोपनिषत्
३७. सामरहस्योपनिषत्
३८. सुदर्शनोपनिषत्
३९. नीलरुद्रोपनिषत्
४०. पारायणोपनिषत्
४१. बिल्वोपनिषत्
४२. मृत्युलाङ्गूलोपनिषत्
४३. रुद्रोपनिषत्
४४. लिङ्गोपनिषत्
४५. वज्रपञ्जरोपनिषत्
४६. बटुकोपनिषत्
४७. शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४८. शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४९. शिवोपनिषत्
५०. सदानन्दोपनिषत्
५१. सिद्धान्तशिखोपनिषत्
५२. सिद्धान्तसारोपनिषत्
५३. हेरम्बोपनिषत्
५४. अल्लोपनिषत्
५५. आथर्वणद्वितीयोपनिषत्
५६. कामराजकीलितोद्धारोपनिषत्
५७. कालिकोपनिषत्
५८. कालीमेधादीक्षितोपनिषत्
५९. गायत्रीरहस्योपनिषत्
६०. गायत्र्युपनिषत्
६१. गुह्यकाल्युपनिषत्
६२. गुह्यषोढान्यासोपनिषत्
६३. पीताम्बरोपनिषत्
६४. राजश्यामलारहस्योपनिषत्
६५. वनदुर्गोपनिषत्
६६. श्यामोपनिषत्
६७. श्रीचक्रोपनिषत्
६८. श्रीविद्यातारकोपनिषत्
६९. षोढोपनिषत्
७०. सुमुख्युपनिषत्
७१. हंसषोढोपनिषत्

पूर्वोल्लिखित १७९ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् हैं, किन्तु अभीतक अप्रकाशित हैं। उपलब्ध उपनिषदोंकी संख्या दो शत-तीन शतके मध्यमें है[1]। डॉ० डायसनने स्वकल्पित विनिगमकद्वारा परीक्षा कर इन उपनिषदोंका समय क्रमसे चार विभाग किया है[2]—

१. बिलवलकर और रानडेकृत History Of Indian Philosophy (भारतीय तत्त्वज्ञानका इतिहास, खण्ड २, पृ० ८७)
२. Paul Deussen : The Philosophy of Upanishads (Eng. Transl.), pp. 22—26 अन्य (भारतीय) विद्वज्जन इस

१. प्राचीन गद्य उपनिषद्—

बृहदारण्यक
छान्दोग्य
ऐतरेय
कौषीतकि
तैत्तिरीय
केन

२. प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषद्—

काठक अथवा कठ
ईश या ईशावास्य
श्वेताश्वतर
महानारायण

३. पीछेके गद्य उपनिषद्—

प्रश्न
मैत्रायणी (य) या मैत्री
माण्डूक्य

४. आथर्वण-उपनिषद्—[1]

संन्यास-उपनिषद्
योग-उपनिषद्
सामान्य वेदान्त-उपनिषद्
वैष्णव-उपनिषद्
शैव, शाक्त तथा अन्य छोटे उपनिषद्

इस विभागमें प्रकृतोपयोगी बात यह है कि योगोपनिषद् डॉ० डायसनके मतानुसार बिलकुल अर्वाचीन हैं। ये उपनिषद् ऐसे हैं कि इनको देखते ही विद्वान् समझ सकते हैं कि ये योगके सभी अङ्गोंसे भरे हुए हैं। पीछेके योगविषयक ग्रन्थ— हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षपद्धति, शिवसंहिता आदि— इन्हीं उपनिषदोंके आधारपर बने हुए हैं। इन योगोपनिषदोंका संग्रह भी ए० महादेव शास्त्रीद्वारा सम्पादित मद्रासकी अड्यार लाइब्रेरीसे निकला है। इसमें निम्नलिखित २० उपनिषद्, उपनिषद् ब्रह्मयोगिकृत टीकासहित दिये हुए हैं[2]—

१. अद्वयतारकोपनिषत् (शु० य०)
२. अमृतनादोपनिषत् (कृ० य०)
३. अमृतबिन्दूपनिषत् (कृ० य०)
४. क्षुरिकोपनिषत् (कृ० य०)
५. तेजोबिन्दूपनिषत् (कृ० य०)
६. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् (शु० य०)
७. दर्शनोपनिषत् (सा० वे०)
८. ध्यानबिन्दूपनिषत् (कृ० य०)
९. नादबिन्दूपनिषत् (ऋ० वे०)
१०. पाशुपतब्रह्मोपनिषत् (अ० वे०)
११. ब्रह्मविद्योपनिषत् (कृ० य०)
१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषत् (शु० य०)
१३. महावाक्योपनिषत् (अ० वे०)
१४. योगकुण्डल्युपनिषत् (कृ० य०)
१५. योगचूडामण्युपनिषत् (सा० वे०)
१६. योगतत्त्वोपनिषत् (कृ० य०)
१७. योगशिखोपनिषत् (कृ० य०)
१८. वराहोपनिषत् (कृ० य०)
१९. शाण्डिल्योपनिषत् (अ० वे०)
२०. हंसोपनिषत् (शु० य०)

अप्रकाशित उपनिषदोंके संग्रहमें योगराजोपनिषद् भी एक है। इस तरह ये २१ उपनिषद् योगोपनिषद् कहे जाते हैं। नीचे हम प्रत्येकके प्रतिपादित विषयका उल्लेख संक्षेपसे करते हैं—

१. *अद्वयतारकोपनिषद्*—इसमें लक्ष्यत्रयके अनुसन्धान-द्वारा तारकयोगका साधन कहा गया है।

२. *अमृतनादोपनिषद्*—इसमें षडङ्गयोगका वर्णन है। ये षडङ्ग प्रसिद्ध षडङ्ग जरा भिन्न हैं। यहाँके षडङ्ग ये हैं—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

'प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहाता है।'

विभागको माननेमें समर्थ नहीं हैं। गद्यात्मक या पद्यात्मक होनेसे ही प्राचीन अथवा अर्वाचीन कहना वास्तवमें इतना युक्तियुक्त नहीं जँचता। देखिये— Belvelkar and Ranade : History of Indian Philosophy, vol. pp. 89-90.

१. समझमें नहीं आता डॉ० डायसनने इन सबको आथर्वण-उपनिषद् कैसे कह दिया। वह कहते हैं "All of these Upanishads were received into the Atharvaveda" किन्तु इस सिद्धान्तपर वह कैसे पहुँचे, इसका पता नहीं लगता। उपनिषद् ब्रह्मयोगिकी टीकासे स्पष्ट विदित होता है कि वे भिन्न-भिन्न वेदोंकी शाखाओंसे सम्बन्ध रखते हैं।

२. हम आगे योग-उपनिषदोंके नामके साथ सङ्केताक्षरद्वारा उनके वेदकी भी सूचना देते हैं। शु० य०=शुक्लयजुर्वेद, कृ० य०=कृष्णयजुर्वेद, सा० वे०=सामवेद, ऋ० वे०=ऋग्वेद, अ० वे०=अथर्ववेद।

तर्कका लक्षण यह है—

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।

'आगमसे अविरुद्ध अनुमान तर्क कहाता है।'

आसनोंका उल्लेख समाधिसिद्ध्युपायमें यों किया है—

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः॥

'उत्तराभिमुख होकर पद्मक या स्वस्तिक या भद्र या बद्ध योगासन।'

३. *अमृतबिन्दूपनिषद्*—मन ही बन्धनका कारण है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

'विषयासक्त मन बन्धका और निर्विषय मन मुक्तिका कारण है।'

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम्॥

'विषयासक्तिसे मुक्त और हृदयमें निरुद्ध मन जब अपने अभावको प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।'

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः॥

'तभीतक हृदयमें मनका निरोध करना चाहिये जबतक उसका क्षय न हो जाय। इसीको ज्ञान कहते हैं और ध्यान कहते हैं, बाकी सब न्यायका विस्तार है।'

इसके अनन्तर ज्ञानका स्वरूप तथा ध्यानका प्रकार कहा गया है।

४. *क्षुरिकोपनिषद्*—इसमें प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—संक्षेपसे कहे गये हैं। '**आसनमवस्थितः**' कहकर छोड़ दिया है; किसी आसनविशेषका नाम नहीं लिया है।

५. *तेजोबिन्दूपनिषद्*—यह जरा बड़ा उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परब्रह्मस्वरूप, तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। पञ्चदश अङ्ग ये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥

'यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये अङ्ग क्रमसे बताये हैं।'

यम आदिका स्वरूप भी भिन्न ही प्रकारसे कहा गया है। उदाहरणार्थ यमका लक्षण देते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

'यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञानसे इन्द्रियोंका संयम करना ही यम कहाता है। इसीका बारंबार अभ्यास करना चाहिये।'

द्वितीय अध्यायमें अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व भावनाद्वारा सबका एकरूप प्रतिपादित किया गया है। तृतीयाध्यायमें ब्रह्मानुभवका वर्णन है। चतुर्थ अध्यायमें जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदिका वर्णन है। बाकीके तीन अध्यायोंमें वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और त्वं पदार्थके अभेदका निरूपण है।

६. *त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्*—पहले सृष्टिक्रम दिखाया गया है।

योग दो प्रकारका है—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेवकर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते॥

'विहित कर्मोंमें इस बुद्धिका होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मनका ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग है।'

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः॥

'और श्रेयोऽर्थमें चित्तका सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये। यह ज्ञानयोग सब सिद्धियोंका देनेवाला और मङ्गलकारक है।'

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है। अष्टाङ्ग—वे ही प्रसिद्ध अष्टाङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. दया, ६. आर्जव, ७. क्षमा, ८. धृति, ९. मिताहार, १०. शौच।

नियम—१. तप, २. सन्तोष, ३. आस्तिक्य, ४. दान, ५. हरिका आराधन, ६. वेदान्तश्रवण, ७. ह्री, ८. मति, ९. जप, १०. व्रत।

आसन—१. स्वस्तिक, २. गोमुख, ३. वीर, ४. योग, ५. पद्म, ६. बद्धपद्म, ७. कुक्कुट, ८. उत्तान कूर्मक, ९. धनु, १०. सिंह, ११. भद्र, १२. मुक्त, १३. मयूर, १४. सिद्ध, १५. मत्स्य, १६. पश्चिमतान, १७. सुख।

प्राणायाम—प्राणायाम बतलानेके पहले अग्निस्थान, नाभिस्थान, नाडीचक्र, कुण्डलिनी, नाडीकन्द, नाडीचर वायु आदिका विशद वर्णन दिया गया है। केवल कुम्भक-सहित तथा नाडीशोधक प्राणायाम, प्राणायामफल, प्राणधारणसे रोगनाश आदि इसके अनन्तर कहा गया है।

प्रत्याहार—

यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते॥

'यदि अठारहों मर्मस्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमें (मनसे परमात्माको) धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं।'

इसके अनन्तर १८ मर्मस्थानोंके नाम इस प्रकार दिये हुए हैं—पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जङ्घामध्य, ऊरुमध्य और मूल, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकूर्पर, तालुमूल, घ्राणमूल, नेत्रमण्डल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय और करमूल।

धारणा—

पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु।
मनसो धारणं यत्तद् युक्तस्य च यमादिभिः।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम्॥

'इस पाञ्चभौतिक देहके पाँचों भूतोंमें, यमादिसे युक्त मनका धारण करना ही धारणा है, वह संसारसागरसे तारनेवाली है।'

ध्यान—

चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः।
स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम्॥

स्वरूपव्याप्तरूप परम परमात्मा वासुदेवका चिन्तन ही ध्यान है। वह कैवल्यसिद्धिका देनेवाला है।

ध्यान दो प्रकारका है—सगुण और निर्गुण।

समाधि—

अहमेव परब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः॥

'मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थितिको समाधि जानो, उसमें और कोई भी वृत्ति नहीं रहती।'

सुषुप्तिवद् यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते॥

'सोया हुआ-सा जो चलता है, स्वभावसे ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाणपदका आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है।'

७. *दर्शनोपनिषद्*—सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेयसे पूछते हैं और वह अष्टाङ्गयोग कहते हैं। अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है। यम और नियम ऊपर कहे हुए दस-दस हैं। यहाँ उनके प्रत्येकके लक्षण दिये हुए हैं। आसन ९ दिये गये हैं—१. स्वस्तिक, २. गोमुख, ३. पद्म, ४. वीर, ५. सिंह, ६. भद्र, ७. मुक्त, ८. मयूर, ९. सुख या सम। इसके अनन्तर देहका वर्णन है। नाडी, वायु, नाडीके देवता, नाडियोंमें संवत्सरात्मप्राणसूर्यसञ्चार अन्तस्तीर्थ आदिका बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गोंका भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदोंमें एक उत्तम उपनिषद् है।

८. *ध्यानबिन्दूपनिषद्*—ब्रह्मध्यानयोग (प्रणवध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यानद्वारा) पहले प्रतिपादित है। षडङ्गयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध। अन्तमें नादानुसन्धानद्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

९. *नादबिन्दूपनिषद्*—इसमें प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान कहा गया है।

१०. *पाशुपतब्रह्मोपनिषद्*—इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्माकी हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११. *ब्रह्मविद्योपनिषद्*—प्रणवकी चारों मात्राओंका वर्णन देकर सुषुम्नाके विषयमें यों कहा है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीर्भित्त्वा च मूर्धनि।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥

'मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परा नाडी सूर्यको भेदकर परमको प्राप्त होती है और मूर्धामें बहत्तर हजार नाडियोंको भेदकर सबको व्यापकर रहती है।'

नादके द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगीके द्वारा अनुसन्धेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२. *मण्डलब्राह्मणोपनिषद्*—पहले-पहल अष्टाङ्ग-योग कहा है। चार यम कहे गये हैं—**शीतोष्णाहार-निद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रिय-**

निग्रहश्चैते यमाः। तदनन्तर नव नियम हैं— **गुरुभक्तिः, सत्यमार्गानुरक्तिः, सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलानभिलाषः, वैराग्यभावश्च नियमाः।** और सब अङ्ग प्रसिद्ध रीतिसे ही कहे गये हैं। यह उपनिषद् अधिकांश तारकयोग तथा अमनस्कयोगमें ही लगाया गया है।

तद्योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरम्॥

'वह योग पूर्वोत्तर विधानसे दो प्रकारका है, पूर्वमें करनेका तारकयोग और बादका अमनस्कयोग है।' तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्ति तारक है, जो भ्रुयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनोंका ही मनोयोगसे अभ्यास करना चाहिये।…उत्तरयोग अमनस्कयोग है।

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः।

'तालुमूलके ऊर्ध्व भागमें महज्ज्योति है। उसके दर्शनसे अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती हैं।'

१३. *महावाक्योपनिषद्*—इस छोटेसे उपनिषद्में हंसविद्या कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है।

विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति।

'काण्डान्तरमें जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य हैं वही विद्या हैं, अन्य कोई नहीं। '**असौ आदित्यो ब्रह्म**' यही आदित्य ब्रह्म है जिसका '**हंसः सोऽहम्**' इस अजपा मन्त्रसे निर्देश किया जाता है। प्राणापानकी अनुलोम और प्रतिलोम गतिसे वह विद्या जानी जाती हैं, दीर्घकालके अभ्याससे वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्मका ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

१४. *योगकुण्डल्युपनिषद्*—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तदद्वावपि विनश्यतः॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥

'चित्तके दो हेतु हैं, वासना और प्राण। इनमेंसे किसी एकके नष्ट होनेसे दोनोंका नाश होता है। इनमेंसे पहले सदा प्राणको ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे।'

इस सिद्धान्तको कहकर आसन प्राणायामादिद्वारा कुण्डलिनीयोग प्रथम अध्यायमें कहा गया है। द्वितीय अध्यायमें खेचरी, मन्त्रद्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यासद्वारा, कही गयी है। तृतीय अध्यायमें ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं।

१५. *योगचूडामण्युपनिषद्*—चक्र, नाडी, वायु आदिका तत्त्व बतलाते हुए षडङ्गयोग इसमें कहा गया है। तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है। प्रणवाभ्यास करनेवालेको भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडीशोधनादिद्वारा प्राणायाम पुनः कहा गया है।

१६. *योगतत्त्वोपनिषद्*—मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान तथा योग दोनों आवश्यक हैं।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

'योगके बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षका देनेवाला भला कैसे हो सकता है? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्ममें असमर्थ है।'

योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग।

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः।

इस उपनिषद्में प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोगका सविस्तर वर्णन है।

१७. *योगशिखोपनिषद्*—यह उपनिषद् बड़े महत्त्वका है। विषय तो वही है जो योगतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है किन्तु यहाँ बड़े विस्तारसे तथा प्रकारान्तरसे कहा गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं। वहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं। यहाँ वे क्रमिक भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चुतर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥

'मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहते हैं।'

इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकारसे कहे गये हैं। उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—

रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः।

'रज और रेतके योगसे राजयोग होता है।'

योगका सामान्य स्वरूप—

प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।

'प्राणापानको समान करना योगचतुष्टय कहा गया है।' यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच बड़े कामका है।

१८. *वराहोपनिषद्*—इसमें पाँच अध्याय हैं। चार अध्यायोंमें ज्ञान प्रतिपादित है। पञ्चम अध्यायमें योग कहा गया है। तीन योग हैं—लय, मन्त्र तथा हठ। हठयोगके आठ अङ्ग हैं। यम १०, नियम १० और आसन ११ कहे गये हैं। अन्तमें योगके कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनके योग, सम्पुटयोग आदि।

१९. *शाण्डिल्योपनिषद्*—इसमें अष्टाङ्गयोग शाण्डिल्यसे अथर्वा कहते हैं। यम १०, नियम १०, आसन ८, प्राणायामके ३ प्रकार, प्रत्याहार ५, धारणा ५, ध्यान २ कहे गये हैं। द्वितीय-तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। अन्तमें दत्तात्रेयका माहात्म्य प्रतिपादित है।

२०. *हंसोपनिषद्*—हंसविद्या संक्षेपसे प्रतिपादित है। अजपाजप, नादानुसन्धान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं।

२१. *योगराजोपनिषद्*—चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग। इन चारों योगोंमें आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि सम्मत हैं। लययोग के प्रसङ्गमें नव चक्रोंका वर्णन दिया गया है। हठ तथा राजयोगके विषयमें और कुछ नहीं कहा गया है।

यह २१ योगोपनिषदोंका सारांश है। इसके देखनेसे कुछ-न-कुछ तद्गत विषयोंका अनुमान हो सकता है। इनमें योगके सभी विषय आ गये हैं। पीछेके ग्रन्थोंमें इन्हीं उपनिषदोंका लिया हुआ माल मिलता है। केवल विषय ही नहीं प्रत्युत वे-के-वे ही शब्द अनेक स्थलोंमें मिलते हैं। गोरक्ष आदि सिद्धोंके ग्रन्थोंमें वहाँके श्लोक वैसे-के-वैसे मिलते हैं। जो लोग कहते हैं कि योगके अङ्ग आठसे छः इन सिद्धोंने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदोंको देखना चाहिये। सिद्धोंने बौद्धोंसे योग सीखा यह कहनेका जिनका साहस है, उनके पास प्रमाण क्या है वे ही जानें। तिब्बत आदि उत्तरीय प्रदेशोंमें सिद्धोंकी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, यह कोई प्रमाण नहीं है। इससे तो कुछ दूसरी ही बात निकलती है। जो लोग इन उपनिषदोंको पीछेके कालका मानते हैं, उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि हम आगे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वज्जन प्राचीनतम मानते हैं, उनमें भी योगका विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्दके इस पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त होनेके बहुत पूर्वसे योगाभ्यास भारतके लोगोंको अच्छी तरहसे ज्ञात था। यद्यपि **'युज्'** धातुका प्रयोग **'मनस्'** शब्दके साथ तथा ऐसे ही अर्थमें ऋग्वेदमें भी मिलता है, तथापि बिलकुल स्पष्टरूपसे कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग हुआ है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ३।१०-११)

'जब पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मामें स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रियधारणाको योग कहते हैं। उस अवस्थामें साधक प्रमादरहित होता है। उत्पत्ति और नाश योग ही है।'

उपनिषदोंमें योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। संहिता ब्राह्मणोंमें योग अनेक क्रियाकलाओंके साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुशः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्षप्राप्तिके लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद् १।२।१२)

'वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढ-गहन स्थानमें प्रवेश किये हुए हैं, गुहामें बैठा हुआ और गह्वरमें रहनेवाला है उसको अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है।'

योग शब्दका प्रयोग दर्शनविशेषके लिये होता है या

क्रियात्मकयोगके लिये होता है। उपनिषदोंमें दोनों अर्थोंमें योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपरके दोनों कठोपनिषद्के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शनके-से मत प्राचीन उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर मिलते हैं। यहाँ उन सब वाक्योंके उद्‌धृत करनेसे लेखका कलेवर बहुत बढ़ जायगा। विज्ञलोग कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें इसे स्वयं देख सकते हैं। क्रियात्मकयोगके भी रूप, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें षडङ्गयोगका वर्णन स्पष्ट ही देख पड़ता है। जो लोग योगका षडङ्गत्व नाथसम्प्रदायसे आया हुआ मानते हैं, उन्हें यह उपनिषद् अपने मतके पलटनेमें बहुत कुछ सहायता देगा।

श्वेताश्वतरके कुछ वाक्य हम नीचे देते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्‌वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
(२।८-९)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥
(१।१४)

'शरीरको त्रिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत और सम करके,मनसहित इन्द्रियोंको हृदयमें नियत कर ब्रह्मरूप नौकासे विद्वान् सब भयानक प्रवाहोंको तर जाय। इस शरीरमें प्राणोंका अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकाद्वारोंसे श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ोंकी लगाम मनको विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप मन्थनसे अत्यन्त गूढ़-सा जो आत्मा है उसे देखे।'

विज्ञ पाठक देखेंगे इसमें योगके षडङ्ग किस प्रकार कहे गये हैं। श्वेताश्वतरमें योग विस्तारसे कहा गया है। यजुर्वेदसंहिता आदिमें आये कुछ योगविषयक मन्त्रोंका पूरा भाष्य-सा दिखायी पड़ता है।

आसनोंका विस्तृत वर्णन इन उपनिषदोंमें नहीं मिलता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें **'समं कायशिरोग्रीवम्'** मिलता है वैसा ही यहाँ दिखायी पड़ता है[1]। ध्यानादिके लिये सिद्धासन तथा पद्मासनको छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक हैं। गोरक्षनाथने गोरक्षपद्धतिमें इसी हेतु ये ही दो आसन बतलाये हैं।

वैदिक ग्रन्थोंमें प्राणविद्याका बड़ा ऊँचा स्थान है। उपनिषदोंमें भी प्राणोपासना अनेक भावनाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे कही गयी है।[2] प्रत्यक्ष सम्बन्ध योगसे प्राणोंका प्राणायामके सम्बन्धमें है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी उपनिषद् मोक्षके दो उपाय बताते हैं— मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओंके क्षीण होनेसे होता है, किंतु प्राणजय हो जानेसे मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योगमें प्राणजयपर इतना जोर दिया जाता है। प्राणजय प्राणायामद्वारा होता है। अतएव प्राणायामका इतना प्राधान्य है। कठोपनिषद्‌में यों कहा है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥
(२।२।३)

'जो प्राणको ऊपर भेजता है और अपानको नीचे फेंकता है उस मध्यमें रहनेवाले वामनको विश्वेदेव भजते हैं।'

मुण्डकोपनिषद्‌में एक वाक्य यों मिलता है—

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥
(३।१।९)

'प्रजाओंके प्राणसह सम्पूर्ण चित्तमें वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्तमें ही विशेषरूपसे प्रकट होता है।'

योगके सभी अंगोंका वर्णन उपनिषद्वचनोंसे यहाँतक हुआ है। समाधिका वर्णन भी अनेक स्थलोंमें मिलता है। श्वेताश्वतरमें इस प्रकार वर्णन है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।

१. ऊपर दिये हुए श्वेताश्वतरके वाक्यको देखिये—'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्।'

२. छान्दोग्य० १।११।५, ४।३।३-४, ५।१।६—१५।७।१५।१, ५।१९—२४, कौषीतकि० २।१, ५, श्वेताश्वतर० १।४-५ इत्यादि।

तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥
यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(२।१४-१५)

'जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूलसे धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करनेपर वही चमकने लगता है उसी प्रकार उस आत्मतत्त्वको देखकर देही एकावस्थाको प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है। परन्तु जब देही आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको परप्रकाशक दीपकी रीतिसे देखता है तब वह आत्मदेवको अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपर संक्षेपमें दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी योगके प्रत्येक अङ्गका विवरण मिलता है। वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे थोड़ा अथवा अधिक योग अवश्य ही आया है। उपनिषद् हमारे मोक्षशास्त्रके परमाधार हैं। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानके बिना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान बिना योगके साध्य नहीं। अतः उपनिषदोंसे योगका एक प्रकारसे अविनाभूत सम्बन्ध है। औपनिषदिक योग बड़े ही महत्त्वका विषय है। एक ओर तो संहिताओंमें आया हुआ निगूढ़रूप योग है। दूसरी ओर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतानुरूप विकसित योग है। औपनिषदिक योग ही आगे-पीछेकी कुञ्जी है। योगका इतना भारी किला इसी औपनिषदिक योगके नींवपर खड़ा है। उपनिषद् वेदान्त हैं—वेदका सर्वस्वसारभूत निचोड़ हैं। इनको श्रद्धासे समझनेका उद्योग करना चाहिये। काट-कतरकी धिषणाको यहाँ जरा संयत रखना चाहिये। इस धैर्य और श्रद्धाका फल अवश्य परम हितकारक होगा।

उपनिषदोंमें योग

(लेखक—जगद्गुरु भगवत्पाद श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज)

'योग' शब्दका सामान्य अर्थ है 'सम्बन्ध'। परन्तु महर्षि पतञ्जलिके सिद्धान्तानुसार चित्तकी वृत्तियोंका वास्तविक निरोध करना ही योग है और यह योग ही कैवल्यमुक्तिका सर्वोत्तम साधन है। यह योग सांख्यशास्त्रीय योगसे विलक्षण नहीं है—दोनोंकी एकता ही मानी जाती है। परन्तु गीतामें जो **'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'** इत्यादि श्लोक आये हैं, उनमें सांख्य और योग शब्दोंका आशय भिन्न है। गीतामें 'सांख्य' से **'संख्यया बुद्ध्यावधारणीयमात्मतत्त्वम्'**—संख्यासे अर्थात् बुद्धिसे धारण करने योग्य आत्मतत्त्व अर्थात् ज्ञानका अभिप्राय है, और 'योग' से कर्मयोगका। यहाँ कापिल सांख्य और पातञ्जल योगका कोई प्रकरण नहीं है।

यहाँ सांख्य और योग शब्दोंसे ज्ञान और कर्मयोगका ग्रहण किया गया है। सांख्य और योग दोनोंमें स्वरूपभेद तो अवर्जनीय है, पर उभयसाध्य फलांशमें अभेद होनेके कारण यह कहा गया है कि, 'सांख्य और योगको बालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं, क्योंकि दोनोंमेंसे एकका भी जो अच्छे प्रकारसे अनुष्ठान किया जाय तो दोनोंका ही फल प्राप्त हो जाता है। जो स्थान (मोक्षाख्य फल) ज्ञानसे प्राप्त किया जा सकता है वही योग (निष्कामकर्मयोग)-से भी प्राप्त होता है।' यद्यपि याग-दानादि कर्म फलासक्ति और अहङ्कारबुद्धिसे अनुष्ठित होनेपर ज्ञानलभ्य फलको नहीं दे सकते, तथापि निष्कामबुद्धिसे अर्थात् भगवदर्पणबुद्धिसे उनका अनुष्ठान करनेसे वही फल सुलभ होता है। इसके अतिरिक्त भगवत्परिचर्या आदि सत्कर्मोंका भी यहाँ ग्रहण है। यही श्रीगीताचार्य भगवान्‌का तात्पर्य है।

योग शब्द मनोनिरोधका वाचक है और मनोनिरोधके बिना ज्ञान, भक्ति, और नित्यादि सत्कर्म सभी व्यर्थ होते हैं। अतएव परम पुरुषार्थके प्रतिपादक उपनिषदादिमें योग शब्दका प्रयोग दोनों अर्थोंमें समञ्जस होता है और इसी आशयकी पूर्तिके लिये प्रायः सभी उपनिषदोंमें योगका प्रधानरूपसे वर्णन है। कुछ उपनिषदोंमें तो योगका महत्त्व अन्य साधनोंकी अपेक्षा बहुत ही चढ़ा-

बढ़ा देखा जाता है। सायुज्यमुक्तिको ही उपनिषदोंमें वास्तविक मुक्ति कहा गया है। इस मुक्तिकी प्राप्ति जैसे ज्ञान और पराभक्तिसे होती है, ठीक वैसे ही योगसे भी होती है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, पराभक्ति और योग ये शब्द भगवत्प्राप्तिके चरम साधनके बोधक हैं। अतः इनका उल्लेख मोक्षसाधनतया ही उपनिषदोंमें आता है। इसका स्पष्टीकरण भिन्न-भिन्न उपनिषदोंके दृष्टान्तोंसे किया जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीयाध्यायमें योगका बहुत अच्छा विवेचन है। वहाँ योगका सर्वोत्तम फल बताया है और यौगिक क्रियाओंका भी वर्णन है। यथा—

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
(श्वे० २।९)

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥
(श्वे० २।१०, १३)

'प्राणोंका आयाम करके सूक्ष्म तत्परताके साथ शुद्ध प्रयत्नसे ही प्राणका नासिकाद्वारा उच्छ्वास करे। जैसे सारथी दुष्ट घोड़ोंको लगामसे जिस प्रकार उनका नियन्त्रण करता है वैसे ही योगीको अप्रमत्त होकर मनका निग्रह करना चाहिये।'

'सम और शुचि, कंकड़ियोंसे रहित, आग और बालूसे वर्जित तथा शब्द, जल और आश्रयके द्वारा मनके अनुकूल लगनेवाला; जहाँ चक्षुको पीड़ा देनेवाली कोई वस्तु न हो ऐसा तथा गुहा-सा एकान्त और निर्वात स्थान चुनकर वहाँ योगाभ्यास करे।'

'शरीरका हलका होना, आरोग्य, अलोलुपता, नेत्रोंको प्रसन्नता देनेवाली शरीरकान्ति, मधुर स्वर, शुभ गन्ध, मलमूत्रकी कमी, ये लक्षण प्रथमा योगप्रवृत्तिके हैं।'

योगके साधकको फलका निर्देश भी श्रुतिने इस प्रकार किया है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥
(श्वे० २।१२)

'योगाग्निमय शरीर जिसको प्राप्त होता है, उसे कोई रोग नहीं होता, बुढ़ापा नहीं आता और मृत्यु भी नहीं होती।'

इसी प्रकार कठोपनिषद्में यमराजने ऋषिकुमार नचिकेताको उपदेश देते हुए योगसे अमृतपदकी प्राप्ति बतायी है—

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
(कठ० १।२।१२)

'उस परदेवको अध्यात्मयोगके ज्ञानसे भली प्रकार जानकर साधक हर्ष-शोकको त्याग देता है।'

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥
(कठ० २।३।११)

'इन्द्रियोंकी स्थिर धारणा (संयमन)-को ही योग कहते हैं। इसके साधनसे मुमुक्षु अप्रमत्त होता है। और उसका योग शुभोत्पादक और अनिष्टनिवारक होता है।'

मुण्डकोपनिषद्में भी योगका महत्त्व बहुत वर्णन किया है—

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे॥
(मु० ३।२।५-६)

'वे धीर युक्तात्मा (योगी) सर्वत्र सर्वव्यापी ब्रह्मको पाकर उस सर्वमें ही प्रवेश करते हैं। वेदान्त-विज्ञानका अर्थ (परमात्मा) जिनके चित्तमें सुनिश्चित्त हो चुका है, जो संन्यासयोगसे यत्नवान् और शुद्धसत्त्व हो गये हैं वे सब ब्रह्मलोकमें परान्तकालमें परमामृत होकर मुक्त होते हैं।'

इसी प्रकार भृगुवल्लीमें भी योगानुष्ठानसे ही परमानन्दकी

प्राप्ति स्पष्ट रीतिसे कही गयी है। वरुणके पुत्र भृगुने अपने पिताके समीप जाकर यह प्रश्न किया—'**अधीहि भगवो ब्रह्मेति**' हे भगवन्! कृपा करके ब्रह्मोपदेश कीजिये। इस प्रश्नको सुनकर वरुणभगवान्ने उपदेश किया कि, '**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।**' हे पुत्र! तुम तप करो और उससे ब्रह्मको जानो, तप ही ब्रह्म है। '**स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।**' उसने तप किया और तप करके, 'आनन्द ही ब्रह्म है,' यह जाना। इस श्रुतिमें तपका बारंबार वर्णन आया है। तप योगान्तर्गत (योगका एक अङ्ग) है। इस तपके अनुष्ठानसे ही ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है। इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्का भी योगानुष्ठानमें तात्पर्य है।

सामवेदकी छान्दोग्य श्रुति है, इसमें भी योगानुष्ठानको प्रधानरूपसे कहा है। अष्टम प्रपाठकमें ब्रह्मचर्य धारण करनेसे ही ब्रह्मप्राप्तिका निर्णय करती हुई श्रुति भगवती यह कहती है कि—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

'जो इस ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्य-साधनद्वारा प्राप्त करते हैं उनकी सब जगह अव्याहतरूपसे इच्छानुसार गति होती है।' तात्पर्य यह है कि योगका एक अङ्ग ब्रह्मचर्य भी है। यह ब्रह्मचर्य पाँच प्रकारके यमोंमें परिगणित है। इसके पालनसे वेदान्तवेद्य फलकी प्राप्ति इस छान्दोग्योपनिषद्में बतायी है। इस प्रकार इस अष्टम प्रपाठकके अन्तमें '**आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि प्रतिष्ठाप्य**' यह वाक्य है, इसका अर्थ है कि 'सब इन्द्रियोंको वशीकृत करके ब्रह्म-ध्यान-परायण हो जाय।' इन्द्रियोंका वशीकार यौगिक उपायोंके बिना होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस प्रकार छान्दोग्यका हृदय भी योगसे पूर्ण सम्बन्ध रखता है।

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी योगका विशद वर्णन पाया जाता है।

तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।

(बृह० ४।४।२३)

अर्थात् 'इस प्रकार जाननेवाला इन्द्रियों और मनका संयम करके उपरामवृत्ति धारणकर तितिक्षु होकर समाधिपरायण हो अपने अन्दर आत्माको देखता है।' यह स्पष्टतया विधान किया है।

अन्य उपनिषदोंमें भी योगका विस्तृत वर्णन है। इनमेंसे कुछ उपनिषदोंके वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।

(कैवल्योपनिषद्)

'एकान्त देशमें शुचि होकर सुखासनसे बैठ गर्दन, सिर और शरीर सम करे।'

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे।

(गर्भोपनिषद्)

'यदि योनिसे मैं मुक्त होऊँ तो सांख्ययोगका अभ्यास करूँ।'

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।

(मैत्रायणी श्रुतिः)

'समाधिसे मल जिसका निःशेष धुल गया है उस चित्तको आत्मामें निवेशित होनेपर जो सुख मिलता है' उसकी बात कही है।

योगयुक्त्या तु तद्भस्म प्लाव्यमानं समन्ततः।
शाक्तेनामृतवर्षेण ह्यधिकारान्निवर्तते॥

(बृहज्जाबालः)

'जो योगानुष्ठानके द्वारा शक्तिकी अमृतवर्षासे उस भस्मको चारों ओरसे प्लावित कर देता है वह प्रकृतिके अधिकारसे मुक्त हो जाता है।'

इत्यादि उपनिषदोंके अनेक वाक्योंमें योगकी महिमा प्रस्फुट देखी जाती है। इसके पश्चात् अमृतनादोपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगशिखोपनिषद् और योग-कुण्डल्युपनिषद् आदि उपनिषदोंमें तो योगका ही वर्णन और महत्त्व है। इनमेंसे एकका भी मनन कर लेनेसे जिज्ञासुजनके मनको पूर्ण समाधान मिलेगा और साथ-ही-साथ योगविषयक गुप्त रहस्योंका परिज्ञान भी प्राप्त होगा। इन उपनिषदोंको सद्गुरुके मुखसे श्रवण करके मनन करना चाहिये। क्योंकि इनमें बहुत ही गुह्य क्रियाओंका वर्णन है। उनका शुद्ध ज्ञान क्रियावान् विद्वान् गुरुके बिना नहीं हो सकता। अतः उपनिषदोंके

बारंबार पठन करनेपर भी गूढाशय-परिज्ञानके लिये मर्मज्ञकी आवश्यकता रह ही जाती है। योगके प्रत्येक अङ्गके विषयमें इन उपनिषदोंमें कहा गया है। कुछ उदाहरण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं। नादबिन्दूपनिषद्में नादके स्वरूपको दिखाते हुए यह कहा है कि—

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं नहि काङ्क्षति॥

'सारी चिन्ता और सब काम छोड़कर नादका ही अनुसन्धान करे, इससे नादमें चित्तका लय हो जाता है और वह नादानुविद्ध चित्त अन्य किसी विषयकी आकाङ्क्षा नहीं करता।' नाद ही ब्रह्म है, इसीमें मनको लीन करना चाहिये। ध्यानबिन्दूपनिषद्में लिखा है कि—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥

'पर्वतके समान भी बहुयोजनविस्तीर्ण पापराशि हो तो वह सब ध्यानयोगसे नष्ट हो जाती है, और कोई उपाय नहीं है।' इस उपनिषद्में योगके छः अङ्ग बताये हैं। यथा—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥

इन छः अङ्गोंमें ही पातञ्जलदर्शनके अष्टाङ्गोंका अन्तर्भाव समझना चाहिये। योगतत्त्वोपनिषद्में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इस प्रकार चार प्रकारके योगोंका स्वरूप, लक्षण और विवेचन बहुत अच्छी प्रकारसे किया गया है। पातञ्जलयोगका और इस औपनिषद् योगका ऐक्य ही यहाँ प्रस्फुट होता है। योगशिखोपनिषद्में तो योगमार्गका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। आरम्भमें हिरण्यगर्भका श्रीमहेश्वरसे यही प्रश्न है कि, हे शङ्कर! इस दुःखमय संसारमें सब जीव पड़े हैं और अपने कर्मोंका सुख-दुःखात्म फल भोग रहे हैं। इनकी मुक्ति किस सुगम उपायसे हो, यह कृपया बताइये? इसका श्रीशङ्करजीने यही उत्तर दिया है कि कर्मबन्धसे मुक्त होनेका उपाय कोई ज्ञान और कोई योग कहते हैं, परन्तु मेरा मत तो यह है कि—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।

'योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षप्रद नहीं होता। इसलिये ज्ञान और योग इन दोनोंका ही मुमुक्षुको दृढ़ताके साथ अभ्यास करना चाहिये।' इससे यही सिद्ध हुआ कि बन्धनिवृत्तिके लिये साध्य-साधनभावसे योग और ज्ञान इन दोनोंको स्वीकार करना चाहिये। इस उपनिषद्में यह भी कहा है कि—

योगशिखां महागुह्यं यो जानाति महामतिः।
न तस्य किञ्चिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते॥

'इस 'योगशिखा' को जो महामति साधक जानता है उसको तीनों लोकमें कुछ भी अज्ञात नहीं रहता।' इस प्रकार योगके रहस्योंको जाननेवाला सर्वज्ञ हो सकता है, यही इस वाक्यका सार है।

उपनिषदोंका पूर्णतया मनन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर आते हैं कि बिना यौगिक साधनोंके हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अधूरी ही रहती है। समस्त उपनिषदोंमें किसी-न-किसी रूपसे योगका समर्थन करते हुए उसको उपादेय बताया है। योग शब्द एक सामान्य शब्द है। वह विशेष पदके समीप होनेसे अनेक अर्थोंका बोधक है। उपनिषदोंमें साधनरूपसे ग्राह्य जो अनेक सिद्धान्त हैं उनको किसी-न-किसी रूपसे योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, जपयोग, समाधियोग आदि। योगमार्ग ही भगवत्प्राप्तिका एक मार्ग है, क्योंकि यौगिक प्रक्रियाके अनुसार ही मनोनिरोध हो सकता है और सब प्रकारके साधनोंमें मनका स्थैर्य पूर्णतया अपेक्षित है। अतः उपनिषदोंका तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक ही मुक्तिकी प्राप्तिसे है। ऐसा कोई मार्ग मोक्षसाधनका नहीं है जिस मार्गमें योगाङ्गोंकी आवश्यकता न पड़ती हो। इसलिये जिस प्रकार दूधमें घृत समाया हुआ है और माताके उपदेशोंमें बालकका हित भरा हुआ है, उसी प्रकार उपनिषदोंमें योग समाया हुआ है। योग शब्द अनेक प्रकारसे उपनिषदोंमें व्यवहृत किया गया है। परन्तु सबका तात्पर्य मुक्तिसाधनत्वरूपसे एक ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि योग और उपनिषदोंका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकत्वादिरूपसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तन्त्रमें योग

(लेखक— श्रीअटलबिहारी घोष)

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गके अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ करते हैं। वेदान्त-पक्षका कहना है—जीव और आत्माके मिलनका नाम योग है। प्रत्यभिज्ञा-पक्षके मतानुसार शिव और आत्माके अभेद-ज्ञानका नाम योग है। भेद-वादियोंके मतमें पुराण-पुरुषका ज्ञान ही योग है। आगमवादी कहते हैं कि शिव और शक्तिका अभेद-ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करनेके लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त करनेपर योगमार्गमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रोंके द्वारा चित्त विशुद्ध होनेपर कौल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्रके द्वितीय उल्लासमें लिखा है—

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात्।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते॥

उक्त तन्त्रमें और भी कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं और प्रत्येक श्रेणीके मनुष्य अपने अधिकार-भेदसे परमपदार्थको भिन्न-भिन्न रूपमें देखा करते हैं।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

अर्थात् क्रिया-काण्डमें अनुरक्त ब्राह्मण उनको अग्निमें देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदयमें उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं, वे प्रतिमामें उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थको देखा करते हैं।

योगसाधनका उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके लिये सबसे प्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन षट्-रिपुओंका नाश करना। यहाँपर कामादि षट्-रिपुओंके स्वरूपका परिचय देना आवश्यक है। स्त्री-भोगादिकी जो अभिलाषा है, वही काम है। प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेका नाम है क्रोध। धनादिकी अतिशय आकांक्षाका नाम है लोभ। तत्त्वज्ञानका अभाव ही मोह है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ, इस प्रकारके गर्वको मद कहते हैं। और दूसरेका सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम मत्सर है। ये ही शत्रु हैं, क्योंकि ये ही सब दुःखोंके कारण हैं और ये ही आत्मस्वरूपका विचार करनेमें बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करनेके लिये योगके अष्टाङ्गका अभ्यास करना होगा। योगके आठ अंग निम्नलिखित हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम शब्दका अर्थ है—उपरति अर्थात् काम इत्यादिसे निवृत्ति। यह दस प्रकारका है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच।

अहिंसाका अर्थ है—किसी कर्मके द्वारा और मनके द्वारा किसी प्रकारसे किसी प्राणीको क्लेश न पहुँचाना। सत्य शब्दका अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो, वैसा ही कहना। अस्तेय शब्दका अर्थ है—दूसरेका तुच्छसे भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—आठों प्रकारके मैथुनका परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुनका वर्णन शास्त्रमें इस प्रकार आया है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

बुरी भावनासे स्त्रीका स्मरण, कथन, स्त्रीके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, छिपकर बातें करना, पानेका सङ्कल्प करना, पानेकी चेष्टा करना और सहवास करना। कृपा शब्दका अर्थ है—प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा। आर्जव शब्दका अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत्॥

अर्थात् समस्त प्राणियोंके साथ मन, वाणी और शरीरके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलताके अभावका नाम आर्जव है। क्षमा शब्दसे अपकार करनेवालेके प्रति मित्रवत् व्यवहार समझना चाहिये। इष्टवस्तुकी अप्राप्तिमें जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ताका अभाव ही धृति है। शरीर धारण करनेमात्रके लिये जो भोजन है उसका नाम मिताहार है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता

है, उस पवित्रताका नाम शौच है। यहाँपर यह समझना चाहिये कि धृति इन दस प्रकारके सभी साधनोंमें रहेगी। अहिंसा और ब्रह्मचर्यके द्वारा कामपर, कृपा और क्षमाके द्वारा क्रोधपर, अस्तेय, सत्य और आजर्वके द्वारा लोभपर, मिताहार और शौचके द्वारा मोहपर, क्षमा और आर्जवके द्वारा मदपर और अहिंसा, कृपा, आर्जव और क्षमाके द्वारा मत्सरपर विजय प्राप्त होती है।

योगका द्वितीय अङ्ग नियम भी दस प्रकारका है जैसे—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और होम।

कृच्छ्रादि व्रतोंके आचरणका नाम तप है। इष्टतर वस्तुकी भी अभिलाषा न होनेका नाम सन्तोष है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थमें परलोकके अस्तित्वमें जो विश्वास है वही आस्तिक्य है। यथाविहित अनिन्द्य उपायसे कमाये हुए धनको शक्तिके अनुसार देव, पितर और मनुष्योंके उद्देश्यसे बाँटना दान कहलाता है। अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासना देवपूजा है। उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रोंके सुननेका नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित आचरणके कारण मनमें जो कष्ट होता है उसका नाम ह्री है। मति शब्दका अर्थ है मनन अर्थात् विविध युक्ति-प्रमाणोंकी सहायतासे सुने हुए अर्थका अनुशीलन। यहाँपर जप शब्दसे इष्ट मन्त्रका जप समझना चाहिये। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अग्निहोत्रादि होमका नाम होम है।

आसन अनेक प्रकारके हैं। इनकी कोई संख्या नहीं। परन्तु साधारणतः चौरासी प्रकारके आसनोंकी बात कही गयी है। उनमें पाँच आसन शास्त्रोंमें प्रधान बताये गये हैं। इन पाँचोंके नाम हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

(१) पद्मासन—बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, पीछेकी ओरसे दोनों हाथ ले आकर दाहिने हाथसे दाहिना अँगूठा और बायें हाथसे बायाँ अँगूठा पकड़ना होता है। इसको बद्ध पद्मासन कहते हैं। मुक्त पद्मासनमें इस प्रकार अँगूठा पकड़नेका नियम नहीं।

(२) स्वस्तिकासन—दाहिने घुटने और जङ्घाके बीचमें बायें पैरका तलवा और बायें घुटने और जङ्घाके मध्यमें दाहिने पैरके तलवेको रखकर, शरीर सीधा करके बैठना होता है अर्थात् मेरुदण्ड और शिरोभागको एक सीधमें करना होता है। इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

(३) भद्रासन—सीयनके दोनों ओर दोनों एड़ियोंको ठहराकर, अण्डकोषके नीचे दोनों हाथोंसे एड़ियों और पैरोंको पकड़कर स्थिर, निश्चल भावसे बैठा जाता है; इसीको भद्रासन कहते हैं।

(४) वज्रासन—दोनों जाँघोंके ऊपर दोनों पैरोंको रखकर, घुटनोंके ऊपर दोनों हाथोंकी हथेली रखकर निश्चलरूपमें बैठनेको वज्रासन कहते हैं।

(५) वीरासन—एक पैरसे दोनों अण्डकोषोंको दबाकर दूसरे पैरको दूसरी जाँघके ऊपर रखकर सरलभावसे बैठनेको वीरासन कहते हैं।

आसन लगानेपर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। जिस आसनमें साधकको कोई क्लेश न हो और सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम दो प्रकारका है—निर्गर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस-जप करते हुए प्राणायाम-साधनका नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इड़ा नाड़ीसे अर्थात् बायें नथुनेसे षोडश मात्रा वायु आकर्षण करनेका नाम पूरक, चौंसठ मात्रा वायु धारण करनेका नाम कुम्भक एवं बत्तीस मात्रामें पिङ्गलासे अर्थात् दाहिने नथुनेसे वायु त्याग करनेका नाम रेचक है। प्राणायाममें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्थामें पसीना निकलता है; उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्थामें साधककी देह काँपती है। और प्राणायामकी उत्तम अवस्थामें साधक भूमि छोड़ सकता है। इस प्राणायाममें सिद्ध होने पर साधक प्रत्याहारका अधिकारी होता है। प्रत्याहार शब्दका अर्थ है इधर-उधर दौड़नेवाली सब इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे निवृत्त करना। और अँगुली, एड़ीसे आरम्भ करके सहस्रारपद्मके नीचे रहे हुए द्वादशदल कमलतक सोलह स्थानोंमें प्राणवायुको धारण करनेका नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास गुरुके उपदेशके अनुसार ही करना चाहिये। इनकी कोई साधारण व्यवस्था नहीं है। गुरु शिष्यको योग्यताके अनुसार इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्ममूर्तिके चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। निरन्तर जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यचिन्तनको समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक या अग्नीषोमात्मक अथवा शुक्रशोणितात्मक है और वह ९६ अँगुली लम्बी है अर्थात् साधककी अपनी अँगुलियोंसे ९६ अंगुल है। पायु और जननेन्द्रियके मध्यके स्थानको कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधारसे असंख्य नाड़ियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें तीन प्रधान हैं; उन तीनोंका नाम है—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

इडा बायीं ओर है, पिंगला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्डके मध्यभागमें है। सुषुम्नाके भीतर एक और नाड़ी है; उसे चित्रा कहते हैं। चित्राके अन्तर्भागको ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। मूलाधारमें जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहींपर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति साढ़े तीन चक्करके रूपमें सोयी हुई सर्पिणीकी तरह रहती है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गमूलमें जो चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभिके मूलदेशमें सुषुम्नानाड़ीसे सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थानमें जो एक चक्र है, उसको अनाहतचक्र कहते हैं। कण्ठदेशमें जो चक्र है, उसका नाम विशुद्ध चक्र है। और भ्रूमध्यमें जो चक्र है उसको आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थानपर गुरुकी आज्ञाका सञ्चार होता है, इसीसे इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी-शक्तिको इन समस्त चक्रोंका भेद करता हुआ मूलाधारसे द्वादशदलचक्रके ऊपरमें शिवस्थानमें ले जाता है और शिवशक्ति-सामरस्यरूप अतुल आनन्दका भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासारसमुच्चय, गन्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। महाकालोक्त, **'पादुकापञ्चकम्'**स्तोत्रमें पूर्वोक्त द्वादशदलपद्मका विशेष विवरण है। योगसाधनाका उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधककी एकताकी उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभावकी प्राप्ति हो। उस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर सिद्धयोगी परमानन्द नित्यचैतन्यैकगुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणवके या ह्रींकारके चिन्तनमें मग्न होते हैं। उस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्यसे अतीत स्वसंवेद्य आनन्द-रससागर तारात्मक वस्तुकी उपलब्धि करते हैं।

अद्वैतलाभके पूर्वकी अवस्थामें जो ध्यान बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तस्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः।
अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः॥

विचार करके देखनेपर मालूम होगा कि तन्त्रकथित मार्गका और श्रुतिकथित मार्गका गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगमका भेद वाक्यगत है, वस्तुगत नहीं। उद्धृत श्लोकका अर्थ कोई-कोई इस प्रकार करते हैं—

अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूपं ध्यानमेतत्। सत्यम्, असत्यव्यावृत्तिरूपम्; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः। मानविवर्जितम्, प्रमाणागोचरीकृतम्; 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। श्रुतिगिरामाद्यम्, वेदप्रवक्तृ; 'शास्त्रयोनित्वात्' इति बादरायणसूत्रणात्। जगत्कारणम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात्। व्याप्तस्थावरजङ्गमम्; 'सहस्त्रशीर्षा' इति श्रुतेः। मुनिवरैर्नारदादिभिः। अर्काग्नीन्दुमयमिति गायत्र्यादिदेवता-क्रमेण। यद्वा अर्को विष्णुः अग्नी रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम्। तत उत्पन्नत्वात्। यद्वा ओङ्काररूपत्वं वक्ष्यति। एतेनाकारो-कारमकारात्मकत्वेनाग्नीन्द्वर्करूपत्वं शताक्षरवपुरिति। शताक्षरैः परं महः प्रतिपाद्यते। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्रयोनित्वेन कार्यकारणभेदाद्वा शब्दब्रह्मरूपत्वाद्वा तथोक्तिः, यद्वा यतः अर्काग्नीन्दुरूपत्वम् अत एव शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुमद्भावेन योजना। नित्यानन्दचित्त्वं तत्स्वरूपमेव। तदालयत्वञ्च भगवत उपचारात्। गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यः परं तद्रहितम्। तद्वेदशिरसि प्रसिद्धम्। महः नित्यं प्रकाशकत्वान् मह इव। एते च सर्वे शब्दास्तस्य वस्तुनो लक्षका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेकत्वार्थत्वम् अपर्यायत्वेऽपि अतद्व्यावृत्त्यर्थतया न पौनरुक्त्यम्।'

फिर, उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है—

'महस्तेजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते। सत्यं नित्यत्वात्तस्याः; 'नित्या शक्तिः परादेवी' इत्युक्तेः। मानमियत्ता तद्वर्जिताः; 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः' इत्युक्तेः। व्याप्तस्थावर-जङ्गमा; 'सर्वगा विश्वरूपिणी दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरुद्धेन्द्रियैर्मुनिवरैर्ध्याता; 'योगिध्येया च सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्य-मञ्जसा' इत्यपि। अर्काग्नीन्दुरूपा; 'त्रिधामजननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमसूर्याग्निरूपा च' इत्युक्तेश्च। शताक्षरवपुः; 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्' इत्युक्तेः। तारात्मकम्;

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमृज्वाकारां तडित्प्रभाम्।
ओङ्काररूपिणीं ज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोदयाम्॥
(इत्युक्तेः)

नित्यानन्दगुणालया; 'नित्यानन्दगुणोदया' इत्युक्तेः। गुणपरा; गुणरूपा परा च, 'शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा' इत्युक्तेः। 'परापरविभागेन परशक्तिरियं मता' इत्युक्तेश्च।

उक्त श्लोकमें 'शताक्षरवपुः' शब्दका अर्थ शताक्षरमन्त्र है। यह (१) त्रिष्टुप्, (२) गायत्री और (३) अनुष्टुप्—इन तीन मन्त्रोंके संयोगसे बनता है।

उद्धृत श्लोककी जो व्याख्या दी गयी है वह महामति सर्वशास्त्रविशारद राघवभट्टकृत है। उससे यह मालूम होता है कि कोई मन्त्र किसी निर्दिष्ट देवताका नहीं है। जिस समय साधकसे मन्त्र, देवता और गुरुके साथ ऐक्य भावना करनेके लिये कहा जाता है, उस समय साधक जिस इष्ट देवताका साधन करता है, वही एकमात्र परम देवता है, यह समझना भूल है। भगवत्पाद शङ्कराचार्यने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्रमें हल्लेख्या बीजके सम्बन्धमें कहा है—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं
तद्विष्णोः परमं पदं प्रयाति लोकः।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हल्लेख्यां जपत च नित्यमर्चयीत॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शक्तिबीजसाधनके द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पहले ही कहा गया है कि साधकके उपास्य या इष्ट देवता उसकी गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र है। अपने इष्टकी मूर्तिका अवलम्बन करके ही परम पदार्थमें लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्रमें शक्तिको प्रधानता दी जाती है, इसीसे 'ह्रीं'कार बीज और कुण्डलिनी शक्तिकी आराधनाको प्रधानता दी जाती है। शैवतन्त्रमें 'ओंकार' और शिवको प्रधानता दी जाती है। इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। शिव और शक्तिके परस्पर-सम्बन्धको 'अविनाभाव' बतलाया जाता है। जिन्होंने इस 'अविनाभाव' की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

उपसंहारमें यह कहना आवश्यक है कि इसके अतिरिक्त और जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, वह गुरुसे ही जाना जा सकता है। शास्त्रोंमें कहा है—

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।

यह कहनेका मतलब यही है कि केवल शास्त्रवचनके आधारपर यदि योगसाधना की जाय तो साधकको समय-समयपर विशेषरूपसे विपद्ग्रस्त होना पड़ता है। गुरु शिष्यका अधिकार समझकर पग-पगपर उसे उपदेश देते हैं। यहाँतक देखा गया है कि प्राणायाम-साधन करते समय भी कोई पथप्रदर्शक न होनेपर साधकको विपद्ग्रस्त होना पड़ा है। इन सब कारणोंसे जो विषय गुरुसे ही सीखनेयोग्य है, वह यहाँ नहीं लिखा गया है।

श्रीमद्भागवतमें योगचर्या

(लेखक—पं० श्रीबलदेवप्रसादजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

श्रीमद्भागवत संस्कृतके धार्मिक साहित्यका एक अनूठा रत्न है। यह अष्टादश पुराणोंमें सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। महर्षि वेदव्यासने नदियोंमें गंगा, देवताओंमें विष्णु, वैष्णवोंमें शिवके समान, पुराणोंमें इसे बतलाकर इसकी प्रधानता तथा श्रेष्ठताको स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त किया है।[1] सब क्षेत्रोंमें जिस प्रकार काशी सर्वोत्तम है, उसी प्रकार पुराणसमूहोंमें भागवत है। वेद तथा वेदान्तका महत्त्वपूर्ण सार भाग निचोड़कर श्रीमद्भागवतमें भर दिया गया है।[2] वास्तवमें यह 'निगमकल्पतरुका गलित फल' है। यह फल देवी-देवताओंके लिये भी दुर्लभ है (**श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा**)। परन्तु सौभाग्यवश यह सुरस तथा स्वादिष्ट फल महर्षि वेदव्यासके परम अनुग्रहसे हम मानवजनोंके लिये नितान्त सुलभ है। भगवान् वेदोंके परम रहस्योंसे

१. श्रीमद्भागवत १२।१३।१६
२. श्रीमद्भागवत १२।१३।१४

संवलित होनेके कारण भागवतका यथार्थमें समझना विद्वज्जनोंका ही काम है। इसीलिये कहा जाता है कि विद्वानोंकी विद्वत्ताकी परीक्षा भागवतमें होती है— **'विद्यावतां भागवते परीक्षा।'** किसी धार्मिक ग्रन्थमें 'भागवत' के प्रत्येक अक्षरसे एक अतीव सुन्दर अर्थकी उद्भावना की गयी है। 'भा' अक्षरसे भारूप—प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्दका संकेत किया गया है। **'भा प्रकाशे चिदानन्दे'**।'ग' अक्षरसे उस भगवान्‌के विषयमें लौकिक 'गति' का अर्थ निकलता है— **'गतिर्यस्यात्र लौकिकी।'** 'व' अक्षर भागवतको सब शास्त्रोंमें 'वरिष्ठ'—श्रेष्ठ बतला रहा है— **'वरिष्ठं सर्वशास्त्राणाम्।'** अन्तिम अक्षर तकार है जो इस बातको संकेत कर रहा है कि यह ग्रन्थ इस भवार्णवसे पार जानेके लिये एकमात्र 'तरणि'—नाव है— **'तरणिर्भूतभवार्णवे'**। इस प्रकार भागवतके अक्षरोंकी इस भावमयी सांकेतिक व्याख्याका यही अर्थ है कि यह ग्रन्थ प्रकाशरूप सच्चिदानन्दके विषयमें लौकिक उपायको बतलानेवाला है; सब शास्त्रोंसे बढ़कर है तथा इस संसाररूपी समुद्रसे पार जानेके लिये—निरपायभूत भगवान्‌के पास पहुँचनेके लिये एक सुदृढ़ नौकाका काम करता है। भागवतसे परिचित पाठक इस व्याख्याकी यथार्थता तथा रमणीयताको भलीभाँति समझ सकते हैं।

श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय क्या है? यह तो प्रथम स्कन्धके आरम्भमें ही व्यास-नारद-संवादसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धुओंके हितार्थ व्यासजीने श्रुत्यर्थसंवलित लक्षश्लोकात्मक महाभारतकी रचना करके जिस चित्तसन्तुष्टिको नहीं प्राप्त किया, उसे ही उन्होंने श्रीमद्भागवतकी रचना कर पाया। इसका कारण यही था कि सब विषयोंसे पूर्ण होनेपर भी महाभारतमें भगवान्‌की आनन्दमयी लीलाओंका विशद वर्णन न था—धर्म, अर्थका विशद कीर्तन होनेपर भी वासुदेवकी महिमाका वर्णन न था। इसी कमीकी पूर्ति करनेके लिये ही व्यासजीने नारदजीके उपदेशसे श्रीमद्भागवत नामक नये पुराणकी रचना की। **'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्'** (नैष्कर्म्यस्वरूप निरञ्जन अलं ज्ञान भी अच्युतभावके बिना शोभा नहीं देता।) (श्रीमद्भा० १।५।१२) कहकर व्यासजीने भगवद्भक्ति-की ही प्रधानताको दिखलाया है। अतः लीलाधाम भगवान्‌की मनोरम लीलाओंके सुन्दर वर्णनके साथ-साथ भक्तियोगका मनोरम तथा विशद विवेचन ही भागवतका प्रधान विषय है, तथापि स्थल-स्थलपर ज्ञान तथा कर्मका भी उचित वर्णन है तथा अष्टाङ्गयोगका भी वर्णन कम नहीं है।

योगका विषय उपनिषदोंमें भरपूर है, यह तो बहुत-से विज्ञ पुरुषोंको अवगत है, तथापि संहिताओंमें, विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेदकी संहिताओंमें भी योगके अल्प या अधिक, गौणतः तथा मुख्यतः, अनेक सङ्केत उपलब्ध होते हैं, इसे बहुत-से जानकार लोग भी नहीं जानते। अतः वैदिक संहिताओंमें ही योगकी आदिम रूप-रेखा हमें मिलती है, उपनिषदोंमें आकर योगकी यह रूप-रेखा अत्यन्त सुव्यक्त रूप धारणकर धीरे-धीरे परिपूर्णावस्थाको प्राप्त करती हुई लक्षित होती है। महाभारत, पुराण, तन्त्र तथा धर्मशास्त्रमें योगकी यह धारा अविच्छिन्नरूपसे बहती हुई कालान्तरमें महर्षि पतञ्जलिके 'योगदर्शन' के रूपमें हमारे सामने आती है। यह धारा यहीं नहीं रुकती, बल्कि पतञ्जलिके भाष्यकार, वृत्तिकार तथा वार्तिककार—व्यास, वाचस्पति, भोज, विज्ञानभिक्षु तथा नागेश आदि माननीय ग्रन्थकारोंकी रचनाओंसे परिपुष्ट होती हुई आज भी हमारी श्रद्धा तथा भक्तिका भाजन उसी प्रकार बनी हुई है जिस प्रकार पुण्यसलिला भगवती भागीरथीकी विमल धारा। योगशास्त्रके उद्गम तथा विकासके इस साङ्केतिक वर्णनसे श्रीमद्भागवतवर्णित योगका स्थान पाठकोंको स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा। भागवतका योग पौराणिक योगका एक अंशमात्र है तथा योगशास्त्रके इतिहासकी दृष्टिसे उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातञ्जल-योगके मध्यके कालमें आता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भागवतमें भक्तिके साथ-साथ अष्टाङ्गयोगका भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकारसे किया गया मिलता है। कई स्थलोंपर योग-साधनकी क्रियाओंका अप्रत्यक्षरूपसे सङ्केतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलोंपर योगका प्रत्यक्षरूपसे विशद विवेचन किया गया है। योगके अप्रत्यक्ष सङ्केत प्रायः दो प्रसङ्गोंमें किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्तिकी तपश्चर्याके वर्णनके अवसरपर योगका आश्रय लिये जानेका सङ्केत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्तिके इस भौतिक शरीरके छोड़नेका जहाँ वर्णन है

वहाँ भी योगमार्गका आलम्बन कर प्राणत्यागकी घटनाका संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषोंके तपश्चरण तथा शरीरत्यागके दोनों अवसरोंपर विशेषरूपसे योगकी ओर सङ्केत किया गया मिलता है। ऐसे प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें अनेक आये हैं। इन सब महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गोंका उल्लेख यहाँ किया जायगा। इन परोक्ष सङ्केतोंके अतिरिक्त भागवतमें योगका विशद विवेचन भी स्थान-स्थानपर किया गया है, परन्तु ऐसे स्थल पहलेकी अपेक्षा न्यून ही हैं। जो कुछ भी हो, इस लेखमें भागवतमें वर्णित योगका, परोक्षरूप तथा प्रत्यक्षरूपसे किये गये उल्लेखका, यथासाध्य पूरा विवेचन करनेका प्रयत्न किया गया है। अप्रत्यक्ष संकेतोंमें नितान्त महत्त्वपूर्ण संकेतोंका ही स्थानाभावके कारण स्वल्प विवरण दिया गया है और प्रत्यक्ष वर्णनोंके सार अंशको ही यहाँ उपस्थित करनेका यत्न किया गया है। वर्णन स्कन्धोंके क्रमसे किया गया है तथा उसे पूर्ण करनेका यथासाध्य उद्योग किया गया है।

पहले योगविषयक अप्रत्यक्ष निर्देशोंकी बात कही जायगी। ऐसे प्रसंग भागवतके प्रथम स्कन्धमें कई बार आये हैं।[१] नारदजीने अपने जीवनचरितसे एक ऐसे प्रसङ्गका उल्लेख किया है—

(१) जब वह बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियोंके संसर्गमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लड़कपनमें ही उनकी माताका देहापात हो गया, तब नारदजीने उत्तर दिशामें जाकर मुनियोंके मुखसे सुने गये भगवान्‌का साक्षात्कार करनेका निश्चय किया। तब निर्जन स्थानमें उन्होंने भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना मन लगा ध्यान धरा जिससे भगवान्‌ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्गमें **'मन:प्रणिधान'** जैसे पारिभाषिक शब्दका उल्लेख मिलता है।[२]

(२) नारदजीके उपदेशसे व्यासजीने भगवान्‌की विविध लीलाओंके वर्णन करनेका विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदीके पश्चिम तटपर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रममें आसन मारकर भगवान्‌में अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढंगसे समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान्‌का साक्षात्कार कर लिया।[३] आसन तथा मन:प्रणिधानका उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्मपितामहके देहत्यागके अवसरपर व्यासजीने ऋषि, मुनियोंके अतिरिक्त पाण्डवोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको भी उस स्थानपर ला एकत्र किया है। अन्तिम अवसरपर सब लोग भीष्मको देखनेको आये; श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्णकी ललित स्तुति की तथा अन्त समयमें भगवान्‌में मन, वचन, दृष्टिकी वृत्तियोंसे अपनी आत्माको लगाकर अन्त:श्वास लिया तथा शान्त हो गये।[४] इस प्रसङ्गमें भीष्मने अपने शरीरको योगक्रियासे छोड़ा यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वासको भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्रसे प्राणत्याग करना योगकी महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है।

(४) देवहूति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनिकी पूजनीया माता थीं। बहुत आग्रह करनेपर कपिलने उन्हें योगकी शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधिके द्वारा किया।[५]

(५) चतुर्थ स्कन्धमें सतीके शरीरदाहकी कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापतिके द्वारा किये गये शिवजीके निरादरके कारण सतीने अपने शरीरको जला दिया था। गोसाईंजी **'जोग अगिन तनु जारा'** लिखकर योगाग्निमें सतीके भस्म होनेकी बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजीने एक श्लोकमें उसकी समग्र योगक्रियाका यथार्थ वर्णन किया है।[६] इस पद्यकी शुकदेवकृत सिद्धान्तप्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवतचन्द्रिका-व्याख्यामें बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सतीने पहले आसनजय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्गसञ्चालन बिलकुल

१. श्रीमद्भागवत १। ६। १६, १७
२. श्रीमद्भागवत १। ६। २०
३. श्रीमद्भागवत १। ७। ३, ४
४. श्रीमद्भागवत १। ९। ४३
५. श्रीमद्भागवत ३। ३३। २७
६. श्रीमद्भागवत ४। ४। २५, २६

बन्द हो गया। तब प्राण और अपानका निरोधकर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर)-में रखा। अनन्तर नाभिचक्रसे उदानवायुको उठाकर हृदय (अनाहत)-में ले आयीं; निश्चयबुद्धिके साथ वहाँसे भी वायुको कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र)-से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र)-में ले आयीं। उदानको वहीं टिकाकर सतीने अपने अङ्गोंमें वायु तथा अग्निकी धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णनमें शरीरके विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायुको ऊपर ले जानेकी क्रियाका उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजीने ध्रुवको आसन मार प्राणायामके द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मनके मलको दूरकर समाहित मनसे भगवान्‌के ध्यान करनेका उपदेश दिया था।[१] ध्रुवने उसी मार्गका अवलम्बन किया तथा अल्प समयमें ही वह भगवान्‌का साक्षात्कार करनेमें समर्थ हुआ।[२] ध्रुवको नारदने अष्टाङ्गयोगका ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता **'कृत्वोचितानि'** पद्यकी भागवतचन्द्रिकाके देखनेसे लग सकता है। **'उचितानि कृत्वा'** में यम-नियमका, **'कल्पितासनः'** में आसनका, **'मलं व्युदस्य'** में प्राणायाम तथा प्रत्याहारका, **'ध्यायेत्'** में ध्यानके धारणापूर्वक होनेके कारण धारणा तथा ध्यानका विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोगका उपदेश है।

(७) दधीचि ऋषिसे देवताओंने वज्र बनानेके लिये उनकी हड्डियाँ माँगी, तब लोकोपकारकी उन्नत भावनासे प्रेरित होकर ऋषिने उनकी प्रार्थनाको अङ्गीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिका नियमन कर परम योगका आश्रय लिया। उस समय उन्हें खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया।[३]

(८) वृत्रने भी अपनी मृत्युके समय भगवान्‌के चरणकमलोंमें मन लगाकर समाधिके द्वारा अपने प्राण छोड़े।[४]

(९) अदितिने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदितिके उदरसे जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यपको इस अद्भुत घटनाका ज्ञान समाधियोगसे बिना किसीके जनाये ही हो गया।[५]

(१०) श्रीकृष्णके जीवनचरितमें अनेक प्रसङ्ग भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णित हैं जिनमें योगका आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओंको घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान्‌के पूर्णावतार ठहरे—**'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** अतः अलौकिक घटनाओंको उत्पन्न करना उनकी शक्तिके एक कणका कार्य है, परन्तु इन सब अद्भुत कार्योंकी उत्पत्ति श्रीकृष्णने अपने योगबलसे की थी, इसका उल्लेख बारंबार मिलता है। वह अनेक बार 'योगी' तथा योगियोंमें श्रेष्ठ **'योगेश्वरेश्वरः'** बतलाये गये हैं। उनके योगजन्य कतिपय घटनाओंके निर्देशमात्रसे हम सन्तोष करेंगे, वर्णनके लिये न तो यहाँ समय है और न स्थान। ब्रह्माने ग्वालों तथा गौओंको जब पर्वतकी कन्दरामें चुराकर रख छोड़ा था तब श्रीकृष्णने अपने शरीरको ही उतने ही गोपों तथा गौओंमें परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था[६] वह योगकी कायव्यूहसिद्धिका उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्णने प्रबल दावाग्निसे गोपोंकी जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था।[७] रासलीलाके समयमें वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमायाका आश्रय लेना भी एक कारण था।[८] कहाँतक हम गिनावें श्रीकृष्णके योगशक्तिजन्य अद्भुत कार्योंको। जब यादवोंके भारसे भी व्यथित इस भूमण्डलको श्रीकृष्णने भारविहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोकमें जानेका विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने

१. श्रीमद्भागवत ४। ८। ४४
२. श्रीमद्भागवत ४। ८। ७७
३. श्रीमद्भागवत ६। १०। १२
४. श्रीमद्भागवत ६। ११। २१
५. श्रीमद्भागवत ८। १७। २२
६. श्रीमद्भागवत १०। १३। १९
७. श्रीमद्भागवत १०। १९। १४
८. श्रीमद्भागवत १०। २९। १

परम रमणीय शरीरको आग्नेयी योगधारणासे बिना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीरके साथ अपने लोकमें चले गये।[1] 'साधारण योगी अग्निधारणासे अपने शरीरको भस्म कर देता है।' श्रीकृष्णने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीरको बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाममें चले गये।[2] इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनचरितको आदिसे अन्ततक व्यासजीने योगसिद्धियोंसे परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

अबतक जो कुछ कहा गया उससे पता चल गया होगा कि भागवतमें योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष सङ्केत विद्यमान हैं। अब भागवतमें अष्टाङ्गयोगका जो प्रत्यक्ष निदर्शन है उसको देखें। ऐसा निदर्शन एक ही स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर है। छोटे-छोटे तो अनेक वर्णन हैं, परन्तु इनका उल्लेख यहाँ न कर केवल विस्तृत विवरणोंका ही निर्देश किया जाता है। भागवतके तीन स्कन्धोंमें योगका विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्धके अध्याय १ तथा २ में; तीसरे स्कन्धके २५ वें तथा २८ वें अध्यायोंमें कपिलजीका अपनी माता देवहूतिके प्रति योगका उपदेश; और फिर एकादश स्कन्धके अध्याय १३ में सनकादिकोंको हंसरूपधारी भगवान्के द्वारा योगका वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोगका विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियोंका वर्णन, अ० १९में यमनियमादिका वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ अष्टाङ्गयोग। इन सब स्थानोंमें योगका इतना विशद प्रचुर वर्णन है कि उसके लिये एक अलग पुस्तिकाकी आवश्यकता होगी। यहाँ केवल उसका सारांश उपस्थित करनेका यत्न किया जायगा।

भागवतमें अष्टाङ्गयोगकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वह स्वतन्त्र साधनरूपसे उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ अन्य साधनमार्गोंको भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्तिका सबसे अधिक सहायक है अवश्य, फिर भी वह ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है जिसपर चलकर साधकगण परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसकी विशेषता ठीक-ठीक समझनेके पहले उससे परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियमका संक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्धके अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रोंमें तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकारके ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवतमें उनमेंसे प्रत्येकके बारह भेद माने गये हैं—

यमके द्वादश भेद—[3]

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ह्री, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियमके द्वादश भेद—[4]

(१) शौच-बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन।

इन यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवतका छठा 'असञ्चय') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमोंमें उसी भाँति शौच,

---

१. संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। ३१। ५-६)

२. उक्त श्लोककी व्याख्यामें मान्य टीकाकारोंमें भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधरस्वामीके 'अदग्ध्वा' पदच्छेदको मानकर वीरराघव, विजयध्वज, जीवगोस्वामी आदि सब टीकाकारोंने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेवने अपने सिद्धान्त-प्रदीपमें 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत्के अदृश्य होनेकी तरह भगवत्तनुके अन्तर्धान होनेकी बात लिखी है।

३. श्रीमद्भागवत ११। १९। ३३

४. श्रीमद्भागवत ११। १९। ३४

सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवतका आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष नये हैं।

आसन—यह योगका तीसरा अङ्ग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थानमें आसन लगाना चाहिये। जहाँ कहीं हल्ला न हो, निर्जनताके कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगानेके लिये चुनना चाहिये। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये, इसका 'कल्पितासन' शब्दके द्वारा भागवतमें स्थान-स्थानपर संकेत है। योगमें अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासनसे बैठे तथा उस समय अपने शरीरको बिलकुल सीधा बना रखे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥

(श्रीमद्भा० २।१।१६)

'घरसे निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थोंके जलमें स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक बिछाये हुए आसनपर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्।

(३।२८।८)

'शुचि देशमें आसन लगाकर आसनको जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करे।'

इस श्लोकमें श्रीधरस्वामीके अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारोंने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासनसे सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवतमें किसी एक आसनके प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता। स्थान-स्थानपर टीकाकारोंके संकेतसे पद्म अथवा सिद्ध आसनोंकी ओर निर्देश जान पड़ता है।

प्राणायाम—प्राणोंका आयाम योगका चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा प्राणके मार्गको शुद्ध करनेका उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।

(३।२८।९)

प्राणायाम पुराणोंमें दो प्रकारका बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यानके बिना ही मात्राके अनुसार प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाममें जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये। इन दोनोंमें सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणोंने उसीके करनेका उपदेश दिया है। शिवपुराणकी वाययीव संहिताके उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीसमें इन दोनोंके भेद तथा उपयोगका अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्॥ ३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकारका कहा गया है, जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यानके सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्॥ ३४॥

'अगर्भसे सगर्भ प्राणायामका गुण सौगुना है। इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराणमें अगर्भको अबीज तथा सगर्भको सबीज प्राणायाम कहा गया है।[1] श्रीमद्भागवतमें भी इसी सगर्भ प्राणायामका विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-म्से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकारकी मनमें आवृत्ति करता जाय। ॐकारको बिना भुलाये अपने श्वासको जीते—[2]

अभ्यस्येन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्॥

(श्रीमद्भा० २।१।१७)

'इस तीन अक्षरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्रका मनसे जप करे, इस ब्रह्मबीजको बिना भुलाये श्वासको जीतकर मनको एकाग्र करे।'

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायामके अभ्याससे श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मनसे आवरक मल—रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आगमें तपाये लोहेसे मलिनता दूर हो जाती है—

१. विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७। ४०
२. श्रीमद्भागवत ११। १४। ३४

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥
(३।२८।१०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचकके क्रमसे प्राणायाम करनेका विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवतके एकादश स्कन्धमें '**विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः**' (१४।३३) '**प्रतिकूलेन वा चित्तम्**' (३।२८।९) कहकर इससे उलटे क्रमसे प्राणायाम करनेकी भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है। यहाँ '**विपर्ययेणापि**' तथा '**प्रतिकूलेन**' का अर्थ श्रीधरस्वामीने दो प्रकारसे किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियमका उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बादको कुम्भक और अन्तमें पूरक। कुम्भक दो प्रकारका होता है—अन्तःकुम्भक तथा बहिःकुम्भक। भागवतमें इन दोनोंका इस प्रकार वर्णन है तथा दोनोंमें किसी एकके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका उपदेश दिया गया है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाडीसे पूरक करे तथा दाहिनीसे रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाडीसे वायु भरकर वामसे रेचक करे। दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियोंको सम्मत हैं। प्राणायामको तीनों कालमें—प्रातः, मध्याह्न, तथा सायं करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये। यदि इस नियमसे प्राणायाम किया जाय, तो एक मासके पूर्व ही साधक पवनको वशमें कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वासको जीतकर साधक अपनी इन्द्रियोंको उनके तत्तद्विषयोंसे खींचे। इस कार्यमें सहायता देगा निश्चयबुद्धिवाला मन। मनके द्वारा निश्चयबुद्धिकी सहायतासे मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर उन्हें एक स्थानपर रखनेका यत्न करें। यह हुआ प्रत्याहार।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।
(श्रीमद्भा० २।१।१८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।४२)

धारणा—मनको एक वस्तुमें टिकानेका नाम हुआ धारणा। भागवतमें दो प्रकारकी धारणा बतलायी गयी है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणोंमें भी नामभेदसे बतलायी गयी हैं। भगवान्‌के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्हींको विष्णुपुराणमें (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप बतलाया गया है।[1] भगवान्‌के इन्हीं दोनों रूपोंके धारणा तथा ध्यान करने चाहिये। अतः भागवतविहित धारणाके दो भेद हुए—(१) वैराजधारणा तथा (२) अन्तर्यामिधारणा।

सबसे पहले भगवान्‌के स्थूल रूपमें ही धारणा तथा ध्यान लगावे अर्थात् पहले भगवान्‌के विराट् रूपकी धारणा करे। भागवतके दूसरे स्कन्धके पहले ही अध्यायमें भगवान्‌के विराट् रूपका इतना सुन्दर तथा सांग वर्णन किया गया है कि पद्योंको पढ़ते-पढ़ते रूप आँखके सामने आकर झूलने लगता है। स्थूल होनेके कारण मूर्त रूपमें मन आसानीसे लगाया जा सकता है। इस धारणाका नाम हुआ वैराजधारणा। जब यह धारणा साधकके हाथमें आ जाय, तब अमूर्त रूपकी धारणा करनी चाहिये। इस दूसरी धारणा—अन्तर्यामिधारणाका अतीव सुन्दर वर्णन भागवतके अनेक स्थलोंपर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्धका दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्धका अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्धका चौदहवाँ अध्याय। इन वर्णनोंका आशय[2] है कि अपने शरीरके भीतर ऊर्ध्वनालवाले अधोमुख हृत्पुण्डरीकको ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदलवाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे। कर्णिकामें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके मण्डलको रखे। इस अग्निके भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालधारीकी मनमोहिनी मूरतिका ध्यान धरे। भगवान्‌के इस सुहावने रूपका जैसा वर्णन भागवतमें मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। व्यासजीने अपनी समग्र कविताशक्तिको मानो यहीं समाप्त कर दिया है। संस्कृतज्ञ पाठक भागवतको

१. विष्णुपुराण अं० ६ अ० ७।
२. श्रीमद्भागवत ११। १४। ३६, ३७

पढ़कर इसका अलौकिक आनन्द उठावें। इस रूपकी धारणा तबतक करें जबतक मन निश्चल तथा स्थिर न हो जाय। इसका नाम हुआ अन्तर्यामिधारणा।

ध्यान— किसी वस्तुविशेषमें अनुस्यूतरूपसे मन धारणा धारण करे। प्रत्ययकी एकतानता हो तो उसे ध्यान कहते हैं— '**तत्रैकतानता ध्यानम्**'। भागवतमें ध्यानके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जब हृत्कर्णिकामें भगवान्‌के समग्र शरीरकी धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्येक अङ्गका ध्यान करना चाहिये। अङ्गोंका क्रम '**पादादि यावत् हसितं गदाभृतः**' (चरणोंसे लेकर हँसते हुए मुखतक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्धके अट्ठाईसवें अध्यायमें देखने ही योग्य है। भगवान्‌के पैरके ध्यानसे आरम्भ कर ऊपर बढ़ता जाय और अन्तमें मुखकी मन्द मुसुकानके ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
(३।२८।२१)

'उत्तम प्रकारसे भगवान्‌के उस चरण-कमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ज्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर किया है।'

× × × ×

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत्॥
(३।२८।३३)

'हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌के उस ध्यानायनस्वरूप हास्यका— जिस हास्यसे नीचेके होंठकी लालिमा भीतरकी कुन्दकली-सी दन्तपंक्तिको अरुण आभा प्रदान कर रही है— अर्पित मन होकर सरस भक्तिसे ध्यान करे, पृथक् न देखे।'

समाधि— ध्यानके बाद ही समाधिका स्थान है। उस समय भक्तिसे द्रवीभूत हृदय, आनन्दसे रोमाञ्चित होकर, उत्कण्ठासे आँसुओंकी धारामें नहानेवाला भगवान्‌का भक्त अपने चित्तको भी ध्येय पदार्थसे उसी भाँति अलग कर देता है जिस प्रकार मछलीके मारे जानेपर मछुआ बडिश (काँटे)-को अलग कर देता है— '**चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते**'। इस समय निर्विषय मन अर्चिकी तरह गुणप्रवाहसे रहित होकर भगवान्‌में लय प्राप्त कर लेता है— ब्रह्माकारमें परिणत हो जाता है।*

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥
(श्रीमद्भा० ३।२८।३४—३६)

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरिमें जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्तिसे द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्दसे जो पुलकित हो उठा है, जो बारंबार उत्कण्ठासे उत्पन्न हुई अश्रुधारामें नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़नेके काँटेको) भी पीछे धीरे-धीरे छोड़ देता है। संसारका आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन बत्ती जल जानेपर दीपशिखाके महज्ज्योतिमें मिलनेके समान निर्वाणपदको प्राप्त होता है। त्रिगुणका प्रवाह जिससे हट गया ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान नहीं देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। वह पुरुष मनकी इस चरमनिवृत्तिसे सुखदुःखके बाहर उस महिमामें लीन हुआ रहता है और ऐसा आत्मस्थितिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ पुरुष यद्यपि अपने-आपको कर्ता नहीं मानता तथापि सुख-दुःखका जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है।'

* श्रीमद्भा० ३। २८। ३४—३८

विशेषता

श्रीमद्भागवतवर्णित योगचर्याका एक सामान्य परिचय यथामति ऊपर संक्षेपमें दिया गया है। सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति आदि अन्य तत्सम्बन्ध विषय स्थानाभावके कारण छोड़ ही दिये गये हैं। प्रेमी पाठक वहींसे इन विषयोंका मनन करें। ऊपरके वर्णनसे भागवतकी योगचर्याकी विशेषता जिज्ञासुजनोंके ध्यानमें आ गयी होगी, अतः दो ही चार शब्द लिखकर हम इस लेखको यहीं समाप्त करेंगे।

इस योगकी यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्तिके साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की उत्तम भक्तिसे आप्लाव्यमान हृदयवाला परम भागवत है। बिना भक्तिके योगविहित समाधिकी निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यासजीने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि योगका उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है—शरीरको केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान्‌में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २८, ४१—४३)

'कोई-कोई धीर इस देहका कल्प करने अथवा चिरायु होनेके लिये योगके विविध उपाय किया करते हैं। परन्तु कुशल (विवेकी) पुरुष इसका आदर नहीं करते। यह सारा प्रयास व्यर्थ ही जानेवाला होता है, क्योंकि वृक्षके फलकी तरह शरीर नाशवान् है। योगसाधन करनेसे काया यदि कल्पान्ततक भी जीती रहे तो भी मत्परायण बुद्धिमान् पुरुषको भगवद्योग छोड़कर उसमें कभी श्रद्धा न करनी चाहिये।'

श्रीमद्भागवतका योगके विषयमें यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियोंके लिये जगदाधार भगवान्‌में भक्तिके द्वारा चित्त लगानेके अतिरिक्त ब्रह्म-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। १९)

'अखिल आत्मस्वरूप भगवान्‌में लगी हुई भक्तिके समान '**शिवः पन्थाः**', कल्याणकारी मार्ग योगियोंके लिये ब्रह्मप्राप्तिमें और कोई नहीं है।'

योगमठ

होवे लघुद्वार एक, छिद्र ना गवाक्ष जामें,
जाको अति छोटो नाहिं बड़ो विस्तार हो।
गोमय पवित्र से लिपा हो, स्वच्छ सुन्दर हो,
प्राणी दूसरा न होवे, शान्ति रस-धार हो॥
बाहरमें वेदी कूप मण्डप सुशोभित हों,
चारों ओर पुष्पलता सीमा निरधार हो।
ताको हठयोगी जन 'योगमठ' मानत हैं,
'पथिक' पवित्र जामें नित्य सदाचार हो॥

—नरसिंह पाण्डेय 'पथिक'

श्रीयोगवासिष्ठमें योग

(लेखक—प्रो० डॉ० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम्० ए०, डी० लिट्)

श्रीयोगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्षके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें बहुत उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषिद्वारा श्रीरामचन्द्रको किये हुए आध्यात्मिक उपदेशका बहुत सरस भाषामें वर्णन है, इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं। अद्वैत वेदान्तके अनेक लेखकोंने इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है, और कुछ विद्वानोंने इसके बहुत-से स्थलोंसे चुनकर कुछ श्लोकोंका संग्रह करके उन संग्रहोंको उपनिषदोंके नामसे प्रकाशित किया है। महाउपनिषद्, अन्नपूर्णाउपनिषद् और अक्षिउपनिषद्के तो सभी श्लोक योगवासिष्ठसे चुने हुए हैं (देखिये हमारा योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त। योगवासिष्ठ और कुछ उत्तरकालीन उपनिषद्, पृष्ठ ४५)। कल्याणके सम्पादक महोदयके अनुरोधसे यहाँपर हम पाठकोंके लिये योगवासिष्ठके योग-सम्बन्धी विचारोंका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। जिन सज्जनोंको इन सिद्धान्तोंको और भलीभाँति समझनेकी उत्कण्ठा हो उनको योगवासिष्ठ-सम्बन्धी हमारी पुस्तकोंका* अवलोकन करना अथवा योगवासिष्ठको आद्योपान्त पढ़ना चाहिये।

'योग' शब्दका अर्थ

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है—संसारसागरसे पार होनेकी युक्ति (६/१।१३।३)।

योगका आदर्श

योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्द-का अनुभव कर लेता है। योगका ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मामें स्थिति है जिसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, किसीका भी अनुभव न हो, और न इनके आगामी अनुभवका बीज भी रहे, और जिसमें परम आनन्दका निरन्तर अनुभव होता रहे (६/१।१३।३; ६/१।१२८।५०-५१)।

योगकी तीन रीतियाँ

(१) एक तत्त्वकी दृढ़ भावना, (२) मनकी शान्ति और (३) प्राणोंके स्पन्दनका निरोध—ये तीन योगकी रीतियाँ हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकपर चलनेसे तीनोंकी ही सिद्धि हो जाती है (६/१।६९।२७, ४०)—इन तीनोंमें मनको शान्त कर लेना सबसे सरल है (६/१।६९।२९)। किसीको ज्ञानका अभ्यास, किसीको प्राण-निरोध और किसीको मनका शान्त करना सरल होता है। तो भी योगवासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणोंके निरोधकी अपेक्षा मनको शान्त करना अथवा एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास करना अधिक सरल है (६/१।१३।८)। इसलिये इस ग्रन्थमें इन दो रीतियोंका ही अधिक वर्णन है।

(१) एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास

एक तत्त्वकी दृढ़ भावनासे मन शान्त होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है (६/१।६८।४८)। एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास तीन प्रकारसे किया जाता है—

(१) ब्रह्मभावना

पहले विचारद्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिये कि संसारभरमें केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्वके नाना नाम-रूप हैं। तब मनको तन्मय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारका ब्रह्माभ्यास करनेसे मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंकी गति भी स्वयं ही रुक जाती है, क्योंकि यह नियम है कि जो जिस विषयकी दृढ़ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है (६/१।६९।४९, ५२; ४।११।५८)।

---

* १. श्रीयोगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त
२. श्रीवासिष्ठदर्शनम्
३. श्रीवासिष्ठदर्शनसार
४. Yogavāsistha and Its Philosophy
५. Yogavāsistha and Modern Thought
६. The Philosophy of Yogavāsistha (प्रेसमें)
७. Yogavāsistha and some of the minor Upanishads

(२) अभाव-भावना

अभाव-भावनाका अर्थ है पदार्थोंको अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभावकी दृढ़ भावना करना। जब कि ब्रह्म (आत्मा)-के अतिरिक्त इस जगत्में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब हमारा उनको नाना नामरूपवाले और भिन्न सत्तावाले समझना केवल भ्रम है। इस बातको भलीभाँति समझकर यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि पदार्थ हैं ही नहीं, केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म सर्वत्र है। इस निश्चयके अभ्यासका नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जाता है और अहंभाव और जगत्का अनुभव—दोनोंका लोप होकर आत्मभावमें स्थिति हो जाती है (३। २२। २७; ३। ७। २७, २८; ३। २१। १२)।

(३) केवलीभाव

केवलीभाव उस निश्चयके अभ्यासका नाम है जिसमें केवल एक आत्मतत्त्वकी स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थोंके असत्य होनेकी दृढ़ भावना होनेके कारण अपने द्रष्टा होनेको भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाय जिसमें द्वैतका कोई भान नहीं है (३। ४। ५३)।

(२) मनोलय

योगवासिष्ठके अनुसार मन ही संसारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मनके शान्त हो जानेपर जीवनमें परमशान्ति आ जाती है और संसारका अनुभव क्षीण हो जाता है। मनके शान्त हो जानेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है। मन संसाररूपी मायाचक्रकी नाभि है। इस नाभिको बल और बुद्धिद्वारा घूमनेसे रोक लेनेपर संसारचक्रकी गति भी रुक जाती है। मनको जीत लेनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। मनके नाश होनेपर संसारका इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घटके नाश होनेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है। चित्तके लीन हो जानेपर द्वैत और अद्वैत दोनोंकी भावनाओंका लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्वका ही अनुभव रह जाता है। संसाररूपी दुःखसे मुक्त होनेका उपाय केवल मनको निग्रह करना है। इसी युक्तिद्वारा मनुष्यको परम शान्तिका अनुभव होता है। बिना इस युक्तिके शुभ गति प्राप्त नहीं होती (५। ४९। ४०; ५। ५०। ७; ६/१। २९। ५, ६, ७, ८; ५। २४। १४, १५; ५। १७। १९; ५। ५०। १४; ६/१। ६९। ४४; ६/१। ९३। ४४—४७; ४। ३५। २; ३। ११२। ९; ३। १११। १५; ३। १११। २)।

मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणोंद्वारा मन स्थूलताको प्राप्त होकर दुःख भोगता है वे ये हैं—अनात्म वस्तुमें आत्मभाव, स्थूल देहमें आस्था, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बसे ममता, मेरा-तेरापन, बुढ़ापे और मौतसे भय, संसारसे सुखकी आशा, किसी वस्तुकी प्राप्ति और किसीके त्यागका यत्न, भोगोंकी तृष्णा और विषयोंके भोगोंमें फँसना आदि (५। ५०। ५७—६३)।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणोंसे ब्रह्मभावको प्राप्त होता है वे ये हैं—भोगोंमें सुखकी कल्पनाको छोड़कर सांसारिक वासनाओंको त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर लगना, मनकी असत्ता और आत्माकी सत्तापर बार-बार विचार करना, संसारके पदार्थोंकी असत्ताका दृढ़ निश्चय हो जाना, परम तत्त्वके चित् सामान्यरूपमें स्थिर होना आदि (३। ९८। २; ३। ९७। १०, ११; ३। १००। २; ५। ५५। २)।

मनको शान्त करनेके उपाय

बिना उचित युक्तिके मनका जीतना कठिन है (५। ९१। ३४)। जो लोग ठीक युक्तियोंको छोड़कर हठपूर्वक मनको जीतना चाहते हैं उनको अनेक क्लेश और भय प्राप्त होते हैं (५। ९१। ४०)। मनको शान्त करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) ज्ञानयुक्ति

ज्ञानद्वारा मनका निरोध करना आँख मींचने या फूलको मसल देनेसे भी सरल है। इसमें जरा भी कष्ट नहीं होता (६/१। १११। ३१)। मनकी सत्ता ही अज्ञानके कारणसे है और वह ज्ञानद्वारा इस प्रकार सरलतासे नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सीमें साँपकी सत्ता और मरुभूमिमें मृगतृष्णाके जलकी सत्ता। जो वस्तु अज्ञानजन्य है वह ज्ञानद्वारा तुरन्त नष्ट हो जाती है। सत्यका ज्ञान होनेपर यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है (४। ११। २७)।

(२) संकल्पत्याग

सङ्कल्प मनका बन्धन है और सङ्कल्पका अभाव मनकी मुक्ति है (६/२। १। २७)। सङ्कल्प न रहनेपर मनका नाश हो जाता है और मुक्तिका उदय होता है (५।१३।८०)। सङ्कल्पके शान्त होनेपर संसारका सब दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है (५। ५४। १९)।

(३) भोगोंसे विरक्ति

जबतक संसारका नाश करनेवाली भोगोंसे विरक्ति उदय नहीं होती तबतक दुःखोंपर विजय पानेवाली परम निवृत्तिका अनुभव नहीं होता (५।२४।३७-३८)। संसाररूपी गड्ढेमें पड़े हुए लोग तभीतक दुःखोंमें भ्रमण करते हैं जबतक उनको विषयोंसे वैराग्य नहीं होता (५।२४।४३)। विषयोंसे विरक्ति होनेसे मन सूक्ष्म होकर आत्मभावको प्राप्त होता है।

(४) वासनात्याग

चित्त (मन)-का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द हैं (६/१।९४।५)। वह मनुष्य जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गयी हों, जीवन्मुक्त हो जाता है; बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको उस अवस्थाका अनुभव नहीं होता (३।२२।८)। वासना-त्यागकी सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओंका परित्याग करके मनमें मैत्री आदिकी शुद्ध वासनाओंको रखे (४।५७।२०), उनके अनुसार व्यवहार करता हुआ, फिर उनको भी मनसे निकालकर सब वासनाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मात्रावस्थाको प्राप्त होनेकी वासनाको मनमें रहने दे (४।५७।२१)। तब मन और बुद्धिसहित उस वासनाका भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यानमें स्थिर रहे। इस प्रकार जिस वासनाद्वारा दूसरी वासनाओंका त्याग किया जाय उसको भी त्याग देना चाहिये (४।५७।२२)। उस ज्ञानवान् पुरुषके मनमें, जिसने कि इस भावनासे कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासनाका उदय नहीं होता (६/१।८७।२५)। जिस प्रकार दीपकसे अँधेरा दूर होकर प्रकाशका उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थके ज्ञानसे वासना समूल नष्ट होकर शान्तिका अनुभव होता है (५। ७४। २१)।

(५) अहंभावका नाश

अहंभावके दृढ़ होनेपर ही संसारका भ्रम उदय होता है और अहंभावके क्षीण होनेपर उस स्वभावमें स्थिति हो जाती है जिसमें कि निरन्तर शान्ति ही है (६/२।२६।२९)। अहंभावरूपी मेघके क्षीण होनेसे चिदा-काशके निर्मल हो जानेपर ही आत्मानुभवरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है (५।१३।११)। यह सब संसार इन्द्रजालकी नाईं मिथ्या है, इसलिये इसमें राग रखनेसे क्या और द्वेष करनेसे क्या? इस प्रकार विचार करते रहनेसे अहंभाव नहीं रहता (४।३३।४४)। जब यह ज्ञान होकर कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँपर कोई वस्तु भी त्यागने अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्तमें समताका प्रकाश हो जाय तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती (४।३३।४६)।

(६) असङ्गका अभाव

जिसके हृदयमें संसारकी वस्तुओंके साथ सङ्ग है वही मनुष्य संसारसागरमें डूबा हुआ है और जिसका मन सङ्गसे रहित है वही संसारसे मुक्त है (५। ६७। ३०)। सङ्गरहित पुरुष वह है जो न कर्मोंके त्यागसे प्रसन्न होता है और न कर्मोंमें अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता, और जो सब अवस्थाओंमें समान रहता है (५। ६८। ६)। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है—किस वस्तुका त्याग करूँ और किसका ग्रहण—इस भावका नाम असङ्ग है। जीवन्मुक्तिमें यही दशा होती है (५।६८।४)।

(७) कर्तृत्वभावका त्याग

जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है (३।९५।३५)। जैसे अग्नि और उष्णताकी सदा एकता है वैसे ही मन और कर्मकी सदा एकता है। दोनोंमेंसे एकका नाश होनेसे दोनोंका ही नाश हो जाता है (३।९५।३७)। कर्मका बीज (कारण) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ संकल्प है (६/१।१२४।५)। संकल्प करना ही बन्धनका कारण है, इसलिये उसको त्यागना चाहिये (६/१।१२४।६)। संवेदन और संवेद्य दोनोंको छोड़कर वासनारहित शान्त होकर रहनेका नाम कर्मत्याग है (६/२।३।२५)।

(८) सर्वत्याग

जबतक सब कुछ नहीं त्यागा जाता तबतक आत्म-लाभ नहीं होता। सब अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो शेष रहता है वही आत्मा है (५।५८।४४)। शुद्ध

सर्वत्यागको सर्वदु:खोंका अन्त करनेवाली चिन्तामणि समझना चाहिये; शुद्ध बुद्धिसे उसीकी साधना करनी चाहिये (६/१।९०।५)। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है, और जो सबका कारण है, उसीमें सबका त्याग कर देनेसे सर्वत्यागकी सिद्धि होती है (६/१।८३।३०)। तीनों कालमें रहनेवाला जगज्जाल जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे कि मोतीके भीतर तागा, उसने सब कुछ त्याग दिया (६/१।९३।४९)। जिसने बुद्धिद्वारा सब शंकाओं, सब इच्छाओं और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है (६/१।११५।३४)।

(९) समाधिका अभ्यास

यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्तिके समान आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है (३।१।३६)। समाधि चुपचाप रहनेका नाम नहीं है। सब आशाओंरूपी तृणोंको भस्म करनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी अग्निका नाम समाधि है (५।६२।८)। समाधि उस प्रज्ञाका नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थोंके असली रूपका ज्ञान हो (५।६२।९)। विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी भी तृष्णा न रहनेका नाम समाधि है (६/२।४५।४६)।

(१०) लयक्रिया

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ जिन-जिन तत्त्वोंसे उत्पन्न होते हैं उनको जानकर उनमें इनको लय करनेका यत्न करना चाहिये (६/१। १२८। ४)। इस रीतिसे पहले अपने आपको विराट्में स्थित करो, फिर अव्याकृतमें और फिर परम कारणमें (६/१।१२८।५)। शरीरके पार्थिव भाग मांसादिका पृथ्वीतत्त्वमें विचारद्वारा लय करो, रक्तादिका जलमें, तैजस् भागका अग्निमें, वायव्य भागका वायुमें और नाभस भागका आकाशमें। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रियको उसके कारण तत्त्वमें लय करो—श्रोत्रको दिक्में, त्वक्को वायुमें, चक्षुको सूर्यमें, जिह्वाको जलमें, घ्राणको पृथ्वीमें (६/१।१२८।६—८), पैरोंको विष्णुमें, पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें—इस प्रकार समस्त देहको उसके कारण तत्त्वोंमें लय करके अपने आपको विराट् समझो (६/१।१२८।९—११)। अब पृथ्वी-तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें और वायुको आकाशमें और आकाशको महाकाशमें जो कि सबका उत्पत्ति-कारण है, लय करो (६/१।१२८।१६-१७)। वहाँपर योगी लिङ्गशरीरद्वारा क्षणभर स्थित होकर और ब्रह्माण्डके बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करे कि मैं आत्मा हूँ (६/१।१२८।१९)। लिङ्गशरीरको सूक्ष्म अव्याकृतमें जो कि ब्रह्मासे पूर्वकी अवस्थाका नाम है, लीन करना चाहिये (६/१।१२८।२०)। यह वह तत्त्व है जिसमें नामरूपका त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया और कोई परमाणुसमूह, कोई तर्कसे भ्रान्त चित्तवाले इसको अविद्या कहते हैं। उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं—(स्थूल, सूक्ष्म, और कारण)-के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्तिके लिये, उसका ध्यान करके कारण-शरीरका उसमें लय करना चाहिये (६/१।१२८।२१—२५)।

३—प्राण-निरोध

जैसे पंखेका हिलना बन्द होते ही हवाका चलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार प्राणोंकी गति रुक जानेपर मन भी शान्त हो जाता है (६/१।६९।४१)।

प्राणका स्पन्दन रुकनेसे मन शान्त हो जाता है और मनके शान्त हो जानेपर संसारका लय हो जाता है (५।७८।१५-१६)।

प्राण-निरोधके उपाय

प्राण क्या है? प्राणोंकी प्रगति किस प्रकार होती है? और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयोंकी चर्चा योगवासिष्ठमें खूब विस्तारसे की गयी है (६/१।२४। ८—३८, ६/१।२५।३—६०)। यहाँपर स्थलाभावसे केवल उन उपायोंकी गणनामात्र कराते हैं जिनसे कि योगवासिष्ठानुसार प्राणका स्पन्दन रुक जाता है। वे ये हैं—वैराग्य, परम कारणका ध्यान, व्यसनक्षय, निरोधकी विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान (५।१२।८५), शास्त्र और सज्जनोंका सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियोंसे मनको हटाना (५। ७८। १८), इच्छित वस्तुका ध्यान, एक तत्त्वका अभ्यास (५। ७८। १९), दु:ख हरनेवाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामोंका गहरा अभ्यास, एकान्तमें ध्यान (५।७८।२०), ॐकारका उच्चारण करते-करते शब्द-तत्त्वकी भावना, संविद्को सुषुप्तिमें लाना (५।७८।२१), रेचकके अभ्याससे प्राणको

आकाशपर्यन्त विस्तृत करना (५।७८।२२), पूरकके अभ्याससे मेरुके समान स्थिर हो जाना (५।७८।२३), कुम्भकके अभ्याससे प्राणका स्तम्भित करना (५।७८।२४), तालूमूलपर स्थित घण्टीको जिह्वासे यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाना (५।७८।२५), संवित्को शून्य आकाशमें, जहाँपर कोई कलना नहीं है, ले जाकर शान्त करना (५।७८।२६), नासाग्रसे द्वादशाङ्गुलपर बाहर शुद्ध आकाशमें संवित्को लीन करना (५।७८।२७), भ्रुवोंके मध्यमें दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतनमें स्थित होना (५।७८।२९), ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाकर तालूसे बारह अङ्गुल ऊपर प्राणको शान्त करना (५।७८।२८), जिसमें ज्ञानका उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ़ भावसे निश्चित होना और किसी भी विकल्पसे विचलित न होना (५।७८।३०), चिरकालतक जिस पदार्थकी वासना रही हो उसकी शून्य भावनासे मनको वासनारहित करके क्षीण करना और शुद्ध संवित्में ध्यान लगाना (५।७८।३१)। इनके सिवा प्राणनिरोधकी और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो नाना देशोंमें प्रचलित हैं और अनेक गुरुओंद्वारा बतायी गयी हैं (५।७८।३९)। इस प्रकार प्राणनिरोधके अभ्याससे प्राणका लय होनेपर मनकी क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है (५।७८।४६)।

प्राणविद्याके अतिरिक्त योगवासिष्ठमें कुण्डलिनीविद्याका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है (६।८०।३६—४८; ६/१।८१।१—९; ६/१।८१।६२—७३; ६/१।८२।२—१३; ६/१।८०।३१—३५; ६/१।८१।४५—५६; ६/१।८२।२९—३३)। कुण्डलिनीविद्याका ज्ञान होनेपर कुण्डलिनी शक्तिको जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

योगकी सात भूमिकाएँ

संसारके अनुभवसे मुक्ति पाने और परमानन्दका अनुभव प्राप्त करनेके योग नामक मार्गकी योगवासिष्ठके अनुसार सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं वे उन सबको थोड़े ही समयमें पार कर लेते हैं और जो अधिक प्रयत्नशील नहीं होते उनको जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। इन भूमिकाओंका वर्णन योगवासिष्ठमें कई स्थानोंपर (३।११८; ६/१।१२०; ६/१।१२६) आया है। एक स्थानपर उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। ज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं—१. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३.तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्थाभावनी और ७. तुर्यगा। इन सातोंके अन्तमें मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर कोई दुःख नहीं रहता (३।११८।७)।

१. *शुभेच्छा*-संसारसे वैराग्य हो जानेपर जब मनुष्य अपनेको अज्ञानी समझकर शास्त्र और सज्जनोंकी सङ्गति करके सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस अवस्थाका नाम शुभेच्छा है (३।११८।८)।

२. *विचारणा*—शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे और वैराग्य और अभ्याससे सदाचारमें जब प्रवृत्ति होती है, उस अवस्थाका नाम विचारणा है (३।११८।९)।

३. *तनुमानसा*—शुभेच्छा और विचारणाके अभ्याससे इन्द्रियोंके विषयोंमें असक्तता होनेसे मनके सूक्ष्म हो जानेका नाम तनुमानसा है (३।११८।१०)।

४. *सत्त्वापत्ति*—पूर्व तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे और चित्तके विषयोंसे पूर्णतया विरक्त हो जानेपर सत्य आत्मामें स्थित हो जानेका नाम सत्त्वापत्ति है (३।११८।११)।

५. *असंसक्ति*—चारों भूमिकाओंके परिपक्व हो जानेपर जब पूर्णतया मनमें असक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्मतत्त्वमें दृढ स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्थाका नाम असंसक्ति है (३।११८।१२)।

६. *पदार्थाभावनी*—पूर्व पाँचों भूमिकाओंके अभ्याससे और आत्मामें निश्चल स्थिति हो जानेसे जब आन्तर और बाह्य वस्तुओंके अभावकी दृढ़ भावना हो जाती है उस स्थितिका नाम पदार्थाभावनी है। इसकी सिद्धि तब होती है जब कि परमात्माकी सत्ता और पदार्थोंकी असत्ताका बहुत समयतक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय (३।११८।१३-१४)।

७. *तुर्यगा*—पूर्व छः भूमिकाओंके अभ्याससे और पदार्थोंका अनुभव न होनेसे अपने असली स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहनेका नाम तुर्यगा है। जीवन्मुक्त लोगोंको इस अवस्थाका अनुभव होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्थासे परे है (३।११८।१६)।

गीतामें योगका स्वरूप

(लेखक— श्रीकृष्णप्रेमभिखारी)

आजकल योगकी चर्चा सर्वत्र चल रही है परन्तु लोग बहुधा यह भूल जाते हैं कि योगका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता है। अवश्य ही पातञ्जल योगसूत्र, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता तथा अन्य ऐसे धर्मग्रन्थोंमें योगका वर्णन आया है, परन्तु उनमें गीता-जैसा न विस्तार ही है न प्रामाणिकता ही। वे सम्प्रदाय-विशेषके ग्रन्थ हैं। गीताजीके सामने तो सभी सम्प्रदायके आचार्योंने सिर झुकाया है और इसे प्रामाणिक माना है। गीता वेदान्तकी प्रस्थानत्रयीमें एक है। कोई भी आचार्य, चाहे जिस सम्प्रदायका वह क्यों न हो, अपने विचारोंद्वारा तबतक कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता जबतक उसके कथनका समर्थन गीता नहीं करती। केवल भारतवर्षके ही नहीं, अपितु संसारके समग्र उत्कृष्ट धर्मग्रन्थोंमें,— (ऐसे ग्रन्थोंकी संख्या बहुत अधिक नहीं है) जहाँतक मेरी बुद्धि जाती है, उच्च योगके सम्बन्धमें कुछ ही ऐसे ग्रन्थ मिलेंगे जो गीताके समकक्ष माने जायँ! यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गीतासे बढ़कर योगविषयक कोई ग्रन्थ है ही नहीं। इसी परम उच्च योगके सम्बन्धमें बहुत पहले याज्ञवल्क्य मुनिने कहा था—'यह वह प्राचीन दुर्गम सँकरीला मार्ग है जो बहुत दूरतक फैला हुआ है।'

इसमें सन्देह नहीं कि गीताका अभिप्राय योगकी शिक्षा देना है। आरम्भसे अन्ततक सभी अध्यायोंका नाम 'योग' विशेष है और भगवान् श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' कहा गया है। 'योग', 'योगी' और 'युक्त' शब्दका व्यवहार गीतामें शायद सबसे अधिक हुआ है और छठे अध्यायके ४६ वें श्लोकमें तो 'योगी' को साधकोंमें सर्वोत्तम बतलाते हुए भगवान्ने अर्जुनको योगी बननेके लिये आज्ञा दी है।

परन्तु यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है। योगपरम्परामें कई प्रकारके योगका उल्लेख मिलता है— जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग इत्यादि-इत्यादि। इनमेंसे गीता किस योगका समर्थन करती है और किसे सर्वश्रेष्ठ मानकर इतनी प्रशंसा करती है? इसके साथ ही एक और प्रश्न उपस्थित होता है। क्या गीता विभिन्न योगोंको समान मानती हुई किसीका भी अनुगमन श्रेयस्कर मानती है अथवा यह किसी एक 'योग' की शिक्षा देती है? यदि गीतामें किसी योगविशेषकी शिक्षा है तो वह ऊपर लिखे हुए योगोंमें किससे मेल खाता है?

गीताके भाष्यकारोंने इस प्रश्नको और भी उलझन और अन्धकारमें डाल दिया है। ज्ञान, भक्ति और कर्म— जिस मार्गमें उनकी अभिरुचि थी, अपने सम्प्रदायविशेषके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेके लिये उन्होंने गीताका उसी प्रकार अर्थ करके स्वानुमोदित 'योग' की व्याख्या गीताद्वारा करायी है। परिणाम यह हुआ कि साधारण व्यक्ति भाष्यकारोंकी इस खींच-तानको अनुभव करते हुए इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि गीता सभी प्रकारके योगोंका समानरूपसे आदर करती है और इस दशामें उत्तम यही है कि अपनी व्यक्तिगत रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार किसी एक योगका अनुसरण किया जाय! इसमें तो भाष्यकारोंकी अपेक्षा वह साधारण व्यक्ति ही अधिक बुद्धिमान् निकला। परन्तु उससे भी अच्छी बात तो यह है कि राग-द्वेषसे रहित होकर तथा अपने जन्मगत तथा संस्कारगत अथवा स्वेच्छासे ग्रहण किये हुए सम्प्रदायका आग्रह छोड़कर अपनी अन्तर्दृष्टि (Intuition)-से मूलग्रन्थका अनुशीलन किया जाय। इस अन्तर्दृष्टिकी शक्तिके सम्बन्धमें प्लॉटिनस- (Plotinus) का कथन है कि 'यह एक ऐसी शक्ति है जो प्राप्त तो सभीको है, परन्तु जिसका उपयोग कम ही लोग करते हैं।' (a faculty which all possess but few use.) यह एक ऐसी शक्ति है जो व्यवहारमें लानेसे अधिकाधिक बढ़ती है और चुपचाप छोड़ देनेसे घट जाती है।

नीचेकी पंक्तियोंमें जो कुछ निवेदन किया जा रहा है उसमें युक्तियुक्तताके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। मैंने व्यक्तिगत अनुभवोंकी पुस्तकें देखी हैं और शास्त्रीय दलीलोंकी अपेक्षा उनसे मुझे बहुत लाभ हुआ है। मैंने इस लेखमें उस रीतिसे काम नहीं लिया है जिसके द्वारा किसी पुस्तक या कई पुस्तकोंमें समन्वय स्थापित करनेकी दृष्टिसे ही शब्दोंके अर्थमें तोड़-मरोड़ और खींचातानी की जाती है। यह तो

स्पष्ट ही है कि गीताका घनिष्ठ सम्बन्ध उपनिषदों, महाभारत और सम्भवतः ब्रह्मसूत्रों* से है। अस्तु, कोई कारण नहीं कि इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थोंसे भी गीताका बलात् समन्वय स्थापित किया जाय!

गीताके अठारह अध्याय तीन भागोंमें विभक्त हैं—और प्रत्येक विभागमें छः अध्याय हैं। यदि ध्यानसे देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि प्रत्येक छः अध्यायोंमें एक नवीन उपदेश है। पहले छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने प्रायः पाँच प्रकारकी साधनाप्रणालीका वर्णन किया है जो उपर्युक्त योग-साधनाके एक-न-एक अङ्गसे मेल खाता है। अगले छः अध्यायोंमें भगवान्ने अपने उपदेशका मूल अथवा गीताका हृदय खोलकर रख दिया है और अपने शिष्यको दिव्य दृष्टि प्रदान की है। अन्तके छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने कुछ विशिष्ट और दुरूह सिद्धान्तोंकी मीमांसा की है जिन्हें समझना योगको पूर्णतः व्यवहारमें लानेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। कुछ और विस्तारसे देखें तो दूसरे अध्यायमें सांख्ययोगकी प्रणालीका विशद वर्णन है। इसका सम्बन्ध सीधे ज्ञानयोगसे है, परन्तु इसे पीछे लिखी हुई ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकासे मिलाना ठीक न होगा। बहुतोंने ऐसा ही किया है, परन्तु वैसा करना ठीक नहीं है। गीतोक्त सांख्ययोग आजकलका वेदान्तीय ज्ञानयोग भी नहीं है। उसकी व्याख्या तो महाभारतमें ही मिलेगी जिसमें कई प्रकारके सांख्यकी समीक्षा की गयी है और जिसके द्वारा ही गीतामें प्रयुक्त 'सांख्य' शब्दका अर्थ खुलेगा। यहाँ हमारा अभिप्राय इतना ही प्रकट करनेसे है कि गीतोक्त सांख्ययोग ऐसा योग है जो तत्त्वज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है और जिसमें पूर्ण नैष्कर्म्य होता है।

तीसरे अध्यायमें कर्मयोगका विषय है। यहाँ फलेच्छाको त्यागकर विहित कर्मको कर्त्तव्यके रूपमें करनेका आदेश है। चौथे अध्यायका नाम है ज्ञानयोग। पाँचवें अध्यायमें संन्यासद्वारा योगसाधनकी बात कही गयी है। छठा अध्याय, जिसका नाम 'अभ्यासयोग' है (कहीं-कहीं इस अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' अथवा 'अध्यात्मयोग' भी मिलता है), प्रायः उन्हीं बातोंका विवेचन करता है जो 'राजयोग' में आती हैं।

यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यान देनेकी है कि चौथे अध्यायके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण उस योगको जिसकी वह शिक्षा दे रहे हैं, 'अव्यययोग' कहते हैं, (**इमं योगं अव्ययम्**) और यह भी बतलाते हैं कि हम ही इस योगके आदि विधायक हैं। इसके अनन्तर उन्होंने इस योगके आचार्योंकी अत्यन्त पुरातन परम्परा भी बतला दी है। यहाँ यह स्मरण रखनेकी बात है कि भगवान्ने इस स्थलपर एक ही अव्यययोगकी बात कही है, न कि विविध योगोंकी। यह योग केवल इसी अध्यायमें नहीं है, क्योंकि इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि पहले जो कुछ भी हम कह आये हैं वह सब इसमें है!

सबसे अर्थपूर्ण श्लोक इस सम्बन्धमें इस अध्यायका दूसरा श्लोक है जिसमें यह बात कही गयी है कि वही अव्यय पुरातन योग दीर्घ कालके पश्चात् इस संसारमें क्षयको प्राप्त हुआ और गुरु-शिष्य-परम्परासे क्षय होते-होते नष्ट हो गया। यह उक्ति मेरे विचारमें बड़े ही महत्त्वकी है, क्योंकि इससे यह मालूम होता है कि जिस योगकी शिक्षा सनातन श्रीकृष्णने विवस्वान्को दी थी वह योग सबका समावेश करनेवाला एक ही योग था। वह केवल 'योग' था, उसमें और कोई ऐसा विशेषण नहीं था जैसे विशेषण आजकल 'योग' शब्दमें आकर जुटे हैं। गुरु-शिष्य-परम्परासे यह योग ज्यों-ज्यों आगे चला त्यों-त्यों उसमें शाखा-प्रशाखाएँ फूटने लगीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न शिष्योंके भिन्न-भिन्न स्वभाव और अधिकार होनेसे एक ही योगकी अङ्गभूत अनेक बातोंमेंसे किसीको कोई बात सबसे अच्छी लगी तो किसी दूसरेको कोई दूसरी बात। अपनी-अपनी समझ और स्वभावके अनुरूप किसीने ज्ञानको प्रधान माना तो किसीने भक्तिको और किसीने कर्मको, क्योंकि किसीमें सिरकी प्रधानता हुई तो किसीमें हृदयकी और किसीमें हाथोंकी। इस प्रकार एक ही सर्वव्यापी योगके अनेक टुकड़े हो गये और ये टुकड़े एक-एक योग बन बैठे। ऐसे आंशिक योग अच्छे होनेपर भी हैं एकदेशीय ही और उनसे आत्माकी समृद्धि और विविधतामें कुछ-न-कुछ ठेस लगती है।

यह जो योगका टुकड़े-टुकड़े हो जाना है इसीको भगवान् श्रीकृष्ण इस रूपमें कहते हैं कि वह योग

* गीता अ० १३, श्लोक ४ पर शाङ्करभाष्य देखिये।

नष्ट हो गया; (क्योंकि बात भी यही है कि उनके समयमें इन एकदेशीय योगोंके आचार्योंकी भरमार थी, जैसा कि गीतासे ही प्रकट होता है) और इन सब एकदेशीय योगोंको एक योगशिक्षामें समन्वित करके वही पुरातन अव्यय योग अर्जुनको शिक्षा देते हुए पुनः स्थापित कर रहे हैं और वही योग गीताकी मुख्य शिक्षा है और वह विशेष करके द्वितीय षट्कमें है।

सबसे पहले अब यह देखें कि पहले छः अध्यायोंमें जिन एकदेशीय योगोंका वर्णन हुआ है उनको भगवान् कैसे निपटाते हैं। पहले अध्यायको तो छोड़ दीजिये, इसलिये नहीं कि 'इसमें कुछ नहीं है'—इसमें बहुत कुछ है, पर यहाँ जिस विषयकी चर्चा चल रही है उसके साथ पहले अध्यायका कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे और तीसरे अध्यायमें, और फिर अन्यत्र भी श्रीकृष्ण बड़े यत्नके साथ (कर्म-) योगियोंके निष्काम कर्मके साथ सांख्योंके निष्कर्म तत्त्वज्ञानको मिला रहे हैं और यह बतला रहे हैं कि 'सांख्य और योग पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा बालक कहा करते हैं, पण्डित नहीं।' इससे भी बढ़कर बात यह है कि प्रत्येक अध्यायके अन्तमें भगवान् इन दोनों योगपद्धतियोंको पूर्ण करनेके लिये अपने-आपको परमेश्वर बतलाकर अपनी ओर ध्यान दिलाते हैं, क्योंकि इसके बिना योग अपूर्ण ही रह जाते हैं। यथा, द्वितीय अध्यायके ५० वें और ६१वें श्लोकमें भगवान्के दर्शन करने और भगवत्परायण (**मत्परः**) होनेकी बात विशेषरूपसे कही गयी है और इसे सांख्योंके तत्त्वज्ञानमें जोड़कर उसे पुष्ट किया गया है, अन्यथा इसकी उस तत्त्वज्ञानमें उपेक्षा-सी ही थी। कर्मयोगियोंको भी यह बात याद दिलायी गयी है कि केवल कर्तव्य कर्म करना ही पर्याप्त नहीं है—कर्तव्य भी किसको कहेंगे?—यह बड़ा ही सन्दिग्ध शब्द है जिसकी व्याप्तिका कोई ठिकाना नहीं अथवा शास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म ही केवल इसका अर्थ हो जाता है। इसलिये केवल कर्तव्यका भाव होनेसे ही काम नहीं चलता, उसमें ईश्वरार्पणबुद्धि होनी चाहिये, यह बात गीताने जोड़ दी है (**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य**)।

चौथे अध्यायके ज्ञानियोंको यह बात याद दिलायी गयी है कि भगवान्के दिव्य जन्म-कर्मका ज्ञान होना आवश्यक है और ज्ञानियोंको फलासक्तिरहित होनेपर भी और इस रूपसे सूक्ष्मतया कर्मरहित होनेपर भी कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये (**कर्मण्यभिप्रवृत्तः**)। ज्ञानियोंके ज्ञानकी परिसमाप्ति भी यही बतलायी गयी है कि सब जीव भगवान्के अन्दर दीखने लगें। पाँचवें अध्यायके संन्यासयोग-मार्गियोंको भी यह सीखना है कि संन्यास कर्मका नहीं बल्कि कर्मफलका होना चाहिये, और फिर अन्तिम श्लोकमें उन्हीं '**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' भगवान्की बात आती है।

अन्तमें, छठे अध्यायमें राजयोगीको यह बात बतायी जाती है कि जिस आनन्दकी खोजमें राजयोगी है वह आनन्द श्रीकृष्णमें मिलता है (श्लोक १५) और फिर एक बार योगका अन्त दिखाया जाता है श्रीकृष्णके दर्शनमें (श्लोक ३० और ३१) जो प्राणिमात्रके हृदयमें विराज रहे हैं, जिनके बिना योग अपने ही सुखकी खोजका स्वार्थभरा धन्धा हो जाता है जिसमें दीन-दुखी प्राणियोंका आर्त्तनाद भी नहीं सुनायी देता। इस प्रकार भीतरी स्वार्थ जो कैवल्यप्राप्तिसे केवल अपने ही दुःखका अन्त चाहता है, सामान्य प्रकारके राजयोगके मार्गमें बड़ा भारी भय है; राजयोगी इस गड़हेमें न गिरे, इसलिये श्रीकृष्ण अपने-आपको इस योगका केन्द्र और हृदय माननेकी आवश्यकता बतलाते हैं। कारण, जब यह बात समझमें आवेगी कि श्रीकृष्ण सब प्राणियोंके भीतर हैं तब योगीसे दूसरोंके दुःखकी उपेक्षा और केवल अपने ही मोक्षकी चिन्ता न बन पड़ेगी।

इस प्रकार अपने पुराने सनातन योगके विच्छिन्न अङ्गोंको फिरसे जोड़कर भगवान् आगेके छः अध्यायोंमें यह बतलाते हैं कि किस प्रकारसे भगवान्का यह मूल-सूत्रात्मक और समन्वय-साधक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा उस ज्ञानका क्या लक्षण है; क्योंकि उस ज्ञानका लक्षण केवल यह जानना ही नहीं है कि द्वापरके अन्तमें भगवान् मनुष्यरूपमें पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुए और वह पीताम्बर पहने और पीतपट ओढ़े थे। इसलिये अब वह इस ज्ञानको बतलाना इन अर्थपूर्ण शब्दोंके साथ आरम्भ करते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

'हे पार्थ! मुझमें मन लगाकर और मेरा ही आश्रय करके योगमें लगकर तुम जिस प्रकार मुझे निःसंशय समग्ररूपसे जानोगे वह (अब) सुनो।'

यह मुख्य और अखिल महत्त्वपूर्ण ज्ञान ऐसा है 'जिसे जाननेके बाद कोई बात संसारमें जाननेकी नहीं रह जाती', यही बात ७वें और ८वें अध्यायमें समझायी गयी है। यह ज्ञान कितना दुर्लभ है इसका कथन (अ० ७, श्लोक ३ और १९), भगवान्के भक्तोंके प्रकार, अपनी प्रकृतियोंके साथ उनका सम्बन्ध, उनका मन्त्र, उनका परमधाम और उसका रास्ता, ये सब बातें सुस्पष्टरूपसे कही गयी हैं। बड़े सीधे-सादे शब्द हैं, पर उनके भीतर अथाह-सी गहराई है जो ऊपरी दृष्टिमें नहीं आती।

यह परम ज्ञान, जिसे भगवान् राजगुह्य कहते हैं, इसके बादके अध्यायमें भी आगे चला है। इसे स्पष्ट ही 'गुह्यतम' कहा गया है और इसका वर्णन करनेमें भगवान्को श्लोक ४ और ५ में परस्पर विरुद्ध-सी बात विवश होकर कहनी पड़ी है। इससे यह मालूम होता है कि यह ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि कोई ऐसा ज्ञान है जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिसे ही धारण किया जा सकता है। दूसरे श्लोकमें भी एक ऐसा ही अर्थपूर्ण शब्दप्रयोग है। वह है **'प्रत्यक्षावगमम्'** अर्थात् 'प्रत्यक्ष जाननेयोग्य'। इस शब्द-प्रयोगका महत्त्व असाधारण है। यह इस बातको घोषित करता है कि यह अमूल्य ज्ञान, यह राजविद्या, कोई अन्धश्रद्धाकी बात नहीं है जो आँख मूँदकर मान ली जाय; बल्कि जो कोई इस रास्तेपर चलेगा वह इसे प्रत्यक्ष देख और अनुभव कर सकेगा। यह कथन केवल सत्यका ही कथनमात्र है और यह मनुष्यकी स्वतन्त्रताका दिव्य अधिकारपत्र है जिसके सामने केवल विश्वासका धन्धा करनेवाले सम्प्रदायोंकी कूपमण्डूकता कहीं टिकने नहीं पाती और जो 'मरे हुओं' को भी डंकेकी चोट पुकारता और कहता है, 'जागो, उठो और इस रास्तेपर चलो, क्या कब्रमें गड़े पड़े हो!'

फिर देखिये, अध्यायके अन्तमें वह महान् श्लोक (अ० ९। ३४) जो गीताका एक ही श्लोक है जो गीतामें (कुछ नहींसे अन्तरके साथ) दो बार आता है। पर इसके बारेमें पीछे कहेंगे।

दसवें अध्यायका महत्त्व अर्जुनके १७वें श्लोकवाले प्रश्नसे प्रकट होता है। अर्जुन पूछता है कि सर्वव्यापक भगवान्का ज्ञान मैं कैसे जानूँ और किन-किन उपायोंसे मैं उनका ध्यान करूँ और श्रीकृष्ण उत्तर देते हुए अन्तरात्माकी अन्तर्दृष्टिको जगानेका उपाय बतलाते हैं और इस प्रकार अपने शिष्यको वह महान्, उत्तुङ्ग, व्यापक और आश्चर्यजनक दृश्य देखनेके लिये तैयार करते हैं जो इसके बादके अध्यायमें उसकी आश्चर्यभरी दृष्टिपर आ गिरता है जैसा कि आज भी इस पथके पथिकोंकी चकित दृष्टिपर, ठीक समयसे, ऐसा दृश्य आया करता है।

इस भीषण अनुभवके बाद अर्जुनकी घबराहट जब दूर हुई तब बारहवें अध्यायमें भगवान्ने उसे भक्तितत्त्वामृत पान कराया। यह भक्तितत्त्व इस अध्यायके पूर्व भी सब अध्यायोंमें, दूधमें मक्खनरूपसे रहा है और यहाँ वह मक्खन ही निकालकर आगे रखा गया है। भक्ति कैसी होती है और उसके क्या-क्या लक्षण हैं, इसका सुस्पष्ट वर्णन तेरहवें श्लोकसे अन्ततक किया गया है। जो कोई भक्ति करना चाहते हों वे इस वर्णनको मननपूर्वक पढ़ें और उस सच्ची भक्तिको सीख लें जो भक्ति नामसे कभी-कभी पुकारी जानेवाली फेनिल भावुकतासे सर्वथा भिन्न वस्तु है। एक और महापुरुषने ठीक ही कहा है कि 'प्रभु! प्रभु! चिल्लानेवाला हर कोई इस राज्यमें प्रवेश न कर सकेगा, वही प्रवेश करेगा जो वैकुण्ठधामवासी मेरे पिताकी इच्छाके पीछे चलेगा।'

योग बता दिया, अन्तश्चक्षु खोल दिया, विराट्-दर्शन भी करा दिया। सब कुछ हुआ, अब कुछ संकेत बताना रह गया जिनसे शिष्य बताये मार्गसे चल सके और दिये ज्ञानका अभ्यास कर सके। अन्तके छः अध्याय इसी कामके लिये हैं। और केवल अठारहवें अध्यायके अन्तमें मुख्य प्रतिपाद्य विषय उपसंहाररूपसे आता है। संक्षेपमें, पर कभी न भूलनेवाले शब्दोंमें, भगवान्ने अपने उपदेशकी मुख्य बातें सारांशरूपसे कही हैं और तब अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ एक छोटे-से श्लोकमें अपने सम्पूर्ण मार्गका सारतत्त्व, अपने उपदेशका महावाक्य बता दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

'मेरे मनमें अपना मन मिला दो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा यजन करो, मुझे प्रणाम करो। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मुझको ही प्राप्त होगे, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।'

हम सब प्रायः गीताके श्लोकोंको अपनी कल्पनाओंके अनुरूप घुमा-फिरा लिया करते हैं। कुछ लोगोंका यह दावा है कि गीताका सारतत्त्व दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकके **'योगः कर्मसु कौशलम्'** (योग नाम है कर्ममें जो कुशलता है उसका), इन्हीं शब्दोंमें आ गया है। कुछ दूसरे लोग यह बतलाते हैं कि गीताका महावाक्य तीसरे अध्यायका सतरहवाँ श्लोक है। पर सच पूछिये तो भगवान्के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि कहीं कोई युक्तियुक्त सन्देह रह जानेकी कोई गुंजाइश ही नहीं है। ऊपर जो श्लोक दिया हुआ है उसकी यह बात है कि यही श्लोक राजगुह्यवाले अध्यायके अन्तमें प्रायः इसी रूपमें आया है और फिर सम्पूर्ण उपदेशके पश्चात् यही श्लोक इस भूमिकाके साथ आता है कि अब हम तुमसे **'परमं वचः'** कहते हैं। इससे तो बात इतनी स्पष्ट हो जाती है कि शंकाके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। इस श्लोकमें सम्पूर्ण योगका सारतत्त्व—भगवान्की शिक्षाका सारा मर्म आ गया है। इसे हम अच्छी तरहसे समझ लें, क्योंकि इसमें सबका सारांश है।

मनुष्यका स्वभाव त्रिविध है—बौद्धिक,भावुक और कर्मशील—मस्तिष्क, हृदय और हाथ। ये तीन अंग सभी मनुष्योंमें होते हैं, किसीमें किसी अंगका विकास कम और किसीका अधिक होता है और किसी-किसीमें तो इनका परस्पर कोई सामञ्जस्य ही नहीं रहता—इतना बेहिसाब गठन इनका होता है। ये तीनों प्रायः सांसारिक पदार्थोंमें लगे रहते हैं। इन्हें बाह्य पदार्थोंसे निकालकर परमभावमें, परमप्रकाशमें, निष्कलंक एकमेवाद्वितीयमें, स्वयं सनातन श्रीकृष्णकी सेवामें लगाकर दिव्य बनाना होगा।

सबसे पहले भगवान्को जानना होगा, क्योंकि मन-बुद्धि उनकी कर देना है (**मन्मना भव**)। यह पहली बात है, क्योंकि उन्हें जाने बिना न तो उनसे प्रेम किया जा सकता है, न उनकी सेवा की जा सकती है और जैसा कि श्रुति कहती है, 'उनके ज्ञानके बिना सुखका कोई रास्ता नहीं है' (**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**)।

दूसरी बात है उनसे प्रेम करना (**मद्भक्तः**), क्योंकि प्रेमरहित ज्ञान कोई ज्ञान नहीं। इसलिये हृदयको दिव्य बनाना होगा और सिरको भी।

तीसरी बात है, कर्मरूपसे उनकी सेवा करनी होगी; क्योंकि जिस प्रेमसे कर्मका स्रोत नहीं निकलता वह सच्चा प्रेम नहीं है। सब कर्मोंको उन भगवान्की सेवामें लगाकर यज्ञरूप बनाना होगा जो सब प्राणियोंमें निवास करते हैं और जो हजारों, लाखों शरीरोंके हृदयोंमें बैठकर उनके आकाश-पाताल एक करनेवाले हृदयद्रावक आर्तनाद सुना करते हैं और अपनी पक्षपातरहित दृष्टिसे यह देखा करते हैं कि कौन है वह मेरा भक्त बननेकी इच्छा करनेवाला जो इस सेवाके लिये तैयार खड़ा है। इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है कि जङ्गलका कोई दीन वन्य पशु अपने बच्चोंका मारा जाना देखकर जो रोता है वह यथार्थमें वह नहीं रोता, भगवान् हृदयमें बैठे उस कृत्यको अंकित करते हैं और समयके पूरा होनेपर मारनेवालेको उसका बदला चुकाते हैं।

अन्तमें यह आज्ञा है कि भगवान्के चरणोंमें प्रणाम करो, अपना आपा-अपना हर तरहका अहंकार निकालकर फेंक दो और उनके चरणोंकी धूलमें लोट जाओ; क्योंकि प्रणामका वास्तवमें यही अर्थ है, मन्दिरोंमें जाकर केवल बाह्य प्रणाम करना नहीं। आपा छायामात्र भी न रह जाय, यदि हम उनके पास पहुँचना चाहते हैं।

यही गीताका हृदय है, योगोंका योग है और जैसा कि हमलोग देख चुके, यह वह योग है जो मानव प्रकृतिके सब अंगोंको एक सूत्रमें ले आता है। इसके बिना योग क्या? ऐसा विकास किस कामका जिसमें सब अंगोंका सामञ्जस्य न हो? सभी अंग शुद्ध, पवित्र और दिव्य बनें। इसपर यदि कोई कहे कि यह बड़ा कठिन और दुर्गम रास्ता है तो इसका उत्तर यह है कि इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही बतलाते हैं कि 'अनेक जन्मोंके पश्चात् ज्ञानी पुरुष मेरे पास आता है।' अभी या पीछे सबको इसी **'दुर्गं पथम्'** पर-इसी **'क्षुरस्य धारा निशिता'** पर चलना होगा। हाँ, इतनी निश्चिन्तता तो है कि चलते हुए पाँवोंसे चाहे कितना ही रक्त निकले और हृदयका

साहस टूटे, इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् सदा हमारे पार्श्वमें हैं—'हमारे श्वासोच्छ्वाससे भी अधिक पास, हाथ-पैरोंसे भी अधिक समीप' हैं और अज्ञात आरम्भसे लेकर अनन्त अन्तवाले इस लम्बे रास्तेपर एक क्षणके लिये भी हमें कभी अकेला नहीं छोड़ते।

६६ वें श्लोकपर मैंने कुछ नहीं लिखा। इसका कारण यह है कि इसका अर्थ और कोई नहीं समझता, सिवा उन लोगोंके जो उच्च स्थितिको प्राप्त हो चुके हैं और इसलिये मैं उस अत्युज्ज्वल प्रतिज्ञाको अपने दुर्बल वचनोंसे मलिन नहीं करना चाहता।

गुरुजनोंको प्रणाम, प्रणाम उन मुनिजनोंको जो उस पार हैं, प्रणाम उन लोगोंको जिनका ज्ञान संसारको आलोक दिखाता है, और जिनके चरणोंमें जो कुछ सत्य इन शब्दोंमें हो वह सादर समर्पित है।
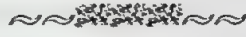
गीतामें योगके अनेक अर्थ

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री, बी० ए०)

हिन्दूतत्त्वज्ञान और हिन्दूजीवनमें 'योग' शब्द सर्वत्र व्यावृत है। श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तिम श्लोकमें भगवान् 'योगेश्वर' कहे गये हैं। जिन मंगलमय शब्दोंमें भगवान्‌का वर्णन किया जा सकता है, ऐसे सब शब्द गीताके दसवें अध्यायमें अर्जुनके '**परं ब्रह्म परं धाम**' आदि भगवदावाहनमें बड़े ही आश्चर्यजनक ढंगसे एकत्र हो आये हैं। इस आवाहन-स्तुतिसे अधिक उदात्त या आकर्षक स्तुति सम्पूर्ण साहित्यभरमें और कहीं भी नहीं है। इस स्तुतिका जो-जो कुछ अर्थ है, इससे जो-जो कुछ सूचित और ध्वनित होता है, वह सब एक 'योगेश्वर' शब्दमें आ जाता है। गीताके इस 'योगेश्वर' शब्दकी व्याख्या करना जितना कठिन है उतना ही गीताका योग क्या है, यह बतलाना कठिन है। दोनों ही काम कठिन ही नहीं, असम्भव हैं। तथापि दोनोंको जाननेका यत्न करना होगा, इसलिये नहीं कि यह प्रयास सफल होगा, बल्कि इसलिये कि इस प्रयासमें भी आनन्द है।

योगका आंतरतम महत्त्व इस बातमें है कि अनात्मकी प्रकृति और गति आत्माकी प्रकृति और गतिसे मूलतः ही सर्वथा भिन्न है। अनात्मा और आत्मा, भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि '**तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभाव**' वाले हैं। आंग्ल महाकवि वर्ड्सवर्थने इस विभिन्नताको, एक दूसरे ही ढंगसे, अपने ही मजेदार तरीकेसे प्रकट किया है। उनकी उस कविताका भावार्थ यह है कि 'पृथ्वी अपनी गोद अपने ही आनन्दोंसे भरती है, वत्सके प्रति उसकी उत्कण्ठा उसके अपने स्वभावके अनुरूप होती है और उसमें एक प्रकारका मातृभाव ही होता है, कोई अनुचित हेतु नहीं। यह धात्री अपने इस मानवरूप पोष्य पुत्रको, जैसे भी बनता है, पालती-पोसती है और इस तरह उस राजप्रासादको जहाँसे कि वह आया और उसके सुखोंको भुला देती है।' कवि फिर आगे कहते हैं, 'हमारा जन्म, एक प्रकारकी निद्रा और विस्मृति है। हमारा आत्मा हमारा जीवन-नक्षत्र जो हमारे साथ ऊपर उठता है, किसी अन्य स्थानसे चला है और बड़ी दूरसे आ रहा है।' अस्तु।

इस वैषयिक जीवनका वास्तविक रूप क्या है? क्षणभङ्गुरता ही उसका स्वरूप है और अतृप्ति सदा उसके पीछे लगी रहती है। सुखके ठीक मध्यतकमें दुःखका विष-बिन्दु होता ही है अथवा जैसा कि कीट्स कविने कहा है कि 'हर्षके मन्दिरतकमें विषादका गर्भमन्दिर होता है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५।२२)

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९।३३)

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
(१३।८)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
(२।२७)

परन्तु आत्मा तो अनन्त और सनातन, मुक्तस्वभाव और आनन्दस्वरूप है। इसी दिव्य प्रतिज्ञाके साथ गीता आरम्भ होती है और तब देहधारी जीवोंकी जो दो प्रकारकी जीवनधाराएँ हैं—एक संसृतिसे संसृतिकी ओर ही ले जानेवाली निम्नधारा और दूसरी संसारके पार पहुँचानेवाली ऊर्ध्वगामिनी धारा—उनका और उनके कारण गुणोंका और फिर गुणोंके कारणस्वरूप अविद्याका विचार होता है।

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गीताके—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

इस श्लोकमें परम योगेश्वर श्रीकृष्णने योगका सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार भर दिया है। हमारे देहयुक्त जीवनमें दुःखका संयोग होता है। इसका जो वियोग है वही योग है। दुःखके संयोगके वियोगका ही नाम योग है। उसी योगमें आत्मा अपनी दिव्यताके साथ स्थित होता है। भगवान् उस स्थितिका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६।२१-२२)

वह अनुभूति अवर्णनीय आनन्दकी स्थिति है। इन्द्रियोंकी वहाँतक पहुँच नहीं है, केवल बुद्धिके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है। वह परा गति है, सुख-दुःखके सर्वथा परे है।

योग शब्द **युज् (समाधौ)**-से प्रायः साधा जाता है। इसका अर्थ है मिलन या योग अर्थात् दुःखसे वियोग और आनन्दके साथ योग। दार्शनिक भाष्यकार प्रायः अपनी पसन्द या प्रकृतिके अनुसार गीतामें किसी-न-किसी विशिष्ट एकदेशीय योगकी ही प्रधानता बताते हैं। परन्तु श्रीकृष्णने इस प्रकारका कोई एकदेशीय योग नहीं बताया है, और जो योग उन्होंने बताया है वह आरम्भमें दुर्गम और क्लेशकर प्रतीत हो तो भी शीघ्र ही सुगम और सुखकर हो जाता है और फिर अन्ततक ऐसा ही रहता है। यही कारण है कि 'इस लोकमें द्विविधा निष्ठा' (३।३) बतलाते हुए यह भी कह देते हैं कि दोनों मार्ग पहुँचते हैं एक ही स्थानको (५।५)।

साथ ही भगवान् यह भी कहते हैं कि कर्मकी समाप्ति आत्मस्थितिमें होती है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
(४।३३)

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(४।३७)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४।३८)

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(५।६)

कर्तव्यकर्मसे कोई कच्चे मनके साथ न भागे। मन जब परिपक्व होगा तब कर्म आप ही उससे छूट जायगा। परिपक्वता ही मुख्य है। (**न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।**) भगवान् बारंबार गीताकी इस मुख्य शिक्षापर जोर देते हैं कि भगवत्प्राप्तिके साधनका सार मर्म वह अनासक्ति और भक्ति है जिससे कर्म नैष्कर्म्यको प्राप्त होता है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म चित्तशुद्धिके साधन हैं और सच्चा त्याग सङ्गत्याग और फलत्याग है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
(३।४)

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥
(६।२)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(१८।९)

इससे यह मालूम होता है कि गीताका योगमार्ग आत्म-मिलन, आत्मानुभव और आत्मरतिका मार्ग है और यह सम्पूर्ण मार्ग एक ही है और वह आनन्दका मार्ग है। उन लोगोंसे मेरा मतैक्य नहीं है जो कर्मयोगको कनिष्ठ और संन्यासयोगको श्रेष्ठ बताते हैं, अथवा जो यह कहते हैं कि कर्मयोगमें जो आनन्द है उससे संन्यासयोगका आनन्द श्रेष्ठ कोटिका है। हाँ, इस बातको

मैं अवश्य मानता हूँ कि 'स्वरूपेऽवस्थानम्' (आत्मस्वरूपमें स्थित) होना अनुभव और आनन्दकी पराकाष्ठा है। गीताका यह वचन है कि कर्मयोगमार्गमें भी शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
(२। ६४-६५)

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२। ७१)

युक्तःकर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
(५। १२)

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ (१२। १२)

कर्मयोगका विवेचन करते हुए श्रीकृष्णने इन शब्दके दो और अर्थ प्रकट किये हैं। एक है, **'समत्वं योग उच्यते'** सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना योग है; दूसरा और **'योगः कर्मसु कौशलम्'** कर्ममें जो कौशल है वह योग है। यह कौशल क्या है? कौशल है वही अनासक्ति और भक्ति जिनसे बन्धनकारक कर्म मोक्षदायक कर्म हो जाता है और कर्म ज्ञान बन जाता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(२। ५१)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३। ९)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
(४। २०)

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
(४। ४१)

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(५। ७)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५। १०)

यहाँतक गीताके 'योग' शब्दके अर्थपर सामान्य विचार और कर्मयोगान्तर्गत 'योग' का विशेष विचार हुआ। कर्मयोग चित्तशुद्धिका साधन है। भगवान् श्रीकृष्णके कर्मयोगमें पातञ्जलयोगदर्शनके वे यम और नियम सांगोपांग आ जाते हैं जिनसे 'चित्तप्रसादन' होता है, यमनियमसे यह कर्मयोग अधिक व्यापक है और फिर इसमें यह विशेषता है कि इसमें ईश्वरार्पणबुद्धि है जो योगसूत्रोंमें नहीं है। चित्तशुद्धिसे चित्तैकाग्र्य होता है जैसा कि गीताके छठे अध्यायमें कहा है। चित्तैकाग्र्यको प्राप्त योगी अन्तःसुख और अन्तर्ज्योतिको प्राप्त करते हैं। **'अन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः'** (५। २४)। ऐसे पुरुषको श्रीकृष्ण योगी कहते हैं जो 'तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे' श्रेष्ठ है और इसीलिये अर्जुनको उपदेश है कि, **'तस्माद्योगी भवार्जुन'** (६। ४६)।

वह कठिन राजयोगमार्ग जिससे सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, गीताके ८वें अध्यायमें वर्णित है। उससे अर्जुन चकित—स्तम्भित हो जाता है। इसलिये भगवान् सुगम सुखपूर्वक साध्य भक्तिमार्ग बतलाते हैं और इसीको राजविद्या कहते हैं। इस विद्याका सबको अधिकार है और इसमें स्वयं भगवान् ही हमारे ध्येय और ध्येयके पास पहुँचानेवाले मार्गदर्शक हैं। भगवान् भक्तियोगीको 'युक्ततम' बतलाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६। ४७)

इसी योगमें १०वें अध्यायका विभूतियोग और ११वें का विश्वरूपदर्शनयोग सम्मिलित है। भगवान् कहते हैं कि अकेला भक्तियोगी ही परमात्माके इस विश्वरूपको देख सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।
(११। ५४)

यह भक्तियोग एक तरफ कर्मयोग और राजयोगसे और दूसरी तरफ अक्षर-उपासना तथा ज्ञानयोगसे सम्बद्ध होता है। १२वें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि अक्षर-उपासनासे भक्तियोग सुगम है और भक्त सदा सन्तुष्ट (**सन्तुष्टः सततम्**) रहता है (१२। १४) और भक्तियोगका मार्ग भी धर्म्य और अमृत है (**धर्म्यामृतमिदम्**) (१२। २०)। १३वें अध्यायमें भक्तिको ज्ञानका एक अङ्ग कहा है।

ज्ञानयोगमें जाकर भक्तिकी पूर्ण सार्थकता होती है। भगवान् कहते हैं कि कर्मकी परिसमाप्ति ज्ञानमें होती

है (४। ३३) और ज्ञानी ही आत्मा है (**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्** ७। १८)।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७। १६—१९)

अद्वैतदर्शनका यह सिद्धान्त है कि जीवात्मैक्यबोध ही परम बोध है।

इस प्रकार गीतामें योगके अनेक अर्थ श्रीयोगेश्वरके द्वारा निरूपित हुए हैं। इस बातको यदि हमलोग समझें और तदनुसार चलें तो इससे अपना और राष्ट्रका भी उद्धार होगा। भगवान्‌की दया और हमारी ऊपर उठने और मोक्ष सांधनेकी उत्कण्ठा, ये दो इस उद्धार-साधनमें मुख्य बातें हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८।७८)

गीतोक्त भक्तियोग वा प्रेमलक्षणा भक्ति

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

श्रीमद्भगवद्गीताके १८वें अध्यायके अन्तमें उपदेश समाप्त करते समय श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

अर्थात् (ज्ञानलाभ होनेपर) ब्रह्मस्वरूप होकर जीव प्रसन्नात्मा हो जाता है, उसे शोक नहीं होता, किसी वस्तुकी अभिलाषा भी नहीं रहती, वह सब प्राणियोंके प्रति समत्व-बुद्धि-सम्पन्न हो जाता है; इस प्रकारका होकर वह, मुझमें पराभक्तिको प्राप्त करता है।

उस पराभक्तिके द्वारा ही वह मेरा वास्तविक क्या स्वरूप है और मेरी क्या महिमा है इसे जाननेमें समर्थ होता है, तथा इस प्रकार मेरा वास्तविक तत्त्व समझकर उसके बाद मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

इन दोनों श्लोकोंमें जिस 'भक्ति' शब्दका प्रयोग देखा जाता है, उसके अर्थका निर्णय करते हुए भगवत्पाद आचार्य श्रीशङ्करने कहा है—

एवम्भूतो ज्ञाननिष्ठो 'मद्भक्तिं' मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनम्, परमाम् उत्तमाम् ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्युक्तम्।

"इस प्रकार ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति 'मद्भक्ति' अर्थात् मुझ परमेश्वरकी परमा अर्थात् उत्तमा भक्तिको प्राप्त करता है; इस परमा भक्तिसे चतुर्थी भक्ति सूचित होती है, क्योंकि इसके पहले ही भगवान्‌ने कहा है— '**चतुर्विधा भजन्ते माम्**' अर्थात् आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी मेरा भजन करते हैं, उसके अनुसार ज्ञानीकी जो भक्ति है, वही चतुर्थी भक्ति है और वही उत्तमा है।" दूसरे श्लोककी व्याख्याके प्रसङ्गमें उन्होंने कहा है—

'ततो ज्ञानलक्षणया भक्त्या मामभिजानाति, यावानहमुपाधिकृतविस्तरभेदः, यश्चाहं विध्वस्तसर्वोपाधिभेदोऽभिमत उत्तमपुरुष आकाशकल्पस्तं मामद्वैतं चैतन्यमात्रैकरसमजरममरमभयनिधनं तत्त्वतोऽभिजानाति। ततो माम् एवं तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरं मामेव। नात्र ज्ञानानन्तरप्रवेशक्रिये भिन्ने विवक्षिते, ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् इति। किं तर्हि? फलान्तराभावाज्ज्ञानमात्रमेव।

"उसके बाद ज्ञानरूप भक्तिके द्वारा मुझको प्रत्यक्षरूपसे जान सकता है, (अर्थात्) जितने प्रकारके उपाधिकृत भेदोंसे युक्त (होकर मैं जितने प्रकारका होकर रहता हूँ) एवं सब प्रकारकी उपाधिसे शून्य मैं अभिमत होकर रहता हूँ अर्थात् आकाशकल्प पुरुष (अर्थात्) चैतन्यमात्र, एकरस, अभय, अजर, अमर और अद्वैतस्वरूप—इस प्रकार मुझको ही जानकर वह तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। यहाँपर 'जानकर तदनन्तर प्रवेश कर जाता है'—इस प्रकार कहनेमें ज्ञान और अनन्तर प्रवेश—ये दो क्रियाएँ विवक्षित नहीं हैं। तो क्या है? ब्रह्मज्ञानका

दूसरा कोई फल न होनेके कारण यहाँपर केवल ब्रह्मका साक्षात् ज्ञान ही प्रतिपादित हुआ है।''

गीताके इन दो श्लोकोंमें प्रयुक्त भक्ति शब्दकी व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती आदि प्रधान सुप्रसिद्ध टीकाकारोंने भी आचार्य शङ्करके मतका अनुसरण करते हुए कहा है कि अद्वैत ब्रह्मज्ञाननिष्ठा या चरम ब्रह्मसाक्षात्कार ही यहाँपर परमाभक्ति है। विस्तारभयसे हम यहाँ उनकी उक्तियोंको उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

अद्वैतवादियोंके मतानुसार ब्रह्मसाक्षात्कार या ज्ञाननिष्ठा ही गीताका भक्तियोग है। यह भक्तियोग ज्ञानसे विलक्षण नहीं है, इस बातको आचार्य शङ्कर आदि अद्वैतवादी पूज्यपाद आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। किन्तु बंगालके 'प्रेमके ठाकुर' श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्रीरूप गोस्वामिपाद आदि प्रधान गौड़ीय वैष्णव आचार्य गीताके इन दो श्लोकोंमें प्रयुक्त भक्ति शब्दका अर्थ 'निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कार-रूप भक्ति है' इसे स्वीकार नहीं करते, उनके मतमें यह पराभक्ति केवल ज्ञानरूपा भक्ति नहीं, बल्कि यही भगवद्गीतोक्त प्रेमाभक्ति है, यह प्रेमाभक्ति निर्गुण ब्रह्म ज्ञानकी चरम अवस्था नहीं है, बल्कि यह चिन्मात्रैकरस आनन्दघन सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान्‌के प्रति निष्काम प्रेमलक्षणा भक्ति है, इसीका दूसरा नाम है रागात्मिका भक्ति। गीताके ही एकादश अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने और भी स्पष्ट रूपमें निर्देश किया है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
(११।५४)

'हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं (अर्थात् परमेश्वर) इस प्रकार तत्त्वतः—परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानसे गोचर होता हूँ और फिर इस भक्तिके द्वारा ही भक्त मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

यहाँपर भी भक्तिद्वारा श्रीभगवान्‌का परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान तथा भक्तका उसमें प्रवेश, ये तीनों क्रियाएँ स्पष्टरूपसे पृथक्-पृथक् हैं, अतएव अद्वैतमतके अनुसार इन कई श्लोकोंके 'भक्ति' शब्दकी व्याख्या करनेपर गीताके मुख्य अर्थको छोड़कर लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना पड़ता है। भक्तावतार श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्रीरूप गोस्वामिपाद प्रभृति प्रेमीभक्त आचार्यगण इसी कारण गीतोक्त इस भक्तिको 'अद्वैतवादसम्मत निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्काररूप' भक्ति नहीं मानते। वे कहते हैं कि इस भक्ति शब्दका अर्थ रागात्मिका या प्रेमलक्षणा भक्ति ही है।

इस परा या उत्तमा भक्तिका स्वरूप क्या है, इसे समझाते हुए श्रीरूप गोस्वामिपादने स्वप्रणीत 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थमें जो कुछ कहा है, वह भी यहाँपर विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। वह कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

'श्रीकृष्णसम्बन्धी अथवा श्रीकृष्णके निमित्त जो अनुकूल अनुशीलन (अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया) है, वही भक्ति शब्दका सामान्य अर्थ है। वह अनुकूल अनुशीलन ज्ञान और कर्मके द्वारा यदि अनावृत हो एवं श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाशून्य हो तब उसे उत्तमा भक्ति कहते हैं।'

जो अनुशीलन अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाहीन होनेके साथ ही आनुकूल्यसमन्वित अर्थात् केवल श्रीकृष्णविषयक स्पृहासे युक्त है, वही अनुशीलन उत्तमा भक्ति है; यह उत्तमा भक्ति प्रेमाभक्तिके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकती; इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए श्रीरूप गोस्वामिपादने श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित दो श्लोकोंका भी उल्लेख किया है—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एष भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
(३।२९।१२—१४)

भगवान् श्रीकपिलदेव माता श्रीदेवहूतिको सम्बोधन करके कहते हैं—

हे माता! इस अहैतुकी (अर्थात् अन्याभिलाषिताशून्य) और अव्यवहिता (अर्थात् ज्ञान और कर्मादिरूप आच्छादनरहित) मानसिक गतिरूपा भक्तिको जिन्होंने प्राप्त किया है वे भक्त मुझसे अन्य किसी फलकी इच्छा तो दूर रही, उनको यदि सालोक्य (मेरे साथ समान

लोकमें वास), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य), सामीप्य (सर्वदा मेरे पास रहना), सारूप्य (मेरे समान रूप) अथवा एकत्व (मेरे साथ अभेद)—इन कई प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे कोई-सी भी दी जाय तो उसे भी वे ग्रहण नहीं करते, प्रेमवश मेरी सेवाको ही वे परम पुरुषार्थ जानकर उसीके लिये प्रार्थना करते हैं। तथा मेरी सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते।

वह सेवा प्रीतिपूर्वक होनेपर ही 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन' रूपा भक्ति होती है, यही है भक्ति शब्दका मुख्य अर्थ—यही श्रीरूप गोस्वामिपादने उक्त श्लोकके द्वारा सिद्ध किया है।

इस प्रीतिके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए वैष्णवाचार्य श्रीजीव गोस्वामिपादने स्वप्रणीत 'षट्सन्दर्भ' ग्रन्थके प्रीति-सन्दर्भ प्रकरणमें जो कुछ कहा है, वह भी यहाँपर विशेष ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा है—

'प्रीतिशब्देन खलु मुत्प्रमदहर्षानन्दादिपर्यायं सुखमुच्यते, भावहार्दसौहृदादिपर्यायप्रियताचोच्यते। तत्र उल्लासात्मको ध्यानविशेषः सुखम्। तथा विषयानुकूल्यात्मक-स्तदानुकूल्यानुगततत्स्पृहातदनुभवहेतुकोल्लासमयज्ञानविशेषः प्रियता। अतएवास्यां सुखत्वेऽपि पूर्वतोवैशिष्ट्यम्। तयोः प्रतियोगिनौ च क्रमेण दुःखद्वेषौ। अतः सुखस्योल्लास-मात्रात्मकत्वादाश्रय एव विद्यते न तु विषयः। एवं तत्प्रतियोगिनो दुःखस्य च। प्रियतायास्तु आनुकूल्य-स्पृहात्मकत्वाद् विषयश्च विद्यते। एवं प्रातिकूल्यात्मकस्य तत्प्रतियोगिनो द्वेषस्य च। तत्र सुखदुःखयोराश्रयौ सुष्ठुदुष्टकर्माणौ जीवौ। प्रियताद्वेषयोराश्रयौ प्रीयमाणद्विषन्तौ विषयौ च तत्प्रियद्वेष्यौ।'

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि—

'प्रीति' शब्दका अर्थ है 'सुख' और 'प्रियता'; इनमें 'सुख' शब्दके और भी कई पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे मुद्, प्रमद, हर्ष और आनन्द आदि। 'प्रियता' शब्दके भी कई पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे भाव, हार्द और सौहृद प्रभृति। 'सुख' शब्द उल्लासरूप जो ज्ञानविशेष है, उसीको जताता है। 'प्रियता' शब्द भी उल्लासरूप ज्ञानविशेषका ही यद्यपि बोध कराता है, तथापि यह उल्लासात्मक ज्ञानविशेष, विषयात्मक वस्तुके प्रति जो आनुकूल्य है, तत्स्वरूप भी हो जाता है, और उस आनुकूल्यके साथ सदा सम्बद्ध जो प्रिय वस्तुकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा और प्रिय वस्तुका अनुभव है, उन दोनोंके साथ मिश्रित या तन्मय भी हो जाता है। उल्लासमय सुखरूप ज्ञानविशेष यदि प्रियजनके लिये होनेवाली अभिलाषा और प्रियविषयक अनुभूतिके साथ मिलता है तब वह प्रीति शब्दका मुख्य अर्थ होता है, यही उसका संक्षिप्त वर्णन है। प्रियता सुखस्वरूप होनेपर भी प्रिय वस्तुके प्रति अभिलाष और प्रिय वस्तुकी अनुभूति इसमें विद्यमान रहती है, इस कारण यह, केवल सुखरूप जो ज्ञान या मनोवृत्तिविशेष है, वह होनेपर भी इसमें विशेषता रहती है। यहाँपर एक और भी ध्यान देनेकी बात है कि सुखके विपरीत दुःख होता है और प्रियताके विपरीत द्वेष होता है। चूँकि सुख केवल उल्लासस्वरूप होता है, उसी कारणसे उसका आश्रय ही प्रसिद्ध है, उसका विषय अन्य कोई वस्तु नहीं होती। इसी तरह सुखके विरुद्ध जो दुःख है, उसका भी आश्रय विद्यमान है, अन्य कोई वस्तु उसका विषय नहीं है। परन्तु प्रियता आनुकूल्यात्मक अभिलाषास्वरूप होती है, इस कारण इसके आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान रहते हैं। इसी तरह इस प्रियताके विरुद्ध जो प्रतिकूलता या द्वेष है, उसके भी आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान हैं। पुण्यात्मा जीव सुखका आश्रय होता है और पापात्मा जीव दुःखका आश्रय होता है। इसी तरह आनन्दका अनुभव करनेवाला प्रियताका आश्रय होता है और विद्वेष्टा द्वेषका आश्रय होता है; जो वस्तु प्रिय है वह प्रियताका विषय होती है एवं जिसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है वह द्वेषका विषय माना जाता है।

श्रीजीव गोस्वामिपादकी इस प्रकारकी उक्तिके द्वारा यही सिद्ध होता है कि प्रीतिरूपा भक्ति अभिलाष और उल्लासमय ज्ञानविशेष होनेके कारण वह श्रवणादिजन्य निर्विशेष ब्रह्मज्ञानकी चरमावस्था अथवा निर्गुण ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूतिमात्र नहीं मानी जा सकती।

परम भक्त श्रीप्रह्लादने भी श्रीभगवान्का साक्षात्कार लाभ करके मुक्ति अथवा निर्वाणके लिये प्रार्थना नहीं की, बल्कि उन्होंने यही कहा कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥

(विष्णुपुराण)

'विवेकशून्य सांसारिक जीवोंकी स्त्री, पुत्र, धन

और ऐश्वर्य आदि विषयोंमें जैसी निरन्तर प्रीति रहती है, हे भगवन्! आपके स्मरणके फलस्वरूप (आपके प्रति) वैसी ही प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

यह प्रीतिलक्षणा भक्ति किसी प्रकारके पुरुषार्थका साधन नहीं, वरं यही चरम पुरुषार्थ है। और यह मुक्तिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बात भी साक्षात् श्रीमद्भागवतमें ही कही गयी है। यथा—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।

(श्रीमद्भा० ३। २४। ३१)

अहैतुकी अर्थात् प्रीतिरूपा भगवद्भक्ति सिद्धि (अर्थात् ज्ञान और मुक्ति)-से भी श्रेष्ठ है। इस श्लोककी व्याख्या करते समय टीकाकार श्रीधर स्वामीने कहा है— **'सिद्धेर्मुक्तेरपि'** (सिद्धि अर्थात् मुक्तिसे भी)। श्रीभगवन्नाम-कौमुदीमें भी लिखा है— **'सिद्धेर्ज्ञानात् मुक्तेर्वा'** (अर्थात् सिद्धि शब्दके अर्थ ज्ञान अथवा मुक्ति दोनोंसे ही भक्ति श्रेष्ठ है।)

निर्गुण ब्रह्मवादियोंके मतसे मुक्तिमें अहंभावका लय हो जाता है; किन्तु भक्तिवादी आचार्योंका कहना है कि अहंभावका विनाश यदि मुक्ति है तब तो आत्मविनाश और मुक्ति एक ही चीज हो जाती है। इस कारण वह किसी भी विवेकी पुरुषके लिये स्पृहणीय नहीं हो सकती। दूसरी ओर यह भगवत्प्रीतिरूपा भक्ति उसी अपूर्ण अहमर्थको, निरन्तर श्रीभगवत्स्वरूपकी आनन्दमय स्फूर्तिका सम्पादन करके पूर्ण बना देती है, इसी कारण अध्यात्मशास्त्र निःसङ्कोचभावसे कहते हैं—

निरहं यत्र चित्सत्ता तुर्या मुक्तिरिति स्मृता।
पूर्णाहन्तामयी सैव भक्तिरित्यभिधीयते॥

(उद्धृत षट्सन्दर्भमें जीव गोस्वामिद्वारा)

'अहंभावसे रहित होनेपर चैतन्य सत्ताको तुरीय मुक्ति कहते हैं, वही चैतन्य सत्ता यदि परिपूर्ण अहंभावसे युक्त हो जाती है तभी वह (भगवत्प्रेमरूपा) भक्तिरूपा हो जाती है।'

यह प्रेमा भक्ति या अहैतुकी भगवद्भक्ति ही मानवजन्मको सब प्रकारसे सफल बनाती है। 'पूर्णाहन्तामयी' विशेषण इस बातको विशेषरूपसे सूचित करता है। ऐसा कहनेका कारण यह है कि सब प्रकारके प्राणियोंकी सब प्रकारकी देहोंकी अपेक्षा मानवदेहका समुत्कर्ष अथवा मुख्य प्रयोजन क्या है, यह श्रीमद्भागवतके निम्नोद्धृत श्लोकमें अत्यन्त सुन्दर रूपमें वर्णित है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः॥

'देव— श्रीभगवान्ने अपनी अनादि शक्तिके द्वारा वृक्ष, सरीसृप, पशुसमूह, पक्षी, दंश और मत्स्य इत्यादि नाना प्रकारके पुर अर्थात् देहोंका निर्माण किया, किन्तु उन सब देहोंके द्वारा उन्हें सन्तोष या तृप्ति नहीं प्राप्त हुई; तब उन्होंने पुरुष अर्थात् मनुष्यदेहका निर्माण किया और उससे उन्हें तृप्ति मिली। क्योंकि मनुष्यदेहमें बुद्धि या अन्तःकरण है, उसीमें ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति उत्पन्न होती है।'

इस श्लोककी विस्तृत व्याख्या किये बिना इसका वास्तविक तात्पर्य अच्छी तरह समझमें नहीं आवेगा; अतएव यहाँ कुछ विस्तारसे लिखा जाता है—

श्रुतिमें सृष्टि-वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है— **'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी नैव रमते, स द्वितीयमैच्छत्।'**

(बृहदारण्यक उप०)

'उस परमात्माको तृप्ति नहीं मिलती थी, (कारण, वह उस समय अकेले थे) इसीलिये (देखा जाता है कि) जब कोई अकेला रहता है तब उसे तृप्ति नहीं प्राप्त होती, उन्होंने दूसरा कोई हो, ऐसी इच्छा की।' और कोई न रहनेके कारण उन्हें अर्थात् परमात्माको आत्माराम और पूर्णकाम होनेपर भी तृप्ति नहीं होती थी, यह बात बिलकुल असंगत-सी प्रतीत हो सकती है; किन्तु वास्तवमें इसमें किसी प्रकारकी असङ्गति नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें ही देखा जाता है कि **'रसो वै सः'**, वह रसस्वरूप हैं, केवल रसस्वरूप ही नहीं, वह—सब प्रकारके कल्याणमय गुणोंके एकमात्र आधार, समस्त सौन्दर्यके वही सार और समस्त माधुर्यके वही पार, वही सत्, वही चित्, वही आनन्द हैं, उन्हींके सौन्दर्यका एक कणमात्र सकल ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट होकर चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और ग्रहोंको प्रकाशित करता है तथा सुन्दर बनाता है; उन्हींकी महिमासे सब प्राणी महत्ताके आवेशसे आभासित होते हैं। उनके स्वरूपका वर्णन करती हुई श्रुति सङ्कोच छोड़कर कहती है—

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ रथनेमौ च अराः सर्वे समर्पिता एवमेव अस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।

(बृहदारण्यक०)

'यही वह—रसस्वरूप आत्मा सब भूतोंके अधिपति, सब प्राणियोंके राजा हैं, जैसे रथकी नाभिमें और रथकी नेमिमें सब अरे अर्थात् टेढ़े-टेढ़े काठके टुकड़े समर्पित होते हैं, वैसे ही उस परमेश्वरमें—आत्मामें—सब भूत, सब देवता, सब प्राण और सब जीव समर्पित हैं।' यह परमात्मा सर्वेश्वर हैं, फिर भी इनका ईशितव्य नहीं है। यह सर्वसुन्दर हैं फिर भी इनका भोक्ता तथा भोगमें चरितार्थ होने योग्य द्रष्टा नहीं है। इससे इनका अतृप्त होना स्वाभाविक है; चन्द्रमाका सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसे देखकर किसीकी आँखें शीतल न हों? सुगन्धित पुष्पसमूहकी सुगन्धि और सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसका कोई भोक्ता न रहता? अतएव रसमय सर्वसुन्दरका अकेले रहकर अतृप्त होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस अतृप्तिकी परिणति ही उनकी बहु होनेकी इच्छा है, इसीसे श्रुति कहती है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय।

'उन्होंने सङ्कल्प या इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ, मैं प्रकृष्टरूपसे जन्म ग्रहण करूँ।'

अनादि अचिन्त्य और विचित्र जिनकी शक्ति है, उनकी इच्छा होनेके साथ ही एक अचिन्त्य घटना घटी; क्या घटी? श्रुति कहती है—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति। एवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। (बृहदारण्यक० २। १। २०)

'जिस तरह राशीकृत प्रचण्ड दीप्यमान अग्निसे चारों ओर स्फुलिङ्ग निकलते हैं, उसी तरह (अपने सौन्दर्य, अपने माधुर्य, अपनी महिमा और अपनी विभूतिको अपनेसे अलग करके अच्छी तरह देखनेकी इच्छा होते ही) उस परमात्मासे सब प्राण (अर्थात् मुख्य प्राण और इन्द्रियसमूह), भूरादि भोग्य वस्तुसमूह, सब देवता और ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब प्राणी उत्पन्न हुए।'

श्रुति-वर्णित इस सृष्टिप्रक्रियाके अनुसार श्रीमद्भागवतमें उक्त श्लोककी रचना हुई है। उक्त श्लोकका निगूढ़ तात्पर्य यही है कि रसरूप, आनन्दमय, चैतन्यस्वरूप, लीलानिरत, सर्वशक्तिमान् एक अद्वितीय परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति ही मानव-जीवनकी परम सफलता है। इस परमात्मानुभूतिके अनुकूल मनुष्यका ही अन्तःकरण है, दूसरे किसी प्राणीका नहीं है। इसी कारण अनुकूल देहके आश्रयमें आत्मदर्शन करके तृप्त होनेकी इच्छासे श्रीभगवान् मानवदेह निर्माण करके ही सन्तुष्ट हुए थे। पृथ्वीपर विशेषकर पुण्यक्षेत्र इस भारतमें मानव-जन्म पाकर मनुष्य यदि इस जन्मप्राप्तिके साफल्यकी बातको भूल जाय और अन्य प्राणियोंकी तरह वैषयिक आनन्द प्राप्त करनेके लिये संसारमें भटकता रहे,—धनके लिये, रमणीके लिये, ऐश्वर्यके लिये, यशके लिये उन्मत्त होकर, काम, क्रोध और मोहके वशीभूत होकर, व्यष्टिभावसे या समष्टिभावसे जगत्में युद्ध, कलह और अशान्तिका निरन्तर प्रवाह उत्पन्न करता रहे, तो यह समझना चाहिये कि उसका मनुष्यजन्म सर्वथा विफल हो गया। यही है भारतीय सभ्यता या सनातन हिन्दूधर्मका सारात्सार उपदेश, यही है सनातन हिन्दूसभ्यताकी शाश्वत सुदृढ़ भित्ति, इसी भित्तिके ऊपर कर्म, ज्ञान और भक्ति यह त्रिविध साधनरूप चतुर्वर्गफलप्रद महाप्रासाद निर्मित हुआ है। इसे प्रत्येक सनातनधर्मी हिन्दूको सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिये। यही है '**सृष्ट्वा पुराणि**' इत्यादि भागवतोक्त श्लोकका निगूढ़तात्पर्य।

इस प्रेमरूपा भक्तिके फल और स्वरूप-निर्णयके प्रसङ्गमें श्रीरूप गोस्वामिपादने जो कहा है वह भी यहाँ सर्वथा ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'वह पराभक्ति क्लेशघ्नी, शुभदा, मोक्षलघुताकृत्, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्दविशेषरूपा और श्रीकृष्णाकर्षिणी होती है।'

१. *क्लेशघ्नी*—अर्थात् इस भक्तिके उत्पन्न होनेपर सब प्रकारके क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

क्लेश शब्दका अर्थ है—

क्लेशास्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति ते त्रिधा।

'पाप, पापका बीज और अविद्या—ये तीन प्रकारके क्लेश होते हैं।'

अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा।

'पाप दो प्रकारका है—अप्रारब्ध और प्रारब्ध।' भक्ति इन दोनों प्रकारके पापोंका नाश करती है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

श्रीभगवान् भक्तश्रेष्ठ उद्धवसे कहते हैं—'हे उद्धव! जिस तरह सुप्रदीप्त अग्नि काष्ठसमूहको भस्मसात् कर देती है उसी तरह मद्विषया प्रेमरूपा भक्ति सब प्रकारके पापोंका विनाश कर देती है।' अर्थात् यह केवल सञ्चित और क्रियमाणरूप अप्रारब्ध पापको ही विनष्ट करती है, सो बात नहीं, यह प्रारब्ध कर्मको भी नष्ट करती है। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें कहा गया है—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यच्छ्रवणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

देवहूति श्रीभगवदवतार कपिलदेवसे कहती हैं, (भक्तियुक्त होकर)) जिनका नाम सुनने और निरन्तर कीर्तन करनेसे, जिनको प्रणाम करने तथा कभी भी स्मरण करनेसे चाण्डाल प्रभृति अन्त्यज जातिके लोग भी सद्यः यज्ञानुष्ठान करनेके योग्य हो जाते हैं, हे भगवन्! उन आपके साक्षात् दर्शनसे जो लाभ होता है, उसके विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है?

इस श्लोकमें, हरिभक्ति प्रारब्ध कर्मको भी विनष्ट कर देती है, यह बात 'चाण्डाल भी भक्तिके प्रभावसे सद्यः अर्थात् वर्तमान जन्ममें ही यज्ञादि कर्म करनेके योग्य हो जाता है'—इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट ही कही गयी है। कारण—

दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम्।
दुर्जात्यारम्भकं पापं यत् स्यात् प्रारब्धमेव तत्॥

'चाण्डालादिका यज्ञादि कर्ममें जो अनधिकार है, उसका कारण है उनकी दुर्जाति; उस दुर्जातिका आरम्भक जो पाप है, वह प्रारब्ध कर्म ही होता है।' पद्मपुराणमें भी यही बात कही गयी है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत हरिभक्तिरतात्मनाम्॥

'जो लोग हरिभक्तिमें अनन्यभावसे अनुरक्त हो जाते हैं, उनके अप्रारब्धफल, कूट, बीज और फलोन्मुख—ये चारों प्रकारके पाप क्रमशः विनाशको प्राप्त हो जाते हैं।'

यह भक्ति ही अविद्याको भी नष्ट करती है। इसमें भी प्रमाण इस प्रकार है—

कृतानुमात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम्॥

(पद्मपुराण)

'दावानलकी शिखा जिस प्रकार सर्पिणीको दग्ध कर डालती है, उसी प्रकार समस्त विद्याके साथ अनुगम्यमान होकर यह अत्युत्तमा हरिभक्ति तुरन्त अविद्याको भी दग्ध कर डालती है।'

(२) *शुभदा*—

शुभ शब्दका अर्थ है—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः॥

'सब प्राणियोंके प्रति प्रीति, सबका अनुराग, सद्गुण एवं सुख इत्यादि इस शुभ शब्दका अर्थ है।' पद्मपुराणमें लिखा है—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रमन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥

जो व्यक्ति श्रीहरिकी अर्चना करते हैं, वे समूचे जगत्को परितृप्त करते हैं; अधिक तो क्या, स्थावर और जङ्गम समस्त प्राणी उनके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं।

भक्ति सब प्रकारके सद्गुण प्रदान करती है, यह श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वै गुणास्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्णके प्रति जिनकी अकिञ्चना अर्थात् निष्काम प्रीतिलक्षणा भक्ति होती है, उनमें वशीभूत होकर सब गुणोंके साथ देवता वास करते हैं; और श्रीहरिमें जिसकी भक्ति नहीं है, वह बहिर्जगत्में मिथ्या वस्तुओंके प्रति आसक्त

होकर दौड़ा फिरता है, इस कारण उसमें सद्गुण कैसे रहेंगे?'

सुख तीन प्रकारका है—

सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरञ्चेति तत्त्रिधा॥

'वैषयिक, ब्राह्म और ऐश्वर भेदसे सुख तीन प्रकारका कहा गया है।'

तन्त्रशास्त्रमें कहा है—

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यञ्च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः॥

'जिस व्यक्तिकी भक्ति श्रीगोविन्दचरणमें हो गयी है, उसे अणिमादि आश्चर्यजनक सिद्धियाँ, वैषयिक सुखभोग, नित्य परमानन्दस्वरूप ऐश्वरिक सुख तथा सर्वदुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।'

(३) हरिभक्ति मोक्षको तुच्छ कर देती है—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥

'हृदयमें श्रीभगवान्‌के प्रति अनुराग अङ्कुरित होते ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ चारों ओरसे तृणके समान तुच्छ हो जाते हैं।'

यही नारदपाञ्चरात्रमें भी कहा गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुताश्चापि सेविकावदनुव्रताः॥

'जिस तरह दासियाँ सम्मानपूर्वक सर्वदा महारानीके पीछे-पीछे चलती हैं, उसी तरह भुक्ति-मुक्ति आदि अद्भुत सिद्धियाँ भी हरिभक्ति महादेवीका अनुसरण करती हैं।'

(४) भक्ति सुदुर्लभा है। यथा—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्लभा॥

'भक्तिके साधनोंका अनुष्ठान यदि प्रीतिपूर्वक न किया जाय तो बहुत समयतक अनुष्ठान करनेपर भी भक्ति उदय नहीं होती। और श्रीहरि भी इस भक्तिको देना नहीं चाहते, इस कारण इसका दुर्लभत्व दो प्रकारका होता है।'

पहले प्रकारका सुदुर्लभत्व—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धूद्धृततन्त्रवचनम्)

'ज्ञान होनेपर मुक्ति अनायास प्राप्त होती है और यज्ञादि कर्मजनित पुण्योंके द्वारा नाना प्रकारकी भुक्ति (भोग) भी सुलभ हो जाती है। किन्तु यह प्रेमरूपा हरिभक्ति हजारों साधनोंका अनुष्ठान करनेपर भी सुलभ नहीं होती।'

दूसरे प्रकारका सुदुर्लभत्व श्रीमद्भागवतमें कहा है।

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'हे राजन्! भगवान् मुकुन्द तुम लोगोंके और यादवोंके पति (अर्थात् पालक), गुरु (उपदेशक), प्रिय एवं कुलपति हैं; अधिक क्या, तुम लोगोंके आज्ञाकारी होकर उन्होंने तुम लोगोंके दौत्यादि किङ्करके कार्य भी किये। यह सब सत्य है; किन्तु उनका यह स्वभाव ही है कि वह प्रायः भजन करनेवालोंको मुक्ति ही देते हैं, शीघ्र अपना भक्तियोग नहीं प्रदान करते।'

(६) भक्ति सान्द्रानन्दविशेषात्मा है। यथा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुधाम्भोधिपरमाणुतुलामपि॥

'यदि ब्रह्मानन्दको परार्द्ध संख्याद्वारा गुणा किया जाय तो वह ब्रह्मानन्दरूप सुख भी भक्तिसुखसागरके एक परमाणुके बराबर भी नहीं होता।'

(७) भक्ति श्रीकृष्णाकर्षिणी है। यथा—

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम्।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'वह प्रेमलक्षणा भक्ति प्रियवर्ग (अर्थात् भक्तवृन्द)-के साथ श्रीकृष्णको प्रेमपात्र बनाकर वशीभूत कर लेती है।'

साक्षात् श्रीभगवान्‌ने उद्धवको भी यही सुनाया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

'हे उद्धव! जिस तरह मद्विषयक प्रबला भक्ति मुझे वशीभूत करती है, उस तरह योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग—कुछ भी मुझे वशीभूत नहीं कर सकते।'

यही है गौडीय वैष्णवाचार्योंद्वारा मानी हुई प्रेमलक्षणा भक्तिका या भक्तियोगका संक्षिप्त परिचय। इस प्रेमलक्षणा भक्तिके विभाग-विस्तारका परिचय अत्यन्त विस्तृत है, इसी कारण इस परिमित प्रबन्धमें उसका उल्लेख नहीं किया गया। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी भक्तिका प्राधान्य है, यह '**भक्त्या मामभिजानाति**'इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकोंद्वारा प्रतिपादित होता है। यही है श्रीचैतन्यदेवके मतानुयायी गौडीय वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त।

गीताका योग

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

जो बात लाखों प्रमाणों तथा अनुभूतिकी सहायतासे निश्चित हो चुकी है उसे अस्वीकार कर नये सिरेसे नया अनुसन्धान करना साहसका काम तो कहा जा सकता है; पर हम लोगोंकी आयु बहुत थोड़ी है, चारों ओर घूम-फिरकर यदि उसी सनातन प्राप्त वस्तुको अन्तमें सबको स्वीकार कर लेना पड़ेगा तब तो जीवकी इतनी सब चेष्टाएँ एक प्रकारसे व्यर्थ ही हुईं। वस्तु प्राप्त करनेकी चेष्टा और प्राप्त वस्तुका आश्रय लेकर जीवनकी अभिव्यक्ति—इन दोनोंमें समयका सद्व्यवहार कहाँ अधिक होता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु दुर्भाग्य है हम लोगोंका—यदि सरल मार्गसे ही हम अभीष्ट वस्तु पा जायँ तो फिर आज तेलीके बैलकी तरह घानीमें क्यों चक्कर काटें? यह अन्धत्व और गर्दनपर जो पराधीनताका जुआ है—ये दोनों हमारे समष्टि जीवनकी अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हैं। सात समुद्र, तेरह नदी पार करके जिस तरह हमारे ऊपर एक अन्य जाति शासन करती है, उसी तरह इन सात समुद्र, तेरह नदियोंका जल पीकर हम लोगोंको अपनी वस्तु प्राप्त करनी होगी—आज हम लोग अपने गड़हीके जलमें ही डूब रहे हैं!

गीता, उपनिषद्, वेद, वेदान्त, तन्त्र, पुराण इन सबको हम लोगोंने रद्द कर दिया था। उस दिन एक विद्वान् सज्जनने मुझसे कहा—'क्या आप उडरफसाहबके महानिर्वाणतन्त्रका अनुवाद कर सकते हैं?' मैंने विस्मित होकर उत्तर दिया—'वह तो महानिर्वाणतन्त्रका हूबहू अनुवाद है।' उन्होंने बड़े आश्चर्यके साथ कहा—'सचमुच?' इसीसे मालूम होता है कि आजकल हम लोग दुनियाकी खाक छानकर तब अपना घर पहचानते हैं। सौभाग्यशाली पुरुष वही है जिसने उसे पहचान लिया है। हाथ घुमाकर नाक पकड़नेका अभ्यास करते-करते हमारी अवस्था ऐसी हो गयी है कि 'नाक दिखाओ' कहनेपर हम यन्त्रकी तरह हाथ चारों ओर घुमाकर नाकपर रखते हैं; परन्तु नाक वस्तु क्या है, यह मानो भूल गये हैं। लोग यह सुनकर हँसेंगे; पर वास्तवमें अवस्था ऐसी ही हो गयी है। 'डागमैटिक' हो गया है गाली। पर सनातन सिद्धान्तोंको आत्मज्ञानी कैसे छोड़े? और इस छोड़नेके सम्मोहन-मन्त्रसे विमूढ होनेके कारण ही तो हमारी जाति नष्ट हो गयी है। पुराणमें वर्णन है—एक दैत्य निष्ठाके साथ वैदिक आचरण करता था, जिससे उसके ऐश्वर्य और प्रभावकी सीमा नहीं थी; किन्तु देवताओंकी मायासे उसने दिव्याचारके बदले भिन्नाचार ग्रहण कर लिया और इससे वह हतवीर्य हो गया। भारतका मेरुदण्ड टूट गया है आत्मधर्मके प्रति आस्थाहीन होनेके कारण। ऐसा क्यों हुआ, इसका विचार करना आजका विषय नहीं; अतएव इसे ईश्वरका विधानमात्र मानकर मैं अब मूल प्रसङ्गपर आता हूँ।

श्रुतिमें एक कथा है—'**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।**' देवकी अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्माकी शक्ति निजगुणमें गुप्त है। गुणसे मतलब है—सत्त्व, रज, तम—प्रकृति इसी कारण गुणमयी है। सृष्टिके आदिमें इस प्रकृतिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुके अस्तित्वका निश्चय करना सम्भव नहीं, तथा भारतके ज्ञान-विज्ञानकी साधना इस प्रकृति-तत्त्वका आश्रय करके ही सिद्ध हुई है,—तन्त्रादि प्रकृतिको मूलमें रखकर बने ही हैं। वेदान्तकी साधनामें प्रकृतिके ऊपर पुरुषके अस्तित्वका अनुभव करनेकी युक्ति है; वह युक्ति कहाँतक अनुभवगम्य हुई है, यह विचारणीय है। परन्तु साधन नामसे शक्तिकी साधना ही इस देशमें प्रसिद्ध हुई है।

तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें सृष्टि स्तब्ध, विमूढ रहती है; यह कोई नयी बात नहीं। विषमता ही चाञ्चल्य एवं गतिका लक्षण है—इसीसे जगत्‌की सृष्टि हुई है। प्रकृति ही शक्ति है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि किसकी शक्ति है, किसलिये है? इसी कारण प्रकृतिके पीछे भी किसी तत्त्वके अस्तित्वका अनुमान करना पड़ता है; यह अनुमान-लब्ध वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, प्रमाण-सिद्ध नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है, वह नश्वर, अस्थिर है—इसी कारण जो आँखोंसे अगोचर है, उसकी व्याख्या हमने सर्वगत, स्थाणु, अचल आदि अनेक नामोंके द्वारा की है; उसे इस समय आलोचनासे अलग रखकर जहाँतक सम्भव होगा, मैं अपने विषयपर अग्रसर होनेकी चेष्टा करूँगा। हम लोग गुणभेदसे प्रकाशभेद देख सकते हैं। सत्त्वगुण ज्ञान प्रकट करता है, अहंवस्तुकी स्वच्छता उससे प्रस्फुटित होती है, '**अहमज्ञो मामहं न जानामि**' इस प्रकारकी चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतनासे ही देह है। देहसे प्राण भिन्न है। प्राणसे मन, मनसे बुद्धि इत्यादि भिन्न हैं। 'अहम्' और 'इदम्' भेद-ज्ञान पैदा करते हैं। प्रश्न उत्पन्न होनेपर मीमांसाकी वाणी भी उच्चारित होती है। अहं-वृत्ति ही विज्ञान है; इदं-वृत्ति ही मन है। हमारा अन्तःकरण दो भागोंमें विभक्त है—मनको घेरकर जो चेतना-जगत् है उसे 'इदम्' कहते हैं, और चिद्घन चेतनाका जो दूसरा अंश है, उसे 'अहम्' कहते हैं। जो नित्य शाश्वत है, वह आत्मा नामसे प्रसिद्ध है; विशुद्ध सत्त्वगुणके प्रभावसे इस प्रकार आत्मप्रकाश विश्लेषित होता है। इस सत्त्वगुणके आधिक्यके कारण ही प्रकृतिसे महत्-तत्त्वकी सृष्टि होती है।

सृष्टिकी बात स्थूलरूपसे समझे बिना योगकी बात स्पष्ट समझमें नहीं आती; अतएव सूचनाके लिये संक्षेपमें सृष्टिरहस्यका सूत्र बतलाया जा रहा है। प्रकृतिसे महत् उत्पन्न हुआ। महत् देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण सर्वव्यापी है। गीताके शब्दोंमें—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

महत्-रूप ब्रह्मयोनिमें जगद्विस्तारके लिये गर्भाधान-स्थान निरूपित होनेपर वह अनिर्देश्य पुरुष स्वयं चिदाभासरूपमें अपनेको उसमें नियोग करते हैं और उससे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिसे महत् और फिर एकके बाद एक सब तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। प्रकृति ही सृष्टि करती है; इसलिये इसको ईश्वर नामक वस्तुका कारण-शरीर कहा गया है। सत्त्वका प्रकाश-गुण, रजका शक्ति-गुण और तमका आवरण-गुण, ये त्रिगुण मिलकर सृष्टिके पर्याय बन गये हैं। पर्यायभेदसे माया और अविद्यारूपमें यह द्विविध है। समष्टिशरीराभिमानी जो चैतन्यवृत्ति है, वह माया है; इसीको हिन्दूशास्त्रोंने ईश्वर या हिरण्यगर्भ नाम प्रदान किया है। और मिश्रित गुणके सहयोगसे जो विचित्र, जड़वत सृष्टि है, उसका व्यष्टिसिद्ध शरीराभिमानी जीव या तैजस नामसे वर्णन किया गया है। मूल माया गुणोंके आश्रयसे आठ प्रकारकी है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—भूमि प्रभृतिसे पञ्चगन्धादि तन्मात्राओंका समन्वय समझना चाहिये, मन, उसका कारण अहंकार; बुद्धि, उसका कारण महत्-तत्त्व; अहंकार, उसका कारण अविद्या। इनके साथ सोलह प्रकारके विकार मिलकर चौबीस तत्त्वसंयुक्त इस विश्वकी सृष्टि हुई है। सीधे तौरपर यदि यह बात कही जाय, एक-एक करके प्रकृतिसे तत्त्व और उनकी विकृति बतलायी जाय तो इस प्रकार होगा—प्रकृतिसे महत्, महत्‌से बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, चक्षु, नासिका, जिह्वा, कर्ण, त्वचा, हाथ, पैर, मुँह, पायु और उपस्थ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

यह अलौकिक गुणमयी भगवान्‌की माया बड़ी दुस्तर है; किन्तु फिर भी यदि भगवान्‌के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति उत्पन्न हो तो इस दुस्तर माया-सागरको पार करके जीव आत्मस्वरूपको प्राप्त कर सकता है, और वही पथ भारतका सनातन योग-धर्म है। जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। किन्तु ज्ञान अद्वैत है। अविद्या तत्त्वाश्रित है। तत्त्वातीत चैतन्य ही ज्ञान है—यह ज्ञान विश्लेषण करनेकी वस्तु नहीं, अविद्या दूर होनेपर ही मिलता है, और ज्ञानका प्रकाश होनेपर ही जीवकी मुक्ति होती है।

ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले वस्तु-विश्लेषणकी आवश्यकता है। वस्तुसे मतलब है तत्त्ववस्तुसे; तत्त्वकी विकृति जो पञ्चभूत हैं, उनकी गुणसमष्टि अन्तःकरण है। अन्तःकरणको हम दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं; एक भाग मन और दूसरा बुद्धि। मनकी वृत्ति संशयात्मिका है, बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है। इस बुद्धियोगसे ही योगका सूत्र आरम्भ हुआ है।

साधनाके आरम्भमें देहशुद्धिकी आवश्यकता है। देहकी शुद्धि वैदिक आचारका त्याग करनेसे नहीं होती। भाषा और ढंग चाहे जो हो, कार्यतः उस शम-दम आदि सब प्रकारकी साधनाओंकी जरूरत होती है। बाहरके शौचाचारके साथ अन्तःशुद्धिका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। अन्तःकरण स्तब्ध होनेपर सर्वांग स्थिर होता है, और सिद्धासनपर शरीरको बलात् अचल करके रखनेपर अन्तःकरण भी स्थिर होने लगता है। सब एक सूत्रमें बँधी हुई चीजें हैं, कोई किसीसे पृथक् नहीं; किन्तु बाहरकी साधनासे आत्मस्वरूपका पता नहीं मिलता, उससे स्वरूपका बोध मात्र होता है; किन्तु बोध होना ही प्राप्ति नहीं है—इसलिये बुद्धियोग साधनाकी आरम्भिक चीज होनेपर भी साधकको इसके ऊपर उठकर खड़ा होना पड़ता है। सब छोड़कर ही साधनाका आरम्भ किया जाता है; किन्तु छोड़नेवाली वस्तुका निर्णय हुए बिना छोड़ा क्या जायगा? इसीलिये तत्त्व-विश्लेषणकी आवश्यकता होती है। इसीसे गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे योगकी बात कहनेकी उपक्रमणिकामें सांख्ययोगकी बात सबसे पहले कही है; किन्तु उससे साधकके मनको सन्तोष नहीं होता। असल चीज तो गड़बड़झालेमें ही रह जाती है। अविद्यासे मुक्ति प्राप्त करनेको ही हिन्दू-शास्त्रोंमें मोक्ष कहा गया है। साधना करनेसे आत्मा देहसे पृथक् है, यह ज्ञान पैदा होता है। यह केवल शुद्धिग्राह्य है। मोक्षका अभिप्राय है कि उस स्थितिमें देहज्ञानके लोपके साथ-साथ सब प्रकारके ज्ञानका लोप सिद्ध हो जाता है। इसीसे गीताके दूसरे अध्यायमें मोक्षसाधनकी बात कहते-कहते जब श्रीकृष्णने यह कहा—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

तब अर्जुनने विस्मित होकर सोचा—मोक्षसाधन धर्मका उपदेश देते-देते भगवान् किस कारणसे हिंसात्मक कर्मको विहित बतलाने लगे! उन्हें कर्मकी प्रशंसा करके उपसंहारमें ब्रह्मज्ञाननिष्ठाके प्रशंसावादमें वक्तव्य समाप्त करते हुए देखकर अर्जुनके संशयात्मक मनने स्वभावतः प्रश्न किया—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

अर्जुनने भगवान्‌को 'जनार्दन' शब्दसे सम्बोधित किया। अर्द् धातुका अर्थ है वध करना; समुद्रके अन्दर रहनेवाले जन नामक असुरका उन्होंने वध किया था; इसका असल अर्थ है— **जनं जन्म अर्दयति हन्ति;** जो भक्तको मुक्ति देनेवाले हैं वह हैं जनार्दन। हमारा जन्म और जन्ममूलक कारण अशुद्ध है; इसी कारण जन्म होते ही संस्कार और वासना विक्षुब्ध होकर इस बातकी विस्मृति पैदा कर देते हैं कि हम अमृतके पुत्र हैं; हम भागवत-ज्ञानविहीन कीड़ेकी भाँति जीवन धारण करते हैं। इसीलिये जो अयाचित करुणावश जन्म और जन्ममूलक कारणगत अशुद्धि दूर करके हमें दिव्य जन्म प्रदान करते हैं, उन्हें हम जनार्दन नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे? अर्जुनने श्रीकृष्णके कथनका मर्म नहीं समझा; इसीसे सोचा कि कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है—और भगवान् अपना यह मत प्रकट कर चुके; किन्तु पुनः हिंसात्मक कर्ममें प्रवृत्त करते हैं—तो क्या घटनाक्रमसे यह अनिवार्य हो उठा है जो इस प्रकार मिश्रित उपदेश-वाक्योंका प्रयोग कर रहे हैं? मनुष्यकी क्षुद्र बुद्धि जबतक बृहत्‌के साथ संयोग नहीं प्राप्त कर लेती तबतक वह ऊपरके निर्देशको अपने संस्कारसे मिलाकर स्थिर करता है। और उसके अनुसार ही जीवन नियन्त्रित करनेके लिये अग्रसर होता है—यही धर्म हमारा सनातनधर्म है। इसके अतिरिक्त, भारतकी मनोवृत्तिने बहुत दिनोंसे शास्त्रादिका अर्थ जिस रूपमें ग्रहण करना आरम्भ किया है, अर्जुन उसके प्रभावसे भी मुक्त नहीं थे। 'कर्म जीवनका बन्धन है', 'कर्म वासनाका जाल बुनकर जीवके मोक्षका मार्ग रोक देता है'—यह परम्परासे प्रचारित होता आ रहा है; इसी कारण श्रीकृष्णचन्द्रने जब मोक्षसाधनके अनुकूल शास्त्र-

निर्देशित चिरप्रचलित उपदेश सुनाया तब उसे समझना अर्जुनके लिये कठिन नहीं हुआ—क्योंकि यही प्रचलित धर्मोपदेश है; किन्तु उसके बाद ज्यों ही उन्होंने कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभलाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २।३८)

—त्यों ही अर्जुनके सिरपर मानो वज्रपात-सा हो गया। कर्म करनेपर यदि पाप नहीं होता तब फिर जीवके भवबन्धनका और क्या कारण है? कर्मबन्धनके भयसे ही तो भारतके तत्त्वज्ञानियोंने इससे विमुख होकर ब्रह्मसमाधि प्राप्त करनेके प्रशस्त पथकी यात्रा की है। कर्म-प्रेरणाके मूलमें मनुष्यकी इच्छा वर्तमान रहती है; कोई भी कर्म वासनाके सङ्केतके बिना नहीं हो सकता। कुरुक्षेत्रके युद्धमें जो भारतके राजा उपस्थित हुए थे, उनका उद्देश्य अपनी स्वार्थरक्षा करनेके सिवा और क्या हो सकता है? कामना-विसर्जनके साथ-ही-साथ कामनाओंसे दूषित हुए देह, प्राण, मन आदिका त्याग करना पड़ता है, इसी मार्गसे महात्मागण यात्रा करते हैं—श्रीकृष्णचन्द्रने इसी श्रेयःपथका अर्जुनको उपदेश दिया। तब फिर बन्धन-सृष्टिके उपायस्वरूप 'कर्म' की प्रशंसा क्यों की? अर्जुनके मनमें प्राचीन कर्म-संस्कार दृढ होनेके कारण यह प्रश्न उनके लिये अत्यन्त स्वाभाविक था। समूची गीतामें इसी प्रश्नके उत्तरके बहाने श्रीकृष्णने एक सिद्धयोगकी घोषणा की है। यह सिद्धयोग ही आत्मसमर्पण है। भारतके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र, यहाँतक कि वस्तुविज्ञान, चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन भी दिग्दर्शक यन्त्रके सिवा और कुछ नहीं है। भारतका कोई भी धर्मग्रन्थ साधनविरुद्ध या आपसमें एक-दूसरेका विरोधी नहीं है; जिसे जो दिशा दिखानी थी, उसने उसी भागपर प्रकाश डाला है; सब दिशाओंको देखकर तत्त्वज्ञ पुरुष निश्चित सरल पथसे भारतका सनातनधर्म प्राप्त कर सकते हैं। हमलोगोंको स्मरण रखना चाहिये कि आर्य-योद्धा श्रीकृष्ण एक बहुत बड़े वैदान्तिक थे, उन्होंने वेदान्त और उपनिषद्के आधारपर ही भावी भारतके सामने सनातनधर्मका विराट् स्वरूप खड़ा किया है। हम आज इस राजमार्गका अनुसरण करके अबाध गतिसे अभीष्ट लक्ष्यकी ओर यात्रा कर सकते हैं। समय थोड़ा है; इसलिये हम यदि केवल साधनकी त्रिधाराको धारण करके ही भागवत संयोग प्राप्त करके धन्य हो सकते हैं तब हमें सुदीर्घ तत्त्वोंका विश्लेषण करनेकी क्या आवश्यकता है? कर्म, ज्ञान और भक्ति—त्रिमार्ग-योगके द्वारा जो साध्यस्वरूप आत्मसमर्पण-योग है, वही श्रीकृष्णकथित गीताके योगके रूपमें प्रचारित है। योगभूमि भारतके जातीय जीवनमें यह महायोग प्रतिष्ठित हो!
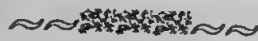
प्राणप्यारे

(रचयिता—श्रीमान् महाराज राणा राजेन्द्रसिंह जू देव बहादुर 'सुधाकर', झालावाड़नरेश)

चित्तको चुराते हो छुपाते हो न जाने कहाँ,
चुटकीमें अपने ही प्रेमीको उड़ाते हो।
रीत यह प्रीतकी तुम्हारी है अनोखी कैसी,
आभा-सी दिखाके कहीं जाके छुप जाते हो॥
ध्यानमग्न मैं तो हूँ, "सुधाकर" मुझे तो तुम
खाते-पीते जाते-आते सोते देख पाते हो।
बार-बार कहते हो, आता हूँ, मैं आता हूँ, पै,
कहके भी प्रानप्यारे! क्यों न पास आते हो?

गीता योगशास्त्र है

(लेखक—एक दीन)

योगका यथार्थ उद्देश्य सिद्धि प्राप्त करना नहीं (सिद्धियाँ तो योगमें विघ्न हैं), बल्कि जीवात्माका श्रीपरमात्माके साथ योग अर्थात् मिलन है; अथवा यों कहें कि जिससे दोनोंका मिलन या एकता हो वह योग है। श्रीमद्भगवद्गीता परम और पूर्ण योगशास्त्र है, जिसका अन्तिम लक्ष्य श्रीपरमात्माकी प्राप्ति है। गीतामें योगकी प्रारम्भिक साधना द्वितीय अध्यायसे आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर आगेके अध्यायोंमें भी उसीका विकास होता गया है, वे सब योगमार्गकी क्रमशः विभिन्न मंज़िलें हैं। श्रीपरमात्माके स्वरूप, निवासस्थान और जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धका ज्ञान होना इस मार्गमें सर्वप्रथम आवश्यक है। इस मार्गकी पहली मंज़िल विचार-विवेकके द्वारा प्रकृति और पुरुष अथवा आत्मा-अनात्माका ज्ञान है, जिसके कारण गीतामें सबसे पहले प्राचीन सांख्ययोगका उपदेश दिया गया है। यह सांख्ययोग निरीश्वरवाद नहीं है। इसमें कहा गया है कि आत्मा चेतन, सनातन, अजन्मा, अमर आदि है और शरीर, जो जड़ है, वह केवल वस्त्रके समान है। यह संसार चेतन अविनाशी तत्त्वसे व्याप्त है (२। १७); और वही केवल सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा उसीका अंश है और इन्द्रियोंके बाह्य भोगात्मक विषय दुःखमूलक हैं (२। १४); इनके भोगात्मक सम्बन्धसे ही दुःख प्राप्त होता है। अतएव कर्म कर्तव्य-पूर्ति और यज्ञके उद्देश्यसे योगस्थ होकर अर्थात् देव, पितृ, ऋषि, मनुष्य, पशु आदिके ऋणपरिशोधके निमित्त निष्कामभावसे, अहङ्कार और ममताको छोड़कर करना चाहिये और कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें समान रहना चाहिये। यही बुद्धि-योग है (२। ३९, ४७ और ४८ तथा ३। ८-९)। सकाम कर्म बन्धनका कारण है; किन्तु कर्तव्य और यज्ञ-कर्म बन्धनका कारण नहीं। कर्मका त्याग भी कदापि न करना चाहिये (३। ८-९)। यही सांख्ययोगके बादका कर्मयोग है।

इसके बाद ज्ञानयज्ञ अथवा ज्ञानयोग है। इसकी प्राप्तिकी योग्यताके निमित्त इन्द्रिय और प्राण-निग्रह* आवश्यक है (४। २६-२७)। तथा स्वाध्याय अर्थात् तत्त्वशास्त्रके पठन, मनन और निदिध्यासन (४। २८) की आवश्यकता है। अष्टाङ्गयोगमें ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह), स्वाध्याय और प्राणायामसे भी यही तात्पर्य है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यपालन मुख्य है, उसमें भी जिह्वा और जननेन्द्रियका निग्रह प्रधान है। अन्य इन्द्रियोंके विकार काम, क्रोध और लोभका त्याग भी जरूरी है (३। ३७)। इन्द्रियोंका निग्रह सांख्ययोगके अभ्याससे अर्थात् अपनेको शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि, जो जड़, अनात्मा हैं, उनसे ऊपर, पृथक् और विलक्षण चेतन आत्मा मानकर आत्मामें ही स्थिति प्राप्त करने (३। ४३) तथा विषयोंसे ध्यान हटाने (२। ६२-६३)-से सम्भव है। इसके बाद साधकको तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुसे ज्ञानयोगका उपदेश लेना चाहिये (४। ३४)। इस ज्ञानयोगका परिणाम यह होगा कि साधक यह देखेगा कि अखिल चराचर समष्टि सृष्टि चेतनमय होनेके कारण उसके चेतन आत्मासे अभिन्न है और फिर सब-के-सब परमात्मामें अभिन्नरूपसे वर्तमान हैं। यह ज्ञान होनेके बाद फिर साधकको मोह नहीं होगा (४। ३५)। यह ज्ञानयोग कर्मयोगका साधन करके इन्द्रियनिग्रह करनेसे श्रद्धावान् पुरुषको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (४। ३८-३९)। किन्तु यहाँतकका ज्ञान बुद्धिके द्वारा केवल निश्चयात्मक है; इसे विज्ञानमें परिणत करनेसे अर्थात् साक्षात् अथवा अपरोक्ष बनानेसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस प्राप्तिमें मन मुख्य है और मन ही बाधक है। मन उभयात्मक है; यह जिसमें अनुरक्त होता है, वही भाव ग्रहण कर लेता है। वर्तमान समयमें हमारा मन बहिर्मुखी होकर इन्द्रियोंके कामात्मक विषयोंमें आसक्त हो रहा है और अज्ञानके कारण उन्हींको सुखप्राप्तिका साधन समझ रहा है, यद्यपि वे यथार्थमें परिणाममें दुःखदायी हैं। भोगकी प्राप्तिके लिये

* प्राणायाम विधिपूर्वक बहुत थोड़ा करना चाहिये, अधिक करनेसे हानि होती है। इसी निमित्त श्रीमद्भागवत स्क० ११, अ० १४, श्लोक ३५ में तीन बार केवल दस-दस प्राणायाम करनेका उपदेश है।

हिंसा, असत्य, स्तेय, अविहित काम-चेष्टा आदि की जाती हैं, जिससे मन कलुषित हो जाता है, फिर भी सुख-शान्ति न मिलनेके कारण वह और भी चञ्चल हो उठता है। अतएव मनका अज्ञान तथा भोगलिप्साके कारण उत्पन्न राग-द्वेष, मलीनता और चञ्चलता दूरकर मनको पवित्र, स्थिर और शान्त बनाना आवश्यक है, जिसके बिना यह आत्मोन्मुख हो ही नहीं सकता। यह कार्य कर्म और अभ्यासयोगसे सम्पन्न होता है, जिसके लिये ज्ञानके अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यासकी आवश्यकता है (६।३५)। इस योगकी सिद्धिका मूलतत्त्व इस नामरूपात्मक संसारके नानात्वको सत्य न मानकर उसमें एक ब्रह्मको देखना और उसीके अनुसार अभ्यास करना है। इसी कारण गीतामें कर्माभ्यासयोग नामक छठे अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने इस योगके मूलमन्त्रको इस प्रकार बतलाया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

इन वाक्योंका भाव यह है कि योगमें स्थित साधक अनन्त चेतनको सब भूतोंमें व्याप्त और सब भूतोंको उस अनन्त चेतनमें व्याप्त देखता है और सर्वत्र एकत्वकी—समान दृष्टि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं, जो मुझ परमात्माको सबमें व्याप्त और सबको मुझमें व्याप्त देखता है, वह न मुझसे अदृश्य है, न मैं उसके लिये अदृश्य हूँ। जो सब भूतोंमें व्याप्त मुझ एकको ही इस प्रकार सर्वत्र वर्तमान जानकर मेरा भजन अर्थात् सेवा करता है, वह व्यवहारमें रहकर भी योगी है और मुझको प्राप्त करता है। फिर श्रीभगवान् कहते हैं कि सर्वत्र परमात्मदृष्टिकी केवल भावना ही योग नहीं है, बल्कि इसको आचरणमें परिणत करना 'योग' है। ऊपरके श्लोकोंके बाद ही यह वचन है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

जो दूसरोंके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझता है, वही परम योगी है। स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे हमलोग अपने सुखकी वृद्धि करना चाहते हैं, वैसे ही हमें दूसरोंके सुखकी भी वृद्धि करनेके निमित्त यत्न करना चाहिये और इसी तरह दूसरोंके सुखको भी अपना सच्चा सुख समझना चाहिये। और जिस तरह हम अपने दुःखकी निवृत्तिके लिये यत्न करते हैं, उसी तरह दूसरोंके दुःखको भी अपना दुःख मानकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये और उस दुःखनिवृत्तिको अपनी ही दुःखनिवृत्ति समझनी चाहिये। यही यथार्थ योग है। इस कर्माभ्यास-योगमें कर्म-यज्ञ अर्थात् कर्मयोग सृष्टिके हितके लिये अपने स्वार्थको स्वाहाकर अर्थात् त्यागकर यज्ञपुरुष परमात्माकी सेवाकी भाँति उन्हींके निमित्त किया जाता है। दान अर्थात् परहित-कार्य और शरीर, मन तथा वाणीकी शुद्धिके लिये तपस्या भी यज्ञपुरुषके निमित्त ही की जाती है; क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्‌का कथन है कि यज्ञ, जिसमें दान सम्मिलित है, और तपस्याका मैं स्वयं भोक्ता हूँ और इनके द्वारा सबका हित सम्पादन करता हूँ, जो सुहृद्‌का धर्म है (५।२९)। साधारण परोपकार और योगके परहित-सेवामें भेद यह है कि पहलेमें उपकृतको अपनेसे पृथक् समझकर उपकार किया जाता है, किन्तु योगमें उपकृतको पहले अपना ही आत्मा समझकर निष्कामभावसे उसका हितसाधन करते हैं; फिर आगे चलकर उसे श्रीपरमात्माका ही रूप मानकर श्रीपरमात्माकी सेवाकी भाँति, फलाकांक्षासे रहित होकर, निरहङ्कार-भावसे उसका हितसाधन या सेवा की जाती है। क्योंकि साधन, सामग्री और करनेकी शक्ति सब कुछ श्रीपरमात्माकी है, साधक तो केवल मिमित्तमात्र है। इसी सिद्धान्तपर योगके प्रथम अङ्ग यमके अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह स्थित हैं। जब सब कुछ परमात्माका रूप ही है तब हिंसा, असत्य, स्तेय आदि दुर्व्यवहार किसीके साथ करना मानो श्रीपरमात्माके ही साथ करना है और इस कारण हिंसाका त्याग कर दूसरोंका हितसाधन करना, असत्यका त्यागकर सबके साथ सत्यका व्यवहार करना, स्तेयका त्यागकर अन्यायपूर्वक किसीकी वस्तु न लेना और परिग्रह अर्थात् दूसरोंसे दान लेना छोड़कर स्वयं दूसरोंको दान देना योगकी मुख्य साधना है। इसी

प्रकार सर्वत्र परमात्मभाव रखकर व्यवहार करनेका अभ्यास करनेसे श्रीपरमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १९)

इस सर्वत्र एक ब्रह्मात्मक भावका ज्ञान परिपक्व होनेसे और बाह्य नानात्वपर केवल अध्यास माननेसे विषय-वैराग्य स्वाभाविक ही आ जायगा और यह वैराग्य ज्ञानमूलक होनेके कारण दृढ़ होगा। ऐसे वैराग्यवाले पुरुषको किसी सांसारिक पदार्थकी तृष्णा नहीं होगी। वास्तवमें तृष्णा और राग-द्वेषके कारण ही मन चञ्चल रहता है, और वैराग्यद्वारा इनकी निवृत्ति हो जानेपर मनका आत्मोन्मुख होना सम्भव हो जाता है। इसी निमित्त गीताके उसी छठे अध्यायमें आदेश है कि मनको आत्मामें स्थित करके भावनारहित कर दे और यदि मन आत्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तो फिर वहाँसे उसे लौटाकर आत्मामें ही लगावे। सर्वत्र एकात्मभाव बना रखनेसे मनके विक्षेपको दूर करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जो भावना मनमें आवे, बस, उसीको आत्मा मान ले। इस तरह निरन्तर अभ्यास करनेसे मन अवश्य शान्त हो जायगा। यही अभ्यासयोग है; इसीसे मनकी चञ्चलता दूर होती है जो पातञ्जलयोगसूत्रका मुख्य ध्येय है। वहाँ भी अभ्यास और वैराग्य ही इसके साधन बतलाये गये हैं। ऊपर कथित गीताका वचन इस प्रकार है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६। २५-२६)

उक्त अध्यायके १४वें श्लोकमें योगकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता बतलायी गयी है। वास्तवमें योगके लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य योगके प्रथम अंग यमके अन्तर्गत है। आत्मामें मनके स्थित हो जानेपर आत्माके आनन्दकी उपलब्धि होती है और यह महान् सुख इन्द्रियातीत है, केवल बुद्धि-ग्राह्य है (६। २१)।

केवल आत्मस्थिति, जो आधुनिक सांख्यका लक्ष्य है, हो जानेसे ही योगके लक्ष्यकी पूर्ति नहीं होती। इस आत्मानन्दको भी अतिक्रम करना चाहिये। इसलिये श्रीभगवान्‌का कथन है कि श्रेष्ठ योगी वही है जिसका मन मेरे साथ संलग्न हो (६। ४७)। अतएव अब योगके मुख्य लक्ष्य श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये उनकी ओर अग्रसर होना चाहिये। मनको अपने आत्मामें लय करके अब आत्माको श्रीभगवान्‌में अर्पित कर देना चाहिये। इसी आत्मार्पणका दूसरा नाम शरणापन्न होना है। इसमें सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है कि श्रीभगवान्‌के कौन-से निवास और भावमें आत्मार्पण किया जा सकता है। श्रीभगवान्‌के विराट् व्यापक विश्वरूपके भावमें अर्पण करना अथवा उनके साथ एकता प्राप्त करना विच्छिन्न शरीरमें रहनेवाले जीवात्माके लिये कदापि सम्भव नहीं है। तब यह सम्भव कैसे होगा? इस जटिल समस्याको स्वयं श्रीभगवान्‌ने गीतामें ही हल कर दिया है। उन्होंने कहा है कि मैं सब भूतोंके हृदयोंमें हूँ (१३। १७; १५। १५; १८। ६१)। इस हृदयस्थ ईश्वरमें ही आत्मार्पण-योग करना होगा—यह श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। अध्याय १८ के श्लोक ६१ में अपना वास सब भूतोंके हृदयमें बतलाकर उसके बादके श्लोकमें कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि मन, वचन और शरीरसे उस हृदयस्थ ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसके बाद उसकी कृपासे परम शान्ति मिलेगी और उसका जो सनातन अविचल पद है, उसकी प्राप्ति होगी। यही अन्तिम साधना भक्तियोग है। इस योगमें पहले यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि परमात्माने जीवात्माका त्राण करनेके लिये कृपा करके अपनेको हृदयमें कैदीकी भाँति बना रखा है, जिसमें उसको उनकी प्राप्ति हो, जो अन्यथा सम्भव नहीं था। यह श्रीभगवान्‌की असीम कृपा जीवोंके लिये है। इस कारण भी जीवात्माका श्रीभगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये। इसी निमित्त श्रीभगवान्‌का जीवात्माके साथ पिता-पुत्र, सखा और प्रेमपात्र, प्रियतम और प्रेमीका सम्बन्ध है (११। ४४)। यह प्रेम-सम्बन्ध भक्तियोगमें मुख्य है।

इस योगकी प्राप्ति किस आश्रयका अवलम्बन करनेसे होगी, इसका वर्णन ७वें अध्यायमें है। वहाँपर दो प्रकृतियोंका, पञ्चभूत और अन्तःकरणचतुष्टयका अपरा जड प्रकृतिके रूपमें और इसके परे जो चैतन्य जीव-शक्ति है, उसका परा प्रकृतिके रूपमें वर्णन है, जिसका दूसरा नाम दैवी प्रकृति भी है।

श्रीभगवान्‌की प्राप्ति राजविद्या अर्थात् प्राचीन राजयोगके द्वारा होती है, इसका उल्लेख गीताके ९वें अध्यायमें है। श्रीभगवान्‌का कथन है कि इसका फल प्रत्यक्ष है, यह अभ्यासमें सुखदायी (हठयोगके समान कष्टकर नहीं) और धर्मात्मक है (९। २)। उक्त अध्यायके १३वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि महात्मागण मेरी दैवी प्रकृति (परा चैतन्य समष्टि जीव-शक्ति)-का आश्रयकर मुझे प्राप्त करते हैं। इसके बाद अपनी प्राप्तिका उपाय गीताके १२वें अध्यायमें उन्होंने बतलाया है, जो भक्तियोग है। सर्वप्रथम आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयमें सगुण साकार भावकी उपासना की जाय, न कि अव्यक्तकी, जो क्लेशकर है। इस भक्तियोगमें श्रीभगवान्‌की दैवी प्रकृतिका आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है, जो अपने दिव्य तेज और प्रकाशसे साधकको घोर अविद्यान्धकारसे पारकर श्रीभगवान्‌से युक्त कर देती है। इसका आश्रय पानेके लिये दैवी सम्पत्तिके गुणोंको, जिनका वर्णन गीताके १६वें अध्यायमें १ से ३ श्लोकतक है, प्राप्त करना और आसुरी सम्पत्तिका, जिसका वर्णन उसी अध्यायमें ४, ७ और ८ श्लोकोंमें है, त्याग करना परमावश्यक है। भक्तियोगका लक्षण १२वें अध्यायमें १३ से २० श्लोकतकमें बतलाया गया है, उसका भी होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्तियोगका मुख्य साधन निम्न श्लोकोंमें कहा गया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२। ६-७)

इन श्लोकोंका भाव यह है कि जो अपने सम्पूर्ण कर्मोंको, सांसारिक और पारमार्थिक दोनों, श्रीभगवान्‌के कर्म समझकर उनके निमित्त अहङ्कार, ममता और फलकामनाका त्यागकर करता है, उनमें अनुरक्त रहता है और अपने मनमें श्रीभगवान् और उनके सम्बन्धके सिवा दूसरी कोई भावना नहीं आने देता, केवल उन्हींमें मनको संनिवेशितकर उपासना-ध्यान करता है, ऐसे चित्तसे पूर्ण अनुरक्त प्रेमी भक्तका श्रीभगवान् शीघ्र मायासे उद्धार करके उसे अपनी अमर पदवी देते हैं। यही भाव ८ वें अध्यायके १४ वें श्लोकका भी है, जो इस प्रकार है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

इस भक्तियोगमें सब प्रकारके कर्मोंका अर्पण, उपासना अर्थात् शरीर, वचनसे कर्म करते हुए तैलधाराके समान मनसे सतत निरन्तर ईश्वरस्मरण, चिन्तन और ध्यान मुख्य है। अन्तिम साधना, जिससे योग अर्थात् सम्बन्ध हो जाता है, वह है ध्यानयोग। पहले हृदयमें अपने इष्टकी मनोहर दिव्य साकार मूर्त्तिपर चित्तकी धारणा करनी चाहिये, जिसके लिये प्रथमावस्थामें भीतर ठीक वैसे ही रूपकी भावना करनेके लिये कोई विग्रह अथवा चित्र आवश्यक है। धारणाके परिपक्व हो जानेपर यथार्थ ध्यान प्रारम्भ होगा। वास्तवमें यह ध्यान हृदयका कार्य है और जब हृदय प्रेमसे द्रवित हो जाता है तभी यह सम्भव है। १४वें अध्यायके २६ वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌का वचन है कि जो अव्यभिचारिणी भक्ति (श्रीभगवान्‌हीको सर्वस्व समझना और उन्हींको सर्वार्पण करना)-से मेरी सेवा करता है वह गुणातीत हो जाता है। गुणातीतका लक्षण उसी अध्यायके श्लोक २२ से २६ तकमें है। इस भक्तियोगकी अन्तिम साधनाका क्रम और लक्षण अन्तिम अध्याय १८ में इस प्रकार बतलाया गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५१—५५)

यह कथन गीताके योगका सार है। इस कथनमें सद्‌गुणोंमें इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, विषय-वैराग्य और अहङ्कार, ममता, काम, क्रोध, परिग्रह आदिका त्याग मुख्य है। इन सद्‌गुणोंकी पूर्ण प्राप्तिसे यहाँ मतलब है। इनकी पूर्ण प्राप्ति भक्तिके संयोगसे ही होती है (**परं दृष्ट्वा निवर्तते**); तथा साधनाके रूपमें प्रेमोपहारके समान सब कर्मोंको श्रीभगवान्‌के निमित्त करना, प्रेमसे श्रीभगवान्‌का सतत स्मरण और अन्तिम प्रधान साधना ध्यानयोग, ये तीन मुख्य हैं। मन्त्रजप ध्यानयोगका अभिन्न स्वरूप है। इसलिये ध्यानके साथ मानसिक मन्त्रजप अवश्य करना चाहिये। योगसूत्रमें लिखा है— **तज्जपस्तदर्थभावनम्।**

यह ध्यानयोग ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनोंका योग (एकता) करता है, जो योगका अन्तिम लक्ष्य है। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी ध्यानसे समाधिकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। गीताके इस परम ध्यानके बाद कर्मफलका त्याग होता है अर्थात् ध्यानरूप कर्मका फल जो मोक्ष है उसका त्याग (संन्यास) इसलिये भक्त करता है कि मोक्ष ले लेनेसे भगवत्सेवा छूट जायगी। वह तो प्रेमके कारण निमित्तमात्र होकर निरन्तर श्रीभगवान्‌की सेवामें रत रहना चाहता है। इसीसे उसको परम शान्ति मिलती है (१२। १२) जो मोक्षसे भी ऊपरकी स्थिति है।

~~~

गीतामें केवल प्रपत्ति-योग है

(लेखक—पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

श्रीमद्भगवद्गीताको किसीने कर्म-परक बतलाया है, किसीने ज्ञान-परक और किसीने भक्ति-परक; परन्तु सबका समन्वय करनेवाले वैष्णव आचार्योंने इस महोपनिषद्‌को प्रपत्ति-परक समझा और बतलाया है। वैष्णवोंके प्रत्येक सम्प्रदायमें यही सिद्धान्त है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने जो गीतापर भाष्य किया था, वह अब अप्राप्य है; परन्तु उसी भाष्यका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये जगद्विजयी श्रीकेशव भट्टाचार्यने जो 'तत्त्वप्रकाशिका' नामकी सुन्दर संस्कृत टीका इसपर लिखी, वह उपलब्ध है और प्रकाशित भी हो चुकी है। इस 'तत्त्वप्रकाशिका' में आचार्य केशव भी गीताको प्रपत्तिपरक स्वीकार करते हैं।

प्रपत्ति और भक्ति

प्रपत्ति और भक्तिमें सूक्ष्मतम मौलिक भेद है। भगवान्‌के ऊपर अपना सब भार छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जानेका नाम प्रपत्ति है और अपने उद्धारके लिये भगवान्‌की सेवा-प्रार्थना करना भक्ति है। प्रपन्न (शरणागत) पिताका वह नन्हा-सा बच्चा है, जो अपना सब कुछ पिताके ऊपर छोड़े है, और भक्त वह बड़ा पुत्र है, जो बहुत कुछ अपना भला-बुरा खुद करनेकी हिम्मत रखता और करता भी है। स्वभावतः पिताका ध्यान नन्हे बच्चेपर जितना अधिक रहेगा, उतना बड़ेपर नहीं। बस, प्रपत्ति या शरणागति और भक्तिमें यही भेद है। वस्तुतः प्रपत्तिमें ज्ञान और कर्मकी तरह भक्तिका भी समावेश हो जाता है। यानी सब साधनोंमें प्रपत्ति अंगी है और शेष सब अंग।

प्रपत्तिको छः मुख्य भेदोंमें विभक्त किया गया है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

शरणागति या प्रपत्ति-योगके ये छः अंग हैं। इनमें 'आत्मनिक्षेप' प्रधान है, अंगी है, शेष सब अंग हैं। आत्मनिक्षेप ही तो शरणागति है, अपना कुल भार उसपर डाल देना, चाहे वह जो करे।

परन्तु यों शरणागतिमें आनेका ढोंग करके कोई चाहे जो किया करे, यह नहीं हो सकता है। शरणागतिके जो छः अङ्ग ऊपर गिनाये हैं, उनमें आरम्भहीमें है— **आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः**। अर्थात् जो काम भगवान्‌को अच्छे लगते हैं, उनके करनेका संकल्प मनमें हो, यह पहली बात है। इसमें सब सत्कर्म आ गये। भगवत्प्रपन्न अपने श्रेयके लिये नहीं, भगवान्‌को प्रसन्न करनेके ही लिये सब सदनुष्ठान करेगा। दूसरा अङ्ग है— **प्रातिकूल्यस्य**
~~~

वर्जनम्। प्रपन्न पुरुष ऐसा कोई भी काम न करेगा, जिससे भगवान्‌के अप्रसन्न होनेका डर हो। इस प्रकार सम्पूर्ण असत्कर्मोंसे वह दूर रहेगा।

भगवान् अवश्य मेरी रक्षा करेंगे,—'**रक्षिष्यतीति विश्वासः**'—इस विश्वासकी तो सबसे अधिक जरूरत है। यही नींव है। जबतक विश्वास न होगा, शरणागति पक्की नहीं होगी। '**संशयात्मा विनश्यति**'—नास्तिकता आ जायगी।

कार्पण्यका मतलब है—दीनता। भगवान्‌के सामने दैन्यप्रदर्शन भी प्रपत्तिका एक अंग है। पामर लोग ज्ञानलवदुर्विदग्ध होकर इतराने लगते हैं और कहते हैं—'जो न करे मौला, सो करे एतमादुद्दौला!' ऐसे जीवोंका घोर पतन हो जाता है। 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ' मैंने सब किया है' इस प्रकारकी भावना पतनका मूल है। प्रपन्न अपने मनमें कभी ऐसा भाव नहीं आने देता और भगवान्‌के प्रति सदा दीन रहता है।

यों जीव जब भगवान्‌के ऊपर दृढ़ विश्वास करके आत्मनिक्षेप करता है तो यह प्रपत्ति-योग कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी योगका प्राधान्य है।

किसी भी ग्रन्थका प्रधान विषय क्या है, यह जाननेके लिये आदि, मध्य और अन्तका समन्वय देखना होता है। तीनों जगह जो मिले, वही प्रधान होता है। जिस बातका हमें प्रतिपादन करना है, उसे शुरूमें कहेंगे, उसीसे उपक्रम करेंगे, बीचमें उसीकी पुष्टि करेंगे और अन्तमें उसीपर जोर देकर वक्तव्य पूर्ण करेंगे।

अब देखना चाहिये कि श्रीमद्भगवद्गीताके आदि, मध्य और अन्तमें क्या है।

गीताके उपक्रममें '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**' यो 'प्रपन्न' शब्दसे शरणागतिको प्रधानता दी है। बीचमें भी '**निवासः शरणं सुहृत्**' इत्यादि प्रकारसे इसीपर जोर है और अन्तमें तो डंकेकी चोट कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

यहीं आकर गीताशास्त्रकी समाप्ति होती है। अतएव यही उसका प्रधान विषय निश्चित है।

शरणागतिके छहों अंगोंका गीतामें विस्तारसे वर्णन है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

इत्यादिके द्वारा प्रपत्तिका प्रथम अंग (आनुकूल्य संकल्प) दिखलाया। परित्याज्य आसुरी सम्पत्का वर्णन करके तथा प्रत्यक्ष 'निर्वैरत्व' आदिका उपदेश देकर दूसरा अंग स्पष्ट किया। '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' आदि कहकर विश्वास दृढ़ किया, जो प्रपत्तिका तीसरा अंग है। '**पितासि लोकस्य चराचरस्य**' यहाँसे लगाकर '**प्रसीद देवेश जगन्निवास**' यहाँतक जो कुछ कहा, उससे चतुर्थ अंग स्पष्ट किया। '**दिशो न जाने न लभे च शर्म**' और '**न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्**' इस कथनसे पाँचवाँ अंग कार्पण्य बतलाया। मुख्य आत्मनिक्षेप तो प्रधानरूपसे कहा ही गया है—'**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**' '**मामेकं शरणं व्रज**' इत्यादि।

शेष ग्रन्थ कर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रतिपादन करते हैं जो प्रपत्तिके सहायक हैं।

यों सम्पूर्ण गीताशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय प्रपत्ति-योग है। हिन्दीमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीकी 'विनयपत्रिका' तथा 'सूरसागर' के विनय-पद्योंमें प्रपत्तिका अच्छा विकास मिलता है। 'विनयपत्रिका'* में तो बड़ी ही सुन्दरतासे इस योगका प्रतिपादन हुआ है। और भी सन्तोंने इसीका आश्रय लिया है।

योगिराजके प्रति

योगिराज! तेरे दर्शनको, भक्त मानते हैं शुभ-स्वर्ग।
उसे परम पुरुषार्थ जान, तव परम धाम चाहें बुधवर्ग॥
तेरे पदकी सेवा हे हर! तेरे पद-सेवक-संसर्ग।
हो 'द्विजेन्द्र' पर कृपा-दृष्टि वह, जिससे पावें हम अपवर्ग॥

—सरयूप्रसाद शास्त्री 'द्विजेन्द्र'

* विनयपत्रिका हिन्दीटीकासहित गीताप्रेससे मिल सकती है।

योग

(श्रीभारतधर्ममहामण्डलके एक महात्माद्वारा लिखित)

वेद तीन काण्डोंमें विभक्त है, यथा—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। वेदके कर्मकाण्डके अनुसार कर्म-सुकौशलको योग कहते हैं। वेदके उपासनाकाण्डके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोधको योग कहते हैं और वेदके ज्ञानकाण्डके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं। कर्मकाण्डका अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त होना ही उसका स्वरूप है। उपासनाकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरणकी वृत्तियोंको साधनके द्वारा निरुद्ध कर परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना है। तरङ्गरहित जलाशयमें जैसा मनुष्य अपना मुख देख लेता है, चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध होते ही दृश्यप्रपञ्चके द्रष्टा परमात्माका स्वरूप वैसा ही अन्तःकरणमें दिखायी देने लगता है। इस विज्ञानका विस्तृत वर्णन योगदर्शनके सूत्रोंमें पाया जाता है। ज्ञानकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अविद्याजनित अज्ञानको विद्याकी कृपासे दूरकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्माके भेदका जो मिथ्या ज्ञान है, उसको हटाकर जीवात्मा और परमात्माकी अद्वैतसिद्धि करना है। इसका विस्तृत वर्णन उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रोंमें मिलता है। यही वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार योगके सिद्धान्तोंका रहस्य है। वस्तुतः इन तीनोंके द्वारा एक ही अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

श्रीभगवान्‌की सान्निध्यप्राप्तिके साधनोंको उपासना कहते हैं। उपासनाका प्राण भक्ति है और कलेवर योग है। शरीरमें प्राणके न रहनेसे जैसे शरीरकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्भक्तिहीन योग नटका खिलवाड़ हो जाता है। शरीरके अभावमें प्राणके रहनेका कोई स्थान ही नहीं रहता। इस दशामें प्राणका अस्तित्व ही सम्भव नहीं रहता। इसी विज्ञानके अनुसार भक्ति और योगका उपासनाकाण्डके सब साधनोंमें अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है। योगतत्त्ववेत्ता पूज्यपाद महर्षियोंने योगसाधनकी चार स्वतन्त्र शैलियोंका उपदेश दिया है और योगमार्गसे भगवद्राज्यमें पहुँचनेके लिये आठ पौढ़ियाँ बतायी हैं। चार योगसाधन-शैलियोंके नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। योगकी आठ पौढ़ियोंके नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। त्रिकालदर्शी और स्थूल तथा सूक्ष्म राज्यको करतलामलकवत् देखनेवाले महर्षियोंने योगविज्ञानको इन चार श्रेणियों और आठ पौढ़ियोंमें विभक्त करके ऐसा बताया है कि, साधनमार्गके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग इनमें आ जाते हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि, यह संसार नामरूपात्मक है। नाम और रूपसे ही जीव अविद्यामें फँसकर जकड़ा रहता है। मनुष्य जिस भूमिपर गिरता है, उसीके अवलम्बनसे उठ सकता है। अतः नाम और रूपके अवलम्बनसे ही जब वह फँसता है, तो नाम और रूपके ही अवलम्बनसे मुक्त भी हो सकता है। मन्त्रयोगके ज्ञाता पूज्यपाद आचार्योंने मन्त्रयोगके साधनोंको सोलह भागोंमें विभक्त किया है। जैसे—दिक्शुद्धि, स्थानशुद्धि, मन्त्रजप, स्तुति, न्यास इत्यादि। मन्त्रयोगके ध्यानको स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासनाके अनुसार कई प्रकारका होता है। मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव समाधि कहते हैं।

हठयोगका सिद्धान्त यह है कि, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भावमें गुम्फित है और एकका प्रभाव दूसरेपर पूरा बना रहता है। स्थूल शरीरको अपने अधीनकर सूक्ष्म शरीरको अधीन करते हुए योगकी प्राप्ति करनेको हठयोग कहते हैं। योगनिष्णात आचार्योंने हठयोगको सात अङ्गोंमें विभक्त किया है। यथा—नेती, धौती आदि षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि। हठयोगके ध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और प्राणके निरोधसे होनेवाली हठयोगकी समाधि महाबोध समाधि कहाती है।

लययोगका सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति मानवपिण्ड है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका विलास जैसा ब्रह्माण्ड है, वैसा मानवपिण्ड भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश

भुवन आदिके पीठ मानवपिण्डमें भी हैं। पञ्चकोशोंका आवरण शिथिल होनेपर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोकमें अपना सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार मनुष्यपिण्डके आधारपद्ममें कुलकुण्डलिनी नामक ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रहकर अविद्याके प्रभावसे सृष्टिक्रिया किया करती है। रजोवीर्यजनित बैजी सृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्यशरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तकमें स्थित सहस्रदलमें जिस योगद्वारा कुलकुण्डलिनीशक्तिको ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिवके साथ मिला दिया जाता है, उस शिवमें शक्तिका लय कर मुक्ति प्राप्त करनेके साधनका नाम लययोग है। लययोगके आठ अङ्ग हैं। लययोगके ध्यानको बिन्दुध्यान और लययोगकी समाधिको महालय समाधि कहते हैं।

राजयोग अन्य तीन योगोंकी चरमसीमा है। उसका सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे संवलित अन्तःकरण ही जीवके बन्धनका कारण और मुक्तिका भी कारण है। जैसे अशुद्ध मन जीवको नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रियपरायण बुद्धि जीवको बन्धनमें जकड़ती है और ब्रह्मपरायण बुद्धि जीवको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देती है। अतः शुद्धि बुद्धिकी सहायतासे तत्त्वज्ञान लाभ करके अन्तमें राजयोगी जीव और ब्रह्मके अभेदका कारण समझकर ज्ञानसे अज्ञानका नाश करता हुआ जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धिके द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोगसाधनके सोलह अङ्ग हैं। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधि निर्विकल्प समाधि कहाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार योगशैलियोंके मूलमें भगवद्भक्तियुक्त अष्टाङ्गयोगका साधनक्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोगके आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च सौध शिखर (छत)-पर चढ़नेके लिये आठ सोपान (सीढ़ियाँ)-रूप हैं। इनका संक्षिप्त विज्ञान यह है कि बहिरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको नियम कहते हैं। स्थूल शरीरको योगके उपयोगी बनानेके साधनोंको आसन कहते हैं। शरीरस्थ प्राणको योगोपयोगी बनानेके साधनोंको प्राणायाम कहते हैं। ये चारों साधन बहिरङ्गके हैं। बहिर्मुख मनको अन्तर्मुख करनेके साधनोंको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहारसे ही अन्तरङ्गका साधन प्रारम्भ होता है। अन्तर्जगत्में ले जाकर मनको एक स्थानमें ठहरानेके साधनोंको धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत्में ठहरनेका अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुणभावमय रूप हो, चाहे ज्योतिर्मय रूप हो, चाहे बिन्दुमय रूप हो, चाहे निर्गुण सच्चिदानन्दमय रूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेवको केवल ध्येय बनाकर जगत्के भूल जानेको ध्यान कहते हैं। परमात्मामें अपने जीवभावके मिला देनेको समाधि कहते हैं। वह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भागोंमें विभक्त है। निर्विकल्प समाधि ही सब साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीवहितकारी सब सम्प्रदायोंके अनुयायियों, सब प्रकारके उपासकों और सब प्रकारके साधकोंके परम हितकर योगका संक्षिप्त विज्ञान है।
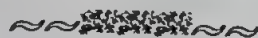
विरक्त

(रचयिता—श्रीपंन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')

सत्यव्रत धार मन मोहते निवार कर, गिरिकी गुहामें तन तपते तपायेंगे।
दया दिल लायेंगे औ जीव न सतायेंगे औ, दीन न दबायेंगे न काया कलपायेंगे॥
'मानिक' की जोत ईश जोतमें जुटायेंगे औ, आनन्द बढ़ायेंगे अनन्त सुख पायेंगे।
दुनियामें फेर कभी आयेंगे न जायेंगे न, कर्मको खपायेंगे अमरपद पायेंगे।

योगतत्त्वमीमांसा

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामीजी श्रीश्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज)

नमो गुरुभ्यो गुरुपादुकाभ्यो नमः परेभ्यः परपादुकाभ्यः। आचार्यसिद्धेश्वरपादुकाभ्यो नमोऽस्तु लक्ष्मीपतिपादुकाभ्यः॥

इस संसारमें जितने भी आस्तिक दर्शन हैं अथवा अन्य मत-मतान्तर हैं उन सबमें परस्पर किसी-न-किसी अंशमें विवाद अवश्य रहता है, परन्तु 'योग ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणका हेतु है' इसमें किसीका भी विवाद नहीं है। योगको सबने मुक्तकण्ठसे कल्याणका हेतु स्वीकार किया है। नास्तिक-से-नास्तिक भी योगकी प्रशंसा मुक्तकण्ठसे करते हैं।

सब आस्तिक दर्शकोंका यह सिद्धान्त है कि—'अतीन्द्रिय अर्थमें वेद ही प्रमाण है, जिसमें निखिल विश्व प्रतिष्ठित है' वस्तुतः जो सर्वथा दुःखादि सम्बन्धसे रहित असङ्ग चैतन्य तत्त्व है वही जाननेलायक है, इतना ही कहकर वेदभगवान् उदासीनताका अवलम्बन नहीं करते, किन्तु संसारदुःखको समूल उच्छेद करनेकी इच्छावाला पुरुष तत्त्वबोधकी इच्छा करता हुआ अनुपायके ग्रहणद्वारा अन्धगोलाङ्गूलन्यायसे अनर्थको न प्राप्त हो, इसलिये कृपा करके तत्त्वकी अभिव्यक्ति करनेवाली चार प्रकारकी प्रतिपत्तियोंमें विधि आदि अर्थको बतलानेवाले तव्यादि प्रत्ययद्वारा उपादेयता भी बतलाते हैं, यथा **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** इत्यादि। यहाँ प्रथम प्रतिपत्ति (निश्चय) श्रवणरूप है। सम्पूर्ण उपनिषद्वाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यनिर्णयानुकूल न्यायविचारात्मक, तत्त्वविषयक शाब्दबोधरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम श्रवण है। दूसरी प्रतिपत्ति मनन है; आगमके अविरुद्धतर्कणारूप अथवा तत्त्वकी अनुमितिरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम मनन है। तीसरी प्रतिपत्ति निदिध्यासन है, विजातीय प्रत्ययसे अनन्तरित सजातीय प्रत्ययके प्रवाहका नाम निदिध्यासन है। श्रवणमननजनित संस्कारसहित अन्तःकरण निदिध्यासन करनेमें समर्थ होता है। और चौथी प्रतिपत्ति असङ्ग प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्काररूप है। अनादि अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित निरतिशय अद्वयानन्द-स्वरूपावस्थित चितिशक्तिरूप कैवल्य, स्वरूप-साक्षात्कारका फल है। इस तुरीयसाक्षात्काररूप प्रतिपत्तिका अन्तरङ्ग साधन प्रत्ययैकतानतारूप निदिध्यासन नामक तृतीय प्रतिपत्ति है।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

(मुण्डकश्रुति ३।१।८)

वृद्ध योगी लोग इस निदिध्यासनका ही दूसरा नाम प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहते हैं। अतएव भाष्यकार शङ्करभगवान्ने निदिध्यासितव्यका अर्थ 'ध्यातव्य' किया है। इस निदिध्यासनरूप ध्यानकी परिपक्व अवस्था ही समाधि है।

ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते।

(स्कन्द०)

ध्यानादस्पन्दनं बुद्धेः समाधिरभिधीयते।

यह विश्वरूपाचार्यका वचन है। अतएव **'समाध्यभावाच्च'** (२।३।३९)। इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें 'समाधि' शब्दके विवरणमें **'निदिध्यासितव्यः'**, **'ओमित्येवं ध्यायथ'** इत्यादि ध्यानप्रतिपादक वाक्योंका उदाहरण शाङ्करभाष्यमें दिया है। अतएव योगसूत्रकारने भी **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** (३।२) इस प्रकार ध्यानका निर्वचन करके

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(३।३)

इस योगसूत्रमें ध्यानका ही समाधिरूपसे निर्वचन किया है। समाधिको ही महर्षिलोग 'योग' कहते हैं—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः॥

(याज्ञवल्क्य०)

अतएव—

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
स नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परंतप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥

—इत्यादि स्कन्दपुराणके वाक्योंमें समाधि और योगका एक ही लक्षण कहा है।

बहुत क्या कहें, यह निदिध्यासन ही क्षण-घड़ी-

घण्टा-प्रहर-दिन-रात्रि-अर्द्धमास-मास-ऋतु-अयन-वर्ष आदि काल-क्रमके अभ्याससे परिपक्व होकर प्रसंख्यान, सम्प्रज्ञात, धर्ममेघ, ऋतम्भरा प्रज्ञा, गुणवैतृष्ण्य, परवैराग्य, ज्ञानप्रसाद, ध्रुवा स्मृति, प्रसंख्यान-पराकाष्ठा, असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प समाधि, सर्वग्रन्थिविप्रमोक्ष, प्रतिप्रसवजीवन्मुक्ति आदि शब्दोंसे कहा जाता है। यह वार्ता विद्वान् योगियोंसे छिपी नहीं है। यहाँपर यह वार्ता जानने योग्य है कि प्रसंख्यान, धर्ममेघ, सम्प्रज्ञातादि अवस्थापन्न ध्यान विज्ञानकी उत्पत्तिद्वारा मोक्षका हेतु है। और ज्ञानप्रसाद, परवैराग्य, ध्रुवा स्मृत्यादि अवस्थापन्न ध्यानयोग साक्षात् मोक्षका हेतु है। और असम्प्रज्ञात समाधि तो मोक्षके समान ही है।

इसलिये—

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।

—इस सूत्रसे पतञ्जलिभगवान्ने असम्प्रज्ञात समाधिको कैवल्यके सदृश कहा है। इसी अवस्थाको वसिष्ठजी परा (दा)-र्थाभाविनी और तुर्यगा कहते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त विद्वान् ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ जीवन्मुक्त कहा जाता है।

शङ्का—प्रत्यगभिन्न ब्रह्मप्रमाकी उत्पत्तिके लिये जिज्ञासुको प्रमाकरण और करणव्यापाररूप इतिकर्तव्यता, इन दोनोंकी ही अपेक्षा है। इसमें करण '**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**' इत्यादि श्रुतियोंसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यका श्रवण है, और इतिकर्तव्यता अप्रामाण्य शङ्काको दूर करनेवाला मननरूप तर्क है; एवं श्रवण-मननसे ही इष्ट स्वरूपसाक्षात्कारकी सिद्धि बन सकती है; अतः अत्यन्त क्लेशसाध्य निदिध्यासनरूप समाधियोगकी कोई अपेक्षा नहीं है। इसी कारणसे '**एतेन योगः प्रत्युक्तः**' (२। १। ३) इस ब्रह्मसूत्रसे व्यासभगवान्ने योगका खण्डन किया है। और—

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्या।

—यह शाङ्करभाष्य है। '**विचारस्यासम्भवे योग ईरितः**'—यह विद्यारण्यस्वामीका उपदेश है।

समाधान—स्वरूपप्रमाकी उत्पत्तिके लिये प्रमाण और इतिकर्तव्यताके सिवा अन्य साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये, यह हम नहीं कहते। किन्तु अत्यन्त निबिड़ अनादि भ्रमज्ञानवासनाजन्य प्रतिबन्धकोंके वैचित्र्यसे यह इतिकर्तव्यता ही अनेक शाखावाली है। स्वरूपाभिव्यक्तिका प्रथम प्रतिबन्धक भोगोंकी वासना है, जो निरन्तर अग्निकी तरह जलाती है, वृश्चिकादिकी तरह डँसती है, भालेकी तरह छेदन करती है, रात्रिकी तरह अन्धा बनाती है, रस्सीके सदृश बाँधती है, तलवारकी तरह काटती है। दूसरा प्रतिबन्धक 'उपनिषद् अद्वितीय ब्रह्ममें प्रमाण हैं कि नहीं' इत्याकारक संशयरूप है; अथवा 'उपनिषदोंसे अद्वितीय असङ्ग ब्रह्मका बोध सम्भव नहीं है'—यह प्रमाणगत असम्भावना है। तीसरा प्रतिबन्धक 'आत्मा देहादिसे अतिरिक्त है या नहीं और अतिरिक्त होनेपर भी कर्ता है या अकर्ता, अकर्ता होनेपर भी चेतन है या जड है, और चेतन होनेपर भी आनन्दस्वरूप है या आनन्द गुणवाला है, आनन्दस्वरूप होनेपर भी ब्रह्मसे आत्मा भिन्न है या अभिन्न है' इत्यादि विविध संशयरूप है। अथवा अबाधित ब्रह्ममें भी बाधितत्व-कल्पनारूप प्रमेयगत असम्भावना है। और चतुर्थ प्रतिबन्धक ब्रह्मके प्रत्यक्ष हो जानेपर भी ब्रह्मसाक्षात्काररूप प्रमामें असाक्षात्कारत्वकी कल्पनारूप विपरीत भावना है। यहाँ जो प्रथम विषयभोगोंकी वासना है सो उपनिषद्श्रवणके अङ्ग यम-नियम-विवेक-वैराग्यादिसे नष्ट होती है। प्रमाणगत असम्भावना श्रवणसे नष्ट होती है, और प्रमेयगत सन्देह अथवा असम्भावना मननसे नष्ट होती है। इसके लिये यद्यपि निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप समाधियोगकी अपेक्षा नहीं है, तथापि 'वेदान्त यद्यपि ब्रह्मको बोधन करते हैं, ब्रह्म किसी मानसे बाधित भी नहीं है, तो भी ब्रह्म मुझको प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष ही है' इत्यादि भ्रान्ति और भ्रान्तिसंस्कारपरम्परारूप विपरीत भावनाकी अनुवृत्ति जबतक मौजूद है, तबतक विद्या प्रतिबन्धरहित अपने फलको नहीं दे सकती। अतः पूर्वोक्त भ्रान्तिनिरासपूर्वक 'उपनिषदोंसे बोधित एवं सर्वमानोंसे अबाधित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ प्रत्यगभिन्न असङ्ग अद्वितीय स्वयंप्रकाश सच्चिदानन्द ब्रह्म मुझको सदा अपरोक्ष है'—इस प्रकार स्वानुभवपर्यन्त ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप योगकी शरण अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। '**एतेन योगः प्रत्युक्तः**' इस सूत्रसे व्यासभगवान्ने योगका खण्डन नहीं किया है, किन्तु प्रधानादि जगत्में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व, प्रधान स्वातन्त्र्य, जीवोंका

परस्पर भेद, जीव-ईशका भेद आदि जो वेदके विरुद्ध हैं, उनका केवल खण्डन किया है। क्योंकि व्यासभगवान्ने—

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' 'ध्यानाच्च' 'आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्।' (४।१।१, ८, १२)

—इत्यादि ब्रह्मसूत्रोंसे प्रसंख्यानरूप अथवा निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप योगको प्रत्यगभिन्न ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा कैवल्यका हेतु स्वयं स्वीकार किया है।

इसके अतिरिक्त अनेक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सभी योगकी कल्याणहेतुताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं, विस्तारभयसे यहाँ प्रमाण नहीं दिये गये हैं।

ऋषि-मुनि-विद्वान् महात्माओंका अनुभव भी इसमें प्रमाण है। कामातुरके व्यवहित कामिनीसाक्षात्कारमें प्रसंख्यानकी कारणता प्रसिद्ध ही है। अतः योगके विषयमें साक्षात्कारकारणताकी कल्पना नवीन नहीं है। अतएव भामतीकार कहते हैं—

सा हि सत्कारदीर्घकालनैरन्तर्यसेविता सती दृढभूमिर्विशेषसाक्षात्काराय प्रभवति कामिनीभावनेव स्त्रैणस्य पुंसः इति।

प्रश्न—योगकी प्रमाकरणोंमें परिगणना न होनेसे योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार कामिनीसाक्षात्कारकी तरह प्रमा नहीं होगा?

उत्तर—जहाँ प्रमाणजन्यत्वाभाव हो, वहाँ प्रमात्वका अभाव हो यह नियम नहीं है। क्योंकि जहाँ वाष्पको धूम समझकर पर्वतमें वह्निकी अनुमितिके अनन्तर वह्निका अर्थी पर्वतमें जाय और वहाँ वस्तुतः वह्नि विद्यमान हो तो वहाँ अनुमिति प्रमा है। यह प्रसङ्ग **'पाणौ पञ्चवराटकान् पिधाय'** इत्यादि खाद्यखण्डनमें स्पष्ट है। वस्तुतः, जैसे घटसाक्षात्कारमें नेत्रका द्वार नेत्रका संनिकर्ष है, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कारमें उपनिषदोंका द्वार योग है; अतः योगकी प्रमाकरणोंमें गणना न होनेपर भी योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार प्रमाणमूलक होनेसे उसमें अप्रमात्वकी शङ्का नहीं बनती। 'ब्रह्मसाक्षात्कारका शब्द करण नहीं है, किन्तु शमदमादिसे संस्कृत मन ही करण है'—वाचस्पतिके इस मतमें भी योगको द्वार माना है। अतएव **'कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते'**—इस प्रकार आकाङ्क्षाको उठाकर **'समाधिविशेषाभ्यासात्'** इत्यादि न्यायसूत्रसे गौतम महर्षिने भी योगको तत्त्वज्ञानका हेतु वर्णन किया है। यह समाधिरूप योग चित्तका धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है; क्योंकि **'केवलो निर्गुणश्च'** इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा निर्गुण है। **'स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः'**—यह प्रथम योगसूत्रके भाष्यका वचन है। अर्थात् चित्तकी पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रजोगुण अर्थात् शब्दादि विषयोंमें और रागद्वेषादिसे हर समयमें व्यग्र—अत्यन्त चञ्चल चित्तका नाम क्षिप्त है, जैसे दैत्य-दानवोंका चित्त अथवा बन्दरका चित्त। तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रादि वृत्तिवाले तमःप्रधान चित्तका नाम मूढ है, जैसे भैंसका चित्त अथवा अजगरका चित्त। जिस चित्तमें चञ्चलता बहुत हो और कदाचित् थोड़ी शान्ति भी हो वह चित्त विक्षिप्त कहा जाता है, जैसे देवताओंका चित्त अथवा जिज्ञासुओंका चित्त। किसी एक विषयमें तैलधाराकी तरह प्रवाहरूपसे वहनशील चित्तका नाम एकाग्र है। ऐसा चित्त सम्प्रज्ञात (सविकल्प) समाधिवाले योगीका होता है। जिस चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो गया हो अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पविकल्पोंसे रहित संस्कारमात्रशेष चित्तका नाम निरुद्ध है। ऐसा चित्त असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधिवाले योगीका होता है।

प्रश्न—पतञ्जलि भगवान्ने **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**—इस सूत्रसे चित्तवृत्तिके निरोधको योगका लक्षण कहा है, परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त भूमियोंमें भी सात्त्विक वृत्तिका निरोध विद्यमान है, इन भूमियोंमें होनेवाले निरोधको योग नहीं कह सकते; अन्यथा बन्दर, भैंस आदि सम्पूर्ण जीव योगी हो जायँगे। दुनियामें ऐसा कोई भी चित्त नहीं है, जिसकी वृत्तिका निरोध न हो। यदि सर्ववृत्तियोंका निरोध योगका लक्षण है, तब सम्प्रज्ञात समाधिमें यह लक्षण नहीं जावेगा?

उत्तर—

क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधो योगः।

—इस लक्षणके स्वीकार होनेसे अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दूषण नहीं रह सकता। क्योंकि क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त भूमियोंके निरोधमें क्लेशादिविरोधित्व नहीं है, और सर्व शब्दके अग्रहणसे सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति भी नहीं है। सम्प्रज्ञातमें राजस-तामस वृत्तियोंका निरोध होनेसे क्लेशादिपरिपन्थित्व विद्यमान है। प्रकृति और प्रकृतिके विकारोंमें जो समाधि हैं उनके फल अनेक प्रकारकी विभूतियाँ हैं। इन विभूतियोंका निरूपण विभूतिपादमें

बड़े विस्तारसे किया गया है। ये सब समाधि जड समाधि हैं, '**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्**' इस सूत्रमें यही जड समाधि कही है। इसी जड समाधिका नाम भवप्रत्यय है। तत्त्वजिज्ञासुको यह जड समाधि कर्तव्य नहीं है।

प्रकृति-विकृतिरहित अद्वितीय सर्वान्तर्यामी स्वयंप्रकाश चैतन्य ज्योतिःस्वरूप शुद्ध असङ्ग प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक समाधि चैतन्य समाधि कही जाती है, यह समाधि ही जिज्ञासुको कर्तव्य है। इस चैतन्य समाधिवाले योगीके भी यदि विषयवासना शेष रह गयी हो तो प्रत्यक् चेतनका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु वासनाके अनुसार उत्तम लोकोंकी ही प्राप्ति होती है। जबतक अणुमात्र भी विषयवासना रहेगी तबतक आवरणभंग नहीं होगा। अतएव श्रीगौडपादाचार्यजी कहते हैं—

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमाने विपश्चितः।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः॥

(प्र० ४। ९७)

इस चैतन्य समाधिका नाम ही अस्पर्शयोग है, यह समाधि द्वैतदृष्टिवाले योगियोंको दुर्दर्श है—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(प्र० ३। ३९)

यह गौडपाद स्वामीका वचन है।

समाधि

समाधियोगका स्पष्टरूपसे वर्णन इस प्रकार है—

व्युत्थान-संस्कारोंका तिरस्कार और निरोध-संस्कारोंके प्रकट होनेपर अन्तःकरणका एकाग्रतारूप परिणाम समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी होती है, एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीभानसहित अद्वितीय ब्रह्मविषयक अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति सविकल्प समाधि है। यह सविकल्प समाधि दो प्रकारकी है। एक शब्दानुविद्ध, दूसरी शब्दाननुविद्ध है। '**अहं ब्रह्मास्मि**'—इस शब्दभानके सहित होनेसे समाधि शब्दानुविद्ध कही जाती है। और शब्द-भानसे रहित शब्दाननुविद्ध कही जाती है। और त्रिपुटीभानरहित अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति निर्विकल्प समाधि है। इस प्रकारसे समाधिके दो भेद हैं। इनमें सविकल्प समाधि साधन है एवं निर्विकल्प फल है। जो सविकल्प समाधि है, उसमें यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैत प्रतीत होता है, तथापि वह द्वैत ब्रह्मरूपसे ही प्रतीत होता है। जैसे मृत्तिकाके विकार घटादि विवेकीको प्रतीत भी होते हैं तो भी मृत्तिकारूपसे ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधिमें विवेकीको त्रिपुटीद्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमें भी सविकल्प समाधिकी तरह त्रिपुटीद्वैत विद्यमान है, तथापि त्रिपुटीद्वैतकी प्रतीति नहीं होती। जैसे जलमें लवण डालें तो वहाँ लवण मौजूद है, परन्तु नेत्रसे लवणकी प्रतीति नहीं होती। अतः सविकल्प-निर्विकल्प समाधिका यह भेद सिद्ध हुआ कि सविकल्प समाधिमें ब्रह्मरूप करके द्वैत प्रतीत होता है और निर्विकल्प समाधिमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती।

सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधिका भेद

सुषुप्तिमें ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होती और निर्विकल्प समाधिमें अन्तःकरणकी ब्रह्माकार वृत्ति तो रहती है, परन्तु वृत्तिका भान नहीं रहता। सुषुप्ति होनेपर बैठा हुआ शरीर गिर पड़ता है, समाधिमें नहीं गिरता। इससे मालूम होता है कि समाधिमें अन्तःकरणकी वृत्ति रहती है। समाधिसे उठनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकी प्रतीति होती है, इससे भी निर्विकल्प समाधिमें वृत्तिकी अनुवृत्ति अवश्य रहती है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमें प्रयत्न नहीं है, तथापि प्रथमके प्रबल प्रयत्नसे निर्विकल्प समाधिमें ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त सुषुप्तिमें अन्तःकरणका लय अज्ञानमें होता है और निर्विकल्प समाधिमें जल-प्रक्षिप्त लवणकी तरह चेतनमें अन्तःकरणका लय होता है। सुषुप्तिमें आवरण रहता है, आत्मविषयक निर्विकल्प समाधिमें आवरण नहीं रहता। सुषुप्तिमें आवृत आनन्दका अनुभव होता है, निर्विकल्प समाधिमें निरावरण आनन्दस्वरूपका अनुभव है। यम-नियमादि प्रयत्नके बिना चित्तका लय निद्रा है, यम-नियमादि-प्रयत्नपूर्वक चित्तका लय समाधि है—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः॥
लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥

(गौडपाद प्र० ३। ३५)

निर्विकल्प समाधिके दो प्रकार

एक अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि होती है, दूसरी अद्वैत अवस्थानरूप होती है। जो अद्वैत ब्रह्माकार अन्तःकरणकी अज्ञात वृत्तिसहित हो वह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि है। इसके अधिक अभ्याससे जब अन्तःकरणकी वृत्ति शान्त हो जाती है तब वृत्तिरहित अद्वैत-अवस्थानरूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे तप्त लोहेपर जलकी बूँद गिरी हुई तप्त लोहेमें प्रवेश करती है, तद्वत् अद्वैतभावनारूप समाधिके दृढ़ अभ्याससे अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्ममें वृत्तिका लय होता है।

यहाँ यह रहस्य है कि यद्यपि अद्वैत-अवस्थानरूप समाधिमें रज-तमका तिरोधान हो चुका है, तथापि शुद्ध सत्त्वगुण विद्यमान है एवं च शुद्ध सत्त्वगुणरूप उपादानमें ही वृत्तिके लयका सम्भव है, निर्विकार ब्रह्मप्रकाशमें नहीं। तप्त लोहेपर जलबिन्दुका दृष्टान्त जो कहा है, वहाँ भी विचारदृष्टिसे पार्थिव लोहेमें जलबिन्दुका लय नहीं होता; किन्तु जलका उपादान जो अग्नि है उसीमें जलबिन्दुका लय होता है, तप्त लोहेमें उपचारमात्र है। तथापि ब्रह्मप्रकाशके भानरूप निमित्तसे वृत्तिका लय हुआ है, अतः उपचारसे ब्रह्मप्रकाशमें लय कहा है। अथवा उस समाधिनिष्ठ ब्रह्मविद्वरिष्ठकी दृष्टिसे गुणादिक हैं ही नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्मका विवर्त ही निखिल विश्व है। अतः प्रकाशरूप ब्रह्ममें वृत्तिका लय कहा है।

चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगके आठ उपाय भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें बतलाये हैं—

(१) **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'**। अभ्यास तथा वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'**—इस वचनसे श्रीभगवान्ने भी चित्तनिरोधके उपाय अभ्यास-वैराग्य ही कहे हैं।

(२) **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'**। अथवा प्रणवजप और प्रणवके अर्थचिन्तनसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(३) **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'**। प्राणायामसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(४) नासिकाके अग्रभागमें संयम करनेसे दिव्य गन्धका प्रत्यक्ष होता है। **'त्रयमेकत्र संयमः'**। किसी एक अभिमत लक्ष्यमें धारणा-ध्यान-समाधिका नाम संयम है। जिह्वाग्रमें संयमके परिपाकसे दिव्य रसका, तालुमें संयमसे दिव्य रूपका, जिह्वाके मध्यमें संयमसे दिव्य स्पर्शका, एवं जिह्वाके मूलमें संयमसे दिव्य शब्दका साक्षात्कार होता है। इन गन्धादि प्रत्यक्षोंका नाम विषयवती प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति चित्तनिरोधद्वारा समाधिमें उपयोगी होती है।

(५) हृदयकमलमें संयम करनेसे चित्तका प्रत्यक्ष होता है। अस्मितामें संयम करनेसे अस्मिताका प्रत्यक्ष होता है, इस प्रत्यक्षसे भी योगीका चित्त निरुद्ध होता है।

(६) वीतराग पुरुषके चित्तके अनुकूल चलनेसे, अथवा वीतराग पुरुषोंके अन्तरङ्ग होनेसे भी चित्तका निरोध होता है।

(७) स्वप्नमें देखी हुई भगवान् महेश्वरकी मूर्तिमें संयम करनेसे भी चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगकी सिद्धि होती है।

(८) **'यथाभिमतध्यानाद्वा'**। अथवा जो देवतादिविग्रह अपनेको इष्ट हो उसीका ध्यान करे, उससे भी चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है। ये संक्षेपसे आठ उपाय योगके हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(यो० सू० १। ३३)

इस सूत्रमें कहे हुए मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षारूप चतुर्विध भावनाओंका इन आठ उपायोंमेंसे प्रत्येकके साथ समुच्चय है। इनका विस्तार योगदर्शनके समाधिपादमें है, यहाँ विस्तारभयसे नहीं लिखते।

निर्विकल्प समाधिके (१) लय, (२) विक्षेप, (३) कषाय, (४) रसास्वाद—ये चार विघ्न हैं। आलस्य और निद्रासे वृत्तिके अभावको लय कहते हैं। उस लयसे सुषुप्तिके समान अवस्था हो जाती है, ब्रह्मानन्दका भान नहीं होता है। अतः निद्रा-आलस्यादिक निमित्तसे जब वृत्तिका लय होता दीखे तब योगी सावधान हो, निद्रादिकोंको रोककर वृत्तिको जगावे, आँखोंमें जल और कपूर लगावे। इस वृत्तिके जागरणरूप प्रवाहके अनुकूल प्रयत्नको गौडपादाचार्य 'चित्तसम्बोधन' कहते हैं। **'लयात् सम्बोधयेच्चित्तम्'**—यह गौडपादका वचन है।

जैसे बाज आदिके डरसे पक्षी घरमें प्रविष्ट होता है,

और भयसे व्याकुल होनेके कारण घरके भीतर अपने बैठनेका स्थान न देखकर पुनः तुरन्त बाहर आकर खेदको प्राप्त होता है, वैसे ही अनात्मपदार्थोंको दुःखका हेतु जानकर अद्वैतानन्दको विषय करनेके लिये अन्तर्मुख हुई वृत्तिको कुछ काल स्थितिके बिना चैतन्यस्वरूप आनन्दका लाभ नहीं होता, क्योंकि वृत्तिका विषय चेतन अति सूक्ष्म है। अतः वृत्ति बहिर्मुख होकर पुनः अनात्मपदार्थोंमें लग जाती है। इस रीतिसे बहिर्मुख वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। अतः वृत्तिके अन्तर्मुख होनेपर जबतक वृत्ति ब्रह्माकार न होवे तबतक बाह्य पदार्थोंमें दोषभावना ही करे; वृत्तिको बहिर्मुख न होने दे, किन्तु अन्तर्मुखता ही स्थापन करे। विक्षेपरूप विघ्नका विरोधी जो योगीका प्रयत्न है उसे गौडपादजीने 'शम' कहा है। **'विक्षिप्तं शमयेत् पुनः'**—यह गौडपादजीका वचन है।

रागादिक दोषोंको 'कषाय' कहते हैं। रागादि दो प्रकारके हैं—एक बाह्य, दूसरे आन्तर। पुत्र-धनादिके प्रति वर्तमानविषयक राग-द्वेष-मोहादिक बाह्य हैं, भूत और भावीका चिन्तनरूप मनोराज्य आन्तर है। रागादिक दोषसहित अन्तःकरण क्षिप्त है, इस क्षिप्त अन्तःकरणका योगमें अधिकार ही नहीं है। अतः रागादिक दोषरूप कषाय समाधिके विघ्न हैं, यह कहना नहीं बन सकता। तथापि इसका समाधान यह है कि बाह्य अथवा आन्तर जो रागादिक हैं वे क्षिप्त अन्तःकरणमें ही होते हैं, क्षिप्त अन्तःकरणका योगमें अधिकार है नहीं; तो भी जन्म-जन्मान्तरमें पूर्व अनुभव किये जो राग-द्वेष हैं उनके सूक्ष्म संस्कार विक्षिप्त अन्तःकरणमें भी बन सकते हैं। स्थूल राग-द्वेषादिकोंका नाम कषाय नहीं है, सूक्ष्म राग-द्वेषादिकोंके संस्कार ही 'कषाय' कहे जाते हैं। सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरणमें रहते ही हैं। परन्तु राग-द्वेषादिकोंके उद्बुद्ध संस्कार समाधिके विरोधी हैं, अनुद्भूत (अप्रकट) विरोधी नहीं हैं। योगीके अन्दर जब राग-द्वेषादिक संस्कार प्रकट हों तब वह उन्हें विषयोंमें दोषदृष्टिसे दबा दे। बाह्यविषयाकार वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। योगीके प्रयत्नसे जब वृत्ति अन्तर्मुख हो तब जिन राग-द्वेषादिकोंके उद्भूत संस्कारोंसे अन्तर्मुख हुई भी वृत्ति रुक जाय, ब्रह्माकार न हो सके, उन राग-द्वेषादिके उद्भूत संस्कारोंका नाम 'कषाय' है।

रसास्वादका यह अर्थ है—योगीकी वृत्ति जब लय, विक्षेप और कषायके न होनेसे अन्तर्मुख हो तब ब्रह्म-साक्षात्कारके पहले विक्षेपकी निवृत्तिसे आनन्दाभास होता है। जैसे भारवाही पुरुषको भार उतर जानेसे आनन्द होता है। वहाँ आनन्दमें और तो कोई विषय हेतु नहीं है, पर भारजन्य दुःखकी निवृत्ति होनेसे भारवाही यह कहता है कि मुझे आनन्द हुआ है। इससे दुःखकी निवृत्ति ही आनन्दका हेतु है। वैसे योगीको समाधिमें विक्षेपकी निवृत्ति होनेसे जो आनन्द होता है उस अनुभवका नाम रसास्वाद है।

विक्षेपरूप दुःखकी निवृत्तिसे होनेवाले आनन्दके अनुभवसे ही यदि योगी तृप्त हो जावे, तो सर्व उपाधिरहित अद्वितीय ब्रह्मानन्दाकार वृत्तिके नहीं होनेसे प्रत्यगभिन्न—निरुपाधिक ब्रह्मानन्दका अनुभव योगीको नहीं होगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधिमें विघ्न है।

इष्टकी प्राप्ति न होनेपर भी विरोधीकी निवृत्तिसे आनन्दकी प्राप्ति अन्य स्थलमें भी देखी गयी है। जैसे किसी पुरुषके घरमें निधि गड़ी हुई है, उसके ऊपर पृथ्वीमें बड़ा भारी काला नाग रहता है; वहाँ उस काले नागको मार देनेसे भी आनन्द होता है। यदि वह पुरुष काले नागके मरनेसे होनेवाले आनन्दमें ही अलंबुद्धि कर ले और निधि-प्राप्तके लिये खोदनेमें प्रयत्न न करे तो निधिकी प्राप्ति नहीं होगी। वैसे ही अद्वैत ब्रह्मरूप निधि अज्ञानसे ढकी हुई है, देह-गेहादिक अनात्मपदार्थोंकी प्रतीतिरूप काला नाग है; यदि योगी अनात्मपदार्थोंकी प्रतीतिरूप (विक्षेप) नागके मरनेसे पैदा होनेवाले आनन्दमें अलंबुद्धि कर ले और अद्वितीय ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये प्रयत्न न करे तो आवरणके भङ्ग न होनेसे योगी पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभवरूप रसास्वाद ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें विघ्न है।

अथवा सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दका नाम रसास्वाद है। यदि योगी सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दमें ही अलंबुद्धि कर ले तो निर्विकल्प समाधिके आनन्दसे वञ्चित हो जावेगा। अतः निर्विकल्प समाधिका विघ्न सविकल्प समाधिजन्य आनन्दका अनुभव रसास्वाद है। अतः इस रसास्वादमें ही योगी अपनेको कृतकृत्य न माने, किन्तु असङ्ग होकर परवैराग्यके

अभ्याससे निर्विकल्प समाधिके लिये ही प्रयत्न करे।

अतएव गौडपाद स्वामीजी कहते हैं—

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः॥

(प्र० ३।४५)

अर्थात् लय-विक्षेपरहित एकाग्र चित्तमें निर्विकल्प समाधिके पहले जो आनन्दाभासरूप सुख उत्पन्न होता है उसके स्वादमें मग्न न हो जावे, किन्तु उसको अज्ञानविजृम्भित-मिथ्या समझकर निःस्पृह होवे, विवेकपूर्वक असङ्ग आत्माकी ही भावना करे। सर्व दोषोंकी निवृत्ति होनेपर विद्वान्‌को जो निर्विकल्पक ब्रह्मविषयक समाधि होती है उसका स्वरूप भी श्रीस्वामी गौडपादजीने लिखा है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥

(प्र० ३।३७)

'सर्व बाह्य शब्दादि व्यवहारसे रहित, सर्व सूक्ष्म प्रपञ्चरूप चिन्तासे रहित, सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशोंसे रहित, सदा स्वयंप्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप, अचल, भयादि द्वैतरहित स्वस्वरूपका नाम ही समाधि है।' सम्पूर्ण प्रत्ययोंसे और सब प्रकारके सम्बन्धोंसे रहित होनेके कारण इस समाधिका नाम ही अस्पर्शयोग है।

प्रश्न—अनादि-अनन्त कालसे सञ्चित अनात्मविषयक प्रत्ययोंके अनन्त होनेसे इनका अल्पकालके अल्पसंख्यक आत्मविषयक प्रत्ययोंसे निरोध नहीं बन सकता।

उत्तर—आत्मविषयक अभ्यासजन्य प्रत्ययोंके अल्पसंख्यक होनेपर भी इनका विषय आत्मा सत्य है, अतः इनसे मिथ्याविषयक अनात्मगोचर प्रत्ययोंका निरोध हो जाता है— **'भूतार्थ (सत्य) पक्षपातो हि धियां स्वभावः।'**

तावदेवेयमनवस्थिता भ्राम्यति न यावत् तत्त्वं प्रतिलभते।

—यह वाचस्पतिका वचन है।

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽनादिमत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥

यह बुधका वचन है। **'तज्जः संस्कारोऽन्य-संस्कारप्रतिबन्धी'** (१।५०) यह पतञ्जलिका सूत्र है। इसी योगसूत्रमें **'ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितम्'**—यह व्यासभाष्यका वचन है। लाखों भेड़ोंको मारनेके लिये एक ही शेर समर्थ हो सकता है। अतः बहुत संख्यावालोंसे अल्प संख्यावालोंका बाध होता है, यह नियम नहीं है।

यहाँपर यह क्रम है—प्रथम गुरु और शास्त्रके द्वारा श्रवण किये हुए ब्रह्मस्वरूपका स्मरण करे और पुनः-पुनः आवृत्ति करता हुआ विजातीय वृत्तिके तिरस्कारपूर्वक सजातीय वृत्तिके प्रवाहको बढ़ावे; जब चित्त तैलधाराकी तरह लक्ष्यमें एकाग्र हो जाता है तब अनात्मवृत्तियोंका निरोध हो जाता है और एकाग्रताकी परिपक्वावस्थारूप समाधि (निर्विचार) योगका लाभ होता है। इस समाधियोगके परिपक्व होनेपर वैशारद्य (रजस्तमसे अनभिभूत स्वच्छ सत्त्वके स्थितिप्रवाह)-का लाभ होता है। इसके अनन्तर अध्यात्मप्रसाद (यथार्थवस्तुविषयक युगपत् स्फुट प्रज्ञाका आलोक) होता है। इस अवस्थाका वर्णन करते हुए योगभाष्यमें कहा है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

इस अध्यात्मप्रसादकी परिपक्व अवस्थाके लाभ होनेपर ऋतम्भरा प्रज्ञाका लाभ होता है। यह प्रज्ञा अन्वर्थ है, केवल सत्यको ही विषय करनेवाली है—विपर्यासका इसमें गन्ध भी नहीं रहता। इस अवस्थाका वर्णन करते हुए व्यासजीने योगभाष्यमें कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

अर्थात् श्रवण, मनन, ध्यानाभ्यासमें पुनः-पुनः आदरसे उत्तम योग (ऋतम्भरा प्रज्ञा)-की प्राप्ति होती है। यह प्रज्ञा अद्वितीय-असङ्गत्वादि विशेषविषयक होनेसे श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञासे अन्यविषयक है। इस तत्त्वसाक्षात्काररूप प्रज्ञाके लाभ होनेसे योगीके स्वतःसिद्ध प्रज्ञासे पुनः-पुनः नवीन-नवीन संस्कार पैदा होता है। **'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'** (१।५०)—यह तत्त्वसाक्षात्कारजन्य संस्कार व्युत्थानसंस्कार आशयका बाध करता है। व्युत्थानसंस्कारोंके अभिभवसे अनात्म-संस्कारजन्य प्रत्ययरूप व्युत्थान नहीं होता; प्रत्ययनिरोधसे समाधि होती है, एवं समाधिसे पुनः तत्त्वप्रज्ञा होती है और उससे प्रज्ञाकृत संस्कार—इस प्रकार नवीन-नवीन संस्कार, आशय पैदा होता है; **ततः प्रज्ञा, ततः संस्कारः।**

प्रश्न—यह संस्कारका अतिशय चित्तको साधिकार क्यों नहीं करता?

उत्तर—ये संस्कार तत्त्वज्ञानसे पैदा हुए हैं, अतः चित्तको साधिकार अर्थात् भोगादि कार्य करनेमें समर्थ नहीं कर सकते। किन्तु ये विवेकख्यातिजन्य संस्कार क्लेशक्षयके हेतु हैं, अतः चित्तको भोगरूप कार्य करनेमें असमर्थ कर देते हैं। अतएव योगभाष्यमें कहा है—**'ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितम्'**। परवैराग्यसे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानजन्य संस्कारोंका भी निरोध हो जानेपर निर्बीज समाधि होती है, इसी समाधिका नाम अस्पर्शयोग है। **'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'**—इस सूत्रसे पतञ्जलिभगवान्ने अस्पर्शयोगका ही वर्णन किया है। परवैराग्यजन्य निरोधसंस्कारोंके सहित चित्त निवृत्त हो जाता है, चित्तके निवृत्त होनेसे पुरुष स्वस्वरूपमें स्थित शुद्ध मुक्त कहा जाता है। **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**—इस योगसूत्रने इसी अवस्थाका वर्णन किया है। यह योगका स्वरूप कहा।

इस योगके सामान्यतः चार भेद हैं—१. मन्त्रयोग, २. लययोग, ३. हठयोग, ४. राजयोग। मन्त्रयोगका वर्णन संक्षेपमें योगचूडामण्युपनिषद्में किया है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥

(३१—३५)

योगतत्त्वोपनिषद्में मन्त्रयोगके विषयमें इस प्रकार कहा है—

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्॥

(२१। २२)

तुलसीदासजीने भी मन्त्रयोगकी महिमा बहुत गायी है—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

पतञ्जलिभगवान्ने भी मन्त्रयोगका वर्णन किया है—
'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'।

(योग० १। २७-२८)

मनुभगवान् कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२। ८२)

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।

(२। ८७)

'जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यादिरहित होकर प्रणवव्याहतिके सहित गायत्रीमन्त्रका जप तीन वर्षपर्यन्त नियमसे करता है, सो वायुकी तरह स्वतन्त्र गतिवाला होता है और परब्रह्मको प्राप्त होता है।'

'पवित्र मन्त्रके जपसे ही ब्राह्मण सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते॥

(संन्यासोपनिषद्)

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि॥

(योगशिखोपनिषद् १। १३०—१३२)

मन्त्रयोगसे पश्चिमपथ (सुषुम्ना)-का दर्शन होता है। सुषुम्नादर्शनसे चित्तस्थितिद्वारा तत्त्वसाक्षात्कार ही मन्त्र-योगका फल है, अर्थात् **'सोऽहम्'** इत्यादि मन्त्रजप करते-करते जो चित्तवृत्तिका निरोध होता है उसका नाम मन्त्रयोग है। मानस जप और मौखिक जप न हो सके तो लेखात्मक जप करे, इससे भी मन स्थिर हो जाता है।

लययोग

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥
स एव लययोगः स्यात्..........................।

(योगतत्त्वोपनिषद् २३-२४)

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

(हठयोगप्रदीपिका ४। २९)

'इन्द्रियोंका नाथ (स्वामी) मन है, और मनका स्वामी प्राण है, प्राणका नाथ मनका लय है, मनका लय नादके श्रवणसे होता है।' अर्थात् षण्मुखी मुद्रामें (अपने दो अँगूठोंसे कान, दो तर्जनियोंसे आँख, दो

मध्यमाओंसे नाक, बाकी अँगुलियोंसे मुख बन्द करके आधी रात्रिके बाद आन्तर शब्दमें मनको लगाना) मनका लय करे।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥

(४। ८३, ५९)

'लयो विषयविस्मृतिः', 'निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्', 'भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते, विलापयेदित्यर्थः'। (४। ३४, ५०, ४८)

—इत्यादि हठयोगप्रदीपिकामें लययोगका विस्तारसे वर्णन किया है।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्॥

—इत्यादि योगवासिष्ठमें भी विस्तारसे लययोगका वर्णन है।

पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्॥

(योगशिखोपनिषद्)

निर्विकल्पे निराधारे निराकारे निरञ्जने।
सर्वभूतलयं दृष्ट्वा भूतसिद्धिः प्रजायते॥

हठयोग

.... हठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥
लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन!।

(२४-२५, २८, २९)

—इत्यादि हठयोगका प्रतिपादन योगतत्त्वोपनिषद्में किया गया है। इन अंगोंका वर्णन 'योगदर्शन', 'हठयोग-प्रदीपिका', 'घेरण्डसंहिता' आदि योगग्रन्थोंमें विस्तारसे किया गया है। यहाँ लेखविस्तारके भयसे यमादिका वर्णन नहीं करते।

अथवा—

हकारेण तु सूर्यः स्यात् सकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्।

(योगशिखोपनिषद्)

सूर्य नाम दक्षिण स्वरका है, चन्द्र नाम वाम स्वरका है, दोनोंकी समताका नाम हठयोग है। अर्थात् नाभिसे उठकर नासिकाके अग्रभागसे बारह अङ्गुलपर्यन्त प्राणवायु बाहर जाता है, पुनः लौटकर नाभिमें प्राणवायु आता है, इस प्रकार प्राणवायुकी स्वाभाविक गति है।

प्राणायामके बलसे योगी प्राणवायुकी गतिको एक-एक दो-दो अङ्गुल क्रमशः घटावे, जब द्वादश अङ्गुल बाहरकी गति बन्द हो जाय और केवल नासिकाके भीतर ही दोनों स्वर सम होकर सुषुम्नासे जिस अवस्थामें प्राण चले उस अवस्थाका नाम 'हठ' है। इस अवस्थाका वर्णन श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी किया है—

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ इत्यादि।

अथवा प्राणनिरोधद्वारा मनका निरोध हठयोग है, और मनके निरोधद्वारा प्राणका निरोध राजयोग है।

राजयोग

मन्त्रयोग, लययोग, हठयोगका फल राजयोग है। आत्मनिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठा, राजविद्या, राजगुह्य, महायोग, अस्पर्शयोग, सांख्ययोग, अध्यात्मयोग, ज्ञानयोग, राजाधिराजयोग इत्यादि अनेक नाम राजयोगके हैं। १. विवेक, २. वैराग्य, ३. षट्सम्पत्ति, ४. मोक्षकी इच्छा, ५. श्रवण, ६. मनन, ७. निदिध्यासन, ८. तत्पदार्थ, त्वं पदार्थका शोधनरूप आठ अङ्गोंसे प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक निर्विकल्प समाधिरूप राजयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग भी राजयोगके अङ्ग हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्में राजयोगके १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ८. समाधि, ये आठ अङ्ग कहे हैं; इन यमादिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः॥
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः।
सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम॥

चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते॥
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते।
(२८—३२)

अर्थात् देहादिमें वैराग्य यम है। निरन्तर परतत्त्वमें अनुरक्तिका नाम नियम है। सर्व वस्तुओंमें उदासीनता आसन है। जगत्‌में मिथ्यात्वनिश्चय प्राणायाम है। चित्तकी अन्तर्मुखता प्रत्याहार है। चित्तका तत्त्वमें निश्चलभाव धारणा है। 'चिन्मात्र ब्रह्म ही मैं हूँ'— इस चिन्तनका नाम ध्यान है। ध्यानकी अच्छी तरह विस्मृति अर्थात् केवल संस्कारशेष अवस्था समाधि है।

तेजोबिन्दूपनिषद्‌में राजयोगके पन्द्रह अङ्ग कहे गये हैं।

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥
(१।१५—१७)

(१) 'सम्पूर्ण ब्रह्म ही है'—इस ज्ञानसे जो इन्द्रियग्रामका संयम है, सो ही यम है। इस यमका जिज्ञासुको पुनः-पुनः अभ्यास करना चाहिये।

(२) **सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।**
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥
(१।१८)

'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिका सजातीय प्रवाह और विजातीय वृत्तियोंका तिरस्कार नियम है। इसका विद्वान्‌लोग नियमसे अनुष्ठान करते हैं।

(३) **त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः।**
(१।१९)

अनात्मचिन्ताका न करना ही त्याग है। यह महान् पुरुषोंका पूज्य है, शीघ्र मोक्षको देनेवाला है।

(४) ब्रह्म मन-वाणीका अगोचर है और 'नेति-नेति' श्रुतिप्रमाणसे अनात्मा वस्तुतः है नहीं, इस निश्चयको मौन कहते हैं।

इति वा तद्ध वेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम्।
गिरां मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम्॥

(५) **आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।**
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥
(१।२२-२३)

वस्तुतः जिसमें सर्वथा सर्वदा कोई भी मनुष्यादि प्रपञ्च नहीं है, सर्वका विवर्ताधिष्ठान होनेसे जो सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है उस अपने आत्माको ही योगियोंने अभ्यासके लिये निर्जन एकान्त देश कहा है।

(६) **कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।**
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम्॥
(१।२४)

ब्रह्मादि सर्वभूतोंकी जिसमें क्षणभरमें कल्पना होती है ऐसा अखण्ड आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही अभ्यासके योग्य काल है। अर्थात् अभ्यासीको देश-कालकी भ्रान्तिका त्याग करना चाहिये।

(७) **सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।**
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम्॥
(१।२५)

यद्यपि आसन चौरासी लक्ष हैं, उनमें ८४ आसन प्रधान हैं, चौरासी आसनोंमें भी १. सिंह, २. भद्र, ३. पद्म, ४. सिद्ध, ये चार आसन प्रधान हैं; इनमें भी सिद्धासन अत्यन्त प्रधान है। सिद्ध आसनका यह लक्षण है—वाम पादकी एड़ीको उपस्थके ऊपर दबाकर धरे, और वाम पैरके जाँघ और ऊरुके बीचमें दक्षिण पैरके पंजेको दबाके रखे, और भृकुटीके ऊपर दृष्टि रखे, और स्थाणुकी तरह सरल निश्चल शरीर करे। इसका नाम सिद्धासन है। तथापि जिस आसनसे सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मका चिन्तन हो सके वही आसन योगीको उपादेय है। अर्थात् जिस स्थितिमें एकाग्र मन ब्रह्मचिन्तन कर रहा हो, उस स्थितिको न बदले। स्थिति बदलनेपर एकाग्रताका सुख नष्ट हो जायगा। वस्तुतः जो सम्पूर्ण सिद्धोंकी सिद्धिका निमित्त है, जो सर्वभूतोंका आदि है, जो विश्वका अधिष्ठान है, वही अद्वितीय ब्रह्म सिद्धासन है—

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम्।
यस्मिन् सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते॥

(८) **यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।**
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम्॥
(१।२६-२७)

जो सर्वलोकोंका मूल है, जो चित्तनिरोधका मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्मवादियोंको सदा सेवन करना

चाहिये। यही मूलबन्ध है, अन्य गुदासंकोचरूप मूलबन्ध जिज्ञासुको सेव्य नहीं है।

(९) अङ्गानां समतां विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते।
नोचेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत्॥
(१।२८)

अपने हस्तादि सम्पूर्ण अंगोंको ब्रह्मरूप समझे, इस प्रकार समझनेवाला योगी ब्रह्ममें ही लीन होता है। इस ज्ञानके बिना केवल कटि आदि अंगोंकी समता या ऋजुता शुष्कवृक्षकी सरलताकी तरह व्यर्थ है।

(१०) दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी॥
(१।२९)

ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्मरूप देखे, यही दृष्टि परम उदार मोक्षको देनेवाली है; नासिकाके अग्रभागको विषय करनेवाली दृष्टि मुमुक्षुको कर्तव्य नहीं है। नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करनी चाहिये, इसका यह भाव है कि यदि योगी नेत्रोंको अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा, यदि सर्वथा नेत्र बन्द करेगा तो आलस्यादिसे चित्तका लय होगा; अतः योगी शाम्भवी मुद्रासे स्थित रहे, भ्रुकुटीके मध्यमें आन्तरतत्त्वमें लक्ष्य रखे, नेत्रोंको किञ्चित् खुला रखे, इसको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं।

(११) चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते॥
(१।३१)

'चित्तादि सर्व पदार्थोंमें ब्रह्मभावनाके परिपाकसे सर्ववृत्तियोंका निरोध हो जाता है और सर्ववृत्तियोंके निरोधसे प्राणका भी निरोध होता है। यही मुख्य प्राणायाम है।'

'नेति-नेति' श्रुतिके बलसे प्रपञ्चका अभाव निश्चय करना रेचक प्राणायाम है। **'ब्रह्मैवाहमस्मि'**—इस वृत्तिका नाम पूरक है। **'ब्रह्मैवाहमस्मि'**—इस वृत्तिकी निश्चलता कुम्भक प्राणायाम है; ब्रह्मनिष्ठोंका यही प्राणायाम है। केवल नाक दबाकर प्राणोंका रोकना अज्ञानियोंका प्राणायाम है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम्॥

(१२) विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥
(१।३२—३४)

'सम्पूर्ण विषयोंमें आत्मदृष्टि करनेसे जो चित्तका सन्तोष और शान्ति होती है वही प्रत्याहार है, यही प्रत्याहार योगीके द्वारा अभ्यास करने योग्य है।'

(१३) यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता॥
(१।३५)

जहाँ-जहाँ मन जावे वहाँ-वहाँ ब्रह्मदर्शन, यही उत्तम धारणा है।

(१४) ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्यां निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः॥
(१।३६)

अन्य विषयशून्य जो **'ब्रह्मैवाहमस्मि'** वृत्तिकी एकतानता है, यही ध्यान है। यह ध्यान परमानन्दका देनेवाला है।

(१५) निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते॥
(१।३७)

निर्विकार अद्वितीय ब्रह्माकारवृत्तिकी स्थितिके अनन्तर परिणामित्वादि दोषदर्शनपुरःसर परवैराग्यसे जो सर्वथा वृत्तिका विस्मरण और विलय है, जो संस्कारशेष अवस्था समाधि है। इस समाधिका तबतक पूर्णतया अभ्यास होना चाहिये, जबतक सम्पूर्ण विषयशून्य ब्रह्मका प्रत्यक् स्वस्वरूपसे स्फुरण न हो जाय। एवं योगचूडामणि उपनिषद्में राजयोगके आसनादि ६ ही अङ्ग कहे हैं। एवं श्रीजाबालोपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद् आदिमें भी राजयोगका विस्तारसे वर्णन किया है। यहाँ विस्तारके भयसे नहीं लिखते हैं।

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः॥
दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

योगसाधन-रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीदयानन्दजी)

आर्यशास्त्रमें भक्तिको उपासनाका प्राण और योगको उपासनाका शरीर कहा गया है। जिस प्रकार बिना प्राणके शरीर रह नहीं सकता, उसी प्रकार बिना भक्तिके उपासना बन ही नहीं सकती, इस कारण भक्ति उपासनाका प्राण है। शरीरके बिना जिस तरह शरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके बिना उपासनाका कोई साधन बन ही नहीं सकता। इसी कारण योगको उपासनाका शरीर कहा है। आवरण, विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरणके युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता, इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहनेपर भी उससे दूर हो जाते हैं; अथवा यह कहिये कि अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित और आलोडित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखायी नहीं पड़ता। जब साधनकी सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरणका वृत्तिरूपी तरङ्ग एक बार ही शान्त हो जाती है तभी सूर्यप्रतिबिम्ब अथवा अपना मुख दर्शक उसमें देख सकता है। अतः योगशास्त्रमें कहा है—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'

चित्तवृत्तिनिरोधकी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रियाद्वारा क्रमशः अन्तःकरणकी वृत्तियाँ शान्त होते-होते जब एकबारगी ही शान्त हो जाती हैं उस अवस्थाका नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि चित्तवृत्तियोंके चाञ्चल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव-हृदय-विहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन-जिन साधनोंके द्वारा इस प्रकार दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव उनके निकट होकर सनाथ हो जाता है उन्हींको उपासना कहते हैं; अर्थात् **उप—समीपे, आस्यते**—प्राप्त होता है, **अनया**—इस साधनके द्वारा; **इति उपासना**। अतः जिन-जिन क्रियाओंके अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है, उन्हींको उपासना कहते हैं और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते-होते उसकी पूर्णावस्थामें परमात्मा अन्तःकरणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि उपासनापक्षमें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका शरीररूप है।

योगशास्त्रमें व्युत्थान दशासे लेकर निरोध दशापर्यन्त चित्तकी पाँच भूमियाँ बतायी गयी हैं, यथा मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्तकी मूढ भूमि वह कहलाती है जिसमें चित्त सदसद्विचारहीन होकर, आलस्य, विस्मृति आदिके वश होकर बेलगाम घोड़ेकी तरह कुछ-से-कुछ करता रहता है। यह भूमि तमोगुणकी है। चित्तकी रजोगुणमयी दूसरी भूमिका नाम क्षिप्त है। इसमें चित्त किसी एक कार्यमें लगकर बुद्धिकी सहायतासे विचार करता हुआ किसी लक्ष्यका साधन करता रहता है। यथा—लगामवाला घोड़ा या विचारवान् प्रवृत्तिपर मनुष्योंके चित्तकी भूमि। चित्तकी तीसरी भूमिका नाम विक्षिप्त है। यह भूमि सत्त्वगुणकी है और क्षिप्तसे विशिष्टतायुक्त होनेसे ही इसका नाम विक्षिप्त है। इस भूमिमें चित्त सुख, दुःख, विचार, आलस्य, रजोगुण, तमोगुण आदिसे पृथक् होकर शून्य हो जाता है और उसमें कोई भी चिन्ता नहीं रहती है। इस भूमिका उदय महात्माओंमें अधिक और सांसारिक जीवोंमें कभी-कभी बहुत थोड़ी देरके लिये होता है। तदनन्तर चित्तकी जो दो भूमियाँ हैं वे साधन अवस्थाकी हैं। इनमेंसे एकाग्र भूमिमें ध्याता ध्यानयोगके द्वारा ध्येय वस्तुमें चित्तको ठहरानेका प्रयत्न करता है जिसके लिये भगवान् श्रीपतञ्जलिजीने यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोगरूप साधारण उपाय और ईश्वरप्रणिधान, अभिमतध्यान, स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बन, ज्योतिष्मती विशोकादर्शन आदि कई असाधरण उपाय बताये हैं। इस प्रकार साधारण तथा असाधारण उपायोंके द्वारा एकाग्र भूमिमें उन्नति लाभ करके अन्तमें जब साधकके चित्तमें ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका विलय साधन होता है तभी अन्तिम भूमिरूप निरुद्ध भूमिका उदय होता है। इसी निरुद्ध भूमिमें ही योगी क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधिकी चार अवस्थाओंको अतिक्रम करके अन्तमें सिद्धावस्थाको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है।

अतः अधिकारानुसार चाहे कोई किसी रास्तेसे ही चले योगशास्त्रकी बतायी हुई एकाग्र भूमिसे निरुद्ध भूमिमें पहुँचनेका नाम ही साधन है।

चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएँ हैं उन्हींको पूज्यपाद महर्षियोंने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली क्रियाशैलीको चार भागोंमें विभाजित कर सकते हैं और चित्तवृत्तियोंको निरोध करनेके मार्गको आठ सोपानों अथवा आठ मार्गविभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नामरूपात्मक है अर्थात् परिदृश्यमान संसारका कोई भी अङ्ग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नामरूपमें फँसकर ही जीव बद्ध होता है। चित्तकी वृत्तियाँ भी नामरूपके ही अवलम्बनसे अन्तःकरणको चञ्चल किया करती हैं। अतः जहाँ मनुष्य गिरता है उसी भूमिको पकड़ कर उठना चाहिये। अस्तु,नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाएँ हैं उनको मन्त्रयोगके अन्तर्गत करके महर्षियोंने वर्णित किया है।

हठयोगका ढंग कुछ और ही है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही परिणाम है। इस कारण स्थूल शरीरका प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर बराबर समानरूपसे पड़ता है। अतः स्थूल शरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोध करनेकी जितनी शैलियाँ हैं उनको हठयोग कहते हैं।

लययोगका ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टि-व्यष्टिसम्बन्धसे एक ही हैं। अतः दोनोंको एक समझकर अपने भीतर जो प्रकृतिशक्ति है उसे अपने शरीरस्थ पुरुषभावमें लय करनेकी जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं।

राजयोगका अधिकार सबसे बढ़कर है। मनकी क्रिया मनुष्यको फँसाती है और बुद्धिकी क्रिया मनुष्यको मुक्त करनेमें सहायक होती है; यही कारण है कि अज्ञानसे जीव बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। अतः बुद्धिक्रियारूपी विचारद्वारा चित्तवृत्ति-निरोधकी जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अङ्गोंमेंसे चार बरिरङ्ग और चार अन्तरङ्ग कहाते हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार बहिरङ्ग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरङ्ग हैं। बहिरङ्ग और अन्तरङ्गको मिलानेवाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियमें फँसकर बद्ध रहता है। इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियसे वीतराग करानेके जो अभ्यास हैं उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम और नियमके साधनोंसे उपासना-काण्डका साधक योगसाधनका अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योगोपयोगी करता है। मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि चाञ्चल्यसे बन्धन और धैर्यसे मुक्ति होती है। अतः शरीरको धैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीरको धैर्ययुक्त करनेके अनन्तर प्राणको धैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राणायाम अङ्गके साधनके अनन्तर साधकको योगके अन्तरङ्ग साधनका अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूपसे एक ही हैं। प्रत्याहार साधनके द्वारा साधक अपनी बहिर्दृष्टिको बहिर्जगत्से हटाकर अन्तर्जगत्में ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्गके साधनसे उन्नत साधक बहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर्राज्यमें खींचकर बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में पहुँच जाता है। यही योगका पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत्में पहुँचकर सूक्ष्म अन्तर्राज्यके किसी विभागका अवलम्बन करके अन्तर्राज्यमें ठहरे रहनेको ही धारणा कहते हैं। इस प्रकारसे षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधनद्वारा योगी जब अन्तर्राज्यको जय कर लेता है तब बहिः और अन्तर्राज्यके द्रष्टा परमात्माके सगुण तथा निर्गुण रूपके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवा और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यानमें मिलकर दोनों ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोधकी अन्तिम अवस्थाको समाधि कहते हैं। यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धांशोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने कही है वे सब इन्हीं आठ अङ्गोंकी सहायतासे निर्णीत हुई हैं। भेद इतना ही है किसीमें किसी अङ्गका विस्तार है और किसीमें

किसी अङ्गका सङ्कोच है। इस प्रकारसे साधक एकके बाद दूसरा सोपान, दूसरेके बाद तीसरा सोपान इस प्रकारसे सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधिमें पहुँच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधिमें पहुँचकर स्वरूप-उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगी शारीरिक सर्व कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूपस्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशाको प्राप्त होकर कर्ममें प्रवृत्त हो, सब अवस्थाओंमें निर्विकल्प भावमें स्थित रहनेके कारण अद्वैतभावमें स्थिर रहता है। इसी दशाको जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। इसीको अद्वैतस्थिति, इसीको परज्ञानकी दशा और इसीको पराभक्तिकी दशा भी कहते हैं। भिन्न-भिन्न विचारके अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति और उपासनाके शरीररूपी योगका यही अन्तिम लक्ष्य है।

इन शास्त्रीय वचनोंका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिनिरोधद्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामें जीवात्मा और परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसे साधनको योग कहते हैं। इन वचनोंसे यही सिद्धान्त निकलता है कि चित्तवृत्तियोंका जबतक निरोध नहीं होता है तबतक जीवकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है। परन्तु चित्तवृत्तिका जितना-जितना निरोध होता जाता है उतना-उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्वका नाश होकर स्वरूपका विकास होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूपसे निरुद्ध हो जानेपर जीवके जीवत्वका कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूपका पूर्ण विकास होता है। मन्त्रयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाभाव समाधिमें और हठयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाबोध समाधिमें और लययोगकी सिद्धावस्थारूपी महालय समाधिमें साधकको जो सफलता प्राप्त होती है उन सफलताओंसे साधकको चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें साधक लौकिक पुरुषार्थद्वारा चित्तवृत्तियोंको दबाकर निरोध करनेमें समर्थ होता है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियोंका विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है। मन्त्र और इष्टदेवके रूपके एकीकरणद्वारा मन्त्रयोगकी महाभाव समाधिका उदय होता है। वायुनिरोधद्वारा हठयोगकी महाबोध नामक समाधिका उदय होता है और नाद और बिन्दुके एकीकरणसे लययोगकी महालय नामक समाधिका उदय होता है। ये तीन समाधियाँ लौकिक उपायसम्भूत होनेसे, हठपूर्वक अनुष्ठित होनेसे और ज्ञानसम्बन्धरहित होनेसे यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ होती हैं, तथापि चित्तवृत्तिके मूलोच्छेदमें समर्थ नहीं होतीं। अतः इन तीनों समाधिदशाओंमें वृत्तियोंका पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनोंमेंसे किसी समाधिको प्राप्त करके जब योगकी उन्नत भूमिमें पहुँच जाता है, तभी वह देवदुर्लभ साधनकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त करके राजयोगका अधिकारी बन जाता है। वस्तुतस्तु, मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग जहाँ समाप्त होते हैं, राजयोगका श्रेष्ठ अधिकार वहींसे प्रारम्भ होता है।

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्त दर्शनोक्त सप्त ज्ञानभूमियोंको एकके बाद दूसरी इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्त ज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गोंका साधनक्रम है। इसके अनन्तर सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृतिपुरुषात्मक दो राज्योंके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्त रूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे परिज्ञात होकर ब्रह्म, ईश और विराट्रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गोंका साधनक्रम है। इसके अनन्तर परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशाएँ पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि दशाको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासनाराज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

आत्मज्ञान प्राप्त करनेका सरल उपाय—योग

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगोपालचैतन्यदेवजी महाराज)

परम करुणामय श्रीश्रीसद्गुरु महाराजकी असीम कृपासे सञ्जीवित होकर आत्मस्वरूप अपने परमप्रिय सुधी 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंको परम कल्याणके मार्गपर चलनेकी विधियाँ बतलानेके लिये तैयार हुआ हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह विषय विशेष गूढ़-शास्त्रतत्त्व, भावतत्त्व और साधनतत्त्वसे पूर्ण होना चाहिये, तथापि मालूम नहीं अन्तरात्माने किसकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर मुझ-सदृश मूढ़ और गँवारसे लेखनी उठवायी है। यदि इस प्रबन्धमें कोई भूल-चूक हो तथा भाषासम्बन्धी दोष हों तो प्यारे सुधी पाठक उस ओर ध्यान न दे केवल क्रियाओंको विधिवत् करनेकी चेष्टा करें। मेरा विश्वास है कि वे स्वयं मेरी बातोंकी सत्यताका अनुभव करते हुए परमानन्दावस्था प्राप्त करेंगे। हाँ, मूल विषयपर आनेके पूर्व कुछ अपने जीवनका हाल लिखनेके लिये मैं विवश हो गया हूँ; क्योंकि पहले-पहल मुझे विशेष कष्ट उठाना पड़ा था, जिसे सामने रखनेसे आगेकी बातोंका यथार्थ मूल्य प्रकट होनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

बचपनमें ही योगसाधनकी धुन मेरे सिरपर सवार हो गयी थी। तबसे मैं जिस किसी साधु-सन्तको देखता, भले-बुरेका कोई विचार न कर उसीके चरणोंमें सिर झुका देता और साधनतत्त्व प्राप्त करनेके लिये अपनी विशेष उत्कण्ठा प्रकट करता। उस समय मेरी हालत ऐसी हो गयी थी कि किसी विषयपर विचार करनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी तथा एक मुहूर्त्त भी व्यर्थ बिताना बड़ा कष्टदायक मालूम पड़ता था। फलस्वरूप अनेक साधु-सन्त मिले; अनेक प्रकारकी साधना भी उनसे प्राप्त की तथा उन्हीं साधनादिके फलस्वरूप दमा, क्षय और रक्तपित्तकी व्याधियोंसे आक्रान्त होकर यमराजका अतिथि बननेके लिये तैयार होने लगा। उन्हीं दिनों परममङ्गलमय परमपिताकी अहैतुकी कृपासे 'योगी गुरु' नामक एक सर्वांग सुन्दर पुस्तक अचानक मेरे हाथ लग गयी। उसे पढ़नेपर मालूम हुआ कि अनियमित रूपसे योगसाधन और प्राणायामादि करनेसे अनेक प्रकारके कठिन रोग हो सकते हैं; किन्तु पवन-विजय—स्वरोदय-शास्त्रकी विधिके अनुसार चलनेपर साधक उन कठिन व्याधियोंसे मुक्त हो सकता है। तब मैं पवन-विजय—स्वरोदय-शास्त्रकी विधिको अपने जीवनका एकमात्र संबल बनाकर धीरे-धीरे उसके अनुसार अभ्यास करने लगा। उस पुस्तकमें उस शास्त्रकी अनेक अद्भुत विधियाँ मौजूद थीं। आखिर सालभरके भीतर ही सब रोगोंसे मुक्त होकर मैंने पूर्ण स्वस्थ शरीर प्राप्त कर लिया और साथ ही साधन-तत्त्वका भी बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया। उसके बाद जीवन्मुक्त महापुरुषके श्रीश्रीचरणसरोजोंमें आत्मसमर्पण करके, नियमितरूपसे साधन करके, अपने जीवनमें अपूर्व आनन्द प्राप्त किया। आज उसी साधनाका थोड़ा-सा अंश 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके मंगलके लिये यहाँ लिखनेकी चेष्टा कर रहा हूँ।

योग अनेक प्रकारके होते हैं—जैसे राजयोग, कर्म-योग, हठयोग, लययोग, सांख्ययोग, क्रियायोग, ज्ञान-योग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, ब्रह्मयोग, विवेकयोग, विभूतियोग, प्रकृति-पुरुष-योग, मन्त्रयोग, पुरुषोत्तमयोग, मोक्षयोग, राजाधिराज-योग इत्यादि। सीधी बात तो यह है कि व्यापक कर्ममात्रको ही योग कहा जा सकता है; परन्तु वे सब एक ही प्रधान योगके अर्थात् जीवात्मा-परमात्माके मिलनके ही अंग-प्रत्यंगमात्र हैं। योगी याज्ञवल्क्यजीने भी इसे ही योग कहा है, जैसे—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

अर्थात् जीवात्मा-परमात्माका मेल ही योग है। अनेक प्रकारके योगोंके नाम सुने जाते हैं तो भी वास्तवमें योग एक ही प्रकारका होता है, दो या अधिक प्रकारका नहीं। उस एक ही प्रकारके योगसाधनकी सोपानस्वरूप जितनी प्रक्रियाएँ हैं, वे सब ध्यानविशेषमें—उपदेश-विशेषमें एक-एक स्वतन्त्र योगके नामसे पुकारी जाती हैं; तथापि जीवात्मा और परमात्माका संयोग-साधन ही योगका प्रकृत उद्देश्य है।

योगकी श्रेष्ठता

सब साधनाओंका मूल अर्थात् सर्वोत्कृष्ट साधना योग ही है। शास्त्रमें भी लिखा है कि 'वेदव्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीने पूर्वजन्ममें किसी

वृक्षकी शाखामें छिपकर भगवान् शिवजीके मुँहसे निकला हुआ योगोपदेश श्रवण किया और उसीसे पक्षियोनिसे उद्धार पाकर परजन्ममें वह परम योगी बन गये।' योगका उपदेश सुननेमात्रसे जब इतना लाभ होता है तब उसकी साधना करनेसे ब्रह्मानन्द तथा सब सिद्धियोंके प्राप्त होनेमें क्या सन्देह है?

योग धर्म-जगत्का एकमात्र पथ है। तन्त्रका तन्त्र, मुसलमानोंके अल्लाह तथा ईसाइयोंके ईसा पृथक्-पृथक् होनेपर भी जब वे अपने-अपने अभ्यासके द्वारा आत्मलीन हो जाते हैं, तब वे अज्ञातभावसे भी योगाभ्यासके सिवा और क्या किया करते हैं? परन्तु किसी भी देशका कोई भी धर्मशास्त्र आर्य-योगधर्मकी भाँति परिणति और परिपुष्टिको प्राप्त नहीं हुआ है। अतः अन्यान्य जातियोंके सम्बन्धमें चाहे जो बात हो, परन्तु भारतीय तन्त्र, मन्त्र, पूजापद्धति, भक्ति आदि सभी योगमूलक ही हैं।

योगाभ्यासके द्वारा चित्तकी एकाग्रता प्राप्त हो जानेपर ज्ञान उत्पन्न हो जाता है एवं उसी ज्ञानसे जीवात्माकी मुक्ति होती है। वह मुक्तिदाता परम ज्ञान योगके सिवा केवल शास्त्र पढ़नेसे प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान् शंकरजीने कहा है—

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥

(योगबीज ८)

'सैकड़ों तर्कशास्त्र तथा व्याकरणादि पढ़कर मनुष्य शास्त्रजालमें फँसकर केवल विमोहित हो जाते हैं। वास्तवमें प्रकृत ज्ञान योगाभ्यासके बिना उत्पन्न नहीं होता।'

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥

(ज्ञानसंकलिनी तन्त्र ५१)

'वेदचतुष्टय तथा सब शास्त्रोंको मथकर उसका मक्खनस्वरूप सार-भाग तो योगी चाट गये हैं और उसका असार-भाग तक्र (छाछ) पण्डित लोग पी रहे हैं।' शास्त्र पढ़नेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मिथ्या तथा कोरी डींगमात्र है—वह प्रकृत ज्ञान नहीं। बाहरकी ओर मुँह किये हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको सब बाहरी विषयोंसे निवृत्त करके अन्तर्मुखी करते हुए सर्वव्यापी परमात्मामें मिलानेका नाम ही वास्तविक ज्ञान है।

वह ज्ञान योगाभ्यासके बिना प्राप्त नहीं होता। साधारण लोगोंका जो ज्ञान है वह केवल भ्रान्त ज्ञान है। क्योंकि सभी जीव मायाके फन्देमें जकड़े हुए हैं और मायाका फन्दा तोड़े बिना सच्चा ज्ञान नहीं उपजता। मायाका फन्दा तोड़कर सच्चा ज्ञानालोक प्राप्त करनेका उपाय योग है। योगसाधनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे भी मोक्षका हेतुभूत जो दिव्य ज्ञान है, वह नहीं प्राप्त होता। योगविहीन सांसारिक ज्ञान वास्तवमें अज्ञानमात्र है, उससे केवल सुख-दुःखका अनुभव होता है—मुक्तिपथपर चलनेमें सहायता नहीं मिलती। परम योगी महादेवजीने अपने मुँहसे कहा है—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि।

(योगबीज १८)

'हे परमेश्वरि! योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्षदायक हो सकता है?' सदाशिवजीने योगकी श्रेष्ठता बताकर पार्वतीको सुनाया था—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते प्रिये॥

(योगबीज ३१)

'हे प्रिये! ज्ञानवान्, संसारविरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय अथवा कोई देवता भी योगके बिना मुक्ति नहीं पा सकता।' बिना योगके केवल साधारण, नाममात्रके ज्ञानसे ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता। योगरूपी अग्नि अशेष पाप-पुञ्ज जला देती है एवं योगके द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञानसे ही लोग दुर्लभ निर्वाण-पद पाते हैं। अब सुधी सज्जन समझ गये होंगे कि योगसाधनके अतिरिक्त दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेका दूसरा कोई सरल उपाय नहीं है। अब देखना चाहिये कि वह—

योग क्या है?

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।

(योगशास्त्र)

जिस समय मनुष्य सब चिन्ताओंका परित्याग कर देता है, उस समय उसके मनकी उस लयावस्थाको योग कहते हैं। और—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

(पातञ्जल० समाधिपाद २)

अर्थात् 'चित्तकी सभी वृत्तियोंको रोकनेका नाम योग है।' वासना और कामनासे लिप्त चित्तको वृत्ति

कहा है। इस वृत्तिका प्रवाह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें मनुष्यके हृदयपर प्रवाहित होता रहता है। चित्त सदा-सर्वदा ही अपनी स्वाभाविक अवस्थाको पुनः प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता रहता है; किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर आकर्षित कर लेती हैं। उसको रोकना एवं उसकी बाहर निकलनेकी प्रवृत्तिको निवृत्त करके उसे फिर पीछे घुमाकर चिद्घन पुरुषके पास पहुँचनेके पथमें ले जानेका नाम ही योग है। हम अपने हृदयस्थ चैतन्यघन पुरुषको क्यों नहीं देख पाते? कारण यही है कि हमारा चित्त हिंसादि पापोंसे मैला और आशादि वृत्तियोंसे आन्दोलित हो रहा है। यम-नियमादिकी साधनासे चित्तका मैल छुड़ाकर चित्त-वृत्तिको रोकनेका नाम योग है।

अब इस योगसाधनाका सरल उपाय, जिसके द्वारा अपने जीवनमें मुझे कुछ लाभ हुआ है, आपलोगोंके सामने रखनेका साहस करता हूँ। योगकी साधना करनेसे पहले सम्यक्रूपसे शरीर-तत्त्व जान लेना उचित है। विस्तार-भयसे मैं यहाँ उसका उल्लेख न कर केवल साधना-विधि ही लिखता हूँ। जो उसे जानना चाहते हों उन्हें पातञ्जलादि योग-शास्त्र या 'योगी गुरु', 'ज्ञानी गुरु' नामक पुस्तकोंका अवलोकन करना चाहिये।

योगके आठ अङ्ग हैं। उन्हींका साधन करना होता है। साधनाका अर्थ है अभ्यास। योगके आठ अङ्ग इस प्रकार हैं—

यमश्च नियमश्चैव आसनञ्च तथैव च।
प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने॥

(योगियाज्ञवल्क्य १।४५)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये ही आठ योगके अङ्ग हैं। योगका साधन करना हो अर्थात् पूर्ण मनुष्य बनकर स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करना हो तो योगके इन आठ अङ्गोंकी साधना यानी अभ्यास करना चाहिये। पहले यम-नियमके साथ-ही-साथ आसनका भी अभ्यास करना उचित है। आसन किसे कहते हैं?

स्थिरसुखमासनम्।

(पातञ्जल० साधनपाद ४६)

शरीर न हिले, न डुले, न दुखे, न चित्तमें किसी प्रकारका उद्वेग हो, ऐसी अवस्थामें बैठनेको आसन कहते हैं। योगशास्त्रमें अनेक प्रकारके आसन बताये गये हैं; उनमेंसे योगसाधनके लिये सिद्धासन सर्वश्रेष्ठ है। जीवन्मुक्त महापुरुष और सिद्ध योगी सिद्धासन तथा मुक्त पद्मासनका उपदेश देते हैं। सिद्धासन कैसे करना चाहिये?

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरं
चैतन्याख्यकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥

(गोरक्षसंहिता ११)

'योनि-स्थानको वाम-पदके मूलदेशसे दबाकर, दूसरे चरणसे मेढ्र-देशको आबद्धकर, हृदयमें ठोडी जमाकर, देहको सीधा रखकर और दोनों भौंहोंके मध्यदेशमें दृष्टि स्थापित करके यानी शिवनेत्र होकर निश्चलभावसे बैठनेका नाम सिद्धासन है।' सिद्धासन सिद्धि प्राप्त करनेके लिये सहज और सरल आसन है। सिद्धासनका अभ्यास करनेसे अति शीघ्र योगमें सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी साधनासे किसी प्रकारका अनिष्ट होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके द्वारा बहुत जल्द योगमें सिद्धि मिलनेका कारण यह है कि लिङ्गमूलमें जीव तथा कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। सिद्धासनके कारण वायुका पथ सरल तथा सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुओंका विकास होता है और समस्त शरीरकी बिजलीके लिये चलने-फिरनेका सुभीता हो जाता है। योगशास्त्रमें कहा है कि सिद्धासन मुक्तिवाले दरवाजेके किवाड़ खोलता है तथा सिद्धासनसे आनन्दकारी उन्मनी (समुन्नत) दशा मिलती है। सभी सज्जन आसानीसे सिद्धासन कर सकते हैं।

अब पद्मासनकी बात सुनिये—

आसनं पद्मकमुत्तमम्।—(गारुड० ४१)

और भी—

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि चैव बन्धनविधिं धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
तत्पृष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेद्
एतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते॥

(गोरक्षसंहिता १२)

'बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर

बायाँ पैर रखकर, दोनों हाथ पीठकी ओर घुमाकर बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा और दाहिने हाथसे दाहिने पैरका अँगूठा पकड़ना चाहिये। फिर छातीमें ठोडी सटाकर नाककी नोकपर दृष्टि जमानी चाहिये। इस तरह बैठनेका नाम पद्मासन है।'

पद्मासन दो प्रकारका है—मुक्त और बद्ध। उपर्युक्त नियमसे बैठनेको बद्ध-पद्मासन कहते हैं तथा हाथोंको पीठकी ओर घुमाकर अँगूठे न पकड़, दोनों जाँघोंपर दोनों हाथ चित रखकर बैठनेका नाम मुक्त-पद्मासन है।

पद्मासन लगानेसे निद्रा, आलस्य, जडता प्रभृति देहकी ग्लानि निकल जाती है। पद्मासनके प्रभावसे कुण्डलिनी चैतन्य हो जाती है एवं दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पद्मासन लगाकर दाँतकी जडमें जीभकी नोक जमानेसे सब प्रकारकी बीमारियाँ दूर होती हैं।

इन दो प्रकारके आसनोंके अतिरिक्त स्वस्तिकासन, भद्रासन, उग्रासन, वीरासन, मण्डूकासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, गुप्तासन, योगासन, शवासन, सिंहासन, मयूरासन, शीर्षासन आदि अनेक प्रकारके आसन प्रचलित हैं सही, किन्तु अनेक प्रकारके आसनोंका अभ्यास करनेमें समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त दोनों प्रकारके आसनोंमें जिसे जिस आसनमें सुभीता मालूम हो, उसे उसी आसनका अवलम्बनकर योगाभ्यास करना चाहिये।

राजपूताना, मध्यभारत, पञ्जाब आदि नाना स्थानोंमें भ्रमण करते समय मुझे मालूम हुआ कि उन प्रदेशोंमें बहुत-से सज्जन शीर्षासन करते हैं। शीर्षासन योगसाधनके अनुकूल नहीं है, ऐसा अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंसे मुझे मालूम हुआ है। क्योंकि शीर्षासन करके प्राणायाम आदि यौगिक क्रिया तथा पूजा, मन्त्र, जपादि कोई धर्मसम्बन्धी क्रिया नहीं की जा सकती। हाँ, शीर्षासनद्वारा साधक ब्रह्मरन्ध्रसे जो अमृतधारा टपकती है, और जो अनाहतपद्मस्थित अरुण-वर्ण सूर्यमण्डलमें पहुँचकर सूख जाती है, उसीको पीनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु उस क्रियासे कहाँतक सिद्धि प्राप्त होती है, यह कहना कठिन है। अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंका कहना है कि उस क्रियासे न तो शरीर बलिष्ठ, पुष्ट और जरारहित होता है और न उस अमृतपानसे उनका चित्त ही लय होकर अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। आसन करनेका मतलब यही है कि शरीर स्वस्थ रहे तथा धीरे-धीरे कुल-कुण्डलिनी जागृत होकर क्रमशः दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाय। आसनके सम्बन्धमें शास्त्र यही कहता है कि—

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (पातञ्जल० साधनपाद ४८)

आसनका अभ्यास करनेसे सब प्रकारके द्वन्द्व छूट जाते हैं अर्थात् शीत-ग्रीष्म, क्षुधा-तृष्णा, राग-द्वेष प्रभृति किसी प्रकारका द्वन्द्व योगसाधनमें बाधा नहीं डाल सकता अर्थात् गीताके द्वितीय अध्यायमें वर्णित स्थितप्रज्ञके लक्षण आप-ही-आप आ पहुँचते हैं। परन्तु सदा ही यह स्मरण रखना चाहिये कि आसनका सबसे मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरुदण्ड (पीठकी रीढ़) सदा सीधा रहे। क्योंकि उसीके अन्दर सुषुम्ना नाड़ी विद्यमान है, जिसके भीतर क्रमशः वज्रिणी, चित्रिणी तथा ब्रह्मनाड़ी विद्यमान है। आसन, मुद्रा तथा ध्यानद्वारा कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जागृत होती है और ब्रह्मनाड़ीके भीतरसे क्रमशः षट्चक्रको भेदती हुई ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचती है, जहाँ परात्पर ब्रह्म शिवजीसे मिलकर लय हो जाती है, या यों कहें कि साधक समाधिस्थ हो जाते हैं। साधनाके समय अगर मेरुदण्ड टेढ़ा-बाँका रहे तो उपर्युक्त क्रियाके सम्पन्न होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती और न दिव्य ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है; बल्कि नाना प्रकारकी व्याधियाँ ही होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव साधना करते समय सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि रीढ़की हड्डी सीधी रहे।

नित्य नियमितरूपसे त्रिकाल-सन्ध्या तथा रात्रि-सन्ध्या (रात्रि १२ बजे) अर्थात् चार बार आसन लगानेसे छः महीनेके भीतर आसनमें सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हाँ, प्रत्येक बार कम-से-कम आध घण्टा अवश्य आसन लगाना चाहिये। आसन लगाकर बैठनेपर जब शरीरमें दर्द न हो अथवा किसी प्रकारके कष्टका अनुभव न हो, बल्कि एक प्रकारके आनन्दका उदय हो तभी समझना चाहिये कि आसन सिद्ध हुआ।

साधनमें सबसे पहले निम्नलिखित कुछ बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) नित्य नियमितरूपसे एक ही स्थानपर आसन लगाना उत्तम है। ऐसा करनेसे उस स्थानपर एक प्रकारकी शक्ति पैदा हो जाती है। जब कभी मन चञ्चल होता है तब उस स्थानपर पहुँचते ही शान्त हो जाता है तथा एक प्रकारकी आनन्दावस्था आप-ही-आप प्राप्त होती है।

(२) जिस स्थानपर अर्थात् जिस कोठरीमें बैठकर साधना की जाय, वह स्थान विशेष हवादार, साफ-सुथरा और शुद्ध होना चाहिये। उस स्थानको नित्य अपने ही हाथों साफ करना चाहिये, गोबर आदिसे लीप देना चाहिये। दूसरे आदमीसे यह सब काम नहीं कराना चाहिये। क्योंकि जब दूसरा आदमी कमरेमें आता है तब उसके शरीरमें उस शक्तिका, जो नित्य नियमितरूपसे साधना करनेसे उस स्थानमें पैदा होती है, कुछ अंश चला जाता है, जिससे वह आदमी तो कुछ आध्यात्मिक उन्नति करता है, मगर साधक उतने अंशमें शक्तिहीन हो जाता है। इससे उत्तम तो यह है कि उस स्थानपर कभी कोई दूसरा व्यक्ति जावे ही नहीं।

(३) जिस आसन (जैसे कम्बलासन, कुशासन, व्याघ्रासन आदि)-पर बैठकर स्वयं साधना की जाय, उस आसनको कोई हाथसे भी स्पर्श न करे—इस बातपर बराबर ध्यान रखना चाहिये। अगर कोई उसे छू दे तो उसे छोड़ ही देना उचित है।

(४) इस बातपर भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस कपड़े, दुपट्टे तथा कौपीनको धारणकर साधन किया जाय, उसे भी कोई दूसरा आदमी न छुए। उसे अगर साफ करना हो तो अपने ही हाथों साफ कर लेना चाहिये।

(५) साधनके स्थानमें अपवित्र वस्तु मिट्टीके तेलको कभी नहीं जलाना चाहिये। निशाकाल तथा ब्राह्ममुहूर्तमें साधना करते समय जीवन्मुक्त महात्मा लोग तथा देवी-देवता साधकके पास आकर उसे नाना प्रकारसे सहायता पहुँचाते हैं। उस स्थानपर अपवित्र वस्तु रहनेपर अथवा स्वयं अपवित्र अवस्थामें साधन करनेपर वे कभी वहाँ नहीं पधारेंगे और न साधककी सहायता ही करेंगे। शुद्धभावसे साधना करनेपर कुछ महीने बाद ही साधक स्वयं उन सब जीवन्मुक्त पुरुषों तथा देवी-देवताओंकी अनुकम्पाका अनुभव करने लगेगा। यह बात सत्य, सत्य, ध्रुव सत्य है।

(६) जिस समय साधना करने जाना हो उस समय शुद्ध होकर, अर्थात् सुविधा हो तो स्नान करके अथवा हाथ-पैर धोकर, धोती-कपड़ा आदि बदलकर, खड़ाऊँ पहनकर उस स्थानमें जाना चाहिये।

(७) अगर साधक अपना भोजन स्वयं बना ले तो इससे विशेष लाभ होगा। क्योंकि साधक स्वयं तो सात्त्विकभावकी प्राप्तिके लिये साधना कर रहा है; उस अवस्थामें अगर तामसिक और राजसिक व्यक्तिके हाथका भोजन करेगा तो उसकी साधनामें बाधा पड़ेगी। अतएव साधकको इन सब बातोंपर सदा ध्यान रखना चाहिये; तभी साधनाद्वारा कुछ लाभ हो सकता है।

उपर्युक्त जितनी बातें कही गयी हैं, सबका मतलब है शौच। शौच दो प्रकारका होता है। इस विषयमें शास्त्रवचन इस प्रकार है—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम्॥

(योगियाज्ञवल्क्य)

शरीर और मनकी मलिनताके दूर करनेको शौच कहते हैं। परन्तु साबुन, क्रीम, स्नो, पाउडर, फुलेल तथा एसेन्स इत्यादि विलासिताकी सामग्रियाँ शौचके साधन नहीं हैं; अतएव इन सबके मोहको छोड़कर गोमय, मृत्तिका तथा जल इत्यादिके द्वारा ही शरीरकी एवं दया इत्यादि सद्गुणोंद्वारा मनकी मलिनताको दूर करना चाहिये। उपर्युक्त बातें भी शौचके ही अङ्ग हैं। वर्तमान समयमें बहुतसे सज्जन बाहरके शौचकी ओर ही अधिक ध्यान देते हैं—आन्तर शौचकी ओरसे अन्धे बन जाते हैं। किन्तु इस विषयमें मुझे विस्तारके साथ लिखनेकी आवश्यकता नहीं—सब सज्जन जानते ही हैं कि आन्तर शौचके बिना बाह्य शौचका कोई मूल्य नहीं।

प्रत्येक साधनसे हमें क्या लाभ होता है, इसका वर्णन हमें शास्त्रोंमें मिलता है। शौचके सम्बन्धमें शास्त्रका कथन है—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(पातञ्जल० साधनपाद ४०)

हृदयमें पवित्रता रहनेपर शरीर यदि कहीं जरा भी अपवित्र मालूम होगा तो उससे घृणा होने लगेगी और दूसरोंके साथ सङ्गति करनेमें भी घृणा होगी। उस समय

अवधूतगीताका यह महान् वाक्य मनमें जाग्रत् हो उठेगा—

विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम्।
किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि॥
(८।१४)

अब साधन-विधिपर आवें। किसी प्रकारकी भी साधना क्यों न की जाय, जबतक मन स्थिर नहीं होगा तबतक सब वृथा है। अतः आसनका साधन करते समय चुपचाप न बैठ मन स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। प्राणायामके द्वारा मन स्थिर तो जरूर हो सकता है; परन्तु वह काम कुछ कठिन है; और यदि प्राणायाममें कहीं नियमका ठीक-ठीक पालन न हुआ तो नाना प्रकारकी व्याधियाँ हो सकती हैं। सिद्ध योगियोंका कहना है कि प्राणायाम बहुत ऊँची साधना नहीं है;—हाँ, प्राणायामके द्वारा शरीरके स्वस्थ होने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें थोड़ी-बहुत सहायता मिलती है। प्राणायाम शास्त्रानुसार आठ प्रकारका है; उनमेंसे योगिगण शरीर स्वस्थ रखनेके लिये केवल शीतली प्राणायाम करते हैं। परन्तु प्राणायामके पहले शरीरस्थ नाड़ियोंका शोधन विशेष आवश्यक है। कृतादि युगमें साधु-सन्त नेति, धोति, कपालभाति आदि क्रियाओंसे नाड़ी-शोधन करते थे। परन्तु कलियुगके दुर्बल तथा अल्पायु मनुष्योंके लिये वे क्रियाएँ सुलभ नहीं हैं। हठयोगकी नेति, धोति आदि क्रियाएँ यदि सम्यक् प्रकारसे न हुईं तो साधकको अवश्य ही दुःसाध्य व्याधियोंसे आक्रान्त होकर, नाना प्रकारके कष्ट भोगकर यमराजका अतिथि बनना पड़ेगा। परम मङ्गलमय भगवान् अपने प्यारे जीवोंपर सदा ही कृपा-दृष्टि डाले हुए हैं। कलियुगके मनुष्य इन सब कठिन क्रियाओंके करनेमें असमर्थ होंगे, ऐसा सोच-समझकर ही जगद्गुरु भगवान् श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने नाडीशोधन नामक एक प्रकारकी अति सरल विधि बतलायी है। हठयोगकी विधिसे, अति कठिन तथा सदा विपद्युक्त मार्गद्वारा नाडीशोधनमें कम-से-कम एक युग तो चाहिये ही; परन्तु शङ्करकी बतायी हुई विधिके द्वारा उसी नाडीशोधनकी क्रिया दो-तीन महीनेमें ही सिद्ध हो जाती है तथा इसमें कोई नुकसान भी नहीं होता। यह कितने आनन्दकी बात है!

नाडीशोधन

सबसे पहले आसनका अभ्यास करना चाहिये। जब आसनमें सिद्धि प्राप्त हो जाय तब नाडीशोधनकी क्रिया शुरू करनी चाहिये। स्थिरभावसे सुखासनमें बैठकर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको कुछ दबाकर बायें नथुनेसे जहाँतक हो सके, वायुको खींचना चाहिये और जरा-सी देर भी न ठहरकर अनामिका और कनिष्ठा अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बन्दकर दाहिने नथुनेसे वायुका रेचन करना अर्थात् वायुको निकाल देना चाहिये, फिर दाहिने नथुनेसे वायु खींचकर यथाशक्ति बायें नथुनेसे निकाल देना चाहिये। परन्तु खींचनेका काम पूरा होते ही उसी क्षण वायुको निकाल देना चाहिये, जरा देर भी न रोकना चाहिये। पहले अभ्यास करते समय उपर्युक्त क्रिया तीन बार करनी चाहिये। इसके बार तीन बारका अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर पाँच बार, फिर सात बार—इस प्रकार बढ़ाते जाना चाहिये।

विधि

रात-दिनमें इस तरह एक बार ब्राह्ममुहूर्तमें यानी सूर्योदयसे पहले, एक बार दोपहरको, एक बार सूर्यास्तके बाद रातके समय और एक बार रात १२ बजेके बाद—कुल चार बार क्रिया करनी चाहिये। रोज नियमसे चार बार अभ्यास करनेसे दो-तीन महीनेमें सिद्धि मिल जायगी।

नाडीशोधनमें सिद्धि प्राप्त हो जानेपर देह खूब हलकी मालूम होती है; आलस्य, जडता, सुस्ती सब कुछ दूर हो जाती है। कभी-कभी आनन्दसे मन उत्फुल्ल हो उठता है और समय-समयपर सुगन्धिसे नाक भर जाती है। जब ये सब लक्षण प्रकट होने लगें तब समझना चाहिये कि नाडी-शोधनकी क्रिया सिद्ध हो गयी।

अब प्राणायामकी बात सुनिये। प्राणायाम किसे कहते हैं?

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
(पातञ्जल० साधनपाद ४९)

'श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका विच्छेद करके शास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार चलानेका नाम प्राणायाम है।' इसके अतिरिक्त प्राण और अपानवायुके संयोगको भी प्राणायाम कहते हैं। जैसे—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः॥
(योगियाज्ञवल्क्य ६।२)

प्राणायाम कहनेसे हम साधरणत: रेचक, पूरक तथा कुम्भक इन तीन प्रकारकी क्रियाओंको ही समझते हैं। बाहरकी वायुको आकर्षित करके भीतर भरनेको पूरक, जलसे पूर्ण घड़ेकी तरह भीतर ही वायु धारण करनेको कुम्भक और उस धृत वायुको बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। पहले दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको बन्दकर प्रणव (ॐ) अथवा अपने इष्ट-मन्त्रका सोलह बार जप करते हुए वायुको धीरे-धीरे बायें नथुनेसे खींचकर भीतर यथाशक्ति भरना चाहिये; फिर कनिष्ठिका और अनामिकासे बायें नथुनेको बन्दकर वायुको रोकते हुए ॐ या मूल मन्त्रका चौंसठ बार जप करते हुए कुम्भक करना चाहिये; उसके बाद अँगूठेको दाहिने नथुनेसे उठाकर ॐ या मूल मन्त्रका बत्तीस बार जप करते हुए दाहिने नथुनेसे वायुको निकाल देना चाहिये। फिर इसी प्रकारसे उलटे तौरपर अर्थात् श्वास छोड़नेके बाद उसी दाहिने नथुनेसे ॐ या मूल मन्त्रका जप करते हुए पूरक, दोनों नथुनोंको बन्द करके कुम्भक और बायें नथुनेसे रेचक करना चाहिये। बायें हाथकी अँगुलियोंके पोरोंपर जपकी गिनती करनी चाहिये।

प्राणायामकी विधि

पहले-पहल पूर्वोक्त संख्यासे प्राणायाम करनेमें यदि कष्ट हो तो ८। ३२। १६ या ४। १६। ८ बार जप करते-करते प्राणायाम करना चाहिये। दूसरे धर्मावलम्बियोंको या जिनको मन्त्रजप करनेकी सुविधा न हो उन्हें एक, दो, तीन इत्यादि संख्याओंकी गिनती करते हुए प्राणायाम करना चाहिये, अन्यथा फल मिलनेकी सम्भावना नहीं रहेगी। क्योंकि ताल-तालपर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सम्पन्न होनी चाहिये। परन्तु सावधान! कभी जोरसे रेचक या पूरक न हो। रेचकके समय विशेष सतर्क एवं सावधान रहना चाहिये। इतना धीरे-धीरे श्वास परित्याग करना चाहिये कि हाथपर रखा हुआ सत्तू भी नि:श्वासके वेगसे उड़ न सके। प्राणायामके समय सुखासनसे बैठकर मेरुदण्ड, गर्दन, मस्तक सीधा और भौंहोंके बीचमें दृष्टि रखनी चाहिये। इसे सहित कुम्भक कहते हैं।

परन्तु सिद्ध योगी इसकी सहायता न लेकर शीतली प्राणायामकी ही सहायता अधिक लेते हैं। क्योंकि शीतली प्राणायामसे शरीर विशेष स्वस्थ रहता है।

सर्वदा साधयेद् योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्।
अजीर्णं कफपित्तश्च नैव तस्य प्रजायते॥

(गोरक्ष-संहिता)

योगियोंको चाहिये कि सदा इसी शीतली कुम्भककी साधना करें। इसकी साधना करनेसे कभी अजीर्ण और कफपित्तादि व्याधियाँ नहीं होंगी। शीतली प्राणायामकी विधि इस प्रकार है—

जिह्वाया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥

(घेरण्ड-संहिता)

'जीभसे वायुको आकर्षित करना चाहिये अर्थात् दोनों होंठ सिकोड़कर बाहरकी वायुको धीरे-धीरे खींचना चाहिये। इस प्रकार अपनी शक्तिभर वायु खींचकर मुँह बन्द कर लेना चाहिये और वायुको घोटकर पेटमें पहुँचाना चाहिये। इसके बाद थोड़ी देरतक इस वायुको कुम्भकद्वारा धारण करके दोनों नथुनोंसे बाहर निकाल देना चाहिये।' इस नियमसे वायु बार-बार खींचनेपर कुछ काल बाद रक्त स्वच्छ हो जायगा एवं शरीर कामदेवके सदृश सतेज बन जायगा। शीतली कुम्भक करनेपर अजीर्ण और कफ-पित्तादि रोग नहीं पैदा होंगे। चर्मरोग प्रभृति बीमारीमें रक्त साफ करनेके लिये सालसा काममें न लाकर, उसके बदले यह क्रिया करके देखना चाहिये। यह सालसासे भी शीघ्र फलदायी हो सकती है और इसका फल दीर्घकालतक स्थायी भी हो सकता है।

शीतली प्राणायामकी विधि

रोज रात-दिनमें कम-से-कम तीन-चार बार, पाँच-सात मिनट हर बार, स्थिरभावसे बैठकर इसी तरह मुँहसे वायु खींचनी चाहिये और नथुनोंसे निकालनी चाहिये। अवश्य ही जितना ही अधिक इसका अभ्यास किया जायगा, उतना ही शीघ्र लाभ पहुँचेगा।

मैले-कुचैले और वायु बिगड़े हुए स्थानमें, वृक्षके नीचे, मिट्टीके तेलका चिराग जलाकर, घरमें और खाया हुआ अन्न न हज़म होनेपर यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। वायु निकालनेके बाद हाँफना भी नहीं चाहिये, इस बातका विशेष खयाल रखना चाहिये। विशुद्धवायुसे पूर्ण स्थानमें स्थिरासनसे बैठकर धीरे-धीरे पूरक तथा रेचक करना चाहिये। इसकी साधनासे क्या लाभ होता है, वह भी सुनिये—

गुल्मप्लीहादिकान् दोषान् ज्वरं रेतःक्षयं क्षुधाम्।
तृष्णाश्च शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति वै॥

(घेरण्ड-संहिता)

'शीतली कुम्भकका साधन करनेपर गुल्म, प्लीहा, ज्वर, रेतःक्षय, क्षुधा, तृष्णा आदि साधकके सब दोष नष्ट हो जाते हैं।' इस क्रियासे कठिन शूल, तथा छाती, पेट आदिका किसी प्रकारका दर्द भी अवश्य मिट जाता है। प्राणायामके विषयमें और सुनिये—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(पातञ्जल० साधनपाद ५२)

प्राणायाम सिद्ध होनेपर मोहावरणका क्षय होकर दिव्य ज्ञानका प्रकाश होता है। प्राणायाम करनेवाला व्यक्ति सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है; किन्तु अनुष्ठानके व्यक्तिक्रमसे नाना प्रकारके रोगोंकी प्राप्ति भी होती है। यथा—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः॥
हिक्का श्वासश्च काशश्च शिरःकर्णाक्षिवेदना।
भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात्॥

(सिद्धियोग)

'नियमपूर्वक प्राणायाम करनेसे साधक सर्वरोगसे मुक्त होता है; किन्तु अनियम तथा वायुका व्यतिक्रम हो जानेपर हिचकी, दमा, खाँसी और आँख, कान तथा सिरकी नाना प्रकारकी बिमारियाँ पैदा हो जाती हैं।'

अनियमित प्राणायामादिके कारण यदि किसी सज्जनपर किसी प्रकारकी व्याधिने आक्रमण कर लिया हो और वह कृपाकर मुझसे मिलें तो मैं गुरुमहाराजजीकी कृपासे बिना औषधके पवन-विजय—स्वरोदय-शास्त्रके अनुसार उन्हें रोगमुक्त कर सकता हूँ।

लययोगका नाद-साधन वा शब्द-शक्तिसाधन

परन्तु साधक नाडीशोधन तथा प्राणायामके झंझटमें न पड़कर नाद-साधनकी विधिसे ही आत्मलीन होनेकी कोशिश करें। वह मार्ग सबसे सरल, सुगम तथा विपद्शून्य है। इससे भी आसानीके साथ दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। नाद-साधन लययोगकी एक क्रियामात्र है। सदाशिवजीने एक लाख पचीस हजार प्रकारका लययोग बताया है। जैसे—

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके॥

(योगतारावली)

परन्तु योगिगण साधारणतः चार प्रकारके लययोगका अभ्यास करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

शाम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा॥

(घेरण्ड-संहिता)

'शाम्भवीमुद्रासे ध्यान लगाना, खेचरीमुद्रासे रसास्वादन करना, भ्रामरीमुद्रासे नादको सुनना और योनिमुद्रासे आनन्द भोग करना—इन चार प्रकारके उपायोंसे ही लययोगकी सिद्धि होती है।'

इस चार प्रकारके लययोगका और भी सहज कौशल सिद्ध योगियोंने प्रकट किया है। उन्होंने लययोगके अन्दर नादानुसन्धान, आत्मज्योतिदर्शन और कुण्डलिनी-उत्थापन—इन्हीं तीन प्रकारकी प्रक्रियाओंको श्रेष्ठ और सुखसाध्य बतलाया है। इनमें कुण्डलिनी-उत्थापन कुछ कठिन है। क्रिया-विशेषका अवलम्बन कर मूलाधारको सिकोड़कर जागती हुई कुण्डलिनी-शक्तिको ऊपर उठाया जाता है। यह विषय किसी योग्य गुरुसे ही सीखना चाहिये।

लययोगमें नादानुसन्धान और आत्मज्योतिदर्शनका काम बहुत सीधा तथा आरामसे होनेवाला है। अगर साधकका मस्तिष्क कमजोर हो तथा उसे आँखकी बीमारी हो तो उसे आत्मज्योतिदर्शनका अभ्यास नहीं करना चाहिये। नाद-साधन ही सबसे सरल, सुगम और विपद्शून्य मार्ग है। मैं यहाँपर उसीका साधन-कौशल 'कल्याण' के सुधी पाठकोंके सामने प्रकट करना चाहता हूँ। कृष्णद्वैपायनादि ऋषि नवचक्रमें लययोगका साधन करके यमदण्डको तोड़कर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे थे। कहा है—

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः।
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः॥

(योगशास्त्र)

धीरे-धीरे इसी योगकी साधनाके द्वारा मन अति शीघ्र लय हो जाता है। लययोगकी साधना विशेष उच्चस्तरकी साधना है—इस कथनमें कोई अत्युक्ति नहीं; विशेषतः इसके आविष्कर्ता परम योगी जगद्गुरु भगवान् शिव हैं। शास्त्रमें भी लिखा है—

जपाच्छतगुणं ध्यानं ध्यानाच्छतगुणो लयः।

जपसे ध्यानमें सौगुना अधिक फल होता है। ध्यानकी अपेक्षा सौगुना अधिक फल लाभ होता है—लययोगसे। अतः जपादिकी अपेक्षा सबको किसी भी

प्रकारके लययोगका साधन करना चाहिये। अब साधनाकी विधि सुनिये। यों तो इस साधनाकी विधियाँ बहुत-सी हैं; परन्तु उनमेंसे जो सबसे सरल है, उसीको मैं बतलाता हूँ। विधि इस प्रकार है—

नादानुसन्धान-विधि

साधकको उपर्युक्त नियमसे शुद्ध होकर योगसाधनके स्थानपर उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके आसन जमाकर बैठ जाना चाहिये। जिन्हें निर्वाण-मुक्तिकी इच्छा हो उन्हें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके बैठना चाहिये; परन्तु जिन्हें सांसारिक उन्नतिकी इच्छा हो, उनके लिये तो पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठना ही उचित है।

जिसे जिस आसनका अभ्यास हो, उसे वही आसन लगाकर मस्तक, गर्दन, पीठ और उदरको बराबर सीधा रखकर, अपने शरीरको सीधा करके बैठ जाना चाहिये। तत्पश्चात् नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर कुछ देरतक पलक नहीं मारना चाहिये। नाभिस्थानमें दृष्टि और मन रखनेसे निःश्वास धीरे-धीरे जितना कम पड़ता जायगा, मन भी उतना ही स्थिर होता जायगा। इस भावसे नाभिके ऊपर दृष्टि और मन लगाकर बैठनेसे कुछ दिन बाद मन स्थिर हो जायगा। मन स्थिर करनेका ऐसा सरल उपाय दूसरा और नहीं है।

त्राटक-योगकी विधिसे भी मन स्थिर हो सकता है; परन्तु अनियमसे आँखकी बीमारी अथवा आँख खराब हो सकती है। अतः उस विधिको मैं ठीक नहीं समझता हूँ और इस कारण उसका उल्लेख भी यहाँ करनेकी इच्छा नहीं है।

हाँ, उपर्युक्त विधिसे मन स्थिर करते समय यदि थोड़ी-थोड़ी वायु भी धारण की जाय तो नाद-ध्वनि बहुत ही जल्द सुन पड़ती है। पहले झींगुरकी झन्झनाहट-जैसा या भृङ्गी-जैसा झिं-झिं शब्द सुनायी देगा। उसके बाद क्रमशः साधन करते-करते एकके बाद एक वंशीकी तान, बादलका गर्जन, झाँझकी झनकार, भौंरेकी गुञ्जार, घण्टा, घड़ियाल, तुरही, करताल, मृदङ्ग प्रभृति नाना प्रकारके बाजोंके शब्द सुन पड़ेंगे। ऐसे ही रोज अभ्यास करते हुए नाना प्रकारकी ध्वनियाँ सुनी जाती हैं। मैंने जो विधि बतलायी है, उसका शास्त्रमें भी प्रमाण है—

नाभ्याधारो भवेत् षष्ठस्तत्र प्राणं समभ्यसेत्।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिरन्ततः॥

(योगस्वरोदय)

ऐसी ध्वनि सुनते-सुनते कभी शरीर रोमाञ्चित हो जाता है; कभी किसी प्रकारका शब्द सुननेसे सिर चक्कर खाने लगता है; कभी कण्ठकूप जलसे पूर्ण हो जाता है। लेकिन साधकको किसी ओर भी ध्यान न देकर अपना काम करते रहना चाहिये। मधु पीनेवाला भौंरा जैसे पहले मधुकी सुगन्धसे आकृष्ट होता है, किन्तु मधु पीते समय मधुके स्वादमें इतना डूब जाता है कि उस समय उसका सुगन्धकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं रहता, वैसे ही साधकको भी नादकी ध्वनिसे मोहित न होकर शब्द सुनते-सुनते चित्तको लय कर देना चाहिये।

आत्मज्योतिः-दर्शन

इस प्रकारका अभ्यास करनेपर हृदयके भीतरसे अभूतपूर्व शब्द और उससे द्रुत प्रतिशब्द कानमें पहुँचेगा। उस समय साधकको आँख बन्द करके अनाहत-पद्ममें स्थित बाणलिङ्ग शिवके मस्तकपर निर्वात—निष्कम्प दीपशिखाकी भाँति ज्योतिका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ही ध्यान लगाते-लगाते अनाहत-पद्मस्थ प्रतिध्वनिके भीतर ज्योतिःदर्शन होगा।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥

(गोरक्ष-संहिता)

उस दीप-कलिका (दीपककी लौ)-के आकारमें ज्योतिर्मय ब्रह्ममें साधकका मन संयुक्त होकर ब्रह्मरूपी विष्णुके परमपदमें लीन हो जायगा। उस समय शब्द बन्द हो जायगा तथा मन आत्मतत्त्वमें डूब जायगा। साधक सर्वव्याधिसे मुक्त होकर तेजोयुक्त हो अतुल आनन्दका उपभोग करेगा। उस समयका वह भाव अनिर्वचनीय है! अवर्णनीय है!! अलेखनीय है!!

नित्य नियमितरूपसे इसी तरह नाभिस्थानमें वायु धारण करनेसे प्राणवायु अग्निस्थानमें गमन करती है। उस समय अपान-वायुद्वारा शरीरस्थ अग्नि क्रमशः उद्दीप्त हो उठती है। इस क्रियासे और एक विशेष लाभ होता है। जिसकी पाचन-शक्ति कम हो गयी है—कोई चीज बिलकुल ही हज़म नहीं होती—वह अगर इस क्रियाको ठीक विधिसे करे तो थोड़े दिन बाद उसके शरीरका समुचित शोधन होकर पाचन-शक्ति बढ़ जायगी और कोष्ठ भी स्वच्छ होता जायगा।

आत्मज्योतिःदर्शनकी एक और दूसरी विधि है; उसे सूर्यदेवकी ओर दृष्टि डालकर करना चाहिये।

नादसाधनके सम्बन्धमें शास्त्रका कहना है—

आसीद्बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिसमुद्भवः।
नादरूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला॥

(वायवीय-संहिता)

आदि-प्रकृति देवीका नाम परा-प्रकृति है। सुतरां परा-प्रकृति आद्या-शक्ति ही नादरूपा होती है।

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः॥

और भी देखिये—

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात् तुम्बं वहति वक्षसि॥

इस नाद-ध्वनिकी साधना करते-करते अन्तमें जो 'ॐकार' ध्वनि सुननेमें आती है, वह ध्वनि जबतक साधक जीवन धारण करता है, तबतक कभी बन्द नहीं होती। सदा सर्वावस्थामें अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें भी नादध्वनि चलती ही रहती है।

ऊपर जितनी विधियाँ मैंने लिखी हैं, उनका अनुभव मैंने स्वयं साधना करके किया है। इसी कारण विद्याबुद्धिविवर्जित होनेपर भी उन्हें यहाँ पाठकोंकी हितकामनासे लिख दिया है। अन्तमें सुधी सज्जनोंसे सविनय निवेदन है कि वे इनकी साधना करके चाहें तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

क्षमध्वं पण्डिता दोषान् परपिण्डोपजीविनः।
ममाशुद्ध्यादिकं सर्वं शोध्यं युष्माभिरुत्तमैः॥

सिद्धयोग

(लेखक—परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीशंकर पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी)

एक समय सृष्टिकर्ता ब्रह्माने देवादिदेव महादेवसे प्रश्न किया—

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शङ्कर॥
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद॥

(योगशिखोपनिषद् १।१-२)

'हे शंकर! सब जीव सुख-दुःखरूप मायाजालसे घिरे हुए हैं। हे देव! कृपया मुझसे यह कहिये कि इनकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। ऐसा एक उपाय बतलाइये जिससे सब सिद्धियाँ प्राप्त हों, मायाजाल कट जाय और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिका नाश हो जाय।'

इसके उत्तरमें भगवान् महादेवने विष्णुके नाभिकमलसे उत्पन्न ब्रह्मासे कहा—

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्॥
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।

(योगशिखोप० १।३-४)

'हे पद्मसम्भव! कैवल्यरूप परम पदकी प्राप्तिके अनेक उपाय कहे गये हैं; किन्तु उन समस्त उपायोंसे उसे प्राप्त करना सहज नहीं। एकमात्र सिद्धिमार्गके द्वारा ही कैवल्य-पद आसानीसे प्राप्त होता है। अन्य प्रकारसे नहीं प्राप्त होता।' कैवल्य-प्राप्ति ही मानव-जीवनका उद्देश्य है। कैवल्य-मुक्ति होनेपर ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। दुःख नष्ट हो जानेपर पुनः उसकी उत्पत्ति न होनेको ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य या मोक्ष प्राप्त होनेपर जीवको पुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिजनित दुःख नहीं भोग करना पड़ता। इसे प्राप्त करनेका सहज पथ सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग है।

यह सिद्धिमार्ग क्या है, यहाँ इस बातका विशदरूपसे वर्णन करना आवश्यक है। जिस पथसे बिना कष्टके योग प्राप्त होता है, उसी पथको सिद्धिमार्ग कहते हैं। योगरूप सिद्धि प्राप्त करनेका पथ सुषुम्रा नाड़ी है; जब इस नाड़ीसे प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर स्थित होता है तब साधकको जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानरूप योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरुद्वारा शक्तिका सञ्चार होनेपर कुण्डलिनी-शक्ति जागरित होती है; और उसके बाद क्रमोन्नतिके द्वारा योगलाभ होता है। जिस तरह तुम्हें बरतन, लकड़ी, जल और अग्नि इत्यादि

किसी चीजको परिश्रम करके जुटाना नहीं पड़ता, केवल दाताकी कृपासे ही उसके घरमें तैयार अन्नसे ही तुम्हारी क्षुधा शान्त हो जाती है, उसी तरह तुम्हें परिश्रम करके सब योगोंकी आधारस्वरूपा मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी-शक्तिको जागरित करनेके लिये योगशास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायामादि कुछ भी अस्वाभाविक ढंगसे अनुष्ठान करनेकी जरूरत नहीं, केवल गुरुशक्तिके प्रभावसे ही कुण्डलिनी-शक्तिके जागरित हो जानेसे स्वाभाविक रूपमें योगमार्ग प्राप्त हो जाता है। इसीको 'सहज कर्म' कहा गया है। स्वभावसे जो होता है, वही वास्तवमें सहज है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेदसे योगपथ दो प्रकारका है। उनमें अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्टसाध्य तथा विघ्नसंकुल है। स्वाभाविकसे विपरीत ही अस्वाभाविक है। जो स्वाभाविक है, अर्थात् जो स्वभावतः होता है, वही अनायाससाध्य और सुखद है; तथा उसमें किसी तरहकी विपत्तिकी भी सम्भावना नहीं। देखो, जब स्वभावतः हमें निद्रा, क्षुधा और मल-मूत्रादिका वेग होता है तब सो जाने, भोजन कर लेने और मलमूत्रादि त्याग देनेसे शारीरिक स्वस्थता तथा मानसिक आनन्दका अनुभव होता है। किन्तु निद्राकी इच्छा न मालूम होनेपर भी जबर्दस्ती सो रहनेसे सुषुप्तिके स्थानमें स्वप्न आया करता है और उससे शारीरिक और मानसिक अस्वस्थताका अनुभव होता है। भूख नहीं है, फिर भी भोजन कर लिया, तो उससे अजीर्णतादि दोषके कारण शरीरमें रोग होनेकी सम्भावना रहती है। भूख न रहनेपर भोजन करनेसे वह उतना रुचिकर भी नहीं मालूम होता। मलका वेग नहीं हुआ, फिर भी काँखकर मल त्याग किया, इससे भविष्यमें गुह्य रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है; किन्तु वेग होनेके बाद मल त्याग करनेपर शारीरिक और मानसिक आराम मालूम होता है। उसी तरह अन्तःकरणमें स्वाभाविकरूपसे आसन, मुद्रा और प्राणायामादि करनेकी इच्छा होनेपर और उसके अनुसार क्रिया करनेपर वह सहज और शान्तिप्रद हो जाती है। स्वभावसे ही जो हो जाता है, उसमें बाधा डालनेपर बल्कि अनिष्टकी सम्भावना रहती है। जैसे, शोकमें जिस समय रुलाई आती है, उस समय उसमें बाधा उपस्थित होनेपर हृदयमें भयानक चोट लगती है; किन्तु रो लेनेपर शरीर और मन हलका मालूम होता है। मल-मूत्रादिका वेग होनेपर उसे रोक लेनेसे दुःख होता है और रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है; किन्तु उसका त्याग करते ही आराम मिलता है। उसी तरह गुरुशक्तिके प्रभावसे स्वभावतः जो आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि तथा नाना प्रकारसे अंगसञ्चालन आदि करनेकी इच्छा होती है, उसमें उस समय बाधा डालनेपर मानसिक अशान्ति मालूम होती है और शरीरको भी अच्छा नहीं मालूम होता।

जिस तरह वायु, पित्त और कफ इन तीनोंके स्वभावमें विषमता होनेपर वैद्यके पास जाना पड़ता है और वैद्यके बतलाये हुए औषध, पथ्यका व्यवहार करके स्वभावकी सहायता करनेपर शरीर स्वभावतः ही नीरोग हो जाता है, उसी तरह सद्गुरुकी कृपासे शक्तिसञ्चारके द्वारा सिद्धिमार्ग प्राप्त होनेपर एकमात्र गुरूपदिष्ट मन्त्रजप या ध्यानके द्वारा ही स्वभावतः आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इत्यादि सब योगाङ्ग अनायास साधित हो जाते हैं, इसके लिये विशेष परिश्रम करने या चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होती, अथवा गुरुसे इन सब आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदिका स्वतन्त्ररूपसे उपदेश लेनेकी भी जरूरत नहीं होती।

इसी पथसे क्रमशः अग्रसर होते-होते साधक शीघ्र ही योगसिद्धि प्राप्त करके कृतार्थ और धन्य हो जाता है। इस उपायसे स्वभावतः योगाङ्गादि साधनक्रमसे जीव और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान अथवा अखण्ड-चैतन्यानुभूति होती है और इसीको सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग कहते हैं। परन्तु यह शक्तिसम्पन्न सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होनेपर ही सम्भव है।

वाम-कौल-तान्त्रिक योग

(लेखक— श्रीगुलाबसिंहजी शर्मा)

नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्।

'मृत्युरूप महाभयका नाश करनेवाली, अति दुस्तर विघ्नोंको शान्त करनेवाली तथा महान् करुणाकी मूर्ति आप महादेवीकी मैं वन्दना करता हूँ।'

जीवात्माका विकास जीवनके उत्कर्षपर निर्भर करता है। यह जीवनशक्ति और प्राणोंकी वृद्धि हम योगाभ्याससे ही विशेषतः लाभ कर सकते हैं। आहार-विहारमें यथायोग्य संयम करते रहने और स्वास्थ्यके साधारण नियमोंका पालन करनेसे हमारी जीवनशक्तिकी वृद्धि होती है। तब योग-सरीखे सर्वोच्च संयमनमार्गका अभ्यास करनेसे हमारी आत्मिक शक्ति अवश्यमेव विकसित होगी, यह ध्रुव सत्य है। हाँ, इन क्रियाओंमें पथप्रदर्शक अर्थात् गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है; और यदि मनकी लगन सच्ची हो तो गुरु भी मिल जाता है। योगके नामसे कई मठ और नानाविध ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं; परन्तु अनुभव हमें बतलाता है कि सबसे श्रेष्ठ वही मार्ग है जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी प्राप्ति सुगम हो—केवल एकाङ्गी धर्म कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रखते हुए आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीताजीमें कहा है—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२। ५०)

अर्थात् 'इससे समत्वबुद्धि योगके लिये ही चेष्टा करो, यह समत्वबुद्धि-रूप योग ही कर्मोंमें चतुरता है।' फिर आगे चलकर भगवान् अर्जुनको उपदेश देते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(६।४६)

अर्थात् 'योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है, तथा सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है। अतएव हे अर्जुन! तुम योगी होओ।' इससे यह स्पष्ट है कि योग पूर्णांग-मार्ग है और उसकी श्रेष्ठता इसमें है कि वह न किसीका त्याग बतलाता है न किसीका ग्रहण, जैसा कि अन्य साम्प्रदायिक मार्गोंमें है। योगमार्ग हमें भुक्ति और मुक्ति दोनोंको प्राप्त कराता हुआ परम आनन्दमय जीवन अर्थात् मुक्त अवस्थाको प्राप्त करा देता है। शास्त्रोंको देखने, सुनने और विचार करनेसे पता लगता है कि कौलमार्ग अर्थात् तान्त्रिक साधना ही प्रधान योगमार्ग है और उसका यह दावा है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

अर्थात् जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है। किन्तु जो लोग भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरीकी सेवामें संलग्न हैं उनके लिये भोग और मोक्ष दोनों ही करतलगत हैं।

तान्त्रिक साधनामें कर्मके त्याग-ग्रहणकी आवश्यकता नहीं, केवल कर्मफल त्यागनेकी आवश्यकता है। इस साधनाके विषयमें कुछ कहनेके पूर्व 'कौल', 'वाम' आदि शब्दोंसे जो भ्रम होता है, उसको दूर करना आवश्यक है।

वाम— **अस्नेमः अनेनः अनेद्यः अनवद्यः अनभिशस्तः उकथ्यः सुनीथः पाकः वामः वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि।**
(निरुक्त)

अर्थात् उपर्युक्त दस नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठके वाचक हैं।

य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति।
(दुर्गाचार्य)

अर्थात् जो प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) हैं वे ही प्रशस्य हैं। 'प्रशस्य' शब्दका अर्थ है प्रज्ञावान्। प्रज्ञावान् प्रशस्य योगीका नाम ही 'वाम' है। तन्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिव कहते हैं—

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् वाममार्ग अत्यन्त गहन है और योगियोंके लिये भी अगम्य है।

अधिकार—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।

परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता॥

(मेरुतन्त्र)

अर्थात् जो परद्रव्यके लिये अन्धा है, परस्त्रीके लिये नपुंसक है, परनिन्दाके लिये मूक है और जो इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रखता है ऐसा ब्राह्मण ही वाममार्गका अधिकारी होता है।

कौल— **कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।**
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

(स्वच्छन्दतन्त्र)

अर्थात् 'कुल' शब्द शक्तिका वाचक है और 'अकुल' शब्दसे शिवका बोध होता है; कुल और अकुलके सम्बन्धको कौल कहते हैं।

तन्त्र— **तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता।**
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी॥

(ब्रह्मयामल)

अर्थात् 'देवी तन्त्रको रचनेवाली, तन्त्रके द्वारा अर्चनीय, तन्त्रकी स्वामिनी, तन्त्रको मान्य, तन्त्रको जाननेवाली, तन्त्रके द्वारा साध्य और तन्त्रस्वरूपिणी हैं।'

तात्पर्य तन्त्र शक्ति प्राप्त करनेका मार्ग है और तन्त्र ही स्वयं शक्ति है। तन्त्रशास्त्रके दो मुख्य साधनमार्ग हैं—एक भावना और दूसरा कुल-कुण्डलिनीका ऊर्ध्व-सञ्चालन। शास्त्रकार कहते हैं—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम्॥

(रुद्रयामल)

बहुजापात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः।
न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रदः॥

(भावचूडामणि)

अर्थात् भावसे सब कुछ प्राप्त होता है, भावसे ही देवदर्शन होता है और भावसे ही श्रेष्ठ ज्ञानकी प्राप्ति होती है। चाहे हम कितना ही जप करें, कितना ही होम करें और शरीरको कितना ही क्लेश पहुँचावें, भावके बिना देवता यन्त्र और मन्त्रका फल नहीं देते।

इसी मूल सिद्धान्तको लेकर तमोगुणाधिक साधकके लिये पशु-भाव, रजोगुणाधिक साधकके लिये वीरभाव और सत्त्वगुणाधिक साधकके लिये दिव्यभावकी साधना तन्त्रशास्त्रमें बतायी है। इन तीनों प्रकारकी साधनाओंके लिये साधक जिज्ञासुओंको किसी सुविज्ञ गुरुके पास जाकर उनका मर्म जानना चाहिये। केवल ग्रन्थ देखकर कोई साधना करेंगे तो भ्रममें फँसकर अपना पतन करेंगे।*

अस्तु, कुलकुण्डलिनी क्या है, यह अब पहले देखना चाहिये—

Shortly stated, Energy *(Shakti)* polarises itself into two forms, namely, static or Potential *(Kuṇḍalinī)* and dynamic (the working forces of the body as *(Prāṇa)*.

—Sir John Woodraffe (Shakti and Shakta)

Kuṇḍalinī is the static Shakti.

It is the Individual bodily representative of the great Cosmic Power *(Shakti)* which creates and sustains the Universe.—

('The Serpent Power' by Arthur Avalon).

अर्थात् संक्षेपमें हम यों कह सकते हैं कि शक्ति स्थिर अथवा अविकसित (कुण्डलिनी) और चल (अर्थात् शरीरकी प्राणरूप सञ्चालिका शक्ति) रूपसे द्विविध हो जाती है।—*सर जॉन वुडरफ़) ('शक्ति और शाक्त')*

कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है। यह उस महान् विश्वव्यापिनी शक्तिका ही व्यष्टि शरीरस्थित रूप है।

—आर्थर एवेलन ('कुण्डलिनी शक्ति')

यह तो हुई पाश्चात्त्य विद्वानोंकी राय। शास्त्रकारोंके वचन ये हैं—

---

* तान्त्रिक शब्द सब पारिभाषिक हैं और उनका अर्थ गुह्य है। जो गुरु-परम्परानुसार चल रहा है। अतः उन आदेशों और क्रियाओंको गुरु ही समझा सकता है। यह 'हृदयका गुप्त रहस्य' है, जो गुरुसे शिष्यको प्राप्त होता है और गुप्त ही रखा जाता है—

प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचारगतौ प्रिये। अतो वामपथं देवि गोपायेत् मातृजारवत्॥ (विश्वसार)

अर्थात् हे प्रिये! वामाचारमार्गमें साधनको प्रकाशित करनेसे सिद्धिहानि होती है, अतः हे देवि! वाममार्गको माताके जारके समान गुप्त रखना चाहिये।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्देवीबीजसंज्ञका॥
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका॥

अर्थात् यह देवी सोयी हुई नागके समान मालूम होती है तथा अपने ही प्रकाशसे दीप्त है। यह सर्पके समान सन्धिस्थानमें रहती है तथा वाग्देवीके बीज नामसे विख्यात है। इसे विष्णुकी शक्ति जानना चाहिये। यह निर्भय और स्वर्णके समान आभावाली है तथा सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका प्रसूतिस्थान है।

अर्थात् सब शक्तियोंकी मूल शक्ति यह कुलकुण्डलिनी है। इसको कैसे जगाया जाय, यही प्रश्न है। हमारे ऋषियोंने कई प्रकारके उपाय साधनाधिकारभेदसे बतलाये हैं; जैसे मन्त्रयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विन्दुयोग (अथवा नादयोग), हठयोग, राजयोग इत्यादि। इनका विवरण ग्रन्थोंमें होनेपर भी साधकके लिये सिद्ध गुरुकी आवश्यकता है। सिद्ध गुरुके बिना कुछ प्राप्त नहीं होगा और मैं भी यहाँ उतना ही वर्णन करूँगा जितनेके लिये गुरु-आज्ञा है।

(१) सबसे पहले बाह्य और आन्तर शुद्धि होनी चाहिये। फिर (२) आहार-विहार नियमित और शुद्ध होना चाहिये। (३) ऐसे आचार नहीं होने चाहिये जिनसे मस्तिष्कमें अधिक क्षोभ पैदा हो। (४) ईश्वर अर्थात् इष्टमें पूर्ण प्रेम होना चाहिये। (५) आध्यात्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय और गुरु-आज्ञापर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। (६) साधनाका स्थान नीरव, एकान्त, स्वच्छ और शुद्ध वायुयुक्त हो। (७) साधन प्रातः-सायं और अर्द्धरात्रिमें अवश्य करना चाहिये। आधी रातका समय ध्यान और जपके लिये श्रेष्ठ है। (८) जिह्वादि इन्द्रियोंका पूर्ण संयम करना चाहिये। (९) मन-बुद्धिसे किसीका भी अहित न सोचना, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितकी भावना करनी चाहिये। (१०) हर हालतमें ब्रह्मशक्तिका स्वरूप अपनेको समझते हुए अपने आत्माको अजर, अमर, अजेय और सब शक्तियोंका केन्द्रस्थान समझना चाहिये। (११) स्त्री-जातिको जगदम्बास्वरूप समझते हुए कभी भोग-वस्तु नहीं समझना चाहिये, बल्कि माताके रूपमें उन्हें देखना चाहिये।

ये हैं नियम जिनमें साधकको साधनासे पहले अपने-आपको ढालना होगा। तत्पश्चात् निम्नलिखित साधना आरम्भ करनी चाहिये—शीर्षासनका नित्य प्रातः-सायं अभ्यास करो। प्रथम एक मिनटसे प्रारम्भ करके जब दस मिनटतकका अभ्यास हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करो। पद्म या सिद्ध आसनसे बैठकर रेचक, पूरक, कुम्भकका अभ्यास आरम्भ करो। प्रयत्न करो कि ज्यादा देरतक कुम्भक हो सके; पर बलपूर्वक प्राणवायुको रोकनेका प्रयत्न मत करो। धीरे-धीरे अभ्यास करो। इसमें ॐके उच्चारणकी गिनतीका हिसाब रखो और प्रति सप्ताह पाँच मन्त्र बढ़ाते चलो। बीस प्राणायामसे अधिक न बढ़ाना चाहिये और तीन घण्टेतकका कुम्भक हद है। स्मरण रखो कि वायुमण्डल ही प्राण नहीं है, वायुका विशुद्धतम अंश ही प्राणवायु कहलाता है। विशुद्ध-विशेषका सम्बन्ध ग्रहोंकी शक्ति (Planatary Electricity) और विशेषकर सूर्यज्योतिसे है। जबतक सूर्य रहता है जागृति रहती है। सूर्यके न रहनेसे जीवमात्र ही शक्तिहीन हो जाते हैं और उन्हें विश्रामकी आवश्यकता पड़ती है। अतः जिस तरह बाह्य सूर्य है, उसी तरह हमारे अन्दर सूर्यकेन्द्र है, जिसको (Solar Plex) कहते हैं। इसका स्थान नाभिके पास है और यौगिक भाषामें उसे मणिपूर-चक्र भी कहते हैं। यही वह मणिपूर है जिसका वर्णन पुराणोंमें आया है कि शक्तिका स्थान मणिपूरमें है। (इसी तरह विष्णुका वैकुण्ठ और शिवका कैलास भी मनुष्यके शरीरमें ही है। पर तिनकेकी ओट पहाड़ है।) अतः प्राणायामकी प्रक्रियाद्वारा यही चित्त-शक्ति बढ़ायी जाती है और जल्द वह समय आ जाता है जब मणिपूर-चक्र जगने लगता है। जब चक्र जगने लगता है तब साधकमें तेज चमकने लगता है। वह शक्तिमान् हो उठता है और उसकी इच्छाशक्ति बलवती हो जाती है। उसके बाद प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और तल्लीनता अर्थात् समाधि आरम्भ होती है।

मस्तिष्क ही ज्ञानरज्जुके रूपमें मेरुदण्डके भीतर नीचेतक अनन्त स्नायु-तन्तुओंके रूपमें फैला हुआ है। पायुसे दो अङ्गुल ऊपर, उपस्थसे चार अङ्गुल नीचे ज्ञान-रज्जु मेरुदण्डके बाहर चार अङ्गुल विस्तृत कन्दके रूपमें प्रकट हुई है। सिद्धोंके मतानुसार उसी कन्दसे बहत्तर हजार नाडियोंका सम्बन्ध है। इन नाडियोंमें मुख्य इडा-पिङ्गला और सुषुम्ना हैं। हमारा उद्देश्य

केवल प्राणायामसे उस कन्दको पुष्ट करके शरीरको पुष्ट करना ही न होना चाहिये, बल्कि शरीर तो स्वयं पुष्ट होगा, हमारा लक्ष्य होना चाहिये ब्रह्मानन्द-प्राप्ति—शिवशक्ति-सम्मिलन। हमारी अन्तर्मुख शक्ति तब सिद्ध होगी जब हमारा सम्बन्ध सुषुम्नासे होगा। क्योंकि सुषुम्ना नाड़ी कन्दसे होती हुई मस्तिष्कतक जाती है और जीवात्मासे विशेष सम्बन्ध रखती है। अतः इसी सुषुम्नाद्वारा योगिगण केवल भावनासे प्राणायामसे सञ्चित शक्तिको ठोकर लगाकर कुण्डलिनीको जगाकर ऊर्ध्वगामिनी करनेमें समर्थ होते हैं और अमृत-पद प्राप्त करते हैं। शिवभक्त इसको शिवशक्तिसम्मिलन कहते हैं। कृष्णभक्त इस कुल-कुण्डलिनी-रूपी राधिकाका कृष्ण ब्रह्मके साथ (वंशीवटके निकट) मस्तिष्कके पास रासविलास देखा करते हैं और आधुनिक सन्त सुरति-शब्द-योग कहकर गद्गद होते हैं। यही जीव शिव हो जाता है—सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। कुण्डलिनीके जागरणपर एक प्रकारका कम्प पैदा होता है और उससे ॐ की ध्वनि स्वयं निकलने लगती है तथा अनेक प्रकारके स्वर आने लगते हैं। यह ओंकार जगदम्बाका उद्गार है और काम, क्रोध, लोभ, मत्सरका नाश ही शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्डका वध है।

भृकुटीमें द्विदल कमल है, जहाँ शिवका निवासस्थान है और योगियोंके मतसे महाकाल रुद्र वहाँ लेटे हैं। जगदम्बा कुण्डलिनी जाकर ठोकर लगाती हैं, उनके वक्षःस्थलपर भीषण नृत्य करके उनमें जीवनका सञ्चार करती हैं और शवसे शिव बनाकर सहस्रदलपद्ममें सदा ही विहार करती हैं। यही कालीका नृत्य है।

तान्त्रिक मतसे एक तो यह मार्ग है और दूसरे इसी योगके शाखास्वरूप मन्त्र, ज्योति, नादादि योग हैं। पर योग मात्रकी साधना तभी सिद्ध होती है जब कुण्डलिनी जाग उठे। सब योगोंका लक्ष्य भी एक ही है। इसमें वाद-विवादसे कुछ नहीं मिलेगा, यह तो करतब विद्या है, जो करेगा वह आनन्द लेगा। इससे अधिक कुछ नहीं लिखा जा सकता, न लिखनेकी आज्ञा ही है। आगे जो कुछ है वह अनिर्वचनीय और अनुभवगम्य है। अन्तिम प्रार्थना यही है कि जगदम्बा हमारा और आपका सबका कल्याण करें। जो साधना करना चाहें उनसे प्रार्थना है कि वे पञ्चदेवोंके प्रति द्वेष-भावना छोड़ दें, देव एक है, वस्तु एक है, केवल भावना और साधन-प्रणाली पृथक्-पृथक् है—ऐसा समझकर एक-दूसरेके इष्टको प्रेमसे देखें। इससे सबका मङ्गल होगा। शास्त्रकार कहते हैं—

एकैव माया परमेश्वरस्य
स्वकार्यभेदाद् भवति चतुर्धा।
भोगे भवानी समरे च दुर्गा
क्रोधे च काली पुरुषे च विष्णुः॥

अर्थात् परमेश्वरकी एक ही माया अपने कार्य-भेदसे चार प्रकारकी हो जाती है। भोगके समय उसे भवानी कहते हैं, समरमें वही दुर्गा कहलाती है, क्रोधमें वह काली नामसे विख्यात होती है, तथा पुरुषरूपमें वह विष्णुसंज्ञाको धारण करती है।

जो इस पथपर चलेंगे वे आनन्द प्राप्त करेंगे—

ब्रह्मानन्दरसं पीत्वा ये तु उन्मत्तयोगिनः।
इन्द्रोऽपि रङ्कवद्भाति का कथा नृपकीटकः॥

अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप रसको पीकर जो योगी उन्मत्त हो जाते हैं उनके सामने इन्द्र भी रङ्कतुल्य प्रतीत होता है, साधारण नृपरूप कीटोंकी तो बात ही क्या है?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

संसारकी नश्वरता

जैसो मोती ओसको, तैसो यह संसार।
बिनसि जाय छिन एकमें, 'दया' प्रभू उर धार॥
बहे जात हैं जीव सब, काल-नदीके माहिं।
'दया' भजन नौका बिना, उपजि उपजि मरि जाहिं॥
छिन छिन बिनस्यो जात है, ऐसो जग निरमूल।
नाम रूप जो धूस है, ताहि देखि मत भूल॥

—दयाबाई

अस्पर्शयोग

(लेखक—पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(गौडपादीय कारिका ३९)

श्रीआनन्दगिरिजीने इस कारिकाका अर्थ इस प्रकार किया है—'वर्णाश्रमधर्मसे, पापादि मलसे जिसको स्पर्श नहीं होता, जो इनसे सर्वथा अछूत रहता है वह अद्वैतानुभव अस्पर्श है। वह यह योग अर्थात् जीवकी ब्रह्मभावसे योजना ही अस्पर्शयोग है।'

भगवान् शङ्कराचार्य इसका भाष्य यों करते हैं—

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्। अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः, वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधाया-सलभ्य एवेत्यर्थः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जिता-दप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः॥ ३९॥

इसका अर्थ यह है—

'यह अस्पर्शयोग सब स्पर्शोंसे, सब सम्बन्धोंसे अलिप्त रहनेका नाम है और उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है एवं कई स्थानोंमें इसका उल्लेख आया है। जिनको वेदान्तविहित विज्ञानका बोध नहीं उनके लिये 'दुर्दर्शः' है। यह अस्पर्शयोग सब प्रकारके भयोंसे शून्य है तो भी योगिजन इस योगसे भयभीत होते रहते हैं—वह भय यह कि कहीं इस अस्पर्शयोगके अभ्याससे आत्मनाश न हो जाय। इस प्रकार अस्पर्शयोगद्वारा अद्वैततत्त्वमें मिल जानेसे आत्मतत्त्वका नाश समझनेवाले योगियोंका अविवेक ही है अर्थात् अविवेकियोंको ही ऐसा भय रहता है, अन्योंको नहीं।'

उपनिषदोंमें '**न लिप्यते कर्मणा पापकेन**' इत्यादि वचन मिलते हैं। अस्पर्शयोगवाले योगिजन पाप-पुण्यसे अलिप्त रहते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कारिका, उसका शाङ्करभाष्य, उसपर की गयी आनन्दगिरिजीकी टीका इन सबका अभिप्राय अस्पर्शवादसे विशुद्ध अद्वैतका है।

अभयके विषयमें यह निम्नलिखित कारिका क्या कहती है, देखिये—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च॥

(गौडपादीय का० ४०)

'अभय—आत्मदर्शनतत्त्व तो मनके निग्रहके अधीन है जिससे समस्त दुःखोंका क्षय होता है और प्रबोधचन्द्रका उदय भी। अक्षय शान्ति भी मिलती है।'

गीताका कर्मयोग भी एक प्रकारसे अस्पर्शवाद ही है। उसमें भी फलकी आकांक्षासे अछूत रहकर कर्म करना पड़ता है—फलकी आकांक्षा छोड़कर केवल कर्त्तव्यके लिये कर्त्तव्य करते रहनेसे पुरुष पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर मोक्षका अधिकारी बन जाता है। ध्यानयोगका जो फल है वही फल इस प्रकारके अस्पर्शवादका है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

(१)	(२)	(३)
योगका ध्यानयोग	गौडपादका अस्पर्शयोग	गीताका कर्मयोग

तीनोंका फल एक

अर्थात्

मोक्ष

जितना भी दुःख है वह है स्पर्शका, कर्मफलमें लिप्त रहनेका,—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। (गीता)

× × ×

न तेषु रमते बुधः। (गीता)

संसारके जितने संस्पर्शज भोग हैं वे दुःखके ही कारण हैं—बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमते नहीं, अलग

रहते हैं, अस्पर्शसे काम लेते हैं तब वे पुण्यापुण्यसे ऊपर उठते हैं, तब आत्मदर्शन कर पाते हैं, तब 'अभय' में लीन हो जाते हैं। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त कठिन है। साधारण योगियोंको तो क्या बड़े-बड़े योगियोंको भी अप्राप्य है। पर अभ्यास और वैराग्यसे वशीकारसंज्ञा प्राप्त करनेपर सहजगम्य है।

पुराकालमें हमारे इस पवित्र भरतखण्डमें इस प्रकारके उच्चकोटिके योगियोंकी कमी नहीं थी—अब भी यह खण्ड शून्य नहीं है पर पुराकालकी वह बात भी नहीं रही है। आजकल निम्नलिखित पारमार्थिक सत्यको समझानेवाले हमारे देशमें कितने मिलेंगे? और कहाँ मिलेंगे? मिलेंगे तो वे किस प्रकार पहचाने जायँगे? पहचाने भी गये तो वे किस प्रकार प्रसन्न होंगे और तत्त्वको समझायेंगे?

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥

(गौडपादीय कारिका ४८)

'वस्तुतः 'कर्त्ता' 'भोक्ता' जीव तो कभी उत्पन्न नहीं होता। स्वभावसे जो 'अज' है 'एक ही आत्मा' है वह उत्पन्न भी कैसे हो सकता है? संसारमें जितने 'सत्य' हैं उनमें परमार्थ सत्य यह है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्ममें अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होता।'

अब रही द्वैताद्वैतकी बात, उसको गौडपादीय कारिका ३१ में स्पष्ट वर्णन किया है—

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

'द्वैतकी सब बात मनके अधीन है—मनके कारण है। मन ही जब लीन-विलीन हो गया तब द्वैत कहाँ? द्वैतकी बात बोलनेवाला कहाँ?'

भक्तियोग तथा उसकी सर्वव्यापकता और उत्कृष्टता

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[१]

चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित, आस्तिक हो या नास्तिक, सबका ध्येय सुख है। सबकी इच्छा यही रहती है कि दुःखसे बचें, और सुख मिले। मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्र सुखके लिये व्यस्त हैं। अपनी जानमें वह वही यत्न करता है कि जिससे दुःखसे बचकर सुखके सम्मुख हो। किन्तु अपनी-अपनी बुद्धि और योग्यताके अनुसार उपायोंमें अन्तर है। एक आदमीके यत्नकी पहुँच वहींतक हो पाती है कि कुछ दिनके लिये चाहे उसे दुःखसे छुटकारा भले ही मिल जाय परन्तु उस नियत अवधिके बीत जानेपर फिर उसे उसी दुःखका सामना करना पड़ता है। परन्तु दूसरा आदमी अपनी दूरन्देशीसे ऐसे उपायोंमें लगता है जिनके कारण अनन्त अवधिके लिये वह दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है। गरमीके घामसे घबराया हुआ पशु जब किसी मकानकी छायामें पहुँच जाता है तो समझता है, मैंने अपने उपायोंसे सुख प्राप्त कर लिया। किन्तु सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है, छाया वहाँसे हटती जाती है। वह भी अपनी जानमें उपायोंमें कमी नहीं करता। उसके साथ-साथ आगे बढ़ता चला जाता है। किन्तु जब मकानकी भित्ति आ चुकती है और धूपसे बचाव नहीं हो पाता तब वह अपने उद्योगको विफल समझकर घबरा उठता है। सन्तापसे बचनेके लिये इधर-उधर दीन दृष्टि डालता है।

विचारशीलोंका एक बारीक विचार यहाँ और है। वह 'सुख' शब्दके अर्थपर ही डट जाते हैं। उनका कहना है कि 'सुख' पदार्थको ही अभी लोगोंने नहीं समझा है। वर्तमान परिस्थितिसे कुछ-न-कुछ उन्नति होना, थोड़ा-बहुत आराम और उत्कर्षकी तरफ जाना ही 'सुख' कहा जाना चाहिये। हमारी प्रचलित परिस्थितिमें एक आगन्तुक दुःख जो अचानक आ पड़ता है उसकी निवृत्ति होनेपर हमें खुशी जरूर होती है किन्तु विचार-दृष्टिसे वह सुख नहीं कहा जा सकता। वह तो अचानक आयी हुई आपत्तिसे बचाव है न कि लाभ। जिस सेवकको प्रतिमास पचास रुपया वेतन मिलता है, स्वामीकी अप्रसन्नताके कारण हर मास उसके यदि पाँच

रुपये कुछ मासतक कटते रहें और फिर उसे पचास रुपया मासिक मिलने लगे तो क्या इसे उन्नति समझेंगे? रास्ता चलते हुए आदमीके सिरपर अचानक बोझ रख दिया जाता है जिससे वह बेचारा घबरा उठता है। उसके हट जानेपर जरूर वह निश्चिन्तताका श्वास लेता है किन्तु क्या यह वास्तवमें सुख है? सुख तो वह गिना जाना चाहिये जो कि उसे अपनी परिस्थितिसे कुछ आगे बढ़ावे। अतएव आगन्तुक दुःखोंके अभावको सुख नहीं मानना चाहिये। संसारके सुख प्रायः सब इसी तरहके हैं। भर्तृहरि कहते हैं—

निवृत्तौ दुःखानां सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

इन सब बातोंको सोचकर ही विवेकशील दार्शनिकोंने उत्तमोत्तम सुखकी परिभाषा अलग ही मानी है। वह स्वर्गसुखको उत्कृष्ट बताते हैं। दूसरे-दूसरे शास्त्रोंने 'स्वर्ग' को एक लोकान्तर माना है किन्तु इनके मतसे— 'जिस सुखमें दुःखका ज़रा भी मिलाव न हो, जो किसी सुखकी तुलनामें दबता न हो, जिसमें अन्तर (विच्छेद) न पड़ता हो, जो यथेच्छ प्राप्त हो, उसे ही स्वर्गसुख* कहते हैं।

जो ईश्वर और शास्त्रोंपर विश्वास नहीं करते उनके मतमें सुख और उसकी प्राप्तिके लिये उपाय-परिकल्पना कैसी होगी, इसपर मैं विचार करना नहीं चाहता। जो ईश्वरको केवल मानते ही नहीं; उसकी प्रसन्नता सम्पादनको ही जो परम पुरुषार्थ समझते हैं, शास्त्रोंको प्रमाण मानते हैं वे **'स्वर्गकामो यजेत'** इस शास्त्राज्ञाके अनुसार स्वर्गसुखके लिये यज्ञ-यागादि किया करते हैं। किन्तु वह सुख भी सावधिक (मर्यादी) है। किये हुए यज्ञादिका पुण्यफल जितने कालके लिये पर्याप्त हो सकता है उतने कालके लिये वे भी उस लोकान्तर या सुखविशेषको भोगते हैं। फिर **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**।

दूसरे, स्वर्गीय भी आपत्तियोंके आक्रमणोंसे एकदम बरी नहीं कहे जा सकते। माना कि हम पग-पगपर नानाविध आपत्तियोंसे घिरे रहते हैं, चिन्ता और सन्ताप हमारा हरदम पीछा किया करते हैं, सुख थोड़ा और आपत्तियाँ बहुत। किन्तु एकदम सुखी तो देवता भी नहीं गिने जा सकते। और तो क्या, सब देवताओंके अधिपति इन्द्र भी आये दिन शत्रुओंके आक्रमणोंका सामना किया करते हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वर्गमें पहुँचनेपर तो दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा हो ही जाता है?

फिर यज्ञ-यागादिका पूरा पार पड़ जाना भी तो सहज नहीं। उनकी विधिमें थोड़ा भी अन्तर होते ही कार्यसिद्धि कैसी, उलटा प्रत्यवाय (पाप)-का भागी होना पड़ता है। **'व्रीहीन् अवहन्ति'** धानोंका अवघात (काष्ठादिसे छड़ना) जहाँ विहित है वहाँ थोड़ा भी अन्तर पड़ जानेसे कर्ममें वैगुण्य हो जाता है। **'दक्षिणेन कुशानास्तीर्य'** वेदीके दक्षिण भागमें कुश फैलावे'। यदि इसमें थोड़ी भी भूल हो गयी तो कार्यसिद्धिमें अन्तर पड़ जाता है। मन्त्र बोलते समय स्वरमात्रमें भी थोड़ी-सी भूल हो गयी तो लेनेके देने पड़ जाते हैं। असुरोंकी तरफसे, इन्द्रको मारनेवालेको उत्पन्न करनेके लिये यज्ञ किया जा रहा था, किन्तु **'इन्द्रशत्रो'** इस पदमात्रमें स्वरकी जरा-सी गलती करनेसे इन्द्रके हाथसे मरनेवाला पैदा हो गया। अब कहिये, कितनी बड़ी सावधानीका काम है। कितना अध्यवसाय, कितना परिश्रम, कितना काल अपेक्षित है? फिर सौभाग्यसे पूर्ण सिद्धि हो भी गयी तो भी वह सुख सदाके लिये स्थायी हो, सो भी नहीं। **'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः'** के अनुसार कभी-न-कभी उसका भी अन्त होता ही है। अब कहिये, तपश्चर्या अथवा यज्ञादिके द्वारा जो हमने फलसिद्धि प्राप्त की उससे कौन-सा हमें आत्यन्तिक सुख मिल सका?

फिर और लीजिये। यज्ञ-यागादि करनेके लिये, तपश्चर्या-विधानके लिये सब मनुष्य अधिकारी भी तो नहीं। प्रथम, वेदाध्ययनका ही सबको अधिकार नहीं, फिर उसके द्वारा यज्ञादि करना तो सबके हिस्सेमें आ ही कैसे सकता है? वेदका सबको अधिकार क्यों नहीं? मैं समझता हूँ, इसपर झगड़ा करना जम नहीं सकेगा। क्योंकि 'वेद पढ़कर यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है' यह आपने कैसे जाना? आप यही कहेंगे न कि शास्त्रमें लिखा देखा है। बस, उसी शास्त्रमें यह भी व्यवस्था की है कि अमुक वर्ण 'वेद पढ़े और अमुक नहीं।' फिर **'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा'** पर ही आप क्यों बिगड़ उठते हैं? शास्त्रके एक हिस्सेपर तो श्रद्धा

* यत्र दुःखेन सम्भिन्नं यत्र ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥'

रखकर यज्ञ करनेके लिये तैयार होते हैं और दूसरी तरफ शास्त्रको अप्रमाण भी मानते जाते हैं? यों मनमानी भी करना चाहते हैं और शास्त्रोंसे लाभ उठानेकी भी आशा रखते हैं?

अब आप ही विचार कीजिये, सब प्राणियोंके लिये आत्यन्तिक सुखप्राप्तिका उपाय क्या हो सकता है? मेरे पहले निवेदनपर ध्यान रहना चाहिये कि शास्त्रोंको जो प्रमाण मानते हैं उन आस्तिकोंके विषयमें ही मैं निवेदन कर रहा हूँ। और निबन्ध लिखना भी मेरा उन्हींके लिये है। शास्त्रज्ञ आस्तिकोंका कथन है कि आनन्दैकात्मक उन भगवान्से उत्पन्न हुआ उनका ही एकांश यह जीव जबतक उन्हीं भगवान्के सम्मुख नहीं होता तबतक इसको सुख नहीं मिल सकता। भगवान्ने अपनी इच्छासे, अपनी क्रीडाके लिये, अपने ही रूपसे, स्वात्मक यह जगत् उत्पन्न किया है। जबतक वह स्वयं न चाहें तबतक इस क्रीडाकी समाप्ति न हो, बराबर यह क्रीडा चली जाय, इसके लिये कर्मबन्धका जो प्रबल चक्र चलाया गया है उसमें 'माया' का प्रधान हाथ है। वह इस जीवको ठिकानेपर आने ही नहीं देती। अपने स्वरूपको तथा अपने स्वामीको भूला हुआ यह जीव अन्धेकी तरह संसारचक्रमें अनन्त जन्मोंसे घूम रहा है। सौभाग्यवश सत्संगति मिल जानेपर जैसे ही यह उस सूक्ष्म सच्चे रास्तेके अभिमुख आने लगता है [यदि इसकी लगन दृढ़ न हुई] तो वह 'माया' फिर इसकी बुद्धिको चकरा देती है, जिससे यह उस रास्तेसे भटककर फिर उसी चौरासीके चक्करमें पड़ जाता है।

एक अन्धा यदि ऐसे एक बगीचेमें फँस जाय कि जिसके चारों तरफ लताओंसे आच्छन्न पुख्ता चहारदीवारी हो, केवल एकमात्र सूक्ष्म दरवाजा ऐसा हो जिसपर भी आधेसे ज्यादा लताएँ छायी हुई हों। वह निःसहाय अन्धा चारों तरफ टटोलता-टटोलता बाहर निकलनेके लिये जैसे ही उस दरवाजेके सामने पहुँचने लगता है कि दरवाजेके सहारे खड़ा हुआ एक कौतुकी पुरुष मोरपङ्खकी पिच्छी उसके शरीरपर छुआ देता है। वह बेचारा लताओंके धोखेसे उस दरवाजेमें न घुसकर फिर आगे बढ़ जाता है और उसी चहारदीवारीको टटोलता हुआ चक्कर काटने लगता है। बस, यही हाल चौरासीके चक्करमें पड़े हुए इस जीवका है। जैसे ही यह सन्मार्गके अभिमुख होने लगता है कि फिर मायाकी चपेटमें पड़कर चौकड़ी भूल जाता है। गरज़ यह कि जबतक स्वयं उस कौतुक करनेवालेका ही आश्रय यह जीव नहीं ले लेता तबतक यह उस 'भूलभुलैया' के बाहर नहीं निकल सकता। स्वयं भगवान् ही इस भेदको खोलते हैं कि— **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'।**

[२]

भगवान्का आश्रय जिसमें लिया जाय, उनकी 'प्रपत्ति' जिसमें की जाय, अपने मनकी गति भगवान्में जहाँ लगा दी जाय, वह विशिष्टयोग 'भक्तियोग' है।

यों तो सात्त्विक, राजस, तामस आदि भक्तिके अनेक भेद बताये गये हैं, परन्तु जहाँ और-और तरफ बहते हुए मनकी गतिको भगवान्में ही लगा दिया जाय, उस 'निर्गुणा' भक्तिको ही सबसे प्रधानता दी गयी है। 'निबन्ध' बढ़ न जाय, इसलिये केवल डेढ़ श्लोकसे ही इस 'भक्तियोग' का स्वरूप और उत्कर्ष दिखानेका यत्न करता हूँ। आशा है, मार्मिक लोगोंके लिये यही पर्याय होगा।

भगवान् आज्ञा करते हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।

'गङ्गाप्रवाहकी गति जिस तरह समुद्रकी तरफ अप्रतिरुद्ध और स्वाभाविक होती है, इसी प्रकार मेरे गुणोंको सुनकर सर्वव्यापक मुझमें अविच्छिन्न (प्रतिबन्धरहित) जो मनकी गति है वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण अर्थात् ज्ञापक (सूचक) कहा गया है'। यह पद्यका अक्षरार्थ हुआ। यहाँ एक-एक पदसे क्या-क्या गूढ़ार्थ सूचित किया गया है, अब जरा इसपर ध्यान दीजिये—

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण' इस पूरे पदसे प्रीतिकी स्वाभाविकता और मनोगतिकी अनिवार्यता सूचित की गयी है। मन गुणोंके कारण जब किसीपर अनुरक्त होता है, वह अनुराग बड़ा दृढ़ और स्वाभाविक होता है। क्योंकि अपनी मनोरथपूर्तिके लिये जब किसीके प्रति किसीका खिंचाव होता है और वह अपने प्रेमपात्रको चाहने लगता है उसमें गुण दरअसलमें गुणका (रस्सीका) काम करते हैं। इसीलिये साहित्यवालोंने पूर्वानुरागमें कहा है—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।

श्रीरुक्मिणीजीने जिस समय भगवान्‌के गुणोंको सुना उसी समय भगवान्‌के प्रति उनका हृदय इतना आकृष्ट हुआ कि उन्होंने सम्पूर्ण भूमण्डलके बड़े-बड़े प्रतापी राजाओंमें भगवान् श्रीकृष्णको ही अपने योग्य पति माना—

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः।
..................................तं मेने सदृशं पतिम्॥

इन गुणोंने श्रीरुक्मिणीजीके हृदयको इस प्रकार दृढ़ बाँध लिया था कि थोड़ा भी शैथिल्य होना कहाँ था? इन गुणोंके कारण ही, बिना भगवान्‌को देखे ही उन्होंने भगवान्‌को अपना पतितक वरण कर लिया था। यह क्या सामान्य बात है। वह कहती हैं—'हे भुवनसुन्दर! आपके गुणोंको सुनकर विवश हुआ यह मेरा हृदय सब अपत्रप (लज्जा) आदिको छोड़कर **'आविशति'** आपमें केवल लगा ही नहीं है, इसे एक तरहका 'आवेश' हो गया है। **'तन्मे भवान् खलु वृतः पतिः'** 'अतएव आपको मैंने अपना पति वरण किया है।' इस गुणश्रवणका प्रभाव यहींतक नहीं हुआ, बल्कि अपने प्राणपर्यन्त भगवान्‌को उन्होंने अर्पण कर दिये थे। वह अपने पत्रमें लिखती हैं—

यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्।

हे कमलदललोचन! यदि आपकी कृपा मुझपर नहीं होगी तो इन प्राणोंको मैं छोड़ दूँगी। ये प्राण पहले ही कैसे हैं— **'व्रतकृशान्'**, आपकी प्राप्तिके लिये जो नाना व्रत किये हैं उनके कारण दुर्बल हो रहे हैं। फिर इनके चले जानेमें देर ही क्या लगेगी? आप यह न समझें कि मेरा यह हृदयसमर्पण केवल इसी जन्मके लिये हुआ है। नहीं-नहीं, यदि आपका अनुग्रह इस जन्ममें न हुआ और आपको स्मरण करते-करते यह शरीर छूट गया तो फिर दूसरे जन्ममें भी आपकी ही प्राप्ति होगी। और वहाँ भी आपके अनुग्रहकी यों ही लालसा रहेगी। इस तरह चाहे मेरे शत (अनन्त) जन्म ही क्यों न हों, परन्तु मैं आपकी प्रसन्नताको प्राप्त किये बिना नहीं जी सकती। इस दृढ़ताको सूचन करनेके लिये ही आपने यहाँ कहा है— **'शतजन्मभिः स्यात्'**। बस, गुण-श्रवणके इस सुदृढ़ और स्थायी प्रभावको दिखलानेके लिये ही भगवान्‌ने यहाँ कहा है— **'मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण'**।

'मात्र' पदसे यह ध्वनित किया गया है कि भक्तका ऐसा स्वाभाविक और दृढ़ अनुराग होना चाहिये कि केवल गुणश्रवण करते ही भगवान्‌के प्रति उसका वह आकर्षण हो कि बस, फिर कोई प्रतिबन्धक सामग्री उसके हृदयको भगवत्प्रीतिसे रोक न सके। भगवद्विमुख राक्षसमयी लङ्कामें रहते हुए भक्त विभीषणने जहाँ भगवान्‌के गुणश्रवण किये वहीं उनके हृदयका वह आकर्षण हुआ कि बस, उन्होंने सर्वसमृद्ध लङ्का, स्त्री-पुत्र-बान्धव आदि सब कुछ छोड़कर भगवान् श्रीरामचन्द्रको ही अपना आत्मसमर्पण कर दिया। वह कहते हैं—

भवद्‌गतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च।

विभीषणने तबतक भगवान् श्रीरामचन्द्रका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया था। श्रीरामके त्रिलोकविख्यात गुण ही उनके कानोंतक पहुँचे थे। परन्तु गुणश्रवणसे ही उनके हृदयमें वह प्रीत्युद्रेक हुआ कि उन्होंने सब राज्य-सुखादिको तृणवत् छोड़कर, प्रत्युत भ्रातृत्यागसे हुई समस्त संसारकी अवहेलनाको भी सिरपर स्वीकार करके, श्रीरामचन्द्रकी चरणसेवाको ही आजन्मके लिये अङ्गीकार कर लिया। इसी प्रेमकी दृढ़ताको सूचित करते हुए यहाँ कहा है कि **मद्‌गुणश्रुति 'मात्रेण'**।

'मयि' 'मुझमें' (**मनोगतिः**, मनका लगना), यही कहना पर्याप्त था, फिर **'सर्वगुहाशये'** यह विशेषण देनेका तात्पर्य है 'सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी मुझमें'। अर्थात् जिस तरह मेरे गुणश्रवण वह कर चुका है, उसी तरह मेरा प्रभाव, माहात्म्य भी जिसको अवगत हो चुका हो। इसका आशय यह है कि जिसको भगवान्‌के सर्वसामर्थ्य, ऐश्वर्य, सर्वव्यापकतापर दृढ़ विश्वास हो जायगा फिर उसकी भक्ति भगवान्‌से कभी भी हट न सकेगी। क्योंकि जब वह देखेगा कि भगवान्‌से बढ़कर चतुर्दश भुवनोंमें भी कोई समर्थ नहीं है तो अब उनको छोड़कर वह किसके पास जायगा। प्रह्लादकी परीक्षा करनेके लिये जिस समय भगवान्‌ने कहा—

वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्।

हे प्रह्लाद! अपना अभिमत वर माँगो। मैं मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ। उस समय ऐकान्तिक भक्तवर प्रह्लादने कहा कि—हे भगवन्! मेरे सदृश तुच्छ

तो पहलेसे ही मनोरथोंमें आसक्त हैं, फिर आप मुझे वरोंके द्वारा क्यों प्रलोभित करते हैं। और हे भगवन्! आपके सम्मुख आकर मैं माँगूँ भी तो क्या माँगूँ? मनुष्यके प्रार्थनीय आयु, धन, वैभव ही क्या स्थिर हैं, जो इनके लिये आपके सम्मुख मुख खोला जाय। हे अखिलेश! मैंने मनुष्य तो क्या, देवताओंतककी दशा देख ली है। देवता भी कैसे? सम्पूर्ण लोकोंके पालक होनेके कारण जो 'लोकपाल' कहाते हैं। मैंने देखा है कि उनके भी आयु, धन, वैभव, मेरे पिता (हिरण्यकशिपु)-की भ्रुकुटिके काँटेपर चढ़े हुए थे। जरा-से फर्कसे इधरके उधर हो जाते थे। कोपसे उसकी भ्रुकुटि जरा बाँकी हो जाती, इतने मात्रमें वह अपनी आयुकी समाप्ति समझ लेते थे, और प्रसन्नतासे जरा भी उसकी भ्रुकुटि नाच उठती तो वह अपना अहोभाग्य समझते थे। वह अद्भुत प्रतापी पिता भी जब आपके आगे क्षणभरमें निरस्त* हो चुका, तो अब आपके सामर्थ्यको समझना कुछ बाकी रह गया?

महाभारतके युद्धमें सम्मुख समरसे विचलित हुए अर्जुनको जिस समय भगवान्ने सम्पूर्ण सांख्ययोगादिका उपदेश दिया, उस समय युक्तियुक्त होनेके कारण सब बातें उसने मान तो लीं परन्तु उसके हृदयमें कुछ सन्देहरेखा बराबर बनी रही। जिस समय भगवान्ने कहा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

इस अक्षय 'योग' का उपदेश मैंने सूर्यको दिया था, सूर्यने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुके लिये बताया था। उस समय सन्दिग्ध अर्जुनने पूछ ही तो लिया कि—**'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः'** [हे भगवन्! आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्यका जन्म तो आपसे बहुत पहले हो चुका है, फिर आपने यह उपदेश विवस्वान्को कैसे दिया?] इसपर भगवान्को अपना माहात्म्य अर्जुनके लिये कहना पड़ा—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'मैं जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित हूँ तथा प्राणिमात्रका स्वामी हूँ तो भी दया-दाक्षिण्य आदि अपने स्वभावको लेकर अपनी लीलासे जगत्के उद्धारके लिये उत्पन्न होता हूँ।'

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

'मैं सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे रहता हूँ। स्मृति और ज्ञान तथा उनका अभाव (विस्मृति और अज्ञान) यह सब मुझहीसे होता है। वेदोंके द्वारा उपदेश्य भी मैं ही हूँ तथा वेदोंका कर्ता और ज्ञाता भी मैं ही हूँ।'

इत्यादि भगवान्का अलौकिक माहात्म्य जब अर्जुनको विदित हुआ और विश्वरूपदर्शनके द्वारा जब भगवान्का सर्वसामर्थ्य उसके हृदयमें अच्छी तरह जम गया तब भगवान्के प्रति उसकी श्रद्धा और विश्वास अटल हो गया। अपने हृदयमें भगवान्के प्रति समानभाव रखनेकी जो धृष्टता उसने की थी उसके लिये शत-शत प्रणाम करके उसने क्षमा माँगी। हाथ जोड़कर उनकी प्रपत्ति की और कहा कि **'करिष्ये वचनं तव'** 'मैं अब जो आपकी आज्ञा होगी वही करूँगा।' कारण इसका यही था कि अर्जुनको भगवान्के माहात्म्यका दृढ़ निश्चय हो चुका था। इसीलिये 'भक्ति' के लक्षणमें आचार्योंने कहा है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
रागो भक्तिरिति प्रोक्तः..............................॥

बस, भगवान्के सर्वसामर्थ्यको जानकर भक्तकी श्रद्धा और भी सुदृढ़ हो जाय इसीलिये यहाँ विशेषण दिया है—**'सर्वगुहाशये'**।

'मनका लगना' यह न कहकर **'मनोगतिः'** यह कहना बड़ा गम्भीर भाव ध्वनित करता है। जिस मनको निश्चल करनेके लिये योगी और मुनि चिरकालतक घोर परिश्रम करके भी कभी-कभी फेल हो जाते देखे हैं, उसी चञ्चलतम स्वभाव मनको निश्चल बनाकर किसी जगह लगा देना क्या स्वाभाविक बात है? 'योग' और 'भक्तियोग' का तारतम्य ज़रा बारीकीसे परखनेका यही स्थल है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** 'मनकी वृत्तिको

* दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपानामायुःश्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम्।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रूविस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः॥

रोक लेना' इसीपर योगकी नींव डाली गयी है। किन्तु चित्तवृत्ति रोक लेनेके इतिहासपर साधारण भी दृष्टि डालेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि इसकी सिद्धि होना क्या सबके लिये सरल है? विश्वामित्र-सदृश त्रिलोकविश्रुत तपस्वी, जिन्होंने कि अपने तपःप्रभावसे दूसरी सृष्टि बनाना ही आरम्भ कर दिया था, वह भी इस मनके अनिवार्य वेगको जब नहीं रोक सकते हैं तब मनको निश्चल कर डालना क्या साधारण-सी बात होगी? चञ्चल और वेगवान् होनेमें मन आजतक दुनियाभरमें सबका उपमान रहा है। इससे बढ़कर कोई चपलस्वभाव नहीं।

गीतामें भी मनके निग्रहकी जहाँ बात आयी वहाँ अर्जुनको कहना पड़ा—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'**प्रमाथि**' '**बलवद्**' '**दृढम्**' इन तीनों विशेषणोंपर थोड़ा विचार करनेकी आवश्यकता है। यदि कोई पदार्थ तेज़ तो हो किन्तु दुर्बल (कमज़ोर) हो तो फिर भी बचावकी आशा रहती है परन्तु यहाँ कहा है '**बलवत्**' (बलवान्)। बलवान् भी हो परन्तु कुछ मृदु प्रकृति अर्थात् अपने निश्चयसे लौट आना भी जहाँ सम्भव हो तो फिर बचतका अवकाश होता है किन्तु यह है '**दृढम्**'। और तो क्या, यह जिस समय विकृत होता है और इसके रोकनेकी बलवत् चेष्टा की जाती है उस समय यह रुद्धवेग होकर भीतर-ही-भीतर सब इन्द्रियोंको मथित (विह्वल) कर डालता है। भला, इसकी गतिको रोक लेनेका 'योग' (नुसख़ा) सबसे सध सकेगा कि जिससे वे इस 'भवरोग' से छुटकारा पावें? इसीलिये 'भक्तियोग' में गतिको रोकनेकी बात नहीं, प्रत्युत यहाँ तो 'गति' का विशेषण दिया है '**अविच्छिन्ना**' बे-रोक-टोक।

आप मनकी गति रोक लेनेकी अस्वाभाविक और कठिन चेष्टा न कीजिये। उसकी गतिको अविच्छिन्न रहने दीजिये, किन्तु उसका मुख ज़रा मोड़ दीजिये। अबतक वह और-और तरफ़ बहता था, अब भगवान् कपिल इतना-सा ही भक्तिमें 'योग' साधन करनेके लिये आज्ञा दे रहे हैं कि वह गति '**मयि**' मेरी तरफ़ कर दो। मनका जितना भी वेग है सब मेरी तरफ़ जोड़ दो। जब आप उसकी गतिको ज़बरदस्ती रोकनेकी असाध्य चेष्टा नहीं करते तब वह भी 'विद्रोही' नहीं होगा। उसे आप मार्ग बता दीजिये, वह उसी रास्ते अपनी स्वाभाविक प्रबलतासे चलता रहेगा। पानी बहता हुआ जिस समय ज़ोरसे आ रहा हो यदि आप उसे रोकना चाहेंगे तो फल यह होगा कि वह सब तरफ़ फैल जायगा। और अधिक स्थान घेरेगा। यह भी बहुत सम्भव है कि यदि वह प्रबल हुआ तो रोकनेवालेतकको बहा ले जाय। किन्तु यदि आप उसकी गतिको मोड़ देंगे, रोकेंगे नहीं, तो वह सीधा-सीधा चला जायगा। इसी स्वारस्यको सूचित करनेके लिये दृष्टान्त भी दिया है '**यथा गङ्गाम्भसः**' जैसे गङ्गाके जलकी गति।

'जैसे गङ्गाकी गति समुद्रकी तरफ़ होती है' यही कहना तो पर्याप्त था, फिर 'गङ्गाके जलकी गति' यों बोलनेमें 'भुजङ्गकी-सी गति' क्यों? सुनिये—भगवती गङ्गा हिमालय-शिखरसे जिस समय उद्भूत होती हैं उनकी गति नीचेकी तरफ़ होती है। और जैसे-जैसे उनमें हिमका द्रव (पिघलाव) मिलता जाता है वह प्रबल प्रवाहके साथ आगेकी तरफ बढ़ती जाती हैं। गगनचुम्बी पर्वतसे उतरकर समुद्रकी तरफ़ जाती हैं, इसलिये ढलावकी तरफ झुका हुआ जलप्रवाह कितने प्रबल वेगसे चल रहा होगा यह सरलतासे अनुमान किया जा सकता है। उस प्रचण्ड प्रवाहमें यदि पर्वत-सरीखा भी आ जाय तो उसे भी एक बार तो भेदन करके वह निकल जाय। भला, जलके वेगको कोई रोक सकता है? ढलावकी तरफ़ झुकी हुई जलकी और मनकी गति अनिवार्य होती है इस बातको महाकवि कालिदासने भी माना है।

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्।

'अपने मनोरथकी तरफ प्रबलतासे झुके हुए मन और ढलावकी तरफ़ बहते हुए जलको भला कौन लौटा सकता है?'

'**अविच्छिन्ना**' का तात्पर्य है प्रतिबन्धरहित। अर्थात् मनकी गति भगवान्‌में ऐसी हो जाय कि कोई उसे रोक न सके। सदा भगवान्‌की ही भावना रहे। ऐन्द्रिय विषयोंका भी यदि प्रसङ्ग आ पड़े तो भी भगवान्‌का सम्बन्ध न टूटे। नेत्रेन्द्रियको अच्छे दृश्य देखनेकी यदि

लालसा हो तो भगवान्‌की सेवामें ही नाना तरहके वस्त्र-आभूषण—लता-वृक्ष पुष्पादिका आयोजन कर दीजिये जिसमें चक्षुरिन्द्रिय 'विद्रोही' न हो। प्रत्युत भगवत्सेवामें आसक्त होनेके कारण कल्याणमार्गका परिष्कारक हो जाय। इसी तरह आस्वाद्य पदार्थोंकी तरफ यदि जिह्वादिकी प्रबल उत्कण्ठा हो तो भगवन्नैवेद्योपयुक्त भोज्यादिसे उसे शान्त करके अनुकूल मार्ग दे दीजिये। कहनेका तात्पर्य यही है कि मन लौकिक इन्द्रियविषयादि प्रतिबन्धोंसे तथा वैदिकादि अदृष्टफलरूपी प्रतिबन्धोंसे किसी तरह भी भगवान्‌की तरफ जाता हुआ न रुके। व्रजगोपिकाओंके मनकी गति भगवान्‌की तरफ़ इस प्रबलतासे झुकी हुई थी कि उसके मार्गमें पड़े हुए सांसारिक विषय गृह-पति-पुत्रादि ही क्या, देहादिका अनुसन्धानतक बह गया था। परलोक, धर्म, सब कुछ उन्होंने भगवान्‌को सौंप दिया था। इसीलिये भगवन्मित्र परमभागवत उद्धवने गद्‌गद होकर कहा था—

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं········· ।

जब इस तरहका 'भक्तियोग' सिद्ध हो जायगा तो फिर उसके लिये कुछ बाकी रह जायगा? संसारमें दुःख तो तभीतक है न जबतक कि मनुष्य अहंता-ममतामें फँसा हुआ है? जब यह समझता है कि 'मैं करनेवाला हूँ, मेरा ही यह सब कुछ है' और फिर इसमें बाधा आ पड़ती है तभी उसे निराश होकर दुखी होना पड़ता है किन्तु जब वह संसार ही क्या, अपने मन, शरीर आदितकका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़ देता है तो फिर उसे निराश क्यों होना पड़ेगा? ब्रह्मवाक्य तो अटल माना जाता है न? वही लीजिये—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः।

'ये रागादि चोर तबतक लूटते हैं और यह गृह तबतक कारागार रहता है और कारागारमें पड़े बँधुएके लिये यह मोह तभीतक बेड़ीका काम देता है जबतक कि यह मनुष्य आपका नहीं हो जाता।' जब मनुष्य भगवान्‌का आश्रय ले लेता है फिर और दुःखोंकी तो बात ही क्या, सब दुःखोंका सार्वभौम यह मृत्युदुःख, जन्ममरणदुःखतक दूर हो जाता है। 'मृत्युरस्मादपैति'—मृत्यु इससे दूर भागती है। त्रिलोकीकी सम्पत्तियाँ इसके आगे हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं, परन्तु यह उनकी तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखता। और तो क्या वैकुण्ठादि लोक, सायुज्यतकको वह नहीं चाहता—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

वैकुण्ठमें वास, समानैश्वर्य, भगवान्‌के समीप स्थिति, चतुर्भुजत्वादि रूप, तथा सायुज्यतक भगवान् स्नेहपूर्वक देते हैं, किन्तु भगवान्‌की सेवाके सिवा भक्त कुछ ग्रहण नहीं करते। अब कहिये, और सुख कौन-सा बाकी रह गया?

यह तो हुई 'भक्तियोग' की उत्कृष्टताकी बात। अब सर्वव्यापकताको लीजिये। और और साधनोंमें तो अधिकारकी क़ैद है, किन्तु इसमें किसीको मनाही नहीं। नीचातिनीचतक भगवान्‌में अपना मन लगा सकते हैं और भगवान् उन्हें वह दर्जा देते हैं जो बड़े-बड़े तपस्वियोंको नहीं मिलता। पुरानी बात जाने दीजिये—यहींकी बात लीजिये। करौली राज्यके श्रीमदनमोहनजीका भक्तवात्सल्य भक्तोंसे सुना है। आपके आश्रयमें एक चाण्डाल ऐसा था जिसकी लौ आपमें लग गयी थी। वह रात्रि-दिन अपने हृदयमें श्रीमदनमोहनजीकी भावना किया करता था। थोड़े दिनमें उसकी यह दशा हो गयी कि यदि मदनमोहनजीका प्रसाद मिलता तो खाता, नहीं भूखा रह जाता। एक बार ऐसा हुआ कि दो-तीन दिनतक उसको प्रसाद नहीं मिला। चाण्डाल समझकर नाराज हुए पूजकोंने उसे मन्दिरके सामनेतक आने नहीं दिया। वह रात्रिको भूखा पड़ा हुआ भगवान्‌के ध्यानमें लीन था। भक्तप्रिय भगवान् मदनमोहनजीसे यह न देखा गया। अपना 'शयनभोग' और झारी लेकर आप स्वयं वहाँ पहुँचे। प्रातःकाल चाँदीका थाल और वह झारी बड़ी खोजके बाद सेवकोंको वहाँ मिली!

कहिये, इससे बढ़कर सर्वव्यापकता और क्या चाहते हैं? लेख बढ़ गया है, वक्तव्य फिर भी बहुत है। किन्तु मार्मिक लोग इसीसे सब कुछ समझ लेंगे।

भक्तियोग

(लेखक—पण्डितशिरोमणि श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर)

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥
(श्रीमद्भागवत ७।९।९)

विश्वके कल्याणका अमोल सुयोग भक्तियोगपर ही निर्भर करता है। अतः उस रमणीय भक्तियोगको विश्वके 'कल्याण' द्वारा ही प्रकट करता हूँ।

भक्तिका स्वरूप अनुग्रह, प्रेम, भक्ति ये तीनों एक ही स्नेहके पर्याय हैं। वयोमान, गुण, योग्यतादिसे किञ्चित् न्यून रहनेवाले सेवक, शिष्य, पुत्रादिपर जब इस स्नेहका दौरा पहुँचता है, तब वह अनुग्रहके नामसे जनतामें प्रसिद्ध हो जाता है। यदि अपनी बराबरीके मित्रगण, भार्यादिसे स्नेहमय वार्तालाप, अथवा पत्रव्यवहारादि करने लगें तो यही स्नेह प्रेमरूपसे फड़कने लगता है। कदाचित् सौभाग्यवश अपने श्रेष्ठ माता, पिता, गुरु और देवतादिके पास विनय, श्रद्धा, सदाचारादि अलङ्कारोंसे मण्डित होकर पहुँचे तो फिर यह स्नेह राजर्षि प्रह्लाद, अम्बरीष अथवा देवर्षि नारदादिकी पंक्तिमें भी बैठते नहीं सकुचता।

केवल इसी स्नेहके ऊपर समस्त विश्वका उदय और आनन्द निर्भर है। यदि यही एक स्नेह समस्त भूमण्डलमें यथायोग्य सभी लोगोंमें फैल जाय तो भूलोक और स्वर्लोकमें अन्तर ही क्या समझ पड़ेगा? माता पुत्रका, राजा प्रजाका, गुरु शिष्यका, विशेष क्या कहें करुणासागर भगवान् अपने सृज्य पदार्थोंका पालन केवल इसी स्नेहके वशीभूत होकर करते हैं। इसके विपरीत पुत्र, प्रजा, शिष्य आदि भी जो माननीयोंकी सेवा-आदरादि करते हैं वह भी इसी स्नेहका परिणाम है। यदि इसी दृष्टिकोणसे समस्त जगत्की ओर देखा जाय तो इस स्नेहमयी बागडोरको माता, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य, बन्धु आदि समस्त जगत्में फैलाकर, उसमें उस जगत्को नत्थीकर भगवान् किस प्रकारसे जगत्का पालन करते हैं यह भेद खुल जाता है। और भगवान्की इस अगाध महिमाका विचार करनेसे हमारा स्नेहमय भक्तियोग ब्रह्माण्डमें न समाकर उसके भी परे रहनेवाले आनन्दकन्द मेघश्याम भगवान्के चरणारविन्दोंमें लीन हो जाता है। इसीसे भक्तियोगकी उत्कृष्टता और व्यापकता कितनी है, यह बात सुगमतासे ध्यानमें आ जाती है।

भक्तियोगका स्वरूप ही उसकी महत्ता तथा व्यापकतामें प्रमाण है। इसलिये पहले उसका स्वरूप ही पाठकोंके सामने रखते हैं जिससे भक्तियोगकी अन्य विलक्षणता भी सहज ही दृष्टिपथमें आ जाय।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमें भक्तियोगका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चान्यथा॥
(श्रीमन्महाभारततात्पर्यनिर्णय)

महत्त्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते।
तथैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम्॥
(ब्रह्मसूत्रभाष्य)

इसी अभिप्रायसे योगिवर श्रीमज्जयतीर्थमुनीन्द्रजीने 'श्रीमन्न्यायसुधा' ग्रन्थमें कहा है—

तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याण-गुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्योऽनेक-गुणाधिकोऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः।

सारांश, अपरिमित अनवद्य कल्याणगुणोंके ज्ञानसे उत्पन्न हुए, अपने समस्त सम्बन्धिजन तथा पदार्थोंसे ही क्या, प्राणोंसे भी कई गुना अधिक, हजारों विघ्न आनेपर भी न टूटनेवाले, अत्यधिक सुदृढ, गङ्गाप्रवाहके समान अखण्ड प्रेमके प्रवाहको भक्ति कहते हैं।

इसीको दूसरे शब्दोंमें संक्षेपसे कहना हो तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस अखण्ड स्नेहधारामें सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय हैं, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य भक्तियोग है। इसी प्रकार मातृ-पितृभक्ति, गुरुभक्ति, पतिभक्ति, स्वामिभक्ति आदिमें भी अनन्यत्व जानना चाहिये।

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ

पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारणवशात् टूटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर बीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है, जिसमें कराल दावानलके घेरेमें फँसी हुई वह चिड़िया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रबल ज्वालाग्निके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दबाती हुई उनके भस्म होनेके बाद आप स्वयं उसी अग्निमें भस्म हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस संसारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्यरूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्के प्रसादकी कारण नहीं होती। इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमान्जी अविस्मरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठबुद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादिबुद्धि थी। स्वरूपतः वे भक्त ही थे। इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। यदि द्वेषादिको भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय तो यवनादिकोंका मन्दिर, गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादि-प्रापक ही क्यों न कहा जाय? इससे 'द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्तिके प्रकार

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्षसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'ब्रह्मतर्क' में कहा है—

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम्।
केचित्तूर्ष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः॥

इसी अभिप्रायसे पदरत्नावलीमें भी कहा है—

केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः॥
मुखप्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः॥
हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(११।३।३२)

भगवान्का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्के चरित्रका अनुकरण करते

हैं। कभी भगवान्‌की मनोहर मूर्तिको मनमें लाकर प्रसन्नचित्तसे चुपचाप बैठे रहते हैं, किसीके पूछनेपर भी उनको जवाब नहीं मिलता।

इन्हीं भक्ति-कार्योंको लेकर अवधूतशिरोमणि श्रीविष्णुतीर्थजीने भक्तिकी तीन अवस्थाएँ कही हैं। भक्ति-कार्य हासादि जिसमें स्पष्टरूपसे नहीं दीखते वह अपक्व भक्ति, जिसमें साधारण स्पष्टरूपसे उन्मादादि कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वह पक्वकल्पा; तथा विशेषरूपसे जिसमें ग्रहग्रस्तके समान देखनेमें आते हैं वह पक्वभक्तियोग कहाता है।

भक्तवर प्रह्लादने यह भक्ति नौ प्रकारकी कही है। वही मध्वसिद्धान्तमें प्रमुख मानी गयी है।

प्रकार उदाहरण	प्रकार उदाहरण	प्रकार उदाहरण
१. **श्रवणम्**····परीक्षित्, गार्गि, जनमेजय आदि। २. **कीर्तनम्**····सनत्कुमार, नारद, शुकाचार्य आदि। ३. **स्मरणम्**····गजेन्द्र, अजामिल, गोपिका, कंस, शिशुपाल, (काम) (भय) (द्वेष)	४. **पादसेवनम्**········हनूमान्, बलि, विभीषण आदि। ५. **अर्चनम्**··रुक्मिणी, द्रौपदी, **(पत्रम्)** गजेन्द्र, शबरी, बलि **(पुष्पम्) (फलम्) (तोयम्)** ६. **वन्दनम्**··········. रहूगण, नलकूबर, मणिग्रीव आदि।	७. **दास्यम्**······लक्ष्मण, हनूमान्, सात्यकि। ८. **सख्यम्**······अर्जुन, सुग्रीव आदि। और— ९. **आत्मनिवेदनम्**······द्रौपदी, कुन्ती, उद्धव, आदि अनेक हैं।

भगवान् श्रीकृष्णजीने गीतामें—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

इस श्लोकसे तीन प्रकारकी भक्ति ज्ञान, दर्शन और प्रवेशमें कारण कही है। तीनों प्रकारकी भक्ति अनन्य होनेपर भी उनका पूर्वापरी भाव होनेके कारण उनमें तारतम्य मानना पड़ता है। साधारणतः मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कारणीभूत अनन्य भक्तिके द्वारा अधिकारीको चार सोपान (सीढ़ियाँ) चढ़ने पड़ते हैं।

प्रथम सोपान अपक्व भक्तिके उपाय	द्वितीय सोपान पक्वकल्प भक्तियोगके	तृतीय सोपान पक्व भक्तियोगके उपाय	चतुर्थ सोपान मोक्षके उपाय
१. श्रद्धा, आस्तिक्यबुद्धिद्वारा शास्त्रविहित कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणशुद्धि।	१. अपक्व भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	१. पक्वकल्प भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	१. पक्व भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।
२. तत्त्वज्ञानके लिये गुरुके पास गमन।	२. विशेषरूपसे तत्त्वज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन।	२. ध्यानतत्त्वके विशेष ज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन।	२. भगवान्‌का अतिशयित प्रसाद।
३. प्रणिपातादि (नमस्कारादि) गुरुसेवा।	३. परिप्रश्नादि गुरु-सेवा।	३. गुरुसेवा सर्वरूपसे।	३. प्रारब्धकर्मभोगद्वारा अनिष्ट पुण्यपापोंका नाश।
४. सामान्यरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन।	४. विशेषरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन, ज्ञान।	४. उपदेशानुसार ध्यान।	४. उत्क्रान्ति।
५. अपक्व भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	५. तत्त्वनिश्चयद्वारा पक्व-कल्प भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	५. भगवान्‌का साक्षात्कार तथा उससे पक्व भक्तियोग	५. सत्यलोकादिद्वारा वैकुण्ठादि लोकोंमें गमन भगवत्-प्रवेशादि क्रीडादि।

उपरिनिर्दिष्ट विषयमें प्रमाण अनेक होनेपर भी लेखका विस्तार बहुत हो जानेके कारण स्थलाभावसे यहाँ नहीं दे सकते, इसलिये हम आशा करते हैं कि पाठकवर्ग क्षमा करेंगे।

अन्य साधनोंसे अप्राप्य परम पुरुषार्थ मोक्ष भी जब

भक्तिकी महत्ता

भक्तिसे प्राप्त होता है तब इस भक्तियोगसे श्रेष्ठ अन्य पदार्थ और कौन-सा हो सकता है? जिस समय अरण्यमें रहनेवाले पाण्डवोंसे मिलनेके लिये सत्यभामाको लेकर श्रीकृष्णभगवान् गये उस समय सत्यभामा द्रौपदीसे पूछती है कि 'हे द्रौपदी! हमें बहुत आश्चर्य प्रतीत होता है कि तुम अपने पाँचों पतियोंको कैसे स्वाधीन रखती हो। हमें तो एक ही पति है परन्तु वह हमारे अधीन नहीं है। अतएव हमें भी अपनी शिष्या बनाकर उस वशीकरण-मन्त्रका उपदेश दे दोगी तो अच्छा होगा।' उस समय हँसकर सती द्रौपदीने सत्यभामासे कहा कि, केवल पतिको ही क्या, समस्त विश्वको अपने अधीन रखनेमें समर्थ ऐसा यह स्त्रियोंको अनन्य पतिभक्तिस्वरूप महावशीकरणरूपी बड़ा भारी मन्त्र है।

भगवान् स्वयं इसकी महत्ता अपने मुखसे वर्णन करते हैं कि—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'हे प्रिय नारद! हम वैकुण्ठमें ही वास करते हैं, अथवा योगीलोगोंके हृदयमें ही वास करते हैं यह समझना भूल है। जहाँपर हमारे भक्तगण अत्यन्त भक्तिभावसे गायन करते हैं, वहाँ अवश्य ही हम रहते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें तो भगवान् अपने भक्तोंको कहते हैं—

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥
(३।१६।६)

'जिसका अमृतरूपी निर्मल यश, श्रवणरूपी स्नानसे आचाण्डालान्त समस्त जगत्को उसी क्षणमें पवित्र करता है, आप-सरीखे भक्तोंसे जिसको पवित्र कीर्तिका लाभ हुआ है, वह हम, आपलोगोंके प्रतिकूल आचरण करनेवाला यदि हमारा अपना ही हाथ क्यों न हो, उसे काट डालेंगे, फिर अन्यके विषयमें कहना ही क्या?'

अतएव माठर श्रुतिमें कहा है—

भक्तिरेवैनं नयति भक्तिवशः पुरुषः।

'भक्ति ही मोक्षका कारण है। परमात्मा भक्तिके अधीन है।'

कठ श्रुतिमें भी भगवान्के प्रसादका असाधारण कारण भक्ति ही वर्णित है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥

शिष्यमण्डलीको जमाकर बड़े-बड़े अर्थशास्त्रके विद्वताप्रचुर व्याख्यानोंसे, अथवा तर्कशास्त्रादिके केवल क्रोडपत्रनिर्माणोपयोगिनी कुशलबुद्धिसे, अथवा समस्त देशोंके नाना प्रकारके समाचारपत्रादिके अध्ययनसे, अथवा भक्तिरहित अन्तःकरणसे भगवद्गुणानुवादोंका श्रवण-मननादि करनेपर भी भगवान् प्रसन्न (प्राप्त) नहीं होते किन्तु भगवान्, जिसको अपना भक्त कहकर स्वीकार करते हैं उसीको अपना स्वरूप तथा अधिकारीका स्वरूप प्रकट कर दिखाते हैं। सारांश भक्तिके सिवा परमात्मप्राप्तिका अन्य कोई भी उपाय नहीं है। इसीसे भक्तियोगके सदृश महत्ता अन्य किसी भी योगकी नहीं है।

भक्ति उत्पन्न होनेका उपाय श्रीमद्भागवत-जैसे

भक्तिके उपाय

भक्तिप्रधान ग्रन्थमें अमङ्गलको नाश करनेवाले उत्तमश्लोक भगवान्के गुणानुवादोंका श्रवणादि ही कहा है—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥
(१२।३।१५)

भगवद्गुणानुवाद केवल अमङ्गलोंका नाश करनेमें ही पटु (चतुर) है, इतना ही नहीं किन्तु भक्तिप्रतिबन्धक इधर-उधरके ग्राम्य-समाचार, विषयप्रवर्तक प्रतीति सुन्दर कथाओंमें भी अरुचि उत्पन्न करनेवाला है। ऐसा कहा है—

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।

निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥
(५।१२।१३)

ज्ञान, भक्ति, वैराग्यप्रवर्तक 'कल्याण' मासिकका अन्य मासिकोंकी अपेक्षा अल्प ही कालमें इतना अधिक प्रचार इस विषयमें प्रज्वलित तथा आदर्श उदाहरण है। **'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येत'** इस श्रुतिके अनुसार भगवान्‌की प्राप्तिमें उतनी ही देर है जितनी देरतक भक्तिप्रवर्तक विश्वकल्याणयोग प्रत्येक प्राणीको नहीं होता। लेख बहुत ही विस्तृत हो गया है। जिस भगवान्‌की प्रेरणासे ये चार शब्द 'कल्याण' भक्तोंके सामने रखनेका सुयोग प्राप्त हुआ है उसीके चरणारविन्दोंमें यह अर्पणकर पाठकोंसे विराम ग्रहण करता हूँ।

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० २।४।१५)

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।
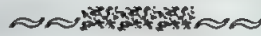
भक्तियोग

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी)

योगेश्वराय कृष्णाय योगक्षेमप्रदायिने।
भक्तियोगवितानाय ह्यवतीर्णाय ते नमः॥

योग शब्द कितने व्यापक अर्थोंमें व्यवहृत होता है, यह बात 'कल्याण' के इस 'योगाङ्क' में प्रकाश्य विषयोंकी सूची देखनेसे ही विदित हो जाती है। इस अनेकार्थवाची छोटे-से दो अक्षरके 'योग' शब्दकी यथार्थ परिभाषा करना, कम-से-कम मेरी विद्या-बुद्धिके तो बाहरकी बात है; परन्तु 'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादक महोदयके प्रेमभरे अनुरोधकी रक्षा करना भी मेरे लिये अनिवार्य है, अतएव मैं जो कुछ इस सम्बन्धमें लिखूँगा उसमें अपनी कोई कल्पना सम्मिलित न कर केवल योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके ही उस मतका अनुसरण करूँगा जो उन्होंने इस विषयमें अपने योगशास्त्रमें प्रकट किया है। वे योगकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—

योगः कर्मसु कौशलम्।

अर्थात् कर्मोंके करनेमें जो कुशलता (चतुराई) है, उसीका नाम योग है।

कर्मोंको कुशलतासे करनेका आशय यह है कि कर्म एक जडीय तत्त्व है। वह जीवोंके जडबन्धनका कारण है। जडबुद्धि जीवोंके लिये कर्मोंका करना अनिवार्य है। देहधारी जीव कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते, क्योंकि कर्मके बिना शारीरिक कृत्योंका होना असम्भव है। अतएव हमें ऐसी चतुराईसे कर्म करने चाहिये, जिसमें वे यथावत् होते भी रहें और हमारे बन्धनका कारण भी न बनें। यह चतुराई हम तभी कर सकते हैं जब हम पहले कर्मके रहस्यको समझ लें। वह रहस्य यह है कि वास्तवमें कर्म स्वयं कोई फल उत्पन्न नहीं करता, उसके साथ हमारी जो इच्छा सम्मिलित होती है उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है। यह बात इस उदाहरणसे भली-भाँति समझमें आ जायगी—जैसे कोई दुष्ट मनुष्य जब किसीके शरीरपर शस्त्रद्वारा आघात करता है तब वह पुलिसद्वारा पकड़ा जाकर न्यायालयसे दण्डित होता है, और डाक्टर साहब अनेक रोगियोंके शरीरपर रोज शस्त्रप्रयोग करते हैं तो भी वे राजा-प्रजा दोनोंके द्वारा सम्मानित होते हैं। दुष्ट और डाक्टरका कर्म एक है, केवल उसके करनेकी इच्छा पृथक्-पृथक् है। दुष्टकी इच्छा तो दुख देनेकी होती है और डाक्टर साहबकी इच्छा आराम पहुँचानेकी होती है; इसीलिये दोनोंका कर्म समान होनेपर भी, कर्ताकी इच्छाके अनुसार फल भिन्न-भिन्न मिलता है। इसी नियमके अनुसार जो कर्म फलकी आशासे हम अपने लिये करते हैं, वे हमें फल भोगनेके लिये बन्धनमें ले आते हैं और जो फलाशात्यागपूर्वक भगवान्‌के लिये करते हैं वे हमें जडमुक्त कर परमधामको पहुँचाते हैं। इस प्रकार कर्म करते समय अपनी इच्छाको ठीक रखना ही कुशलता है और यह कुशलता ही योग है। इससे भिन्न अर्थमें योग शब्दका प्रयोग योगेश्वरको स्वीकृत नहीं है। इसीसे वे कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

अर्थात् हे अर्जुन! योगी पुरुष तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी आदि सबसे श्रेष्ठ है; अतएव तू योगी बन जा।

यदि कहो कि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी आदि भी तो योगी कहे जाते हैं, तो योगेश्वर अपने अभिमत योगीके लक्षण भी बताते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'अन्य समस्त योगियोंमें जो अपने अन्तरात्माको मुझमें लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है मैं उसीको सर्वोत्तम योगी मानता हूँ।'

योगेश्वरने हमको अपने योगशास्त्रमें कर्मोंको कुशलतापूर्वक करनेकी प्रक्रिया भी उपदेश कर दी है। वे आज्ञा करते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा॥

'आहार-विहार, कर्मोंकी चेष्टा एवं शयन-जागरणको युक्तरूपसे करनेवाले पुरुषका योग दुःखोंको नाश करता है।' योगेश्वर युक्त शब्दका भी अर्थ स्वयं आदेश करते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

'सर्व कामनाओंसे रहित एकाग्रचित्त जब आत्मामें स्थित होता है तब वह युक्त कहाता है।'

आत्माका अर्थ भी उन्हींके मुखारविन्दसे सुनिये—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

'समस्त भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित मैं ही सबका आत्मा हूँ।'

सबका सारार्थ यह है कि जो कुछ भी कर्मचेष्टा की जाय, उसका सबका सम्बन्ध सर्वात्मा श्रीकृष्णके साथ स्थापित करनेसे ही दुख दूर करनेवाला योग होगा।

इसीसे योगेश्वरने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'हे कौन्तेय! तू जो कुछ करे, जो भोजन करे, जो हवन करे, जो दान करे, जो तप करे, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

ऐसा करनेसे क्या होगा? सो भी योगेश्वर बतलाते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

'शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे छूट जायगा और कर्मत्यागरूप योगसे युक्तात्मा विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करेगा।'

सारांश यह है कि फलाशासे शून्य कुशलतासे किये हुए कर्मकी कर्म संज्ञा नहीं होती, किन्तु वह योग नामसे अभिहित होता है और इसे अन्यान्य साधारण योगोंकी अपेक्षा असाधारण सिद्ध करनेके लिये भक्तियोग आख्या प्रदान की गयी है। अन्यान्य योगोंमें एवं भक्तियोगमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वे सब व्यभिचारी योग हैं और यह अव्यभिचारी है। जो योग श्रीकृष्णसे अतिरिक्त विषयान्तरोंसे प्रयुक्त होता है, वह व्यभिचारी है। और जो एकमात्र श्रीकृष्णको ही विषयरूपसे वरण करता है, वह अव्यभिचारी है। श्रीकृष्णसेवैकपरायण इस भक्तियोगके द्वारा ही हम मायिक गुणोंसे पार होकर, निर्गुण अवस्था लाभ कर सकते हैं, जैसा कि श्रीयोगेश्वरने स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह गुणोंको अतिक्रम कर ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

ब्रह्मभाव मुक्त जीवकी एक निर्गुण अवस्थाविशेष है, यह भी श्रीयोगेश्वरने ही कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

'ब्रह्मभावको प्राप्त पुरुषका आत्मा प्रसन्न होता है; न वह सोच करता है, न आकाङ्क्षा करता है; सब भूतोंमें समान भाव रखता हुआ मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है।'

अर्थात् भक्तियोगका ही अपर नाम साधन-भक्ति है जिसके द्वारा पराभक्तिका अधिकार लाभ होता है। यह श्रीयोगेश्वरके अभिमत 'योग' की व्याख्या है। इससे आगे पराभक्ति भावराज्यकी बात है। उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना मेरे समान अभावुकके लिये और भी कठिन है और इससे अधिक लिखनेके लिये स्थान भी नहीं है अतः विषयको यहीं विश्राम दिया जाता है।

भक्ति और प्रपत्तिका स्वरूपगत भेद

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

स्नेहो भक्तिर्द्विधा वैधी स्वभावानुगता च या।
प्रपत्तिरात्मनिक्षेपः सा द्विधा रूढियोगतः॥
स्नेह आनन्दधर्मः स्यादानन्दो भगवानिति।
प्रपत्तिः स्वीकृतिर्विष्णोर्भेदाभेदोऽनयोर्द्वयोः॥

'स्नेह (प्रेम)-रस ही भक्तिरस है। यह भक्तिरस दो प्रकारका है, एक शास्त्रप्राप्त और दूसरा स्वभावप्राप्त। पर अपने-आपको परमात्मापर छोड़ देना प्रपत्ति कहलाता है। यह प्रपत्ति भी दो तरहकी है, पहली रूढिप्राप्त और दूसरी योगप्राप्त।'

'आनन्दकी ही एक किरण स्नेह है, और भगवान् स्वयं आनन्दस्वरूप हैं। भगवत्कृत स्वीकारको (दूसरी) प्रपत्ति कहा है' अतएव भक्ति और प्रपत्तिका भगवान्‌के साथ भेद और अभेद दोनों सम्बन्ध है।

'आनन्दः प्रियतातीव' आदि वाक्योंसे और अनुभवसे यह सिद्ध है कि आनन्दका ही विस्तार स्नेह किंवा प्रेम है। और **'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतियोंसे यह भी सिद्ध है कि आनन्द ही भगवान् है। अतएव कहना होगा कि भगवान् और भगवान्‌का स्नेह (प्रेम) वास्तवमें एक है। किन्तु एकतामें व्यवहार-आनन्द नहीं आता इसलिये यह भगवान्‌का आनन्द प्रेमरूप होकर हमारे पास आ गया। अब हमें भगवान्‌के आनन्दका स्वाद आने लगा। इस तरह भक्ति और भगवान्‌में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है।

यही बात प्रपत्तिमें भी है। प्रपत्तिका रूढ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिक्षेप। **प्र—प्रकर्षेण,** एकदम, **पत्तिः—पदनम्,** भगवान्‌में चले जाना और **आत्मनः**—अपने-आपको भगवान्‌में निक्षेप— **नितरां क्षेपः**—एकदम डाल देना, दोनों बातें एक ही हैं। यदि प्रपत्तिका कोरा 'स्वीकार' अर्थ लेते हैं तो भगवान्‌के साथ प्रपत्तिका भेद है और यदि आत्मनिक्षेप लेते हैं तो अभेद है। इस तरह प्रपत्तिका भी भगवान्‌के साथ भेदाभेद सिद्ध है। भगवत्कृत जीवस्वीकार और जीवकृत भगवत्स्वीकार दोनों प्रपत्ति हैं। पहली अनुग्रह (पुष्टि) प्रपत्ति है, और दूसरी मार्यादिक प्रपत्ति। दृष्टान्त श्रीगोपीजन और श्रीविभीषण।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'रसो वै सः' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्द आत्मा'। वह परमात्मा रस है। परब्रह्म सत्य, विज्ञान और आनन्द है। आनन्दमय परब्रह्मका आत्मा भी आनन्द ही है। इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा रसरूप है, आनन्दरूप है। और **'ममैवांशो जीवलोके', 'अंशो नानाव्यपदेशात्', 'एकांशेन स्थितो जगत्'** इत्यादि स्मृतिसूत्रोंसे यह भी स्पष्ट होता है कि उस रसरूप परमात्माका ही रूपान्तर होनेसे—अंश होनेसे सब देहोंमें विद्यमान आत्मा (जीव) भी वास्तवमें रसरूप आनन्दरूप ही है। किन्तु माया, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और देहका आवरण आ जानेसे इसकी वह रसरूपता तिरोहित हो रही है। अतएव इसे अपना आनन्द तो अनुभवमें आता नहीं और बाह्य पदार्थोंमें आनन्द मालूम देता है। इससे यह बाह्य पदार्थोंमें प्रेम करने लगता है और अन्तमें उनमें आसक्त होकर जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है। अस्तु।

उस आनन्दरूप आत्माका ही विशुद्ध धर्म या किरण ही जब मनके द्वारा अन्तःप्रकट होता है तब वह स्नेह किंवा प्रेम कहाता है और इसीलिये प्राकृत लोग उस प्रेमको मनोधर्म कह देते हैं। वास्तवमें यह स्नेह आनन्दका ही धर्मान्तर होनेसे आत्मधर्म ही है। स्नेहका मूलरूप निर्गुण है, सत्त्वादि गुणोंका इसमें स्पर्शतक नहीं है। इसीको भाव किंवा रति भी कहते हैं। आत्मधर्म होनेसे ही यह नित्य है, अतएव स्थायी है। यह निर्गुण विशुद्ध प्रेम जहाँ कहीं भी (आलम्बनमें) पैदा होता है वहाँ निष्कारण ही पैदा होता है। यह अतीन्द्रिय है, केवल बुद्धिवेद्य है किंवा स्वसंवेद्य है। गुणमात्रसे रहित है, अतएव दुःखरहित है और अनिवर्चनीय है। यह साधनोंसे बढ़ता नहीं और विरुद्ध साधनोंसे घटता भी नहीं। सदा एक स्वरूपमें ही रहता है। तथापि आधारोंके द्वारा जब अधिक-अधिक अनुभूयमान होता है, तब उद्दीपन विभावादिके द्वारा इसका मूल व्यापक रूप प्रकट होने लगता है। इसी अवस्थाको सहृदय लोक रस, शृंगार, वात्सल्य किंवा भक्ति कहते हैं। किन्तु यह

याद रहे कि लौकिकमें जो शृङ्गारादि हैं उनमें गुणोंका स्पर्श है किन्तु उस अलौकिक रसमें गुणोंका स्पर्श नहीं है। यहाँतक यह प्रेमरस बढ़ता है कि सारे संसारमें प्रकाशित हो जाता है और फिर अन्तमें आप भी उसी व्यापक प्रेमानन्दमें विलीन हो जाता है। उस दशामें आनन्दसे अनुभवकी मात्रा बहुत कम हो जाती है। अतएव श्रुति **'नेति-नेति'**, **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** कहकर उसके स्वरूपका निर्देश करती है। इस प्रेमरसकी कुछ प्रारम्भिक दशाका वर्णन किसी अभियुक्तने यों किया है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

'जिस प्रेमने पैदा होनेके समय एकदम थोड़े भी कारणकी अपेक्षा न रखी और जो हजारों अपराध होनेपर भी नष्ट किंवा कम नहीं होता। तथा चापलूसी करनेसे कभी बढ़ता भी नहीं और जो अमृतके सामने खंभ ठोककर 'तू मेरे सामने कौन वस्तु है' यह कहनेको सदा तैयार रहता है, उस सारे संसारके दुःखोंके नाश करनेवाले और अति महत् प्रेमको मैं आज अपनी वाणीसे कैसे कहूँ और कहकर उसकी आबरू कैसे बिगाड़ दूँ।'

यह प्रेम जब अपने समानमें होता है तब उसे स्नेह किंवा शृंगार कहा जाता है। अपनेसे छोटेमें वात्सल्य और अपनेसे बड़ेमें उत्पन्न होकर यह भक्ति नामसे प्रसिद्ध है।

ऐश्वर्य (हुकूमत, प्रताप), पराक्रम, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन षट्गुणोंसे महत्त्व (बड़प्पन) होता है। इनमेंसे एक-एक गुण भी जहाँ आ जाते हैं वहाँ वह बड़ा कहा जाता है। यदि कहीं यह सारे गुण एकमें ही स्वभावतः रहते हों तो फिर उसके माहात्म्यकी कथा ही क्या है। अतएव भगवान् सबसे बड़े हैं। उन पुरुषोत्तमभगवान्‌में उनके माहात्म्यको समझकर जो प्रेम किया जाता है उसे भक्ति कहते हैं। नारदपाञ्चरात्रमें यही बात इस तरहसे कही है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

विशुद्ध अवस्थामें यह एक भक्तिरस है किन्तु जब इसमें सत्त्व, रज और तम त्रिगुणका मेल हो जाता है तब यह भक्ति तीन, नौ, इक्यासी और आगे चलकर अनन्तविध हो जाती है।

यहाँतक हमने विशुद्ध निर्गुण रसरूपा भक्तिका निरूपण किया। यह फलरूपा भक्ति है। अतएव इसीका रूपान्तर और इसका साधन भी एक नवधाभक्ति किंवा तनुजा वित्तजा सेवा नामक साधनभक्ति और भी है। इस वैधी साधनभक्तिका निरूपण श्रीमद्भागवतमें इस तरह है—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
(३।२५।३२-३३)

वेद और वैदिक शास्त्रोंकी आज्ञासे और उनमें कहे गये साधनोंके अनुष्ठानसे जो क्रमसे प्रकट होती है उस स्नेहरूपा भक्तिको वैधी भक्ति कहते हैं। कभी-कभी किसी-किसी अधिकारीको जन्मसे ही यह भक्ति प्राप्त होती है, जैसे प्रह्लादजीको। उस जगह पूर्वजन्मके साधनानुष्ठानसे किंवा सामान्यानुग्रहसे ही वह प्रकाशित हुई है यह निश्चय है। इसलिये उसे भी वैधी भक्ति ही समझना चाहिये। इस वैधी भक्तिका क्रम इस तरहसे है। एक मनवाले सब दैव-इन्द्रियोंके व्यवहार स्वाभाविक होकर सत्त्वविग्रह श्रीभगवान्‌में ही निरन्तर होते रहें वह भक्ति कही जाती है। फिर कामनारहित होकर सदाके लिये निर्गुण भगवान् पुरुषोत्तमको ही अपना विषय बना लें तब वे सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ ही पूर्वोक्त मनके साथ एकताको प्राप्त होकर भगवती अनिमित्ता वैधी भक्ति कही जाती है।

'द्वया ह वै प्राजापत्याः' किंवा **'देवासुरा वै संयेतिरे उभये प्राजापत्याः'** इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार प्रत्येक प्राणीकी दसों इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं—दैव और आसुर। इन दैवासुर इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें परस्पर प्रतिदिन युद्ध होता रहता है। दैव वृत्तियाँ स्वभावतः आनुश्रविक होती हैं। और आसुर वृत्तियाँ केवल लौकिक होती हैं। आनुश्रविक देवेन्द्रियवृत्तियाँ जब-जब जिस-जिस इन्द्रियान्तवर्ति प्राणका आश्रय लेकर उन आसुर वृत्तियोंको जीतना चाहती हैं तब-तब ही वे बलिष्ठ आसुर वृत्तियाँ

उनके उस आश्रयको पापबिद्ध कर देती हैं। तब अन्तमें ये दैव वृत्तियाँ आसन्य-प्राणका आश्रय लेती हैं। वहाँ भी आसुर वृत्तियाँ पहुँचती तो हैं पर वह मुख्यप्राण भगवद्रूप है, अतएव मिट्टीके ढेले पत्थरपर गिरकर जैसे बिखर जाते हैं उसी तरहसे आसुर वृत्तियाँ इस मुख्यप्राणपर आक्रमण करनेसे स्वयं ही नष्ट हो जाती हैं। फिर ये दैवेन्द्रियवृत्तियाँ वेदोक्त कर्मादिके द्वारा कार्यसे भी दैव बन जाती हैं। भक्तिके लायक अपना स्वरूप बना लेती हैं। बहुजन्माभ्यासी ऋषियोंके, इन्द्रादि देवोंके किंवा अनुगृहीत दैवसम्पन्न मनुष्योंके भी इन्द्रिय दैव होते हैं।

जिस तरह इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं वैसे ही मन भी दो प्रकारका है। मनः शब्दसे यहाँ उस बुद्धिका ग्रहण होता है जो मनके साथ एकताको प्राप्त होकर निश्चयका और इन्द्रियोंके द्वारा कार्य करानेका काम करती हैं। इस मन और बुद्धिका विशेष विवेचन गहन एवं विस्तृत होनेसे ज्ञेय होनेपर भी हम इसे यहाँ ही छोड़ते हैं।

मनोरूपा बुद्धि दो प्रकारकी है एक व्यवसायात्मिका और दूसरी अव्यवसायात्मिका बहुशाख और अनन्त होती है। पर व्यवसायात्मिका एक ही रहती है। बुद्धिको व्यवसायात्मिका बनानेके लिये शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके साधन कहें हैं उनके अनुष्ठानसे बुद्धि व्यवसायात्मिका हो जाती है, पर व्यवसायात्मिका बुद्धि जब आत्माके सहारे अपने कर्तव्यका निश्चय कर चुकती है और इन्द्रियोंके द्वारा कार्य करानेकी आज्ञा आत्मासे ले लेती है तब मनके साथ एकताको प्राप्त हो जाती है, मनोरूप हो जाती है। यह मन मननात्मक रहता है। अर्थात् विजातीय प्रत्ययरहित होकर सजातीय प्रत्ययद्वारा युक्त रहता है। इस तरह वेदोक्त साधनानुष्ठानोंके द्वारा जिस पुरुषका मन एकभावापन्न हो जाता है उस पुरुषकी वे पूर्वोक्त चक्षुरादि इन्द्रियाँ जब विशुद्ध सत्त्वविग्रह अवतीर्ण भगवान्‌में किंवा निर्गुण पुरुषोत्तमभगवान्‌में ही निरन्तर लग जाती हैं, उनकी वृत्तियाँ भगवान्‌की परिचर्यामें ही रहती हैं तब उसे तनुजा, वित्तजा, सेवा किंवा नवधा भक्ति कहते हैं। चक्षुका लौकिक कार्योंमें दर्शनमात्र कार्य रह जाय पर उसकी वृत्ति (व्यवहार) तो केवल भगवान्‌में ही होने लगे। इसी तरह दसों इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ जब केवल निर्गुण भगवान्‌में लग जाती हैं तब आत्मनिष्ठ आनन्दका आवरण दूर हो जाता है और नित्यविद्यमान भक्ति (प्रेम) प्रकट होती है। यह हम पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं कि भक्ति, प्रेम किंवा आनन्द पदार्थ नित्य हैं, वे न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट। साधनोंके द्वारा उनका आविर्भाव-तिरोभाव ही होता रहता है। आवरण आनेसे तिरोभाव और आवरणके हट जानेसे आविर्भाव होता है। अज्ञानीलोग आविर्भावको ही उत्पत्ति समझ लेते हैं। इस प्रेमरूपा भक्तिके प्रादुर्भावके लिये जो पूर्वोक्त श्रवणादि नव साधन किंवा तनुजा, वित्तजा सेवा करनेमें आती है उसे भी भक्ति ही कहते हैं, पर साधनभक्ति कहते हैं। शास्त्रमें कहा भी है—'**भक्त्या संजातया भक्त्या**', '**मयि संजायते भक्तिः**'। तनुजा, वित्तजा, सेवा और नवधा भक्ति, दोनों प्रायः एक हैं।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

यह नवधा भक्ति है और तनुजा सेवामें भी यही साधन विचारपूर्वक किये जाते हैं, इसलिये दोनों एक ही पदार्थ हैं। विभवके बाहुल्यमें राजोपचारसे सेवाका निर्वाह करना ही वित्तजा सेवा है न कि पैसा देकर दूसरोंके द्वारा तनुजा कराना।

परम भागवतवक्ताके मुखसे भगवान्‌के स्वरूप, जन्म, लीला, नाम और स्तोत्र आदिको श्रद्धासे सुनकर उन सबका परमपुरुष भगवान्‌में निर्धारण कर लेनेको श्रवणभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामें भी कीर्तनके समय किंवा अनवसरके समय श्रीभागवत सुबोधिनी गीता आदिके सत्संगमें यह भक्ति होती है। प्रभुके नाम-चरित्र आदिके अधिकारानुसार श्रद्धासे कथनको कीर्तनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामें भी यह कीर्तन प्रायः आठों दर्शनादिमें होते रहते हैं। भगवत्स्वरूप उनकी लीला आदि, तथा उनके परिकरका श्रद्धासे चिन्तन करना ही स्मरणभक्ति है। यह भी तनुजा सेवामें होता रहता है। सर्वदा श्रद्धासे परिचर्या, अर्थात् भगवान्‌के वस्त्रप्रक्षालन आदि सर्वविध सेवा करते रहना, यह पादसेवनभक्ति है। माहात्म्यबुद्धि रखकर शास्त्रोक्त विध्यनुसार किन्तु प्रेम और लोकरीतिसे जुदे प्रकारके उपचारोंसे भगवत्पूजा करनेको अर्चनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामें भी यह

दोनों किये जाते हैं। मन्दिरमार्जन, वस्त्रप्रक्षालन, जलाहरण, रसवतीकरण आदि पादसेवन कहा जाता है। और पञ्चामृतस्नान, अधिवासन, सङ्कल्प, देवोत्थापन, शङ्ख, झाँझ, दुन्दुभिध्वनि, समन्त्रकस्नान आदि अर्चनभक्ति है। भगवान्‌के आगे अपना दैन्य प्रकाशित करते रहकर नमन-प्रणाम आदि करना 'वन्दनभक्ति' है। यह तनुजा सेवामें समान ही है। प्रभुके सिवा अन्य किसीका भी आश्रय न लेनेको दास्य कहते हैं। तनुजा सेवामें भी अनन्याश्रय भगवत्प्रसादी चन्दन, ताम्बूल, भोज्य पदार्थोंका भगवद्दत्त बुद्धिसे ग्रहण करना ही दास्यभक्ति है। प्रभुकी सेवामें किसीकी भी प्रेरणाके बिना अपनी प्रीति और श्रद्धासे प्रेरित होकर प्रभुके हितोंके अनुष्ठान करते रहनेको सख्यभक्ति कहते हैं।

कराविव शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।
अप्रेरितं हितं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

इत्यादि वचनोंके अनुसार ग्रीष्ममें पंखा करना, चन्दन धारण कराना, शीतकालमें गद्दा, रजाई प्रभृति रुई और मखमलके वस्त्र धारण कराना, सुहागसोंठ वगैरह गरम वस्तुओंका भोग धरना प्रभृति उन-उन ऋतुओंके अनुसार प्रेम और लौकिक रीतिके अनुसार उपचार करना सख्यभक्ति है। अपने-आपको स्त्री-पुत्र-धन-गृहादिसहित भगवत्सेवाके उपयोगी कर देना, उपकरण बना देना, बस यही आत्मनिवेदन है। यह नवधा भक्ति है और यही सब तनुजा सेवा है। तनुजा सेवामें सब नवधा भक्ति आ जाती है। और यही भगवदधीन सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ हैं। किन्तु ये सब इन्द्रियव्यवहार किंवा तनुजा सेवा अनिमित्ता होनी चाहिये। भक्ति (सेवा)- में केवल भगवान्‌का किंवा भगवत्प्रेमका ही प्रयोजन किंवा उद्देश्य रहना चाहिये। किन्तु देहसुख, स्त्री-पुत्र-धनादि लौकिक प्रयोजन किंवा पापनिर्हरण, स्वर्ग किंवा मोक्ष आदि अलौकिक प्रयोजन भी भक्तिका उद्देश्य न रहना चाहिये। क्योंकि—

भक्तिरस्य भजनमिहामुत्रफलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनः-कल्पनम्।

—इत्यादि श्रुतिमें तथा **'इति पुंसार्पिता विष्णौ'**, **'भक्त्या त्वनन्यया'**, **'अनिमित्ता भागवती'**इत्यादि स्मृति-पुराणोंमें निष्काम भक्तिका ही विधान है। **'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः'** इत्यादि प्रह्लादके वचनमें 'अर्पिता' शब्द है। अर्थात् भगवान्‌में अर्पण करते हुए भक्ति करनी चाहिये, ऐसा कहा है। सेवा करते समय उसे सेवा या नवधा भक्तिको भगवान्‌में ही स्थित रखना चाहिये। वहाँसे उठा न लेना चाहिये। भक्ति करके जो लोग भगवान्‌से किसी भी फलकी चाहना करते हैं वे उस भक्तिको भगवान्‌के पाससे हटाकर अपने पास ही ले लेते हैं। ऐसा न कर उसे श्रीभगवान्‌में ही अर्पित रखना चाहिये। ऐसी भक्ति अनिमित्ता कही जाती है।

अनिमित्ता होकर भी फिर यह भागवती होनी चाहिये। अर्थात् कोई निर्विशेष निर्धर्मक किंवा अनित्याल्पगुण वस्तु भक्तिका विषय नहीं होना चाहिये किन्तु भगवान् षडैश्वर्य किंवा नित्यानन्तकल्याणगुण पुरुषोत्तम ही उसका विषय रहना चाहिये तब वह अनिमित्ता भागवती भक्ति कही जाती है। यह सब भगवदनुग्रहके बिना नहीं है। अतएव लक्षणमें 'या' यत् शब्दका प्रयोग किया है।

सामान्यानुग्रहसे भी इतना सब साध्य नहीं है। प्रभुका सामान्य अनुग्रह तो मनुष्यजन्म दे देता है। यही बात भगवान्‌ने कही है कि **'मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्'** सागरमें पतित नौकाके लिये अनुकूल पवनका चल जाना भी बहुत सहारा है। किन्तु दण्डका चलाना तो आवश्यक है ही। इसी तरह दैवी मनुष्यजन्मके मिल जानेपर भी साधनानुष्ठान तो आवश्यक है ही। दैवीसम्पल्लब्धजन्माके लिये तीन साधन हैं। **'ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च'** इन तीन उपायोंमें सब उपायोंका समावेश हो जाता है। कर्म, ज्ञान और भक्तिरूप सब साधन हैं।

शिशु जब जन्म लेता है तब महीने-दो-महीनेतक उसके पास चेष्टाके सिवा अपनी फलसिद्धिके लिये अन्य कोई साधन नहीं है। फिर जैसे-जैसे उन चेष्टा (कर्मों)-के द्वारा आवरण हटता जाता है वैसे-ही-वैसे उसके अन्तःस्थित ज्ञान और प्रेमका प्रादुर्भाव होता जाता है। इसी तरह जीवके पास अपने उद्धारके लिये पहला साधन ज्ञानसहित वेदशास्त्रोक्त कर्म है। निष्काम किंवा भगवदर्पित कर्मोंके द्वारा आवरण दूर होता है और भगवदंशरूप अतएव नित्य सिद्ध ज्ञान और प्रेम (स्नेह) अन्तःप्रकाशित हो जाते हैं। ज्ञानसहित निष्काम कर्म किंवा भगवत्-समर्पित कर्म करते-करते देहपात भी हो जाय तो भी उसकी हानि नहीं होती। भगवान्‌ने स्वयं आज्ञा की है कि—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'
'नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।'

हे अर्जुन! सत्कर्म करनेवाला कभी भी नीचे नहीं गिरता। सत्कर्मका थोड़ा भी अंश उसे बड़े भयसे भी बचा लेता है। फिर भी उसे उत्तम जन्म और पौर्वदेहिक बुद्धि मिल जाती है। और यदि न मरा और उसी जन्ममें वह उसका कर्म पूरा-पूरा पार उतर गया तो फिर 'पञ्चाग्निविद्या' के अनुसार यह दूसरा जन्म उसे अन्तिम मिलता है। इस फलरूप जन्ममें पूर्वोक्त भक्ति पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अनिमित्ता और भागवती प्राप्त होती है। किंवा स्वतन्त्रा भक्ति प्राप्त होती है। यह स्वतन्त्रा भक्ति पुष्टिमार्गीय है इसलिये हम इसे यहाँ ही छोड़ते हैं।

अनिमित्ता भागवती भक्ति (साधन) सायुज्य मुक्तिसे भी श्रेष्ठ होती है; क्योंकि इसका फल गाढ़ भगवत्प्रेम है। और सायुज्यमें प्रेमरूप तो है किन्तु प्रेमप्राप्ति नहीं। भक्तोंको आनन्दरूप हो जाना वाञ्छनीय नहीं है अपितु आनन्दभोग वाञ्छनीय है। भगवत्प्रेम ही फलरूपा भक्ति है। यद्यपि इस मानसी सेवा (प्रेमभक्ति)-के तीन फल हैं जो आगे कहे जायँगे और इसलिये यह भी साधन ही है, तथापि ऐसे भक्तोंके लिये यह प्रेम ही सर्वोत्तम फल है, अन्य फलोंकी वे चाहना नहीं करते। अतएव अन्यत्र कहा है कि—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

भगवान् अपने भक्तोंको सालोक्यादि फलोंका दान करते हैं पर वे भजनके सिवा कुछ नहीं चाहते। इस फलरूपा भक्तिका* वर्णन इस प्रकार किया है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

पूर्वश्लोकोक्त तनुजा, वित्तजा (नवधा) सेवा करनेसे भगवद्रस (प्रेम)-की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस श्लोकमें उस भगवद्रसके प्रकट हो जानेके तीन प्रत्यक्ष लक्षण कह रहे हैं। **'मत्पादसेवाभिरताः'** **'मदीहाः'** और **'येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि'**— ऐसे प्रेमी भक्तोंके काय, वाक् और मनके व्यवहार स्वाभाविक रीतिसे भगवान्में ही रहते हैं। मेरी सेवा करनेमें ही उनकी चित्तवृत्ति सर्वदा लगी रहती है, उनके शारीरिक व्यवहार भी सर्वदा मत्सम्बन्धी होते रहते हैं। और समानधर्मा वे लोग परस्पर निष्किञ्चन मित्रता रखते हुए भगवत्सम्बन्धी पराक्रमोंका ही सर्वदा सादर सप्रेम कथोपकथन तथा सत्कार किया करते हैं। अतएव भगवान्से प्रार्थना करना तो दूर है पर अपने हृदयमें सायुज्यादि चार मुक्तियोंकी अभिलाषा भी कभी नहीं करते। उनको तो भगवत्स्वरूपलीला और गुणोंके रसका अनुभव करते रहना ही परम उत्कृष्ट फल मालूम देता है। क्योंकि उनके हृदयमें आनन्दरूप भगवान्का प्रादुर्भाव हो जाता है; उनका यही साध्य है, यही साधन है और जीवित भी यही है। **'तन्मे साध्यं साधनं जीवितं च'** उन्हें फिर जगत्के किंवा जगत्से बाहरके किसी पदार्थसे भी प्रीति नहीं रहती।

हमारे गीताके ठाकुरने भी आज्ञा की है—

'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥'
'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥'

यह अनुवाद है, विधि नहीं है। इस प्रकार चिरकाल भगवद्रसका अन्तःस्वाद लेते-लेते सर्वत्र भगवान्का

---

* (सा चेद्भागवती भवति साक्षाद्भगवन्तं विषयीकरोति भगवद्भावं षड्गुणरूपतामापद्यते। पूर्वं सत्त्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः सैव जन्मान्तरे भागवती भवतीति वा। पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिर्निरूपिता। तथापि मुक्तेः सायुज्यादपीयं भक्तिर्गरिष्ठा सिद्धेर्गरीयसी।....एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः। तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिवाग्रिमकृत्यमाह प्रकारद्वयेन। तत्र प्रथममाह— त्रिभिर्नैकात्मतामित्यादिभिः। इयं हि फलरूपा भक्तिर्ज्ञातव्या। फलरूपता तदैव भवति, यदा भजनाद्रसोऽभिव्यक्तो भवति बहुधा। 'तस्या अभिव्यक्तेर्निदर्शनम्, भगवत एकात्मतां फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे। तेषां कायवाङ्मनोवृत्तिः स्वभावत एव भगवति भवतीत्याह मत्पादसेवेत्यादिना। तेषां फलावस्थामाह— पश्यन्ति ते म इति। ते मे रूपाणि पश्यन्ति, निरन्तरं भगवत्-साक्षात्कारो भवति यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति। ततस्तेषां सायुज्यमाह— तैर्दर्शनीयेति। भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति। ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति। भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनामगम्यमतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छन्ति। सालोक्यादि फलमाह— अथो इत्यादि। सा चेद्भक्तिर्मध्यमा भवेत् ततोऽयं भिन्नप्रक्रमः। परस्य कालादक्षराच्च लोके व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवते। एवं भेदत्रयं निरूपितम्, सायुज्यं वैकुण्ठः जीवन् मुक्तिश्चेति।

(भाग० सुबोधिनी ३। २५। श्लोक ३२ से ४०)

बहिःप्राकट्य हो जाता है। उस समय वे भक्तलोग पूर्ण फलका अनुभव करते हैं। जहाँ भगवान् रस्य और परतन्त्र हो जाय और भक्त रसयिता तथा स्वतन्त्र हो जाय वह अवस्था भक्तोंकी पूर्णफलावस्था है। शास्त्रमें इसे अलौकिक सामर्थ्य और परप्राप्ति भी कहा है। **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** इस ऋचा और **'सत्यं ज्ञानम्'** इत्यादि विवरणरूप ब्राह्मणका भी यही तात्पर्य है। भक्ति (सेवा) तारतम्यसे फलतारतम्य हो जाता है इसलिये द्वितीय, तृतीय फल और भी है। भागवत तृतीय स्कन्धके इसी प्रकरणमें **'पश्यन्ति ते मे'**से लेकर **'तान्मृत्योरतिपारये'** पर्यन्त (३५ से ४०) श्लोकोंमें सायुज्य, व्यापिवैकुण्ठ और जीवन्मुक्ति ये तीन सेवाफल कहे गये हैं। सायुज्यके दो अर्थ होते हैं सहयोग और ऐक्य। भक्तलोगोंको परमानन्दसहयोग भी अभिलषित है, इसलिये **'पश्यन्ति ते मे'**इस श्लोकमें सहयोग अर्थात् अलौकिक सामर्थ्यका निरूपण किया है। **'तैर्दर्शनीयावयवैः'** इस श्लोकमें द्वितीय सायुज्य परमानन्दैक्यका प्रतिपादन किया है। **'अथो विभूतिं मम'** और **'न कर्हिचिन्मत्पराः'** इन दोनों श्लोकोंसे व्यापिवैकुण्ठनिवासरूप फलका कथन किया है और **'इमं लोकम्'** और **'विसृज्य सर्वानन्यांश्च'** इन दो श्लोकोंसे जीवन्मुक्तिफलका निरूपण किया है। यहाँ जीवन्मुक्तिका अर्थ है अलौकिक अक्षरात्मक देहकी प्राप्ति। यहाँतक हमने फलसहित वैधी भक्तिका स्वरूप कहा। यह भक्ति परमानन्दरूपा होनेसे भगवान्से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।

अब इस भक्तिका दूसरा भेद स्वभावानुगता भक्ति है। स्वभावानुगता भक्ति पुष्टि (अनुग्रह) मार्गका विषय है। स्वभावानुगता भक्ति और पूर्वोक्त वैधी भक्तिमें विशेष भेद नहीं है। यह भी परमानन्दरूपा है और परमानन्दप्राप्ति ही इसका भी फल है। केवल कारणका भेद है। कारणके भेदको उपचारसे भक्तिमें कहा गया है। वैधी भक्ति साधनोंसे प्रकाशित होती है और स्वभावानुगता भगवान्के विशेषानुग्रहसे प्रकाशित होती है। भगवान्का अनुग्रह भगवद्धर्म है इसलिये नित्य है और साधनासाध्य है।

भक्ति और प्रपत्तिके स्वरूपमें भेद दिखानेके लिये प्रपत्तिका भी स्वरूपदर्शन कराना उचित है। प्रत्येक शब्द रुढ और यौगिक भेदसे दो तरहके हो सकते हैं। प्रकृतिप्रत्ययकी तरफ ध्यान न देकर जिसकी सिद्धि अनादिसिद्ध मान ली गयी है वह रूढ शब्द है और प्रकृतिप्रत्ययके अनुसार जिसकी सिद्धि दिखायी गयी है वह यौगिक शब्द माना गया है। इन शब्दोंके अर्थ भी दो तरहके हैं—रूढ और यौगिक, किंवा रूढप्राप्त, योगप्राप्त।

प्रपत्ति शब्दको रूढ मानते हैं तब उसका स्वीकार अर्थ है। और जब उसे यौगिक मानते हैं तब **प्र—प्रकर्षेण** एकदम, **पत्तिः-पदनं गमनम्,** भगवान्के साथ संगत हो जाना अर्थ होता है। प्रपत्तिमार्गमें प्रपत्तिके दोनों अर्थ स्वीकृत हैं। यह प्रपत्तिमार्ग दो प्रकारका है, मार्यादिक (किसी विशेष मर्यादासे सम्बद्ध) और अनुग्रहलब्ध। यद्यपि भक्तिमार्गकी तरह प्रपत्तिमार्गमें प्रेम और प्रेमप्रकर्ष रहता है तथापि 'प्रधानाभिहारन्याय' से प्रपत्तिके ही आधिक्य रहनेसे यह प्रपत्तिमार्ग कहा जाता है, भक्तिमार्ग नहीं।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः।

कलियुगमें कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गका निर्वाह करना अति कठिन है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने इन सबसे पृथक् शरण (प्रपत्ति)-का मार्ग प्राकट्य किया है। भक्तोंकी दृष्टिमें भगवत्प्रेम फल है, साधन नहीं। इसलिये भी प्रपत्तिमार्ग भक्तिमार्ग नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें प्रपत्तिको मार्ग कहना भी युक्त नहीं है।

प्रपत्ति (स्वीकार) दो प्रकारकी है। भक्तकृत भगवान्का स्वीकार और भगवत्कृत भक्तका स्वीकार। भक्तकृत भगवत्स्वीकार मार्यादिक प्रपत्ति है। वानरका शिशु अपनी माताको कसकर पकड़ता है। माता उतना उसे नहीं पकड़ती। वह तो अपने चलने-फिरने, खाने-पीने, उछलने-कूदनेमें लगी रहती है। किन्तु मार्जारी (बिल्ली) अपने शिशुका स्वयं दृढतर ग्रहण करती है। शिशुको मार्जारीकी उतनी परवा नहीं रहती। उस शिशुका सर्वाधार माता है। माताको उसने आत्मनिक्षेप कर रखा है। शिशु अपने साथ कोई साधन नहीं रखता। माता आती है तो शिशु उलटा अपने नेत्र मींच लेता है। अब उसका जीवन मारण, धारण, नयन, स्थापन सब कुछ मार्जारीके ही हाथमें है।

इसी तरह भक्तकृत भगवत्प्रपत्ति मार्यादिक है। भगवान् अपने स्वरूपमें हैं। अपनी लीलाएँ भी यथावत्

करते चले जाते हैं। किन्तु भक्तने अपने स्वरूप और चरित्रमें परिवर्तन कर दिया है। यह परिवर्तन छः प्रकारका है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

'शरणागतिः रक्षकत्वेन भगवत्कर्मकः स्वीकारः।' भगवान्‌को ही अपना रक्षकरूपसे स्वीकार करना, बस, यही शरणागमन किंवा प्रपत्ति कही जाती है। यद्यपि यहाँ आत्मनिक्षेप है किन्तु अन्य साधन समान है। जैसे आनुकूल्यसङ्कल्प आदि हैं, उन्हींके जोड़-तोड़का आत्मनिक्षेप भी है, वह फलरूप नहीं है। प्रपत्तिमें यदि आत्मनिक्षेपके साथ आनुकूल्यका सङ्कल्प भी है तब आत्मनिक्षेप उतना दृढ नहीं रहता। अस्तु।

भगवदनुकूलताका स्वीकार, प्रतिकूलताका परित्याग, रक्षाके विषयमें विश्वास, केवल भगवान्‌का वरण (स्वीकार), आत्मनिक्षेप और दैन्य, इन छहोंको प्रपत्ति कहते हैं। पुष्टि प्रपत्ति और मार्यादिक प्रपत्ति दोनोंमें **प्र—प्रकर्षेण पत्तिर्गमनम्**—एकदम भगवान्‌के साथ सङ्गम (आत्मनिक्षेप), ऐक्य है और वह सायुज्य (प्रत्यापत्ति)-पर्यन्त गिना गया है। अतएव दोनोंको प्रपत्ति कहा गया है। किन्तु मार्यादिक प्रपत्तिमें साधनान्तरोंका सहयोग होनेसे आत्मनिक्षेप अदृढ (शिथिल) है।

मार्यादिक प्रपत्तिके दृष्टान्त अर्जुन और विभीषण हैं। गीताके प्रारम्भमें **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** कहकर अर्जुनने भगवान्‌का रक्षकत्वेन स्वीकार किया है। मध्य-मध्यमें **'त्वमादिदेवः'** तथा अन्तमें **'करिष्ये वचनं तव'** इत्यादि कहकर आनुकूल्यादि अङ्गोंका भी निर्वाह किया है। तथापि अर्जुनपर भगवान्‌का विशेषानुग्रह भी है, इसलिये इसकी प्रपत्ति पुष्टिसम्मिश्र है, शुद्ध मार्यादिक नहीं है।

अपने-अपने धर्मोंका त्याग करके जो एक-दूसरेका दृढ स्वीकार हो वह अनुग्रह प्रपत्ति है। और व्यासजीने कहा भी है—

गृहीतवान् स क्षितिदेवदेवः।

अर्जुनको भगवान्‌ने स्वीकार किया है। अपने धर्मोंका त्याग करके अर्जुनका स्वीकार किया है और उसके अन्य साधनोंका त्याग कराकर अपना स्वीकार करनेका उपदेश भी किया है। अर्जुनसे भगवान्‌ने अन्तमें स्पष्ट कहा है कि तू तो अभीतक धर्मोंको पकड़े बैठा है अतएव अभीतक तूने मुझे कसकर पकड़ा नहीं है, इसलिये यदि तू मुझे पूरा-पूरा पकड़ना चाहता है तो—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

'सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा।'

इसीका नाम **'आत्मनः नितरां क्षेपः'** है। इतना ही नहीं, गीता और भागवतमें अर्जुन और भगवान्‌के चरित्र एवं उन दोनोंके वचन ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दोनोंने स्वधर्मत्यागपुरःसर एक-दूसरेका स्वीकार किया है।

गीतामें—

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।

और श्रीभागवतमें—

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य॥
(१।१५।१८)

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
(१।१५।५)

—इत्यादि अर्जुनके वाक्य हैं। इनमें दोनोंका गहरा प्रेम और परस्पर स्वीकार प्रतीत होता है। इसलिये कुछ अंशमें ऐक्य और प्रेमप्रकर्षके होनेसे अर्जुन केवल मर्यादाप्रपत्तिका उदाहरण नहीं है।

केवल मर्यादाप्रपत्तिका उदाहरण विभीषण है। विभीषणने अपने धर्मोंका परित्याग नहीं किया है और न श्रीराघवने ही अपने धर्मोंका परित्याग किया है। विभीषणने श्रीरामचन्द्रका परिहास किंवा असत्कार भी नहीं किया है और न श्रीरामचन्द्र विभीषणके सारथी बने हैं और न दिव्यास्त्रकोंको अपने ऊपर सहनकर अपनेसे भी विशेष विभीषणकी रक्षा की है। विभीषणके कर्तव्यको स्वयं करके उसको महत्त्व दिलानेका कार्य भी श्रीरामचन्द्रने नहीं किया है। प्रत्युत विभीषणने लङ्काका राज्य ग्रहण किया और प्रभुने विभीषणसे रावणकी रहस्य बातें जानकर युद्धमें सुभीता भी कर लिया, ये प्रेमसन्देहास्पदहेतु दोनोंमें मिल सकते हैं

इसलिये दोनोंमें पूरा-पूरा आत्मनिक्षेप और प्रेमप्रकर्ष न होनेसे और आनुकूल्य तथा प्रातिकूल्यवर्जनका निर्वाह होनेसे विभीषण केवल मर्यादा-प्रपत्तिका उदाहरण है। राज्याभिषेक होनेके बाद विभीषणको भगवान्ने विदा कर दिया और वह खुशी-खुशी चला भी गया, और जानेके बाद भी विभीषणके किसी व्यवहारमें परिवर्तन न होने पाया। ये केवल मर्यादाके लक्षण हैं। अतएव विभीषणकी प्रपत्ति मार्यादिक प्रपत्ति है और अर्जुनकी मर्यादापुष्टि प्रपत्ति है।

इन दोनों प्रपत्तियोंसे पृथक् अनुग्रह (पुष्टि) लब्धप्रपत्ति है और यही भगवान्को भी प्रिय है। अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिमें अनुग्रहके सिवा अन्य साधन हेतुभूत नहीं होते और प्रपत्ति होनेके बाद भी आनुकूल्य सङ्कल्पादि साधनोंका नियम नहीं होता, कभी हो भी जाय, कहीं नहीं भी। प्रत्युत कभी-कभी तो आनुकूल्यादि साधनोंका एकदम परिवर्तन हो जाता है। प्रपन्नकी इच्छाके आगे भगवान्की इच्छा नहीं चलती। भगवान्को प्रपन्नकी अनुकूलता देखनी पड़ती है। उसके प्रातिकूल्यको बचाना पड़ता है। भगवान् और प्रपन्न दोनों अपने-अपने धर्मोंका परित्याग करके धर्मीका (एक-दूसरेका) दृढ स्वीकार करते हैं। दोनोंका परस्पर आत्मनिक्षेप रहता है। अतएव ऐक्य और प्रेमप्रकर्ष रहता है। इसलिये इस प्रपत्तिका नाम पृथक् शरणमार्ग है। यह आत्मनिवेदन परस्परका है इसलिये नवधा भक्तिके आत्मनिवेदनसे यह एकदम जुदा है। और यही प्रपत्ति हमारे गीताके ठाकुरको हृदयसे सम्मत है।

भगवद्गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्तिका फलसहित उपदेश करके १८वें अध्यायके अन्तमें अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिका ८ श्लोकोंसे उपदेश देना प्रारम्भ किया है और अन्तमें ६५वें श्लोकमें तो पूर्ण प्रपत्तिका निरूपण कर ही दिया। गीताके कर्म, ज्ञान, भक्तिका भगवदुपदेश गुह्य धर्मका उपदेश है। मार्यादिक प्रपत्तिका उपदेश गुह्यतर है और अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिका गुह्यतम उपदेश है। **'भक्त्या मामभिजानाति'** इस ५५वें श्लोकपर्यन्त सारी गीतामें प्राय: गुह्य धर्मका निरूपण है। और **'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाण:'**—यहाँसे लेकर **'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया'** इस ६२ वें श्लोकपर्यन्त मार्यादिक प्रपत्तिरूप गुह्यतर समझका उपदेश किया है। और सर्वान्तमें **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** इत्यादि ६५वें श्लोकमें पूर्ण प्रपन्निरूप गुह्यतम वस्तुका उपदेश दिया है। सो भी परोक्ष रीतिसे। क्योंकि प्रत्यक्षमें जिस अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं वह उस प्रपत्तिका अधिकारी ही नहीं है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—इस श्लोकके भाष्य और टीकाओंमें अनेक विद्वान् अर्थपरिवर्तन करनेका कष्ट करते हैं किन्तु वह अर्थ भगवदाशयगोचर नहीं है। वह अर्थ यदि मान लिया जाय तो निरर्थक लक्षणाओंका ढेर लग जाय। यदि उसी अर्थको कहना भगवदभिमत होता तो स्पष्ट उन्हीं अक्षरोंमें कहना क्या भगवान्को नहीं आता था? अतएव यथाश्रुत अर्थ ही भगवान्को अभिमत है। और इस तरह स्पष्ट रीतिसे कहनेमें भगवान्का आशय ही कुछ और है और वह आशय आचार्योंने अपने एक श्लोकमें स्पष्ट कर दिया है—

न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चानाधिक्रियोक्ता
कार्पण्यं नाङ्गमुक्तं तदितरभजनापेक्षणं नो व्यपोढम्।
दुःसाध्येच्छोद्यमौ वा क्वचिदुपशमितावन्यसम्मेलने वा
ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तस्तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः॥

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस प्रपत्तिके उपदेशमें जो सर्वधर्म त्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, इससे भगवान्की ही आज्ञाएँ जो अन्यत्र धर्माचरणके विषयमें हुई हैं उन सबका बाध होता है। भगवान्का प्रादुर्भाव धर्मरक्षार्थ माना गया है और गीतामें बहुत-सी जगह आपने धर्माचरण करनेका उपदेश दिया है। अब जो यह **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** सबसे अन्तिम आज्ञा हुई है इसने उन सब आज्ञाओंको मटियामेट कर दिया है, यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है। और यह ठीक भी है, एक जगह धर्म करानेका आग्रह और दूसरी जगह उसके त्यागकी आज्ञा देना यह क्या बात हुई?

इसके उत्तरमें आचार्योंने पाँच कारणोंका निर्देश किया है। **'अकिञ्चनाधिक्रिया उक्ता'** से लेकर **'ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तः'** पर्यन्त। सबसे पहला कारण यह है कि सब धर्म उनके अधिकारानुसार निर्माण किये गये हैं। धर्मके द्वारा ही सबका उद्धार होता है, यह सही है; किन्तु उन सबमें अधिकार नियत हैं। जगत्में ऐसे बहुत-से मनुष्य विद्यमान हैं जिनकी प्रभु (धर्मी)-को छोड़कर धर्मोंपर श्रद्धा ही नहीं जमती। इस आशयके अभियुक्तोंके वचन भी हैं—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमो हे देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्। यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥

इनका कहनेका आशय है कि भगवदासक्त प्रेमी पुरुषको धर्मोंसे कुछ मतलब ही नहीं रह जाता। अब कहिये कि ऐसे पुरुषका किसी धर्ममें भी अधिकार रह जाता है क्या? कितने ही अधिकारविशेषके पुरुष कहने लगेंगे कि इस तरह सब धर्मोंमें अश्रद्धा रखनेवाला अवश्य नरकमें जाने लायक है। किन्तु इसका मर्म उनसे नहीं पूछा जा सकता। इसके विषयमें तो उसकी माता किंवा प्रिय पितासे पूछा जाय कि 'तेरा पुत्र नरकमें जाता है, बोल, अब क्या करें।' मैं समझता हूँ कि प्रियता ऐसी वस्तु है कि वह विधिकी परवा नहीं करती। प्रिय मनुष्य अपने प्रियके बचावका कोई-न-कोई उपाय ढूँढ़ निकालता है। यह तो असर्वज्ञ और असमर्थकी बात है। और जो समर्थ और सर्वज्ञ हैं उनका फिर कहना ही क्या है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, समर्थ हैं और सब जीवमात्रके '**माता धाता पितामहः**' हैं। उनके वाक्य हैं कि 'जिनका कोई भी सहारा नही है उनका मैं आश्रय हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

इससे अकिञ्चन पुरुषोंके लिये प्रपत्ति है। अतएव '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' इसमें उनका अधिकार दिखाया गया है।

अथवा स्नान किये बिना जैसे धर्मकार्य नहीं हो सकता, अतएव स्नान धर्मकार्यका पूर्वाङ्ग है, वैसे ही निष्किञ्चन हुए बिना प्रपत्ति होना दुष्कर है अतएव कार्पण्य (दैन्य) प्रपत्तिका पूर्वांग है। और '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' कहकर दैन्यका उपदेश किया है। प्रपन्नके लिये दैन्य अपेक्षित है। किंवा भगवान्से अन्य और भगवान् दोनोंका भजन और अपेक्षणकी मनाही की गयी है। अन्य भजन किंवा भगवद्भक्ति रही आवेगी तो कुछ-कुछ भरोसा और मान बना रहेगा और उनसे अपेक्षा रखना भी बना रहेगा। ऐसी अवस्थामें आत्मनिक्षेप और भगवत्स्वीकार पूरा-पूरा न होने पावेगा। इसलिये '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' कहकर भगवदितरके भजन और अपेक्षाको हटाया है। अथवा इसी बहानेसे अन्याश्रयको दूर रखनेके लिये 'ब्रह्मास्त्रन्याय' कहा गया है। हनुमान्जीने मेघनादके ब्रह्मास्त्रको स्वीकार किया और बँध गये किन्तु राक्षसोंको ब्रह्मास्त्रपर उतना विश्वास न रहा, अतएव रस्से वगैरहसे भी उन्होंने हनुमान्जीको बाँधा। तब ब्रह्मास्त्रने हनुमान्जीको छोड़ दिया। यह कथा रामायणमें प्रसिद्ध है। इसी तरह यदि प्रभुका स्वीकार करनेपर भी अन्य धर्मोंका आचरण भी करते रहें तब ब्रह्मास्त्रन्याय हो जाता है, अर्थात् भगवान्की प्रपत्ति उसका परित्याग कर देती है। यह बात समझानेके लिये ही प्रभुने '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' यह आज्ञा की है। अतएव मार्गान्तर होनेसे आज्ञादिसिद्ध धर्मोंका विरोध नहीं होने पाता। प्रपत्तिके विशेषकी समझ चाहनेवालोंको 'न्यासादेश' ग्रन्थ देखना उचित है।

जिस दिन श्रीकृष्णकी दृढ़ प्रपत्ति (स्वीकार) ग्रहण की उसी दिन यह जीव कृतकृत्य हो चुका।

'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥'
'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'
'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

—इत्यादि प्रतिज्ञाओंके अनुसार जीवका उद्धार भगवान्का कर्तव्य रह गया। अब उसमें जीवका कर्तव्य कोई नहीं रह जाता और अविश्वास रखनेकी भी बिलकुल आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं। '**ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ**' ब्रह्मास्त्र और चातकका विचार रखना चाहिये। प्रपन्नके लिये अनन्यता और विश्वासका परित्याग करना विषके समान हानिकारक है।

अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि यदि प्रपत्तिमात्रसे जीवका उद्धार हो चुकता है और फिर उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता तो फिर भगवत्सेवा, भगवन्नामजप, स्तोत्रपाठ आदि क्यों करने चाहिये? और भगवदाज्ञासिद्ध वर्णधर्मका पालन भी व्यर्थ है।

ठीक है, ये सब नहीं करने चाहिये। और प्रपत्तिमार्गमें यह सब उस दृष्टिसे किये नहीं जाते। यह ठीक है कि प्रपत्तिसमनन्तर ही उसका उद्धार हो चुका, वह कृतकृत्य हो चुका। अब उसका अपने उद्धारके लिये कोई कर्तव्य नहीं रहा। तो अब यह प्रश्न रहता है कि फिर उसे करना क्या चाहिये? प्रपत्तिके समनन्तर

ही मनुष्य निश्चेष्ट हो जाय किंवा मर जाय, यह तो उसके हाथमें है नहीं, क्योंकि '**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**'। किसी तरह जीवनकाल तो बिताना ही पड़ेगा, कालक्षेप तो करना ही होगा। बस, कालक्षेपके लिये भगवत्परिचर्या, भगवन्नामावृत्ति प्रभृति करते रहना सुन्दर उपाय है और लौकिकासक्तिको बचानेके लिये अपेक्षित आज्ञासिद्ध वर्णधर्मका भी पालन करते रहें तो हानि नहीं और ये सब अनवसरमें किये जाते हैं। इस तरह प्रपन्नका भगवत्स्वीकार और आत्मनिक्षेप पूर्ण हो जाता है। ये बातें भी हमने असमर्थ जीवकी दृष्टिसे ही कही हैं।

वास्तवमें तो पूर्ण प्रपन्नका उदाहरण गोपसीमन्तिनी हैं। यह तो हम अपने अन्य ग्रन्थमें कह ही चुके हैं कि श्रीगोपीजनोंके चार यूथ मुख्य हैं। उन सबमें नित्यसिद्धा गोपीजन मुख्य एवं भगवद्रूपा हैं। ये ही इस मुख्य प्रपत्तिका मुख्य दृष्टान्त हैं। स्वामी और स्वामिनियाँ दोनों एक ही (रस) पदार्थ हैं तब परस्पर स्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेपका (एकीभावका) सन्देह करना तो व्यर्थ ही है। प्राकट्य होनेके पहले और प्रत्यापत्तिमें तो दोनों एक ही हैं पर भूतलपर प्रकट होते ही श्रीगोपीजनोंने प्रभुको अपना आत्मनिक्षेप कर दिया, और प्रभुने उसी समय स्वीकार भी कर लिया, यह '**आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः**' '**यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमार लीलौ**' इत्यादि प्रकरणोंमें सूचित है।

स्पष्ट आत्मनिक्षेपके पूर्व भी श्रीगोपीजनोंने आज्ञा की है कि '**सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ताः**' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ मनुष्यके मनको अपने साथ विशेष करके सी लेते हैं। इसलिये मोक्ष (आत्मज्ञान)-पर्यन्त ये सब विषय सामान्य हैं। अतएव श्रीगोपीजन कहती हैं कि हे पुरुषोत्तम! हम इन सब विषयोंका वासनासहित (**सर्वधर्मान् परित्यज्य**) परित्याग करके आपके चरणतलमें आयी हैं। यहाँ भी पूर्ण स्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेप है ही।

अच्छा, जब भगवान्ने दार्ढ्यपरीक्षार्थ स्त्रीधर्मका उपदेश किया, तब भी उसका उत्तर स्वामिनी देती हैं कि—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

धर्मावलम्बी धर्मोपदेशकोंने स्त्रियोंके लिये पति, पुत्र, सास, ससुर प्रभृतिकी सेवा करना ही धर्म कहा है और आप भी ऐसा ही उपदेश दे रहे हैं, किन्तु ये सब व्यर्थ प्रयास हैं, क्योंकि न तो हमारी शास्त्रसे पहचान है और न धर्मसे। किन्तु यह अवश्य जान रही हैं कि आप धर्मसामान्यके पण्डित हैं, न कि धर्मविशेषके किंवा धर्मीके। हमारा धर्म क्या है, यह आपने जाना ही नहीं, अथवा जानकर भी आप छिपा गये हैं। अस्तु, प्रपन्नको स्वामीके कर्तव्यकी विशेष छानबीन करना उचित नहीं है। हम तो इतना ही समझना ठीक मानती हैं कि आप ही सब प्राणीमात्रके अतिप्रिय हैं, रक्षक हैं और सबके आधार हैं, इसलिये सर्वोपदेशोंके स्थानभूत अति दुर्लभ और हमारे लिये परम सुलभ आपको छोड़कर अब और कहाँ-कहाँ पृथक्-पृथक् भाव करती फिरें। हम तो अब आपसमें ही सर्वभावसे आत्मनिक्षेप करती हैं। आपकी ही सेवाको सर्वसेवा जानती हैं। यहाँ अन्याश्रय और अविश्वासका सर्वथा परित्याग है। श्रीगोपीजनोंका भगवान् (धर्मी)-के सिवा अन्य किसी धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, यह बात मुक्तिस्कन्धमें भगवान्ने ही कही है—

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रततप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः॥

सर्वसाधनरहित अनेक भक्तोंका निरूपण करते हुए उन्हींमें श्रीगोपीजनोंकी भी परिगणना की है, किन्तु उन सबसे श्रीगोपीजनोंका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रपत्तिकी दृष्टिसे सत्सङ्ग भी साधन है, धर्मपरिग्रह है। '**सत्सङ्गेन हि दैतेयाः**' (११। १२। ३) इत्यादि श्लोकोंमें निर्दिष्ट प्रपन्नोंमें सत्संगका परिग्रह विद्यमान था, किन्तु श्रीगोपीजनोंमें भगवान्से अन्य सत्संगका लेश नहीं था। उनको तो भगवत्संगसे ही भगवत्प्राप्ति हुई है। अतएव श्रीगोपीजन ही पूर्ण प्रपत्तिके पूर्ण दृष्टान्त हैं।

जिस प्रकार श्रीगोपीजनोंने सर्वधर्मत्यागपुरःसर भगवान्का स्वीकार और आत्मनिक्षेप किया था उसी प्रकार भगवान्ने भी स्वधर्मत्यागपूर्वक श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया था। भगवान्की यह प्रारम्भकी प्रतिज्ञा है—

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

और मध्यमें भी आपने आज्ञा की है कि '**मया**

परोक्षं भजता तिरोहितम्।' और अन्यत्र भी कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तलौकिकाः।

सबसे विशेष तो यह है कि भगवान्‌का मुख्य धर्म आत्मारामता है, किन्तु भगवान्‌ने उसका भी परित्याग कर दिया और श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया—'**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**'। यह भगवत्कृत भक्तस्वीकार आत्मनिक्षेप है।

भगवान्‌को आत्मनिवेदन करके स्वामिनीवर्ग सर्वदाके लिये कृतकृत्य हो चुका था। अतएव वे समयका अतिवहन करनेके लिये भगवद्गुणगानादि करती रहती थीं। यह बात श्रीशुकब्रह्मने इस तरह कही है—

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्॥

यहाँतक हमने यह प्रपत्तिका संक्षेपसे निरूपण किया है। भक्तिमें अनुग्रह है और प्रेमप्रकर्ष है। तथा प्रपत्तिमें भी अनुग्रह और प्रेमप्रकर्ष है। दोनोंमें भगवान् ही फल हैं। इस दृष्टिसे दोनों एक हैं, किन्तु केवल साधनाचरणका दोनोंमें भेद है। भक्तिमें साधनविशेषरूप धर्मविशेषका भी स्वीकार है; पर प्रपत्तिमें केवल धर्मी (भगवान्)- का ही स्वीकार है, साधनानुष्ठानका नहीं।

भक्तिमें आनुकूल्यका संकल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन है, किन्तु प्रपत्तिमें इनका नियम नहीं है। कहीं दोनों हैं, कहीं एक है, और कहीं दोनों ही नहीं। उपालम्भलीला और मानादिलीलाओंमें और भ्रमरगीतादिके समय प्रातिकूल्य ही आभासित होता है। यद्यपि प्रपत्ति और भक्ति दोनोंहीके विषयमें बहुत वक्तव्य रह गया है, तथापि लेखके बढ़ जानेके भयसे आज यहींतक कहकर इस विषयको पूर्ण किया जाता है। **हरिः ओं शम्।**

ज्ञानयोग

(लेखक—पं० श्रीविनायकनारायण जोशी 'साखरे महाराज')

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ।
सुषुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुद्ध्यते॥

'योग' शब्द सुनते ही श्रोताके मनमें सर्वप्रथम हठयोगकी कल्पना आती है। परन्तु 'योग' शब्दका अर्थ हठयोग नहीं है। 'योग' में 'युज्' धातु होनेसे चित्तको एकाग्र करना, जोड़ना, एकत्र होना इत्यादि इसके अनेक अर्थ होते हैं। साधकका जिससे सम्बन्ध होगा, उसी सम्बन्धके अनुसार उसकी साधनाको नाम प्राप्त होगा। यदि साधकका सम्बन्ध कर्मके साथ है तो वह कर्मयोग, भक्तिसे सम्बन्ध है तो वह भक्तियोग और ज्ञानसे सम्बन्ध है तो वह ज्ञानयोग कहा जायगा।

निष्काम कर्मयोग

स्वर्गादि फलकी इच्छासे यदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे सम्बन्ध है तो उस कर्मयोगसे मोक्षप्राप्ति नहीं होती, वे कर्म तो कर्त्ताको स्वर्गादि फल प्राप्त कराकर क्षीण हो जाते हैं। किन्तु वे ही नित्य-नैमित्तिक कर्म जब निष्काम बुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जाते हैं तब वे चित्तशुद्धि करके मोक्ष प्राप्त कराते हैं और इसी कारण उन्हें निष्काम कर्मयोग कहते हैं।

निष्काम कर्म क्या असम्भव है?

किसी भी मनुष्यके लिये निष्काम कर्मका होना सम्भव नहीं; क्योंकि '**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**'—(प्रयोजनके बिना कोई अदना काम भी नहीं होता।) इस न्यायके अनुसार किसी भी मनुष्यमें फलकामनारहित किसी कर्मकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। स्वर्गादि फलकी इच्छा न करके ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करनेवाले पुरुषके मनमें यह कामना होती ही है कि ईश्वरके प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति हो; प्राप्तभोगैश्वर्यका परित्यागकर स्वदेशके कल्याणके लिये दिन-रात आन्दोलन करनेवाले पुरुषके मनमें स्वराज्य प्राप्तिकी कामना होती ही है; पितरोंकी कष्टप्रद सेवा करनेवाले सुपुत्रकी यह कामना होती ही है कि इन पितरोंकी सेवा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होगा, उससे उत्तम लोककी प्राप्ति हो। तब निष्काम कर्म क्या हुआ यह प्रश्न रह ही जाता है।

निष्काम कर्मकी सम्भवनीयता

कोई भी कर्म कामनारहित नहीं होता, यह बात सत्य है। तथापि वेदोंमें जिन-जिन कर्मोंका लौकिक फल कहा गया है, उन-उन फलोंकी कामनासे जब

कर्मारम्भ किया जाता है तब उस कर्मको सकाम कर्म कहते हैं। और लौकिक कर्मफलकी इच्छा न कर केवल मोक्षकी कामनासे, ईश्वरार्पणबुद्धिसे जब कर्म किया जाता है तब उस मोक्षकी कामनाको 'कामना' नहीं कहते, ऐसी शास्त्रमर्यादा है। यदि कोई यह कहे कि ऐसी शास्त्रमर्यादा क्यों है तो इसका कारण यह है कि मोक्षका स्वरूप कूटस्थात्मरूप है। आत्मरूप मोक्ष जीवोंको नित्य प्राप्त है। मोक्ष नित्य प्राप्त होनेके कारण ही आत्मप्राप्तिकी कामना भ्रमरूप है। कर्णको कौन्तेयत्व प्राप्त होनेकी कामना भ्रमरूप थी; क्योंकि वह तो स्वत:सिद्ध कौन्तेय (कुन्तीका पुत्र) था। रज्जुसर्प भ्रमरूप होनेके कराण वह सर्प नहीं है। उसी तरह आत्मा मोक्षरूप होनेके कारण मोक्ष-कामना कामना नहीं और इस कारण मोक्ष-कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कह सकते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषके अन्त:करणमें प्रारब्धवश उत्पन्न होनेवाली उपदेश करनेकी कामना कामना नहीं, इस कारण श्रीकृष्ण अथवा अन्य जीवन्मुक्त पुरुषोंके किये हुए उपदेशादि सब कर्म निष्काम हैं। अतएव मुमुक्षुद्वारा मोक्षेच्छासे किया हुआ कर्म भी निष्काम ही होता है। श्रीविद्यारण्यस्वामीने पञ्चदशीके छठे प्रकरणमें पुरुषकी इच्छाको काम कब कहते हैं, इसका निर्णय करते हुए लिखा है—

अहङ्कारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः॥ २६१॥
अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहङ्कृतिम्।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥ २६२॥

इसका भावार्थ यह है कि 'शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा और अहङ्कार वास्तवमें एक-दूसरेसे भिन्न हैं; अविवेकके कारण ये एक ही हैं; ऐसा निश्चय करके मुझे अमुक-अमुक वस्तु चाहिये; ऐसी इच्छा (जीव) करता है। ऐसी इच्छाको काम कहते हैं। आत्मा और अन्त:करणका भेद मालूम हो जानेपर यदि ज्ञानी करोड़ों वस्तुओंकी भी इच्छा करे तो ग्रन्थिभेद हो चुकनेके कारण उसमें कोई हर्ज नहीं। क्योंकि उस इच्छाको काम नहीं कहा जा सकता।'

दूसरे, रत्नादि पाषाण ही हैं; किन्तु उन्हें कोई पाषाण नहीं कहता; इसी तरह मृतकका अग्निसंस्कार करते समय घड़ा फोड़नेके लिये जो छोटा-सा पत्थर लिया जाता है, वह वास्तवमें होता तो पाषाण ही है, किन्तु उसे पाषाण न कहकर 'अश्मा' कहनेकी श्रेष्ठ लोगोंकी रूढ़ि है। अतएव कोई भी कर्म सकाम होनेपर भी उपर्युक्त कारणोंसे मोक्षकी कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कहनेकी शास्त्रोंकी प्रथा है। अतएव निष्काम कर्मयोग सम्भव है।

भक्तियोग

निष्काम कर्मयोगके विषयमें जो ऊपर विचार किया गया, उसीके अन्दर भक्तियोग भी है। नामस्मरण, चिन्तन, ध्यान, धारणारूप जो भक्ति है, वह भी एक मानसिक कर्म ही है। इसी कारण वह निष्काम कर्मयोगके अन्तर्भूत है। जिस तरह निष्काम कर्म अन्त:करणकी शुद्धिका हेतु है, उसी तरह ईश्वरभक्ति अन्त:करणकी स्थिरताका हेतु है। जब अन्त:करणकी शुद्धि और स्थिरता होती है तब आचार्यद्वारा महावाक्यका उपदेश लेनेपर जीवब्रह्मैक्य-फलरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि महावाक्य सुननेसे शब्दशक्तिसे ही ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि अन्त:करण यदि शुद्ध और निश्चल न हो तो उस ज्ञानसे मोक्षरूप परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मुमुक्षुको निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग दोनोंका अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता है।

अन्त:करणकी शुद्धि और निश्चलता प्राप्त होनेके बाद जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

—इस वेदाज्ञाके अनुसार मुमुक्षुको हाथमें समिध लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी शरणमें जाना चाहिये।

मुमुक्षुके शरणमें जानेपर ब्रह्मनिष्ठ गुरु शिष्यकी **'तत्त्वमसि'** महावाक्यका उपदेश करते हैं। इस वाक्यमें **'तत्'** पदका अर्थ है ईश्वर और **'त्वं'** पदका अर्थ है जीव। इन दोनों पदोंके अर्थको लेकर **'असि'** पदसे उनका एकत्व मानें तो अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीव और सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वरका ऐक्य होना सम्भव नहीं। किन्तु जब पदोंका अर्थ लेनेपर वाक्यार्थ अनुभवके विरुद्ध होता है तब लक्षणसे पदोंके अर्थको ग्रहणकर शुद्ध ब्रह्मके साथ कूटस्थरूप शुद्ध जीवका एकत्व मान लें। इससे मुमुक्षुको श्रवणकालमें जो आपाततः जीव-ब्रह्मात्मैक्यका विश्वास हुआ रहता है, वह दृढ हो जाता

है। अतएव महावाक्यके श्रवणसे जो ब्रह्मके आत्मत्वसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता है उस ज्ञानसे मुमुक्षु संसारमुक्त होकर ब्रह्मरूप परमानन्दको प्राप्त होता है अर्थात् परमानन्द-रूप हो जाता है।

शंका—यहाँपर यह शंका हो सकती है कि यदि हम यह मान लें कि **'तत्त्वमसि'** आदि महावाक्योंसे ही ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान हो जाता है, तब **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इत्यादि वेदवाक्योंसे विरोध होता है। वाणी परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन करती हुई, परमात्मस्वरूपको न पहुँचकर मनके साथ वापस आ जाती है अर्थात् वाणीसे परमात्माका वर्णन होना सम्भव नहीं। इसी तरह **'यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'**—केनके प्रथम खण्डमें कहा गया है। वाणीके उपादानभूत स्वप्रकाशमान परमात्माका प्रकाश अर्थात् ज्ञान लेकर शब्दके स्थानमें जड पदार्थको प्रकाशित करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है। दीपकके स्थानमें जड पदार्थ प्रकाशित करनेकी शक्ति जैसे दीपोपादानभूत अग्निकी है, वैसे ही शब्दके स्थानमें पदार्थ-प्रकाशनकी शक्ति शब्दोपादानभूत स्वप्रकाशमान अर्थात् ज्ञानरूप परमात्माकी है। जब ऐसी बात है तब—

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम्।
(प० प्र० ३। १७)

अर्थात् जिसके योगसे सब प्रकाशित होता है उस ब्रह्मको ब्रह्मके अतिरिक्त जड पदार्थोंके द्वारा क्या प्रकाशित किया जा सकता है? कदापि नहीं। श्रीज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—

सूर्याचेनि प्रकाशे। जे कांहीं जड आभासे॥
तेणें तो गिवसे। सूर्यू कायी?
(अ० प्र० ५ ओ० १४)

अर्थात् सूर्यके प्रकाशसे जो सब जड पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उन जड़ पदार्थोंसे क्या सूर्य प्रकाशित किया जा सकता है? कभी नहीं।'

इस सम्पूर्ण विवेचनसे यह मालूम हुआ कि लौकिक शब्दोंसे तो नहीं, परन्तु वैदिक शब्दोंसे भी ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब तो वैदिक शब्द **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि साधारण वाक्य हों अथवा **'तत्त्वमसि'** आदि महावाक्य हों, एकदम शब्दोंसे ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं, ऐसा सिद्ध होता है। किन्तु आप कहते हैं कि आचार्यद्वारा तत्त्वमसि आदि वेदवाक्योंसे मुमुक्षुको ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। यह कैसे?

समाधान—किसी मनुष्यको यदि अपने मुँहके होनेकी बातपर विश्वास हो जाय तो भी उसे स्वयं अपना ही मुँह आरसी आदि उपाधियोंके बिना कभी नहीं दिखायी दे सकता। अथवा चक्षुरिन्द्रियसे जो अग्राह्य अत्यन्त सूक्ष्म जन्तु है, उसका ज्ञान सूक्ष्मपदार्थदर्शक दूरबीनके बिना होना सम्भव नहीं। दूरबीनकी सहायतासे उस सूक्ष्म जन्तुका औपाधिक स्थूलत्व मालूम कर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। दृश्य पदार्थोंके विषयमें यह बात सबको मालूम है। ब्रह्म—आत्मा तो निरवयव, अरूप, निर्गुण है, इस कारण आरसी अथवा दूरबीनकी सहायतासे किसी भी इन्द्रियके द्वारा उसका ग्राह्य होना सम्भव नहीं। पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ तो अपने-अपने उपादानभूत आकाशादिके गुणोंका अर्थात् केवल शब्दादि विषयोंका ज्ञान कराती हैं। आत्मा निर्गुण है, अतएव किसी भी ज्ञानेन्द्रियसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके सन्निकट होनेपर किसी पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। परन्तु कुछ पदार्थोंका **'दशमस्त्वमसि'** के अनुसार शब्दोंसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रियके सान्निध्यके द्वारा अथवा शब्दद्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञेयपरसे अज्ञानके आवरणको दूर करती है और अन्तःकरणस्थित आत्मचैतन्यका आभास उस-उस आत्मभिन्न जड पदार्थको प्रकाशित करता है अर्थात् आवरणका नाश हो जानेके बाद अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञेय पदार्थके आकारकी हो जाती है। उसीके साथ वृत्तिमें आया हुआ आत्मज्ञानका आभास ही उस पदार्थके आकारका हो जाता है, जिससे उस पदार्थका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं।

शंका—हाँ, यह तो हम समझ गये कि जड पदार्थका ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिसे होता है। परन्तु आत्माका ज्ञान इन्द्रियों अथवा शब्दकी सहायतासे होना कैसे सम्भव है?

समाधान—मुख्य शंकाका समाधान समझनेके लिये अन्तःकरणकी जैसी भूमि तैयार होनी चाहिये, वैसी तैयार होनेके लिये ही जड पदार्थके ज्ञानकी प्रक्रिया ऊपर कही गयी है। उसमें मुख्य रहस्य यह है कि आत्मभिन्न जड पदार्थको वृत्तिसे व्याप्त कर आभासके तदाकार हुए

बिना जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। अन्तःकरणकी वृत्ति जो पदार्थमें व्याप्त होती है, उसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। और अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो चिदाभास रहता है उसे शास्त्रकी भाषामें 'फल' कहते हैं। उस आभासकी जड पदार्थमें जो व्याप्ति है, उसे फलव्याप्ति कहते हैं। कहनेका तात्पर्य, जड पदार्थका ज्ञान होनेके लिये वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्तिकी आवश्यकता है। इन दोनों व्याप्तियोंके बिना जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। परन्तु ब्रह्म-आत्मा जड नहीं है, स्वप्रकाशमान है तथा उसके ऊपर अनादि अविद्याका आवरण है। अब अन्तःकरणकी वृत्तिके द्वारा उस आवरणके नष्ट होनेपर अर्थात् पूर्वोक्त निष्काम कर्म और निष्काम भक्तियोगके द्वारा शुद्ध और स्थिर हुए अन्तःकरणमें, अन्तःकरणस्थित ब्रह्मात्मचैतन्यकी सच्चिदानन्दरूपसे सहज अभिव्यक्ति होती है। इसीको ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रकाशमान सूर्य जब बादलोंसे आच्छादित रहता है तब यथार्थरूपमें नहीं दिखायी पड़ता। बादलके कारण सूर्यदर्शन नहीं होता, यह सूर्यके ही सामान्य प्रकाशसे मालूम होता है, परन्तु बादलके आच्छादनके द्वारा सूर्यके यथार्थ स्वरूपका भान नहीं होता। हवा चलनेसे वे बादल जब दूर हो जाते हैं तब सूर्यका स्पष्ट दर्शन होता है। उस समय लोक-व्यवहारमें यह कहा जाता है कि हवाने सूर्यदर्शन करा दिया। किन्तु वस्तुतः हवाने केवल बादलोंको दूर किया, सूर्यको तैयार नहीं किया। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने गीताके १८ वें अध्यायके ५५ वें श्लोककी व्याख्यामें दो-तीन दृष्टान्त देकर इसी सिद्धान्तको बतलाया है—

वारा आभाळचि फेडी। वांचूनि सूर्यातें न घडी।
कां हातु बाबुळी धाडी। तोय न करी॥ १२३१॥
तैसा आत्मदर्शनीं आडळु। असे अविद्येचा जो मळु॥
तो शास्त्र नाशी येरु निर्मळु। मी प्रकाशे स्वये॥ १२३२॥
म्हणौनि आघवींचि शास्त्रे। अविद्या विनाशाचीं पात्रें।
वांचोनि न होती स्वतंत्रे। आत्मबोधीं॥ १२३३॥

अर्थात् हवा बादलोंके आवरणमात्रको दूर करती है। सूर्यको तैयार नहीं करती। अथवा पानीपर जमी हुई काईको एक किनारे कर देती है, वह पानीको तैयार नहीं करती, पानी तो काईके नीचे रहता है।

इसी प्रकार स्वप्रकाशानन्द आत्माका ज्ञान होनेमें प्रतिबन्धक जो अविद्याका मल है, उस मलका नाश शास्त्र करते हैं। हे अर्जुन! उस मलका नाश होनेके बाद अत्यन्त निर्मल अन्तःकरणमें स्वप्रकाशमान परमात्मा स्वतः ही अभिव्यक्त होता है। अर्जुन! सब शास्त्र केवल अविद्याका ही नाश करनेवाले हैं। यथार्थ आत्मबोध करा देना शास्त्रके हाथकी बात नहीं है।

इसी उद्देश्यसे समन्वयाधिकरणमें—

अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति।

—ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ है कि ऋग्वेदादि शास्त्र सच्चिदानन्द ब्रह्मको '**इदंत्वसे**' अर्थात् अङ्गुलीनिर्देश करके जिज्ञासुको नहीं दिखाते कि यह ब्रह्म है। जीवके लिये आत्मरूप अविषय होनेसे ब्रह्मके प्रति उसमें अविद्याकल्पित वेद्यवेदितृवेदनादि भेद उत्पन्न हो जाते हैं जिससे वह ब्रह्मसे दूर हो जाता है, इसलिये शास्त्र केवल अविद्याकल्पित मिथ्या भेद-प्रतीतिका नाशभर करते हैं। कल्पित भेद निवृत्त हो जानेपर महावाक्यके श्रवणसे स्वप्रकाशमान ब्रह्म आत्मत्वसे अन्तःकरणमें अभिव्यक्त होता है। इसीका नाम ब्रह्मपरोक्ष ज्ञान है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे ऐसा मालूम होता है कि क्या वेद-वाक्य अथवा क्या अन्य शास्त्र, किसीके द्वारा साक्षात् आत्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब शास्त्रोंका उपयोग क्या है? ऐसा यदि कोई कहे तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाशमान है, सब जीवोंका आत्मा है, उसीके ज्ञानके आश्रयपर सब लौकिक और वैदिक व्यवहार चलते हैं, फिर भी जीवोंके अन्दर सच्चिदानन्दब्रह्मरूप आत्मा है, ऐसा ज्ञान नहीं होता; अतएव यह मानना होगा कि स्वप्रकाशानन्द आत्माके ऊपर अविद्याका आवरण है। उस आवरणका नाश गुरुद्वारा वेदान्तमहावाक्य सुननेसे ही होता है, दूसरे किसी उपायसे नहीं होता। इसी कारण उपनिषदोंका ऐसा सिद्धान्त है कि आचार्यद्वारा महावाक्य सुननेसे ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष ज्ञान होता है। अवश्य ही वेदवाक्य ब्रह्मको अङ्गुलीनिर्देश करके सामने दिखा नहीं देते। इसी अर्थमें '**यतो वाचो निवर्तन्ते**' आदि श्रुतिने कहा है। परन्तु अन्तःकरण यदि अत्यन्त शुद्ध हो तो वेदान्तमहावाक्यके

द्वारा उसमें ब्रह्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है। इसीका **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'** (तीव्र बुद्धिसे देखा जाता है), **'मनसैवेदमाप्तव्यम्'** (मनसे प्राप्त होता है)' आदिके द्वारा श्रुतिने प्रतिपादन किया है। यही तुम्हारी शंकाका समाधान है।

इन सब बातोंका मतलब यह है कि मुमुक्षुको आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं होती, आत्मा तो प्रतिक्षण अन्तःकरणमें अभिव्यक्त है। परन्तु बुद्धिके अन्दर भेदकी सत्यताका निश्चय है। इस प्रतिबन्धके कारण जीवको स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं। जबतक उस स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं होता तबतक जीवके संसारसे मुक्त होनेकी सम्भावना नहीं। इस कारण भगवान् शंकराचार्यने गीताके १८ वें अध्यायके ५० वें श्लोककी व्याख्याके अन्तमें—

तस्माज्ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किं त्वनात्मबुद्धिनिवृत्तावेव, तस्माज्ज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्या।

—कहकर यह बतलाया है कि निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टांगादि योग, ध्यानादि अनन्त योग इत्यादि सब तरहके योग ज्ञानयोगके ही अंग हैं। इन अंगोंकी सहायतासे आत्मस्वरूप ज्ञानके प्रतिबन्धक अज्ञानावरणको दूर करना चाहिये और गुरुद्वारा प्राप्त महावाक्यकी सहायतासे ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यही वैदिक शब्दोंद्वारा अपरोक्ष ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रिया है जो संक्षेपसे यहाँ कही गयी है।

सम्पूर्ण योग

(लेखक—पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

प्राचीन ऋषि-मुनियोंद्वारा जो धर्म मानवजातिके उद्धारके लिये प्रकाशित हुआ, उसमें 'योगसाधन' को प्रधान स्थान प्राप्त है। यदि मानवधर्मसे योगसाधनको पूर्णतया हटा दिया जाय तो फिर उसमें कोई विशेष महत्त्वकी बात ही नहीं रह जायगी। योगसाधनका ऐसा महत्त्व अपने सनातन वैदिक धर्ममें बताया गया है।

अगर अपनी भाषाका निरीक्षण किया जाय तो उसमें भी योगकी सार्वत्रिक उपयोगिताका पता लगता है। भाषामें 'प्रयोग, संयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग' इत्यादि अनेक शब्द प्रयोगमें आते हैं। ये सब भी 'योग' ही हैं। यदि इन योगोंका उपयोग भाषामें न किया जाय तो भाषा कितनी अधूरी हो जायगी, इसका ज्ञान प्रत्येक भाषाभाषीको सहजमें ही हो सकता है। भाषामें योगका यह सार्वत्रिक प्रयोग सिद्ध करता है कि भाषाकी पूर्णताके लिये 'योग' की अत्यन्त आवश्यकता है।

भाषा क्या है? भाषा आत्माका ही प्रकाश है। आत्मा बुद्धिके साथ युक्त होकर अपने जो भाव प्रकट करता है, वही भाषा है। अर्थात् भाषा आत्माका भाव है अथवा प्रभाव है। और वह पूर्वोक्त योगोंके बिना प्रकट नहीं हो सकता। इसीलिये कहा जाता है कि आत्माका प्रकाश प्रकट होनेके लिये 'योग' की आवश्यकता है।

आर्य वैद्यकमें औषध-योजनाको 'योग' कहते हैं। ज्योतिषशास्त्रमें ग्रहोंके योगको भी 'योग' कहा जाता है। गणितशास्त्रमें भी 'योग' है। इस तरह देखा जाय तो योगके बिना कोई शास्त्र नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जायगी। योगकी व्यापकता यहाँतक है कि 'वियोग' में भी 'योग' की आवश्यकता है, फिर 'संयोग' में आवश्यकता है—यह कहनेकी तो आवश्यकता ही क्या है?

इस तरह भारतीय ऋषि-मुनियों तथा तपस्वियोंने योगका मानवजीवनके साथ अटूट सम्बन्ध देखा और अनुभव भी किया। इस समयमें भी प्रत्येक व्यक्तिको इस सम्बन्धका अनुभव करना चाहिये।

सभी शास्त्रोंमें 'योग' कहा गया है। पातञ्जल-योगदर्शनमें 'योगसाधन' का ही विचार किया गया है; कपिलमुनिके सांख्यदर्शनने भी 'सांख्ययोग' कहा है; पूर्वमीमांसामें 'कर्मयोग' कहा है; उत्तरमीमांसामें 'ब्रह्मयोग' है; श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें भक्तियोग है। इस तरह अनेक ग्रन्थाकार इस योगतत्त्वका विवेचन करनेमें ही प्रवृत्त हुए दीखते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि

सब आर्यशास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य यही है कि धर्मजिज्ञासुओंके मनमें इस योगतत्त्वको स्थिर कर दिया जाय।

इतना प्रयत्न होनेपर तो हम सब सनातनधर्मियोंके मनमें योगकी प्रवृत्ति होनी चाहिये; परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। बिरले ही कोई योगसाधनमें लगते हैं; बाकी लोग वैसे ही कोरे रह जाते हैं जैसे योगके प्रचारके लिये कोई प्रयत्न ही न हुआ हो। ऐसा क्यों? इस प्रश्नका विचार करनेका समय आ गया है। जो लोग धार्मिक हैं, उन्हें इसका विशेष विचार करना चाहिये।

हमारे विचारमें इसका मुख्य कारण है 'सम्पूर्ण योगकी अवहेलना और अपूर्ण योगकी ओर अधिक झुकाव।' प्राय: लोग समझते हैं कि भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग आदि सब योग एक-दूसरेसे पृथक् हैं और एकका दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विचार इतना दृढ़ हो गया है कि योगमार्गका अनुसरण करनेवाले साधक भी अपने-आपको दूसरोंसे पृथक् समझते हैं, अर्थात् भक्तिमार्गी लोग अपने-आपको हठयोगियोंसे पृथक् मानते हैं। इसी तरह ज्ञानमार्गियोंका कर्ममार्गियोंसे विरोध है और यह विरोध ग्रन्थोंमें भी स्पष्ट दिखायी देता है।

क्या भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि परस्परविरोधी मार्ग हैं? क्या दूसरे मार्गका स्पर्श भी न कर केवल भक्ति, केवल कर्म अथवा केवल ज्ञानका अनुष्ठान होना सम्भव, है? हमारे विचारसे सम्भव नहीं है। परन्तु कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका परस्पर विरोध भाष्यकारोंने भी मान लिया है। और ऐसा भी मानने लगे हैं कि ये सब मार्ग एक ही केन्द्रबिन्दुको प्राप्त होनेवाले हैं, फिर भी ये परस्पर भिन्न हैं।

यदि ये सब मार्ग भिन्न-भिन्न हैं तो यह निश्चित है कि इनमेंसे कोई मार्ग 'सम्पूर्ण' नहीं है। जो योग 'सम्पूर्ण' होगा, वह किसीसे भी भिन्न नहीं हो सकता।

हठयोगी कहते हैं कि हम आसन-प्राणायामादिके अभ्यासके द्वारा प्राण स्थिर करते हैं और चित्तकी एकाग्रता साधते हैं; ज्ञानयोगी कहते हैं कि हम विशेष मननादि साधनसे स्थिरताका साधन करते हैं; कर्मयोगी कहते हैं कि हम कर्म करनेमें ही अपना जीवन समर्पित कर देते हैं; भक्त कहते हैं कि हम नाम-स्मरण आदि करते हैं। इस तरह प्रत्येक साधक अपने मार्गको दूसरोंसे पृथक् समझता है। इसका फल यह होता है कि हठयोगी आसनोंसे शरीर और प्राणायामके द्वारा प्राणोंपर विजय प्राप्त करता है; ज्ञानयोगी मननके द्वारा मनपर अच्छे संस्कार जमाता है; कर्मयोगी कर्मेन्द्रियोंसे प्रयत्न करता है और भक्तिमार्गी नामस्मरण आदिमें ही लगा रहता है। इनमेंसे एक शरीरका आश्रय करता है, दूसरा प्राणपर निर्भर करता है, तीसरा मनका उपयोग करता है, चौथा कर्मेन्द्रियोंका उपयोग करता है और पाँचवाँ स्मरणशक्तिका आश्रय लेता है। इस तरह इनमेंसे एक भी सम्पूर्ण मानवशक्तियोंका उपयोग नहीं करता। हर एक प्रकारका साधक एक-एक शक्तिका उपयोग करता है और इसीलिये अपने-आपको दूसरेसे पृथक् अनुभव करता है तथा इस पृथक्त्वमें उसे अपूर्णताका भी अनुभव होता है।

मनुष्यके पास आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, पञ्चभूत आदि अनेक पदार्थ हैं। इन सबका एक साथ योग होनेपर ही 'सम्पूर्ण योग' हो सकता है। जो यह कहते हैं कि हम केवल प्राणोंका साधन करते हैं, अथवा केवल अपने आत्माको ही परमात्माके साथ मिलाते हैं, वे अंशका योग करते हैं, उनके सम्पूर्ण अङ्गोंके साथ योग नहीं होता। अत: वे अपूर्ण योग करते हैं और इसलिये पृथक्त्वका अनुभव करते हैं।

वस्तुत: देखा जाय तो केवल एक ही शक्तिका प्रयोग करना असम्भव है। अर्थात् हठयोगी जो यह कहते हैं कि हम आसन-प्राणायाम आदिके द्वारा केवल शरीरावयव और प्राणका ही अनुष्ठान करते हैं, वे गलती करते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत आदि सबका उपयोग किये बिना न हठयोगका अनुष्ठान हो सकता है और न अन्य योगोंका। थोड़ा-सा विचार करनेपर यह स्पष्ट तौरपर मालूम हो जायगा कि प्रत्येक योगमें सब साधनोंका न्यूनाधिक उपयोग होता ही है; परन्तु साधक यह अनुभव नहीं करता कि मेरे अनुष्ठानमें 'सम्पूर्ण योग' का अनुष्ठान हो रहा है, बल्कि भ्रमसे यह मानता है कि मेरा साधनमार्ग दूसरोंके साधन-मार्गसे भिन्न है, पृथक् है। जो इस भ्रममें ही मस्त रहते हैं वे 'सम्पूर्ण योग' के लाभसे वञ्चित रह जाते हैं और अपूर्णताका अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं,

ऐसे ही लोग साधनमार्गोंके आपसी झगड़ेके हेतु बनते हैं और इस तरह योगका सर्वव्यापक उन्नतिका साधन प्राप्त होनेपर भी वे उसके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित रह जाते हैं।

बहुत-से साधक यह समझते हैं कि योगकी सिद्धि आत्माका परमात्माके साथ मिलाप हो जाना है; अर्थात् वे यह समझते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और पञ्चभूत आदिका परमात्माके साथ योग नहीं होता है। यही 'अपूर्ण योग' अथवा 'सम्पूर्ण योगका अपूर्ण ज्ञान' है और यही बहुत बड़ा घात करनेवाला है तथा नाश कर रहा है। ऋषि-मुनियोंने तो हमें सम्पूर्ण योगसाधन दिया, परन्तु उसे हमने ग्रहण नहीं किया, केवल उसके एक-एक अंशको लेकर ही हम आपसमें झगड़ रहे हैं और इसीलिये योगसाधनके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित हो रहे हैं।

साधकोंको यह समझ लेना चाहिये कि जबतक वे इस अपूर्ण साधनमें विचरते रहेंगे तबतक उनको पूर्णत्वका अनुभव नहीं होगा। अब प्रश्न यह होता है कि 'सम्पूर्ण योग' का लक्षण क्या है और उसका साधन कैसे करना चाहिये।

जिस योगमें एक ही साथ सम्पूर्ण मानवी शक्तियोंका योग परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ होता है वह 'सम्पूर्ण योग' है और वह स्वरूपज्ञान होनेके बाद ही हो सकता है।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न पाठक कर सकते हैं कि परमात्माकी और जीवात्माकी शक्तियाँ कौन-सी हैं? गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(७।४-५)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार यह आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति और नवीं जीवरूपी परा प्रकृति है। अर्थात् यह नौ प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है। क्या यह नौ प्रकारकी प्रकृति जीवके पास नहीं है? क्या पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीवनकला मनुष्यके पास नहीं है? है, अवश्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो नौ शक्तियाँ परमेश्वरके पास हैं, वे ही मनुष्यके पास भी हैं। फिर मनुष्य केवल एक ही शक्तिका योग क्यों करता है? परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका योग क्यों नहीं करता? विचार करनेपर यह मालूम होता है कि मनुष्य ऐसा अवश्य कर सकता है। तब इस तरहका 'सम्पूर्ण योग' कैसे किया जाय, इसीका अब विचार करें।

साधकको पहले यह विचार करना चाहिये कि ईश्वरकी प्रकृतिमें जो नौ तत्त्व हैं, वे ही हमारे अन्दर भी हैं। परमेश्वरकी प्रकृति इस समूचे विश्वमें पूर्णतया व्याप्त है, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं। इसी कारण ईश्वरको 'सर्व', 'विश्व' कहते हैं। (**विश्वं विष्णुः। पुरुष एवेदं सर्वम्।**) जब परमेश्वर 'सर्व' है तब यह सब रूप उसीका रूप हुआ, जिसके अन्दर साधक भी हैं। इस तरह साधकको अपने-आपको महासागरके अन्दरके एक जलबिन्दुके समान समझना चाहिये। जो तत्त्व सम्पूर्ण महासागरमें है वही एक जलबिन्दुमें भी है। इसी तरह जो नौ तत्त्व ईश-प्रकृतिमें हैं, वे ही साधककी प्रकृतिमें भी हैं और ईश्वरकी महती प्रकृतिमें साधककी अल्प प्रकृति सम्मिलित है। महासागर प्रभु है और साधक उसीका एक बिन्दुरूप। इस भावनामें साधकको स्थिर होना चाहिये। और यह विचार करके देखना चाहिये कि अपने पृथ्वी-तत्त्वके साथ ईश्वरकी प्रकृतिका पृथ्वी तत्त्व मिला है या नहीं, गन्धसे पृथ्वी-तत्त्व ज्ञान होता है। क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ गन्ध न हो? अपने शरीरमें गन्धवती पृथ्वी है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्वमें भी है। क्या अपने शरीरकी गन्धवती पृथ्वी विश्वरूपी ब्रह्माण्डकी ईशप्रकृतिसे पृथक् है? पृथक् कहाँसे हो सकती है? गन्धमें गन्ध मिला हुआ है। इसी तरह अपने शरीरके जल, तेज, वायु, आकाश आदि तत्त्वोंके साथ विश्वप्रकृतिके ये तत्त्व कैसे मिले हुए हैं, इसका अनुभव करे। विवेकपूर्वक यह निश्चय करना चाहिये और इसका अनुभव करना चाहिये कि ईशके विश्वव्यापक शरीरसे मेरा शरीर पृथक् नहीं है। जैसे कपड़ेमें सूत्रका भाग है वैसे ही उस प्रभुमें मैं हूँ। न मैं उससे पृथक् हूँ और न वह मुझसे पृथक् है।

जबतक मनमें ऐसा निश्चय न हो जाय तबतक बार-बार विचार करके ऐसा अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। और यह बात जाननी चाहिये कि किस तरह अपनी प्रकृति ईश्वरकी प्रकृतिके साथ मिली हुई है। जब यह अनुभूति होगी तभी यह ज्ञान प्राप्त होगा कि अपनी प्रकृतिका सम्पूर्ण योग परमात्म-प्रकृतिके साथ सदा-सर्वदा है ही। सम्पूर्ण योगके अभ्यासका यह प्रथम पाठ है।

इस योगमें यह भावना कि 'मैं प्रभुके साथ सर्वदा संयुक्त हूँ' सदा जाग्रत् रहनी चाहिये। 'मैं अलग हूँ और वह अलग है'—यह भाव यहाँ है ही नहीं। अपनी सब शक्तियाँ उसके साथ नित्य सम्बद्ध हैं। यही अनुभव करना यहाँका अनुष्ठान है।

इसके आगेका दूसरा पाठ यह है कि क्या ये पञ्चमहाभूत पृथक् सत्ताधारी हैं अथवा एक ही सत्तत्त्वके ये पाँच गुण हमारी पाँचों इन्द्रियोंको पाँच अनुभव दिला रहे हैं?

पाँच अन्धे हाथी देखने गये। एकने जाकर पाँवका स्पर्श किया तो उसको हाथी स्तम्भ-जैसा प्रतीत हुआ; दूसरेको कान स्पर्श करनेपर सूपके समान मालूम हुआ। इसी तरह पाँचों अन्धोंने हाथीका वर्णन पाँच प्रकारसे किया। उनका अनुभव ऐसा ही था; अवश्य ही अनुभव अपूर्ण था। यही दशा हमारी इन्द्रियोंकी है। एक सत्तत्त्वके साथ जब आँख काम करती है तब उसे उसका रूप दीखता है और जब कान कार्य करता है तो उसे शब्द सुनायी देता है। यह पृथक् अनुभव आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचाकी निजी आन्तरिक घटनाके कारण होता है। वस्तुतः जिसके ये गुण अनुभवमें आते हैं, वह तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वमें पृथक्-पृथक् भाव नहीं हैं। जैसे आमका पीला रंग आँख देखती है, उसका स्पर्श हाथ करता है, उसका स्वाद जिह्वा लेती है, उसका शब्द कान सुनता है और उनकी गन्ध नाक लेती है, पर आम तो एक ही है, वैसे ही मूल सत्तत्त्व एक ही है, किन्तु उसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेपर, पृथक् गुण अनुभूत होते हैं। एक ही सत्तत्त्वके अनेक गुण प्रतीत होते हैं।

इस तरह विचारद्वारा एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। पहले अभ्याससे यह ज्ञान हुआ कि अपनी प्रकृतिके पञ्चतत्त्वोंके साथ ईश-प्रकृतिके पञ्चतत्त्व मिले हैं। इस अभ्याससे यह अनुभव प्राप्त हुआ है कि जीव और शिवमें एक ही तत्त्व है और वह सब परस्पर मिला हुआ है, उसमें पार्थक्य बिलकुल नहीं है। यह 'सम्पूर्ण योग' का दूसरा पाठ है।

पञ्चतत्त्वोंका एकीकरण इस तरह प्रत्यक्ष अनुभवमें आ सकता है। यह केवल कल्पनाकी बात नहीं है। पाठक विचार करें और अपने शरीरके पञ्चतत्त्व विश्वव्यापी पञ्चतत्त्वोंके साथ मिले हुए हैं, इसको अनुभव करें अथवा जिस एक तत्त्वके पाँच गुण पाँच इन्द्रियोंद्वारा प्रतीत होते हैं, वह एक तत्त्व जैसा अपने शरीरमें है वैसा ही सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है, इस बातको विचार करके जान लें। यह जानते ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका सम्पूर्ण योग विश्वव्यापक शक्तियोंके साथ हो जाता है और **'नेह नानास्ति किञ्चन'** का अनुभव होता है। यही अखण्ड एकताका अनुभव है।

पाठक कहेंगे कि यह तो प्राकृतिक तत्त्वोंकी एकता है। सच है। पर पहले यही एकता मनमें स्थिर होनी चाहिये। क्योंकि प्रकृतिमें बड़ी विभिन्नता है। यदि यह प्राकृतिक विभिन्नता हट जाय तो मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक एकता समझनेमें कठिनाई न होगी।

जब पञ्चमहाभूतोंका योग हो गया तब उसके बाद मनका विचार करना चाहिये। मन क्या करता है? मन मनन करता है और सर्वत्र 'सत्ता, भान और प्रियता' का अनुभव करता है। साधक यदि विचार करके देखेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि मनद्वारा तीन प्रकारके अनुभव होते हैं—(१) 'यह सब है'; (२) 'यह मुझे प्रतीत होता है'; और (३) 'यह मुझे प्रिय है।' इन्हीं अनुभवोंका संक्षिप्त नाम है—'सत्-चित्-आनन्द'। अस्ति-भाति-प्रियत्व भी इनको कहते हैं। देखनेवाला अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत्में ये तीन अनुभव करता है। यदि साधक अपने साथ सम्पूर्ण विश्वमें ये तीन अनुभव लेनेका यत्न करेगा तो इस तरह भी उसका 'सम्पूर्ण योग' सिद्ध होगा।

इस सम्पूर्ण विश्वका मैं एक अंश हूँ और मेरे साथ जो यह सम्पूर्ण विश्व है, वह है, वह प्रतीत होता है और वह प्रिय है। ऐसा अनुभव होनेपर मनका

विश्वव्यापक मनके साथ सम्पूर्ण योग हो जायगा। पार्थक्यका ज्ञान करानेवाला मन भी इस तरह विश्वरूपके साथ एक हो जायगा।

प्रथम पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा पञ्चभूतोंका ज्ञान हुआ, वह अब जाता रहा और एक ही वस्तुके तीन पहलुओंका ज्ञान हुआ। जो वस्तु (अस्ति) है, वही (भाति) प्रतीत होती है और वही (प्रिय) प्रेमरूप है। अणु-रेणुको इन तीन भावोंसे देखिये, उसमें अपने-आपको मिलाकर अपना पृथक्त्व हटानेका प्रयत्न कीजिये। इस तरहके अभ्याससे यह ज्ञान उत्पन्न होगा कि सब वस्तु एक ही है। यह सम्पूर्ण योगका तीसरा पाठ है। इसमें पञ्चतत्त्व हट जाते हैं और केवल तीन भाव ही रह जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भी अनुभव होने लगता है कि ये एक ही वस्तुके तीन भाव हैं।

इसके बाद बुद्धि आती है; वह कहती है कि यहाँ न तो पञ्चतत्त्व हैं, न तीन भाव ही हैं; केवल जड और चेतन दो ही वस्तुएँ हैं। विश्वमें कुछ जड और कुछ चेतन दिखायी पड़ता है। ऐसा दीखता भी है और अनुभवमें भी आता है। जो जड है वह चेतन नहीं है और जो चेतन है वह जड नहीं है। अतएव बुद्धिद्वारा केवल ये दो पदार्थ निश्चित होते हैं। इन्द्रियोंके सम्बन्धसे हमने पाँच पदार्थ निश्चित किये थे, मनके द्वारा तीन किये थे, अब बुद्धिके द्वारा केवल दो ही निश्चित होते हैं— जड और चेतन। विश्वमें जड भी है, चेतन भी। साधकमें शरीर जड है और जीव चेतन। अतएव जो जड-चेतन विश्वभरमें हैं वे ही साधकमें भी हैं। ऐसा विचारकर साधकको अपना जडभाग विश्वके जडके साथ और अपना चेतन विश्वव्यापक चेतनके साथ मिला देना चाहिये। अब हम किस रूपमें अलग रहे? अपने साथ जो सम्पूर्ण विश्व है उसमें केवल दो ही पदार्थ रह गये हैं—एक जड और एक चेतन। शेष पञ्चमहाभूत, अस्ति-भाति-प्रियत्व अथवा सत्त्व, रज, तम सब उसी जड-चेतनके अन्तर्गत आ गये।

अब साधक अलग कहाँ रहा? वह तो विश्वव्यापी जड-चेतनमें ही मिल चुका है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या जड और चेतन पृथक्-पृथक् हैं? यहाँ आत्माको साक्षीरूपमें देखना चाहिये। जागृतिमें जब यह देखता है तभी उसको ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड है या चेतन। और तभी इनका अस्तित्व भी होता है। यदि यह द्रष्टा सो जाय और जागे ही नहीं तो कौन-किसको जड कहेगा और कौन किसको चेतन? अतः इस द्रष्टाका ज्ञान ही यह सब होता है, द्रष्टाका स्वरूप ही ज्ञान है जो इस विश्वमें परिणत होता है। फिर द्रष्टासे भिन्न कौन-सा पदार्थ कहाँ रहा? जड और चेतनरूप जो यह भेद है वह इसीके निज रूपका भेद है।

अब साधक इस चतुर्थ पाठके समय स्वयं ही सब कुछ बन गया। अब वह यह कहता है कि जब मैं देखता हूँ तब यह सब है, नहीं तो नहीं है अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सम्पूर्ण हूँ। यह सम्पूर्ण योगका अन्तिम पाठ है। इस समय निम्नलिखित श्रुतिवाक्य ठीक समझमें आ सकता है—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद ँ सर्वम्॥

(छान्दो० ७।२५।१)

'मैं ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायीं और बायीं ओर हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।' यह 'सम्पूर्ण योग' की सम्पूर्णता है। वेद, उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें यही योग कहा गया है। अन्य सब योग इसी योगके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं और वे सब अपूर्ण योग हैं। यही सर्वाङ्ग सम्पूर्ण योग है। पाठक इसका मनन करें और पूर्ण बनें। अपूर्णतामें दुःख और पूर्णतामें सुख है। पाठक इस प्रकार सुखको प्राप्त कर सकते हैं।

योगसिद्धिका रहस्य

(प्रेषक—श्रीनागेन्द्रनाथ शर्मा साहित्यालङ्कार, एम० आर० ए० एस०)

(१)

भूतजय तथा अष्टमहासिद्धि

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।

(पा० यो० ३।४४)

इस सूत्रमें अणिमादि अष्टसिद्धियोंका पूर्वरूप भूतजय वर्णित है। ऋषि कहते हैं कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पाँचमें संयम प्रयोग करनेसे भूतजय होता है। स्थूल अर्थात् नाम-रूप जैसे घट आदि। स्वरूप—स्थूल उपादान जैसे मृत्तिका आदि। सूक्ष्म तन्मात्र—जैसे गन्धादि। अन्वय—प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण, ये सभी पदार्थोंमें अन्वित हैं। इसीसे तीन गुणोंको अन्वय कहा जाता है। अर्थवत्त्व—प्रयोजनत्व अर्थात् निर्लेप आत्माका भोगापवर्गसाधनरूप लीलाविलास। भूतादिका यही प्रयोजन है। दृश्य वस्तुमात्रके ये ही पाँच रूप हैं। क्रम-क्रमसे इन पाँचमें बार-बार संयमप्रयोग करनेसे भूतजय होता है। भूतोंका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होना ही भूतजय है। भूतसमूह परमार्थतः नहीं हैं, उनकी सत्ता नहीं है, इसका प्रत्यक्ष होना ही भूतजय नामक विभूति है।

स्थूलसे अर्थवत्त्वपर्यन्त पदार्थोंके जो पाँच तरहके रूप प्रदर्शित हुए, धीरभावसे उनके आदिसे अन्ततक प्रत्येकमें संयमप्रयोग करनेसे पृथिव्यादि भूतोंका यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है। एक रहस्य यह है कि उक्त पाँच प्रकारके रूपमें प्रथमसे ठीक-ठीकरूपसे संयम प्रयुक्त होनेसे पर-परका आविर्भाव अपने-आप ही होता रहता है, उन्हें तलाश करके नहीं लाना पड़ता। मान लीजिये कि एक घट है। उस नामरूपात्मक प्रथम दृश्यमान पदार्थमें संयमप्रयोग करनेसे ही उसका स्वरूप अर्थात् स्थूलोपादान जो पृथ्वी—क्षिति है वह प्रकाशित होगी ही। तब फिर उस अंशमें संयम प्रयोग करनेसे उसके सूक्ष्म स्वरूप गन्ध तन्मात्र स्वरूपमें उपनीत हुआ जाता है, उसमें संयत होनेसे सत्त्व, रज और तमोगुणरूप त्रिविध स्पन्दनमात्र पाया जाता है। यही पदार्थकी सूक्ष्म अवस्था है, इसीका नाम अन्वय है। त्रिगुणमें पहुँचनेसे तब इसका 'अर्थवत्त्व' प्रतीत होने लगता है। तीन गुण जो स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न आवरण-विक्षेपात्मक एक प्रकारका लीलाविलासमात्र है, यह प्रत्यक्ष होने लगता है। इस प्रकार स्थूलसे कारणपर्यन्त पदार्थोंकी अवस्था प्रत्यक्ष होनेसे फिर भूत या पदार्थ कहनेको कुछ नहीं रहता। भूत प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान रहनेपर भी वे परमार्थरूपसे नहीं हैं, यह दृढ विश्वास हो जाता है। तब यह भूतजयनाम्नी विभूति क्या है, समझमें आ सकती है। भूतोंका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होनेसे उनपरसे हेयोपादेय बुद्धि सदाके लिये दूर हो जाती है। यही यथार्थ भूतजय है। साधारण मनुष्य भौतिक वस्तुओंको परमार्थ वस्तु जानकर उनके संग्रह और रक्षणादिमें पूर्णभावसे आत्मनियोग करते हैं। किन्तु भूतजयी योगी ऐसा कभी नहीं कर सकते, अथवा करते नहीं। जबतक यह ज्ञान नहीं होता कि यह स्वप्नमात्र है, तबतक ही स्वप्नके देखे हुए पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं और उनके साथ संयोग-वियोगके कारण चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता रहता है। किन्तु स्वप्न एकदम भङ्ग हो जाय, तब फिर स्वप्नमें देखी वस्तुके नाश या प्राप्तिसे उत्पन्न चित्तविक्षेप नामको भी नहीं रहता, उस योगीको ठीक इसी प्रकार जगत् स्वप्नका स्वरूप जान पड़ता है, वह समस्त जगत्का आधिपत्य पाकर भी प्रसन्न नहीं होता, और सर्वस्व नाश भी हो जाय तो विचलित नहीं होता। भूतजय होनेसे योगीमें ये लक्षण प्रकट होते हैं। ये विभूतियाँ त्रैवर्गिकोंके लिये कल्पितरूपसे सिद्ध होती हैं।

४४ वें सूत्रका आभास

पृथिव्यादि पाँच भूतोंकी पाँच अवस्थाएँ हैं, जिन्हें अवधारण कर सकनेसे महाभूत योगीके अधीन हो जाते हैं अर्थात् योगीके इच्छानुसार भूतोंकी क्रिया होती रहती है। स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पाँच भूतभावोंपर योगीको दृष्टि रखना आवश्यक है। जिस-जिस मूर्ति या आकारसे वह दर्शन देते हैं, वही उनका स्थूल भाव है। अर्थात् आपाततः पाषाण, मूर्तिमें परिणत होनेपर भी, जिस कार्यको करनेके लिये उस अवस्थामें आया है वही उसका स्वरूप है, यह स्वरूप और जिस अभिमानशक्तिके ऊपर निर्भर करके प्रकाशित

है वही सूक्ष्म भाव है। जगत्‌में उद्देश्य या अभिप्रायरहित कोई पदार्थ नहीं है। जीवका अभिप्राय सहजमें प्रकाशित हो जाता है, जडका उद्देश्य छिपा रहता है। यह उद्देश्य या अभिप्राय ही जडकी सूक्ष्म मूर्ति है। यह उद्देश्य भी निरन्तर परिवर्तनशील है। कारण कि सुख-दुःख एवं मोहरूप सत्त्व, रज और तमोगुण ये ही उद्देश्यके अवयव हैं। ये तीन गुण ही जडकी मूर्ति गठन करते हुए अभिप्रायभेदसे कार्यमें नियुक्त करते हैं। इस कारण प्रत्येक दशामें तीनों गुणोंका अन्वयभाव है, फिर इस परिणाम या भावान्तर होनेके उद्देश्यपर कटाक्ष करनेसे चित्त जब समझे कि परिणामसे भूतोंका अपना कुछ प्रयोजन नहीं है, अग्निको जलानेके लिये ही काष्ठकी चेष्टा है, वह व्यापार काष्ठका अपना कोई उद्देश्य नहीं है, यहाँतक कि अग्निकी सहायता करनेमें काष्ठ अपना शरीरतक खो देता है; उसी प्रकार प्रकृतिदेवी विचित्र क्रिया और रूपके उत्पादनमें चैतन्यस्वरूप पुरुषका आत्मसाक्षात्कार व्यापारमात्र घटाती है, और आप अन्तर्हित हो जाती है। अतएव पञ्चभूत और उनकी तन्मात्राएँ, जो-जो सृष्ट वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, उनमेंसे अपने लिये कोई वस्तु नहीं रची है, सब जीवोंके भोगसम्पादनके लिये हैं। जैसे अन्न-व्यञ्जनादि जो वस्तुएँ तैयार होती हैं वे सब मनुष्यके भोजनार्थ हैं। उसी प्रकार जगत् केवल जीवोंके भोगके लिये है, यही भूतग्रामका अर्थवत्त्व है। इन पाँच भावोंमें संयम करनेसे पञ्चभूत योगीके अधीन होते हैं।

अतएव बाह्य भूतोंपर यदि आधिपत्य हो जाय तो आभ्यन्तरिक भूतग्राम भी योगीके वश हो जाता है, तब वह प्रत्येक पदार्थपर उक्त पाँच अवस्थाओंका समन्वय स्थापन करके सबको अपने वश कर सकता है। चित्त निश्चिन्त और निस्तरङ्गभावसे विश्राम करता था। उसका वह शान्त प्रवाह भङ्ग करते हुए अपनी मूर्तिसे जो अकस्मात् आकर्षण किया, वही विषयका स्थूलभाव है। अकस्मात् एक आम्रफल देखकर उसका स्थूल भाव समझा। आकार देखनेसे ही तो सन्तुष्ट नहीं हुआ जाता! यह क्या है? यह कहनेसे प्रश्नका उत्तर मिला—भोज्यकी योग्यता ही आम्रका स्वरूप है। कहाँ था? वृक्षकी चौटीपर हर साल ही आता है। अतएव आम्रवृक्षके भीतर स्थित उत्पादिका शक्तिविशेष ही आम्र है। आम्र परिणत और सुपक्व होकर जीवका भोज्य होनेके सिवा अपने स्वार्थका उसने कुछ भी परिचय नहीं दिया। इसी भावसे योगी जब समस्त दृष्ट पदार्थोंको देखना सीखेगा तब उसका देखना समाप्त होगा और वस्तु भी उसकी दृष्टिके अनुसार ही गठित होगी।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

इस सूत्रमें अणिमादि आठ प्रकारकी विभूतियोंका वर्णन हुआ है। ऋषि कहते हैं कि 'भूतजय' होनेपर अणिमादिका प्रादुर्भाव होता है और कायसम्पत् प्राप्त होती है और उसके धर्मका अनभिघात होता है।

१. *अणिमा*—अत्यन्त सूक्ष्मत्व, अणुशब्दका अर्थ है सूक्ष्मत्व, आकाशीय भाव। सूक्ष्म और क्षुद्र एक बात नहीं है। साधारणतः परमाणुको क्षुद्रतम अंश समझा जाता है, किन्तु दर्शनशास्त्रमें अणुशब्द अधिकांश स्थलमें सूक्ष्म अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। इस सूक्ष्मत्वकी जो पराकाष्ठा है उसका नाम है अणिमा, जिससे परे कोई सूक्ष्म वस्तु हो ही नहीं सकती। स्थूल देहकी अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। इन्द्रियोंसे मन सूक्ष्म है, मनसे बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धिसे भी आत्मा सूक्ष्म है। आत्मा ही सूक्ष्मकी पराकाष्ठा है। अतएव अणिमा कहनेसे केवल परमात्मा ही लक्षित होता है। 'मैं' ही अणिमा हूँ, परम सूक्ष्म मुझमें ही विद्यमान है, अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप मैं ही परम सूक्ष्म वस्तु हूँ, इस तरह जो प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसीका नाम अणिमा-विभूतिका प्रादुर्भाव है। केवल शास्त्र पढ़ लेने या उपदेश सुनकर समझ लेनेमात्रसे यह विभूति-रहस्य, साधन बिना, हृदयङ्गम करना असम्भव है। आत्ममहत्त्वदर्शनका नाम विभूति है। अणिमादिरूपसे आत्मसत्ताका अनुभव साधकका परम सौभाग्य सूचित करता है। यह मुक्तिकी अति सन्निहित अवस्था है। प्रियतम साधक, तुम कब यहाँ आकर जीवन धन्य करोगे?

२. *लघिमा*—लघुशब्दका अर्थ है हलका। पक्षीके रोएँ या रुई आदि वस्तुको इसके दृष्टान्तस्वरूपमें दिखाया जा सकता है। यह लघुत्व एक प्रकारका बोधमात्र है। यह जब पराकाष्ठाको प्राप्त होता है अर्थात् जिससे अधिक और कोई लघुविषय हो नहीं सकता, उसका नाम है लघिमा। यह लघिमा सत्तामात्रस्वरूप

आत्मामें ही विद्यमान है। मैं ही लघिमा हूँ, परम लघुत्व मुझमें ही नित्य विराजित है, ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव है उसीका नाम लघिमाविभूति है।

३. *महिमा*—महत्त्वकी जो पराकाष्ठा है, जिससे और महत् कुछ हो नहीं सकता, उसे महिमा कहते हैं। देश और काल महत् वस्तु है, वह भी बुद्धि या महत्तत्त्वके दृश्य—ग्राह्यरूपसे अवस्थित है। अतएव महत्तत्त्व देशकालकी अपेक्षा भी महत्तर है। फिर यह महत्तत्त्व स्वप्रकाशस्वरूप आत्माके प्रकाशसे ही प्रकाशित है, आत्माकी सत्तासे ही सत्तावान् है, अतएव बुद्धि या महत्तत्त्वसे भी आत्मा महत्तम है। महिमा परमात्माका ही अन्य नाम है। देश-कालका जो महत्त्व अर्थात् व्यापकता है वह विजातीय भेदरूपसे गृहीत होती है। बुद्धिका महत्त्व या महत्तत्त्वकी व्यापकता स्वगतभेदरूपसे गृहीत होती है, और अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका महत्त्व सर्वभेदातीतरूपसे नित्य विद्यमान है। आत्माकी सत्ता बिना महत्तत्त्व भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकता; इस कारण परममहत्त्व एकमात्र आत्मामें ही नित्य विद्यमान है। यह परम महत्त्व ही महिमा है, मैं ही वह महिमा हूँ, परम महत्त्व मुझमें ही नित्य विराजता है, इस प्रकार जो प्रत्यक्ष आत्मानुभव है उसीको 'महिमा' विभूतिका आविर्भाव कहा जाता है।

४. *प्राप्ति*—सर्वथा सब पदार्थोंकी प्राप्ति ही प्राप्ति नामकी विभूति है। मैं सत्तास्वरूप वस्तु हूँ, अतएव जहाँ जो कुछ 'है' रूपसे प्रतीत होता है वह सभी आत्माद्वारा सर्वथा प्राप्त है, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवका नाम प्राप्ति है। मैं जबतक सत्तास्फूर्ति प्रदान न करूँ, तबतक कोई वस्तु ही सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती, इस सत्य ज्ञानसे वञ्चित रहनेके कारण ही साधारण मनुष्य सदा अनेक प्रकारके अभाव-अभियोगोंको प्रत्यक्ष करते रहते हैं। किन्तु भूतजयी योगी सर्वात्मदर्शनके फलसे इस प्राप्ति नामक विभूतिको पाकर धन्य होते और सब अभाव-अभियोगोंसे ऊपर चले जाते हैं।

५. *प्राकाम्य*—प्राकाम्य शब्दका अर्थ है—इच्छाका अनभिघात। भूतजयी योगी देखता है कि इच्छा एकमात्र परमेश्वरकी है जो सृष्टि, स्थिति और प्रलयका अधीश्वर है, जो आत्मा है, जो मैं रूपसे प्रकाशित है, वही इच्छा-रूपिणी महती शक्ति है। यथा—

या देवी सर्वभूतेषु इच्छारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस महती इच्छाका सम्यक् अनुवर्तन अर्थात् ईश्वरप्रणिधान करनेके फलसे जीवभावीय इच्छा कहनेको फिर कुछ भी नहीं रहता। इस अवस्थामें पहुँचनेपर योगी देख पाता है कि उसे प्राकाम्यसिद्धि प्राप्त हुई है। इस अवस्थामें योगीके चित्तमें जो इच्छा उदय होती है वह उस महती इच्छासे भिन्न न होनेके कारण कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। छोटी-छोटी इच्छाएँ भी महती इच्छामें मिला दे सकनेसे साधक इस प्राकाम्य या इच्छाकी अनभिघातरूपा विभूति प्राप्त कर सकते हैं।

६. *वशित्व*—भूत-भौतिक वश्यता ही इसका स्वरूप है। भूत और भौतिकरूपसे जो कुछ प्रकाश हो रहा है वह सब आत्माकी—मेरी सत्तासे सत्तावान् और मेरे प्रकाशसे प्रकाशित है। मैं आश्रय या आधार हूँ और वह सब आश्रित या आधेय है, ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त होना ही वशित्व नामक विभूति है।

७. *ईशित्व*—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ग्राह्य वस्तुमात्रकी ये तीन तरहकी अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं। इन अवस्थाओंको ठीक-ठीकरूपसे सुनिश्चित करनेकी जो सामर्थ्य है उसे ईशित्व कहते हैं। पूर्वोक्त वशित्वविभूतिसे ही इसका भी प्रकाश होता है। मैं ही तो सब स्थूल, सूक्ष्मादिका नियन्ता हूँ। 'मेरे भयसे सूर्य उदय होते हैं, मेरे शासनसे वायु प्रवाहित होती है, मेरे भयसे अग्नि ताप देती है, मैं इस विश्वब्रह्माण्डकी स्थूल, सूक्ष्मादि सब वस्तुओंको भलीभाँति नियमित रखता हूँ,' ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवका नाम ईशित्वप्राप्ति है।

८. *यत्रकामावसायित्व*—कामनाओंका बिलकुल अन्त हो जानेका नाम 'यत्रकामावसायित्व' है। इसको पूर्णकामत्व भी कहा जाता है। **'पूर्णकामोऽस्मि संवृतः'** मैं पूर्णकाम हुआ हूँ, अब मेरे देखने और पानेको कुछ बाकी नहीं है। मैंने अपने स्वरूपका पता पाया है। इसके बाद और ज्ञातव्य या प्राप्तव्य कुछ नहीं रह सकता। इस अनुभूतिके उदय होनेसे समझा जा सकता है कि योगी 'यत्रकामावसायित्व' विभूति पाकर धन्य हुआ है। केवल आत्मज्ञानसे ही सब कामनाओंका अन्त हो जाता है। भूतजयी योगी अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका पता पानेसे इन आठों सिद्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं।

इन अणिमादि आठ सिद्धियोंके सम्बन्धमें लोगोंके जैसे सुदृढ़ संस्कार हो रहे हैं या मौजूद हैं, उन लोगोंको यह व्याख्या पसन्द नहीं आ सकती; परन्तु भरोसा है कि जो योगीश्वरी 'माँ' हैं वह आप ही प्रत्येकके अन्तर्यामिदेवतारूपसे—गुरुरूपसे उनके चक्षु खोल देंगी, तब वे इस सत्यका पवित्र स्निग्ध प्रकाश पाकर सब संशय और संस्कारोंसे पार चले जायँगे। माँ—आत्मा-ब्रह्म-गुरु! सन्तानकी यह आशा कभी निष्फल हो नहीं सकती। तुम स्वयं ही तो इस हृदयाकाशमें आशारूपसे उदय होकर भविष्यत्के उज्ज्वल प्रकाशका उज्ज्वल चित्र सत्यरूपसे दिखा देती हो। धन्य माँ!!!

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्॥ ४६॥

इस सूत्रमें पूर्वोक्त कायसम्पत्का फल वर्णन करते हैं कि भूतजयी योगीका सुन्दर रूप, मनोहर कान्ति, और अत्यन्त बलवान् वज्रके समान सुदृढ शरीर हो जाता है। (व्यासभाष्य)

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पाँच भूतस्वभावोंमें संयमका उपदेश पहले कहा गया है। उनमेंसे स्थूलभावमें संयम करनेसे अणिमा, लघिमा, महिमा और प्राप्ति ये चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वरूपमें संयम करनेसे 'प्राकाम्य', सूक्ष्ममें संयम करनेसे 'वशित्व', अन्वयमें संयम करनेसे 'ईशित्व' और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे 'कामावसायित्व' होता है। इन सिद्धियोंके प्रयोगसे योगी भूत-भौतिक पदार्थोंके ऊपर अपने प्रयोजनानुसार कार्य अवश्य कर सकते हैं किन्तु भगवान्‌के अभिप्रायसे अन्यथा आचरण करनेपर भूतमर्ममें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। योगीका प्रयोजन सिद्ध होनेपर भी मूलप्रवाह ईश्वरेच्छासे ही चलता रहता है।

बाह्य भूत वशीभूत होनेसे योगीका रूप, शरीरमें माधुर्य और बल साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अलौकिक जान पड़ता है। वह देहको वज्रकी भाँति कठिन कर सकता है अर्थात् भूतजगत् उसपर अपना प्रभाव कुछ नहीं डाल सकता। जैसा कि दधीचि मुनिकी अस्थिसे वज्र बना था।

४६ वें सूत्रका रहस्य

ऋषि कहते हैं कि रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननत्व ये ही कायसम्पत् हैं। जो सर्वत्र प्रकाशित है तो भी भाषा या विचारद्वारा जिसका स्वरूप निरूपण नहीं किया जाता, उस मूकास्वादनवत् अनिर्वचनीय वस्तुका नाम रूप है। साधारणतः हम जिसको रूप समझते हैं वह रूप नहीं है—आकृति है। आकृति और रूप एक वस्तु नहीं है। रूपका कोई रूप नहीं तो भी सब उसे अनुभव कर सकते हैं, चैतन्य वस्तुका ही दूसरा नाम है रूप। चैतन्य जब जड पदार्थोंके साथ अन्वित होकर प्रकाश पाता है तभी उसका नाम रूप होता है।

२. *लावण्य*—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

प्राचीन विद्वानोंने लावण्यविषयमें इस श्लोकका उल्लेख किया है। साधारण बोलचालमें श्री, सौन्दर्य, चारुता आदि-आदि शब्दोंसे हम जो समझते हैं, लावण्य उससे बहुत बढ़कर वस्तु है। अति कुत्सित वस्तुमें भी कुछ श्री है, यह श्री जहाँ बहुत अधिक प्रकाशित है वहीं लावण्यका प्रकाश है। शिशुके मुखपर, चन्द्रमामें, कमलमें लावण्य पाया जाता है। यह रूप और लावण्य जगत्‌में सर्वत्र पूर्णभावसे अवस्थित है। बुद्धिकी मलिनताके कारण वह अनुभूत नहीं होता। भूतजयी योगीकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, इस कारण वह विश्वमय रूप और लावण्यका अनुभव कर सकता है। अजी, आत्मदर्शनकारीके लिये सर्वत्र ही रूप-लावण्यकी मधुरिमा है। आत्मा ही रूप है, आत्मा ही लावण्य है, गुरु-कृपासे ज्ञानचक्षु उन्मीलित होनेपर वह प्रत्यक्ष होता रहता है। साधक! प्रेमिक! तुम ज्ञानसे या अज्ञानसे जिसको सबसे अधिक प्रिय समझते हो, जिसका वियोग तुम क्षणभर भी नहीं सह सकते, उसीका नाम रूप और लावण्य है। जिसके उदयसे मदन मूर्छा पा जाता है, काम-वासना सदाके लिये बुझ जाती है, वही रूप और वही लावण्य है।

केवल यही नहीं, बल और वज्रसंहनन भी उसीमें विद्यमान है अथवा वही बल और वही वज्रसंहनन है। देखो साधक! इस जगत्‌में जो जिसके आश्रित है, वह उसीको बलवान् जानता है। केवल शारीरिक बल नहीं, धनबल, विद्याबल, तपोबल, योगबल आदि जितने प्रकारके बल हैं वे सब परमबल परमात्माके आश्रित

हैं। परमात्मसत्तामें और परमात्माके ही प्रकाशसे दृश्य प्रपञ्च सत्तावान् और प्रकाशमय है। अतएव बल कहनेसे केवल आत्माको ही समझिये। उपनिषद् कहता है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

'बलहीन व्यक्ति आत्मप्राप्ति नहीं कर सकता।' इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि आत्माके सिवा अन्य कोई आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता। वह स्वसंवेद्य वस्तु है, वेत्ता और वेद्य दोनों वही है। लब्ध और लभ्य दोनों वही है; अतएव जबतक बिन्दुमात्र भी अनात्मविश्वास है तबतक साधक बलहीन है। बलहीन किस तरह बलस्वरूप वस्तुको प्राप्त करेगा? निरपेक्ष और अबाधितभावसे अपने सत्ता-प्रकाशकी जो सामर्थ्य है वही बल है। अपना अस्तित्व प्रकाश करनेके लिये किसी दूसरेका मुँह नहीं ताकना पड़ता अथवा दूसरा कोई अपनी सत्ताके प्रकाशमें बाधा भी नहीं डाल सकता। यह जिस सामर्थ्यके प्रभावसे सम्भव है वही बल है। भूतजयी योगी आत्माके इस बलस्वरूपत्वको प्रत्यक्ष कर सकता है। यही विभूति है।

वज्रसंहननत्व—संहनन शब्दका अर्थ है शरीर और स्वरूप। वज्र शब्द भीतिसूचक है। रूप-लावण्यादिकी भाँति भीषणता भी आत्माकी कायसम्पत् है। '**महद्भयं वज्रमुद्यतम्**', '**भयादस्य तपति सूर्यः**' इत्यादि वाक्योंसे श्रुतिने आत्माको भीतिदायक वज्रस्वरूपसे वर्णन किया है। किसीके सिरपर यदि वज्र गिरनेको तैयार हो तो वह जिस तरह सदा सङ्कुचित और भयभीत रहता है, उसे वज्र गिरनेकी आशंका रहती है और सर्वतोभावसे आज्ञानुवर्ती रहता है, ठीक उसी तरह इस विश्वके ऊपर, इस अहंके ऊपर, इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डके ऊपर महद्भय उद्यत वज्रस्वरूप आत्मा विराजमान है, इसीसे सब नियमपूर्वक अपना-अपना कार्य करते हैं और कर्मचक्र चलता रहता है। एक तिलमात्र भी अन्यथा करनेका उपाय नहीं है। ज्यों ही कोई इससे पृथक् जरा भी स्वाधीनरूपसे अपनेको देखनेका विचार करे, त्योंही उसका विशिष्ट सत्तातक लोप हो जाती है। ऐसा अव्यर्थ शासन है। इसी कारण सत्यदर्शी ऋषियोंने उदात्तस्वरसे कहा है कि 'उसीके भयसे सूर्यदेव प्रतिदिन नियमितभावसे उदित होते रहते हैं, उसीके भयसे पवनदेव सदा सञ्चरण करते हैं, उसीके भयसे अग्निदेव गर्मी देते हैं, उसीके भयसे मृत्युदेव सदा जीव-संहरण-कार्यमें निरत रहते हैं।' भूतजयी योगीको यह सब प्रत्यक्ष गोचर होता है।

ये जो रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननत्व चार कायसम्पद् हैं सो स्वरूपके ऐश्वर्य हैं। 'चैतन्यस्वरूप मैं ही रूपमय, लावण्यमय, बलवान् और वज्रसंहनन हूँ।' इस तरह प्रत्यक्ष अनुभूति पानेका नाम ही कायसम्पद् विभूतिका आविर्भाव है। अजी! मैं कितना महान् हूँ। यह विश्वराशि मेरी है, यह विश्वमय लावण्य मेरे ही अङ्गकी तरल छाया है, मेरा प्रकाश किसीकी अपेक्षा नहीं करता, न उसमें कोई बाधा डाल सकता है; मेरा स्वरूप वज्रके समान भयदायक और अनभिभवनीय है। ऐसी अनुभूति यदि आती रहे तो साधक समझ ले कि उसकी कायसम्पद् नामक विभूतिका वह प्रकाश है।

'तद्धर्मानभिघात' पद पूर्व सूत्रमें उल्लिखित होनेपर भी यहाँ उसकी कुछ व्याख्या की जाती है। तद्धर्मका अर्थ रूप-लावण्य आदि कायसम्पद् लक्ष्य किया गया है। तद्धर्म अर्थात् रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननरूप धर्मका अनभिघात होता है जिसका विनाश नहीं कर सकता। आत्मा नित्य वस्तु है, इसलिये कायसम्पत् भी नित्य ही विद्यमान रहेगी, किसी अवस्थामें उसका अभिघात नहीं हो सकता। आशंका हो सकती है कि आत्मा तो धर्मधर्मिभेदरहित अद्वितीय वस्तु है, तब उसमें धर्म किस तरह सम्भव है? हाँ, सत्य है, आत्मामें न कोई धर्म है न रह सकता है तो भी आत्मस्वरूप-जिज्ञासुजनोंको समझानेके लिये ऐसे भेदबोधक वाक्योंका प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः रूप, लावण्य, बल आदि आत्माका स्वरूप ही है। ये विभूतियाँ अपूर्व हैं। इनके आनेसे साधकको इतना आनन्द होता है कि पृथिवीमें नहीं समाता। साधकके प्रभावको यह विश्व धारण नहीं कर सकता। प्रियतम साधक! आओ, गुरु—ईश्वर-प्रणिधानके मार्गपर आगे बढ़ो, जिससे तुम भी इस विभूतिको पाकर धन्य हो सको।

(२)

इन्द्रियजय तथा मधुप्रतीकसिद्धि

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४७॥

इस सूत्रमें इन्द्रियजयरूप विभूतिका वर्णन हुआ

है। ऋषि कहते हैं कि ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व यह पाँच प्रकार संयम प्रयोग करनेसे इन्द्रियजयत्वरूप विभूति आविर्भूत होती है। १. ग्रहण (**ग्रहणं विषयसंस्पर्शः**) चक्षुः आदि इन्द्रियोंके साथ रूप, रस आदि विषयोंका संस्पर्श। २. स्वरूप (**स्वरूपं विषयप्रकाशकत्वं**) इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका प्रकाश, सांख्यकी भाषामें इसे आलोचन-ज्ञान कहते हैं। ३. अस्मिता (**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता** योग० २।६)। दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति इन दोनोंकी एकात्मता ही अस्मिता है। दृक्शक्ति-पुरुष, आत्मा; और दर्शनशक्ति बुद्धि, इन दोनोंकी जब एकात्मता या तादात्म्य होता है, दोनों एक ही जान पड़ते हैं, तब उसे अस्मिता कहते हैं। सूत्रमें जो '**इव**' शब्द है वह इसलिये है कि यह वास्तविक तादात्म्य नहीं है, तादात्म्य-सा जान पड़ता है। आत्मा सदा निर्लेप वस्तु है, उसका कभी बुद्धिके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता; तो भी बुद्धिसत्त्व जब अत्यन्त निर्मल होता है तब उसमें प्रतिबिम्बित आत्मस्वरूप अति उज्ज्वलभावसे प्रकाशित होता है, इसी कारण बुद्धिसत्त्व आत्मारूपसे प्रतीयमान होता रहता है। जैसे स्वच्छ काँचकी लालटैन उसके भीतरकी जलती हुई बत्तीसे बिलकुल पृथक् है, परन्तु दूरसे सारा काँच ही प्रकाशित जान पड़ता है। जलती हुई बत्ती जब पाससे देखते हैं तब अलग जान पड़ती है। इसी प्रकार जबतक बुद्धिका आवरण पूर्णरूपसे भेद न हो तबतक बुद्धिमें ही '**आत्मबोध**' होता रहता है, जिस बुद्धिमें यह आत्मबोध हुआ है उसीका नाम अस्मिता है। ४. अन्वय (**अन्वयो गुणत्रयः**) शब्दका अर्थ है तीन गुण। ५. अर्थवत्त्व (**अर्थवत्त्वं लीलाशक्तिरनिर्वचनीया**) शब्दका अर्थ है अनिर्वचनीया लीलाशक्ति। इन पाँच प्रकारके संयमप्रयोगसे इन्द्रियजय सिद्ध होता है। इन्द्रियोंका सबसे प्रथम जो रूप हमारे अनुभवमें आता है, ऋषिने उसका नाम रखा है ग्रहण, विषयको ग्रहण करना ही इन्द्रियका प्रथम रूप है। अभीष्ट विषय समीप होनेसे यदि उसमें किसी प्रकारकी बाधा न पड़े तो इन्द्रियाँ विषयके साथ सम्बन्धयुक्त हो जाती हैं। इस ग्रहणभावको अवलम्बन करके धारणा, ध्यान और समाधिरूप संयम प्रयोग करनेसे इन्द्रियोंके पर-पररूप अपने-आप उपस्थित होते रहते हैं। इन्द्रियोंका दूसरा रूप विषयप्रकाशकत्व है। यद्यपि निर्मल बोधसत्त्वके बिना विषयका सर्वांश प्रकाशित नहीं होता तो भी इन्द्रियावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे ही प्रमातृचैतन्यका आभास आ पहुँचता है और उसके द्वारा विषयका कुछ अंश प्रकाशित होने लगता है। इस प्रकार इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका जो आंशिकभावसे प्रकाशित होना है, सूत्रमें इसीको इन्द्रियोंका स्वरूप कहा गया है। संयमकी सहायतासे योगी क्रमसे ग्रहण करते-करते इस स्वरूपमें पहुँच जाता है।

इसके बाद है अस्मिता। इन्द्रियाँ अस्मिताके व्यूहमात्र हैं। 'मुझमें रूप ग्रहण करनेकी शक्ति है' 'मुझमें शब्दग्रहणकी शक्ति है' ऐसा जो बोधप्रवाह है उसीको चक्षु आदि इन्द्रियाँ कहते हैं, अतएव इन्द्रियमें संयमप्रयोग करनेसे उसका ग्रहणभाव और स्वरूप क्रमसे अस्मिताक्षेत्रमें पहुँचा जा सकता है। इसके बाद अन्वय अर्थात् प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण हैं। अस्मितामें संयत होनेसे उसके कारणस्वरूप तीन गुणोंमें आ पहुँचते हैं। अन्तमें इस अन्वय या तीन गुणोंका भी जो कारण है उसकी ओर लक्ष्य फिराते हैं, तब अर्थवत्त्व पाया जाता है। अर्थात् अविद्या-शक्तिद्वारा कल्पित पुरुषके भोगापवर्गरूप प्रयोजनसाधनके लिये ही जो तीन गुण प्रकाशित हैं वे अनुभवमें आते रहते हैं। इस तरह अनुभवके फलसे बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। तब जो यथार्थ सत्ता है, जिसको कोई रूप अन्यथा नहीं होता, वह चैतन्यस्वरूप वस्तु प्रकाशित होने लगती है। पक्षान्तरमें जिन इन्द्रियोंके आधारसे हम विशेषभावसे आत्मसत्ता अनुभव करते हैं उनकी फिर कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। उन्हें पूर्णरूपसे परित्याग कर भी 'हम' अच्छी तरह रह सकते हैं। यह अनुभूति प्राप्त होनेके फलसे इन्द्रियोंकी पारमार्थिक सत्ताविषयक प्रतीति सदाके लिये विलय हो जाती है। इसीका नाम इन्द्रियजय नामक अपूर्व विभूति है। जिन इन्द्रियोंका उच्छेद करते हुए अनेक जन्म बीत गये, जिन इन्द्रियोंकी भोगलालसा निवृत्त करनेकी चेष्टामें अनेक बार जन्म-मरणकी यातनाएँ भोगी गयीं, वे इन्द्रियाँ वास्तविक नहीं हैं, तो क्या अबतक हम मोह या भ्रममें पड़े हुए थे? छायाको भूत मानकर भूतके भयसे व्याकुल थे? अहो! आज कैसा आनन्द है! इन्द्रियाँ कहनेको कुछ भी नहीं हैं। किसी कालमें नहीं

थीं। अजी! ऐसी उन इन्द्रियोंके दासत्वबन्धनसे आज हम सर्वथा मुक्त हैं। इस ज्ञानका उदय होना ही इन्द्रियजय-विभूति है।

प्रियतम साधक! याद रखिये, किसीको भी जीतनेके लिये उससे अधिक बलकी आवश्यकता होती है। जबतक आप इन्द्रियरूप छड़ीका सहारा लेकर आत्मसत्ताका अनुभव करेंगे तबतक आपको इन्द्रियोंके अधीन होकर ही रहना होगा। फिर जब गुरुकृपासे संयम-बल पाकर इन्द्रिय-विरहित आत्मसत्ताको अखण्डभावसे प्रत्यक्ष कर सकेंगे उसी दिन आपका इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा। किस रीतिसे इन्द्रियजय किया जाता है, यह ऋषिने ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वरूप क्रमसे बता दिया। भूतजयकी अपेक्षा इन्द्रियजय कठिन है। भूतजय होनेसे स्थूल देहात्म-बुद्धिका विलय होता है और इन्द्रियजय होनेसे सूक्ष्म देहमें जो आत्मबुद्धि है, वह भी विलीन हो जाती है। स्थूल बात यह है कि भूतजयसे मतलब है ग्राह्यका विलय और इन्द्रियजय कहनेसे ग्रहणका विलय। साधनक्रमसे उन्नत स्तरपर आरोहण करते हैं। भूतजय किये बिना कोई इन्द्रियजय नहीं कर सकता। जो लोग यह कहते हैं कि एकदम आत्मस्वरूप प्रकाशित होनेसे ही तो भूतजय और इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि इस योगशास्त्रके बताये हुए मार्गपर चलनेसे ही आत्मस्वरूपका पता मिलता है। प्रत्येक सम्प्रदायके साधक ज्ञात या अज्ञात सारसे इसी मार्गपर चलते हैं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥ ४८॥

इस सूत्रमें इन्द्रियजयका फल कहा है कि इन्द्रियजय होनेसे—

(१) मनोजवित्व (मनसोऽबाधितविचरणसामर्थ्य-मितिभावः। धर्माधर्मादिद्वन्द्वातीतसत्तालाभादेवं भवति) (२) विकरण (कारणरहित आत्मसत्तानुभवः) (३) प्रधान-जयश्च (प्रधानस्य लीलाशक्तेरितिभावः) (जयः त्रैकालिक-सत्ताहीनतानुभव इत्यर्थः) सत्ता हि नाम सा, या खलु चैतन्यमात्रे व्यवस्थिता, न जडेऽनात्मनि।

मनकी बेरोक-टोक चालकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं। जबतक आत्मस्वरूपका पता न पाया जाय तबतक मन स्वेच्छापूर्वक नहीं विचर सकता। पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उपस्थित होकर मनके स्वाधीन उल्लासको विनष्ट कर देते हैं। साधक जितने ही मुक्तिसे अधिक सन्निहित होते रहते हैं अर्थात् इन्द्रियरूपबन्धनरहित होकर आत्मसत्तानुभवकी सामर्थ्य प्राप्त करते जाते हैं, उतना ही स्वाधीनताका आस्वाद पाते रहते हैं। पहले विधि-निषेधका विचार करते हुए कार्य करना होता था और अब खुले मैदानमें आकर उतनी भावना और विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती, मन स्वाधीन विचरता रहता है। साधक यह शङ्का न करें कि इन्द्रिययोगी तो उच्छृङ्खल होकर धर्माधर्मविचार किये बिना स्वच्छन्द कार्य करते होंगे। ऐसा कभी नहीं होता। इस क्षेत्रमें पहुँच जानेपर फिर उनसे निन्दित कर्म तो हो ही नहीं सकते, चित्त सम्यक् निर्मल हुए बिना इन क्षेत्रोंमें पहुँचा ही नहीं जा सकता। अस्तु। अतीन्द्रिय वस्तुसे जितना ही समीप होते जाते हैं उतनी ही अधिक स्वाधीनता आती जाती है। मनकी इस स्वाधीन विचरनेकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं।

विकरणभाव शब्दका अर्थ है करणरहित अवस्था। करण १४ हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और ४ अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार)। इन करणोंसे रहित होकर भी आत्मसत्ता अनुभव करनेकी सामर्थ्यको विकरण भाव कहते हैं। साधारण मनुष्यमें जब यह विकरण अवस्था उपस्थित होती है, तब वह सुषुप्त हो जाता है, फिर वह आत्मसत्ता अनुभव नहीं कर सकता, किन्तु इन्द्रियजयी योगी विकरण होकर भी भावमय-सत्तामय रूपमें अवस्थान कर सकता है। इस सामर्थ्यके प्राप्त होनेसे समझा जाता है कि विकरण विभूतिका आविर्भाव हुआ है।

इसके बाद है प्रधानजय। प्रधान शब्दका अर्थ है प्रकृति। प्रकृति क्या है यह योगसूत्रके द्वितीय पादमें विस्तारपूर्वक लिखा है। प्रकृति नामसे कुछ है, ऐसा प्रतीतिका लय होना ही प्रकृतिजय है। सत्ता केवल आत्मा (चैतन्यस्वरूप)-में ही विद्यमान है, यह प्रत्यक्ष होनेपर फिर अनित्य वस्तुकी सत्ताका ज्ञान रह ही नहीं सकता। अतएव प्रकृति (तीन गुणोंकी साम्यावस्था) वास्तवमें न है और न रह सकती है।

साधनकी पहली अवस्थासे यही मान लिया जाता है कि पुरुष ही प्रकृतिरूपसे अपना प्रकाश करता है, यही ज्ञान लेकर आगे बढ़ते हैं, फिर जब गुरुकृपासे,

अनेक जन्मसञ्चित पुण्यबलसे पुरुषका साक्षात्कार प्राप्त होता है तब समझमें आता है कि पुरुष पुरुष ही है, वह कभी प्रकृति नहीं हुआ और न उसे किसी प्रकृतिकी आवश्यकता ही है। इस प्रकार पारमार्थिकी प्रज्ञाका उदय होनेसे प्रकृतिजय नामक चरम विभूतिका साक्षात्कार प्राप्त होता है। मनुष्यजीवनमें इससे श्रेष्ठ अभ्युदय और कुछ भी नहीं है।

साधक! आपने हर-गौरी-मूर्ति देखी है? वराभयहस्ता स्वर्णवर्णा गौरी हरकी गोदमें बैठी हैं। उस अपूर्व मूर्तिका स्मरण करनेसे इस प्रधानजयका चित्र चित्तपटपर फूट उठता है। जीव जबतक शिशु रहता है, विशुद्ध बोधस्वरूप पुरुषको अनुभव नहीं कर सकता, तबतक वह प्रकृति ही उस (जीवरूपी शिव)-को ज्ञानस्तन्य पान कराकर अनेक जन्मोंतक परिपुष्ट करती रहती है। जब शिशुत्व दूर हो जाता है, जब जीव (शिव) अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है, तब वह प्रकृति ही उसके वशीभूत हो जाती है अर्थात् क्रोडोपरि विराजमान होकर अपूर्व आनन्दरसका आस्वाद प्रदान करती है। इसीसे हम— **'शिवमाता शिवानी च ब्रह्माणी ब्रह्मजननी वैष्णवी विष्णुप्रसूती।'** कहकर उनके चरणोंमें प्राणकी पुष्पाञ्जलि देकर धन्य होते हैं।

॥ इति शिवम् ॥

योगकी विभिन्न सिद्धियाँ

(लेखक—वेदान्तभूषण पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित)

आजके जडमुखापेक्षी, साधनासिद्धिहीन, विलास-विभ्रमरत, मोहावृत्त भारतको योगकी सिद्धियोंकी बातें **'खं पुष्प'** के समान लगें तो इसमें क्या आश्चर्य है! यद्यपि हमारे परमात्मदर्शी पूज्य महर्षियोंने इन सिद्धियोंको तुच्छ समझकर त्याग दिया था और उन्हें अपने आत्मोद्धारके पथमें विघ्नस्वरूप माना था, फिर भी आज जबतक हम उन्हें प्राप्त न कर लें और निरे ज़बानी जमाखर्चके माफिक यह कह बैठें कि 'सिद्धियाँ विघ्नस्वरूप हैं' तो इससे हमारेमें वह शक्ति, प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता नहीं आ सकती जो हमारे पूर्वजोंमें थी। किसी साधारण वस्तुको त्याग देना या उसे तुच्छ बतला देना सहज है; परन्तु एक अलौकिक शक्ति या सिद्धिको त्याग देना या उसे तुच्छ समझना बहुत बड़ी बात है। आज हम श्रद्धासाधनविहीन मनुष्य जरा-सी भौतिक सिद्धिके लिये तो लालायित हैं परन्तु योगिगणप्राप्त सिद्धियोंको मोहवश अलीक कल्पना मानते हैं, या परमार्थमें बाधक बताकर साधनसे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। जिन पुरुषोंको पेटभर भोजन मिलना कठिन है, अपने देशमें स्वतन्त्र रहना भी दुष्कर है, उनके सामने योगकी सिद्धियोंकी चर्चा करना हास्यास्पद हो सकता है; किन्तु यदि गम्भीर विचारपूर्वक देखा जाय तो अपनी वंशपरम्परागत शक्तिका स्मरण कराना अनुचित नहीं है।

योगकी विभिन्न सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये योग क्या है, उसका किस प्रकार अभ्यास किया जाता है, अभ्याससे पूर्ण योगसे कौन-कौन-सी सिद्धियाँ मनुष्यको मिल सकती हैं? इत्यादि प्रश्नोंको हल करना ही इस लेखका उद्देश्य है। उद्देश्यपूर्तिके लिये सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना होगा कि 'योग क्या है?' आजकल 'योग' शब्दका रूढार्थ 'प्राणायाम आदि साधनोंसे चित्तवृत्तियों या इन्द्रियोंका निरोध करना अथवा पातञ्जलसूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग' है। कठोपनिषद्की छठी वल्लीके ग्यारहवें मन्त्रमें भी इसी अर्थका प्रयोग हुआ है। जैसे—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

परन्तु ध्यानमें रखना चाहिये कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीतामें यही अर्थ विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द **'युज्'** धातुसे बना है जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति' इत्यादि होता है; और ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके 'उपाय, साधन, युक्ति या कर्म' को भी 'योग' कहते हैं। ये ही सब अर्थ अमरकोषमें इस तरहसे दिये हुए हैं—

योगः संहननोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु।

फलित ज्योतिषमें कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट

हों तो उन ग्रहोंका 'योग' इष्ट या अनिष्ट—अच्छा या बुरा कहलाता है। गीताके 'योगक्षेमम्' पदमें 'योग' शब्दका अर्थ—'अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें 'योग' और 'योगी' अथवा योग शब्दसे बने हुए सामासिक शब्द लगभग 'अस्सी बार' आये हैं। उनमें चार-पाँच स्थानोंके सिवा योग शब्दसे 'पातञ्जलयोग' अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, भगवत्प्राप्ति, जोड़ और मेल' यही अर्थ कुछ हेर-फेरसे सम्पूर्ण भगवद्गीतामें पाये जाते हैं। अनेक प्रकारकी व्यक्त सृष्टि निर्माण करनेकी कुशलता और अद्भुत सामर्थ्यको भी 'योग' कहा गया है और इसी अर्थमें भगवान् श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' कहा है। यही अर्थ योगवासिष्ठमें लीला और चूडालाके आख्यानमें लिया गया है। क्रियात्मक 'योग' शब्दका मुख्य या विशेष अर्थ 'विशेष प्रकारकी कुशलता, साधन, युक्ति या उपाय ही' है। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि **'योगः कर्मसु कौशलम्'** अर्थात् कर्म करनेकी किसी विशेष प्रकारकी कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैलीको योग कहते हैं। **'कर्मसु कौशलम्'** का यही अर्थ भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने भी किया है कि कर्ममें स्वभावसिद्ध रहनेवाले बन्धनको तोड़नेवाली 'युक्ति' है। यदि सामान्यरूपसे देखा जाय तो एक ही कर्मके करनेके लिये अनेक 'योग' हैं। 'सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समबुद्धि रखनेको 'योग' कहते हैं।' इन सबका तात्पर्य यह है कि 'पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी जो समत्वबुद्धिरूप विशेष युक्ति है वही कौशल है; और इसी कुशलता या युक्तिसे कर्म करनेको 'योग' कहा है।' उपर्युक्त प्रकारसे 'योग क्या है?' इस प्रश्नका समुचित उत्तर जब हमारी समझमें आ जाता है तब 'योगाभ्यास' करनेमें हमें अवश्य सफलता मिल सकती है।

भारतवर्षमें यों तो बहुत-से योगी हैं। लाखों प्रकारकी युक्तियों और विशेष प्रणालियोंसे लोग कर्म करते हैं, परन्तु भारतका दिनोंदिन अधःपतन ही होता जा रहा है। कोई भी व्यक्ति योगेश्वरकी शक्तिको आंशिक भी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार भारतीय शास्त्रोंमें योगकी सिद्धियोंका वर्णन है, उसमेंसे दो-चार सिद्धियाँ भी आज हमें प्राप्त नहीं हैं। इसलिये यह बात निर्विवाद मान लेनी पड़ेगी कि हमने 'योगाभ्यास' जिस प्रकार करना चाहिये वैसा नहीं किया। यही कारण है कि आज हमारा देश और हमारा समाज दीन-हीन अवस्थामें पड़ा हुआ परमुखापेक्षी बन गया है। इस दुःखद अवस्थाको हमें हटाना होगा। हमें योगकी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करनी चाहिये। शास्त्रोक्त पुरुषार्थ करनेपर हम जो चाहें वही योगके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु दुःख है कि हम भारतवासियोंके घरमें योगवासिष्ठ, उपनिषद् और योगदर्शनके अलावा श्रीभगवद्गीता-जैसे अनुपम योगशास्त्रके रहनेपर भी आज हम दीन, दुखी और परतन्त्र हैं! ऐसा क्यों है? उत्तर स्पष्ट है कि हमने योग शब्दका अर्थ समझकर 'योगाभ्यास' को, समबुद्धिसे आसक्ति त्यागकर सिद्धि और असिद्धिमें समान भाव रखके नहीं किया; उसीका यह परिणाम हमारे सामने है कि हमारे बाप-दादोंकी असंख्य सिद्धियाँ, जो समस्त संसारको चकित करनेवाली थीं, हमें प्राप्त नहीं हुईं। जबतक हमारा 'योगाभ्यास' सफल नहीं होगा तबतक हमें किसी प्रकारका सच्चा सुख नहीं मिलेगा। अतः इसको प्रयत्नपूर्वक मनसा, वाचा, कर्मणा सदैव करना चाहिये।

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एकरूप हैं; पूर्ण ज्ञानरूप वह सदैव निष्क्रिय और सृष्टिसे अतीत हैं। न तो उनको किसी प्रकारकी क्रिया स्पर्श कर सकती है और न उनमें कोई क्लेशोंकी सम्भावना है। भूत, भविष्य और वर्तमानमें वह सदा एकरूपसे ही रहते हैं। इच्छा-अनिच्छारूप इच्छासे उन्हींकी इच्छामयी शक्तिसे यह संसार उत्पन्न होता है, वर्तमान रहता है और पुनः उन्हींमें लयको प्राप्त हो जाता है। जब जीवरूपी चैतन्य अविद्यामें फँसकर अपने-आपको प्रकृतिवत् मानने लगा तब वही 'कारण शरीर' बन गया; और अन्तःकरण, पञ्चप्राणसहित पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' कहाया; और फिर पञ्चीकरण विधानके अनुसार सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे उत्पन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक स्थूल पाँच भूतोंके द्वारा 'स्थूल शरीर' उत्पन्न हुआ। यह 'स्थूल शरीर' जीवके देहपातके पश्चात् यहीं पड़ा रहता है; और 'सूक्ष्म शरीर' विशिष्ट जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। 'स्थूल शरीर' केवल सूक्ष्म शरीरका

विस्तारमात्र है। जीव जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ कर्म भोगता है और जो कुछ कर्म भविष्यमें भोगनेके लिये होंगे उनका संस्कार ग्रहण करता है। वह सब 'सूक्ष्म शरीरसे' अन्तःकरणमें ही करता है। इसलिये जबतक अविद्याकी स्थिति है, तबतक जीवरूपी चैतन्य अपने-आपको अन्तःकरण माने हुए है। जबतक उसका मानना है तबतक उस अन्तःकरणके काममें उसका फँसना भी रहेगा। और जबतक यह भ्रममूलक सम्बन्ध रहेगा, तबतक नाना सुख-दुःखरूपी कर्मोंमें फँसता हुआ जीव आवागमनरूप चक्रपथमें भ्रमता रहेगा।

योग शब्दका अर्थ जोड़ना है। इससे जीवरूप चैतन्य जो अविद्यामें फँसकर परमात्मा, परब्रह्मसे भिन्न हो रहा है, उसकी इस भिन्नताको दूर करके उसके पहले रूपमें उसको लाकर 'जहाँसे निकला था वहीं पुनः पहुँचा देनेका नाम 'योगाभ्यास' है।' इस प्रकारके जितने साधन जीवको मुक्तिपदमें पहुँचानेके लिये वेदशास्त्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे सब चार विभागोंमें विभक्त हैं। (१) मन्त्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग। शास्त्रोक्त किसी मन्त्रका जप और शास्त्रोक्त किसी रूपका ध्यान करते-करते चित्तवृत्तिनिरोधसे परमपद मोक्षके पथमें अग्रसर होनेका नाम 'मन्त्रयोग' है। शारीरिक क्रियाद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'हठयोग' है। षट्चक्रके भेदसे बहिर्मुखी शक्तिको ब्रह्माण्डमें लय करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'लययोग' है। केवल बुद्धिकी सहायतासे ब्रह्माभ्यास या ब्रह्मविचारद्वारा चित्तवृत्तियोंसे उपराम होकर आधिभौतिकताको लीनकर अन्तर्वाहकताको प्राप्त करते हुए मोक्षमार्गमें अग्रसर होनेका नाम 'राजयोग' है।

'योगाभ्यास' के क्रियासिद्धांशका सार्वभौम दृष्टिसे योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत 'योगदर्शन' में अच्छे प्रकारसे वर्णन है। यह सकल प्रकारके साधनोंकी सार्वभौम भित्ति है। साधक चाहे किसी प्रकारका हो, चाहे वह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगका अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे भोगी हो, चाहे त्यागी हो, परन्तु 'योगाभ्यास' सब प्रकारके जीवोंके लिये कल्याणप्रद है। ऐसे 'योगाभ्यास' करनेके आठ भेद किये हैं और वे ही योगके आठ अङ्ग हैं। जैसे—'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।' इनमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चारों बहिर्जगत्के साधन हैं। और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये चारों अन्तर्जगत्के साधन हैं। इन योगके आठों अङ्गोंका सुकौशलपूर्ण अभ्यास करते-करते साधक शनैः-शनैः अन्तःकरणको निरुद्ध करता हुआ आधिभौतिकताको हटाकर अन्तर्वाहकताको पा जानेपर कैवल्य मोक्षको प्राप्त कर लेता है। यही 'योगाभ्यास' करनेका परमोत्तम फल है।

उपर्युक्त प्रकारसे योग क्या है? योगका अभ्यास कैसे किया जाता है? इन प्रश्नोंको जो पुरुष हल कर लेते हैं और 'योगाभ्यास' करके अपने स्थूल देह और अन्तःकरणसे अपना साक्षात् सम्बन्ध हटा लेते हैं वे योगी महात्मा अपने पुरुषार्थके प्रभावसे सभी कुछ कर सकते हैं। वे चाहे जहाँ जा सकते हैं। बिना रोके सर्वत्र भ्रमण करनेके सिवा योगकी विभिन्न सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं। योगाभ्याससे सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होती है? और वे सिद्धियाँ कौन-कौन-सी हैं? इस तृतीय प्रश्नको हल करनेपर हमारे इस लेखका उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। हमने पहले बतला दिया है कि बिना स्थूल देहका अध्यास हटाये अन्तर्वाहकता अर्थात् अन्तर्जगत्में प्रवेश नहीं किया जाता। सूक्ष्मता प्राप्त करनेपर समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। आधिभौतिकताको विलीन करने और अन्तर्वाहकता— सूक्ष्म शरीरको पानेके लिये योगियोंने एक ऐसा साधन निश्चित किया है कि उस एक साधनसे ही योगकी विचित्र सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाले साधनका नाम है—'संयम'। जिस योगीने 'संयम' कर लिया उसने सब कुछ पानेकी शक्तिको अपने वश कर लिया, ऐसा कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं है। 'संयम' क्या है? उसके लक्षण बतलाये जाते हैं—धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन साधनक्रियाओंसे जब साधक एक ही पदार्थविशेषमें युक्त हो जाता है तब साधककी उस अवस्थाविशेषको 'संयम' कहते हैं। यह 'संयम' क्रिया सविकल्प समाधिमें हुआ करती है। यह 'संयम' साधनकी ही ताकत है कि जिसके द्वारा महर्षिगण त्रिकालदर्शी हुआ करते थे। यह उस 'संयम' साधनकी ही शक्ति है कि जिससे हमारे पूर्वजोंने बिना बाहरी

चेष्टाके किये ही केवल 'संयम' से ही नाना शारीरविज्ञान और ज्योतिष आदिके अलौकिक चमत्कारोंका आविष्कार किया था।

'त्रयमेकत्र संयमः' धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंको एक करनेका नाम 'संयम' है। जब किसी एक विषयमें इन तीनों अङ्गोंका एकत्र समावेश किया जाय, तब वही अवस्था संयमकी हो जाती है। संयमसे सम्बन्ध रखनेवाली जो धारणा और समाधि हैं उनमें विषयकी धारणा रहती है। ध्येयका ध्यान बना रहता है और फिर भी समाधि की जाती है। ऐसा न हो तो अलौकिक योगसिद्धियाँ कैसे प्राप्त हो सकती हैं? यही कारण है कि यह समाधि द्वैताभावसे पूर्ण होती है। इस गहन विषयको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं। 'संयमके जयसे प्रज्ञाका प्रकाश होता है।' जितना-जितना 'संयम' स्थिर होता जाता है उतनी-उतनी ही पूर्ण ज्ञानमय परमात्माकी कृपासे समाधिविषयिणी दिव्य बुद्धि प्रकाशित होती हुई शेषमें पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। समाधिविषयिणी बुद्धिसे तात्पर्य है उस भ्रमहीन बुद्धिसे कि जो योगकी विभिन्न सिद्धियोंमें कार्यकारिणी होती है। अतः 'संयमक्रियाका प्रयोगस्थान' केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन्हीं तीन भूमियोंमें है। 'संयमक्रिया' धारणाभूमिमें पहुँचकर विषयकी धारणासे प्रकट होकर 'विषयाकार वृत्तिसे' ध्यानभूमिमें पहुँचकर समाधिभूमिमें जाकर सिद्धिलाभ करती है। यही कारण है कि 'संयम' जीवमें अनन्त ऐसी शक्तियोंको प्रकट कर देता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे योगाभ्यास करनेवाले योगी महात्माओंको जो 'योगकी विभिन्न सिद्धियाँ' प्राप्त होती हैं, अब उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। मोक्षरूपी परम सिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है; परन्तु सब प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना अपरा सिद्धियाँ सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं।

पहली सिद्धि

व्युत्थान-संस्कारोंका लय होकर जो निरोध-संस्कारोंका प्रकट होना है तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे 'निरोध-परिणाम-सिद्धि' कहते हैं। निरोध-संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है। नाना विषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है उस 'सर्वार्थता' का क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्तःकरणमें समाधिका परिणाम है। तब शान्त-प्रत्यय अर्थात् एकाग्रतापरिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त हो जाता है; इसी अवस्थाका नाम 'शान्तप्रत्यय' है; और उदितप्रत्यय, अर्थात् शान्तप्रत्ययके साथ ही सिद्धियोंकी इच्छाजनित वासना बीजके वेगसे सिद्धिके उन्मुख योगीका अन्तःकरण रहता है, इसी अवस्थाका नाम 'उदितप्रत्यय' है। इन दोनों प्रत्ययोंकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही 'एकाग्रतापरिणाम' है। इससे स्थूल, सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें भी 'धर्मपरिणाम', 'लक्षणपरिणाम' और 'अवस्थापरिणाम' वर्णित किये गये हैं ऐसा समझना चाहिये। पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको 'धर्मपरिणाम' कहते हैं। घटका जो अनागत लक्षणके त्यागपूर्वक वर्तमान लक्षणवाला हो जाना घटरूप धर्मका 'लक्षणपरिणाम' है; और वर्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण-क्षणमें पुरातनपन है उसको 'अवस्थापरिणाम' कहते हैं। इन तीनों परिणामोंका इन्द्रियोंमें भी इस प्रकार विचार किया जाता है—जैसे इन्द्रियोंका जो नील-पीतादि विषयोंका ज्ञान है वही उनका 'धर्मपरिणाम' है; नीलादि ज्ञानका जो वर्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसीका नाम 'लक्षणपरिणाम' है; वर्तमान दशामें जो स्पष्टपन या अस्पष्टपन है उसका नाम 'अवस्थापरिणाम' है। शान्त—अतीत, उदित—वर्तमान, और अव्यपदेश्य—भविष्यत्, जो धर्म हैं उनमें अनुगत होनेवाला 'धर्मी' है। परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है। क्रमके अदल-बदलसे ही परिणामोंका परिवर्तन होता है; जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिण्ड बनता है, फिर मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपालसे ठीकरे हो जाते हैं, फिर ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए, मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं। ठीक वैसे ही अन्तःकरणकी पूर्ववृत्ति उत्तरवृत्तिका पूर्वकारण होती हुई क्रमके अनुसार धर्मान्तर परिणाम करती है। प्रकृतिके सब तरङ्गोंका परिवर्तन और अन्तःकरणमें सुख-दुःख आदि धर्मोंका परिवर्तन ये सब इसी क्रमनियमके ऊपर निर्भर हैं। अतएव धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों

परिणामोंमें संयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

दूसरी सिद्धि

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक-दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है; उनके विभागोंमें संयम करनेपर 'सब प्राणियोंकी वाणी' का ज्ञान होता है।

तीसरी सिद्धि

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। जैसे मनुष्यके छायारूप चिह्नको यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण फोटोग्राफमें मनुष्यमूर्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप कर्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सकता है।

चौथी सिद्धि

ज्ञानमें संयम करनेपर दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। जिस अन्तःकरणमें जैसा गुणपरिणाम रहता है वैसी ही उस अन्तःकरणसे सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। अतः यदि किसी जीवविशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस जीवके मनका सब हाल जान सकते हैं।

पाँचवीं सिद्धि

कायागत रूपमें संयम करनेसे उसकी ग्राह्य शक्तिका स्तम्भ हो जाता है; और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ संयोग नहीं होता; तब योगीके शरीरका अन्तर्धान हो जाता है। जैसे रूपविषयक संयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार शब्दादि पाँचोंके विषयमें संयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको पासमें रहा हुआ पुरुष भी नहीं जान सकता।

छठी सिद्धि

सोपक्रम—जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी कर्मकी अवस्थाका नाम 'सोपक्रम' है; जैसे जलसे भीगे हुए वस्त्रको निचोड़कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सुख जाता है। तथा निरुपक्रम-कर्मविपाककी मन्दताके कारण विलम्बसे फलदायक कर्मकी अवस्थाका नाम 'निरुपक्रम' है; जैसे बिना निचोड़ा पिण्डीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है। इन दो प्रकारके कर्मोंमें जो योगी संयम करता है उसको मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

सातवीं सिद्धि

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदिमें संयम करनेसे तत्सम्बन्धी बलकी प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षाबलकी प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियोंमें गिरने न देकर नियमितरूपसे आत्मस्वरूपकी ओर खींचती रहती है उसीको 'आत्मबल' या तेज कहते हैं।

आठवीं सिद्धि

बलमें संयम करनेसे योगीको हस्तिके बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकारका है—एक आत्मबल, दूसरा शारीरिक बल। प्रकृति विभिन्न होनेसे बलमें स्वतन्त्रता है; जैसे सिंहबल, गजबल, बलशाली खेचर पक्षियोंका बल और बलशाली जलचरोंका बल। जिस प्रकारके बलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके बलशाली जीवोंके बलमें संयम करनेसे योगीको उसी प्रकारके बलकी प्राप्ति हुआ करती है।

नवीं सिद्धि

ज्योतिष्मती प्रकृतिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उनपर संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है। लययोगी अपने अन्तर्राज्यमें शरीरके द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजपूर्ण बिन्दुका दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपसे आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है तब वही बिन्दुध्यानकी अवस्था है। उसी बिन्दुके विस्तारसे योगी संयमशक्तिकी सहायता और ज्योतिष्मती प्रकृतिकी सहयोगितासे अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वीगर्भस्थित समस्त द्रव्यसमूहके देखनेमें समर्थ हो सकता है।

दसवीं सिद्धि

सूर्यनारायणमें संयम करनेसे योगीको यथाक्रम स्थूल और सूक्ष्म लोकोंका ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानतः यही मृत्युलोक है। और सात स्वर्ग तथा सप्त पाताल ये सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञानलाभ करना भी सूक्ष्म लोकसे सम्बन्धयुक्त ज्ञान है।

ग्यारहवीं सिद्धि

चन्द्रमामें संयम करनेसे नक्षत्रव्यूहका ज्ञान होता है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे बहुत ही कम समयतक रहता है। इससे प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्तिके अवलम्बनसे नक्षत्रोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है।

बारहवीं सिद्धि

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका पूर्ण ज्ञान होता है। ध्रुवलोक हमारे सौर्य जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख रहे हैं। जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्निशिखाको उसके स्वभावसे ही चञ्चल होनेपर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं। वैसे ही ध्रुवके चलने-फिरनेपर भी उसके चलनेका हमारे लोकसे कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेसे हमलोग ध्रुवको अचञ्चल ध्रुव ही निश्चय करते हैं।

तेरहवीं सिद्धि

नाभिचक्रमें संयम करनेपर योगीको शरीरके समुदायका ज्ञान होता है।

शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं; जिनमें छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होनेपर सातवें चक्रमें पहुँचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रोंमेंसे नाभिके पास स्थित जो तीसरा चक्र है उसमें संयम करनेसे शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है; वात, पित्त और कफ ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, चर्बी और वीर्य ये सात धातुएँ किस प्रकारसे हैं; नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं; इन सबका ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं सिद्धि

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त हो जाती हैं। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके लिये जो कण्ठछिद्र है उसीको 'कण्ठकूप' कहते हैं। यहींपर पाँचवाँ चक्र स्थित है। इसीसे क्षुत्पिपासाकी क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पन्द्रहवीं सिद्धि

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी एक नाड़ी है, उसको कूर्मनाड़ी कहते हैं। उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीसे वहाँ संयम करनेपर शरीर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जैसे सर्प अथवा गोह अपने-अपने बिलमें जाकर चञ्चलता और क्रूरताको त्याग देते हैं, वैसे ही योगीका मन इस कूर्मनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चञ्चलताका त्याग कर देता है।

सोलहवीं सिद्धि

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे योगीको सिद्धगणोंके दर्शन होते हैं। मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश नजर आता है; उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध और महात्माओंके दर्शन होते हैं। जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके कल्याणार्थ ऐसी शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण करनेवालोंको ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है जो चतुर्दश भुवनोंमें ही विराजते हैं।

सतरहवीं सिद्धि

प्रातिभमें संयम करनेसे योगीको सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

योगसाधन करते-करते योगियोंको एक तेजोमय तारा ध्यानावस्थामें दिखलायी पड़ता है, उसी तारेका नाम 'प्रातिभ' है। चञ्चलबुद्धि मनुष्य उस तारेका दर्शन नहीं कर सकते। योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर ठहरने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगीको 'प्रातिभ' के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिभको स्थिर कर उसमें संयम करनेसे योगी ज्ञानराज्यकी सब सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

अठारहवीं सिद्धि

हृदयमें संयम करनेसे योगीको चित्तका ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्रका नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। चित्तमें नये और पुराने सब प्रकारके संस्कार रहते हैं; चित्तके नचानेसे ही मन नाचता है। चित्तका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमलमें संयम करता है तब वह अपने चित्तका पूर्ण ज्ञाता बन जाता है।

उन्नीसवीं सिद्धि

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त पृथक् है। इन दोनोंके अभिन्न ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है; उससे भिन्न स्वार्थ है। उसमें अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्बमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है। बुद्धि-पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे अभेद ज्ञान है वही पुरुषनिष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोगरूप प्रत्यय परार्थ यानी पुरुषके लिये ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है यानी जो बुद्धिप्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान हो जाता है। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभावमय, जैव अहंकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जानकर उसमें जब योगी संयम करता है तब उसको पुरुषके स्वरूपका बोध हो जाता है। इस परा सिद्धिके पानेपर योगीको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक षट्सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है।

षट्सिद्धियोंका फल

'प्रातिभ सिद्धिसे' योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। 'श्रावणसिद्धिसे' योगीको दिव्य श्रवणज्ञानकी पूर्णता यानी प्रणवध्वनिका अनुभव होता है। 'वेदनसिद्धिसे' योगीको दिव्यस्पर्शज्ञानकी पूर्णता होती है। 'आदर्शसिद्धिसे' दिव्य दर्शनकी पूर्णता, 'आस्वादसिद्धिसे' दिव्य रसज्ञानकी पूर्णता और 'वार्तासिद्धिसे' दिव्य गन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये सब समाधिमें विघ्नकारक हैं; परन्तु व्युत्थानदशाके लिये सिद्धियाँ हैं।

बीसवीं सिद्धि

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और संयमद्वारा चित्तकी प्रवेशनिर्गममार्गनाड़ीके ज्ञानसे चित्त दूसरे शरीरमें प्रवेश कर सकता है। चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है; समाधिप्राप्तिसे क्रमशः स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका यह बन्धन शिथिल हो जाता है। संयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानसे स्वतः सूक्ष्म शरीरको कहीं पहुँचा देनेका नाम प्रवेशक्रिया है, और पुनः उस सूक्ष्म शरीरको ले आनेका नाम निर्गम-क्रिया है। इन दोनोंका जब योगीको बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है।

इक्कीसवीं सिद्धि

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थोंका योगीको स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाता है। ऊर्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिरतक व्यापक जो वायु है वही 'उदानवायु' कहलाता है। यह ऊर्ध्वगमनकारी होनेसे उसमें संयम करनेवाले योगीका शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता। उदानवायुसे सब स्नायुओंकी क्रियाएँ नियमित रहती हैं। मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतनकी क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायुसे प्राणमय कोशसहित 'सूक्ष्म शरीर' पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायुके जयसे योगी इच्छानुसार शरीरसे प्राणोत्क्रमणरूप इच्छामृत्युको प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्मपितामहने उत्तरायण सूर्य आनेपर ही देहत्याग किया था।

बाईसवीं सिद्धि

समानवायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभिके चारों ओर दूरतक व्यापक रहकर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी क्रियाको साम्यावस्थामें रखता है उस वायुको 'समानवायु' कहते हैं। इस शरीरकी समानताका इस वायुसे प्रधान सम्बन्ध है। शारीरिक तेजशक्ति ही जीवनी क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। इसीलिये समानवायुको संयमसे जीत लेनेसे योगी तेजःपुञ्ज हो जाता है।

तेईसवीं सिद्धि

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्धमें संयम करनेसे योगी दिव्य श्रवणको प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दोंका आधार आकाश है। जबतक कानके साथ आकाशका सम्बन्ध रखा जाता है तबतक शब्द सुनायी पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है उसमें संयम करनेसे योगी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छिपे हुए-से अति छिपे हुए, दूरवर्ती-से-दूरवर्ती और नाना प्रकारके दिव्य शब्दोंको श्रवण कर सकता है।

चौबीसवीं सिद्धि

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और लघु यानी हलकी रुई-जैसे पदार्थकी धारणासे आकाशमें गमन हो सकता है। आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्यरूपसे सम्बन्ध है। आकाश सब भूतोंसे हलका है। और सर्वव्यापी है; इसलिये योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें संयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि हलके-से-हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तब इस क्रियासे उसमें हलकेपनकी सिद्धि हो जाती है।

पचीसवीं सिद्धि

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम 'महाविदेहधारणा' है; उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाश हो जाता है। स्थूल शरीरसे बाहर शरीरके आश्रयीकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते हैं। उसीसे ही अहंकारका वेग दूर होता है। उस वृत्तिमें जो योगी संयम करता है उससे प्रकाशका ढकना दूर हो जाता है। जबतक शरीरका अहंकार रहता है तबतक मनकी बाह्य वृत्ति रहती है; परन्तु जब शारीरिक अहंकारको त्यागकर स्वतन्त्रभावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है तभी योगीका अन्तःकरण मलरहित और निःसङ्ग रहता है। शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाहरी वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परन्तु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पितको छोड़कर अकल्पित जो महाविदेहवृत्तिका साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल, इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त हो जाता है। तथा रज-तमका आवरण हट जाता है जिससे योगी अपने अन्तःकरणको यथेच्छ ले जानेकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

छब्बीसवीं सिद्धि

'पञ्चतत्त्वोंकी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व ये पाँच अवस्थाविशेष हैं; इनमें संयम करनेसे भूतोंपर जयलाभ होता है।' भूतोंकी 'स्थूल-अवस्था' वह है जो दृष्टिगोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है—जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो। जैसे तेजमें उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओंकी है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है। और पञ्चम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पञ्चभूतोंकी इन अवस्थाओंमें संयमद्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने-आप उस योगीके अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने-आप ही बच्चेको दूध पिलाया करती है वैसे ही पञ्चभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत हो जानेपर वह प्रकृति माता अपने-आप ही उस योगीकी सेवामें तत्पर हो जाती है।

अष्ट सिद्धियाँ

'भूतजयानन्तर अणिमादि 'अष्ट सिद्धि', सिद्धियोंका प्रकाश, शरीरसम्बन्धी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्मोंका अनभिघात होता है।' अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व— ये ही 'अष्ट सिद्धियाँ' हैं। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे 'अणिमासिद्धि' कहते हैं। 'लघिमासिद्धि'—उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहीं जा सके। 'महिमासिद्धि' वह है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको जितना बढ़ा सके। 'गरिमासिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। 'प्राप्तिसिद्धि' वह कहाती है कि जब योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें यानी किसी ग्रह, उपग्रह, सूर्य या किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। 'प्राकाम्यसिद्धि' वह है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तभी वह पदार्थ उसको प्राप्त हो जाय; अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। 'वशित्वसिद्धि' वह कहाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पञ्चभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते हैं। और वह जैसे चाहता है वैसे ही पञ्चभूतोंसे काम ले सकता है। वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं होता। 'ईशित्वसिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है; यदि वह

नवीन सृष्टिको करना चाहे तो वह भी आंशिकरूपसे कर सकता है। ये ही अष्टसिद्धियाँ हैं। इन सिद्धियोंके साथ-साथ योगीको रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढ़ता ये सब कायसम्पत्तियाँ मिल जाती हैं। रूप और लावण्य उसे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर ऐसी दिव्य सुन्दरताको धारण करे कि तब उस शरीरके रूपकी माधुर्यतासे सब प्रकारके दर्शक ही मोहित हो जायँ। चाहे दर्शक देवता हो चाहे मानव, चाहे पशु और जीव हो; सब उसकी मूर्तिको देखते ही मोहित हो जायँ। प्रकृति ही जिसके वशीभूत हो जाती है उसके बलकी तुलना किससे हो सकती है? सब शस्त्रोंसे महातीव्र वज्रकी तरह उसका शरीर दृढ़ हो जाता है।

सत्ताईसवीं सिद्धि

'ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंमें संयम करनेसे इन्द्रियोंका जय होता है।' सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्य कहलाते हैं; उन ग्रहण करनेयोग्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी वृत्ति जाती है उस वृत्तिको 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीतिसे बिना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही 'स्वरूपवृत्ति' है। उस अवस्थामें जो अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, वह अहङ्कारमिश्रित भाव ही 'अस्मितावृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको यानी जब बुद्धि सत्यासत्य, सामान्य और विशेषका विचार करने लगती है तब उस वृत्तिको 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थितिशील अहङ्कारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम 'अर्थवत्त्ववृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियोंकी पाँचों वृत्तियोंमें संयम करके इन्हें अपने अधीन कर लेनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है।

इन्द्रियजयका फल

'इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयकी सिद्धियाँ योगीको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।' मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तम गतिकी प्राप्तिको 'मनोजवित्व' कहते हैं; अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजनव्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम मनोजवित्व है। शरीरके सम्बन्धको त्यागकर जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं; अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो, शरीरके बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गति प्राप्त होनेका नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृतिके विकारोंके मूल कारणको जय करनेका नाम 'प्रधानजयत्व' है जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। ये सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

अट्ठाईसवीं सिद्धि

'बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्य-ज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है।' जब अन्तःकरणकी ऐसी निर्मल अवस्था होती है तब अपने-आप परमात्माका शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगीको बुद्धिरूप दृश्य और पुरुषरूप द्रष्टामें जो तात्त्विक भेद है वह स्पष्ट अनुभव होने लगता है; और ऐसी परिस्थितिमें योगी अखिल भावोंका स्वामी और सकल विषयोंका ज्ञाता बन जाता है।

उनतीसवीं सिद्धि

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अवच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं। उनमें संयम करनेसे विवेक यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको 'परमाणु' कहते हैं। जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल-भागको 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है। भूत क्षणका परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत् क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिक्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस योगबुद्धिसे क्षण और क्रममें संयम करके उनका साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे अभ्रान्त और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषयको देखता है उसका ही यथार्थ पूर्णरूप देख लेता है। यही योगीकी त्रिकालदर्शी अवस्था है।

परासिद्धि

'उपर्युक्त अपरा सिद्धियोंकी प्राप्तिके अनन्तर योगीको विवेकाख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज-नाश हो जानेपर 'कैवल्यकी प्राप्ति' होती है।' सिद्धियाँ दो

प्रकारकी हैं, एक परा और अन्य अपरा। विषयसम्बन्धीय सब प्रकारकी उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ 'अपरा सिद्धि' कहलाती हैं। ये सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्वस्वरूप अनुभवके उपयोगी सिद्धियाँ हैं वे योगिराजके लिये उपादेय 'परा सिद्धियाँ' हैं।

पाठकगण! लेख-विस्तारसे 'योगकी विभिन्न सिद्धियों' का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यदि आजकलका भारत इन सिद्धियोंमेंसे एकको भी भलीभाँति प्राप्त कर ले तो हमारी दीनहीन दशा दूर हो जाय और हम पुनः अपने पूर्वजोंके समान सदैव सुखी और स्वतन्त्र हो सकें। अतएव योग क्या है? योगाभ्यास किस प्रकारसे करना चाहिये? और योगकी विभिन्न सिद्धियाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकती हैं? इत्यादि प्रश्नोंका समीचीन उत्तर आपके सामने है। हमारी प्रार्थना है कि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक इस लेखसे उत्साहित होकर योगाभ्यास करके अपना, अपने देश और समाजका अवश्य ही अभ्युत्थान करें।
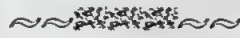
हिन्दू और बौद्ध-धर्ममें सिद्धियोंका स्थान

(लेखक—डॉ० एफ० ऑटो श्राडर, पी-एच्०डी०, विद्यासागर, कील विश्वविद्यालय, जर्मनी)

सिद्धियोंकी सचाईको भारतवासी अति प्राचीन कालसे मानते आये हैं। परन्तु वैज्ञानिक पद्धतिसे उनके निरूपणकी अथवा उनके वर्गीकरणकी चेष्टा भारतीय वाङ्मयमें उसी समयसे मिलती है जिस समय इस देशमें उन दार्शनिक सिद्धान्तोंका विकास हुआ जिनका क्रियात्मक भाग योगशास्त्रके रूपमें उपलब्ध होता है अथवा जिनके क्रियात्मक भागका एक अंश योगशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इन दार्शनिक सिद्धान्तोंमें केवल सांख्ययोग-नामसे प्रसिद्ध शास्त्र ही शामिल नहीं है जिसका यह संयुक्त नाम इस बातको सूचित करता है कि उसमें सिद्धान्त और क्रिया दोनोंका समावेश है—अपितु बौद्ध एवं जैनदर्शन भी सम्मिलित हैं। इतना ही नहीं, हमारी यह धारणा भी युक्तिविरुद्ध नहीं मालूम होती कि उस प्राचीन युगमें किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके प्रचलित होनेकी तबतक आशा नहीं हो सकती थी जबतक उसमें जगत्की उत्पत्ति आदिका विचार (सांख्य) न किया गया हो और साथ ही जिसमें मानसिक शक्तियोंके विकासकी कोई प्रक्रिया (योग) न बतायी गयी हो। हाँ, पीछे जाकर अवश्य ये दोनों भाग किसी अंशमें एक-दूसरेसे अलग हो गये, जिसका कारण था उस समयके विद्वानोंकी किसी एक विषयको लेकर उसका स्वतन्त्ररूपसे विवेचन करनेकी प्रवृत्ति, यद्यपि फिर भी ये दोनों सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो गये और दोनोंमें परस्पर आदान-प्रदान बराबर जारी रहा, उदाहरणतः, पातञ्जलदर्शनमें केवल योगका ही निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, किन्तु उसका दार्शनिक आधार सांख्य ही है; और वेदान्तसूत्रके **'एतेन योगः प्रत्युक्तः'** (वे० सू० २।१।३) इस सूत्रमें जो योगका निराकरण किया गया है वह केवल उसके उपर्युक्त दार्शनिक आधारका ही आंशिकरूपसे खण्डन है, न कि योगकी प्रक्रियाका। उसका तो अन्य दर्शनोंकी भाँति वेदान्तने भी समर्थन किया है।

पातञ्जलयोग तथा बौद्धमतमें योगके उस भागका जिसका सम्बन्ध सिद्धियोंसे है क्या स्थान है, इसी बातका विचार नीचेकी पंक्तियोंमें संक्षेपरूपसे किया जायगा, योगसूत्रमें दो जगह, अर्थात् 'विभूतिपाद' नामक तीसरे पादके सैंतीसवें और पचासवें सूत्रोंमें सिद्धियोंका गुणदोषनिरूपण किया गया है। सैंतीसवाँ सूत्र इस प्रकार है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

अर्थात् ये (सिद्धियाँ) समाधिमें विघ्नरूप हैं और व्युत्थान (जाग्रत्) अवस्थामें सिद्धियाँ हैं। इस सूत्रके पूर्वार्धमें सिद्धियोंकी जो विघ्नरूपसे हेयता बतायी गयी है उसके सम्बन्धमें यदि किसीको कुछ शङ्का हो तो उसका पचासवें सूत्रसे निराकरण हो जाता है, जो इस प्रकार है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

अर्थात् इन (सिद्धियों)-से भी वैराग्य कर लेनेपर (मन हटा लेनेपर) दोषोंका बीज नाश होकर कैवल्य

(मुक्ति)-की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध योगी अपनी इन अलौकिक शक्तियोंका उपयोग करना तो दूर रहा, उनकी ओर आँख उठाकर ताकेगा भी नहीं, क्योंकि वह इस बातको जानता है कि वे उसके लिये सहायक न होकर उलटा उसके पतनका कारण हो सकती हैं, क्योंकि वह उन्हींको परम लक्ष्य मानकर सन्तोष कर बैठता है, जैसा कि श्रीसदा-शिवेन्द्र सरस्वती अपने 'योगसुधाकर' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

यदि तत्रापेक्षा स्यात् तदा मोक्षाद् भ्रष्टः कथं कृतकृत्यतामियात्।

परन्तु इसपर यह शङ्का होती है कि उपर्युक्त सूत्रके उत्तरार्धमें जो सिद्धियोंकी प्रशंसा की गयी है उसका क्या अर्थ है? उसका अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि जो योगी नहीं हैं, उन्होंने सिद्धियोंकी इस प्रकार प्रशंसा की है, अपितु इसका अर्थ तो यह होना चाहिये कि वे योगियोंके लिये भी समाधिसिद्धिमें, उसके सिद्ध न होनेतक किसी-न-किसी रूपमें सहायक होती हैं। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि साधन-मार्गपर चलनेवाले योगीको किस भूमिकापर पहुँचनेपर ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विभूतिपादके अन्तिम सूत्रकी व्याख्यामें भाष्यकार महर्षि व्यास इन सिद्धियों (ऐश्वर्य)-को 'समाधिज' अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुई बतलाते हैं। निश्चय ही यह समाधि वह समाधि नहीं है जिसका उल्लेख उपर्युक्त सूत्र (३।३७)-में आया है; क्योंकि यदि ये सिद्धियाँ उसी समाधिसे उत्पन्न होनेवाली हों जिसके मार्गमें ये विघ्नरूप हैं तो वे केवल उसका आनुषङ्गिक फल ही मानी जायँगी जिनका परिणाम अशुभके सिवा शुभ कभी हो नहीं सकता। वास्तवमें तो योगशास्त्रमें व्यवहृत 'समाधि' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है और उसके कम-से-कम दो विशिष्ट अर्थ हैं, जैसा कि 'सम्प्रज्ञात समाधि' और 'असम्प्रज्ञात समाधि' इन दो समस्त पदोंसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'व्युत्थान' शब्दका अर्थ भी बिलकुल असन्दिग्ध नहीं है। योगी जब ऊपर उठता हुआ क्रमशः उच्चतर स्थितिको प्राप्त होता है जो पहलेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर आवरणशून्य होती जाती है, तो आगेकी उच्चतर स्थितिकी दृष्टिमें प्राक्तन स्थिति व्युत्थान अवस्था ही है। अतः असम्प्रज्ञात समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधिमें मनकी व्युत्थित अवस्था ही रहती है और इसलिये उपर्युक्त सूत्रमें 'व्युत्थान' शब्द एक प्रकारसे सम्प्रज्ञात समाधिका ही बोध कराता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रज्ञात समाधिमें उपर्युक्त सिद्धियोंका विकास होता है और उनसे आगे बढ़नेमें सहायता मिलती है। सिद्धियोंकी उत्पत्तिका स्थान-निर्णय करनेमें हमारे लिये कदाचित् इससे अधिक सचाईके निकट पहुँचना सम्भव नहीं होगा। यह प्रसिद्ध ही है कि निम्न श्रेणीकी अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिकी (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार, इस प्रकार) चार भूमिकाएँ हैं; परन्तु जहाँतक मुझे मालूम है, किसी भी ग्रन्थमें इनमेंसे किसी एकको सिद्धियोंकी उत्पत्तिमें विशिष्ट कारण नहीं माना गया है। और सिद्धियाँ अनेक हैं, इससे ऐसी बात सम्भव भी नहीं मालूम होती। इन सिद्धियोंको साधक चारों भूमिकाओंमेंसे होता हुआ अथवा यों कहिये कि तीसरी और चौथी भूमिकामें एक-एक करके प्राप्त करता है (और कदाचित् सारी सिद्धियाँ प्रत्येक साधकके अन्दर प्रकट भी नहीं होतीं, क्योंकि सभी योगी समान शक्तिवाले नहीं होते)। अब अन्तिम प्रश्न यह रह जाता है कि सिद्धियोंसे योगीको जिस सहायताका प्राप्त होना माना गया है वह सहायता किस प्रकारकी होती है, उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर योगसूत्रके किसी सूत्रमें नहीं मिलता। हाँ, व्यासजीने अपने भाष्यकी उस पंक्तिमें जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं यह लिखा है कि ज्ञानकी ही भाँति समाधिजन्य ऐश्वर्य (अर्थात् सिद्धियाँ) भी सत्त्वशुद्धि (अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि)-का कारण होता है। इससे अधिक वे कुछ नहीं कहते और वाचस्पति मिश्र भी इस विषयपर कुछ अधिक प्रकाश नहीं डालते। ऐसी दशामें, आकाशगमन-जैसी सिद्धिसे किस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि होती है इस बातका पता लगानेके लिये हमारे पास अनुमानके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता। कदाचित् हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सिद्धियोंके प्राप्त हो जानेपर योगीको ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं प्रकृतिसे मुक्त हो गया अथवा मैंने प्रकृतिपर जय प्राप्त कर ली (देखिये योगसूत्र ३।४८) और इस प्रकार उसका देहाभिमान कम हो जाता है। परन्तु उनसे मुख्य

लाभ तो हमारी समझसे साधकको यह होता है कि वे उसके लिये एक सनदका काम देती हैं, जिसके द्वारा उसकी प्रगतिका पता लगता है और उसे अपने साधनमें आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन मिलता है। अन्तमें ये बातें ध्यानमें रखनेकी हैं कि (१) कैवल्यकी प्राप्तिके लिये सिद्धियोंकी आवश्यकता नहीं है (देखिये योगसूत्र ३। ५५ का भाष्य), और (२) वे योगाभ्याससे ही मिलती हों यह बात नहीं है, किन्तु कम-से-कम उनमेंसे कुछ तो जन्मसिद्ध भी हो सकती हैं अथवा ओषधिप्रयोग, मन्त्रबल अथवा तपोबलसे भी प्राप्त हो सकती हैं (देखिये यो० सू० ४। १)। अत: सभी सिद्धिप्राप्त पुरुष महात्मा ही हों यह आवश्यक नहीं है, बल्कि उनमेंसे कुछ धूर्त भी हो सकते हैं।

अब हमलोग प्राचीन बौद्ध योगकी ओर एक दृष्टि डालें जो पातञ्जलयोगसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भगवान् बुद्धने, जो नि:सन्देह एक महान् योगी थे, समाधि और सिद्धि दोनोंका ही उपदेश दिया है। परन्तु सिद्धियोंका उल्लेख न तो उनकी 'महाबोधि' के ही वर्णनमें मिलता है और न उनके परिनिर्वाणके प्रसंगमें, और इन दोनों स्थितियोंके सम्बन्धमें यह वर्णन मिलता है कि समाधिकी उच्चतम अवस्थासे ही इनकी सिद्धि हुई थी। इस बातकी ओर लक्ष्य कराना इसलिये आवश्यक हो गया है कि कतिपय यूरोपीय विद्वानोंने अभी थोड़े ही दिन हुए यह मत प्रकट किया है कि बौद्ध योगमें उच्चतम समाधि अर्थात् बौद्धोंके चतुर्थ ध्यानके आधारपर ही सिद्धियोंका विकास होता है। वे लोग अपने इस मतकी पुष्टिमें 'सामत्रफल सूत्त' नामक एक ग्रन्थका प्रमाण देते हैं, जिसमें चारों ध्यानोंकी सिद्धिको सिद्धियोंकी प्राप्तिके साधनोंकी अपेक्षा नीचा बतलाया गया है और यह भी लिखा है कि इन ध्यानोंके सिद्ध हो जानेके अनन्तर सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये साधन होता है तथा इन्हींके साथ कतिपय अन्य विभूतियों एवं अनुभूतियोंकी प्राप्तिके लिये साधन होता है और तब जाकर 'दु:खके पवित्र तत्त्व' का पूर्ण ज्ञान होता है। परन्तु परलोकवासी प्रोफेसर ऑटो फ्रैंके (Otto Franke) ने यह सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थके अन्दर जो कुछ है वह जहाँ-तहाँसे संगृहीतकर भद्दी तरहसे एक जगह रख दिया गया है। यह संग्रह भगवान् बुद्धके निर्वाणके पश्चात् किसी ऐसे समयमें किया गया होगा जब प्राचीन योगपद्धतिका यथार्थ ज्ञान बहुत कम लोगोंमें रह गया था। (जिस प्रकार यह आजकल उन देशोंमें जहाँ पाली ग्रन्थोंमें निरूपित बौद्धमतका प्रचार है केवल ग्रन्थोंमें ही रह गया है।) उपर्युक्त सिद्धान्तका ध्यानोंके मूल सिद्धान्तके साथ विरोध आता है, इसी प्रकार एक सिद्धान्त और भी इसके विरुद्ध मिलता है जो नि:सन्देह पहलेकी अपेक्षा अर्वाचीन होनेके साथ-ही-साथ उतना असङ्गत भी नहीं है। वह यह है कि आठ प्रकारके जो विमोक्ष कहे गये हैं उनमेंसे उच्चतर कोटिके विमोक्षोंसे कतिपय ऐसे लोकोंकी प्राप्ति होती है जो ध्यानोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंसे ऊँचे हैं। पालीभाषाके धर्मग्रन्थोंमें इस बातके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि बौद्धधर्मके मूल सिद्धान्तोंमें उच्चतम कोटिके ध्यानकी अपेक्षा सिद्धियोंका स्थान किसी प्रकारसे भी ऊँचा नहीं माना गया है। वहाँ उन्हें निर्वाणलाभके लिये आवश्यक नहीं समझा गया है। उनके सम्बन्धमें तो केवल यही माना गया है कि जो थोड़े-से लोग प्रकृतिसे विषयलोलुप होते हैं उन्हें योगाभ्यासके आनुषङ्गिक फलरूपमें ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंमें (अथवा, यों कह सकते हैं कि उन लोगोंमें जिन्हें कतिपय सिद्धियाँ प्राप्त थीं) देवदत्त-जैसा अधम अधिकारी भी था जो भगवान् बुद्धका चचेरा भाई और शिष्य था और जिसने अपने गुरुको मारनेकी कई बार चेष्टा की थी। फिर, यह भी स्पष्ट है कि सिद्धियोंके प्रति भगवान् बुद्धकी आदरबुद्धि नहीं थी। अवश्य ही वे महामोग्गलन नामक अपने शिष्यको 'इद्धि' (सं. ऋद्धि=सिद्धि) प्राप्त पुरुषोंमें अग्रगण्य, अनिरुद्धको दूरदृष्टिसम्पन्न पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं पन्थकको बहुकायनिर्माणमें प्रमुख कहकर उनकी प्रशंसा किया करते थे; किन्तु पिण्डोल भरद्वाजकी इन्होंने इस बातके लिये बड़ी भर्त्सना की कि वह किसी गृहस्थके कहनेपर हवामें उड़ गया था। स्वयं उन्हें लोग बार-बार कहते कि आप कम-से-कम अपने धर्मका विस्तार करनेके लिये ही अपनी सिद्धियोंका प्रयोग कीजिये, किन्तु वे सदा ही उनका विरोध किया करते थे। उनकी दलील यही होती थी कि लोगोंको अपना अनुयायी बनानेका यह एक जघन्य उपाय है और ऐसा करनेसे लोगोंको यह सन्देह हो सकता है कि ये किसी सामान्य जादू

अथवा 'जन्तर-मन्तर' का प्रयोग करते हैं। विनय नामक आचारग्रन्थमें भिक्खुओंके लिये यह एक आज्ञा भी है कि वे गृहस्थोंके सामने अपनी सिद्धियोंका प्रदर्शन न करें, और दूसरा नियम यह है कि कोई धार्मिक अनुष्ठान (जिसमें चार भिक्खुओंकी आवश्यकता हो) उस सूरतमें विधिहीन माना जायगा यदि उनमेंसे एक भी भिक्खु अपनी सिद्धिके बलसे भूमिसे ऊपर उठ गया हो। ऐसी दशामें यदि इसी वर्गके ग्रन्थोंमें हमें इस प्रकारके आख्यान भी मिलें कि भगवान् बुद्धका एक समय किसी काले नागके साथ मन्त्रयुद्ध हुआ था, अथवा उन्होंने (सागत नामक) अपने अनुचर भिक्खुसे कहा कि तुम राज्याधिकारी पुरुषोंकी सभामें जाओ और अपनी सिद्धियाँ दिखलाकर उन्हें चकित करो, अथवा आर्य पिलिन्दवच्छने महाराज बिम्बिसारके महलको सोनेका बना दिया, तो हमें इस बातके समझनेमें अधिक बुद्धिका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि इस प्रकारके आख्यान निरे कपोलकल्पित हैं। बढ़ते-बढ़ते महायानसम्प्रदायमें तो चमत्कारोंका इतना प्राचुर्य हो गया कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उनमेंसे कौन-से चमत्कार सिद्धियोंके बलपर दिखाये जाते थे और कौन-से निरे ऐन्द्रजालिक प्रयोग होते थे। इस युगमें बौद्धमतका इतना अधःपतन हुआ कि महात्माका अर्थ ही चमत्कार दिखलानेवाला हो गया और उस कालके साहित्यमें हमें स्थान-स्थानपर इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं कि अमुक सिद्ध पुरुषने चमत्कारोंके बलपर अनेकों शिष्य बनाये।
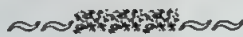
योग-विज्ञान

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाँड्या)

योग कहते हैं मिलनेको। आत्मिक जगत्में इसके दो स्वरूप हैं—(१) आत्माका अनात्मीय पदार्थोंसे सम्बन्ध और (२) आत्माका आत्मामें लीन होना। अनात्मिक वस्तुएँ अनेक हैं, परस्परमें विषमताको लिये हुई हैं, परिवर्तनशील हैं और आत्मासे विजातीय हैं। उनमें लीन होनेकी इच्छाका परिणाम सतत अतृप्ति और दुःख है—वस्तुतः उनमें लीनता हो ही नहीं सकती। अतः आत्माका आत्मामें लीन होना ही वास्तविक योग है। यह स्वाभाविक और चिरस्थायी है। इसके दो अङ्ग हैं—विजातीय पदार्थोंसे वियोग करना अर्थात् अनात्मीय पदार्थोंसे रुचि हटाना, और आत्मासे योग करना। जिन उपायोंसे यह सिद्ध होता है उन्हें भी, अन्नमें प्राणकी तरहसे कारणमें कार्यका उपचार करके, योग कहते हैं। असलमें ये उपाय सिर्फ कारण ही नहीं हैं बल्कि अल्पाधिक अंशोंमें आत्मामें आत्माकी तल्लीनताकी अवस्थाकी अभिव्यक्ति भी हैं—अर्थात् सचमुच योग हैं, क्योंकि आत्मा धर्मसे भिन्न नहीं हैं।

योगके लिये आत्मा और अनात्माका भेद, प्रकृति अर्थात् कर्मका आत्माके प्रति आकर्षण (आश्रय) और उससे सम्बन्ध, नवीन कर्म-सम्बन्धका निरोध (संवर) तथा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्यन्तिक मुक्तिकी उपलब्धि, इन विषयोंका ठीक तथा प्रतीतियुक्त ज्ञान होना आवश्यक है।

देहधारी प्राणियोंमें जो विषमताएँ और जो सुख-ज्ञानशक्ति आदिकी अल्पता और स्वस्वरूपभ्रान्ति आदि दिखायी पड़ते हैं वे आत्माके निजी स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि उनकी अल्पाधिकता होती रहती है तथा उनका आत्यन्तिक अभाव भी सम्भव है। अतः आत्माके ये भाव किसी अनात्मीय पदार्थके निमित्तसे हैं। यह पदार्थ कर्म है। जीवके वर्तमान कर्मोंके फलोंको भविष्यमें भोगनेसे भी कर्मकी सिद्धि होती है, क्योंकि कर्म और उसके फलके समयमें अन्तर रहनेसे, कार्यकारणकी दृष्टिसे, कोई ऐसा तत्काल कर्मजन्य कार्य मानना पड़ता है जो कि समयपर फलोत्पत्ति कर सके।

आत्माका देहसे सम्बन्ध होना, आत्माके मानसिक भावों और इच्छाओंका भौतिक पदार्थोंपर प्रभाव पड़ना, यथा क्रोधसे आँखें लाल हो जाना, आदिसे सूचित होता है कि उनका कारण भी भौतिक (पुद्गल) है, क्योंकि कारणके अनुरूप कार्य होता है।

तप्त लोहेका गोला जिस तरह जलमें चारों ओरसे

जलको खींचता है उसी तरह मन, वचन, कायकी शुभ या अशुभ क्रियाओंसे आत्मामें परिस्पन्दन—हलन-चलन होनेसे एक विशेष जातिके सूक्ष्म पुद्गल परमाणु कर्मरूप होकर आत्माकी ओर आकर्षित होते हैं, और क्रोधादि कषाय भावोंसे फलदानशक्ति तथा स्थितियुक्त होकर आत्माके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। ये कर्म दो प्रकारके होते हैं, घातिया और अघातिया। घातिया कर्म चार तरहके होते हैं—ज्ञानका आवरण करनेवाले, दर्शनका आवरण करनेवाले, आत्माको मोहनेवाले अर्थात् उसको आत्मश्रद्धान और स्वरूपाचरणसे बेभान कर देनेवाले, और दान, लाभ, भोगोपभोग और शक्तिमें विघ्न करनेवाले। अघातिया कर्म भी चार तरहके होते हैं, और उनके कार्य आयु (उम्र), शरीर, गोत्र और सुख-दुःखकी वेदना हैं। सामान्यतः तीव्र कषायोंसे शुभ कर्मोंकी फलदान-शक्ति और स्थिति कम और अशुभ कर्मोंकी अधिक होती है, और मन्द कषायका फल इसके विपरीत होता है। कुछ कालतक अनुदयरूप रहकर ये कर्म उदयमें आते हैं, अर्थात् अपना फल देने लगते हैं, और स्थिति पूरी होनेपर झड़ जाते हैं। फल भोगनेके समय आत्मा कषायभावसे फिर नये कर्म बाँध लेता है। तपस्या आदिके जरिये कर्म अपने समयसे पहले भी उदयमें आकर फल दे देते हैं। कई पूर्वबद्ध कर्मोंमें वर्तमान क्रियाओंसे भी परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि कर्म भिन्न-भिन्न स्थितियोंके होते हैं, अतः प्रत्येक क्षण कषायसहित आत्माके साथ नवीन कर्म बँधते रहते हैं, बहुत-से पूर्वकर्म उदय होकर झड़ते रहते हैं, और बहुत-से पूर्वकर्म फल देनेका समय न आनेके कारण सत्तारूपमें सम्बद्ध रहते हैं। इस तरह आत्मा और कर्मका यह सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि है, परन्तु प्रत्येक कर्मबन्ध सादि और सान्त है। आत्मज्ञान पाकर कषायोंको नष्ट कर देनेसे नवीन कर्मबन्ध न होनेपर और पुरातन कर्मोंके, समय पाकर या तपस्यासे, असमयमें ही झड़ जानेपर आत्मा सदाकालके लिये कर्मोंसे मुक्ति पा जाता है, और निज स्वाभाविक, स्वाधीन, पूर्ण आनन्द, ज्ञान, शक्ति आदिको भोगने लगता है। इसीको स्वस्वरूपमें लीन होना कहते हैं।

ऊपर वर्णित ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म द्रव्य-कर्म हैं। उनके निमित्तसे आत्माके जो अज्ञान, मोह, राग, द्वेषादि भाव होते हैं वे भाव-कर्म हैं।

मनुष्यसे निम्नकोटिके प्राणी कर्मोंके और तज्जनित वासनाओंके अधीन रहते हैं। परन्तु मनुष्यादि उत्तम जीवोंके कर्म और कषाय अपेक्षाकृत मन्द रहते हैं। उनमें विवेकशक्ति रहती है, और वे इच्छाओंके सर्वथा वशमें नहीं होते हैं। इसलिये वे उपदेशादिका निमित्त पाकर उपयोग और साधनासे अपने कषायोंको और स्वस्वरूपविस्मरणको नष्ट या मन्द कर सकते हैं, और इस तरह मुक्ति या मुक्ति-मार्गके अधिकारी होते हैं।

आत्माके साथ कर्मका सम्बन्ध मिथ्यात्व (अर्थात् स्वस्वरूपभ्रान्ति) असंयम, वासना और मन-वचन-कायकी क्रियासे होता है। अतः इन कारणोंको दूर करनेसे नवीन कर्मबन्ध होना रुकता है। इनमेंसे मन-वचन-कायकी क्रियाका पूर्ण निरोध तो प्रायः देहसे मुक्ति पानेतक नहीं हो सकता है, क्योंकि सूक्ष्म क्रियाएँ तो अनिच्छापूर्वक होती ही रहती हैं। इन क्रियाओंके द्वारा कर्मोंका आगमन होनेपर भी बिना राग-द्वेष-मोहके उनका सम्बन्ध आत्मासे नहीं होता। अतः निरी क्रियाएँ बन्धका कारण भी नहीं हैं। इसलिये इनका यथाशक्य निरोध करना चाहिये, और प्रयोजनीय क्रियाओंको यत्नाचारपूर्वक आसक्ति, कषाय और हिंसासे बचते हुए करना चाहिये।

कर्म-बन्धको रोकनेके उपाय बन्धके कारणोंसे विपरीत गुण हैं। यथा—प्रतीतिसहित स्वस्वरूपका सम्यक्-ज्ञान (आत्मज्ञानी अन्तर्मुखी हो जाता है, और कर्म-फल भोगते हुए भी उसकी वासनाएँ मन्द हो जाती हैं तथा प्रतिक्षण अधिक-अधिक मन्द होती जाती हैं), मन-वचन-कायकी क्रियाओंका निग्रह, यत्नाचारपूर्वक प्रयोजनीय क्रियाओंको करना, क्षमा, मार्दव आदि दस सामान्य धर्मोंका पालन, मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षाकी चार भावनाएँ भाना, संसारकी अनित्यता और दुःखरूपता, मृत्युकी प्रबलता, देहकी भिन्नता और अपवित्रता, अपने-अपने कर्मोंके फलोंको भोगनेमें अकेलापना, कर्मोंका और लोकका स्वरूप, धर्मकी महिमा और दुर्लभता, इनका बार-बार चिन्तन, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पञ्चमहाव्रतोंका पालन, वीतराग आत्माका आदरसहित चिन्तन, दुष्ट सङ्गतिका त्याग, क्षुधा-पिपासा

आदि शारीरिक दु:खों और राग, द्वेष, अपमान, अलाभ, संशय, काम, क्रोध, मद आदि मानसिक दु:खोंको समतासे सह लेना और उनके निमित्त कारणोंसे चलायमान नहीं होना, समता धारण करना और स्वस्वरूपके समान आचरण करना आदि।

तप भी कर्मबन्ध रोकनेका एक बहुत बड़ा उपाय है। यह पूर्वसञ्चित कर्मोंको भी अपने समयसे पहले झड़ा देता है। यह बाह्य और अभ्यन्तर-भेदसे दो प्रकारका है। शक्त्यनुसार उपवास करना, एक वक्त भोजन, युक्ताहार, युक्ताहारमें भी घर, पदार्थ आदिकी सीमा बाँधना, रसोंका त्याग, एकान्तसेवन और विधिपूर्वक समताभावसे कायक्लेश करना—ये बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, साधुओं और गुरुओंकी सेवा और विनय, ज्ञानाभ्यास, बाह्य पदार्थोंका और तत्सम्बन्धी ममता और वासनाका त्याग, चित्तशुद्धि और ध्यान—ये अन्तरङ्ग तप हैं। इनमें ध्यान सर्वश्रेष्ठ है। ध्यानके बिना आत्मसिद्धि नहीं होती है। अन्य सब साधन ध्यानकी ही सिद्धिके लिये हैं। ध्यानी ही सच्चा योगी है। परमात्मावस्था भी तो एक तरहकी ध्यानावस्था ही है।

चित्तवृत्तिको अन्य सब क्रियाओं और पदार्थोंसे हटाकर एक पदार्थमें लगाना, इस एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहते हैं। उत्तम संहननवाले बलवान् शरीरधारीके ही यह ध्यान थोड़े-से कालतक हो सकता है। यह दो तरहका है—संसारसम्बन्धी और मोक्षसम्बन्धी। प्रथमके दो भेद हैं—इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग और पीड़ा, इनके होनेपर व्याकुल होकर इनके दूर होनेका चिन्तन करते रहना तथा भावी विषयभोगका विचार करते रहना, यह आर्तध्यान है जो तिर्यक् गतिको ले जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी और विषयभोग, इनमें आनन्द मानना और इनका ही विचार करते रहना, यह रौद्र ध्यान है और इसका फल नरक है। ये हेय हैं। इनको त्यागकर धर्म-ध्यानका आश्रय लेना चाहिये। तत्त्वज्ञानका चिन्तन, दयाभावका या पापसे मुक्ति पानेका चिन्तन, कर्म-स्वरूपका चिन्तन और तीन लोकके स्वरूपका और लोकमें आत्माके परिभ्रमणका—जन्म-मरणका—चिन्तन, ये चार भेद धर्म-ध्यानके हैं। पिण्डस्थ (शरीरस्थ निज आत्माका ध्यान), पदस्थ (मन्त्राक्षरोंका ध्यान), रूपस्थ (शरीरसहित परमैश्वर्ययुक्त सर्वज्ञ वीतरागी आत्माका ध्यान) और रूपातीत (अरूपी, देहमुक्त, सच्चिदानन्दमय आत्माका ध्यान), ये चार ध्यान धर्म-ध्यानके चतुर्थ भेद लोकसंस्थान-ध्यानके अन्तर्गत हैं। पिण्डस्थ ध्यानके अन्तर्गत पाँच धारणाएँ हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तात्त्विक। इन धारणाओंमें क्रमशः पृथ्वीपर, सागरके बीच, सुमेरुपर, निजात्माको शान्त और तेजस्वीरूपमें विचारकर, निज कर्मोंका अग्निसे भस्म हो जाना, हवासे उड़ जाना, जलसे धुल जाना विचार करके अन्तमें कर्ममलरहित निज शुद्ध स्वरूपका विचार होता है।

बुरे विचारों तथा वासनाओंको दूर करनेके लिये भिन्न-भिन्न रुचिवालोंके लिये ऊपर लिखे उपाय कितने उपयोगी हैं यह मनोविज्ञानसे परिचित पाठकोंसे छिपा नहीं रह सकता। कोई आत्मस्वरूपका चिन्तन कर सकते हैं तो कोई साकार सशरीर ईश्वरका और कोई अशरीर ब्रह्मका। कइयोंको संसारकी नि:सारतासे वैराग्य होता है तो कइयोंको पापके दु:खरूप होनेसे अथवा जन्म-मरणकी भीतिसे। कर्मफलके चिन्तनसे पापसे भीति होती है और सुख-दु:खका असली कारण जानकर क्रोधादि नष्ट होकर समताभाव आता है। जो भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्यके प्रेमी हैं वे उत्कृष्ट भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्ययुक्त सशरीर पूर्णात्माका चिन्तन कर शनै:-शनै: आत्माके प्रेमी बनते हैं। कई क्रोधादिका उनके विरोधी-भाव क्षमादिसे नाश करते हैं। पार्थिवी आदि धारणाएँ एक तरहका गहरा स्वयं सूचन (Self-suggestion) हैं। ज्ञानाभ्यास, ध्यान आदिके तीन काय होते हैं—(१) चित्त-वृत्तिके एक ही क्रियामें अकषायभावसे होनेसे तथा अन्य क्रियाओंके निरोधसे नवीन बन्धका अभाव। (२) उस समय उदय होनेवाले कर्मोंके फलोंकी ओर उपयोग न होनेसे उनका बिना कषायभाव उत्तेजित किये झड़ जाना। (३) ज्ञानादिके जरिये पुरातन वासनाओंके संस्कारोंको निर्बल कर देना। संक्षेपमें, जितने अंशमें त्याग और शान्ति है उतने ही अंशमें बन्ध नहीं होता है।

योगका अभ्यास करते समय तपस्या, संयम, ध्यान, अहिंसा, अचौर्य, मैत्री आदिकी भावना आदिके फलसे, कर्मोंके अल्पाधिक क्षयोपशम होनेपर कई अद्भुत शक्तियाँ अल्पाधिक अंशोंमें प्रकट होती हैं। ये कुछ तो ज्ञान-सम्बन्धी होती हैं, यथा—अद्भुत बुद्धि, अद्भुत स्मृति-शक्ति, अद्भुत इन्द्रिय-शक्ति, देशकालकी सीमाको

लिये भूत, भविष्य, वर्तमानकालके दूरस्थ और समीपस्थ पौद्गलिक पदार्थोंको जानना तथा स्व और परके पूर्व और आगामी जन्मोंको जानना (अवधिज्ञान), मनपर्ययज्ञान अर्थात् दूसरेके मनमें रहे हुए पदार्थोंको जानना आदि; कुछ तप और संयमसम्बन्धी होती हैं, यथा कठोर तप करनेकी शक्ति, शरीरको तनिक भी निर्बल किये बिना दीर्घकालीन और अनेक उपवास कर सकना; जल, थल, आकाशमें और वनस्पति आदिपर बिना किसी जीवको बाधा पहुँचाये विहार कर सकना आदि; तथा कुछ शरीरसम्बन्धी और अन्य तरहकी होती हैं, यथा सर्वौषधि ऋद्धि (दृष्टि या वचनसे, या शरीरके स्पर्शसे, या शरीरके मल या स्वेदसे, अथवा शरीर-संस्पर्शी रज, पवन आदिसे असाध्य भी रोग, विष आदिका दूर हो जाना), बल ऋद्धि (अपार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक बल, बिना थके हुए एक मुहूर्तके भीतर समस्त शास्त्रोंका चिन्तन या उच्चारण कर सकना आदि), रस ऋद्धि (क्रुद्ध होनेपर दृष्टि या वचनसे दूसरेको विषाभिभूत करके मार सकना, कर-स्पर्शसे नीरस आहारका भी स्वादिष्ट रससंयुक्त हो जाना अथवा वचनसे ही दूसरोंको अमृत-भोजन किये-जैसा तृप्त कर देना आदि), अक्षीणमहानसर्द्धि (योगीको जिस पात्रसे या जिस वस्तुका आहार दिया जाय वह अत्यल्प होनेपर भी उससे या उसको चाहे जितने प्राणियोंको खिला देनेपर भी उस दिनके लिये उसका अक्षय होना), विक्रिया ऋद्धि जो दो तरहकी होती है, पृथक् (अपने शरीरके सिवा दूसरे शरीरादि बना सकना) और अपृथक् (अपने शरीरको ही अनेक आकाररूप बना सकना और उसको अति भारी, अति हलका, अति सूक्ष्म, सुमेरुसे भी अति महान्, अति दीर्घ, अति छोटा आदि कर सकना, भूमिपर बैठे-बैठे मेरुके शिखरको या सूर्यको छू सकना, अन्तर्धान हो सकना, पहाड़में भी आकाशके समान गमनागमन कर सकना, जलमें थलके समान और थलमें जलके समान सञ्चार कर सकना, सर्ववशीकरण आदि)। क्षेत्र ऋद्धि (योगीके ठहरनेका स्थान जरा-सा होनेपर भी उसमें अपरिमित मनुष्योंका सुखसे समा सकना), आहारक शरीर (तीर्थ-दर्शनके लिये या सन्देहके निवारणार्थ अति दूरस्थ उत्कृष्ट ज्ञानी—केवली या श्रुतकेवली—के पास जानेके लिये मुनिके मस्तकसे रसादि धातुरहित, एक हाथ प्रमाण, चन्द्रिका-समान श्वेत शरीर निकलना), तीव्र शुभ परिणामोंसे उत्पन्न हुआ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिको दूर करता है, और तीव्र अशुभ रौद्र परिणामोंसे उत्पन्न हुआ अशुभ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशके सर्व वनस्पति, प्राणी आदिको भस्म कर अन्तमें मुनिके भी शरीरको भस्म कर देता है। विद्या-देवताओं या मन्त्र-देवताओंकी अधीनता या कृपासे भी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

योगीकी अद्भुत शक्तियाँ प्रकृतिके नियमोंके विरुद्ध नहीं होतीं। प्रत्येक पदार्थके अनन्त गुण हैं, परन्तु साधारण मनुष्योंका ज्ञान अत्यल्प है। जब पदार्थोंके ज्ञात गुणोंसे विचित्र कोई घटना हो जाती है तो लोग उसे अप्राकृतिक कहने लगते हैं। वस्तुतः कोई कार्य या घटना अप्राकृतिक (Unnatural या Supernatural) हो ही नहीं सकती। आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे मानते हैं कि हमारे विचार और चारित्र्यका प्रभाव हमारे शरीर तथा बाहरी पदार्थोंपर भी पड़ता है।

योगकी विभूतियोंमेंसे बहुत-सी तो आत्मज्ञानी योगीको ही प्राप्त होती हैं, और कुछ अज्ञानियोंको भी तप, संयम आदिसे मिल जाती हैं। जो आत्मज्ञानसे रहित हैं या मोह-विमूढ़ हैं वे इनसे मोहित होकर तपसे भ्रष्ट हो जाते हैं, और इन शक्तियोंका सांसारिक अर्थोंके लिये उपयोग करने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप वे आत्मोन्नतिमें बाधा डालकर, आत्माको पतितकर, कर्म-बन्धसे इन शक्तियोंको ही नहीं खो देते हैं बल्कि नरकादि दुर्गतियोंके भी अधिकारी हो जाते हैं और जन्म-मरणके चक्रमें फँसे रहते हैं। परन्तु जो आत्मवेत्ता होते हैं, जिनको आत्माकी पूर्ण और अनन्त शक्तिमें श्रद्धा है वे इन्हें पराधीन, अपूर्ण, अस्थिर और पूर्ण आत्मशक्तिका एक किरणांशमात्र समझकर इनसे निरपेक्ष रहते हैं और आत्माकी पूर्णोपलब्धिके लिये अग्रसर होते रहते हैं।

धर्म-ध्यानके साधनसे शुक्ल-ध्यानकी सामर्थ्य होती है। शुक्ल-ध्यान मोक्षका साक्षात् कारण है। इसमें तल्लीनता होती है—ध्यान, ध्याता और ध्येयका भेद मिट जाता है। इसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, और व्युपरत क्रियानिवृत्ति। प्रथममें

वितर्क और विचार दोनों होता है, और यह मन, वचन, काय इन तीनों क्रियावालेके हो सकता है। दूसरा वितर्कसहित पर विचाररहित होता है, और यह एक क्रियावालेके ही हो सकता है। तीसरेमें सिर्फ सूक्ष्म देहक्रिया रहती है और चौथा सर्वथा क्रियारहित होता है। अन्तिम दो ध्यान तो जीवन्मुक्त सर्वज्ञ (अरहन्त)-के ही हो सकते हैं; और प्रथम दो ध्यान उत्तम शरीर-संहननवाला सम्पूर्ण शब्दब्रह्मका ज्ञाता (श्रुतकेवली) योगी ही कर सकता है। ऐसा योगी शुक्ल-ध्यानके प्रथम दो भेदोंसे आत्मामें लीन होकर मोहनीय कर्मको और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय इन तीन शेष घातिया कर्मोंको विनष्ट कर देता है। उनके नष्ट होते ही विशुद्ध स्वस्वरूप उपलब्धि, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। तब आत्मा आत्माके ही जरिये, बिना किसी इन्द्रिय या मनकी सहायताके, बिना तर्क या अनुमानके, लोकालोकके सर्व पदार्थोंको उनके अनन्त धर्मों और उनकी त्रिकालीन सर्व अवस्थाओंसहित, युगपत् और सदा हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है। अगर आयु-कर्मके शेष रहनेसे वह आत्मा इस शरीरमें रहे तो वह सर्वथा निःस्पृह होकर आत्मलीन होता हुआ, सिर्फ अपने अनन्त ज्ञानादि गुणोंको ही भोगता हुआ रहता है। इसीको जीवन्मुक्तावस्था, कैवल्यावस्था या अरहन्तावस्था कहते हैं। यही रूपस्थ ध्यानका ध्येय है। वह आत्मा क्षुधा, तृषा, रोग, चिन्ता, श्रान्ति (थकावट), निद्रा, स्वेद, राग, द्वेष, मोह, इच्छा, कषाय, विस्मय, शोक, भय, मद, ग्लानि, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे रहित रहता है। उसकी देह धातु-उपधातुरहित, मलरहित, छायारहित, अति सुन्दर हो जाती है। उनके नख, केश नहीं बढ़ते हैं और उसकी पलकें नहीं झपकती हैं। वह कवलाहार नहीं करता है। जहाँ वह रहता है वहाँ सदा प्रकाश रहता है और उस स्थानमें रहनेवाले प्राणियोंको भूख, प्यास, शोक, वैर, भय नहीं सताते हैं। वहाँ सब ऋतुओंके फल-फूल एक साथ उत्पन्न होते हैं। आकाश, दिशाएँ और भूमि निर्मल रहती हैं और सुगन्धयुत, मन्द, सुखद पवन बहता है। उसके आस-पास चारों दिशाओंमें सौ-सौ योजनतक दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव नहीं होते हैं। समस्त विद्याओंका स्वामीपना, सब सुरासुरों और इन्द्र-नरेन्द्रोंसे पूजितपना, चारों दिशाओंमें मुख दीखना, अदया और उपसर्गका अभाव अर्थात् न किसीको बाधा देना और न किसीसे बाधित होना, आकाशमें गमन और उस समय चरणतले देवोंके द्वारा कमलोंका बिछाया जाना, देवनिर्मित अति मनोज्ञ और विस्तीर्ण सभामन्दिरमें दर्शनमात्रसे अभिमानको हरनेवाला मानस्तम्भ, और शोकको हरनेवाला अशोक वृक्ष, दर्शकके कई जन्म-जन्मान्तरोंको दिखानेवाला भामण्डल, रत्नमय सिंहासन, तीन छत्र, यक्षोंसे ढुलाये गये चँवर, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि और जय-जयध्वनि इन देवकृत अष्ट प्रतिहार्योंका होना तथा वहाँपर सर्वभाषारूप परिणत होनेवाली अनक्षरी दिव्य ध्वनिका, बिना इच्छाके और बिना ओठोंके हिलाये, सर्वज्ञके तनसे निकलना और उसके द्वारा प्राणियोंके सम्पूर्ण वाङ्मय ज्ञानका बोध होना आदि अनेक बाह्य विभूतियाँ उस जीवन्मुक्तके होती हैं (कइयोंके दिव्य ध्वनि नहीं भी होती है, अतः सभामन्दिर आदि भी नहीं होते हैं)।

आयु-कर्मकी समाप्तिके समय जीवन्मुक्तके शुक्लध्यानके अन्तिम दो ध्यान क्रमशः बिना किसी यत्नके स्वतः ही होते हैं। उनसे अवशेष अघातिया कर्म भी दूर होकर, सर्वदेह और सर्वकर्मसे मुक्त आत्मा सिद्धावस्थाको प्राप्त होती है, जिसमें कि वह मनरहित, वचनरहित, कायरहित और समस्त अनात्मीय पदार्थोंके सम्बन्धसे रहित होकर निज अनन्त ज्ञान, आनन्दादि अनन्त धर्मोंको सदाकाल भोगती रहती है—स्वस्वरूप हो रहती है।*

---

* इस लेखके अधिकांशमें जैनधर्मके अनुसार प्रतिपादन किया गया है।
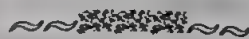
शिवयोग

(लेखक—पण्डितवर्य श्रीकाशीनाथजी शास्त्री, मैसूर)

योगशास्त्रके प्रवर्तक पतञ्जलि महर्षिजीने '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' इस सूत्रमें चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहा है। चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें साधनीभूत जो योग हैं वे पाँच प्रकारके हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग और शिवयोग।

एकाक्षरं द्व्यक्षरं वा षडक्षरमथापि वा।
अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी जपेत् सदा॥

'एकाक्षरात्मक '**ॐ**' मन्त्रको अथवा द्व्यक्षरात्मक '**हंसः**' अथवा '**सोऽहम्**' मन्त्रको, अथवा षडक्षरात्मक '**ॐ नमः शिवायः**' मन्त्रको, अथवा अष्टाक्षरात्मक '**ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय**' मन्त्रको मन्त्रक्रमके अनुसार मोक्षप्राप्तिके लिये जपना मन्त्रयोग कहाता है।'

यस्य चित्तं निजध्येये मनसा मरुता सह।
लीनं भवति नादे वा लययोगी स एव हि॥

'चित्तका अपनी ध्येय मूर्तिमें अथवा प्राणायामसे अभिव्यक्त नादमें मन और मारुतके साथ लय होना लययोग कहाता है।'

भवेदष्टाङ्गमार्गेण मुद्राकरणबन्धनैः।
तथा केवलकुम्भे वा हठयोगी वशानिलः॥

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि–नामसे प्रसिद्ध जो अष्टाङ्गयोग है उसके द्वारा; अथवा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, और शक्तिचालन आदि दस प्रकारके बन्धसमूहोंसे; अथवा धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति इन षट् कर्मोंसे; अथवा रेचक, पूरक प्राणायामोंको छोड़कर केवल कुम्भक प्राणायामसे वायुको वशमें कर लेना हठयोग कहाता है।'

त्रिषु लक्ष्येषु यो ब्रह्मसाक्षात्कारं गमिष्यति।
ज्ञाने वाथ मनोवृत्तिरहितो राजयोगवित्।

'जो मनुष्य बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य, अन्तर्लक्ष्यादिसे अथवा अमनस्कज्ञान (अन्तर्मुद्राज्ञान)-से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है उसीको मनोव्यापाररहित 'राजयोगी' कहते हैं।' और इस प्रकारके अभ्यासको ही राजयोग कहते हैं एवं निर्दिष्ट चार प्रकारके योगोंमें राजयोग ही सबसे श्रेष्ठ है।

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्त्वतः।
शिवार्थिनां तथाप्येवमुक्तो बुद्धेः प्रवृद्धये॥

'राजयोग और शिवयोगमें पारमार्थिक दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। तथापि परशिवब्रह्मके साक्षात्कार चाहनेवाले मुमुक्षुओंकी ज्ञानवृद्धिके लिये 'शिवयोग' का प्रतिपादन किया गया है।'

प्रतिपाद्यस्तयोर्भेदस्तथा शिवरतात्मनाम्।
तस्मान्मनीषिभिर्ग्राह्यः शिवयोगस्तु केवलम्॥

'राजयोग और शिवयोग इन दोनोंमें क्या भेद है, इस विषयको शिवप्रेमियोंके लिये बतलाना आवश्यक है। मुमुक्षुजनोंको चाहिये कि वे इसको समझकर शिवयोगका ही अङ्गीकार करें।' गुणत्रयसाक्षात्कार ही तारकत्रय है, प्रकृतिमें मनको लय करना ही अमनस्कता है। इस बातको अच्छी तरहसे जानकर पुरुषसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करना ही राजयोग है, यह पातञ्जलयोगशास्त्रमें कहा गया है। परन्तु शिवागमोंमें शिवभक्तिके आधारभूत महाकुण्डलिनीजन्य तारकत्रयके साक्षात्कारद्वारा उस शक्तिमें वृत्तिज्ञानको लय करके सर्वतोमुखव्याप्त शिवतत्त्वाभिव्यक्तिको ही 'शिवयोग' कहा गया है।

ज्ञानं शिवमयं भक्तिः शैवी ध्यानं शिवात्मकम्।
शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा॥

'इस शिवयोगके शिवज्ञान, शिवभक्ति, शिवध्यान, शिवव्रत और शिवपूजा नामसे पाँच प्रकार हैं।' शिवपूजामें शिवज्ञानादिका अन्तर्भाव होनेके कारण प्रधानतया शिवपूजाको ही शिवयोग कहते हैं।

शिवार्चनविहीनो यः पशुरेव न संशयः।
स तु संसारचक्रेऽस्मिन्नजस्त्रं परिवर्तते॥

'जो मनुष्य शिवपूजारूप शिवयोगसे विमुख रहता है वह निश्चय ही पशु कहलाता है और वह संसारचक्रमें जननमरणादिकोंसे परिभ्रमण करता रहता है।'

अन्तर्योगो बहिर्योगो द्विविधं तच्छिवार्चनम्।
मुख्या चाभ्यन्तरी पूजा सा च बाह्यार्चनोदिता॥

'शिवपूजाके दो प्रकार हैं एक अन्तःपूजा और दूसरी बहिःपूजा। इन दोनोंमें अन्तःपूजा ही मुख्य है। वह अन्तःपूजा बाह्यलिङ्गपूजासे ही उत्पन्न होती है।' बाह्य इष्टलिङ्गपूजा किये बिना अन्तर्लिङ्गपूजा सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिये इष्टलिङ्गपूजा ही अन्तर्लिङ्गपूजाका मुख्य साधन है।

त्रिनेत्रं त्रिगुणाधारं त्रिमलक्षयकारणम्।
सर्वमङ्गलया देव्या निजवामाङ्गशोभितम्॥
परं शिवं हृदि ध्यात्वा निश्चलीभूतमानसः।
यजेदाभ्यन्तरद्रव्यैरवधानेन तद्यथा॥
शमाम्बुपरिषेचनं सकलपूर्णभावाम्बरं
त्रिशक्तिगुणसंयुतं विहितयज्ञसूत्रं तथा।
स्वसंविदनुलेपनं समधिकानुकम्पाक्षतान्
शिवाय विनिवेदयेत् प्रकटभक्तिपुष्पाणि च॥
धूपमान्तरचतुष्टयेन तद्दीपमिन्द्रियगुणोत्करेण तु।
कल्पयेच्च सुखदुःखवर्जितं जीवरूपमुपहारमान्तरे॥
रजस्तमःसत्त्वगुणत्रयाख्यताम्बूलकं प्राणनमस्कृतिं च।
इत्येवमाभ्यन्तरमुख्यपूजाद्रव्याणि सम्पादय शङ्कराय॥

'त्रिनेत्री, त्रिगुणाधार, आणवादि मलत्रयको नाश करनेवाले और अपने वामभागमें उमादेवीसे शोभायमान ऐसे शिव परमात्माका हृदयकमलमें एकाग्रचित्तसे ध्यान करते हुए आभ्यन्तर उपचारोंसे उनकी पूजा करनी चाहिये। आभ्यन्तर उपचारोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शान्ति ही अभिषेकजल, विश्वव्यापकताभाव ही वस्त्र, इच्छाज्ञानक्रियात्मक शक्तित्रय ही यज्ञोपवीत, स्वस्वरूपज्ञान ही गन्धानुलेपन, अत्यधिक दया ही अक्षत, परिशुद्ध भक्ति ही पुष्प, मनोबुद्धिअहंकार-परमान्तःकरणचतुष्टय ही धूप, इन्द्रियगुणोत्कर ही दीप, सुखदुःखरहित आत्मस्वरूप ही नैवेद्य, सत्त्वरजस्तमो-गुणत्रय ही ताम्बूल और प्राण ही नमस्कार है। इस प्रकार आभ्यन्तरोपचारोंसे शिव परमात्माका पूजन करना चाहिये।'

शिवयोगसाधकोंको शिवयोग ही साध्य है, और हठयोग तो साधनमात्र है। हठयोग बाह्य और आन्तर अष्टाङ्गोंसे युक्त है। वीरशैवोंको आन्तर अष्टाङ्गात्मक हठयोगद्वारा शिवयोगका साधन करना चाहिये।

यमनियमगुणैश्च स्वात्मशुद्धिं विधाय
स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थिरात्मा।
असुनियमजलेन स्नापयेद्दिव्यलिङ्गं
प्रकटितचतुरङ्गं बाह्यमेतद्विधानम्॥
शम्भोरथेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
ध्यानं प्रसूननिचयो दृढधारणा सा।
धूपः समाधिरथशुद्धमहोपहारं
आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत्॥
एवमष्टाङ्गयोगेन सदान्तःपद्मसद्मनि।
पूजयेत्परमं देवं किं बाह्यैर्देवपूजनैः॥

'यम-नियमोंके सम्बन्धी चौबीस गुणोंसे आत्मशुद्धि करना और अपने वशीभूत पद्मादि आसनोंसे देहको स्थिर करना और प्राणायामरूपी जलसे दिव्य लिङ्गका अभिषेक करना, इसीको बाह्य चतुरङ्ग कहते हैं। शिवजीके नेत्रादि इन्द्रियोंका विषयनिवृत्तिरूप प्रत्याहार ही गन्ध है, उस इन्द्रियनिवृत्तिसे अन्तर्मुख हुए मनमें जो शिवध्यान किया जाता है वही पुष्प है, उन्हीं शिवजीको दृढ़ताके साथ धारण करना ही धारणा है, और ज्ञाताज्ञातरूप समाधि ही नैवेद्य है। इसीको आभ्यन्तर चतुरङ्ग कहते हैं। शिवयोगी लोग इस प्रकार अष्टाङ्गयोगका साधन करते हुए अपने हृदयकमलमें शिव परमात्माका पूजन करें।'

वीरशैवमतमें 'भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण, ऐक्य नामसे प्रसिद्ध जो षट्स्थल हैं' वे ही शिवयोगके मुख्याङ्ग हैं। यम-नियमादि अष्टाङ्गोंका भी षट्स्थलोंमें ही समावेश होता है।

यमेन नियमेनैव मन्ये भक्त इति स्वयम्।
स्थिरासनसमायुक्तो महेश्वरपदान्वितः॥
चराचरलयस्थानं लिङ्गमाकाशसंज्ञकम्।
प्राणे तद्व्योम्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेत् पुमान्॥
प्रत्याहारेण संयुक्तः प्रसादीति न संशयः।
ध्यानधारणसम्पन्नः शरणस्थलवान् सुधीः॥
लिङ्गैक्योऽद्वैतभावात्मा निश्चलैकसमाधिना।
एवमष्टाङ्गयोगेन वीरशैवो भवेन्नरः॥

'यम-नियमोंसे जो युक्त है उसीको 'भक्त' कहते हैं। आसनसे जो युक्त है उसको 'महेश्वर' कहते हैं। चराचर प्रपञ्चका जिस लिङ्गमें लय होता है उस लिङ्गको 'आकाश' कहते हैं, ऐसे आकाशमें जो मनुष्य अपने प्राणको लय करता है उसीको 'प्राणलिङ्गी' कहते हैं। प्रत्याहारसे जो युक्त है उसको 'प्रसादी'

कहते हैं। शिव परमात्माके ध्यान-धारणादिसे जो युक्त है उसीको 'शरण' कहते हैं। समाधिमें जिसका मन स्थिर हुआ है और जिसको अद्वैत भाव उत्पन्न हुआ है उसीको 'ऐक्य' कहते हैं। इस प्रकार अष्टाङ्गरूपी षट्स्थलोंका आचरण करनेवाला सज्जन ही 'वीरशैव' होता है।' लिङ्गपुराणके प्रमाणोंसे भी इसी विषयका बोध होता है—

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम्।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति केवलम्॥

'भ्रमरके योगसे कीड़ा जैसे प्रत्यक्ष भ्रमर ही होता है उसी प्रकार मानव भी शिवयोगसे केवल शिव ही हो जाता है।' यही शिवयोगका रहस्य है। अस्तु।

सत्यमार्गप्रविष्टानां कल्याणं मङ्गलं शुभम्।

पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास

(लेखक—श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम्० ए०)

मालूम होता है कि प्राचीन कालमें परिव्राजक साधुओंका एक ऐसा समुदाय था जो योगी कहलाते थे और जो किसी एक स्थानपर टिककर नहीं रहते थे। ये लोग जितेन्द्रिय होते थे और सदा योगेश्वर-भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यानमें रत रहा करते थे तथा इस नश्वर एवं मिथ्या सांसारिक जीवनके बन्धनसे मुक्त होनेकी खोजमें रहते थे।

इस प्रकारके परिव्राजक मुनि इस देशकी स्थायी सम्पत्ति रहे हैं। यवन यात्री मेगस्थनीज़से लेकर, जो ईसामसीहसे चार सौ वर्ष पूर्व यहाँ आया था, जितने विदेशी यात्री और अभ्यागत इस प्राचीन देशमें आये उन सभीने इस प्रकारके योगियोंकी बातें लिखी हैं और आज भी ऐसे लोगोंसे हम अपरिचित नहीं हैं। गत चार-पाँच सौ वर्षोंमें जो यात्री यहाँ आये उनके वृत्तान्त* को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि योगी भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियोंके होते थे।

सिन्धुप्रदेशमें पुरातत्त्ववेत्ताओंको जो कुछ ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं उनको देखनेसे यह पता लगता है कि ईसवी सन्‌से ३००० वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारतवर्षमें योगका किसी-न-किसी रूपमें अवश्य प्रचार था। इन ध्वंसावशेषोंमें कुछ खण्डित पत्थरकी मूर्तियाँ भी हैं 'जिनका, ग्रीवा और धड़ बिलकुल सीधा है और जिनके अर्धनिमीलित नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं।' और योगाभ्यास करनेवालोंके बैठनेका यही ढंग शास्त्रोंमें वर्णित है, (देखिये R. Chanda: Memoirs of Archaeological Survey of India, No. 41, pp. 33-34) वायुपुराणके पाशुपतयोगविषयक अध्यायोंमें इस प्रकारका जो वर्णन मिलता है उसका उपर्युक्त वर्णनसे मिलान करनेसे इस निर्णयपर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि प्रागैतिहासिक युगमें तथा ऐतिहासिक युगके प्रारम्भमें सिन्धुप्रदेशमें जो योगी रहते थे उनकी योगसाधना ही पाशुपतयोगका प्रारम्भिक रूप था। क्योंकि वायुपुराणमें लिखा है कि पाशुपतयोगका अभ्यास करनेवाला छाती तानकर बैठे, मस्तक और ग्रीवाको बिलकुल सीधा रखे और नेत्रोंको अर्धनिमीलित कर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करे, अन्य दिशाओंमें न जाने दे (देखिये वायुपुराण ११। १५-१६)। इससे योगसम्प्रदायकी प्राचीनता भलीभाँति सिद्ध होती है। यद्यपि इस सम्बन्धमें कुछ अनुमान करना साहसका काम है तथापि हमारी ऐसी धारणा होती है कि ऋग्वेदसंहिता और यजुर्वेदके संकलनके बीचके कालमें ही यह योगसम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ होगा। क्योंकि यजुर्वेदमें जटिल कर्म-कलापका वर्णन मिलता है और कर्मकाण्डपर विशेष ज़ोर दिया गया है। इस कर्मवादके सिद्धान्तका इतनी तेजीके साथ प्रभाव बढ़ा कि इतिहास-पुराणके युगमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलने लगे कि कर्म ही सब कुछ है। और योगसाधना भी उसीकी सफल होती है जो शास्त्रोक्त विधिसे कर्मका अनुष्ठान करता है।

योगकी परिपाटी तथा उसके सिद्धान्त निःसन्देह

* देखिये पद्मनाभ मेननरचित 'केरलदेशका इतिहास' खण्ड ३, पृ० ६४२—९।

आर्यसभ्यताके चिह्न हैं और सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताके प्रवर्तक द्राविड़ नहीं अपितु आर्य ही थे, इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें अन्य प्रमाणोंके साथ-साथ यह भी एक प्रमाण है। परन्तु यहाँ हमें इस विवादमें पड़ना नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि अधिक पहले नहीं तो कम-से-कम भारतीय इतिहासके ताम्रयुगमें सिन्धुप्रदेशमें इस आर्य परिपाटीका प्रचार रहा। यह तो एक संयोगकी बात है कि वायुपुराणमें भी पाशुपतयोगकी प्राचीनताके प्रमाण मिलते हैं। वायुपुराणकाल जो कुछ भी हो (इस प्रसंगमें देखिये लेखकका "Some Aspects of the *Vayupurāṇa*" शीर्षक निबन्ध जो मद्रास विश्वविद्यालयके मुखपत्रके सन् १९३३ के ग्यारहवें खण्डमें प्रकाशित हुआ है) उसके पाशुपतयोग-विषयक दस अध्यायोंमें योगके एक प्राचीन सम्प्रदायका वर्णन है। उक्त ग्रन्थके (११, १४ और १५) तीन अध्यायोंमें तो केवल पाशुपतयोगकी साधना और परिपाटीका ही वर्णन है और इनके अतिरिक्त भी कई अध्याय ऐसे हैं जो योगके मूल सम्प्रदायका अध्ययन करनेवालोंके लिये बहुत कामके हैं। इनमें योगोपसर्गों (योगके विघ्नों), योगैश्वर्यों (योगलभ्य सिद्धियों), शौचाचारलक्षण (योगक्रिया) आदिका वर्णन है। एक अध्याय माहेश्वरावतारयोगविषयक है जिसमें महेश्वर अथवा योगेश्वरके २८ अवतारोंका वर्णन है। प्रत्येक कल्पमें एक अवतार माना गया है। इसके अनन्तर उक्त ग्रन्थमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन है। आठ अङ्गोंके नाम ये हैं—आसन (बैठनेकी शैली), प्राणारोध (प्राणवायुको रोकना), प्रतिहार (इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण न करना), धारणा (चित्तको एकाग्र करना), ध्यान (किसी वस्तुका निरन्तर चिन्तन करना), समाधि (परमात्मामें वृत्तिको स्थिर करना), यम (प्रधान कर्तव्य) और नियम (गौणकर्म)। भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें इन अङ्गोंके जो लक्षण बताये हैं यह वर्णन भी उन्हींके अनुसार है (देखिये यो० सू० २। २९)। ईसामसीहसे ४०० वर्ष पुराना एक तामिलभाषाका व्याकरण है जिसे 'तोलकाप्पियम्' कहते हैं, उसमें भी इनका उल्लेख आता है। आगे चलकर, जैसा कि मैत्र्युपनिषद्के देखनेसे मालूम होता है, अष्टाङ्गयोगके दो अङ्गों, यम और नियमको निकाल दिया गया। फलतः अष्टाङ्गयोग षडङ्ग ही रह गया।

मानो यह प्रमाणित करनेके लिये कि इस पुराणका मूल बहुत प्राचीन है, वायुपुराणमें गृहस्थोंके कुछ धर्म बताये हैं। योगीलोग अनेक वेष धारणकर देशमें सर्वत्र विचरते रहते हैं। जब कभी वे किसी गृहस्थके यहाँ आवें गृहस्थका यह धर्म है कि वह उनका हृदयसे स्वागत करे और अपनी कल्याणवृद्धिके लिये उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा करे। दूसरी बात यह कही गयी है—जो पहलीकी अपेक्षा विलक्षण है—कि श्राद्धपक्षमें भी गृहस्थ जहाँतक हो सके इन्हीं योगियोंको ढूँढ़कर लावे और भोजन करावे, ऐसा करनेसे पितृगण पूर्ण सन्तुष्ट होते हैं। श्राद्धके दिन एक योगीको भोजन कराना हजार ब्राह्मणों अथवा ब्रह्मचारियोंको भोजन करानेके तुल्य कहा गया है। पुराणके इस वचनको पढ़कर आश्चर्य होता है। स्मृतिग्रन्थोंमें ब्रह्मचारियों तथा यतियोंको भोजन करानेका स्पष्ट निषेध किया गया है। श्राद्धके अवसरपर केवल गृहस्थोंको भोजन करानेका विधान है। अतः यह पुराण उस प्राचीन कालका लक्ष्य कराता है जब श्राद्धके दिन योगियोंको भोजन कराना महान् लाभ समझा जाता था। यह प्रथा किस कालमें प्रचलित थी और कब इसका लोप हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

ऊपरके वर्णनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है। हम भारतके प्रागैतिहासिककालकी जहाँतक खोज लगा सके हैं, हमें शिव, योगेश्वर अथवा महेश्वरकी उपासना ही सबसे प्राचीन मालूम होती है। अतएव योगके प्रारम्भिक स्वरूपमें इस उपासनाका गहरा समावेश था। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि पाशुपतयोग ही सबसे प्राचीन योगसाधना थी, और प्राणायामका यथाविधि अभ्यास ही इस योगका स्वरूप है। ब्राह्मणलोग जो आज भी त्रिकालसन्ध्योपासन करते हैं उसमें इस पाशुपतयोगका कुछ अंश सुरक्षित है। इस योगका आरम्भ उस समय प्राणायामके आधारपर ही हुआ और समयकी प्रगतिके साथ उसका शाखा-प्रशाखारूपमें विस्तार होता गया। इन शाखा-प्रशाखाओंसे हमारा इस समय कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत निबन्धका विषय केवल पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास है, आगे चलकर इस पाशुपतयोगका स्वरूप कुछ बदल गया, आचार्य शङ्करने अपने प्रसिद्ध शारीरकभाष्यमें पाशुपतमतका जो खण्डन किया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

योगशास्त्रके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त

(लेखक—स्वामीजी श्रीनित्यानन्दजी भारती)

योगशास्त्रका विषय इतना आवश्यक और उपादेय है कि अनादिकालसे ऋषि-मुनिलोग इसपर ध्यान देते और योगका अनुष्ठान करते चले आ रहे हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और सामान्य संस्कृत-साहित्यमें ही नहीं किन्तु न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शनतकमें योगका महत्त्व स्वीकार किया गया है। बहुत-सी उपनिषदोंमें भी योगके सम्बन्धमें उत्तमोत्तम विचार प्रकट किये गये हैं। यही काारण है कि गीता इस विषयमें सबसे आगे बढ़ गयी है—उसका कोई अध्याय ऐसा नहीं जिसमें योगके किसी-न-किसी सिद्धान्तका वर्णन न किया गया हो। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णकी गीता योगशास्त्रकी मानी हुई पुस्तक है और श्रीकृष्णजी महायोगेश्वर प्रसिद्ध हैं।

योगदर्शन महर्षि पतञ्जलिके योगसूत्रोंका दूसरा नाम है। इस दर्शनके सिद्धान्त इतने शुद्ध और निर्मल हैं कि प्रत्येक आस्तिक दर्शनमें किसी-न-किसी प्रकार इनपर विचार किया गया है। कारण यह है कि योगशास्त्रमें महर्षि पतञ्जलिने आत्मसाक्षात्कार और उसके उपायोंपर ऐसा सुन्दर लेख लिखा है कि दर्शनशास्त्रके बहुत-से रहस्य करामलकवत् सर्वथा निरावरण हो गये हैं। यह योगशास्त्र ही है जिसका अक्षरशः अनुकरण करके जैन और बौद्ध-सम्प्रदायोंमें अभ्यास तथा वैराग्यके स्तम्भ खड़े कर लिये गये हैं और आस्तिकक दर्शनोंका सामना किया गया है। यह योगशास्त्र ही है जिसके यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग नास्तिकोंको भी ऐसे ही मूल्यवान् प्रतीत होते हैं जैसे आस्तिकोंको। योगशास्त्रके सर्वप्रिय होनेमें यह एक विचित्र प्रकारकी विशेषता है।

वेदान्तदर्शनके रचयिता महर्षि व्यास तो योगदर्शनके इतने प्रशंसक थे कि उन्होंने पतञ्जलिके सूत्रोंपर स्वयं दिल लगाकर योगभाष्य लिखा है और योगके सम्बन्धमें बहुत-से बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं। इस छोटे-से लेखमें हमारी इच्छा है कि व्यासप्रदर्शित व्याख्यानकी सहायतासे योगशास्त्रके दार्शनिक सिद्धान्तोंकी यत्किञ्चित् विवेचना करें और यह विचारें कि दर्शनशास्त्रकी कठिन समस्याओंको योगशास्त्रमें किस प्रकार सुलझाकर सरल किया गया है।

यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधके उपाय तथा समाधिके प्रकार और नाना प्रकारकी योग-विभूतियोंका वैज्ञानिक व्याख्यान योगशास्त्रमें विस्तारपूर्वक किया गया है तथापि मोक्षविषयक उपेक्षा न करते हुए 'मनोविज्ञान' के कई गूढ़ रहस्योंपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस निबन्धमें हम जिज्ञासु विचारकोंको योगशास्त्रके दो-एक दार्शनिक सिद्धान्तोंसे परिचित करानेमें प्रवृत्त होते हैं। आशा है, जो लोग योगशास्त्रको दर्शनशास्त्र नहीं मानते उनके विचारोंमें इससे परिवर्तन हो सकेगा।

चित्त और जगत्का सम्बन्ध

चिरकालसे दार्शनिक विद्वानोंके सामने यह जटिल समस्या उपस्थित रही है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते हैं अथवा चित्तसे भिन्न इनकी बाहर स्वतन्त्र सत्ता है। बौद्ध विद्वानोंने बहुत ऊहापोह करनेके अनन्तर दृष्टिसृष्टिवादका सिद्धान्त स्थिर किया है और यह घोषणा की है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते हैं—इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कई एक मनोविज्ञान (Psychology)-के पाश्चात्त्य विद्वानोंका भी ऐसा ही सिद्धान्त है। न केवल यही बल्कि दृष्टि-सृष्टिवादको वेदान्तियोंने भी स्वीकार किया है और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंमें तो बलपूर्वक सिद्ध करके यह प्रतिपादन किया है कि जगत् मनसे ही निकला है और मनमें ही लीन होता है। दृष्टि-सृष्टिवादीका कथन है कि जगत्के पदार्थ ज्ञानके समय ही प्रतीत होते हैं ज्ञानके पहले या पीछे नहीं, इसलिये जगत् ज्ञानसमकालीन होनेके कारण ज्ञानसे भिन्न नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध—'धर्मकीर्ति' ने अपने विचारकी पुष्टिमें डङ्केकी चोट कहा है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्य इन्दाविवाद्वये॥

अर्थात् 'नील और नीलज्ञान सहोपलम्भनियमके कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं। यदि नील वस्तु, नीलज्ञानसे अतिरिक्त प्रतीत होती है तो यह भ्रान्तिमात्र है जैसे

एक ही चन्द्रमा भ्रान्तिसे दो चन्द्रमा मालूम पड़ते हैं।' तात्पर्य यह है कि जैसे एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमासे पृथक् नहीं किन्तु वही है और नील वस्तु उसी समय प्रतीत होती है जब नीलविषयक ज्ञान हो—ज्ञानकालके अतिरिक्त उसका सद्भाव प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जगत्‌के पदार्थ ज्ञानकालमें ही प्रकाशित होनेसे ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं। किसी भी वस्तुकी उपलब्धि ज्ञानके समय ही होती है बिना ज्ञानके नहीं—यही ज्ञान और वस्तुका सहोपलम्भनियम है।

परन्तु बौद्ध विद्वान्‌का यह कथन ठीक सिद्ध नहीं होता; क्योंकि नियत सहोपलम्भवाले सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न—एक नहीं होते। जैसे प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ। प्रकाशके होनेपर ही नील-पीतादि पदार्थोंकी प्रतीति होती है, अन्धकारमें नहीं। परन्तु इस सहोपलब्धिमात्रसे यदि कहा जाय कि प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ एक ही हैं—भिन्न-भिन्न नहीं, तो सर्वथा अनुभवविरुद्ध होगा, क्योंकि नील-पीतादि पदार्थोंके उठाने, धरने और टूटने-फूटनेसे प्रभा नहीं टूटती-फूटती। यदि नील घट और दीपकका प्रकाश परस्पर अभिन्न होते तो घटमें जल डालनेसे प्रभा बुझ जाती।

धर्मकीर्ति दूसरी युक्ति देता है कि—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्य नानुभवो परः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥

अर्थात् बुद्धि अथवा ज्ञानसे कोई अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नहीं है, ग्राहकसे भिन्न कोई ग्राह्य नहीं है—केवल बुद्धि (ज्ञान) स्वयं प्रकाश कर रही है। जिस ज्ञानसे जो पदार्थ जाना जाता अर्थात् ग्रहण किया जाता है वह ग्राहक ज्ञानसे पृथक् नहीं होता। जैसे आत्मा ज्ञानसे जाना जाता है और आत्मा ज्ञानसे पृथक् भिन्न सत्ता नहीं रखता किन्तु ज्ञानस्वरूप ही है। इसी प्रकार ज्ञान सब पदार्थोंका ग्राहक है और सब पदार्थ ज्ञानसे ही ग्रहण किये जानेसे ग्राह्य हैं, अतः यह ग्राह्य जगत् ग्राहक ज्ञानसे भिन्न नहीं है। स्वप्नके पदार्थोंका विज्ञानवेद्य मनोग्राह्य होना सभीको अनुभव होता है—जागनेपर उनका अस्तित्व नहीं रहता इसीलिये उनको मिथ्या कहते हैं। बौद्ध विद्वान् इसी विज्ञानवेद्यत्वहेतुसे जाग्रत्‌के बाह्य जगत्‌को स्वप्नके आन्तर जगत्‌के समान मिथ्या मानता है।

शोक है कि बौद्धोंका यह सिद्धान्त भी वेदान्तके एकदेशी कई व्याख्याता विद्वानोंने अपना लिया है। इस स्थानपर यदि हम ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्यकी सहायतासे काम लें तो बौद्धों और वेदान्तियोंको विचार करनेका बहुत उत्तम सुयोग प्राप्त हो सकता है। देखिये वेदान्तसूत्र—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्। (२।२।२९)

शांकरभाष्य—यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात्—इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितप्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्!—वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः—बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु, प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते, अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलिब्धस्तु जागरितदर्शनम्......इत्यादि।

'बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेवालेने जो यह कहा है कि—'जागरितके स्तम्भादि पदार्थोंका ज्ञान भी स्वप्नके पदार्थोंके ज्ञानके समान बिना बाह्य पदार्थोंके ही है, ज्ञान होनेके कारण। इसका खण्डन करो।' सो इसका उत्तर यह है कि जागरितके ज्ञान स्वप्नादिके ज्ञानके समान नहीं हो सकते। क्यों? वैधर्म्य होनेसे!—स्वप्न और जागरितका परस्पर अत्यन्त भेद है। क्या वैधर्म्य है? बाध और अबाध हम कहते हैं! सुनो, स्वप्नमें प्रतीत होनेवाली वस्तुका जागरितमें बाध हो जाता है—जागनेपर कहता है कि मैंने जो स्वप्नमें महाजनका समागम देखा है वह मिथ्या ही था; क्योंकि यदि सच ही मुझे इष्टमित्रादि मिले होते तो जागनेपर भी रहते, वास्तवमें बात यह है कि निद्रादोषके कारण मेरा मन ठिकाने नहीं था, इसीलिये यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार जैसे स्वप्नके पदार्थोंका बाध देखा गया है वैसे मायादिके पदार्थोंका भी बाध होता है, परन्तु जागरितमें उपलब्ध होनेवाले स्तम्भादि पदार्थ तो किसी भी अवस्थामें बाधको प्राप्त नहीं होते। न केवल यही किन्तु स्वप्न और जागरितमें एक और भी वैधर्म्य है—स्वप्नका देखना तो स्मृतिमात्र है और जागरितमें पदार्थोंका दर्शन उपलब्धि है। प्रत्येकको स्वयं अनुभव होता है कि

स्मृति और उपलब्धिमें महान् अन्तर है—स्मृतिमें पदार्थ नहीं होता और उपलब्धिमें पदार्थ उपस्थित होता है। जैसे प्रिय पुत्रका स्मरण करता हूँ अर्थात् पुत्र इस समय मेरे पास नहीं है उसको प्राप्त करना चाहता हूँ। ऐसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि जागरितके बाह्य पदार्थ स्वप्नके समान मिथ्या हैं। विचारशील विद्वानोंको अपने अनुभवका तो विरोध नहीं करना चाहिये।'—इत्यादि।

भगवच्छङ्कराचार्यने इसी भाष्यके अन्तमें कहा है कि स्वप्नके साधर्म्यसे जागरितके पदार्थोंको मिथ्या कहना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसा कि अग्निको जलके साधर्म्यसे शीत कहना।

साधर्म्यमात्रसे दो पदार्थोंको एक समझना और उनके परस्पर वैधर्म्यपर दृष्टि न डालना दर्शनशास्त्रमें बड़ी भयंकर भूल मानी गयी है। इसीलिये वैशेषिक दर्शनमें तत्त्वज्ञानके लिये साधर्म्य-वैधर्म्य दोनोंका ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। शाङ्करभाष्यके अनुसार जागरित और स्वप्नके पदार्थों तथा ज्ञानोंमें पदार्थत्व और ज्ञानत्व साधर्म्य होनेपर भी उनके परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी उपेक्षा नहीं की गयी। इसीलिये भगवत्पादोंने ठीक ही कहा है कि स्वप्नके पदार्थ बाधित हैं, जागरित पदार्थोंका किसी भी अवस्थामें बाध नहीं होता, स्वप्नके पदार्थ स्मृतिरूप हैं, जागरित पदार्थ उपलब्धिरूप हैं, जागरित पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है, स्वप्नके पदार्थ ज्ञानके अधीन कल्पित हैं।

जिस प्रकार शङ्करभगवान्ने 'धर्मकीर्ति' के सिद्धान्तका व्याससूत्रोंके भाष्यमें विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया है उसी प्रकार योगमें भी खुला विचार किया गया है। बौद्ध विद्वान् कहते हैं कि संसार मनःकल्पित है, चित्तने ही इसकी रचना की है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।
(योग० ४।१५)

यदि जगत् मनःकल्पित है तो यह बतलाओ कि एक ही वस्तुमें अनेक ज्ञानोंका क्या कारण है?—एक ही स्त्रीमें कामी पुरुषको प्रेम होता है, शत्रुको द्वेष होता है, विमूढको विषाद होता है और ज्ञानीको वैराग्य होता है। एक ही कर्मको धर्मात्मा सुखकारक समझता है, पापी दुःखदायक मानता है, विमूढ उपेक्षायोग्य कहता है इत्यादि। वास्तवमें ज्ञानका मार्ग और है और वस्तुका मार्ग और है—दोनोंमें महान् अन्तर है, ज्ञान और पदार्थ एक नहीं है। यदि जगत्के पदार्थ ज्ञान अथवा मनसे कल्पित होते तो एक वस्तुमें अनेक प्रकारके ज्ञान न होते। इसपर यह भी ज्ञातव्य है कि वे एक मनके कल्पित हैं या अनेक मनोंके कल्पित हैं। एक मन (ज्ञान)-से तो यह अनेक पदार्थोंसे भरा संसार उत्पन्न हो नहीं सकता, क्योंकि परिच्छिन्न मन महान् जगत्को कैसे रच सकता है और न कोई मन ही ऐसा है जिसके अन्दरसे लाखों मन परिमाणवाले पर्वतादि उत्पन्न हो सकें। यदि हम रेलगाड़ीको दौड़ते हुए देखें तो बौद्धदृष्टिसे इसका यह तात्पर्य होगा कि रेलगाड़ी हमारे मनसे निकली—रेलके सैकड़ों यात्री, उनके ट्रंक, बिस्तरे, सामान तथा अन्य पदार्थ उस क्षणभरमें हमारे अन्दरसे पटरीपर आ पड़े और शृङ्खलाबद्ध होकर सामने आ गये तथा थोड़ी देर पश्चात् जब गाड़ी हमारी आँखोंसे ओझल हो गयी तो सारे डब्बे, यात्री, उनके सामान हमारे मनःकोटरमें प्रविष्ट हो गये। जिन लोगोंने कारखानोंमें लोहेके इञ्जिन, गाड़ियाँ आदि बनाया, गार्ड, ड्राइवर, यात्री, उनके परिवारको उत्पन्न करने तथा शिक्षित करनेमें वर्षों लगा दिया। उनका यह सब व्यर्थ और झूठा और यह क्षणभरके देखनेवाले, अपने मनको इस दृश्यका रचयिता कहनेवाले महाशय सच्चे—यह बात मानना किसी लौकिक या परीक्षकको समुचित नहीं मालूम होगा।

दूसरा दोष यह है कि एक चित्तकी कल्पित की हुई वस्तुको दूसरा चित्त कभी नहीं देख सकता। जैसे देवदत्तके मनने जो स्वप्नदृश्य कल्पित किया उस स्वप्नके दृश्यको यज्ञदत्त या विष्णुमित्रादि कोई अन्य व्यक्ति नहीं देख सकता। यदि यह बाह्य जगत् किसी एक चित्तका कल्पित होता तो दूसरे चित्तोंसे कदापि दृश्य न होता, परन्तु इस जगत्को संसारके सभी लोग देखते हैं, इसलिये भी वस्तु और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं तथा मनसे जगत् उत्पन्न नहीं होता और जागरितके पदार्थ स्वप्नके समान नहीं हैं।

यदि कहा जाय कि अनेक ज्ञानों (चित्तों)-ने जगत्की कल्पना की है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अनेक चित्तोंसे एक वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यदि अनेक कर्मकर्ता लोगोंसे गृह, मन्दिरके समान माना जाय तो एक ही वस्तुके अनेक भागोंको अनेक चित्तोंसे रचित मानना होगा परन्तु यह अनुभवविरुद्ध है। एक वृक्षको पचास लोगोंने देखा तो एक भागको किसीने रचा, दूसरे भागको किसीने, अन्य भागोंको अन्योंने—यह मानना प्रमाणशून्य है।

दृष्टिसृष्टिवादीका मत है कि ज्ञान समकालीन ही पदार्थ है, ज्ञानके पूर्व तथा उत्तर क्षणोंमें उनका भाव नहीं रहता; महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।

(योग० ४।१६)

अर्थात् वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है; क्योंकि जिस समय वस्तु उस चित्त (ज्ञान)-के अधीन न होगी, तब क्या नष्ट होगी?

जिस कालमें चित्तका वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं है अथवा सम्बन्ध निवृत्त हो चुका है या उस वस्तुसे भिन्न किसी अन्य वस्तुको विषय कर रहा है या एकाग्रताको प्राप्त है—उस कालमें जगत्का या जगत्के पदार्थोंका क्या नाश हो जायगा? गङ्गाविषयक ज्ञानके अभावसे गङ्गाका अभाव मानना, पर्वतविषयक ज्ञानके अभावसे पर्वतका अभाव मानना तथा रात्रिकालमें सूर्यविषयक ज्ञानके अभावसे सूर्यका अभाव मानना—सर्वथा प्रमाणशून्य है। जब घटको देखा तो घट उत्पन्न हो गया और जब घटसे दृष्टि हटायी तो घट नष्ट हो गया, नगरपर दृष्टि पड़ी तो नगर उत्पन्न हो गया और दृष्टि हटी तो नगर नष्ट हो गया—इस सिद्धान्तके युक्तियुक्त होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिये महर्षि गौतमने न्यायदर्शनमें कहा है—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्।

यदि विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंकी सत्ता नहीं मानते तो बतलाओ इस सिद्धान्तकी सिद्धि किस प्रमाणसे करते हो? यदि कहो कि विज्ञानसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं तो आपका सिद्धान्त प्रमाणशून्य होनेसे विद्वानोंसे उपादेय नहीं हो सकता। यदि कहो कि प्रमाण है तो विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होनेसे आपकी प्रतिज्ञाहानि हो गयी। दूसरी बात यह है कि प्रमाणको माननेसे प्रमेयकी सत्ता माननी अनिवार्य हो जायगी। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जानने योग्य घटपटादि बाह्य पदार्थोंकी विज्ञानसे अतिरिक्त सत्ता है।

उपर्युक्त योगसूत्रपर महर्षि व्यासजी भाष्य करते हुए कहते हैं—

ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य नस्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत, तत्स्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः। (योगभाष्य)

जब हम किसी वस्तुको देखते हैं तो उसके सम्पूर्ण भागोंको एक कालमें कदापि नहीं देख सकते। घटका उपरिभाग, निम्नभाग, मध्यभाग, पृष्ठभाग आदि एकदम नहीं देख सकते। तो जिस भागको देखते हैं क्या उस भागसे भिन्न अन्य भाग नहीं हैं? यदि घटपृष्ठको देखें तो दृष्टिसृष्टिवादीके मतमें उस घटका, उदर, निम्नभाग तथा अन्य भाग नहीं मानने होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त कालमें घटपटादि पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है और इसको सर्वसाधारण अनुभव करते हैं। और जो सर्वजनोंके अनुभवका विषय हो उसका निरादर करना उचित नहीं है।

यदि विज्ञानसे बाह्य पदार्थोंको भिन्न न माना जाय तो घटको देखनेसे पटज्ञान और पटको देखनेसे नदीज्ञान क्यों नहीं होता? घटज्ञान, पटज्ञान, नदीज्ञान, मनुष्यज्ञान, पशुज्ञान आदि अनेक ज्ञानोंका कारण बतलाना होगा। बिना कारणके कार्य नहीं होता—इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त घट-पटादि पदार्थ हैं जिनके साथ सम्बन्ध होनेसे घटादिविषयक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। घटपटादिकी पृथक् सत्ता है, जब घटके साथ मनका योग हुआ तो घटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—घटकी नहीं, जब पटके साथ योग हुआ तो पटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—पटकी नहीं।

यदि ज्ञानमात्रसे भूतभौतिक सृष्टिकी उत्पत्ति मानी जाय तो ज्ञानके कल्पित मोदकोंसे रस-वीर्य-विपाकादि भी होने चाहिये तब वास्तविक मोदकोंकी क्या आवश्यकता होगी। ऐसे व्यक्ति 'मनोराज्यके शेखचिल्ली' को वास्तविक भोजनादि बाह्य पदार्थोंके बिना ही तृप्ति आदि होनी चाहिये, परन्तु होती कदापि नहीं। इसलिये न तो बाह्य पदार्थोंका अभाव ही है और न मनसे बाह्य जगत्की उत्पत्ति हुई है किन्तु बाह्य जगत् और उसके घटपटादि पदार्थ स्वप्रतिष्ठ—स्वतन्त्र हैं। जिन जिज्ञासु सज्जनोंको अधिक विचारकी आवश्यकता हो

वे उपर्युक्त सूत्रोंपर व्यासभाष्य तथा वाचस्पतिटीका और शाङ्करभाष्यका[१] स्वाध्याय करें।

(२) मोक्षका स्वरूप

दार्शनिक जगत्में मोक्षके विषयमें भी बहुत कुछ विचार हुआ है। मोक्षका स्वरूपनिर्णय करनेमें तो कई लोगोंके सिद्धान्त परस्पर विलक्षण प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि सब लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया है।

मोक्षके स्वरूप और उपायादिपर भिन्न-भिन्न दृष्टियोंकी आलोचना करनेसे पूर्व यदि हम मोक्ष शब्दके अर्थपर ध्यान दें तो हमारा विचार है कि इस विषयके बहुत-से प्रश्नोंका स्वयमेव समाधान हो जायगा।

मोक्ष और मुक्ति इन दोनों शब्दोंका अर्थ है—छुटकारा। किससे छुटकारा? जिससे छूटना चाहते हैं उससे। वह है—दुःख तथा बन्धन पर्याय कह दिये जायँ तो कुछ अनुचित न होगा। मोक्षका शब्दार्थ निकल आया—दुःखोंसे छूट जाना।

महर्षि गौतम न्यायदर्शनमें इसी युक्तिसे मोक्षपर विचार करते हैं। उनका सूत्र बिलकुल स्पष्ट है—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। (१। १। २२)

अर्थात् दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष है। मोक्षके लिये न्यायमें 'अपवर्ग' शब्दका प्रयोग किया गया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है, क्योंकि जैसे मोक्ष अथवा मुक्तिका अर्थ छुटकारा है वैसे ही अपवर्गका अर्थ भी छुटकारा है; इसीलिये मोक्षका पर्याय अपवर्ग—दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिका सूचक है। वेदान्ती कहता है कि यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि श्रुतियोंमें मोक्षके विषयमें कहा गया है—'**अत्र ब्रह्म समश्नुते**' यहाँ ब्रह्मानन्दका उपभोग करता है। इसलिये ऐसा लक्षण करो कि दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वक जहाँ ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति है, वह मोक्ष है। नैयायिक कहता है कि दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थसाध्य है, आनन्दप्राप्ति यत्नसाध्य नहीं, वह तो आत्माको स्वभावतः प्राप्त होगी; इसलिये वह लक्षण नहीं-जैसे मलिन वस्त्रका मलदोष दूर करना कष्टसाध्य है परन्तु मैल निकाल डालनेपर शुद्धता स्वतः प्राप्त हो जाती है—सफेदीके लिये अन्य पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं होता। जैसे मैल दूर करनेके लिये साबुन, सोडा, गरम जल आदि अपेक्षित हैं वैसे शुक्लताके लिये किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु मैल दूर होते ही शुक्लता प्रकाशित हो जाती है। ऐसे ही दुःखनिवृत्ति होते ही आनन्दप्राप्ति हो जाती है। यथा बृहदारण्यक श्रुति—'**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये**'—इसको दुःखोंसे छूटनेकी देर है फिर तो सम्पत्ति है। विचार किया जाय तो इसमें विवादका लेशमात्र भी अवकाश नहीं है परन्तु दार्शनिक विद्वानोंने पक्ष-विपक्षकी कुक्षिमें घुसकर एक- दूसरेको बहुत कुछ सुना डाला है।

महर्षि पतञ्जलिने मोक्षके लिये 'कैवल्य' शब्दका निर्धारण किया है। 'कैवल्य' का शब्दार्थ है 'केवल वही होना' अर्थात् आत्मा अपने-आपमें हो और किसीके साथ उसका सम्बन्ध न हो। यद्यपि मोक्ष शब्दके अर्थके साथ जितना साक्षात् सम्बन्ध 'अपवर्ग' का है उतना कैवल्यका नहीं है तथापि भावार्थ जैसा 'कैवल्य' से व्यक्त होता है वैसा न तो मोक्ष शब्दसे और न 'अपवर्ग' से ही। मोक्ष और अपवर्ग दुःख-निवृत्तिपर ध्यान आकर्षित करते हैं और 'कैवल्य' दुःखनिवृत्तिके अनन्तर अवस्थाविशेषपर।

बौद्ध लोगोंने मोक्षके लिये 'निर्वाण' शब्दको चुना है। यद्यपि दुःखनिवृत्ति और 'निर्वाण' पर्याय कहे जाने चाहिये तथापि बौद्धसिद्धान्त इसका घोर विरोधी है। शून्यवादी माध्यमिक कहता है कि निर्वाणका अर्थ है—'बुझ जाना'। अर्थात् जैसे दीपशिखा बुझ जाती है ऐसे ही ज्ञानज्योतिका बुझ जाना। यही शून्यवादके शून्यसिद्धान्तका शून्यरहस्य या शून्यसार है। परन्तु 'शून्य' हो जाना तो किसीको भी अभीष्ट नहीं है—तब ऐसे मोक्ष (?) के लिये कौन यत्न करेगा—दुःखोंसे निवृत्त होना प्रत्येक व्यक्तिको अभीष्ट है, अपने स्वरूपमें स्थिति भी बहुमूल्य सम्पत्ति है, परन्तु अपनेको बुझा देना अथवा उच्छेद या नाश कर डालना उन्मत्तके बिना और किसीको अच्छा नहीं लग सकता। शोक है कि बौद्ध विद्वानोंने विचारवान् होकर भी ऐसी भयङ्कर भूल पाल-पालकर सँभाल रखी है कि जो अत्यन्त हानिकारक है। महर्षि गौतमने बड़े प्रेमसे समझाया था कि शून्यवाद छोड़ दो,[२] परन्तु इन

१. वेदान्तसूत्र अ० २ पा० २ सूत्र २८—३२।
२. देखो न्यायदर्शन ४। १। ३८, ४०

लोगोंने समुचित ध्यान नहीं दिया। महर्षि कपिलने भी— **'अपवादमात्रमबुद्धानाम्।'** (सांख्य-दर्शन १।४५) इत्यादि सूत्रोंमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु वे माईके लाल नहीं समझे। अन्ततोगत्वा शङ्कर- भगवान् आये। शङ्कराचार्यने कहा, यदि 'शून्य' ही परम तत्त्व है तो उस शून्यको या शून्य-अवस्थाको कोई अनुभव भी करता है या नहीं। यदि अनुभव करनेवाला है तो वह शून्यसे भिन्न भावपदार्थ सिद्ध हो गया। यदि कहो शून्यको अनुभव करनेवाला शून्य ही है तो यह वदतोव्याघात है—जैसे कोई कहे कि 'मैं नहीं हूँ' इससे भी उसका शून्य होना सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि शून्यका कोई साक्षी नहीं है, तो इस प्रमाणशून्य शून्यकी सत्ता कैसे सिद्ध करोगे। यदि कहो कि 'शून्य' अभावात्मक है, उससे भिन्न कोई भावपदार्थ नहीं है जो शून्यका अनुभव करे, तो यह बताओ कि घटादि पदार्थोंके भावाभाव किसी चेतन भावपदार्थके ज्ञानाधीन क्यों हैं—वस्तुका भाव हो या अभाव, परन्तु उसके जाननेवाले साक्षीका भाव ही मानना होगा, क्योंकि कोई पदार्थ साक्षीशून्य नहीं हो सकता—यदि साक्षी हो तो शून्य नहीं हो सकता। भगवती मैत्रेयीको ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यने यही बात संन्यास लेते समय उपदेश की थी। ऋषिने कहा था—**'अविनाशी वारेऽयमात्मानुच्छित्ति-धर्मा'**—देवि, यह साक्षी आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता।

जैन लोग आत्माको शरीरपरिमाण-हस्तीका आत्मा हस्तीशरीर-जितना लंबा-चौड़ा, घोड़ेका आत्मा घोड़ेके शरीर-जितना और पिपीलिकाका आत्मा उसके अपने शरीर-जितना मानते हैं। शरीरपरिमाण माननेसे संकोच-विकासवाला मानना होगा और जो पदार्थ सङ्कोच-विकासवाला होता है वह रबरके समान सावयव होता है। सावयवके लिये घटके समान परिणामी होना आवश्यक है। अतः जैनदर्शनमें भी आत्मोच्छेद दोष उपस्थित है।

महर्षि पतञ्जलि इन सब बातोंपर विचार करके इस परिणामपर पहुँचे हैं कि आत्मा परिणामशून्य है और चेतन है तथा आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थिति ही मोक्ष है। सूत्र यह है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। (योग० ४।३४)

'पुरुषको भोग तथा अपवर्ग दिलानेके कार्यसे निवृत्त होकर मन और बुद्धिका जो अपने कारणमें लीन हो जाना है उसका नाम कैवल्य है, अथवा यों समझो कि चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना।'

कार्य-गुणोंका अपने-अपने कारण-गुणोंमें लीन हो जाना, यथा—व्युत्थान निरोध संस्कारोंका मनमें, मनका अस्मितामें, अस्मिताका बुद्धिमें, बुद्धिका अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाना इसलिये कैवल्य है कि आत्मा (पुरुष)-को भोग देनेके लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति जब गुणोंको कार्यरूपमें परिणत करती है तो गुणोंमें उत्तरोत्तर कारणकार्यभाव उत्पन्न होकर कार्यक्षमता हो जाती है और जब ये गुण अपवर्ग दिलानेको प्रवृत्त होते हैं तो क्रमानुसार अपने-अपने कारणमें लीन होते जाते हैं—इस भावको इसलिये 'कैवल्य' कहा गया है कि ऐसा होनेसे ही पुरुषके भोग समाप्त होते और कालान्तरमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारका आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहता। इनका सम्बन्ध ही बन्धन है—जब इनसे सम्बन्ध नहीं रहा तो वही कैवल्य है। उस अवस्थामें, जब कि गुण तो अपने-अपने कारणमें लीन होते-होते प्रकृतिमें लीन हो गये—गुणोंके भोक्ता अर्थात् बुद्धिको भोग्य और अपनेको भोक्ता माननेवाले सवृत्तिक मनके अधिष्ठाता पुरुषका क्या होता है? क्या वह नष्ट हो जाता है या लुप्त हो जाता है अथवा कुछ और बन जाता है? महर्षि कहते हैं कि वह नष्ट नहीं होता, उसका परिणाम नहीं होता, वह चेतन है, उसकी चेतनशक्तिका विपरिलोप नहीं होता—वह सदा रहनेवाली अलौकिक सत्ता है, उसकी उस समय अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। जैसे दीपक अपने-आपको भी प्रकाशित करता है और अपने सामने आये हुए घट-पटादि पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। यदि घटपटादि पदार्थ न हों तो उनके अभावको ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकार मन-बुद्धिमें पड़े हुए प्रतिबिम्बको भी आत्मा प्रकाशित करता है और जब मन-बुद्धि नहीं होते तब भी प्रकाश ही करता है। मन-बुद्धिके बिना जो आत्माका प्रकाशित होना है, यही आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति है—यही उसका कैवल्य अर्थात् केवल निर्गुण होना है। इसीको मोक्ष कहते हैं। इस विषयमें श्रुतिकी भी सहायता है। छान्दोग्योपनिषद् ७।२४।१ में

महर्षि सनत्कुमारने नारदको उत्तर दिया है—'**स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नीति।**'—तब वह किसमें प्रतिष्ठित होता है? अपनी महिमामें अर्थात् अपने स्वरूपमें।

मोक्षमें आनन्दप्राप्ति या ब्रह्माकारताके सम्बन्धमें योगसूत्रोंमें कुछ नहीं कहा गया। कारण यह है कि सुख-दुःखकी अनुभूति अन्तःकरणके द्वारा ही होती है और अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होना तथा उसके धर्मोंका अपने (आत्मा)-को धर्मी मानना ही मिथ्या ज्ञान है। इधर सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञानके रहते मोक्ष नहीं हो सकता। तब मोक्षमें आनन्द किस करणसे भोगा जायगा? बिना करणके भोग असम्भव है और बिना भोगके आनन्दकी सिद्धि कठिन है। यदि कहा जाय कि उसका स्वरूप ही आनन्द है, तो फिर भोग या प्राप्ति कैसी? यह स्वरूपस्थिति ही हुई। कहा जा सकता है कि चेतनरूपता या चितिशक्तिकी स्वरूपस्थिति भी तो सन्देहभरी है—चेतनताको किस करणसे अनुभव करता है, क्योंकि अन्तःकरण तो वहाँ है नहीं। बात यह है कि करणके द्वारा अपनेसे भिन्न पदार्थोंका अनुभव होता है—अपने स्वरूपके लिये—अपनी सत्ताके ज्ञानके लिये किसी करणकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद्‌में कहा है

येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्‌ विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। (४।५।१५)

अर्थात् 'जिस (आत्मस्वरूप)-से सबको जानता है उस (आत्मस्वरूप)-को किस (करण)-से जाने, अरे जाननेवालेको किससे जाने!' इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने बिना किसी करण या करणकी क्रियाके आत्माकी स्वरूपस्थितिको कैवल्य मोक्ष माना है। यह करणशून्य तथा करणक्रियाशून्य 'केवल चेतनरूपसे स्थिति' किसी अन्य अवस्था या लक्षणकी अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि 'दुःखात्यन्तनिवृत्ति' और 'आनन्दावाप्ति' का इस कैवल्यस्थितिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

विषय और करणसे शून्य आत्मस्थिति (कैवल्य)-को मोक्ष मानना कई एक विद्वानोंको रुचिकर प्रतीत नहीं होता। वे कहते हैं कि शिलाके समान जडभावको प्राप्त हो जाना किसी विद्वान्‌को अभीष्ट नहीं है, इसलिये कैवल्यपद किसी कामका नहीं है। परन्तु विचार किया जाय तो दीपकवत् प्रकाशरूप स्थितिको शिला-समान समझना विद्वत्तासे बहुत ही इधरकी बात मालूम पड़ती है। आत्माको स्वतःप्रकाश ज्योतिःस्वरूप माननेवालेपर यह निकम्मा आक्षेप करना कि वह शिलाके समान परप्रकाश्य जडरूप मानता है, सर्वथा उपेक्षणीय है। 'केवल प्रकाशरूप निर्गुण चेतनस्थिति' को पतञ्जलिका मनःकल्पित सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सिद्धान्त जहाँ युक्तियुक्त है वहाँ श्रुतिसम्मत भी है।

आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप मानना, समझानेके लिये तो उपयुक्त हो सकता है; परन्तु यदि इसपर आग्रह करके सिद्धान्त मान लिया जाय तो वेदान्तीके साथ इस विषयमें योगशास्त्रीका मतभेद हो जाना अनिवार्य है। योगी कह सकता है कि चित्स्वरूप और सच्चिदानन्दस्वरूपका एक अर्थ नहीं है, क्योंकि सच्चिदानन्दस्वरूपका अर्थ है—सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप होना। एक ही वस्तु तीन स्वरूपोंवाली नहीं हो सकती—ऐसा तो हो सकता है कि एक तो उसका स्वरूप हो और शेष उसके धर्म हों। 'जो सत् होता है वह चेतन भी होता है'—इस व्याप्तिको कोई विद्वान् स्वीकार करनेके लिये उद्यत नहीं हो सकता, क्योंकि घट-पटादि जड पदार्थ सत् (अस्तित्व रखते) हैं परन्तु चेतन नहीं हैं। यदि घट-पटादिको चेतन माना जाय तो घट-पटादिको फोड़नेवालेको हत्याका अपराधी मानना होगा इत्यादि। इसी युक्तिसे सत्ता रखनेवाले पदार्थ आनन्दरूप नहीं कहे जा सकते। अतः यही मानना होगा कि आत्मा चित्स्वरूप है और सत्ता तथा आनन्द उसके धर्म (गुण) हैं। क्योंकि 'जो चेतन होता है वह सत् होता है' इस व्याप्तिका खण्डन नहीं हो सकता। यदि कोई खण्डन करनेको अग्रसर हो तो उसे ऐसा चेतन दिखाना होगा जो असत् हो—परन्तु यह सर्वथा असम्भव है कि कोई चेतन तो हो और सत्ता न रखता हो। वेदान्तीके लिये कठिनता यह है कि वह आत्माको गुण-गुणी या धर्म-धर्मी-सम्बन्धसे युक्त मानना अद्वैत सिद्धान्तकी हानि मानता है, क्योंकि निर्गुण श्रुति उसके ऐसा माननेसे भारी व्याकोपको प्राप्त हो जाती है। यह ठीक है, परन्तु जो श्रुति गुणागुणीभावका

निषेध कर रही है वह गला फाड़-फाड़कर यह भी चिल्ला रही है कि **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'**—साक्षी आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह केवल है और उसके साथ किसी भी गुणका सम्बन्ध नहीं है। यदि सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'चेता' (चिद्रूप) न कहती। श्रुति आत्माको चैतन्यस्वरूप कहकर अन्य किसी भी (आनन्दादि) गुणका वर्णन नहीं करती बल्कि 'केवल' कह रही है, इससे सिद्ध है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप 'केवल चैतन्य' ही है, उसके साथ आनन्दादि नहीं। यदि कहा जाय कि आत्माको आनन्दस्वरूप मान लिया जाय तो आनन्दविधायक वचनोंकी सङ्गति भी लग जायगी और जो आनन्दस्वरूप होता है वह चेतन अवश्य होता है और जो चेतन होता है वह सत् भी अवश्य होता है—यह व्याप्ति भी चरितार्थ हो जायगी तो यह कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा मानना श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'साक्षी चेता' और केवल तथा निर्गुण न कहती किन्तु 'आनन्दस्वरूप ही है' ऐसा कहती, परन्तु ऐसा तो श्रुतिने कहा नहीं। इसलिये निर्विशेष निर्धर्मक चेतनकी जो स्वरूपस्थिति है वही मोक्ष है। आनन्दादिपरक श्रुतियाँ इसी स्वरूपस्थितिकी महिमाका व्याख्यान हैं और कुछ नहीं।

संक्षेपमें योगी पतञ्जलिका सिद्धान्त यह है कि 'दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति' रूप मोक्षको अनुभव करनेवाला कोई चेतन अपेक्षित है जो दुःखाभावरूप जड नहीं हो सकता किन्तु दुःखाभावका साक्षी-अभावका द्रष्टा चेतन ही हो सकता है। इसलिये नैयायिकका अपवर्ग बिना 'चेतनस्वरूपमें स्थिति' के माने कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि आनन्दप्राप्तिको भावपदार्थ माना जाय—दुःखाभावका दूसरा नाममात्र न माना जाय तो इस आनन्दको भी कोई भोगनेवाला होना चाहिये, क्योंकि बिना चेतनके कोई भोग्य भोगा नहीं जा सकता। ऐसी अवस्थामें भोगके लिये किसी करण (मन, इन्द्रियादि)-की आवश्यकता माननी होगी, परन्तु वेदान्ती ऐसा नहीं मान सकता क्योंकि इससे आत्मासे भिन्न आनन्दस्वरूप कोई भावपदार्थ सिद्ध होता है जो अद्वैत सिद्धान्तके विरुद्ध है तथा मोक्षका आनन्द नाशवान् मानना पड़ता है। तब यही कहना होगा कि आत्माके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न कोई आनन्द पदार्थ नहीं है—इससे भी निर्गुण चेतनस्वरूपमें स्थिति ही 'मोक्ष' सिद्ध हुई। इसलिये चाहे नैयायिक हो या वेदान्ती हो, योगप्रतिपादित कैवल्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

(३) चित्त और आत्माका भेद

बहुत लोगोंका विचार है कि चित्त या बुद्धि ही जानती और कर्म करती है, उससे भिन्न कोई और आत्मा नहीं है। इस सिद्धान्तके माननेवाले बौद्ध हैं। योगशास्त्रमें इस विषयपर भी विचार किया गया है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त 'आत्मा' नहीं है और न केवल चित्तसे काम ही चल सकता है। चित्त या बुद्धिसे भिन्न आत्माकी पृथक् सत्ता है। यथा—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।

(योग० ४।१८)

'चित्तकी वृत्तियाँ पुरुषको सदा ही ज्ञात हैं, क्योंकि पुरुष अपरिणामी होता हुआ चित्तके परिणामोंका साक्षी तथा प्रभु है।'

तात्पर्य यह है कि चित्त अथवा बुद्धिमें परिणाम होते हैं, आत्मामें परिणाम नहीं होता। चित्त ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है। आत्मा स्वामी है, चित्त उसके अधीन है।

चित्तकी वृत्तियाँ ही चित्तके परिणाम हैं। वृत्तियाँ सदा एक समान कभी नहीं रहतीं—घट-सम्बन्धसे घटाकार, पट-सम्बन्धसे पटाकार, गृह-सम्बन्धसे गृहाकार होती रहती हैं—यही चित्तका परिणाम है। परिणाम तीन प्रकारका है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम। जैसे घट-पटादि पदार्थोंमें धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम होते हैं—मृत्तिकाके चूर्णका पिण्ड बनता है, पिण्डका घट बनता है, फिर घट क्रमशः पुराना होता जाता है। वैसे ही चित्तमें भी परिणाम होता है। एक परिणामके अनन्तर दूसरा परिणाम होता है, दूसरेके अनन्तर तीसरा। इस प्रकार चित्त परिणामी पदार्थ है। परिणामी पदार्थ जड होता हुआ अनित्य होता है, इसलिये चित्त जड और अनित्य है। अनित्य वस्तु घट-पटादिके समान किसी ज्ञातकी अपेक्षा करती है, अतः चित्त ज्ञेय है तथा आत्मा उसका ज्ञाता है। चित्तमें चाहे कोई परिणाम हो, चित्त उस परिणामका कभी द्रष्टा या ज्ञाता नहीं हो सकता। बौद्ध क्षणिक विज्ञानवादी हैं ही; अतः यह सिद्ध करना कि चित्त परिणामी है, एक प्रकारसे अनावश्यक

ही है। आशय यह है कि जिस चित्तमें परिणाम होता है, उसकी प्रत्येक अवस्था (सवृत्तिक मनके परिणाम)-को आत्मा इसलिये जानता है कि चित्तका वह स्वामी है और स्वामी अपने भृत्यपर अवश्य शासन करता है। यदि आत्माको परिणामी माना जाय तो उसके परिणामोंका साक्षी कोई और चेतन मानना होगा, वह भी परिणामी माना जाय तो उसका साक्षी कोई और मानना होगा। अत: इस अनवस्थासे बचनेके लिये एक ही अपरिणामी नित्य साक्षी मानना आवश्यक है।

बौद्ध विद्वान् कहता है कि नि:सन्देह चित्त परिणामी है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उससे भिन्न किसी अपरिणामी चेतनको चित्तका स्वामी माना जाय। चित्तसे भिन्न इसलिये चेतनकी आवश्यकता कही जाती है कि चित्त जड है और जडके लिये किसी चेतन प्रकाशकका होना अनिवार्य है। हम (बौद्ध) कहते हैं कि जड होते हुए भी प्रकाशक हो सकता है। जैसे अग्नि घटादिको प्रकाशित करती है और स्वयं भी प्रकाशित होती है, इसी प्रकार चित्त भी स्वयंप्रकाश है अर्थात् विषयका भी प्रकाशक है और वृत्तियोंका भी। अत: चित्तसे भिन्न आत्मा माननेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तको स्वप्रकाश मानना ठीक नहीं है। यथा—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। (योग० ४।१९)

अर्थात् 'चित्त दृश्य है इसलिये चित्तको स्वप्रकाश नहीं कह सकते।' जो दृश्य होता है वह घटादिके समान परप्रकाश्य होता है। चित्त भी दृश्य है, अत: वह भी परसे प्रकाशित है—स्वत: प्रकाशशील नहीं है। अग्नि यद्यपि प्रकाशशील है तथापि उसका प्रकाश जड है—अग्नि नहीं जानता कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ या मेरे प्रकाशसे घट-पटादि पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं अथवा मेरे प्रकाशमें अमुक-अमुक कार्य हो रहे हैं, यही अग्निकी दृश्यता अर्थात् जडता है। इसलिये इससे भी यही सिद्ध होता है कि चित्त जड-परिणामी है।

वास्तवमें जिस प्रकार घट-पटादिके लिये जैसे अग्निके प्रकाशकी आवश्यकता है, उसी प्रकार अग्निके ज्ञानके लिये यद्यपि अन्य अग्निकी अपेक्षा नहीं; तथापि दृश्य होनेसे किसी द्रष्टाकी तो आवश्यकता बनी ही रहेगी, क्योंकि अग्निमें ज्ञान नहीं है।

आत्माकी चित्तसे पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिये और दर्शनोंमें भी विचार किया गया है और विलक्षण युक्तियोंसे आत्माकी सिद्धि की गयी है। इस छोटे-से निबन्धमें सब बातोंका उल्लेख करना बहुत ही कठिन कार्य है। अत: लेखके आकार-प्रकारपर विचार करते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि लेखनीको विराम दिया जाय।
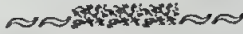
बिरले योगी

(लेखक—स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)

अवधु निरपक्ष बिरला कोई, देख्या जग बहु जोई—
सम रस भाव भला चित जाके थाप उथापन होई।
अविनाशीके घरकी बाताँ जानेंगे नर सोई॥ अवधु०
राव रंकमें भेद न जाने कनक उपल सम लेखे।
नारि नागिनीको नहिं परिचय ते शिवमन्दिर देखे॥ अवधु०
निन्दा-स्तुति श्रवण सुनीने हर्ष शोक नवी आणे।
ते जगमें योगीसर पूरा नित चढ़ते गुण ठाणे॥ अवधु०
चन्द्र समान सौम्यता जाकी सागर जेम गँभीरा।
अप्रमतें भारंड पैरें नित सुर गिरि सम शुचि धीरा॥ अवधु०
पंकज नाम धराय पंक सुं रहत कमल जिम न्यारा।
'चिदानन्द' ऐसा जन उत्तम सो साहेबका प्यारा॥ अवधु०
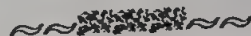
पातञ्जल योगदर्शनकी प्राचीनता

(लेखक— श्रीमद्योगाचार्य श्रीमन्मौक्तिकनाथजी नैरञ्जन)

दर्शनशास्त्रका प्रादुर्भाव कैसे हुआ? कब हुआ? और कहाँसे हुआ? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तर तो बड़े-बड़े दार्शनिकोंकी प्रतिभाको भी अगम्य-से हैं। हाँ, हमारा यावन्मात्र अध्यवसाय है—'श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासादि सद्ग्रन्थोंमें जो-जो अध्यात्मविचार विद्यमान हैं उन्हीं सदुपदेशोंकी मीमांसा दर्शनशास्त्रोंमें समीचीनतया संगृहीत है।' दर्शनशास्त्रोंके विशेष महत्त्वका कारण यह है कि उनमें पदार्थविवेचन और अध्यात्मरहस्य साङ्गोपाङ्ग तथा सविस्तर विवर्णित रहते हैं। साथ ही इनकी रचनाचातुरी भी चतुरचित्तको चमत्कृत करनेवाली होती है। जिस प्रमेयकी सिद्धिमें सैकड़ों ग्रन्थ गीत ही गाया करते हैं, दर्शनशास्त्रका एक नन्हा-सा सूत्र भी चटसे उसकी सिद्धि कर दिखाता है। अतएव 'गागरमें सागर' की कहावत दर्शनशास्त्रमें ही अक्षरशः चरितार्थ होती है।

दर्शनोंकी रचनाशैली

दर्शनशास्त्रोंका श्रीगणेश 'अथ' शब्दसे और उसकी चरम सीमा 'इति' शब्दसे होती है। परन्तु यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। कई दर्शन ऐसे भी हैं जिनकी स्वतन्त्रतामें 'अथ' और 'इति' कुछ भी बाधा नहीं डाल सकते। तथा अनेक दर्शन ऐसे भी हैं जिन्होंने 'इति' शब्दका काम आम्रेडितसे अर्थात् द्विरुक्तिसे ही सिद्ध कर लिया है।

गद्य-पद्यकी अपेक्षा दर्शनशास्त्रोंकी मूर्ति प्रायः छोटे-बड़े विविध सूत्रोंसे लपेटी रहती है। अतः इन सूत्रोंपर न तो कोई कवि ही कटाक्ष कर सकता है और न छन्दःशास्त्र ही इनपर अपने दण्डकोंका दबाव डाल सकता है। अतएव दर्शनशास्त्रका छोटे-से-छोटा सूत्र भी सर्वदा स्वतन्त्र-स्वच्छन्दरूपसे बड़े-बड़े अखाड़ोंमें भी अकड़ा ही करता है।

दर्शनशास्त्रोंकी गणना तथा प्राग्भवीय इतिवृत्त अनुमान-प्रमाणके आधारपर ही निर्भर है। हाँ, अनुमानका लिङ्ग प्रायः उद्भूतरूपमें होना चाहिये, क्योंकि अनुमानका लिङ्गज्ञान ही आधार है। माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें जिन चार्वाकादि सोलह दर्शनोंका संग्रह किया है उन्हींमें पाणिनिदर्शन भी गुँथा हुआ है। जब हमारी दृष्टि पाणिनिके सूत्रोंपर पड़ती है तो—

'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९)
'अवङ् स्फोटायनस्य' (६।१।१२३)
'ऋतो भारद्वाजस्य' (७।२।६३)
'ई ३ चाक्रवर्मणस्य' (६।१।१३०)
'लङः शाकटायनस्यैव' (३।४।१११)
'वा सुप्यापिशले' (६।१।९२)
'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' (७।१।७४)

इत्यादि विविध सूत्रोंमें शाकल्य, स्फोटायन, भारद्वाज, चाक्रवर्मण, शाकटायन, आपिशलि, गालव तथा भागुरि, इन्द्र, चन्द्र, अमर, जैनेन्द्रादि महावैयाकरणोंके नाम और व्याकरणसम्बन्धी तत्-तत् सिद्धान्त स्पष्टतया देखे जाते हैं। इसी प्रकार सांख्यदर्शनमें भी—

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः। (६।६८)
लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः। (६।६९)

इत्यादि विविध आचार्योंके नाम उल्लिखित मिलते हैं। वेदान्तदर्शनमें भी—

'बादरायण' (१।३।२६)
'बादरि' (१।२।३०)
'जैमिनि' (१।२।२८)
'आश्मरथ्य' (१।२।२९)
'औडुलोमि' (१।४।२१)
'काशकृत्स्न' (१।४।२२)

इत्यादि दार्शनिक महर्षि योगियोंके नाम तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त विजृम्भमाण दिखायी देते हैं। अतः स्पष्ट है कि पाणिनिसे पूर्व भी शाकल्यादि विविध दर्शन केवल एक शब्दशास्त्रकी ही पुष्टिपर विद्यमान थे। तथा कपिलदेवसे प्रथम या तत्समयमें ही पञ्चशिख या सनन्दनाचार्यादिकोंके दर्शन केवल सांख्यशास्त्रके सम्बन्धमें ही रचे गये होंगे। एवं वेदान्ततत्त्वका गहन सिद्धान्तभाण्डार भी पूर्वोक्त बादरायणादि परमयोगियोंकी देख-रेखमें भरपूर रहता होगा। परन्तु शोक है कि उन दर्शनोंके अभावसे आज एक अति साधारण बालक भी चटसे कह उठता है कि, 'अजी! आप क्या कहते

हैं, अमुक-अमुक दर्शन तो प्राचीन हैं ही नहीं!' अस्तु।

दर्शनशास्त्रकी गणनापद्धति निर्धारित न होनेपर भी आज षड्दर्शनोंकी कुरसी अव्वल है। इन्हीं छः दर्शनोंमें पातञ्जलदर्शनका नाम गुँथा हुआ है। इसीको योगदर्शन या पातञ्जलसूत्र भी कहते हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि 'कलियुगके प्रारम्भसे प्रथम ही योगशास्त्रका प्रचार लोप हो गया था। यदि ऐसा न होता तो श्रीकृष्णभगवान् ऐसा क्यों कहते—

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।

(गीता ४। २)

अब रहे पातञ्जलसूत्र, इनमें तो आकाशकी पाताल ही ठूसी हुई है। वेदादि सच्छास्त्र भी साक्षी नहीं देते कि पातञ्जलका सिद्धान्त सर्वथा मान्यतम है। बस, इन्हीं वितर्कों और कुतर्कोंका समाधान करना इस लेखका प्रधान उद्देश्य है।

पातञ्जलकी प्राचीनतामें इतर दर्शनोंके प्रमाण

इस विषयमें केवल षड्दर्शनोंका ही विलोडन करना है। क्योंकि योगमार्गका भाण्डार इतना विराट् है कि वेदोंसे लेकर साधारण-से-साधारण कथा-कहानियोंमें भी उसके अमूल्य रत्नोंकी गणना ही नहीं हो सकती। फिर उन रत्नोंका उद्धरणरूपसे संग्रह किया जाय तो महाभारतसे भी चतुर्गुण विस्तृत 'योगरत्नमहासागर' का पोथा बन सकता है। यदि ईश्वरेच्छा बलीयसी होती रहेगी तो वेदादि शास्त्रोंके तत्तद्योगरत्नके नमूने 'कल्याण' के उपकण्ठमें समर्पण किये जायँगे।

इन षड्दर्शनोंमें श्रीकपिलभगवान्‌का सांख्यदर्शन प्राचीन माना जाता है, इस विषयकी पुष्टिमें, '**ऋषिं प्रसूतं कपिलम्**' (श्वेता० ५। २) इत्यादि श्रुति ही शिरोधार्य समझी जाती है। तथा महाभारतमें भी—

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित्
सांख्यागतं तच्च बृहन्महात्मन्।

(महा० शान्ति० ३०१। १०९)

अर्थात् इस संसारमें विभिन्न प्रकारके सम्पूर्ण ज्ञान सांख्योंसे ही प्राप्त हुए हैं। 'सांख्यदर्शन' का रहस्य है पुरुष-प्रकृतिका ज्ञान। अर्थात् पुरुष आत्मा वा क्षेत्रज्ञ कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिगुणव्यतिरिक्त साक्षी चैतन्य चिद्घन है, और त्रिगुणात्मिका जडरूपा प्रकृति यानी प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति पुरुषसन्निधिमात्रसे ही लोहचुम्बकन्यायसे चैतन्यताको प्राप्त होकर महदादिक्रमसे चराचर संसारका विसर्ग करती है। पुरुष जबतक प्रकृतिके गुणोंमें बँधा हुआ है, दुखी है; जब योगाङ्गानुष्ठानसे अपने स्वरूपका वास्तविक ज्ञान हासिल कर लेता है, तब सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। पुरुष-प्रकृतिके स्वरूपका सच्चा ज्ञान ही सांख्यशास्त्रकी मूलभित्तिका है। अतएव केचित् कलाकलापी महाशयोंका अपलाप है कि कपिल-भगवान् तो निरीश्वरवादी निरे नास्तिक थे, क्योंकि आपने पुरुष-प्रकृतिके ज्ञानमात्रसे ही कृतकृत्यता मान ली है। पर वास्तवमें श्रीकपिलभगवान् निरीश्वरवादी या नास्तिक तो नहीं थे। क्योंकि '**ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा**' (सां० द० ३। ५७) 'इस प्रकारके ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है' की छाप उनके दर्शनमें समुल्लसित है ही। अर्थात् सन्निधिमात्रसे प्रकृति और पुरुषका प्रेरक तथा संसारसर्ग-विसर्गका निमित्त कारण ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है। कुलालके सदृश गारेका ढेर लगाकर थापा-थापी करना ईश्वरका काम नहीं है।

पातञ्जलदर्शन और सांख्यदर्शन

पातञ्जलका सूत्र है—'**वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।**' (पात० सू० १। ५) 'चित्तकी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट पाँच प्रकारकी होती हैं।' सांख्यदर्शनमें भी यही सूत्र अक्षरशः पाया जाता है। पतञ्जलिने चित्तवृत्तिनिरोधोपाय '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**' (पात० सू० १। १२) 'अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तिनिरोध होता है' लिखा है। कपिलजीने भी इसी सूत्रको व्यत्यय कर—'**वैराग्यादभ्यासाच्च**' (३। ३६) 'वैराग्य और अभ्याससे होता है' लिखा है। पतञ्जलिने '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' (१। ३) 'तब द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है' इस सूत्रसे आत्माका वास्तविक स्वरूप दरसाया है। कपिलने भी '**तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः।**' (२। ३४) 'उसके निवृत्त और शान्तरज होनेपर वह स्वस्थ होता है' लिखकर पूर्वोक्त तत्त्वको ही स्पष्ट किया है। व्युत्थान अवस्थामें भी आत्माका स्वरूप 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' 'अन्यत्र वृत्तिसदृश रूप रहता है।' (पात० सू० १। ४) '**कुसुमवच्च मणिः**' (सां० सू० २। ३५) 'कुसुमके समान जैसे मणि।' इन दोनों सूत्रोंमें स्पष्ट हो जाता है। कपिलके '**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**' (१। ६१) 'सत्त्व, रज और तम

इन तीनोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है।' इत्यादि सूत्रसे संसारकी उत्पत्तिके साथ-साथ पुरुषके भोग और मोक्षका कारण भी प्रकृतिको माना है। इस रहस्यको पतञ्जलिने भी **'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (२। १८) 'प्रकाश, क्रिया और स्थिति दृश्यका स्वभाव है। भूत और इन्द्रिय उसके स्वरूप हैं और भोग और अपवर्ग उसके प्रयोजन हैं।' इस सूत्रसे सिद्ध किया है। पतञ्जलिका सिद्धान्त है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म आत्माके नहीं हैं, सर्वदा शुद्धस्वरूप भी आत्मा बुद्धिवृत्तिका अनुसरण कर सुख-दुःखादि-धर्मवान् देखा जाता है। कपिलका भी यही सिद्धान्त है। क्रमशः—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

(यो० सू० २। २०)

उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्।

(सां० सू० १। १६५)

योगदर्शनकी विवेचना है कि अविद्याग्रन्थिका जबतक सर्वतोभावेन तिरोभाव नहीं होता, तबतक कैसा भी योगाभ्यासी मुमुक्षु क्यों न हो, संसाररूपी नाट्यशालामें पुनः-पुनः जन्म लेकर जात्यायुर्भोगात्मक सिनेमा टॉकीके सीन (दृश्य) उसे देखने ही पड़ेंगे। यही भाव सांख्यदर्शनका भी है। क्रमशः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (यो० सू० २। १३)

'मूलके रहते हुए उन कर्मोंका विपाक जन्म, आयु और भोग हैं।'

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः।

'संस्कारलेशसे उनकी सिद्धि होती है।' इन्हीं सिद्धान्तोंकी साम्यताका ज्वलन्त उपदेश श्रीकृष्णभगवान्ने बड़े मधुर शब्दोंमें दिया है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

(गीता ५। ४)

सांख्य और योग पृथक् हैं ऐसा मूर्ख कहते हैं, पण्डित नहीं। खैर, यह तो हुई श्रीभगवान्की करुणावृष्टि। परन्तु आश्चर्य यह है कि सांख्यदर्शनके सिंहद्वारपर ही एक वीरभद्र महाराज ऐसा दृढ़ खूँटा गाड़कर बैठे हैं कि बार-बार हिलानेपर भी जरा-सा टस-से-मस नहीं होते। प्रथम तो उनके दर्शनसे कुछ घबराहट-सी हो गयी थी, परन्तु कुछ परिचय होनेपर हमें प्रसाद मिला कि योगदर्शन सांख्यदर्शनसे बहुत प्राचीन है। उन वीरभद्र महाराजका यह परिचय है कि—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।

(सां० सू० १। २५)

'हम वैशेषिकादि शास्त्रोंकी भाँति षट्पदार्थवादी नहीं हैं।' इनका दृढ़तर अध्यवसाय है कि कपिलके सांख्यदर्शनसे कणादका वैशेषिक दर्शन प्राचीन है। इसलिये प्रथम इनका विचार हो ले।

पातञ्जलदर्शन और वैशेषिक दर्शन

यद्यपि वैशेषिक दर्शनका प्रतिपाद्य विषय द्रव्यगुण-कर्मादि छः पदार्थोंकी विवेचना है, तथापि मोक्षमार्गव्यासङ्गमें तो कणादको भी पातञ्जलसूत्रोंका आश्रय लेकर धीमी-धीमी चालसे चलना पड़ता है। पातञ्जलमें मोक्षका लक्षण— **'तदभावात् संयोगाभावो हानम्, तद्दृशेः कैवल्यम्।'** (२। २५) लिखा है। इसीकी पूरी-पूरी नकल कणादके वैशेषिक दर्शन— **'तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।'** (५। २। १८) 'उसके अभावमें संयोगका अभाव और पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष है।' में देखी जाती है। पूर्वोक्त सूत्रके भावार्थके साथ-साथ अक्षरोंकी साम्यावस्था भी सम्यक् उद्भूत ही है। कणादको अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजन्य मोक्ष अभिमत है, अतएव आपने मोक्षमार्गकी प्रक्रिया— **'आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः।'** (६। २। १६) लिखी है। चन्द्रकान्त इस सूत्रका भाष्य— **'आत्मकर्मसु=यमनियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यातः'** ऐसा करते हैं। पातञ्जलके— **'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'** (२। १२) के आधारपर ही— **'दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय।'** इस कणादके सूत्रकी सृष्टि हुई। योगसूत्रोंके सदृश कणादसूत्रोंकी चरम सीमा भी 'इति' शब्दसे उल्लिखित ही है। अतः दार्शनिकोंका निरर्गल निश्चय है कि पातञ्जलसूत्रोंका विकास कणादके सूत्रोंसे बहुत प्राचीनतम कालका है।

पातञ्जलदर्शन और न्यायदर्शन

जब हम गौतमके न्यायदर्शनका निरीक्षण करते हैं तो उसमें भी अष्टाङ्गयोग बिना गति नहीं। यद्यपि वैशेषिकके सदृश गौतमका प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण-प्रमेयादि' सोलह पदार्थोंके विवेचनपर ही निर्भर है, तथापि मोक्षधामकी पद्धति तो उसे भी अष्टाङ्गयोगकी ही माननी पड़ी। गौतमका सिद्धान्त है कि बाधालक्षण

दुःखके अत्यन्ताभावका नाम अपवर्ग यानी मोक्ष है। यही बात '**बाधनालक्षणं दुःखमिति**' (१।१।२१) 'दुःख बाधास्वरूप है।' '**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः**' (१।१।२२) 'उससे अत्यन्त विमोक्षका नाम अपवर्ग है' इन सूत्रोंसे स्पष्ट की गयी है। दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय भी—'**तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगश्चाध्यात्मविध्युपायैः**'—लिखा है। योगाभ्यासोपयोगी स्थानका निर्णय भी—'**अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः**' (४।२।४२) 'अरण्य, गुहा, नदीतट आदि स्थानोंमें योगाभ्यास करनेका उपदेश है' निर्धारित कर दिया है। समाधिसाधनाके बिना ब्रह्मतत्त्वकी अभिव्यक्ति होती ही नहीं, इस सर्वतन्त्रसिद्धान्तकी सर्वोपादेयताका वर्णन भी—'**समाधिविशेषाभ्यासात्**' (४।२।३८) 'समाधि-विशेषके अभ्याससे' सुस्पष्ट कर दिया है। अतः दार्शनिक तार्किकोंका अभ्रान्त सिद्धान्त है कि गौतमका न्यायदर्शन पातञ्जलदर्शनसे सर्वथा अर्वाचीन है। अब रहे पूर्वमीमांसा यानी जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन। वह तो याज्ञिक कर्मकलापको ही अष्टाङ्गयोगका साधन बतलाते हैं। आपका विश्वास है कि 'याज्ञिक कर्मकलापकी कसौटीसे बार-बार मनमन्दिरको उत्कर्षण करनेपर योगैकगम्य सच्चिदानन्द परमात्मा कभी-न-कभी अवश्य दर्शन देंगे ही। बस, छुट्टी पायी। अब हम इस छोटी-सी बातके लिये श्रीमान् महर्षि जैमिनिजीको खामखा तकलीफ देना नहीं चाहते।

पातञ्जलदर्शन और वेदान्तदर्शन

हाँ, अब हम पूर्वमीमांसाके छोटे भैयाके मेहमान बनते हैं। कहनेको तो आप पूर्वमीमांसाके छोटे भैया हैं, पर आप अपने सद्‌गुणोंसे संसारभरमें बड़े-से-बड़े समझे जाते हैं। आप बड़े छैलछबीले, चटकीले, रँगीले तो हैं ही, साथ ही आप मनमोहिनी विद्याके जादूगर भी हैं। अतएव आज सम्पूर्ण मानवसंसार आपके नामकी ही मनोहर मुरली बजा रहा है। आपका शुभ नाम है—वेदान्तदर्शन, व्याससूत्र, उत्तरमीमांसा और शारीरकशास्त्र। वेदान्तदर्शनके देखते ही—'**एतेन योगः प्रत्युक्तः**' (२। १। ३) 'इससे योगका प्रतिवाद हो जाता है।' यह प्रश्न उपस्थित होता है। जिन महानुभावोंने योगमार्गके महत्त्वका श्रवणतक नहीं किया वे यह कहा करते हैं कि पूर्वोक्त सूत्रसे योगका खण्डन होता है। परन्तु एवंविध सूत्रोंकी एकवाक्यता है ही टेढ़ी खीर।

अपरा विद्या और परा विद्या

मैं प्रथम ही निवेदन कर चुका हूँ कि योगमार्गके महत्त्वकी पराकाष्ठा सर्वसाधारणको अगम्य है। अनादिकालसे आजतक योगमार्गकी अनेक ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी बटेदार पद्धतियाँ चली आ रही हैं कि जिनके द्वारपर बूढ़े वेदभगवान्‌को भी चुपकेसे बैठकर दिन काटने पड़ते हैं। वेद क्या वस्तु है? योगिराजोंके अनुभवात्मक ज्ञानकी लघीयसी मात्रा। फिर भी अपरा विद्याके क्लासमें ही उनको स्थान मिला। मुण्डक उपनिषद्‌के प्रारम्भमें ही एक कथा है कि—शौनक नामक ऋषिने योगेश्वर अङ्गिराके पास जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! वह कौन-सी विद्या है जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो? अङ्गिरा उपदेश देते हैं कि—ब्रह्मवेत्ता योगेश्वर दो विद्याओंका वर्णन करते हैं—(१) परा और (२) अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषादि विद्या तो इहलौकिक सुखसाधक होनेसे अपरा यानी ऐहलौकिकी कहलाती हैं। और जिस विद्यासे अक्षर, अव्यय, अविनाशी पूर्णब्रह्म परमेश्वरका साक्षात् होता है उसका नाम परा विद्या है (मुण्डक० १३-५)। इसी प्रकारकी कथा नारद और सनत्कुमारजीके प्रसङ्गसे छान्दोग्य-उपनिषद्‌के सप्तम अध्यायके प्रारम्भमें समुल्लसित है।

योगसम्प्रदायका सिद्धान्त

अतएव अवधूत मत्स्येन्द्र-गोरक्षादि महासिद्ध योगविद्याकी अपेक्षा कर्ममयी वेदविद्याको न्यग्भूत ही समझते हैं। क्योंकि वेदविद्यामें त्रैगुण्य प्रपञ्च ही तो है। योगेश्वर श्रीकृष्णभगवान् '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**'—(गीता २। ४५) कहकर त्रैगुण्यप्रपञ्चमय वेदोंकी कैसी अवहेलना करते हैं यह तो विद्वत्समाज मान ही रहा है। यही सही, वेद ही मान्यतम हैं, तो क्या वेद-शब्द योगका वाचक नहीं है? मैं तो स्पष्टरूपमें प्रार्थना करता हूँ कि वेदोंके विकाससे प्रथम ही योगविद्या तरुण हो चुकी थी। या यों कह सकते हैं कि योगविद्याके गर्भसे ही वेदविद्याका जन्म हुआ। मुण्डकोपनिषद्‌के प्रारम्भमें ही लिखा है कि—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

'देवताओंमें प्रथम ब्रह्मा हुए जो विश्वके कर्ता और भुवनके गोप्ता हैं।' ठीक है, परन्तु जब विश्वरचनाकी आवश्यकता पड़ी तो श्रीहिरण्यगर्भजीके पास विश्वरचनासामग्री तो थी ही नहीं, आप मन-ही-मन चिन्ता करने लगे। तब योगैकगम्य योगात्मा दयालु पूर्णब्रह्मका आदेश-प्रसाद मिला कि—

स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः॥

(श्रीमद्भा० २।९।६)

अर्थात् उन ब्रह्माजीने ऐसा विचार करते हुए एक दिन (प्रलयकालके) जलमें दो अक्षरोंवाले एक शब्दका दो बार उच्चारण सुना। उनमेंसे पहला वर्ण तो स्पर्शवर्णोंमें (क से लेकर प तक) पन्द्रहवाँ अर्थात् त था और दूसरा इक्कीसवाँ अर्थात् प था। (जिनको मिला देनेसे 'तप' ऐसा शब्द बन जाता है) और जिसे अकिञ्चन पुरुषोंका धन कहते हैं।

अब तो विभु महाराजको **'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'** (१।१।९) की वाटिकामें दूरसे ही स्पर्श-कल्पद्रुम दिखायी पड़ा। फिर क्या था जरा-सा हिलाते ही स्पर्शोंमेंसे षोडश (त) और फिर एकविंशतिसंख्या (प) यानी 'तप' के प्रादुर्भावके साथ ही संसारका भी प्रादुर्भाव व्यक्त हो गया। कहिये तपकी कितनी महिमा है। जिस तपने इतने बड़े ब्रह्माण्डकी रचना कर डाली, योगदर्शनमें उसकी गणना अति साधारणरूपसे नियमोंमें पायी जाती है। अध्यात्मरसरसिक योगिराज क्या—**'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'** (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) 'वेदको नहीं जाननेवाला उस बृहत् परमात्माको नहीं जानता।' **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** (बृ० ३।९।२६) 'उस उपनिषद्वेद्य पुरुषके बारेमें मैं प्रश्न करता हूँ।' इत्यादि रहस्यका अनुमोदन नहीं करते? करते हैं, परन्तु उनका पक्का सिद्धान्त यही है कि—

राम राम सब कहत हैं, ठग ठाकुर अरु चौर।
जिनको योगीजन भजें, वहै राम कछु और॥

वेदान्तसूत्रके कर्ता 'योगविद्याके महत्त्वसे खूब परिचित थे फिर भी **'एतेन योगः प्रयुक्तः'** की प्रतिज्ञा आपको शिरोधार्य है। इसके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजी योगमहत्त्वोपपत्तिजनक अनेक श्रुतिप्रमाण देकर कहते हैं कि हमें इस विषयमें तो कुछ आपत्ति नहीं, परन्तु सांख्यस्मृतिके सदृश योगस्मृति भी ईश्वरसत्ताके बिना ही केवल प्रकृति-पुरुषद्वारा ही संसारका आविर्भाव मानती है, अतः सांख्यस्मृतिके सदृश ही 'सङ्गदोषन्याय'-से योगस्मृतिका भी निराकरण हो सकता है। तथास्तु। परन्तु योगस्मृतिसे यदि पातञ्जलयोगदर्शनका अध्याहार कर लिया हो तो हम स्पष्ट शब्दोंसे स्तुति करेंगे कि शारीरकसूत्रकी स्मृति ही स्तब्ध हो गयी। प्रायः 'वेदान्तदर्शन भी तो स्मृति है, न कि श्रुति। इसीका नाम 'गजनिमीलिका' है।

पातञ्जलदर्शन सेश्वर है, अतः आपका उपदेश है कि प्रकृति तो जड है ही, अतः संहत्यरूपा होनेसे स्वयं परार्था भी है। रहे पुरुष, यद्यपि वे चिद्घन हैं तथापि अनेक जन्मोद्भव सुखदुःखात्मक कर्मोंके अकाट्य निगड़ोंसे ऐसे निगडित हैं कि पाशुपतदर्शनमें उन्हींकी पशुसंज्ञा मानी गयी है। इन पुरुषोंसे जो विशेष शक्तिमान् अर्थात् पुरुषोत्तम है वही इस जगत्का नियन्ता—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(१।२४)

—'अविद्यादि पञ्चक्लेश, कर्म, उनके विपाक (सुख-दुःख) और आशय (वासना)-से अस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है।'—दयालु प्रभु है। इस बातकी शहादत श्रीकृष्णभगवान् आप ही देते हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५।१८)

—'क्योंकि मैं क्षरसे परे हूँ और अक्षरकी अपेक्षा उत्तम हूँ, इसीसे लोक और वेद दोनोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूँ।' वेदमें भी यही उपपत्ति है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥

(यजुः—श्वेता० ६।१६)

अर्थात् 'वह (परमात्मा) विश्वका कर्ता, विश्वका वेत्ता, स्वयम्भू, ज्ञाता, कालका भी काल, गुणवान्, सर्वज्ञ, प्रकृति और पुरुषका स्वामी, गुणोंका ईश और संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धका हेतु है।' सूर्यको दीपक दिखाना तो अपना ही अपमान करना है। जो

पदार्थ सर्वशिरोधार्य है, वहाँ लिङ्गव्ययादिका अडङ्गा अकाण्ड-ताण्डव ही तो है। आखिरको हमें—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।
(उत्तररामचरित ४।११)

'गुणवान् पुरुषोंके अन्दर उनके गुण ही पूजाके पात्र हैं, उनका लिङ्ग (चिह्न) और अवस्था इसमें कारण नहीं है।' भवभूति कविके इस इशारेपर चलना ही पड़ेगा। वेदान्तदर्शनने अपने प्रयत्नोंमें कुछ बाकी नहीं छोड़ा, परन्तु आखिर—घट्टकुटीरप्रभात[1] इस न्यायके ही विश्रामभवनमें आश्रय मिला।

वेदान्तस्मृतियोगाङ्गोंके आसन-ध्यानादिका महत्त्व

आसीनः सम्भवात्। (४।१।७)

'आसनपर बैठकर उपासना करे, क्योंकि तभी उपासना हो सकती है।'

ध्यानाच्च। (४।१।८)

'ध्यान भी तभी हो सकता है।'

अचलत्वं चापेक्ष्य। (४।१।९)

'ध्यान अचलत्वकी अपेक्षा रखता है।'

स्मरन्ति च। (४।१।१०)

'स्मृतियोंमें भी ऐसा ही कहा गया है।'

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्। (४।१।११)

'जहाँ एकाग्रता हो वहीं उपासना करनी चाहिये, अन्य कोई विशेष बात नहीं है।'

आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् (४।१।१२)

'उपासना भी मृत्युपर्यन्त करनी चाहिये।'

—इत्यादि मधुर शब्दोंसे प्रतिपादन कर ही रही थी कि अकस्मात् वास्कलि नाम मुमुक्षु ऋषि योगेश्वर श्रीवाध्वके योगाश्रममें ब्रह्मजिज्ञासार्थ पधारे। और प्रार्थना की कि—'हे प्रभो! उस योगैकगम्य सच्चिदानन्द परब्रह्मका क्या स्वरूप है?' वाध्व महाराज चुपचाप बैठे रहे। जब बार-बार वास्कलि पूर्वोक्त जिज्ञासापर ही डटे रहे तो वाध्व महाराज कुछ मुस्कुराकर बोले कि 'अरे वास्कले! तेरे प्रश्नोंका उत्तर तो मैं साथ-ही-साथ देता रहा, तेरी समझमें न आवे तो मैं क्या करूँ!' आखिर आपने यह उपदेश दिया—

उपशान्तोऽयमात्मा।[2]

बात भी ठीक है। क्रियात्मक अष्टाङ्गयोग-साधनाके बिना वेदान्तपरिभाषाके अक्षरोंमें ब्रह्म कभी नहीं मिलेंगे। नृसिंहाचार्यके वेदान्तडिण्डिमके सदृश हम भी—(१) **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद्)—'ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप है'। (२) **'अहं ब्रह्मास्मि'** (यजुर्वेदीय बृहदारण्यक० १।४।१०)—'मैं ब्रह्म हूँ'। (३) **'तत्त्वमसि'** (सामवेदीय छान्दोग्य० ६।८।७)—'वह आत्मा तू ही है'। (४) **'अयमात्मा ब्रह्म'**—(अथर्ववेदीय मुण्डक०)—'यह आत्मा ही ब्रह्म है' इत्यादि मन्त्रोंका दिन-रात पाठ किया करते हैं, परन्तु इन शब्दोंकी ध्वनि दसवें द्वारके त्रिकुटीमहलमें (जो सच्चिदानन्दका आमोदयोगमठ है) कभी नहीं सुन पड़ती। **'ज्ञानं भारः क्रियां विना'** क्रियाके बिना ज्ञान भाररूप है। अविद्या-ग्रन्थिका नाश तो समाधिद्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। वेदान्तदर्शनके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य अपने अनुभवीय समाधिका वर्णन क्या मधुरतासे करते हैं—

समाधिनानेन समस्तवासना
ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा
स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात्॥
(विवेकचूडामणि ३६४)

'इस समाधिसे समस्त वासनारूप ग्रन्थिका विनाश और अखिल कर्मोंका नाश होकर भीतर, बाहर, सर्वत्र एवं सर्वदा बिना यत्न किये ही स्वरूपकी विस्फूर्ति होने लगती है।'

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं
ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
नान्यथा चलतया मनोगतेः
प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत्॥
(विवेकचूडामणि ३६५)

'निर्विकल्प समाधिसे निश्चय ही ब्रह्मतत्त्वका स्फुट ज्ञान हो जाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्य अवस्थाओंमें मनोवृत्तिके चञ्चल होनेसे वह ज्ञान अन्य प्रतीतियोंसे मिश्रित रहता है।'

फिर व्युत्थान अवस्थामें भी उस योगिराजको चराचर जगत्में—

---

१. कुछ व्यापारी माल लेकर एक स्थानसे दूसरे स्थानको जा रहे थे। रास्तेमें घट्टकुटीर यानी चुंगीघरसे बचनेके लिये वे रातभर इधर-उधर भटकते रहे। भटकते-भटकते प्रातःकाल ठीक चुंगीघरके सामने आ पहुँचे। जिससे बचना चाहते थे उसीसे सामना हुआ। इसीको कहते हैं—'घट्टकुटीरप्रभातन्याय'।

२. वेदान्तदर्शन (३।२।१७)सूत्रका शांकरभाष्य देखो।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। (मुण्डक० २।२।११)

'यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिणमें और ब्रह्म ही उत्तरमें है, तथा ऊपर और नीचे भी ब्रह्म ही फैला हुआ है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और ब्रह्म सबसे श्रेष्ठ भी है।'

—यही परमानन्द मिलता ही रहता है। वेदोंमें इस प्रकारकी समाधिके सहस्रों लक्षण विद्यमान हैं। भला जो निखिलतन्त्रचूडामणि-योगसमाधिभास्कर है उसके आगे तीन अक्षरके 'प्रयुक्तः'—सैंहिकेय (राहु)-की कियती मात्रा है?

पातञ्जलदर्शन और भक्तिदर्शन

लोकमान्य श्रीबालगङ्गाधर महोदयने गीतारहस्यके परिशिष्ट प्रकरणके दूसरे भागमें थासन साहब तथा ज्ञानेश्वर महाराजके सिद्धान्तानुकूल 'गीताका विकास पातञ्जलसूत्रसे ही हुआ है' यह मानते हुए भी यह कहा है कि 'पातञ्जलसूत्रकी अपेक्षा शाण्डिल्य ऋषिका भक्तिदर्शन अति प्राचीन है' इत्यादि। परन्तु जब हम भक्तिदर्शनका दर्शन करते हैं तो यह धारणा हो जाती है कि पातञ्जलसूत्रका विकास भी श्रीशाण्डिल्य-ऋषिजीके अवतारसे भी बहुत प्राचीन है। शाण्डिल्य-ऋषि भक्तिमीमांसाका श्रीगणेश कर '**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' (१।१।२) 'ईश्वरमें परम अनुरागका नाम ही भक्ति है।' यह एक ही कदम आगे रख पाये थे कि योगदर्शनकी लाल-लाल आँखें दिखायी पड़ीं और आपको भविष्यचिन्ता चकित करने लगी। बस, इसी चिन्ताके चिकित्सार्थ आपसे '**हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत्**' (१।२।२१) 'यदि कहो, रागरूप होनेसे यह हेय है, तो ऐसा ठीक नहीं; क्योंकि (उत्तम पुरुषोंके) सङ्गके समान उत्तम (पुरुषोत्तम)-विषयक होनेसे वह श्रेष्ठ ही है।'—इस सूत्रका आविर्भाव हुआ। चिन्ताका मूल कारण भी श्रवण कीजियेगा—

'राग' शब्द अनेकार्थ होनेपर भी पातञ्जलदर्शनमें उसकी गणना अविद्यादि पञ्चक्लेशोंमें ही की गयी है। रागका पर्याय रक्ति शब्द भी है, इन्हीं शब्दोंके प्रथम उपसर्गोंका समावेश करनेपर—अनुराग, सुराग, विराग, अनुरक्ति, विरक्ति, परानुरक्ति इत्यादि अनेक पर्याय शब्द सिद्ध हो सकते हैं। इसी रक्ति शब्दके पूर्व 'परा' और 'अनु' उपसर्गके मेलसे '**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' की सृष्टि तो हो गयी, परन्तु—'**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः (पञ्च) क्लेशाः**' (पात० सू० २।३) 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।' इस पातञ्जलसूत्रसे थरथराकर ही ऋषिजी महाराजको '**हेया रागत्वाद्**'—(१।२।२१) इत्यादि सूत्र लिखना पड़ा। योगसूत्र राग वा रक्ति शब्दका गोलार्थ करता है—योगपरिपन्थी पदार्थोंमें ममत्वका अनध्यारोप या यों कहिये कि विषयासक्तिसे सर्वदा उदासीन रहना। हाँ, योगसूत्रने राग और रक्ति शब्दोंमें शृङ्गाररसकी भावना समझकर पूर्वोक्त शब्दोंके स्थानमें 'प्रणिधान' शब्दको ही सर्वोपरि माना है। अतएव '**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्**' (२।४५)— 'ईश्वरप्रणिधानसे समाधिसिद्धि होती है।' यह सिद्धान्त स्थिर किया है। फिर इस छोटी-सी समस्याके आगे शाण्डिल्य महाराज घबड़ा उठे। दार्शनिक महोदयवर्य! कहिये, लोकमान्य तिलकजीका सिद्धान्त सर्वतन्त्र है या प्रतितन्त्र?

पातञ्जलसूत्रोंके भाष्य आदि और हिरण्यगर्भ

यों तो श्रीमहर्षि वेदव्यासप्रणीत व्यासभाष्यकी विभिन्न अवतरणिकाओंसे स्पष्ट अनुमान होता है कि व्यासभाष्यसे पहले भी योगदर्शनपर भाष्यादि थे, परन्तु वर्तमानमें इन योगसूत्रोंपर जो-जो भाष्यादि हैं उनकी तालिका इस प्रकार है—

श्रीवेदव्यासप्रणीत	व्यासभाष्य
विज्ञानभिक्षुरचित	योगवार्तिक
मिश्र वाचस्पतिकृत	व्यासभाष्यव्याख्या
भोजदेवप्रणीत	राजमार्तण्ड
नागेश भट्टकृत	योगसूत्रवृत्ति
भावागणेशकृत	सूत्रवृत्ति
पं० आनन्दकृत	योगचन्द्रिका
उदयङ्करकृत	यो० सू० वृत्ति
क्षेमानन्द दीक्षितकृत	नवयोगकल्लोलवृत्ति
ज्ञानानन्दकृत	यो० सू० वृत्ति
नारायणकृत	गूढार्थदीपिका
भवदेवकृत	अभिनवभाष्य
,,	योगसूत्रटिप्पण
महादेवकृत	यो० सू० वृत्ति
रामानन्दकृत	मणिप्रभा
रामानुजकृत	यो० सू० भाष्य
वृन्दावन शुक्लकृत	यो० सू० वृत्ति
शिवशङ्करकृत	,, ,,
सदाशिवकृत	,, ,,

राघवानन्दकृत पातञ्जलरहस्य
राधानन्दकृत पातञ्जलरहस्यप्रकाश
उमापति मिश्रकृत यो० सू० वृत्ति
स्वा० हरिप्रसादकृत यो० सू० वैदिकवृत्ति

इन सब भाष्यादिकारोंका एक मत है कि पातञ्जलयोगदर्शनका विकास हैरण्यगर्भशास्त्रसे ही हुआ है। इन भाष्यादिकारोंने निश्चय किया है कि योगसूत्र **'अथ योगानुशासनम्'** (अब योगका उपदेश दिया जाता है।)-से पतञ्जलि महाराजका योगसूत्रमें साक्षात् शासन न होनेपर अनुशासन ही है। तथा—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

'हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता हैं, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है।' इस योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रबल प्रमाणसे योगशास्त्रके विधाता श्रीहिरण्यगर्भ महाराज ही हैं। तथैवास्तु। परन्तु जिस प्रकार इतर दर्शनकारोंके इतिहास पुराणादिमें उपलब्ध हैं, श्रीहिरण्यगर्भजीका कोई भी इतिहास पुराणादिमें नहीं मिलता; न इस विषयमें किसी महानुभावने कोई कष्ट उठाया और किसीको जरूरत भी क्या थी कि बहिरङ्ग परीक्षाके पीछे-पीछे फिरे! परन्तु कुछ शास्त्रोंका समाकलन करनेपर हमें यह तो आपका पता मिला कि—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥
(महाभा० १२। ३४९। ६५)

'सांख्यके वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे पुराना और कोई इस शास्त्रका वक्ता नहीं है।' आगे चलकर इस प्रकार योगका रहस्य दर्शाया है कि—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥
(महाभा० १२। ३४२। ९६)

'यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही हैं जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है। इनकी योगीलोग नित्य पूजा करते हैं और संसारमें इन्हें विभु कहते हैं।' और देखिये—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यजः॥

'इन हिरण्यगर्भ भगवान्को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हींको योगीलोग महान् तथा विरञ्चि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं।'

अपि च—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।
(श्रीमद्भा० ५। १९। १३)

'हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था।'

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा....
(अद्भुतरामायण १५। ६)

'हिरण्यगर्भ जगत्के अन्तरात्मा हैं।'

हिरण्यगर्भः सर्गेऽस्मिन् प्रादुर्भूतश्चतुर्मुखः।
(वायु० ४। ७८)

'इस सर्गमें हिरण्यगर्भ चतुर्मुखरूपसे प्रकट हुए।' इन पद्योंका भावार्थ यह है—

वेदोंने जिसकी स्तुति की, जो योगिजनोंसे पूजित हैं, वेदोंमें जो विभु, विरञ्चि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा इत्यादि विशेषणोंसे उपश्लोकित हुए हैं। बस, उन्हींकी— **'महानिति च योगेषु'** है। इसकी टीका करते हुए श्रीनीलकण्ठजी फरमाते हैं—

योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम्।

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराजकी यही 'महान् इति' है कि आपने वेदोंसे भी प्रथम योगविद्या याने परा विद्याका प्रादुर्भाव किया। जिन हिरण्यगर्भ भगवान्का छन्द यानी वेदमें—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(ऋ० १०। १२१। १)

'हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतोंके एक पति थे। उन्हींने इस पृथिवी और स्वर्गलोकको धारण किया। उन अनिर्वचनीय देवकी हम पूजा करते हैं।'

—इस प्रकार स्तुति की गयी है; बस, इन्हीं हिरण्यगर्भ महाराजके हैरण्यगर्भसूत्रोंका योगदर्शनमें अनुशासनकर **'अथ योगानुशासनम्'** से योगदर्शनका प्रादुर्भाव हुआ है। अतः यह निर्विवाद है कि पातञ्जलयोगदर्शनसे प्राचीन कोई भी दर्शन संसारमें है ही नहीं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः!

ग्रन्थिभेद

(लेखक—विद्यालंकार पं० श्रीशिवनारायणजी शर्मा)

ब्रह्मग्रन्थिभेद

शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

प्रथम यह जानना चाहिये कि ये ग्रन्थियाँ हैं क्या चीज़?

ये आगामी, सञ्चित और प्रारब्ध तीन प्रकारके कर्म हैं। आगामी कर्मोंका नाम उपनिषद्में ब्रह्मग्रन्थि, चण्डीमें मधुकैटभ और तन्त्रमें कुलकुण्डलिनी है। विराट् मन-प्राण और ज्ञान ये ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। उनको पानेके लिये जीवभाववाले मन, प्राण और ज्ञानकी खोज करना आवश्यक है। जिस प्रकार पृथ्वीके भीतर छिपा हुआ जलप्रवाह पानेके लिये आँगनमें कूप खोदना होता है, उसी प्रकार विराट् समष्टिको पानेके लिये अपने भीतर सदा अनुभूत होनेवाली व्यष्टिसत्ताका आश्रय लेना होता है।

फिर सद्गुरुके आश्रय और उपदेशानुसार पहले मनुजत्वसे मनुत्व प्राप्त करना और जगत्की प्रत्येक वस्तुमें सत्यप्रतिष्ठा कर सबको गुरु समझनेकी दृढ भावना करनी चाहिये। '**शिष्यतेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' यह मन्त्र चैतन्य हो जानेसे जीव मनुजत्वकी सङ्कीर्णतारूप सीमासे बाहर निकलनेको व्याकुल होता है। भगवान् मनु मनुष्यजातिके पिता और ब्रह्मा पितामह हैं। मनु ही ब्रह्माकी प्रथम सृष्टि हैं। जब मनुष्य साधनबलसे 'मनुत्व' प्राप्त कर लेता है, तभी वह '**भर्गो देवस्य धीमहि**' कहता हुआ अमृतमय अनन्त ज्योतिकी लहरमें निमग्न होकर तन्मय हो जाता है। जब आप '**तत्ते पूषण्णपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये**' कहते हुए, सूर्यमें सत्यप्रतिष्ठा कर सत्यदर्शी ऋषियोंकी भाँति महासत्यकी आभासतरङ्गसे संवेदित होंगे, जब आप '**योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि**'—कहते हुए वैदिक युगके ऋषियोंकी भाँति सूर्यमें सत्य और प्राणप्रतिष्ठ होकर जीवभाव बिलकुल भूल जायँगे, तब मनुत्वके अधिकारी होंगे। साधक यह न समझें कि ऐसा होना आपके लिये असम्भव है। ब्रह्मदर्शी ऋषि ऐसा अव्यय सरल मार्ग आविष्कार कर गये हैं कि उसपर धीरे-धीरे सहजभावसे आगे बढ़ते जानेपर मनुष्यमात्र इसे प्राप्त कर सकते हैं।

मनुत्व प्राप्त होनेसे अणिमा, महिमा आदि अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और घृणा, लज्जा आदि अष्ट-पाशबन्धनोंसे जीव मुक्त हो जाता है। प्रथम मनुजत्वसे मनुत्व और फिर मनुत्वसे ब्रह्मत्व, ये तीन अवस्थाएँ क्रमशः सद्गुरु-कृपासे साधकके सम्मुख अपने-आप आती-जाती हैं। जीव यह समझने लगता है कि मनुरूप पिताकी गोदमें मैं निर्भय आनन्दपूर्वक नग्न सरल शिशुकी भाँति बैठा हुआ हूँ। मैं चाहे कितना ही क्षुद्र, दीन, अविश्वासी और श्रद्धाहीन हूँ परन्तु पिताकी गोदमें बैठा हूँ। जब हर घड़ी यही अनुभव करता रहता है तब मर्त्यलोकमें रहकर भी वह अमरताके आस्वादमें मुग्ध रहता है और साधारण जनोंके लिये जो जगत् सदा दुःखमय है उसीको वह आनन्दमयरूपसे भोगता हुआ अनिर्वचनीय शान्ति पाता है, '**स शान्तिमधिगच्छति**'।

मनुष्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय 'मनु' के इशारेपर ही निर्भर हैं, वह प्रत्येक मनुष्यके सूक्ष्म और कारण देह तथा मनके भाव प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। हमारे हृदयपटलपर जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित भावसंस्कार अङ्कित हैं, वे हमारे अनुभवमें नहीं आते, परन्तु जब हम मनुत्व प्राप्तकर मन्वन्तरके अधिपति होंगे तब अपने तथा दूसरोंके संस्कार, पाप, पुण्य, जन्म, जाति, आयु, भोग इत्यादि सब प्रत्यक्ष अनुभव कर सकेंगे। मनुत्वका ही आंशिक फल प्राप्त कर लेनेवाले साधु अपने दर्शनार्थियोंके विचार बिना कहे ही जान लेते और बतला देते हैं।

मनुत्वका कुछ अंश प्राप्त कर लेनेपर साधक सद्गुरुसे दीक्षित होनेपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा मनकी गति उलट देते हैं। मनके दो मुख हैं, एक नीचेकी ओर दूसरा ऊपरकी ओर। नीचेका मुख प्रवृत्तिकी ओर स्वभावतः प्रवाहित रहता है और ऊपरका बन्द रहता है। कुछ दिन सद्गुरुका सत्सङ्ग प्राप्त होने और उनकी कृपा होनेपर ऊर्ध्वमुख निवृत्तिमार्ग प्रवाहित होने लगता

है, अधोमुख सूक्ष्म हो जाता है। जिसको मनुत्वपर कुछ अधिकार प्राप्त हो चुका है वही सद्गुरु और सत्सङ्ग करानेका अधिकारी है।

बोधमय क्षेत्रमें पहुँच हो जानेपर ब्रह्मग्रन्थि शिथिल हो जाती है। साधक जीव जब अन्तःशरीरमें प्रवेश करता है तब देखता है कि अन्नमयसे आनन्दमय कोषतक पाँचों कोष धर्मसंस्कारोंसे परिच्छिन्न हैं। शास्त्रीय विधि-निषेध आत्मज्ञानप्राप्तिमें प्रथम सहायक अवश्य होते हैं, परन्तु फिर वे बन्धनरूप हो पड़ते हैं। इतना जान लेनेपर भी उनकी उपेक्षा करनेका साहस नहीं होता। जबतक जीव आत्म-स्नेहमें मुग्ध नहीं होता तबतक वैध कर्मोंके संस्कार उसे बहुत ही सताते हैं, इस कारण वे नित्यानन्दके विघातक प्रबल शत्रु हैं।

स्थूल वृत्तियाँ मनुष्यकी साधारण शत्रु हैं और सूक्ष्म वृत्तियाँ प्रबल शत्रु हैं। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ आत्मराज्यप्राप्तिमें उतनी विघ्नकारक नहीं हैं जितनी सूक्ष्म वृत्तियाँ (संस्कार) बाधक हैं। इनके हाथसे छूटना अत्यन्त दुरूह है। यहींपर जीवको विषादयोग होता है, इसके बाद फिर साधकको विषादयुक्त नहीं होना पड़ता।

गीताके कुरुक्षेत्रमें आत्मीय ज्ञानसे विमूढ़ युद्धविमुख अर्जुनके विषादयोगकी यहीं समाप्ति थी। गीताका युद्ध साधकप्रवर अर्जुनके अन्नमय क्षेत्रमें और विषाद मनोमय क्षेत्रमें था, एवं चण्डीमें वर्णित मन्त्रिविद्रोह और राजा सुरथके प्राणोंमें जो विषाद उपस्थित हुआ था वह विज्ञानमय क्षेत्रमें होनेके कारण उससे सूक्ष्म (उच्चस्तरका) था।

सांसारिक साधारण दुःख और साधनजगत्के दुःखोंका अन्तर साधक ही जान सकते हैं, जैसे विरहाग्निका सन्ताप विरहिणी अनुभव कर सकती है, विरहकी अग्निसे जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर भस्मीभूत हो चुके तब कहीं उस प्रेमविभोर जीवका परमप्रिय तत्त्वसे तादात्म्य हुआ। बिन्दुमें सिन्धु समा गया। यह आनन्द वियोगी जाने वा योगी? अत्यन्त विरहासक्ति ही प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्था है। विरह एक प्रकारका पुट है। इसके बिना प्रेमका रंग चढ़ता ही नहीं। साधिका देवी सहजोबाईने कहा है—

प्रेमदिवाने जे भये, कहैं अटपटे बैन।
कबहुँक मुख हाँसी छुटै, कबहुँक टपकत नैन॥

जीव जब भगवत्प्रेम करने लगता है तब अनुभवमें आता है कि 'अरे! संस्कारोंने तो मेरा आनन्दमय कोष, नित्यशुद्धबुद्धत्व और स्वामित्व सब हर लिया। ये संस्कार ही मेरे मन्त्री थे। ये बड़े दुष्ट हैं। क्या देहराज्यमें, क्या मनोराज्यमें, क्या आनन्दके केन्द्रमें कहीं तिलभर भी मेरी प्रभुता नहीं रही है? क्योंकि देह मेरी इच्छा बिना रुग्ण हो जाती है, वृद्ध होती है, मन मेरी इच्छा बिना विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है, ज्ञान मेरी ज्ञेय वस्तुओंको प्रकाशित नहीं करता, रहा आनन्द, सो उसका तो तलाश करनेपर भी कहीं पता नहीं लगता। यद्यपि ये सब मेरे ही हैं तथापि विपक्षी हैं। अरे, मेरी इच्छासे तो एक बूँद रक्त भी चलायमान नहीं होता, ये सब मेरी आत्मराज्यप्राप्तिके प्रतिकूल खड़े हैं।' इससे उसे अत्यन्त विषाद होता है, यह विषाद बाहरसे नहीं दीख सकता। फिर विशेषता यह कि इस विषादकी अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव महाभाग्यवान् कहा जाता है, परन्तु साधारण असाधक जन उस पीड़ाको क्या समझेंगे!

कबहूँ बाँझ न जानही तन प्रसूतकी पीर।

अथवा—

कबहूँ भेक न जानई, अमल कमलकी बास।

चण्डीमें सुरथका सर्वस्व दुष्ट मन्त्रियोंने हरण कर लिया, वह महाभाग भी है और दुःखी भी है, ये दो विपरीत भाव एक साथ क्यों और कैसे? कारण, ऐसा हुए बिना उसे मेधस् ऋषिका सत्सङ्ग न मिलता, और न वह मनुत्वको प्राप्त होता। इससे वह महाभाग है; और जीवभाव और जीवत्वकी ग्रन्थियाँ उस समय उसे अत्यन्त दुःखमय जान पड़ती हैं, यह दुःख है।

अस्तु, जबतक आत्म (मातृ)-दर्शन नहीं होता, तबतक यथार्थ ग्रन्थिभेद नहीं होता। विषादयोगके बाहरी लक्षण गीतामें कहे गये हैं—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।

ये विषादके चिह्न साधकप्रवर अर्जुनके स्थूल देह अन्नमय कोषमें प्रकट हुए थे, परन्तु सुरथका विषाद

सूक्ष्म और कारणदेहमें अवतरित होनेके कारण उसका बाहर विशेष लक्षण कुछ प्रकट नहीं हुआ। प्रजाविद्रोह या भावविरोधिता विज्ञानमय कोषमें, और मन्त्रियोंका विरोध या धार्मिक संस्कारोंकी परिच्छिन्नता आनन्दमय कोषमें अनुभव होते हैं। ज्ञानका अधिकार जिसका जितना उच्च है उसका विषाद भी उतना ही सूक्ष्म और उच्चस्तरका होता है। बालक मिट्टीका खिलौना टूट जानेसे रोता है परन्तु समझदार विद्वान् पुरुष युवा पुत्रकी मृत्युपर भी अधीर नहीं दीख पड़ता, तो क्या उसे दु:ख होता ही नहीं, अवश्य होता है, परन्तु अन्त:करणके उच्चस्तरमें होता है।

साधक जब अपना चित्त बाह्य विषयोंसे रोकता और व्याकुल होता है तब स्नेहमयी माँ उसे एक सरल मार्गपर ले जाती है। कारण, पहले तो साधक संयम, योग, ध्यान, सिद्धि, शक्ति आदिको चाहता था, परन्तु जब अनेक बार विफलमनोरथ हुआ, तब यथार्थ आत्मा (माँ)-की खोज उसके प्राणमें उदित हुई, तब वह **'एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनम्'** इन्द्रियरूपी अश्वपर सवार होकर विषयारण्यमें ही आत्मानुसन्धान करने लगा, तब उसने क्या देखा—

स तत्राश्रममद्राक्षीद् द्विजवर्यस्य मेधसः।

यही बुद्धियोगकी प्राप्ति है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

अहा! गीतामें मोक्षफलदायक कल्पवृक्षके जो बीज बोये गये थे उन्होंने चण्डीमें पत्र, पुष्प और सरस फलरूपमें परिणत होकर साधकोंको कृतार्थ कर दिया और करते हैं।

जीव जब अन्तर्राज्यमें रत्ती-रत्ती ढूँढ़नेपर भी आत्माका पता नहीं पाता, तब विवश हो फिर इन्द्रियग्राह्य विषयोंके समीप आता है। पहले तो वह इन विषयोंको नाशवान् और मिथ्या कहकर विषवत् त्यागकर अन्तर्राज्यमें प्रविष्ट हुआ था, अब लौटकर फिर उसी विषयारण्यमें प्रवेश करता है, परन्तु इसमें भेद यह होता है कि पूर्व केवल विषय समझकर विषय भोगता था और अब आत्मानुसन्धानके निमित्तसे भोगता है। पहले-पहल प्रत्येक विषयमें 'सत्य' कल्पना करते-करते ही आत्मानुसन्धान जागरित होने लगता है। कारण कि प्रथम साधक विचारता है कि विषय तो यथार्थ आत्मा नहीं हैं, विषय क्षुद्र हैं, आत्मा अनन्त है, विषय भावोंकी घनीभूत अवस्था हैं, आत्मा भावातीत है, विषय अज्ञानमात्र हैं, आत्मा ज्ञानमय है। इस कारण विषयोंमें विचरकर क्या अत्यन्त तद्विपरीत विरुद्ध आत्माका पता मिलना सम्भव है? परन्तु क्या किया जाय, अन्तर्राज्यमें जब अमृतका पता न मिला तब बहि:राज्यमें तलाश करनेमें हानि ही क्या है? ऐसा करते-करते कुछ दिनोंके बाद यहींसे आत्मप्राप्तिका श्रीगणेश होने लगता है।

चाहे कोई भी पदार्थ आपके सामने आवे, इन्द्रियरूप अश्व अपनी इच्छासे चलकर किसी भी पदार्थके सामने खड़ा कर दें, उसीको आप 'सत्य' 'आत्मा' मानकर ग्रहण कीजिये। चक्षु कोई रूप लाकर सामने उपस्थित करे उसे आप आत्मा 'माँ' का रूप समझिये, कानसे कुछ भी शब्द सुनें, उसे 'माँ' के कण्ठका शब्द मानिये, गन्धको आत्माके अङ्गका सौरभ समझिये, रसनासे जो विचित्र रस अनुभव करें उन्हें **'रसो वै सः'** कहकर अमृतायमान होइये, कोमल स्पर्शसे रोमाञ्चित हों तो स्नेहमयी माँ—आत्माका करस्पर्श समझिये, इस प्रकार आठों प्रहर जो कुछ भी करें उसे यही समझें कि **'यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्'** यह रोम-रोमसे अनुभव कीजिये, केवल मुखसे कहनेसे यथार्थ फल न होगा। साधक! अबतक आप भाव, विषय और संस्कारोंके विरुद्ध युद्धकर क्षतविक्षत हुए हैं; अब उनके अनुकूल चलिये, परन्तु उनमें आत्मसंवेदनसे बार-बार संवेदित होते रहिये। अनेक जन्म-जन्मान्तरसे 'जगद्भाव' का अभ्यास हो रहा है, आप जगद्भावमें ही मोहित रहे हैं। अब आप जो कुछ करें, जो कुछ देखें, समझें वह सब छद्मवेशधारिणी माँकी ही मूर्ति है, यह आपकी बुद्धिमें सदा विकसित होता रहे, यही बुद्धियोग है। **'योगः कर्मसु कौशलम्'** है। यही मोक्षमार्गपर ले जानेवाला योगपथ है। समस्त दर्शन, वेद, शास्त्र यही एक बात कहते हैं। **'ईशा वास्यमिदꣳसर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**। भगवान् सर्वव्यापी हैं, इस बातको तो प्राय: सभी मनुष्य कहते हैं; परन्तु इसे व्यवहारमें लानेवाले, तत्त्वतः जाननेवाले कोई-कोई ही हैं, **'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'**। इस साधनके लिये कोई नयी बात सीखनी-सिखानी नहीं, जानना-सुनना भी कुछ शेष नहीं, जो कुछ सीखा-सुना-पढ़ा है, उसे कार्यरूपमें परिणत करनामात्र है।

'इल्म बिना अमलके किस कामका'। यह बुद्धियोग ही चित्तकी चञ्चलता दूर करनेका अमोघ अस्त्र है। आपका मन कहेगा, सामने यह वृक्ष है, तब आपकी बुद्धि जोर देकर कहे कि नहीं, यह वृक्षरूपमें माँ है। पहले-पहल ये बातें व्याजरूप ही जान पड़ती हैं। हमारा अविश्वासी मन इन बातोंको स्वीकार नहीं करना चाहता कि इस दीखनेवाले जगत्के रूपमें भगवान् ही सर्वत्र विराजमान हैं। परन्तु मनकी चतुराईसे, इन्द्रियोंकी धूर्ततासे, आप धोखा न खाइये। बुद्धिबलसे सर्वत्र 'सत्यप्रतिष्ठा' कीजिये, तब आप इसके मधुमय परिणामको देख सकेंगे। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६। २९—३१)

आपको भगवान्की जो मूर्ति प्रिय हो, सबको उसी रूपमें देखिये और उसके साथ ठीक ऐसा ही बर्ताव कीजिये मानो सचमुच (इष्ट) देव ही मिल गये। ऐसा करते-करते आप यथार्थ भक्तिपर पहुँच जायँगे।

'भक्ति बिना थोथे सभी जोग जग्य आचार'

देखिये भगवान् वस्तुतः दुर्लभ नहीं, अति सुलभ हैं, **अणोरणीयान् महतो महियान्** हैं। परन्तु उसके चाहनेवाले दुर्लभ हैं—

चलन चलन सब कोइ कहे पहुँचे बिरला कोय।

अरे! पलक बन्दकर खोलनेमें तो देर भी लगती है, कुछ चेष्टा भी करनी पड़ती है। पर भगवान्को पानेमें न चेष्टा करनी पड़े, न देर लगे; वह तो **'सबहिं सुलभ सब देस'** है, वह कहाँ नहीं है, पर हमें उसकी चाह ही नहीं है।

आँखोंमें तू है जिसके दिलमें ख़याल तेरा।
मुश्किल नहीं है उसको होना बिसाल तेरा॥
दिलका मेरे शिबाला सब मन्दिरोंसे आला।
देखा करूँ मैं इसमें हरदम जमाल तेरा॥
दोनों जहाँन देकर वापिस किये सुदामा।
क्योंकर कहूँ न होगा पूरा सवाल तेरा॥
प्रह्लादकी तरह जो सच्ची है प्रीति तेरी।
किसकी है मौत आई छूवे जो बाल तेरा॥
करुणासे मुझको अपनी शादान रख जहाँमें।
फूले फले छुआ दे तुझको निहाल तेरा॥
लीला तेरी न जानी नारदसे देवताने।
'आनन्द' चीज़ क्या है जाने जो हाल तेरा॥

यदि सबसे निकट कोई वस्तु है तो आत्मा—भगवान् है। परन्तु उसमें विश्वास दुर्लभ है, जो कुछ आयोजन-प्रयोजन-साधन और कठिनाई है वह इस विश्वासके दृढ़ करनेमें ही है। दृढ़ विश्वास होते ही साधक वि—श्वास, विगत श्वास 'सहज कुम्भक' हो जाता है, यही योगका सार है। श्वास भी अपने नहीं रहते, खुदी दूर हो जाती है।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तक्रमश्नन्ति पण्डिताः॥
आलोच्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि सर्वदा।
योऽहं ब्रह्म न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥
यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथैव शास्त्राणि बहून्यधीत्य
सारं न जानन् खरवद् वहेत्सः॥
(उत्तरगीता)

अस्तु, बुद्धियोगका कौशल (रहस्य) न जाननेके कारण ही लोग श्वास रोककर स्वयं चित्त स्थिर करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उसे (आत्माको) पाते नहीं। कारण, वे आत्माको चाहते नहीं हैं, वे तपस्वी होनेको तपस्या करते हैं, साधु बननेके लिये साधना करते हैं और जैसा चाहते हैं वैसे ही बन जाते हैं, क्योंकि भगवान् वाञ्छाकल्पतरु हैं।

छान्दोग्यमें कहा है, **'मनो ब्रह्म इत्युपासीत्'**—मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करना ही सत्यप्रतिष्ठा है, क्योंकि जगत् मनका भाव है, जगत्की उपासना ही मनकी उपासना है। बुद्धि (महत्तत्त्व)-में चैतन्यका सबसे प्रथम प्रकाश होता है, समानधर्मवाले पदार्थ जैसे दूध और जल आपसमें सुगमतासे मिल जाते हैं। मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे आत्मा है। इस कारण अपने निकटतम सूक्ष्म अंश बुद्धिद्वारा ही वह शीघ्र मिल सकता है। इन्द्रियाँ मनसे रुकती है, मन बुद्धिसे रुकता है, इस

कारण पहले बुद्धि स्थिर होनी चाहिये। बुद्धियोगका गुण बड़ा विचित्र है। इसका जरा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे त्राण कर देता है। भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २।४०)

इस बुद्धियोगकी सहायतासे साधकके हृदयमें एक अपूर्व स्निग्ध चिदाकाश प्रकाशित होता है। उसके दर्शनमात्रसे प्राण अमृतरसमें निमग्न हो जाते हैं। अविश्वासी चञ्चल मन स्थिर होकर उस निर्मल सत्य ज्योतिमें मुग्ध हो जाता है, हृदयका सारा सन्ताप मिट जाता है। प्रथम यह चिदाकाश कुछ मलिन, अस्थिर और अल्पक्षण स्थायी होता है, फिर सत्य-प्रतिष्ठामें अभ्यास बढ़नेपर क्रमशः निर्मल, श्वेत, देरतक ठहरता और इच्छामात्रसे दिखायी देने लगता है। इसीका नाम अरण्यमें राजा सुरथको मेधस् मुनिका प्रशान्त श्वापदाकीर्ण मुनि-शिष्योपशोभित आश्रमदर्शन होना है।

मेधस्=मेधा, स्मृति शक्ति पाना। इससे मोह नष्ट होता है।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

यही बुद्धिका विकास गीताकी समाप्ति और चण्डीका आरम्भ है, बुद्धिमय क्षेत्र ही मेधस्का आश्रम है, यही ब्रह्मज्ञानप्रवेशका तोरणद्वार है। यहाँपर पहुँचना ही साधनमें एण्ट्रेन्स पास होना है। सुषुम्णाप्रवाह प्रकाशित होनेपर इस स्थानपर सहजमें पहुँच सकते हैं, तन्त्रमें इसको कुल-कुण्डलिनी-जागरण कहा जाता है। इसका साक्षात्कार होनेपर जीवकी ब्रह्मग्रन्थि शिथिल हो जाती है।

प्राचीन समयमें ऐसे ऋषि-मुनियोंसे भारत अधिक गौरवान्वित था, वे गृही हैं या संन्यासी, आश्रमी हैं या दण्डी, कुछ कहनेमें नहीं आता था। उनके स्त्री, पुत्र, धान्य, पशु सब कुछ था तो भी वे निर्मम थे, कुछ भी न था, वे सदा विश्वका कल्याण करनेमें लीन रहते थे। वर्तमानमें भी ऐसे सन्तोंका अभाव नहीं है। परन्तु उनका सत्सङ्ग सर्वसाधारणको प्राप्त होना-न-होना भगवत्कृपापर निर्भर है, संसारमें किसी वस्तुका रूपान्तर भले ही हो जाय पर अभाव नहीं होता। अस्तु,

बुद्धिमय क्षेत्रमें पहुँचनेपर साधकके विरुद्ध भाव स्थिर हो जाते हैं, उनमें चञ्चलता नहीं रहती; काम, क्रोधादि हिंसक जन्तु सताना भूल जाते हैं। साधन-जगत्‌में जबतक अनुमान और अप्रत्यक्ष रहे, तबतक समझना चाहिये कि अभी यथार्थ साधन-पथपर एक कदम भी आगे नहीं चले हैं। साधनमें जब पग-पगपर कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष होता रहेगा, तभी साधना सरस और मधुर होगी। मन्त्रचैतन्य इसमें परम सहायक होता है। जीवमात्र साधक हैं, कर्ममात्र साधन हैं, प्रकृति गुरु है, पुरुष इष्टदेव—लक्ष्य है। साधना सजीव होनेसे सिद्धि अवश्य होगी, साधनमें जातिभेद या साम्प्रदायिक भेद नहीं है, अधिकारी (पात्र) होना आवश्यक है।

उस बुद्धिमय ज्योतिमें साधक आरम्भमें अधिक देरतक नहीं ठहर सकते, शीघ्र ही देहबुद्धिमें उतर आते हैं। कारण कि नीचेकी ओर मन (भर बोझा) बँध रहा है, यह मन भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देनेपर ही जीवत्वका अन्त होता है। और वह प्रकाश ठहरने लगता है तथा समाधिसे भेंट होती है। जो भक्तिधनसे धनवान्, गुरुकृपासे ज्ञानवान्, सत्यप्रतिष्ठाकी शक्तिसे वीर्यवान् और चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशमान हैं उन्हींके कुलमें समाधिका आविर्भाव (जन्म) होता है।

आत्मा—ब्रह्मके दर्शनका उपाय है उसके दर्शनकी इच्छाका होना। ब्रह्म, सर्वत्र प्रकाशित रहनेपर भी जीवकी दर्शन करनेकी इच्छा हुए बिना, दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे अपनी आँखोंसे सबको देख सकते हैं पर अपनी आँख नहीं दीखती। जीवकी ब्रह्मदर्शनकी इच्छा होनेपर प्रथम वह सद्गुरुरूपसे दर्शन देता है। सद्गुरु प्राप्त होनेपर साधक अपना देह, मन, प्राण सर्वस्व श्रीगुरुचरणोंमें अर्पण करनेको उद्यत होता है, क्रमसे गुरु ही उसका 'मैं' हो जाता है। जीवभावीय कर्तृत्वबोध उसका शिथिल हो जाता है। सत्-असत् चाहे कोई भी कर्म क्यों न हो, उसमें यह धारणा नहीं रहती कि 'मैं करता हूँ।' वह अपनेको द्रष्टामात्र समझने लगता है। वह समझता है कि—

केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

शरीर यन्त्र है, आत्मा यन्त्री है। इसी ज्ञानसे उसके लौकिक कार्य होते रहते हैं। उनमें अनुराग या विद्वेष नहीं रहता। इसी कारण वे भविष्यत् कर्मके बीजरूप

(बन्धन)-में परिणत नहीं होते। इधर सांसारिक कर्मोंमें जितनी आसक्ति कम होती रहती है उधर उतनी हृदयस्थ गुरुपर साधककी आसक्ति बढ़ती जाती है, और उसमें वह मुग्ध होता रहता है। फिर क्रमसे उसमें आत्मसमर्पण कर साधक निश्चिन्त हो जाता है और समझ सकता है कि 'गुरु, आत्मा, माँ' एकहीके नाम हैं। वही अन्तरमें रहकर सब अनुष्ठान पूर्ण करा लेते हैं। साधकको अपनी अहंबुद्धिसे कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, बल्कि किसी अलङ्घ्य नियमके द्वारा समस्त कार्य क्रमशः अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं। यह ग्रन्थिभेद करनेके लिये जब जैसा अध्यवसाय करना आवश्यक होता है, 'माँ' उसी भावसे आत्म-प्रकाश करती है। यही साधन-जगत्‌का यथार्थ क्रम या सोपान है।

ब्रह्मग्रन्थिभेद सत्यप्रतिष्ठा है, विष्णुग्रन्थिभेद प्राणप्रतिष्ठा है और रुद्रग्रन्थिभेद आनन्दप्रतिष्ठा है। जब सत्य और प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है तब आनन्दप्रतिष्ठा अपने-आप हो जाती है, केवल आत्मा—माँके होनेका विश्वास घनीभूत होनेसे ही जीवभावीय कर्तृत्व शिथिल हो जाता है और आगामी कर्मोंका फल ध्वंस हो जाता है, इसीको ब्रह्मग्रन्थि-भेद या मधुकैटभ-वध कहते हैं। यह प्रतिष्ठित होनेसे जीवत्वकी एक जड़ कट गयी, या समुद्रकी एक लहर ऊपर होकर निकल गयी। योगदर्शनमें है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (२। ३६)

सत्य वह है जो इन्द्रिय और मानस ग्राह्यरूपसे प्रकाशित हो रहा है। इस सत्यमें संशय-विपर्ययरहित स्थिति हो तब क्रियाफलाश्रयत्व होता है। क्रिया शब्दका अर्थ है शास्त्रविहित दैव-पैत्र्य कर्म और काय-मनोव्यापाररूप व्यावहारिक कर्म। इन्हीं कर्मोंका यथायोग्य फलाश्रयत्व होता है, सब क्रियाओंका फल केवल सत्यप्रतिष्ठ व्यक्तिका ही आश्रय करता है, जो सत्यप्रतिष्ठ नहीं है वह व्यावहारिक कर्मका भी पूर्णफल प्राप्त नहीं कर सकता, न उसको आत्मज्ञान हो सकता है। शास्त्रीय कर्मोंपर वर्तमानकालमें जनसाधारणकी अश्रद्धा होनेका कारण सत्यप्रतिष्ठाका न होना ही है। आजकल प्रायः मनुष्य सत्यसे विमुख हो गये हैं, जगत्‌को जड समझ लिया है, कर्मको जडरूपसे देखते हैं, चैतन्यरूप द्रष्टाकी धारणा भी नहीं कर सकते। इसी कारण शास्त्रोक्त कर्म प्राणहीन अनुष्ठानमात्रमें समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानरूप अमृतफल पानेके लिये ही कर्मक्षेत्र (देह)-में निवास और अनेक प्रकारके कर्म किये जाते हैं। किन्तु हाय! केवल सत्यप्रतिष्ठाके बिना सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। प्रियतम साधक! यदि आप यथार्थ सुखी होना चाहते हैं तो सत्यप्रतिष्ठाका अवश्य अनुशीलन करें।

२-विष्णुग्रन्थिभेद, महिषासुर-वध या प्राणप्रतिष्ठा

जानन्तु विश्वे अमृतस्य सत्ता

ब्रह्मग्रन्थिभेद होनेसे मधुकैटभ-वध वा आगामि कर्मोंका बीज नष्ट हो गया। साधक अब नित्य नयी-नयी आशा-आकांक्षा लेकर कर्ममें प्रवृत्त न हों। कर्मक्षेत्र (शरीर)-में रहनेसे बाध्य होकर कर्म तो किये ही जायँगे, क्योंकि—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

परन्तु अब अनासक्त होकर कर्म करने पड़ेंगे। उनकी सफलता और निष्फलतामें हर्ष-शोक न हो। विज्ञानमय गुरु मेधस्‌की कृपासे ज्ञानक्षेत्र जैसे-जैसे खुलते जाते हैं वैसा ही क्रमसे अज्ञानान्धकार दूर होता जाता है।

साधक! पहले 'स्त्री-पुत्रादि' गृहस्थके बन्धनको ही परमात्मप्राप्तिमें बन्धन समझते थे और उनका साथ छोड़ना चाहते थे। परन्तु अब गुरुने अनुभव करा दिया कि ये बन्धन नहीं हैं, बल्कि तुम्हारे सूक्ष्म शरीरमें अन्तःकरणके संस्कार ही यथार्थ बन्धन हैं, जो अनेक जन्मसे साथ चले आ रहे हैं। संसार तुम्हारे भीतर ही है, तुम किसी भी एकान्त स्थान वा पर्वतकन्दरामें क्यों न चले जाओ, पर ये संस्कार साथ ही रहेंगे; जब साधक भलीभाँति यह अनुभव कर संसारका मूलोत्पाटन करना चाहता है तब सत्यप्रतिष्ठाके फल और सद्गुरुकृपासे सोती हुई प्राणशक्ति जाग्रत् होकर आगामि कर्मोंके बीजरूप मधुकैटभका प्रथम निधन करती है। **विष्णुकर्णमलोद्भूतौ मधुकैटभौ।**

साधनक्षेत्रमें प्राणका नाम है 'विष्णु'। विष्णुका और एक विशेषण है प्रभु, अर्थात् स्वाधीन, जो स्वतन्त्ररूपसे इच्छाशक्ति चला सके। जब जगत् नहीं रहता तब जगद्व्यापी प्राण **'शेषमास्तीर्य'** अर्थात् भविष्य जगत्‌के बीजोंको शय्यारूप कल्पितकर 'अधःकृत' अपनेमें

लीनकर योगनिद्रा लेते हैं। 'योग' का अर्थ है परमात्ममिलनभाव। उस समय जगद्भाव सुप्त रहनेके कारण व्यवहारमें वह निद्रातुल्य है, योग सिद्ध होनेपर जगद्भावमें सुप्तभाव होगा ही, इस दशामें विष्णुकी फिर स्वतन्त्रता नहीं रहती, योगनिद्रास्वरूपिणी मातृसत्ता विद्यमान रहती है।

विष्णुकर्णका अर्थ है व्यापक चिदाकाश (विष्णु—व्यापक, आकाश शब्दगुणात्मक है, शब्द कानसे ही सुनायी देता है।), मलका अर्थ है आवरक—आवरण करनेवाला, जो निर्मल शुभ्र चिदाकाशको आवरण करे वह मधु-कैटभ है। मधुका अर्थ है आनन्द, कैटभका अर्थ है बहुत्व।

कीटवद् भाति इति कीटभः, तस्य भाव इति कैटभः।

छोटे-छोटे कीड़ोंके समूहकी तरह सञ्चित कर्मबीज एक साथ अनेक भावोंको दरसाते हैं, अतएव अनेकताका बीज ही कैटभ हैं। जब मधु-कैटभ मारे गये तब मानो संसारमहामहीरुहकी एक जड कट गयी, परन्तु अभी दो जड़ें बड़ी दृढ़तासे जमी हुई हैं, वे सहजमें नहीं उखड़तीं। सञ्चित कर्म जो तुमने बहुत्व चाहा था वह तो जमा है, चित्तक्षेत्रमें उनका कोष भरा हुआ है, उनका नाश हुए बिना—महिषासुर-वध हुए बिना—भूमासुखकी प्राप्तिकी आशा नहीं। परन्तु भय नहीं, मैं तुम्हारी 'माँ' हूँ, मैंने गुरुरूपसे प्रकाश किया है, मैं स्वयं खड्गपाणि होकर समराङ्गणमें अवतीर्ण हो तुम्हारे सब सञ्चित संस्कार विलय कर दूँगी, तुम केवल मेरी गोदमें बैठे तमाशा—लीला देखते रहो। जब तुमने भयके कारण आर्त होकर मुझे 'माँ' कहकर पुकारा है, जब तुम मेरे महाप्राणमें प्राण मिलाकर व्याकुल भावसे देख रहे हो, तब निर्भय रहो, मैं तुम्हारे सब बन्धन काटकर अपने अङ्गमें मिला लूँगी। तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा, तुम सुख-दुःखमें निर्विकार आनन्दमय नग्न सरल शिशुकी भाँति मेरी स्नेहमयी गोदमें द्रष्टारूपसे अवस्थान करो।

जीव अनेक जन्मोंमें अनेक प्रकारके वैध कर्मोंके अनुष्ठान, योग, तपस्या या भक्ति-ज्ञानके अनुशीलनसे परमात्म-विषयक संस्कार सञ्चित करता है, वे ही देवता हैं। अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी जो परमात्ममुखी गति या मिलन-प्रयास है उसीका नाम देवशक्ति है और विषयाभिमुखी लालसा ही असुर है अथवा गीतोक्त दैवासुर-सम्पत्तिको देवासुर समझिये। यह देवासुर-संग्राम जीवदेहमें सदा ही चला करता है। वह सूक्ष्म और कारणमें और स्थूल संग्राम कथा-वार्तामें सुना ही होगा। तीनों ही सत्य हैं।

अस्तु, रजोगुण महिषासुर है, **'क्रोधश्च महिषं दद्यात्'** यहाँपर क्रोधरूप महिषका, देवीके प्रति, बलि देना कहा है, परन्तु—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

क्रोध रजोगुणसे ही उत्पन्न है। कामना और वासनाएँ रजोगुणके ही स्थूल विकासमात्र हैं। महिषासुर इनका अधिपति है। रजोगुणके अन्तर्मुखी विकाससमूह देवता हैं। इनके अधिपति (जो नव द्वारवाले देहरूप पुरको ध्वंसकर अर्थात् देहात्मबोध विलयकर देहत्रयातीत, अवस्थात्रयातीत, गुणत्रयातीत, परमात्मसत्ता, मातृ-अङ्कमें मिलनेका प्रयास है वही) पुरन्दर हैं। अभय, सत्त्वसंशुद्धि, दान, दम, तितिक्षा आदि देवभाव इनके आज्ञानुवर्ती हैं।

एक तरफ भोगकी लालसा-वासना, दूसरी ओर मोक्षका आकर्षण। यह संग्राम परमाणुमात्रमें हर समय चला करता है। परन्तु जीव जब मनुष्य-शरीरमें पहुँचता है तब आत्मबोध होनेपर विज्ञानमय कोषमें साधकोंके अनुभवमें आता है, तभी उसका मनुष्य-जीवन सफल होता है। साधक! देखते हो, तुम्हारे सञ्चित संस्कार आसुरी शक्तिबलसे तुम्हें पराजित करते हैं (अपवर्गमें पहुँचनेकी तुम्हारी राहको रोकते हैं)। जब ऐसा विचार करनेमें कई जन्ममें सौ वर्ष पूरे हो जायँगे तब यह संग्राम अपने-आप समाप्त हो जायगा—**'पूर्णमब्दशतं पुरा।'** हमारा वर्तमान जीवन यथार्थ जीवन कहने योग्य नहीं है। कारण कि जीवन वह है जो गति-शक्तिवाला हो, जिसमें हम उन्नति करें, देवासुरसंग्राम अनुभव करते हुए जिसकी समाप्ति हो। जिसने मनुष्यजीवन-व्यापी देवासुर-संग्राम, रासलीला या रामलीलाका अन्तरमें अनुभव नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ गया!

'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्!'

'यत्रैव जायते तत्रैव म्रियते!'

इस साधन-समरमें पहले देवताओंकी हार हुई,

देवशक्ति और असुरशक्ति दोनों ही मनके भाव हैं। नाभि या मणिपूरचक्रसे नीचे असुरोंका क्षेत्र है और इससे ऊपर देवक्षेत्र हैं। नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है, मनका जो अंश परमात्माभिमुखी हुआ है वह पद्मयोनि है, उसे आगेकर देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) विष्णु और शिवके शरणापन्न हुए। विष्णु प्राणशक्ति हैं, इनका स्थान हृदयपद्म है। शिव ज्ञानशक्ति हैं, इनका स्थान ललाट या आज्ञाचक्र है) [सद्गुरु हृदय-कमलसे साधन आरम्भ कराते हैं अर्थात् पहले विष्णुकी आराधना कराकर धीरे-धीरे ललाट कमलतक पहुँचाते हैं, जीवका निवास साधनसे पूर्व मूलाधार या पृथ्वी-चक्रमें होता है, इसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जलचक्र), फिर मणिपूर (अग्निचक्र), इन तीनके ऊपर हृदय-कमलतक बड़ी ऊँची सीढ़ियाँ हैं, समर्थ गुरु शिशु-साधकको गोदीमें ले अपने हाथसे चौथी सीढ़ीपर बिठा देते हैं। इससे ऊपरकी सीढ़ियाँ कम ऊँची और चौड़ी हैं। इस कारण उनपरसे फिसलनेका डर नहीं होता, तो भी सद्गुरु अपने चतुर्भुजरूपसे साधे या देखते रहते हैं। सन्तोंकी दिव्य दृष्टि पहाड़में भी नहीं रुक सकती। वह एक्स-रेजसे अनेक गुण तीव्र होती है। रेज रक्त-मांसके पारतक ही दिखा सकता है, हड्डीके अन्दर उसकी गति नहीं]

मन (ब्रह्मा)-ने यह समझ लिया कि प्राण और ज्ञानकी सत्ता बिना मेरी सत्ता है ही नहीं, यही शरणागति है। जीव जबतक अहंताको जोरसे पकड़े रहता है तबतक उसका अभिमानसे उठा हुआ सिर किसी प्रकार झुकना नहीं चाहता और न तबतक शरणागतभाव आता है। शरणागत हुए या आत्मनिवेदन किये बिना साधनका आरम्भ और आगे बढ़ना हो नहीं सकता।

इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसकी पहुँच बुद्धितक है। इससे आगे वैषयिक प्रकाश नहीं। इसी कारण बौद्ध-ज्ञानको लयका देवता कहा जाता है।

मन (ब्रह्मा)-ने आजतक जो-जो वृत्तियाँ उदय होती रहीं उन सबको बुद्धिके प्रकाशसे प्रकाशित कर प्राणको भेंट किया, परन्तु आज मन ही उसे असुरोंका अत्याचार बतला रहा है। इधर मधु-कैटभवध (ब्रह्म-ग्रन्थिभेद)-के समयसे प्राण (विष्णु)-की भी निद्रा भङ्ग हो गयी है, ज्ञानशक्ति भी विज्ञानमय गुरुरूपसे प्रकाश कर रही है। जीव! अब तुम इधर-उधर भटकना छोड़कर अपने अन्तःस्थित ज्ञानमय गुरु-चरणकी शरण लो। वे साक्षात् हरि हैं।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

ऐसे बनकर, रोते हुए कहो, प्राणमय गुरो! इन असुरोंकी पीड़ासे बचाइये, ये मुझे आपके समीपतक नहीं पहुँचने देते। दया कर, इन सञ्चित कर्मोंके विपरीत आकर्षणसे रक्षा कीजिये। आप ही मेरे—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

—सब कुछ हैं। मेरी जडता दूर कीजिये। (जडता रहना ही असुरोंका अत्याचार है।)

देखो जीव! चैतन्य ही तुम्हारा स्वरूप है, तुम्हारी इन्द्रियाँ चैतन्यके ही प्रवाहमात्र हैं, जहाँ चैतन्य है वहीं अमृत है, किन्तु तुम असुरोंद्वारा ऐसे हृत्सर्वस्व हो रहे हो कि अमृतके रहते हुए भी आनन्दामृतकी एक बूँदको तरसते हो, इस असुरके अत्याचारका अनुभव तो करो! **'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति'**। सुख ही स्वर्ग है (सु+ऋज्+घञ्)। अपने प्राणको ब्रह्म—आत्मा 'माँ' समझकर आदर करो, प्रत्येक पदार्थको प्राणरूप अनुभव करो, तब तुम्हारे सब अभावोंका रोना सदाके लिये बन्द हो जायगा। 'माँ' राजराजेश्वरीमूर्तिसे हृदयमें प्रकाशित होगी। अपने अभीष्ट देवताके दर्शन पाकर तुम धन्य हो सकोगे। तुम्हारी 'विष्णुग्रन्थि' खुल जायगी। इस प्राणको 'माँ' समझ लेनेसे फिर प्राणका पता नहीं पाया जाता। तुमने तो अपने नवद्वार बन्द कर रखे हैं, माँको प्राणभिक्षा देना नहीं चाहते। इसीसे तो 'माँ' ने गोपालमूर्तिसे वृन्दावनमें अवतीर्ण होकर माखन (प्राण) चोरी की थी। वह वृन्दावन क्या है? बुद्धिक्षेत्र ही वृन्दावन है, इसी स्थानमें जीवात्मा-परमात्माका मिलन होता है, इसीमें रासलीला होती है, यही जीवन्मुक्तका आनन्दनिकेतन है। रसरूप आत्मा, इन्द्रियशक्तिरूपिणी गोपियोंसे परिवेष्टित आराधिता जीव-प्रकृति राधाके साथ रसिकशिरोमणि **'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'** श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी रमण करते हैं। शैवोंकी भाषामें यही कैलास है। यहींपर विज्ञानमय महेश्वर, माहेश्वरी पराप्रकृतिके साथ विहार करते हैं। यहींपर **'सर्वमापोमयं जगत्'** जडभावका

अभाव है, केवल 'चिन्मय' है। यहींपर विषयसंस्पर्शजन्य आनन्द और बहुत्वका अन्त होता है। एक सन्तका गान यहाँ याद आ गया—

हमारे बृंदाबन उर और।
माया काल तहाँ नहिं ब्यापै, जहाँ रसिक सिरमौर॥
छूट जायँ सब असत बासना मनकी दौरादौर।
गोबिंद रसिक लखायौ श्रीगुरु अमल अलौकिक ठौर॥

साधक! तुम अपने प्राणको जबतक विश्वप्राणरूपसे न समझ सकोगे, तबतक विष्णुग्रन्थिभेद न होगा। तुम्हारे जीवभावीय संस्कार हैं, वे प्राणमें अवस्थित हैं, उन्हें तुमने सङ्कीर्ण कर रखा है। इसीसे तुम्हारी विष्णु (प्राण)-ग्रन्थि खुलती नहीं। परमेश्वरी माँको— आत्माके मुखपर जीवत्वकी स्याही लगा, कङ्गालिनी बनाकर देहरूप जीर्ण कुटीरमें छिपा रखा है, उससे अपने अभाव अभियोगोंका प्रतीकार होता हुआ न देखकर व्यङ्ग वचन कहते हो, हम तुच्छ हैं, दीन हैं, दरिद्र हैं, परन्तु क्या कभी तुमने उस माँकी सूरतपर भी निगाह डाली है? वह सर्वेश्वरी होकर भी तुम्हारे अभावोंको पूर्ण करते-करते दरिद्रा हो गयी, परन्तु तुम्हारे अभाव दूर न हुए, दिन-दिन बढ़ते ही जा रहे हैं, वह ज़ार-ज़ार रोती हुई कष्ट सहती हुई तुम्हारा मुँह ताकती है, फिर अपनी दशा विचारकर आकुल प्राणसे जो व्यथा सहती है उसका विचार करनेसे वज्रहृदय भी टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता होगा कि राजराजेश्वरीकी सन्तानकी यह दुर्दशा!

जीवकी उच्छृङ्खल कामनाएँ पूर्ण करते-करते माँ! आज तुम भिखारिणी हो रही हो, तुमने अपना सर्वस्व दे डाला है, परन्तु हम ऐसे कुपुत्र हैं कि तुम्हारी इस दशाका उलटा तिरस्कार करते हैं, हम कब मनुष्य होंगे? कब अपनेको माँकी सन्तान समझ सकेंगे? क्षमा करो माँ, हम अकृतज्ञ, अधम, शिशु पुत्रोंका यह अज्ञानकृत अपराध क्षमा करो—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

अब हम लज्जाके मारे कुछ कहने-विचारनेयोग्य नहीं हैं, इस असुरसे बचाओ।

सुनो जीव! तुम्हारी यह कल्पित भाव-दीनता देखकर माँ तुम्हें आशीर्वाद, नहीं नहीं, वर देनेको तैयार हुई हैं, उसे ग्रहण करो, तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

विक्षेप-आवरणादि असुरवृत्तियाँ प्राणप्रतिष्ठा होनेपर प्राणमय हो गयीं, भेदज्ञान दूर हो गया, सञ्चित संस्कार दग्ध बीजवत् हो गये, प्राणमय ग्रन्थि खुल गयी, अब सञ्चित संस्कारोंका फल भोगे बिना ही जीव माँकी गोदमें आरोहण कर सकेंगे, विष्णुग्रन्थिभेदका यही विशेष फल है। अब समझमें आ गया कि 'माँ-गुरु' के प्राण ही हमारे प्राणरूपसे प्रकाशित हैं। विषयमात्र ही मानो प्राणकी मूर्ति हैं, अब यह देख पाया है। अब विषयोंपर जो ममता, अनुराग या विद्वेष था, वह भी दूर हो गया। तुम प्राण या चैतन्यपर प्रतिष्ठित हुए हो। संसारवृक्षकी दूसरी जड भी कट गयी। रजोगुणरूप महिषासुरका वध हुआ, सञ्चित कर्म दग्ध हो गये। परन्तु सबसे मज़बूत प्रारब्धभोगरूप मोटी जड अभी शेष रही है, यह रुद्रग्रन्थिभेद होनेपर माँ— समर्थ गुरुकी कृपासे एक ही शरीरसे अनेक जन्मोंका फल भोग कराकर स्वयं काट देगी।

रुद्रग्रन्थिभेद—शुम्भवध या आनन्दप्रतिष्ठा

पश्यन्तु सर्वे अमृतस्वरूपं
गच्छन्तु सर्वे अमृतं निधानम्।

अब हम रुद्रग्रन्थिके समीप होते हैं, यद्यपि '**प्रारब्ध- कर्मणां भोगादेव क्षयः**' श्रुतिमें कहा है, तथापि भगवान् श्रीकृष्णजीका उपदेश लक्ष्य भेदकर और भी आगे बढ़ता है— '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**'। प्रारब्ध जीवरूप वृक्षका अन्तिम बन्धन है। माँकी कृपासे यह कटते ही अज्ञान-अन्धकार बिल्कुल दूर हो जायगा, जीवका जो यथार्थ स्वरूप है वह प्रकाशित होने लगेगा। सुरथ! तुम आत्मसमर्पणयोगकी सहायतासे मुक्तिसागरमें कूद पड़े हो, दो लहरें तुम्हारे ऊपर होकर निकल गयीं। स्थूल और सूक्ष्म शरीरपर जो अभिमान था वह दूर हो गया। अब इस समरके लिये कुछ अस्त्र आवश्यक हैं, उन्हें दृढ़तापूर्वक काममें लाना होगा—(१) '**जीवो ब्रह्मैव नापरः**' इसपर दृढ विश्वास प्रथम अस्त्र है। (२) बुद्धितत्त्वमें अवस्थानकर स्वयंप्रकाशित चितिशक्तिकी ओर बार-बार लक्ष्य करनेका अभ्यास, यह दूसरा अस्त्र है। (३) युक्तिकी सहायतासे दृढ

करना कि इन दृश्य पदार्थोंमें व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नहीं, यह तीसरा अस्त्र है। (४) शास्त्रीय प्रमाणोंकी सहायतासे **'तत्त्वमसि'** **'एकमेवाद्वितीयम्'** **'नेह नानास्ति किञ्चन'** इत्यादिकी सहायतासे अद्वयस्वरूप परिग्रह करनेका प्रयास करना, यह चौथा अस्त्र है। (५) माँकी विशिष्ट कृपा पानेके लिये कातर प्रार्थना आदिसे अन्ततक कृपा रखनेकी प्रार्थना करना। कृपा ही शरणागतभावका अवश्यम्भावी फल है। आत्मप्राप्तिके पक्षमें आत्मकृपा ही प्रधान अवलम्बन है, कृपा प्राप्त होनेसे सब अनायास प्राप्त हो जाता है। ये व्युत्क्रमसे फल देते हैं। सबसे पहले माँकी कृपाका अनुभव होता है, फिर विश्वास दृढ होता है, फिर शास्त्रवाक्यका अर्थ प्रतीत होता है, फिर युक्ति या विचारकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है। अन्तमें अनुभूतिको लक्ष्यकर अभिन्नस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेकी योग्यता होती है।

यह योग्यता होते ही तीसरी लहर कारण शरीरका अभिमान भी दूर हो जायगा और तुम आनन्दमें प्रतिष्ठ होओगे, रुद्रग्रन्थिभेद हो जायगा। आओ साधक! आओ जीव! एक स्वरसे माँको प्रणाम कर आगे बढ़ें और जिसने इस दुर्जय असुरकी पीड़ासे परित्राणकर अपने स्नेहमय वक्षपर रखकर आनन्दमय मन्दिरमें पहुँचाया है, उसके चरणोंपर प्रणत हों। प्रणाम करनेके सिवा और हम क्या सेवा-पूजा कर सकते हैं? हमारा है क्या, सब कुछ उसीका रूप है। अपना आत्माभिमान-बोध माँके चरणोंमें देना ही प्रणाम है। जिसका प्रणाम जितना सत्य, सरलतामय और निष्कपट है वह उतना ही शीघ्र और सहजमें अपना अभीष्ट प्राप्त कर शान्तचित्त होता है।

आनन्दमय सन्तान! तुम सत्यके आनन्दमय आह्वानसे प्रबुद्ध हुए हो, प्राणके अमृतमय स्पर्शसे शरीरमें रोमाञ्च हुआ है, अब मेरी आनन्दमय सत्ताको प्रत्यक्ष करो, देखो, मैं आनन्दमय, मधुमय, अमृत, अभय और नित्यमुक्त हूँ। निरवच्छिन्न आनन्द ही मेरा स्वरूप है। श्रुति कहती है, **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन,'** **'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**। यद्यपि आनन्दका थोड़ा-बहुत अनुभव प्राणिमात्रको है, जगत्में काम्य वस्तु प्राप्त होनेपर कुछ आनन्दभाव सबके हृदयमें उत्पन्न हो जाता है, तथापि वह विषयेन्द्रियसंयोगजन्य आनन्द है। यदि कदाचित् तुम्हें समर्थ गुरु कृपा कर एक ऐसी अवस्थामें ले जायँ कि जहाँ किसी प्रकारका विषयसंस्पर्श नहीं, कुछ चिन्ता नहीं, कुछ भावना नहीं, त्याग नहीं, ग्रहण नहीं, दर्शन-श्रवणादि व्यापार नहीं बल्कि केवल आनन्द-ही-आनन्द है तो उस अवस्थाको ही 'माँ-आत्मा' का स्वरूप समझ लो। और धीरभावसे आगे बढ़ो। आनन्द एक प्रकारका भाव या ज्ञान है। उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद नहीं है, अङ्गाङ्गीभाव, भोक्तृभोग्यादिभाव भी नहीं है, वह केवल विशुद्ध आनन्द है। इसीको श्रुतिने **'एकमेवाद्वितीयम्'** कहा है। इस आनन्दका ही दूसरा नाम रस या प्रेम है। यहाँ प्रेम-प्रेमी और प्रिय तथा रसिक, रस और रस्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी कुछ विभिन्नता नहीं है। केवल प्रेमरस है। इसे भाषामें क्या कहें, कैसे समझावें, यह तो भाषासे बाहर है। परन्तु समझने-समझानेकी चेष्टा सदासे चली आयी है और चलेगी। अतएव पूज्य आत्मदेवका स्मरणकर यथाशक्ति लिखनेका साहस करते हैं, पाठकगण! क्षमा करें। श्रुतिने उसे—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' **'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्'**

इत्यादि नेति-नेति मुखसे 'माँ—आत्मा' का निर्गुण रूप समझानेकी बहुत चेष्टा की है।

इस निर्गुण-निरञ्जन स्वरूपके ऊपर आत्मा (माँ)-का दो प्रकारका महत्त्व प्रकाशित होता है—एक ईश्वरत्व, दूसरा जीवत्व। आनन्दसे ही इन भूतोंकी उत्पत्ति है, आनन्दमें ही उनका अवस्थान और आनन्द ही प्रलयस्थान है। निर्गुणका अर्थ है अभिन्न गुण। ब्रह्मकी यह विशेषता है कि इसे जो जैसा कहे वह ठीक वैसा ही है। क्योंकि प्रकाश-अन्धकार, ज्ञान-अज्ञान, विद्या-अविद्या, सगुण-निर्गुण, सुख-दुःख इत्यादि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्म भी तो एक साथ ब्रह्ममें ही मौजूद हैं, तो भी उसके निरञ्जन स्वरूपमें कुछ व्याघात नहीं होता। केवल आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपना निरञ्जन स्वरूप सर्वथा अखण्ड रखते हुए भी एक साथ ईश्वर और जीवरूपसे प्रकट हो सकता है। यही ब्रह्मका ब्रह्मत्व है। वह सत्, चित् और आनन्द है, यही प्रथम स्पन्दनमें सत् या सत्त्वगुण, द्वितीय स्पन्दनमें चित् या रजोगुण—आनन्दकी अनुभवशक्ति और तृतीय स्पन्दनमें आनन्द या तमोगुण अनुभाव्य—

भोग्यभाव प्रकाशित होता है। उसका नाम 'आत्मा' 'माँ' कुछ भी रख लीजिये। यह ज्ञानस्वरूप परमात्मा परम प्रेमास्पद है, जिसकी प्रीति साधनके लिये जीवत्वका बन्धन अनादिकालसे लादे आ रहे हैं, जिसकी रक्षाके लिये **'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'** सब पृथिवी त्यागना कहा है। पृथिवी मूलाधार कमल है, इसको त्यागकर उन्नत हुए बिना आत्मराज्यमें पहुँच नहीं हो सकती। वह आत्मा कितना घन आनन्दस्वरूप है, क्या मुखसे उसका वर्णन किया जा सकता है?

तात्पर्य यह है कि हजार बार सगुण होनेपर भी उसकी निर्गुणतामें कुछ विकार नहीं होता, जैसे हजार आभूषण नाना प्रकारके बना लेनेपर भी सुवर्णका सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता। ब्रह्ममें गुणातीत और गुणमय ये दोनों भाव साथ ही विद्यमान हैं। जब आनन्दमय आत्मा आप अपनेको बहुधा विभाजित कर भोग करता है तब वह ईश्वर है और जब उस समष्टि ईश्वरानन्दको व्यष्टिरूपसे भोगता है तब वही जीव है। जैसे समुद्रका जल, जलकी लहरें और जलकी बूँदें इनमें कुछ भेद नहीं है, इसी प्रकार केवलानन्दमयी, सर्वकारिणी, ईश्वरानन्दमयी और फिर सर्वरूपिणी जीवानन्दमयी 'माँ' है।

साधक! अब विचार कीजिये कि धीरे-धीरे आप कहाँ आ पहुँचे। अब आपकी देहका प्रत्येक परमाणु आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है। आनन्द ही आपका निमित्त, आनन्द ही उपादान, आनन्द ही स्वरूप है। आपके चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है। जड़ पत्थरतक सभी आपके पारिवारिक जन, आनन्दमय घन सत्ता हैं।

अजी, आप आनन्दसमुद्रमें मग्न हो, दिन-रात आनन्दकी सेवा करते हो और फिर भी नेत्रहीनकी भाँति खोजते हो कि 'आनन्द कहाँ है?' एक बार माँकी ओर देखो तो सही, फिर आपको कहीं भी आनन्दका अभाव न रहेगा। यह संसार आनन्दमय भासने लगेगा और आपकी जगद्भोगकी वासनाएँ बिल्कुल अन्तर्हित हो जायँगी।

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस प्रकार विष्णुमाया, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ और भ्रान्ति आदि सब आत्मा—माँके ही रूप तो हैं, सबको प्रणाम। जब इतना दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब साधक नृपनन्दन कहलानेका अधिकारी होता है।

ऋषिरुवाच—

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्वती।
स्नातुमभ्याययौ तोये जाह्नव्या नृपनन्दन॥ ३७॥

यहाँ साधकका चित्त आर्द्र होकर प्रेमाश्रु निकलने लगते हैं, यही गङ्गाजल है, इसमें स्नान करनेको 'माँ' आती है। सन्तानके परम पवित्र प्रेमाश्रु बिना 'उमा' का स्नान-अभिषेक नहीं होता। त्रितापसन्तापसन्तप्त सन्तानके आकुल आर्तनादसे विक्षोभित मातृवक्षको शीतल-शान्त करनेके लिये निष्कपट प्रेमाश्रुओंकी ही आवश्यकता है। अर्थात् साधक देखते हैं कि यह परिदृश्यमान विश्व केवल जड़ पदार्थ नहीं है, आनन्दमयी माँकी मूर्ति है—

सोऽब्रवीत् तान् सुरान् सुभ्रुर्भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का।

सरल अबोध बालिकाकी भाँति 'उमा' शिवा सन्तानको व्याकुल देख पूछती है, अरे! क्या हुआ? तुम किसकी स्तुति करते हो? यहाँ अस्मितारूप शुम्भ दैत्यका निधन होगा। अन्नमयादि पञ्च कोशोंसे प्रकट होनेके कारण 'कौशीतकी' नाम पड़ा है—

कौशीतकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते।

एक बार अद्वयतत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त हो जानेपर साधककी भेदभ्रान्ति, बन्धनभय, मृत्युभय दूर होकर अभय हो जाता है। उसके बाद जबतक स्थूल देह रहती है, तबतक साधक प्रारब्ध-संस्कार क्षय करता और अन्तमें कैवल्य मोक्ष प्राप्त करता है। प्रबल प्रारब्ध रहनेतक शुम्भवध या रुद्रग्रन्थिभेद (यथार्थ अद्वैततत्त्वप्रकाश) नहीं होता। यहाँतक तो साधकका ममता-क्षय (निशुम्भ-वध) हुआ। जबतक साधक यथार्थ अहंके दर्शन नहीं कर सकता, तबतक उसका मिथ्या अहं दूर नहीं होता, 'मैं-माँ' के दर्शन होते ही ब्रह्मवित् पुरुष निरहङ्कार हो जाते हैं। सच्चे सन्तका लक्षण निरहङ्कार होना ही है।

अब अस्मिता (शुम्भ) और दुर्गा (प्रतिबिम्ब और बिम्ब)-का दारुण युद्ध होता है। कारण, अस्मिताकी सत्तासे ही सब लोकोंकी सत्ता है, अस्मिता न रहे तो सर्व कहनेको कुछ रहता ही नहीं। असुर भी अस्मिताके ही भिन्न-भिन्न स्फुरणमात्र हैं।

साधक एक दिन गीताके अन्तमें श्रीसमर्थ गुरुकी अपूर्व वाणी 'मामेकं शरणं व्रज' सुनकर मुग्ध हुए थे, अपने 'मैं' को उनके चरणोंमें अर्पण किया था। इतने दिन बाद उसकी सार्थकता अनुभवमें आयी है, जब माँने आत्मसत्तामें मिला लिया है, अब कहो—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवनं मम।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दं विभाति मे॥

शुम्भ देवीके शूलसे आहत और गतप्राण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। प्रबल प्रारब्धसंस्कार क्षीण होनेपर आत्मप्रकाश होता है। इसीको साधनकी भाषामें रुद्रग्रन्थिभेद कहते हैं। इस जगत्, देह आदिकी प्रतीति ही रुद्रग्रन्थि है। जगत्‌की सत्ता त्रिकालमें नहीं है, एक अद्वितीय आत्मा नित्य विराजमान है, आत्मा नित्य शुद्ध निरञ्जन है। उसपर जो अत्यन्त अनुराग है वही अहैतुकी भक्ति है।

अस्मिता नष्ट होनेपर सर्वत्र प्रसन्नता दीख पड़ती है, आत्मप्राप्तिके बाद साधकके शब्द मधुर उच्चारित होते हैं, कण्ठमें आकर्षणभाव आ जाता है। रोग-शोकमें भी यह स्वरूपानन्द विच्युत नहीं होता। यह आनन्द ही सांख्यका पुरुष, वेदान्तका ब्रह्म, उपनिषद्‌की आत्मा, गीताका श्रीकृष्ण, देवीमाहात्म्यकी चण्डिका और साधककी 'माँ—उमा' है। एक बार कहिये।

'सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्।'

'तथा चात्मवित् संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दमिहैव प्राप्नोति।'

तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥

खलाः काले काले निशि निशितमोहैकमिहिका
गता लोके लोके विषयशतचौराः सुचतुराः।
प्रवृत्ताः प्रोद्युक्ता दिशि दिशि विवेकैकहरणे
रणे शक्तास्तेषां क इव विदुषः प्रोज्झ्य सुभटाः॥

उपसंहार

वत्स सुरथ! तुमने और समाधि वैश्यने कहा था कि हम ज्ञानी हैं, जानते हैं, तो भी यह मोह हमें क्यों होता है? इस मोहके छूटनेका उपाय जो गीतामें कहा वही यहाँ भी कहते हैं—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

माँकी आराधना करनेसे पहले वह ब्रह्मग्रन्थिभेद करेगी, उससे विषयासक्ति दूर होगी, तब पार्थिव भोग अपने-आप आकर उपस्थित होंगे, यही माँका प्रथम दान है। दूसरी मूर्तिसे विष्णुग्रन्थिभेद करेगी, उसके फलसे विश्वमय प्रियतम प्राणसत्ताके दर्शन कर तुम स्वर्ग-सुखभोगके अधिकारी होगे और तीसरी मूर्तिसे वह रुद्रग्रन्थि भेदकर तुम्हें विशुद्धबोधस्वरूप (आत्मज्ञान)-में उपनीत करेगी, तब तुम मोक्ष प्राप्त करोगे।

तीन स्थानों (मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय क्षेत्र)-में उपासना करनेसे प्रसन्न होकर जगद्धात्री माँके चण्डिका-रूपसे आविर्भूत होनेपर साधकका तीनों ग्रन्थिभेद हो जाता है। सुरथ और समाधिकी उपासनाप्रणाली क्रमशः साधनसमरकी रीति अथवा योगकर्मका कौशल है।

सुरथ जीवात्मा है, आत्म-राज्यसे विच्युत हुआ है, वह इन्द्रियवृत्तियोंपर आधिपत्य चाहता है जिससे विषयेन्द्रियद्वारा पीड़ित न हो, और समाधि वैश्य (आत्मराज्यमें प्रवेश करनेवाले साधक)-ने अहं-ममत्वरूप संसारासक्ति-विनाशक आत्मज्ञानके लिये प्रार्थना की है। माँके दर्शन होते ही मन बिना रोक-टोकके भोग चाहता है और प्राण आत्मामें तन्मय होना चाहते हैं, इस प्रकार साधकको भोग और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं। माँने श्रीकृष्णरूपसे गीतामें कहा था—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(८।१६)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(८।१४-१५)

'न स पुनरावर्तते'

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

इस प्रकार साधकोंकी सब बाधाएँ दूरकर माँ उन्हें अपनेमें लीन कर लेती हैं, तब सारा जगत् ब्रह्ममय दीखने लगता है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

ब्रह्मचर्य और योग

(लेखक—ॐ 'श्रीविश्वात्मा')

योगका महत्त्व और उसकी कठिनाइयाँ

योग भारतवर्षकी बहुत ही प्राचीन सम्पत्ति है। यह भारतवर्षके गौरव एवं मानकी वस्तु है। इसका प्रभाव धर्म और सम्प्रदायमात्रपर पड़ा है। भारतीय शास्त्रोंमें योगपर बड़ी-बड़ी रोचक, मनोहर एवं विचित्र कथाएँ लिखी हुई हैं। योगके सम्बन्धमें यहाँ वृद्धोक्ति और किंवदन्तियोंकी भी कमी नहीं है। यौगिक तत्त्वोंपर भारतवर्षमें स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बहुत लिखे गये हैं, जिनमें पातञ्जलयोगदर्शन-जैसा उत्तम दर्शन है जो भारतीय प्रधान छः दर्शनशास्त्रोंमेंसे एक दर्शनशास्त्र है। दार्शनिक विचार कितने ऊँचे, पवित्र और रहस्यमय होते हैं इसको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष मान सकता है। दार्शनिक तत्त्व होनेसे ही योगकी गहनता, महत्ता, दिव्यताका पता लग जाता है कि योग कितनी कठिन समस्याका नाम है। इस योगकी महान् सिद्धिके लिये हमारे पूर्वजोंने हजारों वर्षोंतक कितने ही प्रयत्न कितनी ही संख्याओंमें किये हैं जिसपर भी उनमेंसे कोई एक ही योगकी परम सिद्धिको प्राप्त कर सका है। इस विषयपर बातचीत करते हुए 'ॐ' से एक महात्माने कहा था कि 'गुब्बे' (एक प्रकारके सट्टे वा जुए)-में तो सौ अङ्कोंमेंसे निन्नानबे अङ्क हारके एवं एक अङ्क जीतका होता है। परन्तु योगमें तो हजार अङ्कोंमेंसे नौ सौ निन्नानबे अङ्क हारके और एक अङ्क जीतका है। यद्यपि यह वाक्य व्यङ्ग शब्दोंमें योगपर कुछ आक्षेप-सा मालूम होता है, परन्तु है यह बिल्कुल सत्य, जो गीता अ० ७ श्लो० ३ में बड़े ही सुघरे शब्दोंमें कहा गया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

'प्रयत्नशील हजारों पुरुषोंमेंसे कोई एक पुरुष ही योगकी सिद्धि (यथार्थ मार्ग)-को प्राप्त किया करता है और उस यथार्थगामी हजारों सिद्धोंमेंसे कोई एक ही मेरे तत्त्वको जाना करता है।' इस श्लोकमें **'सिद्धये'** और **'मां वेत्ति तत्त्वतः'** शब्द योगके रहस्य और तत्त्वको बतला रहे हैं। प्रथम शब्द योगके कपाट खोलनेकी कुञ्जी है तो दूसरा शब्द योगकी गुप्त गुहामें रखे हुए दिव्य ईश्वर-रत्नको दिखानेवाला चक्षु है। **'सिद्धये'** शब्दके आगे **'मां वेत्ति तत्त्वतः'** आनेसे पता लगता है कि यहाँ योगके उसी मार्गका नाम सिद्धि कहा जाता है जिससे साधक ईश्वरके तत्त्वको भली प्रकारसे जान जाया करता है। असत्यसे दृष्टिको हटाकर सत्यपर जमा देना ही योगका सच्चा अर्थ है अर्थात् असद्विचारदृष्टिको हटाना ही योगकी यथार्थ सिद्धि और सत्यपर विचारदृष्टिको जमा देना ही भगवान्को तत्त्वसे जान लेना है। जो साधक इस अर्थको समझकर योगमें लगता है वही योगके तत्त्वको प्राप्त किया करता है, अन्य सब मार्गमें ही पड़े रह जाते हैं। जैसे कुछ साधक थोड़े दिन साधना करके अपनी व्यग्रता एवं चञ्चलताके कारण साधनको ही छोड़ दिया करते हैं तो दूसरे कुछ अपनी अनियमितताके कारण रोगी होकर जीवन बिताया करते हैं। कुछ हठी दुराग्रही रोगी हो जानेपर भी मनमाने साधनमें लगे रहा करते हैं। ऐसे दुराग्रही साधकोंकी चिकित्सा मृत्यु-मुखसे सिवा कुछ भी नहीं होती। यदि कोई साधक इन सब कठिनाइयोंसे पार हो भी गया तो वह भौतिक सिद्धियोंके फेरमें पड़ जाया करता है। उपर्युक्त तीनों विघ्नोंसे सताये हुए असिद्ध साधकोंका साधनसञ्चय दूसरे जन्ममें काम आ जाया करता है; क्योंकि वे अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्त करते रहते हैं। परन्तु सिद्धियोंका खोया हुआ साधक तो अपना सर्वस्व खोकर ही यहाँसे प्रस्थान किया करता है। जहाँ तीनोंको अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्ताप हुआ करता है वहाँ इसको अपनी सफल सिद्धियोंपर प्रसन्नता बढ़ती रहा करती है। यह अपना सर्वस्व लुटाकर भी बधाई बाँटनेवालेके सदृश है।

उपर्युक्त सब विघ्न-बाधाओं एवं पापोंसे बचकर साधना करनेवाले साधकका ही **'सिद्धये'** शब्दसे निर्देश किया गया है—वही सिद्ध साधक मेरे तत्त्वोंको जाना करता है, यही भगवान्के उपर्युक्त वाक्यका अभिप्राय है। इस भगवान्को देखने, पकड़ने, पानेवाली सिद्धिको वही साधक प्राप्त कर सकता है जो 'संसार सत्य है' की भावनाको मिटाकर योगमें लगा करते हैं। जो

संसारको सत्य मानकर उसकी पुष्टि (भोगप्राप्ति)-के लिये योगमें लगा करते हैं उन्हींको उपर्युक्त व्यग्रता, अनियमितता, दुराग्रह आदि दोष, विघ्न तथा सिद्धि आदि पाप सताया करते हैं। सच तो यह है कि भोगोंके लिये योगमें लगना रोग और मृत्युको पाना और भोगवासनाको भस्म करनेके लिये योगमें लगना भगवान्‌को पा जाना है। यही योगसाधनका मूल मन्त्र वा सिद्धान्त-बिन्दु है।

ब्रह्मचर्य

'ॐ' जिस योगकी महत्ता, दिव्यता, गहनता तथा कठिनता, कठोरता और क्रूरताको ऊपर कहा गया है, जिसके अनुसार चलकर साधक ईश्वरकी ज्योतिमें भी समा सकता है और मृत्युका कलेवा भी बन सकता है, उस योगको यदि आप साध्य बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप ब्रह्मचर्यका पालन कीजिये। ब्रह्मचर्यके बिना योगकी सफलताका अङ्कुर वैसे ही नहीं उगा करता जैसे जलके बिना बीज। ब्रह्मचर्यके बिना योग वैसा ही है जैसे प्रकाशके बिना सूर्य और प्राणके बिना प्राणी। ब्रह्मचर्यकी निष्ठाके बिना योगको छूना अपनी मौतको आप बुलाना है। अतः योगके जिज्ञासुका ब्रह्मचारी होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवनके इच्छुकको प्राणी (प्राणवाला) होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यव्रतसे युक्त साधकके प्राण स्वभावसे ही स्थिर रहा करते हैं। यही बात योगशास्त्रमें भी कही गयी है कि **'स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः'** वीर्यके स्थिर हो जानेसे ही प्राण भी स्थिर हो जाया करते हैं। इस सिद्धान्तके पोषक वाक्य योगशास्त्रमें सैकड़ों ही मिलते हैं। जैसे—

सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिध्यति भूतले।

हे पार्वति! बिन्दुके सिद्ध हो जानेपर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो साधकको प्राप्त न हो सके? पातञ्जल-योगदर्शनमें भी कहा है **'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'**। ब्रह्मचर्यकी निष्ठासे वीर्य 'बिन्दु' की स्थिरता, ऊर्ध्वगतिका लाभ प्राप्त होता है। हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि—

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत् तावत् कालभयं कुतः।

जबतक साधक बिन्दुको ऊर्ध्वगामी रखता है तबतक उसको काल—मृत्यु-प्राणक्षयका भय नहीं है। अथर्ववेदमें भी कहा है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको मार डाला। शिवसंहितामें महादेव कहते हैं—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

बिन्दुका पतन ही मृत्यु और बिन्दुका धारण—स्थिरता ही जीवन है। आगे फिर कहा है कि, **'अहं बिन्दुः शिवो बिन्दुः'** मैं बिन्दु हूँ, शिव ही बिन्दु है। आगे फिर पार्वतीसे कहते हैं कि, हे पार्वति! मैं बिन्दुजयसे ही शिवपदको प्राप्त कर सका हूँ। इस बिन्दुके धारणसे ही तो 'ॐ'का 'ॐ'कार ईशत्वको प्राप्त हो गया है। उसके मत्थेपरसे बिन्दुको हटाकर देखिये कि वह फिर भी 'ॐ' रहता है या नहीं। वह बिन्दु हटते ही ईशत्वसे च्युत हो जाता है। बिन्दु धारण ही उसको ईशत्वपद दिये हुए हैं। अस्तु, जब योगके जन्मदाता मुख्याचार्य शिवको शिवत्व ही बिन्दु धारणसे प्राप्त हुआ है, जब योगके प्रदाता ईश्वरके प्रथम नाम 'ॐ'के ओमत्वका कारण भी बिन्दु धारण ही है तो फिर साधारण ब्रह्मचर्यहीन पुरुष योगसिद्धि शिवत्वको प्राप्त हो सकेगा, यह बात असम्भवसे भी दुस्तर है। दुस्तर ही नहीं अपितु अपनी मौतको निमन्त्रण देना है। उपर्युक्त विवेचनसे आपको दो बातोंका पता लगेगा। एक, ब्रह्मचर्य बिना योगका साधन करना अपनेको रोग और मौतके मुखमें भेज देना है और दूसरे, मरनेवाले मिथ्यात्वसे छूटना शिवत्वको प्राप्त करना है। यही योग शब्दका सच्चा तत्त्वार्थ है। 'ॐ'के मतानुसार इस अर्थको लेकर योगसाधनमें लगनेवाला साधक ही योगमार्गकी कठिनाइयोंसे पार पहुँचा करता है।

आप ऊपर यह तो समझ ही चुके हैं कि ब्रह्मचर्यसे हीन साधक योगमार्गमें सफलता नहीं पा सकता है। ब्रह्मचर्य ही योग-सफलताकी कुञ्जी है। यही नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य ही विश्वमात्रकी सफलताओंका बीज है। फिर यह सफलता चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक। यही कारण है कि हमारे पूर्वजोंने मनुष्य-निर्माणकी अवस्थाका नाम ही ब्रह्मचर्य रखा है। इस अवस्थाको पूर्णरूपसे निभानेवाला पुरुष सफलताका भण्डार ही हुआ करता है। इस तत्त्वका पता हमको ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ समझनेसे ही लग जाता है।

ब्रह्मचर्य शब्दका तत्त्वार्थ

ब्रह्मचर्यका शब्दार्थ समझना बहुत कठिन है। बहुत-से लोग ब्रह्मचर्यका अर्थ आजन्म क्वाँरा रहना या जटा-जूट आदि भेष बनाकर फिरनामात्र ही मान लेते हैं।

सचमुच ब्रह्मचर्यका इतना अर्थ लेना ब्रह्मचर्यकी हत्या करना है। ब्रह्मचर्यका सम्बन्ध न तो कुँवारापनसे है और न किसी वेष-भूषासे ही है। स्थूलार्थमें ब्रह्मचर्यका अर्थ वीर्यनिरोध या काम-दमनसे ही है। परन्तु इतना समझनेसे भी ब्रह्मचर्यका अर्थ पूरा नहीं होता। ब्रह्मचर्यका पूरा अर्थ होता है वीर्यको रोकना, वेद-ज्ञानको पाना, सत्-चित्-आनन्द ब्रह्ममें समाना। वीर्य एक दिव्य तेजका नाम है। जैसे कि शतपथ ब्राह्मणमें कहा है, **'वीर्यं वै भर्गः'** वीर्य ही तेज, आभा, प्रकाश है। इस वीर्यरूप ब्रह्मके दीपनसे ही ब्रह्म-वेदके तत्त्वज्ञानका दर्शन और वेदतत्त्वके ब्रह्म दीपकसे सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ करता है। यह ब्रह्मत्रयसङ्गम ही ब्रह्मचर्यका पूरा तत्त्वार्थ है। इस ब्रह्म-त्रिवेणीका स्नाता पुरुष ही योगका सच्चा अधिकारी हुआ करता है।

ब्रह्मचर्यकी श्रेणी

हमारे शास्त्रोंमें वीर्यके बीजत्व, वीरत्व, ओजस्, बल, तेज, शुक्र, पवित्रता, रेत, रेतस्, कान्ति, बिन्दु, भर्गादि नाम कहे हैं और वीर्यको ही सृष्टिका उत्पादक, पालक, संहारक भी कहा है। परन्तु योगशास्त्रमें वीर्यको ब्रह्मबिन्दु-ब्रह्मबीजतक कहा गया है। महादेवने योगशास्त्रमें कहा है कि **'अहं बिन्दु रजः शक्तिः'** मैं (महादेव) बिन्दु वीर्य हूँ और रज शक्ति (पार्वती) है। योगशास्त्रमें कहा है कि साधकके नाभिस्थानमें रज और मस्तकके मध्य केन्द्रमें वीर्य बिन्दु रहा करता है । रजका सिन्दूर वर्ण और वीर्यका श्वेत वर्ण है। रजरूप पार्वतीको नाभिसे उठाकर मस्तकमें मिला देना ही योगसिद्धिका सफल रहस्य है। इस कथनमें बहुत बारीक वैज्ञानिक तत्त्व छिपा हुआ है। ब्रह्मचर्यका ब्रह्म शब्द भी वीर्य और ब्रह्मके अभेद्य सम्बन्धको बता रहा है। इस अभेद्य सम्बन्धको अभेद्य रखनेवाला साधक ही प्रथम श्रेणीका ब्रह्मचारी होता है। इस ब्रह्मचारीका अहंबिन्दु अपने स्वभावसिद्ध स्वरूप ब्रह्ममें ही स्थिर रहा करता है अर्थात् ऐसे ब्रह्मचारियोंको यह भी मालूम नहीं होता कि हमारे वीर्य-तन्तुओंमें संसारसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई वीर्यरूप पदार्थ है या नहीं। उसका ब्रह्मबिन्दु सब तरहके कम्पनोंसे रहित सदा स्थिर रहा करता है।

दूसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले साधकके ब्रह्मबिन्दुमें कम्पन तो अवश्य उठा करता है परन्तु वह अपने कठोर संयम, बल और भीष्म-प्रतिज्ञाद्वारा ब्रह्मबिन्दुके उन कम्पनोंको ब्रह्मबिन्दुकी ओर ही ढकेल दिया करता है। यह भूमिका साधकके लिये बहुत ही कठिन कसौटीकी है।

तीसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले ब्रह्मचारी (साधक)-के ब्रह्मबिन्दुमें जो सृजन-कम्पन उठा करते हैं, उन्हें वह ईश्वरका सृष्टि-सृजन-आदेश समझकर सन्तान-उत्पत्तिमें बदल दिया करता है। वह इस सृजनके ध्येयसे ही गृहकार्यमें प्रवृत्त हुआ करता है। वह ब्रह्मकी उस ब्रह्मबिन्दुमें होनेवाली **'एकोऽहं बहु स्याम्'** की सांकेतिक सूक्ष्मान्तर दिव्य वाणीको सुना करता है जो उसको कहती है कि चल, तू भी मेरे बहुत होनेके कार्यमें सम्मिलित हो जा। ईश्वरीय आज्ञाका पालक और विषयासक्तिसे रहित होनेसे यह साधक भी ब्रह्मचारी ही होता है। ऐसे साधकोंके सृजन-कार्यमें ईश्वरीय सृजन-प्रेरणा ही कार्य करती है।

प्राकृतिक धक्केके सिवा साधकका उससे कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। इस प्राकृतिक धक्केको पशु-पक्षी आदि अभीतक खूब अच्छी तरहसे समझते हैं। वे बारहों मास स्त्री-पुरुषकी भावनासे रहित होकर विचरा करते हैं, जब उनको यह ईश्वरीय प्राकृतिक संकेत मिलता है तभी वे स्त्री-पुरुषमें बदल जाया करते हैं। इस प्राकृतिक संकेतका वैज्ञानिक बोध ही पशु-पक्षी आदिमें वन्ध्यात्वके अभावका कारण है, धन्य है इन पशु-पक्षी आदिको जो अभीतक उन सृजन-विज्ञान ऋतुकालके रहस्यको समझते हैं। जो साधक इस ईश्वरीय संकेतको पाकर अनासक्त भाव और निष्काम बुद्धिसे सावधान हुए शास्त्रानुकूल सृजनकार्य किया करते हैं वे ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु ईश्वरके आज्ञापालक ही हुआ करते हैं। उनका यह कार्य वैसा ही हुआ करता है जैसा कि कोई पुरुष इधरसे वस्तु लेकर उधर दे दिया करता है। ऐसे साधकोंके कामको ही तो भगवान् गीतामें अपना स्वरूप बताते हैं, जैसे कि **'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** (सृजन धर्मके अनुसार सन्तान बनानेवाला काम मैं ही हूँ)। उपर्युक्त तीनों ब्रह्मचारी ब्रह्मके उपासक हैं। प्रथम ब्रह्मलीन, ब्रह्मस्थित, ब्रह्मरूप कहा जाता है। दूसरा योगी होता है, और तीसरा भगवान्‌का परम प्रिय भक्त कहा जाता है। ईश्वर भारतमें ऐसे ब्रह्मचारियोंको जन्म दे जिससे कि योगको पुनर्जीवन मिल सके। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

नादानुसन्धान

(लेखक—स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज)

योग कहते हैं चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको। इस निरोधकी स्पष्टता कठोपनिषद्में नीचेके मन्त्रोंमें कही है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

'जिस कालमें योगाभ्यासके बलसे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लयभावको प्राप्त हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मी स्थिति, निर्वाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसीको कहते हैं।' यही बात योगशास्त्रके प्रवर्त्तक भगवान् शिवजीने शिवसंहितामें कही है—

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत्॥

'जिस कालमें सविकल्प समाधिके साधनसे, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्यका चिन्तन छोड़कर वृत्तिरहित हो जाता है, उस कालमें साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है।' यानी '**उपाधिविलयात्विष्णो**'—के अनुसार, अज्ञानकी कार्यरूप वृत्ति ब्रह्ममें लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है। जीवब्रह्मका स्वरूपसे तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यासके बलसे उस उपाधिका लय कर लेनेपर जीवात्मा ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है।' यही बात दक्षिणामूर्तिजीने वेदान्तडिण्डिममें कही है—

न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदे न मानम्।

'जीवब्रह्मका स्फुरणरूपी वृत्तिसे भेद है, स्वरूपसे भेद नहीं। चेतनमें अविद्याकी जो उपाधि, जगत्की सत्यता, स्वरूपका विस्मरण, दृश्यमें आसक्ति है, यही जीवदशा है।' भगवान् शङ्कराचार्यजीने मनके लयका सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योगतारावली' ग्रन्थमें, नीचेके श्लोकोंमें बताया है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

'योगशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिवजीने मनके लय होनेके सवा लक्ष साधन बतलाये हैं, उन सबमें नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है, आप परम पदमें स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसादसे मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णुके परमपदमें लय हो जायँगे। योगसाम्राज्यमें स्थित होनेकी इच्छा हो तो सब चिन्ताओंको त्यागकर सावधान हो एकाग्र मनसे अनहद नादोंको सुनो।' शुक योगेन्द्रके शिष्य श्रीचरणदासजीने भी अनहद नादोंकी महिमा नीचेके शब्दोंमें गायी है—

अनहदके सम और ना फल बरन्यो नहिं जाय।
पटतर कछु न दे सकूँ सब कुछ है वा माँय॥
पाँच थके आनँद बढे अरु मन ही बस होय।
शुकदेव कही चरनदाससे आप अपन जाय खोय॥
नाडिनमें सुषुम्ना बडी सो अनहदकी मात।
कुंभकमें केवल बड़ा वह वाहीका तात॥
मुद्रा बडी जो खेचरी वाकी बहिनी जान।
अनहद-सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान॥
सेवकसे स्वामी होवे सुने जो अनहद नाद।
जीव ब्रह्म होय जाय हैं पावे अपनी आद॥
खिडकी खोली नादकी मिला ब्रह्ममें जाय।
दसों नादके लाभकी महिमा कही न जाय॥

शिवसंहितामें भी मनको लय करनेमें उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है। जैसे—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥

'सिद्धासनके तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं,

केवल कुम्भकके तुल्य कोई बल नहीं, खेचरी मुद्राकी बराबरी करनेवाली और मुद्रा नहीं, मनको लय करनेवाले साधनोंमें, अनहद नादकी तुलना करनेवाला और कोई साधन नहीं।' मनको लय करनेके अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

अनहद नादके प्रकट करनेका गुप्त साधन

हर एक मनुष्यकी देहमें लगभग साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि परमात्माके नामका जप सद्गुरुमार्गसे कर लेता है तब अनहद नाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी वायुकी प्रकृति हो, उनके लिये है, और जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाडियाँ जल्दी शुद्ध होनेसे सवा कोटि जप सद्गुरुमार्गसे करनेसे ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दस प्रकारका है, अभ्यास करते-करते जब दसवाँ नाद, जो बादलकी गर्जनाके तुल्य है, प्रकट हो तब नौ नादोंको छोड़कर दसवाँ नाद ही सुनते रहना चाहिये, दसवें नादकी पक्क अवस्थामें प्राणवायु और मन ये दोनों ही लय हो जायँगे। मन-पवनका लय होनेपर शेषमें ब्रह्मपद ही है। ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना है, उसके भीतर प्राणवायुका प्रवेश होनेपर नादका प्रकट होना आरम्भ होता है, शनैः-शनैः अनहदको सुरतके बलसे दक्षिण कानसे सुनते जाना चाहिये। अभ्यासकी पक्क-अवस्थामें फल यह होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ब्रह्मज्ञान भी करा देगी। अन्तमें कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्ममें लय हो जायगी। जीवदशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होगा। कुण्डलिनी जागकर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थिको भेद करके अनेक प्रकारके चमत्कार दिखाती है। जबतक कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् नहीं होती, तबतक मनुष्योंका ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। अनुभवरहित शास्त्रीय ज्ञान नक्शेकी बम्बईके तुल्य है, और कुण्डलिनी जागरणके बादका अनुभवी ज्ञान ऐसा है जैसे किसीने आठ महीने घूम-घूमकर बम्बईकी गली-गली देखी हो। इसी कारणसे चतुर साधकोंको चाहिये कि योगानुभवी सद्गुरुकी शरण लेकर कुण्डलिनी जाग्रत् करें, इसके जागनेपर ब्रह्मका सम्यक् ज्ञान करामलकवत् होकर मुक्ति प्राप्त होगी। दृश्यरूपी भ्रम, दृश्यके देखते रहनेपर भी दुःखदायी न रहेगा।

त्रिबन्ध

नीचे लिखे हुए हठयोगके साधन बहुत ही लाभदायक हैं। इन साधनोंसे शरीरकी नीरोगता, भजनमें निर्विघ्नता, प्राण-अपानकी समता, बिन्दुजय इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। हठयोगके चौरासी आसनोंमें सिद्धासन और पद्मासन मुख्य हैं, सिद्धासनकी पक्क-अवस्थामें अपान प्राणमें मिल जायगा, योनिके पीडनसे अग्नि दीप्त होगी, स्वप्नदोष तो कभी होगा ही नहीं, तीनों बन्ध इस आसनमें लगाने ही पड़ते हैं, इससे बन्धोंका अभ्यास भी हो जायगा। सिद्धासनके समय मूल बन्ध और खेचरी मुद्रा करनेसे अपानवायु प्राणवायुमें मिल जायगा। बद्ध पद्मासनसे सब रोगोंका नाश और बहत्तर हजार नाडियोंका मल साफ हो जायगा। प्राणायाम और तीन बन्धोंसे यह लाभ है—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः।
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥
न बहिः प्राण आयाति देहस्य मरणं कुतः।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिद्ध्यति भूतले॥

गुरुगम्य प्राणायाम करनेसे सब रोग नष्ट होते हैं। प्राणायाममें गलती होनेसे सब रोगोंके होनेकी सम्भावना है। प्राणायामके सम्यक् होनेसे, और वात, पित्त, कफ समतामें रहनेसे शरीर नीरोग रहता है। कुम्भकमें मन मलरहित हो जाता है। धारणासे पापोंका नाश होता है, प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका जो विषयोंसे संसर्ग है, वह छूट जाता है। ध्यानसे परमात्माका ज्ञान होता है, समाधिसे निर्लिप्त केवली भावरूप मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। जैसे सोना अग्निमें तपानेसे मैलको छोड़कर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायामरूपी वायुनिरोधसे इन्द्रियाँ प्रमादरूपी अवगुण छोड़कर शुद्ध हो जाती हैं। जिस योगीका प्राण बहिर्गमन ही नहीं करता उसकी मृत्यु कैसी? जिस योगीका केवल कुम्भक सिद्ध हो गया, उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है। मराठी भाषाके योगग्रन्थमें एकनाथजीने लिखा है—

प्राणवायूचें धारण तेंचि स्वच्छंद मृत्यूचें लक्षण।

'जिस योगीने प्राणवायु अपने वशमें करके केवल कुम्भककी सिद्धि कर ली है, उसकी इच्छामृत्यु होती है।' देह रखे या न रखे, यह उसकी इच्छाके अधीन है। जैसे भीष्मपितामहने अपनी देहको दक्षिणायनमें न त्यागकर, अपने इच्छानुसार उत्तरायणमें त्यागा। यह प्राणविद्याकी महिमा है। जहाँतक प्राणवायु कुम्भकसे निरुद्ध है, वहाँतक मन भी वृत्तिरहित है और दृष्टि भी भ्रकुटीमें अचल है। ऐसी अवस्थामें कालका भय नहीं है। चरणदासजीने इसी प्राणायामकी महिमा नीचे लिखे शब्दोंमें कही है—

प्राणायाम बड़ा तप भाई। प्राणायाम सम बल नहीं कोई॥
प्राणवायुकूँ यह बस लावे। मनकूँ निश्चल कर ठहरावे॥
आयुर्दाको यही बढ़ावे। तनमें रोग रहन नहिं पावे॥
मोक्षमार्गको यह पहुँचावे। चरनदास शुकदेव सुनावे॥

प्राणायाम करते समय पूरकमें मूलबन्ध, कुम्भकमें जालन्धरबन्ध और रेचकमें उड्डियानबन्ध करना ही चाहिये। ये तीनों बन्ध गुरुसे ही सीखने चाहिये। लेखपरसे या पुस्तकोंमें देखकर करनेसे हानिकी सम्भावना है। बन्धोंसे ये लाभ हैं—

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥
बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः॥

मूलबंध गुण ऐसा होई। वायु अधोगति जाय न कोई॥
उर्ध्वरेता यासूँ सधे, दिन दिन आयु सवाई बढ़े॥
योग माहीं यह है प्रधान। बुढी देह पलट होय जवान॥
जठराग्नि बाढे अधिकाय। जो चाहै तौ बहुते खाय॥
यासों कारज सब बनि आवे। रोग रक्तके सभी नसावे॥
योगी पहिले यह आराधे। अपान वायुको नीके साधे॥

'मूलबन्ध और खेचरीमुद्राके अभ्याससे अपान प्राणमें जाकर मिल जाता है, अग्निकी दीप्तिसे मल-मूत्र अल्प होता है, मूलबन्धके सतत अभ्याससे वृद्ध भी जवानतुल्य हो जाता है। जिस साधकने मूलबन्ध पक्क कर लिया, उसके सब विघ्न मिट जाते हैं, और जैसे पञ्चमुख महादेवजी अजरामर हैं, वैसे ही केवल कुम्भक सिद्धिवाला योगी भी हो जाता है।' जालन्धरबन्धसे यह लाभ है—

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्॥
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।

अपान वायुकूँ ऊपर लावे। प्राण वायु नीचे ले जावे॥
जो पैं यह साधन बनि आवे। योगी वृद्ध होन नहिं पावे॥

जालन्धरबन्धमें ठोढ़ीको नीचे झुकाकर हृदयके चार अङ्गुल ऊपर दृढ़ जमावे। इससे सोलह आधारों-का बन्धन होता है, जालन्धरबन्ध और महामुद्रा ये दोनों मृत्युको हटानेवाले हैं। अब उड्डियानबन्धसे लाभ सुनिये—

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥

प्राणायाममें रेचकके समय नाभि पीछे खींचकर मेरुदण्डसे मिलाओ, इससे वायु सुषुम्नामें प्रवेश करेगा, अभ्यास करते-करते अन्तमें ब्रह्मरन्ध्रमें वायुका लय हो जायगा।

ध्यान

करु मन नंदनँदनको ध्यान।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगो, मेरौ कह्यौ अब मान॥ १॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुण्डल झलकत कान।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान॥ २॥

—श्रीनारायण स्वामी

योग

(योगाचार्य श्रीश्रीमदवधूत श्रीज्ञानानन्ददेवजीके उपदेश)

१. शिवनामामृत व्याकरणके मतसे शिवके साथ जीवकी सन्धि हो सकती है; उसी सन्धिका नाम योग है। उस सन्धिकी अवस्थामें यद्यपि जीव शिवके साथ मिल जाता है, फिर भी दोनोंका पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहता है। इस प्रकार सन्धिकी अवस्थामें जीवके अस्तित्वका लोप नहीं होता।

२. योग एक प्रकारकी शक्ति है, जिस शक्तिके प्रभावसे जीवात्मा परमात्माके साथ युक्त होता है। जीवात्मा-परमात्माकी युक्तावस्थाका नाम अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

३. जिस शक्तिके प्रभावसे जीव और शिवका योग होता है, उसीको सन्ध्याशक्ति कहते हैं।

४. ब्रह्मसायुज्य निर्वाण भी नहीं है, लय भी नहीं है। सायुज्यका अर्थ है योग। दो विभिन्न चीजोंका परस्पर योग ही दोनोंका ऐक्य नहीं है। जीव-ब्रह्मका योग (सायुज्य) ही जीव-ब्रह्मका ऐक्य नहीं है।

५. लोहारकी भाथीकी आगसे लोहा आग हो जानेपर भी लोहा ही रहता है, वह केवल अन्य अवस्थापन्न लोहा हो जाता है। उसमेंसे अग्निके बुझ जानेपर फिर लोहा ही रह जाता है। अग्नि रहनेपर दोनों मिले हुए हैं। इसी प्रकार जीवत्व और शिवत्व एक साथ रह सकते हैं। कभी योगावस्थामें जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं, कभी अयोगावस्थामें दोनों अलग-अलग रहते हैं। लोहा जलकर जब अग्नि बन जाता है तब जो अवस्था होती है, उसी प्रकारकी अवस्था जीवात्माकी भी परमात्माके साथ योग होनेपर होती है।

६. आत्मा-परमात्मामें जो योग होता है, उसे आत्म-परमात्मयोग कहते हैं। उस योगकी अवस्थामें योगीको बाह्यचैतन्य बिल्कुल नहीं रहता।

७. जीवात्मा और परमात्माका जो ऐक्य है वही वास्तविक योगावस्था है। उस ऐक्यसे जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी आनन्दको हम आध्यात्मिक मैथुन कह सकते हैं। उस मैथुनके प्रभावसे परमा शान्ति नाम्नी कन्या उत्पन्न होती है।

८. प्रधानतः दो प्रकारका मुक्तियोग बतलाया गया है—नित्यमुक्तियोग और अनित्यमुक्तियोग। नित्यमुक्तियोग दुर्लभ है, किन्तु अनित्यमुक्तियोग समय-समयपर किसी-किसी महात्माको प्राप्त होता है। परन्तु वह दीर्घकालतक स्थायी नहीं होता।

९. नाना प्रकारके योगके प्रभावसे नाना प्रकारकी घटनाएँ होती हैं। त्रिविध क्रियायोगके द्वारा सृजन, पालन और नाश होता है। योगके बिना कुछ भी नहीं होता।

१०. अधिक जप करनेसे, अधिक ध्यान करनेसे, अधिक हरि-सङ्कीर्तन करनेसे अथवा अधिक हरि-सङ्कीर्तन सुननेसे, अधिक परिमाणमें भगवान्‌के सम्बन्धमें अन्य किसी प्रकारका सङ्गीत गानेसे अथवा सुननेसे, भक्तोंका अधिक सङ्ग करनेसे, भक्तचरित्रका अधिक पर्यालोचन करनेसे, भगवद्भक्तिसम्बन्धी अधिक आलोचना करनेसे, भगवद्भक्ति और प्रेमसम्बन्धी किसी ग्रन्थका पाठ करने अथवा सुननेसे अथवा ज्ञानपूर्ण अनेक बातें सुननेसे मन स्थिर होकर एकाग्र हो जाता है।

११. जो योगकी साधना करते हैं, वे योगसाधक हैं; योगसिद्ध होनेपर साधकको योगी कह सकते हैं।

१२. योगसाधक और योगसिद्ध एक श्रेणीके नहीं हैं। योगसाधक साधना करते-करते योगके कुछ अलौकिक अनुभव प्राप्त करते हैं। परन्तु उन्हें उस समय योगसम्बन्धी समस्त निगूढ़ तत्त्वोंको हृदयङ्गम करनेकी शक्ति नहीं होती। सिद्धयोगी योगके सम्बन्धमें सब कुछ जानते हैं। उनमें अलौकिक क्षमता—अद्भुत शक्ति होती है। वह कितनी ही असम्भव बातोंको सम्भव कर सकते हैं। उन्हें अद्भुत योगविभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

१३. अत्यन्त ग्रीष्म-कालमें शरीरमें जलन होनेपर यदि सुशीतल जलमें स्नान किया जाय तो उससे शरीर जल नहीं हो जाता; किन्तु वह शीतलताकी शक्तिसे पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्माका परमात्माके साथ अध्यात्मयोग होनेपर जीवात्मामें परमात्माकी शक्ति

सञ्चारित होती है और वह परमात्मशक्तिसे पूर्ण होकर तन्मय हो जाता है।

१४. भावात्मक सम्बन्ध भी एक प्रकारका योग है। ईश्वरके साथ जिनका ऐसा योग है वे ही धन्य हैं।

१५. जिनका स्वभावतः परब्रह्मके साथ मनोयोग होता है, उनको किसी प्रकारका आसन-अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। वह अंगको चाहे जैसे रखकर भी समाधिस्थ हो जाते हैं, वही उनका योगासन है।

१६. आत्मज्ञानके कारण जो योग होता है वह कैवल्यका कारण है।

१७. आजकल बहुत-से लोग योगी नामसे प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे वास्तविक योगी नहीं हैं। वास्तविक योगीको अतुल ऐश्वर्य और अनुपम विभूति प्राप्त होती है। उन्हें श्वास आदि कोई भी रोग नहीं होता। अग्निमें प्रवेश करनेपर भी अद्भुत संयमके बलसे, अग्नि उन्हें नहीं जलाती; जलमें प्रवेश करनेपर जल उन्हें नहीं डुबाता; तीखे काँटोंके ऊपर चलनेपर भी उनके पैरमें काँटे नहीं गड़ते; संयमके प्रभावसे अस्त्र-प्रहार होनेपर भी वे घायल नहीं होते। योगी निर्भय होते हैं। योगी जीवन्मुक्त होते हैं। क्या किसी योगीके साथ किसी साधारण जीवकी तुलना हो सकती है? योगीकी शक्ति आश्चर्यजनक होती है।

१८. आठों सिद्धियाँ सिद्धयोगीको प्राप्त होती हैं। परमहंस श्रीशङ्कराचार्यको भी अष्टसिद्धि प्राप्त थीं। आजकलके अधिकांश दण्डी परमहंस योगको पसन्द नहीं करते, उनमें जो सबसे उत्तम होते हैं, वे वैदिक उपनिषद्, वेदान्त, भगवद्गीता और श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति वैदान्तिक महाशयोंके वैदिक उपनिषद् और वेदान्तप्रतिपाद्य ग्रन्थ पढ़ते और सुनते हैं और उन्हीं पठित तथा श्रुत विषयोंका विचार करते हैं।

१९. दिव्य कर्मयोगके बिना दिव्य ज्ञानयोग, दिव्य भक्तियोग और दिव्य प्रेमयोग नहीं प्राप्त होता।

२०. कलियुगमें भक्तियोगमें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

२१. स्नान करनेसे जिस प्रकार शरीर सर्वदा शीतल नहीं रहता, उसी प्रकार भक्तिमान् जीवात्मा भी सर्वदा तन्मय होकर नहीं रहता।

२२. योगाभ्यासके लिये शीतकाल ही उत्तम समय है।

२३. हठयोग, राजयोग और राजाधिराजयोगका अभ्यास करते-करते मनोयोग होता है। मनोयोग इस त्रिविध योगका सिद्धफल है।

२४. इन तीन योगोंके सिवा मनोयोग होनेके और-और उपाय भी हैं।

२५. मनका संयम करनेसे मन स्थिर होता है। मनके स्थिर होनेपर इष्टमें मनोयोग होता है।

२६. जिस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें पद्मासन आदि किसी आसनका निर्देश नहीं है, उसी प्रकार गीतामें भी किसी आसनका नाम और निर्देश नहीं है। इन दोनों प्रसिद्ध योगशास्त्रोंसे मालूम होता है कि किसी निर्दिष्ट आसनके बिना भी योगका अनुष्ठान हो सकता है।

२७. हठयोग एक प्रकारका व्यायाम है। हठयोगके अन्तर्गत नाना प्रकारके आसन और मुद्राएँ हैं।

२८. सब प्रकारका सोना, बैठना और खड़ा होना एक-एक प्रकारका आसन है।

२९. विविध आसनोंका अभ्यास करते समय गेरुआ कौपीन पहनना चाहिये अथवा नग्न रहना चाहिये।

३०. आसनका अभ्यास अत्यन्त निर्जन स्थानमें करना चाहिये।

३१. शिशु तथा बालक-बालिकाओंके सामने, विशेषकर युवती स्त्रियोंके सामने किसी प्रकारका योगाभ्यास करना निषिद्ध है। उनके सामने किसी प्रकारका साधन-भजन नहीं करना चाहिये।

३२. वास्तविक योगीके उपदेशानुसार प्राणायामका अभ्यास करनेपर किसी प्रकारका भयङ्कर रोग नहीं होता, उसके द्वारा उन्नति ही होती है, बल्कि उसके द्वारा योगी होनेमें विशेष सहायता मिलती है।

३३. निःश्वास प्रश्वासके साथ-साथ जीवका स्वभावतः ही सर्वदा रेचक-पूरक होता रहता है। परन्तु योगाभ्यासके समय इस साधारण नियमका उलङ्घन करके योगशास्त्रके नियमोंका अवलम्बन करना चाहिये।

३४-कुम्भक स्वाभाविक नहीं होता। योगियोंको उसका अभ्यास करना पड़ता है।

३५. योगदर्शनकी पद्धतिके अनुसार नासिका-रन्ध्रद्वारा शरीरके अन्दर वायु भरनेका नाम पूरक है। शरीरके भीतरकी वायुके रेचन अर्थात् निकालनेका नाम

रेचक है। शरीरके अन्दर वायु रोककर धारण करनेका नाम कुम्भक है। कुम्भकमें शरीरके अन्दर वायु रोक देनेपर श्वास-प्रश्वास भी बन्द हो जाता है। रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायामके प्रधान तीन अङ्ग हैं। प्राणायामके साथ-साथ ध्यान किया जाता है।

३६. प्रगाढ़ भगवच्चिन्तनको ध्यान कहते हैं।

३७. ध्यान दो प्रकारका है—साकारका ध्यान और निराकारका ध्यान। साकारके रूपका और निराकारके स्वरूप और गुणका ध्यान किया जाता है।

३८. साधनात्मक ध्यानानन्दके परे स्वाभाविक ध्यानानन्द है; और उसके भी बाद स्वाभाविक योगानन्द है। वह योगानन्द किसी-किसी योगीको समयविशेषपर प्राप्त होता है और किसी-किसीको स्वाभाविक तौरपर नित्य लाभ होता ही है।

३९. राजयोग प्राणायाम है। प्राणायामके अन्तर्गत रेचक, पूरक और कुम्भक हैं। इन तीनोंकी साधना उत्तम रूपसे पूरी हो जानेपर त्राटककी आवश्यकता है।

४०. त्राटकका अभ्यास करनेके लिये सबसे पहले कुछ समयतक दीपशिखाकी ओर एकटक देखना चाहिये। सफेद पत्थर अथवा स्फटिकके शिवलिङ्गके अग्रभागको भी देखनेकी पद्धति है। इस प्रकार साधन करनेसे क्रमशः जब दृष्टि स्थिर होने लगे तब एकाग्रताके साथ नासापुटको देखना चाहिये। जब नासापुटपर अनायास दृष्टि स्थिर होने लगे तब भ्रूमध्यमें दृष्टि जमानी चाहिये। भ्रूमध्यको देखते-देखते दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। दिव्यदृष्टिके फलस्वरूप नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। चाक्षुषी ज्योति बढ़नेपर कुछ भी अदृश्य नहीं रह जाता।

४१. अच्छी तरह त्राटकका अभ्यास हो जानेपर पहले आँखें बन्द करके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास हो जानेपर फिर खुली आँखोंसे ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यानकी साधना करनेपर ध्यानसिद्धि प्राप्त होती है। इसी सिद्धिका दूसरा नाम ध्यानयोग है।

४२. जैसे धर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थोंका अध्ययन करके भी तुम विद्वान् हो सकते हो। फिर पीछे उस उपार्जित विद्याके द्वारा कितनी ही धर्मसम्बन्धी पुस्तकोंकी रचना कर सकते हो। वैसे ही किसी जड मूर्ति या किसी कल्पित मूर्तिका ध्यान करते-करते ध्यान सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा सच्चिदानन्दका भी ध्यान हो सकता है।

४३. यदि किसीका पुत्र विदेशमें हो और बहुत दिनोंसे उसका समाचार न मिला हो तो उसको जैसे स्वभावतः ही चिन्ता होती है, अभ्यास करके वह चिन्ता नहीं की जाती, उसी तरह भगवान्के प्रति प्रेम होनेपर उनके विरहमें स्वभावतः ही चिन्ता उत्पन्न होती है। वह चिन्ता साधनात्मिका नहीं होती। उस चिन्ताको ही ध्यान कहा जा सकता है।

४४. पहले चित्तकी शुद्धि हुए बिना, चित्त निर्विकार हुए बिना समाधि नहीं हो सकती।

४५. चित्तशुद्धि होनेपर चित्त निर्विकार होता है। चित्त निर्विकार होनेपर शुद्ध भक्ति होती है। शुद्ध भक्तिके होनेपर यम, नियम, आसन, मुद्रा और प्राणायामके बिना भी समाधि हो सकती है।

४६. मन स्थिर होनेपर एकाग्रता होती है। एकाग्रता होनेपर समाधि होती है।

४७. सविकल्प समाधिमें केवल कण्ठश्वास और नाभिश्वास रहता है। सविकल्प समाधिमें स्थित पुरुषकी नाडी मुमूर्ष व्यक्तिकी नाडीके सदृश हो जाती है। इस समाधि-अवस्थामें शरीरके जलने अथवा अन्य प्रकारसे विशेष कष्ट पहुँचनेपर अन्तःकरणमें उसका बोध होता है।

४८. खिलौनेका हाथी नामसे और बनावटसे हाथी होता है; परन्तु वास्तविक हाथी नहीं होता। उसी प्रकार निद्रा ही योगनिद्रा नहीं है। दोनोंमें बहुत बड़ा भेद है।

४९. समाधि-अवस्थाका एक नाम योगनिद्रा है।

५०. चक्षुस्थिरका अभ्यास करनेपर चक्षु स्थिर होता है। मरनेपर चक्षु स्थिर होता है। परन्तु अभ्यास करके क्या मरा जाता है? अथवा मरनेपर जो चक्षु स्थिर होता है वह क्या चक्षुका स्थिर होना है? अभ्यास करनेपर तुम्हें समाधि होगी? समाधि तो मृत्युके समान स्वाभाविक है। नींद क्या अभ्यासकी चीज है? वह तो स्वभावतः होती है। योगनिद्रा भी स्वभावतः होती है।

५१. जो योगी पूर्णरूपसे चैतन्यहीन हो जाता है, जिस योगीको इतना भी बोध नहीं रहता कि 'मैं हूँ', वही योगी योगनिद्रित है। उस योगीमें सब गुण और क्रियाशक्ति वर्तमान रहनेपर भी वह पूर्णरूपसे निर्गुण और निष्क्रिय है।

५२. निद्रावस्थामें 'मैं हूँ' इसका बोध न रहनेपर भी 'मैं' रहता है। मृत्यु होनेपर भी 'मैं हूँ' इसका बोध न रहनेपर 'मैं' रहता है। परन्तु योगनिद्रामें 'मैं' नहीं रहता। योगनिद्रा भङ्ग होनेपर 'मैं हूँ' ऐसा बोध होता है।

५३. चाहनेपर जिस तरह नींद नहीं आ जाती, उसी तरह चाहते ही समाधि नहीं लग जाती। नींद जिस तरह स्वभावतः आती है, उसी तरह समाधि भी स्वभावतः होती है। निद्रा अभ्याससे नहीं होती। आँख बन्द करनेसे ही निद्रावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह किसी प्रकारका आसन लगाकर आँख बन्द कर लेनेसे ही समाधिस्थ नहीं हुआ जाता।

५४. समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्तिकी तरह सुस्थिर, जडकी तरह अचल होता है।

५५. समाधिमें ब्रह्मके साथ मनोयोग होनेपर श्वास-प्रश्वासतक बन्द हो जाता है। उस समय रेचक, पूरक दोनों नहीं होते। इस प्रकारकी समाधिके जीवनमें योगीकी एक प्रकारसे मृत्यु हो जाती है और ब्रह्मसे उसके मनका वियोग होनेपर पुनः श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, पुनः रेचक-पूरक होने लगता है। इस प्रकारकी समाधिकी स्थिति ब्रह्मकृपाका एक आश्चर्यजनक प्रमाण है।

५६. बधिर तो बहुत-से लोग होते हैं, किन्तु दिव्य बधिर कितने लोग हो सकते हैं? इसी तरह दिव्य अन्धे भी कितने लोग हो सकते हैं? समाधिस्थ पुरुषके अतिरिक्त दिव्य बधिर और दिव्य अन्ध दूसरा कोई नहीं है। लकवा मार जानेपर किसी-किसी मनुष्यका शरीर सुन्न हो जाता है; इसी तरह समाधिस्थ पुरुषका शरीर भी सुन्न और अवश हो जाता है, उनके इस प्रकारके शरीरको कोई स्पर्श करे तो उन्हें उस स्पर्शका बोध नहीं होता। उनको शरीरकी इस अवस्थाके कारण किसी प्रकारके कष्टका भी अनुभव नहीं होता। वह इस अवस्थामें सुख-दुःख आदि सब अवस्थाओंसे अतीत हो जाते हैं।

५७. समाधिस्थ होनेपर समस्त इन्द्रियोंकी शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। वह पुरुष उस अवस्थामें निश्चल और निष्क्रिय हो जाता है, जीवन्मृत हो जाता है।

५८. जिनको निर्विकल्प समाधि होती है, उनके लिये आहारके विषयमें कोई विधि-निषेध नहीं रहता। उनको किसी प्रकारका आसन और मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह प्राणायाम अथवा ध्यान भी नहीं करते। वह सदानन्द, जीवन्मुक्त पुरुष हैं।

५९. निर्विकल्प समाधि होनेपर कण्ठश्वास और नाभिश्वासतक बन्द हो जाता है। यहाँतक कि उस अवस्थामें हाथकी नाडी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्तिके शरीरकी तरह सब अङ्ग ठण्डे हो जाते हैं। उसी अवस्थाको वास्तविक विदेह कैवल्यावस्था कहा जा सकता है। वह अवस्था जिनकी जब होती है, वह उस समय देहस्थ होनेपर भी देहस्थ नहीं हैं। उस अवस्थामें देहमें रहनेपर भी देहके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्थामें उनकी देह जला देनेपर अथवा टुकड़े-टुकड़े करनेपर भी उनको कोई कष्ट मालूम नहीं होता।

(प्रेषक—श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)

प्रेमयोगी

प्रेम सरित तट बसे बिरह धूनी तन तावे।
आशाकी कोपीन भाव रँग रँगी चढ़ावे॥
भस्म रागकी मले कमंडल शून्य बनाकर।
ले विचारका दंड भावना भीख जमाकर॥
उच्छ्वास अश्रु तड़पन क्रिया, जिसका प्राणायाम हो।
निज हृदय तोड़ तन तजे जो, वह योगी 'घनश्याम' हो।

—रघुवीरशरण जौहरी

श्रीमच्छङ्कराचार्य और योग

(लेखक—श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)

श्रीमत् शङ्कराचार्यके वेदान्त-सिद्धान्तमें योगका कहाँ क्या उपयोग है, इस विषयमें विद्वानोंमें गहरा मतभेद है। कुछ लोगोंका यह ध्यान है कि योग तो शङ्करकी वेदान्त-प्रणालीका प्राण ही है, और कुछ इसके सर्वथा विपरीत यह समझते हैं कि योग या योगकी गुप्त बातोंसे आचार्यका कोई वास्ता ही नहीं है। इन दो मतोंमें उत्तर-दक्षिण ध्रुवोंका-सा अन्तर है। पर सच्ची बात यह मालूम होती है कि इस अन्तरके मध्यमें कहींपर सत्य छिपा हुआ है। इस लेखमें उसीको दिखानेका यत्न किया जायगा। और यह प्रयत्न प्रस्थानत्रयपर आचार्यके जो भाष्य हैं उन्हींके आधारपर होगा।

श्रीशाङ्कर अद्वैतमें योग देखनेवाले बार-बार यह कहा करते हैं कि अद्वैतकी सिद्धि बिना निर्विकल्प समाधिके हो ही नहीं सकती। विवेकचूडामणि-जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंसे जो कि आचार्यकृत बताये जाते हैं, वे अपने मतकी पुष्टि करते हैं। इसके विरुद्ध अन्य प्रकरण-ग्रन्थोंसे प्रमाण दिये जा सकते हैं पर उसका विचार छोड़ दें तो भी प्रस्थानत्रयके भाष्योंसे ही यह बात पूर्णरूपसे प्रमाणित होती है कि आचार्य अपने इस तर्कसिद्ध और अखण्डनीय सिद्धान्तको कहीं भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं कि आत्मा और अनात्माके **'इतरेतराध्यास'** से उत्पन्न हुआ बन्ध ज्ञानसे ही छूटता है, और किसी भी उपायसे नहीं। बृहदारण्यकभाष्यसे हम नीचे एक अवतरण देते हैं जिससे बात आप ही खुल जायगी। प्रसङ्ग है **'आत्मन्येवोपासीत'** आदि वाक्य 'अपूर्वविधि' बतलाते हैं या क्या हैं, इसकी चर्चाका। यहाँ श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

न च 'आत्मन्येवोपासीत' इत्यपूर्वविधिः। कस्मात्? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्त्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वा भावात्।

अर्थात् 'यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि वाक्यसे आत्मविज्ञान होने और अनात्माका निरास होनेपर कुछ भी मानस या बाह्य कर्म नहीं रह जाता।' इस सिद्धान्तके विरोध-पक्षकी सब बातोंको काटकर आचार्य योगपक्षसे आनेवाली शङ्काकी खबर लेते हैं और उसका इस प्रकार समाधान करते हैं—

'निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्। तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्, न, मोक्षसाधनत्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। 'आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवत्,' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'तस्य तावदेव चिरम्' 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः।'

अर्थात् यह कहा जा सकता है कि निरोध तो इस ज्ञानसे भिन्न उपाय है। पर चित्तवृत्तिनिरोध वह आत्मज्ञान नहीं है जो वेदवाक्यसे होता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अन्य तन्त्रोंमें भी बताया है (जैसे सांख्य और योगमें)। इसलिये यहाँ भी उसका विधान हो सकता है, ऐसा प्रश्न हो तो यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्त श्रुतिमें ब्रह्मात्मज्ञानसे अन्यत् और कोई परम पुरुषार्थ-साधन नहीं बताया है। 'वह अपने आपको जानता था इसलिये उससे सब कुछ हुआ।' 'ब्रह्मविद् ही परम पदको पाता है।' 'जो परब्रह्मको निश्चयसे जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,' 'जो आचार्यवान् होता है वह उसे जानता है,' 'तभीतक उसे प्रतीक्षा करनी होती है,' 'जो यह जानता है वह निर्भय ब्रह्म होता है' इत्यादि शत-शत श्रुतिवाक्योंसे यह सिद्ध है। (बृहदारण्यक० १।४।७)

यह अवतरण स्फटिक-सा स्वच्छ है। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य आत्मज्ञान और मुक्तिके बीचमें और कोई तीसरी चीज न आने देंगे।

तथापि योग या ध्यानका महत्त्व भी आचार्यके शिक्षासम्प्रदायमें कम नहीं है। जो लोग शुष्क बौद्धिक खेलको ही मुक्तिका एकमात्र द्वार समझे बैठे हैं उन्हें आचार्यपादसे उतनी ही निराशा होगी जितनी कि उन लोगोंको जो योगके स्तुति-स्तोत्र गाते फिरते हैं। आत्मज्ञान ही मुक्तिका प्रत्यक्ष साधन है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप

योगको आचार्य आत्मज्ञानका-सा महत्त्व नहीं प्रदान करते, इतनी ही बात है, अन्यथा मनःसंयमरूप प्रारम्भिक साधनके तौरपर उसको भी आचार्य उपयोगी बतलाते हैं। इस विषयमें आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—

(१) **योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति।**

अर्थात् योग भी जैसा कि स्मृतिने कहा है, अणिमादि ऐश्वर्यका देनेवाला है, इसलिये यह कहकर कि यह कुछ नहीं है, इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। श्रुतिने भी योगकी महिमा गायी है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य १। ३। ३३)

(२) **'येन त्वंशेन न विरुद्ध्यते तेनेष्टमेव सांख्ययोग स्मृत्योः सावकाशत्वम्'**

अर्थात् जितने अंशमें सांख्ययोगस्मृतियोंका वेदान्तसे विरोध नहीं है उतने अंशमें उनका ग्रहण इष्ट है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।३)

(३) **सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिनां सद्योमुक्तिरुक्ता।… अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशति स्म।**

अर्थात् सम्यग्दर्शननिष्ठ जो संन्यासी हैं उनके लिये सद्यो (तत्काल)-मुक्ति कही गयी। अब सम्यग्दर्शनके साधनरूप ध्यानयोगका विवरण करते हुए सूत्रस्थानीय श्लोक उपदेशसे कहते हैं। (भगवद्गीताभाष्य ५। २७).

अब माण्डूक्य-कारिकाके भाष्यसे एक अवतरण और देते हैं जिससे आचार्यका मत इस विषयमें और भी स्पष्ट हो जायगा, एक तरहसे रहस्य ही खुल जायगा—

येषां पुनः ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव।

'जिनके मन, इन्द्रियादि रज्जु-सर्पवत् केवल कल्पित हैं, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपके अतिरिक्त हैं ही नहीं, जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं उनके लिये अभय और मोक्ष नामकी अक्षय शान्ति एक ऐसी स्थिति है जो उनका स्वभाव ही है, उसके लिये उन्हें अन्य किसी सहारेकी आवश्यकता नहीं और इसलिये हमने कहा कि उन्हें बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुछ भी नहीं करना है। परन्तु जो इनसे भिन्न, योगी हैं और आत्मानुसन्धानके मार्गपर चल रहे हैं, जो हीन मध्यम दृष्टिसे मनको आत्मासे अलग आत्माका सम्बन्धी जानते हैं, ऐसे आत्मसत्यके अनुबोधसे रहित सब योगियोंका अभय मनोनिग्रहके ही अधीन है। उनका दुःखक्षय भी मनोनिरोधपर ही अवलम्बित है। आत्माका सम्बन्धी (और आत्मासे अलग) ऐसा जो मन है उसके क्षुब्ध होनेसे जो दुःख होता है उस अविवेकियोंके दुःखका (मनोनिग्रहके बिना) क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनकी अक्षया शान्ति भी जिसे मुक्ति कहते हैं, मनोनिग्रहपर ही अवलम्बित है।'

अब यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि आचार्यने मुमुक्षुओंकी तीन कक्षाएँ की हैं। पहली कक्षा उन लोगोंकी है जिन्हें योग या अन्य किसी भी साधनाके सहारेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध निर्मल सत्त्व है और उन्हें गुरुद्वारा उपदिष्ट होते ही अद्वितीय ब्रह्मका बोध हो जाता है। मध्यम और हीन दृष्टिवाले जो साधक हैं और जिनकी संख्या ही अधिक होती है उनके लिये योग और कर्मयोग भी नितान्त आवश्यक है और योगमें जो मनोनिग्रहका अभ्यासक्रम है वह उनके लिये अनिवार्य है। आचार्यके भिन्न-भिन्न भाष्योंमें, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें इतस्ततः योगकी जो बातें मिलती हैं उन्हें तो हमारे ही-जैसे सामान्य मुमुक्षुओंके लिये श्रीआचार्यचरणोंने दया करके कहा है, क्योंकि हम लोग परम ज्ञानके उस उच्चतम शिखरतक दुर्लभ परमहंसोंके समान उड़कर जा नहीं सकते और इसलिये हमें जो कर्मयोग और भक्तियोगके मार्गसे ही क्रमशः ऊपर उठना होगा, तब किसी दीर्घकालके बाद ब्रह्मनिष्ठके उस महाप्रासादका प्रवेशद्वार भी कभी मिलेगा।

बौद्धधर्ममें योग

(लेखक—डा० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम्०ए०, पी-एच० डी०)

साधारण बोलचालमें तथा शास्त्रीय भाषामें भी 'योग' शब्दका अर्थ मेल अथवा सम्बन्ध जोड़ना है। पारिभाषिक भाषामें योग उस दर्शनशास्त्रको कहते हैं जिसका ध्येय है जीवात्मा या व्यष्टि चेतनका परमात्मा या समष्टिचेतनके साथ, अथवा यों कहिये कि जीवका ईश्वरके साथ सम्बन्ध स्थापित करना। बौद्धग्रन्थोंमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है उनके स्थानमें 'बोधिचित्त' और 'शून्य' शब्द व्यवहृत हुए हैं। बौद्धशास्त्रमें 'बोधिचित्त' एक प्रकारसे जीवात्मा अथवा व्यष्टि चेतनका ही वाचक है और 'शून्य' परमात्मा अथवा समष्टि चेतनका पर्याय है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान' और 'महासुख' ये तीन गुण माने गये हैं।

योग एक विशुद्ध रहस्यमय शास्त्र है जिसका आधार केवल नीजी अनुभव है और भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे लोग यह मानते आये हैं कि सिद्धिप्राप्ति अथवा मोक्षलाभका योग एक बलवान् साधन है। जो लोग तर्ककी कसौटीसे इस बातकी परीक्षा करना चाहते हैं कि योगशास्त्रमें वर्णित सिद्धियोंमेंसे कोई-सी भी योगके द्वारा प्राप्त हो सकती है या नहीं अथवा उसके द्वारा जीवात्माका परमात्माके साथ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है या नहीं, उन्हें सम्भवतः निराश ही होना पड़ेगा। क्योंकि तर्कके द्वारा विश्वके रहस्योंके एक सूक्ष्मतम अंशका ही उद्‌घाटन हो सकता है और यह शास्त्र अलौकिक है, अतः तर्ककी यहाँतक पहुँच नहीं है। कदाचित् ऐतिहासिक युगके पूर्वसे ही भारतीय जिज्ञासुओंका तर्कसे समाधान नहीं हो सका और इसीलिये यह देखनेमें आता है कि उन्होंने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं अलौकिक साधनोंसे प्रकृतिके रहस्योंके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टा की है जिससे वे तर्कके द्वारा नहीं, अपितु अपने नीजी अनुभवके सहारे उनका पता लगा सकें। उनकी दृष्टिमें रहस्यवाद तर्ककी परिधिको लाँघ जाता है।

भगवान् बुद्धके जीवनकालमें योगका सिक्का जम चुका था। लोग इस बातकी परवा न करके कि दार्शनिक गुत्थियोंको सन्तोषप्रद रीतिसे सुलझानेका कोई और मार्ग भी है या नहीं, योगका साधन किया करते थे।

उदाहरणतः हम देखते हैं कि स्वयं बुद्ध भगवान् घर छोड़कर बोधगयाके निर्जन वनमें जाते हैं और वहाँ 'आस्फानक समाधि' का अभ्यास करते हुए शरीरको इस प्रकार कसते हैं कि उनका आहार घटते-घटते चावलके एक दानेपर पहुँच जाता है। उन्हें बोध भी हुआ; किन्तु वह किस साधनसे हुआ, उनकी ऐकान्तिक तपोनिष्ठासे अथवा तपस्याके साधनको छोड़ देनेसे? यह विचारणीय है। भगवान् बुद्धके प्रसङ्गमें तो, जो ईसामसीहसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुए थे, यही कहना पड़ेगा कि तर्कको नीचा देखना पड़ा और रहस्यवादकी विजय हुई। बुद्धने अपने युगके सभी प्रसिद्ध तार्किकों एवं दार्शनिकोंके सामने अपनी शङ्काएँ रखीं, किन्तु किसीके उत्तरोंसे उनका समाधान नहीं हुआ। उन्हें तो आत्मनिरीक्षण एवं तपश्चर्यासे ही सिद्धि प्राप्ति हुई और इसीका उन्होंने उपदेश दिया।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बहुत-से जिज्ञासुओं और श्रद्धालु पुरुषोंने बुद्धके उदाहरणसे उत्साहित होकर उन्हीं साधनोंको करना प्रारम्भ कर दिया जिनसे बुद्धको सिद्धि प्राप्त हुई थी। उस समयके इतिहाससे यह पता चलता है कि भगवान् बुद्धके कतिपय शिष्योंने उन्हीं साधनोंका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान कर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं जिनसे उनके जीवनकालमें ही उनकी बड़ी ख्याति हो गयी। आधुनिक विद्वानोंका मत है कि योगसूत्रोंके प्रणेता महर्षि पतञ्जलि शुङ्गवंशीय महाराज पुष्यमित्रके समसामयिक थे जिनका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह मत शङ्कासे शून्य नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रोंके प्रणेता एक ही व्यक्ति रहे हों। जब पतञ्जलिने ही पहले-पहल इस शास्त्रको सूत्रबद्ध किया और यदि वे बुद्धके परवर्ती थे तो फिर बुद्धको योगका ज्ञान कैसे हुआ और कैसे उन्होंने अपने युगके अच्छे-से-अच्छे तार्किकोंसे उनका समाधान न हो सकनेपर उस योगका अभ्यास किया।

जब बहुत-से जिज्ञासु, श्रद्धालु एवं विशिष्ट पुरुष किसी साधनामें प्रवृत्त होते हैं तो उनका यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे एक-दूसरेके अनुभवोंका मिलान करें और इस प्रकार उन साधनाओंको शास्त्रका रूप दें। यह काम महर्षि पतञ्जलिके हिस्से पड़ा था (चाहे वे जो कोई रहे हों) जिन्होंने योगसूत्रमें योगशास्त्रकी उपयोगिताको सिद्ध करनेके लिये अनेक प्रमाण दिये और सिद्धि प्राप्त करनेके क्रियासाध्य उपाय बतलाये। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें यह प्रतिज्ञा की है कि योगपद्धतिकी सहायतासे साधक लोग कल्पनातीत सिद्धियोंको प्राप्त कर सकते हैं, और मोक्षलाभ भी कर सकते हैं जिससे सारे दु:खोंकी निवृत्ति हो जाती है और संसारके बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है।

बौद्धधर्मने योगके सिद्धान्तोंको चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीमें हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठ रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर राजयोग एवं हठयोग दोनों प्रकारके योगोंकी साधना किया करता था और उन लोगोंने अपने सामूहिक अनुभवकी सहायतासे उन साधनाओंको शास्त्रका रूप देकर एक ऐसी पद्धतिका निर्माण किया जो पातञ्जलयोगपद्धतिसे बहुत कुछ मिलती है, बल्कि यों कहना चाहिये कि दोनोंमें बहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोगकी मूलभित्तिपर तन्त्रोंका निर्माण हुआ और तन्त्रोंकी सहायतासे यह शास्त्र सर्वाङ्गपूर्ण बन गया।

बौद्धोंकी (राज) योग एवं हठयोगसम्बन्धी साधनाओं एवं क्रियाओंका स्पष्ट दिग्दर्शन हमें पहले पहल 'गुह्यसमाज' नामक तन्त्रसे मिलता है और यह ग्रन्थ मेरे अनुमानसे ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ है जिसके लिये मेरे पास अनेक प्रमाण हैं। यह ग्रन्थ गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला (Gaekwad's Oriental Series)-का ५३ वाँ पुष्प है और जो लोग यह जानना चाहते हैं कि मेरे पास उसे तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ माननेके लिये क्या प्रमाण हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थके साथ जोड़े हुए विस्तृत ग्रन्थपरिचयको ध्यानपूर्वक पढ़ें।

उक्त ग्रन्थका अठारहवाँ अध्याय इस दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है कि उससे हमें बौद्धधर्ममें प्रचलित योग साधनाओंका तथा उनके उद्देश्य एवं प्रयोजनका वास्तविक परिचय मिलता है। इस अध्यायमें केवल उन पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या की गयी है जिनका बौद्धतन्त्रोंमें बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। 'उपाय' शब्दकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि उपायके सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन ये चार भेद हैं। इनमेंसे सेवाके सामान्य सेवा और उत्तम सेवा इस प्रकार दो अवान्तर भेद बताये गये हैं। सामान्य सेवाका दूसरा नाम वज्रचतुष्टय और उत्तम सेवाको 'ज्ञान सुधा' कहा गया है। किसी देवताविशेषके साक्षात्कारकी चतुर्विध प्रक्रियाका नाम वज्रचतुष्टय है और उनका क्रम नीचे लिखे अनुसार है—(१) शून्यताप्रत्यय, (२) शून्यताका बीजमन्त्रके रूपमें परिणाम, (३) बीजमन्त्रका देवताके आकारका बन जाना और (४) देवताका विग्रहरूपमें प्रकट होना।

उत्तम सेवाका स्वरूप बताते हुए गुह्यसमाजकार कहते हैं कि इस सेवामें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये षडङ्गयोगका साधन करना चाहिये। योगके इन छ: अङ्गोंके नाम उसी ग्रन्थमें इस प्रकार उल्लिखित हैं—(१) प्रत्याहार, (२) ध्यान, (३) प्राणायाम, (४) धारणा, (५) अनुस्मृति और (६) समाधि।

प्रत्याहार उस क्रियाका नाम है जिसके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह किया जाता है। पाँच ध्यानी बुद्धोंके द्वारा पाँच इष्ट विषयोंपर मनको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। इसका अर्थ सम्भवत: सत्ता (Being)-के पाँच अवयवों अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानपर, जो पाँच ध्यानी बुद्धोंद्वारा अधिष्ठित हैं, मनको एकाग्र करना है। इस ध्यानके पाँच अवान्तर भेद बताये गये हैं जिनके नाम हैं वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता।

योगका तीसरा अङ्ग है प्राणायाम। गुह्यसमाजके अनुसार प्राणवायुके निरोधका नाम ही प्राणायाम है और इस प्राणवायुको पञ्चभूतात्मक अथवा पञ्चविध ज्ञानका स्वरूप माना गया है। इनकी नासिकाके अग्रभागपर स्थित एक पिण्डके रूपमें भावना की जाती है और फिर उनका पञ्चवर्णज्योतिको प्रसारित करनेवाले एक रत्नके रूपमें ध्यान किया जाता है।

चौथे अङ्गका नाम धारणा है जिसमें उपासकको

अपने इष्टमन्त्रका हृदयकमलमें ध्यान करना होता है। धारणासे इन्द्रियोंका निग्रह भी होता है; उनकी पुनः एक रत्नके रूपमें भावना की जाती है और उसे प्राणबिन्दुपर स्थापित किया जाता है। धारणाका श्रद्धापूर्वक दीर्घकालतक अभ्यास करनेपर 'निमित्त' अथवा चमत्कारपूर्ण चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ये पाँच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें मरीचिका (मृगतृष्णा)-का चिह्न चित्ताकाशके सामने प्रकट होता है। दूसरी भूमिकामें धुएँका चिह्न और तीसरीमें जुगुनुओंका चिह्न व्यक्त होता है, इसके बाद तुरन्त ही चौथा चिह्न प्रकाशका नजर आता है और अन्तमें निरभ्र गगनके सदृश स्थिर प्रकाशका चिह्न दिखायी देता है।

गुह्यसमाजके अनुसार बौद्धयोगका पाँचवाँ अङ्ग अनुस्मृति है। अनुस्मृति उस पदार्थके अनवच्छिन्न ध्यानको कहते हैं जिसके निमित्त योगसाधनाका प्रारम्भ किया गया है। अनुस्मृतिका चिरकालतक अभ्यास करनेसे प्रतिभास (revelation)-की उत्पत्ति होती है। 'प्रज्ञा' और 'उपाय' इन दो तत्त्वोंके संयोगसे सृष्टिमें स्थित समस्त पदार्थ एक पिण्डके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं। उस एक पिण्डके समस्त बाह्य प्रपञ्चका ध्यान करनेसे समाधिरूप अलौकिक ज्ञानकी अविलम्ब उपलब्धि हो जाती है।

गुह्यसमाजतन्त्रके अठारहवें अध्यायमें आगे चलकर उपसाधनोंकी व्याख्या की गयी है। उस प्रसङ्गमें यह लिखा है कि उपसाधनका साध्य देवताका साक्षात्कार है और साथ ही यह भी लिखा है कि उपसाधनोंका अभ्यास लगातार छः महीनेतक करना चाहिये और उसमें खान-पान तथा अन्य इच्छित पदार्थोंके सम्बन्धमें किसी बन्धनकी आवश्यकता नहीं है। यदि इस अवधिके भीतर उसे देवताका साक्षात्कार न हो तो साधकको चाहिये कि वह उसी अनुष्ठानको तीन बार करे। यदि इसपर भी देवता योगीके सामने प्रकट न हो और उसे बोधिलाभ न हो तब उसे अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये हठयोगका अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिये और इससे उसे अवश्य ही सर्वज्ञता प्राप्त होगी।

इस अवसरपर यह कौतूहलपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि तन्त्र और हठयोगमें परस्पर क्या सम्बन्ध है। ऊपर कही हुई बातोंसे यही समझमें आता है कि गुह्यसमाजकारने हठयोगके देवताके साक्षात्कारका अन्तिम उपाय बताया है—जब अन्य किसी उपायसे ऐसा न हो सके तभी इसका अभ्यास करनेको कहा गया है। इससे यह बात स्पष्टरूपसे ध्यानमें आ जाती है कि तान्त्रिक उपसाधनका आधार हठयोग है और उत्तम सेवाका आलम्बन राजयोग है। इस प्रकार तन्त्रको राजयोग और हठयोगसे पृथक् करना कठिन है। गुह्यसमाजमें इस बातको खूब स्पष्ट कर दिया गया है कि तान्त्रिक साधना करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक पहले (राज-) योग एवं हठयोगके रहस्योंसे परिचित हो ले। अथवा, दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि तन्त्रशास्त्रके रहस्योंमें प्रवेशकर उन्हें समझनेकी चेष्टा करनेके पूर्व साधकको चाहिये कि वह पहले (राज-) योग और हठयोगमें निष्णात हो जाय। इन सब बातोंसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि जो लोग अदीक्षितोंको अथवा प्रारम्भिक साधकोंको मन्त्रसाधनाका उपदेश देते हैं अथवा जो स्वयं योगमें निष्णात हुए बिना ही इस साधनाको करने लग जाते हैं वे सर्वथा भूलमें हैं और शास्त्रीय रहस्यसे अपरिचित हैं।

इस बातको लोग भलीभाँति जानते हैं कि हठयोग विद्यामें पारंगत होनेके लिये बहुत समय अपेक्षित है। हठयोगके अभ्याससे मनुष्य ऐसे अनेकों कार्य कर सकता है जो साधारण मनुष्योंके लिये शक्य नहीं हैं। उदाहरणतः हठयोगी जब चाहे तब श्वासको निरोध कर सकता है तथा रक्तकी गतिको बन्द कर सकता है। वह कई दिनोंतक ही नहीं, कई महीनोंतक पृथ्वीके अन्दर समाधिस्थ होकर रह सकता है। कई हठयोगी अपनी अँतड़ियाँतक बाहर निकाल लेते हैं। परन्तु एक सिद्ध हठयोगीने, जिनसे मिलनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था, मुझे स्वयं यह कहा कि हठयोगियोंको असाधारण शारीरिक शक्तियाँ अवश्य प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु बिना तान्त्रिक साधना अथवा राजयोगका अभ्यास किये उन्हें मानसिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि तान्त्रिक साधना उन्हीं लोगोंके लिये अभिप्रेत है जो हठयोगके द्वारा प्राप्तव्य ध्येयसे आगे बढ़ना चाहते हैं। किन्तु जब साधकको तान्त्रिक साधनासे वाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती न दीखे तो उसे

समझ लेना चाहिये कि उसके स्थूल शरीरमें इतने विकार भरे पड़े हैं कि उन्हें हठयोगके द्वारा ही दूर करना होगा।

तन्त्रका प्रमुख अङ्ग 'साधन' अर्थात् वह क्रिया है जिसके द्वारा उपासक अपने इष्टदेवका दर्शन करनेके लिये उद्युक्त होता है, जिस इष्टदेवसे उसे वाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती है। साधक किसी एकान्त स्थानमें जाकर 'साधन' नामक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार कुछ कालतक अपने इष्टदेवका ध्यान करता है। इस प्रकारके २१२ साधन-ग्रन्थोंका एक संग्रह आलोचनात्मक पद्धतिसे सम्पादित होकर 'गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है। इन साधन-ग्रन्थोंमें उन आचार्योंने जो पहले उन-उन देवताओंका कष्टसाध्य एवं अनुमानतः दोषयुक्त पद्धतिसे साक्षात्कार कर चुके थे, सरल-से-सरल एवं निर्भ्रान्त उपाय बताये हैं जिनके द्वारा साधक बिना भूल किये उसी ध्येयको सहजहीमें प्राप्त कर सकता है। इन ग्रन्थोंके रचयिताओंका उन गोपनीय साधनोंके प्रकाश करनेमें जिनसे उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी कोई निजी स्वार्थ नहीं था। उन्होंने केवल मानवसमाजके हितकी दृष्टिसे अथवा एक ऐसी विद्याको अमर बनानेके उद्देश्यसे ही ऐसा किया जिसके सम्बन्धमें उनकी यह धारणा थी कि इसे समुचित रीतिसे लेखबद्ध नहीं करेंगे तो उसका लोप ही हो जायगा।

जब साधक साधन-ग्रन्थोंमें बतायी हुई किसी विधिके अनुसार, अतिशय श्रद्धापूर्वक एवं सुदीर्घकालतक शून्यका ध्यान करता है तब उसका इष्टदेव उसके सामने झलक दिखाने लगता है। सर्वप्रथम उस देवताका बीजमन्त्र उसके मनोगोचर होता है जिसका वह साक्षात्कार करने चला है। वह बीजमन्त्र शीघ्र ही एक अस्पष्ट-सा आकार धारण कर लेता है और आगे चलकर, जब साधना पूर्ण होनेको होती है उस समय देवताकी अमित सुषमायुक्त तेजोमय मूर्ति विविध वर्णके मनमोहक वस्त्र धारण किये तथा ठीक उसी प्रकारकी आकृति तथा शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर जैसा उस देवताके ध्यानमें वर्णन होता है उसके मानसिक नेत्रोंके सामने आविर्भूत होती है। इस देवताका एक बार साक्षात्कार हो जानेपर वह उपासकको कभी नहीं छोड़ता, बल्कि बार-बार उसपर कृपावृष्टि करता रहता है और उसे अधिकाधिक सिद्धियाँ प्रदान करता रहता है। ये सिद्धियाँ उसे उस देवताके साक्षात्कारके फलरूपमें मिलती हैं; परन्तु उस साक्षात्कारलाभके लिये केवल तान्त्रिक साधनासे ही काम नहीं चलता, अपितु उपासकके लिये यह आवश्यक है कि वह राजयोग एवं हठयोगका भी ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त करे।

बौद्धयोगके परिशीलनके लिये आजीवन अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। क्योंकि वह समुद्रकी भाँति अगाध है। प्रस्तुत निबन्धमें इस विषयको निःशेष करना मेरा उद्देश्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करना मेरे लिये शरीरसे भी सम्भव नहीं है। मैंने इस योगकी कुछ दिशाओंका दिग्दर्शनमात्र कराया है और कुछ ऐसी बातोंपर विशेष लक्ष्य कराया है जिनके विषयमें बौद्ध और वैदिक योगमें खासा मतभेद है और जहाँ इन दोनों पद्धतियोंका समन्वय कर देनेसे महान् फलसिद्धि हो सकती है।

अन्तमें मैं पाठक एवं समीक्षक महोदयोंको पुनः स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि योगमार्ग एक रहस्यमार्ग है; इसके परिणामोंको निजी अनुभवकी कसौटीपर कसना होता है। योग चाहे वह बौद्धयोग हो अथवा वैदिकयोग, एक ऐसा विषय है जो मानवतर्ककी पहुँचके बाहर है।
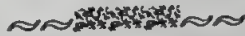
शुद्धस्वरूप

मन तुम लागहु सुद्ध सरूपे॥ टेक॥
तन मन धन न्यौछावरि बारो बेगि तजो भव कूपे॥ १॥
सतगुरु कृपा तहाँ लै लावो जहाँ छाँह नहिं धूपे॥ २॥
पइया करम ध्यान सों फटको जोग जुगति करि सूपे॥ ३॥
निर्मल भयो ज्ञान उँजियारो गूँग भयो लखि चूपे॥ ४॥
भीखा दिब्य दृष्टि सों देखत सोहे बोलत मूँ पै॥ ५॥

—भीखा साहब

बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए० डिप्टी-कलेक्टर)

विद्वानोंका मत है कि महात्मा गौतमबुद्धके समयमें वैदिक यज्ञ-यागादि, पशुबलि तथा सकाम पुरश्चरणोंकी इतनी भरमार हो गयी थी कि साधारण जनता त्रस्त-सी होकर एक सरल तथा निष्काम धर्मके लिये उत्कण्ठित हो रही थी। इसी सामयिक उत्कण्ठाको लेकर और करुणायुक्त सेवाभावसे प्रेरित होकर शाक्यसिंहने बौद्धधर्मका प्रचार किया। उनके इस नवीन धर्ममें कोई भी साधारण व्यक्ति भिक्षु अथवा भिक्षुणीरूपसे दीक्षित हो सकता था। किन्तु बौद्धधर्ममें जो आचार-विचारसम्बन्धी किञ्चित् कठोर नियम बनाये गये थे वे परिपक्व बुद्धिवाले ज्ञानवान् संन्यासी-तुल्य व्यक्तिके लिये विशेषरूपसे उपयुक्त थे न कि अशिक्षित जनता तथा स्त्रीसमाजके लिये। प्राचीनतम बौद्धधर्ममें भक्तिभावना तथा उपासनाके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रखा गया। इन्हीं त्रुटियोंके कारण सिद्धार्थके निर्वाणके अनन्तर ही बौद्धजनतामें मतभेद प्रारम्भ हो गया। और इसी मतभेदको यथासम्भव दूर करनेके लिये सुप्रसिद्ध चार बौद्धसंगीतियों अथवा महासभाओंका[१] आयोजन किया गया।

महात्मा बुद्धका निर्वाण ईसवी पूर्व सन् ४८३ में माना जाता है। इसके छः वर्ष बाद ई० पू० सन् ४७७ में महाकाश्यप, उपालि, आनन्द आदि पाँच सौ भिक्षुओंने राजगृहमें प्रथम महासभा की। इस संगीतिमें बुद्धके विनय तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त संग्रह किये गये और कुछ कालके लिये मतभेदकी शान्ति की गयी। परन्तु सौ वर्षोंमें इस विरोधभावने इतना जोर पकड़ा कि ई० पू० सन् ३७७ में दूसरी महासभा करनी पड़ी। इस सभामें बुद्धके उपदेशों तथा सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति की गयी। किन्तु सम्पूर्ण सङ्घ इनको माननेके लिये तैयार न था। अतः विपक्षियोंने अलग अपनी सभा की। इसी समयसे मतभेद बराबर बढ़ता ही गया और कालान्तरमें बौद्ध-धर्ममें अठारह निकाय अथवा समुदाय पैदा हो गये।

सम्राट् अशोकके समयमें भिक्षुसङ्घमें आलस्य तथा दुराचारने अपना अड्डा जमा लिया था। इसी कारण मूल उपदेश तथा सिद्धान्तोंको माननेवाले (स्थविरवादी) बौद्धोंने ई० पू० सन् २४२ में तृतीय संगीति की। इस बार इन पुराने बौद्धोंमें भी मतभेद हो गया और विपक्षी दलने अपनी संगीति अलग नालन्दामें की। इन विपक्षियोंको सर्वास्तिवादी कहते हैं और इन्हींके कारण कालान्तरमें नालन्दाकी इतनी सुप्रसिद्धि हुई।

उपर्युक्त तृतीय संगीतिके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद मौर्य-साम्राज्यका अन्त होकर वैदिक मतानुयायी शुङ्गवंशका राज्य प्रारम्भ हुआ। इसी शुङ्गवंशके प्रथम राजा पुष्यमित्रने दो अश्वमेध-यज्ञ किये। इस समय बौद्धोंपर अनेक अत्याचार होने लगे। अतः स्थविरवादी तो भागकर साँची चले गये और सर्वास्तिवादी मथुरा आ गये। मथुरामें सर्वास्तिवादियोंने अपने ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें करा डाले, क्योंकि मूल बौद्धग्रन्थ पालीमें थे।

पचास-साठ वर्षोंमें मथुराकी काबुलवाली सड़कपर[२] स्थित होनेके कारण सर्वास्तिवादका प्रचार गान्धार (वर्तमान कन्धार)-तक पहुँचा और सम्राट् कनिष्क भी उसके अनुयायी हो गये। इन्हीं कनिष्कके राजत्वकालमें चतुर्थ संगीति जालन्धरमें हुई। इसके उपरान्त सर्वास्तिवादियोंमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दो सम्प्रदाय हो गये।

बौद्धधर्ममें निर्वाण अथवा मोक्षके तीन मार्ग बतलाये गये हैं। जो केवल स्वयं मुक्त होना चाहता है वह अर्हत् कहलाता है। जो कुछ और लोगोंकी मुक्तिके लिये भी परिश्रम करता है वह प्रत्येक-बुद्ध कहलाता है। और जो जगत्के मोक्षकी चेष्टा करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करता है वह बोधिसत्त्व कहलाता है। ये तीनों मार्ग क्रमशः अर्हत्यान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्वयान कहलाते हैं। अबतक मतभेद होते हुए भी सभी बौद्धनिकाय (सम्प्रदाय) इन तीनों मार्गोंको मानते थे और अधिकतर प्रवृत्ति त्याग तथा वैराग्यपर निर्भर होनेके कारण अर्हत्यानकी ओर ही थी।

परन्तु कनिष्कके सामयिक महापण्डित अश्वघोष

---

१. इन चार महासभाओंके विस्तृत विवरणके लिये पं० जनार्दन भट्टकृत 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३६६—३७० देखिये।

२. देखिये—'सरस्वती' जून १९२९ पृ० ६७८—६८४ (प्राचीन भारतकी सड़कें)।

जो प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक थे, उन्होंने एक नया मत सम्पादित किया कि बौद्धोंके लिये केवल बोधिसत्वयान ही सर्वश्रेष्ठ है। यहींसे महायानकी नींव पड़ी। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

अश्वघोषके शिष्य सुप्रसिद्ध रासायनिक तथा बौद्धदार्शनिक नागार्जुन[१] थे। इनके विषयमें अनेक आश्चर्यजनक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि योगाभ्याससे इन्होंने बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इसी कारण इन्हें सिद्धनागार्जुनके नामसे पुकारा जाता था। इनके पूर्वके वैद्यकशास्त्रमें केवल सुश्रुत तथा चरकके ही ग्रन्थ मिलते हैं। हाँ, यदि योगसूत्रकार तथा महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिको लौहशास्त्रकार भी मान लें तो उनका नाम भी नागार्जुनसे पूर्व ही आता है।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने रासायनिक ज्ञानसे लोहवेध (लोहेको सोना बनाने)-में सफलता प्राप्त की थी और रासायनिक समासोंसे ऐसे-ऐसे रसादिकी सृष्टि की थी कि जिनके कारण मनुष्य अमर-सा हो जाता है। स्वयं नागार्जुनकी आयु ६०० वर्ष[२] कही जाती है। इस विषयमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र सुवर्ण, पारद, अभ्रक तथा गन्धकके अनेकानेक प्रयोगोंसे अनभिज्ञ है। 'समराङ्गणसूत्रधार'[३] नामक बड़ौदेसे प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थमें तो यहाँतक लिखा है कि पूर्वकालके वायुयान पारदसे चलते थे। नागार्जुनविषयक इन बातोंसे स्पष्ट है कि यूरोपीय इतिहासके मध्ययुग (Middle Ages 100—1500 A. D.)-में जो किमियागीरों (Alchemists)[४]-का प्रयत्न Elixir of Life (अमृत) तथा Philosopher's Stone (पारस-पत्थर)-के लिये बतलाया जाता है उसका मूल स्रोत भारत ही है।

नागार्जुनने अश्वघोषके बोधिसत्वयान-सम्बन्धी सिद्धान्तको मानकर पूर्वप्रचलित 'प्रज्ञापारमिता' नामक दर्शनग्रन्थके आधारपर माध्यमिक अथवा शून्यवादी बौद्धसम्प्रदायकी सृष्टि की। कुछ विद्वानोंका मत है कि इसी शून्यवादका सुसंस्कृत रूपान्तर शङ्कराचार्यजीका मायावाद है। इसके अतिरिक्त मैत्रेयके योगाचारसम्प्रदायका भी विशेष प्रचार हुआ। ये ही दोनों मत (माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदाय) महायानके नामसे प्रसिद्ध हैं। महायान बौद्धधर्मका प्रचार तिब्बत, मङ्गोलिया, चीन तथा जापानमें अबतक पाया जाता है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानके नामसे पुकारे जाते हैं और हीनयानका प्रचार सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याममें है। हीनयानके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और महायानके संस्कृतमें।

स्वयं गौतमबुद्धने भी ध्यानयोग (राजयोग)-द्वारा बोधिवृक्षके नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। बौद्ध 'ब्रह्मजालसुत्त' तथा 'आटानटीय सुत्त' में भी इस विषयका कुछ वर्णन मिलता है। अतः कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि नागार्जुन-जैसे सिद्ध योगीका बौद्धधर्मसे सम्बन्ध होनेपर और माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदायोंके प्रादुर्भूत होनेपर बौद्ध महायानसम्प्रदायमें मन्त्रयोग क्यों न प्रचलित हो। और वास्तवमें हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि थोड़े ही समयके अनन्तर महायानके अन्तर्गत मन्त्रयानका प्रचार हुआ जो उग्र रूप धारणकर वर्तमान वज्रयानमें परिणत हो गया।

पतञ्जलिकृत योगदर्शनका सूत्र है— **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** और इतने उथल-पुथलके बाद बौद्ध भिक्षुओंके लिये चित्तवृत्तिनिरोधकी परम आवश्यकता थी। अतः उनके लिये मन्त्रयोग ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। आगे चलकर उपर्युक्त दर्शनके चतुर्थ पादमें कहा है—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

इनमेंसे जन्मपर किसीका वश नहीं। वह केवल कर्मानुसार ही होता है और ओषधियोंद्वारा सिद्धि प्राप्त करना केवल नागार्जुन-जैसे सिद्धोंहीके वशमें था। अतः जनसाधारणके लिये तृतीय उपाय मन्त्रका ही अवलम्बन सुलभ प्रतीत हुआ। मन्त्रयोगमें[५] अक्षरोंके अधिष्ठाता

१. देखिये— जयचन्द्र विद्यालङ्कारकृत 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' भाग २, पृ० ९२४—९२६ और उन्हींका 'भारतीय वाङ्मयके अमररत्न' पृ० ३२—३५।

२. 'गङ्गा'का 'पुरातत्त्वाङ्क' पृ० २१८।

३. श्रीभोजदेवकृत 'समराङ्गणसूत्रधारः' २ भाग Gaekwad Oriental Series, Baroda.

४. इन Alchemists के विषयमें अधिक ज्ञानके लिये देखिये— 'Alchemy: Ancient and Modern' by Redgrove, William Rider and Son. London (1922).

५. मन्त्रशास्त्रके विषयमें अधिक जानकारीके लिये देखिये— Woodroffe कृत "Garland of Letters", Ganesh & Co., Madras (1922).

देवताओंका ध्यान एक आवश्यक अङ्ग है। इसी कारण बौद्धधर्ममें इसी समयसे मूर्तियोंका बनाया जाना प्रारम्भ हुआ और वज्रसत्व, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा वैरोचन नामक पाँच ध्यानी बुद्धों, मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि, आकाशगर्भ, क्षितिगर्भ, मैत्रेय, समन्तभद्र इत्यादि बोधिसत्वोंकी कल्पना प्रारम्भ हुई। इनके अतिरिक्त हिन्दुओंकी दश महाविद्याएँ तथा अनेकानेक अन्य देवी-देवता भी छद्मरूपसे बौद्धधर्ममें ले लिये गये। बौद्धोंकी प्रधान देवी तारा हैं।

उपर्युक्त विषयपर बौद्धसाहित्यमें अनेकानेक ग्रन्थ मिलते हैं पर विद्वानोंके मतमें इनमेंसे मुख्य ग्रन्थ[१] 'मञ्जुश्री मूलकल्प' 'गुह्यसमाज तन्त्र' 'साधनमाला' 'श्रीचक्रसंवर' 'सद्धर्मपुण्डरीक' तथा 'सुखावतीव्यूहसूत्र' इत्यादि हैं जो सब छप गये हैं। इनके अध्ययनसे बौद्धधर्मके मन्त्रयोग, साधनक्रम तथा अन्य उपक्रम और उनके साधना-भेद मालूम हो सकते हैं। इस छोटे-से लेखमें इन सबका सूक्ष्म विवरण भी देना असम्भव है। हालमें काशीविद्यापीठद्वारा प्रकाशित बुद्धघोष (ईसाकी पाँचवीं शताब्दि) कृत 'शमथयान अर्थात् समाधि' को देखनेसे तो प्रतीत होता है कि अनेक स्थलोंमें पतञ्जलिके योगदर्शनकी पूरी-की-पूरी नकल कर ली गयी है।

'गुह्यसमाजतन्त्र' के विषयमें कल्याणके पाठक 'शिवाङ्क' के 'देवताका स्वरूप क्या है?' शीर्षक लेख (पृष्ठ तीन सौ एकहत्तर—तीन सौ तिहत्तर)-में सूक्ष्म विवरण पायेंगे। और 'श्रीचक्रसंवर' की भूमिकाका सार 'शक्तिअङ्क' (पृ० पाँच सौ चौआलीस—पाँच सौ सैंतालीस)-में 'बौद्ध और जैनधर्ममें शक्ति-उपासना' शीर्षक लेखमें दिया गया है। 'श्रीचक्रसंवर' के कुछ अंशका अंग्रेज़ी अनुवाद Arthur Avalon सम्पादित Tantrik Texts के Volume VII में मिलेगा। उसके अध्ययनसे बौद्धमन्त्रयोगके महत्त्व तथा गाम्भीर्यका कुछ-कुछ आभास मिल सकेगा।

'गुह्यसमाजतन्त्र' में लिखा है कि जहाँ मन्त्रयोगकी गति न हो वहाँ तन्त्रोंका आधार लेना पड़ता है। इसी कारण मन्त्रयानमें तन्त्रयानका समावेश होना अवश्यम्भावी था। तन्त्रोंकी साधनविधि तथा वाम और दक्षिणमार्गके विषय गुह्य तथा रहस्यमय हैं। वाममार्गके[२] बीभत्स्य प्रतीत होनेवाले कृत्योंका यथार्थ मर्म उस मार्गका साधक ही जान सकता है। अनभिज्ञ दर्शक उनको देखकर तन्त्रोंको गर्ह्य बतलाने लगता है और अनभिज्ञ साधक उनका विपरीत प्रयोग करके नरकका भागी होता है और पतित हो जाता है। बौद्धमन्त्र-योगाचारमें वाममार्गका विशेष प्रयोग होने लगा था और अब भी होता है। अतः अनभिज्ञ जनतामें उसका प्रवेश होते ही अनर्थ होने लगा और भारतसे बौद्धधर्मके लोप होनेका यह एक मुख्य कारण हुआ। इस विषयमें अन्यत्र प्रकाशित 'चौरासी सिद्ध तथा नाथसम्प्रदाय' शीर्षक लेख देखिये। उपर्युक्त मन्त्र-तन्त्रयानको ही वज्रयान कहते हैं।

बौद्धोंका मुख्य मन्त्र है **'ॐ मणिपद्मे हुम्'** जिससे सम्पूर्ण तिब्बत रात-दिन गूँज रहा है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि मणिपद्मसे कुण्डलिनीयोगके मणिपूरकचक्रका निर्देश है[३] और इस चक्रके देवता रुद्रका ध्यान बौद्धलोग अवलोकितेश्वर (अक्षोभ्य भैरव)-रूपसे करते हैं। बौद्धोंके मन्त्र संस्कृतमें होते हैं और उनकी उपचार-विधि हिन्दुओंके तान्त्रिक प्रयोगोंसे बिलकुल मिलती है।

नागार्जुनका स्थान श्रीशैल कहा जाता है जो मद्रासके समीप है। सम्भव है, द्वितीय ज्योतिर्लिङ्गवाला श्रीशैल[४] ही नागार्जुनके सिद्धिका केन्द्र हो। संस्कृत-ग्रन्थोंमें भी

---

१. 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' (Trivandrum Sanskrit Series), 'गुह्यसमाज तन्त्र और साधनमाला' (Gaekwad Oriental Series), 'श्रीचक्रसंवर' (Tantrik Texts Vol VII Edited by Arthur Avalon, Thacker Spink & Co., Calcutta), 'सद्धर्मपुण्डरीक' (Sacred Books of the East Vol 12), 'सुखावती व्यूह' (Anecdota Oxoniensia Aryan Series Vol II इसमें बौद्धस्वर्गकी कल्पना है।) 'सुखावती' पर एक बड़ा सुन्दर लेख आचार्य नरेन्द्रदेवने 'माधुरी' अक्टूबर १९२५, पृ० ४७१—४७६ (सुखावतीमार्ग)-में लिखा है।

२. इस विषयपर एक बड़ा ही सुन्दर लेख Woodroffe कृत 'Shakti and Shakta' (Ganesh & Co. Madras, third edn 1929) पृ० ५५३—६०७ (Pancha-Sattva : the Secret Ritual) में मिलेगा।

३. देखिये—'सरस्वती' फरवरी १९२७, पृ० २४८—२५१ (बौद्धधर्मपर हिन्दू-धर्मकी छाप)।

४. देखिये—'शिवाङ्क' पृ० ५४९-५५० (श्रीमल्लिकार्जुन)।

सारनाथकी बुद्ध-प्रतिमा

दीपङ्कर श्रीज्ञान (अतिशा)

तिब्बतके दलाई लामा

तिब्बतके ताशी लामा

(उदाहरणार्थ 'हर्षचरित' 'मालतीमाधव') इस स्थानका एक तान्त्रिक केन्द्र होना पाया जाता है।

नालन्दाका[१] उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कहा जाता है कि सम्राट् अशोकने यहाँ एक बौद्धविश्वविद्यालय स्थापित किया। कुछ दिनों नागार्जुनने भी इस स्थानपर वास किया था। अतः सम्भव है कि उसी समयसे यहाँ तारादेवीकी तान्त्रिक उपासनाका प्रारम्भ हुआ हो। ईसाकी आठवीं शताब्दीमें किसी कारण इस विश्वविद्यालयका पतन हो गया। तबसे समीपस्थ भागलपुरके पासवाले विक्रमशिला-विश्वविद्यालयकी[२] ख्याति बढ़ गयी। विक्रमशिलाके विश्वविद्यालय तथा उदन्तपुरीके पुस्तकालयके जन्मदाता बंगालके पालवंशीय राजा थे।[३] वे बौद्ध थे, अतः इनकी छत्रछायामें विक्रम-शिला-वज्रयानकी साधनाका केन्द्र बन गया। इस विश्वविद्यालयके मध्यमें अवलोकितेश्वरका मन्दिर था और इस मन्दिरके चारों ओर तिरपन तान्त्रिक देवी-देवताओंके छोटे-छोटे मन्दिर थे। यहींसे वज्रयानका प्रवेश तिब्बतमें हुआ। इस विद्यालयमें अनेकानेक प्रकाण्ड बौद्ध तान्त्रिक हो गये हैं और सुप्रसिद्ध चौरासी सिद्धोंमेंसे भी अनेकोंका इस संस्थासे सम्बन्ध था।

यहाँके लङ्काजयभद्रने ही उपर्युक्त 'श्रीचक्रसंवर' नामक तन्त्र ग्रन्थ लिखा था जिसका उल्लेख बार-बार चौरासी सिद्धोंकी 'बानियों' में आता है। लीलाव्रज नामक आचार्यने अपने मन्त्रबलसे तुर्कोंके प्रथम आक्रमणको निष्फल कर दिया था। आचार्य कमलरक्षितने अपने योगबलसे पाँच सौ तुर्कोंको मार भगाया था। कहते हैं कि इन्होंने तुर्कसेनापर पूर्णकुम्भ फेंका जिसके कारण तुर्क लोग खून उगलते हुए जान लेकर भागे।[४] सन् १२०२ ई० में बख्तियार ख़िलजीने इस स्थानको लूटकर यहाँके विशाल ग्रन्थसंग्रहको जला डाला।

विक्रमशिलाके ध्वंसके बाद बौद्ध तान्त्रिकोंका भारतसे लोप ही हो गया। उनमेंसे बहुतेरे तो तलवारके घाट उतारे गये, कुछ भागकर सीलोनकी ओर चले गये, और अधिकांश उत्तरकी ओर नेपाल तथा तिब्बतके अगम्य देशोंमें भाग गये। जो कुछ बौद्ध-तन्त्रका अवशेष भारतमें रहा वह आज भी मिथिलामें पाया जाता है, क्योंकि विक्रमशिलाके बाद ही नदिया तथा मिथिलाके विद्याकेन्द्रोंका उदय हुआ।

इस समय वज्रयानका मुख्य गढ़ महाचीन (तिब्बत) है। तिब्बतमें बौद्धधर्मका प्रवेश[५] ईसाकी आठवीं शताब्दिके प्रारम्भमें हुआ। उसके पहले इस देशमें 'बोन' धर्म[६] प्रचलित था जो वैदिक शैवसम्प्रदायका विकृत रूप था। 'बोन' धर्मका मुख्य स्थान कैलाश पर्वत था और देशकी असाधारण प्राकृतिक स्थितिके कारण 'बोन' धर्ममें जादू-टोना इत्यादि बहुत बढ़ गया था अर्थात् तमःप्रधान देवोंकी सकाम उपासनाका प्राधान्य था। नालन्दाके महापण्डितोंकी ख्याति सुनकर तिब्बतसम्राट्ने वहाँके आचार्य शान्तरक्षित (ई० सन् ६५०—७५०)-को अपने देशमें बौद्धधर्मके प्रचारके लिये आमन्त्रित किया। आचार्य तिब्बत गये किन्तु उनके पहुँचते ही अनेक प्राकृतिक उपद्रव उठ खड़े हुए। अतः उनके परामर्शसे राजाने पद्मसम्भव नामक एक तान्त्रिकको भारतसे बुलवाया। इन्होंने अपने योगबलसे देशके सभी उग्र देवी-देवताओंको शान्त किया। वर्तमान तिब्बतीय लामाधर्म इन्हीं पद्मसम्भवकी मूल कृति है।[७] तिब्बतवाले इन्हें लामारिनपोचे कहते हैं और भर्तृहरि तथा आल्हाकी तरह इनको अमर मानते हैं। आज भी घर-घर इनका चित्र पाया जाता है। आचार्य शान्तरक्षितने उदन्तपुरीके विहारके नमूनेका एक विहार तिब्बतमें सम्-ये नामक स्थानमें बनवाया जो अब भी मौजूद है।

इसके ३०० वर्ष बाद दीपंकर श्रीज्ञान (ई० सन् ९८२—१०५४) नामक विक्रमशिलाके प्रकाण्ड तान्त्रिक आचार्य तिब्बतमें बुलाये गये क्योंकि बीचमें बौद्धधर्म शिथिल हो चला था। इन्होंने अनेकानेक भारतीय

१. विस्तृत विवरणके लिये देखिये—उपर्युक्त 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३७५—३७९।
२. देखिये—'सरस्वती' दिसम्बर १९१५, पृ० ३३९—३४१ (विक्रमशिलाका विश्वविद्यालय)।
३. देखिये—पं० विश्वेश्वरनाथ रेउकृत 'भारतके प्राचीन राजवंश' (प्रथम भाग), पृ० १८१—१९७।
४. देखिये—नोट नम्बर ३ वाला लेख।
५. देखिये—राहुल सांकृत्यायनकृत 'तिब्बतमें सवा बरस', पृ० १८७—२२३।
६. देखिये—'Modern Review' August 1934 (Article on 'Home of Tantricism')।
७. देखिये—'माधुरी' जून १९२६, पृ० ५७८—५८६ (विराट् भारत)।

ग्रन्थोंका तिब्बती भाषामें अनुवाद कराया। ये अनुवाद अबतक विद्यमान हैं। भारतके मूल ग्रन्थ धर्मान्ध यवनोंके हाथ कभीके भस्म हो चुके।

स्वयं तिब्बतमें जे-चुन् मिल-रे-पा[१] नामक एक उत्कृष्ट तान्त्रिक (ई० सन् १०४०—११२३) हो गये हैं और उनके निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करते हुए अब भी सैकड़ों बौद्ध मान्त्रिक तथा तान्त्रिक एकान्त गुफाओंमें बीस-बीस क्या चालीस-चालीस वर्षतक एकान्तवास तथा तान्त्रिक साधनाएँ करते हैं। इनकी गुफाओंमें प्रविष्ट होनेपर द्वार सदाके लिये अथवा नियमित वर्षोंके लिये बन्द कर दिया जाता है और केवल एक छिद्रसे भोजन पहुँचानेका प्रबन्ध रहता है। न तो भीतर प्रकाश पहुँचता है न एकान्तवासी किसीसे भोजनके छिद्रद्वारा भाषण करता है[२]। मिल-रे-पाका एकान्तवासस्थान लप-चीमें था। वहीं अब भी विशेषकर उपर्युक्त प्रकारसे एकान्तवास करते हुए अनेकानेक सिद्ध मिलेंगे। सन् १९२१ वाले एवरेस्ट आरोहणवाले दलको लप-चीमें ३०० या ४०० एकान्तवासी मिले थे।[३] और अपनी (Trans Himalaya) नामक पुस्तकके ३५वें परिच्छेदमें Dr. Sven Hedin (जिन्होंने सन् १९०६-७ में तिब्बतकी यात्रा की थी) इसी प्रकारके एक एकान्तवासीका कल्पनायुक्त वर्णन किया है। ऐसे ही अनेक स्थान तिब्बतमें हैं। इनमें एक मुख्य स्थान ताशी लामाका निवासस्थान शीगर्ची है।

तिब्बतका राज्यतन्त्र ही लामा सिद्धोंके हाथमें है।[४] प्रधान शासक दलाई लामा कहे जाते हैं। उनके बाद शीगर्चीके ताशी लामाका स्थान है। देशभरमें प्रधान अधिकारी लामा ही हैं। इनमें अनेक पाखण्डी तथा दुराचारी भी हैं किन्तु इनके संरक्षणमें विस्मयकारी वज्रयान अथवा लामाधर्म अब भी पूर्ववत् अक्षुण्ण चला आता है। देशभरमें अनेकानेक मठ विद्यमान हैं जहाँ प्राचीन प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है और जिनमें लाखों लामा लोग (गृहस्थ इन मठोंमें भर्ती नहीं हो सकते) अब भी '**ॐ मणिपद्मे हुम्**' के गम्भीर नादसे उस ज्योतिको जाग्रत् रख रहे हैं। इन लामाओंके हाथमें एक चरखी-सा यन्त्र होता है जिसमें काग़जोंपर लिखे हुए हजारों '**ॐ मणिपद्मे हुम्**' होते हैं। लामा लोग बराबर इस चरखीको घुमाया करते हैं और इससे निरन्तर मन्त्रजपका पुण्य माना जाता है। स्थान-स्थानपर यह मन्त्र पत्थरोंपर अथवा कपड़ोंके टुकड़ोंपर[५] लिखा मिलता है। संक्षेपमें यही वज्रयानकी गायत्री है।

यह तो हुई तिब्बतकी स्थिति। अब और उत्तरमें मङ्गोलियामें बढ़ जाइये तो यही क्रम और घोररूपमें मिलेगा। कारण यह कि प्राकृतिक स्थितिके कारण मङ्गोलिया आधुनिक सभ्यताके लिये तिब्बतकी अपेक्षा अधिक अगम्य है। याद रहे कि तिब्बतमें विदेशियों (जिनमें भारतीयोंकी भी गणना है)-के प्रवेशके लिये कठोर निषेध अबतक चले जाते हैं।

गत महायुद्धके बाद रूसमें जो राज्यविप्लव हुआ उसमें बोलशेविकोंके हाथसे बचनेके लिये Count Ossendowsky नामक सज्जन मङ्गोलिया होते हुए तिब्बतकी ओर भागे। इस निर्वासनकालका विवरण उन्होंने 'Beasts, Men and Gods'[६] नामक पुस्तकमें दिया है। इस पुस्तकको देखनेसे वज्रयानकी अलौकिक शक्तियोंका कुछ अनुमान किया जा सकता है। हड्डियोंको अग्निमें तपाकर उनसे 'अरिष्ट' (योगदर्शन पा० ३, सू० २१)-का ज्ञान प्राप्त करना, रक्तसे, आँतोंसे अथवा Black Stone (काले पत्थर)-से भविष्यका पता लगाना, व्योमविहरण, मूर्तियोंसे प्रश्नोत्तर पाना तथा बिना अग्निके दीपकोंका अपने-आप जल उठना इत्यादि अनेक चमत्कारोंका इस पुस्तकमें उल्लेख है। उर्गा नामक स्थानमें 'प्रत्यक्ष बुद्ध' (Living Bogdo) नामक महापुरोहित रहते हैं। जिस समय उनमें देवावेश

१. देखिये—राहुल सांकृत्यायनकृत 'तिब्बतमें बौद्धधर्म' पृ० २८ (श्रीशिवप्रसादजी गुप्त, काशी)।

२. देखिये— 'Trans-Himalaya' by Sven Hedin (vol. II) PP 1—12 (Macmillan & co, 1909 'Colonial Library' Edition).

३. देखिये—'सरस्वती' नवम्बर १९२२, पृ० २७७ (मौंट एवरेस्टका आरोहण)।

४. देखिये—एकाई कावागुचीकृत 'तिब्बतमें तीन वर्ष' पृ० ३०१—३२२ (हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता)।

५. इनको 'मानी' कहते हैं।

६. Beasts Men and Gods by F. Ossendowsky. Edward Arnold & Co, London (17 th edition 1923). See pages 87; 96, 113—121, 177—181, 218-219, 257—262, 264-265, 287—316.

जोंगपेनका क़िला

मेघाच्छादित गुरला मान्धाता

तकलकोटके राजमार्गका दृश्य

गुफागृह तथा पहाड़को काटकर बनाये हुए भवन बीच-बीचमें दिखायी देते हैं।
नदीमें अनेकों नर-नारी स्नान करते हैं

तिब्बतका विहंगम दृश्य
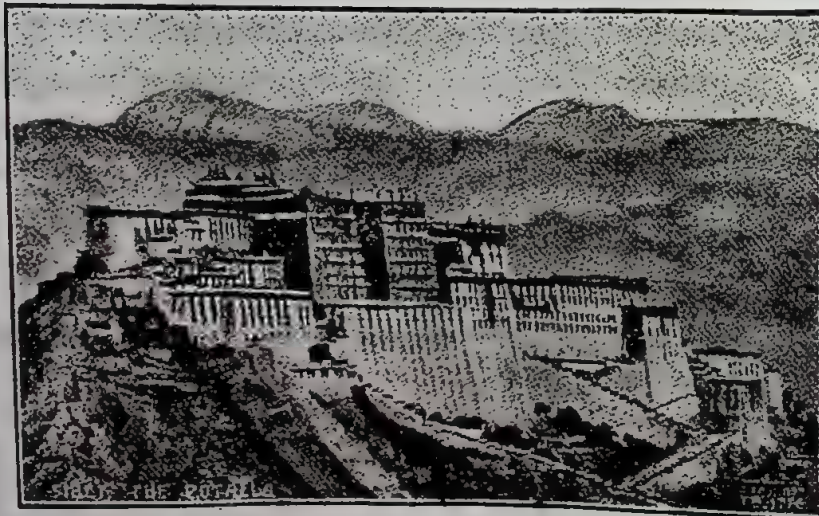
दलाईलामाका पोटाला राजमहल

ॐ मणिपद्मे हुं

लामा मन्त्रजपकी चर्खी घुमा रहे हैं

होता है उस समय उनके चेहरेके चारों ओर प्रभामण्डल (Nimbus) दीख पड़ता है। एक मन्दिरमें इस ग्रन्थके लेखकको थोड़ी देरके लिये अपने सुदूरस्थित गृहका दृश्य दीख पड़ा। दूसरे स्थानपर एक लामाने एक पुरुषको मार डाला पर थोड़ी ही देरमें वह मृत व्यक्ति ज्यों-का-त्यों पुनर्जीवित हो गया; इत्यादि। इन बातोंको योगदर्शनके तृतीय पादके साथ देखिये तब ज्ञात होगा कि केवल जादू-टोना कह देनेसे शङ्कासमाधान नहीं होता। इन चमत्कारोंको करनेकी शक्ति आयी कहाँसे? केवल मन्त्र और तन्त्रप्रक्रियाओंसे। हाँ, कहीं-कहीं अज्ञातरूपेण जन्मसिद्ध प्रथासे अथवा विशिष्ट जड़ी-बूटियोंके प्रयोगसे इन शक्तियोंकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

वैशाख-पूर्णिमाको तिब्बतमें बुद्धोत्सव[1] मनाया जाता है। इसी तिथिको महात्मा बुद्धका जन्म हुआ था और इसीको निर्वाण। आश्चर्यकी बात है कि इसी दिन इनको बोध भी हुआ था। उत्तरीय तिब्बतमें इस तिथिको रात्रिके समय एक चबूतरेपर बड़े-बड़े बौद्ध सिद्धाचार्य प्रतिवर्ष एकत्रित होकर बुद्धका आवाहन करते हैं। कहा जाता है कि बुद्धदेव प्रकट होकर आशीर्वाद देते हैं और पुनः अन्तर्हित हो जाते हैं।

कुण्डलिनी-सम्बन्धी लेखमें मैं लिख ही चुका हूँ कि महायानीय जितनी बुद्धप्रतिमाएँ मिलेंगी उनमेंसे अधिकांश (पाँचवीं शताब्दिके बादवाली)-में बुद्ध घुँघराले बालवाले कनफटे योगीके रूपमें दिखलाये गये होंगे। ये घुँघराले केश सहस्रारचक्रके द्योतक हैं।

कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध महाराणा जङ्गबहादुर-के गुरु शंखेलामाने उन्हें वज्रोली मुद्राका अभ्यास कराया था।

हिमालयप्रान्त वैदिकमतानुयायी योगियोंका भी स्थान माना गया है। भर्तृहरि तथा आल्हा[2] अमर माने गये हैं और यह साधारण किंवदन्ती है कि वे हिमालयमें तपस्या कर रहे हैं।

विश्व-कल्याण-योग

(लेखक—श्रीअनन्तशङ्करजी कोल्हटकर बी० ए०)

'योगीश्वरं याज्ञवल्क्यम्' कहकर जिनका अनुस्मरण ब्रह्मयज्ञके समय हम करते हैं, उन मुनि याज्ञवल्क्यका आदेश है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

मानवमात्रका परम धर्म यही है कि योगसाधनसे आत्म-दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती है— **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'** परन्तु परम कठिन योग-साधनका अनुष्ठान करना तथा सिद्धियोंके मोहसे अपने-आपको बचाकर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुस्तर है!

हमारा एकमात्र सहारा इसमें—भगवत्-शरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं हैं! हमारे हृन्मन्दिरमें ही विराजते हैं। सरलचित्तसे उन्हें पुकारो। उन्हींके बताये पथसे चलो।

मन और इन्द्रियोंका संयम करो। आत्म-तत्त्व एक ही है—ऐसी समबुद्धि धरो। भूतमात्रके हित-साधनमें प्रयत्नशील रहो और निश्चय रखो, तुम मुझे ही प्राप्त होगे। यही विश्व-कल्याण-योग है।

---

१. देखिये—'योगी' (पटना) का 'बुद्धाङ्क' पृ० २९—३२ (महात्मा बुद्ध और वैशाख-पूर्णिमा)।
२. देखिये—'कल्याण' पौष १९९० पृ० ९७४—९७७ (महोबा और उसके देवस्थान)।

जैनधर्ममें योगविद्या

(लेखक—मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)

भारतके वैदिक, बौद्ध और जैन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनों आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष—इन तत्त्वोंको मानते हैं, इसीलिये ये आस्तिकदर्शन[1] हैं। प्रस्तुत लेखमें हम जैनदृष्टिसे योगके विषयमें कुछ लिखेंगे।

'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है। संस्कृतमें 'युज्[2]' धातु दो हैं। एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका है 'समाधि'। इनमेंसे 'जोड़ने' के अर्थवाले 'युज्' धातुको जैनाचार्योंने प्रस्तुत योगार्थमें स्वीकार किया है।

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।

(श्रीयशोविजयकृता 'द्वात्रिंशिका' १०।१)

'मुक्खेण जोयणाओ जोगो'

(श्रीहरिभद्रसूरिकृता 'योगविंशका' १)

अर्थात् जिन-जिन साधनोंसे आत्माकी शुद्धि और मोक्षका योग होता है उन सब साधनोंको योग कह सकते हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका लक्षण '**योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः**' कहा है। इसी लक्षणको उपाध्याय यशोविजयजीने इस प्रकार और भी विशद किया है—

समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्।

(पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति)

यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः।

(योगभेदद्वात्रिंशिका ३०)

अर्थात् मन, वचन, शरीरादिको संयत करनेवाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योंकि यही आत्माको उसके साध्य मोक्षके साथ जोड़ता है।

योगका शुद्ध अंग

इस प्रकार सामान्यतः सभी धार्मिक अनुष्ठान योगके अङ्ग हैं, तथापि विशेषरूपसे तो मोक्षप्राप्तिके समीपतमवर्त्ति पूर्वकालका ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्र सूरिने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में कहा है—

अतस्तु योगो योगानां योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः॥ ११॥

केवल उन ज्ञानी योगियोंको जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करनेके पूर्व मन, वाणी और शरीरकी समस्त क्रियाओंका निरोध[3] (संक्षय) करना पड़ता है, सभी बाह्य पदार्थोंका त्याग अर्थात् सर्वसंन्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त करनेमें जब अ इ उ ऋ लृ पञ्चह्रस्वाक्षरउच्चारप्रमित काल शेष रहता है उस समयका जो शुक्ल ध्यान[4] है वही सच्चा मोक्षसाधन अर्थात् योग है। इस अवस्थामें स्थित योगी ही सच्चा शुद्ध योगी है।[5] उसके सङ्कल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। उसके विचारोंका रज, तम या सत्त्वगुणसे भी स्पर्श नहीं होता। अति अल्प समयमें ही शुक्ल ध्यानके द्वारा वह मुक्त हो जाता है। मुक्तको ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ सम्पूर्ण कृतकृत्यता हो जाती है।

योगकी विशेष व्याख्या

जैन आगमोंमें योगका अर्थ मुख्यतया 'ध्यान' लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकारका है—१. आर्त्त, २. रौद्र, ३. धर्म और ४. शुक्ल। इनमें आदिके दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होनेके कारण योगमें अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुक्लध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित मोक्षसाधन है। इसके द्वारा दुःखरूप काष्ठके सहस्रों

---

१. देखिये—सिद्ध हेमचन्द्र-व्याकरण-लघुवृत्ति।

२. 'युजृंपी योगे' गण ७ वाँ। 'युजिं च समाधौ' गण ४ हैमधातुपाठ।

३. तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम्। चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः॥ १०५॥
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च। समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः॥ १०६॥

(गुणस्थान क्रमारोह)

४. अथायोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशितुः। लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत्॥ १०४॥

५. मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंको भी जैनपरिभाषामें 'योग' कहते हैं—'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' (तत्त्वार्थसूत्र ६। १) इसी अर्थसे पराकोटिको प्राप्त शुद्ध योगीको 'अयोगी' कहा है। 'अयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः' यह भी इसी दृष्टिसे कहा गया है।

अरण्य क्षणमात्रमें सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इस विषयमें समाधिशतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निर्युक्ति, अध्यात्मकल्पद्रुमटीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं।

त्रिविध योग

किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसपर अटल श्रद्धा होनी चाहिये। योगके लिये जो-जो कुछ आवश्यक है उसपर तथा जो पूर्णयोगी हैं उनपर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योगका आवश्यक अङ्ग है। इसको जैनदर्शनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं—'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**' (तत्त्वार्थसूत्र १-२)। केवल विश्वास रखकर बैठ रहनेसे कुछ नहीं होता। विश्वासके साथ सम्प्रदायका रहस्यज्ञान भी परिपूर्ण रीतिसे होना चाहिये। इसको सम्यक्श्रुत होना कहते हैं। विश्वास और ज्ञान तो है, पर यदि चरित्रशुद्धि नहीं है—राग-द्वेष-मोहादिसे आत्मा व्याप्त है तो करोड़ों वर्षोंमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये 'सम्यक् चरित्र' होना चाहिये। यह ज्ञानदर्शनचरित्रात्मक 'त्रिविध योग' है। इसके पालनसे योग परिपुष्ट होता है और आत्माका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योगकी पूर्णता ही मोक्षप्राप्ति कराती है। वैदिकदर्शनोंमें जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ हैं वैसे ही जैनदर्शनमें उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योगके विषयमें है—'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**' इसी सूत्रपर आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ है जिसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

जब आत्मा विकासकी दिशामें प्रयाण करता है तबसे मोक्ष प्राप्त होनेकी अवस्थातककी योग्यताके चौदह गुण जैन-आगमोंमें बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्तश्रमणत्व, (७) अप्रमत्तश्रमणत्व, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति, (१०) सूक्ष्म लोभ, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली। पातञ्जलयोगकी आठ भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योगकी जो भूमिकाएँ होती हैं वे भी इन चौदह गुणस्थानोंमेंसे पूर्वके चार गुणस्थानोंमें परिगणित हुई हैं। 'गुणस्थानक्रमारोह' तथा कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति, गोमटसार आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका सूक्ष्म विवेचन है।

अष्ट दृष्टि

आचार्य हरिभद्र सूरिने योगकी आठ दृष्टियाँ बतायी हैं—

मित्रा तारा बला दीप्ता स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां..............................॥

पातञ्जलयोगके जो आठ अङ्ग हैं उनसे इन दृष्टियोंका सादृश्य है।

पञ्चविध योग

अर्वाचीन जैन न्याय-योग-साहित्यके अग्रणी उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने पाँच प्रकारका एक अवान्तर योग भी बताया है—

अध्यात्मं भावनाध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः योगमार्गविशारदैः॥

(योगभेदद्वात्रिंशिका)

योगभेदद्वात्रिंशिकाके अतिरिक्त 'जैनदृष्टियोग' नामक गुजराती ग्रन्थमें भी इन पाँचों भेदोंका विशद विवेचन है।

त्रिविध योग

एक त्रिविध योग और है जो श्रीहरिभद्रयशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है—

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम्।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते॥

अष्टविध योग

महर्षि पतञ्जलि योगविद्याके महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शनमें योगके अङ्ग, लक्षण, परिभाषा, प्रकारादि जो कहे हैं उन्हें अनेक धर्मोंके विद्वानोंने माना और अपनाया है। पीछेके योगसाहित्यपर उन्हींके सूत्रोंकी गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्योंने भी अपनी संस्कृतिके अनुकूल योगसूत्रोक्त नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये हैं, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योगशास्त्रमें पातञ्जलयोगदर्शनके यम-नियमादि अङ्गोंको ही क्रमसे गृहस्थधर्म, साधुधर्म आदि कहा है। श्रीयशोविजयजीने भी आठ अङ्गोंका उल्लेख किया है। जैन योगी आनन्दघनजीने भी अपने पदोंमें आठों अङ्गोंका वर्णन किया है।

प्राणायाम

पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्योंने प्राणायामको योगका चौथा आवश्यक अङ्ग माना है। परन्तु जैनाचार्योंने इसे आवश्यक नहीं माना है। श्रीहेमचन्द्र प्रभृति विद्वानोंने तो इसका निषेध भी किया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः॥

(हैमयोगशास्त्र)

प्राणायाम हठयोग है और हठयोगको जैनाचार्योंने योगमार्गमें अनावश्यक माना है। हरिभद्र सूरिने कहा है—'ध्यानमें बलात् श्वासोच्छ्वासका निरोध न करना चाहिये।' 'पातञ्जलयोगसूत्रकी वृत्ति' में '**प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य**' (योगसूत्र १। ३४) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीयशोविजयजी लिखते हैं—

अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्यां मनोव्याकुलीभावात्। 'ऊसासं ण णिरुं भइ'। (आवश्यकनिर्युक्ति)
'इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधाच्च।'

तात्पर्य, किसी साधकको इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है। परन्तु सबके लिये प्राणायामको आवश्यक अङ्ग जैन विद्वान् नहीं मानते।

त्रिविध आत्मा

यों तो चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही लक्षणका है, परन्तु तद्गत भावोंके तारतम्यसे जैन विद्वानोंने तीन प्रकारका आत्मा माना है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। तीनोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

शरीर-धनादि बाह्य पदार्थोंमें मूढ होकर उन्हींमें जो आत्मबुद्धि धारण करता है वह रजस्तमोगुणी बहिरात्मा है। आत्मामें ही जो आत्मभाव धारण करता और यम-नियमादिको समझता और करता है वह अन्तरात्मा है। मोहादि कर्ममलोंको सर्वथा धोकर जो मुक्तपदको प्राप्त होता है वह परमात्मा है।

उसी परमात्मपदको प्राप्त करनेका साधन योग कहाता है। योगके अभ्यासी मुमुक्षु योगधर्म जानकर उस परमपदकी ओर चलेंगे, यही आशा करके यह लेख पूरा करता हूँ।

ज़रथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग

(लेखक—श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला बी० ए०, पी-एच्० डी०, बार-एट-ला)

ईश्वरप्राप्तिके लिये सभी धर्मोंमें तीन मार्ग दिखलाये गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों योगोंके साधनसे मुक्ति मिलती है ऐसा शास्त्रोंका वचन है। हिन्दूशास्त्रोंमें इन तीनोंका बहुत स्पष्ट और सविस्तर वर्णन है, दूसरे धर्मोंमें भी न्यूनाधिकरूपसे ये तीनों स्पष्ट प्राप्त होते हैं। कदाचित् 'योग' शब्दके अभावके कारण हमलोग सरलतापूर्वक यह बात न समझ सकें परन्तु मूल वस्तु तो यही है कि मुक्तिका मार्ग तीन प्रकारका है और प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार इन तीनोंमेंसे एक उसके अनुकूल होता है।

हमारे ज़रथोस्ती धर्ममें भी इन तीनों मार्गोंका उल्लेख है। अभाग्यवश ज़रथोस्ती धार्मिक साहित्य लगभग समूल नष्ट हो चुका है और इसी कारण जो कुछ थोड़ा-बहुत साहित्य आज उपलब्ध है उसमें यह बात इतनी सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकती है तो भी मननपूर्वक अध्ययन करनेसे और दूसरे धर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह मूल सत्य प्राप्त हो सकता है। हमारे अवस्ता-साहित्यकी इक्कीस पुस्तकें थीं, उनमेंसे केवल दो ही पुस्तकें पूरी बची हैं, दूसरी चारमेंसे इधर-उधरके कुछ अंश प्राप्त होते हैं। जो पुस्तकें पूरी कहलाती हैं उनमें भी कई स्थानोंपर मूलसे इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उन स्थानोंका अर्थ करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। परन्तु सौभाग्यवश मूलस्थापक जगद्गुरु ऋषि ज़रथुस्त्रके मूल श्लोक अभीतक सुरक्षित

हैं और वे ही हमारे धर्मकी भित्तिस्वरूप माने जाते हैं। कोई भी ग्रन्थ न रहकर केवल ये श्लोक ही रह जाते तो भी आज ज़रथुस्त्रधर्मका अस्तित्व रह सकता था। वे मूल श्लोक ज़रथुस्त्रकी 'गाथा' के नामसे विख्यात हैं और पाँच विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन पाँचोंमेंसे प्रथम गाथा सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और उसका नाम अहुन वइति गाथा है। सम्पूर्ण गाथाके २३८ श्लोकोंमेंसे इस प्रथम गाथामें १०० श्लोक आ गये हैं। इस 'अहुन वइति गाथा' नामका मूल अहुन-वर (अहुन-वइर्य) शब्द है जो हमारे धर्मका मूल मन्त्र माना जाता है और जिसके लिये हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि सृष्टि पैदा करनेसे पूर्व स्वयं ईश्वरने इसका उच्चारण किया था और इसीमेंसे सृष्टि उत्पन्न हुई है। ज़रथुस्त्रकी अहुन वइति गाथाको इस अहुन-वइर्यकी टीका समझें तो कोई भूल नहीं है।

दूसरी बातोंको अलग रखकर यदि केवल अहुनवरके गूढ अर्थका मनन किया जाय तो इसीमेंसे योगके तीनों मार्ग निकल आते हैं। इन तीनों मार्गोंको पीछेसे गाथामें विशेष विस्तारसे समझाया गया है। अहुनवरका रहस्य बहुत ही गहन है और उसका ज्यों-ज्यों मनन किया जाता है त्यों-ही-त्यों उसका अधिकाधिक आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होता रहता है। और इसी कारणवश हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'अहुनम्-वइरीम् तनूम् पाइति' अर्थात् अहुन-वइर्य तनका (आत्माका) रक्षण करता है।

अहुनवरके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसपर प्राचीन अवस्ता साहित्यमें भी एक टीका लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त सासानी कालमें[1] इस मन्त्रका पहेलवी भाषामें अनुवाद हुआ था, उसमें इस मन्त्रमें समाये हुए तीन नामोंकी ओर सङ्केत किया गया है। ये तीन नाम 'अमरपवित्र-शक्ति' (अमेषा-स्पेन्ता)-के हैं और ये ही हमारे तीनों मार्गोंका सूचन करते हैं।

सर्वप्रथम हम 'अहुनवर' इस मन्त्रको देखें और उसका अनुवाद करें। इस मन्त्रमें तीन पंक्तियाँ हैं जो प्रत्येक एक-एक वाक्य हैं और प्रत्येकमें एक महान् सत्य समाहित है।

(१) यथा अहू वइर्या अथा रतुश् अषात्-चित् ह चा।

(२) वङ्हेउश् दज्दा मनङ्हो श्योथननाम् अङ्हेउश् मज्दाइ।

(३) क्षथ्रमे-चा अहुराइ आ यिम् द्रिगुन्यो ददत् वास्तारेम्॥

अनुवाद—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि (है) उसी प्रकार ऋषि (भी) अपने अषके कारण (हैं)।

(२) वोहु-मनोका पुरस्कार जीवनके प्रभुके कार्य करनेवालोंको (मिलता है)।

(३) ईश्वरका क्षथ्र उसको (मिलता है) जो लाचारोंका रक्षक बनता है।

(१) प्रथम सत्य यह है कि राजा अथवा इस स्थूल भुवनका जो अधिपति है उसके ही समान उतना ही महान् ऋषि भी गिना जाय। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिस प्रकार राजाका बड़प्पन इस खाकी जहान्में है, इसी प्रकार ऋषिका बड़प्पन आत्मिक जगत्पर है। किस कारणसे ऐसा है? केवल अष के ही कारण। अब इस अषको हमलोग जरा गम्भीरतापूर्वक समझें। हम ज़रथोस्तियोंमें बोलचालमें 'अषोई' शब्दका व्यवहार होता है और उसका अर्थ साधारणतः पवित्रता होता है। परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन समयकी ओर लक्ष्य करते हुए इसके अर्थको देखते जाते हैं त्यों-ही-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता जाता है। वास्तवमें इसका अर्थ अत्यन्त ही गहन है। अवस्ताका यह 'अष' शब्द वेदका 'ऋत' शब्द है। यह बात भाषाशास्त्रसे सिद्ध हो चुकी है[2]। जिस प्रकार ऋत शब्दका वेदमें प्रयोग हुआ है उसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें अषका उपयोग हुआ है। जिस प्रकार देवता ऋतके अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारे यज़द (देवता) 'अषके सरदार' हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है 'अष हे पन्ताओ (**ऋतस्य पन्थाः**)। एक स्थानपर स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'सर्वोत्तम अषकी सहायतासे, सर्वश्रेष्ठ अषकी सहायतासे, हे ईश्वर, हम तुझको देखें, तेरे पास पहुँचें, तेरे साथ मिल जायँ। यह अष (ऋत) ज़रथुस्त्रके धर्मका मूल आधार है और इस ऋतको जो समझता है उसको

१. ई० स० २२८—६५१ तक

२. 'अष' का एक रूप 'अर्त' भी है। वह 'ऋत' के साथ मिलता है, यह तो स्पष्ट ही है।

हमारे यहाँ रतु (ऋषि)-के नामसे कहते हैं। यह ज्ञानमार्ग है। रतु अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्त पुरुष। और ऐसे 'रतुओंके रतु' जगद्‌गुरु ज़रथुस्त्र हैं। जिस प्रकार गीतामें कहा गया है कि '**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**' उसी प्रकार यह अषका मार्ग (ज्ञानमार्ग) हमारे धर्मका मार्ग है।

(२) परन्तु भक्ति बिना केवल ज्ञान मनुष्यको अहङ्कारके गड्ढेमें ढकेल देता है और इसीलिये उस अहङ्कारको जीतनेके लिये प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है। उस भक्तिका एक स्वरूप (या सर्वोत्तम स्वरूप) सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पण करना है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९।२६)

इसी प्रकार अहुनवरमें भी कहा गया है कि मनुष्यको 'जीवनके प्रभुका कार्य करनेवाला' बनना चाहिये और ऐसा करनेसे वोहु-मनो (अच्छे मन)-का पुरस्कार उसे प्राप्त होता है। वोहु-मनो (अच्छा मन) मनकी विशुद्धि प्रदर्शित करता है। मनमेंसे अहङ्कार (मैं-तूँका भाव) दूर करनेके लिये वोहु-मनो प्रकट होता है और उसके होनेपर सब जीवोंके प्रति प्रेम उद्भव होता है। वोहु-मनो प्रेमशक्ति प्रकट करता है और वह प्रेम केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं प्रत्युत सारे जीवोंके लिये है। वोहु-मनो प्राणिमात्रके अधिष्ठाता हैं, खास करके गौ—पशु-रक्षा उनका प्रधान कर्तव्य माना जाता है।

(३) उपर्युक्त दोनों मार्ग तो मनुष्यकी अपनी सिद्धिके काम आते हैं। ज्ञान तथा भक्ति दोनों साधनोंसे मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है परन्तु फिर भी पूर्ण मोक्ष तो उसे नहीं प्राप्त होता। पूर्ण मोक्षकी प्राप्तिके लिये तो ईश्वर (अहुरमजद)-का सम्पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहिये। उसकी समानता प्राप्त करनी चाहिये। इसके लिये अहुरमजदका क्षथ्र (क्षत्र) साधन करना चाहिये। यह साधना गरीब, लाचारोंका रक्षक बननेसे प्राप्त होती है। इसमें कर्ममार्ग स्पष्ट दिखायी देता है। हमारा धर्म इस मार्गपर विशेष ज़ोर देता है और आज भी ज़रथोस्ती लोग (पारसी जाति) कर्म-योगमें आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं।

इस प्रकार ईश्वरप्राप्तिके तीनों मार्ग—ज्ञान, भक्ति और कर्मका समानतापूर्वक साधन करनेसे ही मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है। ऐसी अहुनवरकी शिक्षा है। इसी कारणसे यह मन्त्र परम पवित्र माना जाता है। ईश्वरने सृष्टिरचनासे पूर्व ही यह मन्त्र उच्चारण किया ऐसा कहा जाता है अर्थात् इन नियमोंके आधारपर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और उसकी प्रगतिके लिये ये ही तीनों मार्ग नियत हुए।

एक जगह ऐसा लिखा है कि यदि कोई मनुष्य अहुनवरके मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके पाठ करे और उसका भावार्थ सम्पूर्णरूपसे समझे तो उसे दूसरे सब मन्त्रोंके पाठ करनेके समान ही पुण्यप्राप्ति हो। जिस प्रकारकी त्रिविध योगसाधना इस मन्त्रमें समाहित है उसे देखते हुए इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है।

अमीवर्षा

अमृत धारा देखिये पारब्रह्म बरिखन्त।
तेजपुञ्ज झिलिमिलि झरै, को साधूजन पीवन्त॥
रसहीमें रस बरिखिहै, धारा कोटि अनन्त।
तहँ मन निहचल राखिये, दादू सदा बसन्त॥
घन बादल बिनि बरिखिहै, नीझर निरमल धार।
दादू भींजै आतमा, को साधू पीवनहार।
ऐसा अचरज देखिया, बिन बादल बरिखै मेह।
तहँ चित चातग ह्वै रहा, दादू अधिक सनेह॥

'दादूजी'

ईसाई-धर्ममें योगका स्थान

(लेखक—रेवरेण्ड एड्विन ग्रीब्ज)

'योग' शब्दका प्रचलित अर्थ ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करना ही नहीं है, जो इसका मूल अर्थ है, अपितु उससे उन साधनोंका भी बोध होता है जो उक्त ध्येयकी प्राप्तिमें उपयोगी माने जाते हैं।

सम्भवतः 'योग' शब्दका यह दूसरा एवं लाक्षणिक अर्थ पहलेकी अपेक्षा अधिक विचारकी अपेक्षा रखता है; किन्तु पहले अर्थके सम्बन्धमें हम जिस निर्णयपर पहुँचेंगे उसका अवश्य ही दूसरे अर्थके सम्बन्धमें स्थिर किये हुए हमारे विचारोंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। परमात्माके साथ एकता करनेके कई अर्थ हो सकते हैं और विचारकके मनमें परमात्माका जो स्वरूप होगा उसीके अनुसार उसकी एकताका स्वरूप भी होगा।

कुछ लोगोंके मतमें 'एकता' का अर्थ लीन हो जाना है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अपना कोई भिन्नत्व रह ही नहीं जाता, वह उस परमात्माका ही एक अङ्ग बन जाता है जिसमें वह लीन हो जाता है—वह परमात्मासे अभिन्न ही नहीं हो जाता बल्कि उसके साथ ऐसा घुल-मिल जाता है कि फिर उसका पृथक् अस्तित्व ढूँढ़नेपर भी ध्यानमें नहीं आता। इसे हम एकताकी पराकाष्ठा कह सकते हैं। इससे नीचे उतरकर लोगोंने एकताकी कई श्रेणियाँ मानी हैं। परन्तु कदाचित् उन सभी श्रेणियोंमें योग करनेवालेकी पृथक् सत्ता किसी-न-किसी अंशमें अवश्य रह जाती है—वहाँ एकताका स्वरूप अभिन्नता न होकर अविसंवाद अथवा मेल ही होता है। एकताका अर्थ है परमात्माके साथ एकमन हो जाना—परमात्माके सङ्कल्पके साथ अपने सङ्कल्पको मिला देना। साधक परमात्माकी प्रभुता और सुहृदताको समझकर अपनी दृष्टिको बदलनेकी, अपने भावको परिवर्तित करनेकी तथा अपनी निजी कल्पनाओं और जनसमाजकी युक्तियों और योजनाओंको परित्यागकर, जिनका साधारण जनता अनुगमन करती है, परमात्माके सङ्कल्पों और अभिसन्धिका अनुसरण करनेकी चेष्टा करता है। हम परमात्माके सङ्कल्पोंके अनुसरण करनेकी बात हेतुपूर्वक कह रहे हैं, न केवल किसी मतविशेषका उपन्यास कर रहे हैं, न किसी ऐसे सिद्धान्तवाक्यको दोहरा रहे हैं जिसका अर्थ तो हम न जानते हों और केवल इसलिये ठीक समझते हों कि वह भगवद्वाक्य है। एकताका अर्थ है परमात्माके प्रति इस प्रकार प्रेम-पूर्वक आत्मसमर्पण करना कि जिससे हमारा चित्त उनकी दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठे, हम हृदयसे वही चाहें जो उन्हें प्रिय हो और प्रतिदिन, नहीं-नहीं हर घड़ी अपना आचरण एवं व्यवहार ऐसा प्रशस्त एवं परिष्कृत बनानेकी चेष्टा करें कि जिससे मनुष्यका मनुष्यके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये इसका ईश्वरीय आदर्श हमारे सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाय।

एक सच्चे ईसाईका अपने भगवान्‌के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये इस विषयमें ईसामसीहके उपदेशोंका स्थूल आशय स्पष्ट ही है। स्वयं उनका अपने परमपिताके साथ जो सम्बन्ध है उसमें कई बातें बिलकुल निराली हैं जिनके कारण उस सम्बन्धके स्वरूप और लक्षणोंके निर्देश करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। जहाँ हमारे प्रभुने 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं' ("I and my Father are one") इस प्रकारके वाक्य कहे हैं वहाँ तो यह कठिनाई और भी सुस्पष्ट हो जाती है, एक तरफ तो उनका सम्बन्ध हमें इतना घनिष्ठ प्रतीत होता है कि उसे समझानेके लिये हमें मानव-जगत्‌में कोई उदाहरण ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता। किन्हीं दो मनुष्योंमें मन और हृदयकी कैसी ही एकता, अभिन्नता क्यों न हो, वह उसकी तुलनामें नहीं ठहर सकती। दूसरी ओर हम उपर्युक्त वाक्यका अद्वैतपरक अर्थ भी नहीं कर सकते क्योंकि उस हालतमें 'मैं और मेरे पिता' इस प्रकारका द्वैत नहीं रह सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो सकता है अर्थात् अद्वैत नहीं है; दोनोंमें घनिष्ठ संयोग है, किन्तु सर्वथा अभेद नहीं। यदि हम इतनी ही बात पाठकोंके सामने उत्तरके रूपमें रखें तो वह कदाचित् अपूर्ण समझी जायगी और उससे सबका समाधान न हो सकेगा। हमने तो केवल इस बातको समझनेकी कोशिश की है कि हमारे सामने एक ऐसी पहेली है जिसको बूझना हमारे लिये कठिन है, नहीं-नहीं, हमारी

बुद्धिकी सीमाके बाहर है, किन्तु फिर भी उसे हम एक महान् तथ्यके रूपमें अनुभव करते हैं। यह तथ्य हमारी बुद्धिके लिये अगम्य होनेपर भी हमारे समस्त चैतन्यांशको इस निश्चयसे आपूरित कर देता है कि वह रहस्य एक सत्य तत्त्व है, केवल हमारे मनकी कल्पना नहीं है। अब रही परमात्माके साथ हमारे सम्बन्धकी बात, सो इस विषयमें ईसामसीहका सिद्धान्त सुतरां स्पष्ट है। बाइबिलमें एक वाक्य भी ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अस्पष्ट रूपसे भी यह संकेत किया गया हो कि ईसाइयोंका ध्येय परमात्मामें मिल जाना है। बाइबिलमें एकताका जो वर्णन मिलता है उसका अर्थ है परमात्माकी इच्छाको जीवनका सञ्चालक एवं पथप्रदर्शक मानना, अपने-आपको ईश्वरके मन तथा अभिसन्धिमें मिला देना और मनमें इस बातका निश्चय रखना कि मनुष्यका परम ध्येय यही है, और उसीमें आनन्दित होना। महात्मा पॉलके पत्रोंमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं जिनका भाव है—मैं जीता हूँ पर अब मैं नहीं, मेरे अन्दर ईसामसीह जीते हैं। (I live and yet no longer I, but Christ liveth in me.) परन्तु इस प्रकारके वाक्यका सम्भवतः कोई भी इससे अधिक अर्थ नहीं लगावेगा कि यह कहनेवाला पुरुष ईसामसीहको अपना गुरु मानकर उनकी 'सर्वतोभावेन वश्यता' स्वीकार करता है, अपनेको ईसामसीहके सञ्चालनमें रखकर उन्हींसे शक्तिसञ्चार, योगक्षेम एवं अनुग्रहकी आशा रखता है। उसीके आगे ये शब्द मिलते हैं—'और अब जो जीवन इस शरीरमें है वह उन्हीं ईश-पुत्रमें विश्वासका जीवन है जिन्होंने मुझे प्यार किया और मेरे लिये अपने-आपको दे दिया।'

'(and that life which I now live in the flesh I live in faith, the faith which is in the Son of God, who loved me and gave Himself for.)'

रहस्यवादियों (mystics)-में कुछ लोग अवश्य ऐसे मिलते हैं जो परमात्मामें लीन हो जानेको ही ईसाईजीवनका एकमात्र परमपुरुषार्थ मानते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त अपवादस्वरूप ही है, बहुसंख्यक ईसाई स्त्री-पुरुषोंके साधारण विचार इस प्रकारके नहीं हैं। एक ईसाईके जीवनकी चरितार्थता परमात्माके साथ एक हो जानेमें नहीं है, बल्कि उनके साथ पूर्ण साहचर्यमें है।

हमारे आलोच्य विषयका दूसरा अंश है वे साधन जिनके द्वारा ईश्वरका साहचर्य प्राप्त हो सके। इस सम्बन्धमें लोगोंने समय-समयपर कई तरहके विचार प्रकट किये हैं, परन्तु इस विषयमें कोई ऐसा सिद्धान्त सामने नहीं रखा जा सकता जो सर्वमान्य हो।

अधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि बाइबिलमें हमारे प्रभुका जो जीवनवृत्तान्त तथा उपदेशोंका संग्रह है उसमें ऐसी किसी बातका उल्लेख बहुत ही कम है जिसका योगसम्बन्धी साधनाओंसे निकट सम्बन्ध हो। उपदेशकार्य आरम्भ करते समय ईसामसीहने चालीस दिनका उपवास किया था, ऐसा वर्णन मिलता है; किन्तु उन्होंने इस तपको किसी साधनके रूपमें किया हो ऐसा नहीं मालूम होता, बल्कि कुछ समयतक वह अकेले जङ्गलमें रहे थे और वहाँ वह अपने भावी उपदेशकार्यको सोचनेमें इतने तल्लीन हुए कि उन्हें खाने-पीनेकी सुध भी न रही। एकाध जगह अवश्य 'प्रार्थना और उपवास' का उल्लेख आता है, और ऐसा भी वर्णन मिलता है कि प्रभु कभी-कभी एकान्तमें बैठकर प्रार्थना तथा ध्यानके लिये समय निकाला करते थे, परन्तु साधारण तौरपर हमारे प्रभुके जीवनमें तथा उनके उपदेशोंमें योग-साधनाकी आवश्यकताके सम्बन्धमें एक भी प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सादा एवं साधारण मनुष्योंका-सा जीवन व्यतीत करते थे तथा सामान्य कोटिके स्त्री-पुरुषोंसे निःसङ्कोच होकर मिलते थे, यहाँतक कि उन्हें सामाजिक उत्सवोंमें भी सम्मिलित होनेमें किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं होता था। उनकी दृष्टिमें ध्यान कोई बाह्यसाधन नहीं है, अपितु मनकी वृत्तिको अनवरतरूपसे भगवान्की ओर लगानेका नाम है जिससे कि जीवनमें अव्यक्त जगत्के सनातन सत्य तत्त्वोंकी सन्निधिका अनुभव होने लगे। 'वसुन्धरा भगवान्की है और भगवान्की साङ्गता है।' भगवान्ने मनुष्यके ही उपयोग एवं भोगके लिये सारे भौतिक पदार्थोंकी रचना की है। इसलिये उनका परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल इस बातको ध्यानमें रखनेकी कि कहीं ये पदार्थ हमारे सिरपर सवार होकर हमें अपने अधीन

एवं वशवर्ती न कर लें, हमें अपना गुलाम न बना लें। मनुष्यको चाहिये कि वह वस्तुओंका यथार्थ मूल्य आँकना, उनके गुण-दोषोंका विवेचन करना सीखे, आध्यात्मिक एवं सनातन तत्त्वोंका आधिभौतिक एवं जागतिक तत्त्वोंके द्वारा पराभव न होने दे। प्रार्थना, निर्भरता, वश्यता, (ईश्वर एवं मनुष्यमात्रके प्रति) प्रेम, ये ही योगसाधनाएँ हैं जिन्हें ईसामसीहने परमात्माके अधिकाधिक साहचर्यमें सहायक बताया है।

प्रभु ईसामसीहके कालसे लेकर अबतक ईसाइयोंने जिन-जिन योगसाधनाओंका अभ्यास किया है उनकी कथा बहुत लम्बी-चौड़ी और वैचित्र्यपूर्ण है। ईसवी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उपवासादि कठोर व्रतचर्याओंको कई लोग बहुत उपयोगी मानते थे और उसके बाद भी भिन्न-भिन्न युगोंमें कुछ सम्प्रदायोंकी ऐसी ही धारणा रही है। परन्तु इस प्रकारकी धारणा अधिकसंख्यक ईसाइयोंमें न तो सर्वमान्य ही रही है, न सामान्य ही। ईसाइयोंको बराबर चेतावनी दी जाती रही है कि वे भोगविलासकी ओर अग्रसर न हों, इन्द्रियोंके दास न बनें। उन्हें यह भी शिक्षा दी जाती रही है कि वे अपनी सम्पत्ति और अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माकी सौंपी हुई पवित्र धरोहर समझें, उनका विवेकपूर्वक उपयोग करें और उदारतापूर्वक उनका दूसरोंको भी उपभोग एवं उपयोग करने दें। उनको इस सम्बन्धमें सतर्क रहनेका उपदेश दिया जाता रहा है कि भौतिक सुख उनकी आध्यात्मिक दृष्टिको आवृत न कर दें, वे लोग इस जगत्‌को सराय-सा समझकर उसमें मुसाफिरोंकी तरह रहें, तथा इस बातको सदा स्मरण रखें कि हमारा वास्तविक और सनातन घर आगे है, किन्तु साथ-ही-साथ जो ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हमें रास्तेमें पड़ी हुई मिलें उनका धर्माविरुद्ध उपभोग भी करते रहें।

कदाचित् योगका सर्वसुलभ रूप उपवास है। रोमन कैथॉलिक तथा प्रॉटिस्टण्ट दोनों मतोंके अनेक अनुयायी उपवासको बहुत अधिक उपयोगी मानते हैं और खास-खास अवसरोंपर अवश्य उपोषित रहते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो नियमितरूपसे उपवास तो नहीं रखते, किन्तु उसे आत्मोन्नतिका एक वास्तवमें उपयोगी साधन अवश्य स्वीकार करते हैं। वे यह समझते हैं कि ऐसे समयमें जब भौतिक सुखोंकी आत्मापर विजय होती दीखती है, उपवाससे मनुष्यको बड़ा साहस एवं बल मिलता है। इस वर्गके लोग उपवासको प्रायश्चित्तके रूपमें न देखकर आत्मोन्नतिका एक उपकारी साधन मानते हैं और यह समझते हैं कि उपवास जीवनमें आत्माके प्रभुत्वका द्योतक है और इस बातको भी सूचित करता है कि हम भौतिक जगत्‌के आधिपत्यको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

इन पंक्तियोंका लेखक इस बातको जानता है कि ईसाइयोंमें बहुत लोग ऐसे हैं जिनकी यह धारणा है कि ईसाईधर्ममें योगका महत्त्व जितना वह समझता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। वे ऐसा मानते हैं तो मानें। लेखक उनके इस भावका आदर करता है और यदि इस प्रकारकी साधनाओंका महत्त्व उनके अनुभवमें आया है तो उनकी बातका वह खण्डन भी नहीं करता, बल्कि उनके अनुभवकी सत्यताको स्वीकार करनेमें भी उसे कोई आपत्ति नहीं है। ईसाईधर्मका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसके अन्दर ईसाईजीवनकी अभिव्यक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभवोंके लिये गुंजाइश है। सबसे मुख्य बात तो है ईश्वरके सम्बन्धमें क्रमशः अधिकाधिक जानना और उन्हें जानकर उनसे प्रीति करना, उनपर भरोसा करना और उनकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना। ईश्वरको जाननेका उपाय है ईसामसीहकी शरणमें आना और उन्हींको एकमात्र गति मानना और प्रार्थना, निर्भरता और वश्यताके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्त करना।

कबीरका योग

(लेखक—श्रीक्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन)

योग और क्षेम—इन दो शब्दोंको युक्त कर एक साथ व्यवहार करनेकी प्रथा हमारे देशमें प्रचलित है (गीता ९। २२)। शङ्कराचार्य योगको अप्राप्तकी प्राप्ति और क्षेमको उसकी रक्षा बताते हैं। श्रीधरस्वामी भी यही बात कहते हैं।

अत्यन्त प्राचीन कालसे ही मनुष्यने योगके मर्मको अनुभव किया है। जिस मोहन-जो-दरोको पण्डितोंने आर्योंके आगमनका भी पूर्ववर्ती बताया है उसमें भी सुन्दर-सुन्दर योगियोंकी मूर्तियाँ पायी गयी हैं। उन मूर्तियोंको देखते ही जान पड़ता है कि ये योगियोंकी मूर्तियाँ हैं जो किसी-न-किसी योगसाधनाको सूचित करती हैं।

असीम अनन्त विश्वतत्त्वसे ही मनुष्यका उद्भव हुआ है। विश्व-सागरमेंसे अपना व्यक्तित्व लेकर मनुष्य एक लहरकी नाईं प्रकट हुआ है। इसीलिये यह विश्वतत्त्व निरन्तर नानाभावसे उसे आकृष्ट कर रहा है। उसका जीवात्मा भी सर्वदा विश्वात्माके साथ युक्त होना चाहता है। यह व्याकुलता ही योगका मूल है।

इस योगकी हम दो प्रकारसे उपलब्धि कर सकते हैं—भावोंसे या क्रियासे। हमारे देशके साधकोंने इन दोनों प्रकारके योगोंके वैचित्र्यकी नाना रूपसे प्रार्थनाएँ की हैं।

मिलनका एक मूलमन्त्र यह है कि जो लोग मिलेंगे उनमें परस्पर साधर्म्य होना चाहिये। समजातीय होनेसे भी मिलन होता है, जैसे जलके साथ जलका, और परस्पर परिपूरक (complementary) होनेसे भी योग होता है, जैसे शिवके साथ शक्तिका। इस प्रकारकी परिपूरकताके क्षेत्रमें एक-दूसरेके लिये व्याकुल आकांक्षा रहती है, इसीलिये ऐसा योग एक साधनामात्र न होकर एक अनुपम रस-वस्तु हो उठता है।

मनुष्य और विश्व—विश्वात्मामें जो योग है उसमें समजातीयता और परिपूरकता दोनों ही भाव हैं। विश्वदेह और मानवदेहमें जो योग है वह समजातीयताका ही योग है, यद्यपि उसमें कुछ परिमाणगत भेद भी है। विश्वात्मा और मानवात्मामें जो योग है वह परस्पर परिपूरक है। यद्यपि दोनों ही कुछ हदतक एक ही नियम मानकर चलते हैं तथापि जीवात्मा सीमाबद्ध है, विश्वात्मा या परमात्मा असीम। अथवा इस भेदके कारण ही दोनोंके योगमें इतनी प्रबल आकांक्षा और व्याकुलताका रस वर्तमान है।

विश्व और मानव दोनोंमें ही एक साधर्म्य है। दोनों ही एक-एक सम्पूर्ण जगत् हैं। इसीलिये ग्रीक दार्शनिकोंने विश्वको (Macrocosm) या विराट् जगत् कहा है, और मानवको (microcosm) या क्षुद्र जगत् कहा है। नव प्लेटोनिक (नौ-अफलातूनी) दार्शनिकोंने दार्शनिकभावसे इसकी नाना प्रकारसे आलोचना की है। फिर भी इसके रसरूपका अनुभव किया गया है भारतवर्षकी और सूफियोंकी साधनामें, भक्तों और कवियोंकी वाणीमें।

नौ-अफलातूनियोंने ही केवल विश्व और मानवमें यह साधर्म्य नहीं दिखाया। उपनिषदोंमें देखते हैं—'इस विश्व आकाशमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष हैं, वही हमारे आत्मामें भी तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं।' (बृहदारण्यक० २।५;१०।१४) तभीसे यह भाव और दोनोंके बीचकी मिलन-व्याकुलता ही भारतवर्षके सभी भक्त और साधक कवियोंकी प्राण-वस्तु रही है।

इसीका क्रियासाध्य (Practical)-रूप मोहन-जो-दरोकी मूर्तियोंमें दिखायी पड़ता है। वहाँका साहित्य तो हमलोगोंको मिला नहीं, मिली हैं सिर्फ कुछ मूर्तियाँ। मूर्तिमें Idea अर्थात् भीतरकी मर्मकथा तो रखी नहीं जा सकती, इसीलिये वहाँकी भीतरी बात हम नहीं पा सके, पा सके हैं बाहरी योगचेष्टाका रूप।

यह योगचेष्टा भी इस देशमें कम प्राचीन नहीं है। खूब सम्भव है, यह वेदपूर्व सभ्यताकी एक विशेष सम्पत्ति हो। पहले-पहल वैदिक आर्यलोग इसके प्रभावमें नहीं आये, पर बादमें उन्हें इससे प्रभावित होना पड़ा था, इसे आर्यचिन्तासे दूर नहीं रखा जा सका। परवर्ती भारतीय साहित्य तो इडा, पिङ्गला, चक्र,

कमल, कोश, नवद्वार, मूलाधार, सहस्रार प्रभृति तत्त्वोंसे भरा पड़ा है। अथर्ववेदमें भी इसका कुछ-कुछ आदि आभास मिलता है।

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(अथर्वसंहिता ८।२।३१)

अष्टचक्र और नवद्वारसे युक्त है यह अजेय देवपुरी, यहींपर जो हिरण्मयकोश आवृत है वही स्वर्ग है।

तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

(अथर्व० १०।२।३२)

त्रि-अरयुक्त त्रिप्रतिष्ठित उस हिरण्मय कोशमें जो आत्मयुक्त यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष) विराजमान है, उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं।

इस स्थानपर परवर्ती योगशास्त्रकी अनेक बातें देख पड़ती हैं। इसके बाद एक और अपूर्व मन्त्र है— इसमें उस अन्तःस्थित अधिष्ठान पुरुषकी बात और भी चमत्कारपूर्ण ढंगसे वर्णित है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

तीनों गुणोंसे आवृत, नवद्वारोंवाला यह कमल है। उसमें वास करता है वही यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष); उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं। इसीमें योगशास्त्रकी सबसे बड़ी बात है।

इडा-पिङ्गला, शिव-शक्ति, चन्द्र-सूर्य, ज्ञान-प्रेय प्रभृतिके मिलनसे होकर नाना आकारों और नाना प्रतीकोंमें वियुक्त मानव और विश्वात्माके मिलनकी ही चेष्टा होती आयी है। एक मूलाधारसे वियुक्त होकर दो धाराएँ हुई हैं, उन्हें फिरसे एक वेणीमें मिलाना होगा। अधोधारा षट्चक्र वेध करके ऊपर ऊर्ध्व-लोकमें जायगी।

वह्निपुराण-क्रियायोगसार, विष्णुपुराण (षष्ठ अंश सप्तम अध्याय), सौर पुराण (बारहवाँ अध्याय), ब्रह्मवैवर्त (कृष्णखण्ड), गरुडपुराण (चौदहवाँ अध्याय, उनचासवाँ अध्याय) और भागवतमें नाना भाँतिसे इस विषयका वर्णन है। देहके शुभाशुभ सम्बन्धके साथ भी उसके सम्बन्धकी बात लिङ्गपुराण (नवाँ अध्याय), मार्कण्डेयपुराण (पैंतीसवाँ अध्याय) आदिमें लिखी है। योगका भाव-पक्ष भी गीतामें बहुत प्रकारसे बहुत तरहकी भाषाओंमें व्यक्त हुआ है। इस दृष्टिसे योगवासिष्ठ बड़ा मूल्यवान् ग्रन्थ है। तन्त्रों और शैवागमोंमें, यहाँतक कि उत्तर-कालीन बौद्धग्रन्थोंमें भी योगका बहुत कुछ सन्धान पाया जाता है।

इसके बाद योगी और सिद्धाचार्योंके निकट आना पड़ता है। ये सब तो योगमतके ही ग्रन्थ हैं। गोरक्षसंहितामें अथसे इतितक क्रियासिद्ध योगकी ही बात है। मेरे अपने अध्ययनका विषय मध्ययुगके सन्तोंकी वाणी है। इस युगमें भी सैकड़ों भक्तोंकी वाणियोंमें योगकी बात नाना भावोंसे वर्णित हुई है। इनमेंसे केवल कबीरकी ही बात यदि ली जाय तो क़बीरका साहित्य भी तो एक समुद्र है।

कबीरकी आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिये वह ग्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। इसीलिये उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओंको जोरसे पकड़ रखा है। फिर भी उन मतोंकी सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकता कबीरके साथ मेल नहीं खाती। इसीलिये कबीर इन सबको ही अपने ढंगसे अपना सके हैं। उनके क्रियाकाण्ड, उनकी साधना और उनकी संज्ञाओंको भी कबीरने अपने विशेष भावसे व्यक्त किया है। कबीर भक्त हैं, प्रेमिक हैं, योगी हैं, मानवरससे भरपूर हैं, मैत्री, युक्ति आदिसे परिपूर्ण हैं। इस तरह उन्होंने जिन मतवादोंको ग्रहण किया है उनमेंसे प्रत्येक कुछ हदतक उनका गृहीत है, कुछ हदतक अपनी विशेष व्याख्यासे उन्होंने अपने समान कर लिया है, कुछ हदतक परित्यक्त है और किसी हदतक उनके कठोर आघातोंसे आहत है। कबीरके योगमतवादके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने कुछ अंशोंमें इसे मान लिया है, कुछ अंशोंतक विशेष भावसे आत्मसात् कर लिया है, कुछ अंशोंतक छोड़ दिया है और फिर किसी-किसी अंशपर कठोर प्रहार भी किया है। कबीर-साहित्यकी आलोचना करते समय एक बात विशेषरूपसे मनमें उठा करती है। यह साहित्य तो बहुधा विचित्र है और नाना सम्प्रदायोंद्वारा संग्रह किया गया है। फिर कौन-सी वाणीका आश्रय करके आलोचना की जाय? योगमतकी आलोचनाके इस प्रसङ्गमें मैंने

काशीकी नागरी-प्रचारिणी सभाके संस्करणका ही आश्रय लिया है।

कबीरके अनेक पदोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है कि ठीक पूर्ववर्ती योगियोंकी, यहाँतक कि कभी-कभी हू-ब-हू वे ही बातें पढ़ रहे हैं। जैसे—

'प्रथमे गगनकी पुहमी प्रथमें प्रभु प्रथमे पवन कि पाणी।'

(पदावली १६४)

कबीरकी प्रश्नोत्तरी और प्रहेलिकाएँ बिलकुल प्राचीन योगियोंके समान हैं। इसीलिये इन प्रहेलिकाओंको 'गोरखधन्धा' कहते हैं। कबीरका निम्नलिखित पद भी योगी-पदोंके ही समान है—

सुंनिमंडलमें घर किया जैसैं रहै सिचांनां।
उलटि पवन कहाँ राखिये कोइ भरम बिचारै॥
सांधै तीर पतालकूं, फिरि गगनहिं मारै।

ठीक इसी प्रकारका एक और पद परिशिष्ट (२०७) में है।

मूल दुआरै बंध्या बंधु। रबि ऊपर गहि राख्या चंदु॥
पच्छम द्वारै सूरज तपै। मेर डंड सिर ऊपर बसै॥

....

खिड़की ऊपर दसवा द्वार। कहि कबीर ताका अंत न पार।

योगके सम्बन्धमें भी कबीरके वैचित्र्यका अन्त नहीं। वह पवन उलटकर षट्-चक्रभेद करके शून्य गगनमें समाहित होना चाहते हैं।

उलटे पवन षटचक्र बेधा मेरडंड सर पूरा।
गगन गरजि मन सूँनि समाँनाँ बाजे अनहद तूरा॥

(पद ७)

कभी कहते हैं, 'मनको ही उलटकर उसमें भरना होगा।.......पवन उलटकर षट्चक्र वेध करके 'शून्य सुरति' में ही 'लय' लगाना होगा—

मन रे मनहीं उलटि समाँनाँ।

....

उलटे पवन चक्र षट् बेधा सूँनि सुरति लै लागी॥

इत्यादि (पद ८)

कभी वह द्वादश कूपसे वनमालीके समान नीर-धारा ऊपरकी ओर उलटकर सुषुम्णाका कूल पूर्ण कर देना चाहते हैं—यह धारा दस दिशाओंमें ही फुलवारी पावेगी।

द्वादश कुआँ एक बनमाली उलटा नीर चलावैं।
सहजि सुषमना कूल भरावै दह दिसि बाड़ी पावै॥

(पद २१४)

कभी-कभी ईंधन जलाकर जिस प्रकार भट्ठीसे सुरा चुआ लेते हैं, उसी प्रकार अन्तरके महारसको गगनमें चुआकर उसी सुरामें मत्त होना चाहते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि इस गगनरसको उन्होंने भक्तके समान 'रामरस' बना लिया है। उनके योग और भक्तिसम्बन्धी मत इसी प्रकार युक्त हैं। इसी रामरसमें मतवाला होना ही कबीरकी एकान्तवासना है।

गगन साल चुए मेरी भाठी। संचि महारस तन भया काठी।
वाकौ कहिये सहज मतवारा। पीवत रामरस ज्ञान बिचारा॥

....

(परिशिष्ट पद ५८)

'चन्द्र और सूर्य ये दोनों ज्योतिके स्वरूप हैं। इसी ज्योतिके अन्तरमें अनुपम ब्रह्म विराजमान हैं। ऐ ज्ञानी, वहींपर ब्रह्म-विचार करो—

चंद सुरज दुइ जोति सरूप। जोति अन्तरि ब्रह्म अनूप॥
करु रे ज्ञानी ब्रह्म बिचारू। (इत्यादि परिशिष्ट पद ६७)

कभी-कभी कबीरने योगीके भेषको रूपककी भाँति ग्रहण करके, सुरति-निरति आदिद्वारा सजाया है।

अवधू जोगी जगथैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा।

(पद ६९)

निरति मुद्रा और सुरति सिंगासे सज्जित होकर वह योगी जगत्‌में 'चेतन-चौकी' पर बैठकर उस मधुर महारसको पान करता है, जिस महारसको इस अन्तरकी भट्ठीमें चुआया गया है। वहाँ बैठकर वह दुनियाकी ओर ताकता भी नहीं—

बसै गगनमें दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहिं छाड़ै, पीवै महारस मीठा॥

(पद ६९)

गगनभट्ठी चुआकर जिस अमृतरसका निर्झर झरा करता है, उसे ही पान करना होगा। रसमें ही झरा करता है वह रस।

गगन ही भाँठी सींगी करि चूँगी कनक कलस एक पावा।
तहुआँ चवै अमृत रस नीझर रसहीमें रस च्वावा॥

(पद १५३)

यहींपर मनको मत्त कर देनेवाला 'रामरसायन'

पान करना होगा। दुनियामें सब भ्रमकी साधनामें भूले हैं—

....

यह दुनियाँ काँइ भरम भुलानी
मैं राम रसाइन माता॥ (वही पद)

गगनमण्डलमें घर करना होगा। क्योंकि वहीं सदा अमृत झरा करता है, सदानन्द उपजता है; बङ्कनालका रस पान करना होता है—

अवधू गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनालि रस पीवै॥
इत्यादि (पद ७०)

कभी-कभी कबीर अधोधाराको ऊर्ध्वमें उठानेके लिये जिन सब आयोजनोंकी ज़रूरत है उन्हें रूपकके रूपमें सजाकर लय, पवन, मन, सत्य, सुरति प्रभृतिकी सहायतासे सहज ही उस धारामें चलाना चाहते हैं—

ल्यौकी सेज पौनका ढीकूँ मन मटकाज बनाया।
सतकी पाटि सुरतिका चाठा सहज नीर मुक लाया॥
(पद २१४)

कभी कबीरका यह योगसम्बन्धी सारा आयोजन रूपकके समान ही है। यद्यपि वह कहते हैं—'हे अवधूत! मेरा मन मत्त हो गया है, उन्मनिपर चढ़कर मनने उस महारसको मग्न होकर पान किया है, इसीलिये त्रिभुवन दीप्त हो गया है, उज्ज्वल हो गया है—

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।

....

(पद ७२)

किन्तु इस महारसको चुआनेके लिये उन्होंने ज्ञानको किया है गुड़ और ध्यानको किया है महुआ। मन धाराको भट्ठी बनाया है—

गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुआ भाठी मन धारा।
(परिशिष्ट पद ६२, एवं पद ७२)

इससे भी अधिक रूपक १५५ नम्बरके पदमें है—

एक बूँद भरि देइ रामरस ज्यूँ भरि देइ कलाली।
काया कलाली लाहनि करिहूँ गुरु शबद गुड़ कीन्हाँ।
काम क्रोध मोह मद मंछर काटि काटि कस दीन्हाँ॥
इत्यादि (पद १५५)

योगियोंका काम ही है, सारङ्गी बजाकर गानके सुरमें सबके चित्तको जागरित करना। यह बात भी कबीर रूपकसे दिखाना चाहते हैं—वह योगी इस तनुयन्त्रको बजाता है। इसीलिये धर्मके दण्डमें, सत्यकी खूँटीमें, तत्त्वकी ताँत बाँधकर यह यन्त्र रचा गया है। मनके निश्चल आसनपर बैठकर रसनासे जपो उस रसको। इस प्रकार संसारका आवागमन छूट जाता है।

जोगिया तनकौ जन्त्र बजाइ, क्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ॥
तन करि ताँति धर्म करि डाँड़ी, सतकी सारि लगाइ।
मन करि निहचल आँसन निहचल, रसनाँ रस उपजाइ॥
(पद २०८)

यहाँके पद २०४, २०५, २०९, २१० और २११ में नानाभावसे योगको अध्यात्मसाधनाके अर्थमें प्रयोग किया गया है।

उन दिनों एक तरफ तो थी प्रबल मुसलमानी साधना और दूसरी ओर थी योगियोंकी योग-साधना। कबीरने दोनोंको ही स्वीकार किया है, पर अपने रास्तेसे। मुसलमान-धर्मपर उन्होंने कम आघात नहीं किया (देखिये—साचकौ अङ्ग ५—९ इत्यादि)। योगियोंके ढोंगपर भी उन्होंने कठोर रूपसे आघात किया है। **'जोगी पड़े कि जोग कहै घर दूर है'** इत्यादि कबीरके ही तीव्र कशाघात हैं। मन-ही-मन शायद उन्होंने समझा था कि आघात करनेसे कोई लाभ नहीं, इसीलिये उन सारी बातोंको रूपकके द्वारा व्याख्या कर आत्मसात् कर लेना चाहा है।

मुसलमानके लिये उनका कहना था कि मनको कर लो मक्का और देहीको करो किबला। इस काया-मसज़िदमें ही तो दस दरवाजे हैं, वहीं जाकर बाँग दिया करो—

मन करि मक्का किबला करि देही। बोलनहार परम गुरु एही॥
कहु रे मुल्ला बाँग निवाज। एकै मसीति दसै दरवाज॥
(परि० पद १५७)

उन दिनोंके साधारण लोक-प्रचलित योगमतवादी योगियोंके प्रति भी उनका प्रहार मामूली नहीं है। जोगी दण्ड, मुद्रा, कन्था प्रभृति लेकर भ्रमका भेख धरे घूमा करते हैं। अरे पागल! आसन और पवन दूर कर दे और कपट छोड़कर नित्य हरिको भज। जिसे तू चाहता है वह स्वयं त्रिभुवनको भोग रहे हैं, फिर संसारमें तुम्हारी इस योग-साधनका अर्थ क्या है?

डंडा मुद्रा खिंथा आधारी। भ्रमके भाइ भवै भेखधारी॥
आसन पवन दूरि करि बवरे। छोड़ि कपट नित हरि भज बवरे॥
जिहि तू जाचहि सो त्रिभुवनभोगी। कहि कबीर कैसो जग जोगी॥

फिर इसी योगीको समझाकर वह अपना लेते हैं— 'पागल! मनकी मैल छोड़ दे। सिङ्गा, मुद्रा वगैरह दिखाकर लोगोंको ठगनेसे क्या लाभ है? विभूति लगानेसे ही क्या होता है?'

आसन पवन कियैं दिट् रहु रे। मनका मैल छाँडि दे बौरे॥
क्या सिंगी मुद्रा चमकायें। क्या बिभूति सब अंग लगायें॥
(पद ३५५)

इसके बाद रूपक दिखाकर वह योगीके मतको आत्मसात् ही कर लेना चाहते हैं। 'वही तो योगी है, जिसकी मुद्रा है मनमें, अपनी साधनामें वह रात-दिन जगा रहता है। मनमें ही है उसका आसन और मनमें ही है उसकी स्थिति। मनमें ही उसका जप-तप है, मनमें ही बातचीत है। मनमें ही है उसका खप्पर, मनमें ही सिङ्गा, वहींपर वह अनाहत नाद भी बजाता है। पञ्चको दग्ध करके ही वह विभूति बनाता है। कबीर कहते हैं, वही तो जीतेगा लङ्का'—

सो जोगी जाके मनमैं मुद्रा। रात दिवस ना करइ निद्रा॥
मनमें आसन मनमें रहनाँ। मनका जप तप मनसूँ कहनाँ॥
मनमें खपरा मनमें सींगी। अनहद बेन बजावै रंगी॥
पंच पर जारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥
(पद २०६)

कबीरने उसीको सच्चा योगी बताया है जो लोक-प्रचलित योगीपनके अतीत है। अर्थात् सारे संकीर्ण विधि-विधानोंसे मुक्त साधक ही कबीरका चिर-आकांक्षित साधक है। ऐसे साधकका न तो कोई दल होता है और न कोई सम्प्रदाय। दल बाँधते ही नाना मिथ्या आवर्जना अधिकार जमा लेती हैं। इसीलिये उनका कहना है 'बाबा! जिस योगीका न मेला है और न तीर्थ, वही एक शब्दहीन योगी है। उसके पास झोली नहीं, पत्र नहीं, विभूति नहीं, बटुआ भी नहीं; वही अनाहत वेन बजाता है'—

बाबा जोगी एक अकेला। जाके तीरथ बरत न मेला॥
झोली पत्र बिभूति न बटवा। अनहद बेन बजावै॥
इत्यादि (पद २०७)

ऐसा ही योगी तो 'मनका मानुष' है। इसे बाहर पाया कैसे जाय? इस योगीका मर्म जो समझता है वही राममें रमता है। त्रिभुवन उसे उपलब्ध होता है। प्रकट कन्थामें छिपा हुआ है वह गुप्त आधारी। उसमें जो मूर्ति है वही तो इस जीवनका प्रिय है। प्रभु निकट ही हैं, लोग उन्हें दूर खोजा करते हैं। ज्ञानगुहामें भर लो सींगा। कबीर कहते हैं कि जो भक्त प्रतिक्षण अमृत-वल्लीका रस पान करता है वही युग-युग जीता है।

जो जोगियाकी जुगति बूझै। राम रमैं ताको त्रिभुवन सूझै॥
परगट कंथा गुपुत अधारी। तामैं मूरति जीवनि प्यारी॥
है प्रभु नेरैं खोजैं दूरी। ग्याँनगुफामैं सींगी पूरी॥
अमरबेलिको छिन छिन पीवै। कहैं कबीर सो जुग जुग जीवै॥
(पद २०५)

सचमुच ही जो योगी है उसकी साधना विश्वब्रह्माण्डको लेकर है। वह एक मुट्ठी भीखके लिये घर छोड़कर नहीं निकलता। कबीर कहते हैं कि वही योगी तो असल योगी है जो नवखण्ड पृथिवीको भिक्षामें माँग लेता है। ज्ञान ही उसका कन्था है। ध्यानकी सुईसे 'शबद' के तागेसे वह उसकी रचना करता है। पञ्चतत्त्वके सन्धानमें वह निकल पड़ता है गुरुके रास्ते। कायाकी धुनी रमाकर वह दृष्टि-अग्नि जला रखता है 'दया है उसकी खड़ाऊँ—सब योगोंका सार राम-नाम' ही उसकी काया है, वही उसका प्राण है। जिसने जीवनमें उनकी कृपा पायी है वही सत्यकी घोषणा कर जाता है—

....

नव खंडकी प्रथमी माँगै सो जोगी जगसारा।
खिंथा ग्यान ध्यान करि सूई सबद ताग मथि घालै।
पंचतत्वकी करि मिरणानी गुरुके मारग चालै।
दया फाहुरी काया करि धूई दृष्टिकी अग्नि जलावै।

....

सभ जोग तन राम नाम है जिसका पिंड पराना।
कहु कबीर जे किरपा धारै देइ सचा निसाना॥
(परि० पद १४६)

'वही तो जोगी है जिसका सहज भाव है, अखण्ड प्रेमकी भिक्षा ही जिसका उपजीव्य है। अनाहत शब्द ही जिसका सिङ्गानाद है। जिसके न तो काम-क्रोध हैं और न विषयवाद' इत्यादि—

सो जोगी जाके सहज भाइ। अकल प्रीतिकी भीख खाइ॥
सबद अनाहद सींगी नाद। काम क्रोध बिषिया न बाद॥

इत्यादि (पद ३७७)

ऐसा आत्मानन्द योगी ही महारस पान करके अमृतरस सम्भोग करता है—

आत्मा अनन्दी जोगी। पीवै महारस अमृत भोगी॥

इत्यादि (पद २०४)

योगकी यह परिपूर्ण दृष्टि जब आती है तो फिर संसारके इस मिट्टीके घरमें मन नहीं रहना चाहता। उस समय श्रीहरिके साथ युक्त होकर रहनेकी ही व्याकुलता दिखायी देती है—

इब न रहूँ माटीके घरमैं। इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरिमैं॥

इत्यादि (पद २७३)

सारे योगका मूलगत अर्थ और उसकी अन्तिम परिणति भगवान्‌के साथ प्रेम-मिलनमें है। जिस कबीरने सर्व धर्मोंका समन्वय करना चाहा है, उनसे क्या हम किसी साम्प्रदायिक साधनाकी आशा कर सकते हैं? कबीरकी महादृष्टिमें सभी साधनाएँ एकत्र हुई हैं। बाघ और बकरीको एक घाट वही पानी पिला सकता है जिसमें सामर्थ्य है। कबीरकी साधनाका माहात्म्य तभी समझमें आता है जब हम हिन्दू और मुसलमान साधनाको एकत्र सङ्गत देखते हैं। उन्होंने योग और भक्तिको परस्परसे आसक्त किया है। यह बात, किन्तु, ठीक है कि कबीरके निकट ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति सभी साधनाएँ नदियोंके समान हैं। सब साधनाओंका अवसान हुआ है भगवत्प्रेमके समुद्रमें।

स्वामिनारायणसम्प्रदायमें योग

(लेखक—दार्शनिक पञ्चाननषड्दर्शनाचार्य, सांख्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य, पण्डित श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामिनारायण)

श्रीस्वामिनारायणजी संसारमें योगरीतिसे ही धर्मोपदेश देते थे, स्वयं योग करते थे और शरणागतोंको सिखाते थे। अष्टाङ्गयोगकी प्रणाली प्रधानरूपसे आपको स्वीकृत थी। उन्होंने अपने अनेक शिष्योंको योगी बनाया और उनका कल्याण किया। श्रीवैष्णवाचार्य नारद, व्यास, रामानुज आदिकी रीतिसे परम भागवतधर्मका प्रचार कर गये। उनके उपदेशोंमें स्थान-स्थानपर अष्टाङ्गयोगके साथ-साथ भक्तिको प्रधान स्थान मिला है। श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके 'शिक्षापत्री' नामक ग्रन्थमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन पाँच यमोंको तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—इन पाँच नियमोंको पालनेका विधान अति नियोगपूर्वक किया गया है। उनके समयसे बराबर यम-नियमोंकी प्रणाली चली आती है, और वर्तमान समयमें भी उनके आश्रित लोग उनकी आज्ञाके उल्लङ्घनको अधोगतिप्रद समझकर उनके आज्ञानुसार बराबर यम-नियमादिपर ध्यान रखकर सब क्रियाएँ आचरणमें लाते हैं।

यम तथा नियमकी आज्ञाएँ

अहिंसा—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः।
सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्ध्या कदाचन॥ ११॥
देवतापितृयागार्थमप्यजादेश्च हिंसनम्।
न कर्तव्यमहिंसैव धर्मः प्रोक्तोऽस्ति यन्महान्॥ १२॥

'हमारे आश्रित जन किसी भी जीव प्राणीकी हिंसा कभी न करें और जान-बूझकर छोटे जूँ, खटमल, मच्छर आदिको न मारें। देवता, पितृ, याग इनके लिये बकरा आदिकी हिंसा कभी न करें, क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म है।'

सत्य—

मिथ्यापवादः कस्मिँश्चिदपि स्वार्थस्य सिद्धये।
नारोप्यो नापशब्दाश्च भाषणीयाः कदाचन॥ २०॥

'अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कभी मिथ्या न बोलना, मिथ्या आरोप न करना और अपशब्द भी न बोलना।'

अस्तेय—

स्तेनकर्म न कर्तव्यं धर्मार्थमपि केनचित्।
स्वस्वामिकाष्ठपुष्पादि न ग्राह्यं तदनाज्ञया॥ १७॥

'धर्मकार्यके लिये भी हमारा कोई भी आश्रित चोरीका कार्य न करे और मालिकका काष्ठ, पुष्प आदि

जो हो उनको उसके मालिककी आज्ञा बिना न ले' इत्यादि।

ब्रह्मचारी—

नैष्ठिकव्रतवन्तो ये वर्णिनो मदुपाश्रयाः।
तैः स्पृश्या न स्त्रियो भाष्या न न वीक्ष्याश्च ता धिया॥ १७५॥
तासां वार्ता न कर्तव्या न श्रव्याश्च कदाचन।
तत्पादचारस्थानेषु न च स्नानादिकाः क्रियाः॥ १७६॥
न स्त्रीप्रतिकृतिः कार्या न स्पृश्यं योषितोंऽशुकम्।
न वीक्ष्यं मैथुनपरं प्राणिमात्रं च तैर्धिया॥ १७७॥

'नैष्ठिक व्रतके ब्रह्मचारी लोग स्त्रियोंको स्पर्श न करें, उनसे भाषण न करें, उनको न देखें, उनकी बातें न करें, न सुनें, उनके आने-जानेके स्थानोंपर स्नानादि न करें, स्त्रीका चित्र न बनावें, स्त्रीके वस्त्रोंको स्पर्श न करें, मैथुनासक्त प्राणीको न देखें' इत्यादि।

अपरिग्रह—

न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित्॥ १८९॥

'द्रव्यादिका संग्रह कभी न करें, न करावें।'

शौच—

कायिक, वाचिक, मानसिक बहुत प्रकारके शौच शिक्षापत्री तथा अन्य धर्मग्रन्थोंमें निर्दिष्ट किये हैं।

सन्तोष—

भाव्यं शमदमक्षान्तिसन्तोषादिगुणान्वितैः॥ ८९॥

'सदा शम, दम, क्षमा, सन्तोष आदि गुणोंसे युक्त हो।'

तप—

उपवासदिने त्याज्या दिवा निद्रा प्रयत्नतः॥ ८०॥

'उपवासके दिन दिनमें निद्रा न लेना।' (रात्रिको जागरण करना तथा तप्तकृच्छ्रचान्द्रायणादि कायिक, वाचिकादि भेदोंसे बहुत प्रकार शिक्षापत्री टीका तथा भाष्यमें वर्णन किये गये हैं।)

स्वाध्याय—

संस्कृतप्राकृतग्रन्थाभ्यासश्चापि यथामति॥ ६५॥
अभ्यासो वेदशास्त्राणां कार्यश्च गुरुसेवनम्॥ १८५॥

'यथामति संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंका तथा वेदशास्त्रोंका अभ्यास करना, गुरुकी सेवा करना।'

ईश्वरप्रणिधान—

भक्तैरेतैस्तु कृष्णायानर्पितं वार्यपि क्वचित्।
न पेयं नैव भक्ष्यं च पत्रकन्दफलाद्यपि॥ ६०॥

'भगवद्भक्तोंको चाहिये कि भगवान्‌को समर्पण किये बिना जल भी कभी न पीयें; और पत्र, फल, फूल भी अर्पण किये बिना अपने उपयोगमें न लें।'

इन श्लोकोंकी टीकामें सम्पूर्ण विधियाँ बतायी हैं। ये सब विशेषरूपसे सम्प्रदायमें प्रचलित हैं। यम-नियमोंके योगदर्शनमें जो फल हैं वे सब भगवान् श्रीस्वामिनारायणने अनेक स्थलोंमें चमत्काररूपमें बताये हैं। उनका वर्णन साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें है।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारको भगवान् स्वामिनारायण स्वयं करते थे और शिष्योंको सिखाते थे। उस समयसे गुरुपरम्परासे आसनादि अभीतक अनेक व्यक्तियोंमें प्रचलित हैं। विशेषरूपसे ध्यान, धारणा और समाधिपर ही निर्भर होकर स्वामिनारायणसम्प्रदायकी जड़ संसारमें फैल गयी। भगवान् श्रीस्वामिनारायण स्वयं जन्मसिद्ध योगनिधि थे। उनको योगरीति सीखनी नहीं पड़ी। आप छप्पिया नगरमें ब्राह्मणकुलमें धर्मदेव तथा भक्तिमातासे संवत् १८३७ के चैत्रशुक्ल नवमीके दिन जन्मग्रहण करके जन्मसे ही अलौकिक चमत्कार दिखाने लगे।

श्रीस्वामिनारायण भगवान् जन्मसिद्ध योगी थे, इस-लिये गुरूपदेशके बिना भी वह यम-नियम बराबर पालते थे, यम-नियमोंके फलोंके चमत्कार भी उनकी जीवनीमें प्रसिद्ध हैं। चौरासी (८४)-से ऊपर आसन करते थे, उनके प्रदर्शनकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति इन क्रियाओंको करते थे तथा सन्तोंको सिखाते थे। रेचक, पूरक, कुम्भकादि प्राणायाम करते थे, और कुम्भकप्राणायामको दीर्घकालतक करके आकाशमार्गमें उठ जाते तथा क्षणमात्रमें देशान्तरमें चले जाते थे। कुम्भकप्राणायामके भेद-सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्करी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी आदि तथा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध आदि करते थे। ये सब क्रियाएँ श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने जन्मसिद्ध महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको विशेषरूपसे बतायी थीं। धारणा, ध्यान और समाधिमें सिद्ध थे और लक्षावधि मनुष्योंको ध्यानमें बैठाकर नाडी-प्राण खींचकर समाधि कराते थे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, सच्चिदानन्दसहस्त्रारको वेधते थे।

वे अपने यौगिक ऐश्वर्यप्रतापसे असंख्य प्राणियोंका

योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण

कल्याण करते थे। अपनी जीवनलीलामें अगणित बड़े-बड़े आश्चर्यजनक ऐश्वर्यचमत्कार उन्होंने दिखाये हैं। वे सब 'श्रीहरिलीलाकल्पतरु' 'सत्संगिभूषण' और 'सत्संगिजीवन' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। सत्संगिजीवनके पञ्चम प्रकरणमें अध्याय ५६ से ६५ तक श्रीस्वामिनारायण भगवदुपदिष्ट अष्टांगयोग ही निरूपित है। उन्होंने उत्तरावस्थामें कठिन साधनोंकी ओर ध्यान कम करके धारणा, ध्यान और समाधि इन्हीं तीनोंका प्रचार अधिक किया और इनसे ही कोट्यवधि मनुष्योंको भगवद्भक्तिमें जोड़ा। बहुत-से सरल उपाय भी 'वचनामृतों' में बताये हैं—

सभामें श्रीस्वामिनारायण भगवान्ने ध्यानकी एक ऐसी युक्ति बतायी कि जिस ध्यानसे बड़े-बड़े भी सिद्धदशाको पा गये। उस ध्यानके समान अन्य कोई ध्यान नहीं है। जैसे कोई चमत्कारी मन्त्र अथवा ओषधिमें स्वाभाविक चमत्कार रहता है, वैसे ही इस ध्यानमें स्वाभाविक चमत्कार है, जिससे साधक सिद्धदशाको पा जाते हैं। साधक अपने दक्षिण नेत्रमें सूर्यका ध्यान करे और वाम नेत्रमें चन्द्रका ध्यान करे; इस प्रकार ध्यान करते-करते सूर्य और चन्द्र जैसे आकाशमें हैं वैसे ही जब नेत्रमें भी दीखने लगें, तब दक्षिण नेत्र तपने लगेगा और वाम नेत्र शीतल होने लगेगा। उसके बाद सूर्यकी धारणा वाम नेत्रमें करना और चन्द्रकी धारणा दक्षिण नेत्रमें करना। इस प्रकार धारणा करके सूर्य और चन्द्रको अन्तर्दृष्टि करके हृदयाकाशमें देखते रहना और द्रष्टा जो जीव है, उसके स्वरूपको भी देखना, और जीवके स्वरूपमें परमात्माका ध्यान करना। उसके बाद ध्याताका जो वासनायुक्त लिङ्गदेह है वह चक्रके समान आकाशमें घूमता हुआ भासने लगेगा। पश्चात् ध्यान करते-करते उसको भगवान्के विश्वरूपका दर्शन होता है, उसमें चौदह लोकोंकी रचना दिखायी पड़ती है तथा समग्र ब्रह्माण्डादि पदार्थ दिखायी पड़ते हैं। पश्चात् अणिमादि सिद्धियाँ भी उसको प्राप्त होती हैं, और सूर्य-चन्द्रकी किरणें जहाँतक पहुँचती हैं वहाँतक उस ध्याताकी दृष्टि पहुँचती है। सिद्धियाँ मिलनेपर भी भगवद्भक्त होनेके कारणसे साधक उन सिद्धियोंको ग्रहण नहीं करता, केवल परमेश्वरका ध्यान ही करता है। तब वह ध्याता नारद, सनकादि, शुकदेवजीके समान चरम सिद्धदशाको पाता है। भगवद्भक्तको यह ध्यान सिद्ध होता है और तात्कालिक सिद्धदशा प्राप्त करनेका यह उत्तम उपाय है।

(अमदाबादवचनामृत १)

आत्मनिष्ठा तथा भगवान्का माहात्म्य-ज्ञान इन दोनोंमें जितनी न्यूनता रहे उतनी ही पूर्णकामभावमें भी न्यूनता रहती है। एक हरिभक्तको समाधि हुई, उसमें उसको अतिशय तेज दिखायी दिया, तेजको देख वह चिल्लाने लगा और कहने लगा कि मैं जलता हूँ। तब उस भक्तको यह समझाया गया कि तुम्हारा स्वरूप तो अच्छेद्य अभेद्य आत्मा है, देह नहीं है और फिर उसको कहा कि इस गणपतिके स्थानमें चार दलोंका कमल है, वहाँ जाकर अपने स्वरूपको देखो, समाधिवाला जब गणपतिके स्थानमें जाता है तब वहाँ नाद सुननेमें आता है तथा प्रकाश दीखता है, और उससे परब्रह्मके स्थानमें जाता है तब नाद भी खूब सुनायी देता है और तेज भी अतिशय दीखता है। उसके बाद जब विष्णुके स्थानमें जाता है तब अतिशय नाद सुनता है और तेज भी अधिक दीखता है, इस प्रकार जैसे-जैसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ स्थानमें जाता है वैसे-वैसे नाद ज्यादा सुनता है और ज्यादा-ज्यादा प्रकाश भी दीखता है। कभी-कभी भयङ्कर कड़कड़ाहटके शब्द होते हैं। उस समय चाहे कितना ही धीरजवान् हो तो भी धैर्य छूटने लगता है इसलिये देहको आत्मासे भिन्न समझना चाहिये। इस प्रकारकी समाधिके दो भेद हैं—एक तो प्राणायाम करनेसे प्राणका निरोध होता है उसके साथ चित्तका भी निरोध होता है और दूसरा उपाय यह है कि चित्तके निरोधसे प्राणका निरोध होता है—'जब सब स्थानोंसे वृत्ति हटाकर एक भगवान्में जोड़ी जाय, और सब स्थानोंसे वासना मिटाकर एक भगवान्में वासना दृढ़ हो जाय, तब भगवत्स्वरूपसे वह वृत्ति किसीके हटाये भी नहीं हटती। चित्त भगवान्का ही चिन्तन करे, मन भगवान्का ही सङ्कल्प करे, बुद्धि भगवान्के स्वरूपका ही निश्चय करे, 'अहङ्कार—मैं आत्मा हूँ, भगवान्का भक्त हूँ' इत्यादि अभिमान करे। प्राणसे जो चित्तका निरोध होता है वह अष्टाङ्गयोगसे होता है। अष्टाङ्गयोग साधन है, उसका फल निर्विकल्प

समाधि है। केवल भगवान्के स्वरूपमें प्रणिधानसे चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर अष्टाङ्गयोग बिना साधनासे भी सिद्ध हो जाता है' इत्यादि।

(गढपुर-मध्यप्रकरण, वचनामृत—२६)

सांख्ययोगके और भी बहुत-से प्रकार बताये हैं। इस प्रणालीसे श्रीस्वामिनारायण भगवान्ने अनेक भक्तोंको योगमार्गका उपदेश देकर उनका कल्याण किया। श्रीस्वामिनारायणकी परम करुणासे उनके समयमें अनेक भक्तजन दिव्य भावको प्राप्त करके बड़े-बड़े चमत्कार बताते थे, वे क्षणमात्रमें दूर देशान्तरमें चले जाते थे, अदृश्य हो जाते थे इत्यादि। ऐसे चमत्कारवाले बहुत-से योगिजन स्वामिनारायण भगवान्के साथ विचरते थे।

श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायमें सद्गुरु श्रीगोपालानन्दस्वामी जन्मसिद्ध योगी थे और भगवान् श्रीस्वामिनारायणकी आज्ञानुसार अष्टाङ्गयोग सिद्ध करके अन्योंको सिखाते थे। वह 'ईडर' देशमें 'भीलोडा' जिलेमें 'पाडाटोडला' गाँवमें 'मोतिराम' नामके 'माध्यन्दिनी' शाखाके शुक्ल यजुर्वेदी औदीच्यसहस्र ब्राह्मण थे, उनकी पत्नी 'जीवीबा' देवी महासती थीं, उनके घर संवत् १८३७ में माघ शुक्ल अष्टमी सोमवारके दिन पुत्रका जन्म हुआ, उनका नाम खुशाल भट्ट रखा गया। आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत लेकर खुशाल भट्टने 'शेहेडाई' नगरमें वेदवेदांगादि यावच्छास्त्रोंका अध्ययन किया। इनका जीवन भी यौगिक चमत्कारोंसे पूर्ण था।

श्रीस्वामिनारायण भगवान्की शरणमें बहुत कालपर्यन्त रहकर खुशाल भट्टने भागवती दीक्षा ली। एक समय काठियावाड़में एक स्थलपर भूतोंका उपद्रव बहुत था। उसको दूर करनेके लिये महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको 'सारङ्गपुर' नगरके 'वाद्याखाचर' दरबारने बुलाया। स्वामीने जाकर जल छिड़ककर भूतोंको मोक्ष दिया। उसके बाद विनती करनेसे 'सारङ्गपुर' में संवत् १९०६ में मन्दिर बनवाकर उसमें हनूमान्जीकी प्रतिष्ठा की, प्रतिष्ठाकी आरतीके समयमें योगिराज गोपालानन्द स्वामीने हाथमें काठकी छड़ी लेकर उसको हनूमान्जीके चरणोंमें छुआ दिया, उसी समय हनूमान्जीकी दिव्य रमणीय पाषाणमय मूर्ति थर-थर काँपने लगी। उस मूर्तिमें साक्षात् हनूमान्जीने दिव्यरूपमें प्रकट होकर सबको दर्शन देकर कृतार्थ किया, उस मूर्तिका बड़ा प्रताप है। वर्तमान समयमें भी गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, दक्षिण आदि देशोंमें सहस्रों मनुष्य उस मूर्तिका प्रताप जानते हैं। अस्तु।

भगवद्भक्तिके साथ-साथ ध्यान, धारणा, समाधि करनेवाले और भी अनेकों सिद्धयोगी सन्तजन श्रीस्वामिनारायण भगवान्की सेवामें रहते थे। जूनागढ़में श्रीगुणातीतानन्द स्वामी थे, वे क्षणमात्रमें अदृश्य होकर देशान्तरमें प्रकट होते थे। वैसे ही व्यापकानन्द स्वामी परकाय-प्रवेश करते थे। सच्चिदानन्द स्वामी समाधि लगाते थे और सन्तदासजी कुम्भक करके आकाशमार्गमें चलते थे। महानुभावानन्द स्वामी, विज्ञानदासजी तथा वासुदेवानन्द स्वामी, स्वरूपानन्द स्वामी आदि दिव्यदृष्टिवाले, भगवान्की मूर्तिको धारनेवाले तथा दिव्य ऐश्वर्यवाले योगी थे।

भगवान् श्रीस्वामिनारायणका उपदेश यही था कि कर्मयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत प्रकारके योगोंमेंसे किसी भी योगको सिद्ध करके भगवत्प्राप्ति करनी चाहिये। यदि भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो सब प्रयत्न निष्फल हैं। इस उद्देश्यके अनुसार श्रीस्वामिनारायण भगवान्के समयसे चलाया हुआ भक्तियोग ही सब योगोंमें प्रधान माना गया है, और सब योगोंके फल एक भक्तियोगके फलसे चरितार्थ हो जाते हैं। भक्तियोगवालेको अन्य योगोंकी आवश्यकता नहीं रहती। वर्तमान समयमें समग्र स्वाश्रित जनतामें भक्तियोगको प्रधानरूपसे स्थान मिलता है। भगवान्में प्रेम-पराकाष्ठाको भक्ति कहते हैं। मुमुक्षुजन विषयोंसे विरक्त होकर अपने रक्षणके लिये वात्सल्यादि गुणसागर पुरुषोत्तम नारायणके समीप जाकर—'हे भगवन्! तुम्हारी प्राप्तिके साधनरूप तुम ही हो'—इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक याचना करे, यही प्रपत्ति और शरणागति कहाती है। इस प्रपत्तिमें भगवान्की प्रसन्नतासे प्रारब्धका भी नाश हो जाता है—

साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी।

(न्यायसिद्धाञ्जन)

भक्तजन भगवान्के शरणमें रहकर प्रेमभक्तिमें यहाँतक लीन हो जाते हैं कि उस समय न तो उनको शरीरका भान रहता है, न इन्द्रियोंका या अन्तःकरणका विषयाभिज्ञान रहता है। सब वृत्तियाँ भगवान्में लग जाती हैं, नेत्रोंसे

प्रेमाश्रु बहने लगते हैं। प्रेमसे अहो! अहो! पुकारता हुआ भक्त सदा पुलकित रहता है, उसके शरीरको कोई मारे, काटे, जला डाले, धूल लपेटे, कीचड़ लगावे, चाहे कुछ भी करे, उस प्रेममग्न भक्तको उससे कुछ नहीं होता। उसकी वृत्तियाँ दिव्य मूर्तिमें लीन हो जाती हैं, जिससे तनु भी दिव्यभावको पा जाती है। पृथिवी, जल आदि उसे आवरण नहीं करते। ऐसी स्थितिके बाद स्वेच्छानुसार तत्काल या दीर्घकाल होनेपर ऐसे भक्त शरीर त्यागकर ब्रह्मलोकमें भगवान्‌की शरणमें जाकर परम मुक्तिको पाते हैं। ऐसी ब्रह्मदशाके लिये श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने तथा उनके ब्रह्मनिष्ठ भक्तजनोंने बहुत-से ग्रन्थोंमें उपदेशद्वारा सरल मार्ग बताये हैं—

व्यर्थः कालो न नेतव्यो भक्तिं भगवतो विना।

(शिक्षापत्री)

महायोग

(लेखक—श्रीरमणमहर्षिके एक भक्त)

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳसर्वं विदितम्। (बृहदारण्यक० २।४।५)

'हे मैत्रेयी! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन और निदिध्यास करनेयोग्य है, जिसे देखने, सुनने, समझने और अनुभव करनेसे सब कुछ जाना जाता है।'

श्रुति है—

अयमात्मा ब्रह्म।

'यह आत्मा ब्रह्म है।'

तैत्तिरीय-उपनिषद्‌में ब्रह्मको 'तटस्थ लक्षण' से इस प्रकार बतलाते हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।

अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लय तीनोंका कारण ब्रह्म है। स्वरूपलक्षणसे इस प्रकार बतलाते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

'ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है और अनन्त है।' और—

सत्तामात्रैकप्रकाशकं प्रकाशम्, हृत्पुण्डरीकम्'''न तेजो न तमः।

'एकमात्र सत्ता है, सबको प्रकाशित करनेवाला प्रकाश है, हृत्पद्म है, न शुक्ल है न कृष्ण है।'

फिर भी ब्रह्मको मन-वाणीके परे ही कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

'जहाँसे मनसहित वाणियाँ खाली हाथ लौट आती हैं।' वास्तविक ज्ञान अनुभवसे ही प्राप्त होता है। उसी अनुभवके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेको कहा है। अथवा—

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति।

तपसे उस ब्रह्मको अनुभव करो, तप ही ब्रह्म है।

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं तपः।

'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता तप है।' यही अभिप्राय पतञ्जलिके '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' का है। तप है—

बाह्यान्तःकरणसमाधानम्।

'इन्द्रियों और अन्तःकरणका समाधान।' यही बात इसमें भी है—'**तमक्रतुः पश्यति**' पूर्ण समाहित स्थितिमें ब्रह्मको देखता है। दोनों बातें एक ही हैं। पर तपमें एक बात और है—तप शोषण है, जो बात 'नेति-नेति' में है। तप, योग और निदिध्यासन तीनोंका इस प्रकार सामञ्जस्य हुआ है और तीनों एक हुए हैं।

यदि यह सत्य है कि 'मैं ब्रह्म हूँ (**अहं ब्रह्मास्मि**)', यदि 'यह जो कुछ है आत्मा है और आत्मा ही सत्य है और वही आत्मा है और वही तुम हो (**एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि**),' यदि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, 'नित्य सिद्ध' है और 'एक' है तो यह क्या बात है कि हम दुःखी होते हैं और परमानन्द और अमृतत्व, आद्यकैवल्यसे वियुक्त हो जाते हैं? यह वियोग आखिर किससे किसका हुआ है? यही अनुसन्धानका प्रस्थान-बिन्दु है और महायोग इसीका उत्तर देता है। आत्मा तो दो नहीं हो सकते, आत्मा अकेला है और एक ही है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशोपनिषद् ७)

'जिसमें सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, वहाँ उस एकत्वके देखनेवाले ज्ञानीके लिये मोह और शोक क्या है?'

आत्मा विभु होनेसे सर्वत्र व्याप्त है और सब कुछ वही है। अभी जो पृथग्विध नाना भाव देख पड़ते हैं वह विपरीत ज्ञानसे देख पड़ते हैं। यथार्थ ज्ञान होनेसे एक ही अव्ययभाव देख पड़ेगा।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठ० २।१।१)

स्वयम्भू (परमात्मा)-ने बहिर्मुख इन्द्रियोंको निर्माण किया। इस अपने अन्तरात्माको कोई नहीं देख पाता। पर कोई धीर पुरुष अमृतत्वका इच्छुक होकर अन्तर्दृष्टि साधकर प्रत्यगात्माको देख लेता है अर्थात् अन्तर्मुख होनेसे ही अन्तर्यामीका बोध होता है।

निदिध्यासनका जो वास्तविक अभिप्राय और कार्य है वह महायोगमें उत्तम रीतिसे दर्शित हुआ है। महायोगका जो साध्य है वही उसका साधन है। साधकको केवल इतना ही करना पड़ता है कि वह अपने विचारोंके प्रवाहको रोककर इस मूल विचारपर आ जाय कि 'मैं कौन हूँ (**कोऽहम्**)?' यह मूल विचार उसे हृच्चक्रमें ले जाकर छोड़ देगा, फिर उसे वहीं आसन जमाकर बैठ जाना है, वहीं उसकी निजगृहस्थिति और सनातन आत्मसत्ता है।

परन्तु यदि इस मायापटलको कुछ और ही समझा जाय और इसमें अनेक प्रकार और स्तर देखे जायँ तो निदिध्यासन भी तत्तत्प्रकार और स्तरके अनुसार हो जायगा। महायोगका रास्ता तो सीधा और साफ है। पर अधिकारभेदके अनुसार जो अन्य साधनाएँ हैं वे कठिन और कष्टसाध्य हैं। निदिध्यासनके अनेक प्रकार प्रचलित हैं जिनमेंसे निदिध्यासनका एक विशिष्ट पञ्चविध प्रकार यह है—

(१) *महायोग*—अर्थात् उस अन्तर्यामी सदात्मा—प्रत्यगात्मामें स्थित होना; जो आदिमें—सृष्टिके मूलमें, अन्तमें—संहारके मूलमें और मध्यमें ज्ञान और अज्ञानके मूलमें रहता है।

(२) *मन्त्रयोग*—अर्थात् स्वरोंके मूलको आत्मामें ढूँढ़ना।

(३) *स्पर्शयोग*—कुण्डलिनीको जगाकर सुषुम्नाद्वारा सहस्रारमें लेना।

(४) *भावयोग*—भावोंका ध्यान करना, जैसे—

भूः पादौ यस्य नाभिर्वियदसुरनिलश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे·····इत्यादि।

(५) *अभावयोग*—परात्पर ब्रह्मका ध्यान।

महायोग यों समझनेमें बड़ा सरल मालूम होता है, पर समझमें आकर भी यह जल्दी समझमें नहीं आता और इसका आचरण करना तो कठिन ही है। हाँ, यदि साधकके पीछे भगवद्दयाका बल हो तो कुछ भी कठिन नहीं है। ऐसे साधकको उत्तम गुरु मिल जाते हैं और सब काम बन जाता है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्य-
क्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥
(मुण्डक० १।२।१२-१३)

'कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंको अच्छी तरहसे देखनेपर ब्राह्मणको यह वैराग्य हो आया कि कर्मसे अकृतरूप ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उस ब्रह्मको जाननेके लिये वह समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास गया। उस विद्वान् (गुरु)-ने उस पास बैठे हुए सम्यक् प्रशान्तचित्त और समयुक्त (ब्राह्मण)-से तत्त्वतः वह ब्रह्मविद्या कही जिससे सत्य अक्षर पुरुष जाना जाता है।' इसी रीतिसे प्राप्त ज्ञान अमोघ होता है, अन्य प्रकारसे उतना नहीं।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥
(कठ० १।२।८)

'कोई अनधिकारी पुरुष इसको कहे तो उससे यह सुविज्ञेय (अच्छी तरह जाननेयोग्य) नहीं है। कारण, बहुत प्रकारसे इसका चिन्तन होता है। बिना किसी दूसरेके कहे भी इसमें गति नहीं है, क्योंकि यह अणुप्रमाणसे भी सूक्ष्म और इसलिये अतर्क्य है।'

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥
(१।२।९)

'यह (आत्म-) मति तर्कसे नहीं मिलती। हे प्रेष्ठ! दूसरेके द्वारा कही जानेपर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है।'

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन॥
(१।२।२३)

'यह आत्मा व्याख्यानोंसे, मेधासे या बहुश्रुत होनेसे ही नहीं मिलता।' भगवद्दया ही इसके मिलनेमें मुख्य कारण है। '**धातुःप्रसादात्**' भगवान्के प्रसादसे ही यह ज्ञान प्राप्त होता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

'यह आत्मा ही जिसको वरण करता है उसीको यह प्राप्त होता है। उसका यह आत्मा अपनी (आत्म-) तनु उसके सामने प्रकट करता है।'

ऐसी भगवद्दया साधु-सन्तों और ऋषि-महर्षियोंसे ही प्राप्त होती है और तब यह ज्ञान साधकके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर ठहरता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर०)

'भगवान्में जिसकी पराभक्ति है, जैसी भगवान्में वैसी ही गुरुमें है, उस महात्मापर ये कथित अर्थ प्रकट होते हैं।'

सच्चे श्रद्धालु जिज्ञासुको गुरु वाक्यद्वारा उपदेश करते हैं और अपनी मौन और प्रसन्न मुद्रासे प्रसाद प्रदान करते हैं। मौनकी वाणी इतनी सच्ची होती है कि वह अनसुनी नहीं हो सकती और उससे बरसनेवाली करुणाकी शोभा तो अनिर्वचनीय ही है। इस सम्पूर्ण उपदेशका सार एक श्लोकमें इस प्रकार है—

हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं
ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति।
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा
पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम्॥
(श्रीरमणगीता)

'हृदयकी गुफाके भीतर केवलमात्र ब्रह्म ही है जो '**अहम्, अहम्**' (मैं, मैं) इस साक्षात् आत्मरूपसे प्रकाशित होता है। इस हृदयमें मनसे प्रवेश करो, अपने-आपको ढूँढ़ो या गहरेमें गोता लगाओ या प्राणनिरोध करके आत्मामें स्थित हो जाओ।' **ॐ तत्सत्**

अमर भये

(लेखक—स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति')

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज क्योंकर देह धरेंगे॥
राग द्वेष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे।
मर्‌यो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिर वासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥
मर्‌यो अनन्त बार बिन समझ्यो, अब सुख-दुख बिसरेंगे।
'आनँदघन' निपट निकट अक्षर दो नहि समरे सो मरेंगे॥

प्रेषक—पंन्यासजी महाराज रीविरैण्ड

श्रीअरविन्दका योग

जीवनरूप कलाका एक योग

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, पाण्डीचेरी)

(१)

श्रीअरविन्दने जब कहा कि 'हमारा योग हमारे लिये नहीं, प्रत्युत मनुष्यजातिके लिये है' तब बहुतोंके घबराये हुए प्राण स्वस्थ हुए, क्योंकि उन्हें अब यह आशा हुई कि श्रीअरविन्द-जैसे महान् पुरुष संसारके लेखे सर्वथा नहीं-से-नहीं हो गये हैं, कुछ तो बचे हैं, नहीं तो (उनकी समझसे) डर तो यह था कि हिन्दुस्थानमें जैसे अन्य अनगिनती संन्यासी बराबरसे ही होते आये हैं वैसे ही यह भी एक और हुए जिनसे न देशका कोई लाभ न मनुष्यजातिका कोई उपकार!—देश और मनुष्यजातिको जाने दीजिये, उनका अपना ही कोई उपकार होता हो सो भी नहीं देखनेमें आता! लोगोंने तो यह समझा था कि श्रीअरविन्दका योग एक आधुनिक चीज है और उसका लक्ष्य है मनुष्यजातिकी सेवा। उनकी आत्मस्थिति और आत्मसाधनाका सार तत्त्व चाहे मनुष्यजातिकी सेवा न हो, पर उसका फल, कम-से-कम मनुष्यजातिकी सेवा तो है ही। इन लोगोंके विचारसे श्रीअरविन्दका योग कोई ऐसा कौशल था जिससे कुछ ऐसी अदृष्ट शक्तियोंका पता लगे और उनसे काम लिया जाय जो कि मनुष्य-जीवनको अच्छा करने और उसका दुःख दूर करनेमें केवल बौद्धिक और वैज्ञानिक पद्धतियोंसे अधिक काम कर जायँ।

श्रीअरविन्दने यह देखा कि हमने जो कुछ कहा उसका मतलब तो ये लोग कुछ और ही लगा रहे हैं और असल चीजको ही भुला रहे हैं। इसलिये उन्होंने अपने शब्द बदल दिये और यह कहा कि 'हमारा योग मनुष्यजातिके लिये नहीं बल्कि परमात्माके लिये है।' पर यह मालूम होता है कि श्रीअरविन्दकी यह बात लोगोंको अच्छी नहीं लगी, उन्होंने इसे पैतरा बदलना समझा और उदास हो गये, क्योंकि अब तो यह आशा बिलकुल ही जाती रही कि श्रीअरविन्द देश या संसारका काम करनेके लिये कभी लौटेंगे। अब तो यह समझा जाने लगा कि श्रीअरविन्द सांसारिक पदार्थोंकी मायासे बिलकुल अलग 'वेदान्त' में डूब गये हैं और संसारके लिये वैसे शुष्क और नीरस हो गये हैं जैसा कि अक्षर ब्रह्म।

(२)

श्रीअरविन्दकी साधनाके लक्ष्यका ठीक-ठीक अनुमान करना हो तो यह अच्छा होगा कि हम उनके दिये हुए दोनों वचनोंको एक करके यह कहें कि उनका उद्योग मनुष्यजातिमें भगवान्‌को पाना और प्रकट करना है। यही सेवा है जो वह मनुष्यजातिकी करना चाहते हैं—अर्थात् मनुष्यजातिमें भगवान्‌को अभिव्यक्त और मूर्तिमान् करना। मनुष्य-जीवनका केवल दुःख दूर करना ही नहीं, बल्कि उसका सर्वथा परिवर्तन और रूपान्तर कराना, मनुष्य-जीवनको दिव्य बनाना ही उनका लक्ष्य है।

यहाँ भी सावधान रहना होगा, अन्यथा अनेक प्रकारके भ्रम हो सकते हैं। मनुष्य-जीवनको दिव्यत्व प्राप्त करानेका यह कोई खास मतलब नहीं है कि सारी मनुष्यजाति ही बदल जायगी और सब मनुष्य देवता हो जायँगे। इसका मतलब है विकास अर्थात् पृथ्वीपर श्रेष्ठ जातिके मनुष्योंका प्रकट होना; ठीक वैसे ही जैसे पशुयोनिसे ही विकास होते-होते मनुष्य उत्पन्न हुआ जिसका यह मतलब तो नहीं होता कि सारी पशुजाति ही मनुष्यजाति हो गयी—हुआ इतना ही कि पशुजातिके रहते हुए पशुजातिमेंसे ही विकासक्रममें मनुष्यजाति उत्पन्न हुई। और अब यह होनेको है कि मनुष्यजातिके रहते हुए मनुष्यजातिसे श्रेष्ठतर मनुष्यजाति उत्पन्न होगी।

यह जो कुछ होनेको है, इसके विषयमें श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह केवल हो सकनेकी बात नहीं है, होनेवाली है—इसका होना अनिवार्य ध्रुव सत्य है। यहाँ यह बात स्मरण रहे कि जिस शक्तिके द्वारा यह कार्य होगा और अभी इस समय हो रहा है वह कोई वैयक्तिक मानवशक्ति नहीं है, चाहे कोई मानवशक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो; बल्कि वह शक्ति है स्वयं सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌की—श्रीभगवान् ही स्वयं उस कार्यमें लगे हैं और इसीलिये वह कार्य होनेवाला है।

श्रीअरविन्दयोगकी गूढताका यही असली भेद है। श्रेष्ठतर अर्थात् दिव्य मनुष्योंका उत्पन्न होना चाहे कितना ही अद्भुत और आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता हो, पर बात यही है कि यह बात अब नित्यके व्यवहारमें आ चुकी है क्योंकि यह काम किसी मनुष्यके द्वारा नहीं हो रहा है बल्कि स्वयं भगवान् अपनी पराशक्ति, परम ज्ञान और परम प्रेमके साथ इस कामको कर रहे हैं। श्रीअरविन्दयोगकी साधनाका सम्पूर्ण रहस्य ही यही है कि सामान्य मानवप्रकृति-स्वभावमें भगवान् उतर आवें— मानव-प्रकृतिको शुद्ध करें, उसे दिव्य बनावें और उसमें निवास करें। साधकको और कुछ नहीं करना है, केवल शान्त और मौन होकर शान्तिसे भगवत्प्राप्तिके लिये उत्कण्ठ होना, भगवन्मुख होना, भगवदनुकूल होना और भगवद्दयाप्रवाहको ग्रहण करना है; उसे स्वयं कुछ भी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, न कुछ उसे करना ही चाहिये बल्कि उसके मार्गदर्शक और प्रभु भगवान् ही उसके लिये सब कुछ करते हैं, और भगवान् जो कुछ करते हैं उसके वह केवल अनुकूल होता है। अन्य सब योगमार्ग अथवा पारमार्थिक पन्थ जो पूर्वकालमें हुए, उनका लक्ष्य देहात्मभावका उत्थान होकर आत्मभावको प्राप्त होना और उसीमें मिलकर लय हो जाना रहा है। मनुष्यके प्राणमय कोषमें और मानवप्रकृतिके नित्य व्यवहारमें भगवान्‌का अवतरण हो और वहाँ उनका आसन जमे यह बात उनके विचारमें नहीं थी और यदि किसी अंशमें थी भी तो यह उनकी साधना और सिद्धिका मुख्य लक्ष्य नहीं था। और फिर जिस अवतरणकी बात यहाँ कही जा रही है वह किसी प्रकारके दैवी या भागवत चैतन्यकी बात नहीं है, क्योंकि भगवच्चैतन्यके अनेक प्रकार हैं; यहाँ अवतरणसे अभिप्राय है अपनी शक्तिके साथ भगवान्‌के निज चैतन्यका अवतरण। कारण, भगवान्‌के निज चैतन्यके अवतरणके द्वारा ही इस युगका विकासात्मक रूपान्तर साधित हो रहा है।

इस अवतरणका यथार्थ स्वरूप क्या है, वह कैसे होता है, उसका कार्यक्षेत्र कौन-सा है, और उससे क्या-क्या होगा इत्यादि बातोंका ब्योरा मुझे यहाँ देना है। कारण, यह जो कुछ है, भगवदवतरण है। भगवज्ज्योति पहले बुद्धिमें आती है और वहाँ अपना शुद्धिकार्य आरम्भ करती है—यद्यपि सदा-सर्वदा ही सबसे पहले हृदयके अन्तस्तलमें ही भगवत्सत्ताका अनुभव होता है और वहींसे भगवत्कार्यके होनेमें अनुकूलता मिलती है और फिर बुद्धिके ऊपर कार्यारम्भ होता है; बुद्धिके ऊपर इसलिये कि बुद्धि ही सामान्य मनुष्यभावकी पराकाष्ठा है और भगवज्ज्योतिके प्रकाशके जो प्रवाह आते हैं उन्हें बुद्धि ही अधिक सुगमता और तत्परतासे ग्रहण करती है। बुद्धिसे यह प्रकाश छनकर चित्तकी नानाविध वृत्तियों और वासनाओं तथा जीवनकर्मों और प्राणकर्मोंके स्थूल जगत्‌में आता है; अन्तमें यह प्रकाश भौतिक देहके जड और तमसाच्छन्न जगत्‌में आता है, क्योंकि जड शरीरको भी तो प्रकाशमय करके परम ज्योतिका ही आकार और प्रतीक बनाना है। मानवजीवन वह प्रासाद है जिसमें कितने ही कोठे और कितने ही खण्ड हैं और इस प्रासादके परम कुशल स्थपति और प्रभु स्वयं दयामय भगवान् हैं जो इस प्रासादको भगवत्सत्यकी परमानन्दलीला और परम सौन्दर्यकी अभिव्यक्तिके साँचेमें ढालनेके लिये ही दयाभावसे अवतरित हुआ करते हैं। पर यह बात ऐसी है कि इसे वही मनुष्य और भी अच्छी तरहसे सोच-समझ सकता है जो इस मार्गके रहस्यद्वारके अन्दर आ गया हो और दीक्षाके मुख्य अंग साध चुका हो।

दूसरी बात जो साधारण मनुष्यके मनको बेचैन कर देती है वह यह है कि यह सब आखिर कब होगा—अभी या एक सहस्र संवत्सरके बाद या किसी ऐसे भविष्यकालमें जिसकी गणना देववर्षोंसे की जाय? अथवा वह समय इतना दूर हो सकता है जैसा कि दूरत्व-सादृश्यके लिये एक सज्जनने सूचित किया है कि जितना कि सूर्यके तापरहित होकर ठण्डे हो जानेका समय। कार्यकी महत्ता और प्रचण्डताको देखते हुए यदि यह कहा जाय कि इसके लिये अनन्त काल हमारे सामने है तो कुछ भी अनुचित न होगा, एकाध शत संवत्सर या सहस्र संवत्सर भी इतने बड़े कामके लिये कोई चीज नहीं है, कारण, यह कार्य तो अतीतके असंख्य सहस्र संवत्सरोंके सञ्चितको मिटाकर एक बहुत दूर आगे बढ़ा हुआ भविष्य निर्माण करना है। तथापि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह कार्य भगवान्‌का अपना कार्य है और योगका अर्थ भी कार्य करनेकी वह एकायनीभूत संश्लिष्ट अवगुण्ठित पद्धति है जिससे वर्षोंमें होनेवाला काम एक मिनटमें हो जाय,

इसलिये यह आशा की जा सकती है कि जिस कार्यकी यहाँ बात है वह कार्य होनेमें विलम्बकी अपेक्षा शीघ्रता ही अधिक है। यह जो कुछ होना है यहीं होना है और अभी होना है—इसी पार्थिव जीवनकी इस पृथिवीपर और अभी इसी जीवनमें, इसी देहके रहते हुए—फिर कभी या और कहीं नहीं। आखिर इसमें निश्चितरूपसे कितना समय लगेगा, इसका ठीक-ठीक उत्तर तो कई बातोंपर निर्भर करता है पर इसमें दस-बीस वर्ष इधर-उधर हो जाना कोई बात नहीं है।

यह जो कार्य होगा सो कितना व्यापक होगा, यह कोई विचारकी मुख्य बात नहीं है। कारण, विस्तार या फैलाव कोई चीज नहीं है, चीज तो चीज ही है। वह थोड़ी भी हो अर्थात् उसका क्षेत्र छोटा ही क्यों न हो, तो भी, कम-से-कम आरम्भके लिये, वह बहुत है यदि वह असली चीज है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

अब यदि कोई यह पूछ बैठे कि जो कुछ तुम कह रहे हो उसका प्रमाण क्या है, इस बातका क्या आश्वासन है कि यह भी एक प्रकारके मृगजलका पीछा करना नहीं है? तो इसका उत्तर तो यही है कि चीनीकी मिठास चीनी जीभपर रखनेसे ही मालूम हो सकती है।

(३)

अब अन्तमें इस लेखके नामकरणके सम्बन्धमें एक बात कहनी है; क्योंकि लोग पूछ सकते हैं कि क्या अध्यात्मजीवन भी कोई कला है, आप इसे कलाओंकी पंक्तिमें कैसे बैठाते हैं?

एक विशेष दृष्टिसे, अर्थात् पदार्थमात्रकी वास्तविक अन्तस्सत्ताकी दृष्टिसे, अध्यात्मजीवन कम-से-कम सब कलाओंका मूल तो है ही, चाहे उसे सबसे श्रेष्ठ कला कहनेमें किसीको कोई संकोच भले ही होता हो। पदार्थमात्रके अन्तःस्वरूपको व्यक्त कर देना ही कलामात्रका हेतु है और पदार्थमात्रका अन्तःस्वरूप यथार्थमें उसकी अन्तरात्मसत्ता है। इसलिये अध्यात्मजीवन अर्थात् आत्मा-परमात्माके साथ चैतन्ययुक्त सम्बन्ध-स्थापनका अभ्यास कलाओंकी पावन पंक्तिमें अग्रपूजाका मान ही पाने योग्य है। फिर अध्यात्मजीवन सबसे श्रेष्ठ और सबसे कठिन कला है, क्योंकि यह जीवनकी ही कला है। जीवनको ऐसा परम सुन्दर और दर्शनीय बना देना कि जिसके अंग-अंगमें निर्मलता और पवित्रता झलकती हो, जिसकी छन्दोमय गति प्रमादरहित हो, रोम-रोममें जिसके शक्ति सञ्चरित हो रही हो, कान्ति जिसकी शुभ्रा ज्योतिसे सुरञ्जित हुई और गात्र जिसके आनन्दसे स्फुरित और उत्फुल्ल हो रहे हों—तात्पर्य, जीवनको ऐसा बनाना कि वह भगवान्की प्रतिमा हो, अध्यात्मजीवनका सबसे ऊँचा लक्ष्य है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो श्रीअरविन्द जिस अध्यात्म-जीवनकी साधना करते हैं वह कला-सृष्टिकी सबसे बड़ी चीज है।

सांख्ययोग

(लेखक—स्व० महाराज साहब चतुरसिंहजीरचित)

(मेवाड़ी भाषामें)

दीखे सो दीखी नहीं, अण देखी देखाण। राईमें पर्वत छिपै, उद्या अलख पिछाण॥
रात पड्याँ उगे रवी, दने न दिखे भाण। अस्या रात दिन वे जठे, उद्या अलख पिछाण॥
देखूँ देखूँ छोड़ने, देखूँ देखूँ ठाण। ई दीखूँ रो दीखणों, उद्या अलख पिछाण॥
लेखण पै कागद लखे, अखर खुले असमान। उण आखर रे आलखे, उद्या अलख पिछाण॥
कागद कीड़ी रे जस्यो, वी में वेद कुरान। वी में अक्षर एक नी, उद्या अलख पिछाण॥
नारी नारीने जणें, पण नर सू अणजाण। जाण वियां पै नी जणे, उद्या अलख पिछाण॥
मुरदा मोजाँ घर करे, जिंदा जले मसाण। अस्या नगर रो नाथ है, उद्या अलख पिछाण॥
सुलटी ने उलटी करे, उलटी सुलटी आण। उलटी सुलटी माँय ने, उद्या अलख पिछाण॥
सांख्य योगरो सार है, यो गीता रो ज्ञान। उपनिषदाँ रो अरथ है, उद्या अलख पिछाण॥

प्रेषक—जगदीश

श्रीअरविन्दका पूर्णयोग

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

श्रीअरविन्द क्या हैं और क्या करते हैं यह जानना मन-बुद्धिसे जितना सम्भव है उतनेके लिये तो अबतक प्रकाशित उनकी पुस्तकोंमें यथेष्ट सामग्री है। फिर भी बहुत-से लोग श्रीअरविन्दकी शिक्षा और आश्रमके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी भ्रान्त और विकृत धारणा बनाये हुए हैं, इसी कारण उन्होंने स्वयं इस विषयमें एक वक्तव्य दिया है जो हालमें ही हिन्दी और बङ्गला अनुवादके साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। श्रीअरविन्दके योगको समझनेमें लोग जो इतनी भूल करते हैं, उसका एक प्रधान कारण यह है कि भारतकी प्राचीन अध्यात्मशिक्षाके ऊपर इस योगकी प्रतिष्ठा होनेपर भी यह एक नयी चीज है; योगसाधना—अध्यात्मसाधनासे आजकल लोग साधारणतः जो कुछ समझते हैं, श्रीअरविन्दकी साधना ठीक वही नहीं है।

सत्य एक है और सनातन है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उस एकके अनेक रूप हैं, बहुत-सी दिशाएँ हैं। वे सब रूप और दिक् एक ही युगमें, एक ही व्यक्तिके द्वारा सम्यक्‌रूपसे प्रचारित हों, एक ही धर्मग्रन्थमें सम्पूर्णरूपमें वर्णित हों, यह सम्भव नहीं। इसी कारण युग-युगमें अवतारों, महापुरुषों और विभूतियोंका आविर्भाव होता है, और वे देश और कालके प्रयोजनके अनुसार आवश्यक सत्यका प्रचार कर जाते हैं; उनकी उसी शिक्षाका अवलम्बन करके मानव-जाति अपने गन्तव्य पथपर अग्रसर होती है। गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—'हे अर्जुन! मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं।' श्रीकृष्णने एक ही शिक्षा, एक ही भावका प्रचार करनेके लिये बार-बार जन्म ग्रहण किया हो, यह सम्भव नहीं। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि हमारे धर्मग्रन्थमें ही सब सत्य निहित है अथवा हम जिन अवतार, पैगम्बर या प्रॉफेटकी पूजा करते हैं, उनकी शिक्षाको छोड़कर और कुछ भी जानने, समझने, अनुसरण करने योग्य नहीं, वे निश्चय ही भूल करते हैं। यह सुखकी बात है कि आजकल मनुष्यसमाजमें इस प्रकारकी कट्टरता, सङ्कीर्णता, असहिष्णुता बहुत कुछ कम हो गयी है। जीव-जगत्‌में जैसे क्रमविकास होता है वैसे ही धर्मसाधना, अध्यात्मसाधनाके जगत्‌में भी एक क्रमविकास, क्रमविवर्तनकी धारा चलती है, यह बात आजकल प्रायः सभी लोग मानने लगे हैं। भारतमें इस साधनाका विकास किस प्रकारसे होता आया है, इसका पर्यालोचन करनेसे सम्भवतः श्रीअरविन्दकी शिक्षाका मर्म समझना अपेक्षाकृत सहज हो सकता है।

भारतमें अध्यात्मसाधनाका मूल सूत्र हाथमें आ गया था वेद और उपनिषद्‌के युगमें। वैदिक ऋषियोंने इस दृश्य जगत्‌के पीछे देवलोकको देखा था। देवताओंके साथ आदान-प्रदानका सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्यका जीवन दिव्य रूपमें परिणत किया जा सकता है और यही मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है—इसी सत्यको अवलम्बन करके भारतीय शिक्षा-दीक्षा और भारतीय साधनाका आरम्भ हुआ। इस सत्यकी दो दिशाएँ हैं—पहली दिशा यह है कि मनुष्य इस समय जिस रूपमें जीवन-यापन कर रहा है, वह दुःख, द्वन्द्व, अशान्ति और मृत्युसे पूर्ण है, उससे अर्थात् **'मृत्युसंसारसागरात्'** ऊपर उठना होगा। पर उठकर कहाँ जाना होगा? मनुष्य जिस भगवान्‌से आया है, जिसके अन्दर ही वह रहता है, जिससे मनसा वियुक्त होनेके कारण अनेक दुःखों और क्लेशोंको भोग रहा है, उसीके साथ ज्ञानपूर्वक युक्त होना होगा—उसकी ज्योति, शक्ति और आनन्दके अन्दर चिर-प्रतिष्ठित होना होगा। पहली बातके लिये चाहिये सांसारिक जीवनके प्रति तीव्र वैराग्य; दूसरीके लिये चाहिये भगवान्‌की उपासना। और ये दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, एकके द्वारा दूसरेको सहायता मिलती है। वैदिक युगमें इस साधनाके दो अङ्ग थे, ज्ञान और कर्म। क्रमशः ये दोनों अङ्ग दो साधन-पथोंके रूपमें परिणत हो गये। किसीके मतसे ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है और कर्म तो मनुष्यको सांसारिक जीवनमें बाँध रखता है। किसीके मतसे कर्मके द्वारा ही मनुष्य परमार्थ लाभ कर सकता है। गीतामें इन दोनों पथोंमें भेद दिखाया गया है—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

वेदके युगसे आगे चलकर अध्यात्मसाधनामें एक और

विशेषता उपस्थित हो गयी। वैदिक ऋषियोंने चाहा था इस मानवजीवनको ही दिव्य रूपमें रूपान्तरित कर देना। किन्तु परवर्ती युगमें साधनाका लक्ष्य यह नहीं रहा। मानव-जीवन—संसार—दु:खमय है; इससे किसी प्रकार बाहर निकलकर आत्माके अन्दर मोक्ष या निर्वाण लाभ करना ही साधनाका लक्ष्य बना। गीतामें इन सब विरोधी मतों और पन्थोंमें एक प्रकारका अपूर्व समन्वय किया गया है। गीतामें कहा है, ज्ञान और कर्म विरोधी मार्ग नहीं हैं। पक्षी जिस प्रकार उड़नेके लिये दोनों पङ्खोंकी सहायता ग्रहण करता है, मनुष्य भी उसी प्रकार एक ही कालमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयके द्वारा लक्ष्यकी ओर द्रुत गतिसे अग्रसर होता है। किन्तु गीतामें यह दिखाया गया है कि भगवद्भक्तिमें ही ज्ञान और कर्मकी पूर्णता होती है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—इन तीनोंका समन्वय जिस साधनामें है, गीताके मतसे वही सिद्धि-प्राप्तिका उत्कृष्ट पथ है। गीता यह और कहती है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये मनुष्यको यह जीवन, यह देह छोड़कर कहीं जाना नहीं होगा, मृत्युके पूर्व, 'इहैव'—इसी शरीरमें मनुष्य भगवान्के साथ पूर्णरूपेण युक्त होकर उनका साधर्म्य प्राप्त कर सकता है। उस समय वह चाहे जहाँ रहे और चाहे जो करे, उसके पतनकी फिर कोई आशंका नहीं रहती—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

परन्तु भगवान्के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेके रहस्यका विस्तार गीतामें नहीं किया गया है—उसका केवल सङ्केतमात्र है। उस समय लोगोंका झुकाव उपनिषद् और दर्शनशास्त्रोंकी शिक्षाके फलस्वरूप संसार-त्याग, जीवन-त्याग, कर्म-त्यागकी ओर था, गीताने उसका प्रतिवाद करके जीवन और कर्मकी महिमाका प्रचार किया। अर्जुनने मोहके वश होकर कर्मका त्याग करके संन्यासका अवलम्बन करना चाहा था, उनका तीव्र भाषामें तिरस्कार करके ही गीतामें श्रीकृष्णकी शिक्षाका आरम्भ हुआ है। श्रीकृष्णने समझा दिया कि भीतरकी वासना, कामना, आसक्तिका त्याग ही वास्तविक वैराग्य और संन्यास है, इस कारण जीवन, कर्म, संसारके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु पहले बौद्धधर्मके प्रभावसे और पीछे आचार्य शङ्करद्वारा आपामर जनसाधारणके अन्दर बड़े जोरोंसे मायावादका प्रचार हो जानेके कारण गीताकी यह शिक्षा भारतवासियोंके जीवनमें अपने प्रभावका पूर्ण विस्तार न कर सकी। अवश्य ही भारतके जातीय जीवनके गठनमें शङ्कराचार्यके उपकारका मूल्य बहुत अधिक है। बौद्धधर्मके प्रभावसे जिस समय भारतवासियोंकी आस्था वेद और उपनिषदोंपरसे उठ रही थी, उस समय आचार्य शङ्करने उसका प्रतिरोध किया, भारतीय शिक्षा-दीक्षाकी मूल धाराकी रक्षा की और हिन्दूसमाज, हिन्दूधर्म जो अनेक भेदों और विवादोंसे विच्छिन्न हो गया था उसको उन्होंने सब मतों और उपासनाओंमें ऐक्य दिखाकर उस आसन्नध्वंससे बचाया, भारतके साधनागत ऐक्यको पुन: प्रतिष्ठित किया और उसके आगे बढ़नेका पथ परिष्कृत कर दिया। परन्तु बौद्ध-प्रभावको दूर करनेपर भी वह प्रभाव कुछ-न-कुछ रह ही गया। बौद्ध जिस शिक्षाका प्रचार करते थे, शङ्करके वेदोपनिषद् गीताके भाष्योंसे उसी शिक्षाका प्रचार हुआ—यह संसार माया है, मिथ्या है, इस संसारसे दूर हटकर आत्माके अन्दर, ब्रह्मके अन्दर लीन होना ही परम पुरुषार्थ है और इसके लिये ज्ञान ही श्रेष्ठ साधना है। यही शङ्करकी शिक्षाका मूल तत्त्व है और इसमें और बौद्धोंकी शिक्षामें मूलत: विशेष कोई अन्तर नहीं है। भारतवासियोंके जीवनपर शङ्करकी शिक्षाका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा, फिर भी सबने उनका मत नहीं ग्रहण किया। अनेक साधक महापुरुषोंने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही साधनाके रूपमें श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। इस भक्तिमार्गका चरम विकास हम देखते हैं श्रीचैतन्यमें। वैष्णव कविका गान है—

यदि गौरांग ना हत कि मेने हइत
केमने धरित दे रे?
श्रीराधार महिमा रससिंधु सीमा
जगते जानात के रे?

किन्तु यह जो भक्तिकी साधना है, इसका भी लक्ष्य है सांसारिक जीवनका परित्यागकर संसारसे ऊपर गोलोक अथवा वैकुण्ठमें जाकर श्रीभगवान्के साथ संयुक्त होना। प्राचीन कालसे भारतमें जो ये तीन प्रकारकी साधनाएँ चली आ रही हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंका लक्ष्य दु:खमय सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर ब्रह्ममें लीन होना अथवा भगवान्के साथ युक्त होना है। किन्तु इस पृथ्वीपर मानव-जीवनके अन्दर रहकर ही भगवान्के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेका जो

उपदेश हम गीताके अन्दर पाते हैं, अद्यावधि वह कहीं भी परिस्फुटित नहीं हुआ। इस विषयमें कुछ प्रयत्न हुआ था तान्त्रिक साधनामें। अध्यात्मजीवन प्राप्त करनेमें जो-जो बातें बाधक समझी जाती हैं, उन्हींका व्यवहार साधनामें सहायकरूपसे करके जीवनको दिव्यरूपमें पलट देनेका जो आदर्श तान्त्रिकसाधनामें दिखायी पड़ा था, वह व्यभिचार और दुरुपयोगके कारण भारतके जातीय जीवनपर बहुत अधिक प्रभाव न डाल सका, यद्यपि इसके सारतत्त्वने बहुत कुछ अंशमें बङ्गालकी शक्तिपूजाके अन्दर स्थान प्राप्त किया है।

भारतमें युग-युगमें इस प्रकार नाना प्रकारकी साधनपद्धतियोंका अनुसरण किया गया है। जगत्‌में अध्यात्मसाधनाकी ऐसी कोई धारा नहीं दिखायी पड़ती, जिसकी चरम परीक्षा इस भारतभूमिमें न हुई हो। इस प्रकार भारतमें अध्यात्मसाधनाका ऐसा उत्तम क्षेत्र और वायुमण्डल बन गया है कि पृथ्वीके और किसी स्थानमें ऐसा नहीं दिखायी पड़ता। परन्तु सब अध्यात्मसाधनाओंका मूल लक्ष्य संसारत्याग, जीवनत्यागकी ओर होनेसे ऐहिक जीवनमें भारतकी बड़ी क्षति हुई, जीवनसंग्राममें भारत अन्यान्य जातियोंसे बहुत पीछे पड़ गया; और इसी कारणसे भारतकी अध्यात्मसाधनापरसे बहुत लोगोंकी श्रद्धा ही उठ गयी। जिस समय भारत पाश्चात्त्य-जातिके संस्पर्शमें आया, पाश्चात्त्य-जातिने अपनी असीम कर्मशक्ति और वसुन्धराका भोग करनेकी दुर्निवार आकांक्षाके बलसे भारतपर अपना आधिपत्य स्थापित किया, उस समय भारतके बहुत-से लोग उसी आदर्शकी ओर झुक पड़े, और सब विषयोंमें पाश्चात्त्य-जडवादी सभ्यताका अनुसरण करनेके आग्रहके कारण आत्मविस्मृत हो गये। भारतके लिये वह बड़े ही सङ्कटका युग था—राजनीतिक-क्षेत्रमें भारत पराधीन था, अध्यात्मसाधनाके क्षेत्रपर भी नाना प्रकारसे ग्लानि छायी हुई थी, बाह्याचार और प्रचलित रूढ़ियोंको ही लोगोंने धर्म और आध्यात्मिकताकी सीमा मानकर अन्धभावसे पकड़ रखा था। इससे जीवनके सब क्षेत्रोंमें अध:पतन और मृत्युके लक्षण दिखायी पड़ते थे और दूसरी ओर पाश्चात्त्य-जातिका तीव्र जीवन्त आदर्श चमक रहा था। उस आदर्शकी ओर झुक पड़नेके कारण जिस समय अपना स्वधर्म छोड़ने और परधर्म ग्रहण करनेका आग्रह इस देशमें बढ़ रहा था, उसी सन्धिक्षणमें परमहंस श्रीरामकृष्ण आविर्भूत हुए। उन्होंने अपने जीवनमें सब प्रकारकी साधन-पद्धतियोंकी सत्यता प्रत्यक्ष करके यह दिखा दिया कि भारतकी अध्यात्मसाधना मिथ्या, धोखेबाजी या कपट नहीं है, इसके अन्दर असीम शक्ति निहित है, इसीके द्वारा मनुष्य अपने जीवनको सार्थक कर सकता है। पाश्चात्त्य रंगकी बाढ़में भारत जिस समय डूबा हुआ था, उसी समयमें श्रीरामकृष्णके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द भारतका रंग लेकर पाश्चात्त्य-सभ्यताके मर्मस्थलमें जा धमके। बहुत कालके बाद पुनः भारतकी विजय-यात्रा आरम्भ हुई। यह जो स्वामी विवेकानन्दने प्रत्याक्रमणसे पाश्चात्त्य-सभ्यताके आक्रमणका उत्तर दिया, उसी दिनसे भारतके नवयुगका सूत्रपात हुआ, भारत पुनः अपनी वास्तविक शक्तिकी खोजमें प्रवृत्त हुआ, भारतकी अध्यात्मसाधना नवीन गौरवके साथ संसारवासियोंके सामने उद्भासित हुई।

श्रीरामकृष्णने यह दिखाया कि ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, यहाँतक कि ईसाई-धर्म, मुसलमान-धर्म आदि सब साधनाओं और सब धर्मोंमें सत्य है, मूलतः इनके अन्दर कोई भी विरोध नहीं। जितने मत हैं उतने मार्ग हैं—सब मार्गोंसे उसी एक गन्तव्य स्थानपर पहुँचा जाता है। श्रीरामकृष्णने सब साधनाओंका मूलगत ऐक्य दिखा दिया, पर उस ऐक्यके आधारपर अवलम्बित, सब साधनाओंकी मूल शक्तिका आश्रय करनेवाला जो सर्वयोगसमन्वय-साधन है, वह श्रीअरविन्दकी साधनामें परिस्फुटित हुआ है। और इसमें केवल साधन-पद्धतिका ही नहीं, अध्यात्म-साधनाका जो लक्ष्य है, उसका भी पूर्ण समन्वय साधित हुआ है। मनुष्य अभी जैसा जीवन व्यतीत करता है, उसको छोड़कर ऊपर उठना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि मानवजीवन, मानवजन्मका ही त्याग करके निस्पन्द, निश्चल ब्रह्मके अन्दर लीन होना होगा। यह संसार मिथ्या, माया है, 'भगवान्‌की भूल' है—ऐसा तो श्रीअरविन्द नहीं कहते। मनुष्यके अन्दर जो देवत्व निहित है, उसको देह, प्राण, मनमें पूर्ण विकसित करना होगा, मानवजीवनको दिव्य जीवनमें रूपान्तरित करना होगा, व्याधि, मृत्युको जीतकर अमृतत्व लाभ करना होगा, यही मानवजन्मका प्रकृत अर्थ है और यही सब अध्यात्मसाधनाओंका वास्तविक लक्ष्य है। किन्तु मनुष्य जबतक मनके स्तरमें ही अटका है

तबतक उसका यह रूपान्तर सम्भव नहीं। उच्च जीवन प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको अहंभावका त्याग करना होगा, वासना-कामनाका त्याग करना होगा, परन्तु मनके क्षेत्रमें रहकर ऐसे त्यागकी पूर्णताका अर्थ होता है आत्माके अन्दर अपना निर्वाण कर देना—संसार, जीवन, कर्म आदिका कुछ भी न रह जाना। यदि अहंभावको रखते हैं तो उसका अर्थ होता है ऐसे जीवनके जो चिरसंगी हैं अर्थात् त्रुटि-ग्लानि दुःखादि द्वन्द्व और जरा और मृत्यु—उन्हें पाल रखना। इस प्रहेलिकाका समाधान करते हैं श्रीअरविन्द एक पर-तत्त्वके प्रकाशमें जिसका नाम श्रीअरविन्दने Super mind (पर-विज्ञान) रखा है। मनुष्यके अन्दर जबतक उस 'अतिमानस' विज्ञान-सत्ताका आविर्भाव नहीं होता तबतक मानव-जीवनको दिव्य रूपमें रूपान्तरित करना सम्भव नहीं। मन-बुद्धिकी शक्तिसे मनुष्य कितनी दूर ऊपर उठ सकता है, उसके उत्कृष्ट दृष्टान्त इस युगमें महात्मा गांधी हैं। वह सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कुछ आदर्शोंको ग्रहण कर उनके अनुसार जीवनको गठित करनेकी साधना करते हैं। पर अपनी आजीवन साधनाके फलस्वरूप वह अबतक इसी सिद्धान्तपर पहुँचे हैं कि देहधारी मनुष्य कभी इन सब विषयोंमें पूर्ण सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मृत्युकी अन्तिम घड़ीतक अत्यन्त सावधानीके साथ इन सब नियमोंका पालन करते रहना चाहिये, नहीं तो किसी भी क्षणमें शिथिलता आ जानेपर सब साधना नष्ट हो सकती है। किन्तु इस प्रकार सर्वदा सजग होकर पहरा देते हुए कितने आदमी रह सकते हैं? इसीसे अध्यात्मसाधनाका लक्ष्य है इस अवस्थाके भी ऊपर उठकर ऐसी अवस्था प्राप्त करना जहाँसे फिर किसी तरह पतन न हो। श्रीरामकृष्णने एक सुन्दर दृष्टान्त देकर यह समझाया था। पीतलका बर्तन सर्वदा यदि माँजा-धोया न जाय तो मैला हो जाता है, पर उसको सोनेमें पलट देनेपर फिर मैला होनेका भय नहीं रहता। मनुष्यजीवनरूप पीतलका बर्तन जिस विधिसे सोनेमें परिणत किया जा सकता है, वही श्रीअरविन्दका पूर्णयोग है। केवल मनुष्यकी चेष्टासे ऐसा होना सम्भव नहीं है। मनुष्य साधनाके द्वारा अपनेको केवल उस रूपान्तरके योग्य बना सकता है, रूपान्तरके लिये ऊपरसे पारसमणिका ही स्पर्श होना चाहिये। श्रीअरविन्दने योगलब्ध दिव्यदृष्टिसे देखा है कि वह स्पर्श ऊपरसे उतर रहा है, मानव-जीवन जिस शुभ मुहूर्त्तमें दिव्य जीवनके रूपमें, स्वर्णमें परिणत होगा, वह निकट है। मनुष्यको अपने अन्दर केवल उस स्पर्शको प्राप्त करनेकी अभिलाषा जागरित कर रखनी होगी, उस स्पर्शको ग्रहण करनेके लिये देह, प्राण, मनको प्रस्तुत कर रखना होगा। किस रूपमें उस परम रूपान्तरके लिये अपनेको प्रस्तुत किया जा सकता है, यही हम श्रीअरविन्दके चरणोंमें बैठकर सीख रहे हैं।
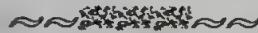
जागो!

मौत महा उत्कंठ चढ़ै नहिं सूझत अन्ध अभागहु रे।
चित चेतु गँवार बिकार तजो जब खेत पड़े कित भागहु रे॥
जिन बुंद बिकार सुधार कियो तन ज्ञान दियो पगु ता गहु रे।
'धरनी' अपने अपने पहरे उठि जागहु जागहु जागहु रे॥

—धरनीदास

भृगुयोग

(लेखक—एक 'सेवक')

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सब जातियों और वर्णोंके लोग भृगु-योगके अधिकारी हैं। किन्तु इस योगके जाननेवालेका यह कर्तव्य है कि वह कम-से-कम एक व्यक्तिको अवश्य इसका उपदेश दे दे।

(१) इस योगसाधनका सङ्कल्प करते समय सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, चराचर सम्पूर्ण जगत्को साक्षी रखकर यह व्रत लेना चाहिये और फिर अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिये।

अष्टाङ्ग-योगके प्रथम और द्वितीय अङ्ग यम और नियमके समान इस योगमें भी सर्वप्रथम सद्गुण, सद्भावकी प्राप्तिका अभ्यास किया जाता है, जिसके बिना केवल साधनासे लाभ नहीं हो सकता।

सद्भाव-भाग

(२) इसमें सत्य प्रथम और प्रधान है। सत्य वचन, सत्य कर्म और सत्य भाषण तीनोंकी आवश्यकता है। सत्यका अभ्यास केवल बड़ी-बड़ी बातोंके विषयमें ही नहीं बल्कि छोटी-से-छोटी बातोंमें भी होना चाहिये। छोटी-छोटी बातोंमें हमलोग असावधान रहकर प्राय: सत्यका नाश करते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई पूछता है कि क्या समय है, तब उस समय यदि दस बजकर दस मिनट भी हुआ रहता है तब भी हमलोग प्राय: यही उत्तर देते हैं कि दस बजे हैं। किन्तु यह उत्तर असत्य है। हमें कहना यह चाहिये कि मेरी या अमुक घड़ीमें १० बजकर इतने मिनट हुए हैं। यदि किसीको कोई वचन देना हो तो या तो शर्तके साथ वचन देना चाहिये, जैसे, सुयोग होनेपर और कोई बाधा न आनेपर ऐसा होगा अथवा किया जायगा—ऐसा कहना चाहिये। यदि बिना शर्तके कोई वादा किया जाय अथवा वचन दिया जाय तो बाधा आनेपर भी और हानिका सहन करके भी अपने वाक्यकी सत्यताकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये, भले ही वह बात साधारण ही क्यों न हो। इस प्रकार सब प्रकारसे सब अवस्थाओंमें सत्यका पालन करनेसे साधकको वाक्सिद्धि प्राप्त होती है, जैसा कि योगसूत्रका वचन है। इस तरहके सत्यवादी सिद्ध पुरुषका सङ्कल्प भी सत्य हो जाता है। पञ्जाबके एक महात्माने एक बार एक बड़े चट्टानको पर्वतपरसे नीचे गिरते हुए देखा और तुरन्त मनमें सङ्कल्प किया कि वह ऊपर ही रुक जाय। बस, वह पत्थर ऊपर ही रुक गया। वह आज भी पंजा साहबके नामसे मौजूद है। ऐसे सङ्कल्पके सत्य होनेके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

(३) *सरलता*—भीतर और बाहरका भाव तथा व्यवहार बालकके समान सर्वथा सरल और निष्कपट होना चाहिये। इसको आर्जव-धर्म कहते हैं।

(४) *ईश्वरको सर्वकर्मार्पण*—प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण, सुकर्म, विकर्म आदि अपने सब कर्म ईश्वरको अर्पण करने चाहिये। जो कर्म किया जाय, चाहे वह व्यावहारिक, पारमार्थिक अथवा अन्य किसी प्रकारका ही क्यों न हो, ईश्वरार्पण ही करना चाहिये (गीता ९। २७)। यह सर्वकर्मार्पण तभी सम्भव है जब शरीर, परिवार, धन-सम्पत्ति, व्यवसाय आदि सबको अपना न समझ, उनके प्रति ममताका त्याग करके उन्हें ईश्वरकी थातीके रूपमें देखा जाय। इस प्रकार करनेपर धनोपार्जन, परिवारपालन आदि कर्म ईश्वरके ही हो जाते हैं। अभ्यासका भी यही तात्पर्य है कि उससे जो कुछ प्राप्त हो वह भी ईश्वरार्पण हो अर्थात् ईश्वर-सेवाकी भाँति लोकसेवामें ईश्वरके निमित्त व्यवहृत हो।

(५) *सर्वत्र ईश्वर-दर्शन*—चराचर, नाम-रूपात्मक दृश्यमात्रको ईश्वरका ही रूप समझना चाहिये, जो वस्तुत: उनके अन्दर चेतनरूपसे वर्तमान है। ऐसी दृष्टि रखकर किसीके भी सामने आनेपर उसको भक्तिभावसे मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये (भागवत ११। २। ४१ और २९। १६)। जैसे, हाथी देखनेपर मनमें कहना चाहिये, 'हाथीरूप भगवान्को नमस्कार है।' इसी तरह वृक्षरूप भगवान्, पत्थररूप भगवान्, पक्षीरूप भगवान्, पशुरूप भगवान्, लतारूप भगवान्, मनुष्यरूप भगवान्, शत्रुरूप भगवान्, मित्ररूप भगवान्, व्याघ्ररूप भगवान्, सर्परूप भगवान् आदिके साथ व्यवहार करना चाहिये। यथार्थ सत्य यही है कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है; कोई स्थान, वस्तु अथवा काल ऐसा नहीं जिसमें वह व्याप्त

न हो। संसारमें केवल ईश्वर ही सत्य, नित्य और सर्वत्र व्याप्त है। इस विश्वमें ईश्वर सत्त्वगुणके रूपमें, जैसे अन्न आदिके रूपमें पालन करता है, रजोगुणद्वारा, जैसे बैल, घोड़ा, रेल आदिके रूपमें कर्म करता है और तमोगुणद्वारा जैसे सर्प, व्याघ्र, व्याधि आदिके रूपमें संहार करता है। इस कारण संहारकी मूर्त्तिको भी ईश्वर मानकर नमस्कार करना चाहिये; किन्तु साथ ही उससे पृथक् भी रहना चाहिये, क्योंकि संहार वाञ्छनीय नहीं है।

इस भावका दृढ़तापूर्वक अभ्यास करनेपर ईश्वरदर्शन होता है। पहले ज्योति दिखायी पड़ती है, जिसके वर्णसे अपने गुणका पता चलता है। श्वेत और पीतवर्ण सत्त्वगुणके सूचक हैं, लाल रजोगुणका और नीलवर्ण तमका सूचक है। उसके बाद साधक अपने इष्टको उस ज्योतिमें इस प्रकारसे क्रमशः देखता है—(क) हँसते हुए; (ख) बातचीत करनेके लिये प्रस्तुत अवस्थामें अर्थात् उनके ओष्ठमें गति मालूम होती है; (ग) अभय-मुद्रामें अर्थात् एक हाथकी हथेलीको साधककी ओर दिखाते हुए; (घ) कर-स्पर्शद्वारा प्यार करते हुए; (च) परम ज्योति; (छ) पृथ्वी-कम्प और (ज) पूर्ण एकत्व।

(६) *ईश्वरपर निर्भरता और निष्काम दास्य-भावसे कर्म करना*—जैसे सच्चे निष्काम सेवकका उद्देश्य केवल अपने प्रभुकी सेवा करना होता है और वह अपनी व्यक्तिगत उन्नतिकी तनिक भी परवा नहीं करता, प्रभुपर ही पूर्ण रूपसे निर्भर रहता है, वैसे ही साधकको ईश्वरपर पूर्ण निर्भर रहना चाहिये (गीता ११। ५५)। साधकको अपने हृदयमें और सर्वत्र ईश्वरको व्याप्त जानकर जो कर्म करना चाहिये उसे केवल उसके निमित्त करना चाहिये। भोजनको पहले उसे समर्पित करके पीछे उच्छिष्ट प्रसादकी भाँति ग्रहण करना चाहिये; वस्त्र आदिको भी निवेदित करके प्रसादकी भाँति व्यवहार करना चाहिये। जो कुछ चीज खरीदनी हो, उसे ईश्वरके लिये, उसकी पूजाकी चीज समझकर खरीदना चाहिये; जो कुछ व्यवसाय करना हो, वह भी उसीके निमित्त करना चाहिये। कहनेका मतलब, जो कोई काम हो, उसे भगवान्‌का ही समझकर करना चाहिये। अपनी चीजको भी ईश्वरकी सम्पत्ति जानकर उसकी रक्षा करनी चाहिये। इस तरहका साधक अपने भाग्यके निमित्त न तो ज्योतिषकी सहायता लेता है और न शान्तिके लिये पुरश्चरण आदि कराता है। रामायणका वचन है—

'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥'

(७) *सतत और सब कामोंमें ईश्वर-स्मरण*—साधकको सतत ईश्वर-स्मरण करना चाहिये। अगर ऐसा न हो सके तो प्रत्येक कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें ईश्वरस्मरण अवश्य कर लेना चाहिये—

आदौ मध्ये च अन्ते च हरिः सर्वत्र गीयते।

प्रत्येक कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें ईश्वरका स्मरण करके उसे ईश्वरार्पण कर देना गणेश-योग है, जिसे काशीके गणेशमहालके श्रीगणेशजीने बतलाया था। सोनेके पूर्व ईश्वरका स्मरण करके ईश्वरके निमित्त ही सोना चाहिये।

(८) विश्वव्यापी आकाशको पिता जानकर प्रणाम करना चाहिये और विश्वव्यापी पृथ्वीको माता जानकर प्रणाम करना चाहिये।

(९) सम्पूर्ण भौतिक जगत्‌को अपने साथ एक और युक्त देखना चाहिये; फिर स्थूल और सूक्ष्म, अन्तरिक्षके अदृश्य जगत्‌को भी मानसिक दृष्टिसे अपने साथ एक, युक्त और अभिन्न जानना चाहिये; और वर्तमान स्थूल जगत्, अन्तरिक्ष और अध्यात्म तीनों लोकोंको आत्माकी दृष्टिसे अपने साथ एक, युक्त और अभिन्न जानना चाहिये। इस ज्ञानके लिये सबसे प्रेम, मैत्री, दया आदिका भाव मन, वचन, कर्मसे रखना चाहिये।

(१०) मन, वचन और कर्मसे सबके साथ पूर्ण अहिंसाका बर्ताव रखना चाहिये। इससे ज्ञान-दृष्टि मिलती है। जिससे यथार्थ प्रेम, महाभाव, श्रेय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है।

(११) प्रातःकाल शय्यासे उठते ही पहले माता-पिता, फिर विद्यागुरु, फिर आचार्य और फिर गुरुकी वन्दना करनी चाहिये। उसके बाद जगत्पति श्रीब्रह्माको गुरुरूपमें, फिर विश्वके पालनवाले विराट् श्रीविष्णुको गुरु-भावसे और फिर उत्तम निर्माणके निमित्त संहारकर्त्ता श्रीमहेश्वरको गुरु-भावसे वन्दन करना चाहिये। उसके बाद परम परात्पर सबके परम कारण परब्रह्मकी गुरुरूपमें वन्दना करनी चाहिये। उसके बाद सृष्टिमात्रके कल्याणकी कामना करनी चाहिये। इसके लिये वचन हैं—

(१) मातृपितृभ्यां नमः। (२) शिक्षकेभ्यो नमः। (३) आचार्येभ्यो नमः। (४) श्रीगुरवे नमः।
(५) गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द उत्तिष्ठ गरुडध्वज।
उत्तिष्ठ कमलाकान्त त्रैलोक्यमङ्गलं कुरु॥

इस योगकी साधना इसके आचार्य श्रीसुधीररञ्जन भादुड़ी, भृगु-कार्यालय, ३७। ३७ बाँसका फाटक बनारस-सिटीसे सीखनी चाहिये। यह सन्ध्याके समय मुफ्तमें उपदेश देते हैं और गुरु होनेका दावा नहीं रखते। यह साधना उपासनासम्मिलित राजयोगके समान है, जिसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

(१) रात्रिके समय अन्धकारमें दृष्टिको एकाग्र करना चाहिये।

(२) *शक्ति-सञ्चार*— अपने इष्टके चित्रको इस तरह रखना चाहिये कि वह ठीक हृदयके सामने पड़े और फिर उसके समक्ष खड़े होकर अपने नेत्रोंको इष्टके चरणकमलोंमें गड़ा देना चाहिये। अपने शरीरको लोहेके समान कड़ा कर लेना चाहिये। फिर अपने दोनों हाथोंको दोनों बगलमें नीचे गिरे हुए रखकर वहाँसे फिर धीरे-धीरे ऊपर उठाना चाहिये। यह सब करते समय इष्टके मन्त्रका जप भी करते रहना चाहिये। दोनों हाथोंको पृथक्-पृथक् दोनों ओर उठाकर अपने मस्तकके ऊपर जहाँतक सम्भव हो, ले जाना चाहिये। उसके बाद ऊपर दोनों हाथोंको मिलाकर साथ ही अपने सामने नीचे उतारना चाहिये। जब दोनों हाथ हृदयके समक्ष आ जायँ तब सम्पूर्ण शरीरको दोनों हाथोंके साथ, एकदम ढीला कर देना चाहिये। स्मरण रहे, इतने समयतक दोनों हाथोंके समेत सारा शरीर लोहेके समान कठिन रहना चाहिये और दोनों सटे हुए हाथोंके इस भावनाके साथ हृदयके सामने लाना चाहिये कि इष्टदेवके चरण-कमलके अमृतका सञ्चार हमारे हृदयमें हुआ है। फिर इष्टदेवके चित्रको नमस्कार करके आसनपर बैठ जाना चाहिये।

(३) *अम्बुज-मुद्रा*— दोनों हाथकी अँगुलियोंको पृथक्-पृथक् करके अर्द्धवृत्तके समान बना लेना चाहिये और एक हाथकी प्रत्येक अँगुलीके सामने दूसरे हाथकी समान अँगुली रखनी चाहिये। किन्तु दोनों हाथकी अँगुलियोंको सटाना नहीं चाहिये, अँगुलियोंके बीच प्रायः आधी इञ्चका अन्तर रहना चाहिये। इस तरह हाथोंको रखकर यथासाध्य इष्टके मन्त्रका जप करना चाहिये।

(४) *दृष्टिपूजा*— अपने इष्टके चित्रके चरणोंमें दृष्टिको एकाग्रताके साथ सन्निविष्ट करके इष्ट-मन्त्रका जप करना चाहिये। उसके बाद अपने हृदयमें इष्टकी मूर्तिके चरणोंमें ध्यान लगाकर मन्त्र-जप करना चाहिये। तत्पश्चात् इष्टके चित्रमें दृष्टि सन्निवेशित कर बिना मन्त्रके ध्यान करना चाहिये और उसके बाद पुनः हृदयमें इष्टके चरणोंका बिना मन्त्रके ध्यान करना चाहिये।

(५) *नाभिमें दृष्टिपूजा*— नाभिके बाहरी भागमें दृष्टि लगाकर सौ बार इष्टमन्त्र जपना चाहिये—इससे न अधिक जपना चाहिये न कम। संख्या ठीक रखनेके लिये प्रत्येक मन्त्र-जपके बाद संख्या भी कहते जाना चाहिये। जैसे, यदि मन्त्र 'राम' हो तो राम एक, राम दो, राम तीन इत्यादि, इस तरह सौतक कहना चाहिये। उसके बाद नाभिके सामनेके मेरुदण्डके बाहरी भागमें दृष्टि जमाकर पचीस बार मन्त्रजप करना चाहिये। उसके बाद नाभिके भीतर फिर सौ बार और तत्पश्चात् नाभिके भीतरी भागके सामने मेरुदण्डके अन्दर जहाँ मणिपूरचक्र है, वहाँ पचीस बार जप करना चाहिये। इस साधनासे पाकशक्तिकी भी वृद्धि होती है।

(६) *षट्चक्रबेध*— यह बेध मेरुदण्डके छः चक्रोंमें क्रमशः केवल चिन्तनद्वारा होता है। सबसे पहले प्रथम चक्र मूलाधारमें, जो मेरुदण्डके नीचे लिङ्ग और गुदाके बीचमें भीतर है, अन्तर्दृष्टि करनी चाहिये और **'एकाय नमः'** अथवा 'एक' का उच्चारण करना चाहिये। फिर दूसरे चक्र स्वाधिष्ठानमें, जो लिङ्गके सामने भीतर मेरुदण्डमें है, अन्तर्दृष्टि रखकर **'द्वितीयाय नमः'** अथवा दो कहे। इसी प्रकार नाभिके सामने चक्र मणिपूरमें तीन अथवा **'तृतीयाय नमः'** हृदयके सामनेके अनाहतमें **'चतुर्थाय नमः'** या चार, कण्ठके सामने विशुद्धिमें **'पञ्चमाय नमः'** अथवा पाँच, भ्रूमध्यके भीतर आज्ञा-चक्रमें **'षष्ठाय नमः'** अथवा छः कहना चाहिये। फिर वहाँसे लौटनेमें आज्ञाचक्रमें ही **'सप्तमाय नमः'** अथवा सात कहना चाहिये, विशुद्धिमें आठ, अनाहतमें नौ,

मणिपूरमें दस, स्वाधिष्ठानमें ग्यारह और मूलाधारमें बारह कहना चाहिये। अर्थात् प्रत्येक चक्रमें चक्रकी संख्या एक, दो अथवा **एकाय, द्वितीयाय** अथवा **एकाय नमः, द्वितीयाय नमः** इत्यादि कहना चाहिये। इस तरह जितनी बार इच्छा हो चिन्तन और संख्याका उच्चारण करके ऐसी भावना करनी चाहिये कि चक्र-वेध हो गया। कुछ दिनोंके बाद मेरुदण्ड फूटेगा और चींटीके चलनेके समान अनुभव होगा। फिर मालिश होनेके समान अनुभव होगा और वायु चक्रोंको बेधकर ऊपरको उठेगी। फिर आनन्दका अनुभव होगा।

(७) *अजपा जप*— श्वास उठनेपर बाहर और नीचेसे वायु भीतर और उदरमें आती है और फिर वह फिरकर बाहर और नीचे जाती है। यह श्वास-प्रश्वासकी गति सदा होती रहती है। अजपा जप यह है कि जब श्वासमें पूरक हो यानी वायु ऊपर और भीतर जाय तब 'सो' मन्त्रका उसके द्वारा उच्चारण होता हुआ समझना चाहिये, जैसा कि स्वयं होता रहता है। फिर जब थोड़ी देर ठहरकर श्वास वापस आवे अर्थात् बाहर और नीचे जाय तब 'अहम्' पर जिसका स्वाभाविक उच्चारण होता है, ध्यान देना चाहिये। फिर पूरा रेचक हो जानेपर बहुत थोड़ी देर ठहरकर उसके पूरकपर ध्यान देना चाहिये जब कि 'सो' का उच्चारण होता है। इस प्रकार जबतक इच्छा हो, इस 'सोऽहम्' के अजपा जपपर जो स्वाभाविक होता रहता है, ध्यान देना चाहिये। उसके बाद मूलाधारसे जो वायु उठकर आज्ञाचक्रतक भीतरमें जाती है, उसपर ध्यान देना चाहिये। जब वायु मूलाधारसे उठकर आज्ञाचक्रतक जाती है, उस समय 'सो' के जपका ध्यान करना चाहिये और बहुत थोड़ी देर ठहरकर जब वायु फिर आज्ञाचक्रसे चार चक्रोंको स्पर्श करती हुई मूलाधारमें जाती है, उस समय 'अहम्' जपका ध्यान करना चाहिये। फिर वहाँ बहुत थोड़ा ठहरकर श्वास ऊपरकी ओर बीचके चक्रोंको स्पर्श करता हुआ जायगा, उस समय 'सो' का जप करना चाहिये। इस प्रकार भीतर चक्रोंमें श्वास-प्रश्वासके आवागमनके साथ 'सोऽहम्' का जप करना चाहिये। फिर भ्रूमध्यके भीतर अग्रभागसे श्वासको लेकर भ्रूमध्यके पीछेके भागको स्पर्श कराकर ऊपर सहस्रारमें ले जाना चाहिये, जिससे 'सो' का जप होता है; और सहस्रारमें बहुत थोड़ी देर ठहरकर उसे वहाँसे भ्रूमध्यके पश्चाद्भागसे लाते हुए उसके अग्रभागमें समाप्त कर देना चाहिये, जिससे 'अहम्' का जप होता है। फिर वहाँ थोड़ी देर ठहरकर पहलेकी भाँति भ्रूमध्यके पश्चात् भागको स्पर्शकर सहस्रारमें ले जाना और वहाँ थोड़ा ठहरकर फिर नीचे उसी क्रमसे लाना चाहिये। यह अजपा जपका तीसरा प्रकार है। इस प्रकार तीनों प्रकारका अजपा जप यथाशक्ति करना चाहिये।

(८) *महामुद्राका अभ्यास*— हठयोगके ग्रन्थोंमें महामुद्राका, जो एक प्रकारका आसन है, वर्णन है। उसे जानकर अभ्यास करना चाहिये। यह पश्चिमतान आसनके समान है। व्यायामवाले इसे abdominal व्यायाम कहते हैं। यदि महामुद्रा न हो सके तो उसके बदले इष्टका ध्यान-जप हृदयमें करना चाहिये।

(९) *सोलह आधारोंमें दृष्टि*— ये सोलह आधार पैरके अँगूठेसे लेकर सहस्रारतक हैं। साधकको चिन्तन करना चाहिये कि प्राणवायु पैरके अँगूठेसे चलकर बीचके आधारोंको क्रमशः स्पर्श करती हुई सोलहवें आधार सहस्रारमें पहुँची और वहाँसे लौटकर बीचके आधारोंको क्रमशः स्पर्श करती हुई पुनः अँगूठेमें आयी। इस प्रकार यथासाध्य कई बार चिन्तन करना चाहिये। इसका उत्तम परिणाम यह होता है कि इस साधनासे और सत्यादि सद्भावके अभ्याससे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और मृत्युके समय प्राणवायुके ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा निकलनेमें सुगमता होती है। ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्राणके प्रयाण करनेसे जीवात्मा ऊर्ध्वलोकमें जाता है। षोडश आधार इस प्रकार हैं—(१) पैरका अँगूठा, (२) गुल्फ, (३) जानु, (४) जंघा, (५) ऊरु, (६) नितम्ब, (७) मूलाधार-चक्र, (८) स्वाधिष्ठान, (९) मणिपूर, (१०) अनाहत, (११) विशुद्ध, (१२) आज्ञा, (१३) तालुके ऊपर ललना नाड़ी, (१४) हंसचक्र जो गुरुपीठ है, (१५) द्विदल कमल और (१६) सहस्रार।

यहाँतक साकारोपासनाकी साधना हुई। किन्तु जो लोग निर्गुण-मार्गका अनुसरण करना चाहते हैं, उन्हें नीचेकी साधना करनी चाहिये। सगुणोपासक भी इस साधनाको कर सकते हैं।

(१०) आँख बन्द करके भ्रूमध्यमें बिना आँखको दाबे ध्यान करना चाहिये। कुछ दिनोंतक ध्यान करनेपर तीन अथवा पाँच बिन्दु दिखायी देंगे, जिनमें एक कृष्ण और बाकी श्वेत हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये। बिन्दुके भीतर प्रवेश करनेपर भीतरका भूताकाश दिखायी पड़ेगा। उसके बाद तृतीय नेत्र प्रकट होगा, जो ज्योतिसे घिरा रहेगा। यह ज्योति मकड़ीके जालके समान होती है और काँपती रहती है। फिर उस ज्योतिमें वर्ण दिखायी पड़ेगा, उसमें गुहा, और गुहाके भीतर चन्द्रमा और तारे दिखायी देंगे। उसके बाद अन्धकारपूर्ण गुहा अपने भीतर स्वतः ले जायगी। उसके भीतर महाकाश है जिसमें हिरण्यवर्णके सूर्य हैं। वहाँपर ईश्वर प्रेमस्वरूप हैं और सर्वत्र प्रेम व्याप्त है। उसके बाद चिदाकाश है, जिसमें आत्मदर्शन होता है। वहाँकी सब वस्तुएँ 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' उच्चारण करती हुई मालूम होंगी। उसके बाद दूधके समान हंस और उसके बाद त्रिकोण दिखायी पड़ेगा। जिसके मध्यमें भीतर ब्रह्म-बिन्दु होगा। ध्यानसे बिन्दुका लय हो जायगा। यही यथार्थ अन्तिम योगका ध्यान-बिन्दु है।

(११) कानोंको अँगुलीसे अथवा मोमसे बन्द करके अनाहत-शब्द सुननेका अभ्यास करना चाहिये। प्रथम अग्निके जलनेका शब्द मालूम होगा, फिर आरतीकी घण्टी—इस तरह दस प्रकारके शब्द सुनायी देंगे। फिर सुन पड़ेगा 'विराम' अर्थात् ठहरो, फिर सिंहनाद, फिर धीमा और दूरीपर वंशीनाद, और फिर समीप सुनायी देगा। किन्तु इस वंशीध्वनिको अधिक नहीं सुनना चाहिये; क्योंकि इसमें लय हो जानेकी सम्भावना रहती है। पीछे 'सोऽहम्' शब्द बहुत धीमे, फिर 'सी सी' जैसा शब्द और अन्तमें ओंकार (ॐ) का शब्द सुनायी पड़ेगा। इसके बाद पवित्र ज्योति दिखायी पड़ेगी, जिसमें सिद्ध महात्मागण दीख पड़ेंगे। और फिर ज्योतिमें रक्त हंस दिखायी देगा—तत्पश्चात् आत्म-दर्शन होगा।

अन्तमें शाम्भवी मुद्राका अभ्यास किया जाता है, जो गुरुगम्य है।

इस अभ्यासको करनेवाला साधक कुछ समय अभ्यास करनेके बाद ८ से १२ घण्टेतक बीमार पड़ता है, जिसमें ज्वर, दस्त और कम्प रहते हैं। किन्तु इससे किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिये। बीमारी स्वयं चली जाती है।

तारकयोग

(लेखक—श्रीमन्निजानन्द-सम्प्रदायके आदिपीठस्थ आचार्य श्रीधनीदासजी)

'योग' विषय गूढ़ तथा व्यापक होनेसे योग-शब्दाभिप्रेत सभी तत्त्वोंका परिचय संक्षेपमें नहीं दिया जा सकता। आजकल योग शब्द इतना व्यापक हो गया है कि उसके वाच्यार्थकी नियत प्रतीतिका पतातक नहीं। फिर भी साधारणतया 'योग' का अर्थ किसी अभीष्ट वस्तुके लिये 'अन्तःकरणपूर्वक तत्पर होना' मान लें तो अनुचित न होगा। कारण, योगान्तर्गत जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब किसी अभीष्टप्राप्ति या मिलापके लिये ही की जाती हैं; वे चाहे किसी रूपमें क्यों न हों। लोकमें भी किसी अभीष्ट वस्तुके मिलापको 'योग' और अलग होनेको 'वियोग' कहते हैं। किसी वस्तुके साथ अन्य पदार्थके सहकारको भी योग कहा जाता है। यद्यपि महर्षि पतञ्जलि योगका अर्थ **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** कहकर चित्तवृत्तिका निरोध बताते हैं तथापि चित्तके निरोधमात्रसे योगका अर्थ पर्यवसित नहीं होता। व्यासभाष्यमें योगका अर्थ समाधि किया है। पर समाधि भी किसी परीप्सित अर्थके लिये ही होती है। इस प्रकार प्रसङ्गानुसार योगके अनेक अर्थ हो सकते हैं। फिर भी योग शब्दसे उसी क्रिया-कलापका ग्रहण करना होगा जो किसी अलौकिक अथवा लोकोत्तर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये किया जाता हो। ऐसी वस्तु ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा परमात्मप्राप्तिके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती। अतः मानना होगा कि ब्रह्मप्राप्तिके मार्गका नाम 'योग' है, वह चाहे किसी प्रकारका क्यों न हो। ब्रह्मप्राप्ति मन्त्र-तन्त्र, जप-योग, समाधि-साधना आदि अनेक प्रकारसे मानी गयी

है। अतएव अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख पाया जाता है। जिसे जिस योगद्वारा अभीष्ट वस्तु प्राप्त हुई उसने उसीको सर्वोत्तम समझ उपदेश किया। इस प्रकार योगको अनन्त नामरूप प्राप्त हो गये। इन सबमें कौन-सा योग श्रेष्ठ है, यह कहना कठिन है। परन्तु अनुभव और उदाहरणोंपरसे प्रत्येक प्राणी अपने विचारोंको सर्वसाधारणके समक्ष रखनेका हकदार है। निजानन्दसम्प्रदाय (प्रणामीधर्म)-के आदिसंस्थापक सद्‌गुरु श्रीदेवचन्द्रजी तथा प्राणनाथ प्रभुने अपने सिद्धान्तोंमें जिस योगको माना है उसका संक्षिप्त रूप 'योगाङ्क' पाठकोंके समक्ष रखना धर्म होगा।

आपने एक अपूर्व और अद्वितीय ज्ञानका अन्वेषण किया है जिसे तारकयोग किंवा तारकप्रेमयोग कहते हैं। तारकयोगमें अन्य योगोंकी भाँति विशेष क्रिया-कलापोंकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अधिकारी पात्र योग्य होना चाहिये। बस, जिस प्रकार एक दीपसे अन्य दीपोंका संयोग होते ही सभी दीप तत्काल एक कालावच्छेदेन तत्समान प्रकाशयुक्त होते चले जाते हैं। और प्रथम दीपको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार तारकयोगद्वारा प्रत्येक योग्य अधिकारीको, बिना क्रम, समान शक्ति प्राप्त होते देर नहीं लगती और ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य प्राणी बन जाता है। जैसे दीप अन्य दीपको समान प्रकाश प्रदानकर घट-पट आदिका बोधक बना देता है वैसे ही तारकयोगद्वारा तत्काल समान शक्तिसम्पन्न योगी माया-ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञाता हो ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लग जाता है। अतः दीपवत् गुण होनेसे इसे 'दीपकज्ञान' नामसे भी पुकारते हैं। इस विषयमें तत्काल समान शक्तिप्राप्त शिष्योंद्वारा कही हुई साखी भी पायी जाती है। यथा—

गुरु कंचन, गुरु पारस, गुरु चंदन परमान।
तुम सद्‌गुरु दीपक भये, गुरु कियो जु आपु समान॥
दीपक ज्ञान हाथ कर दीन्हो। छीर नीरको निरनय कीन्हो॥

तारकयोग कहिये या दीपकज्ञान, तात्पर्य दोनोंका एक है। इस नश्वर जगत्‌से बिना श्रम तारनेवाला होनेके कारण 'तारतम' ज्ञान भी इसीका नाम है। तारकयोग—शक्तिसम्पन्न योगीको गर्भ-जन्म, जरा-मरण आदि सांसारिक भय नहीं रहते—

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात्सन्तारयति तस्मात्तारकम्।
(अद्वय० श्रुति)

संसारजन्य कर्म, क्लेश, विपाक, जन्म-मरण आदि यावद् दुःखपरम्परासे तारनेके कारण ही 'तारक' नाम अन्वर्थक है। इस तारतम्यके रहस्यमय योगको प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता; जीवन्मुक्तदशामें विचरने लगा—फिर बाकी क्या रहा! **'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'**—उसकी कौन कहे, वह तो विश्वको पावन करने लगा, अब उसके दर्शन और परमात्माके दर्शनमें अन्तर नहीं रहा—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** वह ब्रह्मतुल्य हो गया।

तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसन्धेयः।
(अद्वय० श्रुति)

इसलिये विज्ञजनोंको आत्मदृष्टिद्वारा तारकयोगका ही अनुसन्धान करना चाहिये, इस प्रकार श्रुति आज्ञा प्रदान करती है। इस बातका अनुमोदन स्मृति भी मुक्तकण्ठसे करती है। यथा—

गुरुर्विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम्।

इस तारकज्ञानके प्रदान करनेवाले गुरुको साक्षात् ईश्वरस्वरूप समझना चाहिये और तारकज्ञानयोग निश्चय ब्रह्मस्वरूप है। जो तारकयोग प्रदान कर अन्यको भी अपने समान शक्तिसम्पन्न बना देता है वह ईश्वरस्वरूप तो है ही, इसमें सन्देह क्या? महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें 'तारकयोग' की अपूर्वता और विशेषता स्वीकार करते हैं। यथा—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। (योग० ३।५४)

'विवेकद्वारा प्राप्त किया गया 'तारकयोगज्ञान' बिना क्रम सब विषयोंको प्रकाशित करता है' अर्थात् जैसे अन्य विद्या या योग क्रमशः धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं, ऐसा तारक नहीं। यह तो एक कालावच्छेदेन अतीत अनागत समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक होते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला है। इसलिये इसे तारक नामसे पुकारते हैं। इस योगज्ञानके संस्थापक श्रीदेवचन्द्रजी महाराज हैं। जो एक दिव्य शक्तिसम्पन्न योगिराज थे। सम्भवतः विकराल कलिकालकवलित प्राणियोंको योगविषयमें असमर्थ देखकर परमात्माने देवचन्द्र व्यक्तिविशेषद्वारा इसे प्रकट

कराया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इनके पश्चात् इस तारकयोगबलका विशेष प्रचार इनके शिष्य स्वामी प्राणनाथजीने किया है। यही प्राणनाथ प्रभु बुन्देलखण्डकेशरी वीर छत्रशालके धर्मगुरु थे। आपने इसी योगबलसे वीर छत्रशालको हीरोंकी खान प्रदान की है। इसी योगबलसे आपने जहरीली नदीको पान करने योग्य बनाया। यह नदी आज भी पन्नामें विद्यमान है। इनके अनेक शिष्य हुए हैं। आज भी इसके अनुयायी लगभग पाँच लाखकी संख्यामें विद्यमान हैं जो परनामी कहे जाते हैं।

यह योग क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह द्रष्टव्य है। तारकयोग एक मन्त्रविशेषद्वारा प्राप्त ज्ञानको कहते हैं जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारका भेद बताया गया है। इसे परा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसका मुख्य साधन प्रेम है। जहाँतक सच्चा प्रेम उत्पन्न नहीं होता वहाँतक तारकयोग सिद्ध नहीं होता। इसका बल प्रेम बिना प्रकट नहीं होता। अन्य क्रियाओंद्वारा सहायता मिलती है परन्तु इसका प्राण तो प्रेम ही है। प्रेमपुट लगते ही तारकज्ञान अपूर्व योगको प्राप्त हो जाता है। प्रेममें दबाव न सही किन्तु आकर्षण है। भयङ्करता नहीं किन्तु तल्लीनता है; अभिमान नहीं किन्तु अपनापन है; निराशता नहीं अपितु विश्वास है। अतएव 'तारकयोग' प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनभूत प्रेम ही माना गया है। प्रेमद्वारा इसे प्राप्त करते विलम्ब नहीं, किन्तु होना चाहिये सच्चा प्रेम। इस योगमें एक अपूर्व विशेषता यह है कि इसका सम्यक् ज्ञान होते ही मनुष्य पद्मपलाशवत् निर्लिप्त होकर निर्भय विचरने लग जाता है। और सच्चिदानन्दके ज्ञानका अनुभवी होकर किसी प्रकारके विक्षेपको प्राप्त नहीं होता—

इतहीं बैठे घर जागे धाम। पूरन मनोरथ हुए सब काम॥

इस विनश्वर विश्वमें बैठा हुआ भी वह अपनेको ब्रह्मधाममें मानता है और पूर्णकाम होकर जन्ममरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

~~~

ऋजुयोग

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः॥*

(श्रीमद्भा० ३। २५। २६)

संसारमें आसक्त हुआ मन जिसके द्वारा परमात्मामें जोड़ा जाय उसीका नाम योग है। अतः प्रभु-प्राप्तिके जितने साधन हैं सभी योग हैं। राजयोग, हठयोग, सुरतिशब्दयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग आदि अनेकों योग हैं। जो जिस योगका अधिकारी होता है, उसके लिये वही योग उपयुक्त भी होता है। एक भक्तियोग ही ऐसा है जिसमें सबके लिये गुंजाइश है। भक्तियोग या भक्तिमार्गमें किसीके लिये मनाही नहीं, वह राजपथ है। अन्धा भी आँखें बन्द करके सहज ही चला जा सकता है, किन्तु उसके लिये भी एक योग्यताकी आवश्यकता है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया..॥

जिसका हृदय स्वाभाविक ही मुलायम न हो, जिसे भगवत्-गुण-श्रवण-स्मरणसे रोमाञ्च न होते हों, जिसकी आँखें आनन्दाश्रु न बहाती हों, वह भक्तिका यथार्थ अधिकारी नहीं। इसीलिये भक्तिके दो भेद हैं—स्वाभाविकी और वैधी। जैसे प्यासा बिना पानीके रह ही न सके, जैसे अग्नि लगी देखकर स्वाभाविक ही मनुष्य उससे दूर भागता है, ऐसे ही विषयोंसे स्वाभाविक विराग होकर प्रभुप्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा होना स्वाभाविकी भक्ति है। और शास्त्रोंमें भक्तिका माहात्म्य सुनकर भक्ति करना यह वैधी भक्ति है। किन्तु हमारी इन झूठी

*भगवत्-कथा-श्रवणसे मनुष्यको भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति हो जानेपर देखे हुए और स्वर्गादि सुने हुए जितने इन्द्रियजन्य सुख हैं, उनमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर ऋजु-योग-मार्गोंसे प्रभु-प्राप्तिके लिये यत्न करता रहता है।
~~~

आँखोंमें न तो कभी आनन्दाश्रु ही आते हैं, न यह वज्र-जैसा हृदय ही पसीजता है, फिर हम-ऐसे मूढ़मति-पुरुषोंके लिये भी कोई मार्ग है क्या? शास्त्रकारोंने हम-जैसे अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये भी उपाय बताये हैं। भक्तिमार्ग बड़ा विशद है। उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, सख्य, दास्य, अर्चन और आत्मनिवेदन ये नौ अङ्ग हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—ये पाँच भाव हैं। और भी अनेकों अनुभाव-विभावोंसे भक्तिमार्ग सुविस्तृत है। इसी भक्ति-सागरको मथकर इसका अल्पीभाव बनाकर हम सर्वसाधारण लोगोंके लिये मनीषियोंने ऋजु-योग-जैसे मार्ग बताये हैं। ऋजु-योग भक्तियोगके ही अन्तर्गत है। इसमें मृदुता और सरलता ही एक आवश्यक वस्तु है। हमारे जीवनमें पग-पगपर बनावट है। यह बनावट किसी तरहसे मिट जाय तो वह प्यारे प्रभु अपने-आप ही हमें हृदयसे चिपटा लें। छोटा निष्कपट सरल शिशु कभी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम मुझसे प्यार करो। किन्तु उसकी सरलता, मृदुता और निष्कपट चेष्टाको देखकर चित्त बिना प्यार किये रह ही नहीं सकता। यदि इसी तरह हमारे जीवनमेंसे यह दुनियावी कपट-छल निकल जायँ तो भगवान् प्रेम करनेको विवश हो जायँगे। कपट-छल ही उन्हें अच्छा नहीं लगता—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

किन्तु कपट-छल जीवनमेंसे जाय कैसे? वह ऋजु-योगके ही द्वारा सुगमता और सरलतासे जा सकता है। ऋजु-योगकी नींव श्रद्धाके ऊपर है। पूरी न हो, स्वाभाविकी न हो, थोड़ी ही सही, सुनकर ही सही, हठपूर्वक ही हो, शास्त्रवाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनी चाहिये। थोड़ी भी श्रद्धा होनेसे इस मार्गमें आनेपर धीरे-धीरे श्रद्धा स्वतः ही बढ़ जाती है। जो वेद, शास्त्र और गुरुवाक्योंकी निन्दा करता है, उन्हें ढोंग समझता है वह तो इधर आवेगा ही नहीं। यदि अणुमात्र श्रद्धासे या वैसे ही शुरू कर देनेपर जो बढ़ता है, वह तो बढ़ता ही जाता है **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'**

ऋजु-योगके चार अङ्ग हैं—सत्सङ्ग, भगवत्कथा-श्रवण कीर्तन और जप। इन चारोंके ही द्वारा मनुष्य परमपदतक पहुँच सकता है। इन्हींका नाम ऋजु-योग है, इसमें सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। सभी इस सरल सुगम संक्षिप्त मार्गसे अपने गन्तव्य मार्गतक पहुँच सकते हैं। बहुत संक्षेपमें इन चारोंपर यहाँ विचार कर लीजिये—

१. *सत्सङ्ग*—ऋज-योगकी सर्वप्रथम सीढ़ी है सत्सङ्ग। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको ऋजु-योगका उपदेश देते हुए आरम्भमें ही कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

अन्तःकरणको और बाह्य करणोंको आनन्दित करनेवाली कमनीय कथाएँ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें ही सुननेको मिल सकती हैं। उन कथाओंके श्रवणसे अति शीघ्र ही परमार्थस्वरूप प्रभुकी प्राप्तिके विषयमें प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा होनेपर रति होती है और रति होनेपर भक्ति प्राप्त होती है। सत्सङ्गके बिना इस मार्गमें जाना ही नहीं हो सकता। सत्सङ्गतिकी महिमा तो शास्त्रोंमें भरी पड़ी है, किन्तु विचारणीय यह है कि हम मन्दमतियोंको यह निर्णय कैसे हो कि यह साधु हैं। आजकल बहुत-से असाधु साधुवेशमें घूमते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें तितिक्षु, करुणायुक्त, सर्वप्राणियोंके मित्र, निर्वैर, शान्त, निरन्तर भक्ति करनेवाले, वीतरागी, गृहत्यागी, भगवत्कथा सुननेवाले आदि बहुत-से गुण साधुओंके बताये हैं, किन्तु हम साधारण लोगोंमें इतनी बुद्धि कहाँ कि जो इन गुणोंकी परीक्षा कर सकें। इसलिये साधुकी मोटी पहचान यही है कि जो हर समय भगवत्-भजन, भगवत्-कथा-श्रवण और भगवन्नाम-जपमें लगा रहता हो। जिसका कोई भी समय व्यर्थकी बातोंमें-गप-शपमें न जाय। जो अपने शरीरके सुखोंके लिये चिन्ता न करता हो, यदि उसे कोई चिन्ता हो तो भी वह दूसरोंके दुःखोंकी चिन्ता हो। उसे साधु समझना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें एक जगह लिखा है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

समदर्शी साधु लोगोंके दुःखोंको देखकर दुखी होते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस अखिलेश्वर जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करनेके निमित्त दुःख भोगना ही उनकी परम आराधना है। जिनकी सभी

चेष्टाएँ प्रेमपूर्ण हों और जिनके शारीरिक काम यदि हों भी तो वे परोपकारके लिये हों। बस, उन्हींको साधु समझकर उनकी सङ्गतिमें रहना चाहिये। साधु दूसरोंकी निन्दा न करेगा, न दूसरोंके दोषोंका ही वर्णन करेगा, उसकी सभी क्रियाएँ प्रेममयी होंगी और वह दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेमें सर्वदा तत्पर रहेगा। राजर्षि भर्तृहरिने सन्तकी कैसी सुन्दर सर्वांगीण व्याख्या की है, वे कहते हैं—

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

जिनका मन प्रेमपियूषसे परिप्लावित हो, जिनकी वाणी प्रेममयी मधुमयी हो, जिनका शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी चेष्टाओंसे प्रेम प्रकट होता हो और जो अपने उपकारोंकी बाढ़से त्रिभुवनको बहाते-से रहते हों तथा दूसरोंके अणुमात्र गुणको पर्वतके समान बनाकर अपने हृदयमें विकसित करते रहते हों ऐसे सन्त इस धराधामपर कितने हैं? यदि सौभाग्यसे ऐसे सन्त मिल जायँ और ढूँढ़नेपर मिल ही जाते हैं तो उनका सङ्ग निरन्तर करना चाहिये।

२. *भगवत्कथाश्रवण*—दूसरी सीढ़ी है भगवत्-कथाश्रवणकी। इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक जैसे भी बने वैसे ही कथा सुननी चाहिये। भगवत्कथाश्रवणका व्यसन लग जाना चाहिये। अफीम-जैसी कड़वी चीजको स्वादसे, स्वेच्छासे पहले-ही-पहले कोई नहीं खाता। खाते-खाते जब आदत पड़ जाती है, तब फिर बिना उसके रहा ही नहीं जाता। वैसे ही भगवत्कथा हमारे शरीरकी खूराक बन जाय। यह कभी मत सोचो कि बिना मनके कथा सुननेसे क्या लाभ? स्कूल-कालेजोंके अधिकांश छात्र बिना मनके ही पढ़ने जाते हैं। यदि उन्हें घरवालोंका, फेल होनेका और जुर्मानेका भय न हो तो महीनोंमें बहुत कम दिनों वे अपनी इच्छासे पढ़ने जायँ। वहाँ जानेपर भी सबका मन अध्यापककी व्याख्यापर या पाठपर ही लगा रहता हो सो भी बात नहीं। प्रायः सभी कानोंसे व्याख्यान सुनते हैं। मनसे मित्र, दोस्त, सिनेमा, सभा और शतरंजकी बातें सोचते रहते हैं। फिर भी वे पास हो जाते हैं और इसी बेमनके श्रवणसे बी० ए०, एम० ए० बन जाते हैं। इसी बातको लक्ष्य करके भगवान् कपिल कह रहे हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

'जिन्होंने सब कार्य मेरे ही अर्पण कर दिये हैं और जिन्हें मेरे ही पानेकी इच्छा है वे मुझसे एकात्म होनेकी अर्थात् मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे तो मेरे पाद-पद्मोंकी सेवामें संलग्न हैं। वे परस्परमें बैठकर हठपूर्वक भी—मन न लगता हो तो भी—एक-दूसरेको आपसमें मेरे गुणोंको सुनाते रहते हैं और सुनते रहते हैं।'

भगवत्-कथाओंमें सुनते-सुनते रस आने लगता है। छोटा बच्चा पहले बेमनसे—माताके हठपूर्वक खिलानेपर अन्न खाता है; खाते-खाते अभ्यास हो जाता है। फिर रुचि भी बढ़ने लगती है तदनन्तर वह उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि बिना अन्न खाये उसे चैन ही नहीं पड़ता। जी तड़फड़ाने लगता है। इसी प्रकार हठपूर्वक कथा सुनते-सुनते सुननेका अभ्यास होगा फिर रुचि भी बढ़ने लगेगी। अन्तमें तो उसमें तल्लीन हो जाओगे। कथा सुने बिना कल ही न पड़ेगी। यह दूसरा अंग है।

३. *कीर्तन*—तीसरी सीढ़ी है भगवन्नामकीर्तन। जैसे बने तैसे गाकर, रोकर, जोर-जोरसे, धीरे-धीरे, सबके साथ मिलकर, अकेलेमें, बैठकर, खड़े होकर, तालस्वरसे, बिना तालके, गा-गाकर अथवा बाजोंके तालस्वरके सहित भगवन्नामोंका और भगवत्-गुणोंका कीर्तन करना चाहिये। वैसे तो कीर्तन सभी युगोंमें सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु कलियुगमें तो कीर्तनके सिवा कोई गति ही नहीं। भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।

अर्थात् केवल श्रीकृष्णकीर्तनसे ही मनुष्य इस घोर कलिकालमें परमपदको प्राप्त कर सकता है। कीर्तनके विषयमें विशेष बतानेकी आवश्यकता नहीं। शास्त्रोंमें इसकी अनन्त महिमा है।

४. *जप*—ऋजुयोगकी चौथी सीढ़ी है जप। जप वेदमन्त्रोंका तथा पौराणिक मन्त्रोंका भी होता है। उनकी

शास्त्रोंमें अनेक विधियाँ हैं। विधिपूर्वक करनेसे उनका प्रत्यक्ष फल मिलता है। इसीलिये महादेवजीने जोर देकर पार्वतीजीसे तीन बार कहा है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने।

'हे वरानने! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जपसे सिद्धि होती है, होती है, होती है।'

किन्तु वैदिक मन्त्रोंके जपकी विधिको द्विजेतर मनुष्य नहीं कर सकते। द्विजोंमें भी पढ़े-लिखे और संस्कृत पुरुष ही कर सकते हैं, किन्तु भगवन्नामजपमें किसी प्रकारकी विधि नहीं। यह जप तो सब विधिनिषेधोंसे परे है। चाहे जो हो, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल कोई हो, किसी भी अवस्थामें हो, किसी भी देशमें कहीं हो, हर समय इसका जप कर जाता है। और श्रद्धापूर्वक भगवन्नामजपसे वही फल मिल जाता है जो अन्य वैदिक मन्त्रोंसे मिलता है। इससे सरल कोई मार्ग ही नहीं।

इस प्रकार ऋजुयोगके ये चार अङ्ग हैं। यदि आप राजयोग नहीं कर सकते, हठयोगके लायक आपका शरीर नहीं है, यदि आप प्राणोंको दसवें द्वारमें ले जाकर समाधि नहीं लगा सकते, यदि आप भगवत्-विग्रहकी षोडशोपचार-रीतिसे पूजा करनेमें भी असमर्थ हैं तो आप मनसे, बेमनसे जैसे भी बने, भगवान्‌के नामोंका जप कीजिये। श्रीरामायण, भागवत और महाभारतकी कथा सुनिये, साधु पुरुषोंका सङ्ग कीजिये और भगवन्नाम तथा गुणोंका कीर्तन कीजिये। आप सभी योगियोंसे बढ़ जायँगे, आप उस निर्वाणपदको भी पार कर जायँगे। शास्त्रोंमें इसे ऋजुयोग, संक्षिप्तयोग, सरलयोग या मृदुयोग कहा है।

यह बात नहीं कि ये चारों अङ्ग ही हों और बिना चारोंके किये सिद्धिलाभ होती ही न हो। ये चारों स्वतन्त्र भी हैं। केवल कथा ही श्रवण करते रहें और कुछ भी मत करें, निरन्तर भगवल्लीलाओंका श्रवण और उनका मनन करते रहें आप परमपदको प्राप्त कर लेंगे। और किसी भी साधनकी जरूरत नहीं। महाराज परीक्षित् इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। केवलमात्र कथाश्रवणसे ही वे सर्वसंगविनिर्मुक्त हो गये।

केवलमात्र सत्संग ही करते रहें, साधु पुरुषोंकी सेवा करें, उनके वचनामृतोंको सुनें, उनकी सब प्रकारसे शुश्रूषा करें, आपको परमयोगियोंसे भी ऊँची पदवी प्राप्त हो जायगी। बहुत-से यातुधान, खग, मृग, स्त्री, शूद्र केवलमात्र सत्सङ्गके सहारे ही इस संसाररूपी घोर सागरको बात-की-बातमें तर गये। केवल सत्सङ्ग ही सभी साधनोंका फल दे देता है।

'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।'

केवलमात्र कीर्तनको ही अपने जीवनका एकमात्र साधन बना लें। उठते-बैठते सर्वदा हरिकीर्तन करते रहें तो उसीसे प्रभुप्राप्ति होगी, इसमें सन्देह करना भी घोर पाप है। नारदादि इसके साक्षी हैं।

इसी प्रकार केवलमात्र जपसे ही परम समाधि लगती है और सिद्धि प्राप्त होती है। वाल्मीकिजी तो उलटा नाम जपकर ही सिद्ध हो गये। इसलिये ये चारों मिला लिये जायँ तब तो एक हैं, और अलग कर दिये जायँ तो स्वतन्त्र हैं, इसीलिये सर्वप्रथम जो श्लोक दिया है उसमें **'ऋजुभिर्योगमार्गैः'** ऐसा बहुवचन है, ये चारों ही ऋजुयोग हैं। चारों ही स्वतन्त्र हैं और एक भी हैं। हम सर्वसाधारणकी एकमें निष्ठा होनी कठिन है, अतः हमारे लिये सुगमता यही है कि कुछ काल जप करें, कुछ काल कीर्तन करें और कुछ काल सत्सङ्गमें बैठकर भगवत्कथाश्रवण करें। जो भाई इस ऋजुयोगका आचरण करेंगे, वे सभी संसारी तापोंसे छूट जायँगे। वे इस संसारसागरको गौके खुरकी तरह बात-की-बातमें लाँघ जायँगे।

जपयोग

(बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकर)-के अनुभवयुक्त विचार)

योग क्या है?

योग शब्दके अनेक अर्थ हैं पर मुख्य अर्थ दो हैं—एक 'जोड़ना', और दूसरा 'उपाय'। योगसाधनके द्वारा साधकका मन अन्तर्यामीके साथ जोड़ा जाता है। साध्य एक होनेपर भी उसे सिद्ध करनेके अधिकार-भेदसे अनेकानेक साधन होते हैं, यही तो हिन्दूधर्मकी विशेषता ही है। ऐसे सब साधनोंका सामान्य नाम 'योग' है और फिर प्रकारभेदसूचक शब्द लगाकर अमुक योग कहा जाता है, जैसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग इत्यादि। अर्थात् जिस-जिस उपायसे चित्तका स्वरूपके साथ योग होता है उसको योग ही कहते हैं। योगशास्त्रमें ऐसे अनेक योग हैं। उन्हींमें एक जपयोग है।

बन्ध-मोक्ष

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते॥

(श्रुति)

'मनुष्यका मन ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका वास्तविक कारण है। चित्तके चलाये संसार है और अचल किये मोक्ष है।'

श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें जो आसुरी सम्पत्ति कही गयी है उससे जब मनुष्यका मन युक्त होता है तब वह बन्धनका कारण है और जब वही मन दैवी सम्पत्तिसे युक्त होता है तब वह मोक्षका कारण है। पूर्ववासनाबलसे चित्त चञ्चल होता है और वह आत्मस्वरूपमें विचित्र संसारचित्र भासित करता है। यह चञ्चल चित्त ही संसार बनता है और द्रष्टा उस दृश्यपर मोहित हो निज स्वरूप भूल जाता है और जीवदशा तथा तदनुषंगिक दुःखोंको भोगता रहता है। जबतक चित्त चञ्चल रहता है तबतक सच्चे सुखका लाभ उसे नहीं होता और आवागमनके चक्रमें भटकता रहता है। परन्तु जब चित्त स्वरूपमें स्थिर होता है तब उसे निजानन्द प्राप्त होता है और वह कृतार्थ होता है। ग्रन्थप्रामाण्य और अनुभवप्रामाण्यसे यह बात प्रत्यक्ष होती है। परमार्थसाधनके जितने भी उपाय हैं उनमें प्रधान हेतु चित्तकी स्थिरता ही है। इस मुख्य हेतुका यदि ध्यान न रहे तो कोई भी साधन हो वह विफल है। श्रुतियोंमें चित्तस्थैर्यके अनेक उपाय बताये हैं और उनके अनुसार अनुभवी महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। जपयोग भी ऐसा ही एक शास्त्रोक्त और अनुभवसिद्ध साधन है।

वेदशास्त्रप्रमाण

हमारे धर्मका मुख्य प्रमाण वेद है। (मनु० २। ६) इस विषयमें कोई मतभेद नहीं। और वैदिक धर्मका मुख्य लक्षण 'यज्ञ' है यह भी स्पष्ट है। वैदिक वाङ्मय यज्ञमय है और अपने इस देशमें कोई समय ऐसा था जब सर्वत्र यज्ञ-ही-यज्ञ हुआ करते थे। महाभारतसे यह जान पड़ता है कि चारों वर्णोंके लिये भिन्न-भिन्न यज्ञ थे। (शान्तिपर्व अ० २३८। ३१)

पीछे यज्ञोंमें हिंसा बहुत बढ़ गयी—अति हो गयी, तब श्रौत यज्ञोंके स्थानमें स्मार्त यज्ञ उत्पन्न हुए। त्रिसुपर्णमें यज्ञके सम्बन्धमें एक अध्यात्मिक कूट है, उसे देखनेसे यह मालूम हो जाता है कि किस प्रकार यह परिवर्तन किया गया। महाभारतमें अनेक स्थलोंपर द्रव्यतम हिंसाप्रधान यज्ञोंकी निन्दा की गयी है। पुराणोंने तो हिंसा उठानेमें बहुत बड़ा काम किया है। फिर भगवान् बुद्धदेव, भगवान् जिनदेव और भगवान् शङ्कराचार्यने हिंसात्मक यज्ञोंका विरोध ही किया। भगवान् श्रीकृष्णकी शिक्षा तो यज्ञके विषयमें यही थी कि—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।

(गीता ४। ३३)

अर्थात् द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। इन यज्ञोंमें भी भगवान्‌ने 'जपयज्ञ' को ही अपनी विभूति बताया है (गीता १०। २५) जपयज्ञ सबके लिये सुगम है, इस समयके लिये तो बड़े ही कामका है। यह यज्ञ है भी ऐसा कि इसमें कोई खर्च नहीं और चाहे जब यह किया भी जा सकता है। वैदिक धर्मानुष्ठानका जो कुछ फल है वह इस यज्ञसे प्राप्त हो यह तो कालक्रमसे ही प्राप्त है। इसी जपयज्ञको जपयोग कहते हैं।

वैदिक युगमें जपयज्ञका स्वरूप 'स्वाध्याय' था। वेदाज्ञा है कि 'स्वाध्यायके विषयमें प्रमाद न करो।' दूसरी वेदाज्ञा है कि 'स्वाध्यायका अध्ययन करो।' स्वाध्यायका अर्थ है वेदाध्ययन। यह स्वाध्याय द्विजातिमात्रके लिये था। गुरुमुखसे वेदाध्ययन करके पीछे उसका पारायण करना—वेदमन्त्रोंका जप करना मुख्य तप था। बहुत कालतक ऐसा ही था। पीछे शाखा-प्रशाखाओंका बहुत विस्तार होनेसे अपनी शाखाका अध्ययन ही 'स्वाध्याय' कहा जाने लगा। तथापि स्वाध्यायरूप जप-तप चलता ही था। इस विषयके पृथक् ग्रन्थ थे और उनमें जपके सम्बन्धमें नियम थे। महर्षि शौनकका **'ऋग्विधान'** ऐसा ही ग्रन्थ है। रामायणकालमें भी स्वाध्यायकी यह परिपाटी थी। **'तपःस्वाध्यायनिरतम्'** यह वचन श्रीमद्वाल्मीकिरामायणमें आरम्भमें ही आता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र वनवास करते हुए यजुर्वेदका स्वाध्याय करते थे, इस बातका स्पष्ट उल्लेख है। महाभारतके समयमें भी यह परिपाटी थी, पर यहींसे स्वाध्यायरूप जप-तप उत्तरोत्तर घटता दिखायी देता है। इसके पश्चात् बड़ा परिवर्तन हुआ है। यज्ञ-यागादि उठ गये, भक्तिमार्ग बढ़ा और तीर्थक्षेत्रों और देवमन्दिरोंके उत्सव बढ़ने लगे। वैदिक मन्त्र पिछड़ गये, पौराणिक मन्त्र-तन्त्र आगे बढ़े—देशभरमें इन्हींका प्रचार हुआ। साध्य तो वही था जो पहले था, पर बाह्य साधन बदल गये। इस समय वैदिक देवताओं, यज्ञों और वेदमन्त्रोंके स्थानमें पौराणिक देवता, अवतार, देवप्रतिमा, देवालय, तीर्थक्षेत्र और उनके उत्सव, गीतासहस्रनामादिकोंके पाठ, पौराणिक मन्त्रोंके जप और भगवन्नामस्मरण ही प्रतिष्ठित हैं। यह केवल बाह्यरूपमें भेद है, साध्य तो सदासे एक ही चला आता है।

भगवान् मनु जपयज्ञका माहात्म्य बतलाते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनुस्मृति २—८५, ८६)

'दर्शपौर्णमासरूप कर्मयज्ञोंकी अपेक्षा जपयज्ञ, दस-गुना श्रेष्ठ है। उपांशुजप सौगुना और मानसजप सहस्रगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्शपौणमास) ये जो चार पाकयज्ञ हैं—वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन वे जपयज्ञके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।

प्रणव और गायत्री

महर्षि पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें मन्त्रसिद्धि मानी है, और यह कहा है कि इष्टमन्त्रके जपसे इष्टदेवके दर्शन होते हैं। प्रणव मुख्य मन्त्र है और उसके अर्थकी भावना करते हुए उसका जप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, यह महर्षि पतञ्जलि बतलाते हैं। प्रणवजपका श्रेष्ठत्व भगवान् मनुने भी कथन किया है। कारण, प्रणव वेदोंका मूल है। श्रुतिमें भी प्रणवकी महिमा गायी गयी है।

प्रणवके बाद बड़े महत्त्वका मन्त्र गायत्री है। यह वैदिक मन्त्र है और सबने इसकी महिमा गायी है। यह मन्त्र सब सिद्धियोंको देनेवाला है और द्विजातिमात्रको इसका अधिकार है। संस्कृतभाषामें इस विषयके अनेक प्रबन्ध हैं।

पौराणिक मन्त्र

इसके बाद भिन्न-भिन्न देवताओंके मन्त्र आते हैं और इन्हींका आजकल विशेष प्रचार है, कारण, इनका उच्चारण सुगम है और इनका अर्थ भी जल्दी समझमें आता है; नियमोंकी कोई विशेष कड़ाई नहीं है, चाहे जब, चाहे जहाँ जप किया जा सकता है। इन्हीं कारणोंसे इनका विशेष प्रचार हुआ है और हो रहा है।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हुआ कि मन्त्रजप या जपयोग सर्वमान्य है और केवल मन्त्रजपसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और सर्वधर्मानुष्ठानका फल मिलता है। यह ऐसा साधन है कि इसमें कोई कठिनाई नहीं, कोई खर्च नहीं, कोई आयास नहीं, कोई कठोर नियम नहीं। अब यह देखें कि इस योगका साधन कैसे किया जाय।

नामस्मरण और मन्त्रजप

नामस्मरण और मन्त्रजप भिन्न-भिन्न दो साधन हैं, एक नहीं। बहुतोंको तो यह भी मालूम नहीं है कि नामस्मरण क्या होता है। नामका केवल उच्चारण करनेसे, नामकी पवित्रताके कारण फल तो अवश्य होता है परन्तु बहुत ऊँचा नहीं। पर नामका यथार्थ स्मरण होनेके लिये मानसिक क्रिया आवश्यक है। जिस किसी देवताका नाम हो, नामके लेते ही उन देवताका रूप मानस चक्षुके सामने खड़ा हो जाना

चाहिये, उनके गुण-कर्मोंका स्मरण होना चाहिये, भक्तोंके लिये उन्होंने क्या-क्या किया यह मालूम होना चाहिये और भगवान्‌का सर्वोत्तमत्व और अपना अत्यन्त क्षुद्रत्व ध्यानमें आना चाहिये और उनके अपार दया-प्रेमसे गद्गद होकर उनके स्वरूपमें मिलनेका प्रयत्न होना चाहिये। ऐसा नामस्मरण श्रेष्ठ है। शास्त्रों और साधुसन्तोंने ऐसे ही नामस्मरणकी महिमा गायी है; इसीसे कहा गया है।

राम नाम सब कोइ कहे, ठग ठाकुर अरु चौर।
तारे ध्रुव प्रहलादको, वहै नाम कछु और॥

नामस्मरणमें विशेष नियम तो नहीं है, पर जो दस नामापराध हैं वे न होने चाहिये, तभी तो नामस्मरण पूर्ण फलप्रद होता है।

राम नाम सब कोइ कहे, दश रित कहे न कोय।
एक बार दश रित कहे, कोटि यज्ञ फल होय॥

इस दोहेमें जिन्हें 'दशरित' कहा है वे ही दस नामापराध हैं, जिनसे नामस्मरण 'रित' (रिक्त) होना चाहिये। ये नामापराध हैं—१. निन्दा, २. आसुरी प्रकृतिवालेको नाममहिमा बतलाना, ३. हरि-हरमें भेददृष्टि रखना, ४. वेदोंपर विश्वास न करना, ५. शास्त्रोंपर अविश्वास, ६. गुरुपर अविश्वास, ७. नाममहिमाको असत् जानना, ८. नामके भरोसे निषिद्ध कर्म करना, ९. नामके भरोसे विहित कर्म न करना और १०. भगवन्नामके साथ अन्य साधनोंकी तुलना करना। इन दसका परहेज रखा जाय तो नामजपसे शीघ्र परम सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नामस्मरणके अलावा मन्त्रजप कुछ और है। जप मन्त्रका ही होना युक्त है। केवल भगवान्‌के नाम अथवा *'रघुपति राघव राजा राम'* इत्यादि धुनोंका स्मरण या कीर्तन हो सकता है पर उसे जपयज्ञ कहना ठीक नहीं। मन्त्रोंकी रचना विशिष्ट पद्धतिसे मन्त्रशक्तिके विशेषज्ञ अनुभवी महात्माओंद्वारा की हुई होती है। उनका अर्थ गहन होता है और मन्त्रशास्त्रके नियमोंके अनुसार ही अक्षर जोड़कर मन्त्र बनाये जाते हैं और ये मन्त्र परम्परया जपके कारणसे सिद्ध और अमोघ फलदायक होते हैं। ऐसे मन्त्रोंको साम्प्रदायिक रीतिसे ग्रहण करके विशेष पद्धतिसे उनका जप करना होता है। पुस्तकोंमें मन्त्रोंको पढ़ लेनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

कुछ लोग पुस्तकोंमें कोई मन्त्र पढ़कर कुछ दिन उसका जप करते हैं, कुछ लाभ होता न देख फिर उसे छोड़ देते हैं, तब कोई दूसरा मन्त्र जपते हैं, और इसी तरह नये-नये मन्त्र जपते और निराश होते हैं। कुछ लोग कई मन्त्र एक साथ ही जपते हैं, पर किसी एकसे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता। कुछ लोग माला जपनेको ही मन्त्रजप समझते हैं और कोई बड़ी-सी माला लेकर यन्त्रवत् घुमाया करते हैं, और समझते यह हैं कि हमने इतनी संख्या जप किया। पर इतने जपका फल पूछिये तो वह नहींके बराबर होता है! परमार्थका साधन इस प्रकार नहीं हुआ करता।

माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुँहमाँहि।
मनीराम चहुँदिस फिरै, यह तो सुमिरन नाहि॥

सन्तोंकी यह बात साधकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये।

मन्त्रजपमें मालाका महत्त्व अधिक नहीं है। स्मरण दिलाना और जपसंख्याका मालूम होना ये ही दो काम मालाके हैं और माला स्वयं पवित्र भी है, इसलिये भक्त लोग उसे धारण करते हैं। पर भोले लोग मालाको अपने सम्प्रदायका चिह्न और पापनाशका साधन जानकर धारण करते हैं। कविवर मोरोपन्त तो कहते हैं कि 'मन बन्धन तोड़कर परधन और कामिनीकी ओर भागनेवाला पशु है। इसके गलेमें विवेकके रस्सेसे वैराग्यका काष्ठ बाँध देना चाहिये।'

दीक्षा

ऊपर हम लोग देख आये हैं कि मन्त्रजप यज्ञ है और वह ईश्वरकी विभूति है। यज्ञका अधिकार दीक्षाविधिसे ही प्राप्त होता है, यह वैदिक नियम है। संहिता-ब्राह्मणमें इस विषयके वचन हैं। इसलिये किसी अधिकारी पुरुषसे ही मन्त्रकी दीक्षा लेकर तब जप करना चाहिये। श्रद्धालु साधक ऐसा ही करते हैं। गायत्रीमन्त्र दीक्षाविधिसे ही लिया जाता है और उस विधिको व्रतबन्ध कहते हैं। शैव-वैष्णवादि सम्प्रदायोंमें दीक्षाविधि चलती ही है। बहुत-से लोग दीक्षा लेना-देना नहीं मानते, पर यह उनकी भूल है। कुछ लोगोंकी तो यह हालत होती है कि मन्त्र जपते हैं किसी देवताका और ध्यान करते हैं किसी दूसरे ही देवताका। इससे सिद्धि कैसे मिले? भगवान् यद्यपि एक हैं तो भी उनके अभिव्यक्त रूप तो भिन्न-भिन्न हैं। अपनी अभिरुचिके अनुसार परन्तु

शास्त्रविधिको बिना छोड़े किसी भी मार्गका अवलम्बन करनेसे शीघ्र फल-प्राप्ति होती है। इसलिये मन्त्र दीक्षाविधिसे ही लेना चाहिये। जिसने स्वयं दीक्षाविधिसे मन्त्र लिया हो और जपा हो उससे मन्त्र लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। दीक्षाविधिके लिये शुभ समय, शुभ स्थान और चित्तमें उत्साह होनेकी बड़ी आवश्यकता है। मन्त्र ले चुकनेपर फिर एक दिन भी मन्त्र-जापके बिना खाली न जाय।

जपविधि

श्रीगुरुसे मन्त्रदीक्षा लेकर साधन-मन्त्रका जप आरम्भ करे। जिनके लिये सुभीता हो, वे किसी एकान्त पवित्र स्थानमें, नदी-किनारे अथवा शिवालयमें जप करें। जिनके ऐसी सुभीता न हो वे अपने घरमें ही जपके लिये कोई रम्य स्थान बना लें। इस स्थानमें देवताओं, तीर्थों और साधु-महात्माओंके चित्र रखें। उन्हें फूल-माला चढ़ावें, धूप दें। स्वयं स्नान करके भस्म-चन्दन लगाकर चैलाजिन कुशोत्तर आसन बिछाकर, पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके कन्धेपर उपवस्त्र धारण किये, इष्टदेव और गुरुका स्मरण करते हुए आसनपर बैठे। जो नित्य कर्म करनेवाले हैं वे पहले सन्ध्या-वन्दन कर लें तब प्रातःकालमें सूर्यनारायणको नमस्कार करें, पश्चात् देवपूजन करके नित्य पाठ कर लें। जो सन्ध्या आदि करना नहीं जानते* वे पहले गङ्गा, नर्मदा आदि नामोंसे शरीरपर जल-मार्जन करें, तब एकाग्रचित्त हो, सूर्यध्यान करके नमस्कार करें, अनन्तर अपने इष्टदेवका ध्यान करके गुरुमन्त्रसे सब उपचार उन्हें अर्पण करें। फिर स्तोत्र-पाठादि करके आसनपर बैठें। आसन स्वस्तिक, पद्म अथवा सिद्ध इनमेंसे कोई भी हो। दृष्टिको नासाग्र करके प्राणायाम करें। अनन्तर थोड़ी देर सावकाश पूरक और रेचक करें। इसके बाद माला हाथमें लेकर जप आरम्भ करें। मेरु-मणिका उल्लङ्घन न करें। अपनी सुविधा देखकर जपसंख्या निश्चित कर लें और रोज उतनी संख्या पूरी करें और वह जप अपने इष्टदेवको अर्पण करें। इसके पश्चात् अपने इष्टदेवके पुराण और उपदेशसे कुछ पढ़ लें। श्रीरामके भक्त हों तो श्रीअध्यात्मरामायण, श्रीरामगीता, और श्रीरामचरितमानस। श्रीकृष्णके भक्त हों तो श्रीभागवत और श्रीगीता पढ़ें। अनन्तर तीर्थप्रसाद लेकर उठें। इस क्रमसे श्रद्धापूर्वक कोई साधना करे तो वह कृतार्थ हो जायगा। यह सब तर्कसे नहीं, करके देखनेसे ही कोई भी जान सकता है। उसका चित्त आनन्दसे भर जायगा। पाप, ताप, दैन्य सब नष्ट हो जायगा। ईश्वरस्वरूपमें चिरविश्रान्ति प्राप्त होगी। सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान स्फुरित होने लगेगा और शक्ति भी प्राप्त होगी। प्रत्येक देवताके सहस्र नाम हैं, प्रत्येकके अपने उपदेश हैं; भक्त इनका उपयोग करे। प्रातःकाल गीता आदिसे कोई श्लोक पढ़कर दिनभर उसका मनन करे। सायंकालमें पञ्चोपचार पूजा आदि होनेके बाद जप करके सहस्र नाममेंसे कोई नाम ध्यानमें लाकर उसके अर्थका विचार करते हुए सो जाय। इससे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

जपके अनेक प्रकार हैं। उन सबको समझ लें तो एक जपयोगमें ही सब साधन आ जाते हैं। परमार्थसाधनके कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और राजयोग ये चार बड़े विभाग हैं। जपयोगमें इन चारोंका अन्तर्भाव हो जाता है। जपके कुछ मुख्य प्रकार ये हैं—१. नित्य जप, २. नैमित्तिक जप, ३. काम्य जप, ४. निषिद्ध जप, ५. प्रायश्चित्त जप, ६. अचल जप, ७. चल जप, ८. वाचिक जप, ९. उपांशु जप, १०. भ्रमर-जप, ११. मानस जप, १२. अखण्ड जप, १३. अजपा जप और १४ प्रदक्षिणा जप इत्यादि।

१. नित्य जप

प्रातः-सायं गुरुमन्त्रका जो नित्य-नियमित जप किया जाता है वह नित्य जप है। यह जप जपयोगीको नित्य ही करना चाहिये। आपत्कालमें, यात्रामें अथवा बीमारीकी अवस्थामें, जब स्नान भी नहीं कर सकते तब भी हाथ, पैर और मुँह धोकर कम-से-कम कुछ जप तो अवश्य कर ही लेना चाहिये। जैसे झाड़ना-बुहारना, बर्तन मलना और कपड़े धोना रोजका ही काम है वैसे ही नित्य कर्म भी नित्य ही होना चाहिये। उससे नित्यदोष दूर होते हैं, जपका अभ्यास बढ़ता है, आनन्द बढ़ता जाता है और चित्त शुद्ध होता जाता है। ईश्वरकी समीपता बढ़ती जाती है। वाचा शुद्ध होती है और धर्मविचार स्फुरने लगते हैं। पाप और अधर्मसे घृणा होने लगती है। ऐसे अनेक लाभ हैं, और जपसंख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों ईश्वरी कृपा अनुभूत होने लगती और अपनी निष्ठा दृढ़ होती जाती है।

* द्विजोंको सन्ध्या जाननी और करनी ही चाहिये।

२. नैमित्तिक जप

किसी निमित्तसे जो जप होता है वह नैमित्तिक जप है। देव-पितरोंके सम्बन्धमें कोई हो तब यह जप किया जाता है। सप्ताहमें अपने इष्टका एक-न-एक बार होता ही है। उस दिन तथा एकादशी, पूर्णिमा, अमावास्या आदि पर्वदिनोंमें और महा-एकादशी, महाशिवरात्रि, श्रीरामनवमी, श्रीकृष्णाष्टमी, श्रीदुर्गानवरात्र, श्रीगणेशचतुर्थी, श्रीरथसप्तमी आदि शुभ दिनोंमें तथा ग्रहणादि पर्वोंपर एकान्त स्थानमें बैठकर अधिक अतिरिक्त जप करना चाहिये। इससे पुण्य-संग्रह बढ़ता है और पापका नाश होकर सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और ज्ञान सुलभ होता है। यह जप रातमें एकान्तमें करनेसे दृष्टान्त भी होते हैं। **'न देवतोषणं व्यर्थम्'**—देवको प्रसन्न करना कभी व्यर्थ नहीं होता, यही मन्त्रशास्त्रका कहना है। इष्टकालमें इसकी सफलता आप ही होती है। पितरोंके लिये किया हुआ जप उनके सुख और सद्गतिका कारण होता है और उनसे आशीर्वाद मिलते हैं। हमारा उनकी कोखसे जन्म लेना भी इस प्रकार चरितार्थ हो जाता है। जिसको उद्देश्य करके संकल्पपूर्वक जो जप किया जाता है वह उसीको प्राप्त होता है, यह मन्त्रशास्त्रका सिद्धान्त है। इस प्रकार पुण्य जोड़कर वह पितरोंको पहुँचाया जा सकता है, इससे उनके ऋणसे मुक्ति मिल सकती है। इसलिये कव्यकर्मके प्रसङ्गमें और पितृपक्षमें भी यह जप अवश्य करना चाहिये। गुरुमन्त्रसे हव्यकर्म भी होता है।

३. काम्य जप

किसी कामनाकी सिद्धिके लिये जो जप किया जाता है उसे काम्य जप कहते हैं। यह काम्यकर्म-जैसा है, मोक्ष चाहनेवालेके कामका नहीं। आर्त, अर्थार्थी, कामकामी लोगोंके लिये उपयोगी है। इसके साधनमें पवित्रता, नियमोंका पूर्ण पालन, सावधानता, जागरूकता, धैर्य, निरलसता, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, वाक्संयम, मिताहार, मितशयन, ब्रह्मचर्य इन सबका होना अत्यन्त ही आवश्यक है। योग्य गुरुसे योग्य समयमें लिया हुआ योग्य मन्त्र हो, विधिपूर्वक जप हो, मनकी एकाग्रता हो, दक्षिणा दे, भोजन करावे, हवन करे, इस साङ्गताके साथ अनुष्ठान हो तो साधककी कामना अवश्य पूर्ण होती है। इसमें कोई गड़बड़ हो तो मन्त्र सिद्ध नहीं हो सकता। काम्य जप करनेके अनेक मन्त्र हैं। जपसे पुण्यसंग्रह तो होता है पर भोगसे उसका क्षय भी होता है। इसलिये प्राज्ञ पुरुष इसे अच्छा नहीं समझते। परन्तु सभी साधक समान नहीं होते। कुछ ऐसे भी कनिष्ठ साधक होते ही हैं जो शुद्ध मोक्षके अतिरिक्त अन्य धर्माविरुद्ध कामनाएँ भी पूरी करना चाहते हैं। क्षुद्र देवताओं और क्षुद्र साधनोंके पीछे पड़कर अपनी भयंकर हानि कर लेनेकी अपेक्षा, वे अपने इष्ट मन्त्रका काम्य जप करके चित्तको शान्त करें और परमार्थप्रवण हों, यह अधिक अच्छा है।

४. निषिद्ध जप

मनमाने ढंगसे अविधिपूर्वक अनियम जप जपनेको निषिद्ध जप कहते हैं। निषिद्ध कर्मकी तरह यह बहुत बुरा है। मन्त्रका शुद्ध न होना, अपवित्र मनुष्यसे मन्त्र लेना, देवता कोई और मन्त्र कोई और ही, अनेक मन्त्रोंको एक साथ अविधिपूर्वक जपना, मन्त्रका अर्थ और विधि न जानना, श्रद्धाका न होना, देवताराधनके बिना ही जप करना, किसी प्रकारका भी संयम न रखना, ये सब निषिद्ध जपके लक्षण हैं। ऐसा निषिद्ध जप कोई न करे, उससे लाभ होनेके बदले प्रायः हानि ही हुआ करती है।*

५. प्रायश्चित्त जप

अपने हाथसे अनजानसे कोई दोष या प्रमाद हो जाय तो उस दुरित-नाशके लिये जो जप किया जाता है वह प्रायश्चित्त जप है। प्रायश्चित्त कर्मके सदृश है और आवश्यक है। मनुष्यके मनकी सहज गति अधोगतिकी ओर है और इससे उसके हाथों अनेक प्रमाद हो सकते हैं। यदि इन दोषोंका परिमार्जन न हो तो अशुभ कर्मोंका सञ्चित निर्माण होकर मनुष्यको अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और उर्वरित सञ्चित प्रारब्ध बनकर भावी दुःखोंकी सृष्टि करता है। पापोंके नाशके लिये शास्त्रमें जो उपाय बताये गये हैं उनको करना इस समय इतना कठिन हो गया है कि प्रायः असम्भव ही कह सकते हैं। इसलिये ऐसे जो कोई हों वे यदि सङ्कल्पपूर्वक यह जप करें तो विमलात्मा बन सकते हैं। मनुष्यसे नित्य ही अनेक प्रकारके दोष हो जाते हैं। यह मानवस्वभाव

* भगवान्के नाममें कोई विधिनिषेध नहीं है।—सम्पादक

है। इसलिये नित्य ही उन दोषोंको नष्ट करना मनुष्यका कर्तव्य ही है। नित्य जपके साथ यह जप भी हुआ करे। अल्प दोषके लिये अल्प और अधिकके लिये अधिक जप करना चाहिये। नित्यका नियम करके चलाना कठिन मालूम हो तो सप्ताहमें एक ही दिन सही, यह काम करना चाहिये। प्रातःकालमें पहले गोमूत्र प्राशन करे, तब गङ्गाजीमें या जो तीर्थ प्राप्त हो उसमें स्नान करे। यह भी न हो तो 'गङ्गा गङ्गेति' मन्त्र कहते हुए स्नान करे और भस्म-चन्दनादि लगाकर देव, गुरु, द्विज आदिके दर्शन करे। अश्वत्थ, गौ आदिकी परिक्रमा करे। केवल तुलसीदल-तीर्थ पान करके उपवास करे और मनको एकाग्र करके सङ्कल्पपूर्वक अपने मन्त्रका जप करे। इससे पवित्रता बढ़ेगी और मन आनन्दसे झूमने लगेगा। जब ऐसा हो तब समझे कि अब सब पाप भस्म हो गये। दोषके हिसाबसे जपसंख्या निश्चित्त करे और वह संख्या पूरी करे।

६. अचल जप

यह जप करनेके लिये आसन, गोमुखी आदि साहित्य तथा व्यावहारिक और मानसिक स्वास्थ्य होना चाहिये। इस जपसे अपने अन्दर जो गुप्त शक्तियाँ हैं वे जागकर विकसित होती हैं और परोपकारमें उनका उपयोग करते बनता है। इसमें इच्छाशक्तिके साथ-साथ पुण्यसंग्रह बढ़ता जाता है। इस जपके लिये व्याघ्राम्बर अथवा मृगाजिन, माला और गोमुखी होनी चाहिये। स्नानादि करके आसनपर बैठे, देश-कालका स्मरण करके दिग्बन्ध करे और तब जप आरम्भ करे। अमुक मन्त्रका अमुक संख्या जप होना चाहिये और नित्य इतना होना चाहिये, इस प्रकारका नियम इस विषयमें रहता है सो समझ लेना चाहिये और नित्य उतना जप एकाग्रतापूर्वक करना चाहिये। जप निश्चित संख्यासे कभी कम न हो। जप करते हुए बीचमें ही आसनपरसे उठना या किसीसे बात करना ठीक नहीं, उतने समयतक चित्तकी और शरीरकी स्थिरता और मौन साधे रहना चाहिये। इस प्रकार नित्य करके जपकी पूर्ण संख्या पूरी करनी चाहिये। यह चर्या बीचमें कहीं खण्डित न हो। इसके लिये स्वास्थ्य होना चाहिये, इसलिये आहार-विहार नियमित हों। एक स्थानपर बैठ निश्चित समयमें निश्चित जप-संख्या एकाग्र होकर पूरी करके देवताको वश करना ही इस जपका मुख्य लक्षण है। इस काममें विघ्न तो होते ही हैं, पर धैर्यसे उन्हें पार कर जाना चाहिये। इस जपसे अपार आध्यात्मिक शक्ति सञ्चित होती है। भस्म, जल अभिमन्त्रित कर देनेसे वह उपकारी होता है, यह बात अनुभवसिद्ध है।

७. चल जप

यह जप नामस्मरण-जैसा है। प्रसिद्ध वामन पण्डितके कथनानुसार 'आते-जाते, उठते-बैठते, करते-धरते, देते-लेते, मुखसे अन्न खाते, सोते-जागते, रतिसुख भोगते सदा सर्वदा लोकलाज छोड़कर भगवच्चिन्तन करने' की जो विधि है वही इस जपकी है, अन्तर यही कि भगवन्नामके स्थानमें अपने मन्त्रका जप करना है। यह जप कोई भी कर सकता है। इसमें कोई बन्धन, नियम या प्रतिबन्ध नहीं है। अन्य जप करनेवाले भी इसे कर सकते हैं। इससे वाचा शुद्ध होती और वाक्शक्ति प्राप्त होती है। पर इस जपको करनेवाला कभी मिथ्या भाषण न करे; निन्दा, कठोर भाषण, जली-कटी सुनाना, अधिक बोलना, इन दोषोंसे बराबर बचता रहे। इससे बड़ी शक्ति सञ्चित होती है। इस जपसे समय सार्थक होता है, मन प्रसन्न रहता है; सङ्कट, कष्ट, दुःख, आघात, उत्पात, अपघात आदिका मनपर कोई असर नहीं होता। जप करनेवाला सदा सुरक्षित रहता है। सुखपूर्वक संसार-यात्रा पूरी करके अनायास परमार्थको प्राप्त होता है। उसकी उत्तम गति होती है, उसके सब कर्म यज्ञमय होते हैं, और इस कारण वह कर्मबन्धसे छूट जाता है। मन निर्विषय हो जाता है। ईश-सान्निध्य बढ़ता और साधक निर्भय होता है। उसका योग-क्षेम भगवान् वहन करते हैं। वह मनसे ईश्वरके समीप और तनसे संसारमें रहता है। इस जपके लिये यों तो मालाकी कोई आवश्यकता नहीं है। पर कुछ लोग छोटी-सी 'सुमिरनी' रखते हैं, इसलिये कि कहीं विस्मरण होनेका-सा मौका आ जाय तो वहाँ यह 'सुमिरनी' विस्मरण न होने देगी। 'सुमिरनी' छोटी होनी चाहिये, वस्त्रमें छिपी रहनी चाहिये, किसीको दिखायी न दे। सुमिरन करते हुए होंठ भी न हिलें। सब काम चुपचाप होना चाहिये, किसीको कुछ मालूम न हो।

८. वाचिक जप

जिस जपका इतने जोरसे उच्चारण होता है कि

दूसरे भी सुन सकें उसे वाचिक जप कहते हैं। बहुतोंके विचारमें यह जप निम्न कोटिका है और इससे कुछ लाभ नहीं है। परन्तु विचार और अनुभवसे यह कहा जा सकता है कि यह जप भी अच्छा है। विधि-यज्ञकी अपेक्षा वाचिक जप दसगुना श्रेष्ठ है, यह स्वयं मनु महाराजने ही कहा है। जपयोगीके लिये पहले यही जप सुगम होता है। आगेके जप क्रमसाध्य और अभ्याससाध्य हैं। इस जपसे कुछ यौगिक लाभ होते हैं। सूक्ष्म शरीरमें जो षट्चक्र हैं उनमें कुछ वर्णबीज होते हैं। महत्त्वपूर्ण मन्त्रोंमें उनका विनियोग रहता है। इस विषयको विद्वान् और अनुभवी जपयोगियोंसे जानकर भावनापूर्वक जप करनेसे वे वर्णबीजशक्तियाँ जाग उठती हैं। इस जपसे वाक्सिद्धि तो होती ही है। उसके शब्दोंका बड़ा महत्त्व होता है। वे शब्द कभी व्यर्थ नहीं होते। अन्य लोग उसकी आज्ञाका पालन करते हैं। जितना जप हुआ रहता है उसी हिसाबसे यह अनुभव भी प्राप्त होता है। एक वाक्शक्ति भी सिद्ध हो जाय तो उससे संसारके बड़े-बड़े काम हो सकते हैं। कारण, संसारके बहुत-से काम वाणीसे ही होते हैं। वाक्शक्ति संसारकी समूची शक्तिका तीसरा हिस्सा है। यह जप प्रपञ्च और परमार्थ दोनोंके लिये उपयोगी है।

९. उपांशु जप

वाचिक जपके बादका यह जप है। इस जपमें होंठ हिलते हैं और मुँहमें ही उच्चारण होता है, स्वयं ही सुन सकते हैं, बाहर और किसीको सुनाई नहीं देता। विधियज्ञकी अपेक्षा मनु महाराज कहते हैं कि यह जप सौ गुना श्रेष्ठ है। इससे मनको मूर्च्छना होने लगती है, एकाग्रता आरम्भ होती है, वृत्तियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और वाचिक जपके जो-जो लाभ होते हैं वे सब इसमें होते हैं। इससे अपने अंग-प्रत्यंगमें उष्णता बढ़ती हुई प्रतीत होती है। यही तपका तेज है। इस जपमें दृष्टि अर्धोन्मीलित रहती है। एक नशा-सा आता है और मनोवृत्तियाँ कुण्ठित-सी होती हैं, यही मूर्च्छना है। इसके द्वारा साधक क्रमशः स्थूलसे सूक्ष्ममें प्रवेश करता है। वाणीके सहज गुण प्रकट होते हैं। मन्त्रका प्रत्येक उच्चार मस्तकपर कुछ असर करता-सा मालूम होता है—भालप्रदेश और ललाटमें वेदनाएँ अनुभूत होती हैं। अभ्याससे पीछे स्थिरता आ जाती है।

१०. भ्रमर-जप

भ्रमरके गुञ्जारवकी तरह गुनगुनाते हुए जो जप होता है वह भ्रमर-जप कहाता है। किसीको यह जप करते देखने-सुननेसे इसका अभ्यास जल्दी हो जाता है। इसमें होंठ नहीं हिलते, जीभ हिलानेका भी कोई विशेष कारण नहीं। आँखें झपी रखनी पड़ती हैं। भ्रूमध्यकी ओर यह गुञ्जारव होता हुआ अनुभूत होता है। यह जप बड़े ही महत्त्वका है। इसमें प्राण सूक्ष्म होता जाता है और स्वाभाविक कुम्भक होने लगता है। प्राणगति धीर-धीमी होती है, पूरक जल्दी होता है और रेचक धीरे-धीरे होने लगता है। पूरक करनेपर गुञ्जारव आरम्भ होता है और अभ्याससे एक ही पूरकमें अनेक बार मन्त्रावृत्ति हो जाती है। इसमें मन्त्रोच्चार नहीं करना पड़ता। वंशीके बजनेके समान प्राणावायुकी सहायतासे ध्यानपूर्वक मन्त्रावृत्ति करनी होती है। इस जपको करते हुए प्राणवायुसे ह्रस्व-दीर्घ कम्पन हुआ करते हैं और आधारचक्रसे लेकर आज्ञाचक्रतक उनका कार्य अल्पाधिकरूपसे क्रमशः होने लगता है। ये सब चक्र इससे जाग उठते हैं। शरीर पुलकित होता है। नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु और भ्रूमध्यमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक कार्य होने लगता है। सबसे अधिक परिणाम भ्रूमध्यभागमें होता है। वहाँके चक्रके भेदनमें इससे बड़ी सहायता मिलती है। मस्तिष्कमें भारीपन नहीं रहता। उसकी सब शक्तियाँ जाग उठती हैं। स्मरणशक्ति बढ़ती है। प्राक्तन स्मृति जागती है। मस्तक, भालप्रदेश और ललाटमें उष्णता बहुत बढ़ती है। तैजस परमाणु अधिक तेजस्वी होते हैं और साधकको आन्तरिक प्रकाश मिलता है। बुद्धिका बल बढ़ता है। मनोवृत्तियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं। नागस्वर बजानेसे साँपकी जो हालत होती है वही इस गुञ्जारवसे मनोवृत्तियोंकी होती है। उस नादमें मन स्वभावसे ही लीन हो जाता है और तब नादानुसन्धानका जो बड़ा काम है वह सुलभ हो जाता है। 'योगतारावली' में भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान् श्रीशङ्करने मनोलयके सवा लाख उपाय बताये, उनमें नादानुसन्धानको सबसे श्रेष्ठ बताया। उस अनाहत संगीतको श्रवण करनेका प्रयत्न करनेके पूर्व भ्रमर-जप सध जाय तो आगेका मार्ग बहुत ही सुगम हो जाता है। चित्तको

तुरन्त एकाग्र करनेका इससे श्रेष्ठ उपाय और कोई नहीं है। इस जपसे साधकको आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है और उसके द्वारा वह स्वपरहित साधन कर सकता है। यह जप प्रपञ्च और परमार्थ दोनोंमें काम देता है। शान्त समयमें यह जप करना चाहिये। इस जपसे यौगिक तन्द्रा बढ़ती जाती है और फिर उससे योगनिद्रा आती है। इस जपके सिद्ध होनेसे आन्तरिक तेज बहुत बढ़ जाता है और दिव्य दर्शन होने लगते हैं, दिव्य जगत् प्रत्यक्ष होने लगता है, इष्टदर्शन होते हैं, दृष्टान्त होते हैं और तपका तेज प्राप्त होता है। कविकुलतिलक कालिदासने जो कहा है—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

बहुत ही ठीक है—'शमप्रधान तपस्वियोंमें (शत्रुओंको) जलानेवाला तेज छिपा हुआ रहता है।'

११. मानस जप

यह तो जपका प्राण ही है। इससे साधकका मन आनन्दमय हो जाता है। इसमें मन्त्रका उच्चार नहीं करना होता। मनसे ही मन्त्रावृत्ति करनी होती है। नेत्र बन्द रहते हैं। मन्त्रार्थका चिन्तन ही इसमें मुख्य है। श्रीमनु महाराजने कहा है कि विधियज्ञकी अपेक्षा यह जप हजारगुना श्रेष्ठ है। भिन्न-भिन्न मन्त्रोंके भिन्न-भिन्न अक्षरार्थ और कूटार्थ होते हैं, उन्हें जाननेसे इष्टदेवके स्वरूपका बोध होता है। पहले इष्टदेवका सगुण ध्यान करके यह जप किया जाता है, पीछे निर्गुण स्वरूपका ज्ञान होता है। और तब उसका ध्यान करके जप किया जाता है। नादानुसन्धानके साथ-साथ यह जप करनेसे बहुत अधिक उपाकारी होता है। केवल नादानुसन्धान या केवल जपकी अपेक्षा दोनोंका योग अधिक अच्छा है। श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य नादानुसन्धानकी महिमा-कथन करते हुए कहते हैं—'एकाग्र मनसे स्वरूपचिन्तन करते हुए दाहिने कानसे अनाहत ध्वनि सुनायी देती है। भेरी, मृदङ्ग, शङ्ख आदि आहत नादमें ही जब मन रमता है तब अनाहत मधुर नादकी महिमा क्या बखानी जाय? चित्त जैसे-जैसे विषयोंसे उपराम होगा वैसे-वैसे यह अनाहत नाद अधिकाधिक सुनायी देगा। नादाभ्यन्तर ज्योतिमें जहाँ मन लीन हुआ तहाँ फिर इस संसारमें नहीं आना होता अर्थात् मोक्ष ही प्राप्त होता है।' (प्रबोधसुधाकर १४४—१४८) 'योगतारावली' में श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यजीने इसका वर्णन किया है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने 'ज्ञानेश्वरी' में इस साधनकी बात कही है। अनेक सन्त-महात्मा इस साधनके द्वारा परम पदको प्राप्त हो गये। यह ऐसा साधन है कि अल्पायाससे निजानन्द प्राप्त होता है। नादमें बड़ी विचित्र शक्ति है। बाहरका सुमधुर संगीत सुननेसे जो आनन्द होता है उसका अनुभव तो सभीको है पर भीतरके इस संगीतका माधुर्य और आनन्द ऐसा है कि तुरन्त मनोलय होकर प्राणजय और वासनाक्षय होता है।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

(ह० प्र०)

'श्रोत्रादि इन्द्रियोंका स्वामी मन है, मनका स्वामी प्राणवायु है। प्राणवायुका स्वामी मनोलय है और मनोलय नादके आसरे होता है।'

सतत नादानुसन्धान करनेसे मनोलय बन पड़ता है। आसनपर बैठकर, श्वासोच्छ्वासकी क्रिया सावकाश करते हुए, अपने कान बन्द करके अन्तर्दृष्टि करनेसे नाद सुनायी देता है। अभ्याससे बड़े नाद सुनायी देते हैं और उनमें मन रमता है। मन्त्रार्थका चिन्तन, नादका श्रवण और प्रकाशका अनुसन्धान ये तीन बातें साधनी पड़ती हैं। इस साधनके सिद्ध होनेपर मन स्वरूपमें लीन होता है, तब प्राण, नाद और प्रकाश भी लीन हो जाते हैं और अपार आनन्द प्राप्त होता है।

१२ अखण्ड जप

यह जप खासकर त्यागी पुरुषोंके लिये है। शरीर-यात्राके लिये आवश्यक आहारादिका समय छोड़कर बाकी सब समय जपमय करना पड़ता है। कितना भी हो तो क्या, सतत जपसे मन उचट ही जाता है; इसलिये इसमें यह विधि है कि जपसे जब चित्त उचटे तब थोड़ा समय ध्यानमें लगावे, फिर तत्त्वचिन्तन करे और फिर जप करे। कहा है—

जपाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेद् ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत्।
जपध्यानपरिश्रान्त आत्मानं च विचारयेत्॥

'जप करते-करते जब थक जाय तब ध्यान करे, ध्यान करते-करते थके तब फिर जप करे और जप तथा ध्यान दोनोंसे थके तब आत्मतत्त्वका विचार करे।'

'**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'इस योगसूत्रके अनुसार मन्त्रार्थका विचार करके उस भावनाके साथ मन्त्रावृत्ति करे। तब जप बन्द करके स्वरूपवाचक '**अजो नित्यः**' इत्यादि शब्दोंका विचार करते हुए स्वरूपध्यान करे। तब ध्यान बन्द करके तत्त्वचिन्तन करे। आत्मविचारमें ज्ञानविषयक ग्रन्थावलोकन भी आ ही जाता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य, श्रीमदाचार्यके स्वतन्त्र ग्रन्थ, अद्वैतसिद्धि, स्वाराज्यसिद्धि, नैष्कर्म्यसिद्धि, खण्डन-खण्डखाद्य, अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता, योवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंका अवलोकन अवश्य करे। जो संस्कृत नहीं जानते वे भाषामें ही इनके अनुवाद पढ़ें अथवा अपनी भाषामें सन्त-महात्माओंके जो तात्त्विक ग्रन्थ हों, उन्हें देखें। आत्मानन्दके साधनस्वरूप जो दो सम्पत्तियाँ हैं उनके विषयमें कहा है—

अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तन्त्राभ्यासिनः स्थिताः॥
(यो० वा०)

'ज्ञाता और ज्ञेय दोनों मिथ्या हैं ऐसी बुद्धिका स्थिर होना अभावसम्पत्ति कहाता है और ज्ञाता और ज्ञेयरूपसे भी उनकी प्रतीतिका न होना अत्यन्त अभावसम्पत्ति कहाता है। इस प्रकारकी सम्पत्तिके लिये जो लोग युक्ति और शास्त्रके द्वारा यत्नवान् होते हैं वे ही मनोनाश आदिके सच्चे अभ्यासी होते हैं।'

ये अभ्यास तीन प्रकारके होते हैं—ब्रह्माभ्यास, बोधाभ्यास और ज्ञानाभ्यास।

दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्नवोदिता यासौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते॥
(यो० वा०)

'दृश्य पदार्थोंके असम्भव होनेके बोधसे रागद्वेष क्षीण होते हैं तब जो नवीन रति होती है उसे ब्रह्माभ्यास कहते हैं।'

सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम्॥
(यो० वा०)

'सृष्टिके आदिमें यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसलिये वह यह जगत् और अहं (मैं) हैं ही नहीं, ऐसा जो बोध होता है उसे ज्ञाता लोग बोधाभ्यास कहते हैं।'

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः॥
(यो० वा०)

'उसी तत्त्वका चिन्तन करना, उसीका कथन करना, परस्पर उसीका बोध करना और उसीके परायण होकर रहना, इसको बुधजन ज्ञानाभ्यासके नामसे जानते हैं।'

अभ्यास अर्थात् आत्मचिन्तनका यह सामान्य स्वरूप है। ये तीनों उपाय अर्थात् जप, ध्यान और तत्त्वचिन्तन सतत करना ही अखण्ड जप है। सतत बारह वर्षपर्यन्त ऐसा जप हो तब उसे तप कहते हैं। इससे महासिद्धि प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदास, समर्थ गुरु रामदास आदि अनेक सन्तोंने ऐसा तप किया था।

१३. अजपा जप

यह सहज जप है और सावधान रहनेवालेसे ही बनता है। किसी भी तरहसे यह जप किया जा सकता है। अनुभवी महात्माओंमें यह जप देखनेमें आता है। इसके लिये मालाका कुछ काम नहीं। श्वासोच्छ्वासकी क्रिया बराबर हो ही रही है, उसीके साथ मन्त्रावृत्ति की जा सकती है। अभ्याससे मन्त्रार्थभावना दृढ़ हुई रहती है सो उसका स्मरण होता है। इस रीतिसे सहस्रों संख्या जप होता रहता है। इस विषयमें एक महात्मा कहते हैं—

राम हमारा जप करे हम बैठे आराम।

१४. प्रदक्षिणा जप

इस जपमें हाथमें रुद्राक्ष या तुलसीकी माला लेकर वट, औदुम्बर या पीपल-वृक्षकी अथवा ज्योतिर्लिङ्गादिके मन्दिरकी या किसी सिद्ध पुरुषकी, मनमें ब्रह्मभावना करके, मन्त्र कहते हुए परिक्रमा करनी होती है। इससे भी सिद्धि प्राप्त होती है—मनोरथ पूर्ण होता है।

यहाँतक मन्त्रजपके कुछ प्रकार, विस्तारभयसे संक्षेपमें ही निवेदन किये। अब यह देखें कि जपयोग कैसा है—योगसे इसका कैसा साम्य है। योगके यम-नियमादि आठ अंग होते हैं। ये आठों अंग जपमें आ जाते हैं। (१) *यम*—यह ब्राह्येन्द्रियोंका निग्रह अर्थात् 'दम' है। आसनपर बैठना, दृष्टिको स्थिर करना यह सब यम ही है। (२) *नियम*—यह अन्तरिन्द्रियोंका निग्रह अर्थात् 'शम' है। मनको एकाग्र करना इत्यादिसे इसका साधन इसमें होता है। (३) स्थिरतासे सुखपूर्वक

विशिष्ट रीतिसे बैठनेको आसन कहते हैं। जपमें पद्मासन आदि लगाना ही पड़ता है। (४) *प्राणायाम*—विशिष्ट रीतिसे श्वासोच्छ्‌वासकी क्रिया करना प्राणायाम है। जपमें यह करना ही पड़ता है। (५) *प्रत्याहार*—शब्दादि विषयोंकी ओर मन जाता है, वहाँसे उसे लौटकर अन्तर्मुख करना प्रत्याहार है सो इसमें करना पड़ता है। (६) *धारणा*—एक ही स्थानमें दृष्टिको स्थिर करना जपमें आवश्यक है। (७) *ध्यान*—ध्येयपर चित्तकी एकाग्रता जपमें होनी ही चाहिये। (८) *समाधि*—ध्येयके साथ तदाकारता जपमें आवश्यक ही है। तात्पर्य, अष्टाङ्गयोग जपमें आ जाता है, इसीलिये इसे जपयोग कहते हैं। कर्म, उपासना, ज्ञान और योगके मुख्य-मुख्य अङ्ग जपयोगमें हैं, इसलिये यह मुख्य साधन है। यह योग सदा सर्वत्र सबके लिये है। इस समय तो इससे बढ़कर कोई साधन ही नहीं।

(प्रेषक—श्रीराजाराम नारायण वरुलेकर)

मन्त्रयोगके अङ्ग

(लेखक—श्रीरामेश्वरप्रसादजी वकील)

मन्त्रयोगका पहला अङ्ग

भक्ति

सृष्टेरतीतो बुद्धेश्च परः स भक्तिलभ्यः।

(अङ्गिरा, दैवीमीमांसादर्शन; रसपाद—सूत्र ५)

'सृष्टिसे अतीत और बुद्धिसे परे वह परमात्मा भक्तिसे प्राप्त किया जाता है।'

भक्तिरेवेनं नयति भक्तिरेवेनं दर्शयति।
भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसि॥

(श्रुति)

'भक्तिके ही द्वारा परमात्मा प्राप्त होता है, भक्तिसे भगवान्‌के दर्शन होते हैं, भगवान् भक्तिके ही वशमें हैं।'

तद्भक्तिर्निःश्रेयसकरीम्।

(अं० दै० मी० रसपाद—सूत्र २२)

'भगवद्भक्तिके द्वारा परमानन्द और कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है।'

अन्त्यजयोनिरप्यधिक्रियते।.....पारम्पर्यात् सामान्यम्।

(अं० दै० मी० रस० सूत्र ३६)

'नीच योनिका मनुष्य भी भक्तिका अधिकारी है। सब भक्त परम्पराविचारसे बराबर हैं।'

लघूदितायामपि महाकल्मषनाशः।

(अं० सूत्र ३५)

'सामान्यभक्तिके उदय होनेपर भी महापापका नाश होता है।'

अविपक्वभावादपि तत्सालोक्यम्। (अं० सूत्र ३८)

'भक्तिमें भाव दृढ़ न हो तो भी पतित होनेकी सम्भावना नहीं, उससे इष्टदेवके लोककी प्राप्ति तो होती ही है।'

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ। (श्रीनादभक्तिसूत्र ५८)

'अन्य सब साधनोंकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है।'

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११।५३-५४)

'हे अर्जुन! वेद, तप, यज्ञ, दान किसीके द्वारा इस रूपका साक्षात्कार नहीं होता—केवल अनन्य भक्तिसे ही इस रूपको जान सकते हो, देख सकते हो और अन्दर प्रवेश कर सकते हो।'

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥

(श्रीनारदपाञ्चरात्र)

'भगवान्‌की आराधना होती है तो तपसे क्या होगा? और यदि भगवान्‌की आराधना नहीं होती है तो तपसे क्या होगा? यदि अन्दर-बाहर हरि विराज रहे हैं तो तपका क्या काम? और श्रीहरि यदि अन्दर भी नहीं, बाहर भी नहीं तो तपसे क्या होगा?'

वैधी भक्ति (नवधा भक्ति)

विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा।

(अं० दै० मी० सूत्र ११)

'विधिसे साधन होनेवाली भक्तिको 'वैधी' कहते हैं, वह सोपानरूपमें है।'

नवधा भक्तिके अङ्ग

(१) श्रवण

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा तद्विषया भक्तिः करोत्येनांसि कृत्स्नशः॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥
(स्मृति)

'जैसे प्रज्वलित अग्नि ढेर-के-ढेर काष्ठको भस्म कर देती है उसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति साधकके पापसमूहको समूल निर्मूल कर देती है। भगवान्‌का मधुर-मधुर नाम कर्णकुहरमें प्रवेश करते ही हृदयका समस्त पाप दूर कर देता है, जैसे शरद्-ऋतु जलका गँदलापन दूर कर देता है।'

(२) कीर्तन

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽपि वा।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे, पर जहाँ मेरे भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं वहाँ तो मैं रहता ही हूँ।'

(३) स्मरण

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८। १४)

'जो अनन्यचित्त होकर नित्य मेरा सतत स्मरण करता है, हे अर्जुन! मैं उस नित्ययुक्त योगीके लिये सुलभ हूँ।'

(४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥

'जिस चरणसे निकलकर पुण्यसलिला श्रीगङ्गाजी समस्त संसारको पवित्र करती हैं, उस चरणकमलकी सेवा करनेसे अनन्त जन्मोंकी सञ्चित चित्तकी मलिनता तुरन्त नष्ट हो जाती है।'

(७) दास्य (८) सख्य, (९) आत्मनिवेदन

इन तीन अङ्गोंमें परिसमाप्ति 'रागात्मिका' भक्तिमें होती है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥
(श्रीमद्भा० ९।४।१८—२०)

'आत्मनिवेदनभक्तिकी अवस्थामें मन भगवान्‌के चरणकमलोंमें, वचन उनके गुणगानमें, हाथ मन्दिरादि मार्जन करनेमें, कर्ण उनकी सत्कथा श्रवण करनेमें, नेत्र उनकी मूर्ति देखनेमें, अङ्ग उनके भक्तोंके शरीर स्पर्श करनेमें, घ्राण उनके चरणसरोजके सुगन्धमें, जिह्वा उनके प्रसादके रस लेनेमें, चरण उनके तीर्थोंकी यात्रामें, मस्तक उनके चरणोंमें प्रणाम करनेमें और सकल कामना उनके दासत्वमें समर्पित होती है।'

रागात्मिका भक्तिकी अवस्था

रसानुभाविकानन्दशान्तिदा रागात्मिका।
(अं० दै० मी० सूत्र १२)

'रस अनुभव करानेवाली, आनन्द और शान्ति देनेवाली भक्तिको 'रागात्मिका' कहते हैं।'

रसानुभव और आनन्दकी दशा

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२४)

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूर्ष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(श्रीमद्भा० ११।३।३२)

'रागात्मिका भक्तिके लाभ करनेपर भक्तको लोकलज्जा, लोकभय आदि किसी बातका विचार नहीं रहता। वह कभी निर्लज्ज होकर उच्च हास करता है, कभी उन्मादग्रसित (पागल)-का-सा नृत्य करता है, कभी उच्च स्वरसे गाता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, कभी रोता है, कभी भगवान्‌के आनन्दामृतको पान करके निस्तब्ध होता है, कभी आत्मामें एकान्त रति प्राप्तकर जगत्‌को भूल जाया करता है।' रागात्मिका भक्तिकी यह अपूर्व महिमा है।

रागात्मिका भक्तिकी परा शान्तिकी दशा

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥
(श्रीमद्भा० स्कन्ध ११)

'रागात्मिका भक्तिके उदय होनेसे साधकका चित्त पुलकित हो जाता है, आँखोंसे आनन्दाश्रुधारा प्रवाहित होती है और सकल साधनोंके फलस्वरूप परम पवित्र शान्ति उस भक्तशिरोमणि बड़भागी भक्तको प्राप्त हो जाती है।'

परा भक्तिकी अवस्था

स्वरूपज्ञानापरपर्याया सा।
(अं० दै० मी० सूत्र २९)

परा भक्ति, स्वरूपज्ञान दोनों एक ही हैं। परा भक्ति, स्वरूपज्ञान, निर्विकल्प समाधि, परवैराग्य सबकी एक ही स्थिति है—कोई भेद नहीं है। इसी स्थितिमें भक्त निखिल ब्रह्माण्ड—समस्त चराचर जगत्‌को भगवान्‌मय देखता है।

'तत्त्वमसि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि महावाक्योंकी चरितार्थता इसी दशामें होती है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भागवत)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६।२९)

'परा भक्तिकी दशा प्राप्त होनेसे भक्त भागवतोत्तम कहलाते हैं। जो सकल जगत्‌में भगवान्‌को और भगवान्‌में ही सकल चराचर जगत्‌को देखते हैं वे ही सर्वोत्तम भागवत हैं।'

चार प्रकारके भक्तोंमें केवल 'ज्ञानी भक्त' ही परा भक्तिका अधिकारी हो सकता है।

मन्त्रयोगका दूसरा अंग

शुद्धि

शुद्धि दो प्रकारकी है—बाहरकी शुद्धि और अन्तरकी शुद्धि

बहिर्शुद्धिमें— (१) शरीरकी शुद्धि
(२) स्थानकी शुद्धि
(३) दिशाकी शुद्धि

आन्तर्शुद्धिमें—(१) मनकी शुद्धि। यह मन्त्रयोगमें परमावश्यक है।

(१) *शरीरकी शुद्धि*—स्नानसे होती है। स्नान सात प्रकारका है—

(१) मन्त्रस्नान—**'गङ्गे च यमुने च'**—इत्यादि मन्त्रसे जल लेकर स्नान करनेसे होता है।

(२) भौमस्नान—गमछेसे अङ्ग पोछनेसे।

(३) आग्नेय—भस्म लगानेसे।

(४) वायव्य—गोरज स्पर्श करनेसे।

(५) दिव्य—सूर्यदर्शनके होते हुए वर्षामें स्नान करनेसे।

(६) वारुण्य—जलमें गोता लगाकर स्नान करनेसे तालाब-नदी इत्यादि।

(७) मानस—श्रीभगवान्‌के रूपका मनमें ध्यान करनेसे।

(२) *स्थानकी शुद्धि*—गोमयसे अथवा बरगद, पीपल, अशोक, बिल्व, आँवलेके वृक्ष (पञ्चवटी)-के नीचे बैठकर साधना-पूजा करनेसे होती है।

(३) *दिशाकी शुद्धि*—दिनमें पूर्वमुख या उत्तर-मुख बैठकर और रात्रिमें उत्तरमुख बैठकर पूजा करनेसे होती है।

(४) *अन्तःशुद्धि*—मनकी शुद्धि दैवी सम्पत्तिके

अभ्याससे होती है। अर्थात् इन्द्रियसंयम, भयशून्यता, चित्तप्रसन्नता, दान, यज्ञ, वेदपाठ, वेदसम्मत शास्त्रपाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, लोभका त्याग, अहङ्कार, कुकर्मका त्याग, चञ्चलताका त्याग, चित्तकी शान्ति, अविरोध, धैर्य, शौच, क्षमा इत्यादि भावोंके अभ्याससे होती है।

शुद्धिका फल—बाहरकी शुद्धिसे आरोग्य, आत्मप्रसाद और इष्टदेवकी कृपा प्राप्त होती है। मनकी शुद्धिसे इष्टदेवका दर्शन होता है और समाधि प्राप्त होती है।

मन्त्रयोगका तीसरा अङ्ग

आसन

मन्त्रयोगके साधनमें स्वस्तिकासन और पद्मासन, इन्हीं दो आसनोंका उल्लेख है। आसनकी आज्ञा श्रीगीताजीके छठे अध्यायमें इस प्रकार है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥
(११—१४)

'पवित्र स्थानपर स्थिर आसन लगावे, न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा। पहले कुशका आसन, उसपर मृगचर्म, उसपर वस्त्र। चित्त और इन्द्रियोंको वशमें करके, एकाग्र मनसे आसनपर बैठकर, शरीर, पीठ, मस्तक, गर्दनको समदेशमें अचल रखकर, इधर-उधर न देखे, नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, निर्भय, ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ मेरा ध्यान करे।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध, अध्याय १४ में भी इसी आसनका वर्णन है।

शुद्ध आसनका फल—श्रीभगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त होना।

मन्त्रयोगका चौथा अङ्ग

पञ्चाङ्गसेवन

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके अनुसार गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच, हृदयका पाठ प्रतिदिन करनेसे योगी पापरहित होकर योगसिद्धिको प्राप्त होता है।

मन्त्रयोगका पाँचवाँ अङ्ग

आचार

सात्त्विक साधकके लिये दिव्याचार, राजसिक साधकके लिये दक्षिणाचार और तामसिकके लिये वामाचार होता है। वामाचार केवल शक्ति-उपासनामें ही देखा जाता है। पर वामाचारमें उन्नतिके बदले गिर जानेका सर्वदा भय है। इसके साधनको तलवारकी धारपर चलना कहा गया है। इसी वामाचारके बढ़नेसे बङ्गालमें अत्यन्त हानि हुई और बड़ा दुराचार फैला, जिसे देखकर, कहते हैं कि स्वयं श्रीकृष्णभगवान्‌को दुराचारका नाश करके शुद्ध प्रेमके प्रचारार्थ श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके रूपमें अवतरित होना पड़ा।

मन्त्रयोगका छठा अङ्ग

धारणा (Concentration)

धारणा दो प्रकारकी है—(१) बहिर्धारणा, (२) आन्तर धारणा।

बाहरके पदार्थोंमें मूर्ति, विग्रह, चित्र आदिमें धारणा करनेको बहिर्धारणा कहते हैं।

अन्तर्जगत्‌के विषयोंमें धारणा आन्तर धारणा कही जाती है।

फल—धारणाकी सहायतासे दिव्यदेशमें इष्टदेवका आविर्भाव होता है। इष्टदेव विग्रह, चित्र इत्यादिसे प्रकट होकर साधकसे वार्तालाप करते हैं और मनोवाञ्छित वर देते हैं।

'भक्तमाल' इत्यादि ग्रन्थोंमें और पूज्यपाद श्रीराम-कृष्ण परमहंस प्रभृति महात्माओंके जीवनमें ऐसी अनेक घटनाओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका सातवाँ अङ्ग

दिव्यदेशसेवन

दिव्यदेश सोलह हैं। धारणाकी सिद्धि होनेपर भक्ति, आचार, प्राणसंयम, जपसिद्धि, देवतासान्निध्य, आचार, दिव्यदेशादिमें दैवी शक्तिका आविर्भाव और इष्टदेवदर्शन दिव्यदेशमें होता है।

मन्त्रयोगका आठवाँ अङ्ग

प्राणक्रिया

प्राणायाम—चित्तवृत्तिसंयम, आरोग्य, मनकी एकाग्रता और ध्यानकी सहायताके लिये प्राणायामका विधान है।

प्राणायामके साथ करन्यास, अङ्गन्यास, मातृकान्यास, ऋष्यादिन्यासका भी विधान मिलता है।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ध्यानयोगके वर्णनमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमुखसे १० प्राणायाम प्रातः, १० प्राणायाम मध्याह्न और १० प्राणायाम सन्ध्याकालमें करनेकी आज्ञा दी है। इससे नाडीकी शुद्धता और शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है।

सहितप्राणायामकी विधि मन्त्रयोगमें सहायक है। सहितप्राणायाम पूरक, कुम्भक, रेचककी मन्त्रके साथ साधना करनेसे होता है।

मन्त्रयोगका नवाँ अङ्ग

मुद्रा

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके लिये पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है। मुद्रा-प्रदर्शन करनेसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं।

इष्टदेव-मुद्रा

श्रीराम—धनुष, बाण आदि।

श्रीकृष्ण—वेणु, कदम्बफल आदि।

श्रीविष्णु—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड, नारसिंही, वाराही, हायग्रीवी, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहनिका, कामनामिका।

श्रीमहादेव—त्रिशूल, माला, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल, डमरू इत्यादि।

श्रीगणेश—दन्त, पाश, अङ्कुश, विघ्न, परशु, लड्डुक आदि।

श्रीसूर्य—पद्ममुद्रा।

श्रीदुर्गादेवी—पाश, अङ्कुश, वर, अभय, खड्ग, चर्म, धनुष, शर, मूसल आदि।

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, अग्निदेव, श्यामादेवी, तारादेवी, त्रिपुरसुन्दरी इत्यादि देव-देवियोंकी पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका दसवाँ अङ्ग

तर्पण

अपने-अपने इष्टदेवका तर्पण करके अन्य देव-देवियों, ऋषि और पितृगणोंका तर्पण करना चाहिये। तर्पणसे इष्टदेव और अन्य देव-देवियोंकी तृप्ति होती है। पृथक्-पृथक् काम्य-कर्मोंमें तर्पणकी सामग्री भी पृथक्-पृथक् है।

मन्त्रयोगका ग्यारहवाँ अङ्ग

हवन

हवनसे निखिल सिद्धियाँ लाभ होती हैं। नित्य होमसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं और सब देव-देवियोंकी तृप्ति होती है।

पहले १६ आहुति मूलमन्त्रसे अपने इष्टदेवके लिये देकर तत्पश्चात् अन्य देव-देवियोंको अपने इष्टदेवके अङ्गीभूत जानकर उनके लिये हवन करना चाहिये।

मन्त्रयोगका बारहवाँ अङ्ग

बलि

बलिसे इष्टदेवकी प्रसन्नता और विघ्नोंकी शान्ति होती है। आत्मबलिद्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। यह सर्वश्रेष्ठ है। काम-क्रोधादि रिपुओंकी बलि द्वितीयस्थानीय है। उत्तम फलोंकी बलि भी इष्टदेवको देनी चाहिये। अपने-अपने सम्प्रदायके अनुकूल इष्टदेवको हिंसारहित बलि समर्पण करके अन्य देवों और पितरोंको बलि दे; तत्पश्चात् भूतों, कुत्तों, श्वपचों, पक्षियोंको भी बलि दे अर्थात् उन्हें खानेको दे।

मन्त्रयोगका तेरहवाँ अङ्ग

याग

याग दो प्रकारका है—

(१) अन्तर्याग (मानसिक पूजा)

(२) बहिर्याग

बहिर्यागसे अन्तर्याग श्रेष्ठ है।

इष्टदेवकी पूजा करनेके लिये पञ्चोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार और एकविंशति उपचारका वर्णन है, जो मानसिक पूजा और बहिर्पूजा दोनोंमें होता है।

पञ्चोपचार—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

दशोपचार—पाद्य, अर्घ्य, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

षोडशोपचार—आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, आरति, प्रणाम।

एकविंशति उपचार—आवाहन, स्वागत, आसन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प,

धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, आरति, नमस्कार, विसर्जन।

श्रीरामोपासकके लिये श्रीअगस्त्यसंहिता अध्याय ३३ में, मानसिक पूजाके लिये इकतीस उपचारोंका वर्णन है। वह अवश्य दर्शनीय है।

एकत्रिंशत् उपचार—ध्यान, आवाहन, रत्नसिंहासनप्रदान, सन्निधान, सम्मुखीकरण, प्रार्थना, अर्घ्य, मधुपर्क, प्रसन्नकरण, आचमन, पञ्चामृत, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, भूषण, गन्ध, चन्दन, तुलसी पुष्प, अङ्गपूजा, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, फलदान, ताम्बूल, राजोपचार, नीराजन, स्तुति, हृदयमें आसन, प्रार्थना।

यागका फल—यागकी साधनासे साधकको अखण्ड फलकी प्राप्ति होती है और अन्तमें वह साधक कैवल्य लाभ करता है।

उपयाग

ब्रह्मयाग और जीवयागको उपयाग कहते हैं।

वेद, स्मृति, पुराणोंका पाठ ब्रह्मयाग और ब्राह्मण, अतिथि और समस्त जीवधारियोंके कल्याणके लिये भोजन, वसन, जल आदि देना जीवयाग है। यह भी साधकको अवश्य करना चाहिये।

उपयागका फल—ब्रह्मयाग और जीवयागसे साधक इस लोकमें और परलोकमें अनन्त कल्याण प्राप्त करते हैं।

मन्त्रयोगका चौदहवाँ अङ्ग

जप

जप तीन प्रकारका है—

(१) *वाचिक*—जो दूसरेको सुनायी दे।

(२) *उपांशु*—जो केवल साधकको सुनायी दे।

(३) *मानस*—जो साधकको भी सुनायी न दे।

वाचिकसे उपांशु (जिह्वाजप) शतगुण और उपांशुसे मानसजप शतगुण श्रेष्ठ है। अति शीघ्रता या अधिक विलम्बसे जप नहीं करना चाहिये। शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय, विलम्बसे जप करनेसे रोग होता है। अतएव मध्यम वृत्तिसे जप करे।

मन्त्रजपसे हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है और समस्त अवयव प्रवृद्ध होते हैं—

जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

जपके लिये अपने-अपने सम्प्रदाय और इष्टदेवके अनुकूल मालाका पृथक्-पृथक् वर्णन है।

तुलसीमाला—अक्षय फल देनेवाली, श्रीविष्णुभक्तिको देनेवाली है।

रुद्राक्षमाला—शिवभाव और शिवलोक देनेवाली है। कितने तन्त्रशास्त्रोंका मत है कि रुद्राक्षमाला पञ्च सम्प्रदायके साधकके लिये हितकर है।

तुलसी-माहात्म्य श्रीअगस्त्यसंहिता अध्याय ६ में, और रुद्राक्ष-माहात्म्य रुद्राक्षजाबालोपनिषद्में विशेषरूपसे वर्णित है।

मन्त्रयोगका पन्द्रहवाँ अङ्ग

ध्यान

अपने-अपने इष्टदेवके रूपको मनसे देखनेको ध्यान कहते हैं। ध्यानसे ही बन्ध और ध्यानसे ही मोक्ष होता है। आत्मा केवल ध्यानसे ही वश हो सकता है, आत्माके वश करनेका दूसरा उपाय नहीं है।

ध्यानसे समाधिकी प्राप्ति होती है।

मन्त्रयोगका सोलहवाँ अङ्ग

समाधि

मन्त्रसिद्धिके साथ देवतामें मन लय होनेसे जब मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध नहीं रहता, तीनों एक-दूसरेमें लय हो जाते हैं, तभी ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका लय हो जाता है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु, रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकास होकर, मन लयको प्राप्त करता है और समाधिका उदय होता है।

समाधि-प्राप्त साधक कृतकृत्य हो जाता है।

मन्त्र

मन्त्रयोगके आचार्य—देवर्षि नारद, महर्षि, अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ,

मन्त्रयोगका लक्ष्य—श्री

मन्त्रयोग

मन्त्र

१ भक्ति
- गौणी (साधनकालकी भक्ति)
  - वैधी (नवधा भक्ति)
    - (१) श्रवण
    - (२) कीर्तन
    - (३) स्मरण
    - (४) पादसेवन
    - (५) अर्चन
    - (६) वन्दन
    - (१)–(६): प्रथम अवस्थाकी भक्ति
    - (७) दास्य
    - (८) सख्य
    - (९) आत्म-निवेदन
    - (७)–(९): इन तीनोंकी परिसमाप्ति रागात्मिकामें होती है
  - रागात्मिका
- परा (सिद्ध अवस्थाकी भक्ति)

२ शुद्धि
- शरीर (स्नानसे) स्नान ७ प्रकारका है
  - (१) मान्त्र
  - (२) भौम
  - (३) आग्नेय
  - (४) वायव्य
  - (५) दिव्य
  - (६) वारुण्य
  - (७) मानस
- मन दैवी सम्पत्तिके अभ्याससे
- दिशा
  - पूर्व उत्तर मुख बैठकर पूजा करनेसे
- स्थान
  - गोमयसे अथवा
    - (१) पीपल
    - (२) बरगद
    - (३) अशोक
    - (४) बिल्व
    - (५) आँवलाके नीचे बैठकर पूजा करनेसे

३ आसन
- स्वस्तिक
- पद्मासन

४ पञ्चाङ्गसेवन
- (१) गीता
- (२) सहस्रनाम
- (३) स्तव
- (४) कवच
- (५) हृदयका पाठ प्रतिदिन

रागात्मिका

७ गौण रस — उदाहरण
- (१) हास्य—गोपाल बालक
- (२) वीर—भीष्मपितामह
- (३) करुण—दशरथ
- (४) अद्भुत—बलि, अर्जुन, यशोदा विराट् रूप देखनेसे
- (५) भयानक—कंस
- (६) बीभत्स—अघासुर
- (७) रौद्र—इन्द्र

मलिन रस

७. मुख्यरस — उदाहरण
- (१) दास्य—श्रीहनुमान्‌जी
- (२) सख्य—अर्जुन, उद्धव
- (३) वात्सल्य—दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा
- (४) कान्ता—व्रजगोपी
- (५) आत्मनिवेदन—श्रीनारद
- (६) गुण-कीर्तन—श्रीव्यास
- (७) तन्मयासक्ति—श्रीहरि, श्रीहर

शुद्ध रस

योग

अगस्त्य, भरद्वाज, गर्ग, शाण्डिल्य, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति, शुक्र इत्यादि सगुण ब्रह्मका साक्षात् दर्शन।

के १६ अङ्ग

~~~~~~~
~~~~~~~
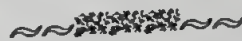
सप्तज्ञानभूमिका

(लेखक—श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी वैद्य)

सृष्टि, स्थिति और संहारशक्तिके अधिष्ठाता, परम सेव्य, ज्ञेय, ध्येय, परमकारुणिक सद्‌गुरु परमात्मा श्रीमन्नरसिंहाचार्यजीको इस शुभ चिन्तनके प्रारम्भमें सप्रेम प्रणति समर्पण करता हूँ।

प्राचीन कालमें अनेकों महर्षियोंने अध्यात्मबलको प्राप्तकर, परम प्राप्तव्य वस्तुको लाभकर जिस सर्वोत्कृष्ट स्थितिके भोक्ता बननेका सौभाग्य प्राप्त किया था, उस स्थितिको पानेके लिये प्रयत्नशील होनेकी जिसके हृदयमें उत्कट इच्छा जागृत हुई है उसी मनुष्यमें मनुष्यत्व है। अन्यथा केवल मनुष्यदेह धारण करनेसे ही वास्तविक मनुष्यत्व नहीं आता। परन्तु परम दयामय देवेशने मनुष्यको जो-जो उत्तम साधन प्रदान किये हैं उन साधनोंकी सर्वोत्तम शुद्धि करते हुए मनुष्यत्वकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त देवत्व और उससे भी उच्चतम ईशत्वको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाला वीर साधक ही मनुष्य नाम पानेके योग्य है।

इस जगत्‌का प्रत्येक अणु—सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरोत्तर शुद्ध होकर विकासमार्गमें गतिशील हो रहा है। इसीके अनुसार मानव प्राणीके भीतर भी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट स्थिति—मुक्तिस्थिति—प्राप्त करनेकी अभिलाषा ज्ञात या अज्ञातभावसे रहती ही है। श्रुति भगवती कहती है—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'। इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान प्राप्त हुए बिना मोक्षाभिलाषीकी मुक्त होनेकी आशा निरर्थक है। वह ज्ञान क्या है, यह जानना चाहिये। इस जगत्‌में दीखनेवाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति और सुखकी परावधिकी प्राप्ति करवानेमें सर्वथा असमर्थ है। यह बात बुद्धिमानोंके लिये सुस्पष्ट है। तब वह ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्यकी परमोत्तम सिद्धिको साधकर कृतकृत्य हो सकता है? इस विश्वमें आविष्कृत तथा अन्वेषित समस्त विद्याओंमें केवल ब्रह्मविद्या ही सर्वोपरि है, और उसीकी सहायतासे मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्व और देवत्वसे आगे जाकर ईशत्वमें स्थित हो सकता है।

यथार्थतः उन्नतिपथमें शीघ्र अग्रसर होनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण—इस देहचतुष्टय, तथा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार इस अन्तःकरण-चतुष्टयको शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होनेपर ही सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होनेपर ही कर्तव्यकी परावधि प्राप्त होती है। जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तबतक बार-बार इस दृश्यप्रपञ्चमें प्रवेशकर नाना प्रकारके अनुभव करने पड़ते हैं अर्थात् तबतक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। जो महापुरुष मुमुक्षुपदमें स्थित हैं और जिनके अन्दर तीव्र मोक्ष-अभिलाषका उद्भव हुआ है, उनके लिये परम पूज्य महर्षियोंके पवित्र चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना और उनकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्य कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये कटिबद्ध होना बहुत ही आवश्यक है।

मोक्षप्राप्तिके उपयोगी दो मार्ग हैं—योगविद्या और वेदान्तशास्त्र। श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणमें स्पष्ट लिखा है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः॥

करोड़ों वर्षोंमें तय होनेयोग्य लम्बा रास्ता किस प्रकार सहज हो सकता है यह बतलाना योगका कार्य है। जिनको मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है उनको नजदीकका मार्ग बताना योगका उद्देश्य है। जिस मार्गसे चलनेपर बहुत ही थोड़े समयमें परमपद प्राप्त होता है अर्थात् सामान्य मनुष्यको जिस वस्तुकी प्राप्तिमें करोड़ों वर्ष लगाने पड़ते हैं उस वस्तुकी प्राप्ति एक ही जन्ममें सिद्ध महात्मा कर सकते हैं, वही मार्ग योगमार्ग है। आत्मतत्त्वकी अनन्त अपार शक्तियोंका अटूट धाराबद्ध प्रवाह बहा देनेका प्रधान मार्ग ही योगप्रणाली है। परम तत्त्वके चैतन्यसागरमेंसे अनन्त सामर्थ्य प्राप्त करनेकी कला ही योगविद्या है। इस कलाको हस्तगत करनेपर इस विश्वमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता, और इसी कारणसे योगतत्त्वविद् महापुरुष कहते हैं कि योगविद्या ही सब विद्याओंकी परम अवधि है।

तत्त्वनिश्चय—तत्त्वका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको श्रीसद्गुरुका आश्रय लेना अनिवार्य है। क्योंकि वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तको सत्यरूपमें केवल सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उनकी सहायताके बिना केवल मिथ्या भ्रान्तिमें पड़कर मनुष्य अवनतिको प्राप्त हो सकता है। इसी कारण दीर्घदर्शी तत्त्वज्ञानसम्पन्न शास्त्रकारोंने भी आज्ञा दी है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।—(मुण्डकोपनिषद्)

इस सूत्रके समर्थनमें परमपूज्य आचार्यचूडामणि श्रीशङ्करभगवान् भी कहते हैं—

गुरुमेवाचार्यं शमदमादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्।

'शमदमादिसम्पन्न गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी मनमानी खोज नहीं करनी चाहिये। लौकिक विद्याकी सिद्धिके लिये ही जब गुरुकी आवश्यकता पड़ती है तब ब्रह्मविद्याकी सिद्धिके लिये तो सद्गुरुकी निरतिशय आवश्यकता है, यह सुस्पष्ट है। क्योंकि जिसको जिस वस्तुका अधिकार प्राप्त होता है, उसीके लिये वह प्राप्त हुआ पदार्थ हितकारक होता है। अनधिकारी वेदान्तज्ञानके मार्मिक रहस्यपूर्ण हेतुको नहीं समझ सकता, इसीलिये ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता हमारे सारे शास्त्र मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं।

जब वेदान्तप्रदेशमें विचरण करनेका समय आता है तब ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दोंसे ज्ञानको समझाना सहज होता है। ज्ञान और उस ज्ञानसे विभूषित महापुरुषोंकी अन्तर्बाह्य स्थितिके स्वरूपको समझनेमें सरलता हो, इसीलिये ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है।

इस विश्वमें सातका अङ्क बड़े ही महत्त्वका है। Alchemy ने कहा है कि 'सातकी संख्या बड़ी ही चमत्कारिक है।' हिब्रू लोग इस संख्याके द्वारा शपथ खाते हैं। संगीतविद्यामें भी स्वरसप्तककी व्यवस्था है। ज्योतिःशास्त्र और आयुर्वेद आदिमें भी सप्ताङ्कका महत्त्व विराजमान है। पृथ्वीकी धातुएँ सात हैं; उपधातु भी सात हैं; मनुष्यदेहमें भी सात धातु हैं, और सात उपधातु हैं। चर्मके परत भी सात हैं, अग्निकी कलाएँ भी सात हैं, और उसमें रहनेवाले आशय भी सात हैं। सप्ताहके दिन भी सात हैं, जगत्की लौकिक शिक्षाकी पद्धतियाँ भी सात हैं और अज्ञानकी भूमिकाएँ भी सात हैं। इसी प्रकार ज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ हैं। जैसे जगत्में चौथी नीतिसे ही महत्त्वका यथार्थ प्रारम्भ होता है उसी प्रकार इनमें चौथी भूमिकामें ही ज्ञानकी यथार्थ उत्पत्ति होती है। इस प्रकार **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** इस सूत्रके अनुसार वेदान्तविज्ञान सर्वत्र ओत-प्रोत है। वे सात भूमिकाएँ ये हैं—

भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पञ्चमी।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा॥

(वेदान्तसिद्धान्तादर्श १९०—१९२)

महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कही हैं—पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावनी और सातवीं तुर्यगा।

१. *शुभेच्छा*—**नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा।**

'नित्यानित्यवस्तुविवेक-वैराग्यादिके द्वारा सिद्ध हुई फलमें पर्यवसित होनेवाली मोक्षकी इच्छा अर्थात् विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्षके लिये आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है।'

२. *विचारणा*—**गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मकश्रवणमननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा।**

'श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्तवाक्यके श्रवण-मनन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है वह सुविचारणा कहलाती है।'

३. *तनुमानसा*—**निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा।**

'निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाके अभ्यास)-से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे तनुमानसा कहते हैं।'

ये तीन भूमिकाएँ जाग्रत् भूमिकाएँ कहलाती हैं।

क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं संपद्यते न च ज्ञानमुत्पद्यते।

इन तीनों अवस्थाओंमें तत्त्वज्ञानके प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त होती है, ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता; अर्थात् इन तीन भूमिकाओंमें विचरता हुआ पुरुष ब्रह्ममें अभेद भावको प्राप्त नहीं होता। परन्तु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनकी पहले अत्यन्त आवश्यकता होनेके कारण इनकी गणना अज्ञानकी भूमिकामें न होकर ज्ञानकी भूमिकामें ही रहती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकर्माद्यनधिकारित्वे सति ज्ञानस्यैवाधिकारित्वात्।

इन तीन भूमिकाओंमें स्थित पुरुष ज्ञानसे इतर कर्मादिका अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान—तत्त्वज्ञानका ही अधिकारी होता है।

४. *सत्त्वापत्ति*— **निर्विकल्पब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः सत्त्वापत्तिः।**

संशयविपर्ययरहित ब्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नामकी चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषको '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' का वास्तविक अनुभव हो जाता है। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्‌का भान होता है और शरीर तथा अन्तःकरणद्वारा सभी क्रियाएँ सावधानीके साथ होती हैं, तथापि मायावश जीव जिस जगत्‌को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत्‌के मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

५. *असंसक्ति*— **सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्तिः।**

सविकल्प समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधिकी अवस्था होती है, वही असंसक्ति कहलाती है। इसे सुषुप्तिभूमिका भी कहते हैं, क्योंकि इस भूमिकामें सुषुप्ति-अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेदभाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है, परन्तु समयपर स्वयं ही उठता है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी क्रिया भी करता है।

अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।

६. *पदार्थाभावनी*— **असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभावनी।**

असंसक्ति नामक पाँचवीं भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पटुताके कारण दीर्घकालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थाभावनी भूमिका कहलाती है। पाँचवीं भूमिकामें विश्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्पकालतक ही रहता है और छठी भूमिकामें यह स्थिति दीर्घकालपर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयका ही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुषुप्तिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता, परन्तु—

अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।

अर्थात् अन्यके द्वारा व्युत्थान पाकर वह क्रिया करता है। दूसरा कोई मुँहमें ग्रास दे देता है तो दाँत और जीभसे खानेकी क्रिया हो जाती है। इत्यादि।

७. *तुरीया-तुर्यगा*— **ब्रह्मध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।**

ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है। इस स्थितिको प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मीभूत स्थितिमें ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

इस प्रकार ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त बनायी गयी हैं। चौथीसे सातवीं भूमिकातक ज्ञानकी दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशाकी भूमिका है। चतुर्थ भूमिकामें ही तत्त्वज्ञानका यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्त्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओंमें स्थित रहता है। व्युत्थान दशाके तारतम्यसे इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**' अतः ब्रह्मके जाननेवालोंको ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानीकी

संज्ञासे शास्त्रोंने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है—

एताः सत्त्वापत्त्याद्याश्चतस्रो भूमिका एव ब्रह्मविद्ब्रह्मविद्वरब्रह्मविद्वरीयोब्रह्मविद्वरिष्ठेत्येतैर्नामभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः।

'इस प्रकार सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओंमें स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है।'

योगाभ्यासद्वारा तपोबलको बढ़ाकर उसके प्रभावके द्वारा विश्वको वशमें करनेवाले अनेकों महापुरुषोंका आविर्भाव हो, इस शुभ भावनाके साथ यह ज्ञानभूमिकाओंका परिचय समाप्त किया जाता है।

भोगमें योग

(लेखक—काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, साहित्यायुर्वेदोभयाचार्य)

योग-विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्योंने इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ की हैं। योग-जैसे गहन और दुरूह विषयमें पूर्वाचार्योंके अनेक मत होना स्वाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका अनेक प्रकारसे समीक्षण किया जाना भी एक प्रकारसे उसके महत्त्वका सूचक है। 'योग' शब्द प्रसङ्गाधीन अनेक अर्थोंमें पाया जाता है। अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना उचित नहीं। कोई योगका अर्थ समाधि करता है तो किसीके मतमें अष्टाङ्गयोगद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करना ही योग है। कुछ लोग योगका अर्थ सहकार करते हैं तो किसीके मतमें 'योग' नाम दो भावोंके संयोग या मिलापका है। गवेषणापूर्वक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि योगका अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी अभिप्रेत—अभीष्टके मिलापके लिये हो या स्वतन्त्र हो किन्तु योगका अर्थ 'त्याग' करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण है। लोकमें भी योगका अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो संसारसे योग ही ले लिया हो; ऐसा लोग कहते हैं। संन्यासयोग, सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दोंपरसे स्थिर होता है कि योग शब्द त्यागमात्रमें पर्यवसित है। क्योंकि एकके त्याग बिना दूसरेका मिलन नहीं होगा। वस्तुतः 'योग है क्या पदार्थ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा?' यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषयमें विद्वानोंके अनन्त मतभेद पाये जाते हैं—जैसे अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, संन्यासयोग, सांख्ययोग समाधियोग, क्रियायोग इत्यादि शतशः नाम लिये जा सकते हैं। परन्तु ध्येय सबका एक है। वह है 'ऐहिक पदार्थोंके प्रति अनासक्तिपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति।' इसपर किसीका वैमत्य नहीं। अतः सिद्ध होता है कि योगाभिप्रेत परीक्षाका परीक्ष्य विषय अनासक्ति और फल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्तिको वासनात्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासनाका सम्यक् लय करना योगका काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकारसे किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थका स्वरूपसे त्याग और कामना और वासना-त्याग। इस विश्वकी विचित्रता और व्यापकताको देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासनाद्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोगद्वारा जङ्गलमें जाकर या अन्य क्रियाओंद्वारा संसारका स्वरूपसे त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूपमें संसारका अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचिद् बाह्य जगत्का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत्का त्याग न होगा। पाञ्चभौतिक शरीरद्वारा ही पञ्चभूतोंका त्याग नहीं हो सकता। शरीरके रहते हुए शरीरका स्वरूप-त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्यागको ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासनात्यागके लिये जङ्गलमें जानेकी या अमुक क्रिया करनेकी जरूरत नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न वासनाका त्याग करना होगा। संघर्षमय जीवनकी चञ्चलताको नष्टकर समताके साम्राज्यमें

विचरना होगा। '**समत्वं योग उच्यते**' का पालन करना होगा; '**सर्वमनास्था खलु**' की धारणा दृढ़ करनी होगी; ऐहिक ऐश्वर्योंको पाकर भी पद्मपलाशवत् निर्लिप्त रहना होगा; जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा; सच्चा जनक विदेह बनना होगा; तभी भोगमें योगका आनन्द प्राप्त होगा, गृहमें जङ्गलसे अधिक मङ्गलमय जीवन व्यतीत होगा। इसीका नाम योग है। हठयोगद्वारा किसी वृत्तिको समूल नष्ट करना या किसी वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसका नष्ट कर देना वास्तविक योग नहीं। दमनका नाम यथार्थ त्याग नहीं; बल्कि वह त्यागका उपहासमात्र है। त्यागशक्तिकी दुर्बलताका परिचय देना तो एक प्रकारसे योगकी अवज्ञा करनेके बराबर है।

किसी प्रकार प्रश्न-पत्रोंको प्राप्त कर लेना, किसीसे पूछ लेना अथवा आत्मघातका भय दिखाकर परीक्षा पास कर लेनेको 'उत्तीर्ण' होना नहीं कह सकते। इसी प्रकार जन्मसे ही दूर रहकर हठयोगद्वारा वृत्तियोंका दमनकर वासनालय या आसक्तित्याग प्राप्त करना योगीका काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभवसरोवरमें खड़ा होकर भी अपनेको सूखा रख सके; उसकी तरङ्गोंका रंग न चढ़ने दे; विषयद्वन्द्वमें भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात दीपकी भाँति चित्तको निश्चल और मनको एकाग्र रखे। विषयरसको नीरस बना दे। किसीने कहा भी है—

ईंधन बिहूनी आग राखिबेको जतन कहा,
ईंधनमें आग राखे वाहीको जतन है।
इन्द्री गलित करै, कहौ कौन साधपनो,
इन्द्री बलित बाँधे सोई साधपन है॥
'अक्षर अनन्य' बिन बिषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करै त्याग सोई बैराग मन है।
घर छोड़ बन जोग माँडनको निहोरो कहा,
घरहीमें जोग माँडे सोई गुरुजन है॥

वास्तवमें योगविषयक 'अक्षर अनन्य' कविके उपर्युक्त पद्यका भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं तब त्याग किसका? बलात् इन्द्रियोंका दमन करना तो योगकी विडम्बना है। तृणके अभावमें अग्निका रखना, 'अग्निकी यथार्थ रक्षा' नहीं। तृणसमूहके होते हुए अग्निको सुरक्षित रखनेका नाम ही रक्षा है। कमल जलमें वास करता है किन्तु जलमें लिप्त नहीं। जो गृहमें रहकर भी गृहमें लिप्त नहीं, उसमें आसक्त नहीं, वही सच्चा योगी है। किसीने सत्य कहा है—

पंकज ज्यों जलमाँहिं बसै, तो पै भिन्न रहै, जल परस न लावे।
हंस बसै सर माँहिं सदा, पै छीर भखै नीरहि बिलगावे॥
व्यूह-समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरै, नहिं चित्त डिगावे।
भोग न बाधि सकै तिमि योगै जो भोगमें योग समाधि लगावे॥

शुद्धान्तःकरण और सात्त्विक अन्नभोगीके चित्तमें कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब बाधा कैसी? वह चाहे जिस आश्रममें बसे, किसीसे कम नहीं। चित्तवृत्तिके निरोधका नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगोंके शान्त होते ही '**नोद्वेजति न च द्वेष्टि योगी विगतकल्मषः**' हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोगमें योग साधना है तो सबसे प्रथम आचार-विचारोंको शुद्ध और परिमित करना होगा। तभी अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणीको योगी बना सकेंगे। जहाँतक चित्तकी चञ्चलता और विक्षेपका नाश नहीं वहाँतक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग बिना ब्रह्मसाक्षात्कार कैसा? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समतामें है। तराजूके किसी पलड़ेमें यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगीकी है। मनकी तरङ्गोंका रंग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवा न की तो फिर स्थिरता कहाँ? चित्तवृत्तिमें विक्षेपका प्रवेश हुआ नहीं कि बस, किया-कराया सब धूल! अतः यदि भोगमें योग प्राप्त करना है तो चित्तमें विक्षेपका प्रवेश मत होने दो, मनके विकारोंको नष्ट करो, कल्पनाको मिटा दो, उदासीनताका सेवन सीखो, जङ्गलमें नहीं किन्तु घरमें ही सच्चे जनक विदेह बनो। कौन कहता है कि भोगमें योग नहीं हो सकता? निर्लेप होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायँगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। सन्तोष आपका मित्र होगा, फिर भय किसका? कल्पना-कालका अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये— '**जलमें न्हाइये, कोरे रहिये, अन्तरमें कीजे बास**'। अब शेष क्या रहा? विशुद्धान्तःकरण-मनुष्यको कुछ भी दुर्लभ नहीं—

विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः।
भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति॥

कल्पना, काल एवं विक्षेपरूप शत्रुको जीतनेवाला, शान्तिके साम्राज्यमें स्थिरचित्त हो निश्चिन्त विचरनेवाला यदि भोगमें योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा? अरे, बन्धन तो वासनामें है; जब वासनालय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है। और वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोगबन्धन कैसे हो सकता है!

वासनालिङ्गसम्बद्धो जीवः संसृतिहेतुकः।
वासनालिङ्गनिर्लिप्तो योगी जाग्रदवस्थकः॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः
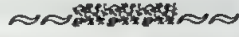
~~~

क्लेशोंका स्वरूप और निवृत्ति

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

(पातञ्जल योगदर्शन, साधनपाद सू० ३)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, इन पाँचोंकी क्लेश संज्ञा है। इन पाँचोंमें अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारोंका मूल कारण भी अविद्या ही है—अस्मिता आदि चारों क्लेश अविद्याके कारण ही उत्पन्न होते हैं और अविद्याके नष्ट होनेपर उनकी निवृत्ति है।

(१) *अविद्या*—अविद्याका अर्थ है विपर्यय ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान। अर्थात् अनित्यमें नित्यकी, अशुचिमें शुचिकी, दुःखमें सुखकी और अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति होना।

(अ) अनित्यमें नित्यकी प्रतीति—अर्थात् अनित्य वस्तुको नित्य समझ लेना। स्वर्गादि लोक और उनके दिव्य भोगविलास, उनमें विहार करनेवाले देवता एवं अपने पुण्यकर्मोंके फलसे स्वर्गीय सुखोपभोग प्राप्त करनेवाले व्यक्ति, सभी अनित्य हैं। क्योंकि इन्द्रादि देवताओंकी भी अवधि निश्चित है और पुण्यकर्मसे स्वर्गादि उपलब्ध करनेवाले पुण्यात्माओंकी भी। उनका वह वैभव नित्य नहीं, पुण्य क्षीण होनेपर वे भी स्वर्गसे गिरा दिये जाते हैं। भगवान्‌ने उद्धवजीके प्रति कहा है—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥

(श्रीमद्भागवत ११।१०।२६)

अतः स्वर्गलोकादिके अनित्य भोगोंको सर्वदा स्थिर समझकर उनके लिये अभिलाष करना प्रथम अविद्या है।

(आ) अशुचिमें शुचिकी प्रतीति—अर्थात् अपवित्र वस्तुको पवित्र समझना। मनुष्यशरीरकी अत्यन्त अपवित्रता प्रत्यक्ष सिद्ध है—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

(पातञ्जलदर्शन-भाष्य २।५)

अर्थात् मल-मूत्रादि अत्यन्त दुर्गन्धित पदार्थोंसे लिप्त माताका उदर तो इस शरीरका उत्पत्तिस्थान है। माता और पिताका अत्यन्त मलिन रज और वीर्य इस शरीरका उपादान कारण है। तथा जिससे यह शरीर धारण किया जाता है—जो शरीरका उपष्टम्भ (आश्रय) है वह रस भी खाये-पीये हुए अन्न-जलादिके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाले रुधिर आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थोंसे बनता है। एवं इस शरीरसे मल-मूत्र, प्रस्वेद आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थ तो सर्वदा ही झरते रहते हैं। केवल इतना ही नहीं, जिस शरीरको चन्दनादि सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित और वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित किया जाता है वही शरीर प्राणवियोग होनेपर अस्पृश्य हो जाता है और शूकर-कूकर आदि मांसभक्षी पशु-पक्षियोंका भक्ष्य बन जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः।
तान्यङ्गान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम्॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन्स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥

(योगवासिष्ठ वैराग्य प्र० २१। ४—६)

'सुन्दर वस्त्र और अनेक प्रकारके सुगन्धित द्रव्योंसे शोभित किये जानेवाले देहधारियोंके अङ्गोंको मांसाहारी
~~~

जीव नोच-नोचकर खा जाते हैं। एवं मोतियोंकी मालासे विभूषित स्त्रीके जो स्तन निर्मल गङ्गाजलसे सुशोभित मेरुशृङ्गके तुल्य आह्लादक प्रतीत होते हैं उन्हीं स्तनोंको कालान्तरमें श्मशानभूमिमें या अन्यत्र श्वान इस प्रकार आस्वादन करते हैं जैसे चावलके छोटे-से पिण्डको।'

इसके अतिरिक्त यदि मृत शरीरको तत्काल दग्ध न किया जाय तो सड़कर कीड़े पड़ जानेपर शूकर और श्वान आदि भी उससे घृणा करने लग जाते हैं। मनुष्य-शरीर ऐसा बीभत्स और घृणास्पद होनेपर भी किसी स्त्रीको देखकर यह समझना कि यह बड़ी ही सुन्दरी है, मानो इसकी रचना विधाताने अमृतके अवयवोंसे की है, या यह चन्द्रमण्डलका भेदन करके पृथ्वीपर आ गयी है, निरी मूर्खता है। इस प्रकार स्त्रीमें कामान्ध होकर आसक्त होनेवाले व्यक्तियोंमें और मलमूत्रमें विहार करनेवाले कीड़ोंमें क्या भेद हो सकता है? उर्वशीमें आसक्त होकर पश्चात्ताप करते हुए राजा ऐलने कहा है—

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियाः॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २६। २०-२१)

"उस अपवित्र और तुच्छ शरीरमें 'अहो इस स्त्रीका कैसा मनोहर मुख है, इसकी नासिका कैसी सम और सुन्दर है, इसकी मुस्कान कैसी मनोहारिणी है—ऐसी भावना करके मनुष्य आसक्त हो जाता है। यह कैसा मोह है? त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियोंके समूहरूप इस देहमें आसक्त पुरुषोंमें और अति अपवित्र मल-मूत्रमें किलबिलानेवाले कीड़ोंमें क्या अन्तर है?"

अतएव एवंभूत घृणास्पद स्त्रीके शरीरको पवित्र समझना केवल मिथ्या ज्ञान है। स्त्रीमें आसक्त होना साधारण क्लेश नहीं, किन्तु सर्वनाशका कारण भी है। श्रीदत्तात्रेयजीने राजा यदुसे कहा है—

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥

(श्रीमद्भागवत ११। ८। ८)

'स्त्रियोंके वस्त्रालङ्कारके सौन्दर्यपर प्रलुब्ध होकर कामान्ध मूढ पुरुष उस पतङ्गकी भाँति नष्ट हो जाता है जो दीपकके रूपपर मुग्ध होकर उसपर गिरकर नष्ट हो जाता है।'

इसी प्रकार यज्ञादिमें की हुई पापरूप हिंसाको पुण्यकर्म समझना और अनेक अनर्थ कर्मोंद्वारा अर्जन-पालन किये जानेवाले धनको पवित्र समझना भी मिथ्या ज्ञान है। इसीसे उद्धवजीके प्रति भगवान्ने आज्ञा की है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। १८-१९)

'चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, क्षोभ, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और स्त्री, द्यूत एवं मद्यका व्यसन, ये पन्द्रह मनुष्योंमें धनके कारणसे ही होते हैं; इसलिये श्रेयार्थी पुरुषको इस अर्थरूप अनर्थका दूरसे त्याग कर देना चाहिये।'

इस प्रकार अशुचिको शुचि समझना दूसरी अविद्या है।

(इ) दुःखमें सुखकी प्रतीति—विषयसुख वास्तवमें महान् दुःखप्रद है। उसे सुख मानना भी मिथ्या ज्ञान है। क्योंकि—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (पातञ्जलदर्शन, साधनपाद सू० १५)

अर्थात् विवेकशील जनोंकी दृष्टिमें सारे विषय-सुख परिणाम, ताप और संस्कारदुःखोंसे परिपूर्ण एवं गुणवृत्तिविरोध होनेके कारण दुःखरूप हैं।

परिणामदुःख—मनुष्यको पुत्र, स्त्री, मित्र आदि चेतन और गृह, क्षेत्र आदि अचेतन पदार्थोंमें सुखका जो अनुभव होता है वह राग (प्रीति)-के संयोगसे होता है—जिसमें राग होता है उसी पदार्थमें सुख भी माना जाता है। राग रजोगुणका कार्य होनेके कारण रागद्वारा सुखकी प्राप्तिके लिये धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है। एवं सुखके अनुभवकालमें दुःखकारक पदार्थोंसे द्वेष होना भी स्वाभाविक है। और द्वेष होनेपर अनर्थ कार्यमें प्रवृत्ति होती है। तथा दुःखके दूर करनेमें

असमर्थ होनेपर मोह होता है। मोह होनेपर कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह सकता। अतः मोह भी अनर्थरूप होनेके कारण पापजनक है। इसके अतिरिक्त विषय-सुखमें भूतहिंसाका होना भी अनिवार्य है। क्योंकि हिंसाके बिना विषय-सुखका होना असम्भव है। जब गृहस्थी जनोंसे अपने जीवनयापनके साधनोंमें भी—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनुस्मृति ३।६८)

—चुल्ली आदि पाँच प्रकारकी हिंसाओंका होना अपरिहार्य है, तब नाना प्रकारके विषयोपभोगोंमें हिंसाओंके होनेकी क्या गणना हो सकती है?

यदि यह कहा जाय कि विषयोंके उपभोगद्वारा इन्द्रियोंकी तृप्ति होनेके कारण भोग-तृष्णाकी जो शान्ति होती है क्या वह सुख नहीं है? और उस तृष्णाकी शान्तिका न होना क्या दुःख नहीं है? इसका उत्तर यह है कि विषय-भोगद्वारा भोग-तृष्णाकी शान्ति कहाँ? प्रत्युत अग्निमें घृत छोड़नेपर जिस प्रकार अग्निकी अभिवृद्धि होती है उसी प्रकार विषयोंके उपभोगसे तो विषय-तृष्णाकी अधिकाधिक वृद्धि होती है—शान्ति नहीं। कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

(मनुस्मृति २।९४)

अतएव विषयोंके उपभोगसे भोग-तृष्णा कभी शान्त नहीं हो सकती, यह प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है। विषय-भोगका परिणाम क्या होता है, इस विषयमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

पुत्राश्च दाराश्च धनं न बुध्या
प्रकल्प्यते तात रसायनाभम्।
सर्वं तु तत्रोपकरोत्यथान्ते
यत्रातिरम्या विषमूर्च्छनैव॥
विषादयुक्तो विषमामवस्था-
मुपागतः कायवयोऽवसाने।
भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः॥

(योगवासिष्ठ, वैराग्य प्र० २७।१३-१४)

अर्थात् पुत्र, स्त्री और धन आदि जितने भी पदार्थ कल्पनामें अमृतके समान सुखकारक माने जाते हैं, वे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होनेवाले सब पदार्थ कुछ भी उपकार न करके प्रत्युत अन्तकालमें विषके समान दुःखप्रद हो जाते हैं। जब स्वयं सन्तप्त मनुष्य वृद्धावस्थासे ग्रसित होता है तब वह अपने पापकर्मोंका स्मरण करता हुआ दग्ध हो जाता है। विषयासक्ति ही सारे बन्धनोंका कारण है—

बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

(विष्णुपुराण ६।७।२८)

अतएव विषयसुखमें यह परिणामदुःखता है।

तापदुःखता—विषयसुखोंके साधनोंकी पूर्णता न होनेसे चित्तमें जो परिताप होता है वह तापदुःखता है। विषयसुखोंकी प्रतीतिके समय उसके विरोधी पदार्थोंमें द्वेष होनेके कारण कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा दूसरोंको दुःख देनेमें अवश्य प्रवृत्ति होती है। क्योंकि अपने सुखके बाधक समझ कर ही—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

'आज इस शत्रुको मारा, अब औरोंको मारूँगा।'

—इस प्रकारकी चित्तवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है। इस प्रकारकी चित्तवृत्ति भी भावी दुःखका कारण होनेसे विषयसुखमें तापदुःखता है। अतएव विषयचिन्तनमात्रको श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्वनाशका कारण कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२।६२-६३)

संस्कारदुःखता—सुखके संस्कारकी स्मृतिसे जो धर्माधर्म कार्योंमें प्रवृत्ति होती है उसके द्वारा भविष्यमें दुःख होनेकी सम्भावना, विषय-सुखमें संस्कारदुःखता है। अर्थात् सुखका अनुभव होनेसे सुखका संस्कार चित्तमें स्थिर हो जाता है। उस संस्कारसे सुखका स्मरण होता है। स्मरणद्वारा सुखमें राग (अभिलाषा या वासना) उत्पन्न होता है। जिसने सुखकी प्राप्तिके लिये कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति होना अवश्यम्भावी है। और उन कर्मोंके फलसे पुनः जन्म होता है। पुनर्जन्म होनेपर सुखादिके अनुभवद्वारा संस्कार, संस्कारसे स्मरण और स्मरणसे राग आदि उत्पन्न होनेसे सुखानुभवजनित संस्कारोंसे

प्रत्येक जन्ममें कर्मोंका समूह बनता जाता है, यह विषयसुखमें संस्कारदुःखता है।

जिस प्रकार विषयसुखमें उपर्युक्त परिणाम, ताप और संस्कारदुःख हैं, उसी प्रकार गुण-वृत्तियोंके परस्पर विरुद्ध होनेके कारण भी विषयसुख दुःखरूप है। अर्थात् सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण परस्परमें अन्योन्याश्रित होकर ही प्रत्येक कार्यका सम्पादन कर सकते हैं, न कि स्वतन्त्र। अतएव विषयसुखोपभोगरूप शान्तवृत्ति भी त्रिगुणात्मक होनेके कारण दुःख और विषादमिश्रित होती है। इसके द्वारा सिद्ध है कि विषयसुख स्वभावतः दुःखरूप है। यदि सुखोपभोगात्मक शान्तिवृत्तिकी कुछ कालतक अचल स्थिति रहना सम्भव होता तो विषयसुख किसी अंशमें सुख कहा भी जा सकता था। किन्तु गुण चञ्चल होनेके कारण वे क्षण-क्षणमें विलक्षण परिणामको प्राप्त होते रहते हैं अतएव सुख क्षणिक होनेके कारण अन्तमें दुःखरूप है। अतएव भगवान्ने आज्ञा की है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ५।२२)

'हे अर्जुन! इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न भोग दुःखके हेतु और आदि-अन्तवाले हैं, अतएव बुद्धिमान् उनमें नहीं रमता।'

निष्कर्ष यह कि दुःखरूप विषयभोगमें सुख समझना तीसरी अविद्या है।

(ई) अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति—पशु, पुत्र, स्त्री और भृत्य आदि चेतन तथा शय्या, आसन, गृह और धन आदि अचेतन बाह्य उपकरण एवं भोगका अधिष्ठान[१] शरीर और पुरुषका उपकरण मन,[२] ये सभी आत्मासे भिन्न हैं, इनको आत्मरूप अर्थात् मैं और मेरे मान लेना मिथ्या ज्ञान है। अनात्ममें आत्मत्वरूप मिथ्या ज्ञान ही सारे मिथ्या ज्ञानोंका मूल है। इसके नष्ट होनेपर सारे मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। इसीसे बृहदारण्यक-उपनिषद्की—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

(४।४।१२)

'यदि पुरुष अपने-आपको जान जाय कि मैं सारे दुःखोंके सम्बन्धसे रहित नित्यमुक्त आनन्दस्वरूप हूँ तो वह फिर किसी पदार्थकी इच्छा करता हुआ किसलिये शरीरमें मिथ्या अध्यास करके विषयभोगोंके लिये दुःखसे सन्तप्त होगा।'

इस श्रुतिमें व्यतिरेकद्वारा आत्म-अज्ञानको ही सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण बताया गया है। अतएव यह चौथी अविद्या है।

उपर्युक्त चारों प्रकारकी अविद्या ही राग, द्वेष आदि शेष चारों क्लेशोंका मूल कारण है। अतएव महर्षि गौतमने—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

(न्यायदर्शन, अध्याय १, सूत्र २)

—इस सूत्रमें मिथ्याज्ञानात्मक अविद्याकी निवृत्तिद्वारा रागादिकी निवृत्तिको ही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिका कारण बताया है।

(२) *अस्मिता*—दृक्शक्ति (द्रष्टा अर्थात् पुरुष[३]) और दर्शनशक्ति (बुद्धि[४]) की एकात्मता-सी (अभिन्नता-सी) प्रतीत होना अस्मिता नामक क्लेश है।

पुरुष और बुद्धि, ये दोनों वस्तुतः अत्यन्त विलक्षण हैं—पुरुष कूटस्थ, शुद्ध, चेतन तथा भोक्ता है और बुद्धि परिणामी, मलिन तथा जड है। इन दोनोंका तादात्म्यभावसे (अभेदसे) प्रतीत होना अस्मिता है। यह अस्मिता ही पुरुषके लिये भोगका कारण है। क्योंकि इस अस्मिताके कारण ही नित्य, शुद्ध, चेतन, अविकारी और कूटस्थ होकर भी पुरुष अपनेको जडबुद्धिसे भिन्न न मानकर 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुखी हूँ'—इस प्रकार मान लेता है। अतएव द्रष्टा और दृश्यका अभेद-ज्ञानरूप अस्मितासंज्ञक क्लेश बन्धनका कारण है। योगवासिष्ठमें कहा है—

१. शरीरमें स्थित होकर पुरुष भोगोंको भोगता है, अतः शरीर भोगका अधिष्ठान है।
२. विषयभोगका साधन होनेके कारण मन पुरुषका उपकरण है।
३. सबका द्रष्टा होनेके कारण पुरुषकी द्रष्टा-संज्ञा है।
४. विषयाकारसे परिणत होकर विषयरूपको प्राप्त होनेके कारण बुद्धिकी दर्शनशक्ति-संज्ञा है।

द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते॥
(उत्पत्ति प्र० १।२२)

'द्रष्टाकी दृश्यरूपसे सत्ता मान लेना ही बन्ध है। दृश्यके वशमें होनेसे वह बद्ध है और दृश्यको मिथ्या समझनेसे मुक्त हो जाता है।'

(३), (४) *राग और द्वेष*—सुखानुभवके अनन्तर चित्तमें रहनेवाली सुखकी अभिलाषाका नाम राग और दुःखानुभवके अनन्तर चित्तमें रहनेवाली दुःखको निराकरण करनेकी इच्छाका नाम द्वेष है। अर्थात् सुख और दुःखके अनुभवके समय चित्तमें सुख और दुःखके संस्कार स्थिर हो जाते हैं। समयान्तरमें उस पूर्वानुभूत सुख या दुःखका स्मरण हो आनेपर, तादृश सुखकी इच्छा और दुःखके प्रति द्वेष उत्पन्न होना राग और द्वेष नामक क्लेश हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने राग-द्वेषको महारोग कथन किया है—

रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम्॥
(योगवासिष्ठ)

अतएव राग-द्वेष क्लेशरूप बताये गये हैं। क्योंकि राग और द्वेष मनुष्यके परम शत्रु हैं—इनके वशीभूत होकर ही सब अनर्थ-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३।३४)

सभी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग और द्वेष स्थित हैं, अर्थात् इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्टमें द्वेष रहता है। अतएव राग-द्वेषके वशमें कभी न होना चाहिये, क्योंकि ये इस पुरुषके परिपन्थी हैं। परिपन्थीका अर्थ पूज्यपाद भाष्यकारने यहाँ 'कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले चोरके समान' किया है।

(५) *अभिनिवेश*—स्वभावसिद्ध मरणभय अभिनिवेश-संज्ञक क्लेश है। अर्थात् प्राणिमात्रकी अपने विषयमें 'मैं कभी न मरूँ, सर्वदा जीवित रहूँ' ऐसी इच्छा रहना ही अभिनिवेश है। अभिनिवेश केवल सम्प्रज्ञात समाधिस्थ योगीजन तथा विवेकशील ज्ञानी एवं भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त क्या मूढ, क्या पण्डित, क्या वृद्ध, क्या बालक, सभीके हृदयमें एक समान स्थित रहता है। यह अभिनिवेश स्व-रस-वाही है अर्थात् पूर्वमरणके अनुभवकी वासनाद्वारा रहा करता है। यदि पूर्वजन्ममें मरणका अनुभव न हुआ होता तो इस जन्ममें मृत्युका भय न होता। क्योंकि तत्कालका बालक या कीड़े आदि, जिन्होंने न तो मरण-दुःखका वर्तमानमें प्रत्यक्ष अनुभव ही किया है, न अनुमान ही कर सकते हैं और न आगम-प्रमाणसे ही अभिज्ञ हैं, उनको भी यह मृत्युभय होना प्रत्यक्ष देखा जाता है।

उपर्युक्त अविद्यादि पाँचों क्लेशोंकी चार अवस्थाएँ हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।

प्रसुप्त अवस्थामें चित्तमें वर्तमान रहते हुए भी क्लेश अपने कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते। किन्तु अपने कार्यको सम्पादन करनेकी शक्ति उनमें बीजभावसे बनी रहती है।

तनु अवस्थामें प्रतिपक्षभावनाद्वारा अर्थात् तप एवं स्वाध्याय आदि क्रियायोगोंके अनुष्ठानद्वारा क्लेश उपहत होकर क्षीण हो जाते हैं। अर्थात् सम्यग्ज्ञानद्वारा अविद्या, विवेकज्ञानद्वारा अस्मिता, माध्यस्थद्वारा[1] राग-द्वेष और अहंता-ममताके त्यागद्वारा अभिनिवेश तनु अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि क्लेशोंकी तनु अवस्था क्रियायोगद्वारा साध्य होनेके कारण उपादेय है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिस्थ[2] योगीके लिये तनु अवस्थावाले क्लेश भी त्याज्य होनेके कारण तनु क्लेश भी अविद्या मूलक ही है।

विच्छिन्न अवस्थामें क्लेश बीच-बीचमें विच्छिन्न होकर भी फिर उसी रूपमें प्रादुर्भूत होते रहते हैं। यह विच्छिन्न अवस्था दो प्रकारसे होती है—सजातीय रागकी उदारताद्वारा और विजातीय रागकी उदारताद्वारा। जैसे किसी पुरुषका अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा किसी विशेष स्त्रीमें उत्कट अनुराग हो, वह अनुराग लब्धवृत्ति अर्थात् उदार है। किन्तु अन्य स्त्रियोंमें वही अनुराग उस समय

१. यह ग्रहण करने योग्य है और यह त्याग करने योग्य, इस प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञानके अभावको माध्यस्थ कहते हैं।

२. निर्बीज या निरालम्ब समाधिप्राप्त योगी।

भविष्यद्वृत्ति होनेके कारण विच्छिन्न है। अतः ऐसा राग सजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न होता है। और रागके समय क्रोध उत्पन्न न होनेके कारण जो अदृश्यमान क्रोध है वह विजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न हो जाता है।

एक क्लेशकी उदार अवस्थाके समय अन्य क्लेशोंकी केवल विच्छिन्न अवस्था ही नहीं किन्तु कहीं प्रसुप्त और कहीं तनु अवस्था भी रहती है।

उदार अवस्थामें क्लेश अपने विषयमें लब्धवृत्ति होनेके कारण उत्कटरूपसे प्रकट होकर अपने कार्यमें तत्पर रहते हैं।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाएँ क्रियायोगके अनुष्ठानद्वारा जिस प्रकार तनु हो जाती हैं उसी प्रकार विषयचिन्तन आदि उत्तेजक कारणोंद्वारा उदार हो जाती हैं। अर्थात् क्रियायोग क्लेशोंकी क्षीणताका और विषयासक्ति क्लेशोंकी वृद्धिका कारण है।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाओंमें प्रसुप्त अवस्था तत्त्वलीन[१] व्यक्तियोंमें रहती है। तनु अवस्था योगीजनोंमें और विच्छिन्न तथा उदार अवस्था विषयासक्त मनुष्योंमें रहती है—

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

(योगदर्शन—वाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्या)

पूर्वोक्त अविद्या आदि पाँचों क्लेशोंकी उक्त प्रसुप्त आदि चार अवस्थाओंके अतिरिक्त एक दग्ध अवस्था भी है। परन्तु वह अवस्था तो वाञ्छनीय है, उस अवस्थाको प्राप्त हो जानेपर क्लेश पुरुषको बाधित करनेमें समर्थ नहीं रहते।

क्लेशोंकी निवृत्ति

प्राणिमात्र क्लेशोंकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु जिस विषय-भोगकी प्राप्तिको वे दुःखनाश और सुखकी प्राप्ति समझते हैं, वह न तो वस्तुतः दुःखका नाश है और न सुख ही। प्रत्युत विषय-भोगमें माना जानेवाला सुख तो दुःख (क्लेश)-रूप है, जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग दुःखके नाश और सुखकी प्राप्तिके लिये स्वच्छन्द (अपने मनोऽनुकूल) उपायोंकी योजना करते हैं, उनके द्वारा भी दुःखका नाश या सुखकी प्राप्ति सम्भव नहीं। क्लेशोंकी निवृत्ति तो शास्त्रोक्त साधनोंद्वारा ही हो सकती है।

क्लेशोंकी निवृत्तिके लिये प्रथम उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंको क्षीण करनेके लिये तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोग[२] ही एकमात्र साधन है। क्योंकि अनादिकालसे किये गये कर्म और तज्जनित क्लेशोंकी वासनाद्वारा असंख्य प्रकारसे विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाला रजोगुण और तमोगुणका विकास तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोगके अतिरिक्त कभी विनष्ट नहीं हो सकता। यहाँ 'तप' द्वारा शरीरको शोषण करनेवाले स्मृतियोंमें निरूपित कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत आदि दुःसाध्य तपोंसे तात्पर्य नहीं, क्योंकि चान्द्रायणव्रत आदि धातुवैषम्य-कारक होनेके कारण योगके विरोधी हैं। यहाँ तो हित,[३] मित[४] एवं मेध्य[५] भोजन, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता और इन्द्रियोंके दमनात्मक युक्ताहार-विहार आदि तप ही अभीष्ट हैं। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

स्वाध्यायसे यहाँ प्रणवका जप, रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त आदि वैदिक मन्त्र और मोक्ष-प्रतिपादक पौराणिक शास्त्रोंका अध्ययन और श्रीभगवन्नामका जप अभीष्ट है।

---

१. आत्मत्वभावना करके (जो अज्ञानजन्य है) पञ्चभूत आदिमेंसे किसी तत्त्वका समाधिमें आलम्बन करके जो ध्यान करते हैं उनको तत्त्वलीन अथवा विदेहप्रकृतिलय कहते हैं और यह सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। यह समाधि मुक्तिका साक्षात् साधन नहीं, क्योंकि अपनी अवधिके अनन्तर तत्त्वलीनोंको फिर संसारमें आना पड़ता है।

२. क्रियायोगमें तीसरे साधन ईश्वरप्रणिधान (भक्ति)-का भी योगदर्शनमें उल्लेख है, वह आगे लिखा जायगा।

३. योगीके विरोधी अति अम्ल, अति लवण, अति उष्ण, अति रूक्ष, तिल, सरसों, दही और मांस आदिको छोड़कर गेहूँ, चावल, मूँग गोदुग्ध, शर्करा, घृत और मधु आदि हित-भोजन हैं।

४. उदरके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे पूर्ण करके शेष चौथा भाग वायुके सञ्चारके लिये रिक्त (खाली) रखना मितभोजन है।

५. मद्य, मांस, मत्स्य, लहसुनको छोड़कर परवल, सूरण (जिमीकन्द) आदि मेध्यभोजन है।

उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंकी क्रियायोगद्वारा क्षीण अवस्था हो जानेपर भी वे समूल नष्ट नहीं होते—बीजभावसे स्थित रहते हैं, अतः बीजभावसे स्थित क्लेशवृत्तियाँ ध्यान (निदिध्यासन) योगद्वारा—जिसकी योगशास्त्रमें प्रसंख्यान अग्नि संज्ञा भी है—दग्धबीज की जा सकती हैं।

ध्यानका अर्थ है ध्येयाकार चित्तवृत्तिकी एकाग्रता हो जाना—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

(यो० वि० पा० सू० २)

चित्तकी एकाग्रताके लिये अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोध करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही एकमात्र साधन हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(यो० समा० पा० सू० १२)

अर्थात् अभ्यासद्वारा यमनियमादि साधनोंकी दृढ़ अवस्था हो जानेपर और ऐहिक एवं पारलौकिक विषयोंमें अत्यन्त ग्लानि रखनेसे ही चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो सकती है।

अभ्यास और वैराग्यद्वारा चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो जानेपर एकाग्रचित्तमें सच्चिदानन्दघन परमेश्वरके ध्यानद्वारा क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं। ध्यान अमूर्त और मूर्त दो प्रकारका होता है—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः।
भूप मूर्तममूर्तं च परं चापरमेव च॥

(विष्णुपुराण ६।७।४७)

नारदपाञ्चरात्रगत आनन्दसंहितामें भी कहा है—

आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तश्चामूर्त एव च।

अमूर्त अर्थात् अव्यक्त—निर्गुण ब्रह्मका ध्यान और व्यक्त अर्थात् भगवान् श्रीराम-कृष्ण आदि अपने अभिमत भगवान्‌की इष्टमूर्तिका ध्यान।

इस प्रकार भगवान्‌के ध्यानद्वारा क्लेशोंके दग्धबीज हो जानेपर उन क्लेशोंको निर्मूल करनेका एकमात्र साधन असम्प्रज्ञात समाधि ही है—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। (यो० सा० पा० सू० १०)

असम्प्रज्ञात समाधिमें ध्याता और ध्येयकी प्रतीति नहीं होती है[1] अर्थात् वह निर्बीज (निरालम्ब) होती है। यह समाधि ही योगकी परमावधि है। इसीके लिये यम, नियम आदि अष्टाङ्गयोगादि अनेक साधनोंका योगदर्शनमें उल्लेख किया गया है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिके योगशास्त्रोक्त साधनोंका अनुष्ठान सहज नहीं। अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्वयं भगवान् आज्ञा करते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १२।५)

जो अव्यक्त (अक्षर निर्गुण निराकार) ब्रह्मके उपासक हैं उनको देहाभिमानका परित्याग करना परमावश्यक है। देहाभिमानके त्याग बिना निराकार ब्रह्मात्मक समाधि उपलब्ध नहीं हो सकती। देहाभिमानका त्याग अत्यन्त दुष्कर है—इसके लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन अष्टाङ्गयोगोंके[2] दुःसाध्य साधनोंद्वारा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। अतएव इन साधनोंके अत्यन्त कष्टसाध्य होनेके कारण परम दयालु भगवान् पतञ्जलिने क्लेशोंकी निवृत्ति और समाधिकी उपलब्धिके लिये एक सुखसाध्य साधन और भी बताया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

(योगदर्शन, समाधिपाद, सू० २३)

ईश्वरप्रणिधानका अर्थ है भगवान्‌की भक्ति। इस सूत्रमें 'वा' के प्रयोगद्वारा ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिका उपलब्ध होना कहा गया है। अर्थात् जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक यमनियमादि साधनोंके करनेसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न होकर चित्तके निरोधद्वारा समाधि उपलब्ध होती है, उसी प्रकार भक्तिसे भी समाधि उपलब्ध हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलिने सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट करनेके लिये असम्प्रज्ञात समाधिको ही परम पुरुषार्थ बताया है, जो उपर्युक्त योग और भक्ति दोनोंसे उपलब्ध हो सकती है। किन्तु, जैसा पहले दिखाया गया है, योगमार्ग बड़ा दुःसाध्य है। भक्तिमार्गमें उन कठिन साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती। इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही देवर्षि नारदजीने वेदव्यासजीको कहा है—

१. कहा है—मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥
२. पातञ्जल योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र २९—५५ तथा विभूतिपादके प्रारम्भमें है।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भागवत १।६।३६)

अर्थात् कामलोभादि क्लेशोंसे अहर्निश सन्तप्त मन जिस प्रकार भगवान्‌की सेवाद्वारा शान्त होता है उस प्रकार यम-नियमादि योगमार्गद्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये नारदभक्तिसूत्रमें भी उन्होंने भक्तिको कर्म, ज्ञान और योगकी अपेक्षा अधिकतर बताकर मुमुक्षुजनोंको भगवद्भक्तिका ही आदेश दिया है—

स तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।
(सूत्र २५)

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। (सूत्र ३३)

निष्कर्ष यह है कि क्लेशोंके विनाशके लिये योग और भक्ति दोनों ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं। किन्तु इस कलिकालमें अष्टाङ्गयोगका यथावत् साधन होना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुःसाध्य होनेके कारण संसारके क्लेशोंके आत्यन्तिक विनाशके लिये इस समय भगवद्भक्तिका आश्रय ही सुसाध्य है।
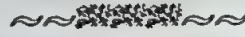
योगमाया

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, एम्० ए०)

श्रीयोगमाया वह अद्भुत तत्त्व है जिसके कारण निर्गुण, निराकार परब्रह्म कल्याणगुणगणाकर मूर्तिमान् बन जाते हैं। यद्यपि इन दोनों—शक्ति तथा शक्तिमान्‌में कोई भेद नहीं है तथापि भक्तोंसे आराधित शक्तिमान् जिस प्रकार श्रीरामकृष्णादि अनेक रूपोंमें दर्शन देते हैं उसी प्रकार ऋषि-मुनि-संस्तुता शक्ति भी श्रीदुर्गा, देवी, काली आदि नानाविध रूपोंमें प्रकट होती हैं। भावके तारतम्यके अनुसार ही शास्त्रमें, उपासनाविधिमें, व्यावहारिक भेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी भावुक भक्तको अघटनघटनापटीयसी शक्तिदेवीका अपार महिमाके सम्मुख ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी गौण प्रतीत होते हैं तो किसी दूसरे भक्तको शक्ति शक्तिमान्‌के अधीन विदित होती हैं। परमार्थतः दोनों एक ही वस्तु हैं।

शास्त्रमें इन महाप्रभावा योगमायाका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपलब्ध है। वेदके एक मन्त्रमें शक्ति-शक्तिमान्‌को भाई-बहिन मानकर उनका आह्वान किया गया है—

'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया
तज्जुषस्व……' (शुक्लयजु० ३। ५७)

'अम्बिका बहिनके साथ हे रुद्र! यह आपका भाग है, इसे पाइये।'

मार्कण्डेयपुराण तथा देवीभागवत इन जगज्जननीके सर्वोपरि माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें वह ब्रह्मके परिपूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अनुजा कही गयी हैं—

अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।

'भगवान् श्रीविष्णुकी छोटी बहिन अष्टमहाभुजा आयुध लिये दिखायी दीं।' इन्हीं योगमायाने श्रीमन्नारायणके आदेशके अनुसार गर्भसङ्कर्षण नामक त्रिलोकीमें अश्रुतपूर्व चमत्कार किया था और अजा होकर भी यशोदा-माताकी गर्भशय्यामें शयन किया था—

या योगमायाजनि नन्दजायया।

योगमायाकी इच्छासे ही वसुदेवजीके कारागृहके निरीक्षक द्वारपाल निद्राभिभूत हो गये थे।

तया हतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वथ शायितेष्वपि।

इन्हींके साहाय्यसे भगवान् श्रीकृष्णने रास नामक लोकोत्तर विस्मय किया था—

योगमायामुपाश्रितः। (श्रीमद्भा० १०।२९।१)

'योगमायाका आश्रय करके।'

सगुण ब्रह्मका जो सर्वातिशायी ऐश्वर्य है वह सब योगमायाका प्रभाव है। सनकादि नित्यमुक्त ब्रह्मर्षियोंके वैकुण्ठाधिष्ठान श्रीविष्णुभगवान्‌के साथ संलापमें भगवान्‌का जो विशेषण है उससे यही बात सिद्ध होती है—

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥
(श्रीमद्भा० ३।१६।१५)

'योगमायासे जिनके परमैश्वर्यका महोदय प्रकट

हुआ उन परमेश्वरसे वे आनन्दित, पुलकित ब्राह्मण हाथ जोड़कर बोले।'

योगियोंके योगप्रभावको भी योगमाया कहा जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह अभीष्ट नहीं है; क्योंकि बद्ध मनुष्यकी अपेक्षा मुक्त योगीका ऐश्वर्य यद्यपि निरवग्रह हो सकता है और शास्त्रमें ऐसा कहा भी गया है, तथापि परमात्माके साथ तुलना करनेमें वह सावग्रह ही ठहरता है। योगदर्शनके मतानुसार समाधिके अनन्तर अन्यान्य विभूतियोंके अतिरिक्त योगियोंको सर्वज्ञत्व नामकी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

'प्रकृति और पुरुषके भेदका यथार्थ ज्ञान जिसको हो गया वह सब भावोंका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है।' यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व अवश्यमेव आपेक्षिक है। साधारण संसारी जीवकी अपेक्षा योगी सर्वज्ञ है ही, किन्तु उसमें निरतिशय सर्वज्ञबीज नहीं है; वह तो नित्यसिद्ध परमपिताका ही सहज गुण है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

'वहाँ सर्वोपरि सर्वज्ञताका बीज है।' इसी प्रकार योगीको प्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह जगत्की सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं कर सकता। वेदान्तशास्त्रका—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

—यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है। विश्वव्यापार तो भगवान्की ही योगमायाका विलास है।

जिन अतर्क्यमहिमशालिनी ब्रह्मशक्ति भगवती श्रीयोगमायाके भृकुटिविलासमात्रसे अनन्त आकाशमें अनन्त तारावली यथानियम अप्रमत्तरूपसे परिभ्रमण किया करती है उन जगज्जननी भक्तकल्याणकारिणी योगमायादेवीके श्रीचरण-नलिन-युगलमें हम सादर मस्तक नवाते हैं।

त्याग और लोकसेवारूप योग

(लेखक—रेवरेण्ड आर्थर ई० मैसी)

'यदि कोई मनुष्य मेरा अनुसरण करना चाहता है तो वह अपना अहङ्कार त्याग दे और प्रतिदिन अपना क्रॉस उठाकर मेरे पीछे हो ले।'* ((ल्यूक ९। २३)

योगके द्वारा मुक्ति तभी मिल सकती है जब उसकी सारी प्रक्रियाओं और पद्धतियोंमें त्याग और लोकसेवाकी प्रधानता हो, क्योंकि मायिक परिच्छिन्न जीवकी प्रत्येक चेष्टा व्यर्थ होती है। ईश्वर प्रेमरूप है और प्रेममें विधिकी पूर्णता है। जहाँ प्रेमकी प्रधानता है वहाँ त्याग त्याग नहीं रह जाता; क्योंकि प्रेममें केवल प्रेमास्पदका ही ध्यान रहता है, अपना ध्यान बिलकुल नहीं रहता। वास्तवमें प्रेम ही सब कुछ है, जिसे हम अहङ्कार कहते हैं वह तो प्रतीतियोंका एक निरा ढेर है जो हमारी भेद-बुद्धिको दृढ़ करता हुआ हमें उस एक एवं अद्वितीय सत्ताके साथ एकताका अनुभव नहीं करने देता। प्रत्येक सच्चा योगी एवं प्रत्येक सद्गुरु ज्ञानपूर्वक परमात्मयोगके प्रकाशमें विचरता है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुको न तो वह जानता है और न इच्छा करता है। वह जगत्के परस्परविरोधी स्वरोंको अपने कानोंके समीप नहीं जाने देता, अपने अहङ्कारयुक्त विचारों और अनुभूतियोंको शान्त कर देता है और उस आभ्यन्तर प्रकाशकी सहायतासे संसारके कार्य करता है जो प्रकाश प्रत्येक वस्तुके वास्तविक स्वरूपको प्रकट करता है। वह यथार्थ मार्गको ही देखता और ग्रहण करता है और यथार्थ बात ही कहता है। प्रेमरूप शक्तिको ग्रहणकर उसे सब लोगोंको वितीर्ण करना ही उसका कार्य होता है, अतएव मनुष्यशरीरको तो वह अपने-आपको सर्वतोभावेन जनतारूप जनार्दनकी सेवामें उत्सर्ग कर देनेका एक सुन्दर अवसर समझता है। सद्गुरु और आन्तरिक ज्योतिमें कोई अन्तर नहीं है, इसलिये सद्गुरु या योगी बनना ही प्रत्येक

* "If any man would come after Me, let him deny himself and take up his cross daily and follow Me." *(Luke IX. 23)*

कल्याणकामी पुरुषका ध्येय होना चाहिये। हमलोग विच्छिन्न व्यक्तियाँ नहीं हैं, अपितु एक ही शरीरके अङ्ग हैं, और यदि हममेंसे कोई एक भी प्रभुकी पूर्णता प्राप्त करनेकी चेष्टा करे तो वह सारा समष्टिशरीर ही ऊँचा उठा हुआ अनुभव करेगा। क्योंकि शरीरके एक अङ्गमें पीड़ा होनेपर अन्य समस्त अङ्गोंको उस पीड़ाका अनुभव होता है, अथवा एक अङ्गके पूजित होनेपर समस्त अङ्गोंको प्रसन्नता होती है। इसलिये, यह जानकर कि दुःखसे चरित्रकी दृढ़ता होती है, हमको दुःखमें भी आनन्दित होना चाहिये। एक अङ्गकी पुष्टिसे सारा शरीर पुष्ट होता है और जगत्में उसकी क्षमता बढ़ती है, अतः त्याग और लोकसेवा योगका विशुद्धतम एवं सर्वोत्कृष्ट रूप है। ''मैं उनके अन्दर रहता हूँ और मेरे अन्दर वे रहते हैं जिससे कि वे पूर्ण होकर **'एकमेवाद्वितीयम्'** बन जायँ।''

प्रेमके बिना परमात्मासे मिलनेकी सारी आकांक्षाएँ, योगकी सारी प्रक्रियाएँ और उसके विविध प्रकार व्यर्थ एवं निष्फल हैं। प्रेम नवीन जीवन प्रदान करनेवाली तथा पवित्र करनेवाली महान् एवं अमोघ शक्ति है। **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** बननेकी सतत चेष्टासे ही मनुष्यके आध्यात्मिक शरीर अथवा आत्माका विकास एवं अभिव्यक्ति होती है। हमारा आध्यात्मिक स्वरूप स्वयं पूर्ण होनेपर भी सदा किसी ऐसे साधनकी खोजमें रहता है जिसके द्वारा वह मानवजातिकी सेवा एवं सहायता कर सके और हमारे अन्दर सेवा और सहायता करनेकी जितनी योग्यता एवं क्षमता आती है उतनी ही मात्रामें ईश्वर हमारे द्वारा अपनी इच्छा और अभिसन्धिको पूर्ण करते हैं।

सेवाके मार्गमें पैर रखनेके पूर्व हमें जाति, वर्ण, रंग, धर्म अथवा स्त्री-पुरुषके भेदको सर्वथा भुला देना होगा, नहीं तो हम कदापि इस कार्यमें सफल नहीं हो सकते; क्योंकि प्रेमकी दृष्टिमें मनुष्यमात्र उस **'एकमेवाद्वितीयम्'** के ही अनेक रूप हैं, अतः उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

मनुष्यके लिये परमात्माको खोजनेकी आवश्यकता नहीं है, जितनी अधिक उसकी खोज की जायगी उतना ही अधिक वह दुर्लभ होता जायगा। क्योंकि किसी कविने ठीक ही कहा है—

'वह (परमात्मा) प्राणसे भी समीप है और हाथ-पैरसे भी निकट है।'[1] जब जीव अपनी युगान्तव्यापिनी मोहनिद्रासे जागता है, जब भौतिक विचारका आवरण उसकी दृष्टिके सामनेसे हट जाता है और वह ब्रह्मसाक्षात्कारके समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे यह दिव्य अनुभव होता है कि 'मेरे अन्दर अब 'अहम्' (मायिक क्षुद्र अहंभाव) नहीं रहा, बल्कि स्वयं प्रभु प्रतिष्ठित हो गये हैं।'[2] और इस प्रकार वह सच्चा त्यागी एवं लोकसेवक योगी बन जाता है।

बाहरी वेष, कर्मकाण्ड, प्रतिमापूजन, तपश्चर्या आदि सभी आत्माके विकासमें सहायक हैं, यद्यपि इनमेंसे कोई भी अनिवार्य नहीं है। किन्तु ध्येयकी प्राप्ति होते-होते ये सब साँपकी केंचुलीकी भाँति अवश्य छूट जाते हैं और जब कुछ भी नहीं बच रहता तब वहाँ स्वयं भगवान् आ विराजते हैं। इस भौतिक जगत्के लिये 'भवाटवी' और 'दुःखालय' आदि शब्दोंका प्रयोग इसीलिये किया गया है कि हम इसे मूर्खतावश प्रकृति नटीका एक नश्वर खेल न समझकर प्रत्यक्ष एवं सत् मान बैठे हैं। अतएव वे कष्ट, निर्वेद एवं यन्त्रणाएँ जिनका हम जीवनमें अनुभव करते हैं सभी इस रूपमें आवश्यक हैं कि वे हमें सनातन सत्य तत्त्वका—उस अलौकिक शान्तिका लक्ष्य कराते हैं जो हमारी बुद्धिमें भी नहीं आ सकती ("Peace that passeth all understanding") प्रसिद्ध पाश्चात्त्य दार्शनिक स्पिनोज़ा (Spinoza)-ने एक जगह कहा है कि 'ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करना उसका अपलाप करना है' (To define God is to deny Him)। उनका यह कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि जितना ही अधिक हम ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करनेकी चेष्टा करते हैं उतना ही अधिक हम उस अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न अथवा ससीम बनाते हैं। अतः सभी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों, दर्शनों, आचार्यों एवं अधिकारी पुरुषोंको नमस्कार कर निरन्तर एवं दृढ़तापूर्वक मौनका ही अभ्यास करना श्रेयस्कर है, जिससे हम अपने हृदयस्थित अन्तरतम

1. "Closer is He than breathing, Nearer than hands and feet."
2. "Not 'I' But Christ that liveth in Me."

प्रदेशमें परमात्माका संयोग प्राप्तकर उनके साथ आलाप करें और अन्तमें उन्हींके अन्दर अपने-आपको विलीन कर दें—जिन परमात्माको उपनिषदोंने '**एकमेवाद्वितीयम्**' कहा है तथा जिनके अतिरिक्त और कोई सत्य वस्तु है ही नहीं।

इस बातको जान लेना श्रेयस्कर है कि परमात्मा ही प्रकृतिके द्वारा अपनी अभिसन्धिको पूर्ण कर रहे हैं।

"सर्वप्रथम बाष्पसदृश धूम्रवर्ण ज्योति उत्पन्न हुई और तदनन्तर ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदिकी सृष्टि हुई। इसके अनन्तर खनिज पदार्थों एवं शंख, सीप आदिकी उत्पत्ति हुई; इसके अनन्तर छोटी-छोटी मछलियाँ एवं बिसतोइया आदि जीव उत्पन्न हुए और फिर उन गुहाओं और कन्दराओंकी रचना हुई जिनमें जंगली मनुष्य रहने लगे। इसके बाद मनुष्योंको कानून एवं सौन्दर्यका ज्ञान हुआ और अन्तमें उनकी दृष्टि पार्थिव पदार्थोंके परे आत्माकी ओर गयी। कुछ लोग उत्पत्तिके इस क्रमको परिणाम या विकास कहते हैं और दूसरे लोग इसीको ईश्वरके नामसे पुकारते हैं।"* हाँ, प्रकृति कोई बिरानी अथवा ईश्वरसे भिन्न वस्तु नहीं है, बल्कि उन्हींका निःश्वास है। एक सच्चे योगीकी दृष्टिमें प्रकृति ईश्वरका ही प्रत्यक्ष रूप है, विश्वात्माका शरीर है। 'तुम्हारी ज्योतिमें ही हमें प्रकाशका दर्शन होता है।' प्राकृतिक शक्तियाँ परमात्माके सनातन कर्मका—जगत्के अन्तःस्थित उनके सजीव सङ्कल्पका द्योतन करती हैं। ईसाने जिस सत्यका उपदेश दिया उसकी पूर्वके आत्मवित् योगियोंको नये ढंगसे व्याख्या करनी होगी। ईसामसीह पूर्वीय आचार्य थे। उनका प्राकृतिक जगत्के साथ जो गाढ़ परिचय था, उन्हें मनुष्यके अन्तःकरणका जो परिज्ञान था, उन्होंने सहानुभूति, प्रेम और सेवाका जो रहस्यमय सिद्धान्त संसारके सामने रखा, उनका छोटे बच्चों, दीन-दुखियों, पापियों और पतितों—उन पथभ्रष्ट प्राणियोंके प्रति जिन्हें संसार उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है किन्तु जगत्का वह महान् मातृहृदय जिन्हें सदा आलिङ्गन करनेके लिये प्रस्तुत रहता है,—उनके प्रति उनका जो विशेष प्रेम था, उनकी एकान्तप्रियता जो शोकके सौन्दर्यको प्रकट करती थी, उनकी उत्सर्गजनित कोमलता, उनकी सौम्य वाणी और उससे भी सौम्यतर मौन, उनकी प्रेम और विनयपूर्ण आचारनीति, उनका हृदयस्थित परमात्माके साथ संयोग स्थापित करनेवाला धर्म, उनका विशुद्ध जीवन, उनकी मृत्यु जिससे उन्होंने संसारको सनातन परमात्माके पवित्र हृदयका परिचय दिया—अवश्य ही ये सब बातें पूर्वके आदर्शवादी योगियोंको सहज ही हृदयङ्गम हो सकती हैं और इन्हींके द्वारा की जानेवाली व्याख्यासे पाश्चात्त्य जगत्के आध्यात्मिक जीवनका पुनरुत्थान होगा। हमलोग संसारके इतिहासमें एक नवीन युगका आरम्भ देख रहे हैं, जगत्के पुनर्जन्मका काल उपस्थित है, प्राचीन व्यवस्थाका स्थान नवीन व्यवस्था ग्रहण कर रही है। समाज, शासनव्यवस्था, दार्शनिक सिद्धान्त एवं धर्म, सभीका नये ढंगसे पुनर्निर्माण होनेवाला है और इस कार्यमें पूर्व और पश्चिम दोनों ही अपने-अपने ढंगसे योग देंगे। पाश्चात्त्य जगत् भावी संसारको वैज्ञानिक संघटन, नैतिक शक्ति और राजनैतिक प्रगतिका पाठ पढ़ायेगा; वह व्यक्तित्वका मूल्य और परिस्थितिका महत्त्व बतायेगा और कर्मके सिद्धान्तका समर्थन करेगा, और प्राच्य जगत् उसकी इस आवश्यक शिक्षाको प्रसन्नता एवं कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करेगा।

यह सब ठीक है; परन्तु पश्चिमको भी उच्चतर जीवनके गहनतत्त्वोंका अनुशीलन करनेके लिये, पुरातन ज्ञानको आत्मसात् करके उसका अपनी दैनिक आवश्यकताओंमें उपयोग करनेके लिये, योगियोंकी-सी दृष्टि प्राप्त करनेके लिये, प्रकृतिको केवलमात्र वैज्ञानिकोंकी प्रयोगशाला न समझकर उसे आत्माके मन्दिररूपमें देखनेके लिये, ध्यानका अभ्यास करनेके लिये, और इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके लिये कि कर्म ही उपासना नहीं है अपितु उपासना भी एक आवश्यक कर्म है, पूर्वकी ही शरण लेनी होगी। हम पाश्चात्त्य देशवासियोंके लिये अभी यह सिद्धान्त समझना बाकी है कि सत्य कोरी कल्पना नहीं है अपितु आत्माके अनुभवका विषय है और उसकी उपलब्धि

* "A fire-mist and a planet, A crystal and a shell,
A jelly-fish and a saurian, And caves where the cave-men dwell;
Then a sense of law and beauty, And a face turned from the clod;
Some call it Evolution, And others call it God."

केवल आलोचन-प्रत्यालोचनसे अथवा पदार्थोंका बुद्धिके द्वारा विश्लेषण करनेसे नहीं हो सकती, अपितु उसके लिये सहृदयतापूर्ण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और उसी प्रकारके जीवनकी अपेक्षा है। प्रसिद्ध पाश्चात्त्य दार्शनिक शोपनहॉर उस दिनका स्वप्न देखा करते थे जब पूर्वकी ज्ञानगङ्गा पश्चिमकी ओर बह निकलेगी। जिस दिन वह काल पूर्णरूपसे आ जायगा उस दिन पूर्वके रहस्यमय ज्ञानका विकासवादकी अपेक्षा कहीं गहरा प्रभाव पड़ेगा। उस समय भिन्न-भिन्न विश्व-धर्मोंके प्रति योरपकी दृष्टि बिलकुल बदल जायगी और वहाँके निवासी इस बातको भलीभाँति समझ जायँगे कि सत्यका किसी धर्मविशेषने ठीका नहीं ले रखा है, ईश्वरीय ज्ञानके प्रकाशकी कहीं इतिश्री नहीं हो गयी और रहस्यमय ज्ञानमें एक ऐसा समन्वय-तत्त्व है जिससे अन्तमें जाकर पूर्व और पश्चिम दोनों पारस्परिक सौहार्द एवं सामञ्जस्य, तथा एक-दूसरेके प्रति त्याग और सेवाके अटूट पाशमें बँधकर एक हो जायँगे, यही योगका प्रारम्भ और यही उसका चरम लक्ष्य है।

योग-शब्द

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीश्रीपञ्चाननजी तर्करत्न)

'युज्' धातुसे 'योग' शब्द बनता है। पाणिनिके गणपाठमें तीन 'युज्' धातु हैं। दिवादिगणके 'युज्' धातुका अर्थ है समाधि। हमारा आलोच्यमान 'योग' शब्द इसी 'युज्' धातुसे उद्भूत हुआ है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसके सिवा और दो 'युज्' धातु हैं। एक रुधादिगणमें, जिसका अर्थ संयोग होता है, और दूसरी चुरादिगणमें, जिसका अर्थ होता है संयमन। अब यह विचारना है कि ये दोनों 'युज्' धातु भी आलोच्यमान योग-शब्दकी प्रकृति हो सकते हैं या नहीं।

बहुतेरे कहेंगे कि 'दूसरी दोनों युज् धातुओंसे योगशब्दका उद्भव होनेपर भी वह इस लेखका आलोच्य विषय नहीं है; क्योंकि वह योग समाधि नहीं है। 'समाधि' शब्दका भट्टोजिदीक्षितद्वारा प्रदर्शित अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। पातञ्जलदर्शनमें उसका मूल विद्यमान है **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**। अतएव समाधिबोधक 'युज्' धातुसे ही इस योग-शब्दका उद्भव है, अन्य 'युज्' धातुसे नहीं।

परन्तु मैं इस मतका पूर्णतः समर्थन नहीं करता। मैं कहूँगा कि 'दिवादिगणीय 'युज्' धातुसे जो 'योग' शब्द उद्भूत होता है उसके समाधिबोधक होनेपर भी अन्य 'युज्' धातुसे उद्भूत 'योग' शब्द समाधिबोधक नहीं हो सकता', यह कोई आवश्यक बात नहीं है। क्योंकि समाधिशब्दके प्रकृति-प्रत्ययका निर्देश करनेसे उसकी उपलब्धि यों होती है। सम्+आ+धा+किप्; सम्=सम्यक्, आ+धा=स्थापन, यहाँ 'किप्' प्रत्ययका अर्थ धात्वर्थसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि 'किप्' प्रत्यय भाववाच्यमें होता है।

सम्यक्स्थापन समाधि-शब्दका प्रकृति-प्रत्ययद्वारा प्राप्त अर्थ है। चित्तको इस प्रकार एक नाड़ीमें स्थापन करना पड़ता है जिसके द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है। अतएव 'समाधि' शब्दके प्रकृति-प्रत्ययके अर्थानुसार पातञ्जलदर्शनका सूत्र **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** है। प्रकृति-प्रत्ययसे प्राप्त अर्थद्वारा यदि पदसमुदायके वाचकत्वका निर्वाह होता है तो इसके विषयमें रूढि-कल्पना करना व्यर्थ है। सामान्यवाचकका विशेषपरक अर्थ होनेपर तो रूढि-कल्पना मान्य ही होती है।

मेरा कथन यह है कि नैयायिक लोग प्रधानतः संयोगको ही समाधि कहते हैं—

अस्मद्विशिष्टानान्तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुपपद्यते।

(प्रशस्तपादभाष्य)

इस भाष्यके व्याख्याकार बंगालके प्रथम नैयायिकाचार्य श्रीधराचार्य कहते हैं—

योगः समाधिः; स द्विविधः, सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। सम्प्रज्ञातो धारकेण प्रयत्नेन। क्वचिदात्मप्रदेशे वशीकृतस्य मनसः तत्त्वबुभुत्साविशिष्टेनात्मना संयोगः। असम्प्रज्ञातश्च वशीकृतस्य मनसो निरभिसन्धिनिरभ्युत्थानात्क्वचिदात्मप्रदेशे संयोगः।

अर्थात् जिस विषयमें तत्त्वनिर्णयकी इच्छा हो, उसके अतीन्द्रिय होनेपर भी चञ्चलताको दूर करनेवाले प्रयत्नके द्वारा वशीकृत मनका उस इच्छासे युक्त अपने आत्माके साथ किसी एक अंशमें संयोग होना सम्प्रज्ञात समाधि है। तथा निम्नलिखित विशेषरूपसे मन:संयोगको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह मन:संयोग अभ्युत्थान और व्युत्थानके अभावके कारण, अभिसन्धिसम्बन्धसे रहित तथा अपने किसी आत्मप्रदेशमें उत्पन्न होता है। अतएव '**युजिर् योगे**'—यह 'युज्' धातु भी यहाँ परित्यक्त नहीं होती, यह बात तो सुस्पष्ट हो ही गयी। बल्कि कारिकावलीके कर्ता विश्वनाथ पञ्चाननकी प्राचीनोक्ति भी प्रधान कारिकामें देखी जाती है—'**युक्तयुञ्जानभेदत:**' अर्थात् योगजप्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है, एक युक्तका और दूसरा युञ्जानका। यह युञ्जान-शब्द 'युज् समाधौ' इस 'युज्' धातुसे उद्भूत नहीं हो सकता। उससे तो युज्यमान पद बनेगा। नैयायिक-सम्प्रदायमें 'युजिर् योगे' यह रुधादिगणीय धातु भी योगजप्रत्यक्षवर्णनके प्रसङ्गमें सादर गृहीत हुई है।

संयमन अर्थवाली चुरादिगणीय 'युज्' धातुका सम्बन्ध भी '**वशीकृतस्य मनस:**' इस अंशद्वारा समर्थित होता है। मनको वशमें करना ही मनका संयमन है। पातञ्जल दर्शनमें भी समाधिमें संयमनके विशेष सम्बन्धकी सूचना है—'**त्रयमेकत्र संयम:**।' समाधिके अन्तरङ्ग प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, इन तीनोंको एक ही साथ 'संयम' नाम दिया गया है। इस प्रकार त्रिविध 'युज्' धातु ही योग-शब्दके मूलमें वर्तमान रह सकती है, यह सिद्ध हुआ।

तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

यह गीता-वचन भी वियोगबोधक 'योग' शब्दके निर्देशके द्वारा रुधादिगणीय 'युज्' धातुको योग-शब्दकी प्रकृतिरूपमें ग्रहण करनेका सङ्केत करता है। 'योग' शब्दका यह प्रकृति-विचार प्राचीन योगदर्शनके स्वरूपनिर्णयमें उपयोगी है।

न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र होनेके कारण एक ही सम्प्रदायमें सामान्यत: गृहीत होते हैं। अवान्तर भेद होते हुए भी ये दोनों सम्प्रदाय 'शैवयोगी' नामसे प्रसिद्ध हैं। षड्दर्शनसमुच्चयको गुणरत्न नामक टीकामें इनका सामान्यत: ऐक्य और विशेषत: भेद वर्णित है। कौटिल्य[1] या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें जो योगका नाम आया है वह न्याय और वैशेषिकका ही ज्ञापक है; असलमें वैशेषिक पूर्वन्याय और गौतमसूत्र उत्तरन्याय कहलाता है। कौटिल्य या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें गृहीत 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका ही बोधक है। इसके प्रमाणस्वरूप उन्हींके द्वारा रचित न्यायभाष्यकी[2] यह स्पष्टोक्ति पढ़िये—

पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्ग: कर्महेतवो दोषा: प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्।

यहाँ न्यायभाष्यकारने योगमतके द्वारा असत् वस्तुओंकी उत्पत्ति, उत्पन्नके ध्वंस आदिका उल्लेख किया है। यह मत न्यायवैशेषिकका है, प्रचलित योगदर्शनका अर्थात् पातञ्जलदर्शनका नहीं। पातञ्जलदर्शन सांख्यके ही अन्तर्गत है, इसीसे इसका दूसरा नाम 'सेश्वर सांख्य' है। विज्ञानभिक्षुने पातञ्जलका 'सांख्यप्रवचन-दर्शन' नाम स्वीकार किया है। पातञ्जलदर्शन असद्वस्तु-उत्पत्तिवादी नहीं है, बल्कि सत्कार्यवादी है। अतएव वात्स्यायन अर्थात् कौटिल्यके मतसे त्रिविध आन्वीक्षिकी या आन्वीक्षकीके अन्तर्गत 'सांख्य' शब्दसे कापिल और पातञ्जलदर्शनका ही बोध होता है।

न्यायवैशेषिकके मतसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्दका तात्पर्य 'चित्तकी चञ्चलताका निवारण' हो सकता है, परन्तु पातञ्जलवर्णित प्रमाणसंशयादिवृत्ति उस मतमें चित्तवृत्ति न होनेके कारण उनका निरोध इस लक्षणके द्वारा निर्णीत नहीं हो सकता। वृत्ति-शब्दका अर्थ यदि धर्म हो तो चित्तकी चञ्चलता जिस प्रकार चित्तका धर्म है, उसी प्रकार आत्माके साथ जो चित्तका संयोग

१. कौटिल्य या कौटल्य चाणक्यका ही नामान्तर है। वात्स्यायन नाम भी चाणक्यका ही है। चणक मुनिके पुत्र होनेसे चाणक्य नाम पड़ा।

२. वत्स ऋषिकुलकी अन्यतम शाखाके कुटिल या कुटल नामक गोत्रकार मुनिके वंशमें चाणक्यका जन्म हुआ था, इसलिये उन्हें वात्स्यायन और कौटिल्य या कौटल्य कहते हैं। विख्यात जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरिके अभिधानमें चाणक्यके इन सब नामोंका उल्लेख है। वंगीय साहित्यसम्मेलनके नैहाटीके अधिवेशनमें दर्शनशाखाके सभापतिरूपसे मैंने जो भाषण दिया था उसमें इसका विशेषरूपसे वर्णन है।

है वह भी चित्तका धर्म अर्थात् चित्तवृत्ति हो सकती है। परन्तु यह संयोग समाधिकालमें भी निरुद्ध नहीं होता। इसी कारण नैयायिकोंके मतसे 'मन:संयोगविशेष' ही योग है और वह संयोग ही समाधि है। इसी संयोगका उल्लेख श्रीधराचार्यकी पंक्तियोंको उद्धृत करके पहले किया गया है।

नैयायिकसम्प्रदायके मतसे चित्त, मन और अन्त:करण एक ही पदार्थ हैं। **'बुध्यते अनेन'** इस प्रकार करण वाच्यमें 'बुध्+क्तिन्' प्रत्ययद्वारा निष्पन्न 'बुद्धि' शब्दका अर्थ भी मन होता है। मनको निर्देश करनेके लिये 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग न्यायसूत्रमें आया है—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः। (१।१।१७)

भाष्यकार लिखते हैं—

मनोऽत्र बुद्धिरित्यनेन अभिप्रेतं बुध्यते अनेनेति बुद्धिः।

अर्थात् प्रवृत्ति-शब्दका अर्थ यहाँ वाचिक, कायिक और मानसिक कर्मोंका समूह है। प्रयत्नरूप प्रवृत्तिकी बाह्य मूर्ति उक्त कर्मसमूह है। बुद्धिपदवाच्य जिस अन्त:करणको न्यायके मतसे मन कहते हैं, उसका एक और आभिधानिक नाम आत्मा भी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह आत्मा ब्रह्म नहीं है, तथा नैयायिकमतसिद्ध जीवात्मा और परमात्मा भी नहीं है। उपनिषदोंमें भी इस प्रकार अन्त:करणको 'आत्मा' शब्दके प्रयोगद्वारा अनेक स्थलोंमें प्रतिपादित किया गया है। जैसे—

बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
(कठोपनिषद्)

यहाँ पुरुष ही ब्रह्म अथवा न्यायमतप्रतिपादित आत्मा है। इस उपनिषद्-मन्त्रमें प्रथम व्यवहृत 'आत्मा' शब्द पुरुष नहीं, महत्तत्त्व है। यह बात उक्त मन्त्रमें स्पष्ट है।

महत्तत्त्वकी बात सांख्यदर्शनमें है, न्यायके मतसे वह मन ही है। मुण्डकोपनिषद्में है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

प्रणवके आश्रयसे यहाँ योगका उपदेश दिया गया है; प्रणव धनुरूप है, आत्मा अर्थात् अन्त:करण बाणस्वरूप है। ब्रह्मको लक्ष्य करके इस बाणके प्रयोगके द्वारा लक्ष्यको वेधनेसे तन्मयता आ जाती है। लक्ष्यवेध-शब्दके द्वारा संयोगविशेषका ही बोध होता है। यहाँ आत्माशब्दका 'अन्त:करण' अर्थ सर्ववादिसम्मत नहीं है, केवल नैयायिकमतसम्मत है; परन्तु लक्ष्यवेध-शब्दमें जो संयोगविशेष जान पड़ता है वह सभी द्वैतवादियोंको अभिप्रेत है। ज्ञानादिके लिये मनके जो विशेष-विशेष संयोग स्वीकार किये जाते हैं, न्यायके मतसे उसका स्थूल विवरण इस प्रकार है—'मन अणुपरिमाण है, परन्तु विद्युत्के समान क्षिप्रगतियुक्त है। नाडीविशेषके साथ संयोग होनेपर वही एक मन ज्ञान, इच्छा, सुख, दु:ख, प्रयत्नादि विभिन्न गुणोंका उत्पादन करता है; जिस नाडीसे मनका संयोग होनेसे चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है उसी नाडीसे मन:संयोगके द्वारा श्रावणादि प्रत्यक्ष नहीं होते। उसी प्रकार जिस नाडीसे मन:संयोग होनेपर श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसीके साथ मन:संयोग होनेसे चाक्षुषादि प्रत्यक्ष नहीं होते। इसी कारण अन्यमनस्कता-शब्दका व्यवहार होता है।

एकाग्रचित्तसे रूपका दर्शन करते समय किसीकी बात शीघ्र नहीं सुन पड़ती, संगीत श्रवण करते समय दूसरा ज्ञान नहीं होता। क्योंकि शरीरमें बहत्तर हजार नाडियाँ है, उनमें केवल बहत्तर ही प्राणवहा प्रधान नाडियाँ है। इन प्रधान नाडियोंमें दस प्रमुख हैं— (१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) गान्धारी, (५) हस्तिजिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुषा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी।

शङ्खिनी नाडीके अभ्यन्तर जो नाडी है उसके अन्तर्गत पुरीतत् नाडी है। मनके पुरीतत् नाडीमें प्रविष्ट होनेपर सुषुप्ति हो जाती है, उस समय कोई भी ज्ञान नहीं होता। पुरीतत् नाडी जिस मेध्या नाडीद्वारा आवृत है उसमें मन:संयोग होनेसे निद्रा और निद्रामें स्वप्न-दर्शनादि ज्ञान होता है। मनका गान्धारीके साथ संयोग होनेपर वाम चक्षुद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और हस्तिजिह्वामें मनका संयोग होनेसे दक्षिण चक्षुद्वारा। पूषामें मनका संयोग होनेसे दक्षिणकर्णद्वारा श्रावण प्रत्यक्ष होता है और यशस्विनीमें मन:संयोग होनेसे वाम कर्णद्वारा। अलम्बुषाके ऊर्ध्वदेशमें मन:संयोग होनेसे घ्राणज प्रत्यक्ष, और मध्यदेशमें मन:संयोग होनेसे रसास्वादनका ग्रहण अर्थात् रासनप्रत्यक्ष होता है। कुहूमें मन:संयोग सम्भोगसुखका हेतु है, शङ्खिनीमें मन:संयोग

समाधिस्थ शिव

मलोत्सर्ग-प्रयत्नका हेतु है। सुषुम्नामें मनःसंयोग योगारम्भ, और सुषुम्नामध्यस्थित चित्रिणी प्रभृति नाडीमें शान्त मनका गाढ संयोग समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

सुषुम्नाके अतिरिक्त अन्य सब नाडियोंमें मनका संयोग विविध प्रकारके यत्न, इच्छा, द्वेष, शारीरिक चेष्टा तथा विविध विषयोंके भोगके लिये उपयोगी होता है। इडा-पिङ्गलाके साथ मनःसंयोग जीवन, योनि, यत्न प्रभृतिका उत्पादक है।

पातञ्जलोक्त चित्तवृत्तिनिरोध सुषुम्नान्तर्गत नाडीमें मनःसंयोगसे होता है। '**युज् समाधौ**' यह 'युज्' धातु उसी गाढ संयोगका बोध करती है। अपर दोनों 'युज्' धातुओंसे 'योग' शब्द उद्भूत होनेपर भी उसके सामान्यवाचक होनेके अतिरिक्त विशेष अर्थका भी बोध होता है—जिस प्रकार ब्राह्मण कहनेसे पञ्चगौड, पञ्चद्राविड सब ब्राह्मणोंका बोध होता है, किन्तु कान्यकुब्ज कहनेसे एक विशेष सम्प्रदायका ही ज्ञान होता है।

'योग' शब्दके 'युज्' धातुसे उद्भूत होनेपर भी समाधि या संयोगविशेषके अर्थमें उसका प्रयोग पुँल्लिङ्ग, तथा शास्त्रवाचक होनेपर नपुंसकलिङ्गमें होता है। '**योगमाचष्टे यत्**' इस वाक्यमें योग+णिच्+अच् प्रत्ययसे निष्पन्न 'योग' शब्द ही शास्त्रवाचक है। यह योगवक्ता पुरुषका वाचक भी हो सकता है।

विद्यासमुद्देशप्रकरणमें कौटिल्य लिखते हैं—'**सांख्यं योगं लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी**'—यहाँ 'योग' शब्दसे न्याय और वैशेषिकका ही बोध होता है, यह बात प्रमाणपूर्वक पहले ही बतलायी जा चुकी है। आन्वीक्षिकीका मुद्रित पुस्तकमें आन्वीक्षकी पाठ मिलता है।

ब्रह्मसूत्रमें '**एतेन यागः प्रत्युक्तः**' सूत्र है, इसमें भी पुँल्लिङ्ग प्रयोग है; परन्तु इसका वाच्यार्थ शास्त्र नहीं है, अर्थात् यहाँ 'योग' शब्द शास्त्रका वाचक नहीं है। शास्त्र यहाँ लक्ष्यार्थ है, 'योग' शब्दकी योगसाधनशास्त्रमें लक्षणा है। यह लक्षणा निम्नलिखित न्यायसूत्रद्वारा सिद्ध होती है—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगंगाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः। (२।२।५९)

'**साधनात् अन्नं प्राणाः**' इति भाष्यम्। भगवान् शङ्कराचार्यके मतसे ब्रह्मसूत्रस्थ 'योग' शब्द हिरण्यगर्भोक्त योगशास्त्रपरक होनेपर भी सूत्रकारके अभिप्रायानुसार यह न्यायका बोधक है या नहीं, यह कौन कह सकता है? क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें ही नहीं, बल्कि शारीरकभाष्यमें भी न्यायमतका खण्डन नहीं है।

'**एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः**'—इस ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते समय भगवान् शङ्कराचार्य परमाणुकारणवादका उल्लेख करते हुए भी न्यायमतका खण्डन नहीं करते। न्यायसूत्रकारका सृष्टिविषयमें वैशेषिकके साथ मतसाम्य प्रसिद्ध होते हुए भी मोक्षक्रममें न्यायसूत्रका प्रामाण्य स्वयं शङ्कराचार्य स्वीकार करते हैं, तथा—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः। (१।१।२)

—इस न्यायसूत्रको उद्धृत करते हैं। परमाणुकारणवादके खण्डनमें ब्रह्मसूत्र और शारीरकभाष्यमें जो विचार हैं उनमें भी भगवान् शङ्कराचार्य वैशेषिकमतका ही उल्लेख करते हैं, न्यायमतका तो नाम भी नहीं लेते।

अद्वैतज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती। न्यायमत अद्वैतज्ञानका समर्थक नहीं है, उसका योग मुक्तिका साक्षात् कारण नहीं है, इस अभिप्रायसे '**योगः प्रत्युक्तः**' हो सकता है। जो हो, उस विचारकी यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं है। नपुंसकलिङ्गमें 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका वाचक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अभिधानचिन्तामणि और अन्य कतिपय प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें नैयायिकके पर्याय शब्दरूपमें 'यौग' शब्द व्यवहृत हुआ है। 'योग' शब्द त्रिविध 'युज्' धातुसे उद्भूत हो सकता है तथा तदुपदेशक शास्त्रवाचक हो सकता है, एवं शास्त्रोपदेशकवाचक भी हो सकता है—इस सिद्धान्तकी इस लेखके द्वारा आलोचना की गयी है।

श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)

यों तो श्रीरामचरितमानसमें सर्वत्र ही भक्तियोगका पवित्र और परम शान्तिदायी सागर लहरा रहा है, परन्तु प्रकृत भक्तियोगका प्रसङ्ग वनकाण्डके अन्तर्गत—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥

इस चौपाईसे आरम्भ होता है और—

भगति योग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

—इस चौपाईपर समाप्त हो जाता है। इस भक्तियोगके साथ उन पाँचों स्वरूपोंके विषयमें प्रश्न किया गया है जिनका वेद-शास्त्रानुसार बोध प्राप्त करना भवसागर पार करनेवाले मुमुक्षुका परम ध्येय है। पाँच स्वरूप ये हैं—

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधकः॥
वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः।
मुनयश्च महात्मानो वेदवेदान्तवेदिनः॥

अर्थात् (१) परस्वरूप, (२) स्वस्वरूप, (३) उपास्य-स्वरूप, (४) फलस्वरूप और (५) विरोधस्वरूप इन्हींके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है; यथा—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

ज्ञान-विराग (उपास्यस्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप), माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप)-के विषयमें यह प्रश्न पूछा गया है। परन्तु इन सब प्रश्नोंका पर्यवसान केवल भक्तियोगमें ही हुआ है, जिसका सम्पुट प्रश्नके साथ ही लगा हुआ है; यथा—

प्रश्नके आदिमें कहा है—

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥

और प्रश्नके अन्तमें कहा है—

'जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥'

और *'मैं पूछौं निज प्रभुकी नाईं।'*—भावको स्पष्ट करके ही प्रश्न पूछा गया है, जिससे भगवान्‌का यह विरद भी—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

—लक्षित हो जाय।

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर आरम्भ करते समय भी सर्वप्रथम अहङ्कारका ही त्याग कराया गया है। जैसे—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥

तात्पर्य यह कि अन्तःकरणचतुष्टयमेंसे (१) मन, (२) बुद्धि और (३) चित्तको लगाकर अर्थात् अहङ्कार (चौथे)-को त्यागकर सुनो।

इस भक्तियोगका मुख्य सार अहङ्कारका निःशेषरूपसे त्याग ही है। विरोधस्वरूपा मायाका स्वरूप भी जो दो भेदोंसे—**'मैं अरु मोर तोर तैं'** अविद्या, और **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई'** विद्या—बतलाया गया है, उसका भी मूल कारण अहंकार ही है। क्योंकि दुःखरूपा अविद्यामें तो 'मैं' 'मोर' 'तोर' आदि शब्द स्पष्ट ही अहङ्कारसूचक हैं और यवनिका (परदा)-स्वरूपा विद्याके कार्यरूप जगत्‌में जो नानात्वका दर्शन होता है, वह भी अहङ्कारमूलक ही है। तभी तो दोनोंकी निवृत्तिमें निर्मानावस्था उत्पन्न होनेपर समदृष्टिसे जगत्‌को ब्रह्मरूप देखना ही ज्ञान कहा गया है—

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥

तथा—

तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी—

—द्वारा वैराग्य बताकर इस ज्ञान-वैराग्यको भक्तियोगका उपायस्वरूप बतलाया गया है।

ईश्वर (परस्वरूप)-के लक्षण, '(१) बन्धमोक्षप्रद, (२) सर्वपर और (३) मायाप्रेरक' कहकर भी सर्वथा अहङ्कारकी ही जड़ उखाड़ दी गयी है। क्योंकि ईश्वर, जीव और माया—इन तीनोंमेंसे जो एक शेष दोनोंपर अपना अधिकार जमाये हुए है, वही सर्वपर (सबसे बड़ा) हुआ। अतः सर्वपरत्व गुण ईश्वरमें निश्चित होनेसे जीवका अहङ्कार जाता रहा। पुनः बन्धमोक्षप्रदत्व गुणसे भी जीवके बन्धन और मुक्तिका अधिकार ईश्वरमें ही रहा, जिसे इस चौपाईके द्वारा दरसाया गया है—

नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥

चेतन मर्कटकी ही तरह यह चेतन जीव नट-रूप ईश्वरके अधीन है; उसका बन्धन और मोक्ष

अपने अधीन न होनेसे अहङ्कारको स्थान कहाँ? पुनः 'मायाप्रेरक' तीसरे गुणसे जो मायाको प्रेरित करनेका अधिकार है, वह—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥

—इस चौपाईद्वारा जड कठपुतलीकी उपमा देकर स्थापित किया गया और फिर—

ईस्वर बस माया गुनखानी। माया बस्य जीव अभिमानी॥

—यह कहकर जीवके अहङ्कारकी आत्यन्तिक निवृत्ति सूचित की गयी है। क्योंकि यह जीव जब मायाके वश हो रहा है और माया ईश्वरके वश है तब **'परबस जीव स्वबस भगवंता'** यह स्पष्ट हो जानेसे **'माया ईस न आपु कहँ जान कहिय सो जीव'**—जीवका (स्वस्वरूप) अपना स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त चौपाइयोंमें जो मायाके लक्षण कहे गये हैं तथा दोहेके नीचेवाले पदमें जो ईश्वरके लक्षण वर्णित हैं, उन दोनोंसे अलग ही जीवको अपना स्वरूप समझनेके लिये कहा गया है। अत: यह जीव जब ईश्वर और ईश्वरकी आज्ञानुवर्त्तिनी माया दोनोंके ही अधीन ठहरा तब इसका अहङ्कारसे कल्याण होना कैसे सम्भव है? बल्कि अहङ्कारकी ही स्फुरणा होनेसे इसके सहज स्वरूपकी हानि होती है। इसीलिये जीवमात्रके कल्याणका मार्ग अहङ्कारको सर्वथा त्यागकर सर्वोपायशून्य होकर श्रीभगवान्‌के शरणापन्न—प्रपन्न होना ही बतलाया गया है, इस प्रपत्तिको ही 'भक्तियोग' कहते हैं। अतएव स्पष्ट वाक्योंमें कहा गया है—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्यान॥

क्योंकि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों अपने-अपने पूर्व साधनोंके अपेक्षित रहनेसे स्वतन्त्र अवलम्ब नहीं हैं। कहा है—

धर्म तें बिरति योग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

अर्थात् जबतक वर्णाश्रम आदिके अनुसार स्वधर्मका पूर्ण पालन नहीं किया जायगा तबतक (**धर्म तें बिरति**) वैराग्य उत्पन्न ही न होगा; जबतक वैराग्य न होगा तबतक कर्मोंका फलत्यागादि न होनेके कारण कर्मयोग न हो सकेगा; जबतक कर्मयोग न होगा तबतक (**योग तें ग्याना**) ज्ञान उत्पन्न न होगा; और जबतक ज्ञान न होगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। परन्तु यह भक्तियोग मेरे भक्तोंके लिये सुखद, सुलभ, स्वतन्त्र अवलम्ब है। इसके द्वारा मैं वेगि (तुरन्त) ही द्रवीभूत होकर (**अहं भक्तपराधीनः**) स्वयं अपने भक्तोंके अधीन हो जाता हूँ (फिर मोक्षकी तो गिनती ही क्या है?)।

इस प्रकार जो जीव ईश्वर तथा माया दोनोंके अधीन होकर—

सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

—दु:खरूप भवकूपमें पड़ा था, वही जीव भक्तियोगके सुलभ सहारेसे सहज ही मायाको कौन कहे, 'सर्वपर' नित्यस्वरूप ईश्वरको भी अपने प्रेमाधीन कर लेता है; क्योंकि **'राम पुनीत प्रेम अनुगामी'** हैं।

इस भक्तियोगकी प्राप्तिके सुलभ और सुगम पन्थ निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्गवालोंके लिये अलग-अलग दो प्रकारके बतलाये गये हैं।

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

सन्तके अनुकूल होनेपर भक्तिकी प्राप्ति होनेकी बात उन बड़भागियोंके लिये कही गयी है, जिनका मन प्रवृत्तिमार्गसे उपराम हो गया है और जिन्होंने गृहस्थाश्रम-धर्मका त्याग कर, विरक्तवेष धारण कर, किसी विरक्त सन्त सद्‌गुरुकी शरण लेकर सदाके लिये शिष्यभावसे उनकी सेवामें अपना जीवन समर्पित कर दिया है। ऐसे समाश्रितोंको उनके अधिकारके अनुसार भगवद्‌भक्तिका पात्र समझकर जब भक्तियोगी सन्त उनके अनुकूल होते हैं, तब उन्हें भक्तिकी प्राप्ति होती है। इसी कारण इस मार्गकी नवधा साधन-भक्तिका वर्णन प्रसिद्ध श्रवण-कीर्तनादिके क्रमके अनुसार न होकर दूसरे ही क्रमसे है। इस क्रमको स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्रीशबरीजीसे इस प्रकार कहा है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

प्रवृत्ति-मार्गवाले गृहस्थाश्रमियोंके लिये (जिनको

विरक्त होकर किसी त्यागी सन्त सद्‌गुरुकी अनुकूलताका सुयोग नहीं प्राप्त हो सका है, उनके लिये) इस प्रकार बतलाया गया है—

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

अर्थात् इन भाग्यवानोंको पहले ब्राह्मणोंके चरणोंमें निष्ठा होने और गृहस्थाश्रमादि वर्णाश्रम-धर्मोंका वेदानुसार पालन करनेसे (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन, इस नवधा साधनाद्वारा (जिसका वर्णन श्रीमद्‌भागवतमें स्पष्ट आया है) भक्तियोगकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार साधनावस्थाकी नवधा भक्ति दोनों मार्गवालोंके लिये दो प्रकारकी होनेपर भी सिद्धा, प्रेमा या पराभक्ति एक ही है। अतएव गृहस्थ और विरक्त दोनोंके लिये अपने-अपने अधिकारानुसार उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियोग सुलभ है।

अतएव स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

अर्थात् उन भक्तियोगियोंकी प्रीति केवल भगवत् और भागवतोंमें ही अत्यन्त दृढ़ हो जाती है और मनसा, वाचा, कर्मणा अनन्यभावसे मेरा भजन करनेका ही उनका नियम निश्चित हो जाता है। वे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति, देवता आदि सब मुझको ही जानकर दृढ़तासे मेरी सेवामें लगे रहते हैं; मेरा गुणानुवाद गाते हुए पुलकित हो जाते हैं, उनकी वाणी मेरे प्रेममें गद्‌गद हो जाती है और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होती है। मैं सदा ऐसे निष्काम और निष्कपट भक्तियोगीके वशमें रहता हूँ।

वास्तवमें भक्तियोग ही एक ऐसा सुलभ और स्वतन्त्र अवलम्ब है जिसके प्रभावसे सर्वेश्वर स्वतन्त्र ईश्वरको भी प्रेमाधीन होकर निरन्तर भक्तोंके वशमें रहना पड़ता है तथा सदैव उनके हृदयमें ही वास करना पड़ता है। इसीलिये—

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

—इस भक्तियोगको सुनकर जीवमात्रको कल्याण-पथ लखानेवाले (शेषावतार रामानुजाचार्य) श्रीलक्ष्मणजी-ने परमानन्द प्राप्त किया और प्रभुके चरणोंमें शीश नवाकर शरणागति-मार्ग— भक्तियोगको शिरोधार्य किया। अतः जीवमात्रके लिये भगवत्-प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्-प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें ज्ञान है; नहीं तो जहाँ भगवान्‌की भक्तिका प्राधान्य नहीं है, वह योग कुयोग है एवं वह ज्ञान अज्ञान माना गया है। यथा—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

'सियावर रामचन्द्रकी जय'।

× × × ×

दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुँ लिखा लिलार॥
जग रहु जगतें अलग रहु, जोग जुगतिकी रीति।
दूलन हिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति॥

× × × ×

—दूलनदास

मनको वश करनेके कुछ उपाय*

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(गीता ६।३६)

श्रीभगवान् कहते हैं—'जिनका मन वशमें नहीं है उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है; परन्तु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपनी इच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषयवाटिकामें स्वच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने-आप ही हो जायँ, तो यह उसकी भूल है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमें करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। परन्तु मन स्वभावसे ही बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण बात नहीं। सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है। भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है—'**जितं जगत् केन, मनो हि येन**'। 'जगत्को किसने जीता?—जिसने मनको जीत लिया।' अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमें भगवान्से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६।३४)

'हे भगवन्! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है; इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी। मनको जीतना कठिन अवश्य है; भगवान्ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६।३५)

भगवान्ने कहा, 'अर्जुन! इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं; और इसके वश किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं। अतएव इसे वश करना ही चाहिये। इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है? यह आत्म और अनात्म पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है। यह स्वयं अनात्म और जड है, किन्तु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बस, मन ही जगत् है; मन नहीं तो जगत् नहीं! मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है। यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है; राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय। किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है। परन्तु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता; यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है। वास्तवमें द्वेषवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है। साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है। अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो। इसके लिये उपाय भगवान्ने बतला ही दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

* इस लेखमें जितने उपाय बतलाये गये हैं वे सभी किसी-न-किसी ऊँचे साधक या महात्मा पुरुषके द्वारा अनुभूत हैं—लेखक।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(समाधिपाद १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे ही चित्तका निरोध होता है', अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक संसारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वास्तवमें ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आवेगा, इसलिये संसारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे इहलौकिक हों या पारलौकिक) दुःख और दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विषयोंसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरन्त विषयोंसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका साधन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो संसारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्यभाव प्रतीत होनेमें है। परन्तु आरम्भमें नये साधकको मन वश करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

'इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये।' इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन वशमें हो सकता है। यह तो वैराग्यका संक्षिप्त साधन हुआ, अब कुछ अभ्यासोंपर विचार करें।

(२) नियमसे रहना

मनको वश करनेमें नियमानुवर्त्तितासे बड़ी सहायता मिलती है। सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय। संसार-साधनमें तो नियमानुवर्त्तितासे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है। अपने जिस इष्ट स्वरूपके ध्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थानपर, जिस आसनपर, जिस आसनसे, जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। पाँच मिनटका भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समयके ध्यानसे उत्तम है। आज दस मिनट बैठे, कल आध घण्टे, परसों बिलकुल लाँघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है। जब पाँच मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे तब दस मिनटका करे, परन्तु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बार-बार परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमानुवर्त्तितासे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने, सभीमें होना चाहिये। नियम अपनी अवस्थानुकूल शास्त्रसम्मत बना लेना चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योंपर विचार करना उचित है। यद्यपि मनकी सारी उधेड़-बुनका स्मरण होना बड़ा कठिन है, परन्तु जितनी याद रहे उतनी ही बातोंपर विचार कर जो-जो सङ्कल्प सात्त्विक मालूम दें उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो सङ्कल्प राजसिक और तामसिक मालूम पड़ें उनके लिये मनको धिक्कारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके संस्कार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे बचकर भले-भले कार्योंमें लग जायगा। मन पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी। कुसङ्गमें पड़ा हुआ बालक जबतक

कुसङ्ग नहीं छोड़ता तबतक उसे कुसङ्गियोंसे सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है। पर जब कुसङ्ग छूट जाता है तब उसे बुरी सलाह नहीं मिल सकती; दिन-रात घरमें उसको माता-पिताके सदुपदेश मिलते हैं, वह भली-भली बातें सुनता है। तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमें विलम्ब नहीं होता। इसी तरह यदि विषय-चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो वह नहीं कर सकता। पहले मनको बुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब वह परमात्म-सम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये। जबतक यह मन वशमें नहीं हो जाता तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये। जैसे शत्रुके प्रत्येक कार्यपर निगरानी रखनी पड़ती है वैसे ही इसके भी प्रत्येक कार्यको सावधानीसे देखना चाहिये। जहाँ कहीं यह उलटा-सीधा करने लगे वहीं इसे धिक्कारना और पछाड़ना चाहिये। मनकी खातिर भूलकर भी नहीं करनी चाहिये। यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना होगा; पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये। जो हिम्मत नहीं हारता वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है। इससे लड़नेमें एक विचित्रता है। यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका बल दिनोंदिन बढ़ता है और इसका क्रमशः घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न-एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है। अतएव इसकी हाँ-में-हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्यमें खूब सावधानीसे बर्तना चाहिये। यह मन बड़ा ही चतुर है। कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलावेगा; परन्तु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये। भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत टूट जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी। अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञापालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चौर।
मनके मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये; अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये। निकम्मा रहनेसे ही इसे बुरी बातें सूझा करती हैं, अतएव जबतक नींद न आवे तबतक चुने हुए सुन्दर माङ्गलिक कार्योंमें इसे लगाये रखना चाहिये। जाग्रत् समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमें भी दिखायी देंगे।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय वहाँ-वहाँसे हटाकर बारंबार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये।'

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना ज़ोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है; परन्तु ऐसी अवस्थामें धैर्य रखना चाहिये। मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है, तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा। मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये। आज न हुआ तो क्या, कभी-न-कभी तो वशमें होगा ही। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २५)

'धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो, धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे।'

बड़ा धैर्य चाहिये। घबड़ाने, ऊबने या निराश होनेसे काम नहीं होगा। झाड़ूसे घर साफ कर लेनेपर भी जैसे धूल जमी हुई-सी दीख पड़ती है, उसी प्रकार मनको संस्कारोंसे रहित करते समय यदि मन और भी अस्थिर या अपरिच्छिन्न दीखे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर इससे डरकर झाड़ू लगाना

बन्द नहीं करना चाहिये। इस प्रकारकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या सङ्कल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा। बड़ी चेष्टा, बड़ी दृढ़ता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार व्यर्थ कर देता है, साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ पर मनदेवता सङ्कल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं। जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ। इतने नये-नये सङ्कल्प—जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी—कहाँसे आ गये? बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विषय करना चाहता है तब संसारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता। इसलिये फुरसत पाते ही वह उन पुराने दृश्योंको (जो संस्काररूपसे उसपर अङ्कित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भाँति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है। इसीसे उस समय ऐसे सङ्कल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं जो संसारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे। मनकी ऐसी प्रबलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं। जब अभ्यासका बल बढ़ेगा तब उसको संसारसे फुरसत मिलते ही तुरन्त परमात्मामें लग जायगा। अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा। मन चाहता है सुख। जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता—विषयोंमें सुख दीखता है, तबतक यह विषयोंमें रमता है। जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा तब यह स्वयं ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा; परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये। यह मालूम होते ही कि मन अन्यत्र भागा है, तत्काल इसे पकड़ना चाहिये। इसको पक्के चोरकी भाँति भागनेका बड़ा अभ्यास है, इसलिये ज्यों ही यह भागे त्यों ही इसे पकड़ना चाहिये।

जिस-जिस कारणसे मन सांसारिक पदार्थोंमें बिचरे उस-उससे रोककर परमात्मामें स्थिर करे। मनपर ऐसा पहरा बैठा दे कि यह भाग ही न सके। यदि किसी प्रकार भी न माने तो फिर इसे भागनेकी पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय; परन्तु यह जहाँ जाय वहींपर परमात्माकी भावनाकी जाय, वहींपर इसे परमात्माके स्वरूपमें लगाया जाय। इस उपायसे भी मन स्थिर हो सकता है।

(७) एक तत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये पाँच तत्त्वोंमेंसे किसी एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। एक तत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेषकी तरफ एकदृष्टिसे देखते रहना। जबतक आँखोंकी पलक न पड़े या आँखोंमें जल न आ जाय तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये। चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये। अन्तमें उस चिह्नको बिलकुल ही हटा देना चाहिये। '**दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्**'—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे। ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता। इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घण्टे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार दोनों भ्रुवोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जबतक आँखोंमें जल न आ जाय तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है। इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस प्रकारके अभ्यासमें नियमितरूपसे जो जितना अधिक समय दे सकेगा उसे उतना ही अधिक लाभ होगा।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे बैठकर, सीधा बैठकर नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक-मनसे देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है। इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है। इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं।

(९) शब्द श्रवण करना

कानोंमें अँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है। इसमें पहले भँवरोंके गुंजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुँचुँहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है; फिर क्रमशः घुँघरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और सिंहगर्जनके सदृश शब्द सुनायी देते हैं।

इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य 'ॐ' शब्दका श्रवण होता है, जिससे साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है। यह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्‌के किसी नामको लिखा हुआ समझकर बारंबार उस नामके ध्यानमें मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्‌के किसी स्वरूपविशेषकी अन्तरिक्षमें मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये। पहले भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर दृढ़ताके साथ सारी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उसीमें मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये। मूर्तिके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि संसारका भान ही न रहे। फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्‌की मानसिक पूजा करनी चाहिये। प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (समाधिपाद ३३)

'सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है।'

(क) जगत्‌के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, डाहकी आग बुझ जाती है। संसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं। यदि यही प्रिय भाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय!

(ख) दुखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकाररूप चित्तमल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमें कष्ट होनेकी सम्भावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्‌के सारे दुखी जीवोंके साथ हो जाय तो अनेक लोगोंके दुःख दूर हो सकते हैं। दुःखपीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोप नामक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जागृत हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारों भावोंके बारंबार अनुशीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्‌के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें बैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुशीलन करनेसे वृत्तियाँ तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रुकता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमें कहा गया है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (समाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्तरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है, और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(४। २९)

'कई अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुको होमते हैं और कई

प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।'

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट वर्णन है। श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निसे तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।'

प्राणोंको रोकनेसे ही मन रुकता है। इनका एक-दूसरेके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। मन सवार है तो प्राण वाहन है। एकको रोकनेसे दोनों रुक जाते हैं। प्राणायामके सम्बन्धमें योगशास्त्रमें अनेक उपदेश मिलते हैं, परन्तु वे बड़े ही कठिन हैं। योगसाधनमें अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है। योगाभ्यासके लिये बड़े ही कठोर आत्मसंयमकी आवश्यकता है। आजकलके समयमें तो कई कारणोंसे योगका साधन एक प्रकारसे असाध्य ही समझना चाहिये। यहाँपर प्राणायामके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जाता है कि बाँयी नासिकासे बाहरकी वायुको अन्तरमें ले जाकर स्थिर रखनेको पूरक कहते हैं, दाहिनी नासिकासे अन्तरकी वायुको बाहर निकालकर बाहर स्थिर रखनेको रेचक कहते हैं और जिसमें अन्तरकी वायु बाहर न जा सके और बाहरकी वायु अन्तरमें प्रवेश न कर सके, इस भावसे प्राणवायु रोक रखनेको कुम्भक कहते हैं। इसीका नाम प्राणायाम है।

साधारणतः चार बार मन्त्र जपकर पूरक, सोलह बारके जपसे कुम्भक और आठ बारके जपसे रेचककी विधि है। परन्तु इस सम्बन्धमें उपयुक्त सद्गुरुकी आज्ञा बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिये। योगाभ्यासमें देखा-देखी करनेसे उलटा फल हो सकता है।

देखा देखी साधै जोग। छीजै काया बाढ़ै रोग।

पर यह स्मरण रहे कि प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त सुलभ और आशङ्कारहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते हैं। वह है आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ध्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्‌के नामका जप करना। यह अभ्यास बैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-खाते हर समय, प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है। इसमें लक्ष्य रखनेसे ही मन रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्दसे उछल पड़ता हो। आनन्दरससे छका हुआ अन्तःकरणरूपी पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे संसारकी सुध भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन वशमें होता है, अनन्य भक्तिसे परमात्माके शरण होना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वर' शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**, **'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'**, **'तन्मयाः'**—इन श्रुति और भक्तिशास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। संसारका बन्धन मानो अपने-आप टूटने लगता है। अतएव भक्तोंका सङ्ग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सच्चे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कार्योंको देखना

मनको वशमें करनेका एक बड़ा उत्तम साधन है 'मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कार्योंको देखते रहना।' जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं तभीतक

मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या सङ्कल्प होता है, इसका पूरा पता हमें रहता है। बंबईमें बैठे हुए एक मनुष्यके मनमें कलकत्तेके किसी दृश्यका सङ्कल्प होता है, इस बातको वह अच्छी तरह जानता है। यह निर्विवाद बात है कि जानने या देखनेवाला जाननेकी वा देखनेकी वस्तुसे सदा अलग होता है। आँखको आँख नहीं देख सकती। इस न्यायसे मनकी बातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है; भिन्न होते हुए भी वह अपनेको मनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्दण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र सङ्कल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नामकीर्तन

मग्न होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुणकीर्त्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्धकर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने प्रभुका नाम-कीर्तन करते-करते गद्गदकण्ठ, रोमाञ्चित और अश्रुपूर्णलोचन होकर प्रेमावेशमें अपने आपको सर्वथा भुलाकर केवल प्रेमिक परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी बात बच रहती है? अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नामकीर्त्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनके स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता। परन्तु जैसे स्थिर जलमें प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अबतक जो इस मनको स्थिर कर सके हैं वे ही उस श्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन-नील-नीरद प्रफुल्ल मुखारविन्दका दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूपरूपशिरोमणि' के दर्शनका संयोग प्राप्त कर लिया वही धन्य हो गया! उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये! उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये!

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई-सा लाभ भी नहीं जँचता।'

यही योगसाधनका चरम फल है अथवा यही परम योग है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

जग माहीं ऐसो रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीरके आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै वैराग।
चरनकमलमें चित धरै, जगमें रहै न पाग॥

—चरनदास

योगबल

(लेखक—पू० स्वामीजी श्रीश्रीविद्यानन्दजी महाराज)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६।३२)

त्रिकालदर्शी ऋषियोंके द्वारा प्रकट होनेवाले ईश्वरके ज्ञानरूप वेदको हम परिपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। जो वेदोंमें है वही न्यूनाधिक रूपसे सर्वत्र मिलता है और जो उसमें नहीं है उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। वेदमें जो जड-चेतन, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म आदि लौकिक-अलौकिक विषयोंका वर्णन किया गया है उनके यथार्थ स्वरूपको प्रत्यक्षतया देखनेवाला योगी है। निगूढ़ वैदिक तत्त्वोंको प्रत्यक्ष करानेवाला योगाभ्यास है। वेदमें सब विषयोंका स्पष्ट उल्लेख है। पर लोग उसको वैसा नहीं समझ सकते, क्योंकि उनके पास योगबल नहीं है। यदि योगशक्तिसे वैदिक सिद्धान्तका अवलोकन किया जाय तो आज नाना मतभेदपूर्ण विभिन्न सम्प्रदायवादसे कर्तव्यकर्म या धर्मके स्वरूपके विषयमें जो सन्देह हो रहा है वह न हो। जब शान्तिके साधनमें सन्देह है तब शान्ति कहाँ?

हम योगसे परमात्माके असली स्वरूपका अवलोकन कर सकते हैं। हम प्रकृति और उसके विकारोंको यथार्थ रूपमें देखने योग्य हो सकते हैं। हम पहले क्या और कहाँ थे, आगे क्या और कहाँ होंगे, इत्यादि अनेक जन्म-जन्मान्तरोंका पता लगा सकते हैं, पाप और पुण्यजनक कर्मोंका निश्चय कर सकते हैं। अभी तो हमें यही पता नहीं कि मनुष्यका क्या कर्तव्य है? इसका पता भी योगसे ही लगेगा। संसारमें एक-से-एक शक्तिशाली लोग पड़े हैं। उनमेंसे एक सुचतुर वाग्मी हमें तर्कयुक्तियोंसे आज जो बात समझा गया, कल उससे भी कोई अधिक वावदूक बड़ी-बड़ी दलीलें देकर विपरीत बोध करा गया, फिर तीसरा आकर और कुछ निश्चय करा गया, इससे हमारा बुद्धिभेद कम होनेके बजाय दृढ़ हो गया। हमारी बुद्धि मानो फुटबॉल हो गयी, जिसको खेलाड़ी लोग ठोकरें मार-मारकर, इधर-से-उधर लिये फिरा करते हैं। योग ऐसी कर्तव्याकर्तव्य-विमर्शशून्य बुद्धिको कर्तव्यपरायण बनाकर भ्रान्त होनेसे रोक देगा। योग उस अस्थिर और चञ्चल चित्तवृत्तिको पर्वतसे भी अधिक दृढ़ और समुद्रसे भी ज्यादा गम्भीर बना देनेवाला एकमात्र साधन है। योग सब शङ्काओंका समाधान कर देनेवाला प्रधान प्रकार है। योगीके समक्ष सब झगड़े आप-से-आप मिट जाते हैं। विवाद (झगड़ा) दुराग्रह और वस्तुके असली स्वरूपके न जाननेसे होता है। योगी सब वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको देख लेता है। हाथीके पाँव, सूँड़, पूँछ और पेट आदि अवयवको अन्धजन अवयवी (हाथी) कहकर लड़ सकते हैं, पर जो इनके संयोगको जानता है उसका झगड़ा आप-से-आप मिटा पड़ा है। सब मत-मतान्तरोंके विवाद उस समय आप-से-आप मिट जायँगे जब वे योगमहिमासे धर्मके असली स्वरूपको देख या पहचान जायँगे, जब योगके दीपकसे धर्मका सम्पूर्ण रहस्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जायगा। योग प्रकृति-पुरुषके भेदको प्रत्यक्ष दिखाकर मायाके सारे बन्धनोंको तोड़कर जीव या पुरुषको उससे मुक्त कर देता है। वस्तुतः योगका प्रधान उद्देश्य ही यह है कि वह प्रत्येक वस्तुके स्वरूपको प्रत्यक्ष कर दे।

बृहदारण्यकादि उपनिषदोंमें आत्माके साक्षात्कार करनेका उपाय योग बताया गया है—

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

हे मैत्रेयि! आत्मा देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन करने योग्य है। यहाँ निदिध्यासनका अर्थ ध्यान है और ध्यानको ही समाधि कहते हैं। समाधि (योग)-से चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है, जिसका चित्त स्थिर है, जिसका मन चञ्चल नहीं है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहनातिगहन विषयोंको बड़ी आसानीसे समझ लेता है। हमारे साथ नदिया-शान्तिपुरमें एक आचारी छात्र न्याय पढ़ता था, उसे बहुत समझानेपर भी मोटी-सी बात भी नहीं समझमें आती थी। उसने एक संन्यासी महात्मासे तीन वर्षमें कुछ योगका अभ्यास कर लिया, इतनेहीसे उसकी बुद्धि इतनी निर्मल हो गयी कि वह तीन वर्षकी पढ़ाई तीन मासमें पढ़ गया। गीता-प्रचार करते-करते जब मेरा शरीर श्रान्त हो जाता है या जब मुझे कोई

सामयिक सार्वजनिक लाभविषयक प्रश्न हल करना होता है तब मैं अपनी आदतके अनुसार कुछ दिनोंके लिये एकान्तवास करने हिमालयपर्वतपर कैलास आदि स्थानोंकी ओर चला जाता हूँ। वहाँ मैंने कई बार योगकी अद्भुत शक्तिका चमत्कार स्वयं अपनी आँखों देखा है। एक महात्मा बहुत दिनोंसे पहाड़ोंमें रहनेके कारण यह भी नहीं जानते थे कि अखबार क्या चीज होती है, पर मैंने समाचारपत्र पढ़कर जो बातें उनको सुनानी चाही, उसके आगेकी बात उन्होंने स्वयं कह दी। एक साधुको रात-दिन बरफकी चट्टानपर ऐसे सोते देखा मानो ये शय्यापर सो रहे हों। तिब्बतके इस तरफ टिङ्गरीनूर (आकाश-सरोवर)-के तटस्थ जंगली प्रदेशमें बहुत कालसे रहनेवाले एक महात्माको बहुत दिनोंतक निराहार रहनेकी सामर्थ्य थी। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे योगद्वारा ब्रह्मरन्ध्रसे स्राव होनेवाले अमृतबिन्दुसे हमेशा तृप्त रहते थे। इससे उनकी शारीरिक सम्पत्ति बहुत ही सुन्दर और सुडौल हो गयी थी। मैंने कई गृहस्थ भोटियोंको दीघार्यु और सदा आरोग्य रहते देखा है। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे लामा साधुओंकी कृपासे कुछ योगाभ्यासकी विधि जान गये हैं। कई उनमें आसनदृढ़ (बहुत कालतक एक जगहसे न हिलना-डुलना) और कई गुडाकेश थे। ये चमत्कार तो क्या चीज हैं, अणिमादि अष्टसिद्धि और नवनिधियाँ भी योगके साधारणतम करिश्मे हैं। योगका प्रधान प्रयोजन तो अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक ज्ञानानन्तर मोक्षकी प्राप्ति है। सिद्धि-निधि तो नान्तरीयकतया आप-से-आप आ उपस्थित होती हैं।

मैंने उत्तराखण्डके पर्वतोंमें विचरते हुए एक दिन इन प्रश्नोंपर विचार करना आरम्भ किया कि एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायपर क्यों आक्रमण किया करते हैं? मनुष्य मनुष्यके खूनका प्यासा क्यों है? सबके लिये समान भागसे दी हुई ईश्वरकी भू, जल आदि विभूतियोंपर केवल अपना अधिकार करके, दूसरोंको उससे प्राप्त होनेवाले लाभसे वञ्चित और अपने-आपको लाभान्वित करके मनुष्य क्यों अनधिकार चेष्टा किया करता है? इत्यादि अनेक प्रश्नोंका उत्तर मुझे एक यही मालूम पड़ा कि मनुष्यके वस्तुस्थिति न जाननेके कारण (पदार्थोंके असली स्वरूपको न जाननेके कारण) ही ये सब बखेड़े खड़े होते हैं और उनके सही स्वरूपका प्रत्यक्ष करा देनेवाला एकमात्र योग है। राजा-प्रजा, छोटे-बड़े, नीच-ऊँचके बीचका विवाद उस दिन काफूर हो जायगा जब योग सबकी आँखें खोल देगा। नहीं तो संसार पाँव, पेट आदि अवयवोंको हाथी बताकर लड़नेवाले अन्धोंकी तरह पारस्परिक झूठे विवादके कारण कभी शान्ति नहीं पा सकेगा।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥
न तस्य रोगो न जरा न दुःखं
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

इसमें योगका फल बताया गया है। आलस्य मनुष्यको कुछ करने नहीं देता और योग आलस्यका परम विरोधी है। योगसे शरीर हलका हो जाता है, नीरोग रहता है, विषय-वासनाकी लालसा जाती रहती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वरमें माधुर्य आ जाता है, गन्ध अच्छी आने लगती है, मल-मूत्र कम होने लगता है—यह योगकी पहली सीढ़ी है। उसे न रोग होता है, न बुढ़ापा आता है, न कोई कष्ट होता है, जिसने योगाग्निमय देदीप्यमान शरीर पा लिया।

पर बिना अधिकारी हुए किसीको कोई वस्तु मिल नहीं सकती। योगका अधिकारी वह हो सकता है जिसकी आत्मामें परलोक, शुभाशुभ कर्मोंके अनुष्ठान, वेद और आचार्यमें श्रद्धा हो। जो महात्माओंका सत्सङ्ग अन्य काम छोड़कर भी करनेकी इच्छा रखता हो, योगका नाम सुनते ही जिसके रोमाञ्च हो जाते हों और आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग जाती हो, जिसने पूर्व-जन्म या इसी जन्ममें कोई शुभ कर्म किया होगा वही इसका अनुरागी हो सकता है।

क्लिष्ट और अक्लिष्टभेदसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये चित्तकी पाँच वृत्तियाँ हैं। **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'**—अभ्यास और वैराग्यसे उनका निरोध होता है। **'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'** इस सूत्रमें बल और उत्साहपूर्वक ईश्वरमें चित्तकी वृत्ति सम्पादन करनेका नाम अभ्यास बताया गया है। योगभाष्यके अनुसार यों समझना चाहिये कि चित्त एक नदी है। इसमें

वृत्तियोंका प्रवाह सदा बहता रहता है। इसकी दो धाराएँ हैं—एक विषयोंके मार्गमें बहती हुई संसारसागरमें जा मिलती है, और दूसरी विवेकके मार्गमें बहती हुई कल्याणसागरमें जा मिलती है। पहलीका पता तो जन्मके साथ ही मिल जाता है, पर दूसरी धाराका पता शास्त्र और आचार्य बताते हैं। जब एक नदीकी दो धारा होकर दोनों तरफ बहती है, यदि एक तरफकी धारा बाँध बाँधकर रोक दी जायगी तो स्वाभाविक ही दूसरी धारा तीव्र होकर बहने लगेगी। यह बात हरिद्वार-ब्रह्मकुण्डके तटपर बैठकर उस पारके नील पर्वतके नीचेवाले नहर-विभागके उन फाटकोंको देखनेपर अच्छी तरह समझमें आ सकती है जिनके खोल देनेसे ब्रह्मकुण्डकी धाराका सारा पानी पर्वतकी तरफ बहने लगता है और बन्द कर देनेसे सब जल बड़ी भारी धाराके रूपमें ब्रह्मकुण्डकी ओर प्रवाहित होने लगता है। इसी प्रकार जब विषयोंके स्रोतपर वैराग्यका बाँध बाँधकर अभ्यासकी सहायतासे सारे प्रवाहको विवेकके स्रोतमें डाल दिया जाता है, तब बड़े वेगसे सारी धारा कल्याणके सागरमें जा गिरती है और उससे आगे बढ़कर निरोधके सागरमें लीन हो जाती है। मन अत्यन्त चञ्चल है, अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर मनको साध लेते हैं। **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'**—इस गीतावचनमें मनके निरोधका कारण अभ्यास और वैराग्यको ही बताया गया है।

संसारमें जो कार्य सिद्ध हो जाते हैं वे इष्ट और जो विफल हो जायँ वे अनिष्ट माने जाते हैं। पर योगके लिये यह बात नहीं है। **'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते'**, **'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'** इत्यादि भगवत्-वाक्योंके अनुसार योगीको एक बार विफलता होनेपर भी फिर उस मार्गमें आनेका अवसर मिल जाता है।

योगी लोग **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'**—ईश्वरका ऐसा स्वरूप मानते हैं कि वह क्लेश, कर्म, उसके फल और वासनाओंसे नहीं छुआ गया है और उसका प्रणिधान करनेके लिये **'तस्य वाचकः प्रणवः'** इस योगसूत्रमें **'ॐ'** यह (परमात्माका) सबसे बड़ा नाम बताया गया है; **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** इस सूत्रमें उसका प्रणिधान (उपासना) बताया गया है। नामसे नामीके गण, शक्ति, स्वभावादिविषयक जिज्ञासाका स्फुरण होना स्वाभाविक है। रामायण, महाभारतादिकी कथामें राम, कृष्ण आदिके नाम सुननेसे श्रोताको उनके गुण, स्वभावादिके विषयमें जिज्ञासा पैदा होनी उचित ही है। **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'**—जिसमें चित्तकी वृत्ति लगी है उसीमें लगी रहे, उसका नाम ध्यान है। उसीको समाधि कहते हैं। बात यह है कि जब एकान्तताकालमें ध्याता, ध्यान, ध्येय—ये तीनों भासते हैं तब वह ध्यान कहलाता है। जब ध्यानकी प्रबलतासे ध्येयके अतिरिक्त (विशेषरूपसे) कुछ भी नहीं भासता, उस अवस्थामें वह ध्यान समाधि कहाने लगता है। इस समाधिके किलेमें बैठकर यह नश्वर मनुष्यजीवन कालबलिसे लड़कर विजयी बन जाता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

—इस अभिजनोक्तिके अनुसार जब चाहता है तभी योगी सूर्यमण्डलमेंसे होकर यथेष्ट प्रदेशमें चला जाता है।

उपादानकारणभूत रजोवीर्य-जैसी गन्दी चीजसे इस शरीरकी उत्पत्तिका होना आश्चर्यमें डाल देता है। यदि शरीर और प्राणका वियोग हो जाय तो चाहे जितने वारण्ट कटा दिये जायँ, चाहे जितने वर्षों खोजा जाय, पर इसका कहीं पता न लगेगा। जिस शरीरके तैयार होनेमें इतना कष्ट और समय लगाना पड़ा, उसके बिगड़ते क्षणमात्र भी नहीं लगता। जो आपाततः साफ-सुथरा प्रतीत होता है, जिसके साथ बैठना, सोना, खाना, पीना बहुत अच्छा लगता है, यदि उस शरीरसे चेचकके व्रणोंके कारण पीब बहने लगे या विसूचिका-रोगसे निरन्तर वह मल-मूत्र त्यागने लगे तो उसके प्रेमी ही उससे घृणा करने लगेंगे। परन्तु धन्य है उन उद्यमशील ऋषि-मुनि महापुरुषोंको कि जिन्होंने ऐसे अनित्य और मलसार शरीरमें ऐसी विद्या प्रकट कर दी है कि जिसकी सहायतासे मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी अधिक-से-अधिक सुखोपभोग कर सकता है। प्रकृतिके प्रतिकूल आघात-प्रत्याघातको भी सहन करनेयोग्य हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य जबतक शरीरके भीतरके पदार्थ नहीं जान सकता तबतक बाहरके पदार्थ क्या जानेगा। मनुष्यके शरीरके भीतर अन्तःकरणचतुष्टयके अन्तर्गत मन एक ऐसा विप्रकारक है कि मनुष्यको

संसारी झंझटोंमें फँसाकर इहलौकिक और पारलौकिक सुखोंसे वञ्चित कर देता है। धर्म और मोक्षका चिन्तन नहीं करने देता। अर्थ और कामके चक्करमें डाले रहता है। इस उपद्रवको दूर करनेके लिये महापुरुषोंने योगका प्रकार बताया है, योगी मनको ऐसे वशमें कर लेता है जैसे अच्छा सारथी घोड़ोंको। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्तिका कारण मोक्ष है। इस अक्षय सुखकी प्राप्तिका साधन मन और इन्द्रियोंका निग्रह है। मनोनिग्रह योगके बिना हो नहीं सकता। जैसे अग्निमें तपा देनेसे धातुओंके सब मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही योगाभ्याससे मनुष्यके मलविक्षेप और आवरणदोष छूटकर अन्तःकरणशुद्धिद्वारा आत्मज्ञानसे उसकी मुक्ति हो जाती है।

साधारण-से-साधारण काममें भी चित्तवृत्तिका निरोध किये बिना काम नहीं चलता। बिना चित्तके एकाग्र किये स्त्रियाँ अपने सिरपर कई घड़े कैसे उठा सकती हैं? ऐसे ही नटका निराश्रय तारपर चलना तथा जिमनास्टिकके बड़े-बड़े कुतूहलजनक खेल चित्तवृत्तिके निरोधके फल हैं। मन लगाकर किया हुआ कोई भी काम अवश्य सफल होता है।

योग बहुत-सी चीजोंके एकत्रीकरणका भी नाम है। ऐसा होनेपर भी यह कहना पड़ेगा कि संसारमें कोई भी काम बिना योग (मेल)-के हो ही नहीं सकता। कलियुगमें तो योग (संघशक्ति)-का बड़ा महत्त्व है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥

—इस वाक्यमें भगवान् योगको सबसे अधिक महत्त्व देते हुए सबके लिये आवश्यक बता रहे हैं।

योगके विषयमें बुद्धिमानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु जिज्ञासुओंको ग्रन्थकृपाकी अपेक्षा गुरुकृपा अधिक आवश्यक है। हमने कई सज्जन ऐसे देखे हैं कि जिन्होंने किसीके साधारण इशारेपर या कोई ग्रन्थ देखकर योगाभ्यासकी सदिच्छासे प्रेरित हो क्रिया करना आरम्भ कर दिया, फल यह हुआ कि जन्मभरके लिये रोगी हो गये। ग्रन्थ सहायक हो सकते हैं; पर कार्यसिद्धि गुरुकृपापर ही निर्भर है, लगन सच्ची चाहिये; फिर तो सद्गुरु मिलना दुर्लभ होनेपर भी अलभ्य नहीं है। जो जितना ऊँचा काम होगा, अन्तराय भी उसमें उतना ही प्रबल होगा। घण्टेमें सैकड़ों मीलकी दौड़ लगानेवाला व्योमयान (हवाई-जहाज) यदि बिगड़कर नीचे गिर पड़े तो उसके सवारोंकी एक हड्डी भी खोजे न मिलेगी। ऊँचे-से-ऊँचे ध्येयतक पहुँचानेमें समर्थ नियमपूर्वक किया जानेवाला योगमार्ग जैसा निष्कण्टक है वैसा ही वह विधिहीन किया हुआ खतरनाक भी है। भय किसमें नहीं है, किन्तु भयके कारणको दूर करते हुए उद्योग करना चाहिये।

यह नियम नहीं है कि संन्यासी ही योगाभ्यास कर सकता है, या वह बिना पहाड़ोंकी कन्दरोंमें गये योग हो ही नहीं सकता। काश्मीरके पहलगाँव नामक स्थानमें एक ब्राह्मण, जिसके स्त्री-पुत्र, पुत्रबधू साथ थी वह बहुत-से लोगोंको योगाभ्यासकी शिक्षा देता था। और उसकी स्त्री शिक्षार्थियोंकी क्रियामें सहायता पहुँचाती देखी गयी है। एक दिन योगी ब्राह्मण घरपर नहीं थे। क्रिया करते हुए एक अभ्यासीके गलेमें धोती अटक गयी। उस समय उस ब्राह्मणीने गरम पानीकी सहायतासे अनायास धोती निकाल दी। वह ब्राह्मण सफलतापूर्वक शिक्षा दे रहा था। हाँ, यह अवश्य है कि विरक्त महात्मा इसको अनायास थोड़े समयमें ही सम्पादन कर सकते हैं, क्योंकि उनकी अवस्था और एकान्त स्थान इनकी शीघ्र सिद्धिमें सहायक हो जाते हैं। वे इसके द्वारा बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँच सकते हैं। योग सबके लिये शक्य और आवश्यक है, क्योंकि युक्तयुञ्जानभेदसे योगीके लिये सब कुछ जान लेना कठिन नहीं है।

हम तो बार-बार यही कहेंगे कि सब धर्मोंका तभी समन्वय होगा जब लोग योगसे असलियत समझनेमें समर्थ होंगे। योगियोंके आश्रममें सिंह-मृग, बाघ-बकरी, श्येन-वर्तिका, बिड़ाल-मूषक, अहि-नकुल आदि जीवोंका शाश्वतिक विरोध जाता रहता है। तब फिर मनुष्य तो विवेकी है, समझदार है, उसका पारस्परिक प्रेम होना कौन कठिन बात है। सब शान्ति चाहते हैं, सब सुख चाहते हैं और यह सब कुछ योगद्वारा सुलभ है। सब बल सङ्घर्षके कारण हैं, एक बली दूसरेसे उलझ बैठता है; पर योगबल सब बल और बलियोंका सम्मेलन करा देगा। अतः योगबल ही सब कुछ है। मनुष्य यदि योगबल सम्पादन कर ले तो आज रामराज्यके सुखानुभव करनेका सौभाग्य सबको अनायास प्राप्त हो सकता है।

भक्तिके दो रूप—रागानुगा और वैधी

(लेखक—डा० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, एम्० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०)

रागानुगा और वैधी, इन दो प्रकारकी भक्तियोका भेद बतलानेके पूर्व हमारा इस लेखके प्रारम्भमें भक्तिका संक्षिप्त विवेचन करनेका विचार है। सबसे पहली बात तो इस सम्बन्धमें यह कहनी है कि अनेक धर्मोंकी जन्मदात्री हमारी इस जगत्प्रसिद्ध भारतभूमिमें भक्तिमार्गका प्रचार अत्यन्त प्राचीन कालसे है। जगत्में जो सबसे महान् और सर्वोपरि तत्त्व है उसके प्रति श्रद्धा और भक्तिके नैसर्गिक भावसे अथवा यों कहें कि देवताओंके अच्छेपनमें विश्वाससे, जगत्के आदिम निवासियोंमें यज्ञ और कर्मकाण्डके अनुष्ठानका प्रारम्भ हुआ, ऐसा माना जाता है। धार्मिक उपासना और ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेके जितने प्रकार हैं उन सबका मूल हमारी भक्तिभावना ही है। साधनाके पवित्र मार्गमें भक्तिका स्थान अद्वितीय है। सभी भगवत्कामी पुरुषों, सभी योगियों और सभी भक्तोंके लिये भक्तिका साधन आवश्यक है। भक्तिके बिना कोई भी ब्रह्मविद्याके उच्च आसनपर बैठने और उसके द्वारा परमात्माका दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेकी आशा नहीं कर सकता।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्व० ६।२३)

'जिनकी परमात्मामें उत्तम भक्ति है और परमात्माके समान ही अपने गुरुमें भक्ति है उस महात्माको ऊपर कहे हुए सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं।'

भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे आध्यात्मिक साधनाके भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीन भिन्न-भिन्न मार्गोंका प्रचार चला आया है। हम लोग सभी इस बातको सामान्यरूपसे जानते हैं कि भक्ति बीजरूपसे मनुष्यके हृदयमें रहती ही है। यह एक पवित्र भाव है जो हृदयके भीतरसे निकलता है, परमात्माके अधिकाधिक स्मरणसे पुष्ट होता है और अन्तमें पूर्ण आत्मनिवेदनमें परिणत हो जाता है।

तब प्रश्न यह होता है कि भक्ति क्या वस्तु है। इसके लिये सर्वप्रथम हमें उन ग्रन्थोंके पन्ने उलटने होंगे जो केवल भक्तिका प्रतिपादन करते हैं। भक्तिमीमांसामें ईश्वरके प्रति परम अनुरागको भक्ति कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यसूत्र)

यहाँ अनुरागका अर्थ है परमात्मा अथवा अपने इष्टदेवमें कामनाशून्य आसक्ति। भक्ति जब पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तब भक्तका मन परमात्मामें सर्वथा लीन होकर अद्वैतभावको प्राप्त हो जाता है, उसका अहङ्कार सर्वथा नष्ट हो जाता है। अतः भक्ति एक सर्वथा दिव्य भाव है और उसमें आनन्दका एक अजस्र प्रवाह बहता रहता है। हमारा अपने पुत्रकलत्रादिमें जो प्रेम है उसको भी लौकिक भाषामें अनुराग ही कहते हैं; परन्तु वह अनुराग इतना अधिक स्वार्थपूर्ण एवं लौकिक है कि उसमें भक्तिका कोई भी उदात्त लक्षण नहीं देखनेमें आता। अर्थात् लौकिक प्रेम स्वार्थबुद्धिसे कलुषित रहता है और उस माधुर्यसे सर्वथा शून्य होता है जिसके कारण भक्ति इतनी प्रिय मालूम होती है। प्रेम अथवा अनुरागकी भक्तिसंज्ञा तभी होती है जब वह हमारे जीवनके सर्वस्व एवं चरम लक्ष्य भगवान्की ओर मुड़कर धन्य हो जाता है। ऊपर उद्धृत किये हुए सूत्रसे यह बात सुतरां स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्को परम प्रेमास्पद एवं श्रद्धास्पद मानना ही भक्तिका स्वरूप है।

देवर्षि नारदने ईश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्तिका लक्षण बताया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (ना० सू० २)

उक्त दोनों सूत्रकारोंने प्रेमकी प्रगाढ़ताको ही भक्तिका मुख्य लक्षण बताया है और उसीपर विशेष जोर दिया है, जिससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि दोनोंका इस विषयमें एक मत है। नारदने अनुरागके स्थानपर 'प्रेम' शब्दका व्यवहार करके अप्रकटरूपसे यह संकेत किया है कि भक्ति अन्तमें जाकर किस श्रेणीतक पहुँच सकती है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें भक्तिके विकासका जो क्रम बताया गया है, यह शब्द उसके अनुकूल ही है। उक्त ग्रन्थमें रूप गोस्वामीने

भक्तिका विवेचन करते हुए बड़े सुन्दर ढंगसे यह बताया है कि श्रद्धाके विकासकी कितनी श्रेणियाँ हैं और बढ़ते-बढ़ते अन्तमें जाकर वह किस प्रकार प्रेमके रूपमें परिणत हो जाती है। ईश्वरमें अटल विश्वास भक्तिका प्रथम सोपान है। जहाँ विश्वास नहीं वहाँ भक्ति कहाँ? ज्ञानके सम्बन्धमें भी यही बात है। ज्ञानपिपासुओंका भी श्रद्धाके बिना काम नहीं चलता—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। (गीता ४। ३९)

भक्तिके विकासके पूर्व श्रद्धाकी आवश्यकता है अथवा भक्तिके साथ श्रद्धाका होना अनिवार्य है, इस बातको गीतामें बार-बार कहा गया है। उदाहरणके लिये देखिये—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

अर्थात् जो नित्ययुक्त पुरुष मेरे अन्दर मनको आवेशितकर परम श्रद्धाके साथ मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे मतमें युक्ततम योगी हैं।

रूप गोस्वामीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्तिका जो लक्षण बताया है वह भी ध्यान देनेयोग्य है, यद्यपि प्रत्यक्ष ही उसमें थोड़ी-बहुत साम्प्रदायिकता अवश्य है। वे कृष्ण-भक्तिको ही सर्वोत्तम भक्ति बतलाते हैं और उसे ज्ञान और कर्मसे सर्वथा शून्य कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् अन्य किसी वस्तुकी कामना न रखते हुए, ज्ञान-कर्मादिके आवरणको हटाकर श्रीकृष्णरूप परमात्माके सर्वथा अनुकूल होकर उन्हींका निरन्तर चिन्तन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है।

भक्तिरसायन नामक ग्रन्थके रचयिता अद्वैतशिरोमणि आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्तिका बिल्कुल दार्शनिक ढंगसे विवेचन किया है। अद्वैतसिद्धि नामक अद्वैतवेदान्त अथवा शाङ्करवेदान्तका प्रसिद्ध ग्रन्थ भी इन्हीं महानुभावका लिखा हुआ है। यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि मधुसूदन सरस्वती-जैसे कट्टर अद्वैतवादीने अपने असाधारण बुद्धि-बलके द्वारा भक्तिको जीवनका परमपुरुषार्थ सिद्ध किया है और ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। उक्त दार्शनिकशिरोमणिके मतमें भक्ति मनकी एक विशेष वृत्ति है, जिसमें मन रागजन्य आनन्दातिरेकसे द्रवीभूत होकर भगवदाकार बन जाता है—

द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्तिः।

उन्होंने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

'भगवद्भावसे द्रवीभूत हुए चित्तकी चराचरनायक भगवान्‌के अन्दर धारावाहिक रूपको प्राप्त हुई वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।'

कहते हैं, भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब मनको भगवान्‌में निरन्तर लगे रहनेका अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार भक्ति चित्तका एक अजस्र एवं अविच्छिन्न प्रवाह है, एक पवित्र धारा है जो सर्वदा आनन्दार्णवकी ओर बहती रहती है। श्रीमद्भागवतमें भक्तिके इस अजस्र प्रवाहको त्रैलोक्यपावनी मन्दाकिनीकी उपमा दी गयी है। भगवान् वेदव्यास अपनी समाधिभाषामें कहते हैं—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥

अव्यावृत चिन्तन ही वह बीज है जिसमें भक्तिका अङ्कुर उत्पन्न होता है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने यह भी बतलाया है कि भक्तका चित्त भक्तिके प्रभावसे किस प्रकार मृदु हो जाता है अथवा पिघल जाता है, वे कहते हैं कि तीव्र भक्तियोग हृदयको कोमल बनाकर प्रसारित कर देता है। भक्ति वह जादूगरकी छड़ी है जो अपने विलक्षण स्पर्शसे सारे काठिन्यको दूर कर देती है, हृदयको दिव्य आनन्दके रसमें सराबोर कर देती है और क्रूरताको पिघल जानेवाली मृदुताके रूपमें परिणत कर देती है।

भक्तिविषयक सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत हैं, पीछेसे भक्तिका प्रतिपादन करनेवाले जितने ग्रन्थ बने उन सबोंने अधिकांशमें इन्हीं दोनों ग्रन्थोंका आधार लिया है। गीताके एक अध्यायका तो नाम ही 'भक्तियोग' है, और वैसे यह सारा ग्रन्थ ही भक्तिके इस महान् आदर्शसे ओत-प्रोत है। भगवद्भक्ति और भगवच्छरणागति ही गीताका मूलमन्त्र है। गीतामें यह खास तौरपर बतलाया गया है कि भगवान्‌की भक्ति

करनेवालोंकी चार श्रेणियाँ हैं। उनमेंसे जो अपना सब कुछ भगवान्‌को दे डालते हैं वे उत्तम श्रेणीके भक्त माने गये हैं।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। वहाँ भक्तिको मनकी एक स्वाभाविक वृत्ति बतलाया गया है जो किसी कारणविशेष अथवा पूर्वकल्पित हेतुसे उत्पन्न नहीं होती। श्रीकृष्णके प्रति अहैतुकी भक्तिको ही इस ग्रन्थमें सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

'भगवान् नारायणके प्रति अहैतुकी एवं किसी प्रकार भी नहीं रुकनेवाली भक्ति, जिससे आत्मा सुप्रसन्न होता है—यही मनुष्यमात्रका परमधर्म है।

श्रीमद्भागवतमें तो बराबर प्रेमलक्षणा भक्तिकी, खास-कर उस भक्तिकी जो वृन्दावनकी व्रजबालाओंमें प्रकट हुई थी, श्रेष्ठता सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है। उन व्रजललनाओंका अनुराग इतना पवित्र एवं उत्कट था कि भगवान्‌ने उसके सामने स्वयं अपनी लघुता प्रकट की। श्रीभगवान्‌के शब्द हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

'निर्मल प्रेमकी ध्वजास्वरूपिणी आप महानुभावाओंके उपकारसे मैं देवताओंकी आयुमें भी उऋण नहीं हो सकता, जो बड़ी कठिनतासे टूटनेवाले गृहस्थके पाशको तृणकी तरह तोड़कर मेरी शरणमें आयी हो; इस ऋणको तो आप ही दया करके माफ कर दें तो भले ही उससे मैं मुक्त हो जाऊँ, अन्यथा उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है।'

यहाँ डंकेकी चोट प्रेमकी विजय हुई। इस प्रकारका अलौकिक प्रेम मानवीय ज्ञानके बाहरकी वस्तु है।

आचार्य रामानुजके श्रीभाष्यको देखनेसे मालूम होता है कि वे वैधी भक्तिके उपासक थे। वे प्रख्यात वेदान्ती होनेपर भी भक्तिके प्रबल पक्षपाती थे। उनके मतमें भक्ति ज्ञानका श्रेष्ठ अंश है।

भक्तिशास्त्रमें प्रेम और भक्ति समानार्थक शब्द हैं। जिस वस्तुमें हमारी भक्ति होती है वही हमारे प्रेमकी वस्तु होती है। विष्णुपुराणके निम्नलिखित श्लोकमें भक्तिके स्थानमें 'प्रीति' शब्दका व्यवहार किया गया है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

'अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी निश्चल प्रीति होती है, तुम्हें स्मरण करते हुए मेरी वैसी ही प्रीति तुम्हारे अन्दर सदा बनी रहे, क्षणमात्रके लिये भी हटे नहीं।'

ऐसा माना जाता है कि बिना अनुरागके ऐसी भक्ति नहीं हो सकती और बिना प्रेमके आत्मानन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती। भक्ति ही अन्ततोगत्वा प्रेमके रूपमें प्रकट होती है और जो लोग ज्ञान और कर्मको छोड़कर भक्तिका साधन करते हैं उनके लिये अभीष्टतम वस्तु यह प्रेम ही है। परमात्मविषयक परोक्षज्ञानसे अथवा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे यह अलभ्य वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। भक्तिका मार्ग इन सबकी अपेक्षा कहीं सुगम है और उससे भक्तका भगवान्‌के साथ निकटतम सम्बन्ध हो जाता है।

हमारे सामने बहुधा यह कठिन प्रश्न आता है—क्या ज्ञान और भक्ति परस्परविरोधी हैं? हमारा उत्तर है—नहीं। सच तो यह है कि दोनों परस्परसम्बद्ध हैं और एक-दूसरेके सहायक हैं। यद्यपि ज्ञानको ही जन्ममृत्युके बन्धनसे छूटनेका साक्षात् कारण उद्घोषित किया गया है तथापि हमारी धारणा यह है कि भक्तिका ज्ञानके साथ कोई विरोध नहीं है। बल्कि कुछ लोग तो दोनोंको एक-दूसरेके आश्रित मानते हैं (**अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये**)। दोनोंका फल एक है। दोनोंमेंसे किसी भी मार्गका अनुसरण करनेसे शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति होती है। भक्ति और ज्ञानके चरम फलके सम्बन्धमें भक्तिसूत्र और वेदान्तसूत्र दोनोंका एक मत है (देखिये—'**तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्**' और '**तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्**')।

अब हम भक्तिके प्रकारोंका कुछ वर्णन करेंगे।

श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिका निरूपण किया गया है। भक्तिके नौ भेद इस प्रकार हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

सूक्ष्म विचार करनेसे इस नवधा भक्तिका आत्मनिवेदन नामक अन्तिम भक्तिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। तीव्र भक्तियोगके लिये यह आवश्यक है कि भक्त सर्वतोभावेन अपनेको भगवान्‌की दयापर छोड़ दे। सच्चा भक्त अनुरागकी गाढ़तामें अपने-आपको सर्वथा खो बैठता है। किसी सांसारिक हेतुका आश्रय न लेकर भगवान्‌में जो प्रेम किया जाता है वही सबसे ऊँची भक्ति है। भगवान् विष्णुकी निष्काम आराधनामें यह सामर्थ्य है कि उसका साधन करनेवाला निर्वाणपदका अधिकारी हो जाता है—

प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्।
(विष्णुपुराण)

वैष्णवधर्मकी उत्तरकालीन शाखामें भक्तिके दो प्रकार देखनेमें आते हैं, रागानुगा और वैधी। वैधी भक्तिमें शास्त्रोक्त विधिका अक्षरशः पालन होता है और लौकिक आचारके अनुसार सारी क्रिया होती है; किन्तु रागानुगा भक्ति शास्त्रोक्त विधिके बन्धनमें जकड़ी हुई नहीं है। तीव्र अनुराग ही उसका स्वरूप है और उसमें किसी प्रकारके नियमोंका बन्धन नहीं है। रागानुगा भक्तिमें हृदय खोलकर रख दिया जाता है और इस प्रकारका आवरणशून्य हृदय नियमों और आचारोंके बन्धनको स्वीकार नहीं करता। इस कोटिका तीव्र अनुराग वृन्दावनकी सरलहृदया गोपबालाओंमें प्रकट हुआ था। जिसने अपने सारे कर्म और सारे सङ्कल्प भगवान्‌को अर्पण कर दिये उसके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि वह मानवसमाजके नियमोंका अवश्य ही पालन करे। ध्रुव आदि भक्त वैधी भक्तिके अनुयायी थे। रागमार्गकी भक्तिका साधन बड़ा कठिन है। बहुत थोड़े भक्तोंको इस अत्यन्त विकट मार्गपर चलनेका अधिकार मिलता है। इस जन्ममें अथवा प्राक्तन जन्मोंमें महान् सुकृतोंका अर्जन किये बिना मनुष्य इस मार्गपर नहीं चल सकता। जिस प्रकारके तीव्र अनुरागसे प्रेरित होकर जयदेव और चण्डीदास-जैसे भक्तोंने भगवान्‌के प्रति अपने उद्दाम भावको चरितार्थ करनेके लिये इस मार्गका अवलम्बन किया था हम विषयविमोहित पामर जीव उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

किन्तु प्रायः लोग ऐसा कहा करते हैं कि रागानुगा भक्तिकी सर्वोच्च साधना करनेवाली गोपिकाएँ बिल्कुल ज्ञानशून्य थीं, अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्णमें वे अनुरक्त थीं उनके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान उन्हें नहीं था। उनका भगवान्‌में विशुद्ध एवं निश्छल प्रेम था, जिसमें नैतिक अथवा धार्मिक किसी प्रकारका कोई विचार नहीं था। कुछ अविवेकी लोग तो उनके विरुद्ध और भी निन्दनीय आक्षेप करते हैं।

ये सारे-के-सारे आक्षेप और अभियोग सर्वथा निःसार हैं। ये कदापि ठहर नहीं सकते। ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण गोपियोंके अनुरागमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आयी थी, बल्कि वह अनन्तगुना अधिक तीव्र हो गया था। प्रेमराज्यमें अनुरागकी गाढ़ता ही मूल्यवती समझी जाती है, बुद्धिकी प्रबलता नहीं। प्रेमका स्वभाव ही यह है कि वह बुद्धिको भक्तिकी अपेक्षा गौण बना देता है। **'अतएव तदभावाद् वल्लवीनाम्'**—इस सूत्रके द्वारा महर्षि शाण्डिल्यने यह स्पष्टरूपसे कह दिया कि वृन्दावनकी गोपललनाओंको ज्ञान न होनेपर भी वे कृतार्थ हो गयीं। वे भगवान्‌को कान्तरूपमें भजती थीं, उन्हींको अखिल आनन्द और सुखका स्रोत समझती थीं, वे श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी परब्रह्मको नहीं जानती थीं—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न च ब्रह्मतया मुने।
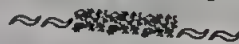
योग

(लेखक—स्वामीजी श्रीअसङ्गानन्दजी)

आत्मत्राण अथवा जीवित रहनेकी इच्छा मनुष्यजातिका सर्वोपरि सिद्धान्त है; केवल मनुष्योंमें ही क्यों, यह जीवनसंघर्ष प्राणिमात्रमें पाया जाता है। सिंह-व्याघ्र, बिल्ली, कुत्तों तथा अन्य जातिके पशुओं, पक्षियों, यहाँतक कि कीटपतङ्गादिकोंको भी नख, पंजे, दाँत और सींग आदि रक्षा और आक्रमणके साधन प्राप्त हैं, जिनके द्वारा वे आत्मत्राण और जीवनरक्षा कर सकते हैं। वैज्ञानिक, समाजसेवक, देशभक्त, कवि, महात्मा और पापी, सभी अपने-अपने ढंगसे और अधिकांशमें बिना जाने ही इतिहासके पृष्ठोंमें अपना नाम छोड़ जानेका प्रयत्न करते रहते हैं, जिससे उनका जीवन अमर हो जाय और इस भौतिक शरीरके छूट जानेपर भी बना रहे। एक रोगी जो किसी भयानक यन्त्रणासे पीड़ित होकर आत्महत्या कर लेता है वह अपने-आपको सर्वथा नष्ट करनेकी बुद्धिसे नहीं, अपितु इस भौतिक जीवनकी नारकी यन्त्रणाओं तथा क्लेशोंसे मुक्त होनेके लिये ही ऐसा करता है। योगियोंकी धारणा यह है कि यह अमर जीवन स्थूल शरीरकी क्रियाओं तथा चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे ही प्राप्त होता है।

योगियोंका यह कहना है कि मनके द्वारा ही वे सत्यका साक्षात्कार कर सकते हैं और इसीलिये वे आन्तर एवं बाह्य प्रकृतिपर जय प्राप्त करके सत्यके साक्षात्कारकी चेष्टा करते हैं। जिसे हम आधुनिक भाषामें धर्म (religion) कहते हैं वह अपरोक्षानुभवका ही फल है और नित्य, अनित्य सभी पदार्थोंमें है; किन्तु उसका स्वरूप कतिपय आदेशात्मक सिद्धान्तों एवं मतवादोंको मानना ही नहीं है। आधुनिक सभ्यताके पक्षपाती जड़वादकी मोहमयी मदिराको पीकर इतने मस्त हो गये हैं कि वे जीवनकी इस उन्मादरहित एवं सुखमय दिशाको बिल्कुल भूल गये हैं; यही नहीं, उन्हें धर्मके नामतकसे ऐसी चिढ़ हो गयी है कि जिस किसी वस्तुमें उन्हें धार्मिकताका लेश भी दिखायी देता है उसीकी वे निन्दा करने लगते हैं। उनका कथन यह है कि धर्म और अध्यात्मविद्याकी सारी चर्चा, नहीं-नहीं, सत्यकी उपलब्धि तथा अतीन्द्रिय एवं बाह्य ज्ञानसे ऊपर उठी हुई अवस्थाको प्राप्त करनेके सारे यत्न व्यर्थ एवं अकिञ्चित्कर हैं। अतएव जगत्के भिन्न-भिन्न भागोंमें सुधारकों तथा धार्मिक क्षेत्रके कार्यकर्ताओंद्वारा जितनी दौड़-धूप और प्रचारकार्य होता है उसका एकमात्र उद्देश्य है अर्धसभ्य और बर्बर जातियोंको अपने ही जैसे साधु, सच्चरित्र और सौम्य नागरिक बनाना। आधुनिक जड़वादियोंकी दलीलें भ्रान्त एवं भूलसे भरी हैं, क्योंकि वे मिथ्या आधारपर टिकी हुई हैं और उनके मूलमें ही उदारता एवं दूरदर्शिताका अभाव है। सत्यकी खोज करनेवाले उनकी युक्तियोंको बालिशतापूर्ण कहकर उनका इन शब्दोंमें खण्डन करते हैं—'प्रकृति सर्वत्र समान है। जो बात एक बार हो चुकी है वह उसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त होनेपर दुबारा उसी रूपमें होनी चाहिये और इस प्रकार हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति उसी प्रकारका अनुभव और साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है जैसा भगवान् बुद्ध, प्रभु ईसामसीह आदि महापुरुषोंने अपने-अपने जीवनमें प्राप्त किया था। अवश्य ही हमारे विचार उतने ही दृढ़, हमारी लालसा उतनी ही तीव्र और हमारी लगन उतनी ही सच्ची होनी चाहिये।'

तर्क और अनुभवके सम्बन्धमें बहुत-सा भ्रम फैला हुआ है और देखनेमें विरोध भी मालूम होता है। दार्शनिक योगीके समीप आकर उससे प्रश्न करता है, 'मैं किसी वस्तुमें किसी ख़ास प्रकारसे विश्वास या उसका अनुभव कर सकता हूँ; परन्तु मेरा अनुभव सत्य ही होगा, इसमें क्या प्रमाण है?' इसका उत्तर योगी इस प्रकार देता है—सहज ज्ञान, तर्क और अन्तर्दृष्टि या अतीन्द्रिय ज्ञान, ये चित्तकी भिन्न-भिन्न आनुपूर्विक अवस्थाएँ हैं। इनमेंसे एक-एक उत्तरोत्तरका हेतु है—सहज ज्ञान आगे बढ़कर तर्क अथवा विवेचनात्मक बुद्धिके रूपमें परिणत हो जाता है और तर्क-बुद्धिका विकास होते-होते वह अलौकिक ज्ञानका रूप धारण कर लेती है। अन्तर्दृष्टि अथवा ईश्वरप्रेरित ज्ञान तर्कका विरोधी नहीं होता, बल्कि उसकी पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक युक्तिका आधार प्राक्तन अनुभव ही होता है। परन्तु शोक! आज हमलोगोंकी बुद्धिमें कितना विपर्यास

हो गया है! भगवान् बुद्ध आदि जगत्‌को हिला देनेवाली महान् आत्माओंके भिन्न-भिन्न अनुभव, चाहे वे देखनेमें कितने ही विसदृश एवं विसंवादी हों, एक ही सत्यकी भिन्न-भिन्न उपलब्धियाँ हैं, जिस प्रकार एक ही सूर्यको भिन्न-भिन्न रंगके चश्मेसे देखनेसे वह भिन्न-भिन्न रंगका दीख पड़ता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न होनेपर भी तथा हजार प्रयत्न करनेपर भी साधकको बार-बार असफलता क्यों होती है। मनोविज्ञानके अध्ययनसे हमारे जीवनकी एक खास बात हमारे ध्यानमें आती है। वह यह है कि विषयसुख ही हमें भ्रम, अज्ञान और दुःखके गर्तमें गिराता है और हमें जीवनके लक्ष्यके समीप न ले जाकर उलटे हमारी उन्नतिके मार्गमें बाधा डालता है। अतः पवित्रता धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवनकी पहली सीढ़ी ही नहीं, अपितु उसका आवश्यक अङ्ग है। शुचिताहीन धार्मिक जीवन धार्मिक जीवन ही नहीं है, अपितु उसका विरोधी है। इसीलिये प्रभु ईसामसीहने कहा है—'जिनका हृदय निर्मल हो चुका है वे पुरुष धन्य हैं, क्योंकि परमेश्वरका साक्षात्कार उन्हींको होगा।'[१] भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें कहते हैं—'इन्द्रिय और विषयके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले विषयसुख दुःखको ही उत्पन्न करते हैं और आदि-अन्तवाले हैं; हे कौन्तेय! विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता।'[२]

'बाह्य संयोगोंमें अनासक्त चित्तवाला वह पुरुष आत्मसुखका लाभ करता है और ब्रह्मके योगमें चित्तको लगाकर अक्षय सुखका उपभोग करता है।'[३]

अतः साधकके लिये आवश्यक है कि वह जगत्‌में रमे हुए चित्तको शुद्ध करे और यह चित्तशुद्धि पहले (निष्काम) कर्मसे और पीछे कर्मसंन्याससे होती है। गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'एकाग्रताके साधनरूप चित्तशुद्धिकी इच्छा करनेवाले मननशील व्यक्तिके लिये (निष्काम) कर्मको ही साधनरूप कहा गया है। और इस प्रकार चित्तके एकाग्र हो जानेपर उस मुनिके लिये अकर्म ही साधन है।'[४] इस प्रकार जब शरीर और मनके सारे मल धुल जाते हैं, खासकर जब इच्छाओं और संवेगोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मबीजोंसे मन वियुक्त हो जाता है, तब साधक पूर्ण एकाग्रताको प्राप्त होता है, जिससे अन्तमें निर्वाण अथवा समाधिकी प्राप्ति होती है।

योगके अनेकों दार्शनिकों तथा योनियोंने अनेक प्रकारके लक्षण किये हैं। Miss Evelyn Underhill नामक महिलाने अपने 'Mysticism' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थमें Mysticism (योग)-की व्याख्या इस प्रकार की है— Mysticism (योग) सत्यरूप परमात्माके साथ एकत्व सम्पादन करनेकी विद्या है। Mystic (योगी) उसे कहते हैं जिसने न्यूनाधिक रूपसे परमात्माके साथ एकीभाव प्राप्त कर लिया है, अथवा जिसका लक्ष्य है परमात्माके साथ एकात्मभावको प्राप्त करना और जो इस प्रकारके एकात्मभावमें विश्वास करता है।'[५] भगवान् श्रीकृष्णने योगके अनेक अर्थ किये हैं। एक जगह वे **'योगः कर्मसु कौशलम्'** कहकर कर्ममें प्रवीणताको योग कहते हैं तथा दूसरे स्थानपर वे **'समत्वं योग उच्यते'** कहकर समत्वको ही योगका लक्षण बतलाते हैं। यद्यपि 'योग' के सम्बन्धमें लोगोंकी अनेक धारणाएँ हैं तथापि सभी महान् आचार्यों और विद्वानोंने अलौकिकवाद अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको स्वीकार किया है, और इस अपरोक्ष अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको ही सबने अपना ध्येय माना है, चाहे यह ध्येय कितना ही विप्रकृष्ट, दुष्प्राप्य और अस्पष्ट क्यों न हो।

योगके सबसे बड़े आचार्य महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें योगका बहुत थोड़े शब्दोंमें बहुत सुन्दर लक्षण किया है। वे कहते हैं— **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि कपिलाचार्यने अपने सूत्रोंमें मनोविज्ञानका जो सुन्दर निरूपण किया है उसके लिये सभी भारतीय दर्शनशास्त्र उनके ऋणी हैं। महर्षि कपिल

१. "Blessed are the pure in heart, for they shall see God."
२. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (गीता ५। २२)
३. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ (गीता ५। २१)
४. आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ (गीता ६। ३)
५. "Mysticism is the art of union with Reality. The mystic is a person who has attained that union in greater or less degree or who aims at and believes in such attainment."

कहते हैं कि किसी बाह्य वस्तुको प्रत्यक्ष करनेके लिये निम्नलिखित कारणोंकी अपेक्षा होती है—पहले बाह्य विषय, दूसरे इन्द्रिय, तीसरे इन दोनोंसे सम्बन्धित मन, चौथे बुद्धि और पाँचवें पुरुष अथवा आत्मा। मन, बुद्धि और अहङ्कारकी समष्टिको 'अन्तःकरण' कहते हैं। ये चित्तकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। विचारकी धाराओंका नाम वृत्ति है। जगत्का प्रत्येक पदार्थ स्वभावतः अज्ञात एवं अज्ञेय है। ऊपर बताये हुए कारणोंके साथ सम्पर्कमें आनेपर ही उसे ज्ञेयता प्राप्त होती है अथवा वह ज्ञान या दूसरे शब्दोंमें प्रत्यक्षका विषय होता है। किसी सरोवरके जलमें ढेला अथवा ईंट फेंकनेसे उसमें लहरें और तरङ्गें उठने लगती हैं, इसी प्रकार बाह्य विषयोंका इन्द्रियों तथा मनके साथ संयोग होनेपर विचारोंकी अनेक लहरें और तरङ्गें उठने लगती हैं। मन उन अनन्त वृत्तियों तथा प्रवाहोंका खजाना है जो हमारे चित्तकी सूक्ष्म अवस्थामें समाहित होते हैं, बनते हैं तथा रक्षित रहते हैं। इसीलिये जब इन वृत्तियोंको व्यक्त होनेका उचित अवसर मिलता है उस समय भी ये लहरें बनती हैं। बाहरसे तथा भीतरसे आनेवाले सङ्केत ही इन लहरोंके बननेमें कारण होते हैं।

पातञ्जलयोगका आदर्श है वह चरम कोटिका मार्ग जिसमें शरीर और मनके समस्त व्यापार सर्वथा बन्द हो जाते हैं। योगीको इस प्रकारकी स्थितिमें रहनेका अभ्यास डालना चाहिये जिसमें वह अन्न-जलके बिना एक या दो दिनतक नहीं, बल्कि महीनों और सालों रह सके और सब प्रकारके शारीरिक एवं मानसिक व्यापारोंको बन्द रखे। इसलिये समस्त कामनाओं और रागोंको निर्मूल करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये और मनपर कड़ा पहरा रखना चाहिये कि उसके अन्दर कोई नये ऐन्द्रिय विषय, प्रत्यक्षगोचर पदार्थ, कामनाएँ अथवा विचार अलक्षित अथवा प्रकटरूपसे न आने पावें। और साथ-ही-साथ चित्तको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेका अभ्यास करना चाहिये, ऐसा करनेसे सूक्ष्म मन क्रमशः क्षीण होकर सर्वथा नाशको प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार एक ओर तो मनको नये ऐन्द्रिय विषय, सङ्कल्प, कामना आदिके रूपमें भोजन न देकर सुखाना चाहिये और दूसरी ओर उसे सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेके अभ्यासद्वारा अर्थात् धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ताके साथ मनसे सारे सङ्कल्पोंको निकाल बाहर कर उसे अनन्यविषयक बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे मन बिल्कुल खाली हो जायगा और सूक्ष्म मन, जिसमें पहलेके ग्रहण किये हुए संस्कार जमा रहते हैं, सर्वथा नष्ट हो जायगा। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिद्वारा अवधारित योगका ध्येय प्राप्त हो जाता है।

प्राणायाम—प्राणायाम योगीके जीवनका आधारस्तम्भ है, अतः उसकी प्रक्रियाको बहुत कुछ स्पष्ट एवं विशद करनेकी आवश्यकता है। अद्वैतियोंके आदिगुरु भगवान् शङ्कराचार्यने श्वेताश्वतरोपनिषद्के भाष्यमें प्राणायामके सम्बन्धमें निम्नलिखित आशयका उपदेश दिया है—

'प्राणायामके द्वारा जिसका निःशेष मल धुल गया है ऐसा मन ही ब्रह्ममें स्थिर होता है, अतः प्राणायामका उपदेश दिया जाता है। सर्वप्रथम नाडीशोधन करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्राणायाम करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। अँगूठेसे दाहिने नासारन्ध्रको दबाकर बायें नथुनेसे अपनी शक्तिके अनुसार वायुको खींचना चाहिये; फिर तुरन्त बायें नासापुटको दबाकर दाहिने नासापुटसे हवाको बाहर निकाल दे, इसी प्रकार दाहिने नथुनेसे अपनी शक्तिके अनुसार हवा खींचकर बायेंसे बाहर निकाले। इस क्रियाको दिन-रातमें चार बार अर्थात् सूर्योदयसे पूर्व, मध्याह्नमें, सायंकालके समय तथा अर्द्धरात्रिमें तीन या पाँच आवृत्ति करनेसे पन्द्रह दिनमें अथवा एक महीनेके अन्दर नाडीशुद्धि हो जाती है। इसके अनन्तर प्राणायामकी क्रिया शुरू होती है।'

प्राणायामका सम्बन्ध श्वाससे नहीं है। श्वासोच्छ्वास तो असली प्राणायामको सिद्ध करनेके अनेक प्रकारोंमेंसे एकतम प्रकार है। स्वामी विवेकानन्दजी कहा करते थे कि श्वास इस शरीररूपी यन्त्रकी गतिको नियममें रखनेवाला चक्का (flywheel) है। किसी भी बड़े इञ्जिनमें हम देखते हैं कि यह चक्का ही सबसे पहले घूमता है और इसके घूमनेसे दूसरे छोटे-छोटे बारीक पुर्जे चलने लगते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मशीनका सबसे नाजुक और सबसे सूक्ष्म पुर्जा भी गतिशील हो जाता है। हमारी इस शरीररूपी मशीनका Flywheel श्वास है, इसीसे इस शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें हलचल पैदा होती है और सारे कल-पुर्जे व्यवस्थित रूपसे काम करते हैं।*

* "Breath is like the flywheel of this machine, the body. In a big engine, you find the flywheel first moving,

प्राणायामका अर्थ है प्राणोंको वशमें करना। भारतीय दर्शनशास्त्रके अनुसार यह समस्त जगत् और जो कुछ भी इसके अन्दर है वह सब कुछ आकाश और प्राण, इन दो तत्त्वोंसे बना हुआ है। प्रत्येक आकारवाली वस्तु संघटनका परिणाम है और इस आकाशसे उद्भूत है, जो सर्वगत एवं सर्वत्र अनुस्यूत है, और कल्पके अन्तमें प्रत्येक वस्तु आकाशमें पुनर्लीन हो जाती है। 'प्राण वह शक्ति है जिसने आकाशको अधिष्ठितकर विश्वकी रचना की है। ठीक जिस प्रकार आकाश सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है, उसी प्रकार प्राण भी इस विश्वकी सर्वसमर्थ एवं सर्वव्यापिनी अभिव्यञ्जिका शक्ति है। जगत्में गुरुत्वशक्ति, आकर्षणशक्ति, अपकर्षणशक्ति, विद्युत्-शक्ति, विचार-शक्ति, नाडी-प्रवाह आदि जितनी शक्तियाँ हैं वे सब-की-सब प्राणनामक एक ही शक्तिकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः प्राण विश्वकी मानसिक एवं शारीरिक सभी प्रकारकी शक्तियोंकी समष्टि है। इसी प्राणके ज्ञान और निग्रहको प्राणायाम कहते हैं। इस समष्टि जगत्के जो नियम हैं वे ही इस व्यष्टि जगत्में भी लागू हैं। अतः प्राण ही प्रत्येक जीवकी जीवनी शक्ति है और विचारधाराओं, नाडीप्रवाह, श्वासोच्छ्वास तथा साधारण शारीरिक क्रियाके रूपमें व्यक्त हो रही है। योगियोंके मतमें जो कोई भी दिव्य आनन्दका आस्वादन करना चाहता है तथा सारे दुःखों और व्याधियोंसे छूटना चाहता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इस प्राणको वशमें करके इसीकी सहायतासे निर्वाण अथवा समाधिरूप अमृतावर्णमें मग्न होकर अलौकिक अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको प्राप्त करे। इस प्राणको वशमें करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने निकटतम पदार्थोंको अधीन करनेकी सच्चे दिलसे चेष्टा करे। यों तो शरीर हमारे बहुत निकट है, परन्तु मन सबसे निकट है। जो प्राण हमारे शरीर और मनके भीतर कार्य कर रहा है वह विश्वके अन्य सभी प्राणोंकी अपेक्षा हमारे निकट है। इस व्यष्टि प्राणके निगृहीत हो जानेपर, जो समष्टि-प्राणरूपी समुद्रके एक शीकरके समान है, मनुष्य उस अनन्त समष्टि-प्राणको वशमें करनेकी आशा कर सकता है। जो योगी प्राणको वशमें कर लेता है वह सिद्ध हो जाता है और जगत्के किसी भी दृश्य-अदृश्य पदार्थ अथवा प्राणीके वशमें नहीं रहता और इस मृत्युसंसारसागरमें फिर नहीं आता। स्वामी विवेकानन्दने अपने 'राजयोग' नामक ग्रन्थमें इस प्राणायाम और समाधिसिद्धिके सम्बन्धमें जो सुन्दर दृष्टान्त दिया है मैं उसे यहाँ उद्धृत किये बिना नहीं रह सकता। वे लिखते हैं—

'किसी बड़े राजाका एक मन्त्री था, उससे कोई निन्दित कार्य बन गया, राजाने उसे दण्डरूपमें किसी ऊँची बुर्जके शिखरपर ले जाकर कैद कर देनेकी आज्ञा दी। अधिकारियोंने यही किया और मन्त्रीको वहाँ ले जाकर मृत्युके मुँहमें छोड़ दिया। मन्त्रीकी स्त्री बड़ी पतिव्रता थी, वह रातको बुर्जके नीचे आयी और शिखरपर स्थित अपने स्वामीको पुकार कहा कि 'क्या मैं आपकी किसी प्रकारसे सहायता कर सकती हूँ?' पतिने कहा कि अभी तो जाओ, कल इसी समय फिर आना और अपने साथ एक लम्बा-मोटा रस्सा, थोड़ी-सी मजबूत पतली रस्सी, थोड़ा पक्का सूत धागा जो पार्सल आदि बाँधनेके काममें आता है, कुछ रेशमी धागा, एक कीड़ा और थोड़ा शहद लेते आना। उस साध्वी स्त्रीने पहले तो बड़ा आश्चर्य किया कि स्वामी इन सब चीजोंका क्या करेंगे, किन्तु फिर उनकी आज्ञा समझकर वैसा ही किया और दूसरे दिन वह सब सामान ले आयी। स्वामीने उससे कहा कि रेशमी धागेको कीड़ेके पैरोंमें मज़बूतीसे बाँध दो और उसके मुँहके पासके सींग-जैसे अवयवोंमें शहद चुपड़ दो, फिर उसे बुर्जकी दीवालपर ऊपरकी तरफ सिर करके छोड़ दो। स्त्रीने ऐसा ही किया और कीड़ा ऊपरकी ओर चला। उसे अपने आगेकी ओरसे जो मधुकी गन्ध आ रही थी उसीसे आकृष्ट होकर वह शहद पानेकी आशामें धीरे-धीरे दीवालके ऊपर चढ़ने लगा और थोड़ी देरमें शिखरपर पहुँच गया। मन्त्रीने उसे पकड़ लिया और इस प्रकार रेशमी डोरेको हस्तगत कर

and that motion is conveyed to finer and finer machinery until the most delicate and finest mechanism in the machine is in motion. The breath is that flywheel, supplying and regulating the motive power to everything in this body."

लिया, तब उसने अपनी स्त्रीसे कहा कि इसके दूसरे छोरको सूती धागेसे बाँध दो और इस रीतिसे सूती धागेको खींच लेनेपर उसने वही बात पतली रस्सीके सम्बन्धमें और अन्तमें मोटे रस्सेके सम्बन्धमें कही। बाकी काम आसानीसे हो गया। मन्त्री रस्सेके सहारे नीचे उतर आया और भाग गया। इसी दृष्टान्तको हमारे इस शरीरपर घटानेसे मालूम होगा कि हमारे शरीरके अन्दर जो प्राणवायुकी गति हो रही है वही रेशमी धागा है। इस श्वासरूपी रेशमी धागेको पकड़कर अपने अधीन कर लेनेसे हम नाडी-प्रवाहरूप मोटे डोरेको पकड़ लेते हैं, इनके सहारे हम अपने विचाररूपी पतली रस्सीको और अन्तमें प्राणरूपी मोटे रस्सेको हस्तगत कर लेते हैं जिसे वशमें करके हम मुक्त हो जाते हैं।'

सूक्ष्म प्राण—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना; मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार; रेचक, पूरक और कुम्भक—कुण्डलिनी।

संसारमें यदि सबसे अद्भुत कोई वस्तु है तो हमारा यह मानवदेह है। इसी शरीरके द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत्‌के अनेक चमत्कारोंका हमें पता लगा है, इसीलिये हम इसे आश्चर्योंका आश्चर्य कहते हैं। निर्वाणसुख, निर्विकल्प समाधि अथवा भगवत्प्राप्ति भी जिन्हें हुई है वह इसीसे हुई है, चाहे हम इसके दोषों और दुष्परिणामोंकी कितनी ही निन्दा और गर्हणा करें। योगीलोग इस शरीरको एक सात मंजिले मकानकी उपमा देते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार—ये इसकी सात मंजिले हैं और अनन्त शिराओंके जालरूप तार इसमें लगे हैं। इन शिराओं अथवा नाड़ियोंमें इडा और पिङ्गला ये दो नाड़ियाँ मुख्य हैं। ये मेरुदण्डके उभयपार्श्वमें नद्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक भीतरसे पोली नली और है जो सुषुम्ना कहलाती है और मेरुदण्डके भीतर होकर गयी है। इस नलीके नीचेके सिरेसे लगा हुआ मूलाधार चक्र है जहाँ कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है और ऊपरके सिरेसे सटा हुआ सहस्रारचक्र अर्थात् हजार दलका कमल है जो ज्ञानका आयतन है। प्राणशक्ति निरन्तर इडा और पिङ्गला नाड़ियोंमेंसे होकर प्रवाहित होती रहती है। योगी यदि किसी साधनविशेषसे प्राणको सुषुम्ना नाड़ीके नीचेके द्वारमेंसे निकाल ले जाय, जो मुँदा हुआ है, तो उसकी कुण्डलिनी शक्ति, जो सदा सोयी रहती है, जागृत होकर धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ताके साथ जीवनके ध्येयकी ओर अग्रसर होती है और सहस्रारमें जाकर परमात्मासे मिल जाती है। इस स्थितिमें साधकको बहुत-से विचित्र आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। इस तुरीयावस्थारूप परम ध्येयको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे योगी प्राणायामका अभ्यास करता है, जिसका प्रारम्भिक स्वरूप पूरक अर्थात् श्वासको भीतर ले जाना, कुम्भक अर्थात् श्वासको रोकना और रेचक अर्थात् श्वासको बाहर निकालना है, और क्रमशः श्वास, नाड़ी और विचारके प्रवाहको संयतकर अन्तमें सूक्ष्म प्राणको अधीन करनेमें समर्थ होता है और इस वशमें किये हुए प्राणकी सहायतासे वह जगत्‌के मायारूप भ्रमजालको छिन्न-भिन्न कर देता है। परन्तु प्राणायामके इस विशिष्ट साधनको प्रारम्भ करनेके पूर्व साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह योगके चार मुख्य अङ्गोंकी पूर्ति कर ले। वे हैं ब्रह्मचर्य, किसी सिद्ध योगीके तत्त्वावधानमें रहना, अनुकूल संग और हित भोजन, जिसमें अधिक नमकीन, अधिक मीठी अथवा कोई खट्टी, कड़वी और नशीली चीज न हो। इन प्रारम्भिक नियमोंका पालन न होनेपर साधकको भयङ्कर हानि उठानी पड़ती है, जो उन्माद, हृद्रोग, श्वास और इसी प्रकारके अन्य दुष्ट रोगोंके रूपमें प्रकट हो सकती है। प्राणायामका विधि-पूर्वक अभ्यास करनेसे तो कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती ही है, किन्तु प्राणायामके अतिरिक्त बहुत-से अन्य उपाय भी हैं जो मनुष्यकी सुप्त शक्तिको जगानेमें निसर्गतः समर्थ हैं। दार्शनिकोंकी सूक्ष्म सङ्कल्पशक्तिसे, भगवत्प्रेमसे और सिद्ध महापुरुषोंकी दयासे भी यह कार्य हो सकता है।

निर्वाण अथवा समाधिके मार्गमें अनेकों विघ्न भी हैं। इनमें सबसे बड़ा विघ्न सिद्धियोंकी प्राप्ति है, जिनका लुभावना और चित्ताकर्षकरूप साधकको चौंधिया देता है। सच्चे साधकको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंके जादूमें न आवे और अपने आध्यात्मिक जीवनकी नौकाको निर्वाणके सुखद एवं निरापद तीरपर ही ले जाकर विश्राम ले।

शरीर और मनके बीच सनातन कालसे परस्पर सम्बन्ध चला आया है। शरीरका प्रभाव मनपर पड़ता है और मनका शरीरपर। इसीलिये मनको सूक्ष्म शरीर और शरीरको स्थूल मन कहते हैं। हमलोगोंका यह प्रतिदिनका अनुभव है कि पूजा, जप, ध्यान आदिके अभ्याससे जब मन ऊपरको उठता है तब शरीरमें भी स्फूर्ति, उत्साह और बल आ जाता है और रोगी होनेपर भी वह अपनेको रोगमुक्त अनुभव करता है। इसी प्रकार जब शरीर स्वस्थ और नीरोग होता है उस समय मन भी शान्त और समाहित हो जाता है। यह बात साधारण लोगोंमें देखी जाती है। कुछ इने-गिने लोग ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे जर्जरित एवं आकस्मिक दुर्घटनाओंका शिकार होनेपर भी वे प्रकृतिस्थ और शान्त बने रहते हैं और उनका चित्त प्रशान्त महासागरकी भाँति सदा अक्षुब्ध एवं स्थिर रहता है। परन्तु साधारणतया यह देखनेमें आता है कि एकका असर दूसरेपर पड़ता ही है। स्वास्थ्यके सम्बन्धमें तो चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और शरीरमर्मज्ञोंके अनेक परस्परविरोधी मत हैं। इन लोगोंका जो कुछ भी मत हो, योगियोंकी धारणा तो यह है कि शरीरमें प्राणोंका विभाग उचित अनुपातमें न होनेके कारण रोग होते हैं। इसीलिये व्याधिनाशके लिये योगी लोग शरीरके जिस भागमें प्राण आवश्यकतासे अधिक होता है वहाँसे निकालकर जहाँ उनकी कमी होती है वहाँ ले जाते हैं। ध्यानसे हमें शरीरमें प्राणका अनुपात ठीक रखनेमें सहायता मिलती है और इससे साधकका शरीर बिलकुल स्वस्थ रहता है। परन्तु जब साधकको योगकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब वह शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंके आक्रमणको तथा प्राणशक्तिके व्ययसे होनेवाली क्षीणताको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है। योगशास्त्र कहता है—

न तस्य मृत्युर्न जरा न व्याधिः
प्राप्तं हि योगाग्निमयं शरीरम्।

अर्थात् जिसने योगाग्निमय शरीर प्राप्त कर लिया वह जरा, मृत्यु और व्याधिके पाशसे मुक्त हो जाता है।

पद्मासन, सर्वाङ्गासन आदि कई क्रियाएँ और आसन ऐसे हैं जिनकी सहायतासे अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर स्वच्छ और निर्मल रहता है। हठयोगी नित्य प्रातःकाल एक ऐसी क्रिया करते हैं जिसे नेती-धोती कहते हैं। इस क्रियाके द्वारा योगी एक लम्बे कपड़ेके टुकड़े तथा गगरों पानीकी सहायतासे पेट तथा मुख्य-मुख्य नाड़ियोंका शोधन करते हैं। देशी वैद्योंका भी कहना है कि इस अद्भुत क्रियासे अनेक रोग, जो देखनेमें असाध्य प्रतीत होते थे, अच्छे होते देखे गये हैं। यह महान् शोककी बात है कि हठयोगियोंकी शरीरके संसर्गमें रहते-रहते शरीरमें दृढ़ आसक्ति हो जाती है और वे लोग जीवनके लक्ष्यकी ओर जरा भी आगे नहीं बढ़ पाते। यद्यपि शरीरकी इस हदतक सेवा और साधना अवश्य करनी चाहिये कि जिससे नैसर्गिक व्याधियोंसे वह मुक्त रहे परन्तु स्मरण रहे, शरीरकी स्वस्थता ही हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य न बन जाय। पञ्चमहाभूतोंके संघातसे शरीरकी रचना हुई है, अतः कालात्ययसे उन भूतोंका वियुक्त होना अवश्यम्भावी है। अतः केवल शरीरकी ही सँभालमें तल्लीन हो जाना कदापि अभीष्ट नहीं है। मनुष्यको साथ-ही-साथ आध्यात्मिक साधना भी करते रहना चाहिये और निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म जगत्से ऊपर उठने तथा निर्वाण अथवा निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें आरूढ होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये, जहाँ पहुँचकर मनुष्य इस भौतिक जगत्में नहीं लौटता और जहाँ शाश्वत शान्ति तथा सुखका साम्राज्य रहता है। यही जीवनका परम ध्येय है।
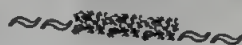
योगमार्गके विघ्न

(लेखक—वैद्यशास्त्री पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्।

'समाधिकालमें विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं।' योगीको चाहिये कि उन विघ्नोंका धीरे-धीरे त्याग करे। भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(समाधिपाद ३०)

'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—यह नौ चित्तके विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेके पहले जानना आवश्यक है।

शरीरको धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण धातु नामको प्राप्त हुए वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थोंके परिणामस्वरूप रसकी न्यूनाधिकता और मनसहित एकादश इन्द्रियोंके बलकी न्यूनाधिकताको व्याधि अथवा रोग कहते हैं। व्याधि होनेपर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करनेके उपायोंमें लगी रहती है। इससे वह योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसी कारण व्याधिकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

अजीर्ण, नींदकी खुमारी, अति परिश्रम प्रभृतिसे ब्रह्माकारवृत्तिका अभाव हो जाता है। अजीर्ण आदि लयके कारणरूप विघ्नोंके निवारण करनेके लिये पथ्य और लघु भोजन करनेसे और प्रत्येक व्यवहारमें युक्ति तथा नियमके अनुसार चलनेसे एवं उत्थानके प्रयत्नद्वारा चित्तको जाग्रत् करनेसे यह विघ्न दूर होते हैं। इस विषयमें श्रीकृष्णभगवान्‌ने भी अर्जुनके प्रति कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(गीता ६।१६)

'जो अधिक भोजन करता है, जो बिलकुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है तथा जो बहुत जागता है, उसके लिये हे अर्जुन योग नहीं है।' बल्कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६।१७)

'जो नियमपूर्वक भोजन करता है, नियमित विहार करता है, कर्म करनेमें भी नियमपूर्वक रहता है, जागना और सोना भी जिसका नियमपूर्वक होता है, उसके लिये योग दुःखका नाश करनेवाला होता है।'

योगसाधनकी इच्छा होनेपर देश-कालादिकी विपरीतताकी कल्पना करके योग-साधनकी प्रवृत्तिमें जो चित्तकी असमर्थता होती है उसे स्त्यान कहते हैं। देशकालादिकी कल्पित विपरीतताको दूर करनेमें सामर्थ्यरहित चित्तकी यह अयोग्यता भी योगमें प्रवृत्त होने नहीं देती। इसलिये यह भी योगमें विघ्नरूप है।

यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकारकी है? इस प्रकारका परस्परविरोधी और उभयकोटिको विषय करनेवाला विज्ञान संशय कहलाता है। 'योग होता है या नहीं?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योगसाधनकी जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य?' 'योगका फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ?' 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिलाभ तथा कैवल्यप्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं?' 'योगका परिणाम कैवल्य सत्य है या यह कल्पनामात्र है?'—इस प्रकारके अनेकों विरोधी तथा उभयकोटिको विषय करनेवाले ज्ञानको संशयरूप समझना चाहिये। इस प्रकारके संशय मनुष्यको कभी भी योगमें निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते। अतः ये योगके प्रबल विरोधी हैं। अतद्रूप-प्रतिष्ठत्व अर्थात् अपने वास्तविक रूपमें स्थिर न होनेसे संशय और भ्रान्तिदर्शनके अभेद होनेपर भी उभयकोटिके स्पर्श और अस्पर्शरूप अवान्तरभेद कहनेकी इच्छासे ही उनका भेद कहा जाता है। इसलिये संशयका नाश कर भ्रान्तिदर्शनमें भी श्रीसद्गुरुके वचन और शास्त्रप्रमाणमें श्रद्धा रखनी चाहिये।

समाधि-साधनमें प्रयत्न न करना अथवा उसमें उदासीनता रखना प्रमाद कहलाता है।

कफादिके द्वारा शरीरके भारी होने तथा तमोगुणके

द्वारा चित्तके भारी होनेसे भी योग-साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ही आलस्य कहते हैं।

प्रमाद और आलस्य, ये दोनों यमादि योगसाधनमें साधककी प्रवृत्ति नहीं होने देते। इसलिये ये दोनों योगमें विघ्नरूप हैं।

विषयके समीप रहनेसे विषय-स्थित दोषोंके अत्यन्त विस्मरणके द्वारा विषय-भोगकी चित्तमें जो तीव्र इच्छा (तृष्णा) होती है उसे अविरति अथवा अवैराग्य कहते हैं।

विषय-तृष्णा योगकी प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्तिको अन्तर्मुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यत्नपूर्वक वृत्ति अन्तर्मुखी होती भी है तो फिर अल्प समयमें ही विषयोंके स्फुरणद्वारा चित्तको क्षुब्ध करके उसे बहिर्मुख कर देती है। स्मृति भी यही कहती है—

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'यतियोंका संगरहित रहना मुक्तिका स्थान है, संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारूढ़ भी संगसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं, फिर अल्प सिद्धिवाला अपक्व योगी यदि संगसे अधोगतिको प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?'

विषय-तृष्णामें दोषदृष्टि करनेसे यह विघ्न दूर होता है। जिस प्रकार लड्डूमें विष डाला गया है—यह बात जान लेनेपर भूखा भी उसके खानेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन और सद्गुरुके उपदेशके द्वारा विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर उनके भोगनेकी इच्छा नहीं होती।

सद्गुरु तथा योगशास्त्रोंके द्वारा उपदिष्ट योगसाधनमें असाधनत्वबुद्धिको भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विपरीतज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्तिके कारण साधकको योगमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओंमें किसी भी भूमिकाका अभ्यास करते रहनेपर भी किसी कारणसे उसका प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। अलब्धभूमिकत्व भी साधकके चित्तको असन्तोषके द्वारा बहिर्मुख रखनेके कारण योगमें विघ्नरूप है।

मधुमती आदि योगकी भूमिकाओंमें किसी भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर भी विस्मय अथवा कर्तव्यके विस्मरण या अज्ञानके द्वारा उसमें चित्तको सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योगकी किसी भूमिकाके प्राप्त होनेपर, इसीसे भलीभाँति स्थिरता हुई है, किसी कारणसे ऐसा मान लिया जाय और उससे आगेकी सुस्थिरताके लिये प्रयत्न नहीं किया जाय तो उसको उत्तर भूमिकाकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही उस भूमिकासे भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिकामें अपने चित्तको सुस्थिर करनेके लिये साधकको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करनेसे उस भूमिकामें चित्तकी अस्थिरता रहती है, और वह भी योगमें प्रतिबन्धक होती है।

चित्तको विक्षिप्त करनेवाले ये नौं योगमल योगके विघ्न कहलाते हैं। संशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियाँ भी वृत्तिनिरोधरूप योगकी विरोधिनी हैं। और व्याधि आदि वृत्ति न होनेपर भी वृत्तियोंके साहचर्यसे योगमें बाधक हैं।

केवल ये नौ ही योगके विघ्न नहीं हैं। बल्कि चित्तके विक्षेप करनेवाले इन विघ्नोंके साथ दुःखादि अन्य विघ्न भी हैं। भगवान् पतञ्जलि उनका भी नाश करनेके लिये कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधि० ३२)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होनेवाले दुःखादिकी निवृत्तिके लिये एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें भी कहा है।

तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥

'जबतक एक तत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनको पूर्णरूपसे जीत नहीं लिया जाता तबतक अर्द्धरात्रिमें नृत्य करनेवाले वेतालोंके समान वासनाएँ हृदयमें नृत्य करती रहती हैं।'

इस प्रकार अनेक विघ्न योगीके समाधिमें विघ्नरूपसे आते हैं; अतएव उनको हटानेका धीरे-धीरे यत्न करना चाहिये।

इस विषयका एक दृष्टान्त है। एक चरवाहेको रखवाली करनेके लिये दी हुई एक बछिया जंगलमें भटकती है और भटकनेकी आदत सीखती है। पीछे

जब वह गाभिन हो जाती है तब कुछ खिलानेका लालच देकर उसे लोग घर ले आते हैं। पर उसको भटकना छोड़कर घरपर रहना अच्छा नहीं लगता, और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़कर लायी जाती है। ऐसा करते-करते जब वह ब्याती है तब अपने बछड़ेके प्रेमपाशमें ऐसी बँध जाती है कि फिर लाठीसे मारकर बाहर निकालनेपर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी बछिया संसाररूपी जंगलमें भटकती है और विषयभोगरूपी कुटेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होनेपर जब वह मुमुक्षारूप गर्भ धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न होता है, तथा ध्यानादि क्रियाओंके द्वारा उसे रसरूपी भोजन प्राप्त होता है। तथापि भटकनेकी आदत होनेके कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परन्तु बुद्धिको जब समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वत्स उत्पन्न होता है तब उसके प्रेममें निमग्न होकर वह किसी भी दु:खरूपी प्रहारसे घबराकर घर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी बहिर्मुख नहीं होती। इस प्रकार दोषोंको निवृत्तकर निरोधप्रयत्नके द्वारा निश्चल किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलतासे विषयाभिमुख होकर बाहर जाय तो उसे फिर निरोधप्रयत्नसे ब्रह्ममें लगावे। इस प्रकार ब्रह्ममें एक हुआ चित्त लय तथा स्तब्ध अवस्थामें नहीं जाता, शब्दादि विषयाकार वृत्तिका अनुभव नहीं करता तथा रसका भी आस्वादन नहीं करता। यह निवात प्रदेशमें दीपशिखाके समान अचल होकर किसी भी विषयके आकारको न धारणकर केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि है। यह अद्वैतभावनारूप वृत्ति भी केवल शुद्ध सात्त्विक होनेपर ब्रह्मका अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती है। इसलिये योगाभ्यास करनेवालेको इन सब विघ्नोंके दूर करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'**—श्रेयस्कर कार्यमें अनेकों विघ्न आते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। इसलिये विघ्न करनेवाले उपकरणोंमें लोभवश न फँसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये, क्योंकि वे बलपूर्वक फँसाते हैं।

ॐ तत्सत्

श्रीकुण्डलिनी-शक्तियोग

(लेखक—पं० श्रीत्र्यम्बक भास्करशास्त्री खरे)

पाश्चात्त्य शिक्षाकी चमक-दमकसे चौंधियायी हुई जनताकी योगशास्त्रविमुख बुद्धि कुछ कालसे परमहंस स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, स्वामी कुवलया नन्द, श्रीयोगीन्द्र आदिके प्रयत्नसे और पाश्चात्त्य तत्त्ववेत्ताओंके उद्गारोंसे पुन: योगशास्त्रकी ओर झुकने लगी है और कुछ लोगोंकी समझमें यह आने लगा है कि इस शास्त्रमें कुछ है।

२ योगशास्त्रमें जो अनेक गूढ़ विषय हैं उनमें श्रीकुण्डलिनी-शक्ति गूढ़तम विषय है। योगशास्त्रके प्रथम सोपानसे अन्तिम सोपानतक चढ़ जानेके पश्चात् ही इस शक्तिका अनुभूत ज्ञान प्राप्त होता है।

३ ऐसे क्लिष्ट और गूढ़ विषयपर लिखनेका प्रयोजन यह है कि अबतक इस विषयपर साङ्गोपाङ्ग और अनुभवसिद्ध विवरण हिन्दी भाषामें ग्रथित किया हुआ कहीं भी देखनेमें नहीं आया। इसलिये अनेक ग्रन्थोंमें अनेक सम्प्रदायोंके सिद्ध पुरुषोंकी सिद्धवाक्सरिताओंमें जिन्होंने अवगाहन किया है—सिद्धवचन पढ़े और सुने हैं और उन्हें अनुभव करनेका महल्लाभ जिन्हें प्राप्त हुआ है ऐसे एक सत्पुरुषसे इस विषयमें जो कुछ बातें मालूम हुई हैं, उन्हींको एकत्र करके प्रबुद्ध साधकोंके उपयोगार्थ प्रकाशित करनेसे उपकार होगा, ऐसा समझकर ही यह प्रयास किया जाता है।

४ इतना कष्टसाध्य कार्य करनेकी योग्यता प्रस्तुत लेखकमें नहीं है। कारण, सदा-सर्वदा प्रापञ्चिक उपाधियोंमें अटके रहनेका ही उसका व्यवसाय है। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा यह काम कहाँतक बन सकेगा, इसका कोई भरोसा नहीं। इसलिये आगे जो कुछ लिखा जायगा वह यदि पाठकोंको नीरस जान पड़ा और मनको विचारशून्य अज्ञात जगत्में प्रवेश करानेमें सर्वथा अयोग्य ही जँचा तो इससे मुझे कुछ भी विषाद न होगा।

परन्तु यदि इसमें कोई तथ्य देख पड़ा तो यह श्रीगुरु-मैयाकी दया है, मेरा उसमें कुछ भी नहीं।

५ विवेचनके सुभीतेके लिये इस विषयके यहाँ पाँच विभाग किये जाते हैं—

(१) वेद, आगम, उपनिषद्, पुराण और साधु-सन्तोंके वचनोंमें आया हुआ कुण्डलिनी-वर्णन।

(२) कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन।

(३) योग और योगके विभागोंका वर्णन।

(४) अभ्यासक्रम, ध्यानप्रकार।

(५) कुण्डलिनी-साधनके फल।

अवतरण

यत्कुमारी मन्द्रयते यथोविद्य पतिव्रतो अरिष्टं यत्किञ्च क्रियते अग्निस्तदनुवेधति। (यजुर्वेद)

कुण्डलिनीशक्तेरवस्थात्रयं विद्यते। यद्यस्मिन् चक्रे कुमारी कुमारावस्थामापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रं स्वरं करोति।

पुरः हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशो पराजिता।

(यजुर्वेद)

अपराजिता कुण्डलिनीशक्तिः षट्चक्राणि भित्त्वा भूयो भूयः प्रविशति।

(सौन्दर्यलहरी—लक्ष्मीधरव्याख्या)

कुण्डले अस्याः स्तः इति कुण्डलिनी।

मूलाधारस्थ वह्न्यात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी॥
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः॥
शक्तिः कुण्डलिनीनाम विसतन्तुनिभा शुभा।

(योगकुण्डल्युपनिषद्)

विसतन्तुस्वरूपां तां बिन्दुत्रिवलयां प्रिये।

(ज्ञानार्णव तन्त्र)

पराशक्तिः कुण्डलिनी विसतन्तुतनीयसी।

(ललितासहस्रनाम)

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननीव्यापारबद्धोद्यता।

(लघुस्तुतिः)

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये॥
विसतन्तुस्वरूपां तां बिन्दुत्रिवलयां प्रिये।

(ज्ञानार्णवतन्त्र)

यदोल्लसति शृंगारपीठात् कुटिलरूपिणी।
शिवार्कमण्डलं भित्त्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्॥

(वामकेश्वर तन्त्र)

अष्टधा कुण्डलीभूतामूर्ध्वीं कुर्यात्तु कुण्डलीम्।

(योगशिखोपनिषद्)

कला कुण्डलिनी चैव नादशक्तिसमन्विता।

(षट्चक्रनिरूपणम्)

मूलाधार आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥

(घेरण्डसंहिता)

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अधोमुखसर्पिणी निदेली असे।..........................
विद्युल्लतेची विडी। वह्नि ज्वालां ची घडी।
पंधरेया ची घोटीव जैशी।

(श्रीज्ञानेश्वरी अ० ६। २२२—२२४)

मग कुंडलिनी येचा टेंभा। आधारीं केला। उभा।
तिया चोजविलिया प्रभा। निमथावेरी॥

(श्रीज्ञानेश्वरी अ० १२। ५१-५२)

मग शक्ति जे कां कुंडलिनी। आदि माया विश्वसंजीवनी।
शरीर मात्रीं असे निजोनी। परी शरीर चालवी स्वसत्ता॥
मग जेवि काते नागाचें पिलें। कुंकुम केशरीं सर्वांगीं न्हाणलें॥
नातरीते विद्युल्लते ची विडी। कीं ते अग्नि ज्वाळांची केवळ घडी॥
नातरी बावन कसाची चोखडी। पुतळी ओतिली॥

(स्वानुभवदिनकर कलाप १)

६ भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें बिखरे पड़े असंख्य वचनोंसे कुछ थोड़े-से ही वचन ऊपर उद्धृत किये हैं, इन वचनोंसे, कुण्डलिनी क्या है, इसका ऊहापोह करना विचारा है। वस्तुतः यह योगशास्त्रका विषय है। योगशास्त्र प्रयोगसिद्ध शास्त्र है। इसमें जिन बातोंका विवरण है वे सब अनुभवजन्य हैं। जिन सिद्धपुरुषोंको कुण्डलिनी-शक्ति जैसी अनुभूत हुई वैसा ही उन्होंने उसका वर्णन किया है। आज भी यदि कोई अभ्यास करे उसे ये ही अनुभव प्राप्त हो सकते हैं।

७ समष्टि-सृष्टिकी कुण्डलिनीको महाकुण्डलिनी

कहते हैं और उसीके व्यष्टि—व्यक्तिमें व्यक्त होनेपर उसे कुण्डलिनी कहते हैं। सम्पूर्ण जगत्‌को जो चलाती है वह अव्यक्त कुण्डलिनी है और व्यष्टिरूप जीवको चलानेवाली व्यक्त कुण्डलिनी है। जो ब्रह्माण्डमें है सो ही पिण्डमें है, यह बात प्रसिद्ध ही है। **'कुण्डले अस्या स्त' इति कुण्डलिनी। 'कुण्डले'** अर्थात् दो कुण्डल—इडा और पिंगला। बायीं ओरसे बहनेवाली नाडी है वह इडा और दायीं ओरसे बहनेवाली पिंगला। इन दो नाडियोंके बीचमें जिसका प्रवाह है वह है सुषुम्ना नाडी। इस सुषुम्ना नाडीके अन्तर्गत और भी नाडियाँ हैं, जिनमें एक चित्रिणी नामकी नाडी है। इसी चित्रिणी नाडीमेंसे होकर कुण्डलिनी-शक्तिका रास्ता है। इसलिये इस सुषुम्ना नाडीकी दोनों ओरसे बहनेवाली उपर्युक्त दो नाडियाँ ही पहले दो कुण्डल हैं।

८ कुण्डलिनी-शक्तिके व्यक्त होनेके साथ वेग उत्पन्न होता है। उससे जो पहला स्फोट होता है उसको नाद कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप महाबिन्दु है। नादके तीन भेद हैं—महानाद, नादान्त और निरोधिनी। बिन्दुके भी तीन भेद हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया; सूर्य, चन्द्र और अग्नि; ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जीव-सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाला जो नाद है वही ॐकार है, उसीको शब्दब्रह्म कहते हैं. ॐकारसे बावन मातृकाएँ उत्पन्न हुईं। इनमें पचास अक्षरमय हैं, इक्यावनवीं प्रकाशरूप है और बावनवीं प्रकाशका प्रवाह है। यह बावनवीं मात्रा वही है जिसे सतरहवीं जीवन-कला कहते हैं। उपर्युक्त पचास मातृकाएँ लोम और विलोमरूपसे सौ होती हैं। ये ही सौ कुण्डल हैं। इन कुण्डलोंको धारण किये हुईं मातृकामयी कुण्डलिनी है। इस कुण्डलिनी-शक्तिसे चैतन्यमय जीव देहेन्द्रियादियुक्त जीवरूप धारण करते हुए प्राणशक्तिको संग लिये स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोषका स्वामी होता है।

९ इस जीवको जीवत्वकी चेतना सहस्रार चक्रसे अनाहतमें अर्थात् हृच्चक्रमें आनेपर होती है। सहस्रार चक्रमें अव्यक्त नाद है, वही आज्ञाचक्रमें आकर ॐकाररूपसे व्यक्त होता है। इस ॐकारसे उत्पन्न होनेवाली पचास मातृकाओंकी अव्यक्त स्थितिका स्थान सहस्रार चक्र है। इस स्थानको अकुल स्थान कहते हैं। यही श्रीशिव-शक्तिका स्थान है। श्रीशिव-शक्ति अर्धनारीनटेश्वर हैं—शक्ति व्यक्त और शिव अव्यक्त हैं। इस अकुल स्थानसे उत्पन्न होनेवाली जो-जो मातृकाएँ जिस-जिस स्थानमें व्यक्त हुईं उन-उन मातृकाओं और उनके उन-उन स्थानोंको लोम-विलोमरूपसे नीचे दरसाते हैं—

क्षं

अं	—अकुल—	ळं
आं	—महाबिन्दु—	हं
इं	—उन्मना—	सं
ईं	—समना—	षं
उं	—व्यापिका—	शं
ऊं	—शक्ति—	वं
ऋं	—नादान्त—	लं
ॠं	—नाद—	रं
लृं	—रोधिनी—	यं
ॡं	—अर्धचंद्रिका—	मं
एं	—बिन्दु—	भं
ऐं	—आज्ञा—	बं
ओं	—अंतराल—	फं
औं	—लम्बिका—	पं
अं	—विशुद्धि—	नं
अः	—अंतराल—	धं
कं	—अनाहत—	दं
खं	—अंतराल—	थं
गं	—अंतराल—	तं
घं	—मणिपूर—	णं
ङं	—स्वाधिष्ठान—	ढं
चं	—आधार—	डं
छं	—विषुव—	ठं
जं	—कुलपद्म—	टं
झं	—कुला—	ञं

पार्श्वमें दरसाये पचीस स्थानोंके सम्बन्धमें लोम-विलोमात्मक श्लोक नीचे देते हैं। यह एक माला ही है और यह माला फेरते हुए जप करनेसे पुरश्चरणका फल बताया है। कारण, इस मालासे जप करनेसे वृत्तिका इधर-उधर भटकना असम्भव हो जाता है। अस्तु।

लोमश्लोक

आधारनादसूत्रेण ध्यायेद् वर्णमणीन् क्रमात्। अकुलं च महाबिन्दुः उन्मना समना तथा॥
व्यापिका शक्तिनादान्तनाद-रोधार्धचन्द्रिका। विन्दुराज्ञा ततश्चैकं लम्बिकाथ विशुद्धिका॥
एकं ततोऽनाहतं द्वे मणिपूरं तथैव च। स्वाधिष्ठानाधारके च विषुसंज्ञं कुलं तथा॥ कुलाथ चेति स्थानानां पञ्चविंशतिसंख्यका॥

विलोमश्लोक

कुलाथ कुलपद्मं च विषुवाधारसंज्ञकम्। स्वाधिष्ठानं मणिपूरमन्तरालद्वयं तथा॥
अनाहतं चान्तरालं विशुद्धिश्चाथ लम्बिका। अन्तरालाज्ञा च बिन्दुरर्धचन्द्रा च रोधिनी॥
नादो नादान्तशक्तिश्च व्यापिका समना तथा। उन्मना च महाबिन्दुरकुलं च विलोमतः॥

चित्र नम्बर (१) में, भ्रूमध्यमें 'हं' 'सं' (क्षं)

'सोऽहं' मन्त्रके दो बीज दिखाये हैं। इनके अन्तर्गत, ॐकार बीजसे पहले स्वरोत्पत्ति, पीछे व्यञ्जनोत्पत्ति हुई। भ्रूमध्यगत आज्ञाचक्रके नीचे विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधारचक्रोंमें क्रमसे इस वर्णोत्पत्तिका क्रम दिखाया है। इससे यह सिद्ध है कि इन चक्रोंमेंसे ही मातृकात्मक स्वरमाला और वर्णमाला उत्पन्न हुई। इस चित्रमें यह दिखाया गया है कि विशुद्धाख्य चक्रके समीप रुद्रग्रन्थि, मणिपूरके समीप विष्णुग्रन्थि और मूलाधारके समीप ब्रह्मग्रन्थि है।

१० इन मातृकाओंके स्थान जीवके शरीरमें कहाँ-कहाँ किस प्रकार हैं, यह आगे बतलाते हैं—

अ, आ, कवर्ग, ह—कण्ठस्थान।

इ, ई, चवर्ग—तालुस्थान।

ऋ, ॠ रवर्ग—मूर्धास्थान।

ऌ, ॡ, तवर्ग, ल, स—दन्तस्थान।

उ, ऊ, पवर्ग—ओष्ठस्थान।

इन उत्पत्तिस्थानोंको बताते हुए मूलाधार, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि,ये नाम नहीं दिये हैं। बात यह है कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इन चार वाणियोंके स्थान मूलाधारसे बताये जाते हैं। शब्दोत्पत्तिके स्थान इस प्रकार बतानेपर भी अनुभव इससे भिन्न है।

११ वैखरी वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण। इस वैखरी वाणीका मूलस्थान परा वाणी है। शब्द पहले परा वाणीसे उठता है। पहले मनमें वृत्ति उठती है, तब वृत्तिसदृश विचार उत्पन्न होता है। विचार प्रकट करनेका मूलस्थान परा वाणी है। विचार सूक्ष्म शब्दमें आता है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं। पश्यन्ती वाणीके शब्द नेत्रोंको दिखायी देने लगते हैं। ये शब्द जब अर्धवाक् और रसनाकी क्रियातक आते हैं तब वे मध्यमा वाणी हैं, और स्पष्ट शब्दोच्चार होनेपर वह बैखरी वाणी है। मन्त्रोंका उच्चार पहले मध्यमामें करे और 'पीछे वैखरीसे रामका नाम पहले ले'। समर्थ रामदास स्वामीकी इस उक्तिके अनुसार मध्यमामें अर्थात् कण्ठमें अस्पष्ट उच्चार करे और पीछे वैखरीसे स्पष्ट शब्द उच्चारे।

१२ सहस्रारके नीचे षोडशदल सोमचक्र है, उसके नीचे द्वादशदल मनश्चक्र है, उसीमें विचार उत्पन्न होनेका स्थान है। वह मूर्धास्थानके ऊपर है। ये चक्र सर्वमान्य योगमार्गके श्रीहाट, गोल्लाट और त्रिकूटचक्रोंके समीप ही हैं। मनश्चक्रकी नाडी मनोवहा या आज्ञावहा नलिका है। श्रवणेन्द्रियगोलक शब्दवहा नाडी, नेत्रेन्द्रियगोलक रूपवहा नाडी, वागिन्द्रिय गोलक रसवहा नाडी, प्राणेन्द्रियगोलक गन्धवहा नाडी, और स्पर्शेन्द्रियगोलक स्पर्शवहा नाडी है। ये नाडियाँ सहस्रार चक्रके आस-पास और मनोवहा नाडीके ऊपर हैं। श्रवणेन्द्रियगोलक यदि उपपन्न न हो अथवा नष्ट हो जाय तो वह प्राणी गूँगा होता है। ये सब नाडियाँ सहस्रार चक्रके आस-पास हैं, यह जो बात अभी कही उससे यह भी सिद्ध है कि इन ज्ञानेन्द्रियोंके स्थान सहस्रार चक्रमें ही हैं। किसी भूली हुई बातका स्मरण करने अथवा किसी बातका विचार करनेके लिये मनुष्य सिरपर हाथ रखकर, आँखें बन्द करके ऊपरकी ओर ही देखता है। इस तरहसे वह भूली हुई बातको याद करता है। आजकल ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं जिनसे विचारोंके फोटोतक खींचे जाते हैं। इनमें यही देखा जाता है कि विचार-मालिका सहस्रार चक्रसे बाहर निकल रही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि परा, पश्यन्ती वाणियोंके स्थान मूलाधारस्वाधिष्ठान नहीं, बल्कि सहस्रारके समीप ही हैं।

१३ मनश्चक्रका स्थान भ्रूमध्यके ऊपर पहले बता आये हैं। पर कुछ ग्रन्थोंमें मनश्चक्रका स्थान अनाहतके समीप बताया है और यह मनश्चक्र आठ दलका है। इस प्रकार मनके दो भेद हैं—एक विचार करनेवाला मन और दूसरा विषयोंको अनुभव करनेवाला मन। इस दूसरे मनकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह अब देखें।

१४ वामकेश्वरतन्त्रमें यह वर्णन है कि मस्तकमें जैसा सहस्रारचक्र है वैसा ही सहस्रारचक्र मूलाधारमें भी है और कुण्डलिनी जिस स्वयम्भू लिङ्गको लपेटकर बैठी है वह स्वयम्भू लिङ्ग इसी मूलाधारके सहस्रारमें है। ऊपर स्तम्भ ९ में जिस रुद्रग्रन्थि और ब्रह्मग्रन्थिका उल्लेख हुआ है उनके विषयमें इस तन्त्रमें यह कहा है कि रुद्रग्रन्थि मूलाधारके समीप है और ब्रह्मग्रन्थि विशुद्धाख्यके समीप। इसी प्रकार इस वामकेश्वर-तन्त्रके अनुसार जो चित्रपट तैयार किया है उसमें मूलाधारमें 'वँ शँ षँ सँ' इन बीजोंके बदले 'अ आ इ ई' बीज आते हैं। इसके बाद स्वाधिष्ठानमें 'उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ' बीज आते हैं और यही अनुक्रम आगे चलता है और आज्ञाचक्रमें 'ह क्ष' बीज आते हैं। (चित्रपट नं० २ देखिये।) इस चित्रपटके अनुसार परा
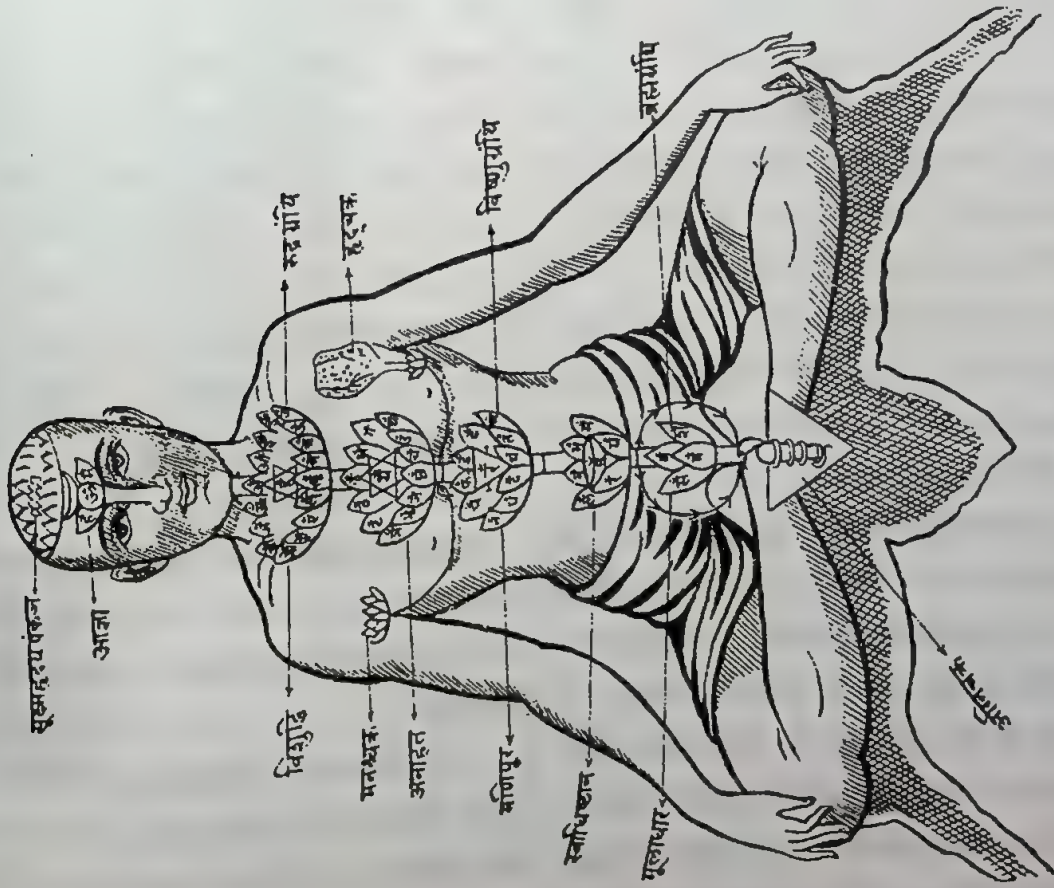
षट्चक्र [चित्र नं० १]
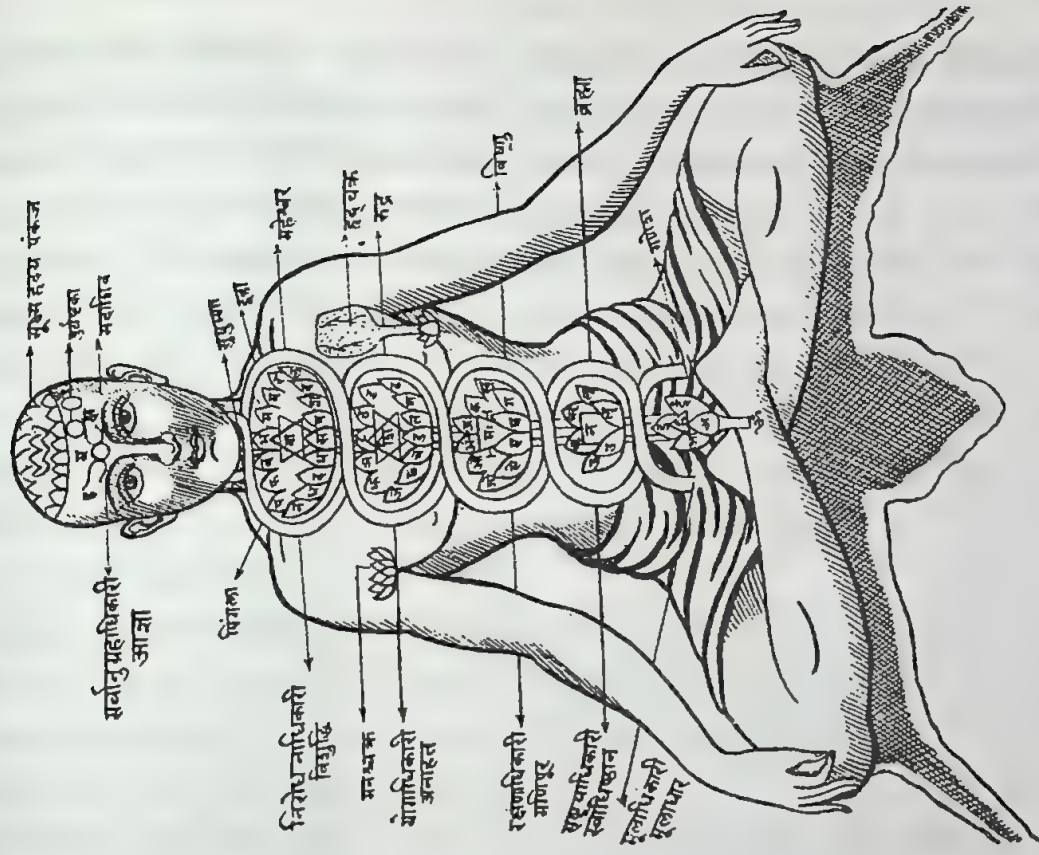
षट्चक्र [चित्र नं० २]

वाक् मूलाधारमें, पश्यन्ती मणिपूरमें, मध्यमा अनाहतमें और वैखरी विशुद्धिमें, यह क्रम है। और अनाहतचक्रके समीप अष्टदल मनश्चक्र है। इस सम्बन्धमें ऐसी कल्पना की जा सकती है कि जैसे श्रीबदरीनारायणके रास्तेमें गुप्तकाशी और गुप्तप्रयाग स्थान हैं और फिर नीचे उतरनेपर पुनः काशी और प्रयाग नामके तीर्थ-स्थानोंके दर्शन होते हैं, वैसे ही शिरोदेशगत सहस्रारसे कुण्डलिनी जब चली और चलकर अपने विश्रान्तिस्थान अर्थात् मूलाधारमें पहुँची तब वहाँ भी उसने सहस्रारकी भावना की। इसी प्रकार परा, पश्यन्ती वाणीकी भी भावना की गयी होगी।

१५ इस चित्रपट (नं २)-में और एक विशेषता यह है कि इसमें अधिष्ठान-देवता भी भिन्न हैं। दलोंके वर्ण इस चित्रपटमें नहीं बताये हैं। पञ्चमहाभूतोंका भी निर्देश इसमें नहीं है।

१६ **'जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** जीव ब्रह्मरूप ही है और तदनुसार जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। कुण्डलिनी-शक्ति जैसे ब्रह्माण्डमें है वैसे ही पिण्डमें है। 'पिण्डसे पिण्डका ग्रास' करना यह है कि कुण्डलिनीरूप पिण्ड देहरूप पिण्डका ग्रास करे। कुण्डलिनी जब जाग उठती है तब वह देहगत सब त्याज्य पदार्थ, कफ-पित्तादि दोष नष्ट कर डालती है; और वह जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब देहके चलन-वलनादि व्यापार बन्द हो जाते हैं। यही क्यों, हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण और नाडीकी गति भी बन्द हो जाती है, अन्तमें कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार-स्थित परम शिवसे जा मिलती है। इससे जीव अपना जीवत्व पीछे छोड़ शिवपदवीको प्राप्त होता है।

१७ कुण्डलिनी-शक्ति और प्राण-शक्ति साथ लेकर जीव इहलोककी यात्रा करनेके लिये माताकी कोखमें आता है। प्रारब्धकर्मको भोगनेके उपयुक्त अथवा प्रारब्धकर्मके अनुसार अन्धत्व-मूकत्वादि दोष भी संग लेकर आता है। छः महीनेतक तो जीव माताके आस-पास ही घूमा करता है। सांसारिक व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि मकानमालिक मकान तैयार होनेतक मकानके बाहर ही रहता है। इस प्रकार यह जीवेश्वर अपनी सङ्गिनी कुण्डलिनी और प्राणशक्तिके साथ मातृगर्भमें प्रवेश करता है। प्रवेश करते हुए, कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार चक्रमें अपना मुख्य स्थान नियत करती है और पीछे षट्चक्रोंमें तथा अन्यान्य सब रन्ध्रों और कुहरोंमें प्राणशक्तिके साथ प्रवेश करती है और अन्तमें स्वयम्भू लिङ्गको साढ़े तीन लपेटोंमें लपेटकर और लिपटकर बैठ जाती या सो रहती है। अथवा साम्यावस्थामें रहती है।

१८ सभी जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन्हीं तीन अवस्थाओंको अनुभव करते हैं। तुरीय-अवस्थाका ज्ञान और विज्ञान केवल योगियोंको होता है। इन तीन अवस्थाओंमें कुण्डलिनीकी स्थिति साम्यावस्थामें होती है और उसके द्वारा शरीर-धारणाका कार्य होता है। अव्यक्त **'सोऽहं'** शब्द ही कुण्डलिनीकी साम्यावस्था है। इस अव्यक्त **'सोऽहं'** शब्दकी अनुभूति आज्ञाचक्रमें होती है, और वही **'सोऽहं'** शब्द प्राणवायुके सहारे अनाहतचक्रमें पहुँचकर अनाहतचक्रकी प्रथम मातृका 'क' का सहारा पाकर **'कोऽहं'** शब्दमें परिणत होता है। आज्ञा-चक्रतकको अनुभव करनेवाला जीव आत्मस्वरूपको नहीं भूलता। परन्तु नीचे उतरनेपर नाना प्रकारके विषयोंमें लोलुप होकर वह **'सोऽहं'** के बदले **'कोऽहं'** कहने लगता है और आस-पासके लोगोंके साहचर्यसे विकृतज्ञान होकर **'देहोऽहं'** कहने लगता है और देहात्मवादी बनता है। **'अधःस्रोता वै जीवाः'** इस वचनके अनुसार सहस्रार चक्रके नीचे आकर अनाहतमें, अनाहतसे मणिपूरमें, फिर स्वाधिष्ठान और वहाँसे मूलाधारमें आकर प्राणशक्तिके सहारे पूर्ण जीवत्वको प्राप्त होता है। परन्तु यही जीव **'ऊर्ध्वस्रोता वै देवाः'** इस वचनके अनुसार स्वयम्भू लिङ्गको लपेटी हुई कुण्डलिनी-शक्तिको जागृत करके ऊर्ध्वगामी होकर देवत्वको प्राप्त होता है, स्वयं देवस्वरूप होता है।

१९ चिदाकाशमें **'एकोऽहं बहु स्याम्'** रूप स्पन्द हुआ। स्पन्दसे नाद उत्पन्न हुआ। नाद उत्पन्न होनेके लिये गतिको उत्पन्न होना पड़ता है। कहते हैं कि विद्युत्प्रकाश उत्पन्न होनेके समय विद्युत्कण विलक्षण

वेगसे घूमा करते हैं। उनकी गतिका यह वेग यदि नियमित हो तो वे अणुत्वको प्राप्त होते हैं। वक्र गतिसे और सरल गतिसे घूमनेवाले विद्युत्कण ही शब्दरूप गति हैं। यह शब्द सामान्य मनुष्यके श्रवणेन्द्रियको गोचर नहीं होता। तथापि जिनकी दिव्य श्रवणशक्ति जागृत हो चुकी है वे उस शब्दको सुनते हैं। यही क्यों, हमारी यह ग्रहमाला जिस विशिष्ट गतिसे अपने चारों ओर तथा सूर्यके चारों ओर घूमती है उस गतिसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्म ध्वनियाँ भी उस पुरुषको अनुभूत होती हैं जिसकी दिव्य श्रवणशक्ति जाग उठी है।

२० ऐसी ध्वनियाँ दो प्रकारकी हैं। एक अनाहत ध्वनि और दूसरी आहत ध्वनि। यों ही उत्पन्न होनेवाली आहत ध्वनिसे कोई अर्थोत्पत्ति नहीं होती। अनाहत ध्वनिका अर्थ है **'सोऽहं'** ध्वनि। यह ध्वनि पहले अव्यक्तरूपसे आज्ञाचक्रमें मनोऽनुभूत हुई, अनन्तर अनाहतचक्रमें जाकर श्रवणेन्द्रियका द्योतक हुई। परन्तु मात्रोत्पत्ति अनाहतचक्रपर अवलम्बित नहीं है।

२१ आज्ञाचक्रके **'सोऽहं'** ध्वनिमें जो ॐकार है उससे स्वर और व्यञ्जन उत्पन्न हुए। इन्हींको वर्ण अथवा अक्षर कहते हैं। भगवतीकी स्तुति करते हुए **'एकानेकाक्षरा-कृति'** कहा है। अक्षरोंसे पद हुए और पदोंसे वाक्य, और वाक्योंके समुदायसे भाषा। अर्थात् शब्द अक्षर यानी अविनाशी हैं। शब्दोच्चारके पूर्व वे थे, शब्दोच्चारके होते भी वे हैं और उच्चार हो चुकनेपर भी हैं। जैसे अँधेरेमें रखा हुआ घट प्रकाश होनेके पूर्व भी है, प्रकाश होनेपर भी है और प्रकाशके जानेपर भी है।

२२. **तडिल्लतासमरुचिर्विद्युल्लेखेव भास्वरा।**

× × × ×

तडिल्लेखा तन्वी तपनशशिवैश्वानरमयी।

—इत्यादि प्रकारसे ग्रन्थोंमें कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके पूर्व स्फोट हुआ अर्थात् महानाद उत्पन्न हुआ। परब्रह्मकी इच्छाशक्ति ही स्फोट है और महानाद उसकी क्रियाशक्ति है। नाद उत्पन्न होनेके लिये गतिका होना आवश्यक है और गतिके होते ही प्रकाश उत्पन्न होता है। उष्णताके बिना गति नहीं उत्पन्न होती। उष्णता, नाद और गति तीनों परस्परसापेक्ष हैं। जहाँ उष्णता होगी वहीं गति होगी और जहाँ गति होगी वहीं नाद होगा। उष्णताका दृश्यरूप प्रकाश है। महानादके साथ अक्षरोत्पत्ति हुई। परम शिवके डमरूसे 'अ इ उ ण्' अक्षर उत्पन्न हुए। अक्षर ही मातृकाएँ हैं। जो ब्रह्माण्डमें है सो ही पिण्डमें है—इस न्यायसे जीवकी उत्पत्तिके साथ नाद, अक्षर और प्रकाश उत्पन्न हुए। मातृकाओं अथवा अक्षरोंके साथ प्रकाशका साहचर्य अनिवार्य है। अर्थात् प्रकाश अक्षरोंमें अनुस्यूत है। **'पञ्च पञ्च उषः'** कालमें नियतमानस होकर मध्यमा वाणीसे नामस्मरण करके, जिस नाडीसे योगश्वास चल रहा हो उस ओर अर्धोन्मीलित दृष्टिसे ध्यान लगाने या छः महीने अभ्यास करनेवालेको अपनी श्वासगतिके साथ आनेवाली प्रकाशकिरणोंका साक्षात्कार होता है अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त अक्षरोंकी उत्पत्तिके साथ-साथ ही प्रकाशोत्पत्ति भी रहती ही है। इसका अनुभव अवश्य ही अभ्यासके बिना, एकाग्रता साधे बिना नहीं होता। यह प्रकाश कहीं तो कोटिसूर्य प्रकाशके सदृश होता है और कहीं कोटिचन्द्रप्रकाशके समान। इडा याने सूर्यनाडी जो दाहिने नासारन्ध्रसे होकर चलती है और पिङ्गला याने चन्द्रनाडी जो बायें नासारन्ध्रसे होकर चलती है, ऐसी ये दो नाडियाँ हैं। साधक जिस नाडीके सहारे अभ्यास करेगा, वैसा ही अनुभव उसे प्राप्त होगा। जब हमलोग स्वप्न देखते हैं तब उस स्वप्न-सृष्टिमें हमलोग अपने प्राणमय कोषके सहारे स्वप्नानुभव करते हैं। यह हर किसीको स्वानुभवसे ही ज्ञात है कि स्वप्नसृष्टिके सब व्यवहार प्रकाशमें ही हुआ करते हैं। अर्थात् प्राणमय कोष प्रकाशरूप है। डा० किलनरने प्राणमय कोष (Etheric body)-को देखनेके लिये ऑरोस्पेक (Aurospec) नामका चश्मा ढूँढ़ निकाला है। इस चश्मेसे दिव्य दृष्टि होती है अर्थात् उसके द्वारा चाहे जिसका प्राणमय शरीर हम देख सकते हैं। परन्तु यह जो प्राणमय शरीर प्रकाशरूप दिखायी देता है सो प्रकाशात्मक कुण्डलिनी-शक्तिके सारे शरीरमें व्याप्त होनेके कारणसे दिखायी देता है। मनोमय शरीरमें ऊर्मियोंके उत्पन्न होनेपर अन्नमय शरीरमें उनकी क्रिया होनेका साधन प्राणमय

शरीर ही है। अर्थात् प्राणमय शरीरका प्रकाशरूप अपने अनुभवसे तथा डा० किलनरके 'ऑरोस्पेक' से प्रत्यक्ष होता है। इससे यह सिद्ध है कि कुण्डलिनी-शक्ति प्रकाशरूप है।

२३ यह कुण्डलिनी सहस्रारमें प्रकाशरूपसे स्थित है। जीवको जीवत्व देनेके लिये यह शरीरके सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर छिद्रोंमें प्रवेश करके, सूक्ष्म नाडी जो सुषुम्ना है उससे भी सूक्ष्म वज्रा, वज्रासे भी सूक्ष्म चित्रिणी और चित्रिणीसे भी सूक्ष्म जो ब्रह्मनाडी है उस सूक्ष्मतम ब्रह्मनाडीमेंसे होकर प्रवाहित होती है। ऐसी सूक्ष्मतम नाडीको मृणालतन्तुकी जो उपमा दी गयी है वह ठीक ही है। यह प्रकाशमय है, यह ऊपर बताया ही है।

२४ प्रस्तुत प्रबन्धका शीर्षक 'कुण्डलिनी-शक्तियोग' है। इस शब्दसमुच्चयमेंसे 'कुण्डलिनी-शक्ति' का स्पष्टीकरण हो गया। अब 'योग' शब्दका स्पष्टीकरणक्रम प्राप्त है।

२५ योग शब्द 'युज्'—जोड़ना, इस धातुसे बना है। रवि और चन्द्र अमावास्याको एक स्थानमें आते हैं। उनके इस एकत्र होनेको रवि-चन्द्रयोग कहते हैं। अर्थात् दो वस्तुओंके एकत्र होनेका नाम योग है। अथवा किसी पदार्थमें या किसी कार्यमें या किसी मनुष्यमें किसी भी कारणसे किसी प्रकारकी जो न्यूनता देख पड़ती है उसकी पूर्तिका होना भी एक प्रकारका योग ही है। कोई दरिद्र मनुष्य है, उसे यदि धन मिल जाय तो वह धनयोग है। जहाँ जल न हो वहाँ यदि जल आ जाय तो वह जलयोग है। जीवको ज्ञान-विज्ञानका प्राप्त होना ज्ञानविज्ञान-योग है। पुराण-पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त होना पुराण-पुरुषोत्तमयोग है। जीवकी समाधि लग जाय तो वह समाधियोग है। **जायते वर्धते** इत्यादि षड्विकारोंसे जो युक्त है वह जीवात्मा है और जो क्लेशकर्मविपाकरहित, षड्विकाररहित है वह है परमात्मा। जिन अनेक प्रक्रियाओंसे इस जीवात्माका उस परमात्माके साथ योग होता है वह जीवात्म-परमात्म-योग है। अद्वैतमतसे जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। तब उनका योग क्या है? दो पृथक् वस्तुओंका मिलना ही योग है, इसलिये अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार जीवात्माको परमात्मस्वरूपका ज्ञान होना और उस ज्ञानके होनेकी प्रक्रिया ही योग है। आत्मसाक्षात्कार यानी जीवात्मयोग अर्थात् जिन शारीरिक और मानसिक साधनोंसे साक्षात्कार होता है उन्हें योग समझिये। मायामृगजलसे जीवात्मा और परमात्मा भिन्न भासते हैं। यह भिन्नत्व मानसिक सङ्कल्प-विकल्पोंसे प्रतीत होता है। कहते हैं कि माया-सा बलवत्तर बन्धन संसारमें और कोई नहीं, और उस बन्धनको काटनेवाला योग-सा अव्यर्थ और कोई साधन भी नहीं। इसलिये उपर्युक्त मनोर्मियोंका निरसन या निरीक्षण अथवा निरोध करनेके साधनको योग कहते हैं। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** यह श्रीपतञ्जलि महामुनिकी योगव्याख्या है। इस प्रकारका योग कुण्डलिनी-शक्तिके द्वारा साधना कुण्डलिनी-शक्तियोग है।

२६ मायातन्त्रमें जीव-शिवैक्य-योगको ही यथार्थ योग कहा है। अन्य ग्रन्थकारोंने जीव-शिवके साद्गुण्यको योग कहा है। ईशशक्ति कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् इस प्रकार त्रिविध है। इन तीन शक्तियोंमें पहली दो शक्तियाँ योगियोंमें जागृत होती हैं। आगमवादी कहते हैं कि शक्तिका ज्ञान होना अर्थात् ज्ञानशक्त्यात्मिका जो स्थिति है वही योग है। हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि राजयोग-समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्याशून्य परमपद, अमनस्क अद्वैत, निरालम्ब निरञ्जन जीवन्मुक्ति, सहजावस्था, तुरीयातीतावस्था इन सब पदोंका अर्थ योग ही है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी सम्प्रदायोंमें योगकी बड़ी महिमा वर्णन की हुई है। इन सब सम्प्रदायोंमें तथा जैन, बौद्ध, मुसलमान सूफी, अमेरिकाके रोजेशियन इन सब पन्थोंमें योगतत्त्व पूर्णतया अनुस्यूत है और सत्यज्ञान अनन्तरूप जो परब्रह्म है उसका ज्ञान प्राप्त कर उसको अनुभव करना ही इन सबका ध्येय है।

२७ योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगके चार विभाग किये गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें तीन ही विभाग हैं और सम्मोहनतन्त्रयोगमें पाँच विभाग हैं। योगशास्त्रके ग्रन्थानुसार चार विभाग ये हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और

राजयोग। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग ये तीन विभाग हैं। परन्तु छठे अध्यायको पढ़िये तो हठयोग भी श्रीमद्भगवद्गीतामें आ जाता है। सम्मोहनतन्त्रके पाँच विभाग इस प्रकार हैं—ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग और मन्त्रयोग। इस प्रकार सम्मोहनतन्त्रमें अन्य दो प्रकारके वर्गीकरण भी आ जाते हैं। इसलिये सम्मोहनतन्त्रके वर्गीकरणके अनुसार ही इन योग-विभागोंका विचार करें।

२८ *ज्ञानयोग*—इस योगमें स्थूल शरीरसे लेकर सूक्ष्म, कारण, महाकारण और फिर अतिमहाकारण देहतक सब देहोंकी, पञ्चीकरणकी दृष्टि तथा व्यतिरेक और अन्वयसे, आत्मासे भिन्नता सिद्ध करते हैं। और चित्तवृत्तिका लय करते हुए ज्ञानकी जो सात भूमिकाएँ पार करनी पड़ती हैं वे इस प्रकार हैं—१ शुभेच्छा अर्थात् विवेक-वैराग्यकी स्थिति, २ विचारणा अर्थात् श्रवण-मननकी अवस्था। (इन दो भूमिकाओंको पार करनेके पश्चात् मुमुक्षु साधकपदपर आता है।), ३ मनुमानसा अर्थात् अनेक अर्थोंमें यही एक अर्थ ग्रहण करना कि पञ्चभूतात्मक देह अनित्य और आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध है, ४ सत्त्वापत्ति अर्थात् **'अहं ब्रह्मास्मि'** मैं ब्रह्म हूँ, इस धारणाको दृढ़ करना, ५ असंसक्ति अर्थात् नानाविध सिद्धियोंकी ओरसे अनासक्ति, ६ पदार्थाभाविनी—**'अहं ब्रह्मास्मि'** भी तो एक अहंवृत्ति ही है अतः इसका भी लय होना, ७ तुर्यगा अर्थात् आत्मस्वरूपसे न उठना। इन सप्तभूमिकाओंको पार करते हुए विक्षिप्तता, गतायाता, संश्लिष्टता और सुलीनता—इन चार अवस्थाओं तथा लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—इन चार विघ्नोंको लाँघकर केवल निरालम्ब स्थितिमें तल्लीन होकर रहनेको कहा गया है।

२९ *राजयोग*—इस योगका आधारभूत ग्रन्थ है पातञ्जल योगसूत्र। इसमें चार पाद वर्णित हैं—१ समाधिपाद, २ साधनपाद, ३ सिद्धिपाद और ४ कैवल्यपाद। अष्टाङ्गयोगसाधन करके शरीरके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें मनःसंयम करे। इस संयमसे भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, कायव्यूहज्ञान, क्षुत्पिपासानिवृत्ति, सिद्धदर्शन और अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व— ये आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु ये सिद्धियाँ आत्मस्थितिमें अन्तराय हैं। इसलिये विवेकख्याति करके निर्विकल्प समाधि-सुख लाभ करना चाहिये यही परम उपदेश है। **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** इस योगसूत्रके अनुसार ध्यानयोग राजयोगका ही एक भाग माना गया है। इस राजयोगमें जो प्राणायाम बताया है उसको करते हुए रेचकके समय बाह्य जगत्‌को अपने भीतर आकर्षण करे और कुम्भक करनेमें उसे अपने अन्दर दृढ़ धारण करे और पूरकमें मनकी सब द्वैत कल्पनाओंको निकाल बाहर करे। श्रीमन्महाभारतमें कथा है कि एक ऋषिपत्नीको यह शाप मिला कि सूर्योदय होनेके साथ ही तुम विधवा हो जाओगी, तब उस सतीने ऊपर लिखे अनुसार धारणा की। उसकी उस धारणासे सूर्यदेवका उदय होना ही रुक गया। सूर्योदयका समय निकल गया, चौदह घण्टे और बीत गये, पर सूर्योदय नहीं हुआ। तब महर्षि वसिष्ठने आकर उससे कहा, 'सूर्यदेवका उदय होना क्यों रोकती हो? सूर्योदय होने दो, तुम्हारे मृत पतिको सञ्जीवन-मन्त्रसे पुनः जीवित कर देंगे।' तब उस सतीने मनःसंयमको छोड़ा। तात्पर्य, ऋषिपत्नियाँ भी महायोगिनी हुआ करती थीं। भवन, कर्म और ध्यान इस योगके भेद हैं। भवनका अभिप्राय यह है कि मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रतक सप्तलोकव्याप्त प्रकाशरूप एक दण्ड है, उसमें जलज, उद्भिज्ज, जारज, देव, दानव, मानव ये सब एक-पर-एक अपने तेजोरूप दण्डमें रहते हुए समाविष्ट हैं, इस प्रकारकी भावना करे। कर्मका अभिप्राय है कि मैं ब्रह्मशक्तिसम्पन्न हूँ, ऐसा जप करे। ध्यानका अभिप्राय है—

शुद्धमात्मात्ममखिलं शुद्धज्ञानतपोमयम्।
शुद्धेन्द्रियगुणोपेतं परं तत्त्वं विभावये॥

यह कहकर भ्रूमध्यमें शुभ्र कमलके बीच परमपुरुषका ध्यान करे।

३० *लययोग*—प्राणशक्ति, कुण्डलिनीशक्ति, मन, मनकी वृत्तियाँ, इन सबका लय जिस योगमें किया जाता है वह लययोग है। कुण्डलिनी-योग तन्त्रमें वर्णित

है और हठयोगमें भी वर्णित है। कुण्डलिनी-योगमें यम-नियमादि अष्टाङ्ग साधन बताकर शोधन, धृति, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्विकल्प समाधि ये सात अङ्ग वर्णन किये हैं। कुछ ग्रन्थोंमें षट्चक्र, उनके दलोंके रंग, उन दलोंपर स्थित मातृकाएँ तथा उन चक्रोंके देवता (चित्रपट नं० २ के अनुसार) बताये गये हैं। कुछ ग्रन्थोंमें उन षट्चक्रोंके देवता और उनके वाहन नीचे लिखे अनुसार बताये हैं*—

३१—चक्रोंके नाम	स्थान (मेरुदंडमें)	दल	दलको मातृकाएँ	तत्त्व और गुण	तत्त्व-का रंग	मण्डलका आकार	बीज	वाहन	देवता वाहन	शक्ति	तत्त्वका गुण	इन्द्रिय	लिङ्ग
मूलाधार	गुदासमीप	४	व श ष स	पृथ्वी सकली-करण गन्धवाह	पीत	चतुष्कोण	लं	ऐरावत	ब्रह्मा ऐरावत	डाकिनी	गन्ध	पाद कर्मेन्द्रिय	स्वयम्भू
स्वाधि-ष्ठान	लिङ्गके सामने	६	ब भ म य र ल	आप, आ-कुञ्चन रसवाह	शुभ्र	अर्ध चन्द्र	वं	मकर	विष्णु गरुड	राकिनी	रस	हस्त स्पर्शेन्द्रिय	
मणिपूर	नाभिके सामने	१०	ड ढ ण त थ द ध न प फ	तेज, प्रसरण उष्णवाह	रक्त	त्रिकोण	रं	मेष	रुद्र नदी	लाकिनी	रूप	गुद कर्मेन्द्रिय	
अनाहत	हृदयके सामने	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु, गति स्पर्शज्ञान		षट्कोण	षं		ईश	काकिनी	स्पर्श	लिङ्ग	बाण लिङ्ग
विशुद्धि	कण्ठके सामने	१६	अ आ इ ई ....अं अः	आकाश	शुभ्र	वर्तुल	हं	शुभ्र हस्ति	सदाशिव	साकिनी	शब्द	श्रवण मुख	
आज्ञा	भ्रूमध्य	२	ह क्ष (स)	मन			ॐ	.....	शम्भु	हाकिनी	महत्	हिरण्यगर्भ	पाताल लिङ्ग
सहस्रार	मूर्धन्	१०००		आत्मा			अ० प्रणव		कामेश्वरी कामनाथ			गुरु-पादुका	

३२ इस सम्प्रदायमें यह बताया है कि सहस्रारचक्रमें कामेश्वरी और कामेश्वरका ध्यान करे। आमूल सब चक्रोंके देवताओंका जो वर्णन किया गया है वह '**पञ्चब्रह्मासनासीना पञ्चब्रह्मसमन्विता**' इस वचनके आधारपर किया गया है। श्रीकामेश्वरी और श्रीकामनाथ आद्यगुरु हैं, इसलिये उनका स्थान सहस्रारके अन्तमें श्रीगुरुपादुका ही बताया है। मूलाधारसे सहस्रारतक सब चक्रोंके स्थान स्थूल देहगत स्थानोंके समीप ही, ऊपरके कोष्ठमें बताये हैं। परन्तु स्थूल देहगत स्थान विद्युत्के बिना विद्युद्दीपके समान हैं। विद्युत्के बिना प्रकाश कहाँ? विद्युद्धाराके चलते ही विद्युद्दीप प्रकाशमान होते हैं उसी प्रकार कुण्डलिनीका उत्थापन होनेसे ही ये चक्र अपने-अपने वर्णोंके साथ प्रकाशित हुए देख पड़ते हैं। ये चक्र मेरुदण्डगत सुषुम्ना नाडीके भीतर वज्रा नाडी और ब्रह्म नाडीसे संलग्न हैं। उसी प्रकार ये चक्र प्राणमय, तेजोमय और मनोमय कोषके भीतर हैं। सहस्रारचक्र ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर चार अङ्गुल फैला हुआ है। जिनकी दृष्टि दिव्य हो चुकी है वे ही इन चक्रोंके नाना प्रकाशरूपी मातृकाओंको अनुभव करते हैं। अन्य लोग दृढ़ भावनाके साथ तत्तच्चक्रकी मातृकाओं, उनके वर्णों और तत्त्वोंका प्रकाशरूपमें ध्यान कर सकते हैं। षट्चक्रनिरूपण-ग्रन्थमें कुण्डलिनीका उत्थापन नहीं है पर उसका चिन्तन करनको कहा है। भावनासे और क्रमशः इष्टदेवप्रसादसे तथा गुरुकृपासे यह कुण्डलिनीयोग सिद्ध होता है। इस भावनासे जो अनुभव प्राप्त होता है वही अनुभव हठयोग-साधनसे प्राप्त होता है। हठयोगसे कुण्डलिनी— उत्थान हो जाय तो भी इष्टदेवताप्रसादसे दिग्बन्धका होना तो आवश्यक ही है,

* चक्रोंके साथ चित्र और एक षट्चक्रमूर्तिका चित्र इसमें अन्यत्र प्रकाशित है। उनके दलोंके रङ्ग और देवता आदिमें कुछ भेद है। परन्तु मौलिक कोई भेद नहीं है। इनका विशेष वर्णन कल्याणके 'शक्ति-अङ्क' में देखना चाहिये। —सम्पादक

नहीं तो पिशाचादि अनिष्ट भूतसङ्घद्वारा प्रत्यवाय हो सकता है। इष्टदेवके प्रसन्न होनेपर इष्टदेव ही मानवरूप धारणकर साधकसे योगकी सब क्रियाएँ करा लेते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप परमहंस श्रीराम-कृष्णका दृष्टान्त है। उनके चरित्रग्रन्थमें यह लिखा हुआ है कि श्रीभगवतीने उनके पास एक योगिनीको भेजा जिन्होंने छः महीनेमें उनसे योगकी सब क्रियाएँ करा लीं। तन्त्रशास्त्रके इस लय-योगमें कुण्डलिनीका जागना केवल गुरुकृपासे ही होता है। इसलिये इस सम्प्रदायमें गुरु ही मुख्य देवता माने गये हैं। श्रीगुरु ही स्पर्शदीक्षा और फिर दिव्यदीक्षा शिष्यको देते हैं। और दीक्षा होनेपर एक क्षणमें ही शिष्यकी कुण्डलिनी जाग उठती है। इस कुण्डलिनीशक्तिके जाग उठनेपर मूलाधारसे सहस्रारपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमय हो जाता है। विद्युत्-रूपसे कुण्डलिनी जब ऊपर जाने लगती है तब प्रकाशका साक्षात्कार होता है।

३३ तन्त्रमार्गीय गुरु शक्तिपात करके शिष्यके भ्रूमध्य और विशुद्धाख्यमें स्पर्श कर प्रकाशका अनुभव कराते हैं। हठयोगके क्लिष्ट और कष्टसाध्य साधनोंसे प्राप्त होनेवाला अनुभवजन्य ज्ञान इस सम्प्रदायमें केवल गुरुकृपासे प्राप्त हो जाता है। आजकल शक्तिपात करके कुण्डलिनी-उत्थान करानेवाले गुरु विरले ही कोई मिलते हैं। हमारे देखते इन पचीस वर्षोंमें एक ही गुरु ऐसे मिले। आप बङ्गाली शरीर संन्यासी योगी हैं। पूर्वाश्रममें ये बहुत बड़े उपासक थे। इनका नाम श्रीनित्यानन्द महाराज है। इनके गुरुबन्धु टेहरीप्रान्तमें जङ्गलमें रहते हैं। इन महाराजने पूनेके ड्राइंग मास्टर (जो अभी पूनेमें हैं) श्रीगुलवणी महाशयकी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी और चमत्कार यह कि स्वामी महाराजने जब उन्हें स्पर्शदीक्षा दी तब उनकी वह दीक्षा देनेकी शक्ति श्रीगुलवणी महाशयको भी प्राप्त हो गयी। इन श्रीगुलवणीजीने पीछे दूसरे एक साधककी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी। 'अपने सीखे तत्काल ही कर देते हैं, इसमें उन्हें कुछ भी देर नहीं लगती' इस सन्त-वचनके अनुसार ऊपर दिया हुआ वर्णन प्रत्यक्ष प्रमाण है। उपर्युक्त स्वामी महाराजके समीप हम तीन दिन थे। उनसे दीक्षा पानेकी प्रार्थना की। उन्होंने मिलनेके साथ ही कहा कि श्रीभगवतीकी आज्ञा है। पर पीछे यह सूचिक किया कि आपको इसकी आवश्यकता नहीं है। 'तुम अपात्र हो' यह न कहकर उन्होंने उक्त प्रकारसे उत्तर दिया। स्वामी महाराज भगवतीकी इच्छाके अनुसार विचरते हैं, इसलिये इस समय महाराज कहाँ हैं यह ज्ञात नहीं हो सका।

३४ शक्तिसम्मोहनतन्त्रमें 'नवचक्रात्मिका देवी' का वर्णन है। उन चक्रोंका विवरण नीचे देते हैं—

स्थान	चक्रका नाम	देवता
शिर	सर्वानन्दमय	श्रीललितामातादुर्गा
शिखरी	सर्वसिद्धिचक्र	त्रिपुराम्बा
गोल्लाट	सर्वरोगहरचक्र	त्रिपुरासिद्धि
विशुद्धि	सर्वरक्षाकरचक्र	त्रिपुरमालिनी
आज्ञा	सर्वार्थसाधकचक्र	त्रिपुराश्रीचक्राधीश्वरी
अनाहत	सर्वसौभाग्यदायक	त्रिपुरावासिनी
मणिपूर	सर्वसंक्षोभिणीचक्र	त्रिपुरसुन्दरी
स्वाधिष्ठान	सर्वाशापरिपूर्णचक्र	त्रिपुरेशि
मूलाधार	त्रैलोक्यमोहनचक्र	त्रिपुराम्बा

इस वर्गीकरणमें चक्रोंके दल आदि विवरण नहीं हैं। श्रीत्रिपुराम्बादेवीके भिन्न-भिन्न रूप दिये हैं। इस साधनक्रममें भावना और महाभाव अवस्थाओंका वर्णन है।

३५ इसके अतिरिक्त महानिर्वाणतन्त्रमें ऐसे ही नौ चक्र हैं। परन्तु चक्रोंके आकार और बीज दूसरे ही दिये हैं।

३६ लययोगमें 'हठयोगकी तरह ही योगनाडियोंका वर्णन है, वह आगे देते हैं। चित्रपट नं० २ में इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियाँ दिखायी हैं। इडा नाडी (बायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) चन्द्र नाडी है। उसका वर्ण शुभ्र है। और पिङ्गला (दायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) सूर्य नाडी रक्तवर्णकी है। इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी है। इडा और पिङ्गला सुषुम्ना नाडीको लपेटे हुई चलती हैं। इन दोनों नाडियोंकी वक्रगतिसे षटचक्रोंमेंके पाँच चक्र बनते हैं, इन्हें पञ्चचक्र कहते हैं। इडा नाडीको अमृतविग्रहा और पिङ्गला नाडीको रौद्रात्मिका कहते हैं। ये दोनों नाडियाँ कालस्वरूप दिखाती हैं। ये दोनों नाडियाँ जब समगतिसे चलती हैं तब सुषुम्ना नाडीमें उनका लय होता है। इसी अवस्थामें सुषुम्ना नाडीमें कुण्डलिनी प्रवेश करती है। योगीलोग सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करके महाप्रयाणका समय बदल देते हैं। इसीलिये कहते हैं कि सुषुम्नानाडी

कालभक्षक या कालरोधक है। कुण्डलिनी सुषुम्रा नाडीमें प्रवेश करके सहस्रारचक्रमें पहुँचकर वहाँ जब शान्त होती है तब उस अवस्थाको समाधि कहते हैं। योगी जब इस समाधिस्थितिमें होते हैं तब उनके शरीर विकाररहित अर्थात् **'वर्धते, विपरिणमते, नश्यतीति'** विकारोंसे रहित होते हैं। उनके नख-केशादि नहीं बढ़ते। प्राणक्रिया बन्द होनेसे नाडीका चलना और हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण बन्द हो जाता है। इसलिये ऐसे योगीको कालभक्षक अथव कालान्तक योगी कहते हैं। योगी चांगदेव महाराज १४०० वर्ष जीये और आज भी तीन-तीन सौ वर्ष वयस्के योगी हिमालय-प्रदेशमें देख पड़ते हैं।

३७ इस लययोगमें नाडी-शुद्धि अथवा नाडी-जप करनके लिये कोई खास क्रिया-साधन नहीं बताया है। इडा, पिङ्गला और सुषुम्रा नाडियाँ आज्ञाचक्रके समीप मुक्त त्रिवेणीरूप दिखायी देती हैं और मूलाधारसे जहाँ वे निकलती हैं वहाँ उन्हें युक्त-त्रिवेणी कहते हैं। इडा-पिङ्गला नाडियोंकी वक्रगतिसे षट्चक्रसे जो पाँच चक्र बनते हैं वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धाख्य हैं। इसके अतिरिक्त मेरुदण्डकी बायीं ओर कुहू नाडी है। बायीं आँखसे बायें पैरके अँगूठेतक चलनेवाली गान्धारी नाडी है। दायीं आँखसे दायें पैरके अँगूठेतक हस्तिजिह्वा नाडी है। हमारे परिचित एक सज्जन पेड़परसे गिरे और उस चोटसे उनकी बायीं आँख बाहर निकल आयी। उन्हें लोग श्रीयोगाभ्यानन्द माधवनाथ महाराजके पास ले गये। नाथ महाराजने कहा कि बायाँ अँगूठा चला जाना यदि स्वीकार हो तो आँख जहाँ-की-तहाँ लग जायगी। तब उन सज्जनका बायाँ अँगूठा बाँधकर उसपर हथौड़ा चलाया गया। उससे आँख अपने स्थानमें आ गयी और अँगूठा टेढ़ा होकर बेकार हो गया। अस्तु। सुषुम्नाकी दायीं ओर सरस्वती नाडी है। वह जिह्वाके समीप आकर मिली है। दायीं आँखसे पेटतक पूषा नाडी है। पूषा और सरस्वतीके बीचमें पयस्विनी नाडी है। गान्धारी और सरस्वतीके बीचमें शंखिनी नाडी है। दाहिने हाथके अँगूठेसे बायें पैरतक यशस्विनी नाडी है। कुहू और यशस्विनीके बीचमें वारुणी नाडी है और उसकी व्याप्ति शरीरके निचले भागमें है। कुहू और हस्तिजिह्वाके बीचमें विश्वोदरा नाडी है, वह भी वारुणी नाडीके समान शरीरके निचले भागमें फैली हुई है।

३८ सुषुम्नाके मध्य भागमें वज्रा नाडी है और वज्रा नाडीके मध्य भागमें चित्रा नाडी है और चित्रा नाडीके मध्य भागमें ब्रह्म नाडी है। सुषुम्रा नाडी अग्निस्वरूप है। वज्रा नाडी सूर्यरूपा है और चित्रिणी नाडी पूर्ण चन्द्रमण्डलरूपा है। शब्दब्रह्मके ये तीन प्रकार हैं। शब्दब्रह्मरूपा कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब इन तीन नाडियोंको स्पर्श करती हुई चलती है। इसलिये इन तीन नाडियोंको शब्दब्रह्मरूप कहा है। चित्रा नाडीको ब्रह्मद्वार कहते हैं, क्योंकि इसी नाडीके पाससे कुण्डलिनी ऊर्ध्वगामिनी होती है।

३९ पञ्चतत्त्वात्मक पञ्च चक्र जो मेरुदण्डगत सुषुम्रा नाडीसे सटे हुए हैं वे इस प्रकार हैं—पृथ्वीतत्त्वका दर्शक मूलाधारचक्र है, अप् तत्त्वका दर्शक स्वाधिष्ठानचक्र है और तेजस्तत्त्वका दर्शक मणिपूरचक्र है। वायुका अधिष्ठान अनाहतचक्रमें है और आकाशतत्त्वका अधिष्ठान विशुद्धिचक्रमें। आज्ञाचक्र तृतीय नेत्रका आधारभूत चक्र है। एक स्थानमें यह कहा है कि जिसे षट्चक्रका ज्ञान नहीं वह कुण्डलिनीको नहीं जगा सकता और दिव्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

४० अब संक्षेपमें इन षट्चक्रोंका वर्णन करते हैं—पहला मूलाधारचक्र है, इसके चार दल हैं, देवता ब्रह्मदेव हैं। ये चार दल प्राणशक्तिरूप योगनाडीकी सहायतासे उत्पन्न हुई चार आकृतियाँ हैं। इनमें प्राणशक्तिके साथ कुण्डलिनी प्रसृत होती है। प्राणशक्तिका जब लय होता है तब इन दलोंका भी लय होता है। इन दलोंपर जो मातृकाएँ या अक्षर हैं वे कुण्डलिनीके रूप हैं। कुण्डलिनी स्वयं इस चक्रके नीचे त्रिकोणाकृति अग्निचक्रमें अवस्थित स्वयम्भूलिङ्गसे साढ़े तीन वलयोंमें लिपटी हुई सुप्तावस्थामें पड़ी है। इस स्वयम्भू-लिङ्गको घेरे हुए अग्निचक्र त्रिकोणको त्रैपुर कहते हैं। सहस्रारचक्रमें कामकलारूप जो त्रिकोण है उसीकी यहाँ यह प्रतिकृति है। इस मूलाधारचक्रका ध्यान करनेसे वाक्य-काव्य-प्रबन्ध-दक्षता-सिद्धि प्राप्त होती है।

४१ इसके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है, इसके छः दल हैं, देवता भगवान् श्रीविष्णु हैं। इसके अनन्तर नाभिपद्म अथवा मणिपूरचक्र है। इसके देवता श्रीरुद्र हैं। इन चक्रदेवताका ध्यान जिस साधकको पूर्णतया सिद्ध हो वह पालन और संहार-जैसे कार्य कर सकता है। इसके

बाद हृत्पद्म अथवा अनाहत-चक्र है, इसीके समीप आठ दलोंका निम्न (Lower-Mind) मनश्चक्र है। सहस्रारचक्रकी जिन्हें अनुभूति नहीं और जो भक्तिमार्गप्रवण हैं, जिन्होंने अन्य चक्रोंकी खबर नहीं और सारे योगशास्त्रको जो हठयोग ही मान बैठे हैं वे 'हृदयमन्दिरमें हरिको भजें' इस वचनके अनुसार या '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' इस गीतोक्तिके अनुसार अथवा—

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम्।
पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम्॥

इस मन्त्रके अनुसार अपने-अपने इष्टदेवका ध्यान अपने हृच्चक्रमें करते हैं। इस कमलके समीप कल्पतरु और मणिपीठ है। विश्वसारतन्त्रमें कहा है कि इस स्थानमें उत्पन्न होनेवाली अनाहतध्वनि ही भगवान् सदाशिव है। त्रिगुणमय ॐकार इसी स्थानमें व्यक्त होता है। इसी स्थानमें बाणलिङ्ग है। निर्वात स्थानकी दीपज्योतिके समान जीवात्मा इसी स्थानमें है। दृश्य जगत्के पदार्थ मेरे और यह शरीर ही मैं, इस प्रकारकी देहात्मवादियोंकी जो विचारपद्धति है वही हृदयग्रन्थि है और गुरुकृपासे वह टूट जाती है। इसी हृदयग्रन्थिमें जीवात्मा उलझा रहता है। वित्तैषणा और दारैषणाके नष्ट होनेपर भी साधक लोकैषणामें अटक जाता है। किसीसे पूछिये कि इस बड़े कामको करनेवाले देवदत्त कौन हैं तो वह अपनी छातीपर हाथ रखकर ही अपने देवदत्त होनेका प्रशस्त परिचय देता है। इसके लिये वह कभी मस्तकको स्पर्श नहीं करता, न आधारचक्रको स्पर्श करके अपना परिचय देता है। तात्पर्य, जीवात्माका वासस्थान हृदय ही है। तैत्तिरीय-आरण्यकमें इन चक्रोंके अधिष्ठातृ देवता तथा आवरण देवता बताये हैं और आनन्दलहरीके १७ वें श्लोकमें भी वशिन्याद्या आवरण देवताओंका उल्लेख है।

४२ इसके बाद कण्ठपद्म अर्थात् विशुद्धिचक्र है। इसे विशुद्धिचक्र इसलिये कहते हैं कि जीव यहाँ भ्रूमध्यस्थित परमेश्वरको देखकर वासनाजालसे मुक्त होता है। यहाँ अर्धनारी-नटेश्वर देवता हैं। इन नटेश्वरका अर्धाङ्ग शुभ्र और अर्धाङ्ग सुवर्णमय है। यही मोक्षद्वार है। इस स्थानमें ध्यान करनेसे ज्ञानी त्रिकालज्ञ होता है। इस विशुद्धिचक्रके ऊपर और आज्ञाचक्रके नीचे एक चक्र है जिसे ललनाचक्र या कलाचक्र कहते हैं। उसके १२ दल हैं। उसकी ये वृत्तियाँ हैं—श्रद्धा, सन्तोष, अपराध, दम, मान, स्नेह, शुद्धता, आराती (वैराग्य), सम्भ्रम (मनोद्वेग), उर्मी (क्षुधातृषा)।

४३ इसके अनन्तर आज्ञाचक्र है। इस चक्रका नाम आज्ञाचक्र इसलिये रखा गया है कि सहस्रारमें स्थित श्रीगुरुसे इसी स्थानमें आज्ञा मिलती है। इसके दो दल हैं। मूलाधारसे आज्ञाचक्रतक ५० मातृकाएँ और ५० दल हैं। ये मातृकाएँ लोम-विलोम मिलाकर १०० होती हैं। सहस्रारचक्रमें १००० दल हैं, यह जो कहा गया है वह इस हिसाबसे कि १०० तो मातृकाएँ हैं और फिर दस इन्द्रियोंके दस-दस गुण अथवा दस-दस न्यास हैं। इस हिसाबसे सहस्रदल होते हैं। कुछ अन्य ग्रन्थकार यह कहते हैं कि सहस्रारचक्रमें कुल २० विवर हैं, इनमें पचास-पचास मातृकाएँ गिनी जायँ तो भी १००० दल होते हैं। आज्ञाचक्रमें योनित्रिकोण है, उसमें कहते हैं कि इतर-लिङ्ग अथवा पाताल-लिङ्ग है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र इस त्रिकोणमें एकत्र होते हैं। महत्तत्त्व और प्रकृतितत्त्व इसी स्थानमें हैं। महत्तत्त्वके बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन—ये चार भेद हैं। अव्यक्त प्रणवरूप आत्माका यही स्थान है। इसी स्थानमें प्रवेश करके और प्राण धारण करके योगीलोग महाप्रयाणके समय, '**भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**' इस वचनके अनुसार पुराण पुरुषमें प्रवेश करते हैं।

४४ आज्ञाचक्रके समीप मनश्चक्र है, उसके छः दल हैं। इनमेंसे पाँच दल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच विषयोंके स्थान हैं और छठे दलसे स्वप्नगत अनुभव और सम्भ्रमगत ज्ञान प्राप्त होता है। मनश्चक्रके ऊपर सोमचक्र है, उसके १६ दल हैं। यही निरालम्बपुरी, तुरीयातीत अवस्थामें रहनेका स्थान है। इसी स्थानमें योगीजन तेजोमय ब्रह्मको अनुभव करते हैं।

४५ इस आज्ञाचक्रके समीप कारणशरीररूप सप्त कोश हैं। इन कोशोंके नाम—१ इन्दु, २ बोधिनी, ३ नाद, ४ अर्धचन्द्रिका, ५ महानाद, ६ कला (**सोमसूर्याग्निरूपिणी**) ७ उन्मनी। इस उन्मनी-कोशमें पहुँचनेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् पराधीनसम्भववत्व नष्ट हो जाता है। स्वाधीनसम्भवमें अर्थात् स्वेच्छासे या परमेश्वरी-इच्छासे

देह धारण करनेमें आत्मस्वरूपकी पूर्ण स्मृति बनी रहती है। इन कोशोंके ऊपर, सहस्रारके नीचे बारह दलोंका एक अधोन्मुख कमल है। इसके नीचेके सभी चक्र इसी प्रकारसे अधोन्मुख ही हैं। कुण्डलिनी-उत्थान जब होता है तभी वे ऊर्ध्वोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी-शक्तिका जाग उठना दो प्रकारसे होता है, या तो हठयोगसे या भावनायोगसे। भावनायोग या हठयोग करते हुए साधक आसनस्थ रहे। आसन भी तदुपयुक्त हो, क्योंकि चाहे जिस आसनसे यह काम नहीं बन सकता। कोई साधक यदि कहे कि शवासन लगाकर कुण्डलिनी-उत्थान कर लूँगा और चक्रोंको ऊर्ध्वोन्मुख कर दूँगा तो यह नहीं हो सकता। कोई भी मनुष्य बैठे रहनेकी अपेक्षा पर्वतासनकी तरह लेट रहनेमें अधिक सुख अनुभव करता है। परन्तु पर्वतासनमें ये चक्र उन्मुकुलित नहीं होते, पद्मासन अथवा वज्रासन लगानेसे ये चक्र उन्मुकुलित होते हैं। उपर्युक्त द्वादशदल कमलमें ही वह त्रिकोण है जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। इस त्रिकोणमें मणिपीठ और उस मणिपीठमें मणिद्वीप है। मणिद्वीपके चतुर्दिक् अमृतार्णव है। ऊपरके कोणमें बिन्दु और नीचे परमशिव काम-कलाके साथ विराजते हैं। त्रिकोणके दो कोनोंपर सूर्य और चन्द्र हैं और उन सूर्य-चन्द्रकी १६ और १७ कलाएँ हैं। १७ वीं कला ही जीवनकला है। 'पादुकापञ्चक' में कामकलाका विशेष वर्णन है।

४६ अब हठयोगका वर्णन करें। बहुतोंका यह खयाल है कि हठयोग कोई और चीज है और राजयोग कोई और। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता, गोरक्षसंहिता, हठोयोग-प्रदीपिका आदि ग्रन्थोंमें हठयोगको राजयोगकी नींव कहा है। 'ह' माने सूर्य—पिङ्गला दाहिनी ओरकी वायु और 'ठ' माने चन्द्र—इडा बायीं ओरकी वायु। वायुको अन्दर खींचना है 'ह' और बाहर छोड़ना है 'ठ'। **'प्राणापानौ समौ कृत्वा'** अथवा **'अपाने जुह्वति प्राणम्'** यह जो विद्या है, यह हठयोगके बिना नहीं सिद्ध होती। **'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः'** इस वचनमें चक्षु एकवचन है अर्थात् इस चक्षुसे तृतीय नेत्रका अभिप्राय है। कुण्डलिनी जबतक आज्ञाचक्रमें नहीं पहुँचती तबतक यह क्रिया हो ही नहीं सकती। राजयोगरूपी उच्च राजप्रसादको जानेके लिये हठयोगकी सीढ़ी लगी है। 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा है—**'केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते'** और 'घेरण्डसंहिता' कहा है—

..........................हठयोगविद्या।
विराजते प्रोन्नतराजयोग-
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।

४७ यम-नियम और आसन इन तीन साधनोंके सिद्ध होनेपर नाडी-शुद्धि या नाडी-जय साधनेको कहा है। नाडी-शब्दका (नाड्-गमने) अर्थ है, विशेष प्रकारकी गति जिसमें है—वह। इडा बायीं नाडी और पिङ्गला दाहिनी नाडी है। नाडिजयका अर्थ है श्वास-जय। अमुक समयमें अमुक ओरसे ही श्वास चले ऐसा अभ्यास जब पक्का हो जाय तब यही नाडिजय है। इसीको नाडिशुद्धि कहते हैं।

४८ नाडिजयके लिये आदिनाथ श्रीशङ्करने श्रीपार्वतीजीको 'शिवस्वरोदय' ग्रन्थ सुनाया। 'शिवस्वरोदय' स्वरशास्त्रका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इडा और पिङ्गला मनुष्यमात्रके नासारन्ध्रोंमेंसे चलनेवाली नाडियाँ हैं। प्रत्येक नाडी २ घण्टे २४ मिनट चलती है, तब दूसरी नाडीका चलना आरम्भ होता है। प्रातःकाल सूर्योदयके समय यदि इडाका चलना आरम्भ हो तो इसके २ घण्टे २४ मिनट बाद पिङ्गलाका चलना आरम्भ होगा। 'शिवस्वरोदय' में भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न नाडियोंका चलना आवश्यक बताया गया है। अमुक कार्यके होते अमुक ही नाडी चले, ऐसा विधान है। भोजनके समय चन्द्र नाडी, प्रातर्विधिके समय सूर्य नाडी, सोते समय सूर्य नाडी, क्रूर कर्मके समय सूर्य नाडी, यजन, याजन, दान, अध्ययनादि शान्त कर्मोंमें चन्द्रनाडी चले। ग्वालियरके दीवान राव राजा स्वर्गीय श्रीदिनकर राव राजवाड़ेके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है कि वह नाडी देखकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होते थे, अनुकूल नाडी न चलती हो तो वह उस कार्यमें प्रवृत्त न होते थे। पुत्रेच्छा हो तो अभिगमनके प्रसंगमें पत्नीकी चन्द्र नाडी और पतिकी सूर्य नाडी चलती हो। १५ दिन लगातार यदि किसीकी सूर्यनाडी ही चलती रहे तो यह समझना चाहिये कि एक महीनेमें उसकी मृत्यु होगी। जो योगारूढ़ होना चाहें उनके लिये यह बताया है कि सूर्योदयसे सूर्यास्ततक चन्द्र अथवा सूर्य कोई भी एक ही नाडी चलती रहे, ऐसा अभ्यास करें। बारह घण्टे बराबर एक ही नाडीका

चलना सिद्ध होनेपर नाडीमें उदय होनेवाले पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश तत्त्वोंका अभ्यास करें। तत्त्वोंका उदयास्त समझनेके लिये विशिष्ट गतिकी मर्यादा बतायी हुई है। प्रातःकाल या सायंकालमें ४ घण्टे ४८ मिनट आकाशतत्त्व ही स्थिर रहता है, उसी समयको सन्धिकाल कहते हैं और यही सन्ध्या-वन्दनका समय है। आकाशतत्त्वके उदयके समय अथवा पृथ्वीतत्त्वके उदयके समय २-३ मिनटतक समस्वर रहते हैं अर्थात् उस समय दोनों स्वर चलते हैं। यह सुषुम्ना नाडी है। इस नाडीको ऐसे ही स्थिर करके यदि प्राणायाम किया जाय तो वह सिद्ध होता है। यही प्राणजय है। नाडिशुद्धि होनेपर धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति ये षट्कर्म बताये हैं।

४९ **'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'** यह पातञ्जल योगका सूत्र है—यह श्वासायाम है, प्राणायाम नहीं। श्वासकी अपेक्षा प्राणशक्ति अधिक सूक्ष्म है, इसलिये इस सूत्रका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि श्वासायाम साधनेसे प्राणायाम आप ही पीछे होने लगेगा। प्राणशक्तिके विषयमें बहुतोंकी कल्पना ठीक नहीं है। देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करते हुए **'इह प्राणाः इह प्राणाः'** कहते हैं। पर प्राण क्या है, यह न जाननेसे वह क्रिया केवल अन्धानुकरणकी-सी होती है। स्वामी विवेकानन्दने प्राणशक्तिकी व्याख्या एक स्थानमें की है। प्राणायामके सम्बन्धमें स्वतन्त्र विवेचन करना हमने विचारा है, इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं करते। रेचक, कुम्भक और पूरकसे एक प्राणायाम होता है। कुम्भकके भ्रामरी, भस्त्रा, मूर्छा, प्लाविनी, केवली ये भेद हैं।

५० अनन्तर महामुद्रा, महाबन्ध खेचरी, मूलबन्ध, उड्डियान, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी और महावेध ये दस मुद्राएँ साधकको साधनी पड़ती हैं तब कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और जैसा कि पहले कहा है, षट्चक्रोंको भेदकर सहस्रारमें प्रवेश करती है। इन षट्चक्रोंके ऊपर हठयोगमें त्रिकूट, श्रीहाट, गोल्लाट, औटपीठ और भ्रमरगुम्फा नामके पाँच चक्र और बताये हैं। उनका वर्णन नीचे देते हैं—

मुक्ति	चक्र	अभिमानी	देवता	वाचा	वर्ण	गुण	अक्षर	स्थान	वेद	अवस्था
सलोकता	त्रिकूट	विश्व	ब्रह्मा	वैखरी	सुपीत	रजोगुण	अकार	भूमि	ऋग्वेद	जाग्रति
समीपता	श्रीहाट	तैजस	विष्णु	मध्यमा	नव-मौक्तिक	सत्त्वगुण	उकार	आप	यजुर्वेद	स्वप्न
सरूपता	गोल्लाट	प्राज्ञ	हर	पश्यन्ती	श्वेत	तमोगुण	मकार	तेज	सामवेद	सुषुप्ति
सायुज्यता	औटपीठ	प्रत्यगात्मा	ईश्वर	परा	विद्युत्	शुद्ध-सत्त्वगुण	ॐ	वायु	अथर्ववेद	तुरीया
कैवल्य	भ्रमरगुम्फा	ज्ञानात्मा	सदाशिव	परात्पर	कृष्ण	सगुण	अर्द्धमात्रा	आकाश	सूक्ष्मवेद	उन्मनी
स्वयंब्रह्म	ब्रह्मरन्ध्र	परमपुरुष	परमात्मा	......	बहुवर्ण	निर्गुण	ब्रह्म	स्थिरचर	आत्मवेद	पूर्णता

५१ इसमें अन्तमें वही कैवल्य प्राप्त होता है जो राजयोगसे प्राप्त होता है और सब योगसिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। एक विद्यमान योगी महाराजने एक बार अपने पूनावासी शिष्यको प्राणायाम करके अपना मस्तक इतना तपाकर दिखाया कि स्पर्श करनेसे उबलते हुए पानी-जैसा गरम मालूम हुआ। पूर्वकालमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपनी पीठपर मुक्ताबाईसे मालपूए पकवा लिये थे। यहाँतक हठयोगसहित राजयोगका वर्णन हुआ।

५२ मन्त्रयोगमें भक्तियोग आ जाता है। इस योगमें प्राणायामको छोड़ बाकीके सात अङ्ग हैं और चक्रोंमेंसे

तीन चक्र हैं—मूलाधार, मणिपूर और आज्ञा। मन्त्रयोगमें मन्त्रजपसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

५३ इन सब योगोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है तथापि इन सबका परस्पर सम्बन्ध है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्ति, योगके ये तीन प्रकार बताये गये हैं; तथापि ज्ञानके बिना भक्तियोग नहीं होता और कर्मके बिना ज्ञान नहीं होता और इसलिये ये तीनों योग युक्तत्रिवेणीरूप हैं। वैसे ही इन पाँच योगोंकी यह पञ्चवेणी है।

५४ इस संमिश्रराजहठयोगके सम्बन्धमें विचार करते हुए एक योगीने योगसाधनाके सम्बन्धमें कुछ खास बातें बतायीं सो आगे लिखते हैं।

५५ नीलगिरिपर रहनेवाले एक योगी लगभग ३५ वर्ष पूर्व पूनेमें पधारे थे। स्व० डा० गर्दे महोदयके यहाँ ठहरे थे। उन्होंने यहाँ कई व्याख्यान दिये। व्याख्यानोंके समय एक चित्रपट वह श्रोताओंके सामने रखा करते थे। उसमें मानव-शरीरका शुक्र अथवा ओजमार्ग शुभ्र गुलाबी रंगमें दिखाया गया था। चार दिन व्याख्यान होनेके बाद पाँचवें दिन उन्होंने चित्रपटमें प्रदर्शित रीतिसे ध्यान करनेको कहा। इस प्रकार ध्यान करनेसे उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण शरीर अन्तर्दृष्टिसे प्रकाशमय दिखायी देता है। शरीरका यह ओजमार्ग जैसे ओजस् याने तेजसे व्याप्त है वैसे ही वह प्राणशक्तिसे भी व्याप्त है। प्राणशक्तिदर्शक प्राण भी प्रकाशमय हैं। **'अथ आदित्य उदयन् प्राचीदिशां सर्वान् प्राणान् रश्मिसु सन्निधत्ते'** इस ऋग्वेदवचनसे प्राण तेजोमय ही हैं। यह सुना है कि डा० किलनरने भी यह सिद्ध किया है कि हमारा Etheral Body याने प्राणमय शरीर प्रकाशमय है और इस बातको सैकड़े ९५ मनुष्य अनुभव भी कर सकते हैं। अपने यहाँ देवादिकोंकी मूर्तियोंके मुखमण्डलोंकी चारों ओर तेजोवलय चित्रित करनेकी रीति है। ये तेजोवलय सारे शरीरको घेरे हुए हैं, मुखके चारों ओर जो तेज है वह अधिक है। इसका भी कारण प्राणमय शरीर ही है। जिस मनुष्यकी दृष्टि जन्मतः ही सूक्ष्म होती है अथवा उपर्युक्त साधनोंसे जो उसे सूक्ष्म बना लेता है वह मनुष्यके स्थूल शरीरके बाहर प्रकाश छिटका हुआ देख पाता है।

५६ उपर्युक्त योगी महाराजने जो पद्धति बतायी उस पद्धतिसे अथवा डा० किलनरके बताये साधनसे यदि सम्पूर्ण शरीरमें प्रकाश फैला हुआ दिखायी दे तो वह प्रकाश सहस्रारचक्र और कुण्डलिनीमार्गमें अधिक दिखायी देगा। सहस्रारके इस प्रकाशमें भगवान् वासुदेवका ध्यान करनेसे साधक सब भूतोंमें उस प्रकाशको देख सकेगा और **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** इस गीता-वचनानुसार महात्मापदको प्राप्त हो सकेगा। भक्तियोगमें हृदयमें ध्यान करनेको कहा है—वह हृदय **'अष्टपद्मोपरिस्फीतं सूक्ष्मं हृदयपङ्कजम्'** वाला हृदय है। यह हृदय और योगी महाराजने जिस सहस्रारमें ध्यान करनेको बताया वह सहस्रार, ये दोनों ही स्थान पास-ही-पास हैं।

५७ इस प्रकार ध्यानयोगी अपनी ध्यानशक्तिसे परम पुरुषके साथ समत्व लाभ करता है। लययोगकी कुछ सिद्धियाँ ध्यानयोगीको भी प्राप्त होती हैं। ध्यानयोगीको अपना महाप्रयाणकाल भी ज्ञात हो जाता है। परन्तु ध्यानयोगीको शारीरिक दुःख भोगने पड़ते हैं, इस कारण ध्यानयोगमें अन्तराय पड़ता है। परन्तु लययोगमें **'योगी भोगायते मोक्षायते शरीरम्'** इस वचनके अनुसार ध्यानके समयमें शरीर-व्याधियोंको मनसे हटाकर दैनन्दिन ध्यानक्रम पूर्ण किया जा सकता है और इस प्रकार वह योगी महाप्रयाणकालमें पूर्णज्ञ स्थितिमें ही प्रयाण करता है। यही नहीं प्रत्युत लययोगमें भी षट्चक्रनिरूपणमें बताये अनुसार खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेसे महाप्रयाणकालको भी योगी अपने वशमें रख सकता है।

५८ इस लययोगमें अर्थात् कुण्डलिनीशक्तियोगमें साधक सदा ही आनन्दमें रहता है। उसे किसी सङ्गिनी स्त्रीकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि विद्युत्-प्रवाहरूपिणी, सर्वसौन्दर्यशालिनी, सर्वकषा, सर्वसुखदायिनी कुण्डलिनीशक्ति उसके साथ है। ऐसे साधकको दिव्य साधक कहते हैं। और जो लौकिक साधक अपनी सहधर्मिणीके साथ श्रीभगवतीकी उपासना करता है वह वीर साधक कहाता है।

५९ योगाङ्गोंका वर्णन करते हुए कुछ स्थानोंमें अभ्यासक्रम भी लिख दिया है। तथापि विशेष स्पष्टीकरणके लिये कुछ विवरण यहाँ देते हैं।

६० ज्ञानयोगमें बताया है कि **'येनात्मैवात्मना जितः'** आत्मासे आत्माको जीते अर्थात् मनसे ही मनको जीते।

(दो प्रकारके मनोंका वर्णन पहले आ ही चुका है।) पञ्चीकृत शरीर नाशवान् है, केवल आत्मा ही अविनाशी है, ऐसा विचार करके जीवात्मा अपनी अनेक आवरणोंमें व्याप्त जीवदशाको व्यतिरेकसे नष्ट करके '**अहं ब्रह्मास्मि**' की वृत्तिको अनवरत बना रखनेका अभ्यास करे। श्रीशिवराम स्वामी बतलाते हैं कि—'वृत्ति जिधर जाय उधर आप न जाय, पीछे साक्षी होकर खड़े-खड़े देखता रहे तो निजस्वरूपसे भेंट हो जाती है।' अर्थात् वृत्तिकी ओर देखते रहनेसे वह आप ही अपने अन्दर विलीन हो जाती है। पीछे रह जाता है केवल उर्वरित वस्तु चैतन्यघन आप। इनका यही अभ्यास है। ऐसे चैतन्य घनानन्दमें निमग्न रहनेसे देखना-सुनना, बोलना-सूँघना, चलना-फिरना इत्यादि सब कामोंके होते हुए भी आप निजस्वरूपमें ही लीन रहता है और इन सब कामोंको तटस्थवत् देखता है। ऐसी सहज स्थितिको पहुँचा हुआ साधक ऐहिक-पारलौकिक सभी भोगोंको तुच्छ समझता है। यही निर्विकल्प समाधि है। इस ज्ञानयोगमें '**गुरुरेव परम्, गुरुरेव परम्**' इस प्रकार गुरुकी बड़ी महिमा है।

६१ लययोग अथवा कुण्डलिनी-शक्ति-योगमें साधकको षट्चक्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये और महाभाव-योगसे शुक्लपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधारसे सहस्रारतक चलती है और कृष्णपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी सहस्रारसे चलकर मूलाधारमें आती है। षट्चक्रनिरूपणमें बताया है कि '**इह स्थाने लीने सुमुखसदने चेतसि पुरं निरालम्बं बद्ध्वा**'। '**पुरं बद्ध्वा**' माने '**अन्तःपुरं बद्ध्वा**'। पुः यानी योनिमुद्रा और षण्मुखीमुद्रा अथवा पुरं यानी खेचरीमुद्रा, सिद्ध करे। प्रणवका ध्यान भ्रूमध्यमें करे। '**प्रणवचारी दिशानाम्**' होनेसे अन्तःकरणके अन्तरिक्षमें '**पवनसुहृदां वह्निकणान् ज्योतिः पश्यति**', इस प्रकार उसे प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

६२ खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेके लिये जिह्वा-छेदन बताया है। छेदनके पश्चात् दोहन है। जिह्वा तीन प्रकारकी होती है—नागजिह्वा, हस्तिजिह्वा और धेनुजिह्वा। नागजिह्वा निसर्गतः ही लम्बी होती है। अन्य दो जिह्वाएँ छेदन-योग्य होती हैं। कुछ बालक अपनी जीभ नासाग्रमें अनायास ही लगाते हैं। ऐसी जीभको छेदनकी आवश्यकता नहीं, केवल दोहनकी आवश्यकता होती है। दोहनके लिये पहले बच (उग्रगन्धा)-के चूर्णसे जिह्वाको मलना चाहिये। इससे कफादि दोष नष्ट होते हैं। बेहडाके चूर्णसे दोहन करे और सैन्धवलवणसे जिह्वाका छिदा हुआ भाग घिसे। छेदन गुरुके समीप रहकर ही करे। डाक्टरके द्वारा छेदन करानेसे वाचाशक्ति नष्ट होती है।

६३ खेचरी यदि सिद्ध हो जाय तो नाडिशुद्धि और भूतशुद्धिके बिना भी काम चलता है। खेचरी सिद्ध होनेपर प्राणायाम करके खेचरी करे। इसका अभ्यास जब हो जाता है तब प्राणशक्ति सिद्ध करनेके लिये शक्तिचालिनी मुद्रा बतायी है। इस मुद्रासे कुण्डलिनी मणिपूरचक्रतक आती है। अनन्तर खेचरीसे जालन्धरबन्ध करके रुद्रग्रन्थिका भेदन होता है और प्राणशक्ति उड्डियान-बन्धके सहारे विशुद्धिचक्रसे मणिपूरतक आकर कुण्डलिनीको ऊपर ले जाती है। इसके पश्चात् वह आज्ञाचक्रसे ललनाचक्र, मनश्चक्र और सोमचक्रोंमेंसे होकर सहस्रारमें पहुँचती है।

६४ हठयोगमें भी खेचरीमुद्राका बड़ा महत्त्व है। यथार्थमें खेचरी हठयोगकी ही चीज है, राजयोगमें भी खेचरीमुद्रा है पर उसका वर्णन भिन्न प्रकारका है। वह खेचरी आकाशकी ओर दृष्टि लगाना है (**खे चरति प्राणः**)। नाडिशुद्धिके अभ्यासके लिये बताया है कि बायें नथुनेसे श्वास चले ऐसा यदि करना हो तो दायें नथुनेको रुई डालकर बन्द कर दे और सदा दायीं करवट बैठा करे जिसमें शरीरके दायें अंशपर ही शरीरका अधिक बोझ पड़े, छः महीने अभ्यास करनेसे नाडिजय होता है। नाडिजय होनेपर आकाश-तत्त्व जब नाडीमें बह रहा हो तब श्वासायाम करके खेचरी-साधन करे।

६५ किसी भी प्रकारका साधक हो, सूर्योदय और सूर्यास्त ये दो सन्धि-काल उसके लिये निश्चित हैं। चन्द्रस्वरसे सूर्यस्वरमें जाते हुए दो-एक मिनट दोनों श्वास बराबर चलते हैं अर्थात् उस समय सुषुम्ना नाडी चलती है, उस समय श्वासायाम करके बैठ जाय। सन्ध्याका समय यथार्थमें यही है। यह अभ्यास गुरुके सामने करे। महामुद्रा, महाबन्ध और शक्तिचालनी मुद्रा करनेसे अर्थात् गुदद्वार और मूत्रद्वारके बीचमें दो अंगुल मध्यस्थानपर एड़ीसे चोट करे तब प्राणवायु जाग उठता है और पीछे कुण्डलिनी जागती है।

६६ मन्त्रयोगके द्वारा प्रकाश-साक्षात्कार करनेके लिये मन्त्राक्षरोंको उच्चारते हुए नासारन्ध्रसे बहनेवाले प्राणवायुकी ओर दृष्टि रखे। छः महीने ऐसा अभ्यास करनेसे अनुभव मिल जाता है। निवातस्थ दीपज्योतिकी ओर त्राटक करनेसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है। षण्मुखीमुद्राके अभ्याससे (अँगूठोंसे कानोंको बन्द करना, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र बन्द करना और अनामिका-कनिष्ठिकासे नासारन्ध्रोंको बन्द करना, ऐसे अभ्याससे) भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है। मन्त्रयोगके मन्त्राक्षरोंका तेजोरूपमें दिखायी देना ही मन्त्रसिद्धि है। मन्त्रयोग ध्यानयोग ही है। महम्मदानुयायी मन्त्रयोगी ही हैं। 'कलमा पढ़े सो कल-कलमें कलमा' वाली बात प्रसिद्ध ही है। इसका आशय यही है कि कलमा पढ़े तो ऐसा पढ़े कि हर नाडीसे वही स्वर निकले। पर अभ्यास उनमें भी कौन करता है?

६७ श्रीभगवती यन्त्रमयी, मन्त्रमयी और प्रकाशमयी हैं। मन्त्रमयी भगवतीका ध्यान होता रहे, इससे वह प्रसन्न होती हैं और साधकसे सब क्रियाएँ करा लेती हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसके पास एक योगिनीको भेजकर भगवतीने ही उनसे सब योगक्रियाएँ करा लीं।

६८ इस प्रकार कुण्डलिनी-शक्ति-योग सिद्ध होनेपर श्रीभगवतीकी कृपासे साधक सर्वगुणसम्पन्न होता है। सब कलाएँ, सब सिद्धियाँ उसे अनायास प्राप्त होती हैं। ऐसे साधकका शरीर १०० वर्षतक बिलकुल स्वस्थ और सुदृढ़ रहता है। वह अपने जीवनको श्रीभगवतीकी सेवामें लगा देता है और श्रीभगवतीकी इच्छाके अनुसार लोकोद्धार करते हुए अन्तमें स्वेच्छासे अपना कलेवर छोड़ जाता है। मृत्यु उसकी इच्छाके अधीन होनेसे उसे मृत्युका भय नहीं रहता। पूनेके, अब आनन्दलोकवासी, महर्षि श्रीअण्णासाहब पटवर्धन ऐसे ही इच्छामृत्युवाले थे। उन्होंने अपने महाप्रयाणका समय निश्चित किया। कहा कि हम अमुक समयमें प्रस्थान करेंगे। जो समय उन्होंने निश्चित किया था वह ज्योतिषशास्त्रके हिसाबसे कुयोग था। उनसे कहा गया कि महाप्रयाणके लिये वह शुभ घड़ी नहीं है। उस समयके दो घण्टे बाद सुयोग था। यह उनसे निवेदन किया गया तो उन्होंने कहा—अच्छी बात है, २ घण्टे बाद ही सुयोग आनेपर चलेंगे। ठीक उसी समय उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। श्रीरेवतीनन्दन महाराजने भी अपना शरीर पूनेमें रखा तब उनकी प्राणशक्ति ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर निकल गयी। श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती महाराजने भी अपना प्रयाणकाल दो दिन पहलेसे ही बता दिया था। उनके शिष्य श्रीगुरुभक्त अण्णासाहब नेनेने भी अपने प्रयाणका समय दो दिन पहले ही बता रखा था।

६९ कुण्डलिनी-शक्ति-योगी इस प्रकार निर्भय और स्वानन्दनिमग्न रहता है। श्रीभगवतीकी उसपर पूर्ण कृपा होती है और वह भी सदा भगवतीके ही सङ्ग रहता है। भगवतीके चिरसङ्गका अनुभव उसे समय-समयपर प्राप्त होता ही रहता है। उसके कानोंमें इस दिव्य सन्देशकी ध्वनि सदा गूँजती रहती है कि 'मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ।' 'कुण्डलिनी-शक्तिका सङ्ग क्या है, सहज अवस्था है। कुण्डलिनीके सङ्ग रहनेवाला साधक लोकमें लौकिक दृष्टिसे व्यवहार नहीं करता। लोकदृष्टिसे तो वह सोया हुआ ही है—

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

७० अन्तमें श्रीभगवतीसे यह प्रार्थना है कि इस प्रबन्धके पाठसे पाठकोंका ध्यान तुम्हारी सेवाकी ओर लगे और सम्पूर्ण जगत् त्वद्भक्तिप्रेरित होकर विषयोंके तुच्छ सुखोंसे मुँह फेरकर कुण्डलिनी-शक्ति-योगके दुर्लभ आनन्दकी ओर चले। यही वर-प्रार्थना करके यह लेख समाप्त करता हूँ। **इति शुभम्॥**
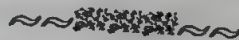
योग और कुण्डलिनी

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त)

योगसाधनके साथ कुण्डलिनी-जागरण घनिष्ठरूपसे सम्बद्ध है। योगियोंका कहना है कि साधारण जीवमें कुण्डलिनी सोयी रहती है—विशेष-विशेष योग-प्रक्रियाद्वारा कुण्डलिनीको जाग्रत् कर षट्चक्रभेद करते हुए मस्तिष्कस्थित सहस्रारमें ले जानेपर योगसिद्धि प्राप्त होती है। यह कुण्डलिनी क्या है?

कुण्डलिनी उपनिषदोंकी 'नाचिकेत' अग्नि है। जो 'त्रि-नाचिकेत' हो सकते हैं, वे ही जन्म-मृत्युसे तरते हैं '**तरति जन्ममृत्यू**'—उनका शरीर योगाग्निमय हो जाता है और वे जरा, व्याधि और मृत्युके पार हो जाते हैं—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।
(श्वेताश्वतर०)

चैनिक योगदीपिकामें इस कुण्डलिनीको Spirit-Fire (स्पिरिट-फायर) कहा गया है।

Only after the completed work of a hundred days will the Light be real, there will it become Spirit-fire. The heart is the fire; the fire is the Elixir. (I' lohin.)

पाश्चात्य लोग इस कुण्डलिनीको Serpent-fire (सर्पवत् वलयान्विता अग्नि) कहते हैं। ऋषिशिष्या मैडम ब्लैवेट्स्की इसको Cosmic Electricity (विश्वव्यापी विद्युत्शक्ति) कहा करती थीं—क्योंकि कुण्डलिनी विश्वविद्युत्की सजातीय एक अत्यन्त प्रचण्ड शक्ति है।

Kundalini is called the serpentine or annular power, on account of its spiral-like working or progress in the body of the ascetic, developing the power in himself. It is an electric firy occult of fohatic power, the great pristine force which underlies all organic and inorganic matter.

(The voice of the Silence. p. 27)

'कुण्डलिनी सर्पाकार या वलयान्विता शक्ति कही जाती है, क्योंकि इसकी गति वलयाकार सर्पकी-सी है, योगाभ्यासी यतिके शरीरमें यह चक्राकार चलती है और उसमें शक्ति बढ़ाती है। यह एक वैद्युत अग्निमय गुप्त शक्ति है। यह प्राक्तन शक्ति है जो सेन्द्रिय और निरीन्द्रिय सृष्ट पदार्थमात्रके मूलमें है।'

इस कुण्डलिनीकी गति प्रकाशकी गतिकी अपेक्षा भी अधिक तेज है। मैडम ब्लैवेट्स्कीने कहा है—'Light travels at the rate of 185000 miles a second, Kundalini at 345000 miles a second.' अर्थात् 'प्रकाश १८५००० मील प्रति सेकण्डकी गतिसे चलता है और कुण्डलिनी ३४५००० मील प्रति सेकण्डकी चालसे।' तन्त्रसारमें इस कुण्डलिनीके विषयमें लिखा है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्।
तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥
कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिणीम्।
तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः॥

प्रकृतिके निगूढ़ विधानके अनुसार यह प्रचण्ड शक्ति शरीरस्थ मूलाधारचक्रमें सोयी हुई रहती है। असंयमी साधकको—जो अकाम, निष्काम नहीं हुआ है, जो passion-proof (मनोविकारका प्रभाव जिसपर न पड़ता हो ऐसा) नहीं हुआ है—असावधानीके साथ तथा सद्गुरुका सान्निध्य प्राप्त हुए बिना इस शक्तिको जागरित करनेकी चेष्टा न करनी चाहिये। इसीलिये अष्टाङ्गयोगका प्रथम भाग यम-नियम—सत्य, संयम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि—रखा गया है। इस विषयमें हड्सन साहबने सावधानीकी कुछ सूचनाएँ की हैं—उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

Note that the actual arousing of the tremendous force of Kundalini may only be safely attempted under the expert guidance of a Master of occult science—otherwise Kundalini may act downwards and intensify both the desire-nature and the activity of the sexual organs.

(Science of Seership.)

'यह ध्यान रहे कि कुण्डलिनीकी प्रचण्ड शक्तिको जगानेका काम इस गुप्त विद्याके गुरुके ही तत्त्वावधानमें किया जाना चाहिये, अन्यथा कुण्डलिनी नीचेकी ओर प्रवृत्त होकर भोगवासना और जननेन्द्रियकी प्रवृत्तिको बेहद बढ़ा सकती है।'

हमने मूलाधारचक्रको कुण्डलिनीका सुषुप्तिस्थान कहा है। मनुष्यकी पिण्डदेहमें (जिसे Etheric Body कहते हैं) स्थूल शरीरके विशेष-विशेष प्रत्यङ्गोंसे सम्बद्ध जो छः चक्राकार घूमनेवाले शक्तिकेन्द्र हैं, मूलाधार उन्हीं षट्चक्रोंमेंसे एक है—

They are the force-centres in the human body and are so called, 'because' to clairvoyant sight, they have the appearance of spinning vortices. They are the six plexuses.

(Hodson)

'मनुष्य-शरीरमें ये शक्तिके केन्द्र हैं और ये चक्र इसलिये कहलाते हैं कि अन्तर्दर्शियोंको वे तन्तुचक्रोंके समान दीखते हैं। ये छः नाडिजाल हैं।'

ये षट्चक्र कौन-कौन हैं? मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र।

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धञ्च तथाज्ञां च षट्चक्राणि विभावयेत्॥

मूलाधार मेरुदण्डके निम्नभागमें अवस्थित है। उसी चक्रके भीतर कुण्डलिनी-शक्ति त्रिवली-आकारमें सुषुप्त रहती है।

In the heart of this Chakram lies the serpent fire (Kundalini), and there it to sleeps throughout the ages until the time is ripe for it to be roused. *(Hodson)*

अर्थात् इस चक्रके अन्तस्तलमें सर्पाकार अग्नि (कुण्डलिनी) रहती है और वहाँ यह युगानुयुग सोयी रहती है जबतक इसके जागनेका समय नहीं उपस्थित होता।

कुण्डलिनी जब विश्वशक्ति है तब मूलाधार उसका उत्पत्ति-स्थान नहीं हो सकता। मालूम होता है, यौगिक उपायसे जब मूलाधार प्रज्वलित होता है तब यह चक्र विश्वव्यापक कुण्डलिनी-शक्तिको व्यष्टिभावमें आत्मसात् करनेकी योग्यता प्राप्त करता है—जलस्तम्भमें जिस तरह जलद जलधिको आंशिकरूपमें आत्मसात् करता है, यह भी उसी तरहका कार्य है। इस प्रकार कुण्डलिनी जाग्रत् होकर मेरुदण्डके मध्यमें स्थित सुषुम्रा मार्गसे होकर इडा और पिङ्गला (इनका नाम सूर्यनाडी और चन्द्रनाडी भी है) की सहायतासे ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। इन तीन नाडियोंके अन्दरसे उठकर ऊपर जाती हुई कुण्डलिनीशक्ति एक-एक कर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रको प्रज्वलित और अनुप्राणित करती हुई अन्तमें (तन्त्रकी भाषामें) सहस्रारमें जाकर सदाशिवके साथ मिल जाती है—

As it passes up the spine, it vivifies in turn each Chakram, thereby causing the etheric centres to be opened and channels to be made from the superphysical to the physical worlds, so providing conductors for superphysical vibrations when it is thus aroused, all the psychic powers are fully unfolded and become available for use, while the man is awake in the physical body.

(Hodson, p. 213)

'जब यह कुण्डलिनी मेरुवंशमेंसे होकर ऊपर जाती है, तब एक-एक चक्रको जगाती हुई चलती है, इससे वे चक्र खुल जाते हैं और पारभौतिकसे भौतिक जगत्में आनेके रास्ते बनते हैं; इस प्रकार कुण्डलिनीके जागनेसे पारभौतिक स्पन्दोंको वहन करनेके साधन उपस्थित हो जाते हैं, चैत्य पुरुषकी सब शक्तियाँ खुल जाती हैं और उनका उपयोग किया जा सकता है, इसके होते हुए मनुष्य अपने भौतिक शरीरमें जागता रहता है।'

मूलाधारके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है। उसका स्थान प्लीहाके पासमें है। स्वाधिष्ठानके ऊपर मणिपूर है। मणिपूर-चक्रका स्थान है नाभि। इस मणिपूरका अंग्रेजी नाम Solar Plexus (सोलर प्लेक्सस—सौर जाल) है। ब्लैवेट्स्कीका कहना है—

'There are three principal centres in man—the heart, the head and the navel.' अर्थात् मनुष्यके अन्दर तीन प्रधान केन्द्र हैं—हृदय, मस्तक और नाभि।

स्वाधिष्ठान और मणिपूरके कुण्डलिनीद्वारा प्रज्वलित होनेपर, 'This influence strengthens, rejuvenates and normalises the life-process.' अर्थात् इस प्रभावसे जीवन-क्रम बलयुक्त, नवशक्तिसम्पन्न और नियत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वाधिष्ठान-चक्रसे प्रदीप्त होनेपर मनुष्य सूक्ष्मतर लोकमें स्वच्छन्द विहार करनेका अधिकार प्राप्त करता है, और मणिपूरकी प्रदीप्तिके फलस्वरूप साधकमें आत्मरक्षाकी क्षमता बहुत अधिक मात्रामें बढ़ जाती है। थोड़ेमें कह सकते हैं—

The solar plexus gives conscious emotional control.

अर्थात् मणिपूर-चक्र मनोविकारोंका सज्ञान प्रभुत्व प्रदान करता है।

मणिपूरके ऊपर अनाहत-चक्र (Cardiac plexus) है। इस चक्रका स्थान है हृदय (Heart), हृत्पद्म—'**हृत्पद्मकोषे विलसत् तडित्प्रभम्।**' इस पद्मको ईसाई साधक Mystic Rose (गुप्त गुलाब) कहते हैं—

'The petals of which open only after the Christ's child has been born in the heart.'

अर्थात् जिसकी पङ्खुड़ियाँ तब खिलती हैं जब हृदयमें ईसारूप बालक पैदा होता है—यही चैनिक 'आईचिन', कनक-कमल है। अनाहत-चक्रके उद्भासित होनेपर मनुष्यकी बुद्धिके ऊपर जो बोधि (Intuition) है, उसका उद्भव होता है—

It becomes the organ of intuition,—through it flows the power of the intuitional worlds.

अर्थात् यह बोधि (अन्तर्दृष्टि)-का कारण बन जाता है—इसके द्वारा बोधिजगत्की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं।

अनाहतके ऊपर विशुद्ध-चक्र है। इसका स्थान है कण्ठ (Throat)। आधुनिक विज्ञान जिस Thyroid gland (थिरायड ग्लैण्ड)-के अद्भुत कार्योंका आविष्कार कर रहा है, वह इस विशुद्ध-चक्रके साथ ही संलग्न है। इस चक्रके प्रज्वलित होनेपर साधक दिव्य श्रुति (Clairaudience) प्राप्त करता है।

Throat Chakram when vivified bestows the faculty of clairaudience.

विशुद्धके ऊपर आज्ञाचक्र है। इसका स्थान है भ्रूमध्य। यह चक्र द्विदल है—एक दल पाश्चात्य विज्ञानका Pineal gland (पाइनियल ग्लैण्ड) और दूसरा दल Pituitary body (पाइट्यूटरी बॉडी) है। साधारण जीवन-विज्ञान (Physiology) के ग्रन्थोंमें इन दोनों ग्रन्थियों glands को 'Two insignificant excrescences in man's cranial cavity' (मनुष्यके मस्तकके भीतर उत्पन्न दो निरर्थक मांसपिण्ड) कहा गया है। अध्यापक विचेने उन्हें 'Two horny warts covered with grey sand' (भूरी बालूसे ढके हुए दो कठोर मांसपिण्ड) कहकर उनकी उपेक्षा की है। किन्तु मैडम ब्लैवेट्स्कीने उस बालूको ध्यानपूर्वक देखकर एक दिन कहा था—

'This sand is very mysterious and baffles the enquiry of every materialist.'

अर्थात् इस बालूमें बड़ा रहस्य है जिससे जडवादी-मात्रकी बुद्धि चकरा जाती है।

साधारण मनुष्यमें यह आज्ञा-चक्र अविकसित (undeveloped) रहता है। जिस समय कुण्डलिनीशक्ति जागरित होकर सुषुम्ना-मार्गसे इस आज्ञाचक्रमें प्रवेश करती है, उस समय क्या होता है?

On reaching the pituitary and pineal centres, it polarizes them into positive and negative conditions and vivifies them into a hyper-active state, in which they interact so closely that they become one centre. *(Hodson)*

अर्थात् भ्रूमध्यकी इन दो ग्रन्थियोंमें पहुँचकर यह (कुण्डलिनी) इन्हें ऐसे सञ्चालित कर देती है कि एक धनात्मक और दूसरी ऋणात्मक गतिवाली बनकर दोनों बड़ी तेजीके साथ चलने लगती हैं, दोनोंकी गति एक-दूसरेमें इतनी परस्पर-तन्मयताके साथ होती है कि दोनों मिलकर एक चक्र बन जाती हैं।

इस प्रसङ्गमें योगसिद्धा श्रीमती ब्लैवेट्स्की इस प्रकार लिखती हैं—

The pulsation of the pituitary body, mounts upward more and more until the current finally strikes the pineal gland and the dorment organ (आज्ञाचक्र) is awakened and set all glowing with the pure Akashic Fire (कुण्डलिनी)—

अर्थात् इन दो ग्रन्थियोंमें जो नीचेकी ओर ग्रन्थि है (पिटुइटरी बॉडी) उसका स्पन्दन ऊपरकी ओर अधिकाधिक होकर अन्तमें ऊपरवाली ग्रन्थिमें आघात करता है और तब जो सोया हुआ-सा रहता है वह आज्ञाचक्र जाग उठता है और विशुद्ध आकाशाग्नि (कुण्डलिनी)-से चमकने लगता है।

यह विकसित और प्रज्वलित आज्ञाचक्र ही तन्त्रोक्त शिवनेत्र है। उसका उन्मीलन होनेपर साधक त्रि-अम्बक (त्रिनेत्र) होता है। यह आज्ञाचक्र ही दिव्य दृष्टिका यन्त्र (organ of clairvoyance) है—इसीकी सहायतासे अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

It may seem strange, almost incomprehensible, that the chief success in Gupta-vidya or occult knowledge, should depend upon such flashes of clairvoyance, and that the latter should depend in man, on two insignificant excrescences in his cranial cavity.

(Madam Blavatsky)

'यह बात बड़े अचरजकी-सी मालूम होगी और सहसा समझमें भी न आवेगी कि इस गुप्त विद्याको अधिगत करनेके यत्नकी सफलता इस दिव्य दृष्टिके ऐसी चमकपर निर्भर करती है और यह चमक भी मनुष्यके कपालके अन्दरकी कुछ नहीं-सी दो फालतू-सी ग्रन्थियोंपर अवलम्बित है।'

आज्ञाचक्रके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें सहस्रार है। इसका स्थान मस्तिष्कके सामनेवाले विवर (anterior fontanelle) में है। अतीन्द्रिय दृष्टिसे देखनेपर इस पद्मके एक हजार दल दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण इसका नाम सहस्रार (सहस्रदल पद्म— thousand petalled lotus) है।

आज्ञाचक्रको उद्भासित करके, उसके बाद कुण्डलिनी सहस्रारमें उपस्थित होती है। इस सहस्रारको प्रज्वलित करना ही कुण्डलिनी-साधनाकी अन्तिम सीमा है।

When the Sahasrara is fully vivified, the ego gains the power to withdraw from and return to the physical body at will, without a break in consciousness occurring.

'सहस्रार जब पूर्णरूपसे जाग उठता है तब देहाभिमानी आत्मामें चाहे जब देहसे अपने-आपको खींच लेने और चाहे जब देहमें लौट आनेकी शक्ति आ जाती है और यह सब करते हुए चित्तमें चैतन्य बना रहता है।'

इस स्वच्छन्द विहारको उपनिषदोंमें 'कामचार' कहा गया है—

तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

तन्त्रकी भाषामें कह सकते हैं कि इस समय कुण्डलिनी-देवी सहस्रारमें सदाशिवके साथ सङ्गता होती है। यही सर्वज्ञता-सिद्धि है—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजज्ञानम्।

(योगसूत्र ३। ५४)

इस अवस्थाका वर्णन करती हुई चैनिकयोग-दीपिका कहती है—

Then body heart are completely controlled and one is quite free and at place, letting go all entanglements, untroubled by the slightest excitement, with the Heavenly Heart exactly in the middle.

'तब मनुष्यका शरीर और चित्तपर पूर्ण अधिकार होता है, वह सर्वथा सब अवस्थाओंमें स्वच्छन्द और सुखासीन होता है, सब बन्धन छूट जाते हैं, क्षोभका नाम भी नहीं रह जाता, ठीक मध्यमें जो दिव्य हृदय है उसीके साथ वह रहता है।'

यही आईचिनकी भाषामें— 'Action in inaction' (अकर्ममें कर्म)—गीताका **'शारीरं केवलं कर्म'** है। उस अवस्थामें साधक 'instead of being in it, is above it' (इसके अन्दर होनेकी जगह इसके ऊपर होता है,—यही वास्तवमें निर्द्वन्द्व होना है— the union of the opposites on a higher level of consciousness (चैतन्यके उच्चतर स्तरमें परस्पर-विरोधोंका मिलन) है। इसीको सांख्य-मतवाले कहते हैं—

प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः।

उस समय साधक साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है, कर्ता या भोक्ता नहीं रहता। यही योगकी चरम सिद्धि है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योगसूत्र १। ३)

इसी अवस्थाको लक्ष्य करके छान्दोग्य-उपनिषद् कहता है—

एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

'यह जीव इस शरीरसे ऊपर उठकर परम ज्योतिको प्राप्तकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है।'
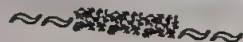
बुद्धियोग ही सबसे उत्तम और अन्तिम साधन है

(लेखक—श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)

परमात्माकी प्राप्तिका उपाय ही योग कहलाता है, यही योग शब्दका यौगिक अर्थ है। यह योग साक्षात् और परम्परासे ईश्वर-प्राप्तिका साधन होनेके कारण फल तथा साधनरूपसे दो प्रकारका है। परमात्मप्राप्तिका साक्षात् साधन बुद्धियोग ही है; अतः वही उत्तम और अन्तिम योग है। परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌की प्राप्ति एकमात्र ज्ञानसे ही हो सकती है और किसी भी उपायसे नहीं; यही श्रुतियों और स्मृतियोंकी एक स्वरसे घोषणा है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मु० उ०)

अर्थात् 'ब्रह्मको जाननेवाला नित्य मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।'

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेता० उ०)

'आत्माको परमात्मासे अभिन्न जानना ही मोक्षका साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके लिये इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।'

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।
(तै० उ०)

'ब्रह्मके स्वरूपभूत आनन्द अथवा आनन्दरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष किसीसे भी नहीं डरता; अर्थात् वह निर्भय अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

तरति शोकमात्मवित्। (छा० उ०)

'आत्मवेत्ता ही शोकरूप संसारको पार कर सकता है।'

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् 'जिन अधिकारियोंका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस वेदान्तप्रसिद्ध परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।' 'आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्माकी स्वरूपभूत निरतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

यदि यह कर्ता-भोक्तारूप दुःखमय संसार रज्जुमें सर्प और शुक्तिमें रजतकी प्रतीति होनेके समान अज्ञान-जन्य ही माना जाता है तो अवश्य इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है; भक्ति, ध्यान अथवा कर्मसे नहीं। इस प्रकारकी युक्तियों तथा ऊपर बतलायी हुई श्रुति-स्मृतियोंसे भी यही सिद्ध होती है कि परमानन्दस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिका उत्तम साधन ज्ञान ही है। अतः किसीके भी मिथ्या ज्ञानसे बढ़े हुए जन्म-मरणके प्रवाहरूप संसारका आत्यन्तिक विनाश ज्ञानके बिना कभी नहीं हो सकता—यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त हुई सुदृढ़ भेदबुद्धि ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। महान् व्यामोहके कारण देह आदिमें प्रकट हुई आत्मबुद्धिके द्वारा जबतक 'मैं कर्ता हूँ' 'भोक्ता हूँ' 'दुर्बल हूँ' 'उन्नत हूँ' 'सुखी हूँ' 'दुःखी हूँ' 'यह सब कुछ मेरा ही है' तथा विधि-निषेध, पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक इत्यादि व्यवहार होते रहते हैं, तबतक इसी व्यवहारमें बँधे रहनेके कारण जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे जीवका लेशमात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता। और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयोंकी वेदनासे चित्त चिन्तित रहनेके कारण वह जीव अत्यन्त व्याकुल रहा करता है। जबतक शरीर धारण करना पड़ता है तबतक स्वप्नमें भी लेशमात्र भी शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—यह निश्चित बात है। कहा भी है—

यत्र यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र तत्र दुःखम्।
(वासुदेव-मनन)

अर्थात् 'जहाँ-जहाँ शरीर धारण करना पड़ता है वहाँ-वहाँ दुःख है।'

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।
(छा० उ०)

'देहधारणकी अवस्थामें प्रिय-अप्रिय विषयोंके ग्रहणसे होनेवाली व्याकुलता कभी भी नहीं मिटती।' देहधारी होना ही दुःखका मूल है, उस समय जो कभी क्षणिक सुखका अनुभव होता है वह भी दुःखोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण दुःख ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखोंका

मूलभूत जो शरीरग्रहण है उसका अभाव हो जाना ही परम पुरुषार्थरूप मोक्ष है—यह अनेकों दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इसी आशयका बोधक भगवान् गौतमका न्यायसूत्र भी है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

इसका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तिरूप मिथ्या ज्ञानसे पहले राग-द्वेष आदि चित्तके दोष प्रकट होते हैं, उनसे धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे ही देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि योनियोंमें जन्म होता है; फिर उससे दुःख होता है। इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर भावोंमें पूर्व-पूर्व भाव कारण होते हैं। अतः इसी क्रमसे मूलहेतु मिथ्या ज्ञानके नाश होनेपर उसके कार्यभूत रागादि दोषकी निवृत्ति होती है, दोषनिवृत्ति होनेपर धर्माधर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिका अभाव होनेसे किसी योनिमें शरीर-ग्रहण नहीं करना पड़ता और शरीरके न होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें सभी विचारकोंका मत यही है कि 'समस्त दुःखोंका एकमात्र कारण मिथ्या ज्ञान ही है।' उस मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी और उसकी निवृत्ति हो जानेपर नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप अपने आत्मभूत परमात्मामें स्थिति किस प्रकार हो सकती है? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् भाष्यकार यह सूत्रभूत वाक्य कहते हैं—

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति।

ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञान-जन्य संसारका विनाश सौ करोड़ कल्पोंमें भी किसी तरह नहीं हो सकता! इससे बढ़कर बुद्धियोगका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है?

इसके अतिरिक्त जबतक ईश और ईशितव्यका भेद बना हुआ है अर्थात् 'मैं नियम्य हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है' इस प्रकार जीव और ईश्वरमें भेदकी कल्पना है तथा ऐसा होनेके कारण ही हाथमें तलवार उठाये हुए स्वामीके सामने सेवककी भाँति पुरुषका जीवन जबतक भयपूर्ण और पराधीन है तबतक उसे स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? तथा स्वतन्त्र हुए बिना सुखकी वार्ता भी कैसे की जा सकती है? स्वतन्त्रताके द्वारा ही कृतार्थ हो जानेके कारण जीवको सुख मिलता है—यह सभीका मत है। बड़े खेदकी बात है कि अपनेसे भिन्न नियामक और फलदाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके अधीन हो उससे डरते हुए पण्डित पुरुष भी मोहित और दुःखी हो रहे हैं! जबतक सम्यक्-रूपसे विचारके द्वारा परमार्थतत्त्वका निश्चय नहीं होता तबतक अपनेको नियम्य मानकर अपनेसे भिन्न नियामककी अज्ञान-जन्य कल्पना अवश्य ही होगी। अतः परमार्थतत्त्वस्वरूप परब्रह्मका ज्ञान ही नियम्य-नियामकभावसे उसमें आरोपित की हुई अनर्थकी कारणभूत जीव ईश्वरभेदकल्पनाका नाशक है; इसलिये तत्त्वज्ञान ही सब साधनोंमें उत्तम और विशेष है। जैसा कि सुरेश्वराचार्यने कहा है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

'अपने आत्माके परम तत्त्वको न जाननेसे ही नियम्य-नियामकभावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक् ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।'

जीव, ईश्वर, जगत् इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ माया-मोहके ही कारण स्फुरित होती हैं। तत्त्वज्ञानसे माया-मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वैसी भेद-कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। उस समय स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त होकर पुरुष नित्य मुक्त शुद्धस्वरूप अपनी महिमामें विराजमान होता है। इसी बातका हमने भी बदरीशस्तोत्रमें अन्वय-व्यतिरेकन्यायसे निरूपण किया है—

सत्यज्ञानसुखस्वरूपमचलं यद्वस्तु तस्योदरे
विश्वं भाति विचित्रमूर्ध्वनगरीतुल्यं निजाविद्यया।
मायामोहपरिक्षये तु न जगज्जीवोऽपि वा नेश्वरः।
शुद्धात्मात्मनि शिष्यतेऽस्तु बदरीभर्ता गतिस्तद्वपुः॥

'नित्य निर्विकार सच्चिदानन्दघन नामक जो वस्तु है उसीके अन्दर गन्धर्वनगरके समान अज्ञानवश जीव, ईश्वर और जगत्के रूपमें यह द्वैत प्रतीत हो रहा है। जिस समय ज्ञान-प्रकाशका उदय होनेसे महामोहरूप तम निवृत्त हो जाता है उस समय न तो जीवकी प्रतीति होती है और न जीवके नियामकरूपसे ईश्वरकी

ही प्रतीति होती है, द्वैतका भान तो लेशमात्र भी नहीं होता। उस समय भेदकी कल्पनाओंसे रहित एक अद्वितीय आत्मा ही अपनी महिमामें शेष रह जाता है; ऐसे निर्विकल्प आत्मस्वरूप श्रीबदरीनाथजी ही मेरे आश्रय हों'—यही इस श्लोकका सारांश है।

इस प्रकार भेद-कल्पना और उससे प्राप्त होनेवाले संसाररूप अनर्थकी परम्पराके एकमात्र बीज महामोहका अत्यन्त विनाश करके नित्यानन्दस्वरूप परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति करानेका साधन बुद्धियोग ही है; अतः वही उत्तम और अन्तिम योग है—इस विषयमें विद्वानोंको तनिक भी संशय नहीं है। अन्य जो भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, लययोग, जपयोग, क्रियायोग और हठयोग आदि अप्रधान योग हैं वे सभी उपर्युक्त महिमावाले परम पदके प्रापक मोहविध्वंसक बुद्धियोगके साधनमात्र हैं। उन अप्रधान योगोंमें भक्तियोग ही सबसे प्रधान है; क्योंकि वह अन्य योगोंकी अपेक्षा शीघ्र ही बुद्धियोगको उत्पन्न करता है। भक्तियोग जिस प्रकार अपने साधकको ऊँचे उठाता है—परम तत्त्वके निकट पहुँचाता है उस प्रकार अन्य योग नहीं पहुँचाते; अतः परमेश्वरकी भक्तिकी अपेक्षा सभी योग कनिष्ठ हैं।

यथानुरक्तिर्भवतोऽङ्घ्रिमूले
भक्तानुकम्पस्य भवार्तिहारिन्।
तथात्र कर्माथ च राजयोगः
सुखेन नैवोन्नमयेतुमांसम्॥

(बदरीशस्तोत्र)

'हे भवबाधाको मिटानेवाले भगवन्! आप भक्तवत्सल प्रभुके चरणोंमें की हुई भक्ति जिस प्रकार साधकको अनायास ही उन्नतिकी ओर ले जाती है उस प्रकार इस लोकमें कोई कर्म अथवा राजयोग पुरुषको अनायास और शीघ्र ही उन्नत पदपर नहीं ले जा सकते।'

गौणी भक्ति और परा भक्तिके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। यदि परा भक्ति नित्य निरतिशय निर्विकल्पाद्वैतरूपिणी और भेदकी गन्धसे रहित हो तो वह पूर्वोक्त अद्वैत ज्ञानरूपा ही है, अतः उसकी मोक्षके प्रति साक्षात् साधनता निषिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ बुद्धियोगके साधनरूपसे गौणी भक्ति ही विवक्षित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें न्याययुक्त अनेकों श्लोकोंद्वारा उन-उन स्थलोंपर भक्तिके सर्वोत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। उन सभी श्लोकोंको भक्तिप्रधान 'कल्याण' पत्रके पाठक भलीभाँति सुन और जान चुके होंगे; अतः उनको यहाँ उदाहरणरूपमें उद्धृत करनेका प्रयत्न हम नहीं करते हैं। भागवत-प्रसिद्ध नवधा भक्तिके द्वारा अपनेको प्रिय लगनेवाले भगवान्‌के किसी भी रूपसे उनकी उपासना करनेवाले पुरुष भगवत्कृपासे अपने पाप और चित्तमलके नाश हो जानेपर विशुद्धचित्त होकर शीघ्र ही भगवान्‌के पारमार्थिक निरुपाधिक तत्त्वको जाननेमें समर्थ होते हैं। भक्तोंके मार्गमें जो-जो विघ्न आते हैं उन सबको दूर करके भक्तवत्सल भगवान् सदा ही अपने भक्तोंका पालन करते हैं; अतः राजयोग आदिसे भक्तियोगका माहात्म्य अवश्य ही विशेष है। क्योंकि भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है—

न मे भक्तः प्रणश्यति।

'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।' इस विषयपर निम्नाङ्कितरूपसे मैंने भी विचार किया है—

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्रशुद्धे
चित्तस्य साधनमतस्तदुपार्जनीयम्।
भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपद्भ्यो
भक्तप्रियस्तमनिशं स्मर बद्रिकेशम्॥

(बदरीशस्तोत्र)

'भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपमें की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्तशुद्धिका कारण होती है; अतः सभी मुमुक्षुओंको चाहिये कि निरन्तर उस भक्तिका उपार्जन करें। क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमें जिसने सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है उसका कभी नाश नहीं होता। जो भक्तवत्सल भगवान् इहलोक और परलोक दोनोंको विनष्ट करनेवाली सभी आपदाओंसे अपने भक्तकी सदा ही रक्षा करते हैं उन ऐसे माहात्म्यवाले बदरीनाथजीका हे मन! तू निरन्तर स्मरण कर।'

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भगवान् अभक्तोंको बन्धनका हेतुभूत अज्ञान देते हैं उसी प्रकार वे ही भक्तोंको चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान भी देते हैं; अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की प्रसन्नताके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।१०-११)

'मुझमें सदा चित्त लगाये रहनेके कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विशेष अद्वय परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। उन भक्तोंपर ही दया करके मैं प्रत्यगात्मारूपसे उनके अन्तःकरणमें रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रदीपसे उनके अज्ञानजन्य आवरणको नष्ट कर देता हूँ।'

तथा जबतक चित्त पापकलापोंसे कलुषित है तबतक उसमें शुद्धता और शुद्धतासे होनेवाले आत्मप्रकाशकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। कीचड़से मलिन हुए जलमें जिस प्रकार सूर्यमण्डलका प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता उसी प्रकार पापकलुषित हृदयमें आत्मप्रतिबिम्ब तनिक भी स्फुरित नहीं होता। परन्तु कीचड़ धो देनेसे निर्मल हुए चित्तमें सहज ही आप-ही-आप आत्मतत्त्व प्रकाशित होने लगता है—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
यथादर्शनके प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥

(महाभारत)

'पहलेके किये हुए पापोंका क्षय हो जानेपर ही सम्यक्‌रूपसे पुरुषोंको तत्त्वज्ञान होता है। कीचड़ धुल जानेपर अत्यन्त विमल दर्पणमें जिस प्रकार अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है, उसी प्रकार अपनी विमल बुद्धिमें पुरुष अपने आत्माको अपरोक्षरूपसे उपलब्ध करता है।'

धर्माधर्मकी मर्यादाके व्यवस्थापक और धर्माधर्मके फलदाता सर्वनियामक परमेश्वरकी प्रसन्नताके साथ ही होनेवाली करुणाके बिना किसीके भी पाप-समूहका नाश नहीं हो सकता। अतः भगवान्‌के अनुग्रहका एकमात्र हेतु उनकी भक्ति ही अन्य सभी कल्याण-साधक योगोंसे श्रेष्ठ है—इसमें कहना ही क्या है? इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

'भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनेसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्तशुद्धि हो जानेसे ही जिसकी विषयोंमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है ऐसे पुरुषको ही भगवान्‌के पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधनसे किसी प्रकार नहीं हो सकता।'

इस प्रकार भक्तिका सर्वोपरि माहात्म्य सिद्ध होनेपर भी कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि 'भाष्यकार शङ्कराचार्यने भक्तिशास्त्रका खण्डन किया है; अतः अद्वैतपथके पथिक शङ्करभक्तोंको भक्तिमार्गका अनुसरण नहीं करना चाहिये।' यद्यपि उनका कथन ठीक है तथापि जिनके राग-द्वेषादि मल-विक्षेप दूर नहीं हुए हैं उनके अन्दर आत्मविवेचनकी शक्ति कैसे हो सकती है? और मलिनचित्त होनेके कारण किस प्रकार वे आत्मसमाधि कर सकते हैं? अतः भक्तिमार्ग ही सरल और श्रेष्ठ है तथा उसीका सबको अनुसरण करना चाहिये। भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य स्वयं ही परमात्माके बहुत बड़े भक्त थे। संसारमें उनके समान भक्त कोई विरला ही हो सकता है! हिमालयसे लेकर सेतुबन्ध रामेश्वरतक भारतवर्षके अन्दर अनेकों प्रसिद्ध-प्रसिद्ध क्षेत्रोंमें अपनी सर्वोत्तम भक्तिसे उन्होंने वहाँके देवताओंको प्रसन्न किया जिससे उन-उन देवताओंने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन और मनोवाञ्छित वरदान दिया—यह बात उनके चरित्रवेत्ताओंसे छिपी नहीं है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने वैष्णवोंके भक्तिशास्त्रकी प्रक्रियाका तिलशः खण्डन किया तथापि भक्तिका खण्डन कहीं नहीं किया है; क्योंकि भगवान् शङ्कराचार्य स्वयं ही भक्तिको तत्त्वज्ञानका परम साधन मानकर उसके सर्वोत्तम माहात्म्यका स्वरचित शारीरकभाष्यमें पाञ्चरात्रोंके चतुर्व्यूहवादका खण्डन करते समय इस प्रकार समर्थन करते हैं—

यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्।

अर्थात् 'अव्यक्तसे भी पर और स्वयं ही नाना प्रकारके व्यूहोंमें स्थित रहनेवाले सर्वात्मा परमेश्वर देवदेव भगवान् नारायणके मन्दिरमें जाना, पूजा आदिके लिये उपयुक्त सामग्रियोंको लेकर उनकी पूजा करना, अष्टाक्षर आदि मन्त्रोंका जप, कीर्तन और ध्यान आदि जो यजनकर्म वैष्णव-शास्त्रोंमें निरन्तर अनन्यभावसे

विधान किये गये हैं उनका हम निषेध नहीं करते; क्योंकि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ एक स्वरसे शरीर, मन और वाणीके द्वारा ईश्वरकी विशेष भक्तिका उपदेश करती हैं।'

अतः यह निष्कर्ष निकला कि 'अनन्यचित्तसे अभ्यास किया हुआ भक्तियोग परम पुरुषार्थकी साधनभूत अद्वैत बुद्धिका उत्पादक होता है और अनायास ही शीघ्रतापूर्वक फलयोग (बुद्धियोग)-का, अप्रतिबन्धक-भावसे साधक होता है, इसलिये वही सब साधनोंमें परम उत्तम है।'

इसके बाद यम-नियम आदि आठ अङ्गोंसे युक्त, चित्तवृत्तिका निरोधरूप फलवाला राजयोग भी सम्यग्रूपसे आत्मज्ञानका उपयोगी है इसलिये वह भी उत्तम साधन है।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।
(मुण्डक०)

'चित्तशुद्धि होनेके अनन्तर एकाग्रमनसे अखण्ड, अपरिच्छिन्न आत्माका निरन्तर चिन्तन करनेवाला पुरुष अपरोक्षभावसे आत्माका अनुभव करता है।'

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।
(क० उ०)

'आत्मामें चित्तकी समाधि ही अध्यात्मयोग कहलाता है, उसकी प्राप्ति हो जानेसे बुद्धिमान् पुरुष स्वयंप्रकाश आत्माका साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदिसे रहित हो जाता है।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥
(गीता ६।१३, १५)

अर्थात् 'शरीर, मस्तक और ग्रीवा—इन्हें इस प्रकार धारण करे जिससे ये सम एवं अचञ्चल हों और स्थाणु (ठूँठ पेड़)-की भाँति स्थिर होकर नेत्रोंसे अपनी नासिकाके केवल अग्रभागको देखता हुआ अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टि न ले जाकर आत्म-भावनामें संलग्न हो चुपचाप बैठा रहे। योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार एकाग्र चित्तसे निरन्तर आत्माका अनुसन्धान करता हुआ, मुझमें स्थित हो जाना ही जिसका स्वरूप है ऐसी नित्य निरतिशय परमकैवल्यरूपिणी शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

—ऐसी अनेकों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ तत्त्वदर्शनके उपायरूपसे राजयोगका वर्णन करती हैं। यह योग केवल अद्वैतविज्ञानको ही नहीं, सगुण भक्तिको भी चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करता हुआ सुदृढ़ करता है। इसी आशयका समर्थक शाण्डिल्यसूत्र भी है—

'योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्............'

अर्थात् 'भक्ति और ज्ञान दोनों ही चित्तवृत्तिकी स्थिरताकी अपेक्षा रखते हैं; अतः योग इन दोनोंका निमित्त एवं सहायक होता है।'

जिस प्रकार राजयोग भक्तिका उपकारक है उसी प्रकार भक्ति भी योगके लिये उपयोगिनी है। अतः इन दोनोंमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव-सम्बन्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र)

अर्थात् 'परमेश्वरमें किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधान—भक्तिविशेषसे सन्तुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्तपर अनुग्रह करते हैं; अतः पाप आदि कारणोंसे होनेवाले विघ्न और प्रतिबन्धकोंके अभाव हो जानेसे उस भक्तको थोड़े ही समयमें समाधि और उसके फलकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।' 'उस ईश्वरका वाचक—नाम प्रणव—ॐकार है।' 'प्रणव-मन्त्रका जप और प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वरका चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।'

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणवके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति चिन्तन करनेसे अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है। तदनन्तर बुद्धिमें स्पष्टरूपसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं; अर्थात् परम तत्त्वज्ञानका उद्गम होता है—यह इन तीनों सूत्रोंका सम्मिलित अर्थ है।

ऊपरके कथनानुसार यद्यपि राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण कुछ शास्त्रकारोंद्वारा तुल्यप्रधान बतलाये गये हैं तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदिके द्वारा समाधि-लाभ करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर, परिश्रमसाध्य तथा अनेक विघ्नोंके कारण विषम कार्य है। अतः भक्तिमार्गपर चलना ही अत्यन्त सरल, सुकर

तथा परिश्रम एवं विघ्नोंसे रहित है। इसलिये भक्तियोग ही शीघ्र फलदायक उत्तम साधन है। यही उन महात्मा विद्वानोंका भी सिद्धान्त है, जिन्होंने कि अनेकों साधनोंका अनुष्ठान स्वयं किया है। इस विषयमें व्यासजीके निम्नाङ्कित प्रकारके वचन ध्यान देनेयोग्य हैं—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥

'अन्य युगोंमें तपस्या, योग और समाधिसे भी जो फल प्राप्त नहीं होता वही फल कलियुगमें मनुष्य केवल भगवान्‌का नाम-कीर्त्तन करनेसे पा लेता है।'

इस प्रकार यहाँ भक्तियोगकी प्रधानता होनेपर भी चित्तवृत्तिनिरोधके विषयमें राजयोगका माहात्म्य निषिद्ध नहीं है। सिद्ध योगियोंकी सहायतासे प्राणायाम और प्रत्याहारादि योगसाधनोंका परिशीलन तथा उसके द्वारा समाधिसम्पादन भी कल्याणपदपर आरूढ़ होनेका उपाय होनेके कारण प्रशंसनीय ही है। दु:खके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग योगकला-निष्णात सिद्ध महात्माओंकी सहायताके बिना ही अपनी धृष्टताके कारण केवल पुस्तकोंकी सहायतासे प्राणायामादि योगमार्गपर चलते हैं वे महान् अनर्थके गड्ढेमें गिरते हैं। हमें तो उनके दु:साहस और विपरीत बुद्धिपर आश्चर्य होता है।

पूर्वोक्तरूपसे राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभावसे सम्बन्ध होनेपर भी दोनों ही ज्ञानयोगके उपकारक होते हैं। और अद्वैतबुद्धि (ज्ञान)-योग किसी अन्यका अंगभूत होकर उपकारक नहीं है; अत: वही ईश्वरप्राप्तिका प्रयोजक उत्तम और अन्तिम योग है।

अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनारूप जो निष्काम कर्मयोग है वह भी रागादि दोषोंको दूर करके चित्त-शुद्धिके द्वारा ज्ञानयोगका साधक होता है, अत: वह भी आदरणीय ही है। इस कर्मयोगका स्वरूप और माहात्म्य श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीन कर्मठों और किन्हीं-किन्हीं आधुनिकोंकी भी यह सम्मति है कि 'कर्मयोग ही अन्य सभी साधनयोगोंसे श्रेष्ठ है; अत: उसीका सबको अनुष्ठान करना चाहिये।'

इनके अतिरिक्त अन्य जो क्रियायोग, जपयोग, हठयोग, लययोग आदि हैं वे सभी परम्परासे बुद्धियोगके लिये उपयोगी होनेके कारण आदरणीय हैं और मुमुक्षुओंको उनका भी अनुष्ठान करना चाहिये—इन साधनोंके विषयमें मैं संक्षेपसे इतना ही कहता हूँ। इनका विस्तार करनेका प्रयत्न नहीं करूँगा।

अब अन्तमें मुझे कुछ और भी विशेषरूपसे कहना है—इन सभी योगोंका मूल कारण क्या है, जिसके प्रभावसे उन-उन योगोंमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है और क्रमश: बुद्धियोग-सम्पादनके द्वारा परम कैवल्यकी प्राप्ति होती है? इसके उत्तरमें यह बतलाना चाहता हूँ कि सभी योगोंका मूल कारण साधु-संग है। साधु-संग ही सभी योगोंका मूलभूत योग है इसलिये उसे मूलयोग कहा गया है। इस प्रकार सत्संगयोग परम्परासे परम बुद्धियोगका भी कारण है, अत: वही परमसे भी परमयोग है, उसकी उत्कृष्टताका अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। अत: सभी लोग इस बातको जान लें कि समस्त कल्याणों और सभी योगोंका आदिकारण सत्सङ्ग ही है। संसाररोगसे पीड़ित हुए मनुष्योंके लिये सत्संग ही सबसे उत्तम ओषधि है। भव-तापसे सन्तप्त पुरुषोंके लिये सत्संग ही सबसे बढ़कर सहारा है। संसार-सागरमें डूबते हुओंको सत्संग ही पार लगानेवाला उपाय है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा०)

'जिस प्रकार पानीमें डूबते हुए प्राणियोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है उसी प्रकार भयङ्कर संसारसमुद्रमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त दीन-दु:खी मनुष्योंके लिये अत्यन्त शान्त ब्रह्मवेत्ता साधु ही सबसे बड़े सहारे हैं।'

इति।

हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग

(लेखक—एक 'दीन')

शरीर और उसकी नाडियोंकी शुद्धि और स्वास्थ्यकी रक्षा करना हठयोगका मुख्य उद्देश्य है। आसनसे स्वास्थ्यकी रक्षा और व्याधिनाश होता है और इसका अभ्यास करनेमें कोई भय नहीं। परन्तु इसमें शरीरविज्ञानका अनुभव पहले आवश्यक है, इसलिये अनुभवी पुरुषके द्वारा सीखकर ही अभ्यास करना चाहिये, नहीं तो व्याधिनाशके बदले व्याधिवृद्धि हो सकती है।

प्राणायाम

विधिपूर्वक किये हुए थोड़े प्राणायामसे दोषोंका नाश होता है। सन्ध्योपासनामें तीनों समय तीन-तीन बार अर्थात् कुल नौ बार प्राणायाम करनेकी विधि है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्यामें दस-दस बार अर्थात् कुल तीस बार करनेका आदेश है; किन्तु तीसों बार एक साथ करनेका आदेश नहीं। प्राणायाम करनेसे शरीरके भीतर शुष्कता आती है, इसके लिये अभ्यास करनेवालेको गोघृतका सेवन करना चाहिये। एक प्राणायाम ऐसा है जिसका रेचक ब्रह्मरन्ध्रसे मेरुदण्डके बीचकी सुषुम्ना नाडीमें किया जाता है और जो गुरुगम्य है। प्राणायाम करनेसे उन्माद भी होता है। एक साधकने एक बार मुझसे कहा कि मैंने इतना अधिक प्राणायाम किया कि मेरे रोम-रोमसे प्रणवकी ध्वनि होने लगी; किन्तु कोई आन्तरिक अनुभव या लाभ नहीं हुआ। सच तो यह है कि योगके प्रथम और द्वितीय अंग यम-नियमकी प्राप्ति और आसनसिद्धिके बिना प्राणायाम विशेष लाभदायक नहीं होता। शास्त्रोंमें प्राणायामकी बहुत प्रशंसा की गयी है; किन्तु यह भी कहा गया है जैसा कि श्रीमद्भागवतपुराणमें मिलता है कि वायु जीतनेपर भी मनको न जीतनेसे लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मन प्राण-वायुसे उच्च है, क्योंकि प्राणवायु मनका अनुसरण करता है, परन्तु मन प्राणवायुका अनुसरण नहीं करता। काम-क्रोधसे उत्तेजित होनेपर श्वासकी गति तीव्र हो जाती है और मन शान्त होनेपर प्राण भी शान्त हो जाता है। किन्तु प्राणका निरोध करनेपर भी मनकी चञ्चलता पूरी दूर नहीं होती। इस कारण राजयोगमें प्राणनिग्रह न करके सीधे मनका निरोध किया जाता है, जिससे प्राणका निरोध हठके बिना स्वयं हो जाता है। हठयोगका भी सिद्धान्त है कि राजयोग ही हठयोगका लक्ष्य है; किन्तु भेद यह है कि हठयोगके ग्रन्थका कथन है कि हठयोगके बिना राजयोगकी प्राप्ति नहीं होगी और हठ भी राजयोगके बिना व्यर्थ है। परन्तु राजयोगका सिद्धान्त है कि हठयोग राजयोगकी प्राप्तिके लिये आवश्यक नहीं है, वरं किञ्चित् बाधक है।

आपत्ति

हठयोगकी बन्ध-सम्बन्धी क्रियामें भय नहीं है। धोती और जलधौती स्वाथ्यके लिये उत्तम है; किन्तु इनके बदले ऊपरकी जठराग्निके भागको रबरके ट्यूब (Stomach Tube)-के द्वारा साफ करना और मलाशयको एनिमा (Enema)-द्वारा साफ करना उत्तम है। हठयोगकी क्रियामें ब्रह्मचर्य और सात्त्विक भोजन, जैसे गेहूँ, मूँगकी दाल, दूध, घी आदिका व्यवहार आवश्यक है। जो लोग राजसिक आहार—जैसे तेल, मिर्च, खटाई, रूखा, कडुआ और तीखा आदि व्यवहार करते हैं, वे रोगग्रस्त हो जाते हैं; क्योंकि साधकका अन्तर्भाग इसे सहन नहीं कर सकता और इस कारण स्वास्थ्योन्नतिके बदले **'योगे रोगभयम्'** की उक्ति चरितार्थ होती है। कितने ही हठयोगके साधक केवल क्रियाके कारण असमयमें मर गये अथवा रोगी हो गये। आजकल हठयोगके तत्त्वको जाननेवाले गुरु प्रायः दुर्लभ हैं। यदि उपयुक्त गुरु मिलें और उनकी देखभालमें साधना की जाय तो कोई भय नहीं। केवल हठयोगके अभ्यासमें यह दोष है कि इसके सब साधनोंके स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेके कारण स्थूल शरीरमें जो अज्ञानके कारण आत्माभिमान है, उसकी कमी न होकर, उसकी पुष्टि होती है, जो अध्यात्म-पथमें बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। राजयोगमें तो स्थूल शरीरको केवल घोर मायिक मानकर और केवल आवरण समझकर उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता, उसकी अवहेलना करके केवल मनोमय कोषसे अभ्यास आरम्भ किया जाता है। दूसरा दोष हठयोगमें यह है कि इसके

अधिकांश अभ्यास स्थूल शरीरसम्बन्धी होनेके कारण इसका जो परिणाम होता है वह मृत्युके समय स्थूल शरीर छोड़ देनेपर बेकार हो जाता है और आगे उसका प्रभाव नहीं रहता। किन्तु राजयोगकी मानसिक क्रियाका परिणाम जन्म-जन्मान्तरतक बना रहता है; क्योंकि मृत्युके साथ अन्तःकरणका नाश नहीं होता, वह स्थूल शरीरका त्याग करनेके बाद भी बीजरूपसे वर्तमान रहता है।

चमत्कारकी तुच्छता

आजकल आकाश-तरङ्गके कारण 'ब्रॉडकास्टिङ्ग' द्वारा दूरकी बातें सुनी जाती हैं, अर्थात् विलायतका गाना भारतवर्षमें उसी क्षण सुना जाता है। इस तरह बिना यन्त्रकी सहायताके दूर-श्रवण या दूसरे प्रकारकी चमत्कारिक शक्तियाँ योगके द्वारा प्राप्त होती हैं जिन्हें सिद्धि कहते हैं। किन्तु इन सिद्धियोंका परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं। अनेक सिद्धियाँ असुरोंको भी प्राप्त थीं। ये योगमार्गके विघ्न हैं। अतएव सिद्धियाँ प्राप्त करनेकी दृष्टिसे हठयोगका अभ्यास करना समीचीन नहीं है।

जड-समाधि

गर्मीके दिनोंमें मेढक अपनी साँस और हृदयकी गतिको रोककर जमीनके नीचे बहुत दूरतक गर्मीसे बचनेके लिये चला जाता है और इस प्रकार समाधिमें जीता पड़ा रहता है। इस अवस्थाको शरीरवित् (Cateliptic) कहते हैं। वह मेढक वर्षा होनेपर इस अवस्थाको त्यागकर पुनः ऊपर आ जाता है। क्लोरोफार्म देनेपर भी बेहोशी हो जाती है और छुरीके आघातका भी प्रभाव मालूम नहीं होता। इसी प्रकारकी हठयोगकी जड-समाधि है। एक मेरे परिचित जड-समाधिसिद्ध साधुने मुझको लिखा कि मैं अब आत्महत्या करूँगा; क्योंकि मेरा जीवन व्यर्थ हुआ। इस तरहके समाधिसिद्ध अन्य योगियोंके असीम लोभ और तृष्णाकी कहानियाँ सुनी जाती हैं। एक कथा यह प्रसिद्ध है कि एक बाजीगरने घोड़ा पानेका वचन पाकर किसी राजाके सामने समाधि लगायी। जड-समाधि भङ्ग करनेके लिये तो दूसरोंकी आवश्यकता होती है, जिसके अभावमें वह समाधि-भङ्ग कर उठ न सका। अन्तमें राजाने उसे एक गुफामें रख दिया जो कालान्तरमें जमीनके नीचे दब गयी। बहुत दिनों बाद उस राजाके उत्तराधिकारियोंने उस जमीनको खुदवाया। खुदाईमें वह गुफा निकली और उसमें समाधिस्थ वह बाजीगर भी मिला। किसी प्रवीण व्यक्तिने ठीक युक्तिसे उसे जगाया। समाधिसे कई सौ वर्ष बाद जागकर भी, कहते हैं, उसने घोड़ा ही पानेकी प्रार्थना की। वह इतनी बड़ी समाधि पानेपर भी अज्ञानी ही रहा। वास्तवमें राजयोगकी चैतन्य समाधि ही यथार्थ समाधि है, जो प्रत्याहारकी सिद्धि होनेपर धारणा और ध्यानसे प्राप्त होती है और जिसकी प्राप्ति होनेपर संयमद्वारा संसारके लिये हितकर ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयोंके ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

कुण्डलिनीका दुरुपयोग

मन और इन्द्रियका दमन किये बिना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यासके द्वारा कुण्डलिनीका उत्थान और षट्-चक्र-वेध करनेसे बड़ी हानि होती है। भुवर्लोकके राजसिक-तामसिक क्षुद्र देव नाना प्रकारका मायाजाल फैलाकर, असत्य भाषण करके, असत्य दृश्य दिखाकर, साधकके दोषोंको बढ़ाकर तथा उसे भ्रममें डालकर उसका अधःपतन करा देते हैं। यदि साधक इनसे बच भी जाय तो भी वह उस जन्ममें योगोन्नति नहीं कर सकता; क्योंकि उसके चक्र निस्तेज और निःशक्त हो जाते हैं। जिस तरह किसी फूलकी कलीको तोड़कर उसे खिलानेका यत्न करनेपर वह फूल मुरझा जाता है, उसी तरह हठयोगकी क्रियासे चक्र नष्ट-से हो जाते हैं।

अनाहत शब्द

कान बन्द कर लेनेपर जो दस प्रकारके शब्द सुनायी पड़ते हैं, वे सूक्ष्म आकाश-तरङ्गोंके शब्द अथवा भुवर्लोकके शब्द हैं। ये शब्द भौतिक अथवा भुवर्लौकिक हैं; यथार्थ अनाहत अथवा सार शब्द अथवा परम नाद नहीं हैं। इन शब्दोंको निरन्तर सुननेसे किसी-किसीके मस्तिष्कमें गर्मी आ जाती है और किसी-किसीका अपने ऊपरसे प्रभुत्व जाता रहता है और वह भुवर्लोकके माया-जालमें फँस जाता है।

भौतिक चमत्कार

विष-पान आदि चमत्कार भी योग नहीं हैं। शरीरका असाधारण बल-प्रदर्शन भी योग नहीं है, जिसे प्रोफेसर राममूर्ति आदि व्यायामप्रवीण भी दिखाया करते हैं।

अजपा-योग

किसी मन्त्रका दो भाग करके एक भागको पूरक

करते हुए अर्थात् श्वासके भीतर जाते समय जपना और पूरक पूरा हो जानेपर बहुत थोड़ी देर रुक जाना अर्थात् कुम्भक करना और फिर रेचक करते हुए अर्थात् श्वासको बाहर निकालते समय मन्त्रके दूसरे भागका जप करना और रेचक पूरा हो जानेपर फिर बहुत थोड़ी देर रुक जाना—यह अजपा-योग है। यदि कोई मन्त्र न हो तो पूरक करते हुए '**सो**' का उच्चारण करना (पूरक करते समय स्वाभाविक ढंगसे 'सो' शब्दका उच्चारण होता है), उसके बाद थोड़ा रुक जाना, फिर रेचक करते हुए '**अहम्**' का उच्चारण करना (रेचकके समय श्वास निकलनेसे '**अहम्**' शब्दका स्वाभाविक उच्चारण होता है), फिर थोड़ा रुक जाना—इसे भी अजपा-जप ही कहते हैं। इसमें मन्त्रका उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं है; आवश्यकता है केवल श्वासके पूरक और रेचककी गतिपर ध्यान देना, जिससे स्वयं मालूम होगा कि '**सोऽहम्**' मन्त्रका जप स्वतः, बिना उच्चारण किये ही हो रहा है अर्थात् पूरकमें '**सो**' और रेचकमें '**अहम्**', दोनों मिलकर '**सोऽहम्**' का जप बिना जप किये ही हो रहा है। यही अजपा-जपयोग है। इस जपमें वृत्ति अन्तरात्मापर रखनी चाहिये अर्थात् वही '**सो**' (वह—ब्रह्म) है और वही '**अहम्**' (साधकका जीवात्मा) है; दोनों मिलकर '**सोऽहम्**' हुआ है। इसमें पूरक और विशेषकर रेचक धीरे-धीरे करना चाहिये।

यह अजपा-योग उत्तम है और इसमें कोई आपत्ति नहीं है यदि यह जीवात्मा और परमात्माके चैतन्यस्वरूपकी एकता प्राप्त करनेकी दृष्टिसे किया जाय। श्रीगुरु नानकके अनुयायी कतिपय साधकोंमें यह अभ्यास प्रचलित है।

राजविद्या और राजगुह्य-योग

गीताके नवें अध्यायमें जिस राजविद्या-राजगुह्य-योगका उल्लेख है, उसकी प्राप्तिके लिये जिस ज्ञान, भाव और साधनाकी आवश्यकता है, उसका यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जाता है।

(१) जड प्रकृति और उसके कार्य शरीर आदि नाम-रूपात्मक दृश्यको अनात्मा और चैतन्य आत्माका केवल आवरणमात्र जानकर प्राकृतिक पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, अपने चैतन्य आत्मासहित अखिल विश्वब्रह्माण्डको कारणकी दृष्टिसे चैतन्यघन श्रीपरमात्माका व्यक्त रूप जानकर उसी ज्ञानमें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। इस ज्ञानके आधारपर सम्पूर्ण दृश्यके प्रति राग-द्वेषसे रहित होकर सबके अन्दर चैतन्यरूपमें श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवको वर्तमान देखना चाहिये और इसलिये सबको प्रेम और आदरकी दृष्टिसे देखना और मनसे नमस्कार करना चाहिये (भागवतपुराण स्क० ११। २। ४१)। श्रीभगवान्‌की इन विभूतियोंमें जो विभूति हृदयको आकर्षित करे, उस रूपमें प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌की उपासना और पूजा करनी चाहिये (भागवत ११। २७। ४८)। सर्वत्र भगवद्भावकी इस दृष्टिके अनुसार आचरण करना चाहिये अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (परद्रव्यापहरण न करना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह), अपरिग्रह (दूसरेकी वस्तु देनेपर भी न ग्रहण करना), शौच, सन्तोष आदिका अभ्यास करना चाहिये और इनके विरोधी दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये।

(२) ऊपरके ज्ञानके आधारपर शरीरके प्रति अहंता और पदार्थोंके प्रति ममताका त्याग कर सब प्रकारके कर्मोंको श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवके कर्म समझकर केवल उन्हींके निमित्त निःस्वार्थ—निष्कामभावसे करना चाहिये और उन कर्मोंको श्रीभगवान्‌के चरणोंपर अर्पित कर देना चाहिये। काम करते हुए यह ध्यानमें रखना चाहिये कि केवल ईश्वरानुकूल ही कर्म हों, अपनेसे कदापि ऐसा कोई कर्म न हो जो श्रीभगवान्‌के गुण, वचन, इच्छा आदिके विरुद्ध हो। अपने सांसारिक व्यावहारिक कर्म भी श्रीभगवान् अर्थात् इष्टदेवके कार्य समझकर उन्हींके निमित्त निष्कामभावसे करने चाहिये। (श्रीभागवत)

(३) ऊपर कहे हुए ज्ञान, भाव और कर्मके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह और शुद्धि, मनका संयम तथा चित्तशुद्धि करके अहङ्कार, ममता और स्वार्थको भलीभाँति त्याग देना चाहिये; दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, अपकार आदिको धैर्यपूर्वक सहते हुए जन-जनार्दन अर्थात् सब प्राणियोंको श्रीभगवद्रूप जानकर उनके हितसाधनको ही श्रीभगवान्‌की परम सेवा मानकर उनका सम्पादन निष्कामभावसे करना चाहिये और विशेषकर सदाचार, ज्ञान और भक्तिभावका सब प्रकारसे अपने आचरणद्वारा प्रचार करना चाहिये (भागवत ११। ७। ३८, ४४ तथा ११। ११। २३-२४)।

(४) श्रीभगवान्‌के जिस सगुण-साकारभावके प्रति हृदयका स्वाभाविक झुकाव हो, उसीके प्रति अनुरक्त

होकर उसके सशक्तिक दिव्य रूपकी (जो सच्चिदानन्दरूप है, प्राकृतिक कदापि नहीं), कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, स्तोत्रपाठ, जप आदिके द्वारा निःस्वार्थ प्रेमके साथ नित्य उपासना करनी चाहिये और उसीमें चित्तको निरन्तर लगाना चाहिये। परमात्माके उसी दिव्य नामका निरन्तर मानसिक जप करते हुए ही शरीरके अन्य काम भी करते रहना चाहिये।

(५) *अन्तिम साधना*—अपने शरीररूप पिण्ड (छोटे ब्रह्माण्ड)-के आध्यात्मिक हृदयमें जो अङ्गुष्ठमात्रका चेतनात्मा (पिण्डका केन्द्रस्वरूप) वर्तमान है, उसमें, हृदयशुद्धि आदिके द्वारा, स्थिति लाभकर अभ्यासद्वारा उसमें मनको लय करना चाहिये।

(६) तत्पश्चात् उस हृदय-केन्द्रमें अपने शक्तिसहित इष्टदेवको स्थापित कर, निरन्तर उनके ध्यानके द्वारा अन्तरात्माको उनमें लय करना चाहिये। इन दोनों अभ्यासोंमें ध्यान मुख्य है। इष्टके साकार ध्यानकी सुगमताके लिये इष्टदेवकी मूर्ति या चित्रको ध्यान करते समय अपने सामने रखना आवश्यक है। उस मूर्ति या चित्रके समान अपने हृदयमें एक मूर्ति नीचेके भागसे लेकर ऊपरके भागतक बनानी चाहिये और उस हृदयस्थ मूर्तिमें मनको सन्निवेशित करना चाहिये; अन्य किसी भावनाको नहीं आने देना चाहिये। यदि कोई दूसरी भावना आवे तो उसे दूरकर फिर चित्तको मूर्तिमें ही संलग्न करना चाहिये।

(७) श्रीशिवकी कृपा होनेपर ध्यानके द्वारा हृदय-कमलमें इष्टके दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतपुराणमें कथा है कि गुरुके उपदेशके अनुसार हृदयमें ध्यान करनेसे श्रीनारदजीको भगवद्दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त दो और सोपान हैं।

(८) जगद्गुरु श्रीशिवकी कृपासे साधकको अपने अदृश्य सद्गुरुके दर्शन हृदयमें ही होते हैं और उनके तेजके प्रकाशसे, अन्तरमें उनसे सम्बन्ध हो जाता है।

(९) श्रीसद्गुरु योगकी यथार्थ उच्च दीक्षाद्वारा साधकका दैवीप्रकृतिके प्रकाशके साथ सम्बन्ध करा देते हैं, जिस प्रकाशकी सहायतासे श्रीसद्गुरु साधकको अविद्यान्धकारसे पार करके उसके इष्टदेवमें उसे समर्पित और युक्त कर देते हैं। यह सद्गुरुकी सहायताके बिना कदापि सम्भव नहीं है।

श्रीसद्गुरु

श्रीशिवका सद्गुरु होना तो लोगोंको विदित है; किन्तु श्रीसद्गुरुका ज्ञान प्रायः आजकल एक प्रकारसे लुप्त हो गया है। गुरु-गीता आदिमें जो गुरुका वर्णन इस प्रकार आया है कि गुरु मिलते ही साधकको ज्ञानचक्षु देकर अज्ञानान्धकारको दूरकर उसे अखण्ड-मण्डलाकार सर्वव्याप्त ब्रह्मका साक्षात्कार करा देते हैं, गुरु स्वयं त्रिमूर्ति और परब्रह्मके रूप हैं, इस वर्णनसे त्रिकालदर्शी महर्षियों और सिद्धोंसे तात्पर्य है जो यद्यपि आजकल कलियुगमें अदृश्य हैं, तथापि इस भूलोकमें ही वर्तमान हैं। कलियुगके आरम्भ होनेपर राजा श्रीपरीक्षित्को शाप लगनेके बाद शुकादि ऋषि उनके पास आये थे और फिर उसके बाद जनमेजयके यज्ञमें भी वे सब लोग पधारे थे। ऋषि और सिद्धगण प्रायः शरीर-त्याग नहीं करते, वे तो अमर हैं। लिंगपुराणके सातवें अध्यायमें उन सद्गुरुओंका वर्णन योगाचार्यके रूपमें आया है और उसमें उनके शिष्यों-प्रशिष्योंका भी उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि उन लोगोंका वासस्थान हिमालय और सुमेरु पर्वतमें सिद्धाश्रम नामसे पुकारा जाता है। वे सब जगद्गुरु श्रीशिवजीके शिष्यपुत्रके समान हैं। श्रीमद्भागवतपुराणके १२वें स्कन्धके दूसरे अध्यायके ३७ वें श्लोकमें लिखा है कि श्रीदेवापि और श्रीमरु, जिनका आश्रम कलापग्राममें है, कलियुगमें वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करेंगे। श्रीश्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं कि, **'कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः।'** उसी पुराणके स्क० १० अ० ८७ श्लोक ५ से ७ तक और महाभारतके मौसल-पर्वके अध्याय ७ के अन्तमें कलापग्राममें सिद्धोंके रहनेका वर्णन मिलता है। श्रीसनकादि चारों कुमारोंका आश्रम उत्तरमें है और श्रीअगस्त्य दक्षिणमें हैं, यह बात भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक मन्त्रके एक-एक ऋषि होते हैं, जिनका आवाहन मन्त्रके पूर्व नामोच्चारणद्वारा कवच अथवा स्तोत्रमें किया जाता है। इसका भाव यह है कि उन ऋषिकी कृपाके बिना मन्त्रसिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उस मन्त्रके यथार्थ आविष्कारक वही हैं और उन्होंने उसे लोगोंके हितके निमित्त प्रकाशित किया। सिद्धान्त यह है कि महर्षि और सिद्धगण वर्तमान हैं और उनका ज्ञान, भक्ति, योग आदिका लोगोंमें प्रचार

करना ही एकमात्र कार्य है। इसी कारण इस ऋषि-ऋणसे मुक्त होनेके लिये प्रतिदिन ऋषियज्ञ करना नित्यकर्मका एक प्रधान अंग माना गया है।

ये लोग अदृश्यभावसे सब जिज्ञासुओंकी सहायता उनकी योग्यताके अनुसार करते हैं और ठीक समय आ जानेपर हृदयमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर योगदीक्षा देते हैं। इनमें ऊपर कहे हुए दो ऋषि श्रीदेवापि और श्रीमरु विशेष कार्य कर रहे हैं। क्योंकि आगामी युगमें उनमेंसे एक व्यास और एक मनु होंगे। अतएव वे लोग योग्य साधकोंको चुनकर अपने भावी कार्यके लिये तैयार कर रहे हैं। श्रीभगवान्ने प्रभाससे प्रस्थान करनेके पूर्व श्रीउद्धवको इन्हीं दोनों ऋषियोंसे अथवा श्रीमरुसे उपदेश लेनेको कहा था। जो लोग इनको सदुरु मानकर इनके साथ प्रेम करेंगे और इनके पादपद्मोंका ध्यान करेंगे, उनका इनकी प्राप्तिसे विशेष उपकार होगा।

राजयोगकी विशेषता

इस राजविद्या-राजयोगके मार्गकी एक विशेषता यह है कि इसके सिद्धान्त और साधन सर्वमान्य हैं और इसकी उपयोगितामें किसी आस्तिकको किसी प्रकारका कदापि सन्देह नहीं हो सकता। गीतामें कहा है कि इस धर्मका थोड़ा भी आचरण बहुत बड़े भयसे बचा देता है (२।४०)।

आध्यात्मिक अनुभवकी गोपनीयता

आध्यात्मिक अनुभवको प्रकाशित करनेसे अनुभवका आना बन्द हो जाता है; क्योंकि प्रकाशित करनेका मुख्य उद्देश्य दूसरोंसे प्रशंसा और मान-बड़ाई प्राप्त करना ही होता है जो अध्यात्म-मार्गका बाधक है। साधकको प्रशंसा, मान, बड़ाई आदिको विष समझना चाहिये और निन्दाको ही अच्छा मानना चाहिये। प्रशंसा, मान आदिसे अहङ्कारकी वृद्धि होती है। अतएव उच्च साधक यदि आवश्यक समझकर किसीसे अपना अनुभव कहते हैं तो वे साथ ही दूसरोंसे कहनेका निषेध भी कर देते हैं। यहाँ हम थोड़े-से अनुभवोंको, जिनका पता हमें मिला है, अनुभवीका नामस्थान बिना दिये ही, इस निमित्त दे रहे हैं कि साधक यह समझ जायँ कि वर्तमान समयमें भी श्रीसद्गुरु लोग सहायता कर रहे हैं और जो लोग उनपर विश्वास करके उचित पथका अनुसरण करेंगे उन्हें अपनी योग्यताके अनुसार उनसे अवश्य सहायता मिलेगी। साधकोंको उचित है कि वर्तमान समयमें नकली और केवल धन हरण करनेवाले अथवा मान-बड़ाई चाहनेवाले गुरुओंके फेरमें न पड़कर सीधे सदुरुपर विश्वास करके उनके भरोसे निर्दिष्ट पथका, जिसका वर्णन गीतामें है, अनुसरण करें।

कतिपय साधारण आध्यात्मिक अनुभव

महात्मा श्रीविजयकृष्णजी गोस्वामीने एक बार अपने एक परम योग्य ब्रह्मचारी ब्राह्मण शिष्यको योगदीक्षा देते समय जब उसमें शक्ति-सञ्चार किया तब शिष्यको मालूम हुआ कि उसका सम्पूर्ण मेरुदण्ड स्वाधिष्ठानसे लेकर भ्रूमध्यतक ज्वालासे भर गया है। यह कुण्डलिनीके उत्थानका चिह्न है और कुण्डलिनीके उत्थानकी यह उत्तम प्रकारकी दीक्षा है जो सद्गुरुद्वारा प्राप्त होती है, न कि भौतिक क्रियाद्वारा।

आजकल ऐसे साधक वर्तमान हैं, जिन्होंने उपर्युक्त श्रीमरु अथवा श्रीदेवापिसे सम्बन्ध प्राप्त किया है तथा उनके दिव्य रूप देखे हैं। ऐसे सम्बन्धप्राप्त उच्च साधककी संज्ञा इस लेखमें 'सत्पुरुष' रखी जायगी।

एक ब्राह्मणी स्त्रीको हृदयके भीतर सद्गुरुके दर्शन होने लगे। उसने जब यह बात एक सत्पुरुषसे कही तो उन्होंने बताया कि वह इन्हींमेंसे एक हैं। उस स्त्रीको सद्गुरुने इष्टका ध्यान-श्लोक बताया और सीधे उपदेश दिया, जिससे वह बड़ी उच्च कोटिकी साधिका हो गयी।

एक परोपकारी योग्य ब्राह्मणको सत्पुरुषद्वारा मन्त्र-दीक्षा मिलनेपर और कई मासतक श्रद्धा और भक्तिके साथ ध्यानोपासना तथा जप नियमपूर्वक ब्राह्ममुहूर्तमें करनेपर सदुरु, तत्पश्चात् इष्ट और मन्त्र-ऋषिका साक्षात्कार हुआ और उन लोगोंके द्वारा उन्हें आवश्यक उपदेश मिलने लगा।

एक जनसेवाव्रतमें परम परायणा युरोपीय स्त्रीको एक सद्गुरुने एक सत्पुरुषसे उपदेश लेनेको कहा और जो सङ्केत उन्होंने दिखाया, उसीके अनुसार उस सत्पुरुषने उसे मन्त्रदीक्षा दी।

एक परोपकारी सच्चरित्र कायस्थ महाशयको अभ्यन्तरमें श्रीसद्गुरुके दर्शन होने लगे। पहले तो उन्होंने नहीं पहचाना; किन्तु पीछे एक सत्पुरुषद्वारा उन्हें मालूम हुआ कि वह श्रीसद्गुरु हैं। उनको एक बार हैजेकी बीमारी

हुई और बीमारीमें श्रीसद्गुरुने आकर उनके पेटपर अपना हस्तस्पर्श कर दिया जिससे बीमारी जाती रही। उन्होंने उस समय स्पष्ट शब्दोंमें यह भी कहा कि जिस कारणसे यह रोग हुआ, उसे फिर कभी न करना।

एक परम सच्चरित्र वैश्य साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे। उससे उनका हृदय-चक्र जागा और उसका स्पष्ट अनुभव भी उन्हें अपने अन्दर होने लगा।

एक श्रीरामोपासक साधक, जिनका एक सत्पुरुषसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपने हृदयमें उस सत्पुरुषको देखते हैं और उस सत्पुरुषके हृदयके भीतर श्रीसद्गुरुको शिष्यसहित देखते हैं।

एक साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे; किन्तु उनको श्रीसद्गुरुमें विश्वास नहीं था। उन्होंने श्रीसद्गुरुको अपने भीतर देखा और फिर अनेक महात्माओंको देखा और उन सबसे बातचीत भी की। उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके भी दर्शन प्राप्त किये। उन्हें उपदेश यही मिला कि नामका प्रचार करो और होम करो। किन्तु ये सब घटनाएँ स्वप्नमें हुईं।

एक कायस्थकी विधवा स्त्री श्रीशबरीकी भाँति एक सत्पुरुषकी सेवा करती है और जब सत्पुरुषसे पृथक् रहती है तब ध्यान-जप करती है। वह भी अपने इष्ट और श्रीसद्गुरुको अपने हृदयमें देखती है।

एक कायस्थ जिज्ञासुने उपयुक्त उपायद्वारा योग्य गुरुका पता जाननेकी चेष्टा की और उन्हें सो जानेपर एक सत्पुरुषका नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखा हुआ दिखायी पड़ा। उन्होंने फिर उन्हींसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक दूसरे कायस्थ महाशयने स्वप्नमें सत्पुरुषको देखकर उनसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक ब्राह्मण युवकने सत्पुरुष और श्रीसद्गुरुको स्वप्नमें देखा और पीछे वह उन सत्पुरुषके पास आकर कृतकृत्य हुए।

एक ब्राह्मणको सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करनेसे अभ्यन्तरमें अपनी इष्टदेवी आदिके दर्शन हुए।

एक ब्रह्मचारी ब्राह्मण उत्तम साधक थे। उन्होंने हठयोगका अभ्यास किया, किन्तु शान्ति नहीं मिली। उसके बाद वह एक भक्तकी संगतिमें आकर श्रीभगवान्‌की सुन्दर विभूतिके उपासक हुए। परन्तु फिर भी उनकी आन्तरिक पिपासा शान्त न हुई; बल्कि वह और भी बढ़ती ही गयी। आखिर उनकी व्याकुलता असह्य हो उठी और उनकी अन्तरात्माने शान्ति-पथ पानेके निमित्त क्रन्दन किया। तब स्वप्नमें एक विशेष सद्गुरुने दर्शन देकर उनसे एक व्यक्तिके निकट जाकर उपदेश लेनेको कहा। वहाँ उनको श्रीसद्गुरुका परिचय तथा राजयोग, उपासना, ध्यान आदिका उपदेश मिला और सत्पुरुषका भी समागम प्राप्त हुआ। फिर वह अभ्यास करने लगे और उसके बाद उक्त श्रीसद्गुरु प्रायः ही उनसे स्वप्नमें यह कहते थे कि जो उपदेश तुम्हें मिला है, वही ठीक मार्ग है, उसीका अनुसरण करो। कभी-कभी स्वप्नमें श्रीसद्गुरुद्वारा उनको चेतावनी भी मिलती थी कि अभ्यासमें संशय मत करो और उपदेशके अनुसार काम करते रहो। किन्तु किसी हठयोगीकी संगतिसे वह सिद्धिके लोभमें पड़ गये और पुनः हठयोगका अभ्यास करने लगे। अन्तमें फिर सँभलनेकी पूरी चेष्टा की गयी; किन्तु हैजेके रोगसे उन्हें शरीर त्यागना पड़ा।

जब श्रीसद्गुरु देखते हैं कि किसी साधकका वर्तमान शरीर साधनके योग्य नहीं है, तब वह परिवर्तन करा देते हैं और प्रायः हैजेके रोगसे ही ऐसा परिवर्तन होता है।

एक ब्राह्मण प्रायः २१ वर्षसे जप-ध्यान करते थे; किन्तु उसके तत्त्वको नहीं समझते थे। जब उनको तत्त्व समझाया गया और उन्होंने उचित ढंगसे अभ्यास किया तब उन्हें अपने भीतर प्रकाश दिखायी पड़ा और सत्पुरुषके सम्बन्धसे उनके अन्तरकी दृष्टि बहुत कुछ खुल गयी।

एक वैष्णव साधक जालन्धर-बन्ध करके हृदयमें प्रातः-सायं नियमसे जप-ध्यान करते हैं और इसके फलस्वरूप हृदयमें प्रकाश और प्रकाशके अन्दर इष्टदेवको देखते हैं। उनसे दीक्षाप्राप्त शिष्य भी प्रायः ऐसा देखते हैं।

एक शूद्रको, जो सत्पुरुषसे दीक्षा लेनेकी प्रतीक्षामें बैठे थे, यह सुनायी पड़ा कि अमुक देवताकी युगल मूर्तिका मन्त्र लो। उस मन्त्रको उन्होंने लिया और उसके थोड़े दिनके अभ्याससे ही उन्हें अपने हृदयमें इष्टकी युगल मूर्तिके दर्शन हुए तथा स्वप्नमें श्रीसद्गुरुके

दर्शन मिले। उन्होंने श्रीसद्गुरुको दो शिष्योंके सहित ध्यानावस्थित देखा और वहाँपर जलती हुई आरती तथा होमकी ज्वाला भी देखी।

एक कायस्थको किसी सद्गुरुने आदेश दिया कि तुम विष्णु-मन्त्र ग्रहण करो। जब उनके कुल-गुरु उन्हें परम्परानुसार शक्ति-मन्त्र देने लगे तब उन्होंने उनसे कहा कि मैं विष्णुका मन्त्र लूँगा। गुरुने तदनुसार उन्हें विष्णु-मन्त्र दिया। उनका ऐसा विश्वास है कि उनके यह श्रीसद्गुरु श्रीनारदजी हैं, जिन्होंने उनसे ऐसा करनेको कहा।

एक हरिजन एक कबीरपन्थी गुरुसे मन्त्र लेकर नित्य नियमपूर्वक रात्रिके तीसरे पहरमें भ्रूमध्यमें ध्यान करते हुए मन्त्र जपने लगे। पाँच-छः महीने बाद उन्होंने किसी महापुरुषको देखा जो शायद श्रीकबीर हो सकते हैं। तबसे वह रोज रातमें भ्रूमध्यमें ध्यान करनेपर उन्हें देखने लगे। कुछ दिनों बाद एक दूसरे महापुरुष प्रकट हुए जो श्रीबुद्धके समान थे। कुछ दिन उन्हें देखनेके बाद उन्होंने एक और तीसरे श्रीसद्गुरुको देखा। उसके बाद वह एक ऐसे महात्माको देखने लगे जिनके नेत्रोंसे अश्रु चलते थे। 'कल्याण' के किसी विशेषाङ्कमें महात्मा श्रीसियारामदासजीके चित्रको देखकर उन्होंने कहा कि आजकल मैं इन्हींको ध्यानमें देखता हूँ। पता लगानेपर मालूम हुआ कि जीवितावस्थामें उक्त महात्माके नेत्रोंसे प्रायः अश्रु बहा करते थे। फिर उन्होंने श्वेतवर्ण मुकुटधारी युगल मूर्ति (स्त्री-पुरुष) देखना आरम्भ किया। इसके बाद भी परिवर्तन हुआ और हो रहा है। किन्तु अब यह आदेश है कि किसीसे इन अनुभवोंको न कहो।

एक विरक्त साधुको स्वप्नमें श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और मन्त्रोपदेश भी मिला। वह क्रमशः उन्नति करने लगे; किन्तु पीछे उपनिषदोंके अर्थको न समझ निर्गुणवादमें पड़ गये और उन्होंने अपने पहलेके अनुभवोंकी अवहेलना कर दी।

एक जिज्ञासुको हठयोगके गुरुने कहा कि हठयोगके लिये पूर्ण ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है; इसलिये जबतक तुम्हें पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक अभ्यास नहीं बताया जायगा। एक श्रीसद्गुरुने उनसे कहा कि अब हठयोगीसे जाकर कहो कि पुत्र हो गया, उपदेश दीजिये। उन्होंने ऐसा ही किया और इसके बाद उन्हें समाचार मिला कि पुत्र उत्पन्न हुआ है। थोड़े ही कालतक हठयोगका अभ्यास करनेपर उन्हें यह आदेश मिला कि अमुक देवीके स्थानमें जाकर केवल पयाहार करके अभ्यास करो। ऐसा करनेके बाद हठयोग छोड़कर उपासना-ध्यान आदि राजयोगका अभ्यास करनेका उपदेश मिला। किन्तु उन्होंने हठयोगके अभ्यासका त्याग नहीं किया तथा मालूम होता है राजयोगका अभ्यास करनेमें ढिलाई की। कुछ कालके बाद रोगग्रस्त होकर उन्होंने शरीरका त्याग किया।

व्रजके एक ब्रह्मचारीको भी एक श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए थे।

एक सेठको भी, जो विरक्त स्वभावके साधक थे, श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और उपदेश भी मिला।

अधिकांश साधकोंको कुछ दिन साधना करनेके बाद, यदि वे शैव न हों तो स्वप्नमें शिवमूर्ति, शिवलिङ्ग, शिवपूजा आदिके दर्शन होने लगते हैं, जिसका भाव यही है कि अब उनको अपने इष्टकी उपासनाके साथ-साथ श्रीशिवजीकी भी उपासना जगद्गुरुके रूपमें करनी चाहिये, जिसमें उनकी कृपासे इष्टकी प्राप्ति हो।

इन अनुभवोंके सम्बन्धमें एक बात जाननेकी यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि जितने लोग सत्पुरुषसे दीक्षा, उपदेश लेते हैं, उनमें सबको अनुभव होता है—अधिकांशको नहीं होता, थोड़े लोगोंको ही होता है। जिस साधकको इष्टकी दीक्षा मिल चुकी है, उसके लिये आवश्यक नहीं है कि वह पुनः दीक्षा ले, बल्कि उसे नहीं ही लेनी चाहिये, यदि उसे इष्टका परिवर्तन न करना हो। हाँ, उपासना-ध्यानके विषयमें उपदेश लेना चाहिये। प्रथम तो योग्यता न प्राप्त होने और अभ्यास ठीक प्रकारसे न करनेके कारण अनुभव नहीं होता; दूसरे, जिसे कुछ अनुभव न हो उसे यह नहीं समझना चाहिये कि उसने कुछ भी उन्नति नहीं की। बात यह है कि उपासना-ध्यानके द्वारा उन्नति विशेषकर सूक्ष्म और कारण शरीरकी होती है। यदि स्थूल शरीर शुद्ध और उन्नत न हो तो उसको भीतरके शरीरोंकी उन्नतिका पता भी नहीं मिलता।

ऊपरके अनुभव लिखनेका उद्देश्य किसीकी विज्ञप्ति करना नहीं है। केवल इसी निमित्त इन्हें यहाँ लिखा गया

है कि साधकोंको यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि श्रीसद्गुरु, सत्पुरुष सहायता करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। यह हमलोगोंका दोष है कि हम सहायता पानेकी उचित योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त चेष्टा नहीं करते, इधर-उधर केवल भटकते फिरते हैं और सुलभ मार्गके लोभवश स्वार्थियोंके पञ्जेमें पड़ जाते हैं। जो प्रारम्भिक मार्ग है, उसका पता, अनुगमन करनेकी साधना आदिका वर्णन गीता आदिमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। उसीके अनुसार अभ्यास करते हुए साधन-पथमें अग्रसर होना चाहिये। इस लेखमें भी आवश्यक साधना बतलायी गयी है, जिसके अनुसार अभ्यास करनेसे सहायता मिल सकती है। अतएव इन अनुभवोंके विषयमें कोई व्यक्तिगत जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये।

एक परमावश्यक और परम स्मरणीय बात यह है कि श्रीसद्गुरु वे ही हैं जिन्होंने निर्वाण पानेकी योग्यता प्राप्त करके भी संसारके हितसाधनके निमित्त निर्वाणका त्याग कर दिया। इस परम त्यागके बादसे वे संसारका सब तरहसे कल्याण करनेके व्रतमें लगे हुए हैं और इस व्रतको पूरा करनेके लिये वे सर्वदा सब व्यक्तियोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं तथा यथासमय सबकी सहायता करते हैं। इस कारण उनकी कृपा-दृष्टि विशेषरूपसे उन्हीं व्यक्तियोंपर होगी जो स्वयं भी उनके इस संसार-हित-कार्यके करनेमें निष्कामभावसे प्रवृत्त हों अर्थात् उनकी साधनाका मुख्य उद्देश्य अपना स्वार्थसाधन न हो, बल्कि जन-जनार्दनकी सेवा करना हो और उसीके निमित्त योग्यता प्राप्त करना साधनाका मुख्य लक्ष्य हो, और जो साथ-साथ यथाशक्ति और यथावसर ऐसी सेवा करते भी जायँ। जनताकी पारमार्थिक उन्नतिके निमित्त यत्न करना ही इस निष्काम सेवाका मुख्य लक्ष्य होना चाहिये; क्योंकि पारमार्थिक उन्नति ही यथार्थ उन्नति है।

समाधियोग

(लेखक—श्रीश्रीधर मजूमदार एम्० ए०)

उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने ध्यानबलसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा इस बातको अवगत किया कि बाहरी समस्त चराचर जगत्के एकमात्र कारण अनन्त चेतन ब्रह्मके दो रूप हैं—एक व्यक्त रूप और दूसरी वह आभ्यन्तर चेतना जो बाह्य, व्यक्त जगत्को अनुप्राणित करती है, सत्तास्फूर्ति देती है। पहला रूप इन्द्रियगोचर है और बाह्य प्रपञ्च (phenomenon) कहलाता है और दूसरा अतीन्द्रिय है और प्रत्यक् चैतन्य (noumenon) कहलाता है। बाह्य प्रपञ्च परिणामी है और प्रत्यक् चैतन्य अपरिणामी है।

'ये सब दृश्य पदार्थ विनाशी हैं, अन्तरात्मा अविनाशी कहलाता है। निर्विशेष निरञ्जन परब्रह्म अक्षर है।'

(योगशिखोपनिषद् ३।१६)

जहाँ बाह्य प्रपञ्च है वहाँ प्रत्यक् चैतन्य भी है। दूधमें मक्खनकी भाँति प्रत्यक् चैतन्य बाह्य प्रपञ्चमें सर्वत्र सर्वदा व्याप्त है, किन्तु प्रत्यक् चेतनके सर्वांशमें सर्वदा बाह्य प्रपञ्च नहीं है। दूधके अणु-अणुमें मक्खन है, किन्तु जबतक दूध मथा नहीं जायगा तबतक उसमें मक्खन दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधिका आश्रय लिये बिना प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत्-अवस्थामें क्षिप्त मनको इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें बाह्य प्रपञ्चका प्रत्यक्ष होता है; उस समय प्रत्यक् चैतन्य अन्तर्हित रहता है। किन्तु प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके निरोधसे अर्थात् निरुद्ध मनके द्वारा समाधि-अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपमें होता है; उस समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है।

'जब मनुष्य परमात्माको परमार्थतः देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०।१२)

इस प्रकार एक समयमें ब्रह्मके एक रूपका ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्मके अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूपका ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूपका अपलाप करते हैं।

हमें दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति इन्द्रियोंके द्वारा होती है; किन्तु ये इन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा मनके सहयोग बिना व्यापार नहीं करतीं। उदाहरणतः यदि हमारा मन किसी दूसरे विचारमें संलग्न हो तो हमारे नेत्र खुले रहनेपर भी तथा किसी खास वस्तुपर हमारी दृष्टि जमी रहनेपर भी हमें उस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। यही हाल दूसरी इन्द्रियाँ—श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचाका है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अनुसन्धान करनेके अतिरिक्त मन प्राक्तन संस्कारोंकी ही आवृत्ति करता हुआ अथवा आगे मिलनेवाले पदार्थोंकी चिन्ता करता हुआ क्षिप्त अवस्थामें रह सकता है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कर देनेसे, अर्थात् मनको सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य कर देनेसे—इसीको चित्तकी निरुद्ध अथवा समाहित अवस्था कहते हैं—सारी इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, जिससे बाह्य प्रपञ्चका दीखना बन्द हो जाता है। परिणामी बाह्य प्रपञ्चके अदृश्य हो जानेपर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यकी उपलब्धि होती है। अर्थात् बाह्य आवरणके दृष्टिके सामनेसे हट जानेपर भीतरकी सार वस्तु प्रकट हो जाती है।

'चित्तके (बाह्य विषयोंका अनुसन्धान करते समय) चञ्चल होनेपर संसारका भान होता है। मनका निश्चल होना ही मुक्ति है। अतः हे विश्वके नियन्ता! परम तत्त्वके ज्ञानसे ही मनको स्थिर करना चाहिये।' (योगशिखोपनिषद्में महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश देखिये ६।५८)।

'चञ्चलतासे शून्य मन अमर कहलाता है; वही तप है और उसीको मोक्ष कहते हैं—यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।'

सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य हो जानेका नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधिमें मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा और परमात्माका भेद मिट जाता है। जीवात्माका प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापी अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपमें स्थित होना ही समाधि है। जीवात्माके अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा, जिसे निर्विकल्प 'परम अहम्' भी कहते हैं, क्षुद्र अहं-प्रत्ययसे आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमानका कारण है। इस क्षुद्र अहंबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर अथवा चूर्ण हो जानेपर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प **'परम अहम्'** का उदय होता है। अतः समाधिलाभके लिये क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति आवश्यक है। दूसरे शब्दोंमें क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति ही समाधि है, जिस समाधिमें हृदयकी गाँठ खुल जाती है और चित्तका विस्तार होकर उसे पूर्णताकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानके उदयको ही 'समाधि' कहते हैं।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०। १ और अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)

'जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता ही, जिसमें सङ्कल्पकी सारी क्रिया ही नष्ट हो जाती है, 'समाधि' कहलाती है।' (सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १६)

'मुनियोंके द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्थाका नाम है जिसमें न तो मनकी क्रिया है और न बुद्धिका व्यापार है, जो आत्मज्ञानकी अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य)-के अतिरिक्त सबका बाध है।' (मुक्तिकोपनिषद् २।५५)

'ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अथवा सर्वसङ्कल्पनिवृत्तिके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा भूल जानेका नाम ही 'समाधि' है।' (तेजोबिन्दूपनिषद् १।३७)

'हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, 'समाधि' शब्द उस संशयरहित मानसिक पूर्णताका वाचक है जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जिसमें सदसद्विवेक भी नहीं है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १।५०)

जीवात्मा परमात्मरूप महासागरके वक्षःस्थलपर नृत्य करते हुए एक तरङ्गके समान है। तरङ्गके पीछे समुद्ररूप महान् आधार है। इसी प्रकार जीवात्माके पीछे परमात्मारूप महान् आधार है। वासना अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली अहंबुद्धि ही तरङ्गकी सत्ताको अक्षुण्ण रखती है। जिस क्षण वासना नष्ट हो जाती है और उसके साथ ही अहंप्रत्यय भी निवृत्त हो जाता है उसी क्षण तरङ्ग विलीन होकर सागरमें मिल जाती है, अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश कर उसके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

समाधिसिद्धि तथा मोक्षके लिये आवश्यकता है

मनको निरुद्ध करनेकी, वासनाशून्य करनेकी अर्थात् सर्वथा सङ्कल्पशून्य होनेकी। इस सङ्कल्पशून्यताको ही जीवात्माकी प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापक अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय भावमें स्थिति कहते हैं।

'प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही ज्ञान है; मनको निर्विषय करना ही परमात्माका ध्यान है; मनोमलके नाशको ही स्नान कहते हैं और इन्द्रिय-निग्रहका नाम ही शौच है।' (स्कन्दोपनिषद् ११ और मैत्रेय्युपनिषद् २। २)

'जब निश्चल मनके द्वारा क्षिप्त मनकी चिकित्सा करनेसे मनकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ परब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (योगशिखोपनिषद् ६। ६२)

'जिस क्षण हृदयमें भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं उसी क्षण यह मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवनमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करता है।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ४। ७)

'जब इस क्षिप्त मनको सङ्कल्पाभावके शस्त्रसे शान्त कर दिया जाता है तभी (और उससे पूर्व नहीं) समग्र सर्वगत निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (महोपनिषद् ४। ९१)

'जिस भाग्यवान् पुरुषकी आत्मामें रति हो गयी है जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम विश्राम प्राप्त हो गया है उसके लिये इस संसारमें कोई भी कामनाकी वस्तु नहीं रह जाती।' (महोपनिषद् २। ४७)

'जो चित्त आत्मा (परमात्मा)-में निवेशित हो गया है और जिसके सारे मल समाधिके द्वारा धुल गये हैं उसके आनन्दका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरणद्वारा अनुभव हो सकता है। (मैत्र्युपनिषद् ६। ३४)

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताकी अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका अभाव है, जो परमानन्दरूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।' (शाण्डिल्योपनिषद् १। ११)

उपनिषदों तथा पातञ्जल योगसूत्रमें समाधिकी अवस्था प्राप्त करने अर्थात् मनको निरुद्ध अथवा सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य करनेकी अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। परन्तु मेरी समझसे उन सबमें श्रेष्ठ तथा सुगम विधि है प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा अथवा सर्वव्यापी अन्तरात्माको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने अथवा उनके अन्दर आत्मनिक्षेप करनेकी मन-ही-मन भावना और अभ्यास करना। स्मरण रहे कि प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा और सर्वव्यापी अन्तरात्मा आदि सारे शब्द ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपका ही लक्ष्य कराते हैं। इस पूर्ण समर्पणकी साधनामें तीव्र भक्ति और श्रेष्ठ ज्ञान दोनों मिले हुए रहते हैं। पूर्ण समर्पणकी भावना तीव्र भक्तियोगसे ही उत्पन्न होती है और सर्वव्यापी अन्तरात्माके अन्दर आत्मनिक्षेप इस श्रेष्ठ ज्ञानसे होता है कि यह सर्वव्यापी अन्तरात्मा, जो अमृतत्वका कारण है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके पीछे छिपा रहता है। 'यह आत्मा ही इन सबके भीतर चल रहा है। इस आत्माकी ही उपासना करो, जो अनन्त तथा जन्म, मृत्यु, भय एवं शोकसे रहित है।' (सुबालोपनिषद् ५। १)

जीवात्माको परमात्माके शरणापन्न कर देनेकी मन-ही-मन भावना करनी चाहिये। परन्तु यह अहंबुद्धि ही जीवात्माको परिच्छिन्न एवं परमात्मासे पृथक् बना रखती है। अतः जीवात्माको परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ है अहंबुद्धिको सर्वव्यापी अन्तरात्मा अर्थात् निर्विकल्प परम अहम्के अर्पण कर देना। इसके लिये व्यष्टि बुद्धिको भावना एवं ध्यानरूप अभ्याससे समष्टिबुद्धि अर्थात् समष्टि अहङ्कारके रूपमें परिणत करना होगा, इससे सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होगी। यह समष्टिमें फैली हुई बुद्धि परिपक्व होनेपर शुद्ध अहङ्कारके, निर्विकल्प परम अहम्के रूपमें बदल जाती है। इस अवस्थामें मनकी क्रिया सर्वथा निरुद्ध हो जाती है और क्षुद्र अहंबुद्धि निर्विकल्प ब्रह्ममें विलीन हो जाती है। इससे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है जिसमें जीवात्मा निर्विकल्प ब्रह्मके साथ एकात्मताको प्राप्त हो जाता है।

'हे पद्मसम्भव! इस परम तत्त्वकी उपलब्धि भक्तिके

द्वारा, चित्तके अन्तर्लीन होनेसे होती है। भावनामात्र ही इस स्थितिका कारण है।' (योगशिखोपनिषद्—महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश ३। २३)

'चित्तवृत्तिका अहङ्कारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना ही सम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप है। यह स्थिति ध्यानके परिपक्व अभ्याससे सिद्ध होती है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५१)

'चित्तकी प्रशान्त वृत्ति जो ब्रह्मानन्दको देनेवाली है, असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह अवस्था योगियोंको अतिशय प्रिय है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५२)

'जब चित्त अपनी चैत्य दशा अर्थात् विषयचिन्तनसे मुक्त हो जाता है, तब इस प्रकारके क्षीणचित्त पुरुषोंकी स्थितिको बाह्यप्रतीतिशून्यता अथवा कलनाशून्यता कहते हैं। यह एक प्रकारकी जाग्रत् अवस्थामें सुषुप्ति है।

'हे निदाघ! यह जाग्रत् अवस्थाकी सुषुप्ति अभ्यास-साध्य है। यही जब प्रौढ़ हो जाती है तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था अथवा समाधि-अवस्था कहते हैं।' (अन्नपूर्णोपनिषद्—महर्षि रिवका अपने शिष्य निदाघके प्रति उपदेश २। १२, १३)

'मैं केवल सत्तारूप हूँ, मैं क्षुद्र अहंबुद्धिसे शून्य परम अहम् हूँ। मेरा स्वरूप बाह्य प्रपञ्चसे विरहित है, मैं चिदाकाशमय हूँ।' (तेजोबिन्दूपनिषद् ३। ३)

यह आगे बताया जायगा कि अहंबुद्धिसे विशिष्ट परमात्मा ही जीवात्मा बना हुआ है, जिस प्रकार तरङ्ग वायुजन्य आन्दोलनसे विशिष्ट समुद्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जीवात्माकी परमात्माके प्रति आत्मसमर्पण बुद्धि उसके अहंकारका नाश कर देती है और उसे समाधि अथवा तुरीय अवस्थाको पहुँचा देती है जहाँ पहुँचकर वह अपने असली तेजोमय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

'केवल सद्भावकी भावना दृढ़ हो जानेसे वासना (अहंबुद्धि)-का लय हो जाता है। वासनाका निःशेषरूपसे क्षय ही मोक्ष है और उसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।' (अध्यात्मोपनिषद् $\frac{१३}{२}$, $\frac{१२}{२}$)

'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च)-को आत्मासे भिन्न देखनेवाले तत्त्वदर्शी पुरुषकी आन्तरिक शान्तिसे उत्पन्न स्थितिका नाम समाधि है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १। २९)

पातञ्जलयोगसूत्रकी समीक्षा करनेसे हम इसी सिद्धान्तको पहुँचते हैं। वहाँ भी इस बातकी ओर संकेत किया गया है कि चित्तकी चञ्चलता अथवा क्षुद्र अहंबुद्धि ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखती है; परन्तु ज्यों ही यह अहंकार अथवा भेदबुद्धि निवृत्त हो जाती है त्यों ही जीवात्मा अपने असली तेजोमय रूपको प्राप्त होकर परमात्माके साथ एक हो जाता है। जब चित्त अपनी चित्तताको भूलकर ध्येयाकार बन जाता है, उस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी अहंकारके नाशका सर्वोत्तम उपाय अपरिच्छिन्न निर्विकल्प ब्रह्मके प्रति आत्मसमर्पणबुद्धिपूर्वक कायिक, वाचिक, मानसिक सब प्रकारकी क्रियाके त्यागका अभ्यास कहा गया है। दृश्य प्रपञ्चकी आड़में छिपे हुए निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जब इन्द्रियाँ अपनेको असमर्थ करती हैं तब इस प्रकारकी निष्क्रियता एवं समर्पणका अभ्यास होता है। इस अभ्याससे उस क्रियाके अनुकूल आसन अपने-आप लग जाता है और साधक धीरे-धीरे शीतोष्ण, सुख-दुःख, सत्-असत् आदि द्वन्द्वोंके अभिघातसे मुक्त हो जाता है; साथ ही प्राणोंकी क्रिया भी अपने-आप बन्द हो जाती है और प्राणायाम सध जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कारका अवरोधक अहङ्कारका पर्दा हट जाता है।

'चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है।'[१]

(पातञ्जलयोगसूत्र, समाधिपाद २)

'तब द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है।'[२]

(पा० यो० समाधि० ३)

'चित्तको किसी देश-विदेशमें बाँध देना 'धारणा' है।'[३]

(पा० यो० विभूति० १)

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

२. तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्।

३. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

'इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाहका नाम 'ध्यान' है।'[१]

(पा० यो० विभूति० २)

'ध्यानके स्थिर हो जानेपर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। इस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं।'[२] (पा० यो० विभूति० ३)

'ईश्वरको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देनेसे समाधि सिद्ध होती है।'[३]

(पा० यो० साधन० ४५)

'सब प्रकारके प्रयत्नोंको शिथिल कर देनेसे तथा अनन्त परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे (ध्यानोपयोगी सरल आसन लग जाता है)।'[४]

(पातञ्जल यो० साधन० ४७)

'इसके अनन्तर द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है।'[५]

(पा० यो० साधन० ४८)

'ऐसा होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गति रुककर प्राणायाम लग जाता है।'[६]

(पा० यो० साधन० ४९)

'तब (आत्माके) प्रकाशका अवरोधक आवरण क्षीण हो जाता है।'[७]

(पा० यो० साधन० ५२)

'उस अनन्त (परमात्मा)-में निरतिशय सर्वज्ञताका बीज रहता है।'[८] (पा० यो० समाधि० २५)

'उसके (सर्वव्यापी अन्तरात्माको आत्मसमर्पण करनेके) बाद सारे विघ्न हट जाते हैं और प्रत्यक्चेतनकी उपलब्धि हो जाती है।'[९] (पा० यो० समाधि० २९)

योगकी प्राचीनता

(लेखक—पं० श्रीविधुशेखरजी भट्टाचार्य, एम्० ए०)

'कल्याण' के इस योगाङ्कमें, हमारे देशमें योगसाधना कबसे प्रचलित हुई इस सम्बन्धमें दो-चार शब्द लिखना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। इस बातको बतलानेके लिये अब किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है कि जबसे द्रव्ययज्ञोंके स्थानमें ज्ञानयज्ञोंका अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ तबसे ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मणों, बौद्धों, जैनों आदि सभी लोगोंके लिये योगसाधना स्वाभाविक ही आवश्यक हो गयी, क्योंकि बिना योगके ज्ञानयज्ञ कोई चीज नहीं है। इसीलिये इन सभी लोगोंके धर्मग्रन्थ जिनमें वे ग्रन्थ भी शामिल हैं जो अपौरुषेय माने जाते हैं, अर्थात् किसी मनुष्यके बनाये हुए नहीं माने जाते, योगचर्चासे भरे हैं।

इस प्रसङ्गमें इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक ही है कि इस योगसाधनाका जन्म इस देशमें ही हुआ अथवा भारतवासियोंने किसी अन्य देशके लोगोंसे इसे सीखा।

एक विद्वान्‌का मत है कि वैदिककालके उपासक महान् आशावादी थे। वे इस लोकमें धन-धान्य और

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
२. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
३. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।
४. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।
५. ततो द्वन्द्वानभिघातः।
६. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
७. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।
८. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।
९. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

दीर्घायुके अभिलाषुक थे और परलोकमें पितृलोकके सुखकी कामना किया करते थे। अतः प्राणायामके द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाना जो योगका एक आवश्यक अङ्ग है, उन लोगोंकी प्रकृतिके सर्वथा प्रतिकूल था। वैदिक कालके आर्यलोग कतिपय अर्द्धसभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आकर उन्हें समुन्नत बनानेकी चेष्टा कर रहे थे। उन्हींसे इन्होंने शरीरको मूर्तिके समान अचल बनानेकी क्रिया सीखी।

परन्तु उपर्युक्त विद्वान्‌की यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि ऋग्वेदमें ही (देखिये १०। १३६। २) कुछ ऐसे मुनियोंका वर्णन आता है जो दिगम्बरवेशमें रहते थे तथा मटमैले पीलेरंगके वस्त्र पहनते थे। (**मुनियो वातवसनाः पिशङ्गा वसते मालाः**)* यही नहीं, अन्यत्र (देखिये १०। १३६। ३) उनके मौनेय (मुनियोंके उचित आचरण)-का भी वर्णन मिलता है। उक्त स्थलोंमें निःसन्देह योगियोंका ही उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार यह बात अनुमानसे ठीक मालूम होती है कि ऋग्वेदके कालमें योगसाधनाका प्रचार था और यह साधना भारतीय आर्योंकी विशेष सम्पत्ति थी। परन्तु कुछ विद्वान् जो मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पामें प्राप्त हुए प्राचीन ध्वंसावशेषोंके आधारपर सिन्धुप्रदेशकी संस्कृतिका अध्ययन कर रहे हैं, उनका मत यह है कि वैदिक कालके आर्योंने सिन्धुप्रदेशके अनार्य निवासियोंसे इस विद्याको सीखा, वे अपने मतकी पुष्टिमें प्रमाण यह देते हैं कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यतासे बहुत पहलेकी है।

परन्तु यह तो उनकी कल्पनामात्र है, क्योंकि अभीतक यह बात सन्तोषप्रद रीतिसे सिद्ध नहीं हुई है कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यताकी अपेक्षा प्राचीन है। सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताका काल ईस्वी सन्‌से तीन-चार हजार वर्ष पूर्व माना जाता है और ऋग्वेद कुछ लोगोंके मतमें ईसामसीहसे २५०० वर्ष पहलेका माना जाता है। किन्तु कुछ विद्वान् यह सिद्ध करनेकी चेष्टामें हैं कि ऋग्वेद ईसामसीहसे करीब ४५०० वर्ष पुराना है। इस विषयका विस्तार न बढ़ाकर हम इतनी बात दावेके साथ कह सकते हैं कि वैदिक साहित्यका विकास ईसामसीहसे कम-से-कम २५०० वर्ष पूर्व अवश्य प्रारम्भ हुआ होगा, इसके लिये हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं। ऐसी दशामें हम ऐसा नहीं मान सकते कि हमें मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पामें जो कुछ उपलब्ध हुआ है वह आर्य-संस्कृतिसे पहलेका है। अतः जबतक हमारे सामने कोई प्रबल प्रमाण नहीं रखे जाते तबतक हम इस बातको माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि भारतीय आर्योंने योगसाधना अनार्योंसे सीखी।
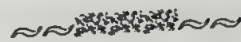
योग और उसके फल

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

योग क्या है?

'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना। योगका आध्यात्मिक अर्थ है वह साधन-सरणि जिसके द्वारा योगीको जीवात्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव होता है—जीवात्माका परमात्माके साथ ज्ञानपूर्वक संयोग होता है। इस गुह्य ज्ञानको सिखानेवाला शास्त्र योगशास्त्र कहलाता है।

योग वह आध्यात्मिक विद्या है जो जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करानेकी प्रक्रिया बतलाती है। योग वह परमार्थविद्या है जो जीवको इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके जञ्जालसे मुक्तकर अखण्ड आनन्द, परमशान्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त जीवन आदि

* हमारे जैन मित्रोंकी यह धारणा हैं कि उपर्युक्त मन्त्रोंमें उनके जैन साधुओंका उल्लेख है।

स्वाभाविक गुणोंसे युक्त परमात्माके साथ उसका संयोग करा देती है।

योगका व्यापक अर्थ करनेसे उसके अन्दर कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग अथवा कुण्डलिनीयोग आदि सभी योगोंका समावेश हो जाता है। उसका सङ्कुचित अर्थ करनेसे वह केवल अष्टाङ्गयोग अथवा महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रवर्तित राजयोगका ही वाचक प्रतीत होता है।

चतुर्विध योग

जिस प्रकार एक ही अंग भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके उपयोगमें नहीं आ सकता, इसी प्रकार एक ही मार्ग सब लोगोंके लिये अनुकूल नहीं हो सकता। मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्मप्रधान, भक्तिप्रधान, योगप्रधान और दार्शनिक अथवा बुद्धिप्रधान, अतः उनकी प्रकृतिके अनुकूल मार्ग भी चार ही हैं, यद्यपि उन सबका लक्ष्य एक ही है—परमतत्त्वकी उपलब्धि। मार्ग भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राप्तव्य स्थान एक ही है। इस परम तत्त्वको उपर्युक्त चार प्रकारके मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे उपलब्ध करनेके जो चार मार्ग बताये गये हैं उन्हींको कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोगके नामसे पुकारते हैं।

ये चारों मार्ग परस्परविरोधी न होकर एक-दूसरेके सहायक हैं। ये इस बातके द्योतक हैं कि हिन्दू-धर्मके भिन्न-भिन्न मार्गोंमें परस्पर सामञ्जस्य है। धर्मके द्वारा समग्र मनुष्यका—उसके हृदय, मस्तिष्क और हाथ तीनों अंगोंका संस्कार एवं विकास होना चाहिये। तभी वह पूर्णताको प्राप्त हो सकता है। एकदेशीय विकास अभिनन्दनीय नहीं है। कर्मयोगसे मलका नाश होता है, चित्तकी शुद्धि होती है और हाथोंमें कुशलता आती है। भक्तियोगसे विक्षेप दूर होता है और हृदयका विकास होता है। राजयोगसे मनकी स्थिरता एवं एकाग्रता निष्पन्न होती है। ज्ञानयोगसे अज्ञानका आवरण हटकर इच्छा एवं बुद्धिका विकास होता है और आत्मज्ञानकी उपलब्धि होती है। अतः साधकको चाहिये कि वह चारों प्रकारके योगका अभ्यास करे। अध्यात्ममार्गमें तेजीके साथ आगे बढ़नेके लिये हम ज्ञानयोगको मुख्य आधार बनाकर अन्य योगोंका सहायकरूपमें साधन कर सकते हैं।

सर्वांगीण विकास आवश्यक है

कर्म, भाव और बुद्धि ये तीन घोड़े इस शरीररूपी रथमें जुड़े हुए हैं। इन तीनोंके व्यापारमें पूर्ण सामञ्जस्य होना चाहिये, तभी रथ आसानीसे चल सकता है। समस्त अंगोंका विकास होना चाहिये, हमारा मस्तिष्क शङ्करका-सा, हृदय बुद्धका-सा और हाथ जनकके-से होने चाहिये। भक्तिशून्य वेदान्त बिल्कुल रसहीन हो जाता है। ज्ञानविरहित भक्ति पूर्ण नहीं होती, और जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, आत्माके साथ अपनी एकताका अनुभव कर लिया है वह अपने आत्मरूप जगत्‌की सेवा किये बिना कैसे रह सकता है? भक्ति ज्ञानसे वियुक्त नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिये कि ज्ञान भक्तिकी पूर्णतामें सहायक है।

विरोधका परिहार

इस प्रश्नको लेकर लोगोंमें बड़ा मतभेद है कि ज्ञान भक्तिका आवश्यक अंग है या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान भक्तिका साधन है। उन लोगोंका कहना यह है कि भगवान्‌को बिना जाने हम उनकी भक्ति कैसे कर सकेंगे। कुछ प्रसिद्ध भक्त ऐसा कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति बिल्कुल स्वतन्त्र साधन हैं। वे अपने अनुभवके आधारपर पूर्ण निश्चयके साथ यह कहते हैं कि भक्ति स्वयं साध्यरूपा है और उसकी सफलताके लिये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। बिजलीके रहस्योंको जाननेवाला इञ्जिनियर यदि किसी अँधेरी रातको घने जंगलमें पड़ जाय और वहाँसे निकलनेका रास्ता उसे न मिले तो निरा बिजलीका ज्ञान उसके क्या काम आवेगा? क्या अन्नके ज्ञानमात्रसे किसीकी भूख बुझ सकती है?

भक्ति और ज्ञान परस्परविरोधी हैं, ऐसा कहना निरी मूर्खता है। पूर्ण ज्ञान ही प्रेम है और पूर्ण प्रेम ही ज्ञान है। पराभक्ति और ज्ञान एक ही वस्तु हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०।१०)

'इस प्रकार जो मुझमें निरन्तर मनको लगाकर प्रेमसे मेरा भजन करते हैं उनको मैं वह ज्ञान देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।'

गीतामें अन्यत्र भी कहा है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** (श्रद्धा अर्थात् भक्तिवान्‌को ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है)

राजयोग

(१) उसके आठ अङ्ग

राजयोगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग हैं। यमका अर्थ है आत्मनिग्रह अर्थात् अहिंसा (किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (निर्लोभता)-का अभ्यास करना। शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), सन्तोष, तप (स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना), स्वाध्याय (वेदादि उत्तम शास्त्रोंका अध्ययन तथा भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन आदि) और ईश्वरप्रणिधान (ईश्वरकी उपासना करना तथा सारे कर्मोंका फल उन्हें अर्पण कर देना)—इन पाँच व्रतोंके पालनका नाम नियम है। यम-नियमके अभ्याससे योगाभ्यासीकी चित्तशुद्धि होती है। मैत्री, करुणा और मुदिताको बढ़ानेसे घृणा, ईर्ष्या और हृदयकी कठोरताका नाश होकर मनको शान्ति मिलती है। आसन साधनेसे शरीर स्थिर और दृढ़ हो जाता है। प्राणायामके अभ्याससे चित्तका विक्षेप दूर होता है और प्रकाशके आवरणभूत रज और तमका नाश होता है। प्राणायाम करनेवालेका शरीर भी हलका हो जाता है। प्रत्याहार (इन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्ति)-के अभ्याससे साधकको मनोबल और मानसिक शान्ति मिलती है। मनको एकाग्र करनेका नाम धारणा है। ध्यान कहते हैं किसी वस्तुके निरन्तर चिन्तनको। समाधि तुरीयावस्थाका नाम है। धारणा, ध्यान और समाधि, इनके युगपत् अभ्यासका नाम संयम है। बाह्य पदार्थोंमें संयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और इस पञ्च महाभूतोंसे बने हुए जगत् और उनसे भी सूक्ष्म पञ्च तन्मात्रोंके रहस्योंका ज्ञान होता है। इन्द्रिय, अहङ्कार, मन इत्यादिपर संयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं।

(२) अष्ट सिद्धियाँ

अष्ट महासिद्धियाँ ये हैं—(१) अणिमा (अपनेको अणुके सदृश सूक्ष्म बना लेना), (२) महिमा (अपनेको पर्वतके समान विशालकाय बना लेना), (३) लघिमा (अपने शरीरको रूईके समान हलका बना लेना), (४) गरिमा (अपने शरीरको लोहेके पर्वत-जैसा भारी बना लेना, (५) प्राप्ति (चन्द्रमाको उँगलीके अग्रभागसे छू लेना), (६) प्राकाम्य (सब प्रकारकी इच्छाओंका पूर्ण हो जाना), (७) ईशित्व (सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति) और (८) वशित्व (सबपर शासन करने तथा पञ्चमहाभूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेकी शक्ति।

(३) समाधिके अवान्तरभेद

योगी क्रमशः योगकी भिन्न-भिन्न भूमिकाओंपर आरूढ़ होकर अनेक प्रकारके अनुभव, ज्ञान और शक्तियाँ प्राप्त करता है। उसे पहले सवितर्क और निर्वितर्क समाधि सिद्ध होती है और इसके अनन्तर वह सविचार एवं निर्विचार समाधिमें प्रवेश करता है। अन्तमें जाकर वह सानन्द एवं सस्मित समाधिका आनन्द लूटता है। इन निम्न श्रेणीकी समाधियोंमें आलम्बन (आधार), संस्कार और ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुटी विद्यमान रहती है। इन समाधियोंसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। जो योगी सबसे ऊँची असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना चाहता है उसके लिये ये निम्न स्तरकी समाधियाँ अन्तरायरूप हैं। असम्प्रज्ञात समाधिके सिद्ध हो जानेपर जन्म-मृत्युके कारणभूत संस्कारबीज निःशेषतया भर्जित हो जाते हैं।

(४) राजयोगियोंके चार भेद

योगी भी चार प्रकारके होते हैं। इनमेंसे पहली श्रेणीके योगी 'प्रथमकल्पित' कहलाते हैं। ये बिल्कुल नौसिखुए होते हैं। इनके अन्दर प्रकाशकी झलकमात्र

दिखलायी देती है। इन्हें सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं। ये लोग सवितर्क समाधिका अभ्यास करते हैं। दूसरी श्रेणीके योगी 'मधुभूमिक' कहलाते हैं। ये लोग निर्वितर्क समाधिमें प्रवेशकर ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त किये हुए रहते हैं। इस भूमिकाको 'मधुमती' भूमिका कहते हैं, जिसका कारण यह है कि इसके अन्दर हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो मधुके समान आनन्ददायक एवं तृप्तिकारी है। तीसरी श्रेणीके योगियोंका नाम है '**प्रज्ञाज्योतिः**'। ये लोग पञ्चमहाभूतों और इन्द्रियोंको जीते हुए रहते हैं। इस श्रेणीके योगी देवताओंके भी प्रलोभनमें नहीं आते। इस अवस्थाका नाम 'मधुप्रतीक' है। चौथी श्रेणीके योगियोंका नाम है 'अतिक्रान्तभणनीय।' ये योगी 'विशोका' और 'संस्कारशेषा' नामक भूमिकाओंपर आरूढ़ रहते हैं, ये कैवल्यको प्राप्त होते हैं।

राजयोगी बिना संयम किये ही प्रतिभासे सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। उच्चतम ज्ञानका नाम 'प्रसंख्यान' है जो विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे उत्पन्न होता है।

इस ज्ञानको प्राप्त हुए योगीके अन्दर अब 'धर्ममेघ' समाधिका उदय होता है। उसे परवैराग्यकी प्राप्ति होती है। वह सब प्रकारकी सिद्धियोंसे, यहाँतक कि सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्त्व आदिसे भी मुँह मोड़ लेता है, क्योंकि वह जानता है कि ये सारी-की-सारी सिद्धियाँ सर्वोच्च समाधिकी प्राप्तिमें अन्तरायरूप ही हैं। तब उसे असम्प्रज्ञात समाद्धि सिद्ध होती है, जिससे जन्म-मृत्युके कारणभूत सारे संस्कार निःशेषरूपसे दग्ध हो जाते हैं।

इस स्थितिको प्राप्त हुआ योगी बिना नेत्रोंके देखता है, बिना जिह्वाके रसास्वाद करता है, बिना कानोंके सुनता है, बिना नाकके सूँघता है और बिना त्वचाके स्पर्श करता है। वह सङ्कल्पमात्रसे अगणित चमत्कार कर सकता है। उसकी इच्छासे ही सब कुछ हो जाता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१। २५)-में इस स्थितिका इस प्रकार वर्णन मिलता है—

'नेत्रहीनने मोती बींध दिया; बिना उँगलीवालेने उसमें धागा पिरो दिया, कण्ठहीनने उसका हार पहन लिया और जिह्वाहीनने उसकी प्रशंसा की।'

(५) कैवल्य

अन्ततोगत्वा पुरुष अपने ऐश्वर्यमय अथवा कैवल्यात्मक स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है। वह प्रकृति और उसके कार्योंसे सर्वथा असम्पृक्त रहता है। वह अपनेको सर्वथा स्वतन्त्र (मुक्त) अनुभव करता है और राजयोगीके चरम लक्ष्य कैवल्यको प्राप्त हो जाता है। अब उसके समस्त क्लेशकर्म नष्ट हो जाते हैं। गुणोंका कार्य भोग और अपवर्ग सिद्ध हो जानेके कारण अब उनका कार्य बिल्कुल बन्द हो जाता है। अब उसका ज्ञान सारा-का-सारा एककालिक हो जाता है। भूत और भविष्य उसके लिये वर्तमानमें मिल जाते हैं। प्रत्येक वस्तु वर्तमान हो जाती है, सामने आ जाती है। ऐसा योगी देश-कालको अतिक्रमण कर जाता है। कैवल्यप्राप्त योगीके अनन्त ज्ञानके सामने त्रैलोक्यका समग्र ज्ञानभण्डार तथा समस्त लौकिक विद्याओंका ज्ञान कुछ नहीं है, निःसार है। जय हो, जय हो ऐसे महान् योगियोंकी! उनका आशीर्वाद हम सबको प्राप्त हो।

हठयोग

हठयोगीका जोर आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायामपर अधिक रहता है। उसे शरीरके निम्न भागमें स्थित मूलाधारचक्रके अन्दर सोयी हुई कुण्डलिनी-शक्तिको जगाकर उसे शेष पाँच चक्रोंके मार्गसे सहस्रारचक्रमें ले जानेकी धुनि सवार रहती है। यह सहस्रारचक्र मस्तकके ऊर्ध्वभागमें ब्रह्मरन्ध्रके समीप स्थित है। यहाँ कुण्डलिनी-शक्तिका शिवके साथ योग हो जाता है। तब योगी निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर मुक्ति एवं भुक्ति (आध्यात्मिक आनन्द)—दोनों प्राप्त कर लेता है! प्राणायामका अभ्यास करते समय उसे चार अवस्थाओंका अनुभव होता है जिन्हें 'आरम्भावस्था', 'घट-अवस्था', 'परिच्छाया-अवस्था' और 'निष्पत्ति-अवस्था' कहते हैं।

भक्तियोग

भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनरूप नवधा भक्तिका अभ्यास करता है। वह अपनी रुचि, प्रकृति, साधनकी योग्यता तथा स्थितिके अनुसार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य इन पाँच भावोंमेंसे किसी एक भावका वरण करता है और सालोक्य, सामीप्य,

सारूप्य तथा सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होता है।

उसकी इस प्रकारकी मुक्ति क्रममुक्ति कहलाती है। इस क्रममुक्तिको प्राप्त भक्त ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ महाप्रलयपर्यन्त ब्रह्माके समीप रहता है और तदनन्तर ईश्वरके साथ ही निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोगका साधक मुक्तिके चार साधनों—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षुत्वको बढ़ाता है। तदनन्तर वह श्रुतियोंको सुनता है, फिर मनन करता है और अन्तमें निदिध्यासन करता है, वह प्रणवके तथा जीव और ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' वाक्यके वास्तविक अर्थका ध्यान करता है। इस साधनको अन्तरङ्ग साधन कहते हैं। तब उसे आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मानुभव होता है।

प्रारम्भमें उसे सविकल्प श्रेणीकी शब्दानुविद्ध एवं दृश्यानुविद्ध समाधि होती है। फिर वह अद्वैतभावना-रूप (वृत्तिरहित) समाधिमें प्रवेश करता है और अन्तमें अद्वैतावस्थानरूप (वृत्तिरहित) समाधिको प्राप्त होता है। ज्ञानयोगकी सात भूमिकाएँ हैं, जिनपर साधक क्रमशः आरूढ़ होता है। इनके नाम हैं शुभेच्छा, सुविचार, तनुमानसी, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीय।

ज्ञानी सद्योमुक्ति अथवा आत्यन्तिक प्रलयको प्राप्त होता है। वह किसी लोकविशेषमें नहीं जाता। उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। स्थूल शरीरका पतन होते ही वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका भेद

ज्ञानीको जीवित अवस्थामें ही विदेहमुक्ति मिल जाती है। ज्ञानी जब सत्वापत्ति नामक चतुर्थ भूमिकापर आरूढ़ होता है उसी समय वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जब उसके अन्दर देहाभिमान लेशमात्र भी नहीं रहता तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। तुरीयावस्थाको प्राप्त होनेपर ज्ञानी जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जब तुरीयातीत अवस्थाको प्राप्त होता है तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। ज्ञानीको जब जाग्रत्-अवस्था स्वप्रवत् भासने लगती है तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जाग्रत्-अवस्था जब उसके लिये सुषुप्तिके समान हो जाती है तब उसकी विदेहमुक्त-अवस्था कहलाती है। जिस अवस्थामें चित्तका अरूप नाश होता है, उस अवस्थाको जीवन्मुक्ति कहते हैं। जिस अवस्थामें उसका स्वरूप नाश हो जाता है उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्त संसारमें रहकर संसारका कार्य कर सकता है। भगवान् शङ्कराचार्य जीवन्मुक्त थे। भगवान् श्रीदत्तात्रेय और जडभरत विदेहमुक्त थे। वास्तवमें इनकी आभ्यन्तरिक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं है।

भक्त और ज्ञानीकी तुलना

ज्ञानयोगी इस दुस्तर भवसरिताको तैरकर पार करता है। भक्तियोगी उसीको भक्तिरूप नौकापर आरूढ़ होकर पार करता है। ज्ञानी आत्मनिर्भरता तथा आत्मबलका आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त करता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार करता है। ज्ञानी अपने स्वरूपको पहचानकर अपने अहङ्कारका विस्तार कर देता है। भक्त अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देता है, भगवान्के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है और उनके सामने दीन-हीन बन जाता है। भक्त मिश्रीका स्वाद लेना चाहता है। ज्ञानी स्वयं मिश्री बनना चाहता है। भक्तको क्रममुक्ति मिलती है। ज्ञानीको सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। भक्त बिल्लीके बच्चेके समान भगवान्की सहायताकी अपेक्षा रखता है और भगवान्को असहाय होकर पुकारता है। ज्ञानी बँदरियाके बच्चेकी भाँति स्वयं दृढ़तापूर्वक अपनी माताकी छातीसे चिपट जाता है।

ज्ञानी और योगीकी तुलना

ज्ञानी चलते-फिरते, खाते-पीते तथा बात-चीत करते हुए भी अपना साधन कर सकता है। उसे किसी एकान्त कोठरीमें आसन लगाकर बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। राजयोगीको अभ्यासके लिये आसनकी भी अपेक्षा है और अलग स्थानकी भी। ज्ञानी सर्वदा समाधि (सहज-अवस्था)-में स्थित रहता है। उसकी नित्य-दृष्टि होनेसे वह मायाके वशीभूत नहीं होता। ज्ञानीके लिये 'समाधि' तथा 'व्युत्थान' दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। परन्तु योगी जब समाधिसे नीचे उतरता है उस समय उसे माया फिर घेर लेती है। जिस प्रकार हम किसी शीशीका मुँह ढक्कनसे बन्द कर देते हैं उसी प्रकार राजयोगी भी अपने प्रयत्नसे चित्तरूपी शीशीका मुँह बन्द कर देता है, जिससे उसके अन्दर वृत्तियोंका आना-जाना बन्द हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें, वह चित्तरूपी बर्तनको बिलकुल खाली कर देता है। ज्ञानी अपनी वृत्तियोंका इस प्रकार निरोध नहीं करता। वह

उनका साक्षी बन जाता है। वह अपने सात्त्विक अन्तःकरणसे ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न करता है। ज्ञानी अपने सत्सङ्कल्पके द्वारा सिद्धियोंको प्रकट करता है; राजयोगी धारणा-ध्यान-समाधिके समवायरूप संयमके द्वारा ऐसा करता है। राजयोगीकी साधना मनसे प्रारम्भ होती है। ज्ञानी अपना अभ्यास बुद्धि और इच्छाशक्तिके आधारपर करता है।

हठयोगी और राजयोगीकी तुलना

हठयोगका सम्बन्ध स्थूल शरीर और प्राणवायुके निग्रहसे है। राजयोगका सम्बन्ध मनसे है। राजयोग और हठयोग अन्योन्याश्रित हैं। वे एक-दूसरेंके आवश्यक सहकारी अङ्ग हैं। दोनोंका ज्ञान हुए बिना कोई पूर्ण योगी नहीं बन सकता।

हठयोगका समुचित अभ्यास जहाँ समाप्त होता है वहींसे राजयोगका प्रारम्भ होता है।

हठयोगकी साधना शरीर और प्राणसे शुरू होती है। राजयोगकी साधनाका मनसे प्रारम्भ होता है।

हठयोगी प्राण और अपानवायुको संयुक्तकर उन्हें भिन्न-भिन्न चक्रोंमेंसे ले जाता है। तब उसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। राजयोगीको उपर्युक्त संयमसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानी इन्हीं सिद्धियोंको सत्सङ्कल्पसे प्रकट कर देता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवत्कृपाको प्राप्तकर सारे ऐश्वर्योंका स्वामी बन जाता है।

उपसंहार

शास्त्र अनन्त हैं; जाननेकी बातें बहुत-सी हैं; समय अति स्वल्प है, उसपर अनेकों विघ्न हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह केवल सारको ग्रहण करे, जिस प्रकार हंस पानी मिले हुए दूधमेंसे केवल दूधको ले लेता है और पानीको छोड़ देता है।

हे अमृतके पुत्रो! जागो। अपनी आँखें खोलो। संसारके दुःखोंका स्मरण करो। मृत्युको याद करो। महात्माओंको याद करो। ईश्वरको याद करो। उसके नामोंका गान करो। भक्तिका साधन करो। नवधा भक्तिका अभ्यास करो। भागवतोंकी सेवा करो। भगवान्‌की अन्तःस्थित सत्ताका सर्वत्र अनुभव करो। श्रीकृष्णका दर्शन इसी जीवनमें, नहीं, इसी क्षणमें प्राप्त करो। दिव्य भागवत अथवा जीवन्मुक्त बनो और सर्वत्र, चारों दिशाओंमें सुख, शान्ति और आनन्दकी वर्षा करो। मित्रो! मैं आपको एक बार फिर याद दिलाता हूँ, उस वृन्दावन-विहारी वंशीरवकारीको एक क्षणके लिये भी मत भूलो। वही तुम्हारा शाश्वत सनातन सङ्गी है, वही तुम्हारे आनन्दका स्रोत है, वही तुम्हारे जीवनका आधार है।

उनके '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस द्वादशाक्षर मन्त्रको सर्वदा रटते रहो। तुम सबपर भगवान् नन्दनन्दनकी कृपा बरसती रहे।

हरिः ॐ तत्सत्।

गीताका योग

(लेखक—स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मानना होगा कि 'योग' एक पेचीदा पहेली है। जितने अर्थोमें इस योग शब्दका प्रयोग अबतक हुआ है शायद ही किसी अन्य शब्दका उतने अर्थोंमें हुआ हो। यद्यपि कोषोंमें—

योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु।
वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे॥
विश्रब्धघातिनि द्रव्योपायसंनहनेष्वपि।
कार्मणेऽपि च योगः स्यात्.................................।

आदि वचनोंके द्वारा नयी चीजकी प्राप्ति, सङ्गति, ध्यान, युक्ति, शरीरकी दृढ़ता, प्रयोग, (ज्योतिषियोंके) विष्कम्भ आदि, ओषधि, विश्वासघाती, द्रव्य, उपाय, कवच, तन्त्र-मन्त्रक्रिया, कर्मठ—इन चौदह अर्थोंमें इसे व्यवहृत किया है और धातुपाठमें 'युजिर्' तथा 'युज्' इन दो धातुओंके तीन अर्थ योग, समाधि तथा संयमन लिखे गये हैं; तथापि इससे यह नहीं मान लेना होगा कि योग शब्दके इतने ही अर्थ हैं। केवल श्रीमद्भगवद्गीताके ही अठारह अध्यायोंमें प्रत्येकके प्रतिपाद्य विषयको भी 'योग' ही नाम दिया गया है—अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि। इससे यह तो सिद्ध ही है कि योग शब्दार्थके भीतर कम-से-कम अठारह पदार्थ और भी

आ गये। बेशक गीताके सांख्ययोग, कर्मयोग आदि शब्दोंके साथ ही प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पठित समाप्तिसूचक सङ्कल्पोंमें **'योगशास्त्रे'** को देखकर बहुत लोगोंने 'योगशास्त्र' का 'कर्मयोगशास्त्र' अर्थ कर दिया है और नारायणीय धर्मके साथ, जिसका प्रतिपादन महाभारतके शान्तिपर्वमें आया है, गीताप्रतिपादित विषयका मिलान करके गीतामें भी नारायणीय धर्मका ही निरूपण माना है और इस निर्णयपर पहुँचनेमें उन्होंने 'भगवद्गीता' नामसे भी सहायता ली है। कारण, नारायणीय धर्मके वक्ता जहाँ नारायण हैं तहाँ गीताधर्मके वक्ता भी भगवान् या नारायण ही हैं और भगवद्गीता शब्दका यही अर्थ भी है। फिर भी हमारे जानते ऐसा करना खींचतानकी पराकाष्ठा एवं दूरकी कौड़ी लाना है। आखिर 'अर्जुनविषादयोग' में, जो प्रथमाध्यायका प्रतिपाद्य विषय है, कौन-सा कर्मयोग है? केवल तीसरे अध्यायके अन्तके सङ्कल्पमें 'कर्मयोग' आया है। बाकीमें तो सांख्ययोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग आदि शब्द आये हैं। इनमें कहाँ कर्मयोग छिपा हुआ है? और अगर इन सभीका अर्थ प्रकारान्तरसे कर्मयोग ही करनेका हठ किया जाय, जो असम्भव है, तो फिर योग शब्द वही भानमतीकी पिटारी ही सिद्ध हो जाता है और इसके भीतर संसारभरके पदार्थोंका समावेश हो ही जाता है। इससे अच्छा है कि गीताके प्रत्येक अध्यायके प्रतिपाद्य विषयोंको ही योग नाम दे डालें और भगवद्गीता नाम उसका केवल इसीलिये मान लें कि उसमें सर्वत्र **'भगवानुवाच'** यही लिखा है न कि नारायणीय धर्मसे इसका कोई भी सम्बन्ध है। इसीलिये 'भगवद्गीता' यह स्त्रीलिङ्ग नाम भी ठीक हो जाता है। क्योंकि यह गीता तो शब्दान्तरसे भगवान्‌के द्वारा गायी हुई (उपदिष्ट) उपनिषद् ही है और उपनिषद् शब्दके स्त्रीलिङ्ग होनेके कारण उसका विशेषणरूप गीता शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो गया है। यदि नारायणीय धर्मकी बात होती तो **'भगवानुवाच'** की जगह **'नारायण उवाच'** कहते और नाम भी नारायणगीता रखते। या नहीं तो धर्म शब्दका खयाल करके पुंल्लिग या नपुंसक लिङ्ग **'गीतः' 'गीतम्'** रखते।

लेकिन इतनेसे ही योगके शब्दार्थका निश्चय तो हो नहीं जाता और योग क्या है यह पहेली सुलझनेके बजाय और भी उलझ जाती है। बहुत लोग यह समझते होंगे कि पतञ्जलिके योगदर्शनमें शायद इसकी सुलझन हो। लेकिन उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ गीताके अठारहों अध्यायोंमें सब मिलाकर योग, युक्त, युञ्जन् आदि अर्थात् उसी **'युज्'** धातुसे बने शब्दोंका प्रयोग प्रायः डेढ़ सौ बार आया है और यदि इसीमें हर एक अध्यायके समाप्तिसङ्कल्पमें दो-दो बार लिखे योग शब्दको जोड़ दें तो एक सौ नब्बेसे अधिक या प्रायः दो सौ बार आया है ऐसा कह सकते हैं, तहाँ योगदर्शनमें कुल मिलाकर केवल नौ-दस ही बार इसका प्रयोग हुआ है और उसमें भी योगके अर्थमें केवल चार ही बार, जैसा कि पहले पादके दूसरे, दूसरेके पहले और अट्ठाईसवें और चौथेके सातवें सूत्रोंसे स्पष्ट है। इसके विपरीत गीताके प्रायः सभी प्रयोग इसी अर्थमें हैं। अतः यह तो मानना ही होगा कि योग शब्दको किसी-न-किसी रूपमें गीतामें जितनी बार दुहराया गया है उतनी बार शायद ही किसी और पुस्तकमें दुहराया है। एक बात और है। गीतामें योग शब्दके अभ्यासके साथ ही उसका निर्वचन भी स्पष्टरूपसे दो श्लोकोंमें जरूर किया है और वे हैं द्वितीय अध्यायके ४८ तथा ५० श्लोक जिनमें लिखा है कि 'कर्म और उसके फलमें लिपटनेके भाव (आसक्ति)- को छोड़ और उद्देश्य पूरा होने-न-होनेमें बेफिक्र होकर योगबुद्धिसे कर्म करो, क्योंकि इसी अनासक्ति (आसक्तित्याग) और पूरा होने-न-होनेमें बेफिक्रीको—समताको योग कहते हैं।'—'कर्मके सम्बन्धकी विशेषज्ञताको, कौशलको—योग कहते हैं।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २। ४८)

'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २। ५०)

यद्यपि योगदर्शनमें भी **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१। २) तथा **'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'** (२। १) सूत्रोंमें योगशब्दकी व्याख्या की गयी है। फिर भी वह दूसरे ढंगकी है—संकुचित एवं एकदेशी है। वह व्याख्या केवल योगदर्शनवालोंके ही कामकी है और यह तो मानना ही होगा कि योगदर्शन जनसाधारणकी पहुँचके परेकी चीज है—व्यावहारिक जीवनकी चीज़

नहीं है। उससे केवल विरक्त या अध्यात्मवादी ही लाभ उठा सकते हैं जिनकी संख्या उँगलियोंपर गिनी जा सकती है, संसार तो दिन-रात कामों (कर्मों)-में लिप्त है, फँसा है, उसे चित्तवृत्तिनिरोधसे क्या काम? फलतः जिन कामोंको वह कर रहा है उनसे उसे न हटाकर भी कोई ऐसी युक्ति (तरकीब) बतायी जाय जिससे अभीष्टकी सिद्धि और असिद्धि, हार-जीत, हानि-लाभ आदिकी उसके दिलपर चोट न पहुँचे और हर हालतमें वह एक-सा रहे—निर्द्वन्द्व रहे तथा जनककी तरह हिम्मतसे कह सके कि समूची मिथिला जली सही, लेकिन मेरा क्या जला?

मिथिलायां प्रदग्धयां न मे किञ्चन दह्यते।

—तो कितना सुन्दर हो, कितना अच्छा हो और इस बेहाल दुनियाको वह कितनी रुचे! इतना ही नहीं, काम करते-करते थक गये और नतीजा कुछ न हुआ तो फिर शुरू किया और इस तरह करते-करते थक गये, मरनेकी नौबत आ गयी, फिर भी यदि काम छूट जानेका मौका आया तो मारे चिन्ताके जलने लगे, यहाँतक कि अन्तदममें भी उस कामकी फिक्रसे ही बेहाल हैं! ठीक वही हालत है कि बँदरीका बच्चा तो मर गया, मगर वह उसे फिर भी छातीसे चिपकाये फिरती है और छोड़ना नहीं चाहती। ऐसी मनोवृत्ति भी कैसी भयङ्कर और दुःखद है! यह कर्मकी ममता भी कैसी भयावनी है! ठीक वैसी ही है, जैसी फलकी। आसक्ति सभी बुरी है फिर वह चाहे फलकी हो या कर्मकी, वह समुद्र या नदीमें तैरनेवालेके गलेकी चक्की है। फल जबतक कच्चा है, डालमें लगा रहता है और बलात् उसका तोड़ना ठीक नहीं है। साथ ही पकनेपर जब वह अनायास डाल (वृन्त)-से छूट रहा तो हठात् वृन्तमें ही उसे चिपकाये रखना या रखनेकी कोशिश कम बुरी नहीं है, ऐसा करना तो फल, वृन्त, डाल, वृक्ष सभीको बेकार बनाना है। ऐसी हालतमें यदि इस मनोवृत्तिको हटानेका कोई उपाय हो तो कितना बढ़िया हो, रमणीय हो! यह उपाय, तरकीब या रास्ता योगदर्शनके अरण्यमें मिलनेका नहीं, इसीलिये भर्तृहरिने कहा है और ठीक ही कहा है कि योगमें तो रोगोंका खतरा है—**'योगे रोगभयम्'**। परिणाम यह होता है कि साधारण जनताकी ज्ञानपिपासा और आकांक्षा योगदर्शनके पढ़नेके बाद भी शान्त नहीं होती। वह या तो उसे समझ पाती ही नहीं या उसे अपने लिये बेकार समझती है। साथ ही सांसारिक झंझटोंमें लिप्त रहनेके कारण कार्योंके फलाफलसे होनेवाली वेदनाओंसे समय-समयपर ऊबकर उनसे छुटकारा भी चाहती है जो सहज हो। क्योंकि समय-समयपरकी यह ऊब तो केवल मसानियाँ वैराग्य है, स्वभावतः लोग कामोंसे तो अलग हो ही नहीं सकते, उन्हें कामोंमें ही मज़ा आता है। हाँ, कभी-कभी वह मज़ा किरकिरा हो जाया करता है और उसी किरकिरेपनसे पिण्ड छुड़ानेकी इच्छा लोगोंको स्वभावतः रहती है और गीताके 'योग' निर्वचनकी खूबी इसीमें है कि वह उस आकांक्षाकी पूर्त्ति करता है, यद्यपि आज हमें यह बात विदित न हो और मतवाद एवं साम्प्रदायिक आग्रहमें पड़कर हमने गीताके इस रहस्यको भुला दिया हो, तथापि गीताके सर्वाधिक लोकप्रिय बननेका प्रारम्भिक कारण यही है कि जनसाधारणके भावोंको समझ उन्हींके उपयुक्त साधनोंके सम्पादनद्वारा उनकी पूर्त्तिका उपाय उसमें बताया गया है।

बहुत लोगोंके मनमें यह शङ्का होती है कि गीतामें ही योगकी दो परिभाषाएँ क्योंकर दी गयी हैं जो परस्पर मेल नहीं खाती हैं। एकमें तो 'समत्व' का नाम योग रखा गया है और दूसरेमें 'कौशल' का। समत्व कर्म तथा फलकी अनासक्ति है जो निषेधात्मक है और कर्ममें 'कौशल' विशेषज्ञता या विशेषरूपकी जानकारी है जो भावात्मक है। कुशल या विशेषज्ञ (specialist) तो वही होता है जो उस वस्तुके रगरेशेको रत्ती-रत्ती जाने। ऐसी हालतमें तो यह विशेष ज्ञान विधानात्मक (positive) हुआ और पूर्वोक्त अनासक्ति निषेधात्मक (Negative) लेकिन यदि थोड़ा भी प्रवेशपूर्वक देखा जाय तो यह बात नहीं है। आखिर योगके उक्त दोनों निर्वचन गीताके द्वितीय अध्यायमें ही नहीं, किन्तु पास-पासके ही श्लोकोंमें लिखे गये हैं। ४८ और ५० के बीचमें तो केवल ४९ संख्यावाला श्लोक ही व्यवधायक है। बल्कि ४९वें श्लोकमें जो 'बुद्धियोग' शब्द आया है उसीका स्पष्टीकरण ५० वेंमें है। फलतः व्यवधान भी नहीं है, किन्तु दोनों निर्वचन आगे-पीछे मिले ही हुए हैं। ऐसी दशामें पूर्वापरविरोधका अवसर ही कहाँ? जब

साधारण मनुष्य भी एक साथ बोलनेमें एक समय पूर्वापरविरोधसे बचता है तो फिर गीतोपदेशक श्रीकृष्ण या गीताके पदबद्धकर्त्ता व्यासका क्या कहना? असलमें यह मानव-स्वभाव है कि बुरा-भला जो कुछ किया जाता है उसका, उसके फलका तथा संसारमें निरन्तर होनेवाली घटनाओंका प्रभाव दिल-दिमागपर, आत्मापर—पड़ता ही है। यह असम्भव है कि आईनेके सामने कोई पदार्थ लाया जाय और उसकी छाया उसमें न पड़े—प्रतिबिम्ब न दीखे। और घटनाचक्रका यही आत्मापर पड़नेवाला प्रभाव हमारे सभी कष्टों एवं वेदनाओंका कारण है। जबतक दिल-दिमाग दुरुस्त हैं, काम करते हैं तबतक ये वेदनाएँ अनिवार्य हैं। गाढ़ी नींदके बाद जब कोई हृष्ट-पुष्ट मनुष्य उठता है तो उसके दिल-दिमाग शान्त और एकरस—सम मालूम होते हैं और इस दशाको हम दूसरे शब्दोंमें बैलेन्स्ड (balanced) कह सकते हैं। लेकिन उसके बाद घटनाचक्रके करते रसभङ्ग शुरू होता है और मनुष्य कभी प्रसन्न और कभी खिन्न होता है, कभी रोता है तो कभी हँसता और कभी उदासीन बनता है। यही विषमताकी (Unbalanced) अवस्था उसके दिल-दिमागकी है। यदि यह अवस्था न आवे तो जिन्दगी कितनी मजेदार हो, जीवन कितना सरस हो, जैसा कि अबोध बच्चोंमें प्रायः पाया जाता है। गाढ़ निद्रा और बेहोशीकी हालतमें भी इस विषमताका पता नहीं रहता, मानो आईना बन्द है और प्रतिबिम्ब नहीं पड़ते। मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क इतने भावग्राही हैं, भावव्यञ्जक हैं, संसर्गग्राही हैं, sensitive हैं कि प्रत्येक घटनाका प्रभाव लिये बिना नहीं रहते, अवश्य प्रभावित हो जाते हैं। इधर हमारी हालत यह है कि अच्छे भावों और उनके परिणामोंके साथ तो तन्मय होना हमें पसन्द है, लेकिन असद्भावों और दुष्परिणामोंसे बचना चाहते हैं। यह परस्परविरोधी बातें हैं। यह ऐसी ही हैं जैसी दिनको चाहकर रातको न चाहना। संसार तो परिणामी है, परिवर्तनशील है। फलतः अच्छेके बाद बुरे और बुरेके बाद अच्छेका आना अनिवार्य है। इसमें कोई अन्तर नहीं कि हम दुःख चाहें या सुख। इन दोनोंको तो अयुत सिद्ध कहना चाहिये, जिसके मानी हैं कि एकके बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि हम एकको भी न चाहें। यह कोई असम्भव बात नहीं। हाँ, कठिन अवश्य है। और जब यह दशा प्राप्त हो गयी तो दिल-दिमाग एकरस (balanced) रहते हैं, सम रहते हैं। इसी दशाका नाम 'समत्व' है जिसका उल्लेख उक्त ४८ वें श्लोकमें है।

कह चुके हैं कि कामोंका प्रभाव दिल-दिमागपर पड़ता ही है। बल्कि यों कहना चाहिये कि कर्मोंके फलके रूपमें जो हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख आदि होते हैं उनका अनुभव दिल-दिमाग तभी करते हैं, उनसे प्रभावित तभी होते हैं, जब उन कर्मोंसे पहले प्रभावित हो लेते हैं। बीजमें अङ्कुर-उत्पादनकी शक्ति होती है जो प्रतीत नहीं होती। लेकिन भाड़में डाल देनेपर वह शक्ति नष्ट हो जाती है, यद्यपि बीज ज्यों-का-त्यों रहता है। ठीक यही दशा कामोंकी है। जो काम हमारे दिल-दिमागको प्रभावित नहीं करते उनकी सुख-दुःखानुभावक शक्ति नष्ट हो जाती है। बेहोश आदमीको छुरी भोंकनेकी जानकारी न होनेसे उसके बाद होनेवाली पीड़ाका भी अनुभव नहीं होता। पागलों तथा अबोधोंकी तन्मयता क्रियाके साथ न होनेसे तज्जन्य फलसे भी वे लोग सुखी-दुःखी नहीं होते। अतएव बुरे-भले कर्मोंके साथ यदि हमारी तन्मयता छूट जाय तो फिर उनके फलोंसे भी पिण्ड अनायास ही छूटे। इसके लिये यदि कोई हिकमत, उपाय या तदबीर हो तो क्या खूब! काम करनेसे तो पिण्ड छूट नहीं सकता। मजबूरन कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३। ५)

फिर कर्मोंसे बचनेकी निरर्थक कोशिशसे क्या प्रयोजन और क्या प्रयोजन इस बेहूदा दुराग्रहसे कि मैं अमुक कर्म करूँगा ही? एकमात्र उनकी आसक्तिसे बचनेकी कोशिशमें बुद्धिमानी है जिससे फल भोगने

न पड़ें। इसी बुद्धिमानीको, चातुरीको, कौशलको 'योग' कहा है उक्त ५०वें श्लोकमें और यह कौशल वही अनासक्ति या समता या दिल-दिमागका balance है। इस प्रकार देखनेसे दोनोंमें विरोध कहाँ है? बात असल यह है कि ४८वें श्लोकमें 'समत्व' नामक जिस योगका उल्लेख किया है उसीका विशदीकरण ४९, ५०, ५१ आदि आगेके श्लोकोंमें किया है और कहा है कि कर्मोंको करता हुआ भी ऐसी बुद्धिमत्ताका सम्पादन करे, ऐसे कौशलको प्राप्त करे जिससे सिद्धि, असिद्धिमें हमेशा बेफिक्र रहे। क्योंकि बिना ऐसी बुद्धिमत्ताके सुकृत-दुष्कृत या भले-बुरे कर्मों तथा उनके फलोंसे छुटकारा नहीं हो सकता। इसके बादके ५१वें श्लोक **'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि'** में फिर उसी बुद्धिमत्ताका विवेचन किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार अनासक्ति या समत्वज्ञानरूपी बुद्धिमत्ताके प्राप्त होनेपर जन्म-मरणसे छुटकारा हो जाता है।

गीताके इस योगका निष्कर्ष यह है कि मनुष्यको किसी प्रकारका आग्रह कर्मके सम्बन्धमें नहीं होना चाहिये। प्राकृत नियमोंके अनुसार प्रवाहपतित कर्मोंसे भागना भी ठीक नहीं और अगर संस्कारवश कर्म अपने-आप ही छूट जायँ या एक छूटकर उसकी जगह दूसरा आ जाय तो हर-हालतमें महाभारतोक्त धर्मव्याधकी तरह उसमें भला-बुरा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि न तो कर्मोंमें ही कुछ रखा है और न उनके त्यागमें ही। कर्मोंके करने या उनके त्यागके सम्बन्धमें जो हमारी मनोवृत्ति है, भावना है वही असल चीज है और उसीके सम्पादनमें हमारा ध्यान रहना चाहिये। यदि कर्मोंमें हमारी आसक्ति या ममता न हो तो वे हमसे छूट जायँगे, यह धारणा भ्रान्त है। कर्म तो सृष्टिके नियमान्तर्गत हैं। फिर वे छूटेंगे कैसे? और अगर उन्हें छूटना ही है तो आसक्ति या ममता उन्हें रख नहीं सकती। प्रत्युत यह आसक्ति विचारको अन्धा और दुर्बल बना देती है। कारण, आसक्ति तो एक प्रकारका हठ है और हठके साथ विवेकका सम्बन्ध ही क्या? आसक्तिमें बहुत बड़ा दोष है कि वह मनुष्यको अधीर बना देती है, साहसहीन कर देती है और अधीरताकी दशामें कोई भी काम ठीक-ठीक किया ही नहीं जा सकता। यह तो केवल कर्मकी आसक्तिकी बात है। फलकी आसक्ति तो और भी बुरी है। वह मनुष्यके ध्यानको बाँट देती है और जब ध्यान बलात् फलकी ओर चला जाता है तो पूरी शक्तिसे कर्मका अनुष्ठान हो नहीं सकता। साथ ही, जिसपर आसक्ति होती है उसीपर अधिक दृष्टि होती है। फल यह होता है कि कर्म या फलपर आसक्तिके करते उसीमें दृष्टि बँध जाती है और कर्मके साधनोंपर पूर्ण दृष्टि नहीं रहती। परिणाम यह होता है कि साधन-सम्पत्ति पूर्ण न होनेसे क्रिया (कर्म) ठीक नहीं होती, जिससे फल भी सन्दिग्ध रहता है। अतएव कर्म या उसके फलकी ओरसे दृष्टि हटाकर कर्मके साधनोंपर रखनी चाहिये। एतदर्थ दोनोंकी आसक्ति त्याज्य है। बात भी है कि जब मनोयोगपूर्वक कर्मके साधन ठीक रहेंगे तो कर्मकी पूर्ति और उसके द्वारा फलकी सिद्धिको कोई रोक नहीं सकता, वह अनिवार्य है। ऐसी दशामें कर्म और फल दोनोंकी आसक्ति सर्वथा हेय है और जब वह रही ही नहीं तो दिल-दिमागकी समता (Balance) अवश्य ही रहेगी। गीताके **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (२।४७), **'कृपणाः फलहेतवः'** (२।४९) आदिका यही भाव है।

हृदय तथा मस्तिष्कके इस समता (Balance)-को पातञ्जलयोगवाले भी अपने रास्तेसे प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये, जिनमें संसारसे वैराग्य नहीं है, नहीं बताया गया है। क्योंकि **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** (१। १२) सूत्रके द्वारा योगकी सिद्धि अभ्यास और वैराग्य दोनोंकी सहायतासे बतायी गयी है। इसीलिये इस योगको हम व्यावहारिक नहीं कहते। जीते-जी मृतक बननेको कितने लोग तैयार हो सकते हैं? दूसरी ओर गीताका योग है। इसमें किसी भी कामकी मनाही नहीं है। प्रत्युत **'कर्मज्यायो ह्यकर्मणः'** (गीता ३।८)-के द्वारा नहीं करनेकी अपेक्षा कुछ भी करना अच्छा बताया गया है। यह भी नहीं कि कर्मके फलसे वञ्चित करनेका यत्न किया गया हो। प्रत्युत जहाँ आसक्तिके करते फल सन्दिग्ध रहता है, तहाँ गीताने अनासक्तिके द्वारा उसे और भी निश्चित कर दिया है,

कारण, कर्मोंके सुसम्पादनसे उनके फल अवश्यम्भावी हैं। यह भी नहीं कि किन्हीं विशेष प्रकारके कर्मोंमें कोई महत्ता रखी गयी हो। वहाँ तो—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
(गीता ९। २७)

—के द्वारा साधारण खान-पानसे लेकर यज्ञ-हवनादि सभीके द्वारा समान रूपसे कल्याण लिखा हुआ है। यम, नियमादि कठिन व्रतोंका भी प्रश्न नहीं है और प्राणायाम, आसन आदिका भी नहीं। किन्तु सभी कुछ करते-कराते रहनेपर भी या तो यह भाव रखना कि इन कर्मोंके द्वारा हम भगवान्‌की पूजा करते हैं, या यह कि प्रकृतिनियमके वश ये हमारे लिये कर्तव्य हैं, इसीसे इन्हें करते हैं, अथवा जो कुछ करते हैं वह यज्ञ हो रहा है—

तत्कुरुष्व मदर्पणम्। (गीता ९। २७)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
(गीता १८। ९)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र। (गीता ३। ९)

—बस, इन तीनोंमेंसे किसी भी भावनासे, लेकिन कर्मके करने, न करने या उसकी फलकी आसक्ति छोड़कर, जितने भी कर्म छोटेसे बड़ेतक (यहाँतक कि मल-मूत्रत्यागसे लेकर समाधितक) किये जाते हैं, सभी कल्याणकारक होते हैं। इस प्रकार 'आम-का-आम और गुठलीका दाम' चरितार्थ होता है। क्योंकि एक तो कोई विशेष परिश्रम या तैयारी नहीं करनी पड़ती, दूसरे कर्मोंके सांसारिक फल भी मिलते ही हैं, तीसरे दिल-दिमागकी एकरसता (Balance) बनी रहती है जिससे जीवन किरकिरा नहीं होता। चौथे परलोकमें बन्धन नहीं होता और अन्तमें कल्याण होता है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थामें ये सभी बातें नहीं होती हैं किन्तु धीरे-धीरे एकके बाद दूसरी होती हैं। फिर भी इनका होना असम्भव नहीं। साथ ही यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये भी सुकर होनेसे सार्वभौम एवं व्यावहारिक है। यही गीताके योगकी विशेषता है और इसीसे इसे सार्वभौम धर्म कहते हैं। इसके अनुसार किसी भी हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान आदि सम्प्रदायका मनुष्य समानरूपसे कल्याण प्राप्त कर सकता है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
(गीता १८। ४७)

—का भी यही अभिप्राय है। यदि गीताका यह योग प्रचलित हो जाय तो धार्मिक कलह स्वयमेव विलीन हो जायँ।

जैसा कि पहले कह चुके हैं, गीतामें योग शब्दका प्रयोग प्रायः दो सौ बार आया है—सभी अध्यायोंमें यह शब्द ओतप्रोत है। केवल प्रथम और सत्रहवें अध्यायके श्लोकोंमें यह नहीं मिलता। यह भी बात है कि सर्वत्र योग शब्दका प्रयोग हमारे बताये अर्थमें ही नहीं हुआ है, किन्तु पातञ्जलयोगके अर्थमें तथा कोषमें निर्दिष्ट अर्थोंमें भी हुआ है और प्रत्येक अध्यायके प्रतिपाद्य विषयकी भी योगसंज्ञा गीतामें है। फिर भी यह गीताकी कोई माननीय विशेषता नहीं है और इससे जनताका कोई विशेष लाभ नहीं। गीताने मनुष्यके व्यावहारिक जीवनकी पारमार्थिक या पारलौकिक जीवनके साथ एकता करके उसे जो सर्वजनसाध्य व्यावहारिकता प्रदान की है यही उसकी विशेषता एवं उपादेयताका कारण है। चाहे घरमें हो या जंगलमें, हल जोतता हो या समाधिस्थ हो, नमाज पढ़ता हो, प्रार्थना करता हो या सन्ध्योपासनमें लगा हो, हर हालतमें वह समानरूपसे कल्याणका अधिकारी हो सकता है, इसे गीताने दार्शनिकरूपसे बताया है। यह बात इस रूपमें कहीं नहीं मिलती। यह गीताकी देन है—उसकी अपनी वस्तु है और यही गीताका योग है।

अष्टाङ्गयोग

(लेखक—पं० श्रीसीतारामजी मिश्र, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ)

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

(कस्यचनाभियुक्तस्य)

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा॥
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानञ्च ध्यानञ्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥[1]

इत्यादि श्रुति-प्रमाणोंसे और—

मुक्तियोगात्तथा योगात् सम्यग्ज्ञानं महीयते।

× × × ×

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।[2]

इत्यादि स्मृति-प्रमाणोंसे योगकी महत्ता साधुतया सिद्ध हो जाती है। योग साक्षात् मोक्षका कारण न होनेपर भी साक्षात् मोक्षकारण ज्ञानका कारण है, अतः जबतक साधक योगशास्त्रके अनुसार आचरण करके योगी नहीं हो जाता, तबतक उसके पास ज्ञान आता ही नहीं। सारांश यह है कि मुक्त होनेके लिये जिस तरह ज्ञानकी आवश्यकता है, उसी तरह ज्ञानी होनेके लिये योगकी आवश्यकता है। शास्त्रोंमें लिखा है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यच्चोक्तं व्यासकोटिभिः।
ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति च निर्वृतिः॥
निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद् योगसङ्गतिः।
योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते॥

अर्थात् 'जो बात व्यासजीने करोड़ों श्लोकोंमें समझायी है, वही बात मैं तुम्हें आधे श्लोकसे समझाता हूँ। 'ममत्व' जो है वही दुःखका मूल है, और निर्ममत्व ही अत्यन्त निर्वृति (सुख) है। निर्ममत्वसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे योगकी प्राप्ति होती है, और योगसे ज्ञान और ज्ञानसे मनुष्य मुक्त हो जाता है।' अतः यह स्पष्ट है कि मुमुक्षुके लिये योगका साधन कितना आवश्यक कर्तव्य है। अब हमें इसपर विचार करना है कि योगका क्या स्वरूप है, और उसका क्या लक्षण है। योगका लक्षण करते हुए भगवान् पतञ्जलिने योगसूत्रमें कहा है कि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो० १।२)

अर्थात् 'चित्तकी वृत्तियोंका रोकना योग कहलाता है।' चित्तकी पाँच अवस्थाएँ शास्त्रोंमें वर्णित हैं—(१) क्षिप्तावस्था, (२) मूढावस्था, (३) विक्षिप्तावस्था, (४) एकाग्रावस्था और (५) निरोधावस्था। चित्त त्रिगुण है, उसमें सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण रहते हैं, अतः उन गुणोंके धर्म भी उसीमें रहते हैं। चित्त सत्त्वगुणप्रधान होकर भी अप्रधान रजोगुण और तमोगुणसे संयुक्त रहनेके कारण अणिमादि आठ ऐश्वर्यों और शब्द आदि पाँच विषयोंमें जब अनुरक्त रहता है, तब उसकी क्षिप्तावस्था समझी जाती है। दैत्य और दानवोंका चित्त इसी क्षिप्तावस्थामें रहा करता है। वही सत्त्वप्रधान चित्त जब रजोगुणको तिरस्कृत करके तमोगुणके द्वारा अनुविद्ध रहता है, और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य और निद्रा आदि चाहने लग जाता है, तब उसे मूढावस्था कहते हैं। पिशाच और राक्षसोंका चित्त इसी मूढावस्थामें स्थित है। वही सत्त्वप्रधान चित्त जब तमोगुणको तिरस्कृत करके रजोगुणसे सम्बद्ध रहनेके कारण धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यको प्रिय समझने लग जाता है, तब उसकी विक्षिप्तावस्था होती है। हिरण्यगर्भ आदि देवताओंका चित्त इसी विक्षिप्तावस्थामें रहता है। जब चित्तमें रजोगुण और तमोगुण अंशतः भी नहीं रहते, केवल सत्त्वगुण ही रहता है, उस समय चित्त अपनी वास्तविक अवस्थामें रहता है। यही चित्तकी एकाग्रावस्था

१. 'अध्यात्मयोगसे प्राप्त ज्ञानके द्वारा भगवान्‌को जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंको त्याग देता है।' 'ऐसे निर्विषय मनकी मुक्ति इष्ट है।' 'इसलिये मुमुक्षुको चाहिये कि मनको सदा निर्विषय करे।' 'मनका निरोध तभीतक करना है जहाँतक हृदयकी सब वासनाएँ नष्ट न हो जायँ। यही ज्ञान है, यही ध्यान है, बाकी सब ग्रन्थका विस्तार है।'

२. 'मुक्तियोगसे तथा उसके साधनयोगसे सम्यक्-ज्ञान बहुत बड़ी चीज है।' 'तपस्वीसे और ज्ञानीसे भी योगी बड़ा है।'

है। इसीको सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। विवेक-ख्याति भी योगशास्त्रमें इसीकी संज्ञा है। जब चित्त यह समझकर कि चितिशक्ति अपरिणामिनी, शुद्ध और अनन्त है, और विवेक-ख्याति परिणामिनी, अशुद्ध और सान्त है, उसमें विराग करके उस विवेक-ख्यातिको भी रोक देता है, तब चित्तकी निरोधावस्था हो जाती है। इसमें चित्तका स्वरूप कुछ भी नहीं रहता। इसलिये इसे योगीजन निर्बीज समाधि कहते हैं। इन पाँचों चित्तकी अवस्थाओंमेंसे अन्तिम दो अवस्थाओंमें ही अपेक्षित चित्तवृत्तिनिरोध होता है, शेष तीन अवस्थाओंमें नहीं होता, अतः उक्त दो अवस्थाएँ ही योगकी प्रवृत्तिनिमित्ता हैं। यहाँ चित्तवृत्तिनिरोधका अर्थ न तो सम्पूर्ण चित्त-वृत्तियोंका रोकना है और न यत्किञ्चित् वृत्तियोंका अवरोध ही है। यदि पहला अर्थ मान लिया जाय तो सम्प्रज्ञात समाधिमें अव्याप्तिदोष आ जायगा, क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधिसे सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध नहीं होता, किन्तु सत्त्वगुणके रहनेसे उसकी वृत्तियाँ उसमें वर्तमान ही रहती हैं। यदि दूसरा **'यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोध'** (चित्तकी कुछेक वृत्तियोंका रोकना) अर्थ करें तो **'यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोध'** तो चित्तकी क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ-अवस्थाओंमें भी होता है, अतः वे अवस्थाएँ भी योगके अन्तर्गत हो सकेंगी, फलतः अतिव्याप्तिदोष आ जायगा। अतः अव्याप्ति और अतिव्याप्तिदोष हटानेके हेतु हमें यह लक्षण करना पड़ेगा कि, **'क्लेशकर्मादिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः'** अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध ऐसा होना चाहिये जो क्लेश कर्म आदिका परिपन्थी हो, शत्रु हो, निवारक हो। अब देखिये, कहीं भी कोई दोष नहीं आता है, न तो सम्प्रज्ञात समाधिमें अव्याप्ति ही आती है और न क्षिप्त, विक्षिप्त आदि चित्तकी तीनों अवस्थाओंमें अतिव्याप्ति ही। सम्प्रज्ञात समाधिमें जो चित्तवृत्तिनिरोध होता है, वह क्लेश और कर्म आदिका निवारक ही होता है, अतः उसमें लक्षणसमन्वय हो गया। उक्त तीन चित्तावस्थाओंमें यत्किञ्चित् चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर भी क्लेश और कर्म आदिका परिपन्थी नहीं है, उनमें अविद्या, अस्मिता आदि पाँच क्लेश और कर्म वर्तमान ही रहते हैं, अतः उनमें यह लक्षण नहीं जा सकता। इसलिये हमें योगकी यही परिभाषा समझनी चाहिये—

क्लेशकर्मादिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगलक्षणम्।

अर्थात् क्लेशकर्मादिका निवारक चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (यो० १।३)

'तब द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है।'

इस सूत्रकी एकवाक्यता करनेसे उपर्युक्त सूत्रका यही अर्थ निर्दुष्ट प्रतीत होता है।

योगके स्वरूपकी विवेचना हो चुकी, अब हमें उसकी प्राप्तिके उपायोंका विचार करना चाहिये। पातञ्जलयोगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने तीन तरहके अधिकारियोंके लिये तीन तरहके साधन बतलाये हैं। उत्तम अधिकारीके लिये उत्तम साधन बतलाया है, मध्यमके लिये मध्यम और अधमके लिये अधम। उत्तम अधिकारीके लिये—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (यो० १।१२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तका निरोध होता है।'

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (यो० १।२३)

'अथवा ईश्वरार्पणबुद्धि रखनेसे'—इत्यादि सूत्रोंसे अभ्यास, वैराग्य और ईश्वरप्रणिधान आदि साधन बतलाये हैं। मध्यमके लिये—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (यो० २।१)

'तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ही क्रियायोग है।' इस सूत्रसे तपस्, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि मध्यम साधन बतलाये हैं। और अधम अधिकारियोंके लिये—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (यो० २। २९)

इस सूत्रसे यम, नियम, आसन आदि आठ साधन प्रतिपादित किये हैं। कोई भी सर्वप्रथम उत्तम या मध्यम अधिकारी नहीं हो सकता। प्राथमिक साधनोंको सम्पादित करके ही साधक मध्यम और उत्तम साधनोंको साध सकता है। इसलिये और प्रकरणवशतः योगके उत्तम और मध्यम साधनोंके विषयमें विशद विवेचन न कर उसके आठ प्राथमिक साधनोंपर ही कुछ विचार किया जाता है। इन्हीं प्राथमिक साधनोंको अष्टाङ्गयोग नामसे शास्त्रोंमें प्रतिपादन किया है। इनके अनुष्ठानसे चित्तकी अशुद्धता दूर होकर धीरे-धीरे ज्ञानका विकास होता रहता है, और अन्तमें विवेक-ख्यातिकी प्राप्ति हो जाती है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।
(यो० २। २८)

ये साधन आठ तरहके हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि।

१—यम—५ प्रकारके हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(यो० २। ३०)

१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह—ये पाँच यम कहलाते हैं। (१) अहिंसा—मनसा, वाचा, कर्मणा कभी किसी प्राणीके साथ द्रोह न करना अहिंसा है। यह यम, नियम आदि साधनोंकी आधार-शिला है। अहिंसाकी यथाविधि परिपालना किये बिना यदि अगले साधनोंका अनुष्ठान किया जाय, तो उनका कुछ फल नहीं होता, वे निष्फल हैं। अहिंसाकी सिद्धिके लिये ही वे साधित किये जाते हैं। यम, नियम आदिका अनुष्ठान न करनेसे कहीं अहिंसा मलिन न हो जाय, इसीलिये उनके अनुष्ठानकी आवश्यकता होती है। (२) सत्य—अपनी देखी-सुनी या जानी हुई बात दूसरेको जनानेके लिये ऐसे वाक्योंका प्रयोग करना कि जिनमें किसी प्रकारकी वञ्चना, भ्रान्तिजन्यता और निरर्थकता न हो, सत्य कहलाता है। सत्यके इस परिपालनमें एक धारा और भी लगी हुई है—वह यह कि कोई सत्य भी यदि किसीका अहितकर्ता हुआ तो बस, वह सत्यपदसे च्युत हो जाता है। अतः हित और यथार्थ वचन सत्य कहलाता है। (३) अस्तेय—चोरी न करना अस्तेय है। शास्त्रविरुद्ध किसी दूसरेका धन ले लेना चोरी कहलाता है। अस्तेय भी केवल कर्मणा ही न साधा जाय। किन्तु मनसा साधा जाय। अतः दूसरे शब्दमें हम इसे अस्पृहा कह सकते हैं। (४) ब्रह्मचर्य—आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग ही ब्रह्मचर्य है। अष्टमैथुन दक्ष-संहितामें यों गिनाये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

१. स्मरण, २. कीर्तन, ३. हँसी-मज़ाक, ४. राग-पूर्वक दर्शन, ५. एकान्तमें वार्तालाप, ६. सङ्कल्प, ७. मैथुन करनेका प्रयत्न, ८. स्वरूपतः मैथुन—ये आठ प्रकारके मैथुन विद्वानोंने कहे हैं। (५) अपरिग्रह—विषयोंमें अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा आदि दोष देखकर उनको सर्वथा छोड़ देना अपरिग्रह है। विषयोंके रक्षण, अर्जन और नाशमें जो कष्ट होता है, वह स्पष्ट है। जैसे-जैसे विषयोंका भोग किया जाता है वैसे-वैसे उनमें आसक्ति बढ़ती ही जाती है। यह सङ्गदोष है। बिना किसी प्राणीको कष्ट पहुँचाये विषयोपभोग हो ही नहीं सकता। अतः उसमें हिंसादोष भी रहता है।

२. नियम—नियम भी पाँच प्रकारके हैं (१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तपस्, (४) स्वाध्याय, (५) ईश्वरप्रणिधान। (१) शौच—पवित्रताका नाम शौच है। वह दो प्रकारका है—एक बाह्य शौच और दूसरा आभ्यन्तर शौच। बाह्य शौच स्थूल शरीरको मृत्तिका, जल आदिसे क्षालन करनेसे, गोमूत्र, गोमय आदि शुद्ध सात्त्विक पदार्थ खानेसे और उपवास करनेसे उत्पन्न होता है। बाह्य साधनोंसे होनेवाला बाह्य शौच कहलाता है। सत्त्वस्वभाव चित्तके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि मलोंको मैत्री, करुणा आदि उपायोंसे दूर करना—चित्तको अपने वास्तविक रूपमें लाना—उसे निर्मल करना— आभ्यन्तर शौच है। (२) सन्तोष—जीवन-निर्वाहोपयुक्त वस्तुओंके सिवा किसी भी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा न रखना सन्तोष कहलाता है। (३) तपस्—द्वन्द्वोंको द्वेषरहित होकर सहन करना तपस् है; शीत-उष्ण, भूख-प्यास, उठना-बैठना आदि द्वन्द्व कहलाते हैं। इन द्वन्द्वोंको शास्त्रोक्त व्रतोंके द्वारा ही सहन करना चाहिये। इसके लिये चान्द्रायण, कृच्छ्र चान्द्रायण और सान्तपन आदि व्रत शास्त्रोंमें बताये हैं। (४) स्वाध्याय—मोक्षशास्त्रोंका अध्ययन अथवा प्रणव-मन्त्र या भगवन्नामका जप करना स्वाध्याय है। (५) ईश्वरप्रणिधान—सम्पूर्ण कर्मोंको परम गुरु ईश्वरको अर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है। इन पूर्वोक्त पाँच नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान (सब कर्मोंको भगवदर्पण कर देना) परम प्रमुख नियम है; क्योंकि यही अभीप्सित मनोरथके सिद्ध करनेमें अपूर्व शक्ति रखता है, और अपने मार्गके कण्टकोंको छिन्न-भिन्न करनेमें बड़ा ही सिद्धहस्त है। शास्त्रोंमें लिखा है—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।

संसारबीजक्षयमीक्षमाणः

स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

अर्थात् परम पुरुष परमात्मामें समग्र कर्मोंको अर्पण करनेवाला साधक ईश्वरकी कृपासे सोते, बैठते, चलते सदा ही योगयुक्त रहता है, उसके हिंसा आदि वितर्कजाल बिना ही प्रतिपक्ष-भावनाके परिक्षीण हो जाते हैं, दिन-पर-दिन उसके जन्महेतु वासना आदि नष्ट होते रहते हैं, और वह परमात्मनिष्ठ मनुष्य अन्तमें जीवन्मुक्तिके सुखका अनुभव करने लग जाता है। इन यम और नियमोंका बिना इनमें किसी तरहकी सङ्कोचकल्पना किये निरवच्छिन्नरूपसे साधन करना श्रेयस्कर है। निरवच्छिन्न होकर ही ये महाव्रतरूपमें परिणत होकर सार्वभौम कहलाने लगते हैं और तभी इनका परम फल प्राप्त होता है। यदि लोभ, मोह, क्रोध आदिके कारण कभी इन यम-नियमोंके प्रतिकूल भावना उठे, वितर्क-जाल बार-बार सामने आने लग जायँ तब साधकको धैर्यपूर्वक यह विचारधारा अपने हृदय-क्षेत्रमें प्रवाहित करनी चाहिये—दुनियाकी धधकती हुई इस भीषण भट्ठीमें झुलसते हुए मैंने जब तंग होकर योग-धर्मकी शरण ले ली और यम, नियम आदि साधनोंका अनुष्ठान करनेमें लग गया, तो फिर वही मैं छोड़े हुए इन भ्रष्ट कर्मोंको फिर करूँगा? वमनमें फेंके हुए उच्छिष्ट अन्नको कुत्तेकी तरह फिर भक्षण करूँगा? कभी नहीं। मुझे तो '**अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति**'—पुण्यात्मा अङ्गीकृत कार्यको निबाहते हैं, कभी छोड़ते नहीं—इसी नियमका अनुसरण करना चाहिये। इस विचारधारासे उस वितर्कजालको साधक हटानेकी चेष्टा करे तो उसे अवश्य सफलता प्राप्त हो सकती है।

जब ये यम और नियम साधुतया सिद्ध हो जाते हैं, साधनमें किसी तरहकी भी त्रुटि नहीं रहती, जब हजारों विघ्न-बाधाओंके आनेपर भी साधक अपने स्वीकृत मार्गसे नहीं स्खलित होता, तब उसे उन साधनोंकी सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। पातञ्जल-योगदर्शनमें इनका वर्णन किया गया है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

(यो० २। ३५)

अर्थात् अहिंसाकी स्थिरता होनेपर साधकके समीप रहनेवाले जीवोंमें स्वाभाविक वैर भी क्षीण हो जाता है। अहिंसा-प्रतिष्ठित उस महानुभावके समीप रहनेसे ही चूहा-बिल्ली, घोड़ा-भैंसा, साँप-नेवला आदि परस्परविरोधी जानवर भी अपने स्वाभाविक वैरतकको तिलाञ्जलि दे डालते हैं। उसके पास रहनेवाले किसी भी जीवमें वैरभाव सर्वथा विलुप्त हो जाता है। सत्यकी प्रतिष्ठा होनेपर साधक अमोघवाक् हो जाता है; जो बात कह देता है, वही लोहेकी लकीर हो जाती है। '**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**' (यो० २। ३६) इसी तरह अस्तेय-प्रतिष्ठासे सर्वरत्नोंकी उपस्थिति, '**अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।**' (यो० २। ३७) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठासे वीर्यप्राप्ति—'**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।**' (यो० २। ३८) और अपरिग्रहप्रतिष्ठासे भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालकी बातोंकी हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीति होती है। '**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।**' (यो० २ । ३९) ये तो हुईं यमोंकी सिद्धियाँ। अब नियमोंकी सिद्धियोंकी तरफ ध्यान दीजिये। बाह्य शौचकी प्रतिष्ठा होनेपर अपने अङ्गोंमें उसे पवित्रताके विरुद्ध बहुत-से दोष दीखने लग जाते हैं। अर्थात् ज्यों-ज्यों साधक अपने शरीरको मिट्टी, जल, गोमय, गोमूत्र आदि पवित्र बाह्य साधनोंसे पवित्र करता है त्यों-त्यों उसे देहकी अति अपवित्रता अधिकाधिक प्रतीत होने लगती है। उसे यह निश्चय हो जाता है कि शरीर कभी पवित्र ही नहीं होता। अतः वह शरीरमें आसक्ति छोड़ देता है। जब उसे अपने शरीरकी यह अवस्था देखकर ऐसी विरक्ति हो जाती है, तब फिर दूसरोंके अत्यन्त अपवित्र देहोंसे वह कैसे सम्पर्क रख सकता है? आन्तरिक शौचकी प्रतिष्ठा प्राप्त होनेपर जब चित्तके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मल दूर हो जाते हैं, तब धुले हुए वस्त्रकी तरह चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है, उस समय चित्त केवल अपने रूपमें ही निविष्ट रहता है। इस प्रकार एकाग्र होकर इन्द्रियोंको अपने अधीन करके वह आत्माके दर्शनकी योग्यता प्राप्त कर लेता है—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

(यो० २। ४०, ४१)

'शौचसे अपने शरीरके प्रति घृणा, अन्य शरीरोंसे असंसर्ग, चित्तकी शुद्धि, मनकी प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शनकी योग्यता होती है।'

सन्तोषकी प्रतिष्ठा होनेसे अनुत्तम (जिससे उत्तम कोई नहीं है) सुखका लाभ होता है। शास्त्रोंमें लिखा है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम्॥

अर्थात् 'सांसारिक और स्वर्गीय दोनों सुख ही तुलनामें सन्तोष-सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकते।' महाभारतके आदिपर्वमें अपने पितृ-भक्त पुत्र पुरुको उसकी जवानी वापस लौटाते हुए राजा ययातिने कहा है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते॥
(८५। १४)

अर्थात् जो दुर्बुद्धि मनुष्योंसे बहुत कठिनतासे छूटती है, जो अपने आश्रय-दाताके वृद्ध होनेपर भी वृद्ध नहीं होती, (कम नहीं होती), ऐसी तृष्णाको छोड़नेवाला बुद्धिमान् मनुष्य सदा सुखसमुद्रमें निमग्न हुआ रहता है। **'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।'** (यो० २। ४२) 'सन्तोषसे' ऐसा 'अनुत्तम सुखलाभ' होता है। तपस्की सिद्धि होनेपर अशुद्धता नष्ट होनेसे अणिमादि आठ कायसिद्धियाँ और दूरसे सुनना, देखना आदि इन्द्रिय-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी तरह स्वाध्याय-प्रतिष्ठासे इष्टदेवताओंका दर्शन और ईश्वरप्रणिधान-स्थैर्यसे समाधिकी सिद्धि हो जाती है जिससे वह साधक परोक्ष देश, काल और स्थानकी सभी बातें यथार्थरूपसे जान लेता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः (यो० २। ४३)
'तपसे अशुद्धिका क्षय होनेपर कायेन्द्रियसिद्धि होती है।'

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (यो० २। ४४)
'स्वाध्यायसे इष्टदेवताके दर्शन होते हैं।'

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो० २। ४५)
'ईश्वरप्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है।'

३. *आसन*—जिस तरीकेसे साधक सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठ सके, उसका नाम आसन है। आसन अनेक प्रकारके हैं। संक्षेपतः संसारमें जितने जीव हैं, उनके बैठनेके जितने प्रकार हैं, उतने ही आसन हो सकते हैं। पद्मासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, दण्डासन, मयूरासन आदि प्रसिद्ध आसन हैं। इनका पृथक्-पृथक् स्वरूप-विवेचन **'लेखविस्तरभिया'** यहाँ नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यह एक स्वतन्त्र लेखका विषय है। आसन तभी सिद्ध होता है, जब साधकके स्वाभाविक प्रयत्न शिथिल पड़ जाते हैं। स्वाभाविक प्रयत्नोंके रहते यदि आसन साधा जाय तो वह न सध सकेगा, उस अवस्थामें साधकके अङ्गोंमें कम्प होने लगेगा। अथवा भगवान् शेषनागपर चित्तके लगानेसे आसनकी सिद्धि हो सकती है। आसन-प्रतिष्ठित पुरुषको गर्मी-जाड़ा, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सता सकते। इन्हें वह अपने अधीन कर लेता है।

४. *प्राणायाम*—शास्त्रोक्त विधिसे अपने स्वाभाविक श्वास और प्रश्वासोंको रोक लेना प्राणायाम कहलाता है। बाहरके वायुका नासिकाके द्वारा जो अन्तःप्रवेश होता है, उसे श्वास कहते हैं, और भीतरका वायु जो बाहर निकलता है उसे प्रश्वास कहते हैं। इन श्वास और प्रश्वासकी गतिका शास्त्रोक्तरीत्या अवरोध ही प्राणायाम है। प्राणायामके तीन भेद हैं—१. पूरक, २. कुम्भक और ३. रेचक। जिस प्राणायाममें श्वासके द्वारा स्वाभाविक गतिमें अवरोध होता है, उसे पूरक, जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों ही नहीं रहते, उसे कुम्भक और जिसमें प्रश्वासके द्वारा स्वाभाविक गतिमें रुकावट डाली जाती है, उसे रेचक कहते हैं। आरम्भमें इन तीनोंका एक साथ ही क्रमशः अनुष्ठान करना चाहिये। अतएव मिले हुए इन तीनोंका नाम प्राणायाम शास्त्रोंमें प्रतिपादित है, अर्थात् इनका समुदाय प्राणायाम नामसे वर्णित किया गया है—**'प्राणायामस्तु विज्ञेयो रेचपूरककुम्भकैः'**—साधनमें जब परिपक्वता आ जाय तब इनमेंसे केवल कुम्भकका साधन भी शास्त्रोंमें वर्णित है, इसे चतुर्थ प्राणायाम भी कहते हैं—

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः सर्वैः केवलकुम्भकः॥

केवल कुम्भक बड़ा ही कठिन है, जब पूर्व प्राथमिक प्राणायामोंमें साधक साधुतया प्रवीण हो जाता है, तभी यह सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके साधनमें सफलता प्राप्त करनेवाले साधकके लिये त्रिलोककी कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रहती।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥
(वसिष्ठसंहिता)

प्राणायामके अभ्याससे संसारको स्थायी बनानेवाला रागरूपी महामोह शैन-शनैः दुर्बल होने लग जाता है और मन धारणामें निविष्ट होनेके लिये सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य संक्षयात्॥

अर्थात् जिस तरह सुवर्ण आदि धातुओंको अग्निमें तपानेसे उनका मल (मैल) दूर हो जाता है, उसी तरह प्राणोंको रोकनेसे (प्राणायामसे) इन्द्रियोंके दोष भी दग्ध हो जाते हैं।

तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।

अर्थात् प्राणायामके बराबर दूसरा कोई तप नहीं है, उससे दोषोंकी शुद्धि और ज्ञानकी दीप्ति होती है। प्राणायाम बड़ा ही उत्तम साधन है।

५. *प्रत्याहार*—जब इन्द्रियाँ विषयोंसे सम्बद्ध नहीं रहतीं, उस समय उनका चित्तके स्वरूपका-सा अनुकरण करना—चित्तकी-सी तरह रहना—सब कामोंमें चित्तकी राह देखना प्रत्याहार कहलाता है। जितेन्द्रिय मनुष्यकी चक्षु आदि इन्द्रियाँ ध्येय वस्तुमें परिणत चित्तके सदृश हो जाती हैं, स्वतन्त्ररूपसे वे मनसे मिलकर दूसरे-दूसरे विषयोंका चिन्तन नहीं करतीं। चित्तके निरुद्ध होते ही वे स्वयं बिना परिश्रम निरुद्ध होने लगती हैं। अतः वे उस समय चित्तानुकारिणी समझी जाती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ चित्तकी अपेक्षा रखती हैं और जिन-जिन कामोंमें चित्त प्रवृत्त होता है, उन-उन्हींमें इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती रहती हैं। मक्खियाँ जिस तरह भ्रमरराजके पीछे-पीछे रहकर उसके उड़नेपर उड़तीं और जहाँ वह घुसता है, वहाँ घुस जाती हैं, उसी तरह जितेन्द्रिय मनुष्यकी इन्द्रियाँ भी चित्तके पीछे दीवानी होकर उसीमें अपना अस्तित्वतक भी अन्तमें नष्ट कर डालती हैं। अजितेन्द्रियोंकी इन्द्रियाँ तो चित्तके निरोधोन्मुख होनेपर भी स्वतन्त्ररूपसे रूप, रस आदि अपने-अपने विषयोंमें सञ्चरण करती रहती हैं, और अन्तमें चित्तको अपना अनुकरण करनेके लिये लाचार बना देती हैं। अतः विषयासम्प्रयोगकालमें (जब इन्द्रियाँ विषयोंसे सम्बद्ध नहीं रहतीं) इन्द्रियोंका चित्तानुकरण प्रत्याहार कहलाता है। इस प्रत्याहारके साधनसे इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं, और वास्तविक जितेन्द्रियत्व भी इसी प्रत्याहारके साधनेसे उपलब्ध होता है। विष्णुपुराणमें प्रयोजनसहित प्रत्याहारका इस तरह वर्णन मिलता है—

शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥
वश्यता परमा तेन जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥

अर्थात् 'योगको जाननेवाला मनुष्य प्रत्याहार-परायण होकर शब्द आदि विषयोंमें लगी हुई इन्द्रियोंको रोककर उन्हें चित्तानुकारिणी बना ले, इससे जितेन्द्रियतामें दृढ़ता आ जाती है। इस दृढ़ताके बिना कोई भी योगसाधक योगी नहीं हो सकता।' इसी जितेन्द्रियताकी कमीके कारण सौभरि आदि कई योगियोंका योग भ्रष्ट हो गया था। इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यह उपदेश दिया है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२।६१)

अर्थात् 'उन सब इन्द्रियोंको वशमें करके एकाग्रचित्त हो—मेरे परायण हो जाओ। जिसके इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठित है। उसे लोग स्थितप्रज्ञ कहते हैं।'

६. *धारणा*—जो स्थान ध्येयका आश्रयभूत है, उस स्थानपर चित्तको एकाग्र करके लगा लेना धारणा है—

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' (यो० ३। १)

अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करके ध्येयके आधार-स्थानपर लगा लेना धारणा है। वृत्तियाँ दस स्थानोंपर लगायी जाती हैं, अतः वे दस प्रकारकी हैं—

प्राङ् नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु॥
किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तिताः।
(गरुडपुराण)

अर्थात् 'आरम्भमें धारणा नाभिमें की जाती है, पीछे—क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र, भ्रूमध्य, मूर्धस्थान आदिमें।' सब मिलाकर दशविध धारणा कही गयी हैं। इसमें केवल चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र होकर ध्येय स्थानपर बाँधी जाती हैं, ध्येयसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता।

७. *ध्यान*—उसी स्थानपर (ध्येयाधारपर) ध्येय विष्णु आदि विषयक ज्ञानकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् ध्येय स्थानपर (जहाँ चित्त एकाग्रतासे बाँधा गया है) ध्येयालम्बन प्रत्ययका (ध्येयसम्बन्धी ज्ञानका) दूसरे ज्ञानोंके द्वारा उसे अत्यन्त असम्पृक्त रखकर एक-सा लगातार प्रवाह रखना ध्यान है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (यो० ३।२)

८. *समाधि*—ध्यान ही जब ध्येयाकाररूपसे साक्षीमें निर्भासित होने लगता है, चित्तके ध्येयस्वरूपाविष्ट हो जानेके कारण '**अहमिदं चिन्तयामि**' (मैं इसका चिन्तन करता हूँ) इत्यादि ज्ञानाकारक वृत्तियोंका उदयन होनेके कारण जब प्रत्ययात्मकस्वरूपसे शून्य-सा हो जाता है, तब वही समाधि कहलाने लग जाता है। अर्थात् ध्यान ही जब ध्येयाकाररूपसे प्रतीत होने लग जाय और ज्ञानाकाररूपसे उसका अलग निर्भास न हो, तब ध्यान ही समाधि हो जाता है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
(यो० ३।३)

ध्यानमें ध्याता, ध्येय और ध्यानका अलग-अलग ज्ञान रहता है, और समाधिमें इनका पृथक्-पृथक् भान नहीं रहता, केवल ध्येयाकाररूपसे ही सबकी प्रतीति होती है। यही समाधि और ध्यानमें विभिन्नता है। इस समाधिमें थोड़ा-बहुत ध्यानका स्वरूप अवभासित होनेके कारण पूरी तरहसे ध्येय-स्वरूप नहीं भासित होता, किन्तु सम्प्रज्ञात समाधिमें यह ध्येयस्वरूप पूरी तरहसे भासित होने लगता है, ध्येयके सिवा इसमें कुछ भासित होता ही नहीं। यही सम्प्रज्ञात समाधि और प्रकृत समाधिमें भेद है। इस प्रकृत समाधिकी साधनामें परिपक्वता आनेसे सम्प्रज्ञात समाधि और तदनन्तर असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा योगी ज्ञान प्राप्त करके अन्तमें मुक्त हो जाता है।

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

'योगसे ही योग जाना जाता है, योगसे ही योगकी प्रवृत्ति होती है। योगसे जो अप्रमत्त (प्रमादरहित) होता है वही योगमें सदा रमता है।'

अष्टाङ्गयोग

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी 'अखण्डानन्द')

ॐ युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं
कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो
नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात्॥

(यजु० १२।६८; ऋक् ० १०।१०१।३, अथर्व० ३।१७।२)

आत्मज्ञान जिन साधनोंद्वारा प्राप्त होता है वे साधन यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्नरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं तथापि योगको ही मुख्य साधन मानना उचित है, क्योंकि यही समस्त वेदादि शास्त्रसम्मत है।

योग कई अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, यथा—कर्मयोग, भक्तियोग, उपासनायोग (अष्टाङ्गयोग=हठयोग तथा राजयोग) और ज्ञानयोग आदि। इन सबकी अपने-अपने स्थानपर महत्ता एवं उपयोगिता है ही। परन्तु इन सबमें श्रेष्ठ उपासनायोग (अष्टाङ्गयोग) है। पहिले हम इसकी मुख्यता एवं प्राचीनताके विषयमें कहकर फिर इसके अर्थों और तदन्तर्गत प्रक्रियाओंपर दृष्टिपात करेंगे।

योगकी प्राचीनता एवं मुख्यतामें प्रमाण

स घा नो योग आभुवत्। (सामवेद २।३।१०।३)

वही परमात्मा हमारी योगदशा-समाधिदशामें साक्षात् होता है।

अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो-
ऽभि मित्रावरुणा पूयमानः।
अभि नरं धीजवनं रथे ष्ठा-
मभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्॥

(ऋक् वे० ९।९७।४९)

हे विद्वन्! कोष्ठगत वायुरूप प्राणको सर्व शरीरमें व्याप्त होनेके लिये प्रेरित कर एवं प्राण और अपान दोनोंको पावन करता हुआ, उत्तमरूपसे गति देता हुआ

उनको भी प्रेरित कर। इस देहरूप रथपर सारथि बनकर स्थित ध्यान, सङ्कल्पमात्रके वेगसे जानेवाले, इन्द्रियगणोंके नेता मनको उत्तम रीतिसे प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायामद्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम! हे विद्वन्! तब अज्ञानके नाश करनेवाले ज्ञानरूप वज्रको हाथमें ले ऋतम्भरावस्थामें प्रज्ञाऽऽलोकके खुल जानेपर सब सुखोंके वर्षक उस आत्माको साक्षात् कर।

अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि।
अन्तरिक्षेण यातवे॥ (साम० ९। ६। ८। २)

आत्माको पवित्र करनेवाले, सूर्यके समान ज्ञानी, मननशील चित्तमें, भीतरके हृदयाकाशमें, परमसुख या मोक्षमार्गमें जानेके लिये अश्वके समान गमनशील मनको योगसमाधिद्वारा ईश्वरसे मिला, उसके प्रति जोड़े।

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥
(अथर्व० २।८।४)

हे योगिन्! तेरे जिस प्रकार उत्तम लताके बीज वपन करनेके लिये क्षेत्रको सुधारनेवाला हल आवश्यक है उसी प्रकार चित्तभूमिको गोड़नेके लिये और उसमें विज्ञानरूप ब्रह्मज्ञानमय बीज वपन करनेके लिये अपेक्षित जो योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप लाङ्गल अर्थात् हल हैं उनको हम आदरकी दृष्टिसे देखते और उनकी साधना करते हैं और हलको खींचनेके लिये जिस प्रकार उसमें 'ईषा' नामक दण्ड और बैलोंको जोड़नेके लिये जुआ लगा होता है उसी प्रकार यहाँ दो प्राण, आत्मा और बुद्धि या आत्मा और परमात्मा दोनोंको जोड़नेके लिये ईषा—मानसप्रेरणारूप चितिशक्तिद्वारा योग करनेवाले योगीजनोंको भी नमस्कार है। उनकी शिक्षासे देहबन्धनको काट डालनेवाली ब्रह्मानन्दवल्ली आत्माको बन्धनसे मुक्त करे।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥ (यजु० ११। २)

सब मनुष्य इस प्रकारकी इच्छा करें कि हमलोग मोक्षसुखके लिये, यथायोग्य सामर्थ्यके बलसे, परमेश्वरकी सृष्टिमें उपासनायोग (अष्टाङ्गयोग) करके, अपने आत्माको शुद्ध करें, जिससे अपने शुद्ध मनसे परमेश्वरके प्रकाशरूप आनन्दको प्राप्त हों।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया॥ (यजु० १२। ६७)

विद्वान् पुरुषोंमें सुखके प्राप्त करनेवाले आत्मरूप क्षेत्रमें विद्वान् दूरदर्शी लोग प्राणरूप हलोंको युक्त करते हैं और धीर बुद्धिमान् पुरुष योगके अङ्गरूप जुओंको पृथक्-पृथक् प्राणरूप बैलोंके कन्धोंपर रखते हैं अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् अभ्यास करते हैं।

फलतः आत्मा ही क्षेत्र है। उसमें प्राण ही लेखा हैं जो नाना वृत्तियोंद्वारा उसमें पृथक्-पृथक्-रूपसे वर्तमान हैं। वे जोड़े हैं, दो नाक, दो कान, दो आँख, प्राण-अपान, व्यान-उदान—इन सब देवोंमें सुम्नयु—सुखके सञ्चारकरूप आत्मामें ही धीर पुरुष अपनी समस्त चित्तवृत्तिका निरोध अर्थात् योग करते हैं।

......................बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा समर्धय।
(यजु० ११।८)

प्राणमार्गसे चलनेवाले मनको उत्तम प्राणायामविधिसे समृद्ध बलवान् करो।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥
(अथर्व० कां० १९, अनु० १, सू० ८, मं० २)

हे परमैश्वर्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर! आपकी कृपासे मुझको उपासनायोग प्राप्त हो तथा उससे मुझको सुख भी मिले। इसी प्रकार आपकी कृपासे दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल—ये अट्ठाईस सब कल्याणोंमें प्रवृत्त होकर उपासनायोगको सदा सेवन करें। तथा हम भी उस योगके द्वारा रक्षाको और रक्षासे योगको प्राप्त हुआ चाहते हैं। इसलिये हमलोग रात-दिन आपको नमस्कार करते हैं।

नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥
पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥
(श्वेताश्वतर० २।११-१२)

योगसमाधिके अभ्यासके अवसरमें ब्रह्म-साक्षात्के पूर्व नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, विद्युत्, स्फटिक आदिके रूप प्रकट होते हैं। उस समय पाँचों भूतोंपर वश हो जाता है। जरा और मृत्यु हट जाती है। शरीर योगाग्निमय हो जाता है।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।
(कठोपनिषद्)

अध्यात्मयोगके लाभसे देव—परमात्माको जानकर विद्वान् हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है।

अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः।

उस परमात्माके ज्ञानका उपाय योग है।

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि। (कैवल्योपनिषद्)

श्रद्धा, भक्ति, ध्यानयोगद्वारा आत्माको जानो।

सूक्ष्मतां चान्वपेक्षेत योगेन परमात्मनः।
(मनु०)

योगाभ्याससे परमात्माकी सूक्ष्मताको देखे।

ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः।
(मनुस्मृति ६।७३)

ध्यानयोगसे ही आत्मा जाना जा सकता है। इसलिये ध्यानयोगपरायण होना चाहिये।

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥
(याज्ञवल्क्य)

यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्मोंके मध्यमें यही परम धर्म है जो कि योगसे आत्माका ज्ञान हो।

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (वेदव्यास)

ध्यानकालमें योगीलोग निरस्त-समस्त-प्रपञ्च परमात्माका साक्षात्कार करते हैं; क्योंकि श्रुति-स्मृतियोंमें ऐसे ही प्रतिपादित है।

समाधिविशेषाभ्यासात्। (गौतम न्याय० ४।२।३८)

समाधिविशेषके अभ्याससे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है।

योगात् सञ्जायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता।
(आदित्यपुराण)

योगसे ज्ञान उत्पन्न होता है और योग नाम मेरे (ईश्वर) विषयक चित्तकी एकाग्रताका है।

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात् तच्च योगादृते नहि।
(स्कन्दपुराण)

आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है और वह ज्ञानयोगके बिना दुर्लभ है।

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति॥
(कूर्मपुराण)

योगरूप अग्नि शीघ्र निखिल पापपञ्जरपुञ्जको दग्ध कर देता है। उस पापके दग्ध होनेसे प्रतिबन्धरहित ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञानसे निर्वाणसंज्ञक मोक्ष प्राप्त होता है।

इस सम्बन्धमें वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति, पुराण, गीता आदि शास्त्रोंसे उद्धृत इन प्रमाणोंसे ही अष्टाङ्गयोगकी मुख्यता, प्राचीनता और आवश्यकताका पर्याप्त अनुभव हो गया होगा।

अष्टाङ्गयोगका विवेचन

अष्टाङ्गयोगका अर्थ बहुत व्यापक है। इसके आठ अङ्गोंमेंसे पूर्वके चार अङ्गों—यम, नियम, आसन और प्राणायामको हठयोग और उत्तरके चार अङ्गों—प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिको राजयोग कहते हैं। हठयोग और राजयोगमें श्रेणीभेदके अतिरिक्त हमारी धारणामें और कोई भेद नहीं है। दोनों एक-दूसरेके अङ्गाश्रित हैं। क्योंकि हठयोग (पूर्वके चार अङ्गों)-के बिना राजयोग (उत्तरके चार अङ्गों)-की और राजयोगके बिना हठयोगकी सिद्धि नहीं होती है। मन्त्रयोग और लययोग इन्हींके अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोग यम-नियमरूप अङ्गोंमें आ जाता है। उत्पत्तियोग और ओषधियोगका भी उपासनायोग (अष्टाङ्गयोग)-में ही अन्तर्भाव है।

अष्टाङ्गयोगके अभ्याससे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति होकर क्रमसे पञ्चविभागवाली अविद्या नष्ट होती है। अविद्याके नाश हो जानेसे तज्जन्य अन्तःकरणकी अपवित्रताका क्षय होता है और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे साधक योगाङ्गोंका आदरपूर्वक अनुष्ठान करता है वैसे-वैसे ही उसके चित्तकी मलिनताका क्षय होता है और मलिनताक्षयके परिमाणमें उसके चित्तमें ज्ञानकी उत्कृष्टता होती जाती है।

योग वास्तवमें प्राच्य मनोविज्ञान है। योगके सूत्रों और उनपर किये गये व्यासमुनिके भाष्यादिसे हम शरीरके अन्तरङ्ग (अन्तः-) करणोंका ज्ञान प्राप्तकर

किस प्रकार वे उन्नत किये जा सकते हैं, इसकी भी जानकारी प्राप्त करते हैं। योगीके हाथमें इतने साधन आ जाते हैं कि वह सुगमतासे आत्मजगत्‌में प्रवेश करके जीवनके अन्तिम उद्देश्यकी ओर भी झाँक सकता है।

योगका लक्षण और अर्थ

'युज्' धातुसे योग शब्द सिद्ध होता है। **'युज्यतेऽसौ योगः'** जो युक्त करे—मिलावे उसे योग कहते हैं। योगदर्शनके भाष्यकार महर्षि व्यासने **'योगस्समाधिः'** कहकर योगको समाधि बतलाया है जिसका भाव यह है कि जीवात्मा इस उपलब्ध समाधिके द्वारा सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करे।

चित्तकी एकाग्रताके द्वारा अन्तःकरण और शरीरसे पृथक् हुए आत्माका साक्षात्कार करना योगका लक्षण है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहकर महर्षि पतञ्जलिने चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग कहा है।

जिस दशामें मनके सहित ही पञ्चज्ञानेन्द्रिय संयमद्वारा स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी निश्चेष्ट हो जाती है उस दशाका नाम योग है और यही परमगतिका उपाय होनेसे परमगति है।

योग-कालनिर्णय

चित्तकी अचञ्चलता, मनकी एकाग्रता और बुद्धिकी स्थिरता करके जीवात्माको परमात्मासे मिलानेकी जो योगविधि है उसे सबसे प्रथम परमात्माने वेदोंके द्वारा सृष्टिके आरम्भमें चार ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा)-द्वारा प्रकट किया। श्रीब्रह्मासे अन्य ऋषि-मुनियोंने योगविद्या सीखी। उनसे महर्षि पतञ्जलिने इसको पढ़कर और इसका पूर्ण अभ्यास करके योगदर्शन नामसे प्रसिद्ध किया जो वर्तमान सब ग्रन्थोंमें मान्य माना जाता है।

योगाङ्गोंका वर्णन

योगके आठ अङ्ग और तदन्तर्गत क्रियाएँ निम्न-लिखित हैं—

१. *यम*—पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

२. *नियम*—पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

३. *आसन*—अनेक प्रकारके हैं, उनमें ८४ विवेचनीय हैं। इन ८४ मेंसे भी चारको मुख्य माना है, सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन और सिंहासन।

४. *प्राणायाम* (१) प्राणायाममें सहायक निम्नलिखित क्रियाएँ अनुष्ठेय हैं—नेति, धौति, बस्ति, नौलि, घर्षण (कपालभाति) और त्राटक। इनको षट्कर्म कहते हैं।

(२) प्राणायामके भेद—

लोमविलोम, सूर्यभेदन, उज्जयी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, मूर्च्छा, भ्रामरी और प्लाविनी।

(३) विशेष प्राणायाम जिनको मुद्रा कहते हैं वे निम्न हैं—

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, विपरीतकरणी, ताडन, परिधानयुक्तिपरिचालन, शक्तिचालन, खेचरी और वज्रोली।

अष्टाङ्गयोगके उपर्युक्त चार अङ्ग श्रम-(हठसे) साध्य होनेसे इनकी हठयोग संज्ञा है।

५. *प्रत्याहार।*

६. *धारणा*—इसकी दृढ़तामें सहायक निम्नलिखित मुद्राएँ अनुष्ठेय हैं—

अगोचरी, भूचरी, चाचरी, शाम्भवी और उन्मनी तथा केवल कुम्भक।

७. *ध्यान।*

८. *समाधि*—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात।

इन उत्तरके चार अंगोंकी संज्ञा राजयोग है और धारणा, ध्यान और समाधि जो क्रमसे एक ही विषयमें की जायँ तो वह संयम कहलाता है।

लेखके बहुत बढ़ जानेकी आशङ्कासे हम यहाँ संक्षेपमें ही योगाङ्गोंका दिग्दर्शनमात्र करायेंगे।

१. *यम*—यदि कोई शक्तियोगकी परिक्रमाको काममें लाना चाहता है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके चारों ओर शान्तिका वातावरण हो अन्यथा वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिये योगके आठ अंगोंमें सबसे पहले शान्तिका वातावरण उत्पन्न करनेका विधान किया गया है। उस वातावरणके उत्पन्न करनेका साधन 'यम' है। यमके अन्तर्गत पाँच बातें हैं जिनको आचरणमें लानेसे वायुमण्डल सुधरा करता है। वे निम्न लिखित हैं—

(१) अहिंसा—किसी भी प्राणीका किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें द्रोह (मारनेका वा सतानेका विचारतक) न करना अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा

किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कदापि पीड़ा न पहुँचाना और शुभाशुभ कर्मोंसे आत्माका घात करके, आत्मघाती नहीं बनना अहिंसा कहलाता है। जिस योगीका महाव्रतरूप अहिंसा यम सिद्ध हो जाता है उसके समीप रहनेवाले परस्पर-विरोधी जीव भी विरोधका परित्याग कर देते हैं।

(२) सत्य—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाणसे जिन-जिन बातोंका जिस-जिस प्रकारसे निश्चय किया हुआ हो उन-उन बातोंको उस-उस निश्चयानुसार, श्रोताको अनुद्वेग करनेवाले, प्रिय लगनेवाले, परिणाममें हित करनेवाले, कपटरहित और निर्भ्रान्त वचनोंद्वारा यथार्थ कहना और आत्माके अतिरिक्त किसी पदार्थको सत्य न मानना एवं **'तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत्'** उस सत्य आनन्दनिधि ब्रह्मका लक्ष्य करके, उसके सत्यको जानना सत्य है। सत्यके सिद्ध होनेपर योगीकी वाणी क्रिया तथा फलका आश्रय हो जाती है।

(३) अस्तेय—निषिद्ध रीतिसे दूसरोंका द्रव्य ग्रहण न करना अर्थात् जिसका कुछ भी मूल्य हो ऐसी कोई वस्तु उसके स्वामीकी अनुमति बिना न लेना और दृष्ट—सांसारिक विषय और पदार्थोंका सेवन नहीं करना तथा किसी पदार्थ या विषयकी इच्छा नहीं रखना अस्तेय है। इसके सिद्ध हो जानेपर चारों दिशाओंमें होनेवाले रत्नादि सम्पूर्ण पदार्थ स्वयमेव हस्तामलक होते हैं।

(४) ब्रह्मचर्य—उपस्थेन्द्रियके यथार्थ संयमके साथ युक्ताहार-विहार, युक्त आचार-विचार एवं युक्त क्रियाकर्म—निद्रादिका व्यवहार करके— **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** आत्मा बलहीनको प्राप्त नहीं होता—इसलिये शारीरिक बल खूब बढ़ाकर ब्रह्म=आत्मामें, चर्य=आचरण करना—ब्रह्मचर्य है। इसके सिद्ध होनेपर अक्षुण्ण बलकी प्राप्ति होती है।

(५) अपरिग्रह—नष्ट पदार्थोंका संग्रह करके, उनके संवर्धनमें, रक्षणमें एवं प्रचारमें आसक्त होकर, चित्तका विक्षेप करके, मूढ-विक्षिप्त नहीं बनना और आलस्य, प्रमाद तथा संशयको नहीं बढ़ाना अपरिग्रह है। इसके सिद्ध होनेपर जन्मके कथंभावका ज्ञान होता है (कथंतासंबोध=मनुष्यजन्म किस प्रकार सफल हो सकता है और उसके लिये किस प्रकारके योगक्षेमकी आवश्यकता है वा थी या होगी)।

२. नियम—जन्मके हेतुभूत काम्यधर्मसे निवृत्ति कराके मोक्षके हेतुभूत निष्कामधर्ममें प्रेरणा करानेवाले तपादि नियम कहाते हैं। कितने ही सिद्धोंके मतमें एकान्तवास, निःसङ्गता, औदासीन्य, यथाप्राप्तमें सन्तोष, विषयमें विरसता और गुरुके प्रति दृढ़ अनुरागद्वारा मनोवृत्तिको नियममें लाना नियम कहाता है।

अपने कर्मके फलसे भी दुःखी न होना पड़े इसलिये योगीको नियमोंका पालन आवश्यक है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) शौच—शरीरकी अन्तर्बाह्य शुद्धता—स्वच्छता, जिससे शुद्धाचरणमें सहायता मिलकर, रोगादिका निवारण होके, दीर्घायु होना एवं अन्तर्बाह्य मलका निरास होकर, परसंसर्गका अभाव होकर, शरीरके द्वारा आत्माका प्रकाश फैलना।

बाह्य शौचकी सिद्धि होनेसे अपने शरीरमें ग्लानि तथा दूसरोंके साथ असम्बन्ध होता है।

आभ्यन्तर शौचसे सत्त्व (बुद्धि)-की शुद्धि, सौमनस्य, एकाग्र्य, इन्द्रियजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है।

(२) सन्तोष—प्रारब्धकर्मानुसार जो अन्न-वस्त्रादि शास्त्रोक्त भोग प्राप्त हों उनमें ही तृप्ति रखना और स्वास्थ्य, शान्ति—चित्तमें समाधान रहना, तृष्णाका विलय होके पूर्णकाम होना एवं निजमें ईश्वरका दर्शन होना सन्तोष है। इसके सिद्ध होनेपर योगीको अनुपम सुखकी प्राप्ति होती है।

(३) तप—शीतोष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वका सहन करते हुए नियमित और संयमित जीवन व्यतीत करना तथा अनुष्ठान, मन्त्रजप, उपासनाद्वारा अशुद्धिका नाश करना तप है। ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, पूज्य, गुरु, प्राज्ञका सत्कार और सेवन तथा शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसाका पालन—शारीरिक तप है। उद्वेगरहित, सत्य, प्रिय, हितभाषण और स्वाध्यायका अभ्यास—वाङ्मय तप है। और मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन तथा आत्मनिग्रह—मानस तप है। इन (तीनों)-को आचारमें लाकर सिद्धि लाभ करना तप है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि यमोंमें आ गये हैं इससे यहाँ तपका अर्थ स्वधर्मपालनके लिये तीव्र कष्ट सहन करना भी किया जा सकता है। इसके सिद्ध होनेसे अशुद्धि-

क्षयके अनन्तर योगीको शरीर तथा इन्द्रियसिद्धिकी प्राप्ति होती है।

(४) स्वाध्याय—पठन, पाठन, श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा परमात्माका साक्षात्कार प्राप्त कर लेना, सब जड-चेतन पदार्थमात्र वर्णानुक्रममें ग्रथित हैं। अतएव नियमित वर्णोंके उच्चारणमें विद्युच्छक्ति उत्पन्न करके उनका आकर्षण कर लेना एवं अभ्यासद्वारा परापरा विद्याओंका सम्पादन करना स्वाध्याय है। इसके सिद्ध होनेपर इष्टदेव परमात्माका दर्शन होता है।

(५) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वरार्पण, सब कर्म और कर्मोंके फल ईश्वरको अर्पण करके निष्काम होना, कर्मवीर बनकर कर्मक्षेत्रमें निजका प्रणिधान कर लेना, शारीरिक, मानसिक सब व्यापार ईश्वरको समर्पित करके अनन्य भक्तियुक्त हो जाना एवं साक्षात्कार प्राप्त करके समाधिस्थ हो जाना ईश्वरप्रणिधान है। इसके सिद्ध होनेपर समाधिकी प्राप्ति होती है।

३. *आसन*—चिरकालतक निश्चल होकर एक ही स्थितिमें (योगमें बताये क्रमसे) बैठनेका अभ्यास करना आसन कहाता है। आसन-सिद्धि न्यून-से-न्यून ३ घण्टा ३६ मिनिट और अधिक-से-अधिक ४ घण्टा ४८ मिनिट एक स्थितिमें बैठे रहनेपर होती है।

आसनसिद्धिसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंका प्रतिकूल सम्बन्ध नहीं होता, शरीर नीरोग होकर देह-साम्यता प्राप्त होती है।

४. *प्राणायाम*—प्राण, अपान, समान आदि वायुओं (प्राणोंकी सहायता)-से मनको रोकनेका अभ्यास करना अर्थात् प्राणोंका आयाम—प्राणायाम कहाता है।

(१) प्राणायाममें सहायक षट्कर्म गुरुमुखसे जानने योग्य हैं।

(२) प्राणायाम पूरक, कुम्भक, रेचक (बाह्याभ्यन्तर-स्तम्भवृत्ति) भेदसे तीन प्रकारका है—

पूरक—आकाशस्थ अपानवायुका नासिकाद्वारा आकर्षण करके उदरमें भरना।

कुम्भक—भरे हुए वायुको यथाशक्ति रोकना।

रेचक—रोके हुए अशुद्ध वायुको नासिकाद्वारसे निकाल देना।

पुनः प्राणायामके निम्नलिखित प्रकार हैं—

(१) लोम-विलोम—मूलबन्ध लगाकर सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिकासनसे बैठकर सिर, शरीर और गर्दनको समान रखते हुए सबसे प्रथम शरीरस्थ समस्त अशुद्ध वायुको नासिकाद्वारोंसे निकाल दे। (ऐसा करनेसे पेट खाली हो जानेके कारण स्वभावतः अन्दर चला जायगा, उसे उसी दशामें रोकते हुए) फिर बायीं नासिका (चन्द्रस्वर)-से (क्रमसे ४, ८, १६ मात्राओंसे) पूरक भरे। (पूरकसे पेट अपने-आप फूल जायगा—अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आ जायगा) और जालन्धरबन्ध (ठुड्डीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूप—गलेके पासवाले त्रिकोणाकार गड्ढेमें) लगाकर यथाशक्ति (क्रमसे १६, ६४, ३२ मात्राओंतक) कुम्भक करे। कुम्भकके समय 'ॐ', सप्तव्याहृति या गायत्री-मन्त्रका जाप करे। और फिर अधिक देरतक कुम्भक करनेमें असमर्थ होनेपर ठुड्डीको हटाकर, दाहिनी नासिकासे शनै-शनैः (क्रमसे ८, ३२, १६ मात्राओंसे) रेचक करे। [रेचक करनेसे पेट पुनः अनायास अन्दर चला जायगा, उसको थोड़ी देर उसी स्थितिमें रोक रखे। (इस प्रकार रोकनेके कारण हवाको शरीरमें प्रवेश न होने देना बाह्य कुम्भक है) और असह्य होनेपर ढीला छोड़ दे—इस क्रियाको उड्डियानबन्ध कहते हैं।] पुनः उसी क्रमसे दाहिनी नासिका (सूर्यस्वर)-से पूरक भरके, यथाशक्ति कुम्भक करके, बायीं नासिकासे शनैः-शनैः रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार आरम्भमें १० से २० प्राणायाम करे। इसके अभ्याससे तीन मासमें समस्त नाडियोंकी शुद्धि होती है। यह प्राणायाम समशीतोष्ण होनेसे बारहों मास किया जा सकता है।

द्रष्टव्य—१. समस्त प्राणायामोंमें मात्राओंका प्रयोग निम्न प्रकारसे होता है—

	पूरककी मात्रा	कुम्भककी मात्रा	रेचककी मात्रा	
निकृष्ट प्राणायाममें	४	१६	८	मात्राके काल-का निर्णय ॐआदिद्वारा या गिनतीद्वारा किया जा सकता है।
मध्यम ,,	८	३२	१६	
उत्तम ,,	१६	६४	३२	

२. बिना बन्धोंके प्राणायाम कदापि नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे हानिकी सम्भावना है और इन बन्धोंके बिना प्राणायामके अभ्याससे वास्तविक सफलता प्राप्त नहीं होती। बन्धोंके प्रयोगका तरीका निम्न है—

पूरकके समय—मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध।
कुम्भकके समय—मूलबन्ध और जालन्धरबन्ध।
रेचकके समय—मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध।

प्राणायामके प्रत्येक प्रकार (पूरक, कुम्भक, रेचक)-के साथ दो बन्ध रहते हैं जैसा कि उपर्युक्त प्राणायामकी विधिमें वर्णन किया जा चुका है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मूलबन्ध प्राणायामके आरम्भसे लेकर अन्ततक रहता है।

गुदाके दृढ़तापूर्वक संकोचको मूलबन्ध ठुड्डीके कण्ठकूपमें दृढ़तापूर्वक स्थापनको जालन्धरबन्ध और पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अङ्गुल हिस्सेको पश्चिमोत्तान करने (रीढ़की हड्डी मेरुदण्डकी तरफ बलपूर्वक खींचने और ढीली छोड़ने)-को उड्डियानबन्ध कहते हैं। पक्षान्तरमें इन बन्धोंकी मुद्रा संज्ञा भी है।

३. सब प्राणायाम और मुद्राओंके करनेका क्रम समान ही होता है।

४. जिस नासिकासे पूरक किया हो उससे रेचक न करे। हाँ, दोनों नासिकाओंसे पूरक करनेपर यथाकथित एकसे वा दोनोंसे रेचक किया जा सकता है।

५. मुँहसे, जहाँ वैसा करनेका आदेश है उसे छोड़कर, साधारणतया न तो पूरक और न रेचक ही करे। मुँहसे रेचक करना तो किसी दशामें भी श्रेयस्कर नहीं क्योंकि ऐसा करनेसे बलका क्षय होता है।

(२) सूर्यभेदन—पूर्वोक्त स्थितिमें ही बैठकर दाहिनी नासिकासे पूरक भरके, यथाशक्ति कुम्भक करके बायीं नासिकासे शनैः-शनैः रेचक करे। इस प्रकार बारंबार करे। आरम्भमें १० से २० प्राणायाम करे। इस प्राणायामके अभ्याससे शरीरमें उष्णता बढ़ती है। अतः इसका अभ्यास शीत-ऋतुमें करना हितकर है। इसके करनेसे शिरोरोग, कृमिरोग और ८४ प्रकारके वायुविकार समूल नष्ट होते हैं।

(३) उज्जयी—दोनों नासिकाओंसे पूरक भरके यथाशक्ति कुम्भक करे। फिर बायीं नासिकासे शनैः-शनैः रेचक करे। यह प्राणायाम भी उष्ण है इसलिये इसका अभ्यास शीत-ऋतुमें ही लाभदायी है। आरम्भमें १० से २० प्राणायाम करे। इसके अभ्याससे दम, क्षय, गुल्म तथा जालन्धररोगका नाश होता है और आयुकी वृद्धि होती है।

(४) शीतकारी—दोनों नासिकाएँ बन्द करके जिह्वा और ओष्ठद्वारा वायुका पान करे—पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओंसे शनैः-शनैः रेचक करे। यह प्राणायाम शीतल है इसलिये ग्रीष्म-ऋतुमें इसका अभ्यास श्रेयस्कर है। इसके अभ्याससे हरेक प्रकारके ताप (ज्वर), रोजिन्दा, एकाँतरा, चौथिया इत्यादि, तिल्ली बरोड़, गोला आदि रोगोंका नाश होता है। तीन वर्षके निरन्तर १००-१०० की संख्यामें अभ्याससे वृद्धावस्था दूर होकर युवावस्थाकी प्राप्ति होती है। सफेद बाल काले हो जाते हैं। किसी भी प्रकारका विष नहीं व्यापता। इसका अभ्यास काकभुशुण्डिजीने किया था ऐसा किन्हीं-किन्हींका कथन है।

(५) शीतली—दोनों नासिकाएँ बन्द करके जिह्वाको कौएकी चोंचकी नाईं बल देकर जिह्वाद्वारा वायुका पान करे—पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओंसे शनैः-शनैः रेचक करे। आरम्भमें १० से २० प्राणायाम करे। यह प्राणायाम भी शीतल है इसलिये इसका अभ्यास ग्रीष्म-ऋतुमें करे। यह प्राणायाम शीतकारीके समान ही फलप्रद है। विशेषमें रूप तथा लावण्यकी वृद्धि करता है।

(६) भस्त्रिका—यह दो प्रकारसे किया जाता है—

पहला प्रकार—बायीं नासिकासे कम-से-कम १० घर्षण (वेगपूर्वक पूरक-रेचक) करके ग्यारहवीं बार उसी नासिकासे पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्यनाडीसे (दाहिनी नासिकासे) शनैः-शनैः रेचक करे, पुनः दाहिनी नासिकासे कम-से-कम १० घर्षण करके उसीसे पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके शनैः-शनैः बायीं नासिकासे रेचक करे। इस प्रकार बारंबार करे। आरम्भमें ५ से १० प्राणायाम करे। यह प्राणायाम समशीतोष्ण है इसलिये बारहों मास इसका अभ्यास किया जा सकता है। इसके अभ्याससे वात, पित्त तथा कफकी समानता होनेसे किसी प्रकारको व्याधि शरीरमें नहीं होने पाती। इसके छः मासके १०-१० की संख्यामें अभ्यास करनेसे कुण्डलिनी प्रबुद्ध होती है।

दूसरा प्रकार—दाहिनी नासिकासे बायीं नासिकाकी तरफ कम-से-कम १० घर्षण करके दाहिनी नासिकासे पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके शनैः-शनैः बायीं नासिकासे रेचक करे। पुनः विपरीत क्रमसे याने बायीं

नासिकासे दाहिनी नासिकाकी ओर १० घर्षण करके बायीं नासिकासे ही पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिकासे शनैः-शनैः रेचक करे। यह प्राणायाम भी प्रथम प्रकारकी भाँति ही फलप्रद है। विशेषमें कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करके और छः चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञाचक्र)-का वेधनकर प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाता है।

(७) मूर्च्छा—इसको षण्मुखीमुद्रा भी कहते हैं। यह प्राणायाम पाँचों भूतोंके जो पाँच रंग हैं (पृथ्वीका पीला, जलका सफेद, तेजका लाल, वायुका हरा और आकाशका नीला) उनको जाननेके निमित्त है। यह चित्तको समाधिमें निरोध करता है। इससे चित्तकी एकाग्रता होती है।

विधि—दोनों हाथोंके अंगूठे दोनों कानोंमें, दोनों तर्जनी दोनों आँखोंपर, दोनों मध्यमा नासिकाओंपर और अनामिका तथा कनिष्ठिका मुँहपर रखकर मूलबन्ध तथा जालन्धरबन्धको आरम्भसे अन्ततक स्थिर रखके बायीं नासिकासे पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्यनाडी (दाहिनी नासिका)-से शनैः-शनैः रेचक करे।

(८) भ्रामरी—यह प्राणायाम लोम-विलोमकी भाँति ही किया जाता है। केवल भेद इतना ही है कि बायीं नासिकासे पूरक भरते समय भ्रमरीका-सा नाद स्वरमें उत्पन्न करे और दाहिनी नासिकासे रेचक करते समय भ्रमरका-सा नाद करे। इसी प्रकार विपरीत क्रममें भी करे। इसके अभ्याससे आनन्दलाभ और चित्तकी एकाग्रता होती है।

(९) प्लाविनी—पद्मासनसे बैठकर दोनों हाथोंको ऊपरकी ओर लम्बे तथा सीधे रखे। फिर दोनों नासिकाओंसे पूरक भरे, तदुपरान्त लेट जाय। लेटते समय दोनों हाथोंको समेटकर तकियेकी नाईं सिरके नीचे लगा ले, और जहाँतक कुम्भक ठहरे वहाँतक ऐसी भावना करे कि 'मेरा शरीर रुईके समान हलका है' फिर बैठकर (पूर्वस्थितिमें आकर) दोनों नासिकाओंसे शनैः-शनैः रेचक करे। इसके निरन्तर अभ्याससे जलमें पैरने, उसपर चलने आदिकी योग्यता हो जाती है।

विशेष प्राणायाम-मुद्राएँ—

(१) महामुद्रा—बायें पैरकी एड़ी सीवन (गुदा तथा अण्डकोषके मध्यमेंके चार अङ्गुल स्थान)-में लगाकर दाहिना पैर लम्बा कर दे और दोनों हाथ, एकके ऊपर दूसरा, घुटनेके पास रखके दोनों नासिकाओंसे पाँच घर्षण करे। फिर बायीं नासिकासे पूरक भरे। कुम्भकके समय लंबाये हुए पैरके अंगूठेको दोनों हाथोंसे पकड़े रहे और शिरको घुटनेपर लगा दे (लगानेका प्रयत्न करे) तथा मनमें यह भावना करे कि 'मेरी कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होती है और मैं इसे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाता हूँ।' यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्यनाडी (दाहिनी नासिका)-से शनैः-शनैः रेचक करे। इस प्रकार वामाङ्गमें जितनी मुद्राएँ करनेका विचार हो इकट्ठी कर ले। फिर दक्षिणाङ्गमें भी इसी क्रमसे उतनी ही मुद्राएँ करे जितनी कि वामाङ्गमें की थीं। यह ध्यान रहे कि दक्षिणाङ्गमें पूरक दाहिनी नासिकासे और रेचक बायींसे किया जाय तथा दाहिने पैरकी एड़ी सीवनमें लगायी जाय। यह मुद्रा कपिलमुनिने साधी थी। इसके अभ्याससे अविद्या, अस्मिता (सूक्ष्म अहङ्कार), राग, द्वेष अभिनिवेश (मरणभय)—ये पञ्चक्लेश, क्षयरोग, गुल्मरोग, भगन्दर, प्रमेह और कोढ़का नाश होता है। और अष्ट प्रकारकी सिद्धियाँ (अणिमा=छोटा हो जाना, गरिमा=पर्वताकार हो जाना, लघिमा=हलका होना, महिमा=भारी होना, प्राप्ति, प्राकाम्य=इच्छामात्रसे जो चाहे सो करना, ईशिता=प्रभुत्व, वशिता=समस्त प्रकृतिके पदार्थोंको वशमें करना) प्राप्त होती हैं। साधकको यह ध्यान रहे कि ये मायाकी सिद्धियाँ हैं और स्वरूपकी सिद्धियोंसे तुच्छ हैं। इसलिये इनके मोहमें न पड़ अभ्यासको जारी रखे।

(२) महाबन्ध—बायाँ पैर सीवनमें और दाहिना पैर बायें पैरकी जङ्घाके मूलमें ऊपरकी तरफ रखे। फिर पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक भरे। कुम्भकके समय दोनों (तने हुए) हाथोंसे दाहिने पैरके घुटनेको पकड़े रहे तथा मनको सुषुम्णानाडीमें स्थिर करके यह भावना करे कि 'मैं कुण्डलिनीशक्तिको जाग्रत् करके ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाता हूँ।' यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिकासे शनैः-शनैः रेचक करे। इस प्रकार वामाङ्गमें जितनी मुद्राएँ करनी हों करे। फिर इससे विपरीत दक्षिणाङ्गमें उतनी ही मुद्राएँ करे जितनी कि वामाङ्गमें की थीं। इसके अभ्याससे वही फल प्राप्त होता है जो कि महामुद्रासे।

(३) महाबन्ध—इसके दो प्रकार हैं—

पहला प्रकार—सिद्धासनसे बैठकर मूलबन्धको बराबर दृढ़तासे लगाके दोनों हाथ चूतड़ोंके पास रखके पाँच घर्षण करे, फिर दोनों नासिकाओंसे पूरक भरे। कुम्भकके समय 'मैं कुण्डलिनीको जाग्रत् करता हूँ' ऐसी भावना करे और स्थिरासनसहित ऊपर उठ-उठकर कन्द स्थानको रगड़े। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओंसे शनैः-शनैः रेचक करे।

दूसरा प्रकार—पद्मासनसे बैठकर बायीं नासिकासे पाँच घर्षण करे। फिर उसी नासिकासे पूरक भरे। कुम्भकके समय लोलासनसे स्थित हो और यह भावना करे कि 'मैं कुण्डलिनीको जाग्रत् करता हूँ' यथाशक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिकासे शनैः-शनैः रेचक करे। इस प्रकार वामाङ्गमें जितनी मुद्राएँ करनी हों करके दक्षिणाङ्गमें इससे विपरीत क्रमसे उतनी ही मुद्राएँ करे जितनी चन्द्राङ्गमें की हों।

महाबन्धका अभ्यास उपर्युक्त दोनों मुद्राओंके साथ-साथ ही करना चाहिये। इसके अभ्याससे असाध्य रोगोंकी निवृत्ति होती है और कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मरन्ध्रमें जाती है तथा आयुष्य बढ़ता है।

(४) विपरीतकरणी—दोनों पैरोंको लंबे फैलाकर, हाथोंको घुटनोंपर रखके पाँच घर्षण करे। फिर दोनों नासिकाओंसे पूरक भरके यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय उक्त भावना करे। फिर पूर्वस्थितिमें आकर दोनों नासिकाओंसे शनैः-शनैः रेचक करे। इसके अभ्याससे प्रत्याहार (इन्द्रियोंकी वश्यता) सिद्ध होता है, जठराग्नि बढ़ती है और अनेक रोगोंका नाश होता है।

ताडन, परिधानयुक्तिपरिचालन, शक्तिचालन, खेचरी और वज्रोली मुद्राएँ तथा षट्चक्रभेदनकी क्रिया गुरुमुखसे जानने योग्य हैं।

५- *प्रत्याहार*—श्रोत्रादि इन्द्रियोंको स्वस्वरागद्वेषात्मक स्वाभाविक विषयोंसे विवेकरूपी बलसे निवृत्त करके, उनका अयोग्य आहार बन्द करके, चित्तके अधीन करना प्रत्याहार कहलाता है।

इसकी सिद्धिके लिये याज्ञवल्क्य-संहितामें वर्णन की हुई प्राणके आरोह-अवरोहकी पद्धति गुरुकी सन्निधिमें रहकर जाननी चाहिये।

निम्नलिखित क्रियाओंके दस मिनटके नियमित अभ्याससे भी प्रत्याहार सिद्ध होता है—

पद्मासनसे बैठकर केवल कुम्भकद्वारा श्वासोच्छ्वासकी गति रोकनेसे, सिद्धासनसे बैठकर त्रिकुटी अथवा नासिकाग्रपर निमेषोन्मेषरहित दृष्टि स्थिर करनेसे, मूर्च्छा प्राणायामके अभ्याससे, शान्तचित्तसे १२००० प्रणवके जप करनेसे, विपरीतकरणीमुद्राके अभ्याससे और मनोवृत्तिको श्वासोच्छ्वासके लयोद्भवके स्थानमें स्थिर करनेसे।

प्रत्याहारके अभ्याससे इन्द्रियोंकी अत्यन्तवश्यता, मनकी निर्मलता, तपकी वृद्धि, दीनताका क्षय, शरीरकी आरोग्यता और समाधिमें प्रवेश करनेकी चित्तकी योग्यता प्राप्त होती है।

६- *धारणा*—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक भेदसे तीन प्रकारके देशोंमेंसे किसी योग्य ध्येय देशके विषयमें चित्तको एकाग्र करना धारणा कहलाती है। धारणाके अभ्याससे चित्तकी वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं।

धारणाकी सिद्धिके लिये निम्नलिखित मुद्राओंका अभ्यास श्रेयस्कर है—

(१) अगोचरी—नासिकाके अग्रभागपर मनको रोककर स्थिर करना।

(२) भूचरी—नासिकाके अग्रभागसे ४ अङ्गुल दूर रहे हुए अवकाशमें मनको स्थिर करना।

(३) चाचरी—आज्ञाचक्रमें मनको रोकना। पक्षान्तरमें इसको खेचरी भी कहते हैं।

(४) शाम्भवी—मनको आज्ञाचक्रमें स्थिर करके दृष्टिको समस्थल (level)-में अधिक-से-अधिक दो हाथ और न्यून-से-न्यून एक बालिस्तके अन्तरसे किसी मनोनीत पदार्थकी कल्पनामें स्थिर रखकर स्थित करना। अथवा चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते, जागते, काम करते अपनेमें अपना लक्ष्य रखके अलक्ष्यका लक्ष्य करना। इसके लिये किसी बाह्य उपकरणकी सहायताकी अपेक्षा नहीं। खाली बहिर्लक्ष्यका अन्तर्लक्ष्य होना ही काफी है। पराका स्फुरण पश्यन्ती बनकर मध्यमा, वैखरीके अर्थ शब्दोंकी एकता करता है या नहीं—इसका निरीक्षण करना ही अन्तर्लक्ष्य है। इसीको शाम्भवीमुद्रा कहते हैं। किन्हीं-किन्हींके मतमें यह मुद्रा शिवजीने साधी थी इसीलिये इसका नाम शाम्भवी पड़ा।

७- *ध्यान*—धारणाके देशमें चित्तवृत्तिका तैलधारावत् अखण्ड प्रवाह तथा मनका निर्विषय होना ध्यान कहलाता है।

८- *समाधि*—ध्येय वस्तुके स्वरूपको प्राप्त हुआ मन जब अपने ध्यानस्वरूपका परित्याग करके और संकल्प- विकल्पसे रहित होकर केवल ध्येय वस्तुके स्वरूपसे स्थित होता है तब उसकी उस अवस्थाको योगीजन समाधि कहते हैं। यह दो प्रकारकी है—(१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात।

(१) सम्प्रज्ञात—सविकल्प, जिसमें ज्ञाता और ज्ञानादिके विकल्प-लयकी अनपेक्षा हो और अद्वितीय ब्रह्मके आकारकी आकारता हो, वह चित्तवृत्तिका अवस्थान।

इसमें चित्तकी वृत्तिको ब्रह्ममें लय कर देना होता है और इसका कुछ विचार नहीं रहता कि ज्ञाता और ज्ञानमें भेद है या नहीं। जैसे मिट्टीके हाथीमें मिट्टीका ही भान उसी प्रकार द्वैतमें भी अद्वैतका भान।

इसमें किसी-न-किसी एक अवलम्बनकी आवश्यकता रहती है। इसमें प्रज्ञाके संस्कार भी रह जाते हैं। यह समाधि चित्तकी एकाग्र अवस्थामें होती है।

(२) असम्प्रज्ञात—निर्विकल्प। बुद्धिका—वृत्तिका अद्वितीय ब्रह्ममें उसीका आकार बनकर एक भावसे अवस्थान होना।

इसमें ज्ञाता-ज्ञानादिके भेदकी कोई अपेक्षा नहीं रहती। जैसे लवण जलमें मिलकर जलरूप ही हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्ममें चित्तवृत्ति लीन हो जानेसे ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ भी दिखायी नहीं देता।

इसमें कोई अवलम्बन नहीं रहता। सब वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। यह चित्तकी निरुद्धावस्थामें होती है और परवैराग्य इसका कारण है। इसमें प्रज्ञाके संस्कार भी नहीं रहते। इसके अन्तमें चित्तका विनाश हो जाता है तब धर्ममेघ समाधि होती है। इसी अवस्थाको आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। यही जीवका अन्तिम लक्ष्य है जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है।

यौगिक साधना आर्यसभ्यताकी मौलिक विभूति है। अज्ञात कालसे आर्यसभ्यताकी अनोखी, अनुपम और अद्वितीय यदि कोई विभूति है तो यौगिक साधना। योगसाधनके बिना वेदकी गम्भीर गुत्थियाँ खुल नहीं सकतीं, वैदिक सिद्धान्तोंका मर्म निखर नहीं सकता। विशुद्ध वैदिक वातावरण भी इसके अभावमें बनना असम्भव-सा ही है। अज्ञात कालसे सत्य सनातन वैदिकधर्मके सारे-के-सारे सफल प्रचारक यौगिक साधनासे सम्पन्न ही व्यक्त हुए हैं। उपनिषदोंके रचयिता, दर्शनोंके लेखक, समस्त ऋषि, मुनि महानुभाव योगमार्गके प्रवीण पान्थ हुए हैं।

भगवान् शङ्कराचार्य आदि भी इस युगमें योगबलकी विमल विभूतिके कारण ही सत्य सनातन वैदिकधर्मका अद्भुत नाद बजा सके हैं। अतएव हिन्दूसमाजको, यदि उसे वास्तवमें वेदोंका—दार्शनिक सिद्धान्तोंका प्रचार करना है, वैदिक सच्चाइयोंको विश्वमें मूर्तिमान् करके दिखाना है और सर्वप्रथम पुनीत वैदिक क्रान्तिका मार्ग विस्तृत करना है तो उसे पूरा-पूरा ध्यान योग-साधनकी ओर लगाना होगा। आसन, प्राणायामादि योगाङ्गोंका प्रत्येक गृहमें प्रचार करना होगा। प्रत्येक समाजमें क्रियात्मकरूपसे योगकी शिक्षा देनेवालोंको जन्म देना होगा। ऋषिकुलों, गुरुकुलों और आश्रमों तथा शिक्षणालयोंमें तो यौगिक साधनाओंकी क्रियात्मक शिक्षाका पूरा प्रबन्ध होना अनिवार्य हो। प्रत्येक ब्रह्मचारी—विद्यार्थी तथा आश्रमवासीका जीवन यौगिक साधनासे सम्पन्न होना चाहिये। उपदेष्टाओंको स्वयं अपने जीवनोंको यम-नियमादिमें ढालना होगा। यम-नियमादिकी साधनासे शून्य प्रचारक वास्तवमें हिन्दूसमाजके लिये शोभाकी वस्तु नहीं है। जो प्रचारक यम-नियमोंकी भट्ठीमें होकर नहीं गुजरा वह कैसे विश्वमें आर्यत्वका विस्तार करेगा?

योगेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।

(विदुरनीति)

योगसे धर्म और विद्या दोनोंकी रक्षा होती है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये॥

(भगवान् शङ्कर)

कोई मनुष्य चाहे जितना ज्ञानी, विरक्त, धर्मिष्ठ और जितेन्द्रिय क्यों न हो पर वह बिना योगके मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता।

ध्यानयोग

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीयमुनाप्रसादजी शर्मा पालीवाल)

ध्यान तीन प्रकारका है—(१) स्थूल ध्यान, (२) ज्योतिर्ध्यान और (३) सूक्ष्म ध्यान। स्थूल ध्यान वह कहा जाता है जिसमें मूर्तिमान् अभीष्ट देवताका अथवा गुरुका चिन्तन किया जाय। तेजोमय ब्रह्म वा प्रकृतिकी भावना की जाय उसको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और बिन्दुमय ब्रह्म एवं कुलकुण्डलिनीशक्तिका दर्शनलाभ हो उसको सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।

(१) स्थूल ध्यान

साधक नेत्र बन्दकर मनमें ऐसा ध्यान करे कि एक अति उत्तम अमृतसागर बह रहा है। समुद्रके बीच एक रत्नमय द्वीप है, वह द्वीप रत्नमयी वालुकावाला होनेसे चारों ओर शोभा दे रहा है। इस रत्नद्वीपके चारों ओर कदम्बके वृक्ष अपूर्व शोभा पा रहे हैं। बहुत-से पुष्पोंके खिलनेसे वृक्षोंकी असीम सुषमा हो रही है। कदम्ब-वनके चारों ओर मालती, मल्लिका (चमेली), केसर, चम्पा, पारिजातपद्म और स्थलपद्मोंके बहुत-से वृक्ष उस द्वीपकी खाईंके समान लग रहे हैं। इन सब वृक्षोंके पुष्पोंकी सुगन्धसे सब दिशाएँ सुगन्धसे व्याप्त हो रही हैं।

योगी मनमें इस प्रकार चिन्तन करे कि इस काननके मध्यभागमें मनोहर कल्पवृक्ष विद्यमान है, उसकी चार शाखाएँ हैं, वे चारों शाखाएँ चतुर्वेदमय हैं और वे शाखाएँ तत्काल उत्पन्न हुए पुष्प और फूलों-फलोंसे लद रही हैं। उन शाखाओंपर भ्रमर गुञ्जार करते हुए मँडरा रहे हैं और कोकिलाएँ उनपर बैठी कुहू-कुहू शब्द कर मनको हर ले रही हैं। फिर योगी इस प्रकार चिन्ता करे कि इस कल्पतरुके नीचे महामणियोंसे उज्ज्वलित एक रत्नमण्डप परम शोभा पा रहा है। उस मण्डपके बीचमें मनोहर पलङ्ग रत्नों या मोतियोंसे देदीप्यमान बिछ रहा है, उसी पलङ्गपर अपने अभीष्टदेव विराजमान हैं। गुरुदेवने जैसा-जैसा अभीष्टदेवका ध्यान, रूप, भूषण, वाहन आदिका उपदेश दिया हो योगी उसी रूपका ध्यान करे, इसको ही स्थूल ध्यान कहते हैं।

प्रकारान्तर

ब्रह्मरन्ध्रमें सहस्रार नामक एक सहस्रदलवाला महापद्म है, इस कमलके मध्यमें और एक बारहदलवाला कमल है। वह द्वादशदलवाला कमल श्वेत वर्णका है और परम तेजसम्पन्न है। इस कमलके बारहों पत्तोंमें क्रमशः ह, स, क्ष, म, ल, व, र, युं, ह, स, ख, फ्रें ये बारह बीज लिख रहे हैं। उस कमलकी कर्णिकामें अ, क, थ इन तीन वर्णोंके तीन कोण हैं, उन कोणोंके मध्यमें ह, ल, क्ष इन त्रिकोणाकार अक्षरोंके मण्डपमें 'ॐ' बना हुआ है। फिर योगी ऐसा चिन्तन करे कि इस स्थानपर सुमनोहर नादबिन्दुमय एक पीठ विराजमान है, उस पीठ (सिंहासन)-पर दो हंस खड़े हैं। और वहीं पादुका भी रखी है। उसी स्थलपर गुरुदेव विराजमान हैं, उनके दो भुजाएँ हैं, तीन नेत्र हैं और वे शुक्ल वस्त्रोंसे सुशोभित हैं। उनके शरीरपर शुभ्र चन्दन लगा है, कण्ठमें श्वेत वर्णके प्रसिद्ध पुष्पोंकी माला पड़ी हुई है, उनके वामपार्श्वमें रक्तवर्णा शक्ति (गुरुपत्नी) शोभा दे रही हैं। इस प्रकार गुरुका ध्यान करनेपर स्थूलध्यान सिद्ध होता है। विश्वसारतन्त्रमें लिखा है कि—

प्रातः शिरसि शुक्लेऽब्जे त्रिनेत्रं द्विभुजं गुरुम्।
वराभयकरं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्॥

अर्थात् मस्तकमें जो शुभ्रवर्णका कमल है, योगी प्रभातकालमें उस पद्ममें गुरुका ध्यान करे कि वह शान्त, त्रिनेत्र, द्विभुज हैं और उनके हाथोंमें वर और अभय मुद्रा है। इस प्रकारके ध्यानको स्थूल ध्यान कहते हैं।

कङ्कालमालिनी तन्त्रमें लिखा है कि—

सहस्रदलपद्मस्थमन्तरात्मानमुज्ज्वलम्।
तस्योपरि नादबिन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वले॥
तत्र निजगुरुं नित्यं रजताचलसन्निभम्।
वीरासनसमासीनं सर्वाभरणभूषितम्॥
शुक्लमाल्याम्बरधरं वरदाभयपाणिकम्।
वामोरुशक्तिसहितं कारुण्येनावलोकितम्॥
प्रियया सव्यहस्तेन धृतचारुकलेवरम्।
वामेनोत्पलधारिण्या रक्ताभरणभूषया॥
ज्ञानानन्दसमायुक्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्।

अर्थात् योगी ऐसा ध्यान करे कि जिस सहस्रदलकमलमें प्रदीप्त अन्तरात्मा अधिष्ठित है, उसके ऊपर नादबिन्दुके

मध्यमें एक उज्ज्वल सिंहासन विद्यमान है, उसी सिंहासनपर अपने इष्टदेव विराज रहे हैं, वे वीरासनसे बैठे हैं, उनका शरीर चाँदीके पर्वतके सदृश श्वेत है, वे नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हैं और शुभ्र माला, पुष्प और वस्त्र धारण कर रहे हैं, उनके हाथोंमें वर और अभय मुद्रा हैं, उनके वाम अङ्कपर शक्ति विराजित है। गुरुदेव करुणादृष्टिसे चारों ओर देख रहे हैं, उनकी प्रियतमा शक्ति दाहिने हाथसे उनके मनोहर शरीरका स्पर्श कर रही हैं। शक्तिके वाम करमें रक्त पद्म है और वे रक्तवर्णके आभूषणोंसे विभूषित हैं, इस प्रकार उन ज्ञानसमायुक्त गुरुका नामस्मरणपूर्वक ध्यान करे, इसको स्थूल ध्यान कहते हैं।

(२) ज्योतिर्ध्यान (तेजोध्यान)

मूलाधार अर्थात् गुह्यप्रदेश और लिङ्गमूलके मध्यगत स्थानमें कुण्डलिनी सर्पाकारमें विद्यमान है। इस स्थानमें जीवात्मा दीपशिखाके समान अवस्थित है। इस स्थानपर ज्योतिरूप ब्रह्मका ध्यान करे। इसको तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। एक और प्रकारका तेजोध्यान है कि भृकुटिके मध्यमें और मनके ऊर्ध्वभागमें जो ॐकारमय और शिखामालासमन्वित ज्योति विद्यमान है, उस ज्योतिका ध्यान करे। इसको भी ज्योतिर्ध्यान या तेजोध्यान कहते हैं। इस ध्यानसे योगसिद्धि और आत्मप्रत्यक्षता शक्ति उत्पन्न होती है।

(३) सूक्ष्म ध्यान

बड़े भारी प्रारब्ध (पुण्य)-का उदय होनेसे साधककी कुण्डलिनी जाग्रत् होकर, आत्माके साथ मिलकर नेत्ररन्ध्रमार्गसे निकलकर ऊर्ध्वभागस्थ, राजमार्ग नामक स्थलमें परिभ्रमण करता है। भ्रमण करते समय सूक्ष्मत्व और चञ्चलताके कारण ध्यानयोगमें कुण्डलिनीको देखना कठिन होता है। योगी शाम्भवीमुद्राका अनुष्ठान करता हुआ कुण्डलिनीका ध्यान करे, इसीका नाम सूक्ष्म ध्यान है। यह ध्यान अति गोपनीय है और यह देवताओंको भी कठिनतासे प्राप्त होता है। स्थूल ध्यानसे ज्योतिर्ध्यान सौगुना श्रेष्ठ है और ज्योतिर्ध्यानसे सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। इस दुर्लभ ध्यानयोगद्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है और ध्यानसिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा घेरण्ड ऋषिका मत है।

यहाँ शाम्भवीमुद्राका वर्णन करना कोई अयोग्य न होकर बल्कि योग्य ही होगा।

शाम्भवीमुद्रा

भृकुटीके मध्यमें दृष्टिको स्थिर करके एकाग्रचित्तसे चिन्तायोग (ध्यानयोग)-से परमात्माका दर्शन करे। इसको शाम्भवीमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सब तन्त्रोंमें गोपनीय बतायी है। जो व्यक्ति इस शाम्भवीमुद्राको जानता है वह आदिनाथ है, वह स्वयं नारायणस्वरूप और सृष्टिकर्ता ब्रह्मास्वरूप है। जिनको यह शाम्भवीमुद्रा आती है वे निःसन्देह मूर्तिमान् ब्रह्मस्वरूप हैं। इस बातको योगप्रवर्तक शिवजीने तीन बार सत्य कहकर निरूपण किया है। इसी मुद्राके अनुष्ठानसे तेजोध्यान सिद्ध होता है। इसी उद्देश्यसे इसका वर्णन यहाँ किया गया है। वेद, पुराण, तन्त्र, श्रुति, गीता आदि ग्रन्थ ध्यानयोगके वर्णनसे भरे पड़े हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
(६।१३)

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(६।२४—२६)

अविचल रहै, शिर, ग्रीव, काया आदि सकल समान ही।
नासाग्र भाग सदैव, अवलोकै, न देखै आनही॥
(६।१३)

संकल्पसे जो कामना, होती उन्हें तुम त्याग कर।
होकर जितेन्द्रिय, शुद्ध चितसे योगमें अनुराग कर॥
हो धर्मयुत क्रमशः लगाओ, बुद्धि आत्मज्ञानमें।
लाओ न और विचार कोई, अन्य अपने ध्यानमें॥
है मन परम चञ्चल, चलित होता इधरसे है उधर।
इस हेतु आत्मामें उचित है, जोड़ना मन मोड़कर॥
(६।२४—२६)

इस ध्यानयोग-जैसा अन्य सरल योग दूसरा नहीं है। इसे भी गुरुद्वारा प्राप्त करनेकी जरूरत है।

॥ ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः॥

ध्यानयोग

'भगवत्प्राप्तिके साधन' और 'भगवत्प्राप्ति' दोनोंका ही नाम योग है। पहलेमें प्रभुसे मिलनेके उपाय होते हैं और दूसरेमें प्राप्ति—मिलन हो जाता है। उपाय वे ही लोग करते हैं जो भगवान्को मानते हैं और जीव-जीवनकी चरम सिद्धिके लिये उनको प्राप्त करना परम आवश्यक समझते हैं। भगवान्को न माननेवाले लोग तो ऐसे योगको अनावश्यक और माननेवालोंको मूर्ख ही बतलाते हैं। अतएव भगवत्प्राप्तिके जितने साधन हैं वे सब भगवान्के माननेवालोंके लिये ही हैं। परन्तु माननेवालोंमें भी लाभ वे ही उठा सकते हैं जो श्रद्धालु, सतत प्रयत्नशील और संयतेन्द्रिय होते हैं—जो सच्ची लगनसे बिना उकताये सदा सावधान और आलस्यरहित रहकर नियमपूर्वक साधन करते हैं। आज किसीकी बात सुनकर उत्साह हुआ, कुछ करने लगे, दो चार दिनके बाद जी ऊब गया, नियमोंको ढीला कर दिया और कुछ दिनों बाद साधन छोड़ बैठे, ऐसे लोगोंको लाभ नहीं होता, और इस प्रकार बिना कुछ किये ही सब कुछ चाहनेवाले ऐसे लोग ही निष्फल होकर विद्रोही भी बन जाते हैं। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे जिस ध्येयको प्राप्त करना चाहते हैं, उसीमें सच्ची लगनसे लग जायँ। दूसरी ओर ताकने-झाँकनेकी आवश्यकता ही न समझें। तभी उनको पद-पदपर सफलता होगी और ज्यों-ज्यों सफलता होगी त्यों-ही-त्यों उनका उत्साह भी अधिक-से-अधिक बढ़ता जायगा। शीघ्रता करनी चाहिये क्योंकि जीवन बहुत ही थोड़ा है।

सबसे पहली बात है मन लगनेकी। जो जिस वस्तुको परम आवश्यक मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके चित्तसे उस वस्तुका चिन्तन स्वाभाविक ही बार-बार होता है। उसके चित्तमें अपने ध्येय पदार्थकी धारणा दृढ़ होती जाती है और आगे चलकर वही धारणा—चित्तवृत्तियोंके सर्वथा ध्येयाकार बन जानेपर 'ध्यान' के रूपमें परिणत हो जाती है। जितने कालतक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उतने कालकी स्थितिको ध्यान कहा जाता है। ध्यानकी बड़ी महिमा है, भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि जो पुरुष निरन्तर विषयोंका ध्यान करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा ध्यान करता है वह मुझमें लीन हो जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग और निष्काम कर्मयोग, किसी-न-किसी रूपमें सभी योगोंमें ध्यानकी आवश्यकता और उपयोगिता है। इस ध्यानसे ही भगवान्के स्वरूपमें समाधि और ध्यानसे ही भगवान्की प्राप्ति होती है।

योगदर्शनमें ध्यान अष्टाङ्गयोगोंमें सातवाँ है। पहले छहों साधन ध्यानमें सहायक हैं, बल्कि उनके करते-करते ही ध्यानकी योग्यता साधकको प्राप्त होती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। अतएव सहायक साधनोंका अवश्य ही सम्पादन करना चाहिये। यहाँ संक्षेपमें ध्यानके सहायक कुछ भावों और कार्योंको लिखा जाता है।

गुरु और शास्त्रवचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास, साधनमें तत्परता, इन्द्रियों तथा मनको उनके इच्छित सांसारिक विषयोंसे हटाना, तन-मनसे अहिंसा, सत्य, चोरीका अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्स्तुति-प्रार्थना, एकान्तवास, विषयोंसे विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओंका सर्वथा त्याग, अन्न-वस्त्र-स्थान आदि आवश्यक वस्तुओंका भी यथासाध्य कम-से-कम संग्रह, अपने ध्येय-सम्बन्धी ग्रन्थोंके सिवा अन्य ग्रन्थोंका न सुनना, न पढ़ना; ध्येयके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें सुनना, ध्येयके विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना; घर-परिवारमें ममताका त्याग करना, दुराग्रह न करना, अखबार न पढ़ना, सभासमितियोंसे अलग रहना, प्रसिद्धिसे बचनेकी प्राणपणसे निर्दोष चेष्टा करना, परचर्चा न करना, परदोष न देखना, न चिन्तन करना, न कहना, मधुर-प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना, यथासाध्य मौन रहना, चित्तको विषाद, अहङ्कार, ईर्ष्या, द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिन्तन आदि दुष्ट भावोंसे बचाना, मान-सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्रीके संगसे और इनके संगियोंसे भी यथासाध्य अलग रहना (इसी प्रकार स्त्री साधकोंको पुरुष-संसर्गसे अलग रहना चाहिये); ध्येयमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना, अपने इष्टके नाम और मन्त्रका निरन्तर विधिपूर्वक सप्रेम जप

करना, बार-बार इष्टके गुण, प्रभाव और रहस्यका चिन्तन करना, उनकी दयालुतापर विश्वास रखना, ध्येयकी प्राप्तिमें दृढ़ निश्चय रखना; साधनके स्थान, वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति आदि सामग्रियोंको बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना और न दूसरेको—अपने घरके लोगोंतकको किसी भी हालतमें—नहानेपर—भी स्पर्श करने देना, परन्तु अपनेको किसीसे ऊँचा न समझना, अभिमान या क्रोधका कभी अङ्कुर भी न आने देना, किसीके स्पर्शसे वे सामग्रियाँ अपवित्र होंगी, ऐसा न मानकर साधनके वातावरणमें विकृति होगी ऐसा मानना और दूसरोंको नम्रता, प्रेम, आदर और विनयके साथ अपनी कमजोरी तथा साधनके नियम समझाकर साधन-सम्बन्धी स्थान और सामग्री आदिसे उनको पृथक् रखना;* न अधिक जागना, न ज्यादा सोना, न अधिक खाना, न निराहार रहना, नशैली चीजें बिलकुल न खाना, मांस-मद्यका सर्वथा त्याग करना, तम्बाकू-गाँजा आदि न पीना, उत्तेजक तथा गरम चीजें न खाना, खट्टी चीजें और अधिक मीठा न खाना, उड़द, लाल मिर्च, सरसों, राई, लहसुन, प्याज, गरम मसाले और दही न खाना, कटहल, गाजर आदि फल न खाना, बेल, संतरा, हर्रे आदिका नियमित सेवन करना, हर किसीके हाथका और हर किसीका अन्न भी न खाना चाहिये। उपर्युक्त बातोंके सिवा नियत स्थानपर, नियत समय, नियत कालतक, नियत आसनपर, नियत आसनसे बैठकर, नियत संख्यामें, नियत इष्ट मन्त्रका जप करते हुए, नियत इष्ट स्वरूपके ध्यानका प्रयत्न करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

अवस्थाविशेषमें इन सब बातोंमें कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक करनेमें भी आपत्ति नहीं है। परन्तु इनकी ओर खयाल ज़रूर रहे। ऐसा करनेसे ध्यान सुगमतासे और शीघ्र फलप्रद होता है।

ध्यानके अनेक प्रकार हैं, साधकको अपने-अपने अधिकार, रुचि और अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये। परन्तु मनमें इतना निश्चय रखना चाहिये कि सत्य तत्त्व परमात्मा एक ही हैं। वह एक ही अनेक रूपोंसे अपनेको धृत करवाते हैं। भक्त जिस रूपमें उन्हें पकड़ना चाहे, वह उसी रूपमें पकड़में आ जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हींके रूप हैं। श्रीविष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, शक्ति, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी वे एक ही हैं। मार्गके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबके अन्तमें प्राप्त होनेवाला सत्य एक ही है। इसी सत्यके कोटिशः विविध प्रकाश हैं, हम किसी भी प्रकाशका अवलम्बन करके उस मूल प्रकाशको पा सकते हैं, क्योंकि ये सभी प्रकाश न्यूनाधिक शक्तिवाले दीखनेपर भी वस्तुतः उस मूल सत्यसे सर्वथा अभिन्न और सर्वथा पूर्ण ही हैं। वह स्वयं ही विभिन्न प्रकाशोंमें अवतीर्ण होकर अपनेको अपने ही सामने प्रकाशित कर रहे हैं। अतएव विभिन्न साधक उन एक अचिन्त्यशक्ति, अनन्तमहिम, अनन्तकल्याणगुणगणसमन्वित सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद, देशकालातीत, गुणातीत, सर्वसद्लक्षणसम्पन्न, सदसत्सर्वगुणसम्पन्न, सर्वातीत, सर्वलोकमय और सर्वलोकमहेश्वर भगवान्‌के इस समग्र रूपको या परमभावको समझकर किसी भी भावसे उनका ध्यान करें, अन्तमें सबको वह एक ही नारायण प्राप्त होंगे, जिनकी प्राप्तिका और स्वरूपका वर्णन बुद्धि और मन-वाणीसे सर्वथा अगम्य है। अतएव साधकोंको न तो अपना इष्टरूप छोड़ना चाहिये, और न दूसरेके इष्टको नीचा या अल्प मानना चाहिये। इस प्रकारकी एकत्वबुद्धिसे ध्यानका अभ्यास करनेपर बहुत-से विघ्न सहज ही टल जाते हैं और शीघ्र ही परम सफलता प्राप्त हो सकती है।

ध्यान अभेद या भेद, अथवा अद्वैत या द्वैत—इन दोनों भावोंसे किया जाता है। अभेदमें भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं। इसी प्रकार भेदमें भी भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं।

अद्वैत या अभेद

निर्गुण निराकार—अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवाङ्मनसगोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार—अज अविनाशी सर्वलोकमहेश्वर मायापति सृष्टिकर्ता।

* वैदिक और तान्त्रिक साधनामें ही इसकी विशेष आवश्यकता है।

निर्गुण साकार—अज अविनाशी गुणातीत मायातीत दिव्य विग्रह भगवान्।

सगुण साकार—अज अविनाशी लीलाविहारी अपनी दिव्य प्रकृतिके साथ खेल करते हुए दिव्य विग्रह भगवान्। या विराट् विश्वरूप परमात्मा।

द्वैत या भेद

निर्गुण निराकार—जीवोंपर दया करनेवाले सर्वशक्तिमान् न्यायकारी निर्गुण परमात्मा।

सगुण निराकार—जीवजगत्का सञ्चालन करनेवाले सर्वलोकमहेश्वर, विश्वरूप, विश्वकर्ता, विश्वभर्ता और विश्वसञ्चालक प्रभु।

निर्गुण साकार—भक्तोंकी सुधि लेनेके लिये मायामनुष्यधारी वस्तुतः स्वस्वरूपसे सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार—भक्तोंके साथ लीला करनेवाले समस्त गुणनिधि लीलामय भगवान्।

इनके फिर एक-एकके अनेक रूप हैं। इन सब रूपोंमें एक ही सत्य तत्त्व अनुस्यूत है और वह सबमें सब जगह सब ओरसे सब ही भाँति परिपूर्ण है। बुद्धिमान् भगवत्कृपापात्र साधक अपने-अपने भावोंके अनुसार सब रूपोंको किसी एक रूपमें पर्यवसित कर उसका ध्यान करता है। कोई-कोई अल्पमेधस् साधक अपने इष्टको भिन्न मानकर भी ध्यान करते हैं परन्तु उनका वह ध्येयतत्त्व अल्प और सीमित होनेके कारण उन्हें तात्कालिक फल भी अल्प और सीमित ही मिलता है। जो अल्प और सीमित है वही नाशवान् है, अतएव ऐसे साधक अविनाशी नित्य-तत्त्वकी प्राप्तिसे दीर्घकालतक प्रायः वञ्चित ही रह जाते हैं। अवश्य ही यदि उनका इष्ट सात्त्विक हुआ तो उसकी कृपासे कालान्तरमें पुनः साधनमें प्रवृत्त होकर वे चरमतत्त्वकी प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं, अतएव न करनेवालोंसे तो वे अल्पकी उपासना करनेवाले भी अच्छे ही हैं।

वास्तवमें भगवान्के स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ भी लिखना अपनी अल्पज्ञताका परिचय देना मात्र ही है। भगवान्के तत्त्वको स्वयं भगवान् ही जानते हैं। यह कोई भी नहीं कह सकता कि भगवान् ऐसे ही हैं। बहुत दूरकी बात कहनेवाले महान् दार्शनिक भी बहुत इधरकी ही कहते हैं। अतएव किसीकी भी निन्दा न कर भगवान्के शास्त्रवर्णित और सन्तजनसेवित सभी स्वरूपोंको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये। साधकका भाव ऊँचा होगा तो सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर परिपूर्णतम भगवान् उसे अपना ही ध्यान समझेंगे और उसके फलस्वरूप अपने स्वरूपकी प्राप्ति ही उसे करा देंगे। अस्तु।

अब ध्यानके कुछ प्रकार या विधियाँ जाननेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ध्यानयोगी साधकके लिये उपयुक्त स्थान, काल और आसन कौन-सा उत्तम है, एवं उसे किस आसनसे बैठकर कितने समयतक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

स्थान—एकान्त हो, पवित्र हो (जहाँ हिंसा, चोरी, मैथुन, छल आदि न होते हों, और जहाँ यज्ञ, जप, पूजन, भजन, स्वाध्याय, भगवच्चर्चा आदि होते हों, परन्तु ध्यानके समय जहाँ कोई न हो, एकान्त नदीतट, देवमन्दिर हो, जहाँ शब्दादि न होते हों या उत्तम और सूक्ष्म शब्द होते हों, जो मनोरम और सुन्दर वायुसे सेवित हो, गीला या गरम न हो, जहाँ कङ्कड़ और गरम बालू न हो, सुपुष्प और धूपादिसे सुगन्धित हो, जहाँ भगवान्के सुन्दर चित्र लगे हों। ऐसा निर्जन स्थान न मिले तो अपने घरमें ही अलग स्वच्छ एकान्त-सा स्थान चुन लेना चाहिये।

काल—ध्यानके लिये सर्वोत्तम समय उषाकाल अथवा रात्रिका अन्तिम प्रहर है, उस समय स्वाभाविक ही बुद्धि सात्त्विक और संस्कारशून्य-सी रहती है। परन्तु अन्य समय भी ध्यान किया जा सकता है। हाँ, भोजनके बाद तुरन्त ही ध्यान करनेसे प्रायः ध्यान नहीं होता। भूखे पेट ध्यान अच्छा होता है।

आसन—आसन न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, पहले कुशासन, उसपर मृगाजिन और उस-पर शुद्ध वस्त्र बिछाना चाहिये। ऊनका या केवल नरम कुशोंका आसन भी बिछाया जा सकता है। ऐसे आसनपर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये।

आसन—स्वस्तिक और पद्मासन सबसे उत्तम हैं। इन आसनोंमें कष्ट भी नहीं है और चित्त भी जल्दी समाहित होता है। बार-बार आसन बदलना ठीक नहीं, एक ही आसनसे निश्चल होकर बैठना चाहिये।

समय—प्रतिदिन तीन घण्टे ध्यान किया जा सके

तो बहुत उत्तम है, नहीं तो कम-से-कम एक घण्टे तो ध्यानका अभ्यास जरूर करना चाहिये। हो सके तो तीन बारमें तीन घण्टे कर ले—प्रातःकाल, सन्ध्यासमय और रातको।

ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गलेको सीधा रखना चाहिये। रीढ़की हड्डी सीधी रहे। कुबड़ाकार न बैठे। जबतक वृत्ति सर्वथा ध्येयके आकारकी न बने, शरीरका बोध बना रहे और सांसारिक स्फुरणाएँ मनमें उठती रहें तबतक इष्टमन्त्रका जप करता रहे और बारम्बार चित्तको ध्येयमें लगानेकी चेष्टा करता रहे। लय (नींद), विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचे रहनेके लिये भी प्रयत्नशील रहे। यह विधि नियमित ध्यानके लिये है। यों तो साधकको तो सभी समय, सभी क्रियाओंमें खाते-पीते-सोते, उठते-बैठते, सुनते-बोलते, चलते-फिरते, चित्तको संसारकी व्यर्थ स्फुरणाओंसे रहित करके अपने इष्टका चिन्तन और ध्यान करना चाहिये। ध्यानके समय आँखें मूँद लेनी चाहिये अथवा नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर रखनी चाहिये।

अब अद्वैत-द्वैत दोनों प्रकारके ध्यानोंके कुछ प्रकारोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जाता है। विशेष बातें अपने-अपने पथप्रदर्शकसे सीखनी और जाननी चाहिये।

अभेद-ध्यान

१—आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिररूपसे जमाकर साधक चित्तकी ओर देखे और उसमें जो कुछ भी वस्तु प्रतीत हो, उसीको कल्पनामात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित प्रत्येक वस्तुका त्याग करते-करते शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी सत्ता न रहने दे। सबका अभाव करते-करते कुछ कालमें जब सारे दृश्यपदार्थ चित्तवृत्तिसे निकल जाते हैं, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली वह एकमात्र वृत्ति रह जाती है, यही शुभ और शुद्ध वृत्ति है। और सब दृश्यप्रपञ्चका अभाव करनेके बाद यह स्वयं भी शान्त हो जाती है। फिर त्याग, त्यागी या त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाता। इसके बाद जो कुछ बच रहता है वही चेतनघन परमात्मा है। वह असीम है, अनन्त है और उसीने सब द्रष्टा और भोक्तावृत्तियोंको ग्रस लिया है। और अब वह उपाधिहीन अकेला ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह 'सर्वत्र' भाव भी उसीमें कल्पित है। वह तो वही है, उसका न कोई वर्णन कर सकता है और न चिन्तन! इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपञ्चका अभाव करके, अभाव करनेवाली वृत्तिका भी परमात्मामें लय कर देना चाहिये।

२—आँखें मूँदकर दसों इन्द्रियोंके कार्योंको रोककर साधक मनके द्वारा पुनः-पुनः परमात्माके स्वरूपका मनन करे। जो कुछ भी स्फुरणा मनमें आवे, उसीमें परमात्माका भाव करे, यों करते-करते स्फुरणाएँ बन्द हो जायँगी। परन्तु सावधान, एक भी स्फुरणा परमात्माके भावसे अछूती न रह जाय और केवल परमात्मा ही बच रहेंगे उन परमात्माके साथ अपनी एकता कर दे। अर्थात् यदि चित्तमें यह वृत्ति जाग्रत् रहे कि मैं परमात्माका ध्यान कर रहा हूँ तो इस वृत्तिको भी छोड़ दे। यह वृत्ति जब एक परमात्माकी सर्वव्यापक सत्तामें मिल जायगी, तब केवल एक परमात्माका ही बोध रह जायगा।

३—आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा विचार करे कि जैसे कमरेमें रखे हुए घड़ेका आकाश कमरेसे भिन्न नहीं है, और कमरेका आकाश जिस खुले आकाशमें मकान बना है उससे अलग नहीं है, उस खुले आकाशमें ही सब कमरे बने हैं, उन्हींमेंके एक कमरेमें घड़ा है। अतएव सब जगह केवल वही एक आकाश है, कमरे और घड़ेकी उपाधिसे छोटे-बड़े अनेक आकाश दिखायी देते हैं। घड़ेका आकाश अपनी अल्प सीमाको त्यागकर महान् आकाशमें स्थित होकर, जो उसका वास्तविक नित्य स्वरूप है, यदि उस महान्‌की दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें ही कल्पित है और सब कुछमें सत्यरूपसे वही स्थित है। साथ ही कमरे या घड़ेका निर्माण जिस उपादान और निमित्त कारणसे हुआ है उस उपादान और निमित्त कारणका भी कारण वही आकाश है। क्योंकि पञ्चभूतोंमें सबसे पहला आकाश ही है। इसी प्रकार व्यष्टि शरीरमेंसे अपने मैंपनको निकालकर विश्वरूप भगवान्‌की समष्टिमें स्थिर करे और समष्टिके नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे। जैसे यशोदाजीने

भगवान्‌के मुखके अन्दर विश्व और उस विश्वमें व्रजके एक ग्राममें नन्दजीका घर और उसमें श्रीबालकृष्णको और हाथमें लकुटिया लिये अपनेको देखा था। इस प्रकार व्यष्टि अहङ्कारको समष्टिमें लय करके फिर उस समष्टिको भी अचिन्त्य परमात्मामें लय कर दे।

वस्तुतः जड, अनित्य, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित आकाशके साथ चेतन, नित्य, सदा एकरस सच्चिदानन्दघन निर्विकार और असीम पूर्ण परमात्माकी तुलना नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल समझनेके लिये ही है।

४—आँखें मूँदकर इस प्रकार विचार करे कि इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनोंमें जो कुछ देखने-सुनने या जाननेमें आता है वह सब एकमात्र परमात्मा ही हैं। वही विश्वरूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत् उन्हींसे निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें लय हो जायगा। यह सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीला उनके अपने ही अन्दर उन्हींके द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीलाका एक खिलौनामात्र हूँ, और जैसे सारी लीला वही हैं वैसे ही यह खिलौना भी उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते अपनेसहित संसार और संसारके पदार्थोंको एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें लीन करके फिर ऐसा निश्चय करनेवाली बुद्धिको भी परमात्मामें विलीन कर दे।

५—आँखें मूँदकर या नासिकाग्रपर स्थिर दृष्टि रखकर ऐसा निश्चय करे कि—सत्, चित् और आनन्दसे परिपूर्ण एक महान् समुद्र लहराता हुआ चला आ रहा है और मैं बैठा देख रहा हूँ। इतनेमें ही उसने आकर मुझको अपने अन्दर ले लिया और मैं उसकी गहराईमें डूब गया। और डूबते ही गलकर उसमें घुल-मिल गया। अब मेरा अलग अस्तित्व ही नहीं रहा। बस, अब केवल वह चेतन आनन्दका अथाह समुद्र ही रह गया। इस प्रकार अपनेको परमात्मामें विलीन करे।

६—आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करे कि मैं जो कुछ भी देख, सुन और जान रहा था यह सब स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिन-रात, देश-वेश सब कुछ स्वप्नमें मेरे ही अन्दर मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित थे। सब केवल मेरी ही कल्पना थी। अब मैं जग गया हूँ तब वे सब कुछ नहीं रहे, मैं-ही-मैं बच रहा हूँ, वह मैं परमात्मासे भिन्न नहीं हूँ, परमात्मा ही अपने संकल्पसे यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विचारद्वारा परमात्मामें चित्तको विलीन कर दे।

७—एकमात्र विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही हैं। उनके सिवा न कोई वस्तु है, और न कोई स्थान ही है जिसमें कोई वस्तु रह सके। केवल एक वही परिपूर्ण हैं। उनका यह ज्ञान भी उन्हींको है। क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। वे सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवेद्य हैं। सब कुछ उन्हींमें कल्पित है, या वही सब कुछ हैं। वे ही सत् हैं वे ही असत् हैं, वे सत् भी नहीं हैं, असत् भी नहीं हैं। वे आनन्दमय हैं, अवर्णनीय हैं, अचिन्त्य हैं, उनका यह अवर्णनीय आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। यह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, ज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, अमल है, अकल है, अनामय है, अनन्त है, शान्त है और आनन्दमय है। बस, वह आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्दके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, है सो आनन्द ही है। इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दमयत्वकी मूर्ति चित्तमें प्रकट करके अपनेको उसमें विलीन कर दे।

८—शरीरके सभी मर्मस्थानोंकी भिन्न-भिन्न नाडियोंके पृथक्-पृथक् स्थान और कौन-सा वायु कहाँ रहता है तथा क्या करता है, इस शरीरविज्ञानको क्रियारूपमें भलीभाँति जानकर तब आँखें मूँदकर ध्यानके लिये बैठे और ज्योतिर्मय, निर्मल, आकाशवत् सर्वव्यापी, दृढ़, अत्यन्त अचल, नित्य, आदि-मध्य और अन्तरहित, स्थूल होते हुए ही सूक्ष्म, अवकाशरहित, स्पर्शरहित, चक्षुसे अगोचर, रस और गन्धहीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य, सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य प्रत्यक्ष, अन्तरस्थ और बहिरस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आँखें, सब ओर पैर, सब ओर सिर, सब

ओर स्पर्शवाले सर्वव्यापी ब्रह्मका ध्यान करे, और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है, ऐसा अनुभव करे।

९—आँखें मूँदकर अपने अन्दर इस प्रकार देखे कि कन्दसे निकले हुए बारह अङ्गुल नलीवाले चार अङ्गुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशरयुक्त, कर्णिकासमन्वित, प्राणायामद्वारा विकसित आठ दलवाले हृदयकमलपर सब प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाले, पुरुषोत्तम, देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु, लक्ष्मीपति भगवान् विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं, भगवान्‌के अंग केयूर और कुण्डल तथा अन्य आभूषणोंसे सुशोभित हैं, उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। पद्मोदर सदृश ओष्ठ हैं। प्रसन्नवदन हैं, मन्द-मन्द निर्मल हँसी हँस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिकके समान वर्ण है, पीताम्बर पहने हुए हैं और अपने दिव्य प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके यह देखे कि मैं उन्हींमें विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं रहे।

१०—आँखें मूँदकर भीतर इस प्रकार देखे कि प्रकृतिरूपी कर्णिकासे युक्त, अष्ट ऐश्वर्यरूपी दलोंसे शोभित, विद्यारूपी केशर और ज्ञानरूपी नलिकासे समन्वित, बृहत् कन्दसे संलग्न और प्राणायामद्वारा खिला हुआ हृदयमें एक कमल है। उस कमलमें सर्वत्र तेजोमय, सर्वतोमुखी शिखाओंसे सुशोभित, जगत्‌के कारण ईश्वररूपी हव्यवाहन वैश्वानर महाग्नि देहको चरणोंसे लेकर मस्तकतक तप्त करते हुए निर्वात दीपकी तरह निश्चल ज्योतिरूपसे विराजित हैं, उनकी उन ज्योतिर्मय लपटोंमें नीलपद्मके अन्दर विद्युत्‌की लताकी भाँति दीप्तिमान पीतवर्ण, विश्वचराचरके कारणरूप वैश्वानररूपी अक्षर देवता परमात्मा स्थित हैं। वह परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार निश्चय करे और अपनेको उनमें विलीन कर दे।

११—आँखें मूँदकर अथवा अभ्यास हो जानेपर प्रत्यक्ष सूर्यमण्डलमें देखे कि दिव्य रथके अन्दर पद्मासनपर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमलसदृश मुखमण्डलवाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं, उनके केश, मूँछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापोंको नाश करनेवाला है, वे सब लोगोंको अभय देनेवाले हैं। उनके ललाटकी आभा पद्मके गर्भपत्रके समान लाल है। वे समस्त जगत्‌के प्रकाशक और सब लोगोंके अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं। ऐसे भगवान् आदित्यका दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह आदित्य मुझसे अभिन्न हैं। और इस निश्चयके साथ ही अपनेको उनमें चित्तवृत्तिके द्वारा विलीन कर दे।

१२—कर्णिका और केशरसे युक्त अष्टदल हृदयकमलमें चन्द्रमण्डलके मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्माको देखे और ऐसा निश्चय करे कि उस आत्मामें मैं ही हूँ और वह आत्मारूप मैं अमृतवर्षा करनेवाली चन्द्रकिरणोंसे घिरा हुआ हूँ, शिरमें स्थित अधोमुखी षोडशदल कमलसे गल-गलकर अमृतकी धाराएँ हजारों प्रकारसे मेरे चारों ओर बह रही हैं। वह अव्यय परमात्मा परब्रह्म मैं ही हूँ।

भेद-ध्यान

योगीश्वर शिवका ध्यान

१३—हिमालयके गौरीशङ्कर-शिखरपर एकान्तमें भगवान् शिव ध्यानस्थ पद्मासनसे विराजित हैं, उनके शरीरके ऊपरका भाग निश्चल सीधा और समुन्नत है। दोनों कन्धे बराबर हैं। वे दोनों हाथ अपनी गोदमें रखे हुए हैं, जान पड़ता है मानो कमल खिल गया है। जटाजूट चूड़ाके समान ऊँचा करके सर्पके द्वारा बाँधा हुआ है, दोनों कानोंमें रुद्राक्षमाला है, ओढ़ी हुई काली मृगछालाकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं। नासिकाग्रपर स्थित नीचेकी ओर झुके हुए स्थिर और निःस्पन्द उनके नेत्रोंसे उज्ज्वल ज्योति निकलकर इधर-उधर छिटक रही है। उन्होंने समाधि अवस्थामें देहके अन्दर रहनेवाले वायुसमूहको निरुद्ध कर रखा है, जिसे देखकर जान पड़ता है मानो वे जलपूर्ण और आडम्बररहित बरसनेवाले बादल हैं अथवा तरङ्गहीन प्रशान्त महासागर हैं, या निर्वातदेशमें स्थित निष्कल ज्योतिर्मय दीपक हैं। ऐसे समाधिस्थित योगीश्वर भगवान् शङ्करका ध्यान करे।

पञ्चमुख महेश्वरका ध्यान

१४-आँखें मूँदकर देखे कि सामने एक सुन्दर कमल है, उस कमलपर भगवान् महेश्वर विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति चाँदीके पहाड़के समान श्वेत

और सुन्दर है; मस्तकपर चन्द्रमा विराजमान है, रत्नोंके समान उज्ज्वल सब अङ्ग हैं, एक हाथमें कुठार है और शेष तीन हाथोंसे मृगमुद्रा, वरमुद्रा और अभयमुद्रा धारण किये हैं। प्रसन्न पाँच मुख हैं, और तीन नेत्र हैं। व्याघ्रका चर्म पहने हुए हैं चारों ओर देवता स्तुति कर रहे हैं। यही भगवान् महेश जगत्के आदि, बीजस्वरूप और सब भयोंका नाश करनेवाले हैं।

श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान

१५—जिनके प्रात:कालीन सूर्यकिरणके सदृश देह-कान्ति है, जिनके ललाटपर अर्धचन्द्रमुकुट सुशोभित है, जिनका विशाल वक्ष:स्थल है, जिनके तीन नेत्र हैं और जो मन्द-मन्द मुसकरा रही हैं, जिनके चारों हाथ वरमुद्रा, अंकुश, पाश और अभयमुद्रासे शोभित हो रहे हैं, उन श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीजगज्जननी उमाका ध्यान

१६—जिनकी देहकान्ति स्वर्णके समान सुन्दर है, जिनके बायें हाथमें नीलपद्म है और दाहिने हाथमें अत्यन्त श्वेतवर्ण चामर है उन उमा देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान

१७—आँखें मूँदकर देखे कि हृदयकमलपर या अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर स्थित एक सहस्रदल कमलपर भगवान् श्रीविष्णु सुशोभित हैं। आप सब अनुरूप अङ्गोंसे समन्वित हैं, अति शान्त, सुन्दर मुखारविन्द है, आपके विशाल और मनोहर चार लम्बी भुजाएँ हैं, ग्रीवा अत्यन्त रमणीय और सुन्दर है, परम सुन्दर कपोल हैं, मुखमण्डल मनोहर मन्द मुसकानसे सुशोभित है। लाल-लाल होंठ और मनोहर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं। मनोहर सुन्दर चिबुक है। नेत्र कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित हैं। मेघश्याम शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर शोभायमान है। लक्ष्मीजीके निवासस्थान वक्षस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, हृदयमें सुन्दर तुलसीयुक्त वनमाला, रत्नहार, वैजयन्तीमाला और कौस्तुभमणि विभूषित हैं। चरणोंमें रत्नजड़ित बजनेवाले नूपुर हैं और मस्तकपर किरीटमुकुट देदीप्यमान है। ललाटपर मनोहर तिलक है हाथोंमें रत्नोंके कड़े, कमरमें रत्नजटित करधनी, भुजाओंमें बाजूबन्द और हाथकी अंगुलियोंमें रत्नकी अंगूठियाँ सुशोभित हैं। आपके घुँघराले केश बड़े ही मनोहर हैं। चारों ओर प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका अपार सागर उमड़ रहा है।

शेषशायी विष्णुभगवान्‌का ध्यान

१८—आँखें मूँदकर देखे कि हृदयदेशमें मानो क्षीर समुद्र है, और उसमें भगवान् अनन्त शेषजीकी कोमल शय्यापर शान्तस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु लेटे हुए हैं। अत्यन्त सौम्य और प्रसन्न मुखमण्डल है। नील मेघके समान मनोहर नीलवर्ण है। सभी अङ्ग परम सुन्दर हैं और विविध आभूषणोंसे विभूषित हैं। श्रीअङ्गसे दिव्य गन्ध निकल रही है, नाभिमेंसे कमल निकला है, उस कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माजी विराजमान हैं। जगज्जननी लक्ष्मीजी बैठी हुई भगवान्‌की चरणसेवा कर रही हैं। ऐसे सम्पूर्ण लोकोंके स्वामीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ और भगवान् प्रसन्न होकर मेरे मस्तकपर अपना वरद हस्त रखते हैं। असंख्य सूर्योंसे बढ़कर आपका प्रकाश, असंख्य चन्द्रमाओंसे बढ़कर शीतलता, असंख्य कामदेवोंको मोहित करनेवाला आपका सौन्दर्य, असंख्य अग्नियोंसे बढ़कर आपका तेज, असंख्य इन्द्र और कुबेरोंसे बढ़कर आपका ऐश्वर्य, असंख्य समुद्रोंसे बढ़कर आपका गाम्भीर्य, असंख्य हरिश्चन्द्र और कर्णसे बढ़कर आपका औदार्य, असंख्य पृथ्वीमण्डलोंसे बढ़कर आपकी क्षमाशीलता, असंख्य जननियोंसे बढ़कर आपका वात्सल्य और असंख्य प्रियतमोंसे बढ़कर आपका माधुर्य है।

१९-श्रीसीतारामका ध्यान

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं ।
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि॥
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवम्।
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

श्रीरामकी देहकान्ति मेघके समान श्याम वर्ण है, वे बड़े ही कोमलाङ्ग हैं और वीरासनसे बैठे हुए हैं, उनके एक हाथमें ज्ञानमुद्रा है और दूसरा हाथ जानुपर

रखा हुआ है, उनके वाम-पार्श्वमें पद्महस्ता विद्युत्की भाँति तेजोमयी सीतादेवी विराजिता हैं और श्रीराम उनकी ओर देख रहे हैं। श्रीरामचन्द्रके मस्तकपर रत्नमुकुट है और बाजूबन्द आदि विविध रत्नमण्डित आभूषणोंसे शरीर प्रकाशित हो रहा है; ऐसे श्रीराघवका हम ध्यान करते हैं।

२०—श्रीरामके बालरूपका ध्यान

कामकोटि छबि स्याम सरीरा। नीलकंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख ज्योती। कमलदलन बैठे जनु मोती॥
रेख कुलिस धुज अंकुस सोहै। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहै॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जेहिं देखा॥
भुजबिसाल भूषन जुत भूरी। हिय हरिनख सोभा अति रूरी॥
उर मनिहार पदककी सोभा। बिप्रचरन देखत मन लोभा॥
कम्बुकंठ अति चिबुक सोहाए। आनन अमित मदन छबि छाए॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर सुतोतरि बोला॥
नीलकमल दोउ नयन बिसाला। बिकल भृकुटि लटकनि बर भाला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झिंगुलिया तनु पहिराए। जानु पानि बिचरत महि भाए॥

(श्रीरामचरितमानस)

२१—श्रीरामलक्ष्मणके किशोररूपका ध्यान

पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
केहरिकंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनिमाला॥
सुभग स्त्रवन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक तापत्रयमोचन॥
कानन कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहिं चोर जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भ्रकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥

रुचिर चौतनी सुभगसिर मेचक कुंचित केस।
नखसिख सुंदर बन्धु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

(श्रीरामचरितमानस)

२२—जनकपुरकी फुलवारीमें श्रीराम-लक्ष्मणका ध्यान

सोभासींव सुभग दोउ बीरा। नीलपीत जलजात सरीरा॥
काकपच्छ सिर सोहत नीके। गुच्छा बिच बिच कुसुमकलीके॥
भालतिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हासबिलास लेत मनु मोला॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जेहि बिलोकि बहुकाम लजाहीं॥
उर मनिमाल कम्बुकलग्रीवा। कामकलभकर भुजबल सीवा॥
सुमन समेत बामकर दोना। साँवर कुँवर सखी सुठि लोना॥

केहरिकटि पटपीतधर सुषमा सीलनिधान।
देखि भानुकुलभूषनहिं बिसरा सखिन अपान॥

(श्रीरामचरितमानस)

२३—धनुषयज्ञमें श्रीरामलक्ष्मणका ध्यान

राजत राजसमाज महँ कोसल राजकिसोर।
सुंदर स्यामल गौर तनु बिस्वबिलोचन चोर॥

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥
सरदचंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जीके॥
चितवनि चारु मारमदहरनी। भावत हृदय जाइ नहिं बरनी॥
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥
कुमुदबन्धु कर निंदक हासा। भ्रकुटी बिकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं॥
पीत चौतनी सिरन सुहाई। कुसुमकली बिचबीच बनाई॥
रेखा रुचिर कम्बु कल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुखमाकी सीवा॥

कुंजरमणि कंठा कलित उर तुलसीकी माल।
वृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल॥

कटि तूनीर पीतपट बाँधे। कर सरधनुष बामकर काँधे॥
पीत जग्य उपबीत सुहाए। नखसिख मंजु महाछबि छाए॥

(श्रीरामचरितमानस)

२४—श्रीरामका वरवेशमें ध्यान

स्यामसरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥
जावकजुत पदकमल सुहाए। मुनिमनमधुप रहत जहँ छाए॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरत बालरबि दामिनि जोती॥
कलकिंकिणि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सोहर॥
पीत जनेउ महाछबि देई। करमुद्रिका चोरि चित लेई॥
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत सब भूषन राजे॥
पीत उपरना काखा सोती। दुहुँ आचरनि लगे मनिमोती॥
नैनकमल कलकुंडल काना। बदन सकल सौंदर्यनिधाना॥
सुंदर भ्रकुटि मनोहर नासा। भालतिलक सुचि रुचिर निवासा॥
सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकतामनि गाँथे॥

२५—वनवेशमें श्रीरामलक्ष्मणका ध्यान

मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूप अनूप नैन मन लोभा॥
एकटक सब जोहहिं चहुँओरा। रामचंद मुखचंद चकोरा॥
तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत काम कोटि मन मोहा॥
दामिनिबरन लषन सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जीके॥
मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहत करकमलनि धनुतीरा॥

जटामुकुट सीसनि सुभग उर भुज नैन बिसाल।
सरद परब बिधुबदन बर लसत स्वेदकनजाल॥

(श्रीरामचरितमानस)

२६—वनवेशमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणका ध्यान

सजनी! हैं कोउ राजकुमार।
पंथ चलत मृदु पद-कमलनि दोउ सील-रूप-आगार॥ १॥
आगे राजिवनैन स्याम-तनु, सोभा अमित अपार।
डारौं वारि अंग-अंगनिपर, कोटि कोटि सत मार॥ २॥
पाछे गौर किसोर मनोहर, लोचन-बदन उदार।
कटि तूनीर कसे, कर सर-धनु, चले हरन छिति-भार॥ ३॥
जुगुल बीच सुकुमारि नारि इक, राजति बिनहिं सिंगार।
इन्द्रनील, हाटक, मुकुतामनि, जनु पहिरे महि हार॥ ४॥
अवलोकहु भरि नैन, बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार।
पुनि कहँ यह सोभा, कहँ-लोचन, देह-गेह-संसार?॥ ५॥
सुनि प्रिय-बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपा-सुखसार।
तुलसिदास प्रभु हरे सबन्हिके मन, तन रहि न सँभार॥ ६॥

(गीतावली)

२७—सुबेल पर्वतपर श्रीरामका ध्यान

सैलसृंग इक सुन्दर देखी। अति उतंग सम सुभ्र बिसेखी॥
तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥
तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥
प्रभुकृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहु करकमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरनकमल चाँपत बिधि नाना॥
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर धरे सरासन॥

(श्रीरामचरितमानस)

२८—रणविजयी श्रीरामका ध्यान

राजत राम काम-सत-सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित,
फेरत चाप-बिसिष बनरुह-कर॥ १॥
स्याम सरीर रुचिर श्रमसीकर,
सोनित-कन बिच बीच मनोहर।
जनु खद्योत-निकर, हरिहित-गन,
भ्राजत मरकत-सैल-सिखरपर॥ २॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि,
हरषित सकल रिच्छ अरु बनचर।
कुसुमित किंसुक-तरु-समूह महँ,
तरुन तमाल बिसाल बिटपबर॥ ३॥
राजिव-नयन बिलोकि कृपा करि,
किए अभय मुनि-नाग, बिबुध-नर।
'तुलसिदास' यह रूप अनूपम
हिय सरोज बसि दुसह बिपतिहर॥ ४॥

(गीतावली)

२९—सिंहासनारूढ श्रीरामका ध्यान

नवदूर्वादलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम्।
रविकोटिप्रभायुक्तं किरीटेन विराजितम्॥
कोटिकन्दर्पलावण्यं पीताम्बरसमावृतम्।
दिव्याभरणसम्पन्नं दिव्यचन्दनलेपनम्॥
अयुतादित्यसंकाशं द्विभुजं रघुनन्दनम्।
वामभागे समासीनां सीतां काञ्चनसन्निभाम्॥
सर्वाभरणसम्पन्नां वामाङ्के समुपस्थिताम्॥
रक्तोत्पलकराम्भोजां वामेनालिङ्ग्य संस्थितम्।
सर्वातिशयशोभाढ्यं दृष्ट्वा भक्तिसमन्वितः॥

(अ० रामायण)

पार्वतीसहित श्रीशिवजीने देखा कि 'नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण, कमलदलके समान विशाल नेत्र, करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त मुकुटसे सुशोभित, करोड़ों कामदेवोंके समान लावण्ययुक्त, पीताम्बरसे समावृत, दिव्याभूषणोंसे समन्वित, दिव्य चन्दनचर्चित, हजारों सूर्योंके समान तेजसम्पन्न, सबसे अधिक शोभायमान द्विभुज भगवान् श्रीरघुनाथजी अपनी बायीं ओर करकमलमें रक्तकमल धारण किये विराजिता सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषिता सुवर्णवर्णा श्रीसीताजीके गलेमें अपनी बायीं भुजा रखे हुए सुशोभित हो रहे हैं।'

३०—सिंहासनासीन श्रीरामका ध्यान

आजु रघुबीर-छबि जात नहिं कछु कही।
सुभग सिंहासनासीन सीतारवन,
भुवन अभिराम बहु काम सोभा सही॥ १॥
चारु चामर-ब्यजन, छत्र-मनिगन बिपुल,
दाम मुकुतावली-जोति जगमगि रही।
मनहु राकेस सँग हंस-उडुगन-बरहि,
मिलन आए हृदय जानि निज नाथ ही॥ २॥
मुकुट सुंदर सिरसि, भालबर तिलक-भ्रू,
कुटिल कच कुंडलनि परम आभा लही।
मनहु हरडर जुगल मारध्वजके मकर,
लागि स्रवननि करत मेरुकी बतकही॥ ३॥

अरुन-राजीव-दल-नयन करुना-अयन,
बदन सुषमा-सदन हास त्रय तापही।
बिबिध कंकन, हार , उरसि गजमनि-माल,
मनहु बग-पाँति जुग मिलि चली जलदही॥४॥
पीत निरमल चैल, मनहु मरकत सैल,
पृथुल दामिन रही छाइ तजि सहजई।
ललित सायक-चाप, पीन भुजबल अतुल,
मनुजतनु दनुजबन दहन, मंडन मही॥५॥
जासु गुन-रूप नहि कलित, निरगुन सगुन,
सम्भु, सनकादि, सुक भगति दृढ़ करि गही।
'दास तुलसी' राम-चरन-पंकज सदा,
बचन मन करम चहै प्रीति नित निरबही॥६॥

(गीतावली)

३१—श्रीकृष्णके शिशुरूपका ध्यान

किलकत कान्ह घुटुरुअनि आवत।
मनिमय कनक नंदके आँगन मुख प्रतिबिम्ब पकरिबेहि धावत॥
कबहूँ निरखि आप छाहींको सरसों पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतुली पुनि पुनि तेहि अवगाहत॥
कनकभूमिपर कर-पग-छाया यह उपमा इक राजत।
कर कर प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजत॥
बालदसा सुभ निरखि जसोदा पुन पुनि नंद बुलावत।
अँचरातर लै ढाँकि सूरके प्रभुको दूध पियावत॥

(श्रीसूरदासजी)

३२—श्रीकृष्णके बालरूपका ध्यान

(१)

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत-खात फिरैं अँगना, पग पैंजनियाँ, कटि पीरि कछोटी॥
वा छबिको 'रसखानि' बिलोकत, वारत काम-कलानिधि कोटी।
कागको भाग कहा कहिये, हरि-हाथसों लै गयो माखन रोटी॥

(२)

पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनकी धुनिकी मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मन्द हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्री-व्रज-दूलह 'देव' सहाई॥

३३—बालगोपाल श्रीकृष्णका ध्यान

अव्याद्व्याकोषनीलाम्बुजरुचिररुणा-
म्भोजनेत्रेऽम्बुजस्थो ।
बालो जङ्घाकटोरःस्थलकलितरणत्-
किङ्किणीको मुकुन्दः।
दोर्भ्यां हैयङ्गवीनं विदधति विमलं
पायसं विश्ववन्द्यो।
गोगोपीगोपवीतो रुरुनखविलसत्-
कण्ठभूषश्चिरं वः॥

विकसित नीलकमलके समान देहकान्ति है, रक्तकमलके समान नवयुगल हैं, पद्मपर विराजित हैं, चरणोंमें नूपुर और कटिमें किंकिणी बज रही है। जिसके एक हाथमें मक्खन और दूसरेमें खीर है। जिसके कण्ठमें बाघके नख शोभित हैं ऐसा जगद्वन्द्य बालकरूपी गोपाल जो गौ, गोपी और गोपोंसे घिरा है, भक्तोंकी रक्षा करे।

३४—वन-भोजनमें श्रीकृष्णका ध्यान

भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथी बालकोंको हँसाते-हँसाते उनके साथ वनमें भोजन कर रहे हैं—

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।११)

कमरमें बँधे हुए वस्त्रमें बाँसुरीको खोंसे, बायीं बगलमें सींग और दाहिनी बगलमें बेंत दबाये, बायें हाथमें माखन-भातका ग्रास लिये और अंगुलियोंकी सन्धियोंमें खेलनेकी गोलियाँ दबाये श्यामसुन्दर अपने सखा बालकोंके बीच कर्णिकाकी भाँति स्थित हुए उनसे मजाक करके स्वयं हँसते और उन्हें हँसाते हुए भोग लगा रहे हैं। इस लीलाको स्वर्गके देवता बड़े ही आश्चर्यके साथ देख रहे हैं।

३५—विश्व-विमोहन श्रीकृष्णका ध्यान

अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारीक्षणम्।
आलोलाङ्गुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्गललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम्॥

जो कन्धेतक लटकते हुए मनोहर कुण्डल धारण किये हैं, जिनकी भ्रूलता धनुषकी भाँति खिंची हुई है, जिनके अधरपल्लव अति कोमल, सुन्दर और किञ्चित् कुञ्चित हैं, जिनके नेत्र बाँके और विशाल हैं और जो कल्पतरु (या कदम्ब)-के नीचे मनहरण त्रिभंगरूपसे खड़े आनन्दके साथ चञ्चल कोमल अंगुलियोंको वंशीके छिद्रोंपर फिराते हुए उसे बजा रहे हैं ऐसे जगन्मोहन मनमोहन श्यामसुन्दरका ध्यान करना चाहिये।

३६—नटनागर श्रीगोपाललालका ध्यान

सुमिरौ नटनागर बर सुंदर गोपाललाल।
सब दुख मिट जैहैं वे चिंतत लोचन बिसाल॥ १॥
अलकनकी झलकन लख पलकन गति भूल जात।
भ्रूबिलास मंद हास रदनछदन अति रसाल॥
निंदत रबि कुंडल छबि गंड मुकुर झलमलात।
पिच्छ गुच्छ कृतवतंस इंदु बिमल बिंदु भाल॥ २॥
अंग अंग जित अनंग माधुरी तरंग रंग।
बिमदमद गयंद होत देखत लटकीली चाल॥
हसन लसन पीत बसन चारु हार बर सिंगार।
तुलसिरचित कुसुमखचित पीन उर नवीन माल॥ ३॥
ब्रजनरेस बंसदीप बृंदाबन बरमहीप।
बृषभान मानपात्र सहज दीनजन दयाल॥
रसिकभूप रूपरास गुननिधान जानराय।
गदाधर प्रभु जुवतीजन मुनिजनमानसमराल॥ ४॥

३७—श्रीकृष्णके किशोररूपका ध्यान

गुच्छनिके अवतंस लसैं सिखि पच्छनि अच्छ किरीट बनायो।
पल्लव लाल समेत छरी करपल्लवमें 'मतिराम' सुहायो॥
गुंजनिके उर मंजुलहार निकुंजनिते कढ़ि बाहर आयो।
आजको रूप लखे ब्रजराजको आज ही आँखिनको फल पायो॥

३८—श्रीवेणुधर श्रीकृष्णका ध्यान

करि मन नंदनंदन ध्यान।
सेइ चरन-सरोज सीतल तजि बिषयरस पान॥
जानु जंघ त्रिभंग सुन्दर कलित कंचन दंड।
काछनी कटि पीतपट द्युति कमल केसर खंड॥
मनु मराल प्रबाल छौना किंकिनी कलराव।
नाभिह्रद रोमावली अलि चले ऐन सुभाव॥
मनिकंठ मुक्तामाल मलयज अंग उर बनमाल।
सुरसरी ससि नीर मानहु लता स्याम तमाल॥
बाहु पानि सरोज पल्लव गहे मुख मृदु बेनु।
अति बिराजत बदन बिधुपर सुरभि मंडित रेनु॥
अरुन अधर कपोल नासा परम सुन्दर नयन।
चलत कुंडल गंडमंडल मनहुँ निर्त्तत मयन॥
कुटिल कच भ्रुव तिलक रेखा सीस सिखी सिखंड।
मनो मदन द्वै सर सँधाने देखि धनको अंड॥
'सूर' श्रीगोपालकी छबि दृष्टि भरि भरि लेत।
प्रानपतिकी निरखि सोभा पलक परत न देत॥
(सूरदासजी)

३९—गोविन्द श्रीकृष्णका ध्यान

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंघावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥

प्रफुल्ल इन्दीवरके समान जिनकी देहकी कान्ति है, चन्द्रमाके समान जिनका शोभामय मुखमण्डल है, जो मस्तकपर मयूरपुच्छका मुकुट धारण किये हैं। जिनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, गलेमें कौस्तुभमणि है, जो पीतपट पहने हैं, जिनकी दिव्यतनु गोपियोंके नयनोत्पलद्वारा चर्चित है, जो गौ और गोपोंके समूहसे घिरे हैं और हाथमें वंशी लेकर उसे बजा रहे हैं, जिनका समस्त दिव्य शरीर दिव्य अलङ्कारोंसे विभूषित है। हम ऐसे श्रीकृष्णको भजते हैं।

४०—श्रीकृष्णके नटवेशका ध्यान

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २३। २२)

श्रीयमुनाके तीरपर अशोक वृक्षोंके नये-नये पत्तोंसे सुशोभित कालिन्दीकुञ्जमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ विराज रहे हैं। उनका नवीन मेघके समान श्याम वर्ण है, श्याम शरीरपर सुवर्णवर्ण पीतपट ऐसा जान पड़ता है मानो श्याम घनघटामें इन्द्रका धनुषमण्डल शोभित हो। गलेमें मनोहर वनमाला है। मयूरके पंख, धातुओंके अद्भुत-अद्भुत रंग और नये-नये चित्र-विचित्र पल्लवोंसे शरीरको सजाये हुए भगवान्का नटवररूप देखने ही योग्य है। आप अपने एक सखाके कन्धेपर दाहिना हाथ रखे, बायें हाथसे कमलका फूल घुमा रहे हैं। कानोंमें कमलके फूल हैं, और कपोलोंपर काली-काली अलकें शोभा पा रही हैं। प्रफुल्ल मुखकमलमें हँसीकी शोभा अवर्णनीय है।

४१—मुरलीमनोहर श्रीकृष्णका ध्यान

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥
(श्रीमद्भागवत १०। २१। ५)

भगवान् श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनते ही गोपबालाएँ ध्यानस्थ हो गयीं, उन्होंने देखा—मोरकी पाँखोंका मुकुट पहने, कानोंमें कनैरके फूल धारण किये, स्वर्णके समान सुन्दर पीतपट और बैजयन्ती मालासे सुशोभित गोपगणोंके द्वारा गायी हुई अपनी कीर्तिको सुनते हुए उनके साथ श्यामसुन्दर नटवरवेशमें अपने चरणोंकी विहारभूमि वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं, आप बाँसुरीमें अपने अधरकी सुधा भरते हुए उसके छिद्रोंपर अंगुली धरकर विविध स्वर निकाल रहे हैं।

४२—व्रजनवयुवराज श्रीकृष्णका ध्यान

मुदिरमदमुदारं मर्दयन्नङ्गकान्त्या
वसनरुचिनिरस्ताम्भोजकिञ्जल्कशोभः ।
तरुणिमतरणीक्षाविक्लवद्बाल्यचन्द्रो
व्रजनवयुवराजः काङ्क्षितं मे कृपीष्ट॥

(स्तवपुष्पाञ्जलि)

जो अपनी अङ्गशोभाके द्वारा नवीन मेघका मदगर्व खर्व कर रहे हैं, जो अपने वस्त्रकी कान्तिद्वारा किञ्जल्कशोभाका तिरस्कार कर रहे हैं और जिनके नवयौवनरूपी सूर्यके दर्शनसे बाल्यावस्थारूपी चन्द्रमा क्षीणकान्ति हो रहा है वे व्रजनवयुवराज श्रीकृष्ण हमारी आकाङ्क्षा पूर्ण करें।

४३—वृन्दावनविहारी श्रीराधाकृष्णका ध्यान

अङ्गश्यामलिमच्छटाभिरभितो मन्दीकृतेन्दीवरं
जाड्यं जागुडरोचिषां विदधतं पट्टाम्बरस्य श्रिया।
वृन्दारण्यविलासिनं हृदि लसद्दामाभिरामोदरं
राधास्कन्धनिवेशितोज्ज्वलभुजं ध्यायेम दामोदरम्॥

(स्तवपुष्पाञ्जलि)

जिनके श्रीअङ्गकी श्यामकान्तिके द्वारा इन्दीवरकी कान्ति क्षीण हो गयी है, जिनके पीटपटकी शोभासे कुंकुमकी कान्ति तिरस्कृत हो गयी है, जिनके हृदयपर विराजमान वैजयन्ती मालासे शरीरका मध्यभाग सुशोभित हो रहा है, जो श्रीराधिकाजीके कन्धेपर अपना बायाँ हाथ रखे हुए हैं, मैं उन वृन्दावनविहारी श्रीदामोदरका ध्यान करता हूँ।

४४—गीतावक्ता श्रीकृष्णका ध्यान

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

(गीताध्यान)

जो शरणागतके लिये कल्पवृक्षरूप हैं, जिनके एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम और चाबुक है, दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है, ऐसे गीतामृतको दूहनेवाले श्रीकृष्णको प्रणाम है।

४५—भक्तवत्सल वीरशिरोमणि श्रीकृष्णका ध्यान

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्व-
क्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान्गतिर्मुकुन्दः॥

(श्रीमद्भागवत १।९।३३, ३४, ३७, ३८)

जो तीनों लोकोंमें अनुपम सौन्दर्ययुक्त, तमालके वृक्षके समान श्यामवर्ण, सूर्यकी किरणोंके समान चमकते हुए जरीके पीताम्बरको धारण किये हैं, घुँघराली अलकावलियोंसे जिनका मुखकमल सुशोभित हो रहा है, ऐसे दिव्य विग्रह अर्जुनके सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम प्रीति हो। युद्धक्षेत्रमें घोड़ोंकी रज पड़नेसे जिनका वर्ण धूसर हो गया है, जिनके सुन्दर घुँघराले बाल इधर-उधर विखर रहे हैं, जिनका मुखमण्डल श्रमजनित पसीनेकी बूँदोंसे अलङ्कृत हैं, मेरे तीखे बाणोंसे कवच कट जानेपर जिनकी त्वचा बिंध गयी है ऐसे श्रीकृष्णमें मेरा मन रम जाय। महाभारतमें 'मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा' अपनी इस प्रतिज्ञाको त्यागकर 'मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा।' मेरी इस प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये रथसे कूदकर हाथमें रथका चक्र लेकर, जैसे हाथीको मारनेके लिये सिंह दौड़ता है, वैसे ही मुझे मारनेके लिये इस प्रकारके

वेगसे दौड़े कि कन्धेसे दुपट्टा गिर गया और पग-पगपर पृथ्वी डगमगाने लगी, मुझ आततायीके पैने बाणोंके प्रहारसे जिन श्यामसुन्दरका कवच टूट गया है, और शरीर रुधिरसे लाल हो गया है, अर्जुनके रोकनेपर भी मुझको मारनेके लिये बड़े वेगसे दौड़नेवाले वे भक्तवत्सल भगवान् मेरी गति हों।

ये ध्यानके कुछ ही प्रकार लिखे गये हैं। भगवान्‌के अनन्त रूप हैं, अतएव अनन्त प्रकारसे ही ध्यान किया जा सकता है। इन सब ध्यानोंमें मन्त्रजप भी आवश्यक है; इन सभीके सबीज और बीजरहित मन्त्र हैं। मन्त्रके सम्बन्धमें लेखविस्तार होनेके कारण यहाँ कुछ नहीं लिखा जाता। अपने-अपने पथप्रदर्शकसे पूछना चाहिये। मन्त्रका पता सहजमें न लगे तो इष्टके नामके साथ **'नमः'** जोड़कर जप किया जा सकता है, जैसे **'ब्रह्मणे नमः', 'परमात्मने नमः', 'विष्णवे नमः', 'नमः शिवाय', 'रामाय नमः', 'कृष्णाय नमः'** आदि।

साधकोंको एक बात जरूर खयालमें रखनी चाहिये कि जिस स्वरूपका ध्यान किया जाय, मन्त्र भी अवश्य उसीका होना चाहिये। परन्तु कहीं-कहीं इसका व्यतिक्रम भी देखा जाता है। एक साधक पहले चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करता था, फिर कुछ समयतक उसने अभेद भावसे परमात्माका ध्यान करना आरम्भ किया, इस ध्यानमें भी उसे अच्छी सफलता हुई, बरसों यह ध्यान चला। अन्तमें एक दिन वह नियमितरूपसे ध्यान करनेको बैठा कि अकस्मात् वही पहलेवाली श्रीविष्णुभगवान्‌की मूर्ति उसके सामने आ गयी। मूर्ति मानो हँस रही थी। वह कुछ देरतक तो आनन्दमें रहा, फिर उसने श्रीविष्णुकी मूर्तिसे चित्तको हटाकर अभेद भावसे निर्गुण परमात्माके ध्यानकी चेष्टा की। परन्तु उसकी चेष्टा व्यर्थ हुई। दूसरे दिन, तीसरे दिन, चौथे दिन, यों लगातार उसने कई दिनोंतक प्रयत्न किया; परन्तु अचिन्त्य अनिर्वचनीय ब्रह्मका ध्यान, जो बरसोंसे सफलतापूर्वक हो रहा था, नहीं हुआ, और श्रीविष्णुभगवान्‌का होता रहा। मानो भगवान्‌ने यह बतलाया कि सगुण, निर्गुण सब मैं ही हूँ। इसके बाद कई वर्षोंके बाद एक दिन अकस्मात् विष्णुभगवान्‌की जगह नन्दनन्दन आ गये। किसी तरह भी हटाये नहीं हटे! अनेकों बार चेष्टा की, परन्तु वह तो मानो अड़ ही गये। ऐसी ही और भी बहुत-सी बातें हुईं जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। मन्त्रजप वह साधक सभी ध्यानोंमें *'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'* इस षोडश नामके मन्त्रका करता था। कहा जाता है कि श्रीरामकृष्ण परमहंसको भगवान्‌ने विविध रूपोंमें प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। अतएव यदि दूसरी मूर्ति अपने-आप ध्यानमें आती हो तो घबराना नहीं चाहिये। उसे मङ्गलमय भगवान्‌की कल्याणमयी इच्छा समझकर प्रसन्न होना चाहिये। हाँ, जान-बूझकर आज एक मन्त्रका जाप, कल दूसरेका; इसी प्रकार आज एक स्वरूपका ध्यान और कल दूसरे स्वरूपका अथवा श्रीरामस्वरूपके साथ श्रीकृष्ण-मन्त्रका और कृष्णस्वरूपके साथ राम-मन्त्रका जाप नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार निर्गुण, सगुण, साकार, निराकार तथा शिव, विष्णु, शक्ति आदि भगवत्स्वरूपोंके ध्यानमें भी पंचमेला नहीं करना चाहिये। जहाँतक हो अपनी ओरसे एक ही इष्टका अनन्यभावसे मन्त्रजपसहित ध्यान करना चाहिये। दूसरे समस्त रूपोंका उसीमें पर्यवसान कर लेना चाहिये। अवश्य ही भिन्नता और न्यूनाधिकताकी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। अपने इष्टके स्वरूपकी अपेक्षा अन्य स्वरूपोंको किसी अंशमें न्यून बतलानेवाले या तो विनोदसे—या किसी रूपमें भी अपने इष्टका गुण गानेकी इच्छासे अथवा रामके नामसे या कृष्णके नामसे चिढ़नेके बहाने लोगोंसे भगवान्‌का नाम उच्चारण करानेकी शुभभावनासे—ऐसा करते हैं या वे अज्ञानपूर्वक दुराग्रह करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीकृष्णके मुक्तकण्ठसे गुण गाये, परन्तु श्यामसुन्दरकी मूर्तिके सामने जाकर विनोद करने लगे—बोले 'भगवन्! आज तो आपने खूब नटवरवेश काछा। यह आपकी त्रिभङ्ग मुरलीधारी बाँकी छबि बड़ी सुन्दर बनी। मैं आपको पहचान तो गया, आप हैं वही मेरे राम—परन्तु मैं हठीला तो तभी आपके चरणोंमें माथा टेकूँगा जब आप मुरली और मोरमुकुटको छिपाकर धनुषधारी बनेंगे।'

कहा कहौं छबि आपकी, भले बने हो नाथ।
'तुलसी' मस्तक जब नवै, धनुष-बान लो हाथ॥

भगवान्‌ने भी भक्तके विनोदका उत्तर विनोदमें दिया, वे 'मुरली मुकुट दुरायकै' रघुनाथ बन गये।

श्रीकृष्णप्रेमरसके मतवाले व्रज-भक्त तो श्रीकृष्णको

वृन्दावनसे बाहर जाने ही नहीं देते, उन्होंने तो उन्हें बाँध ही लिया—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

कोई तो ऐसे आगे बढ़े कि उन्होंने श्यामसुन्दरको समेटकर नेत्रोंकी काली कोठरीमें बन्द कर लिया और कहने लगे कि अब किसकी मजाल जो तुमको कोई देख भी ले। दूसरेकी नेक भी परवा न करनेवाले उस व्रजके काले ठाकुरकी मोहिनीपर मचले हुए उन मतवालोंकी दो एक वाणियाँ तो सुनिये—

(१)

मुक्ति कहत गोपालसों, मेरी मुक्ति कराय।
ब्रजरज उड़ि मस्तक चढ़ै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥
धनि गोपी औ ग्वाल धनि, धनि जसुदा धनि नंद।
जिनके आगे फिरत है, धायो परमानंद॥
ब्रजलोचन, ब्रजरमन, मनोहर, ब्रजजीवन, ब्रजनाथ।
ब्रजउत्सव, ब्रजबल्लभ सबके ब्रजकिसोर सुभगाथ॥
ब्रजमोहन, ब्रजभूषन, सोहन, ब्रजनायक, ब्रजचन्द।
ब्रजनागर, ब्रजछैल, छबीले, ब्रजवर, श्रीनँदनंद॥
ब्रजआनँद, ब्रजदूलह, नितही अतिसुन्दर ब्रजलाल।
ब्रजगौवनके पाछे आछे सोहत ब्रज-गोपाल॥
ब्रजसम्बन्धी नाम लेत ये ब्रजकी लीला गावै।
नागरिदासहि मुरलीवारो ब्रजको ठाकुर भावै॥

(२)

हमारो मुरलीवारो स्याम।
बिन बंसी, बनमाल, चन्द्रिका आन न जानों नाम॥ १॥
गोपरूप बृन्दाबनचारी, पूरन जन-मन-काम।
नन्दगाँव, बरसाना, गोकुल, कुंजगली, गिरि-धाम॥ २॥
याही सों हित चित्त बढ़ौ नित, दिन दिन पल छिन जाम।
'नागरिदास' द्वारिका मथुरा रजधानीसों न काम॥ ३॥

(३)

चाहे तू जोग कर भृकुटि मध्य ध्यान धर,
चाहे नामरूप मिथ्या जानिकै निहारि ले।
निरगुन निरंजन निराकार ज्योति ब्याप रही,
ऐसो तत्वग्यान निज मनमें तू धारि ले॥
'नारायन' अपनेको आप ही बखान कर,
मोते वह भिन्न नहीं या बिधि पुकारि ले।
जौलों तोहि नन्दको कुमार नाहिं दृष्टि पर्‌यो,
तौलों तू बैठि भले ब्रह्मको बिचारि ले॥

अस्तु,

कितना मज़ा है इस विनोदमें! सगुण साकार भगवान्‌का ध्यान करनेवाले साधकोंको अपने इष्टकी मूर्ति या चित्र सामने रखकर अथवा वर्णनको भलीभाँति स्मरण करके आँखें मूँदकर एक-एक अङ्गका ध्यान करना चाहिये। सब अङ्गोंका ध्यान न जमे तो मुखमण्डल या चरणकमलोंका ध्यान ही करना चाहिये। अभ्यास दृढ़ताके साथ होगा तो ध्यान अवश्य ही हो सकता है। विश्वास, श्रद्धा, निश्चय और भगवान्‌की कृपाका आश्रय आदिका अवलम्बन लेकर अभ्यास किया जाय तो अपने इष्टकी सर्वाङ्गपूर्ण मूर्तिका ध्यान शीघ्र ही हो सकता है। लगन होनी चाहिये। अधिक प्रयत्न करनेपर तो आगे चलकर इष्टकी कृपासे खुली आँखों ध्यान होने लगता है, और वह चाहे जब चाहे जहाँ हो सकता है। लेखक एक साधकको जानता है जिसको छः महीने लगातार दिनमें तीन समय नियतरूपसे आँखें मूँदकर श्रीविष्णुभगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करनेपर खुली आँखों ध्यान होने लगा था, वह जब स्मरण करता तभी भगवान् श्रीविष्णु उसे अपने सामने मुस्कराते हुए खड़े दिखायी देते। यह ध्यान उसको ऊपर-नीचे, सब दिशाओंमें, सब समय हो सकता था। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उसको कोई अलौकिक शक्ति प्राप्त हो गयी थी; चित्तकी वृत्तियोंको किसी एक वस्तुके आकारका बना देनेका अभ्यास सिद्ध होनेपर जब उसके चित्तमें उस वस्तुका स्मरण होता है, तभी वह चित्त उसी रूपमें परिणत होकर उसके ध्यानमें आ जाता है। परन्तु यह है बहुत ही अच्छा साधन। इसीसे समाधि होती है और समाधिकी सिद्धि होनेपर भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है।

सगुण साकारका ध्यान करनेवाले पुरुषको एक बात और ध्यानमें रखनी चाहिये कि उसके इष्ट भगवान् ही सर्वशक्तिमान् सर्वोपरि हैं, वही निर्गुण, सगुण, साकार, निराकार सब कुछ हैं, अन्य सब रूप केवल उन्हींके हैं, उनसे बढ़कर और उनसे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यदि साधकने भूलसे अपने इष्टकी अपेक्षा किसी दूसरेको ऊँचा मान लिया तो उसको ऊँचा फल नहीं मिलेगा। दूसरे एक सत्य तत्त्व यह भी है कि परमात्माका सगुण साकाररूप उस मायासे निर्मित नहीं है जो जगत्‌का प्रसव करती है और जीवोंको मोहसे आच्छादित करती है। उनका प्रत्येक

अङ्ग और प्रत्येक आयुध, आभूषण सभी कुछ दिव्य, नित्य, शुद्ध, चिन्मय और भगवत्स्वरूप है। इसीसे उस दिव्य आनन्द-रसमय निखिलसौन्दर्यमाधुर्यनिधि भगवान्के सामने आते ही निर्ग्रन्थ मुनिगण भी मोहित हो जाते हैं। भगवान्के स्वरूपको मायिक मानना तो उसका प्रत्यक्ष तिरस्कार करना है। जो उसे मायिक मानता है उसे मायिक ही मिलता भी है।*

इष्टमें सर्वोपरि परमात्मबुद्धि और ध्यानके समय दीखनेवाली भगवान्की मूर्तिमें दिव्य और सत्य साक्षात्कारबुद्धि रखनेसे शीघ्र सफलता मिलती है। चित्त ज्यों-ज्यों ध्येयाकार होता है, त्यों-त्यों ध्यानकी प्रगाढ़ता होती है। और त्यों-ही-त्यों कार्य करते समय भी इष्टकी मूर्ति सामने दीखा करती है। श्रीगोपियोंकी तो यह योगधारणा इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्हें हर समय हर जगह श्रीकृष्ण ही दीखते थे। इसी अङ्कमें अन्यत्र प्रकाशित गोपियोंकी योगधारणाका एक चित्र देखिये। एक गोपी सुबह उठकर घरमें झाड़ू दे रही थी कि उसे अपने सामने श्रीकृष्ण दिखायी दिये। वह झाड़ू देना भूल गयी। उसके नेत्र मानो उसी क्षण भगवान्के मुखकमल-मकरन्दका पान करनेके लिये भ्रमर बनकर उसमें गड़ गये। एक दूसरी दही मथ रही थी, देखती है प्राणधन श्यामसुन्दर सामने खड़े हैं। मन्थन बन्द हो गया। वह उस अनूप रूपराशिपर मुग्ध हुई स्तम्भित-सी रह गयी। एक गोपी अपने बच्चेको पालनेमें झुला रही थी, लोरी दे रही थी, इतनेमें ही प्रियतम श्रीकृष्ण दिखायी दिये। माँ अपने बच्चेको भूल गयी और अतृप्त नेत्रोंसे भगवान्का रूपरस पान करने लगी। चौथी एक गोपी बैठी थी भोजन करने। मदनमोहन बालकृष्ण हँसते हुए उसकी थालीके समीप आ बैठे, वह अपना खाना भूल गयी और आनन्दमें भरकर श्रीकृष्णको ही भोजन कराने लगी। कैसी अनुपम आनन्दमयी स्थिति है।

श्रीसीताजी अशोकवाटिकामें सदा अपने सामने श्रीरामकी मनोहर मूर्तिको देखती थीं। नन्दीग्राममें श्रीश्रीरामपदपद्ममकरन्दके भ्रमर बड़भागी भरतजी नित्य श्रीचरणपादुकाके ऊपर श्रीसीतारामजीकी मनोहर झाँकी देखा करते थे। पतिव्रताशिरोमणि शङ्करप्रिया भगवती सतीने योगाग्निसे शरीर जलाते समय ध्याननेत्रोंसे अपने चारों ओर भगवान् शिवके दर्शन किये थे।

ध्यानकी अमित महिमा है। पतञ्जलि महर्षिने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच महान् क्लेश बताये हैं। संयमादि क्रियायोगसे ये क्षीण होते हैं, इनका दमन होता है, परन्तु समूल नाश नहीं होता। बीजरूपसे यह छिपे रह जाते हैं और अनुकूल अवसर और सङ्ग पाकर पुनः अङ्कुरित और फुल्लित-फलित हो जाते हैं। परन्तु ध्यानयोग तो क्रमशः पूर्ण समाधिमें परिणत होकर उनके बीजतकको नष्ट कर देता है। ध्यानका आनन्द कोई लिखकर नहीं बता सकता। इसके महत्त्व और आनन्दका पता तो साधना करनेपर ही लगता है।

इस लेखमें ध्यानके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, उसमें लेखकका स्वानुभव बहुत थोड़ा और संकलन ही अधिक है। सुधी पाठक भूल-चूकके लिये क्षमा करेंगे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

---
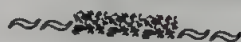
* श्रीभगवान्के सगुण साकार स्वरूपकी दिव्यताका विशेष विवरण गीताप्रेससे प्रकाशित 'प्रेमदर्शन' नामक (देवर्षि श्रीनारदरचित भक्तिसूत्रकी टीका) पुस्तकमें देखना चाहिये।

चौरासी सिद्ध तथा नाथसम्प्रदाय

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

अन्यत्र प्रकाशित 'बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग' नामक लेखमें यह दिखलाया गया है कि ईसाकी पहली शताब्दीमें सम्राट् कनिष्ककी चतुर्थ संगीतिके पश्चात् नागार्जुनके माध्यमिक बौद्धदर्शनके साथ महायान-सम्प्रदायका उदय हुआ। विद्वानोंका कहना है कि अश्वघोष और उनके शिष्य नागार्जुन ही महायानके मूल प्रवर्तक हैं। नागार्जुन दक्षिण भारतके निवासी थे और उनका स्थान अब भी मद्रासप्रान्तके गण्टूर जिलेमें नागार्जुनी-कोंडा बतलाया जाता है। उस समय दक्षिण भारतमें आन्ध्र (शातवाहन अथवा शालिवाहन) राजाओंका प्रतापसूर्य प्रखरतासे चमक रहा था। इन आन्ध्र राजाओंने ईसाके पूर्वकी प्रथम शताब्दीसे लेकर लगभग ४०० वर्षोंतक राज्य किया। समस्त मध्यभारत इनके अधीन था। इनकी प्राचीन राजधानी महाराष्ट्रदेशमें प्रतिष्ठानपुर (पैठण) थी। पर कालान्तरमें राज्यविस्तारके साथ नयी राजधानी धान्यकटकमें[१] स्थापित की गयी। और यही धान्यकटक नागार्जुनका स्थान था। आन्ध्र नरेश बौद्धमतावलम्बी थे, अतः नागार्जुनको इन्हींकी छत्रच्छायामें अपना नवीन महायान-सम्प्रदाय प्रचारित करना सुलभ जँचा। इसके अतिरिक्त उत्तरी भारतमें उस समय भारशिव (नाग) तथा वाकाटक राजाओंका प्रताप बढ़ रहा था। ये लोग कट्टर शैव थे और शुङ्ग तथा काण्व राजाओंकी तरह बौद्धमतानुयायियोंसे द्वेष करते थे। इनका राज्य लगभग ईस्वी सन् १५० से गुप्त राजाओंके उदय (सन् २७५)-तक था। और गुप्त राजालोग भी कट्टर वैदिकमतानुयायी थे। उनका राज्य लगभग सन् ८२० तक उत्तरी भारतमें विद्यमान था। अतः लगभग ६५० वर्षतक महायान-सम्प्रदाय प्रायः दक्षिण भारतहीमें फलत-फूलता रहा। आन्ध्र राजालोग चैत्यवादी कहे जाते हैं और उन्हींके राजत्वकालमें अजिंठा, इलोरा, कार्ले, नासिक, बेडसा तथा रामगढ़के सुप्रसिद्ध गुफा-मन्दिर[२] बनाये गये। ये गुफा-मन्दिर संसारमें अनुपमेय हैं और इनमेंसे कुछ तो अवश्य एकान्तवासके निमित्त बने प्रतीत होते हैं। आन्ध्र राजाओंने अपनी नयी राजधानी धान्यकटकमें एक बौद्ध-विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था।

इस परिस्थितिमें नागार्जुनने अपने स्थानके पास श्रीपर्वतपर अपने मन्त्र-तन्त्रके केन्द्रको स्थापित किया। इसी पर्वतके विषयमें प्राचीन संस्कृत काव्योंमें उल्लेख मिलता है और इसीके समीप ही महायानके अनुयायी पाँच निकाय (सम्प्रदाय) विद्यमान थे। इनमेंसे चार तो आन्ध्रनिकाय कहे जाते हैं और पाँचवाँ वैपुल्यवाद ही वज्रयानका मूल स्रोत माना जाता है। वज्रयानका प्राचीनतम ग्रन्थ 'मञ्जु श्री-मूल-कल्प' वैपुल्यसूत्रके नामसे प्रचलित है। यथार्थमें वैपुल्यवादियोंने ही वाममार्गकी नींव डाली थी। सम्भव है, आधुनिक बाउल-सम्प्रदायका सम्बन्ध इन वैपुल्यवादियोंसे हो। दोनोंमें आचार-साम्य पाया जाता है[३]।

इधर तो दक्षिणमें महायानके अन्तर्गत मन्त्र, तन्त्र तथा वज्रयानीय वाममार्गकी दिनोंदिन श्रीवृद्धि हो रही थी और उधर उत्तर भारत (और मुख्यतया बिहारप्रान्त)-में बौद्धधर्म नष्टप्राय-सा हो रहा था। इतिहासके विद्यार्थी राजा शशाङ्कके बौद्धोंके प्रति किये गये अत्याचारोंसे अपरिचित न होंगे। जो कुछ बौद्धप्रभाव बिहारप्रान्तमें बचा था वह नालन्दा विश्वविद्यालयसे ही सम्बद्ध था। नालन्दामें नागार्जुन कुछ दिन रह गये थे और कदाचित् प्रसिद्ध नागार्जुनी पहाड़ीपरकी[४] गुफाएँ (जो अब भी विद्यमान हैं) उसी समयसे एकान्तवासके काममें आने

---

१. धान्यकटक कृष्णा नदीके मुहानेसे प्रायः ५० मील पश्चिमोत्तर उसी नदीपर स्थित वर्तमान अमरावती नामक स्थान-पर था।

२. इनमें अजिंठा (Ajanta) तथा इलोरा सर्वश्रेष्ठ है। अजिंठाके विषयमें एक सुन्दर सचित्र लेख 'सरस्वती' १९२८ के विशेषाङ्कमें मिलेगा और इलोराके विस्तृत विवरणके लिये इण्डियन प्रेसकी 'प्राचीन चिह्न' नामक पुस्तक देखिये।

३. बाउलसम्प्रदायके लिये भारतधर्ममहामण्डलका 'धर्मकल्पद्रुम' भाग ६ पृ० २१३६-२१३७ देखिये।

४. देखिये सत्यकेतु विद्यालङ्कारकृत 'मौर्यसाम्राज्यका इतिहास' पृ० ५९९ और ६४६।

लगी हों। वज्रयानीय तारादेवीका मन्दिर तो नालन्दामें बन ही गया और उसके साथ-ही-साथ छिपे-छिपे वज्रयानीय मतका अध्ययन तथा प्रचार भी होने लगा। तिब्बतमें बौद्धधर्मके प्रचारके लिये जो प्रथम भारतीय आचार्य ईस्वी सन् ७२४ में गये थे वे शान्तरक्षित इसी नालन्दाके एक अच्छे तान्त्रिक थे, जिन्होंने नागार्जुनके कुछ ग्रन्थोंपर टीका लिखी थी। इससे स्पष्ट है कि उत्तरी भारतमें भी मन्त्र तथा तन्त्रयानोंका अच्छा प्रचार हो गया था, पर गुप्तरूपसे ही।

अन्तिम गुप्त राजाओंके समयमें ई० सन् ७५० के लगभग बिहारमें पालवंशीय राजाओंका प्रभुत्व जम गया था। ये गौड़ेश्वर कहे जाने लगे थे और इनका राज्य क्रमशः आसाम (कामरूप)-तक फैल गया था। पाल राजा लोग बौद्ध थे। इनकी राजधानी भागलपुरके पास उदन्तपुरीमें थी। वहाँ इन्होंने एक बृहत् पुस्तकालय स्थापित किया और समीप ही विक्रमपुरमें विक्रमशिला नामक बौद्धविश्वविद्यालय[१] लगभग ईस्वी सन् ८०० के स्थापित किया। इन्हीं दो संस्थाओंकी स्थापनाके कारण प्राचीन नालन्दा विश्वविद्यालयका क्रमशः पतन हो गया।

विक्रमशीलामें खुलकर मन्त्रयान, तन्त्रयान तथा वज्रयानका अध्ययन होने लगा और प्रायः सभी मुख्य तान्त्रिक देवताओंके मन्दिर इस विद्यालयमें बनवाये गये। एक बात और बड़े मार्केकी हुई। वह यह कि भाषामें वज्रयानका प्रचार हुआ। इसके कारण अपरिपक्व जनतामें दुराचार तथा व्यभिचार फैलने लगा, क्योंकि तन्त्रों और विशेषकर वाममार्गके रहस्योंको समझना सरल काम न था। वाममार्गीय तान्त्रिक उपासना, जिसे कुछ लोग सहजयान भी कहते हैं, ऐसे गूढ़ शब्दोंमें प्रचारित की गयी कि साधारण बुद्धिवाला अर्थका अनर्थ कर बैठता था। केवल उपयुक्त साधक ही यथार्थ तत्त्वको समझ सकता है। यही दुष्परिणाम गोप्य विषयोंको जनसाधारणके प्रति प्रकट करनेसे सदैव होता आया है।

ये भाषामें सहजयानका प्रचार करनेवाले साधक लोग ही सिद्धोंके नामसे विख्यात हुए। सन् १२०२ ईस्वीमें मुसल्मानोंने पालराजाओंको पराजित करके उदन्तपुरी तथा विक्रमशिलाकी संस्थाओंको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। उस समयतक ऐसे मुख्य ८४ सिद्ध[२] हो गये थे। इनके भाषाकाव्य (जिनमें वज्रयानका मत वर्णित है) तथा इनके चित्र अब भी तिब्बतके प्राचीन मठोंमें पाये जाते हैं। इन चौरासी सिद्धोंका काल ईस्वी सन् ७५० से १२०० तक माना जाना अनुपयुक्त न होगा।

अन्यत्र पद्मसम्भव नामक तान्त्रिकका वर्णन आ चुका है जिन्होंने आचार्य शान्तरक्षितके समयमें तान्त्रिक लामाधर्मकी तिब्बतमें स्थापना की थी। इस लामाधर्ममें प्राचीन तिब्बती 'बोन' धर्मकी तमःप्रधान प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित की गयी थीं। इस विकृत बौद्धधर्मका प्रचार कामरूप (आसाम)-में भी फैल गया था और वहाँ मारण, मोहन, उच्चाटनादि घोर 'षट्कर्मों' का अंश बढ़ रहा था। कामरूप भी पालनरेशोंके राज्यमें था। अतः वहाँकी घोर तान्त्रिकताका असर भी चौरासी सिद्धोंपर पड़ा ही होगा।

इन सिद्धोंमें सब जातियोंके लोग सम्मिलित थे। अतः इनमें वह उच्च आदर्श कभी भी नहीं पाया जा सकता था जो सात्त्विक ब्राह्मण उपासकोंमें मिल सकता है। तथापि इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि जिन लोगोंने इनके स्फुट उद्धरणोंसे इन्हें साधारण सुरापी तथा परस्त्रीगामी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वे कदापि इनके गम्भीर सिद्धान्तोंको नहीं समझ सके हैं। इनके सैद्धान्तिक ग्रन्थोंमें 'श्रीचक्रसंवर' नामक एक तन्त्र-ग्रन्थ भी था। उसके एक अंशका अनुवाद Arthur Avalon के प्रयत्नसे प्राप्य हुआ है। इस अनुवादको[३] पढ़नेसे वज्रयानमतकी गम्भीरता तथा महत्त्वका कुछ-कुछ पता लगता है। इसमें वर्णित नाद, बिन्दु, शून्यता इत्यादिका रहस्य समझना साधारण समालोचकका काम नहीं। इस ग्रन्थके यथार्थ अभिप्रायका कुछ आभास Woodroffe कृत 'Shakti And Shakta[४]' में दिये हुए A

१. धान्यकटक, उदन्तपुरी तथा विक्रमशिलाके सुन्दर विवरण 'सरस्वती' जुलाई १९०६-, पृ० २७१—२७४ में मिलेंगे।
२. देखिये 'गङ्गा' के पुरातत्त्वाङ्कमें पृ० २१४—२२६ (मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध)।
३. 'Tantrik Texts' vol VII, Thacker, Spink & Co, Calcutta (1919).
४. 'Shakti and Shakta' by Woodroffe, (third edition 1929) Ganesh & Co, Madras.

Tibetan tantra (पृ० १९९—२११) और Matam Rutra (पृ० ६०८—६३१) नामक लेखोंमें मिलेगा।

इन सिद्धोंमें सरहपा, शबरपा, लूहिपा, तिलोपा, भुसुक, जालन्धरपा, मीनपा, कण्हपा, नारोपा तथा शान्तिपा विशेषरूपेण प्रसिद्ध हैं। इनके नामके अन्तमें जो 'पा' है उसका पूर्णरूप 'पाद' (चरण) है। यह आदरसूचक है। ये लोग किसी एक स्त्रीको 'महामुद्रा' अथवा माध्यम बना कर उसकी सहायतासे वाममार्गीय उपचारके द्वारा यक्षिणी, डाकिनी, कर्णपिशाचिनी इत्यादि सिद्ध करते थे। यह तो रही सकाम उपासना। इन सिद्धियोंके द्वारा बड़े-बड़े चमत्कार किये जाते थे। किन्तु जो सिद्ध निष्काम उपासक थे, वे केवल निर्गुणका ध्यान जमाकर शून्यतामें लीन हो जाते थे। इनमेंसे बहुतेरे सिद्ध तो उपर्युक्त विद्यालयमें आचार्य भी थे और इनके शिष्य बड़े विद्वान् तथा शक्तिशाली हो गये हैं। सिद्ध नारोपा सुप्रसिद्ध दीपङ्कर श्रीज्ञानके गुरु थे। और इन महापण्डित नारोपाके गुरु सिद्ध तिलोपा थे। गोरखनाथके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ सिद्ध मीनपाके पुत्र थे। और सिद्ध जालन्धरपा मत्स्येन्द्रनाथके गुरु थे। इन सिद्धोंकी प्रचारसम्बन्धी कविता पूर्व-बिहारी अथवा मगही (मगधी) हिन्दीमें है और इसीसे हालमें इन सिद्धोंको 'हिन्दीके आदिकवि' की पदवी दी गयी है।

सिद्धोंके विषयमें अधिक न लिखकर अब नाथसम्प्रदायके प्रादुर्भावपर विचार करना चाहिये।

मालूम होता है कि इन सिद्धोंके अलौकिक शक्तिशाली होनेपर भी निरीश्वर अथवा शून्यवादी बौद्ध होनेके कारण जनता प्रायः इनसे मुग्ध न हुई थी, क्योंकि सुप्रसिद्ध 'बंगाले (अथवा कामरूप या आसाम)-के जादू' से लोग डरने लगे थे और जीवनतत्त्वान्वेषणके सम्बन्धमें भी इन शाक्तों (कबीरके 'साषत' या 'साकट')-पर अविश्वास-सा होने लगा था। इसके अतिरिक्त इन सिद्धोंके मद्य, मांस तथा स्त्रीसम्बन्धी आचारोंसे लोगोंको घृणा होने लगी थी। कुछ लोगोंका कहना था कि मद्यका सेवन ध्यानकी एकाग्रताके लिये किया जाता था, मांसभक्षण शरीरको पुष्ट रखनेके लिये किया जाता था और स्त्रीकी सहायता बिन्दु (वीर्य)-की अक्षुण्णताको दृढ़ करनेके लिये उपयोगमें लायी जाती थी। पर यह बात सर्वसाधारणको जँचती न थी, क्योंकि तामसिक भोजनसे तामसिक मनोवृत्तियोंका बनना तथा चित्तका क्षोभ और चाञ्चल्य ही निश्चित परिणाम प्रतीत होते थे। स्त्रीका सामीप्य ही (चाहे वह कैसी ही सद्भावनासे किया जाता रहा हो) गर्ह्य तथा कच्चे साधकोंके लिये आपत्तिपूर्ण माना जाता था। इन्हीं कारणोंसे प्रचलित प्रथाके विरुद्ध कुछ समझदार योगियोंने नाथसम्प्रदायकी सृष्टि की। इन परिमार्जित विचारवालोंके नेता नाथसम्प्रदायके प्रथम रत्न गोरक्षनाथ थे। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह'[१] नामक ग्रन्थमें निर्दिष्ट 'चतुरशीति सीद्धाः' वाक्यसे तथा गुरुपरम्पराके नामोंसे नाथसम्प्रदायकी उपर्युक्त प्रकारसे ही उत्पत्ति सिद्ध होती है। और 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति'[२] नामक सङ्कलित ग्रन्थके देखनेसे इस मतकी अधिक पुष्टि होती है। इस ग्रन्थके ४८ वें अध्यायमें लिखा है कि जब भ्रमण करते हुए गोरक्षनाथ ज्वालाजी[३] पहुँचे तो वहाँ उनको भगवतीने प्रचलित शाक्तविधिके अनुसार मद्यमांसादि प्रसादरूपमें देना चाहा। परिमार्जित विचारवाले योगिराजने सविनय इसे अस्वीकृत किया तथा भगवतीसे सात्त्विक भोजनकी प्रतिज्ञा करा ली। यह प्रसङ्ग कपोलकल्पित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ज्वालाजीके मन्दिरसे एक फर्लांगपर ही पहाड़के ऊपर 'अर्जुन नागा' (महायानीय मतवाले नागार्जुन)-का स्थान होना इस बातका सूचक है कि ज्वालाजी भी वज्रयानमतका एक केन्द्र था। अतः वहाँपर मद्यमांसादिका प्रचार होना कोई असम्भव बात नहीं। साथ-ही-साथ देवीजीके मन्दिरमें ही 'गोरखडिब्बी' नामक स्थानका होना तथा वहाँकी खिचड़ीकी हाँडीकी कथा उपर्युक्त वृत्तान्तका सत्य होना सिद्ध करती है।

गोरक्षनाथने इस परिमार्जित विशुद्ध तथा सात्त्विक हठयोगमार्गका प्रचार सारे भारतवर्षमें किया। गोरखपुर, गिरनार तथा नैपाल तो उनके प्रधान केन्द्र बन गये। और ज्वालाजीके विषयमें ऊपर लिखा ही जा चुका है। नैपालके गोरखे इन्हीं गुरु गोरक्षनाथके परिश्रमसे हिन्दू रह गये और अनीश्वरवादी बौद्धधर्मके अनुयायी

१. "Saraswati Bhavan Texts" Series, Benares.

२. हिन्दी अनुवाद। श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बईसे प्राप्य।

३. ज्वालाजीके विषयमें 'कल्याण' कार्तिक १९९० पृ० ७९७—८०१ देखिये। पर 'गोरखडिब्बी' तथा 'अर्जुन नागा' के लिये 'सरस्वती' अक्टूबर १९३२ पृ० ४४१—४४४ में देखिये।

होनेसे बचे। इन चार मुख्य स्थानोंकी स्थिति इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इस सात्त्विक योगपद्धतिका आदर भारतवर्षके प्रत्येक विभागमें हुआ।

गोरक्षनाथका नाथपन्थ ईश्वरवादी है और आदिनाथ भगवान् शङ्करजी इसके मूलस्रोत माने गये हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धोंका शाक्त उपासनाक्रम शास्त्रमतानुयायी शैवसम्प्रदायमें परिणत हो गया। नाथसम्प्रदायमें मद्य-मांसका कठोर निषेध है और स्त्रीका सङ्ग सब प्रकारसे वर्ज्य है। इस मतमें शुद्ध हठ तथा राजयोगकी साधनाएँ ही अनुशासित हैं। योगासन, नाडीज्ञान, षट्चक्रनिरूपण तथा प्राणायामद्वारा समाधिकी प्राप्ति इस योगके मुख्य अङ्ग हैं। यथार्थमें इस सम्प्रदायमें शारीरिक पुष्टि तथा पञ्चमहाभूतोंपर विजय, इन विषयोंपर विशेषतया ध्यान दिया गया है और इनकी सिद्धिके लिये रसविद्या-(Alchemy) का भी इस मतमें एक मुख्य स्थान है। बौद्ध नागार्जुनके रसशास्त्रसम्बन्धी चमत्कारोंके विषयमें अन्यत्र लिखा जा चुका है। नागार्जुनका प्रभाव नाथपन्थपर विशिष्टरूपसे पड़ा था। उपर्युक्त भूतजय इत्यादिका उद्देश्य योगसाधनद्वारा अद्वैत ज्ञानकी प्राप्ति ही था। 'गोरक्षपद्धति'[१] नामक सुप्रसिद्ध योगग्रन्थ इसी मतका एक ग्रन्थ है। इस सम्प्रदायके ग्रन्थोंको देखनेसे यह बात पुनः सिद्ध होती है कि योगशास्त्र-जैसे विषय कभी-कभी जानकर कूट शब्दोंमें प्रकाशित किये जाते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि बिना गुरुके निरीक्षणके अभ्यास करनेवाला अपरिचित साधक कभी-कभी अर्थका अनर्थ करके पतित हो जाता है। उदाहरणार्थ कुण्डलिनीको कहीं-कहीं बालरंडा (बालविधवा) कहा है और खेचरीमुद्राके साधनमें जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रविष्ट करनेके लिये गोमांसभक्षण शब्दका प्रयोग किया गया है।

नाथसम्प्रदायमें नव नाथ मुख्य कहे गये हैं। इनके नाम गोरक्षनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणनाथ, गहिनीनाथ, चर्पटनाथ, रेवणनाथ, नागनाथ, भर्तृनाथ तथा गोपीचन्द्रनाथ हैं। इनमेंसे अन्तिम गोपीचन्द्रनाथकी कथा विशेष प्रचलित है। पाठक उससे परिचित ही होंगे। गोरक्षनाथके अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथको स्त्रीराजके जञ्जालसे छुड़ानेकी कथा 'माया मछीन्द्र' नामसे आजकल Talkie में दिखलायी जाती है। मेरा अनुमान है कि इस कथाका गूढ़ उद्देश्य तथा अर्थ चौरासी सिद्धोंके तान्त्रिक वज्रयानका सात्त्विक नाथपन्थमें परिणत होना है। महाराष्ट्र देशके सुप्रसिद्ध भक्त तथा धार्मिक नेता श्रीज्ञानेश्वर महाराज गहिनीनाथकी शाखाके अनुयायी थे। इस शाखाके योगीगण अबतक ग्वालियरमें विद्यमान हैं। मेरी समझमें नाथसम्प्रदायका उदय ई० सन् १००० के लगभग हुआ होगा।

नाथसम्प्रदायके योगीजन 'अलक्ष' (अलख) शब्दसे अपने इष्टदेवका ध्यान करते हैं और इसी शब्दसे भिक्षा करते हैं। उनके शिष्य 'आदीश' (आदेश) शब्दसे गुरुके सम्बोधन 'अलक्ष' का उत्तर देते हैं। इन दोनों मन्त्रोंका अर्थ उस प्रणवरूपी परमपुरुषसे है जिसका वर्णन वेद, उपनिषदादिमें बारंबार आता है। कबीरसाहब तथा गुरु नानकदेव भी इसी अलक्ष पुरुषका ध्यान करते थे। गुरु नानकदेवका मुख्य मन्त्र[२] इस भावको पूर्णतया स्पष्ट करता है। गुरु महाराज कहते हैं—

एक ॐ सत्तनाम कर्ता पुरुख। निर्भव निर्भय निरंकार॥
अकाल मूरति आदि सत्त, जुगादि सत्त,
है भी सत्त, नानक होसी भी सत्त॥

नाथसम्प्रदायके महात्मा 'कनफटे योगी' भी कहे जाते हैं। उनके कानमें बड़े-बड़े सींगके कुण्डल होते हैं। इनका तात्पर्य अत्यन्त गूढ़ है। कान छेदनेसे साधारणतया अन्त्रवृद्धि तथा अण्डवृद्धि रोग नहीं होते[३] और कुछ साधकोंका मत है कि इस प्रक्रियासे योगसाधनमें भी सहायता मिलती है। इन योगियोंके गलेमें काले ऊनका एक बटा हुआ डोरा होता है जिसे 'सेली' कहते हैं। और इस सेलीमें सींगकी एक छोटी-सी सीटी बँधी रहती है जिसे 'नाद' (शृङ्गीनाद) कहते हैं, यह नादानुसन्धान अथवा प्रणवाभ्यासका द्योतक है। हाथमें नारियलका खप्पर होता है।

संयुक्त प्रान्तके अनेक विभागोंमें महाशिवरात्रिके दूसरे दिन (जिसे कहीं-कहीं 'बम् भोले' कहते हैं)

१. हिन्दी अनुवादसहित श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बईसे प्रकाशित।
२. श्रीगुरु नानकदेवकृत 'जपजी साहब' का प्रथम पद।
३. देखिये 'सुश्रुतसंहिता' चिकित्सास्थान, अध्याय १९ (विशेषतया श्लोक २१) श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, मुम्बई।

कनफटे योगिराजको दाल, भात, रोटी तथा तेलके खट्टे बड़ोंका भोजन कराया जाता है। यह गुरु गोरक्षनाथहीका आवाहन करके किया जाता है और इन खट्टे तेलके बड़ोंका निर्देश इन योगिराजकी अनन्य गुरुभक्तिकी सुप्रसिद्ध कथासे सम्बन्ध रखता है जिसमें इन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथकी तुष्टिके लिये एक बड़ेके लिये अपनी एक आँख निकालकर दे दी थी।[१]

अनेकानेक सिद्ध नाथ लोग जीवित समाधि ले चुके हैं। श्रीज्ञानेश्वर महाराज उनमेंसे एक हैं।[२] अन्यथा देहत्यागके अनन्तर योगीको उत्तराभिमुख पद्मासनसे बैठाकर गाड़ देते हैं और ऊपर समाधि बना देते हैं।

देशकालकी स्थितिके अनुसार इस सम्प्रदायमें भी न्यूनताएँ प्रविष्ट होने लगी हैं (यथा कहीं-कहीं सैद्धान्तिक ब्रह्मचारी होनेपर भी कुछ योगी लोग गृहस्थ बन गये हैं)। परन्तु अब भी अच्छे-अच्छे तथा सिद्ध योगीजन विद्यमान हैं। उनके दर्शन भाग्यहीसे होते हैं।

योगेश्वरेश्वरका रासलीला-महायोग

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, बी० ए०, बी० एल०)

आजकल भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलापर पढ़े-लिखे लोगोंकी ओरसे बहुत ही तीव्र आक्षेप किये जाते हैं। अतएव इसपर कुछ विचार करना आवश्यक है। परन्तु किसी भी विषयपर विचार करनेके लिये पहले उस विषयका कुछ थोड़ा-सा परिचय रहना चाहिये, नहीं तो उसके समझने और विचार करनेमें बाधा पड़ती है। इसलिये पहले 'श्रीकृष्ण-तत्त्व' क्या है, उनकी लीलाएँ क्या हैं, गोपी कौन हैं, भक्तिमार्गका साधक कौन हो सकता है एवं काम और प्रेममें क्या भेद है, इसका संक्षेपमें विवेचन करके तब रासलीलाके रहस्यपर विचार करेंगे।

श्रीकृष्ण-तत्त्व

श्रीकृष्ण महाराज स्वयं गीतामें कहते हैं—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' अर्थात् ब्रह्मका घनीभूत विग्रह यानी मूर्तिमान् ब्रह्म मैं ही हूँ। व्यासदेवजी भी श्रीकृष्ण महाराजकी गणना अवतारोंमें न कर '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**' कहते हैं। श्रीमद्भागवतके रचयिता व्यासजी स्वयं उन्हें परिपूर्ण ब्रह्म कहते हैं और उन्हींकी लीलाका विस्तारसहित वर्णन करते हैं। वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो श्रीकृष्णलीलामें ब्रह्मका परिपूर्णभाव जैसा सुस्पष्ट झलकता है, वैसा प्रायः दूसरी किसी लीलामें नहीं देख पड़ता।

ब्रह्म तीन भावोंमें प्रकाशमान है—सत्, चित् और आनन्द। श्रीकृष्णने (१) अधर्मका विनाशकर मथुरामें धर्मराज्य स्थापितकर अपने सत्-भावको, (२) उपदेश देनेके बहाने अर्जुन-उद्धवादि भक्तोंको ज्ञानका परमतत्त्व सुनाकर अपने चित्-भावको और (३) श्रीवृन्दावन-लीलामें शान्त-दास्य आदि पाँचों भावोंको पूर्णरूपसे प्रकाशितकर, भावोंमें चरम मधुरभावकी लीला दिखाकर अपने आनन्दभावको विकसित किया और इस तरह परिपूर्ण सच्चिदानन्दकी प्रकट लीला एक ही साथ दिखाकर भक्तोंके हृदयोंको मार्जित और आनन्दित तथा सारे भूमण्डलको पवित्र और सुशोभित किया।

अब श्रीकृष्णमूर्तिकी विशेषतापर कुछ ध्यान दीजिये। इस मूर्तिकी एक विशेषता तो यह है कि हमारे अन्यान्य देवी-देवताओंकी भाँति यह 'वर' और 'अभय' देनेवाली नहीं है, यह आनन्दकी घनीभूत मूर्ति है। इस संसारके समस्त आनन्दोंके मूल आधार दिव्य शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप और रस सभी पूर्णरूपसे इस मदनमोहनमूर्तिमें मूर्तिमान् ही विराजमान हैं। देखिये—

(१) मोहन मुरलीमें मूर्तिमान् 'शब्द', (२) नवजलद श्याम ज्योति और वनमालाकी शीतलता तथा स्निग्धतामें मूर्तिमान् 'स्पर्श', (३) दिव्य अङ्ग-गन्ध, मृगमद, चन्दन और अगरके तिलकमें मूर्तिमान् 'गन्ध', (४) पीताम्बर, मयूरपिच्छ और मकर, कुण्डल, वलय, नूपुरादि अलङ्कारों आदिमें सौन्दर्यका आधार मूर्त्तिमान् 'रूप' और

१. देखिये 'गीताप्रेस' का 'श्रीज्ञानेश्वरचरित्र' पृ० ७३-७४।

२. इनके समाधिका विस्तृत विवरण उपर्युक्त 'श्रीज्ञानेश्वरचरित्र पृ० १७३—२०७ में मिलेगा।

चौरासी सिद्ध

१-लूहिपा

२-लीलापा

३-विरूपा

४-डोम्भिपा

५-शबरीपा

६-सरहपा

७-कङ्कालीपा

८-मीनपा

९-गोरक्षपा

१०-चोरङ्गिपा

११-वीणापा

१२-शान्तिपा

१३-तन्तिपा

१४-चमरिपा

१५-खड्गपा

१६-नागार्जुन

१७-कराहपा

१८-कर्णरिपा

१९-थगनपा

२०-नारोपा

२१-शलिपा

२२-तिलोपा

२३-छत्रपा

२४-भद्रपा

२५-दोखन्धिपा

२६-अजोगिपा

२७-कालपा

२८-धोम्भिपा

२९-कङ्कणपा

३०-कमरिपा

३१-डेंगिपा

३२-भदेपा

३३-तन्धेपा

३४-कुकुरिपा

३५-कुसूलिपा

३६-धर्मपा

३७-महीपा

३८-अचिन्तिपा

३९-भलहपा

४०-नलिनपा

४१-भूसुकुपा

४२-इन्द्रभूति

८२-लक्ष्मीकरा

४३-मेकोपा

४४-कुठालिपा

४५-कर्मारपा

४६-जालन्धरपा

४७-राहुलपा

४८-घर्बरिपा

४९-धोकरिपा

५०-मेदिनीपा

५१-पङ्कजपा

५२-घण्टापा

५३-जोगीपा

५४-चेलुकपा
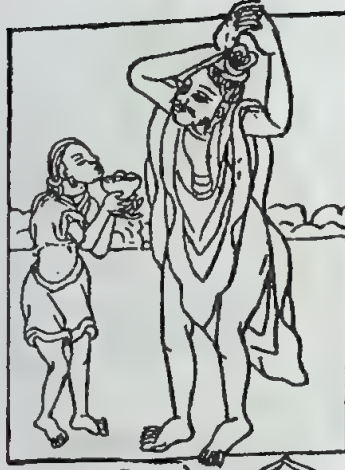
५५-गुण्डरिपा

५६-लुचिकपा

५७-निर्गुणपा

५८-जयानन्त

५९-चर्षटीपा

६०-चम्पकपा

६१-भिखनपा

६२-भलिपा

६३-कुमरिपा
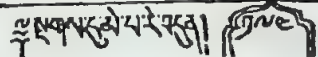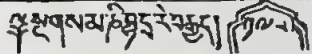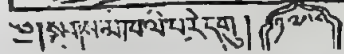
६४-जवरिपा ६५-मणिभद्रा ६६-मेखला
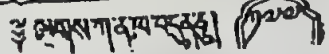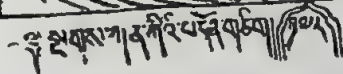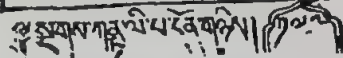
६७-कनखला ६८-कलकलपा ६९-कन्तलिपा
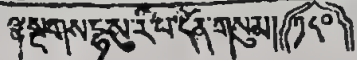
७०-धहुलिपा ७१-उधलिपा ७२-कपालपा
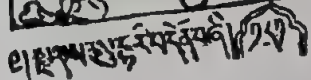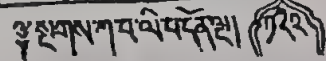
७३-किलपा

७४-सागरपा

७५-सर्वभक्षपा

७६-नागबोधिपा

७७-दारिकपा

७८-पुतुलिपा

७९-पनहपा

८०-कोकलिपा

८१-अनङ्गपा

*८३-समुदपा

८४-भलिपा

अजन्ता गुफा नं० १९ का सामनेसे दृश्य

अजन्ताके गुफामन्दिरोंकी गुफा नं० २६ का सामनेसे दृश्य

*८२-लक्ष्मीकराके लिये देखिये इन्द्रभूति ४२।
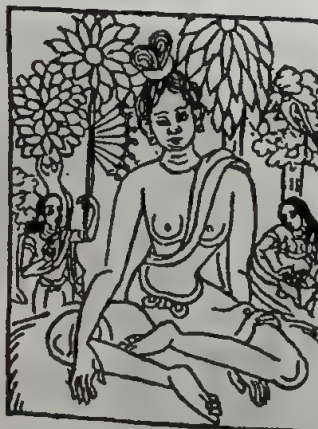
(५) त्रिभङ्ग रसराजकी बाँकी नजरमें मानो मूर्तिमान् मधुर रससे सु 'रस' उछल रहा है। इसी कारण श्रीशुकदेवजी इस रूपका बखान करते हुए— **'साक्षान्मन्मथमन्मथः'** कहते हैं। इस रूपकी तुलना नहीं है, यह तो साक्षात् मदनमोहन ही है। इस रूपको देखते ही मदन मोहित और अभिभूत हो जाता है; सुतरां कामकी क्रिया-शक्ति स्तम्भित और लुप्त हो जाती है और कामदेव अपने-आप पराजित और लज्जित होकर भाग जाता है। श्रीरास-पञ्चाध्यायीके मङ्गलाचरणमें मान्यवर टीकाकार श्रीश्रीधर स्वामीजीने भी लिखा है—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डितः ॥

ब्रह्मादि देवताओंको जीतकर कन्दर्प-मदनको दर्प हो गया था कि मैं ब्रह्माण्डमें सबको जीत सकता हूँ। उसके इस गर्वका नाश करनेके लिये व्रजधाममें गोपी-लीलाका अभिनय योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रने किया। रासलीलामें कामजयका परिचय है; यह कन्दर्पदर्पहारी मदनमोहनकी दिव्य लीला है, इसमें कामभोगका तो कहीं लेश भी नहीं है। शृङ्गाररसमय वर्णन होनेके कारण ब्रह्म-रूप छिपा हुआ होनेपर भी गोपियोंके वार्तालापमें श्रीकृष्ण महाराजका भगवत्तत्त्व सुस्पष्ट ही झलकता है। इसके लिये १। २८, २९ और ३० इत्यादि श्लोक तथा समूची गोपी-गीताके श्लोकोंको देख सकते हैं। आगे चलकर रास-पञ्चाध्यायीके आख्यानपर विचार करते समय इसका सविस्तर विवेचन किया जायगा।

श्रीगोपी-तत्त्व

इस संसारमें जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है वहीं आनन्दकी धारा प्रवाहित हो रही है। भगवान् सच्चिदानन्द सदा ही अपनी इन तीन शक्तियोंके साथ विराजते हैं—संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी। नित्यधाम गोलोकमें भगवान् अपनी ह्लादिनी नामक प्रेमांशशक्तिके साथ आनन्द उपभोग करते हुए सदैव विराजमान हैं। आनन्द अकेले-अकेले नहीं होता; इसी कारण उनके प्रेमांशसे यह सृष्टि रची गयी, यही उनकी लीला है। वही प्रेमांश शुद्ध जीव है और वह शुद्ध जीव अनेक अंशोंमें अनेक प्रकारोंसे भगवद्-आनन्दका आस्वादन ले रहा है। वह प्रेमांश ही भगवान्‌की उस लीलाकी सहचरी यानी सखियाँ हैं, और वृन्दावनकी लीलामें वे प्रकृतियाँ ही गोपीजन हैं। व्रजगोपियाँ सच्चे भक्तोंकी आदर्श हैं। भक्ति-शास्त्रके अनुसार भगवत्-प्राप्तिके लिये जीवमात्रको भावका आश्रय लेना होगा अर्थात् गोपी बनना होगा; क्योंकि हर एक गोपी मूर्तिमान् एक-एक भाव ही है, और प्रेम तथा भावकी पूर्णता महाभावस्वरूपिणी प्रेममयी श्रीराधाजी हैं।

भक्ति-मार्ग

भक्ति-पथ भावका पथ है। श्रीभगवान् चाहे जितने महान् सुन्दर हों, यदि उनकी सुन्दरताका उपभोग करनेवाला कोई न हो तो उस सौन्दर्यकी सफलता ही क्या है? इसी प्रकार श्रीभगवान् आनन्दमय हैं, पर यदि उस आनन्दका उपभोग करनेके लिये यदि दूसरा कोई न रहा तो उस आनन्दका आनन्दत्व ही किस कामका? भक्ति-शास्त्रके मतानुसार सृष्टिका आदिकारण यही है। अकेले खेल नहीं जमता। प्रेमानन्द-रूपका आस्वादन और उपभोग करनेवाला यदि कोई न हो तो आस्वादका विचार ही कैसे हो सकता है? भगवत्-प्रेम कैसा है, इसको बिना उपभोग किये केवल ग्रन्थपाठसे कोई नहीं समझ सकता। परन्तु वह उपभोग कैसे हो? उसका आदर्श कहाँ मिले? पूरा तो नहीं, पर इस संसारमें उस भगवत्-प्रेमका थोड़ा-सा परिचय उसकी कुछ छाया-सी तो जीवको भगवत्कृपासे मिल ही जाती है। क्योंकि इसी भगवत्-प्रेमकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये ही मानव-संसारकी सृष्टि हुई है, न कि पशु और पक्षीकी भाँति केवल वंश-वृद्धिके लिये! पुत्रकी मातृ-भक्ति, माताका अपत्य-स्नेह, मित्रकी बन्धुप्रीति, नायक-नायिकाका परस्पर अनुराग, इनमें भक्त-भगवत्-प्रेमका थोड़ा-सा अनुभव और निदर्शन हम पाते हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पाँचों भावोंकी स्थितिसे ही संसारकी स्थिति है। जीवमात्र इन पाँचों भावोंके अधीन हैं। अनित्य, नश्वर, पार्थिव संसारसे इन पाँचों भावोंको हटाकर भगवच्चरणोंमें अर्पित करना ही भक्तिका साधन और परम पुरुषार्थ है। इन्हीं सांसारिक भावोंका आदर्श सामने रखकर भगवत्-प्रेम प्राप्त करना होगा। विषयोंकी आसक्तिको फिराकर, विषयोंसे हटाकर भगवद्-भक्तिमें पर्यवसित करना

होगा; पारसमणि छुआकर लोहेको सोना बनाना होगा। एक साधक कविने कहा है—

या चिन्ता भुवि पुत्रपौत्रभरणव्यापारसम्भाषणे
या चिन्ता धनधान्यभोगयशसां लाभे सदा जायते।
सा चिन्ता यदि नन्दनन्दनपदद्वन्द्वारविन्देक्षणे
का चिन्ता यमराजभीमसदनद्वारप्रयाणे प्रभो॥

'सभीको पुत्र, पौत्र, व्यापार, धन, धान्य, भोग, यश आदि पानेके लिये जो सदा चिन्ता रहती है, वह चिन्ता यदि क्षणभरके लिये भी श्रीनन्दनन्दनके चरणकमलयुगलमें हो जाय तो फिर यमराजके भयानक दरवाजेपर जानेकी चिन्ता न रहे।' यहाँका सभी सम्बन्ध अनित्य है; घर दो दिनके लिये है, उसे धर्मशाला ही कहिये; पुत्र और मित्र भी आरोपमात्र हैं। नित्यनिकेतन गोलोकमें नित्यपति भगवान्‌का आश्रय लेनेकी चेष्टा ही परम पुरुषार्थ है। इस संसारका सब काम पूरी तौरसे करते हुए भी राजा राममोहनरायजीने कहा—

मन चल निज निकेतने।
संसार विदेशे विदेशीर वेशे केन भ्रम अकारणे॥

अर्थात् रे मन! तू अपने घर चल, इस संसाररूपी विदेशमें परदेशी बनकर क्यों व्यर्थ भटक रहा है? राजगद्दी चली जानेपर दिल्लीके बादशाह शाह आलमने भी कहा था—'अब समझमें ज़फरके आया, जो कुछ है सो तूही है।' और उपनिषद्-युगके हमारे ऋषियोंने तो गाया ही है—

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

उपर्युक्त पाँचों भावोंमें सबसे उत्कृष्ट भाव है मधुर। इस भावमें पाँचों भाव सम्मिलित हैं। यह भाव अति चरम और दुर्लभ है। स्त्री जब अपने पतिको रक्षक, नेता और अपने सुख-दुःखका कारण समझती है, तब वह 'मधुर' भावमें 'शान्त' का दृष्टान्त है। पतिको देवता समझकर जब पूजा करती है, सेवा करती है, तब 'मधुर' भावमें 'दास्य' भाव वर्तमान रहता है। घरका काम चलानेके लिये जब दोनों मिलकर कोई परामर्श करते हैं, तब वहाँ 'सख्य' भाव रहता है। पतिदेवके भोजनके लिये बैठनेपर जिस यत्न, आदर और आग्रहसे स्त्री उसे खिलाती है, उस तरह इस संसारमें माताको छोड़कर दूसरा कौन खिला सकता है? वहाँ 'मधुर' में 'वात्सल्य' का प्रकाश रहता है, और विशुद्ध प्रेमानन्दमें जब दो जीव एकप्राण, एकमन होकर निर्मल प्रेमानन्द उपभोग करते हैं तब वह होता है 'मधुर' में 'मधुर' भावका प्राकट्य। महाकवि भवभूतिने निम्न श्लोकमें इस बातको बहुत ही सुन्दरतासे प्रकट किया है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी
धर्मेषु पत्नी क्षमया च धात्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु वेश्या
रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे॥

अतएव भाव सीखनेके आधार सांसारिक अनुरागोंमें पति-पत्नीका ही भाव गाढ़तर है; बल्कि कुलटा नारीका अनुराग और भी गाढ़तम है, वह एकदम अनन्य है। वह स्वजन-परिजनको नहीं चाहती, समाज त्यागनेमें कुछ भी सङ्कोच नहीं करती, आय-व्ययपर दृष्टि नहीं रखती, धर्माधर्मका विचार नहीं करती, एकदम उन्मत्ता होती है। उस आनन्दकन्द व्रजनन्दनको प्राप्त करनेके लिये ऐसा ही असङ्कोच और ऐसी ही उन्मत्तता चाहिये। लम्पटशिरोमणि बिल्वमंगलका भाव जिस दिन चिन्तामणि वेश्याके उपदेशपूर्ण तिरस्कारके कारण जगत्-चिन्तामणिकी ओर पलट गया उसी दिन वह कृतार्थ हो गया, लम्पटशिरोमणि यथार्थ ही भक्तचूड़ामणि सूरदास बन गया। अब तो भगवान् स्वयं अपने हाथों उस अन्धे भक्तको खिलाते और हाथ पकड़कर वृन्दावनकी राह दिखाते ले चले। इसी लिये बङ्गदेशीय वैष्णवोंने परकीयाभावको ही भावसाधनका परम साधन बतलाया है। इस पथपर चलनेवालोंको सर्वस्व दान करके कामशून्य पवित्र गोपीभावमें पहुँचना पड़ता है; गोपीभावको प्राप्त किये बिना ही यदि कोई इस पथपर चलेगा तो उसे अजगरके मस्तकपरकी मणिके लालचमें हाथ बढ़ाकर मणिके बदले विषकी विषम ज्वालासे जलकर मरनेवालेकी भाँति पाप और तापोंसे पीड़ित होकर जीवनसे ही हाथ धो बैठना पड़ेगा। पहले अधिकारी बनिये, तब अधिकारका दावा कीजिये। यह अधिकारी-भेद सभी विषयोंमें है।

अधिकारिभेद

संसारमें सभी मनुष्य एक ही प्रकारके नहीं हैं। कोई भावप्रवण है तो कोई विचारशील है, कोई कर्मी

है तो कोई आलसी है। जीवमात्रमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य ही दिखायी देगा। सबकी चित्तवृत्ति एक-सी नहीं होती। फिर सबकी मानसिक और आध्यात्मिक अवस्था भी एक तरहकी नहीं होती। पूर्वजन्मके कर्मफल और संस्कारके अनुसार कोई उन्नत और कोई अवनत अवस्थामें रहता है। जो बालक अभी केवल ककहरा सीख रहा है, उसे ज्यामितिका पाठ देना, अथवा जो साधक वेदान्तका अध्ययन कर रहा हो उसे साहित्यका पहला पाठ देना जैसे हास्यास्पद और व्यर्थ है उसी तरह भावुक कविके सामने गणितकी समस्या रखना और गणितके अध्यापकसे अलङ्कारशास्त्रका प्रश्न करना भी हास्यजनक और बेकार है। इसी कारण शास्त्रमें अधिकारी-भेदसे साधनमार्गमें भी भेद रखा गया है; सबके लिये एक ही पद्धति या एक ही पथ समीचीन नहीं है।

परमार्थ या परा विद्या प्राप्त करनेकी योग्यता न रखनेवाले व्यक्तिको उस विद्याका दान करना शास्त्रमें निषिद्ध माना गया है। इस निषेधका उद्देश्य है—शक्तिका दुरुपयोग और अपव्यय न होने देना। इस नियमके न माननेसे जो हानि होती है वह वर्तमान समाजके सारे अङ्गोंपर स्पष्ट झलक रही है। गीताके अठारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण महाराज अर्जुनसे कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

अर्थात् 'तपस्याविहीन, अभक्त या जिसको अभीतक इन सब बातोंको सुननेकी तीव्र इच्छा न हुई हो और जो गुरुसेवापरायण न हो या जो मुझसे असूया रखता हो, ऐसे व्यक्तिसे ये बातें मत कहना।' भगवान्‌के इन निषेधवचनोंको न माननेके कारण ही श्रीराधाकृष्ण-सम्बन्धी परम प्रेमतत्त्व आजकल इहलौकिक आदिरस या स्थूल कामतत्त्वमें परिणत हो गया है और लोग उसपर दोषारोपण करते हैं। गिरिगोवर्धन धारण करनेकी शक्ति चाहे कल्पनामें भी न हो, पर वस्त्रहरणलीलाका अनुकरण करनेको तो 'भगतजी' प्रायः तैयार ही रहते हैं! हा दुर्दैव!

वेदान्त-सूत्रका प्रथम सूत्र है—'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।**' अर्थात् अब इसके बाद ब्रह्मजिज्ञासाकी अवस्था है। अथ अतः=अब इसके बाद; किसके बाद? अभी तो ग्रन्थ आरम्भ ही हो रहा है। इस सूत्रके भाष्यमें शङ्करप्रतिम श्रीशङ्कराचार्यजी क्या कहते हैं, सुनिये—

(क) नित्यानित्यवस्तुविवेक—यानी कौन वस्तु नित्य और कौन अनित्य है, इसका पूरा ज्ञान लाभ कर लेनेपर।

(ख) इहामुत्रफलभोगविराग—इस लोक और स्वर्गादि परलोकोंके विशाल भोगोंको भोगनेकी इच्छासे सर्वथा विरक्त हो जानेपर।

(ग) शमदमादि षट्साधन-सम्पत्तिको प्राप्त कर लेनेपर; ये छः इस प्रकार हैं—

(१) शम—आन्तर इन्द्रियोंको (मन-बुद्धि आदिको) वशीभूत करना।

(२) दम—बहिरिन्द्रियोंका निरोध करना।

(३) उपरति—विषयोंसे चित्तका हट जाना। उपरतिका अर्थ कोई कर्मसंन्यास, कोई भगवत्-कथा और कोई नाममें रुचि होना भी करते हैं।

(४) तितिक्षा—द्वन्द्व-सहिष्णुता यानी सुख-दुःख, लाभ-हानि, शीत-ग्रीष्म इन सबको समान भावसे ग्रहण करनेकी योग्यता।

(५) श्रद्धा—गुरु और वेदान्त-वाक्योंपर अटल विश्वास।

(६) समाधान—भगवान्‌में एकाग्रता।

(घ) मुमुक्षुत्व—मोक्ष प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा; केवल सामयिक उत्तेजना नहीं, बल्कि तीव्र और लगातार अभिलाषा होनेपर।

ऊपर लिखी हुई इन अवस्थाओंको प्राप्त कर लेनेपर जीवको ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार होता है। इन अवस्थाओंको प्राप्त कर शिष्य जब समिधा हाथमें लेकर गुरुके निकट जाकर अति विनीतभावसे ब्रह्मविद्याकी याचना करता था, तब गुरु महाराज शिष्यकी योग्यताका विचार कर उसे गुप्त विद्या प्रदान करते थे; यही थी सनातन प्रथा, न कि आजकलकी तरह केवल १।) सवा रुपया दक्षिणा पानेपर ही मन्त्र दे दिया जाता था। अब विचार कीजिये कि जब ब्रह्मके बारेमें केवल कुछ पूछनेका अधिकार प्राप्त करनेके लिये ही इन सब अवस्थाओंका शिष्यमें रहना आवश्यक है, तब स्वयं आनन्दकन्द ब्रह्मका आलिङ्गन और उपभोग करनेके लिये तो जीवको कितना अधिक उन्नत, कितना अधिक निर्मल और कितना अधिक त्यागी होना चाहिये। यदि कोई

गोपीप्राणसे अनुप्राणित न हो, गोपीभावसे पूर्ण अनुभावित न हो तो उसे वृन्दावनलीला समझनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। अन्यथा लाभकी आशा तो है ही नहीं, उलटे ऊपरके अग्निस्वरूप आवरणके स्पर्शसे क्षति होनेकी ही सम्भावना अधिक है।

काम और प्रेम

उपनिषद् कहते हैं—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

अर्थात् जीव आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं, आनन्दहीमें बढ़ते हैं और फिर आनन्दमें ही डूबकर विलीन हो जाते हैं। अतएव आनन्दकी ही अभिलाषा करना जीवका स्वभाव है, यह उसका स्वरूपधर्म है। जीव सदा ही आनन्दकी चेष्टाओंमें लगा रहता है। और दुःखसे सदाके लिये छुटकारा दिलाना ही सब दर्शनशास्त्रोंका उद्देश्य है। परन्तु महामायाके मायाजालमें फँस जानेके कारण जीव एक मनमाने स्थूल 'अहम्' में तन्मय होकर असली 'अहम्' को भूल गया है; असली 'अहम्' नकली 'अहम्' में खो गया है। इसीलिये जीव इस नकली 'अहम्' को सन्तुष्ट करके आनन्द पानेकी आशासे एक पदार्थसे दूसरे पदार्थपर धावा बोल रहा है, परन्तु तृप्त कहीं नहीं होता। इसी मनोवृत्तिको 'काम' कहते हैं। तृप्ति न होनेका कारण यह है कि यह चाहता है पूर्ण और नित्य अविनाशी आत्यन्तिक सुखको और संसारके कुल पदार्थ हैं नश्वर, ये आज हैं कल नहीं, या आज जिस रूपमें हैं कल उस रूपमें दिखायी नहीं पड़ते, प्रतिक्षण रूपान्तरित हो रहे हैं। यहाँतक कि अवस्थाभेदके कारण एक ही वस्तु एक ही जीवको कभी सुखदायक तो कभी दुःखदायक प्रतीत होती है और अवस्थान्तर प्राप्त होनेपर जिस पदार्थकी प्राप्तिके लिये जीव पहले व्याकुल था, उसीके प्राप्त होनेपर वह उसकी ओर ताकना भी नहीं चाहता। इसी अवस्थान्तरको लक्ष्य कर श्रीशङ्कराचार्यने कहा है—

बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥

और अन्तमें प्रेमको ही प्राप्तव्य वस्तु समझकर आचार्यने घोषणा की है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

हे मूढ़मति! तू बस गोविन्दका ही भजन कर।

काम मनकी एक वृत्ति है; परन्तु प्रेम कोई मनोवृत्ति नहीं है। प्रेम जीवका स्वभाव है, स्वधर्म है। किसी भी पदार्थकी अपेक्षा न रखकर जीव केवल आनन्द-भोग करना चाहता है। आनन्दसागरमें डूबनेकी चिदानन्दकण जीवकी जो यह व्याकुलता है, इसीका नाम प्रेम है। भक्तिसूत्रमें लिखा है—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे'—भगवान्‌में सबसे अधिक अनुरक्तिको प्रेम कहते हैं।

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।

—विष्णुमें अनन्य भाव होनेको प्रेम कहते हैं।

वङ्गदेशीय वैष्णव भक्तकवि श्रीकविराज गोस्वामीजीने काम और प्रेमका विभेद बड़ी सुन्दरतासे इन पदोंमें बताया है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बले काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्णसुख तात्पर्य मात्र प्रेम महाबल॥

अर्थात् जो अपने ही सुखकी इच्छा है, उसे 'काम' कहते हैं; परन्तु सेवा करके प्रेमास्पद श्रीकृष्ण महाराजकी प्रीति सम्पादन करनेकी इच्छाका नाम प्रेम है। कामका तात्पर्य केवल अपना ही भोग है; परन्तु कृष्णके प्रीत्यर्थ जो कुछ चेष्टा होती है, वह प्रेम है।

जो पदार्थ अपने पास न हो अथवा अपना न हो, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा काम या कामना कहलाती है। परन्तु जिस वस्तुपर हमारा नित्य स्वत्व हो, जो वस्तु हमारी हो उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करना, कामनाकी तरह दिखायी पड़नेपर भी, वास्तवमें कामना नहीं कहा जा सकता। श्रीभगवान्‌पर जीवका नित्य स्वत्व है, श्रीभगवान् सदा हमारे हैं, उनसे हमारा यह सम्बन्ध कभी छूटनेवाला नहीं है; गयाजीकी अन्तःसलिला फल्गुनदीके जलके सदृश जीवहृदयमें भगवत्-प्राप्तिकी वासना गुप्तरूपसे सदैव प्रवाहित होती रहती है। यही है प्रेम। यह कामना नहीं है, यह जीवका स्वभाव और स्वधर्म है। श्रीभगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

अर्थात् जिनकी बुद्धि मुझमें ही निवेशित है, उनकी कामनावासना नहीं कही जा सकती; धानको भूनकर

कूट देनेपर फिर उससे अङ्कुर नहीं निकलता, उस कामनासे कर्मफल नहीं भोगना पड़ता।

यहाँतक संक्षेपमें हमने उपर्युक्त विषयोंका विवेचन किया—विस्तारके लिये तो इस विषयमें जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। आशा है, अब इसके आधारपर हमें भागवती लीला समझनेमें बहुत कम कठिनाई होगी। अतएव हम अब रासलीलापर विचार करनेकी चेष्टा करते हैं।*

रासलीला

'रास' शब्दका अर्थ है रसका समूह या ढेर। अलङ्कारशास्त्रमें नौ प्रकारके रस वर्णित हैं,—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत और (९) शान्त। प्रकार-भेदसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्रत्येक रसकी उपभोग्य वस्तु एक आनन्द ही है। जीव जिस समय जिस रसका अभिनय करता है, उस समय उसे वही रस आनन्ददायक प्रतीत होता है। वैकुण्ठवासी नीलकान्त गोस्वामीजीने इस विषयपर एक सुन्दर उदाहरण दिया है—'कहीं नाटक खेला जानेवाला है; गानेवाला ता-ना-ना-ना करता हुआ स्वर मिला रहा है, ढोलक तिरकट-तिरकट आवाज लगा रहा है, सारंगी कों-कों कर रही है, मजीरा टुं-टां बज रहा है, तानपूरा म्याओ-म्याओ करता हुआ सुर जमा रहा है, सबसे भिन्न-भिन्न ही प्रकारके शब्द निकल रहे हैं, परन्तु रसज्ञ व्यक्ति मात्र जानते हैं कि सब एक ही सुरमें बज रहे हैं।' इसी तरह इस जगत्रूपी नाट्यशालामें भी कोई हँस रहा है, कोई रो रहा है, कोई गाता है, कोई क्रोधित है, कोई शान्त है इत्यादि; परन्तु सभीका मुख्य उद्देश्य, बस, वही एक आनन्द ही प्राप्त करना है। श्रुति भी कहती है—

रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

'वह रस है, उसी रसको प्राप्त करनेपर जीव आनन्दमय हो जाता है।' इस तरह ब्रह्म आनन्द है और रस भी है; अतएव रसकी लीला यानी ब्रह्मकी लीला ही रासलीला है। साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म ही श्रीकृष्ण हैं और उनकी लीला ही रासलीला है।

यह लीला सदैव तीन प्रकारसे हो रही है—

(१) निर्गुण अवस्थामें—नित्य चिन्मय अप्राकृत धाममें, प्रकृतिसे अतीत देशमें यह नित्यलीला नित्य ही हो रही है। यह अनिर्वचनीय है। कहने-सुननेमें नहीं आती।

(२) प्रत्येक जीवके हृदयमें—हृदय-वृन्दावनमें आध्यात्मिक लीला हो रही है।

(३) अप्राकृतिक होते हुए भी योगमायाके सहारे प्राकृत अभिनयके समान दीखती हुई वृन्दावनमें प्रकटलीला चल रही है। भक्त कहते हैं—

एखन ओ सेई लीला करे श्यामराय,
कोन कोन भाग्यवाने देखिबारे पाय।

'अब भी श्यामसुन्दर वृन्दावनमें वही लीला कर रहे हैं, कोई-कोई भाग्यवान् उसे देखते भी हैं!'

प्रत्येक जीवके हृदयमें जीवात्मा है और परमात्मा भी हैं। अतएव भक्ति या प्रेम है, और भगवान् या आनन्द भी है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि जहाँ प्रेम होगा वहाँ आनन्द भी जरूर होगा। प्रेम और आनन्दका संयोग होनेपर दोनोंमें जो एक स्पन्दन होता है, वही है रासनर्त्तन। वही महाभाव और रसराजका मिलनरूप महायोग है। आनन्दमय परमपति श्रीपतिसे मिलना ही जीवरूपा प्रकृतिका आनन्दभोग या रमण है; और शरणागत भक्तकी अनन्य आकाङ्क्षाको पूर्ण करना ही उस भक्ताधीन भगवान्‌का आनन्दभोग या रमण है; नहीं तो उस आत्माराम आप्तकाममें कामना और इच्छाको अवकाश ही कहाँ? भक्ति ही उस अनन्त असीम पुरुषोत्तमको सान्त और ससीमरूपमें दिखाती है। भक्तके लिये भगवान् अपनी योगमायाके सहारे यह रमणका दिव्य अभिनय करते हैं। प्राकृत नर-नारियोंके प्राकृत रमणकी भाँति श्रीगोपी-कृष्णरासमें बाह्य क्रिया कुछ भी नहीं है, है केवल निर्मल, विशुद्ध और इन्द्रियातीत आनन्द-ही-आनन्द! प्रेम-ही-प्रेम!! रसशास्त्रमें रासक्रीड़ा इसको कहते हैं—

नटैर्गृहीतकण्ठीनामन्योन्यात्तकरस्त्रियाम्।
नर्त्तकीनां भवेद्रासो मण्डलीभूय नर्त्तनम्॥

लीलाको ठीक रस-शास्त्रानुसार रखनेके लिये

* भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और गोपीप्रेमको अधिक समझनेके लिये श्रीगीताप्रेससे प्रकाशित 'गोपीप्रेम' और 'प्रेमदर्शन' नामक पुस्तकें पढ़नी चाहिये।

भागवतमें रासका वर्णन ऊपर लिखे हुए श्लोकके अनुरूप किया गया है। परन्तु इस मण्डली-नृत्यपर जरा गहरा ध्यान देनेसे इसमें ब्रह्मानन्दकी अनन्तता स्पष्ट सूचित होती है। वृत्तमें कहीं प्रारम्भ और शेष नहीं है; फिर देखिये, रासकालमें जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही श्रीकृष्ण थे। एक श्रीकृष्णसे उतनी ही कृष्णमूर्तियोंका प्रादुर्भाव होना उनके पूर्णत्व और योगेश्वरत्वको सूचित करता है। श्रुति कहती है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इस संसारमें रहता हुआ जीव किस उपायसे उस प्रेमस्वरूपसे मिलित हो सकता है, यही सिखानेके लिये काम-गन्धरहित प्रेमरूपी गोपियोंको निमित्तमात्र बनाकर आनन्दकन्द मदनमोहनने जो लीला की थी, वही रासलीला है।

अब रास-पञ्चाध्यायीकी कथाका वर्णन और उसकी आलोचना करके इसका विचार करें कि वेदान्तकी ब्रह्मजिज्ञासाके भाष्यमें आचार्य शङ्करने सच्छिष्यके लिये जिन अवस्थाओंको प्राप्त करना अत्यावश्यक कहा है, उसको गोपियाँ कहाँतक पा चुकी थीं।

रासलीला—कथाभाग

प्रथम अध्याय

पूरे एक वर्षतक कात्यायनी-व्रत धारण करनेके बाद गोपियोंने जिस दिन व्रतका उद्यापन किया, उस दिन निरुपद्रव व्रत पूरा होनेके कारण वे आनन्दित होकर यमुनामें अवगाहन करने गयीं। इस व्रतसे गोपियोंको अधिकारकी पक्कावस्था प्राप्त हुई या नहीं, इसकी परीक्षा करनेके लिये मायाधीशने एक माया रची। वे चुपके-से आकर गोपियोंके वस्त्रोंके ढेरको उठाकर पेड़पर चढ़ गये। थोड़ी देर बाद जब गोपियोंकी दृष्टि यमुना-तटके कदम्बवृक्षपर कपड़ेके ढेर और उसकी आड़में छिपे हुए वस्त्र-चोर बालक कृष्णपर पड़ी, तब तो वे एकदम लज्जासे विवश हो गर्दनभर पानीमें चली गयीं और कातर स्वरसे हाथ जोड़कर वस्त्र वापस माँगने लगीं। उनकी सारी अनुनय-विनयका बस एक ही उत्तर मिलता गया—'पानीसे ऊपर आकर अपना-अपना वस्त्र ले जाओ।' इसी आचरणके कारण आज हमारे शिक्षित भाई श्रीकृष्ण महाराजको लम्पट इत्यादि अनेकों अशिष्ट विशेषणोंसे विशिष्ट करते हैं; परन्तु वे शिक्षित हैं, अङ्गरेजीकी बहुतेरी पुस्तकें पढ़ चुके हैं, सम्भवतः बाइबिलके इन शब्दोंपर भी कि "Come ye naked to the naked Christ (तुम नंगे ईसाके पास नंगे होकर जाओ)", उनकी दृष्टि पड़ी होगी और इसके अर्थको भी वे भलीभाँति समझते ही होंगे; फिर भी श्रीकृष्ण-लीलापर वे कटाक्ष क्यों करते हैं, यह हमारी समझमें नहीं आता। जबतक अज्ञान है, परमात्मासे भेद है, तभीतक लज्जा और भयका आवरण है। परिपक्व अवस्था प्राप्त होनेपर, नित्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर किसी आवरणकी आवश्यकता नहीं रहती; ज्ञानरूपी शङ्कर दिगम्बर ही हैं। वेदान्तके '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' सूत्रके भाष्यका विचार करते समय यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार प्राप्त करनेका पहला सोपान है—'नित्यानित्यवस्तुविवेक', नित्य और अनित्य वस्तुका ज्ञान। सालभरतक व्रताचरण करनेपर भी गोपियोंको नित्य वस्तुकी धारणा नहीं हुई थी, यही वस्त्रहरणलीलासे प्रमाणित करना था। गोपियाँ अभीतक ब्रह्मजिज्ञासाकी अधिकारिणी नहीं हुई थीं, फिर वे ब्रह्मसङ्ग कैसे पा सकती थीं? यदि गोपियोंके साथ लम्पटकी ही नाईं आचरण करना होता तो इस प्रकार अयाचित आयी हुई गोपियोंको श्रीकृष्ण महाराज उस दिन कदापि लौटा नहीं देते, और न फिरसे एक वर्षतक व्रत-नियमका पालन कर चित्तकी निर्मलता साधनेके लिये कहते!

इसके बाद सालभर व्यतीत हो जानेपर शरत्कालकी एक सन्ध्याको आप्तकाम योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने मुरलीके सङ्केतसे साधिकाशिरोमणि गोपियोंका आह्वान किया। रासपञ्चाध्यायी यहींसे शुरू होती है। जिस समय श्यामकी मधुर वंशीका मोहन सुर सुनायी पड़ा, उस समय कोई गोपी गाय दुहनेमें, कोई दूध औंटानेमें, कोई रसोई बनानेमें, कोई पति-पुत्रादिकी सेवामें और कोई अपना शृङ्गार करनेमें लीन थी। परन्तु उस वंशीध्वनिको सुनते ही कुल गोपियाँ अपने हाथके काम ज्यों-के-त्यों छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलनेके लिये उठ चलीं। इस वर्णनके द्वारा श्रीव्यासदेवजी गोपियोंके धर्म, अर्थ और कामनाका त्याग बड़ी चतुराईके साथ दिखाते हैं। गायोंका दुहना, दूध गरम करना या रसोई बनाना छोड़नेमें उन सब वस्तुओंके नष्ट होनेकी परवा न करनेके कारण इनका अर्थत्याग, अपने भोजन और

प्रसाधनको छोड़नेसे कामनाका त्याग, और गुरु-आज्ञा तथा नीति और समाजकी मर्यादाका उल्लंघन कर घरसे चल देनेसे इनका धर्मत्याग स्पष्ट सिद्ध होता है। फिर रासलीलाका अप्राकृतत्व दिखलानेके लिये परमभागवत श्रीव्यासदेवजीने यहाँपर एक बड़ा ही मनोहर श्लोक रच दिया है। उन्होंने चुपकेसे कह दिया है कि कुछ गोपियाँ अपने पति और पुत्र आदिके रोकनेके कारण रासमें नहीं जा सकीं। क्यों? इनमें अपने-अपने पति-पुत्रोंके प्रति कुछ ममता रह गयी थी। किसी भी वस्तुपर जबतक 'अहम्—मम' ज्ञान रहता है तबतक ब्रह्मप्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिये तो चाहिये 'अनन्यममता', सब कुछ भूलकर केवल एक भगवान्‌की ही अनन्य चाह होनी चाहिये। इसीको 'भगवत्-प्रेम' कहते हैं।

पर इतनी व्यग्रता और आकुलतासे उपस्थित होनेपर भी चतुर हरिने उन्हें स्वीकार नहीं किया और यह परीक्षा करने लगे कि देखें, गोपियाँ कामपीड़िता होकर आयी हैं या प्रेमविह्वला होकर। भगवान्‌को तो स्वयं असली बात मालूम ही थी, परन्तु वे संसारके जीवोंको यह दिखाना और सिखाना चाहते थे कि कामके आकर्षणसे नहीं, बल्कि प्रेमके पवित्र आह्वानसे आकुल होकर सर्वस्वका त्याग करनेपर ही भगवद्दर्शन प्राप्त होता है।

गोपियोंको उपस्थित देखकर योगमायाके अधीश्वर हमारे नटराज पूछने लगे—'हे भाग्यवती गोपियो! तुम सब अच्छी हो न? व्रजमें सब तरहसे मङ्गल है न? तुम सब यहाँ क्यों आयी हो? ऐसी रात्रिके समय कुलकामिनियोंका जङ्गलमें आना अच्छा नहीं है। इस जङ्गलमें तुम्हें आवश्यकता ही क्या है? पति-पुत्रकी सेवा करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है; ज्योत्स्नामें वनकी शोभा तो तुमने देख ही ली, अब जाओ, घर लौट जाओ।' इसके उत्तरमें गोपियोंने जो कुछ बातें कही हैं, उनके द्वारा उनके तत्कालीन मनोभावको भगवान् व्यासने बड़ी ही कुशलतासे व्यक्त किया है। सब तरहसे समझानेके बाद अन्तमें पवित्र पातिव्रतधर्मका स्मरण कराते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

अर्थात् यदि पातकी न हो तो पतिके दुःशील, दुर्भाग्य, वृद्ध, असमर्थ, रोगी और निर्धन होनेपर भी इहलोक और परलोकमें सुख चाहनेवाली रमणी उसका परित्याग न करे। फिर आगे चलकर कहते हैं—

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः॥

अर्थात् 'कुलनारीका उपपतिके साथ रहना अत्यन्त नीच कार्य है; और वह बहुत ही कष्टप्रद चेष्टासे होनेवाला तथा भयावह भी है। उपपतिका संग करनेसे कुलस्त्रियोंको स्वर्ग नहीं मिलता, उनका विमल यश लोप हो जाता है, और देश-परदेशमें लोग उसकी निन्दा भी करते हैं।' भगवान्‌के बाह्यरूपपर मोहित होकर केवल देहसंग प्राप्त करनेके निमित्त गोपियाँ आयी हैं या धर्माधर्मके परे पहुँचकर नित्यपति श्रीपतिको चाहती हैं, यहाँ इसकी बड़ी कठिन परीक्षा चल रही है।

जिनका वंशी-शब्द सुनकर विवश होकर घर-द्वार छोड़कर, पति-पुत्रका त्याग कर जिनसे मिलनेके लिये गोपियाँ आयी थीं, उनके श्रीमुखसे ऐसी उपेक्षाकी बातें सुनकर भी गोपियाँ जरा भी विचलित नहीं हुईं, बल्कि स्थिर होकर वे यों उत्तर देने लगीं—'हे विभो! हे स्वच्छन्द पुरुष! हमलोगोंने लोक-परलोकके सब सुखोंको तिलाञ्जलि देकर तुम्हारे चरणोंका आश्रय लिया है। इस संसारमें हमलोगोंके लिये दूसरा और कोई नहीं है। तुम कहते हो कि पति-पुत्रकी सेवा करना ही हमलोगोंका धर्म है। तुम जो कहते हो, वह सब सही है। परन्तु अजी धर्मधुरन्धर! जरा यह तो बतलाओ कि इस निखिल विश्वके अधिवासियोंका अपने-से-अपना, प्राणोंसे भी प्यारा बन्धु, जो श्मशानमें भी साथ देता है—जो लोक-परलोकमें कभी संग नहीं छोड़ता वह तुम्हारे सिवा और कोई है? भरण-पोषण करनेवालेको भर्त्ता और रक्षा करनेवालेको पाता कहते हैं और उसीको पति कहा जाता है। पुत् नामके नरकसे त्राण करनेवालेको पुत्र कहते हैं। कहो तो सही, जीवके लिये तुमसे बढ़कर भर्त्ता, पाता और नरकसे त्राण करनेवाला कहीं कोई दूसरा है? सुरलोकके पालनेवाले आदिदेव नारायणकी भाँति तुम तो व्रजवासियोंके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों तापोंको दूर करनेके लिये ही अवतीर्ण हुए हो, अब इन दीन भक्तोंके साथ छल न करके प्रसन्न हो जाओ।' पाठक

स्वयं विचार करें कि इस उक्तिमें कहीं भी आपको कामकी कुछ भी गन्ध मिली? क्या आपको यह भाषण कुलटा नारीके जारके साथ बात-चीत करने-जैसा मालूम होता है? अथवा यह भगवत्-चरणमें लिपटनेके लिये जीवका मर्मभेदी हाहाकार-सा प्रतीत होता है? भगवान् श्रीकृष्णको पति-रूपसे प्राप्त करनेके लिये गोपियाँ एकत्रित होकर कात्यायनी-व्रत करती थीं; अब आप उनके 'पति' शब्दका तात्पर्य भलीभाँति समझ गये होंगे। आप पण्डित और शिक्षित हैं; अब आप ही विचार कर लें कि यह प्राकृत कामकथा है अथवा कामगन्धशून्य परम प्रेमालाप है?

संक्षेपसे प्रथम अध्यायकी कथा समाप्त हो गयी। क्यों, गोपियोंके आचरणसे ज्ञानमार्गियोंका 'अतत् निरसन' और योगियोंका 'ईश्वरप्रणिधान' पूरी तरह सूचित हो गया न? इस परीक्षाद्वारा संसारी जीवोंको दिखाया गया है कि ज्ञानयोगीका 'नित्यानित्यवस्तु-विवेक' और 'इहामुत्रफलभोगवैराग्य' भक्तियोगीको अनायास ही सिद्ध हो जाता है।

अवस्था परिपक्व न होनेके कारण जीवका आरोहण-अवरोहण सदैव होता ही रहता है। साधनपथके इस विघ्नको दिखानेके लिये ही यहाँ लीलामय श्रीभगवान्ने लीलासे ही शुद्ध और सद्भक्तोंकी परम आदर्श गोपियोंके मनमें कुछ अभिमानका बीज वपन कर दिया। निरभिमानिनी भगवद्भक्त गोपियोंको अपने सौभाग्यपर कुछ गर्व-सा हो गया। 'संसारके अन्य जीवोंकी अपेक्षा हम धन्य हैं और बड़ी हैं।' ऐसा भाव उनके मनमें आ गया! अन्तर्यामी श्रीभगवान्से यह छिपा न रहा; भक्तोंके उस दोषको दूर करनेके लिये कृपाके वशीभूत होकर कृपानिधान "**तत्रैवान्तरधीयत**"—वहीं अन्तर्धान हो गये; अर्थात् गर्वके कारण गोपियोंकी निर्मल दृष्टिपर कुछ परदा पड़ गया और मोहसे दृष्टि अवरुद्ध हो जानेके कारण वे भगवान्को न देख सकीं।

द्वितीय अध्याय

दूसरे अध्यायमें श्रीभगवान्को न देखनेपर उनके विरहमें व्याकुल होकर गोपियोंके तद्गतमानस हो जाने और उन्हींकी लीलाओंके अनुकरण करनेका वर्णन है। यही है योगकी तन्मयतापूर्ण महासमाधि और भक्तिमार्गका विशुद्ध प्रेमयोग। श्रीभगवान्में अनन्यचित्ता गोपियोंकी तदाकारकारिता इस अध्यायमें सुस्पष्टरूपमें दिखायी गयी है। इस अध्यायमें वर्णित गोपियोंका आचरण हमें ध्येयाकार प्राप्त किये हुए योगियोंकी अवस्था याद दिलाता है।

गोपियाँ तन्मय होकर चेतन और अचेतन पदार्थमात्रसे ही श्रीकृष्णचन्द्रकी वार्त्ता पूछने लगीं। आरूढ भक्तकी अवस्था और ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके लिये इच्छुक शिष्यकी अवस्था एक ही होती है। इस आकुल भावके बिना, इस व्याकुलताके बिना तत्त्ववस्तु नहीं मिलती। नदियाविहारी श्रीचैत्यमहाप्रभुने भी अपने आचरणके द्वारा इसी मधुर भावकी शिक्षा जीवोंको दी है। ज्ञानयोगका नित्यानित्यवस्तुविवेक और भक्तियोगकी अनन्य ममता एक ही बात है।

जब स्थावर-अस्थावर, चेतन-अचेतन सबसे पूछनेपर भी गोपियाँ सफलमनोरथ न हुईं, अपने प्राणप्रियतम गोविन्दका पता न लगा सकीं, तब वे उन्हींकी चिन्तामें तन्मय होकर, सुध-बुध भुलाकर उन्हींमें लवलीन हो गयीं और प्रत्येक गोपी अपनेको श्रीकृष्ण समझकर उनकी लीलाका अनुकरण करने लगी। यही है महर्षि पतञ्जलिकथित चित्तवृत्तिनिरोध!

यम-नियमादिके अभ्याससे ईश्वरमें तन्मयता प्राप्त होती है और केवल गाढ़ चिन्तनसे भी तन्मयता प्राप्त हो सकती है। वृन्दावन-लीलामें ज्ञानयोग भी है और हठयोग भी; परन्तु ये दोनों भाव या योग प्रगाढ़ प्रेमयोगसे ढके हुए दिखायी देते हैं। गोपियोंके वाक्य और आचरणसे यह स्पष्ट हो जाता है।

इस तरह गोपियाँ कभी तो समाधिस्थ तद्गतात्मा होकर उनकी लीलाका अनुकरण करने लगीं, और कभी योगियोंकी व्युत्थित दशाकी तरह थोड़ी-सी बाह्यावस्था प्राप्तकर अपने प्राण-प्रियतमको ढूँढ़ने लगीं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्हें श्रीभगवान्के पदचिह्न दिखायी पड़े। उन्हींका अनुसरण करती हुई रोरुद्यमाना श्रीमती राधारानीजीको उन्होंने देखा। श्रीराधाजीसे उनकी दशाका वर्णन सुनकर सब मिलकर भगवान्का फिर अन्वेषण करने लगीं। इतना होनेपर भी उन्हें '**नात्मागाराणि सस्मरुः**'—अपने देह-गेहका स्मरण भी न आया, सब एकत्रित होकर कालिन्दी-तटपर जाकर श्रीकृष्णभजन और विलाप करने लगीं। द्वितीय अध्याय यहीं समाप्त हो जाता है। जब गोपियोंका गर्व दूर हो गया और

वे मानके मदसे छुटकारा पाकर अन्य सभी भावनाओं और चिन्ताओंको त्यागकर केवल श्रीकृष्णके ही चिन्तनमें लवलीन हो गयीं, तब उन्हें भगवान्‌के कुछ पदचिह्न दिखायी पड़े यानी उनकी अस्पष्ट झलक आने लगी। इस भावसे शिक्षा ग्रहणकर साधकोंको गर्वका त्याग करना चाहिये।

तृतीय अध्याय

तीसरे अध्यायमें गोपियोंका विलाप दिया गया है। उस विलापमें जिन-जिन विशेषणोंसे गोपियोंने श्रीकृष्णचन्द्रको विभूषित किया है, उनसे यह पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है कि श्रीवृन्दावनचन्द्रमें उनका भगवद्भाव ही था।

इस अध्यायमें केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये शुद्ध जीवकी प्रार्थना और विलापोंका ही वर्णन है। प्रेमी भक्तोंका भावोद्गार अत्यन्त ही मनोहर और हृदयग्राही होता है, और तिसपर काव्यानुमोदी पाठकोंके लिये कविने विरहिणी नायिकाका भाव सुस्पष्टकर उसे और भी मधुरसे भी मधुर बना दिया है, भागवतके भक्त पाठकोंसे यह बात छिपी नहीं है। परन्तु इस विलापमें यदि डूबकर विचार किया जाय तो इसमें भगवान्‌के लिये तड़पनेवाले प्रेमी भक्तका ही भाव अधिक और स्पष्ट देखनेमें आता है।

गोपियाँ अति करुणभावसे गाती हैं—'हे कृष्ण! तुम्हारे ही आगमनसे आज यह व्रज-भूमि सब पुण्य-भूमियोंकी शिरोमणि हो रही है। तुम्हारे ही आगमनके कारण आज श्रीचञ्चलादेवी भी अचला होकर यहाँ विराज रही हैं। हे पुरुषोत्तम! तुमने अघासुर, बकासुर और कालियनागके भयसे हमें बचाया है, इन्द्रके कोपसे हमें उबारा है, फिर आज क्यों नेत्रगोचर नहीं हो रहे हो? हम लोग जानती हैं कि तुम कदापि गोपपुत्र नहीं हो, तुम तो प्राणिमात्रके अन्तरमें निवास करनेवाले हो, तुम केवल ब्रह्माकी प्रार्थनासे पृथ्वीका पालन करनेके लिये इस यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हो। हे यदुकुलतिलक! हे रमणीय बालक! अब तुम हमसे छिपे नहीं रह सकते; बहुत सहकर यह तत्त्व पहचाना है, अब हम भुलावेमें नहीं आवेंगी। हे सखा! संसारभयसे भीत होकर अपने चरणोंका आश्रय ग्रहण करनेवाले भक्तोंको तुम अपने जिन करकमलोंसे अभय प्रदान करते हो, और जिन करकमलोंसे श्रीकमलादेवीका कर ग्रहण करते हो, एक बार-केवल एक ही बार वही श्रीकर हमारे मस्तकपर रखकर उसके उत्तमाङ्ग नामको सफल कर दो। हे व्रजदुःखदलन! हे बन्धु! अपने उस हास्यजटित सुन्दर मुखमण्डलका दर्शन एक बार हमें करा दो। प्रणतजनके समस्त पापोंको एकबारगी ही मेट देनेवाले उन अरुण चरण-कमलोंको, जिनका लालच श्रीरमादेवी तुम्हारे विशाल वक्षःस्थलपर स्थान प्राप्त करनेपर भी न छोड़ सकीं और सर्वदा उन चरणोंके सेवामें ही लगी रहती हैं, एक बार उन अरुण चरणोंको हमारे हृदयपर रखकर उसकी सब चेष्टाएँ और सब कामनाएँ जड़से उखाड़ दो, जिसमें हम कामातीत हो जायँ। कामानलसे अत्यन्त तापित हम तुम्हारी दासी हैं! हे प्रियतम! हे छली! तुम्हारी वह मधुर-मधुर हँसी, प्रणय-निमीलित दृष्टि, मनोमुग्धकर हास-परिहास हमलोग कभी नहीं भूल सकतीं। हमारा मन बहुत ही व्याकुल हो रहा है। सन्ध्यासमय गायोंके समूहको लेकर वनसे लौटते समय तुमने अपने नील कुन्तलसे आवृत और गोधूलि-धूसरित मुखकमलकी माधुरी झाँकी दिखा-दिखाकर हमलोगोंको सर्वथा वशीभूत कर लिया है। पलकहीन नेत्रोंसे देखते रहनेपर भी तुम्हारे उस विश्व-विमोहन रूपको देखनेकी हमारी तृष्णा कभी नहीं मिटती, हम सदा अतृप्त ही रहती हैं। उस लोभनीय रूपसुधाका हम जितना ही पान करती हैं, उतनी ही हमारी तृष्णा बढ़ती जाती है। तुम्हारी बाँसुरीसे आकृष्ट होकर घर-द्वार छोड़कर इस गम्भीर रात्रिके समय इस भयङ्कर वनमें तुम्हारे ही आह्वानपर हमलोग एकत्रित हुई हैं।'

इस तरह कभी तो प्रणयिनी स्त्री-भावसे और कभी सर्वस्वत्यागी प्रेमी भक्तके भावसे गोपियाँ करुण विलाप करने लगीं। इस रुदन और विलापके सुख और आनन्दको तो वही भाग्यवान् समझ सकता है जिसे इस प्रकार कभी स्वयं श्रीकृष्णसम अपने प्रियतमसे विलग होकर विरहाग्निमें जलकर सुखी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो!

अब पाठक इस गोपीगीतपर विचार करें। यह कितना पवित्र और आकर्षक है! इस अध्यायको गोपी-गीता भी कहते हैं। आप दूसरे अध्यायमें सुन चुके हैं कि गोपियाँ इस अभिलाषासे व्रत करती थीं

कि श्रीकृष्ण हमारे पति हों, और वे 'पति' शब्दसे क्या समझती थीं, यह भी अब आप गोपियोंकी ही उक्तिसे समझ गये होंगे।

अब शास्त्र-वचन भी लीजिये—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च मानं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और मान ये आठ जीवके बन्धनके लिये पाशरूप हैं। गोपियोंके आचरणसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि अब उनको न घृणाकी बाधा है, न भय है, न शङ्का, न लज्जा, न लुकने-छिपनेका अभिनय, न शीलका ध्यान, न कुलका खयाल और न मान-मर्यादाका ही विचार है, वे अब आठों सुदृढ बन्धनोंको तोड़कर उनसे छुटकारा पा चुकी हैं। जीव जब इस अवस्थाको प्राप्त कर लेता है तब भगवत्प्राप्तिमें उसे कोई बाधा नहीं रहती। भक्ति-मार्गके पथिकको विरहिणी कामिनीकी तरह व्याकुल होकर, सर्वस्व त्यागकर, उन्मादिनी गोपी बनकर ही श्रीभगवान्‌के दर्शनके लिये निकल पड़ना होगा। कुल-शील, लज्जा-भय, धर्म-अधर्म, मान-अपमान, अपना-पराया और घर-बाहर, सबकी चिन्ता छोड़कर, इस लोक और परलोकका भी कुछ भी खयाल न कर केवल 'हा कन्हैया, हा कृष्ण, हा प्राणनाथ, हा प्रियतम, तुम कहाँ हो? एक बार हमें दर्शन दो' की करुण पुकार मचाते हुए बेचैनीके साथ भटकना होगा, तभी उस गोपीभावसे परिपूरित होनेपर गोपीजनवल्लभके संग-लाभकी आशा है। तीसरे अध्यायका आशय संक्षेपमें यही है।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्यायमें भगवान् और गोपियोंके पुनर्मिलनका वर्णन है और भक्त और भगवान्‌में क्या सम्बन्ध है, इस विषयको श्रीव्यासदेवजीने गोपियों और भगवान्‌के प्रश्नोत्तरके रूपमें बड़ी ही सुन्दरतासे बतलाया है।

गोपियोंके उस करुण और अकपट प्रेमपूर्ण व्यवहारसे आकर्षित होकर भगवान् **'तासामाविरभूत्'**—उन गोपियोंके बीचमें प्रकट हो गये। भगवान् तो सर्वव्यापी हैं, सर्वदा सब जगह विद्यमान हैं, उन्हें देखना न देखना तो जीवकी अपनी अवस्थापर निर्भर करता है। यदि एकाग्रता न हो, भगवान्‌में अनन्य ममता न हो, चित्त पूर्णरूपेण संसारमें लिपटा हुआ हो तो उनका दर्शन नहीं मिल सकता। एक ही साथ उस 'सत्' वस्तु और 'असत्' वस्तु दोनोंका धारण नहीं किया जा सकता। परन्तु जो इन नश्वर सांसारिक सुख-सम्भोगकी वासनाओंको छोड़कर इहलोक और परलोककी चिन्ताका पूर्णतया परित्याग कर, (क्योंकि सोनेकी जंजीर भी जंजीर ही होती है—**'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**) पाप-पुण्य दोनोंसे विलग होकर, गोपियोंकी भाँति अनन्यचित्त होकर श्रीभगवान्‌के लिये जी खोलकर, कपटरहित होकर करुण क्रन्दन करता है, और अपना जो कुछ है, सो सर्वस्व सम्पूर्णतया उनके समर्पण कर देता है, उसके ऐकान्तिक प्रेमके आकर्षणसे उन्हें अवश्य आकर दर्शन देने पड़ते हैं। वे भक्तके ही भगवान् कहलाते हैं। इस अध्यायमें परस्पर जो भक्तिसम्बन्धी प्रश्नोत्तर हुए हैं, वे ऐसे हैं कि उन्हें पढ़नेसे भी जीवन सार्थक हो जाता है।

अब जरा आख्यान-भागका आनन्द लूटिये। श्रीभगवान्‌को हठात् सामने उपस्थित देखकर गोपियोंके मृतप्राय शरीरोंमें पुनः चेतनाका सञ्चार हो आया। अब उनमें कोई भगवान्‌के हाथ पकड़कर, कोई चरण चापकर, कोई चर्वित ताम्बूल ग्रहणकर (या प्रदान कर), कोई कुपित भ्रुकुटी दिखाकर, यों सब अपना-अपना प्रणयप्रकाश करने लगीं। कोई केवल शान्तभावसे उनके मुखारविन्दको टकटकी लगाकर देखती ही रही। गोपियोंके इस भावका वर्णन करते हुए व्यासदेवजी लिखते हैं कि जीव गाढ़ निद्रासे भी आगेकी सुषुप्ति-अवस्थामें जाकर प्रज्ञा नामक चैतन्यसे मिलकर जैसे सन्तापशून्य हो जाते हैं, वैसे ही गोपियोंने श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दका दर्शन कर महान् तृप्तिका अनुभव किया। बताइये, इस उपमामें कामकी गन्ध भी कहीं आयी? बल्कि कितनी निपुणताके साथ यह सिद्ध कर दिया गया कि ज्ञानयोग और भक्तियोगके पन्थ अलग-अलग होनेपर भी दोनोंका फल एक ही है।

तदनन्तर गोपियोंने अपना-अपना ओढ़ना बिछाकर श्रीभगवान्‌के बैठने योग्य आसन बना दिया और श्रीहरि उसपर आसीन हो गये। तब एक गोपी श्रीमदनमोहनकी ओर कटाक्षपात करती हुई उनसे पूछने लगी—'हे श्यामसुन्दर! इस संसारमें तीन प्रकारके लोग दिखायी

पड़ते हैं। एक श्रेणीके तो वे लोग हैं जो अपने भजनेवालेको भजते हैं; दूसरी श्रेणी उन लोगोंकी है जो भजनेकी अपेक्षा न रख बिना भजे हुए भी भजते हैं, और तीसरी श्रेणीके लोग न भजनेकी तो बात ही क्या, भजनेपर भी नहीं भजते। आप इन तीनोंमेंसे किस श्रेणीके हैं?'

चतुर हरि गोपीके श्लेषको समझ गये और मधुर हँसी हँसकर बोले—'हे भाग्यवती! पहली श्रेणीके लोग, जो भजनेपर भजते हैं, वे प्रेमी नहीं हैं। यह तो वणिक्-धर्म अर्थात् लेन-देनकी बात है। तुम्हें कोई चाहे तब तुम उसे चाहती हो, यह तो हैतुक, सकाम अर्थात् स्वार्थसे भरा हुआ भाव है। ऐसे सौहार्दमें न प्रीति है, न धर्म; ऐसे मोल-तौलसे तो भगवान् नहीं मिलते। दूसरी श्रेणीमें जो 'न भजनेपर भजने' की बात है, यह या तो दयालु पुरुषोंसे हो सकती है या माता-पितासे। इसमें निर्मल धर्म अवश्य है और सौहार्द भी है; परोपकार करनेमें दयालुका धर्म-भाव और पुत्रमें स्नेहके कारण माता-पिताका सौहार्द स्पष्ट दिखायी देता है। परन्तु तुम्हारे भगवान् इस श्रेणीमें नहीं दीख पड़ते; क्योंकि भक्ति-भजनके बिना वह नहीं मिलते; और दया तो सत्त्वगुणका विकार है। गुणातीत होनेके कारण भगवान् दयालु मनुष्यके समान सत्त्वगुणके विकारके कारण दूसरेके दुःखसे दुखित होकर उसपर दया नहीं करते; वह तो भक्तके लिये, कातरके लिये सदा ही दयानिधि हैं। फिर देखो, माता-पिताका स्नेह केवल अपनी ही सन्तानपर होता है। परन्तु भगवत्-कृपा तो अखिल ब्रह्माण्डव्यापिनी है—**'झरत अविरत धारा सों'**। गीतामें स्वयं भगवान्ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

अतएव भगवान् बिना भजे नहीं भजते, इसलिये उनकी गिनती इस श्रेणीमें भी नहीं हो सकती।

तुम्हारी तीसरी श्रेणीमें आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ या गुरुद्रोहीकी गिनती हो सकती है। हे सती! आत्माराम पुरुष आत्मानन्दमें सर्वदा निमग्न रहनेके कारण अन्तर्मुखी रहते हैं; परन्तु आत्माराम होनेपर भी मैं तो इस चराचर ब्रह्माण्डका पालक भी हूँ; मुझे अन्दर और बाहर सब ओर दृष्टि रखनी पड़ती है। मैं आप्तकाम जरूर हूँ, मुझे किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं। मुझमें कोई वासना नहीं है, यह सत्य है; परन्तु भक्तके अनुरोधसे, भक्तकी वासना पूरी करनेके लिये मुझे भी इच्छा करनी पड़ती है। गीताका वाक्य स्मरण करो—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** भक्तोंको उनके भजनानुरूप फल देनेवाले मुझको तुम अकृतज्ञ कैसे कह सकती हो? फिर देखो, दुष्टोंका नाश और शिष्टोंका पालन करना भी मेरा ही कार्य है। क्या दुष्टोंका विनाश करनेवाला कभी गुरुद्रोही हो सकता है? तब समझो कि मैं इन तीनों श्रेणियोंमेंसे किसी भी श्रेणीमें नहीं गिना जा सकता। वास्तवमें मैं तो सृष्टिमें रहकर भी इससे न्यारा ही हूँ।'

पाठको! श्रीकृष्ण क्या हैं, यह तो अब कुछ-कुछ अवश्य समझमें आ गया होगा। अब आगे देखिये कि प्रेमका सम्बन्ध कितना मधुर होता है।

गोपियोंके प्रश्नोंका उत्तर तो पूरा हो गया; परन्तु भक्तोंकी परम आदर्श गोपियाँ क्यों उनसे विलग कर दी गयी थीं, इसका कारण बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

'हे सखियो! तुम लोगोंने मेरे लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया है; अब क्या मैं एक मुहूर्त्तके लिये भी तुम्हें छोड़कर कहीं जा सकता हूँ? अपनी प्रेम-डोरसे तुमने मुझे बाँध लिया है। दर्शन देकर फिर छिप जाना तो केवल तुम्हारे भावको पक्का करनेके लिये था। मुझपर तुम्हारा अनुराग और बढ़े, इसीलिये ऐसा किया गया था। निष्कामभावसे तुम सब केवल मुझे ही चाहती हो, मेरा ही आश्रय तुमने लिया है; हे अबलाओ! यदि तुम अपनी उदारतासे मुझे उऋण न करो तो, भला, मैं तुम्हारे इस प्रेमके ऋणसे देवताओंकी आयुमें भी कभी छूट सकता हूँ?'

अब विचार कीजिये कि इस प्रेमयोगका विशेषत्व क्या है और भक्त तथा भगवान्का सम्बन्ध कितना मधुर है! भक्त परमब्रह्ममें अपनी सत्ताका लोप करना नहीं चाहते, अपना अस्तित्व खोना नहीं चाहते, ब्रह्ममें लीन होना नहीं चाहते, उस प्रकारकी मुक्ति उन्हें अभीष्ट नहीं है। वे चाहते हैं चिन्मय देह प्राप्तकर अनन्त कालतक भगवदानन्दका दिव्य आनन्द लूटते रहना। भक्त चीनी होना नहीं चाहते, चीनी खाना चाहते हैं। भागवताचार्य

नीलकान्त गोस्वामीजीने इस विषयको बहुत ही सरलता और सुन्दरताके साथ व्यक्त किया है। वह कहते हैं—'आनन्द ज्ञानको तृप्त कर सकता है, योगको परितृप्त कर सकता है, परन्तु प्रेमको तृप्त नहीं कर सकता। महाजन यदि लावल्द मर जाय तो खद्दुककी जान बच जाती है। ऐसे ही ज्ञानी ब्रह्मरूपी महासमुद्रमें गोता लगाकर नमकके पुतलेके समान घुलकर उसीमें मिल जाता है, उसकी सत्ताका लोप हो जाता है। अतएव उस ज्ञानी महाजनके ऋणसे ऋणी भगवान् बच जाते हैं। योगी सच्चित्समुज्ज्वल हिरण्यगर्भमें डूब जाते हैं, समाधिमें विलीन हो जाते हैं, उनसे भी भगवान् बच जाते हैं। परन्तु प्रेमी भक्त मरना नहीं चाहते, वे इस स्थूल शरीरको छोड़कर चिन्मय देह प्राप्त करते हैं और भगवान्‌का चिरसामीप्य प्राप्तकर अनन्त कालतक उनसे तकाजा करते रहते हैं। इसीलिये भगवान् मुक्ति देनेको तो तैयार हो जाते हैं, परन्तु भक्ति देनेमें बहुत कृपणता करते हैं।' यहींपर चतुर्थ अध्याय समाप्त हो जाता है।

पञ्चम अध्याय

पञ्चम अध्यायमें रासका वर्णन तथा व्यभिचारके दोषारोपणका खण्डन किया गया है और साथ ही यह भी दिखाया गया है कि गोपियोंमें जीवन्मुक्तके लक्षण कितने स्पष्ट परिस्फुटित हैं।

रास-वर्णन—व्रजगोपियाँ मण्डलाकार खड़ी हो गयीं! फिर महायोगेश्वर श्रीकृष्ण मण्डलमें प्रवेशकर प्रत्येक दो गोपियोंके बीचमें प्रकट हुए और उन्होंने सब गोपियोंके गलेमें हाथ डालकर रासोत्सव आरम्भ कर दिया। सब देवता सपत्नीक आकाशमार्गमें आकर उपस्थित हो गये और उस अलौकिक रासनृत्यका दर्शन करने लगे। प्रधान-प्रधान गन्धर्व भी अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर वहाँ पहुँच गये और भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन करने लगे। निशाकर चन्द्रमा भी नक्षत्रमण्डलसहित उस अद्भुत और मनोरम लीलाको देखने लगे और विमोहित हो अपनी गति भूल चुप-चाप खड़े रह गये। देवकामिनियाँ भी व्रजकामिनियोंके इस अपूर्व सौभाग्यपर ईर्ष्या करने लगीं और इस आनन्दका उपभोग करनेकी अपनी अभिलाषा प्रकट करने लगीं, आकाशमें दुन्दुभीनाद होने लगा और देवता पुष्पवृष्टि करने लगे।

अब हम इन सब श्लोकोंके अर्थपर विचार करें। आजकलके शिक्षाभिमानी लोगोंके द्वारा कथित इस व्यभिचारपूर्ण दृश्यको देखनेके लिये देव-गन्धर्व भी, वह भी केवल स्वयं ही नहीं, वरं अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ आये थे और वे सब देवबालाएँ व्रजबालाओंके भाग्यकी प्रशंसा भी करने लगीं, सो भी अपने पतियोंके सामने ही। हा विधाता! क्या व्यासजीके समयमें भारतवर्ष एकदम अधर्मके ही अन्धकूपमें गोता खा रहा था जो ऐसे पाप-अभिनयका भी वर्णन इतनी लज्जाहीनताके साथ किया गया? पर पाठकवृन्द कुछ धैर्य धारण करें और विचार करें इन श्लोकोंके गूढ़ अर्थपर!

श्रीकृष्णको पहले ही योगेश्वर कहा गया है। हमारे धर्मशास्त्रोंमें किसी भी शब्दका प्रयोग व्यर्थ नहीं हुआ है और न किसीका अपप्रयोग हुआ है तब श्रीकृष्णके लिये 'योगेश्वर' इस विशेषणका प्रयोग निश्चय ही किसी खास मतलबसे किया गया होगा। रासमण्डलसे ब्रह्मानन्दकी अनन्तताका और एक श्रीकृष्णसे, जितनी गोपियाँ थीं उतनी ही श्रीकृष्णमूर्त्तियोंका प्रकट होना उनकी पूर्णताका ज्ञापक है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। यहाँ पुनः उसका विस्तार करना हम उचित नहीं समझते।

धर्मशास्त्रका निर्देश है—**'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्।'** इसलिये देवता और गन्धर्व इस धर्मलीला, रासलीला, रसराज और महाभावकी मिलनलीला या महायोगका दर्शन करनेके लिये सस्त्रीक आये थे। आगे चलकर श्रीव्यासदेवजीने एक ही पदद्वारा वेदान्तका कुल निचोड़ इस रासलीलामें दिखा दिया है। व्यासजी कहते हैं—'ऐ भाई! यह खेल लौकिक खेल-जैसा नहीं हुआ था। लौकिक काम-क्रीडा तो दोके बिना, अकेले-अकेले हो ही नहीं सकती। और परब्रह्मको छोड़कर इस संसारमें दूसरा और कोई है ही नहीं—**'एकमेवाद्वितीयम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**। जब दो हैं ही नहीं तब खेल हो कैसे और किसके साथ हो? इसीलिये कहा गया है—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः।

अर्थात् 'बालक जैसे अपनी परछाईंके साथ खेलता है, वैसे ही रमापति श्रीभगवान्‌ने व्रज-सुन्दरियोंके साथ

खेल किया था।' वास्तवमें सब उस ब्रह्मकी परछाईं—बिम्ब ही तो है। वास्तवमें एक ब्रह्म ही तो विराजमान है; और जो कुछ दृश्यमान होता है वह उन्हींका आभास या परछाईंमात्र है। व्यासदेवकी इस उक्तिसे श्रीकृष्णचन्द्रका भगवद्भाव—'**एकमेवाद्वितीयम्**' भाव, तथा एक ही श्रीकृष्णसे हजारों श्रीकृष्णके उद्भव होनेसे उनका परिपूर्ण ब्रह्मभाव और रासकी अलौकिकता खूब स्पष्टरूपसे मालूम हो जाती है।

भक्त निर्वाण-मुक्ति नहीं चाहते; वे चाहते हैं भगवत्-सेवारूप नित्यानन्द। रसराज श्रीकृष्ण महाराजका सङ्ग शुद्ध भक्तके लिये ब्रह्मानन्दजनित सुखसे कोटिगुना अधिक आनन्द देनेवाला है। श्रीभगवान्ने भी स्वयं कहा है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

अर्थात् मेरी सेवा छोड़कर भक्त और कुछ भी नहीं, यहाँतक कि मुक्तिको भी नहीं चाहते।

शास्त्रमें जीवन्मुक्त पुरुषोंके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—

(१) *मनोनाश*—वासना-कामनाका त्याग। परन्तु भगवान्में भक्ति माँगना कामना नहीं कहलाता। 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते समय इस विषयमें हम लिख चुके हैं।

(२) *अविद्यानाश*—अनित्य वस्तुमें नित्य बुद्धि, अशुचिमें शुचि-बुद्धि, असुखमें सुख-बुद्धि और अलाभमें लाभ-बुद्धि—इस प्रकारके अविद्याजनित मोहका नाश ही अविद्यानाश कहलाता है। यह अविद्या गोपियोंके हृदयसे एकदम जड़से ही उखड़ गयी थी, यह उनकी वाक्यावलीसे स्पष्ट ही हो चुका है। श्रीकृष्णको ही एकमात्र नित्य वस्तु जानकर वे उन्हींमें लवलीन हो गयी थीं।

(३) *तत्त्वज्ञानोदय*—अविद्याका नाश होनेपर सङ्कल्प-विकल्पका लोप हो जाता है और तभी ज्ञानका उदय होता है। भागवतमें वर्णित गोपियोंकी अवस्थापर ध्यान देनेसे स्पष्ट ही मालूम हो जाता है कि वेदान्तके 'मुमुक्षु' की अवस्थासे कहीं ऊपरकी अवस्थाको गोपियाँ प्राप्त कर चुकी थीं और इसीसे ब्रह्मसङ्ग प्राप्तकर वे सफलमनोरथ हुई थीं।

यहाँतक जो कुछ आलोचना हुई है, उससे हम आशा करते हैं, श्रीराधाकृष्णतत्त्व और श्रीरासतत्त्व-जैसे अपार तत्त्वका रहस्य थोड़ा-बहुत अवश्य हमलोगोंकी समझमें आ गया होगा। इस रासलीला-रूप महायोगमें कहीं भी पापाचार नहीं है। शारीरिक या मानसिक किसी प्रकारके पापका लेश इसमें नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इन शब्दोंसे हो जाता है—

व्रजौकसः स्वान् स्वान् दारान् स्वपार्श्वस्थान् मन्यमानाः कृष्णाय न असूयन्। (५।३७)

अर्थात् व्रजवासियोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंको अपनी बगलमें बिस्तरेपर सोयी हुई देखकर श्रीकृष्णचन्द्रपर कोई धब्बा नहीं लगाया। बस, चलिये, सब मामला ही तय हो गया। रासमें गोपियाँ स्थूल शरीरसे उपस्थित ही नहीं थीं; वहाँ स्थूल शरीरकी कोई भी क्रिया नहीं हुई थी; उनके स्थूल शरीर अपने-अपने घरमें बिछौनेपर पड़े थे। गोपियाँ चिन्मय भगवान्के आवाहनपर चिन्मय शरीरसे ही चिन्मय रासोत्सवमें सम्मिलित हुई थीं। पञ्चाध्यायीके ५।३० और ५।२० श्लोकोंमें लिखा है कि जितनी गोपी-मूर्तियाँ थीं, योगेश्वर श्रीकृष्णने भी अपनी उतनी ही मूर्तियाँ बनाकर रासक्रीडा की थी। कहिये, क्या यह स्थूल शरीरसे हो सकता है? पहले अध्यायमें भी कहा गया है कि जो गोपियाँ स्थूल शरीरसे वहाँ पहुँचना चाहती थीं, उन्होंने अपने पति-पुत्रादिके द्वारा रोकी जानेपर उसी क्षण शरीर त्याग दिया और फिर वे दिव्य तनुसे जाकर रासमें सम्मिलित हुईं। पञ्चाध्यायीके पहले ही श्लोकमें वर्णन है कि भगवान्ने योगमाया नाम्नी अपनी अचिन्त्य अघटनघटनापटीयसी शक्तिद्वारा रासलीलाका अभिनय किया। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यहाँ शारीरिक पापकी आशङ्का सर्वथा निर्मूल है।

अब मानसिक पापके विषयमें कुछ विचार करना उचित है।

(१) गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको परब्रह्म जानती थीं, इसके बहुतेरे प्रमाण उनके कथोपकथनमें मिल चुके हैं। उन्होंने अपना सर्वस्व परमब्रह्मपर निछावर कर दिया था। फिर मानसिक पापको जगह ही कहाँ?

(२) व्रजगोपियाँ सर्वदा तुरीयावस्थामें रहती थीं। आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता कृष्णप्रेमरसभावितमति व्रजगोपियाँ आनन्दचिन्मय-रसस्वरूप श्रीकृष्ण-संगसे

जो आनन्दानुभव करतीं वह इस स्थूल जगत्के स्पर्श आदिसे उत्पन्न सुखसे एकदम परे है; उन्हें तो स्थूल, सूक्ष्म या कारण-शरीरका भी बोध नहीं रहता था।

(३) राग-मार्गके साधनके निमित्त सब भाव श्रीभगवान्में अर्पित करने होंगे—यह हम पहले कह आये हैं। इस संसाररूपी शिक्षागारमें आकर जीव जो पाँचों भावोंसे अपने संसारका गठन कर लेता है, उन पाँचों भावोंकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जानेपर उन भावोंको श्रीभगवान्के चरणोंमें पूर्णतया निवेदन कर जीव जीवन्मुक्त होकर इस संसारमें अपनी आयु व्यतीत करे, यही है धर्मका मुख्य उद्देश्य। उनकी लीलाका दर्शन करने, श्रवण करने, लीलाका यथार्थ भाव ग्रहण करनेसे जीवको नित्यज्ञान प्राप्त हो जाता है। जो लोग इस भावमार्गकी दीक्षा लेना चाहते हैं, जो लोग उनके असली सेवक बनना चाहते हैं उनके लिये यह संसार ही पहली पाठशाला है; परन्तु शान्त, दास्य, सख्य इत्यादि पाँचों भावोंके आधार स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि चिरस्थायी नहीं हैं। वे आज हैं, कल ही विनष्ट हो जाते हैं। जड पुत्र नित्य नहीं है, जड पिता नित्य नहीं है। जड मित्र, जड पति भी नित्य नहीं रहते। जीव जब संसारमें रहकर एक बार किसी भावके माधुर्यका भोग कर लेता है तब वह उसमें फँस जाता है और वह उस भावको त्याग नहीं सकता। फिर जब उस भावके आधारके साथ वियोग हो जाता है तब वह वियोगका दुःख सहन करता है। पिताके मर जानेपर शान्तभावका आधार नहीं रहता, पुत्रके गत हो जानेपर वात्सल्यकी जगह नहीं रहती, इसी तरह सभी भावोंमें आश्रयहीनता आ जाती है। परन्तु यदि भाव पक्का हो जाय तो जीवको ज्ञान प्राप्त हो जाता है और फिर वह सब भावोंके नित्य आश्रय श्रीभगवान्के चरणोंमें आश्रय लेता है। पतिके मरनेपर स्त्री विकल हो जाती है; परन्तु भाव यदि पक्का हो तो ज्ञान उपदेश करता है कि 'हे बाला! पतिके भी जो पति हैं, जो परमपति और नित्यपति हैं, उन्हींको तुम सब अपना भाव समर्पित कर दो, फिर कभी विच्छेद-वियोगका दुःख नहीं सहना पड़ेगा। वह तो अजर, अमर, नित्य हैं, वैसा पति और कहाँ मिलेगा?' इसीलिये हमारे देशमें विधवाको ब्रह्मचारिणी रहकर, सदा भगवद्भावना, भजन-पूजनमें समय व्यतीत करते रहनेकी व्यवस्था दी गयी है।

यही पक्का भाव जीवको सिखानेके लिये, 'मधुर' के विमल भावको इस शोक-तापसे भरे हुए संसारमें फैलानेके लिये वृन्दावनमें दिव्य रासलीलाका अभिनय हुआ था। एक जड पतिको त्यागकर यदि कोई सती दूसरे जड पतिको ग्रहण करती है तो वह अवश्य ही व्यभिचारिणी कहलाने योग्य है। परन्तु यदि जड पतिका त्याग कर उनकी जीवितावस्थामें भी कोई परमपति श्रीपतिको ग्रहण कर लेती है तो क्या आप उसे व्यभिचारिणी कहेंगे या उसके नारीपनका सौभाग्य और सफलता समझेंगे?

मीराजी—

तात मात बन्धु भ्रात आपनो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

अथवा—

ऐसे बरको के बरूँ जो जनमै और मर जाय।
बर बरिये एक साँवरो मेरे चुड़लो अमर हो जाय॥

—कहकर घर और घरवालोंको छोड़ वृन्दावन चली गयी थीं। आजतक सारे हिन्दुस्तानमें उनके भाग्यकी प्रशंसा गूँज रही है और वह आदर्श रमणी सतीशिरोमणि कहलाती हैं। वर्तमानयुगमें मीरा गोपी बनकर समस्त जीवोंको दिखा गयीं कि चेष्टासे, साधनासे जीव गोपी बन सकता है। रागमार्गकी साधना करनेवालोंको मीरा बनना होगा, गोपी बनना पड़ेगा, वृथा पुरुषाभिमान लेकर बैठ रहनेसे कुछ नहीं होगा। इस संसारमें परमपुरुष श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और हम सब प्रकृति हैं, इस बातको नहीं भूलना होगा। इसका दृष्टान्त हमें बङ्गालके भक्त श्रीजीवगोस्वामीजी और मीराजीकी बातचीतमें मिलता है।

श्रीजीव विरक्त वैष्णव थे; वे प्रकृति (स्त्री)-दर्शन या सम्भाषण नहीं करते थे। वे वृन्दावनमें श्रीमदनमोहनजीकी सेवामें लवलीन रहते थे और भक्ति-ग्रन्थ लिखा करते थे। मीराजी वृन्दावन पहुँचनेपर सबसे पहले इन भक्तशिरोमणिका दर्शन करने गयीं और सूचना भेजी कि मीरा दर्शन चाहती है। मीरा स्त्री है, यह सुनते ही जीवजीने कहला भेजा कि मैं प्रकृति-सम्भाषण नहीं करता। इस बातको सुनकर

भावरूपिणी मीरारानीने हँसकर कहा—'अच्छी बात है, मीरा भी 'एक गिरधर गोपाल' को छोड़कर दूसरे किसी पुरुषको नहीं जानती। मैं नहीं जानती थी कि वृन्दावनधाममें श्रीवृन्दावनविहारी मुरलीधारीके अतिरिक्त जीवजी भी एक और पुरुष हैं। जाओ, कह दो कि अब मैं भी उन्हें देखना नहीं चाहती, पुरुष तो मेरा मोरमुकुटधारी मुरारी है, दूसरा कोई है ही नहीं।' अब जीवजीने मीराका स्वरूप समझा!

ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें व्यासजीने स्पष्ट कह दिया है कि यह गोप-गोपीके खेलका वर्णन नहीं है; यह तो व्रजवधुओंके साथ 'भगवान् विष्णुका' रसास्वादन है। इसे जो लोग श्रद्धापूर्वक सुनेंगे या कीर्तन करेंगे, वे शीघ्र ही इन्द्रियोंका दमन कर भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त कर लेंगे और सांसारिक सब कामनाएँ, वासनाएँ उनके मनसे समूल उखड़ जायँगी। ध्यान दीजिये इस श्लोकके इस भाग '**विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः**' में आये हुए '**विष्णोः**' शब्दपर; शुकदेवजीने व्रजबालक कृष्णकी क्रीडाका वर्णन न कर स्पष्ट 'विष्णोः' अर्थात् विश्वव्यापी सनातन पुरुषकी क्रीडाका वर्णन किया है। इस एक शब्दसे ही हम सारी रासलीलाका मर्म सहज ही समझ सकते हैं।

भाइयो! वृथा अभिमानमें फूलकर केवल भूसा न कूटिये, उससे अन्न नहीं मिलेगा, उससे पेट नहीं भरेगा। ऐसा काम कीजिये जिससे मनुष्यजीवनका अभीष्ट सिद्ध हो, मानवजीवन सार्थक हो जाय। अपनेमें गोपी-भावको जगाकर श्रीराधाकृष्णमिलनका भाव समझने और उसका उपभोग करनेकी चेष्टा कीजिये। हाय! ऐसा दिन कब आवेगा? उनकी कृपा और आप भक्तोंकी कृपासे ही ऐसा हो सकता है। आज आपके कृपाभिलाषी हम, वृषभानुदुलारीके मुरारीकी दयाकी आशामें श्रीसूरदास बिल्वमङ्गल महाराजके साथ सुर मिलाकर पुकारते हैं—

हे देव! हे दयित! हे जगदेकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा! हा! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

ॐ तत् सत्।

प्रेमयोगकी कुछ अवस्थाएँ[1]

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति॥[2]

लोकमर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है। प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

अर्थात् 'गोपियोंके शुद्ध प्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है।' इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रियसुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है। क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीरसुखकी इच्छा नहीं थी। वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त। इसलिये शुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा रागके तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन और बिछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषय-भोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। प्रेमीकी दशा लोगोंके देखनेमें उस पुरुषकी-

---

१- गीताप्रेससे प्रकाशित श्रीचैतन्यचरितावली—पञ्चम खण्डसे।

२- मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो होता ही नहीं, कदाचित् किसीको हो भी जाय तो उसे प्रेमका सारभूत विरह प्राप्त नहीं होता। यदि विरह भी प्राप्त हो जाय तो फिर वह जीवित तो कदापि रह ही नहीं सकता। श्रीरूप गोस्वामी भी कहते हैं—

भुक्तमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

अर्थात् 'जबतक भुक्ति और मुक्तिकी इच्छारूपिणी पिशाची हृदयमें बैठी हुई है तबतक वहाँ भक्तिसुखकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?'

सी हो जाती है जिसे अपने प्राणोंसे अत्यन्त ही मोह हो और उसे फाँसीके लिये कारावासके फाँसीघरमें बन्द कर रखा हो; जिस प्रकार प्राणोंके भयसे उसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकारकी चेष्टाएँ रागीकी अथवा प्रेमीकी भी होती हैं। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें इन सब दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस सङ्कुचित लेखमें उनका उल्लेख ही होना असम्भव है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक विकारोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ विकारोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। ये भय, शोक, विस्मय, क्रोध और हर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। प्रेमके लिये ही इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये।

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी। उन्होंने स्वयं कहा है— '**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।**' अर्थात् मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं।

स्वेद—शरीरमेंसे पसीना छूटना, पसीनेमें 'लथपथ' हो जाना, इसे 'स्वेद' कहते हैं।

अश्रु—बिना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है उसे 'अश्रु' कहते हैं। हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरसे नीचेको बहते हैं। शोकके अश्रु गरम होते हैं और वे बीचसे ही बहते हैं।

स्वरभङ्ग—मुखसे अक्षर स्पष्ट उच्चारण न हो सके। उसे 'स्वरभेद' 'गद्‌गद' या स्वरभङ्ग कहते हैं।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं। उसका असली स्वरूप है आकृतिका बदल जाना।

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ उसे 'पुलक' या 'रोमाञ्च' कहते हैं।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय उसे प्रलय कहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी हो जाती है। इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथिवीपर गिर पड़ते हैं। बेहोश होकर धड़ामसे पृथिवीपर गिर पड़नेका नाम 'प्रलय' है।

ये उपर्युक्त भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोकादि सभी कारणोंसे होते हैं, किन्तु प्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं।

पीछे हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा बिछोह, ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं। अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये।

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किन्तु चित्त उसके लिये तड़प रहा है, इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात्रि उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय। इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे, घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा! हा!! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे?॥*

इस श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो तब कहीं वह निगोड़ा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है!

मिलन—यह विषय वर्णनातीत है। सम्मेलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसी लिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है।

* हे देव! हे दयालो! हे विश्वके एकमात्र बन्धु! ओ काले! अरे ओ चपल! हे करुणाके सागर! हे स्वामिन्! हे मेरे साथ रमण करनेवाले! हे मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले प्राणेश! तुम कब हमें दर्शन दोगे?

सम्मिलनसुखको तो दो ही एक होकर जान सकते हैं। वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं, फिर कोई दूसरा वर्णन करे भी तो कैसे करे? अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही दीख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवतादिमें वर्णन है, किन्तु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसङ्गवश यत्किञ्चित् है। संभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलनसुखको तो वे दोनों ही लूटते हैं। सुनिये, रसिक रसखानजीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है। किन्तु वर्णन करनेमें कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और जीता-जागता चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

ऐ री! आज काल्हि सब लोकलाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
यह 'रसखान' दिन द्वैमें बात फैलि जैहै,
कहाँ लौं सयानी चंद हाथन छिपायबो॥
आज हौं निहार्‌यो बीर, निकट कलिंदी-तीर,
दोउनको दोउनसौं मुख मुसकायबो।
दोउ परैं पैयाँ, दोउ लेत हैं बलैयाँ, उन्हें
भूल गईं गैयाँ, इन्हें गागर उठायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है! वह भी कालिन्दी-कूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ?

दोउ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैयाँ, उन्हें
भूल गईं गैयाँ, इन्हें गागर उठायबो॥

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको।

विरह—इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक-दूसरीसे श्रेष्ठ अवस्था है। पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है, प्रेमरूपी दूधका मक्खन विरह ही है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

बिरहा बिरहा मत कहौ, बिरहा है सुलतान।
जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

अब विरहके भी तीन भेद हैं—भविष्यविरह, वर्तमानविरह और भूतविरह। इनमें भी परस्पर उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान विरह। भूत विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी विरहको ही लीजिये। 'प्यारा कल चला जायगा', बस, इस भावके उदय होते ही जो कलेजेमें एक प्रकारकी ऐंठन-सी होने लगती है, उसी ऐंठनका नाम 'भावी विरह' है।

श्रीकृष्णके मथुरागमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी विरह-वेदना हुई वह इसका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। वैसे तो सभीका विरह उत्कृष्ट है, किन्तु राधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही राधिकाजी किंकर्तव्यविमूढ-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापको मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरके शब्दोंमें सुनिये। अहा! कितना बढ़िया वर्णन है। राधिकाजी कह रही हैं—

कि करिब, कोथा याब, सोयाय ना हय।
ना याय कठिन प्राण किबा लागि रय॥
पियार लागिया हाम कोन देशे याब।
रजनी प्रभात हैले कार मुख चाब॥
बन्धु याबे दूर देशे मरिब आमि शोके।
सागरे त्यजिब प्राण नाहि देखे लोके॥
नहेत पियार गलर माला ये करिया।
देशे देशे भरमिब योगिनी हइया॥
विद्यापति कवि इह दुःख गान।
राजा शिवसिंह लछिमा परमान॥

'मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ, रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके कमलमुखकी ओर निहारूँगी? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह-शोकमें मर जाऊँगी। समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर

देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी। कवि विद्यापति इस दुःखपूर्ण गानको गाता है, इसमें लक्षिमा और राजा शिवसिंह प्रमाण हैं।' यह भावी विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया, वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है। उस समय जो दिलमें एक प्रकारकी धड़कन होती है, सीनेमें कोई मानो एक ही साथ सैकड़ों सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है, उसे ही 'वर्तमान विरह' कहते हैं।

रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले श्रीकृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओंकी क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है?

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षितसे कह रहे हैं—'राजन्! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, भविष्यमें होनेवाले विरहदुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुई, नाना भाँतिके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोकलाज आदिकी भी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द! हा माधव!! हा दामोदर!!! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं, इसी द्विविधाका नाम 'भूत-विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या? फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य है; किन्तु पता नहीं, वह आशा कब पूरी होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार, दूरसे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हो, दर्शन हो जायँ। बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा विचित्र होती है। साधारणतया उस विरहकी दस दशाएँ बतायी गयी हैं। वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥

(उज्ज्वलनीलमणि शृ० ६४)

'चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु, ये ही विरहकी दस दशाएँ है।' अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये।

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे। व्रजभाषा-गगनके परम प्रकाशमान 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिन रह्यो मनमें ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदयतें यह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है। यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शनसुखका आनन्द उठा ले। किन्तु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ? राधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

(पदावली)

'प्यारी सखी! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मथुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' धन्य है, निद्रा आवे कहाँ? आँखोंमें तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं?

उद्वेग— हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचल—एक बेकली-सी होती है उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

व्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
पानिय पीको पपीहै पिआओ॥
जीयमें हौस कहूँ रहि जाय न,
हा! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे!
कोउ हाल तौ जाइकै मेरो सुनाओ॥

पागलपनकी हद हो गयी न! भला, कोई जाकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता? अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये।

कृशता— प्यारेकी यादमें बिना खाये-पिये दिन-रात्रि चिन्ता करनेके कारण जो शरीर दुबला हो जाता है उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी दशा देखकर ऊधौजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुण स्वरसे राधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। अन्धे सूरने इस वर्णनमें कमाल कर दिया है, सुनिये—

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुंदरि, गमन मोतन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरिधरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आसा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्रको खींचनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणी राधाकी 'कृशता', 'मलिनता', 'चिन्ता', 'उद्वेग', 'व्याधि', 'मोह' और मृत्युतककी दसों दशाओंका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया है। मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्युतुल्य अवस्था' ही बताया है। राधिकाजीकी इससे बढ़कर और मृत्युतुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है?

मलिनाङ्गता— शरीरकी सुधि न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गन्दे हो जाते हैं, इसे ही 'मलिनता' या मलिनाङ्गता कहते हैं। ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आया ही है—

तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।

प्रलाप— शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं उनका नाम प्रलाप है। सीताजीकी खोजमें लक्ष्मणजीके साथ रामचन्द्रजी वनोंमें फिर रहे हैं, हृदयमें भारी विरह है, अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, वे चौंककर खड़े हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽहं ब्रूहि सखे स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः
के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्या गतिर्मृग्यते
का देवी जनकाधिराजतनया हा जानकि क्वासि हा॥

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'मित्र! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही?'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो! आप साक्षात् भगवान् हैं!'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान्?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'रघु महाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम।' फिर चारों ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा तुम कौन हो?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन्! हे दयालो! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जङ्गलोंमें क्यों घूम रहे हैं?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम देवीकी खोज कर रहे हैं।'

चौंककर भगवान् पूछते हैं—'कौन देवी?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'जगद्वन्दनीया, जनकनन्दिनी श्रीसीताजी।'

बस, सीताजीका नाम सुनते ही 'हा सीते! हा जानकि! तू कहाँ चली गयी' कहते-कहते भगवान्

मूर्छित हो जाते हैं; इन बेसिर-पैरकी बातोंका ही नाम 'प्रलाप' है।

व्याधि—शरीरमें किसी कारणसे जो वेदना होती है उसे 'व्याधि' कहते हैं और मनकी वेदनाको 'आधि' कहते हैं। 'व्याधि' भी विरहकी एक दशा है। उदाहरण लीजिये। श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ललितासे कह रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविषूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥

(ललितमाधवनाटक)

'हे सखी! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेदज्वर मुझे बड़ी ही पीड़ा दे रहा है। यह पुटपाकसे भी अधिक उत्तापदायी है। पृथिवीपर जितने जहर हैं उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह, हृदयमें चुभे हुए शल्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा तीव्र विषूचिकादि रोगोंसे भी बढ़कर यन्त्रणा पहुँचा रहा है। प्यारी सखी! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको भेदन कर रहा है।' इसीका नाम 'विरहव्याधि' है।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी और विचित्र चेष्टाएँ करने लगती है तो उसे ही 'विरहोन्माद' कहते हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्ता चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविरहखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता ॥

अर्थात् हे कृष्ण! राधिकाकी दशा क्या पूछते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिलखिलाकर हँसने लगती है। चेतन, अचेतन सबके सामने तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है। कभी धूलिमें लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने लगती है, हे मुरारे! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरहखेदसे विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने उन्मादिनीका बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, किन्तु इसे 'विरहोन्माद' न कहकर 'प्रेमोन्माद' कहना ही ठीक होगा। सुनिये, साँवरेके सनेहमें सनी हुई एक सखीकी कैसी विचित्र दशा हो गयी है, पद्य पढ़ते-पढ़ते भाव सजीव होकर आँखोंके सामने नृत्य करने लगता है—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी-सी गोपी,
दुखी-सी रहति कछु नाहीं सुधि देहकी।
मोही-सी, लुभाई-सी, कछु मोदक-सो खायो सदा,
बिसरी-सी रहै नेकु खबर न गेहकी॥
रिसभरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूछेते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अङ्गोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्छा-सी हो जाती है उसे मोह कहते हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तो हमारे रसिक हरिचन्दजी ही बड़ी खूबीसे खींच सकते हैं। लीजिये, मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मंद,
सूख झाँझरी-सी ह्वै कैं देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज जित तित लागे दूर जान॥
'हरीचंद' रावरे बिरह जग दुखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अथान लागे,
आओ प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती तो ये कुम्हिलाये हुए नैन और अथाये हुए बैन कबके पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण प्राणनाथकी आशासे ही अटके हुए हैं। मोहकी दशाका इससे उत्तम उदाहरण और कहाँ मिलेगा?

मृत्यु—मृत्युकी अब हम व्याख्या क्या करें। मृत्यु हो गयी तो झगड़ा मिटा, दिन-रात्रिके दुःखसे बचे; किन्तु ये मधुर रसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेसे ही विरहिणीका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना।' इसका दृष्टान्त लीजिये। बँगलाभाषाके प्रसिद्ध पदकर्ता

श्रीगोविन्ददासजीकी अमर वाणीमें ही व्रजवासियोंकी इस दसवीं दशाका दर्शन कीजिये—

माधव! तुहु यब निरदय भेल।
मिछई अवधि दिन गणि कत राखब व्रजबधू-जीवन-शेल॥ १॥
कोइ धरनितल, कोइ यमुनाजल कोइ कोइ लुठइ निकुंज॥ २॥
एतदिन विरहे, मरणपथ पेखलु तोहे तिरिवध पुनपुंज॥ ३॥
तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरी परान॥ ४॥
जीवन मरन, मरन वर जीवन 'गोविंददास' दुख जान॥ ५॥

दूती कह रही है—'प्यारे माधव! भला, यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये! दुनियाभरके झूठे, कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इस प्रकार झूठ-मूठ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहलाते रहोगे। अब तुम्हें व्रजकी दयनीय दशा क्या सुनाऊँ। वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो पृथिवीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही लंबी-लंबी साँसें ले रही हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ रात्रि-दिनको बिता रही हैं, तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो सैकड़ों स्त्रियोंके वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उसी मछलीकी-सी है जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हो और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो, वे जिस प्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़पती रहती हैं उसी प्रकार वे तुम्हारे विरहमें तड़प रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं किन्तु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दुःखको ऐसा ही समझो।'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किन्तु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और फिर मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमार्गीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान (**प्रतिक्षण-वर्द्धमानम्**) प्रवर्द्धनशील कहा गया है। अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके समीपतक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ़ महाभाव' और 'अधिरूढ़ महाभाव' दो भेद बताये गये हैं। अधिरूढ़ महाभावके भी 'मोहन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोहन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'दिव्योन्माद' होता है। 'दिव्योन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उद्घूर्णा, चित्रजल्पादि बहुत-से भेद हैं। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है, इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥*

(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

इस श्लोकमें '**रौति**' और '**रोदिति**' ये दो क्रियाएँ साथ दी हैं। इससे खूब जोरोंसे ठाह मारकर रोना ही अभिव्यञ्जित होता है। '**रु**' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द अपने-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ '**रौति**' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह तो 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इससे भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, अब दिव्योन्माद तो फिर उन्मादसे भी बढ़कर विचित्र होगा। वह अनुभव-गम्य विषय है। श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपसे देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी चार दशा बतायी हैं—(१) भावोदय, (२) भावसन्धि, (३) भावशबल्य और (४) भावशान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं तो उस अवस्थाका नाम भावसन्धि है, जैसे बीमार होकर पतिके घर

* श्रीकृष्णके नाम-गुण श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रखा है ऐसा पुरुष अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनसे उनमें अनुरक्त एवं विह्वलचित्त होकर संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ कभी तो ज़ोर-ज़ोरसे हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी पागलके समान नाचने लगता है।

लौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भावशाबल्य कहते हैं। जैसे पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयङ्कर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ। इसी प्रकार जब इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है उसे 'भावशान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, तम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनका वैष्णवशास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय। दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूपमाधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय, तब सभी बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये; फिर भाव, महाभाव, अधिरूढ़ भाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो अपने-आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा त्यों-त्यों तड़फड़ाहट अपने-आप ही बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको लानेके लिये प्रयत्न नहीं करना होगा। किन्तु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-क्रोधादि चोरोंको स्थान दे रखा है, वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं। सचमुच हमारा हृदय तो वज्रका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छासे उदित नहीं होता। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह—फौलादकी तरह—समझना चाहिये जिसके नेत्रोंमें हरिनामस्मरणमात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो जाते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें प्रेमकी विकृति उत्पन्न हो। महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् 'हे नाथ! तुम्हारा नाम ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंसे जलकी धारा बहने लगेगी। कब हम गद्गद कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे?' वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर गये। अठारह वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौरभक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुडस्तम्भके समीप जगमोहनके इसी ओर जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था। महाप्रभु दर्शन करते-करते इतना रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक-दो दिन नहीं, साल दो साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोये। उन्मादावस्थामें भी उनका श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंका जाना बन्द नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्णभावसे चलता रहा। वैष्णव भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलौं
बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम
ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

प्रेमयोगिनी मीरा

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माधव', एम्० ए०)

आज चार सौ वर्षसे ऊपर हुए प्रभुने पृथ्वीपर प्रेमकी एक पुतली भेजी थी। वह आयी। प्रभुके प्रेममें छकी हुई, प्रभुके आलिङ्गनमें डूबी हुई, प्रभुके रूपमें भूली हुई वह आयी। प्रभुके नूपुरोंकी रुनझुनमें अपने हृदयकी गति मिलाकर, प्रभुकी मुरलीमें अपने प्राण ढालकर, प्रभुके पीताम्बरपर अपनेको निछावरकर, प्रभुकी मन्द-मन्द मुसकानपर अपना सब कुछ दे डालकर वह अल्हड़ योगिनी पैरोंमें घूँघुरू और हाथमें करताल लेकर नाच उठी—**पग बाँध घूँघुरू मीराँ नाची रे**—और प्रेमके आनन्दमें विभोर होकर गा उठी—

सुनी हो मैं हरि आवनकी अवाज।
म्हैलाँ चढ चढ जोऊँ मेरी सजनी, कब आवै म्हाराज!

इतने दिन हो गये, आज भी यह गीत स्पष्टतः भीतर गूँज रहा है मानो अभी कलकी बात हो। ऐसा प्रतीत होता है, इन आँखोंने वह प्रेमोन्मत्त नृत्य देखा है। सन्ध्याका समय है। मीरा आरती कर चुकी है। सामने श्रीगिरधरलालजीकी दिव्य मूर्ति विराज रही है। कमरेका द्वार बन्द है और भीतर सारा स्थान तेजसे जगमगा रहा है, दिव्य गन्धसे महँ-महँ कर रहा है। मीरा अपने हरिजीके सामने नाच रही है। आँसुओंकी धारा बह रही है—भीतर-बाहर सर्वत्र प्रभुका सुखद सुशीतल स्पर्श और उस स्पर्शकी मादक मधुर सिहरन रोम-रोमको प्रेममें डुबोये हुए है—

मैं गिरधर रँगराती, सैंयाँ मैं गिरधर रँगराती।
पचरँग चोला पहर सखी मैं झुरमुट रमवा जाती।
झुरमुट माँहीं मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती॥

'**खोल मिली तन गाती**'! निरावरण होकर, अवगुण्ठन हटाकर प्राणाधारसे मिली, अपने प्राणोंके प्राण, हृदयके सर्वस्वसे मिली और मिलकर उसीमें मिल गयी, एक हो गयी, तल्लीन हो गयी! यही बात तो पीछे जाकर खुली—

आधी रात प्रभु दरसण दीन्हो प्रेम नदीके तीरा!

संसारको इस मिलन और इस विरहका क्या पता? यह तो कुछ पागलोंके लिये—प्रभु-प्रेमके दीवानोंके लिये ही है। ऐसे दीवाने कितने हुए? संसारमें चैतन्य और मीरा, मंसूर और ईसा कितने हुए?

मेवाड़ देशके मेड़ता स्थानमें मीराका जन्म वि० सं० १५५५ के लगभग हुआ। बचपनमें ही इनकी माताका स्वर्गवास हो गया और इसलिये इनके पालन-पोषणका भार इनके दादा राव दूदोजीपर पड़ा। दूदोजी परमवैष्णव थे। मीराके संस्कार बचपनसे ही कृष्णप्रेमसे ओतप्रोत थे। बहुत बचपनमें ही मीरा ठाकुरजीकी पूजाके लिये पुष्प चुनती, माला बनाती और बड़े ही प्रेमसे ठाकुरजीको पहनाती। भगवान्‌का शृङ्गार कर वह अपनी तुतली बोलीमें जाने क्या गुनगुनाती। प्रातःकाल नींद खुलते ही ठाकुरजी! बस, ठाकुरजीके सिवा न कुछ कहना न कुछ सुनना। दादाजी जब भगवान्‌की षोडशोपचार पूजा करते तब मीरा एकटक देखा करती!

बचपनकी ही एक घटना है। मीराके घर एक साधु आये, उनकी पूजामें श्रीगिरधरलालजीकी मूर्त्ति थी। मीराको वह मूर्त्ति ऐसी लगी मानो वह उसके जन्म-जन्मका साथी हो। उसे पानेके लिये मीराका हृदय मचला। पर वह साधु मूर्त्ति क्यों देने लगे! मीराको उस मूर्त्तिके बिना कल कैसे पड़ता! उसने खाना-पीना छोड़ दिया और छटपटाने लगी। साधुने स्वप्नमें देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अल्हड़ बालिकाके पास पहुँचा आनेका आदेश कर रहे हैं। भोर होते ही वह साधु मीराको मूर्त्ति दे आया। मीराकी प्रसन्नताका क्या पूछना!

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है। मीराके गाँव एक बारात आयी। लड़कियोंको बचपनमें अपने भावी पतिको जाननेकी बड़ी ही सरलतापूर्ण उत्कण्ठा रहती है। मीराने बड़ी सरलतासे अपनी मातासे पूछा, 'माँ! मेरा विवाह किससे होगा?' बच्चीके प्रश्नपर हँसती हुई माँने कहा—'गिरधरलालजीसे' और सामनेकी मूर्त्तिकी ओर सङ्केत किया। मीराके मनमें यह बात बैठ गयी कि गिरधरलालजी ही वास्तवमें उसके पति हैं।

अठारह वर्षकी अवस्थामें मीराका विवाह मेवाड़के इतिहासप्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा साँगाके ज्येष्ठ कुँवर भोजराजजीके साथ हुआ। मीरा अपने ससुरालमें भी अपने इष्टदेवकी मूर्त्ति लेती गयी। मीराका दाम्पत्यजीवन

बड़ा ही आनन्दपूर्ण था। ऐसी सती साध्वी नारी अपने पतिदेवकी सेवा न करेगी तो कौन करेगा? मीरा बड़े आदर और विनयके साथ पतिकी परिचर्यामें रहती और साथ ही नियमपूर्वक प्रभुकी उपासना भी किया करती।

प्रभु जिसे अपनाते हैं उसके सारे अन्य बन्धनों और सम्बन्धोंको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जबतक जीव संसारमें किसीका भी आसरा-भरोसा रखता है तबतक वह प्रभुके आश्रयसे वञ्चित रहता है। हम सर्वथा प्रभुके हो जायँ, इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि संसारमें भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंको लेकर जो हमारा अनुराग है वह सिमटकर प्रभुमें केन्द्रीभूत हो जाय, घनीभूत हो जाय! जो प्रेम प्रभुके चरणोंमें निर्माल्य हो चुका है उसमें साझीदार संसारका कोई भी प्राणी कैसे होगा! मीराका दाम्पत्यजीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे। अब तो मीराकी जीवनधारा एकबारगी पलट गयी। संसारके सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्तभावसे श्रीगिरधरलालजीकी सेवामें रहने लगी।

लोकलाज और कुलकी मर्यादाको अलग कर मीरा अपने हरिजीकी साधनामें अहर्निश लगी रहती। प्रेमकी अजस्र धारामें लोकलाज कैसे टिकती? मीराको तो कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है। उसके यहाँ अब बराबर साधुओंकी भीड़ लगी रहती। भगवत्-चर्चाके सिवा अब उसे करना ही क्या रह गया। श्रीगिरधर गोपालजीकी मूर्तिके सामने मीरा नाचा करती और सन्तोंकी मण्डली जमी रहती! घरवालोंको यह बात कैसे पसन्द आती। राणा साँगाकी मृत्यु हो चुकी थी और इस समय मीराके देवर विक्रमाजीत सिंहासनपर थे। उनसे मीराकी ये 'हरकतें' देखी न गयीं। उन्होंने मीराको मार डालनेकी कई तदवीरें सोचीं, परन्तु जिसकी रक्षा स्वयं परमात्मा कर रहा है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है! विषका प्याला भेजा। मीरा उसे हरिजीका चरणामृत समझकर पी गयी! विष भी अमृत हो गया! जिसके अनुकूल स्वयं प्रभुजी हैं उसके लिये तो संसारकी सारी प्रतिकूलता अनुकूल है ही। पिटारीमें साँप भेजा गया। मीरा उसे खोलती है तो देखती है कि शालग्रामजीकी मूर्ति है। मीराने उसे छातीसे चिपका लिया, प्रेमाश्रुओंसे नहला दिया!

सखी मेरो कानूड़ो कलेजेकी कोर।
मोर मुगट पीतांबर सोहै कुंडलकी झकझोर॥
बिंद्रावनकी कुंजगलिनमें नाचत नंदकिसोर॥

परीक्षाकी 'इति' यहींतक नहीं थी। मीरा प्रतिदिन अधिकाधिक खुलकर साधु-महात्माओंमें रहने लगी और रात-दिन हरि-चर्चा तथा कीर्तनके सिवा उसे कुछ सुहाता ही न था। मीराने यह निश्चय कर लिया कि जितने छन शरीरमें प्राण रहेंगे उतने छन हरिगुणगानमें ही बीतेंगे। प्राण छूट जायँ—भले ही छूट जायँ, पर कीर्तन कैसे छूटता! सासने बहुत मना किया। बहुत समझाया-बुझाया, परन्तु यहाँ तो प्रेमकी वेदीपर सर्वस्व निछावर हो चुका था! मीराकी एक ननद थी, जिसका नाम था ऊदा। उसने भी मीराको 'राहपर लाने' की बहुत चेष्टाएँ की, परन्तु मीराका मन तो मोहनके चरणोंमें बँध चुका था! ऊदासे अपनी हार सही न गयी। उसने एक षड्यन्त्र रचा। विक्रमाजीतसे जाकर उसने कहा कि मीरा आधी रातको द्वार बन्दकर और दीपक जलाकर किसी पुरुषसे प्रेमालाप करती है। वह पुरुष नित्य मीराके पास आधी रातको पैरोंकी चाप छुपाये धीरे-धीरे आता है। उसने राणासे यह भी कहा कि यदि उसे विश्वास न हो तो स्वयं आकर देख ले। राणाके क्रोधका अब क्या ठिकाना! चेहरा तमतमा उठा। वह अभी मीराका सिर धड़से अलग करनेके लिये तलवार लेकर दौड़े!

भादोंके कृष्णपक्षकी आधी रात है। मेघ झमाझम बरस रहा है और बिजली कड़क रही है—परन्तु उस मेघसे भी अधिक बरस रही हैं वियोगिनी मीराकी दो करुणाविगलित आँखें; उस बिजलीसे भी अधिक कड़क रहा है उसका दर्दभरा दिल—साँवरेके विरहमें तड़पता हुआ पागल विह्वल हृदय! संसार सुखकी नींद सो रहा है; परन्तु वियोगिनीकी आँखोंमें नींद कहाँ, विश्राम कहाँ, शान्ति कहाँ! मीराने श्रीगिरधरलालजीकी मूर्तिके पास दीपक जला दिया है और अगरकी सुगन्धिसे सारा कमरा गमगमा रहा है। मीराने पहले हरिजीके मस्तकपर रोली लगायी और फिर वही प्रसाद अपने सिर-आँखोंसे लगाया। नववधूके रूपमें मीरा सजी हुई है। वह एकटक अपने प्राणाधारको देख रही है। देखते-देखते क्या देखती है कि उस मूर्तिमेंसे

उसके हृदयेश्वर निकलते हैं, मन्द-मन्द मुसकाते हुए मीराका आलिङ्गन करनेके लिये आगे बढ़ते हैं—मीरा प्रेमके इस अवहनीय भारको कैसे सँभालती। मिलनकी सुखधारामें वह बह चली। मीराने मिलनेके लिये अपने मस्तकको आगे बढ़ाया; परन्तु संज्ञाहीन होकर वह गिर पड़ी, प्रभुजीके चरणोंमें गिर पड़ी। उसके संज्ञाहीन प्राणोंने अपने भीतर देवताके परम शीतल अथ च मधुर-मधुर स्पर्शका अनुभव किया! वह कोमल, पावन, दिव्य स्पर्श!!

'वह' आया तो प्राण मिलन-सुखके भारको सह न सके और अब जब प्राणोंमें संज्ञा लौट आयी है तो उसका ही पता नहीं। आँखें खुलीं। मीराके प्राण अब भी स्पर्शके आनन्दमें बेसुध थे! आँसुओंमें सनी हुई वेदनाविगलित वाणी कुछ अस्पष्ट, कुछ अस्फुट स्वयं निकल रही थी········आह। एक क्षण और ठहर जाते! कई जन्मोंसे तुम्हें ढूँढ़ती आ रही हूँ। प्राणोंका दीप जलाकर संसारका कोना-कोना छान आयी। तुम्हारा पता किसीने नहीं बताया। आज बड़ी दया की। अह! वह छबि!

निपट बंकट छबि अटके,
मेरे नैना निपट बंकट छबि अटके॥
देखत रूप मदनमोहनको पियत मयूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके॥
टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभुके रूप लुभानी गिरधर नागर नटके॥

अह! भर आँख अभी तो देख भी नहीं पायी थी। कहाँ छिप गये, कहाँ खिसक गये? तुम्हारा वह मन्द-मन्द मुसकाना·····वे बड़ी-बड़ी पागल बनानेवाली आँखें, वह केसर-तिलक, लहराती हुई अलकावलि और उसपर तिरछा-बाँका मोर-मुकुट! अह! यदि ऐसे ही छिपना था तो छिपे ही रहते! इस प्रकार तरसा-तरसाकर प्राणोंको तड़पानेकी यह कौन-सी विधि सोच रखी है! जीवनधन! आओ, मैं तुम्हें प्राणोंके भीतर छिपा लूँ—

मैं अपने सैंयाँ सँग साँची।
अब काहेकी लाज सजनी परगट है नाची॥

अचानक दरवाजे फट पड़े और राणा विक्रमाजीत नंगी तलवार लिये, क्रोधमें तमतमाये भीतर घुस आये। उन्होंने देखा कि श्रीगिरधरलालजीकी मूर्तिके सामने मीरा हाथ जोड़े अर्द्धमूर्च्छित दशामें बैठी हुई है और आँखोंसे आँसुओंकी धारा चल रही है। उसने क्रोधमें पागल होकर मीराका हाथ खींचा और क्रोध-स्फीत शब्दोंमें कहा—'कहाँ है तेरा प्रेमी जिसके साथ तू रातों जागा करती है, अभी मैं उसका सिर धड़से अलग किये देता हूँ।' मीरा भावमग्न हो रही थी। उसने अँगुलीसे श्रीगिरधरलालजीकी मूर्त्तिकी ओर सङ्केत किया! परन्तु राणाके लिये तो वह बस एक पत्थरकी मूर्त्ति थी! क्रोधमें मनुष्य शैतान हो जाता है, उसे उचित-अनुचितका ज्ञान नहीं रहता। विक्रमाजीतको मीराकी बातोंका विश्वास नहीं हुआ। उसने फिर सिंहकी तरह गरजते हुए कहा, 'अभी ठीक-ठीक बता, तू किससे बातें कर रही थी? नहीं तो आज तेरे ही रक्तसे इस तलवारकी प्यास बुझाऊँगा।' मीरा डरती क्यों! जिसे परमात्माका बल प्राप्त है संसार उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। मीराने दृढ़तापूर्वक कहा, 'सच मानो, यही मेरा चितचोर प्राणधन है। इसीके चरणोंमें मैंने अपनेको निछावर कर दिया है······अभी देखो, देखो, खड़े-खड़े मुसका रहा है। एक क्षण भी तो नहीं हुआ वह आया था। अह! वह रूप! उसने मुझे अपने आलिङ्गन-पाशमें बाँधनेके लिये ज्यों ही बाहें बढ़ायीं त्यों ही मैं अभागिनी······उफ़!! मत पूछो! उस अपरूप रूपको देखते ही मेरी आँखें झँप गयीं, मैं संज्ञाहीन होकर गिर पड़ी। वह धीरे-धीरे मुरली बजाकर मेरे प्राणोंमें गा रहा था। अह! वह शीतल स्पर्श! वह जगत्का स्वामी अनादिकालसे चित्त चुराता आया है और यही उसकी बान पड़ गयी है। उसने प्रेमस्वरूपा गोपियोंका हृदय चुराया! इतनेसे ही उसका जी न भरा! वे जब स्नान कर रही थीं उसने उनके वस्त्र भी चुरा लिये! मैं तो अपने प्राण उसके हाथों बेच चुकी! वह भला इसे क्यों लौटाने लगा! देखो! देखो! वह अपनी शरारतपर स्वयं मुसका रहा है। देखो, देखो, वह सलोनी साँवरी सूरत देखो! प्राण, मेरे पागल प्राण! आओ, खुलकर आओ, आवरण हटाकर आओ! संसारमें मेरा तुम्हारे सिवा और है ही कौन? आओ, प्राण! मुझे अपनेमें डुबा लो, एक कर लो—

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी।
नाच नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमीजनको जाचूँगी॥
लोक लाज कुलकी मरजादा यामें एक न राखूँगी।
पियके पलँगा जा पौढूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

गाते-गाते मीरा मूर्च्छित हो गयी। विक्रमाजीत किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। ऊदा और अन्य लड़कियाँ जो कमरेमें आयी थीं मीराके इस दिव्य प्रेमको देखकर अवाक् हो गयीं। ऊदा मीराके चरणोंमें गिरकर रोने लगी। अपने कियेपर उसे बड़ी ग्लानि हुई!

मीराकी भक्ति-सुरभि दिग्-दिगन्तमें फैलने लगी और लोग उसके दर्शनोंके लिये स्थान-स्थानसे आने लगे। राजमहलमें बराबर लोगोंकी भीड़ देखकर विक्रमाजीतसे सहा नहीं गया। मीराको राज-पाट और लोक-लाजसे क्या करना था। वह सब कुछ छोड़छाड़कर वृन्दावन चली। वृन्दावन पहुँचकर मीराका बस एक ही काम था—मन्दिरोंमें प्रभुकी मूर्त्तिके सामने कीर्त्तन करना। प्रेमकी इस मूर्त्तिको जो भी देखता वही श्रद्धा और भक्तिसे सिर झुका लेता! वृन्दावनमें पहुँचकर मीराको ऐसा लगा मानो वह अपने 'घर' आ गयी है। वहाँके एक-एक वृक्ष, लता-पतासे उसका पूर्व परिचय था। वृन्दावन तो उसके जन्म-जन्मके 'साथी' का देश था। व्रजकी माधुरीपर मुग्ध होकर मीराने अपने प्रेमभरे उद्गार प्रकट किये।

या ब्रजमें कछू देख्यो री टोना।
ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले बाबा नन्दजीके छोना।
दधिको नाम बिसरि गयो प्यारी 'ले लेहु री कोई श्याम सलोना'॥
बिंद्राबनकी कुंजगलिनमें आँख लगाय गयो मनमोहना।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर सुंदर स्याम सुघर रस लोना॥

प्रेमकी चोट बड़ी करारी होती है। वही इसे जानता है जिसका हृदय प्रेमके बाणोंसे बिंधा हो। शब्दोंमें इसका वर्णन कोई करना भी चाहे तो क्या करे। आशा और प्रतीक्षा—प्रेमियोंके हिस्से ये ही पड़ी हैं। मिलनकी आशा और प्राणाधारकी प्रतिक्षा! कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमाधार पूर्णतः पकड़में आ गया, परन्तु प्रेमास्पदकी लुका-छिपी! अह! कितनी आकर्षक, कितनी मधुर है। श्यामसुन्दरपर मीराकी लुभाई हुई दृष्टि जाती है—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रोम रोम नख सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी घर आपणे री मोहन निकसे आय।
बदन चंद परकासत हेली मंद मंद मुसकाय॥

× × × ×

मैं अपने आँगनमें खड़ी थी। सामनेसे श्यामसुन्दर निकले। आँखें हठात् उनपर जा पड़ीं। रोम-रोम उसे निहारने लगा। वह छबि हृदयको कितनी शीतल, कितनी मधुर प्रतीत होती है। हृदयमें अमृत झरने लगा। उनके मुखचन्दकी द्युति और मन्द-मन्द मुसकान हृदयमें बरबस घर किये लेती है। मीरा अपने भीतर यह दृढ़तापूर्वक अनुभव करती है कि उसने गिरधरलालजीको पूरी तरह अपना लिया है, उन्हें मोल ले लिया है, वे अब मीराके हृदय-देशमें बन्दी हैं—

माई री मैं तो गोबिंदो लीनो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लीनो री बजंताँ ढोल।

मैंने डंकेकी चोट गोविन्दको मोल ले लिया। लोग चाहे जो कहें, मैंने तो उन्हें रू-बरू देख लिया, अपना लिया, अपने हृदयके अन्दर कैद कर लिया! मीराकी आँखोंमें, हृदयमें, प्राणमें, रोम-रोममें जिस त्रिभुवनसुन्दरकी मोहिनी मूर्त्ति बसी हुई है उसकी झाँकी लीजिये—

बसो मेरे नैननमें नँदलाल।
मोहनी मूरत साँवली सूरत नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजंती माल॥
छुद्रघंटिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगतबछल गोपाल॥

ऐसे प्रीतमको एक बार पाकर फिर कैसे छोड़ा जाय? आओ, हम सब मिलकर इन्हें बाँध रखें और नैनोंसे इनका रस पीते रहें। जितने क्षण प्राण रहें श्यामसुन्दरको सामने देखते रहें। इन्हें देखकर ही हम जियें। यदि उन्हें आँखोंसे ओझल ही होना है तो अच्छा है कि हमारे प्राण न रहें, हम न जियें। प्रीतम जिस भेषको धारण करनेसे मिले वही करना उचित है। वही वास्तवमें बड़भागिन है जिसका हृदय मदनमोहनपर निछावर हो चुका है।

प्रभुको भक्त जितना ही अधिक पकड़ता जाता है उतनी ही दृढ़ता उसमें आती-जाती है और उतने ही अनन्यभावसे वह प्रभुका और प्रभु उसके होते जाते हैं। हृदयकी बहुत ऊँची अनन्यशरणागति ही मीरासे कहला रही है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई॥

एक बार यदि मूर्त्ति हृदयमें उतर आयी और हृदय उसके रंगमें रँग गया तो फिर क्या कहना! आँसुओंके जलसे सींची हुई प्रेमकी लता जब फैल उठी तो उसमें फिर आनन्दके फल आने लगे। आनन्दके सिवा रह ही क्या गया! अब तो एक क्षणके लिये भी 'उसे' छोड़ते नहीं बनता—

पिया म्हारे नैणाँ आगे रहज्यो जी।
नैणाँ आगे रहज्यो जी, म्हाँने भूल मत जाज्यो जी॥

विरह ही प्रेमका प्राण है। मिलनमें प्रेम सो जाता है और वही विरहमें जग जाता है। सारी सृष्टि प्रेमपात्रकी प्रतिमूर्ति बन जाती है। सब कुछ उसी 'एक' का सन्देश लानेवाला बन जाता है। मीराका विरह अपने ढंगका अकेला ही है। अपने प्राणवल्लभके लिये हृदयमें अनुभव की हुई तीसको प्रेमलपेटे अटपटे छन्दोंमें रखकर अल्हड़ प्रेमसाधिका मीराने अपने करुणा-कलित हृदयको हलका किया है। मीराका दुःख एक आतुर भक्तका दुःख है, प्रेमविह्वल साधकका दुःख है, एक प्रेमीका दुःख है, कविका दुःख नहीं। मीराका दुःख उधार लिया हुआ नहीं है। मीराका दुःख तो एक अकथ कहानी है, प्रेमकी वेदीपर सर्वस्वसमर्पणका एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। शब्दोंसे उस दुःखको नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवगम्य है।

मैं बिरहिण बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।
बिरहिण बैठी रंगमहलमें मोतियनकी लड़ पोवै॥
एक बिरहिण हम ऐसी देखी अँसुवनकी माला पोवै॥
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुखकी घड़ी कब आवै।
मीराके प्रभु गिरधरनागर मिलके बिछुड़ न पावै॥

अपनी दुर्बलताओं और प्रेमपथकी कठिनाइयोंकी ओर जब ध्यान जाता है तो कभी-कभी जी घबड़ा उठता है और निराशा-सी हो जाती है—

गली तो चारों बन्द हुई हरी सूँ मिलूँ कैसे जाय।
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय॥

इस निराशामें तो, बस, प्रभुकी दयाका ही भरोसा है। वही दयाकर उबारे तो उबरनेकी कुछ आशा है, नहीं तो……!!

सजन सुध ज्यों जानो त्यों लीजै।
तुम बिन मेरो और न कोई, कृपा रावरी कीजै॥
दिवस न भूख, रैन नहीं निंदिया, यों तन पल-पल छीजै।
मीराके प्रभु गिरधरनागर मिल बिछुरन नहिं दीजै॥

आँखोंको कौन मनावे, हृदयको कौन समझावे? एक क्षण भी श्यामसुन्दरके बिना इसका टिकना असम्भव है। यह तो हाय-हायकर जीवनसर्वस्वके लिये तड़प रहा है—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥

लोग 'बिगड़ी' कहे अथवा 'बनी', इससे मीराका क्या बनता-बिगड़ता है। वह तो गिरधर गोपालके हाथों बिक चुकी है। उसीकी मूर्ति उसके हृदयमें बसी हुई है। कृष्ण ही उसका जीवन, कृष्ण ही उसकी मृत्यु है; कृष्ण ही उसका स्वर्ग, कृष्ण ही उसका अपवर्ग है। कृष्णके सिवा उसके लिये लोक-परलोक कुछ है ही नहीं। विरहकी इस तीव्र वेदनाके साथ मिलनकी उत्सुक प्रतीक्षा तथा आकुल उत्कण्ठा भी कम नहीं है। प्रेममें विरह और मिलन लिपटे सोते हैं। मिलनकी झाँकी लीजिये। रातका समय है। पानी बरस रहा है। हरिजीको मेघोंने मीराके घरमें रोक रखा है। वे अब बाहर जाते भी कैसे? मीराके घरमें गिरधरलालजी बन्द हैं। मीरा अपने प्राणधनको पाकर प्रेमानन्दमें बेसुध है। वह भावावेशमें गा उठती है—

नंदनँदन बिलमाई, बदराने घेरी माई।
इत घन लरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़ घुमड़ चहुँदिससे आया पवन चलै पुरवाई॥
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणाई।
मीराके प्रभु गिरधरनागर चरणकँवल चित लाई॥

वृन्दावनमें बहुत समयतक रहकर मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्रीरणछोड़जीके मन्दिरके सामने कीर्तन किया करती! भक्तोंकी वही अपार भीड़ और मीराका वही प्रेमाविष्ट कीर्तन और नृत्य!! मीरा जब हाथमें करताल लेकर नाचने लगती उस समय समस्त प्रकृति रासके आनन्दमें उन्मत्त होकर थिरकने लगती। मीरा तो

कृष्णकी प्राणप्रिया सखी थी—उसके आनन्दको बढ़ानेके लिये हरि स्वयं उतर आते और मीराके साथ-साथ समस्त भक्तमण्डली कृष्णमिलनके रसमें, प्रभुके मधुर आलिङ्गन-रसमें सराबोर हो जाती।

आज मीराका प्रयाण-दिवस है। आज प्रभुकी यह प्रेमपुतली अपनी आनन्द-लीला संवरणकर हरिमें एकाकार होनेवाली है। आखिर यह द्वैत, यह अन्तर वह कबतक सहन करती! आज रणछोड़जीका मन्दिर विशेषरूपसे सजाया गया है। एक अपूर्व गम्भीरताका साम्राज्य है! मीरा प्रेमानन्दमें बेसुध है। आज उसकी तपस्या पूरी होनेवाली है। आज उसने पुन: नववधूका वेश धारण किया है। लाल रेशमी साड़ी पहन ली है। माँगमें सिन्दूर भर ली है। पैरोंमें घुंघुरू बाँध लिया है! आज मीराकी जो प्रेमसेज सजी है उसकी सुन्दरताका क्या कहना। आज तो पियाकी सूली ऊपर जो सेज बिछी है उसीपर जाकर मीरा अपने प्राणेश्वरके साथ पौढ़ेगी। प्रीतमकी अटारीपर आज मीरा सुखसे सोयेगी—

ऊँची अटारिया, लाल किवड़िया, निरगुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली॥
बाजूबंद कड़ूला सोहै माँग सिंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथमें लीन्हा सोभा अधिक भली॥
सेज सुखमणाँ मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी।

आज रणछोड़जीके मन्दिरकी एक अपूर्व छटा है। मीरा सज-धजकर आज महामिलनकी तैयारीमें आयी है। आज उसके स्वरमें एक अपूर्व करुणापूर्ण मादकता है। आज वह गाती है और धीरे-धीरे अपनेको हरिमें एक करती जाती है। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है और लोग उसके चरणोंको चूमने लगते हैं। सारा मन्दिर अचानक तेजोमय हो जाता है। मीरा उठती है और रणछोड़जीकी मूर्त्ति अपना हृदय खोलकर उसे अपने भीतर ले लेती है। मीरा माधवमें मिलकर एक हो जाती है। भक्तमण्डली निर्निमेष दृष्टिसे यह सब देखती रह जाती है। मीरा सदाके लिये हमारी स्थूल आँखोंसे ओझल हो जाती है!

आज भी प्रेम, आनन्द और सौन्दर्यकी त्रिवेणीपर खड़े होकर नन्दनन्दन श्यामसुन्दर शारदीय पूर्णिमाकी अर्धरात्रिको प्रेम-विभोर होकर जब वंशीमें कुछ गाने लगते हैं तो उस जादूके बलपर खिंची आयी मीरा अपनी करुणापूर्ण वेदना सुनाती है—

मैं अपने सैंयाँ सँग साँची।
अब काहेकी लाज सजनी, परगट है नाची॥

योगवीणा

(लेखक—पं० श्रीसत्यनारायणजी पाण्डेय 'सत्य')

(१)

अधरमें कंपन आया मौन
हुआ मुखरित स्वरमें जग लीन।
सुनाए करुणाके दो शब्द
मिली है अब तंत्रीसे बीन॥

(२)

वजंत्रीने छेड़ा आलाप
तूँबड़ी कुंडलिनीमें पीन।
बजानेका जो मर्म-स्थान
हृदय रसके चसकेमें लीन॥

(३)

कसे मनसे भावोंके तार
बना मिजराब हमारा प्रेम।
आज योगीने वीणा छेड़
सुनायी तान, निभाया नेम॥

(४)

मिले स्वर, गुंजित अनहद शब्द
मीड़में अनिल अनलका खेल।
विकंपित सारा स्वर संसार
एक परदेमें सबका मेल॥

(५)

वेदमाँने झाँका चुपचाप
रागमें देखा प्रियका देश।
चेतना मचल उठी हो व्यस्त
बदलनेको निज स्वप्निल वेष॥

प्रेमयोग

(१)

श्रीकृष्ण द्वारकामें थे। व्रजगोपियोंकी बात छिड़ते ही विह्वल हो उठते थे। पटरानियोंको इससे बहुत ईर्षा होती थी। इनकी ईर्षा भङ्ग करनेके लिये भगवान्ने एक लीलाका अभिनय किया। भगवान् बीमार हो गये। बीमारी भी कठिन थी। वैद्यजीने ओषधिकी व्यवस्था की, अनुपान बतलाया 'चरणरज'। यह अनुपान कौन देता? चरणरजके लिये सभीसे पूछा गया। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी महिषियोंने नरकके डरसे चरणरज देनेकी बातपर मुँह मोड़ लिया। श्रीकृष्णको चरणरज देनेका दुःसाहस कौन करता। देवर्षि नारदजीको भेजा गया विश्वके सभी देवी-देवताओंके पास। परन्तु किसकी हिम्मत थी जो ऐसा दुःसाहस करे। नारदजी म्लानमुख खाली हाथ लौट आये। भगवान्ने कहा, 'एक बार व्रज जाकर तो शेष चेष्टा कर देखो।' नारदजीको बात बहुत नहीं भायी। परन्तु भगवान्का कहना था, व्रज जाना ही पड़ा। नारदजी हमारे श्यामसुन्दरके पाससे आये हैं, सुनकर पगली श्रीराधाजीके साथ व्रजाङ्गनाएँ बासी मुँह ही दौड़ीं प्राणनाथकी कुशल पूछनेके लिये। नारदजीने श्रीकृष्णकी बीमारीकी बात सुनायी। गोपियोंके प्राण सूख गये। उन्होंने कहा—

'क्यों, क्या वहाँ कोई वैद्य नहीं है?'

'वैद्य भी हैं, दवा भी तैयार है; परन्तु अनुपान नहीं मिलता', नारदजीने कहा।

'ऐसा क्या अनुपान है?'

'अनुपान बहुत ही दुर्लभ है, तमाम जगत्में चक्कर लगा आया। है सभीके पास, पर कोई भी देना नहीं चाहता या दे नहीं सकता।'

'कहिये, कहिये भगवन्! क्या वह अनुपान हमलोगोंके पास भी है? होगा तो हम जरूर ही देंगी', व्रजगोपियोंने व्याकुल होकर ऐसा कहा।

'तुम नहीं दे सकोगी।'

'उनको नहीं दे सकेंगी ऐसी हमारे पास कोई वस्तु कैसे रह सकती है?'

'अच्छा! क्या श्रीकृष्णको अपने चरणोंकी धूल दे सकोगी? इसी अनुपानके साथ दवा देनेसे उनका रोग नाश होगा।'

'यह कौन-सी बड़ी कठिन बात हुई? लो, हम पैर बढ़ाये देती हैं; जितनी चाहिये चरणधूलि अभी ले जाओ', गोपियोंने सरल हृदय और उत्साहसे कहा। 'अरी, करती क्या हो? क्या तुम यह नहीं जानती कि श्रीकृष्ण 'भगवान्' हैं, भगवान्को चरणधूलि दे रही हो? वे जगत्पति हैं, क्या तुम्हें नरकका भय नहीं है?' नारदने आश्चर्यचकित होकर कहा।

'नारदजी! हमारे मुक्ति-भुक्ति, स्वर्ग-नरक, जीवन-मरण, सुख-दुःख, हँसी-रुलाई सब एक श्रीकृष्ण ही हैं। अनन्त नरकोंमें जाकर भी यदि हम श्यामसुन्दरकी देहको पुनः स्वस्थ और सबल पा सकें, तो हम ऐसे मनचाहे नरकका तो नित्य ही भजन करें। जानते नहीं नारदजी! हमारे लिये श्यामसुन्दरने अघासुर (अघ-असुर), नरकासुर (नरक-असुर) आदिको तो पहलेसे ही मार रखा है। हम न पाप जानती हैं और न नरक मानती हैं। हम तो जानती हैं सिर्फ हमारे श्यामसुन्दरके सुखको—लीलाविलासको। तुम्हारे सारे पापों और नरकोंको हमलोगोंने इस लीलाविलासके अन्दर बदनमें मल लिया है। इसीसे तो हम जल-मर रही हैं। यह मरना ही हमारा जीवन है।'

नारदका वक्षःस्थल पवित्र प्रेमधारासे धुल गया, नारदजीने श्रीश्रीराधारानीके चरणोंकी रज लेकर थोड़ी-सी तो अपने सब अंगोंमें लगायी। और शेष बची हुईकी पोंटली बाँध ली, विश्वेश्वरकी ऐश्वर्य-व्याधिके विनाशके लिये। गोपीपदरजके स्पर्शसे परमोज्ज्वलतनु होकर जब नारदजी चरणधूलिकी पोंटलीको मस्तकपर रखे द्वारकामें पधारे, तब द्वारकामें आनन्दकी लहर बह चली। चरणरजके अनुपानसे श्रीकृष्णने औषध ली, और सहज ही निरामय हो गये। महिषियोंका मान भङ्ग हो गया, उन्होंने आज प्रत्यक्ष प्रमाणसे गोपीप्रेमकी अपार अतलस्पर्शी गम्भीरता और मधुरिमाको देख लिया। और श्रीकृष्ण गोपियोंकी बात छिड़ते ही क्यों तन-मनकी सुधि भूल जाते हैं, इसका रहस्य भी उनकी समझमें आ गया! धन्य प्रेमयोग! (उज्ज्वलभारत)

(२)

एक समय श्रीधाम द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा प्रभृति प्रधाना षोडश राजमहिषियोंके मध्य शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे! हा राधे!' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरणसंवाहनपूर्वक जागृत किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभङ्ग होनेपर किञ्चित् लज्जित हुए और उन्होंने अति चतुराईसे अपना भाव गोपन कर लिया और पुनः निद्रित हो गये। परन्तु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं, 'देखो, हम सब सोलह सहस्र महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं है; तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मयकी बात है! रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी न मालूम, कितनी रूप-गुणवती होगी?' इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं, 'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधानाम्नी एक गोपकुमारी है, उसके प्रति हमारे प्राणेश्वर अत्यन्त आकृष्ट हैं; इसीलिये रूपलावण्यवैदग्धपुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम सबद्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षक-चित्ताकर्षिणीके अलौकिक गुणग्राम भूल नहीं सके हैं।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं, 'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो कुछ नहीं; फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं? अस्तु, जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें रोहिणीमाताको पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे भलीभाँति जानती हैं।' यह प्रस्ताव सबको रुचा। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्य समापन करके राजसभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुर पधारकर स्नानादि समाधानपूर्वक भोजन करने बैठे। राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किञ्चित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया। इस अवसरको पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रजवृत्तान्त पूछा। माताजी कहने लगीं, 'प्यारी पुत्रियो! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ जानती हूँ, किन्तु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी।' इसपर महिषीगण कहने लगीं, 'माताजी! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो; कह दो, किसीको अन्दर न आने दे; फिर मैं निःसङ्कोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी।' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा, 'सुभद्रे! यदि राम-कृष्ण आवें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना।' माताजीका आदेश पालन किया गया। सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं। महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीला वर्णन करना आरम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे। जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके तो उत्कण्ठितचित्त होकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़े। आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं। उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा, 'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो? द्वार छोड़ दो, हमलोग भीतर जायँ।' श्रीमती सुभद्रादेवीने कहा, 'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश करना निषेध कर रखा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे तो माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्ता उन्हें सुनायी दी। यह वार्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्भुत, मङ्गलरासविहारात्मक थी। सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गमें अद्भुत प्रेम-विकारके लक्षण दिखायी देने लगे। क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये। अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित

होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षःस्थलको प्लावित करने लगी। यह देखकर श्रीमती सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं। जिस समय माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्भुत प्रेमवैचित्र्यावस्था वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इस प्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्तपद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ विलास वर्णन करने लगीं तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर श्रीमती सुभद्रादेवीकी भी यही अवस्था हुई। तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल स्थावर प्रतिमूर्तिस्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल, निर्वाक्, स्पन्दरहित महाभावावस्था! अतिशय मनोऽभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्तपदावयव किञ्चित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया। पाठक! महाभावमयी, अशेषनायिकाशिरोमणि श्रीमति वृन्दा-वनेश्वरीजीके महाभावगौरवका तनिक विचार करें। कुछ कहनेको नहीं है, वाणी विरामप्राप्त होती है, सर्वात्मा गम्भीरतम महाभावजलधिमें डूब जाता है।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम द्वारकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम, कृष्ण दोनों भाई अन्तःपुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही; अन्तःपुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इस प्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेम-विवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनर्वार किसी एक रसान्तरका प्रसंग उठाया तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्यलाभ हुआ। सिद्धान्ततः रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना सङ्गत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव-स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा, 'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है, कहिये मैं आपका क्या प्रीति-सम्पादन करूँ?' देवर्षिजीने कर जोड़ प्रार्थना की, 'हे प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपतः वह क्या पदार्थ है और किस प्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्माको आप्यायित करते हुए इस प्रकार वचनामृतवर्षण करने लगे, 'देवर्षे! प्रातः तथा मध्याह्न-कृत्यसमापनपूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणके द्वारा पूछे जानेपर माता रोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपार माधुर्यमयी व्रज-लीलाकथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रज-लीलावार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं। उत्कण्ठावश अन्तःप्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेश-निषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रजलीलामाधुरीने कर्णगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये। तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है। मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके।' इतना कहकर भगवान्ने जब देवर्षिजीसे पुनः वरग्रहणका अनुरोध किया तो देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे, 'भगवन्! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ, निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावावेशमूर्ति मैंने

प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमङ्गल चारों स्वरूप जनसाधारणकेनयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें। मायासन्निपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महा-सञ्जीवनीरसायन स्वरूपचतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवें।' करुणायतन भक्तवाञ्छापूर्णकारी श्रीभगवान्ने कहा, 'देवर्षे! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और परमभक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ—एक भक्तचूड़ामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्तिस्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणिकल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचल क्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ, तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्रतटवर्ती नीलाचलक्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।' सर्वजीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छा-गमन किया। श्रीरामकृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् संकोचकी आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा, एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचलक्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं।

(व्रजके एक महात्मा)

(३)

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करनेको गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुनती थीं। आज शुभ अवसर जानकर भगवान्की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा की और भगवान्की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। श्रीराधाजीको समस्त सखियोंसमेत भगवान्के दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा, 'बहिनो! चन्द्रमा एक होता है परन्तु चकोर अनेक होते हैं, सूर्य एक होता है परन्तु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्त अनेक हैं।'

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने डेरेपर लायीं और उनका यथासाध्य सबोंने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने डेरेपर पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वह आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा, भगवान्की तमाम चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीने अपनी संगिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित हो गयीं। भगवान्से पूछनेकी हिम्मत किसीकी नहीं। तब श्रीभगवान्ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ जमा होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा। श्रीरुक्मिणीजीने बड़ी ही नम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फफोलोंकी बात कहकर भगवान्से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्ने पहले तो बातको टाल दिया। परन्तु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो—तुमलोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंके बात समझमें नहीं आयी। उन्होंने

पूछा, 'दूध गरम था तो उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता, आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध?' भगवान्ने मुस्कराते हुए कहा, 'श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

श्रीराधिकाके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं, एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध जरा ठंडा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।

वियोग

(लेखक—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।

प्रेम और ममत्वका ऐसा जोड़ा है कि ये कभी अलग नहीं किये जा सकते। जहाँ प्रेम है वहाँ ममत्व है। जो जिससे प्रेम करता है उसे अपना ही बनाकर रखना चाहता है। यदि वह उसे अपना नहीं बना पाता तो कलपता है, रोता है। उसका कलपना, रोना, ममताकी मात्रा बढ़नेसे होता है। वह आये और गये, उनके आनेमें संयोग, जानेमें वियोग है। दोके मिलनको संयोग अथवा योग कहते हैं।

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

किन्तु उक्त योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है और वह अनिर्वचनीय है।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

वियोगीके हृदयकी कसक, मधुर स्मृतिकी रूपरेखा और तन्मयताकी झलक 'गोपिकागीत' में है—

त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।

प्रेमयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी योगोंके सम्पुटसे 'वियोग' रस परिपक्व होकर सिद्ध होता है।

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।

जहाँ संयोगमें मनकी प्रफुल्लता और आनन्द है वहाँ वियोगमें प्राणोंकी विकलता, तन्मयता, उत्सुकता एवं दुःखदायिनी मधुर स्मृतिमें अकथनीय आह्लाद है। प्रेमके शुद्ध स्वरूपका प्रतिबिम्ब विरहीके विकल हृदयपटलपर रहता है।

परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे समं चैव।
माधव! तस्या अङ्गं तवैव स्नेहेन घटितमिव॥

प्रेमी अपने प्यारे प्रभुको कभी भी भुला नहीं सकता। प्रेमकी अटूट धाराकी लहर वियोगीके निर्मल हृदयसरोवरमें सदा लहराती रहती है।

क्वचित् क्वचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः।
न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि॥
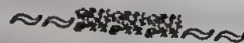
विरहयोग

(लेखक—पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश')

विरह एक अति विलक्षण योग है। एक विषकी घूँट है, नीमका चबाना है, कुनैनका फाँकना है। परन्तु हाय रे! यह विष कितना मधुर है! कितना सरस है! कितना अमरत्व रखता है! जाकर पूछो उन गोपियोंसे, उद्धवने क्या कुछ कम प्रयत्नोंसे ज्ञानामृतकी धाराओंसे उनके तप्त अन्तःकरणको शीतल करना चाहा। परन्तु गोपियोंका विरहरूप विषम ज्वर तो उससे उलटा उग्र रूप ही धारण करता चला गया। विरहका वायु बेकाबू होकर भड़क उठा। तीनों दोषोंका संनिपात हो गया। गोपियाँ आँय-बाँय बकने लगीं। परिणाम यह हुआ कि वह विरहका संक्रामक रोग उद्धवपर भी सवार हो गया। उद्धवको भी कुछ सुध-बुध न रही। उसके ज्ञान-मिक्सचरकी शीशीकी डाट न जाने कब निकल गयी! उन विरह-सर्प-दंशित गोपियोंकी मस्तीकी झूमने उद्धव-जैसे ज्ञान-गारुड़ीको भी मतवाला बना दिया।

विरह एक जादू है जो सिरपर सवार होकर बोलता है। विरह एक नशा है जो नेत्रोंद्वारा दूसरेके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। विरह परमात्माकी एक देन है जो किसी विशिष्ट कृपापात्रपर ही उतरती है। वह श्यामसुन्दर जिसपर विशेष प्रसन्न होता है उसीको अपना विरह-पुरस्कार प्रदान करता है।

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते जदुबीर॥
रोना-धोना सिसकना, आहोंकी जागीर॥

वास्तवमें विरह एक अलौकिक जागीर है जो किसी भाग्यवान्‌के भाग्यमें बदी होती है। सच्चा विरही अपने प्रेमपात्रको पाकर उतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना उसके विरहमें व्याकुल होता हुआ रो-रोकर!

जो मज़ा इंतज़ारीमें देखा। न वह मजा वस्ले यारीमें देखा॥

उसे रोनेमें जो आनन्द आता है वह न शुष्क ध्यानके लगानेमें आता है और न खाली मालाकी मणियाँ निकालनेमें! उसे जितना आनन्द बाष्पपूर्ण कण्ठसे गद्गद होकर चुप रह जानेमें मिलता है उतना आनन्द किसी भी सुरीले कण्ठसे स्तोत्रके गानेमें नहीं मिलता। उसे जितना आनन्द परोक्षस्थ अपने प्रियतमको खरी-खोटी सुनानेमें मिलता है, उतना उसको अपनी हितकाम्य-प्रार्थना करनेमें नहीं।

जिन्हें है इश्क सादिक़ वे कहाँ फ़रियाद करते हैं।
लबोंपर मुहर ख़ामोशी दिलोंमें याद करते हैं॥
मुहब्बतके जो क़ैदी हैं न छूटेंगे वे जीते जी।
तड़पते हैं, सिसकते हैं, उसीको याद करते हैं॥

विरह एक जंजीर है जो अपने प्रियतमके कण्ठोंमें पड़कर अपने हृदयकी खूँटीसे बँधी रहती है। यह जंज़ीर ज्यों-ज्यों खिचती है त्यों-ही-त्यों उस अलौकिक वेदनाकी हूलें उठा करती हैं। जब किसी पुण्यवान् व्यक्तिके महान् जप-तप और यम-नियमादि साधन फलीभूत होते हैं तब भगवान् उनके फलस्वरूप साधकके हृदयमें अपने विरहकी आग भड़का देते हैं और आप दूर खड़े तमाशा देखा करते हैं। वह तो 'हाय, जला रे जला' पुकारता है और आप खड़े-खड़े हँसते हैं! उस विरहकी उग्र आगमें पाप-ताप तो कहाँ बचने थे, स्वयं जप-तप भी ईंधन बनकर जलने लगते हैं।

मीरा गिरधरलालका नाम लेनेके लिये गि···र···ही कह पाती है कि पहले ही आँसू गिर पड़ते हैं। मुँहके आगे डाट आ जाती है, मानो स्वयं गिरधरने मुँह बन्द कर दिया हो। यह सब विरह-देवकी करतूत है। जब विरहका पारा रोम-रोममें पसर जाता है तो आँखें अपलक हो जाती हैं और जिह्वा काष्ठजिह्वा! जब यह कच्चा पारा हृदयकी नस-नसमें भर जाता है तो मनमृग भी चौकड़ी भरना भूल जाता है। यदि कहीं अधिक परिमाणमें चढ़ गया तब तो मीराकी भाँति प्राणोंका स्पन्दन ही बंद हो जाता है। तड़प-तड़पकर प्राण देना ही तो विरहीका ध्येय होता है। उसे इस तड़पमें ही मज़ा मिलता है। वह मौजी इस मज़ेकी आगमें जलकर ख़ाक हो जानेमें ही सब कुछ भर पाता है!

विरही तो विरहानलमें इतना जल जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती—

बिरह अगिन तन मैं तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव महँ, मौत ढूँढ फिरि जाय॥

(कबीर)

विरह किसी पोथीके पढ़नेसे प्राप्त नहीं हो सकता। विरहयोगका दाता कोई गुरु भी नहीं है। विरह कोई विश्वविद्यालयोंमें सीखने-सिखानेका विषय भी नहीं है। विरह तो अपना शिक्षक, अपना गुरु और अपना शास्त्र आप ही है। विरहका अर्थ है अपने प्रियतमके प्रेमपर मर मिटनेकी लगन!

उरमें दाह, प्रवाह दृग, रह-रह निकलें आह।
मर मिटनेकी चाह हो, यही विरहकी राह॥

विरहयोग सुगम-से-सुगम और कठिन-से-कठिन है। सुगम तो यों है कि इसमें न तो किसी उपकरणविशेषकी आवश्यकता है और न कोई विधि-विधान ही है। एक लगन ही इसका प्रबल साधन है। कठिन यों है कि यह भगवत्कृपा बिना किसी साधनविशेषसे कदापि प्राप्त होने योग्य नहीं। जिस प्रकार मरनेकी क्रिया नकली नहीं हो सकती, उसी प्रकार विरह-दशा भी नकली नहीं हो सकती।

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उग्र तपस्याएँ कर-कर धूलिमें मिल-से गये। परन्तु उन भोली-भाली गोपकन्याओंके चरणोंकी धूलिकी भी समता वे नहीं कर सके। ऋषियोंने अनेक नूतन योगोंका आविष्कार किया। परन्तु गोपियोंकी विरह-दशाको देखकर वे लज्जित हो गये। वास्तवमें विरहयोगके सामने कोई योग ठहर नहीं सकता। भगवान् एक फौलादका टुकड़ा है, जो साधारण अग्निसे नहीं गल सकता। उसको पानी बनानेके लिये कितने ही उपाय निकाले गये। परन्तु सब उपायों (योगों)-में एक-से-एक बढ़कर कठिनता पेश आयी। एक विरहयोग ही सुगम-से-सुगम उपाय सूझा, जिसके तापसे भगवान् तत्क्षण पानी-पानी हो चलते हैं। अन्य जितने भी योग हैं उन सबमें किसी-न-किसी अंशमें अहङ्कार लिपटा ही रहता है। एक विरह ही ऐसा योग है कि जिससे अहङ्कार कोसों दूर रहता है। और जहाँ अहङ्कार नहीं है वहीं वह प्यारा यार बसता है।

अनेक भक्त महात्माओंने विरहके नशेको भर-पेट पिया है। वे उसकी मस्तीमें जो कुछ बोले हैं वह सुननेकी एक चीज है। महात्मा चरनदासजीने विरहके जो फोटो लिये हैं, वे देखते ही बनते हैं।

चरनदासजी

मुख पियरो सूखैं अधर, आँखैं खरी उदास।
आह जो निकसै दुखभरी, गहिरे लेत उसास॥
वह बिरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजै छेद॥
अपने बस वह ना रही, फँसी बिरहके जाल।
चरनदास रोवत रहै, सुमर-सुमर गुन ख्याल॥
वै नहिं बूझैं सार ही, बिरहिनि कौन हवाल।
जब सुधि आवै लालकी, चुभत कलेजै भाल॥

महात्मा चरनदासजीने विरहयोगपर जो अपना दो टूक फैसला दे दिया है वह रिकार्डकी एक चीज है।

पी पी कहते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान।
बिरहिनके सहजै सधै, भगति जोग तप ग्यान॥

दयाबाई

साध्वी श्रीदयाबाई रो-रोकर अपने मनमोहनसे कहती है—

बिरह ज्वाल उपजी हिये, रामसनेही आय।
मनमोहन! सोहन सरस, तुम देखणदा चाव॥
बिरह-बिथासूँ हूँ बिकल, दरसन कारण पीव।
'दया' दया की लहर कर, क्यों तलफावो जीव॥

महात्मा कबीरने विरहके बाण सहे हैं, वे इस अग्निसे खेले हैं, इस सर्पसे दंशित हुए हैं। इसको उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन किया है। वास्तवमें विरह-वेदनासे निकली हुई जो कबीरजीकी आहें हैं वे किस पाषाणहृदयको नहीं पिघला देती हैं?

हौं हिरनी पिया पारधी, मारे शब्दके बान।
जाहि लगै सो जानही, और दरद नहिं जान॥
मैं प्यासी हौं पीवकी, रटत सदा पिव पीव।
पिया मिलै तो जीव है, सहजै त्यागों जीव॥
पिय कारन पियरी भई, लोग कहैं तन रोग।
छः छः लंघन मैं करे, पिया मिलनके जोग॥
बिरह बड़ो बैरी भयो, हिरदा धरै न धीर।
सुरत सनेही ना मिलै, तब लगि मिटै न पीर॥

(महात्मा कबीर)

आह! विरहका काँसा हाथमें लेकर ये वैरागी नयन प्यारेकी छविकी भीख पाकर मस्त रहते हैं—

बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
माँगें दास मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥
बिरह भुअंगम पैठि कै, किया कलेजै घाव।
बिरही अंग न मोड़िहै, ज्यों भावै त्यों खाव॥
कै बिरहिनको मीच दै, कै आपा दिखलाय।
आठ पहरका दाझना मोपै सहा न जाय॥

विरहार्थियोंको श्रीकबीरजी उपदेश करते हैं—

बिरहा सेती मत अड़ै, रे मन! मोर सुजान।
हाड़ माँस सब खात है, जीवत करै मसान॥
'कबीर' हँसना दूर कर, रोनेसे कर चीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेमपियारा मीत॥
हँस हँस कंत न पाइयाँ, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेलै पिव मिलै, कौन दुहागिन होय॥
रक्त माँस सब भख गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड चबान॥

वाहवा! वाहवा!! क्या यह विरहका कूकर शरीरकी अस्थियोंको भी चबा डालता है? परन्तु कबीरजी महाराज! यहाँ तो हमारे-जैसे विरही कहलानेवाले दिनमें तीन बार तुलते हैं कि कहीं वज़न कम न हो जाय!

विरहकी ज्वालामें जले बिना, उसमें खाक हुए बिना इस हृदयकी फौलादका कुश्ता हो ही नहीं सकता।

बिरह अगिन तन जालिये, ग्यान अगिन दौं लाइ।
'दादू' नख सिख पर जलै, राम बुझावै आइ॥
बिरह जगावै दर्दको, दर्द जगावै जीव।
जीव जगावै सुरतिको, पंच पुकारैं पीव॥
जब बिरहा आया दई, कड़ुवे लागैं काम।
काया लागी काल है, मीठा लागा नाम॥
जो कबहूँ बिरहिन मरै, सुरत बिरहनी होय।
'दादू' पिव पिव जीवताँ, मुआँ भी हैरै सोय॥
(दादूदयालजी)

'सुन्दर' बिरहिनि अधजरी, दुःख कहै मुख रोइ।
जरि बरि कै भसमी भई, धुवाँ न निकसै कोइ॥
ज्यों ठग मूरी खाइ कै, मुँह नहिं बोलै बैन।
टुगर टुगर देख्यो करै, 'सुन्दर' बिरहा ऐन॥
(सुन्दरदासजी)

एक उर्दू कवि कहता है—

ज़बानी हाल यूँ कहना तू जाकर नामावर पहले।
हमारी आहें गिरियाँकी तु कर देना खबर पहले॥
तेरी उल्फतके कूचेमें नफ़ा पीछे ज़रर पहले।
अकल जाती है इस कूचेमें ए 'जामिन' गुज़र पहले॥

वास्तवमें विरहके कूचेमें अक़्ल नहीं रहती।

विरह-जैसी बीमारीको पाकर ही वास्तवमें नीरोग होना है। इस विरहने सब सन्त-भक्तोंको रुला-रुलाकर मारा है। और जो इससे वञ्चित रह गया तो समझ लो अमृतके समुद्रमें मुँह बन्द करके ही उसने गोते लगाये हैं, उसमें गुचकियाँ नहीं खायीं। उसे हिलकियाँ नहीं आयीं और उसने सुबकियोंका स्वाद नहीं चखा। दरिया साहब कहते हैं—

'दरिया' हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
बिरहा ब्यापा देहमें, किया निरन्तर बास।
तालाबेली जीवमें सिसके साँस उसास॥

अलबेला साधु बुल्लेशाह कहता है—

कद मिलसी मैं बिरह सताई नूं।
आप न आवै ना लिख भेजै भट्ठी अजे ही लाई नूं।
तैं जेहा कोइ होर न जाणां मैं तनि सूल सवाई नूं॥
रात दिनै आराम न मैंनू खावे बिरह कसाई नूं।
'बुल्लेशाह' धृग जीवन मेरा जोलगि दरस दिखाई नूं॥

'सौ सयानोंका एक मत' इस लोकोक्तिके अनुसार विरहका अनुभव सब महात्माओंका समान उतरता है। वास्तवमें वर्णन विरहीकी दशा ही कर सकती है। मुझ-जैसे शुष्क और नीरस व्यक्तिका इस विषयपर कलम उठाना तो एक धृष्टता करना है। पाठक! इस धृष्टताके लिये क्षमा प्रदान करें!

व्रजगोपियोंकी योगधारणा

(लेखक—श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')

भगवान् श्रीकृष्णजीके वियोगमें गोपियोंको अधीर जानकर भक्तप्रवर उद्धव भगवान्की आज्ञासे उन्हें समझा-बुझाकर आश्वासन देनेके लिये व्रज जाते हैं और वहाँ गोपियोंको ज्ञान-वैराग्यका उपदेश देते हैं। उधर गोपियोंपर इसका विपरीत ही प्रभाव पड़ता है। वे अपने प्यारे मनमोहनको जीवन्मुक्त पुरुषके ब्रह्मदर्शनकी भाँति सर्वत्र देख रही हैं। उन्हें जडचेतन पृथिवीकी समग्र वस्तुओंमें प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो रहे हैं। अपने शरीरमें ही सब कुछ देखनेवाली तथा प्यारे मदनमोहनके साथ सदा क्रीड़ा करनेवाली एक गोपी कहती है—

हौं ही व्रज वृन्दावन मोही में बसत सदा,
जमुनातरंग स्यामरंग अवलीनकी।
चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियतु,
कुंजन में सुनियत गुंजन अलीनकी॥
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमें,
रासके बिलासकी मधुर धुनि बीनकी।
भरि रही झनक भनक ताल, ताननिकी,
तनक तनक तामें झनक चूरीनकी॥

(महाकवि देव)

उस गोपीको यकायक प्यारे प्रभुकी रासक्रीड़ाकी सुधि हो आती है। वह मानो उसीमें प्रभुके साथ नृत्य करके **'तनक-तनक तामें झनक चूरीनकी'** सुन-सुनकर पागल हो उठती है। उसके रोमाञ्च हो जाता है! गद्‌गद कण्ठसे लीलामयकी लीलाका वर्णन करती-करती वह आप-ही-आप आनन्दाम्बुनिधिमें गोते खाने लगती है। इसी बीच दूसरी गोपी उद्धव महाराजसे कहती है—

निसिदिन स्रौननि पियूष सौ पियत रहैं,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरीके सुरग्रामकौ।
तरनितनूजा तीर बन कुंज बीथिनिमें,
जहाँ-तहाँ देखती हैं रूप छबिधामकौ॥
'कवि मतिराम' होत ह्याँ तौ ना हिये तें नैकु,
सुख प्रेमगातको परस अभिरामकौ।
ऊधौ! तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं जो वियोग होय स्यामकौ॥

(महाकवि मतिराम)

अबकी बार यह गोपी श्याममय होकर उछल पड़ती है। उद्धवजीको डाँट बता-बताकर कहती है—महाराज! यहाँ तो हमें जहाँ-तहाँ सर्वत्र ही प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन मिल रहे हैं। उनके अमृतमय वंशीनादसे हमारे कान भर रहे हैं। यमुनाके तीर कुञ्जमें—वनमें—प्रत्येक स्थलमें वह मनोहर छबि दिखायी दे रही है। अतएव हे उद्धवजी! आप जो हमें श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये योग-समाधि सिखाने आये हैं वह तो व्यर्थ ही है। कारण, हमारे प्यारे कन्हैयाका तो हमसे पलभरको कभी वियोग ही नहीं है। वे तो हमारे साथ हमें यहीं दीख रहे हैं। इतना सुनकर तीसरी गोपी आगे बढ़कर कहने लगी, उद्धवजी!—

प्राननिके प्यारे तनतापके हरनिहारे,
नंदके दुलारे ब्रजबारे उमहत हैं।
कहैं 'पदुमाकर' उरूझे उर अंतर यों,
अंतर चहे हू तैं न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग अंग हुलसे हैं, रोम
रोमनि लसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ! वै गोविन्द मथुरामें कोई और, इहाँ
मेरे तौ गोविन्द मोहि मोहि में रहत हैं॥

(महाकवि पद्माकर)

यह तो इतनी मगन है कि उद्धवजीको भी चक्करमें डाल देती है। कहती है उद्धव महाराज! मेरी आँखोंमें वे बसे हैं। मेरे हृदयमें वे समा गये हैं। दूरी चाहनेपर भी दूर नहीं हो सकते, ऐसे लीन हैं। कौन कहता है कि वे कहीं अन्यत्र जाकर बस गये हैं? हे उद्धवजी! तुम्हारे मथुराजीमें वास करनेवाले श्रीकृष्ण कोई और ही होंगे। मेरे प्यारे कृष्ण—गोविन्द तो मेरे रोम-रोममें समाकर यहीं रम रहे हैं।

धन्य है प्रेम! विमुग्धकारी लीलाधारीकी छबि जब इस प्रकार किसी योगीके हृदयकमलमें वास करने लग जाती है तब क्यों न वह **'जानत तुम्हहि तुम्हहि है जाई'** बन जाय। धन्य है अलखनिरञ्जन, सन्तनसुखदाता, लीलानागर प्रभु श्रीकृष्णको और उनकी प्रेममयी गोपरमणियोंको! बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

महर्षि पतञ्जलि और योग

(लेखक— श्रीनारायणस्वामीजी)

योग और पश्चिमी विद्वान्

कतिपय पश्चिमी और पश्चिमी दृष्टिकोण रखनेवाले विद्वानोंने योगको चित्तकी एकाग्रताके द्वारा, अन्तःकरण और शरीरसे पृथक् हुए आत्माका साक्षात्कार करना बतलाया है;[१] परन्तु डाक्टर रेलेने योगका लक्षण इस प्रकार किया है—'योग उस विद्याको कहते हैं जो मनुष्यके अन्तःकरणको इस योग्य बना देवे कि वह उच्च स्फुरणोंके अनुकूल होता हुआ संसारमें हमारे चारों ओर जो असीम सज्ञान व्यापार हो रहे हैं, उनको बिना किसी भी मददके जाने, ग्रहण करे और पचावे[२]।' डाक्टर रेलेने इस अन्तिम लक्षणको सबसे अधिक अपने अनुकूल समझा है।

महर्षि पतञ्जलिका योग

इस प्रकार अनेक विद्वानोंने अपने-अपने ढंगसे योगके लक्षण किये हैं, परन्तु योगियोंके मुकुटमणि योगिशिरोमणि पतञ्जलिने योगकी परिभाषा इस प्रकार की है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[३]।'** अर्थात् योग चित्तकी वृत्तियोंके रोक देनेका नाम है।

चित्तकी वृत्तियाँ क्या हैं, उनके रोकनेका भाव क्या है? इन प्रश्नोंके समझे बिना, परिभाषाका भाव समझा नहीं जा सकता। परन्तु इन प्रश्नोंके समझनेसे पहले यह समझ लेना उपयोगी होगा कि चित्तकी इन वृत्तियोंके रोकनेकी ज़रूरत क्यों होती है।

जीवात्मा और उसका कर्तृत्व

योगदर्शन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनोंकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है—इनमेंसे जीव वह है जिसके कर्तृत्वमें सहायता देनेके लिये, इस दर्शनकी रचना हुई है। वेदमें ईश्वरको **'वाची व्याहृतायाम्'**[४] कहा गया है, अर्थात् ईश्वररूप वाच्यके वाचक व्याहृति—**'भूर्भुवः स्वः'** हैं। **'भू सत्तायाम्'** धातुसे **'भूः'** सत्‌के अर्थमें है और **'भुवः अवचिन्तने'** धातुसे **'भुवः'** चित् है और **'स्वः'** आनन्दको कहते हैं—इस प्रकार **'भूर्भुवः स्वः'** का अर्थ सच्चिदानन्द है। **'भूर्भुवः स्वः'** अथवा **'सच्चिदानन्द'** शब्दपर विचार करनेसे जीवके कर्तृत्वका उद्देश्य निश्चित हो जाता है। सत् प्रकृतिको कहते हैं, 'सत्+चित्' जीवका नाम है और सच्चिदानन्द ईश्वरको कहते हैं। सच्चित्-जीवकी एक ओर प्रकृतिका गुण सत् है और दूसरी ओर ब्रह्मका गुण आनन्द है। प्रश्न यह है कि जीवको अपने कर्तृत्वका उद्देश्य किसको प्राप्त करना बनाना चाहिये? सत् जो प्रकृतिका गुण है वह जीवको प्राप्त है, इसलिये प्राप्तकी प्राप्तिका यत्न व्यर्थ है। परन्तु ब्रह्मका गुण आनन्द जीवको अप्राप्त है—इसलिये जीवके कर्तृत्वका अन्तिम उद्देश्य आनन्द अथवा आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त करना ठहरता है। अस्तु, जीवात्माका अन्तिम ध्येय इस प्रकार कहा जा सकता है—'प्राप्त (प्रकृतिरूप) संसारको इस प्रकार काममें लाना चाहिये कि जिससे वह अन्तमें आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन बन जावे।'

जीवके स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। जीवके ये ज्ञान और प्रयत्न (कर्म)-रूप पुरुषार्थ जीवके बाहर भी काम करते हैं और अन्दर भी। जब वह बाहर काम करता है तब उसका नाम बहिर्मुखी वृत्ति होता है और जब अन्दर काम करता है तब उसका नाम अन्तर्मुखी

---

१. 'Self-concentration with a view to seeing the soul as it looks when it is abstracted from mind and matter' ('Mysterious Kundalini', p. 10).

२. Yoga is the Science which raised the capacity of the human mind to respond to higher vibrations, and to perceive, catch and assimilate the infinite conscious movements going on around us in the universe. ('The Mysterious Kundalini' by Dr. Vasant G. Rele, p. 10-11)

३. योगदर्शन १।२

४. यजुर्वेद अध्याय ८ मन्त्र ५५

वृत्ति होता है। जीव चूँकि स्वभावतः प्रयत्नशील है इसलिये दोनों वृत्तियोंमेंसे एक-न-एक सदैव जारी रहती है। यदि बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होती है तो स्वयमेव अन्तर्मुखी काम करने लगती है और जब अन्तर्मुखी वृत्ति बन्द होती है तब स्वतः बहिर्मुखी वृत्ति अपना काम जारी कर देती है। बहिर्मुखी वृत्ति जब जारी रहती है तब जीव अन्तःकरणोंके माध्यमसे जगत्‌में इन्द्रियोंद्वारा काम किया करता है, परन्तु अन्तर्मुखी होनेपर वह आत्मानुभव और परमात्मदर्शन किया करता है।

योगदर्शनकी शिक्षा

महामुनि पतञ्जलिने अपने कल्याणकारी दर्शनमें, उपर्युक्त उद्देश्यको लक्ष्यमें रखते हुए, इसीलिये यह शिक्षा दी है कि जगत्‌को इस प्रकार काममें लाओ जिससे यह जगत् भी अधिक-से-अधिक कामकी वस्तु सिद्ध हो और अन्तिम उद्देश्यकी पूर्तिका साधन भी बन सके। इसके लिये उन्होंने दो कर्तव्य बतलाये हैं—

पहला कर्तव्य

पहला कर्तव्य चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करना है। चित्तके एकाग्र होनेसे संसार अधिक-से-अधिक सुखदायक बन सकता है।

सांसारिक सुखका कारण

सांसारिक सुखका निदान करनेसे पता लगता है कि सुख न अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजनोंमें है, न अच्छी-अच्छी कीमती पोशाकोंके पहननेमें और न संसारके अन्य विषयोंमें। सुख, असलमें चित्तकी एकाग्रतामें है—जिस विषयके साथ चित्त एकाग्र हो जाता है वही विषय सुखदायी प्रतीत होने लगता है और जिस विषयके साथ चित्त नहीं लगता वह रूखा-सूखा निस्सार-सा प्रतीत होने लगता है। एक मनुष्य अपने अनुकूल, अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन करते हुए उसका आनन्द ले रहा है, परन्तु अचानक अपने इकलौते पुत्रके अत्यन्त रोगग्रस्त हो जानेकी ख़बर सुनने और चित्तके, भोजनसे हटकर, पुत्रकी स्मृतिकी ओर चले जानेसे अब वह भोजन सुखदायी नहीं रहा, अब उसका एक-एक ग्रास गलेमें अटकता है—कारण स्पष्ट है, अब चित्त भोजनके साथ नहीं रहा। योगदर्शनने चित्तकी एकाग्रताकी उपयोगिता बतलाते हुए यह शिक्षा दी है कि उसे इस प्रकार काममें लाना चाहिये जिससे उसका मुँह निरुद्ध होनेकी ओर फेरा जा सके।

चित्तका निरोध क्यों होना चाहिये?

जबतक चित्त एकाग्र रहता है तबतक चित्तकी वृत्तियाँ अपने काममें लगी हुई रहती हैं और तत्परताके साथ अपना काम करती रहती हैं—यहाँतक आत्माकी बहिर्मुखी वृत्ति ही काम करती है। चित्तकी एकाग्रता बहिर्मुखी वृत्तिकी सीमाके अन्तर्गत ही है, परन्तु उद्देश्य अन्तर्मुखी वृत्तिका जागृत करना है। परन्तु उसके जागृत करने या काममें लानेके साक्षात् साधन अज्ञात हैं, इसलिये असाक्षात् साधनोंसे काम लेना पड़ता है—उनमेंसे एक असाक्षात् साधन यह है कि चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके बहिर्मुखी वृत्तिका काम बन्द कर दिया जावे—इसीलिये योगदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका विधान किया गया है। बहिर्मुखीके बन्द हो जानेसे अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव काम करने लगती है।

चित्त और उसकी वृत्तियाँ

चित्तको यदि एक सरोवर मानें तो उस सरोवरमें उठी हुई लहरोंको चित्तकी वृत्तियाँ मानना पड़ेगा। इस चित्तरूपी सरोवरका एक किनारा बुद्धिसे मिला हुआ आत्मारूपी गङ्गाकी ओर है और उसका दूसरा विरोधी किनारा इन्द्रियोंसे मिला हुआ जगत्‌की ओर है। चित्तरूपी सरोवरमें उठनेवाली वृत्तिरूपी लहरें पाँच प्रकारकी* हैं—

(१) प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (आप्तोपदेश)।

(२) विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान।

(३) विकल्प अर्थात् वस्तुशून्य कल्पित नाम।

(४) निद्रा=सोना।

(५) स्मृति अर्थात् पूर्वश्रुत वा दृष्ट पदार्थोंका स्मरण।

चित्तकी जितनी भी अच्छी या बुरी वृत्तियाँ हो सकती हैं वे सब इन्हीं पाँच प्रकारोंके अन्तर्गत हुआ करती हैं। इन वृत्तियोंको समष्टिरूपसे अच्छा या बुरा नहीं कह सकते।

* योगदर्शन १। ६

इनमें दोनों प्रकारकी बातें सम्मिलित हैं; परन्तु हैं वे सब-की-सब, इन्द्रियोंके माध्यमसे, जगत्‌की ओर जानेवाली। ऊपर जो कुछ वर्णन हुआ है उसको नीचे दिये हुए चित्रसे भली प्रकार समझा जा सकेगा—

आत्मारूपी गङ्गा और उसकी नहर
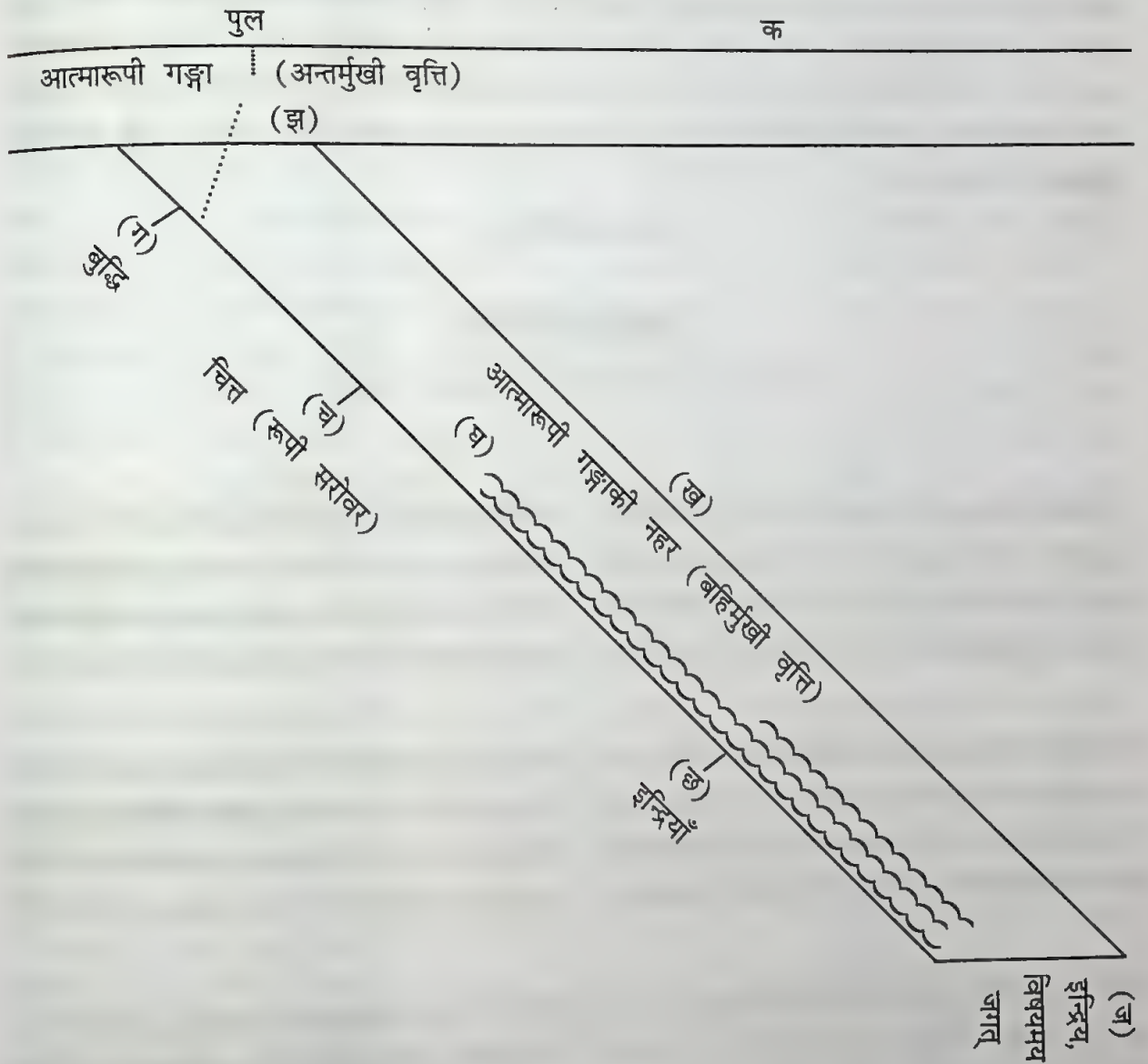
चित्रमें—

(क) चिह्नवाली आत्मारूपी गङ्गा है।

(ख) उसकी नहर है।

(ग) बुद्धि अर्थात् बहिर्मुखी वृत्तिरूपी नहर जिसके बादसे प्रारम्भ होती है।

(च) चित्तरूपी सरोवर है।

(घ) चित्तकी लहरें (वृत्तियाँ) हैं।

(छ) इन्द्रियाँ।

(ज) इन्द्रियविषयमय जगत् है।

(झ) गङ्गा और नहरके पुलके फाटक हैं जिनके खोलनेसे पानी गङ्गाकी धारा या नहरकी ओर जाता है और बन्द होनेसे जिधर न भेजना चाहें उधरका पानी रुक जाता है।

चित्तकी वृत्तियोंके निरुद्ध होनेका भाव यह है कि (झ) रूपी पुलके फाटकोंमेंसे वे फाटक बन्द हो गये जिनमें होकर गङ्गाका (बहिर्मुखीरूपी) जल गङ्गाकी नहररूपी जगत्‌में जाया करता था—इसका मतलब यह हुआ कि चित्तकी वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेसे अब आत्माकी बहिर्मुखी वृत्ति बन्द हो गयी। इसका अनिवार्य परिणाम यह निकला कि आत्माकी अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो गयी। गङ्गाका जल यदि नहरमें न जायगा तो आवश्यक है कि वह अपनी धारामें बहे। बस, योगके अद्वितीय आचार्य महामुनि पतञ्जलिका आशय, इस योगदर्शनकी रचनासे, केवल इतना ही था कि चित्तकी वृत्तियोंके निरोधद्वारा आत्माकी बहिर्मुखी वृत्तिको बन्द करके उसकी अन्तर्मुखी वृत्तिको जागृत कर दें। योगदर्शनकी समस्त क्रियाएँ इसी परिणामपर पहुँचानेके अचूक साधन हैं।

अनासक्तियोग

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)

(१)

अलकें किसी मंजु सुहागिनकी जिसे नागिन-सी डँस जातीं नहीं।
लड़ चञ्चल आँखें सुदूरहीसे उर-भौनमें आग लगातीं नहीं॥
अधरोंकी कभी वह हाला जिसे मधु-प्याला बनी ललचाती नहीं।
परवाह उसे भवकूपकी क्या जिसे रूपकी ज्वाला जलाती नहीं॥

(२)

कहाँ दौड़ पड़ा दृग मूँद अरे! रसबूँदकी चाहमें प्यासा यहाँ।
दम घूँटता एक ही घूँट पिये चला खेलने प्राणका पाँसा यहाँ॥
भरा कंचनका घड़ा है, विषसे खड़ा तू लिये कैसी दुराशा यहाँ।
यह जिन्दगी ही मिट जाती, नहीं बुझ पाती किसीकी पिपासा यहाँ॥

(३)

कहीं क्रीडनके लिये नीड बना, कहीं डोल हिंडोल रहे अगमें।
धन, यौवन, रूप, सनेह सुधा—सभी मोहक साज सजा मगमें॥
जरा होश सँभालके आगे बढ़ो, पड़ जाय न बेड़ी कहीं पगमें।
तुम्हें बाँधनेके लिये चित्त-विहंगम! जाल अनेकों बिछे जगमें॥

(४)

अभिमान तुझे जिस आयुका है उसे एक ही झोंकमें वायु उड़ाता।
नवयौवनकी मदिरा भी अरे! बली काल अकालहीमें ढुलकाता॥
फिर वैभव-भोगकी बात ही क्या, क्षणमें जो प्रभात-सा है मिट जाता।
यह सारा प्रपञ्च ही है सपना, अपना कहके किसे नेह लगाता॥

(५)

जलती जो सदा ही सनेहसे है उससे करनेको सनेह चलो नहीं।
गति एककी देख विवेक करो, फँस मोहके फन्दमें यों फिसलो नहीं॥
रसपानके लोभमें जान गवाँ अनजान-से हा! अपनेको छलो नहीं।
उस दाहक सुन्दरता पै अरे बन बावले प्रेमी पतंग! जलो नहीं॥

(६)

कभी मर्म न जाना उपासनाका, किये वासनाको तू प्रपंचित ही रहा।
पथ मुक्तिका भूला, बँधा मुकुलोंमें, न चेत अभी तुझे किञ्चित् भी रहा॥
कमलालयमें भी सदा करता कमलोंके परागको संचित ही रहा।
कमलेशमें राग हुआ नहिं हा! रसलोभी मलिन्द! तू वंचित ही रहा॥

(७)

कलगानपै मोहित होकर जो अलियोंसे नहीं तुम नेह लगाते।
मधु सौरभ पुण्य पराग सभी निज हाथसे साथ ही यों न गँवाते॥
लगे दाग नहीं यदि होते, तुम्हें अनुरागसे देव भी माथ चढ़ाते।
निज भूलपै रोकर फूल! नहीं तुम धूलमें यों अपनेको मिलाते॥

योग, योगवित् और योगवित्तम

(लेखक—हरिभक्तिपरायण पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

'योग' शब्द मुखसे उचारते ही सर्वसाधारणके सामने ऐसे हठयोगियोंके चित्र आ जाते हैं जैसे चांगदेव थे, जिन्होंने योगबलसे मुर्दोंको जिला दिया, असाध्य रोगोंको नष्ट किया और बार-बार मृत्युको भी लौटाकर १४०० वर्ष जिये और जो साँपकी चाबुक हाथमें लिये बाघपर सवार हुए, इत्यादि। जिन्होंने कुछ पुराण-इतिहासादि ग्रन्थोंको पढ़ा है, वेदान्तका श्रवण-मनन किया है और स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदिके ग्रन्थ पढ़े हैं, उन्हें कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि योगोंके नाम याद आते हैं। जो श्रीमद्भगवद्गीताके प्रेमी हैं उन्हें सांख्य, कर्म, अभ्यास, राजगुह्य, विभूति, अविकम्प, ऐश्वर, पुरुषोत्तम, मोक्षसंन्यास प्रभृतिका स्मरण हो आता है। अर्थात् जैसे जिसके मनकी प्रवृत्ति हुई उसी प्रकारके योगकी ओर वह झुकता है। कोई स्वयं महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनमें ही लग जाते हैं। पर इस लेखमें मेरा यह विचार है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने जो 'अभ्यासयोग' कहा है उसका विचार महाराष्ट्रीय सन्तोंकी टीकाओंके आधारपर किया जाय और भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे जिस प्रकारके योगीको 'योगवित्तम' कहा है उसके स्वरूपका निर्णय किया जाय।

'कर्मयोग' अन्य सब योगोंकी नींव है, पर वह साधनरूप है, साध्य नहीं। कर्मयोगरूप साधनके द्वारा जिस योगका साधन करना होता है वही साधकके लिये मुख्य योग है। उसी भगवदभिप्रेत योगका मुख्यतः यहाँ विचार करना है। महाराष्ट्रमें गीतापर सन्तोंकी अनेक टीकाएँ हैं। वे सभी अच्छी हैं, पर वामनपण्डितकी 'यथार्थदीपिका' टीका सब प्रकाशित टीकाओंकी अपेक्षा अधिक विस्तृत, भगवदभिप्रायको अच्छी तरहसे व्यक्त करनेवाली तथा स्वानुभवके संकेत पद-पदपर दरसानेवाली होनेसे उसीके आधारपर यह लेख लिखना विचारा है। मुझे यह आशा है कि इसमें 'योग' और 'योगवित्तम' शब्दोंपर वामनपण्डितके जो विचार हैं वे पण्डितोंको—विशेष करके ज्ञानमें अल्प तृप्ति न माननेवाले सच्चे स्वार्थी साधकोंको बहुत ही कुतूहलजनक जान पड़ेंगे। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' का आश्वासन देनेवाले परम दयालु भगवान् लेखक और पाठकोंको दिव्य स्फूर्ति प्रदानकर वह आशा पूर्ण करें।

'व्यतिरेकयोग' और 'अन्वययोग'

'योग' शब्दका अर्थ है 'जोड़ना'। जोड़ना किससे किसको? जोड़ना चित्तको चैतन्यसे, जीवको शिवसे। चित्त-चैतन्यका योग अन्तरमें स्वभावसे है ही। पर चित्तमें जडवृत्तिकी (अनात्मविषयक वृत्तिकी) जो लहरें लगातार उठ रही हैं उससे चित्त-चैतन्ययोग 'सहज' होनेपर भी अपरिचित-सा हो रहा है। जड-चैतन्यकी खोज करते हुए चित्तको आत्मबोध होता है। इस आत्मबोधके होनेपर वृत्तिनिरोध करना होता है। इसी वृत्तिनिरोधको महर्षि पतञ्जलि 'योग' कहते हैं। चित्त आत्मस्वरूपसे सचेतन होकर वृत्तियोंको चेताया करता है। चित्त अर्थात् सत्त्व जब रज-तमकी ओर दौड़ता है तब उसे 'परागवृत्ति' कहते हैं और जब वह स्वप्रकाशरूप आत्माकी ओर फिरकर देखता है तब उसे 'प्रत्यग्वृत्ति' कहते हैं। नेत्र दीपप्रकाशसे ही आस-पासके विभिन्न पदार्थोंको देखा करते हैं। पर जब नेत्र स्वयं दीपको ही देखने लगते हैं तब उन्हें पदार्थ नहीं दीखते। चित्तके चेताये बिना वृत्तियाँ नहीं चेततीं। चित्त यदि स्वरूपमें स्थिर हो तो आप ही वृत्तिनिरोध होता है। स्वरूपका विस्मरण होते ही दुःखरूप जड वृत्तियाँ उठने लगती हैं। इन जड वृत्तियोंका संयोग ही अनादि दुःखभोग है। इन वृत्तियोंका वियोग हो तो योग आप ही सिद्ध हो जाता है—

एवं जडवृत्ति संयोग। तोचि अनादि दुःख भोग॥
त्या वृत्तीं चा होतां वियोग। योग बाणे आयताचि॥
म्हणोनि जो दुःख संयोग। त्याचा होतां वियोग॥
तोचि जाणावा 'योग'। कृष्ण म्हणे॥

(यथार्थदीपिका अ० ६)

जीवमात्रका सारा प्रपञ्च दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये ही है। मनुष्यसे लेकर कृमि-कीटपर्यन्त सब-की-सब इन्द्रियोंकी और अन्तःकरणकी

सतत चेष्टाका यही एकमात्र हेतु है। परन्तु दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति अकेले नरदेहवाले जीवको ही प्राप्त हो सकती है। जीव जो विषयसुख भोगता है वह तो इन्द्रियग्राह्य है, पर जिसे आत्यन्तिक सुख कहते हैं वह इन्द्रियग्राह्य नहीं बल्कि 'बुद्धिग्राह्य' है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

(गीता ६। २१)

इस 'अतीन्द्रिय सौख्य' के मिलनेपर फिर त्रैलोक्यमें उससे अधिक और कोई लाभ नहीं; इस सौख्यमें वृत्ति स्थिर हो जाय तो प्रलयकालके दुःख भी उसपर कोई असर नहीं कर सकते।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

इस दुःखलेशरहित सुखको ही 'योग' कहते हैं। इसीको चित्त-चैतन्ययोग या जीव-शिवयोग कहते हैं। इसी योगको निश्चयपूर्वक, वैराग्ययुक्त बुद्धिसे, कष्टसे नहीं—उत्साहसे साधना चाहिये।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं 'योग' संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(गीता ६। २३)

इस आत्यन्तिक सुखको ही महासुख, ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द, निजानन्द, चिदानन्द कहते हैं। विषयानन्द पशु, पक्षी, कृमि-कीट भी अनुभव करते हैं। मनुष्य भी यदि इसी पशुसेव्य विषयानन्दमें ही मग्न रहा तो फिर मनुष्य और पशु-पक्षियोंके बीच भेद ही क्या रहा? ब्रह्मानन्द भोगनेके लिये ही नरतनु मिली है। ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्मानन्दसाक्षात्कार है। ब्रह्मानन्दको ही ब्रह्मज्ञान कहते हैं। '**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**' इस श्रुतिवाक्यका जिस ज्ञानसे अभिप्राय है वह ब्रह्मविषयक 'शब्दज्ञान' नहीं है। शब्दज्ञानमें कोई कितना ही पारङ्गत हो तो भी उससे अविद्याबन्ध नहीं टूट सकता; चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। शब्दज्ञानसे यदि मोक्ष मिलता होता तो सभी पण्डित मुक्त हो चुके होते, परन्तु लोकानुभव तो ऐसा नहीं है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डको व्यापे रहनेवाला जो चैतन्य है उसे ब्रह्म कहते हैं, और वैयक्तिक अन्तःकरणका अधिष्ठानभूत जो चैतन्य है उसे आत्मा कहते हैं। वैराग्ययुक्त अभ्यास और श्रीहरि-गुरुकृपासे साधकको इस आत्मचैतन्यका ही साक्षात्कार होता है। 'स्थालीपुलाक' न्यायसे यह आत्मचैतन्य ही ब्रह्मचैतन्य है, इसकी तब प्रतीति होती है। उपनिषदोंमें जैसा कहा है—मिट्टीके एक ढेलेका ज्ञान हो जानेसे मिट्टीके प्रत्येक घटका ज्ञान हो जाता है। तात्पर्य, आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है और आत्मानन्द ही ब्रह्मानन्द है।

आत्मासे मोक्ष नहीं होता, आत्मज्ञानसे होता है। आत्मा तो सबके हृदयमें है ही, पर सब मुक्त तो नहीं हैं। अविद्याबन्धसे छुड़ानेवाला अर्थात् मोक्ष दिलानेवाला आत्मज्ञान शब्दज्ञान नहीं है; प्रत्युत वेदान्तप्रक्रियाके अनुसार घटज्ञान कहते हैं घटाकार वृत्तिको; वैसे ही आत्मज्ञान आत्माकार वृत्तिको कहते हैं—इस सङ्केतको साधक पहचान लें।

वृत्तिको असंख्य जन्मोंसे बहिर्मुख होनेके कारण विषयाकार होनेकी बान पड़ी हुई है। इस बानको छोड़नेका नाम है वैराग्य; और अन्तर्मुख होकर चित्त-वृत्तिको आत्माकार करनेका जो प्रयत्न है उसका नाम है अभ्यास। '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**' (६। ३५) इस गीतावचनमें श्रीभगवान्‌ने मनकी चञ्चलतासे घबराये हुए अर्जुनको मनोजय करनेके ये ही दो उपाय बताये हैं। अकेले वैराग्यसे काम नहीं बनेगा और वैराग्यके बिना केवल अभ्याससे भी कुछ नहीं होगा। इसी हेतुसे भगवान्‌ने दोनोंका निर्देश किया है।

इस अभ्यासको 'प्रत्यग्वृत्ति' का अभ्यास कहते हैं। 'प्रत्यक्' का उलटा है 'पराक्'। पराङ्मुख यानी बहिर्मुख और प्रत्यङ्मुख यानी अन्तर्मुख—आत्माभिमुख। आत्मस्वरूपमें (वृत्त्यधिष्ठानभूत चैतन्यमें) जब वृत्ति स्थिर होने लगती है तब आनन्दघन (आत्यन्तिक सुख) अनुभूत होने लगता है।

वश होतां मन। राहतां वृत्तीचें चिंतन।
अनुभवा ये आनन्दघन।
जें 'सुख आत्यन्तिक' बोलिलें या मागें॥

(यथार्थदीपिका ६। ५१८)

यह आत्यन्तिक सुख किस प्रकार अनुभूत होता है और इसकी जो इतनी बड़ी महिमा है सो किस कारणसे? इस विषयमें भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
(६। २७)

अर्थात् जिसका मन प्रकर्षसे शान्त हुआ है यानी कोई वासना नहीं रह गयी है, ऐसा योगी ही इस आत्यन्तिक सुखको प्राप्त करता है। यह सुख कैसा है? 'शान्तरजस्' और 'अकल्मष'। शान्तरजस्—रजोगुणकी शान्तिसे इन्द्रियोंकी अनुपस्थिति सूचित करते हैं अर्थात् जहाँ इन्द्रियोंका ही पता न हो वहाँ विषयोंका क्या ठौर-ठिकाना? वहाँ केवल सुखप्रतीति ही है। विषयेन्द्रिय-संयोगसे जगत् जो चित्सुख भोगता है वह शान्तरजस् सुख योगी विषयेन्द्रियवृत्तिरहित होकर भोगता है।

शांत जेथें रजोगुण। म्हणतां सुचवी हें निपुण।
कीं जेथें नसे इंद्रियांचा गण। तें सुख 'शांतरज' म्हणावें॥
जेथें इंद्रियें न दिसती। तेथें विषय कैंचे असती।
सुख प्रतीति नुसती। बाणे जेथें॥
विषयेंद्रिय योगें। जें चित्सुख भोगावें जगें।
विषयेंद्रिय वृत्ति वियोगें। योगीं 'शांतरजसुख' तेंचि॥
(यथार्थदीपिका ६। ५२३—२५)

विषयसुखके अनुभवके लिये तीन बातें जरूरी हैं—(१) विषय, (२) उस विषयको अनुभव करनेवाली इन्द्रिय और (३) उसमें संलग्न रहनेवाला मन। मन कहीं और हो तो भोजन करते हुए यह भान नहीं रहता कि हम क्या खा रहे हैं। अतः विषयसुखके लिये विषय, इन्द्रिय और मन तीनोंका आसरा लेना पड़ता है। इसीलिये विषयसुखको परावलम्बी कहते हैं। आत्मसुख वैसा नहीं है। आत्मसुख मन और इन्द्रियोंके परेकी चीज है—जहाँ इन्द्रिय नहीं, मन भी नहीं, वहाँ विषय कहाँ?—विषय बहुत दूर यानी बाहर ही रह जाते हैं। आत्मसुख अन्तरमें है—स्वतःसिद्ध और स्वाभाविक है। विषयसुख बाहर है और कृत्रिम है। आत्मसुख इन्द्रियग्राह्य नहीं, 'बुद्धिग्राह्य' है ('बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्')। बुद्धिवृत्तिके बिना आत्मसुखानुभव अवश्य ही नहीं हो सकता। बुद्धिवृत्ति ही उसका करण है। पर यह बुद्धि विषयाकार—देहाकार होनेवाली स्थूल बुद्धि नहीं है, बल्कि श्रवण-मनन-निदिध्यासादि संस्कारसे अतीव शुद्ध (सूक्ष्म) बनी हुई बुद्धि है जिससे वह अतीन्द्रियसुख ग्रहण किया जाता है।

जिस ओर इन्द्रियरूप 'रज' भी नहीं वहाँ विषयरूप 'तम' कहाँसे आ सकता है? तात्पर्य, शान्तरज सुख संसारचक्रके परेका सुख है। इस सुखको जो अनुभव करता है वह संसारचक्रका मुख फिर नहीं देखता।

जेथें नसे रज। तम तेथें नसे सहज।
तें सुख शांतरज। संसारचक्रा पलीकडे॥
अनुभविलें तें सुख। तो संसारचक्राचें न पाहे मुख।
(यथार्थदीपिका ६। ५२९-३०)

यहाँतक 'शान्तरजस्' पदकी व्याख्या हुई। अब 'अकल्मष' पदका विचार है। अकल्मष माने वह जिसमें वृत्तिरूप कल्मष नहीं है। जहाँ वृत्ति ही नहीं, वहाँ रज-तम भी नहीं, वहाँ केवल ब्रह्ममय सत्त्ववृत्ति है। इस सत्त्ववृत्तिसे ही ब्रह्मसुखका अनुभव होता है। इस 'आत्यन्तिक सुख' को जो अनुभव करता है वह योगी ब्रह्मभूत कहा जाता है।

जेथें वृत्ति न दिसती। जेथें रज तम न असती।
तेथें सत्त्व वृत्ति नुसती। ब्रह्ममय॥ ५३३॥
कीं तो 'ब्रह्मभूत'। म्हणजे ब्रह्माचे झाला निश्चित।
ज्यास हें सुख अत्यंत। अनुभवा आलें॥ ५३५॥
(यथार्थदीपिका अ० ६)

यह योग जिसे सिद्ध होता है, जिसे यह निष्कल 'ब्रह्मसंस्पर्श' सुख प्राप्त होता है उसीका मानवजन्म सफल है। इसी बातको भगवान् इस श्लोकसे कहते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥
(६। २८)

जडचिन्तन छोड़कर आत्मचिन्तन करना, एतद्रूप जो योग है उस योगमें जिसका सारा पाप जल गया, उसे ब्रह्मस्पर्शजनित 'आत्यन्तिक सुख' अनायास ही (सुखेन) अनुभूत होता है। वृत्तिनिरोधका प्रयास किये बिना जो समाधिस्थ हो जाता है उसे ब्रह्मानुभवसुखके कारण कोई वासना नहीं रहती। इस प्रकार इस श्लोकतक भगवान्ने व्यतिरेकयोग बताया।

जेथें जड वृत्तीचा वियोग। त्यातें ऐसा श्रीरंग।
वर्णिता झाला येथवरी॥ ५४१॥

आगे २९ वें श्लोकमें अन्वययोगका लक्षण बतलाते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

—इस श्लोकपर वामनपण्डितकी जो टीका है वह विद्वानोंके तथा तीव्र साधकोंके देखनेयोग्य है। टीका बहुत बड़ी है। यहाँ उसका सारांशमात्र दिया जाता है। 'कल्याण' के मार्मिक पाठकोंके लिये इतना ही यथेष्ट होगा और उससे उन्हें निज कल्याण (आत्यन्तिक क्षेम)-का आनन्द प्राप्त होगा, यही आशा है। 'वह योगी सब भूतोंमें एक आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है।' यही ऊपरके श्लोकमें कहा है। पर ऐसा कहनेसे द्वैत ही सिद्ध होता है। कारण, 'सब भूतोंमें आत्मा' या 'आत्मामें सब भूत' कहनेसे भूत और आत्मा अलग-अलग हुए। पर यह अलगाव वास्तविक नहीं है, वैसा ही है जैसे 'तरङ्गोंमें जल' या 'जलमें तरङ्ग'। जलमें जैसे तरङ्ग होती है वैसे ही आत्मामें यह सारा चराचर जगत् है। प्रपञ्च द्वैतरूप भासता है पर है अद्वैतरूप ही। इसके लिये उदाहरण—जमा हुआ और पिघला हुआ घृत दृष्टिमें भिन्न-भिन्न मालूम होनेपर भी जिह्वामें एक ही है; अथवा जल और ओले दृष्टिमें भिन्न हैं पर हैं दोनों एक ही। यही बात आत्मा और चराचर जगत्की है, बाह्य दृष्टिमें दोनों भिन्न होनेपर भी अन्तर्दृष्टिमें एक ही हैं। इस प्रकार अन्तर्भूत वास्तविक रूपको देखना ही 'समदर्शन' है। इसीको अन्वययोग कहते हैं। इसके बिना पूर्णता नहीं होती।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

इस रूपसे चित्तकी वृत्तिका वियोगरूप 'व्यतिरेक' यदि सध भी जाय तो भी प्रारब्धको भोगते हुए, अन्वययोगके बिना, जगत् जडरूप दीखने लगेगा। इस अवस्थामें साधकको जीवन्मुक्ति नहीं मिल सकती। व्यतिरेकयोगसे पुनर्जन्मसे छुटकारा होगा (अर्थात् मृत्युके पश्चात् मुक्ति मिलेगी), पर जीवन्मुक्तिके लिये अन्वययोग ही साधना होगा।

प्रत्यग्वृत्तिके अभ्याससे 'व्यतिरेकयोग' साधा जाता है अर्थात् साधकको व्यष्टि-अन्तःकरणाधिष्ठित चैतन्य यानी आत्माका अनुभव—त्वंपदसाक्षात्कार होता है। पर इतनेसे पूरा काम नहीं होता, ज्ञानकी यह पूर्णता नहीं है। कारण, जडके निषेधसे आत्मानुभव तो हुआ, पर जड द्वैत तो रह ही गया। इस द्वैतके रहते हुए 'अद्वैतज्ञान' कहाँ? जिस ज्ञानसे सारा जड जगत् चिन्मय दीखने लगे वही सच्चा या पूर्ण ज्ञान कहा जा सकता है। इसीको 'तत्पदसाक्षात्कार' कहते हैं। त्वंपदसाक्षात्कारका अर्थ है **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ) और तत्पदसाक्षात्कारका अर्थ है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (यह सब कुछ ब्रह्म है)। **'अहं ब्रह्मास्मि'** रूप बोध पहले होता है, अनन्तर **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** की प्रतीति होती है।

(आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात्।—आचार्यकृत 'शतश्लोकी')।

जिज्ञासुको सुखपूर्वक बोध करानेके लिये पहले आत्मा और अनात्मा अथवा चैतन्य और जडका परस्पर भिन्नत्वसे विचार बताया जाता है। इसे ग्रहण करती हुई बुद्धि जब प्रौढ होती है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म विचार करनेकी सामर्थ्य जब उसमें आ जाती है तब जड जगत् (अन्तर्बहिरिन्द्रियगोचर विश्व) मिथ्या है, अधिष्ठान आत्मा ही सत्य है, अर्थात् जड जड नहीं—चैतन्यका ही अन्यथा भाव है अर्थात् चैतन्य ही है, इत्यादि शिक्षा दी जाती है—शिक्षा नहीं, ऐसा अनुभव ही उसे प्राप्त होता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह पहला अनुभव, पीछे 'सब ब्रह्म है' यह प्रत्यय होता है। अज्ञानकी अवस्थामें यह स्फुरण होता है कि 'मैं देह हूँ'। यह भ्रम ज्ञानोत्तर अथवा ज्ञानसमकालमें नष्ट होता है और मैं ब्रह्म—सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, यह स्फुरण होने लगता है; यही अनुभव तब सारे जगत्में होने लगता है। यह अनुभूति जब सतत अखण्ड होती है तब वह जीवन्मुक्त होता है, इससे पहले नहीं।

तात्पर्य, जड जड नहीं, चिन्मात्र है; विश्व विश्व नहीं, ब्रह्म है; यही सब सन्तोंका अनुभव है।

'तैसें विश्व येणें नावें। हें मीच पैं आघवें।'
'म्हणोनि विश्वपण जावें। मग तयीं मातें घेयावें।'
'तैसा नव्हे, आघवें। सगट चि मी॥'

(ज्ञानेश्वरी)

'चैतन्याचें अन्यथा भान। तें हें जाण चराचर॥'

(एकनाथी भागवत)

स्वामी रामतीर्थने अमेरिकाके विद्वान् श्रोतृसमुदायके सामने 'सर्वात्मभाव' पर व्याख्यान देते हुए कहा है—

'सर्वात्मभाव कोरी कल्पना नहीं है। ठोंक-पीटकर

तैयार की हुई कोई अस्वाभाविक कल्पना नहीं है। बात यह है कि जीवनके उच्चतम ध्येयोंको साधनेके लिये विविध दैवी गुणोंका अभ्यास करना ही पड़ता है। जीवनको सफल और यशस्वी बनानेमें वे गुण काम आते हैं। परन्तु भासमान होनेवाले सब शरीर मेरे ही हैं—मेरे ही वेषान्तर हैं, सर्वत्र मैं ही हूँ; इस सत्यको अनुभव करना, मनकी सब शक्तियोंको इस सत्यमें एकत्र करना जीवनको सार्थ करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। सर्वात्मभाव सब सत्योंका सत्य है।'

(फडकेकृत 'स्वामी रामतीर्थ', खण्ड ९, पृ० ६३)

सारांश, दूधमें चीनी या जलमें लवण जिस प्रकार एकरूप दिखायी देता है, उसी प्रकार जगत्‌में ब्रह्मको देखनेका नाम ज्ञान नहीं है बल्कि तरङ्गमें जैसे जल या अलङ्कारमें जैसे सुवर्ण, वैसे ही चराचरमें ब्रह्मको देखनेका ही नाम ज्ञान है।

ज्ञान याचेंचि नाम। ज्या ज्ञानें कळे चराचर ब्रह्म।
जड जगीं पहाणें चैतन्य परम। तें ज्ञान, सोने जैसे पहाणें अलङ्कारी।

(यथार्थदीपिका)

श्रीमत् शङ्कराचार्यने अपने 'अपरोक्षानुभूति' ग्रन्थमें पहले यह बताया कि—

आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥ २०॥

'आत्मा ज्ञानमय—चित्स्वरूप और पवित्र है, और देह मांसमय अर्थात् जड और अपवित्र है; ऐसा होते हुए देहको ही आत्मा (आप) मानना, इससे बढ़कर और अज्ञान क्या हो सकता है?'—इस प्रकार आत्मा और देहका भेद पहले बताकर देहात्मत्वका निरास किया; फिर देहभेदका मिथ्यात्व बतलाते हैं—

यथैव मृण्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः।
आत्मानात्मविभागोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः॥

'जिस प्रकार मिट्टीका मिट्टीमय घड़ा होता है उसी प्रकार यह देह भी चिन्मय है। ज्ञानी लोग व्यर्थ ही आत्मा और अनात्माका भेद किया करते हैं।'

तात्पर्य, घड़ेकी मिट्टी, पटके तन्तु अथवा अलङ्कारके सोनेको ठीक तरहसे जाननेके लिये मिट्टी, तन्तु और सोनेको अलग करके दिखानेका नाम 'व्यतिरेक' है और उसीको सर्वत्र—सब आकारोंमें—देखनेका नाम 'अन्वय' है। मृत्तिकामें घट नहीं, इस बातको वेदान्त-परिभाषामें 'मृत्तिकामें घटका व्यतिरेक' कहते हैं, और घटमें मृत्तिका भरी हुई है, इस बातको 'घटमें मृत्तिकाका अन्वय' कहते हैं। इसी प्रकार तन्तुमें पटका व्यतिरेक पर पटमें तन्तुका अन्वय, सुवर्णमें अलङ्कारका व्यतिरेक पर अलङ्कारमें सुवर्णका अन्वय है। इसी दृष्टान्तके अनुसार ब्रह्ममें जगत्‌का व्यतिरेकपर जगत्‌में ब्रह्मका अन्वय है। ऐसा अन्वयज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। व्यतिरेकज्ञान एकदेशीय होनेसे अपूर्ण है।

आवरण और विक्षेप ज्ञानोदयके प्रतिबन्धक हैं। ब्रह्म अथवा आत्मा नित्य अपरोक्ष ही है। पर उसका प्रत्यय होना चाहिये।

तैसा तूं सहज अससी। परंतु आलें पाहिजे प्रत्ययासी॥

(परमामृत)

ऐसा प्रत्यय जो नहीं होता इसका कारण यह है कि अविद्यासे जीवको भ्रम हुआ है। अविद्याकी दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण है ज्ञानको ढाँक देना, और विक्षेप है विपरीत भास कराना—उलटा दिखाना। आत्मा चित्स्वरूप—शुद्ध चैतन्यरूप है, ऐसा न जानना ही 'आवरण' है। इतना-सा ही आवरण होता तो बात उतनी न बिगड़ती, पर वह आत्मा चित् (चैतन्य)-का उलटा अर्थात् जड है ऐसा जनाना ही तो 'विक्षेप' है। यही बड़ी भारी हानि है। 'मैं कौन हूँ' यह न जाननेमें उतनी हानि नहीं है, पर 'मैं देह हूँ' ऐसा मान लेनेमें ही बड़ी भारी हानि है। इस विपरीत ज्ञान अर्थात् विक्षेपके कारण ही जीवको 'लखचौरासी' के चक्करमें पड़ना पड़ता है! पर यह बात भी न भूलनी चाहिये कि इस विक्षेपका कारण है आवरण ही। इसलिये पहले आवरणका नाश होना चाहिये, पीछे विक्षेपका। ब्रह्म पर जगत्‌का भासना ही विक्षेप है।

व्यतिरेकयोगसे आवरण भङ्ग होता है और अन्वययोगसे विक्षेप भङ्ग।* व्यतिरेकयोग प्रत्यग्वृत्तिका अभ्यास है

* हें आवरण अज्ञान नाशन। झाले जडव्यतिरेकें आत्मज्ञान॥
परन्तु जडद्वैत निरसन। झालें पाहिजे अन्वयें करूनि॥

(यथार्थदीपिका)

और अन्वययोग सारे जगत्‌को ब्रह्मरूप देखना है। इसीसे जीवन्मुक्ति आती है।

गीताका 'अविकम्पयोग' और 'ऐश्वरयोग'

ऊपर लिखे अनुसार व्यतिरेकज्ञान हो जाय अर्थात् श्रीहरि-गुरुकृपासे प्रत्यग्वृत्तिके अभ्यासद्वारा—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

—के अभ्यासद्वारा त्वंपदसाक्षात्कार हो जाय तो भी यह मन चञ्चल होनेसे आत्मस्वरूपमें स्थिर नहीं होता। जन्मजन्मान्तरके संस्कारोंके कारण वह बाहर ही झाँकता है। उसे उस ओरसे खींचकर निजस्वरूपमें युक्त करके आत्मवश करना होगा।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

अभ्याससे मन सूक्ष्म होकर स्वरूपतक पहुँचता है। पर वहाँ वह स्थिर नहीं रहता। मन आत्मस्वरूपको जब स्पर्श करता है तब वह अपरोक्षज्ञान—अपरोक्षसाक्षात्कार है। पर यह 'कोमल अपरोक्ष' है। दृढ अपरोक्षकी सिद्धिके लिये सतत अभ्यास आवश्यक है। ऐसे अभ्याससे—व्यतिरेक-अन्वयज्ञानसे चित्त चित्स्वरूपमें अचल हो तब जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है।

व्यतिरेक अन्वय बोध। जरी झाला करितां तत्वशोध।
तरी चित्स्वरूपीं चित्त निरोध। अचल होतां जीवन्मुक्ति॥

(यथार्थदीपिका १२। २०६)

पर ऐसी अचल स्थिति कब हो सकती है?

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

(गीता १०। ७)

भगवान् कहते हैं, **'मम विभूतिं योगं च'** अर्थात् मेरी विभूति और योगको जो तत्त्वतः जानेगा उसीसे 'अविकम्प योग' सधेगा। केवल जो अव्यक्तोपासक है उसके लिये यह बहुत कठिन है। चित्स्वरूपमें चित्त युक्त होने भी लगता है तो भी वह युक्त होना 'सकम्प' होता है; इस विभूति और इस योगको जाननेसे 'अविकम्पयोग' अनायास बनता है।

चित्त जाणे चित्स्वरूप। परी योजितां होत से कंप।
तो अनायासें योग अविकंप। बाणे, या विभूति आणि
हा योग जाणतां॥ २०७॥

(यथार्थदीपिका अ० १०)

यहाँ इस योग और इन विभूतियोंसे उपर्युक्त व्यतिरेकज्ञान और अन्वयज्ञान समझना चाहिये। यह भी समझ सकते हैं कि योग है निर्गुण ब्रह्म और विभूति है सगुण ब्रह्म। लोगोंकी यह धारणा है कि श्रीवामनपण्डित सगुण भक्तिको ही बढ़ाते हैं। पर वामनपण्डित जिस सगुणकी भक्ति बताते हैं वह सगुण आलेमें या देवालयमें रखी हुई मूर्त्ति ही नहीं है, बल्कि उनका यह सिद्धान्त है कि दृश्यमान चराचर विश्व ही भगवान्‌का सगुण रूप है और ऐश्वरयोगकी व्याख्या भी वह इसी रूपसे करते हैं।

नानाकार जड विश्वरूप। हें अवघें चित्स्वरूप।
या ज्ञानाचेंचि नांव योग ऐश्वर रूप।
हें चि तत्व सगुणा सर्वेश्वराचें॥
""""रज्जूंत सर्प दिसे। परी रज्जू सर्पीं नसे।
शेवटीं सर्प हीं न गवसे। रज्जु दृष्टीं पहातां॥ इ०

नानाकार दिखायी देनेवाला जड विश्वरूप चित्स्वरूप ही है (जड नहीं)। इस ज्ञानको ही ऐश्वरयोग कहते हैं। **'पश्य मे योगमैश्वरम्'**। जो है वह यही है। दृष्टान्तके बिना यह बात सुस्पष्ट नहीं होगी। इसलिये यह दृष्टान्त देते हैं कि रज्जुमें साँप दिखायी देता है (**'मत्स्थानि सर्वभूतानि'**), पर उस साँपमें रज्जु नहीं होती (**'न चाहं तेष्ववस्थितः'**), फिर अन्तको रज्जु दीखनेपर उसमें साँप है ही नहीं (**'न च मत्स्थानि भूतानि'**), यह सिद्ध होता है। ऐसी अघटितघटनाशक्ति (**'योगमैश्वरम्'**) भगवान्‌की है, उसे ही देखनेको भगवान् अर्जुनसे कहते हैं। कोई-कोई टीकाकार **'योगमैश्वरम्'** से अर्थ लेते हैं 'योगमाया' का। उसका श्रुति और युक्तिसे खण्डन करके वामनपण्डित यह प्रतिपादन करते हैं कि भगवान् ही चराचर विश्वरूपमें सजे हैं। उनका यह प्रतिपादन उनके मूलग्रन्थमें पण्डितोंके देखने योग्य है। नवमाध्यायमें इस प्रकार कहकर आगे एकादशाध्यायमें अर्जुनको दिव्य चक्षु देकर **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** कहकर यही दिखाया है।

सर्वात्मक ज्ञानरूप। हाचि सगुण भगवंत विश्वरूप।
हेंच याचें योग ऐश्वररूप। विश्वरूप दावितां ही कललें बरें॥

'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'
या श्लोकें करूनि।
'पश्य मे योगमैश्वरम्'

ऐसें वदोनि। विश्वरूप दाखविलें या वरूनी।
योग ऐश्वर याचा हेंचि विश्व॥
(यथार्थदीपिका १२।११, २०, २१)

तात्पर्य, विश्व ही भगवान्का 'ऐश्वर योग' है। इस दृष्टिसे जो सगुण भगवान्को भजता है उसीको भगवान् वह 'बुद्धियोग' देते हैं जिससे वह भगवान्को प्राप्त होता है। वह बुद्धियोग इस ज्ञानका प्राप्त होना है कि समग्रचराचर विश्व भगवान्के राम-कृष्णादि तनुके समान ही भगवद्रूप है। विश्वको इस दृष्टिसे देखना ही भगवत्स्वरूपको प्राप्त होना है।

योगी बुद्धियोग देतो म्हणोनि। म्हणतां बोले खुणेतें सुचवूनि।
कीं त्या बुद्धियोगातें देतों की जेणें करूनि। ते मातें पावती॥
कीं चराचर सकळ। भगवद्रूप केवळ।
त्याज्य मायाभास तो ही सुमंगल। भगवद्देह रामकृष्णादि देहासारिखा
विश्व ऐसें पहाणें। याचेंचि नांव मज पावणें॥
कीं विश्वाकार होणें। हा योग माझा शरीर माझेंचि।
(यथार्थदीपिका १०।३६१—६३)

इस रूपसे भगवान्को भजनेवालेसे ही 'अविकम्पयोग' सधता है।

'योगवित्तम' किसको कहें?

'योग' और 'योगवित्' अर्थात् योग जाननेवालेका लक्षण यहाँतक बताया गया। प्रसङ्गानुसार 'अविकम्पयोग' और 'ऐश्वरयोग' भी कहा गया। अब योगवित्तम अर्थात् योग जाननेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ कौन है, इस सम्बन्धमें भगवान्का क्या मत है सो कहा जाता है। गीताके द्वादश अध्यायमें अर्जुनने भगवान्से यह प्रश्न किया है—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

अर्थात् जो सततयुक्त भक्त आप (सगुण)-को भजते हैं और जो अव्यक्त अक्षर (निर्गुण)-को भजते हैं उनमें श्रेष्ठ कौन है? इस प्रश्नमें अर्जुनने दोनोंको ही 'योगवित्' (आत्मज्ञानी) मानकर **'तेषां के योगवित्तमाः'** इन शब्दोंसे दोनोंका तर-तम भाव पूछा है। भगवान्ने इसका यह उत्तर दिया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

अर्थात् जो मुझमें मनको प्रविष्टकर, नित्ययुक्त होते हुए अत्यन्त श्रद्धासे मुझे भजते हैं वे ही बड़े योगवेत्ता अथवा योगियोंमें अधिक श्रेष्ठ हैं।

सगुण-प्रसादके बिना अद्वैत ज्ञान नहीं होता, इसलिये सगुणका भजन करके आत्मज्ञान लाभ करते हैं और आत्मज्ञानके मिलनेपर सगुण भक्ति छोड़ कर उस ज्ञानके स्थिर होनेके लिये अन्य अनेक प्रकारके अभ्यास करते हैं। उन्हें अर्थात् अव्यक्तके उपासकोंको **'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्'**, अर्थात् बड़े कष्ट होते हैं; और सगुण भक्तोंको वह ज्ञान अनायास अर्थात् स्वल्प श्रमसे सिद्ध होता है। ऐसे सततयुक्त भक्तोंका उद्धार करनेका भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर उठा लेते हैं। **'तेषाम् अहं समुद्धर्ता'** यह छाती ठोंककर भगवान् कहते हैं। भगवान्के दया-वात्सल्यादि गुणोंका लाभ सगुणके भक्तोंको प्राप्त होता है। निर्गुणके भक्तोंको नहीं प्राप्त होता। कारण, निर्गुणमें दया-वात्सल्यादि गुण नहीं हैं। अपने ही बलपर चलनेवालोंको अवश्य ही अधिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। बाहुबलसे तैरकर समुद्रको पार करना और नौकाका आश्रय लेकर पार करना, इन दोनोंमें भेद तो है ही। ज्ञान होनेके साथ जो सगुणभक्ति छोड़ देते हैं उन्हें 'नित्ययुक्त' नहीं कह सकते। जो ज्ञान लाभ कर अर्थात् सर्वगत आत्माका अपरोक्ष ज्ञान पाकर भी सगुण भक्तिसे युक्त रहते हैं वे ही 'नित्ययुक्त' हैं। वे ही भगवान्के मान्य (मताः) युक्ततम हैं।

जे जाणूनि ही अक्षर अव्यक्त। न सोडिती मागुती सगुण, ते भक्त।
पूर्वी सगुण भक्तीने जैसे युक्त।
तैसें च आत्मा सर्वगत अपरोक्ष कळतांही॥
हें अधिक योगवेत्ते पण। सगुण भक्ति याचें कारण।
ज्ञान झालिया ही न सोडिलें सगुण। नित्ययुक्त भक्तीनें म्हणुनी॥
ऐसे नित्ययुक्त। म्हणुनि मज संमत म्हणे भक्त॥
कीं ज्ञान झालें तरी अनुरक्त। सगुण चरणीं॥ इ०
(यथार्थदीपिका अ० १२ श्लो० २ की टीका)

बारहवें अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने अपने भक्तोंको **'ते मे युक्ततमा मताः'** कहा है। उसी प्रकार छठें अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

अर्थात् योगियोंमें भी जो अपना अन्तःकरण मद्गत

करके श्रद्धासे भजता है मैं उसे ही युक्ततम मानता हूँ। भक्तोंके ध्यानमें रखनेकी बात है।

श्रुतिमें योगका लक्षण

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियाँ जब मनसहित निश्चल होती हैं, बुद्धिकी चेष्टा भी बन्द होती है, उस स्थितिको परम गति कहते हैं। योग इसी परम गतिका नाम है। योगमें इन्द्रियोंकी धारणा नितान्त स्थिर होती है। तभी साधक 'अप्रमत्त' (प्रमादरहित) कहलाता है। वामनपण्डित कहते हैं, यहाँतक निर्विकल्प अथवा व्यतिरेकयोग कहा गया; इसके अनन्तर '**योगो हि प्रभवाप्ययौ**' इन शब्दोंद्वारा श्रुतिने सविकल्प अर्थात् अन्वययोग बताया है।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

यह भगवद्वचन ही उक्त श्रुतिका तात्पर्य है। '**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' व्यतिरेकयोग हुआ और—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

यह अन्वययोग है। देहसे लेकर अन्तरकी वृत्तितक सब जड है, इसलिये आत्मा नहीं; यह बात समझमें आ जाय तो भी जबतक अन्वय और व्यतिरेकयोगसे चित्तका नाश नहीं होता तबतक यह केवल शब्दपाण्डित्य ही है। जिसे आत्मानात्मविवेक हुआ, अन्वयव्यतिरेकयोगका बोध हुआ, उसके लिये मुक्तिका एक ही उपाय शेष रहता है और वह यह है कि वह योगके द्वारा चित्तको चिद्रूप कर दे। चित्तको चिद्रूप करनेका जो साधन है वही योग है। ज्ञान प्राप्त होनेपर जो योगसाधनमें यत्नवान् नहीं होता उसे भगवान् 'कुयोगी' कहते हैं।

कुयोगी अथवा कूटयोगी

जो ज्ञान प्राप्त करके चित्तको चिन्मय करनेका प्रयत्न नहीं करते, केवल शब्दज्ञानसे ही सन्तुष्ट रहते हैं, अपनी 'वाग्वैखरी शब्दझरी' से लोगोंको मोहते तथा अपने-आपको मुक्त मानकर मनमाना आचरण करके विषादपङ्कमें गिरते हैं 'वे कुलयोगी हैं—आत्मवञ्चक हैं।'

कुयोगिनो ये विहिताद्यन्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ॥

(श्रीमद्भागवत ११। २८। २९)

जो कुयोगी आत्मयोगमें यत्नवान् नहीं होते उन्हें इन्द्रादि देवता बलात् विषयभोगमें डाल देते हैं। उनके अन्तःकरणमें नानाविध विषय-वासनाओंको उद्दीपित कर उन्हें योगसिद्धि नहीं प्राप्त होने देते।

ऐसे कुयोगी। यत्न न करिती आत्मयोगीं।
देव घालिती विषयभोगीं बलात्कारें तयांतें॥
देव विघ्नें करिती। विषयकामना नाना रीतीं।
देऊनियां चेतविती। होऊँ न देती योगसिद्धीतें॥

(यथार्थदीपिका अ० ६)

इसी प्रकार 'कूटयोगी' शब्दका प्रयोग श्रीनारायणने आदिकल्पमें ब्रह्माको चतुःश्लोकी भागवतका उपदेश करते हुए किया है। उसपर टीका करते हुए श्रीएकनाथ महाराज कहते हैं—

जे विषय कल्पूनी चित्तीं। माना तपें आचरती।
त्यासी नव्हे माझी प्राप्ति। जाण निश्चितीं 'कूटयोगी' ते॥
ज्या कनक कांता आवडे चित्तीं। ज्यासी लोकेषणेची आसक्ति।
त्यांसी नव्हे माझी प्राप्ति। ते जाण निश्चितीं 'कूटयोगी'॥
जो जग मानी अज्ञान। येथें मी एक चि सज्ञान।
तो 'कूटयोगी' सम्पूर्ण। कल्पांतीं ही जाण न पवे मातें॥
'कूट' ऐसें देहातें म्हणती। त्या देहाची ज्या आसक्ति।
त्यासी कदा नव्हे माझी प्राप्ति। ते जाण निश्चितीं 'कूटयोगी'॥

अर्थात् 'चित्तमें विषयोंकी इच्छा करते हुए जो लोग नाना प्रकारके तप करते हैं, जिन्हें कनक और कान्ता अति प्रिय है, जिन्हें लोकमें ख्यातिकी बड़ी इच्छा रहती है, जो सारे जगत्को मूर्ख समझते और अकेले अपने-आपको ही ज्ञानी मान बैठते हैं उन्हें 'कूटयोगी' कहते हैं। ऐसोंको भगवत्-प्राप्ति कदापि नहीं होती। 'कूट' का अर्थ है 'देह'—देहमें जिसकी आसक्ति है उसे परमात्मप्राप्ति हो ही नहीं सकती। ऐसे मनुष्यको 'कूटयोगी' कहना चाहिये।'

आत्मज्ञान होनेपर जो सद्गुणोंका सङ्ग नहीं छोड़ते उन्हींके देवकृत विघ्नोंका निवारण करके भगवान् अल्पायासमें योगकी सिद्धि करा देते हैं।

प्रपञ्च क्या है?

पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा अनुभूत होनेवाले जो पञ्च विषय हैं उन्हींका नाम 'प्रपञ्च' है। (छठा विषय संसारमें और कोई नहीं है, इसलिये छठी कोई इन्द्रिय भी नहीं है।)

प्रपञ्च म्हणावें तया। जो अनुभव ये पांचां इंद्रियां। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध या। वेगका प्रपञ्च काय असे?॥
(य० दी० ६।११३५)

विषयकी कल्पना कब बन्द होगी?

चित्त जब चिन्मय हो जायगा तब किसी विषयकी कल्पना कोई भी इन्द्रिय कैसे कर सकती है? उस अवस्थामें बुद्धिका केवल प्रत्यगात्मस्मृतिनिश्चय तन्मयत्वसे ही शेष रहता है।

चित्त झालें चिन्मय। तेंव्हा कोण्या विषयातें कल्पी इन्द्रिय। प्रत्यगात्मस्मृतीचाच निश्चय। तन्मयत्वेंचि उरे बुद्धीचा॥
(य० दी० ६।११३६)

योग और अप्रमत्त स्थिति

जब चित्त चिन्मय होता है, इन्द्रियवृत्तियाँ बहिर्मुखता अर्थात् विषयाकारता छोड़कर अन्तर्मुखता अर्थात् आत्माकारता धारण करती हैं, उसी प्रकार बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मिका अन्त:करणवृत्ति अन्तरमें ही अर्थात् स्वस्वरूपमें ही स्थिर होती है, तब यह समझा जाता है कि अब 'योग' सधा। परन्तु 'अप्रमत्त' स्थिति तब सिद्ध होती है जब 'प्रमत्तता' कुछ रह ही नहीं जाती। प्रमत्त किसको कहते हैं? प्रमत्त उसको कहते हैं जिसे आत्मस्वरूपकी विस्मृति होती है। जो अपनी 'चिदात्मता' को कभी नहीं भूलता उसीको 'अप्रमत्त' कहते हैं। चिदात्मताकी विस्मृति होनेके साथ ही 'देहात्मता' स्फुरती है—उस अवस्थामें ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर ही कहाँ रहा? तात्पर्य, ऐसा योग जिसे सध जाता है उसीको श्रुति 'अप्रमत्त' कहती है।*

अब 'प्रभव' और 'अप्यय' की बात। 'प्रभव' माने उत्पत्ति और 'अप्यय' माने नाश। इनको भी श्रुतिने 'योग' कहा है। इसका रहस्य यह है कि अलंकारकी उत्पत्ति और उसका नाश दोनों सुवर्णमें है। जबतक अलंकार है तबतक अलंकार और सुवर्णका अद्वैत योग है। अलंकारका प्रभव और लय सुवर्णमें न होता तो अद्वैत योग हो ही नहीं सकता था। अलंकारका उत्पन्न होना सुवर्णमेंसे ही होता है और उसका नष्ट होना भी सुवर्णमें ही होता है, तब उसका रहना भी सुवर्णके बिना कैसे हो सकता है? अलंकारके उत्पन्न होने, रहने और नष्ट होनेका अधिष्ठान जिस प्रकार सुवर्ण है, उसी प्रकार जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों ब्रह्ममें होता है। कार्यमें कारणको अखण्डरूपसे देखनेको ही योगवेत्ता 'योग' कहते हैं। '**योगो ही प्रभवाप्ययौ**' इस श्रुतिका भी यही अभिप्राय है।

सृष्टि आणि संहार जगास। ब्रह्म, हेमीं जैसे नगास। नग उपजणें असणें नासणें तिघांस। अधिष्ठान सोनें तैसें जगास ही ब्रह्म॥ कार्यांत निखल कारण। पहाणें, यास योग निपुण। योग म्हणती, श्रुति ही खूण। हेचि दावी॥
(य० दी० अ० ६)

ऐसा योग जब जिसे सधेगा तभी वह देहात्मसंस्कारको उठाकर फेंक देगा। इसलिये श्रुतिने कहा है कि तब वह 'अप्रमत्त' होगा (**अप्रमत्तस्तदा भवति**)। इस प्रकार गुरुमुखसे अन्वयव्यतिरेक 'ज्ञान' प्राप्त होनेपर भी उस ज्ञानका जो 'ध्यान' नहीं करता, उसका 'अभ्यास' नहीं करता, अर्थात् चित्तको चिदाकार नहीं बना देता वह योगी नहीं, कुयोगी है। जडसे आत्मा भिन्न है, यह जान लिया, बस अविद्या नष्ट हो गयी, ऐसा जो कोई समझते हैं वे गलती करते हैं, आत्मानात्मविवेकका होना यद्यपि अविद्यानाशका द्वार है, तथापि जबतक चित्त चिदाकार नहीं होता तबतक यह समझना चाहिये कि अविद्या बनी हुई है।

तरी अविद्यानाशावया द्वार। कळणें आत्मानात्मविचार। परी जों चित नव्हे चिदाकार तों बरी असेच अविद्या॥
(यथार्थदीपिका अ० १२)

तात्पर्य, इस प्रकारसे चित्तको चिदाकार करके चैतन्यसाक्षात्कार अर्थात् निज सच्चिदानन्दस्वरूपका अनुभव प्राप्त करनेपर अखिल विश्वको तद्रूप देखना, विश्वको

* स्वानुभूतिं परित्यज्य न तिष्ठन्ति क्षणं बुधा:। स्वानुभूतौ प्रमादो य: स मृत्युर्न यम: सताम्॥
(आचार्यकृत सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह)

तत्त्वज्ञानी पुरुष स्वानुभूतिको छोड़ एक क्षण भी नहीं रहते। कारण, स्वानुभूतिमें जो 'प्रमाद' अर्थात् उसकी जो विस्मृति होती है वही ज्ञानियोंकी मृत्यु है,—यम मृत्यु नहीं (इसलिये सदा 'अप्रमत्त' रहना चाहिये)।

विश्वेश्वररूपमें देखना, 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' इस बोधको प्राप्त होना ही ज्ञानकी पूर्णता है।

चित्तको चैतन्य करनेका जो यत्न है, वृत्तिनिरोधका जो अभ्यास है उसे यद्यपि 'योग' ही कहते हैं तथापि 'योग' का वास्तविक अर्थ तो चित्तका चैतन्यमें समरस हो जाना ही है। इसको 'त्वंपदसाक्षात्कार' कहते हैं। इसीमें 'अतीन्द्रियसौख्य' अर्थात् ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है। ऐसा अनुभव जिसे प्राप्त होता है उसको 'योगवित्' कहते हैं। ऐसा अनुभव होनेपर बाह्य जगत्का द्वैत भान नहीं होता, सर्वत्र चिदानन्द परमात्मा ही व्याप्त दिखायी देते हैं। विश्वरूप भगवान्को जो आत्मरूपसे भजता है वही 'योगवित्तम' है। उसमें जगत्कल्याणकी अपूर्व सामर्थ्य आ जाती है। कारण, '**मम साधर्म्यमागतः**' इस भगवद्वाक्यके अनुरूप उसकी स्थिति होती है।

* * *

योगवित्तमकी शक्ति और स्थिति

ऐसे योगवित्तम पुरुष संसारमें किस हालतमें रहेंगे और कैसे बरतेंगे, इसका कोई नियम नहीं है। सन्तोंने ही इस बारेमें जो नियम बना रखे हैं वे भी इनपर नहीं घटते। ये (outlaws) कायदेके बाहर रहनेवाले लोग हैं। इनपर कोई कानून नहीं चलता, ये सब नियमों और बन्धनोंसे मुक्त हैं। ये कभी किसीसे बहुत बोल सकते हैं अथवा कभी किसीसे बात भी न करेंगे। ये पञ्चाश्रमी या अत्याश्रमी पुरुष हैं। ये स्वस्वरूपमें अवस्थित रहते हैं, ज्ञानज्योति जिसे कहते हैं वह इनके हृदयोंमें सदा देदीप्यमान रहती है और वहींसे अमोघ दैवी शक्तिका प्रचण्ड और अखण्ड प्रवाह निकला करता है। निरोधाभ्याससे मुख्य कारणशक्ति उनके वशमें होती है और इस कारण वे ब्रह्माण्डको उलट-पलट सकते हैं। इनमेंसे कोई भी सिद्धियोंका बाजार लगाकर नहीं बैठते। ईश्वरके समान वे गुप्त रहकर जगत्कार्य करते हैं। नारदके साथ वे तीनों लोकोंमें गमन कर सकते हैं और वहाँ रह सकते हैं। शक्तिके विक्षेप और शाब्दिक बीजारोपणके द्वारा वे अधिकारी शिष्योंके अन्तःकरणकी कान्ति क्षणमात्रमें बदल देते हैं और उसमें कर्तृत्व-शक्ति उत्पन्न कर देते हैं।

ये पूर्ण योगी निद्राको जीते हुए सदा जागते रहते और सोये हुए जगत्की रक्षा करते हैं। महिषासुरकी धींगाधींगीसे समाजमें जो अधर्म और अन्याय फैलता है और जिससे सात्त्विक मनुष्योंके कोमल अन्तःकरण व्यथित होते हैं उसको एक ओरसे उसका बल तोड़कर और दूसरी ओरसे सुदर्शनको सामने करके ये ही वारते हैं। ये लोग स्वतःसिद्ध होते हैं, इनके जीवात्मा स्वतन्त्र होते हैं। जीव कितने बड़े अधिकारका पद पा सकता है यह ये लोग अपने दृष्टान्तसे बताया करते हैं। जगत् और काल जिनके वशमें होते हैं, जो अक्षर, अव्यय तत्त्वको पहुँचे हुए हैं, जो प्रशान्त गम्भीर निर्भय सत्ताधीश और श्रेष्ठ है, जिनकी इच्छा-शक्ति अजेय होती है, जिनकी ज्ञानदृष्टि प्रमादरहित और शुद्ध होती है, जो अन्तःकरण-साम्राज्यके अधिपति होते हुए जगत्के नियन्ता हैं, सब शक्तियाँ जिनके अधीन और सब मन जिनके वशमें होते हैं, जो ज्ञान (ज्ञप्ति)-रूप और आनन्दरूप होकर ईश्वरके सखा बने रहते हैं, उनका राजतेज और वैभव देखकर किसके हृदयमें धीरज न बँधेगा और कृतज्ञता उदय न होगी? किसके हृदयमें उल्लास, निग्रह और शक्तिका स्रोत उमड़ न पड़ेगा? किसका हृदय उनके प्रति पूज्यताके भावोंसे गद्गद न होगा? किसको यह विश्वास न होगा कि इतना बड़ा अधिकार जीवको ईश्वरकृपासे प्राप्त हुआ करता है? और हम भी वैसे बन सकते हैं, ऐसी आशा तथा वैसा बननेका यत्न करनेकी स्फूर्ति किसके मनमें न उत्पन्न होगी? पर ऐसे महापुरुषोंको परखना सामान्य लोगोंके लिये कठिन है। लोग उनके गुणोंको पहचान नहीं सकते और वे अपने गुण किसीको दिखाना नहीं चाहते। लोग तो चमत्कार देखना चाहते हैं, क्योंकि लोभके वशमें हैं और अपना मतलब निकालनेकी ही फिक्रमें रहते हैं। ईशसृष्टिमें चमत्कार तो प्रतिक्षण हो रहे हैं और साधु-सन्त चमत्कार दिखावें इसे तो साधु-सन्त अपनी पत खोनेका लक्षण मानते हैं तथापि उनके नेत्रोंसे प्रकट होनेवाले आध्यात्मिक चैतन्यके तेजसे ही उन्हें जानकर उनको सदा पूजना चाहिये। उनकी सेवा करना गृहस्थोंका कर्तव्य है, पर उनसे व्यावहारिक लाभकी इच्छा करना अनुचित है। उनकी प्रसन्नतासे चाहे जो मिल सकता है, पर अपनी पात्रता न हो तो कुछ भी नहीं मिल सकता। वे किन जीवोंके उद्धारके लिये अथवा जगत्के कल्याणके लिये कैसे क्या करते होंगे, इसकी थाह किसीको भी नहीं लग सकती। ईश्वरी कर्तृत्वके समान यह बात भी संसारसे सदा छिपी ही रहेगी!

दूसरेके काम आनेकी जगपरिचित जो-जो रीतियाँ

हैं उनमेंसे किसी रीतिका वे अवलम्ब नहीं करते, इन रीतियोंसे श्रेष्ठ रीति जगत्से अपरिचित ही होती है। सूर्यदेव भगवान्‌की परिक्रमा किया करते हैं, पर उनके इस कर्तव्यपालनसे जगत्के प्राण-पोषणका कार्य अपने-आप ही हो जाता है। पुष्पवाटिका अपने सहज कर्तव्य-स्वभावसे और प्रभुके पूजनके निमित्त अपने स्थानमें प्रफुल्लित हुआ करती है, पर इससे आस-पास और दूर-दूरतक सुगन्धके फैलनेसे लोग प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार इन 'योगवित्तम' सिद्ध सत्पुरुषोंके अस्तित्वमात्रसे समाजको दुरित निवारणरूप तथा शक्तिप्रेरणारूप कितना लाभ पहुँचता है, यह बात यद्यपि सामान्य मनुष्योंके लिये अगोचर है तथापि जाननेवाले स्वानुभवसे जानते ही हैं। हमलोगोंका काम इतना ही है कि हम केवल उनकी सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें प्रसन्न करते रहें, उनकी प्रसन्नताका प्रसाद ही चाहते रहें और अपने स्थानमें अपने तारक 'कर्तव्य' में सदा सन्तोषपूर्वक लगे रहें। वे दयालु और समर्थ हैं और वे यह भी जानते हैं कि कब किस व्यक्ति या समाज या राष्ट्रके लिये भगवदिच्छानुसार क्या करना चाहिये। अपनी पात्रता बढ़ाकर हम यदि उनसे केवल आशीर्वाद भी प्राप्त कर सकें तो भी बहुत बड़ी कमाई हुई। बच्चे नहीं जानते कि बड़ोंके, सन्तोंके और ईश्वरके आशीर्वादकी शक्तिका सूक्ष्म प्रभाव कितना महान् होता है। यह आशीर्वाद भगवान्‌का सुदर्शनचक्र ही है। जिन पुण्यवान् कर्तव्यपरायण जीवोंको इसका कवच परिधान करनेको मिलता है वे सर्वारिष्टसे सुरक्षित रहते हैं इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं। (महानुभाव द० कृ० दामलेकृत 'गृहस्थाश्रम')

श्रीभगवान्‌की कृपासे जब जिसका भाग्योदय होता है तभी उसे ऐसे हरिप्रिय योगवित्तमोंकी सङ्गति प्राप्त होती है। इनकी संगतिमें, इनके बोधमें इन्द्रियोंके बिना स्वानन्द, विषयोंके बिना परमानन्दका भोग प्राप्त होता है। ऐसा सत्संग यदि निमिषार्ध भी हो तो भी उससे भवभङ्ग होता है। ऐसे सत्सङ्गका भाग्य भाग्यवान् साधक ही जान सकते हैं।

संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।
(श्रीमद्भागवत)

ऐसे कृष्ण कृपा समारंभें। जे भगवंताचे वालभे।
त्यांची भेटी तैंचि लाभे। जैं भाग्यें सुलभें पैं होतीं॥
इन्द्रियांवीण स्वानन्दु। विषयांवीण परमानन्दु।
ऐसा करिती निज बोधु। अगाध साधु-निजमहिमा॥
निमिषार्ध होतां सत्संग। तेणें संगे होय भवभंग।
या लागीं सत्संगाचें भाग्य। साधक सभाग्य जाणती॥
(श्रीएकनाथी भागवत)

ॐ तत्सत् योगेश्वर श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

षट्समाधिका अभ्यास

(लेखक—श्रीशिवपुत्र स्वामी, श्रीसिद्धारूढमठ, हुबली)

अनादिकालसे अनात्मविषयमें वृत्तिका जो संयोग हुआ है उसका वियोग करके आत्मस्वरूपमें वृत्तिका संयोग करना ही 'योग' कहाता है। चित्तको चैतन्य कर देना, यही सब साधनोंका अन्तिम ध्येय या योग है। इसमें ज्ञानमार्गके साधकोंके लिये षट् समाधिका अभ्यास बहुत उपयोगी है। ये छः समाधियाँ नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।
(२) अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। इन दोनोंके अभ्याससे प्राप्त—
(३) अन्तर्निर्विकल्प समाधि।

* * *

(४) बाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।
(५) बाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। इन दोनोंके अभ्याससे प्राप्त—
(६) बाह्यनिर्विकल्प समाधि। समाधिके ये छः अंग हैं।

वृत्तिके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग, दो मुख होते हैं। वृत्ति जब अन्तर्मुख होती है—भीतरकी ओर प्रविष्ट होती है तब उपर्युक्त त्रिविध अन्तरङ्ग समाधियोंका अभ्यास करे, और वृत्ति जब बहिर्मुख होकर बाह्य दृश्यमें क्रीडा करने लगती है तब उपर्युक्त त्रिविध बहिरङ्ग समाधियोंका अभ्यास करे। इससे—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

'जहाँ भी मन जाय वहीं समाधि कर ली' इस प्रकार 'अखण्ड समाधि' प्राप्त होती है।

इन समाधियोंका अभ्यास कैसे करना चाहिये, यह आगे बतलाते हैं—

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि—अन्तरमें काम-क्रोधादि जो वृत्तियाँ हैं वे ही 'दृश्य' हैं। इन दृश्योंके भावाभावका साक्षी शुद्ध चेतनरूप मैं हूँ, इस प्रकार चिन्तन करना—वृत्तिको साक्ष्याकार करना अर्थात् साक्षीमें लीन करना ही 'अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(२) अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि—'**अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः**' इत्यादि श्रुतिके श्रवण और चिन्तनसे स्वयंप्रकाशरूप आत्माकार वृत्ति करना ही 'अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(३) अन्तर्दृश्यानुविद्ध और अन्तश्शब्दानुविद्ध समाधियोंके अभ्याससे होनेवाली 'अन्तर्निर्विकल्प समाधि'—इसमें चित्तकी स्थिति 'अचलदीपवत्' अथवा जैसा कि गीतामें कहा है, '**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता**'—निवातस्थ दीपके समान होती है। अर्थात् दृश्य और शब्द दोनों सम्बन्ध छूट जाते हैं और अचल दीपशिखा-सी साक्ष्याकारवृत्ति होती है।

(४) बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि—बाहर जगत्‌के पदार्थोंको देखकर होनेवाली नामरूपाकार वृत्तिको त्यागकर अर्थात् नाम और रूपगत मायांशको त्यागकर उसके अस्ति-भाति-प्रियरूप ब्रह्मांशका अनुसन्धान करना 'बाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(५) बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', '**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**' इत्यादि तत्पद निर्देश करनेवाले वाक्योंसे चराचर जगत्‌का ब्रह्मरूपसे चिन्तन करना—वृत्तिको ब्रह्माकार करना 'बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(६) बाह्य दृश्यानुविद्ध और बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधियोंके अभ्याससे जो स्थिति होती है, जिसमें नामरूपोंको देखते हुए अस्ति-भाति-प्रियरूपकी ओर ध्यान बँधता है, वृत्ति निस्तरङ्ग होकर ब्रह्माकार होती है, उस स्थितिको 'बाह्य निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। वह '**निस्तरङ्गसमुद्रवत्**' अथवा '**कल्पाम्बुनीरवत्**' होती है।

[त्वंपद साक्षीका निर्देश करनेवाले वाक्य अन्तश्शब्दानुविद्ध समाधिके बोधक शब्द हैं और तत्पदार्थका बोध करानेवाले वाक्य बाह्य शब्दानुविद्ध समाधिके साधक शब्द हैं, ऐसा समझना चाहिये।]

* * *

आत्मसाक्षात्कार और जगन्मिथ्यात्वका निश्चय होनेपर भी जीवन्मुक्तको नामरूपाकार जगत्‌की प्रतीति होती ही है। नदी-किनारे खड़े होनेसे नदीके जलमें अपना उलटा प्रतिबिम्ब दिखायी देता है अर्थात् सिर नीचे और पैर ऊपर दिखायी देते हैं। अभ्यासकी दृढ़तासे जगत्‌का मिथ्याभास नहीं रह जाता। ऐसी समाधि उपर्युक्त षट् समाधियोंके अभ्याससे प्राप्त होती है। उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता। वह स्वसंवेद्य ही है। यह समाधि सप्तभूमिकाकी छठी भूमिका है।

उत्थाने वाप्यनुत्थानेऽप्यप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
समाधिषट्कं कुर्वीत सर्वदा प्रयतो यतिः॥ १००॥
विपरीतार्थधीर्यावन्न निःशेषं निवर्तते।
स्वरूपस्फुरणं यावन्न प्रसिद्ध्यत्यनिर्गलम्।
तावत्समाधिषट्केन नयेत्कालं निरन्तरम्॥ १०१॥

(श्रीशङ्कराचार्यकृत 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह)

'उत्थानमें और अनुत्थानमें भी अप्रमत्त और जितेन्द्रिय होकर यत्नशील साधक इस समाधिषट्‌का अभ्यास करे। मायाजनित 'आवरण' और 'विक्षेप' सर्वथा जबतक नष्ट नहीं होते अर्थात् आत्माके ऊपर तद्विपरीत जमी हुई अनात्मबुद्धि (ब्रह्ममें होनेवाली जगद्‌बुद्धि) जबतक समूल उखड़ नहीं जाती तबतक इस समाधिका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। इसमें कभी प्रमाद न हो।'

न प्रमादोऽत्र कर्तव्यो विदुषा मोक्षमिच्छता।
प्रमादे जृम्भते माया सूर्यापाये तमो यथा॥ १०२॥
स्वानुभूतिं परित्यज्य न तिष्ठन्ति क्षणं बुधाः।
स्वानुभूतौ प्रमादो यः स मृत्युर्न यमः सताम्॥ १०३॥

भावार्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाला विद्वान् इस अभ्यासमें कदापि प्रमाद (गलती, गफलत, आलस्य) न होने दे। कारण, सूर्यास्तकालमें जैसे अन्धकार, वैसे ही प्रमादमें मायाका उद्भव होता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष स्वानुभूति छोड़कर एक क्षण भी नहीं रहते; कारण, वे यह जानते हैं कि स्वानुभूतिमें प्रमादका होना ही ज्ञानियोंकी मृत्यु है, यम मृत्यु नहीं।'

इन षट् समाधियोंमें पहली तीन समाधियाँ अपने भीतर साधनेकी हैं और आगेकी तीन समाधियाँ सम्पूर्ण

द्वैतनिवृत्तिके लिये बाहरी दृश्य जगत्‌में साधनेकी हैं।

यथा समाधित्रितयं यत्नेन क्रियते हृदि।
तथैव बाह्यदेशेऽपि कार्यं द्वैतनिवृत्तये॥
(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(श्रुति)

ॐ तत् सत्

योगस्वरूप-दिग्दर्शन

(लेखक—श्रीआनन्दघनरामजी)

संसारमें एक भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें योगशक्ति अपना काम न करती हो। यही योगशक्ति मूलस्वरूपको, उसके अखण्ड और शाश्वत होते हुए भी, गतिरूपसे भिन्न-भिन्न नामरूपमें दिखाती हुई, पुनः अभिन्नस्वरूपमें पहुँचानेका काम करती है।

यह मानवजन्म उन्नतिकी गतिके मध्यमें है और वह इसीलिये प्राप्त हुआ है कि योगशक्तिके समुचित उपयोगके द्वारा वह मूल केन्द्रमें प्रवेश करके सर्वज्ञान, सर्वानन्द और सर्वसत्तासे परिपूर्ण हो। इसलिये इस स्वभाव-सिद्ध योगशक्तिका दुरुपयोग करके अवनतिको प्राप्त न होकर प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभावानुरूप उसका उपयोग करे और पहले प्रेयसम्पन्न होकर पीछे श्रेयसम्पन्न हो।

इसी कामके लिये मनुष्यको शरीर और मन मिला है। फिर इन दोनों साधनोंको क्रिया करने और स्वस्थ रहनेकी दो शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। योगशक्तिके ये ही दो मूलरूप हैं। इस प्रकार साधन और सामर्थ्य मिलाकर चार हुए। इनके कारण मनुष्यमें स्वभावतः ही उन्नतिके चार मार्ग बन जाते हैं और उन्हींसे मनुष्यमें स्वभावसिद्ध चार भेद होते हैं।

१-स्वभावतः ही शरीर क्रियावान् है।
२-स्वभावतः ही शरीर स्वस्थ है।
३-स्वभावतः ही मन क्रियावान् है।
४-स्वभावतः ही मन स्वस्थ है।

इनसे जो चार मार्ग बनते हैं उनमेंसे कौन मार्ग किस स्वभावके अनुसार किस मनुष्यके लिये अधिक स्वाभाविक होनेसे सुलभ है यह विज्ञ पुरुषोंने जाना है और स्वभावधर्मानुकूल योगाभ्यासका भी निर्देश किया है।

(१) शरीरक्रिया-स्वभावी मनुष्यके लिये कर्मयोग मार्ग है। (२) शरीरस्वास्थ्य-स्वभावी मनुष्यके लिये समाधियोग मार्ग है। (३) मनःक्रिया-स्वभावी (चञ्चल) मनुष्यके लिये भक्तियोग मार्ग है। (४) मनःस्वास्थ्य-स्वभावी मनुष्यके लिये ज्ञानयोग मार्ग है।

इस प्रकार योगके कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान-ये चार भेद हो गये हैं तथापि, लक्ष्य सबका एक ही है अर्थात् जीवको ईश्वर बनाकर पुरुषोत्तमपद प्राप्त कराना। जीवको पुरुषोत्तम स्वरूप प्राप्त करानेवाला जो योग है वही यथार्थमें योग है।

१-कर्मयोग—कर्म करनेवाले इन्द्रियोंको सदा कर्म करते रहनेका जो अभ्यास है उसके अनुसार उन्हें ऐसे कर्मोंमें लगाना जिनसे शरीर शुद्ध और मन पवित्र हो तथा उन्नति साधित हो, कर्मयोग है।

२-समाधियोग—इन्द्रियोंको स्तब्धतामें खिंचे रहनेका जो अभ्यास है उस अभ्यासके अनुसार उसे (आसनपर स्थिर होकर) ऐसे विचार या ध्यानमें लगाना जिससे शरीर शुद्ध और मन पवित्र हो तथा सम्प्रज्ञात समाधिकी क्रियाके होते हुए उन्नति हो, समाधियोग है।

३-भक्तियोग—क्रियावान् चञ्चलस्वभाव मनको उसकी विषयासक्तिकी बानके अनुसार आसक्तिगत नामरूपात्मक पदार्थमात्रमें ईश्वर-भावना और तत्प्रयुक्त प्रीति उत्पन्न करके शरीरको शुद्ध और मनको पवित्र करते हुए उन्नति साधनेका जो साधन है वह भक्तियोग है।

४-ज्ञानयोग—मनःस्वास्थ्य-स्वभावी शान्त मनुष्यका स्वस्थ निश्चिन्त रहनेका जो अभ्यास है उसके अनुसार उसी स्वस्थता और निश्चिन्ततामें शरीरशुद्धि और मनःपावित्र्य सम्पादन कर उन्नति करते हुए मोक्षसुखमें रत करनेका जो मार्ग है वह ज्ञानयोग है।

इस प्रकार ये चार मुख्य मार्ग हैं। तथापि मन और

शरीर एकत्र होनेके कारण तथा एकत्र होकर भिन्न स्वभावके कारण दोनोंको मिलानेवाले मिश्र मार्गका ही सदा अवलम्बन करना पड़ता है। चतुर्विध स्वभावके कारण मिश्र मार्ग भी चार प्रकारके बनते हैं—

१-चञ्चल शरीर और चञ्चल मनके लिये कर्मयुक्त भक्तियोगमार्ग।

२-चञ्चल शरीर और स्थिर मनके लिये कर्मयुक्त ज्ञानयोगमार्ग।

३-स्थिर शरीर और चञ्चल मनके लिये भक्तियुक्त योगमार्ग।

४-स्थिर शरीर और स्थिर मनके लिये ज्ञानयुक्त योगमार्ग।

इस प्रकार योगसाधन चाहे मुख्य मार्गसे हो अथवा मिश्र मार्गसे, उसका लक्ष्य समाधि ही है। समाधि-अवस्थाओंमें एक प्रेयस्की प्राप्तिके लिये है, वह पहले प्राप्त होती है और उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं; दूसरी श्रेयस्की प्राप्तिके लिये है, वह पीछे प्राप्त होती है और उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

प्रत्येक मार्गका योगज्ञान करानेवाले गुरु अत्यन्त दुर्लभ होनेके कारण इस विषयमें लोगोंमें बड़ा भ्रम फैला है। इस भ्रमको दूर करनेके लिये ही यह लेख लिखा गया है।

योगसे समाधि सधती है। इसका अभिप्राय बहुतोंने यह समझ रखा है कि हठयोगसे श्वासोच्छ्वास-निरोधके द्वारा कुम्भक साधे बिना, समाधि नहीं सध सकती। परन्तु यह खयाल गलत है। योग, उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे कोई-सा भी हो उससे समाधि प्राप्त होती है और इसीके लिये उसकी आवश्यकता है। प्रत्येक मार्गसे समाधि साधकर प्रेयस् और श्रेयस् कैसे प्राप्त करना होता है यह योगिवर्य पतञ्जलि ऋषिने अपने सूत्रग्रन्थमें स्पष्ट बताया है।

समाधिपादका द्वितीय सूत्र—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके उन्हें अपने वशमें कर उनसे अपना इष्ट कार्य करानेके लिये उन्हें सम्प्रज्ञात संमाधिमें ले जाना ही योग है।

यह सम्प्रज्ञात योगस्थिति प्राप्त करानेका काम प्रत्येक योगमार्गसे होता है यह बात निम्नलिखित सूत्रोंमें उन्होंने स्पष्ट ही बतलायी है—

१-ईश्वरप्रणिधानाद्वा (२३) ईश्वरकी उपासनासे अर्थात् भक्तियोगसे।

२-तज्जपस्तदर्थभावनम् (२८) जपसे अर्थात् कर्मयोगसे। इसी विषयमें सूत्र ३३ से ३९ तकके सूत्र देखिये।

३-प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (३४) प्राणवायुके विशेषरूपसे धारण और उच्छ्वसनसे। (यह भी समाधि साधनेका एक तीसरा मार्ग है।)

इस प्रकार कर्म, भक्ति और योग इन तीनों मार्गोंसे सम्प्रज्ञात अर्थात् सबीज समाधि प्राप्त होती है, यही कहा गया है। पहले यह सम्प्रज्ञात समाधि लाभ करके, आगे बढ़नेके लिये प्रेयस्की उन वासनाओंको त्यागना पड़ता है जो पूर्वजन्ममें पूर्ण हो चुकी हैं और जो अब इस जन्ममें वैराग्य और निष्काम वृत्तिके साधनमें बाधक हो रही हैं। कोई भी प्रबल वासना तृप्त होकर जबतक निर्वासित नहीं होती तबतक निरीहता, निःसङ्कल्पता और विरक्तता नहीं प्राप्त होती। चाहे यह कार्य पूर्वजन्ममें हो चुका हो अथवा वर्तमान जन्ममें हो उसका होना अनिवार्य है, क्योंकि यह सृष्टिधर्मका सिद्ध नियम है।

इस सम्प्रज्ञात समाधिका अधिकार प्राप्त कर चुकनेके पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधिको साधकर मोक्ष लाभ करना होता है। ईश्वरप्रणिधानके द्वारा जो सम्प्रज्ञात समाधि लाभ करते हैं उन्हें तो आप ही मोक्ष प्राप्त होता है पर अन्य मार्गियोंको ज्ञानयोगके द्वारा प्राप्त करना होता है। ज्ञानयोगका यह योग समाधिपादके तीसरे सूत्रमें कहा गया है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

'तब द्रष्टा स्वरूपमें अवस्थित होता है।'

इस प्रकार आरम्भके सूत्रोंमें वर्णित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियोंके विवेचनके लिये ही पातञ्जल योगदर्शनका प्रवर्तन हुआ है।

वेद और सब धर्मग्रन्थ योग और योगाङ्गोंका ही ज्ञान बतलानेके लिये अवतीर्ण हुए हैं।

एतद्रूप योगसे प्राप्त होनेवाली समाधियोंके सम्बन्धमें व्यर्थ ही जो गूढ़ता-सी मालूम होती है वह दूर हो और योगके सम्बन्धमें किसी प्रकारका भ्रम न रहे, इसलिये संक्षेपसे दो-एक बातें यहाँ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्राणायामसे समाधि-साधनका जो योग है वह

नित्यकी सहज श्वसनक्रियाके ज्ञानपर और नियन्त्रणपर निर्भर होनेसे हमलोगोंके लिये कुछ कठिन नहीं है। जन्मसे मृत्युतक यह श्वासोच्छ्वास कर्म हमारे साथ लगा हुआ है। योगशास्त्रने केवल इतना ही बतलाया है कि प्रेयस् और श्रेयस्की प्राप्तिके लिये उसका किस प्रकार उपयोग करना चाहिये। थोड़े अभ्याससे यह साधन बनता है।

इस योगाभ्यासमें नाकसे अन्दर जानेवाली वायुसे शरीरमें ऑक्सीजन जाता है। इस ऑक्सीजनसे विद्युत् और विद्युत्से प्राणतेजका आकर्षण होता है और उससे जीवन-व्यापार चलता है। इसी तेजका सञ्चय मेरुदण्ड और मस्तकमें होनेसे समाधि लग जाती है और जीवन बना रहता है। जब फेफड़ोंमेंसे वायुका जाना कम या बन्द होकर समाधि लगती है तब यह प्राणतेज वायुसे लेकर शरीरके अन्दर पहुँचानेका काम शरीरकी त्वचाके द्वारा होता है, क्योंकि त्वचा भी फेफड़ोंकी सहकारिणी है। जब फेफड़ोंको और त्वचाको भी वायुका स्पर्श न हो, इस प्रकारसे जमीनके अन्दर समाधिस्थितिमें शरीर रखा जाता है और उस हालतमें भी शरीर जीवित रहता है, तब बाहरकी वायुसे तो प्राणतेज नहीं मिलता; तब यह होता है कि ज्ञानतन्तुजालमें जो चक्र हैं उनका कार्य आरम्भ होता है और मेरुदण्ड तथा मस्तिष्कमें प्राणतेज भर जाता है अर्थात् कुण्डलिनी जागकर अपना काम करती है। इसीसे जीवन बना रहता है।

इस प्रकार जिस किसी भी साधनसे समाधि लगे, वही योग है। योगसे ही प्रेयस् और श्रेयस्की प्राप्ति होती है।

योगसाधनमें 'लय' और 'विक्षेप' ये जो दो चित्तके स्वरूपान्तर हैं उन्हें हमारे आचार्य विघ्नरूप मानते हैं, पर पाश्चात्य विद्वान् 'लय' को ही योग मान बैठे हैं।

योगकी व्याख्या

इन्द्रियोंसहित मनकी जो लय-विक्षेप-रहित एकतानता और एकाग्रता है वही योग है।

इस योगस्थितिमें आत्मज्ञानके साथ रहना ही मोक्ष है। इस मोक्षज्ञान और अनुभवके लिये ही योगज्ञान आवश्यक है और यह सम्पूर्ण योगज्ञान यह 'योगाङ्क' प्रदान करता है।

आसनोंसे लाभ

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

आर्य महर्षियोंने हमारे कल्याणके लिये अधिकारिभेदसे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग प्रभृति अनेक मार्ग प्रवर्तित किये हैं। और इन सब मार्गोंमें हठयोगके आसनादि साधनोंका किसी-न-किसी रूपमें प्रयोग करना ही पड़ता है। अतएव हठयोग सब प्रकारके योगोंका आधार है, यह कहना असंगत नहीं है। हठयोगके चार अंग हैं—आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसन्धान। आसन ही प्रथम अंग है। इसके अनेक प्रकार हैं। आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूहकी मृदुता, सहनशीलताकी वृद्धि, शरीरकी लघुता, मनकी एकाग्रता और प्राणतत्त्वका ऊर्ध्वगमन होता है तथा शरीरके अनेक रोगोंकी निवृत्ति होती है।*

विभिन्न आसनोंके विभिन्न परिणाम होते हैं। साधककी प्रकृतिके अनुकूल जो आसन हो उसे मुख्य और दूसरोंको गौण जानना चाहिये। मुख्य आसनोंका अभ्यास तो सदाके लिये किया जाता है, परन्तु गौण आसन मलादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये किसी अवधिविशेषतक ही किये जाते हैं। आसनोंसे जहाँतक रोग-निवृत्तिका सम्बन्ध है वहाँतक बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुष सभी इनके अधिकारी हैं। परन्तु यदि प्राणायाम आदिके द्वारा राजयोगमें प्रवेश करना हो तो वैसी स्थितिमें आसनके अधिकारी केवल मुमुक्षु ही हो सकते हैं। प्रथम कोटिके अधिकारीकी अपेक्षा मुमुक्षुको आसनोंके अभ्यासमें अधिक दृढ़ता तथा नियमनिष्ठताका पालन करना पड़ता है।

---

* कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्। (हठयोगप्रदीपिका)
अर्थात् आसनोंके अभ्याससे स्थिरता, आरोग्य और शरीरकी लघुताकी प्राप्ति होती है।

योगाभ्यास एकान्त और पवित्र स्थानमें करना चाहिये, जहाँ मच्छर आदि जन्तुओंका उपद्रव तथा कोलाहल न हो। योगाभ्यासके समय प्रबल वायुके झोंकेसे बचना चाहिये और निश्चल मनसे पहले आसनकी क्रिया करनी चाहिये। आसनोंके अनेक प्रकार हैं, परन्तु यहाँ शास्त्रानुसार कुछ अत्यन्त उपयोगी आसनोंका वर्णन किया जाता है।

१-सिद्धासन—८४ आसनोंमें सिद्धासन सर्वोत्तम माना जाता है। योनिस्थान (गुदा और मूत्रेन्द्रियके मध्यभाग)-में वाम पादकी एड़ीको रखे और दाहिने पादको इस प्रकार सावधानीसे मूत्रेन्द्रियपर रखे कि मूत्रेन्द्रिय और वृषणको बाधा न पहुँचे, और दोनों पैरोंके अग्रभाग जानु और ऊरुके मध्यमें रखे। इसे ही सिद्धासन कहते हैं। इस आसनका अभ्यास करते समय हनु (ठोडी)-को कण्ठके नीचेके भागमें लगावे। इसे जालन्धरबन्ध कहते हैं। गुदाके ऊपर आधारचक्रसे अपानतत्त्वका आकर्षण करे—इसे मूलबन्धकी क्रिया कहते हैं। दृष्टि भ्रू-स्थानमें रखे; परन्तु त्राटकका अभ्यास एक घण्टेसे अधिक बढ़नेपर ही इस अभ्यासको करे, अन्यथा दृष्टि निर्बल हो जायगी। दोनों हाथोंको सीधा जानुओंपर रखे। परन्तु तर्जनीको मोड़कर अंगुष्ठमूलमें लगावे, शेष तीन अँगुलियोंको भी थोड़ा मोड़ दे। इससे प्राणतत्त्व हाथोंसे बाहर नहीं जा सकेगा।

प्राणायामादि अन्य साधनोंका अभ्यास न करके भी साधक यदि बारह वर्षतक नियमपूर्वक आत्मानुसन्धानके साथ मौन रहकर सिद्धासनका अभ्यास करे तो वह चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगसिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रातः-सायं दोनों कालमें इस आसनका साधन किया जा सकता है और बढ़ाते-बढ़ाते एक वर्षमें बारह घण्टेतक लगातार बैठनेका अभ्यास हो जाता है। इस आसनपर बैठनेपर सुषुम्ना नाडी स्वभावतः सीधी रहती है और प्राणापानकी क्रिया नियमित हो जाती है और नाडी-मलका शोधन होता है। प्राणतत्त्व सहज ही ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होने लगता है, जिससे मनके निरोधमें सफलता मिलती है।

इस आसनसे फुफ्फुस और हृदयको बलवान् बनाते हुए स्वयं ही श्वासोच्छ्वासकी क्रिया दीर्घ होने लगती है और आन्त्रगति भी वृद्धिको प्राप्त होती है। पाचनक्रिया नियमित हो जाती है। और कास, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), हृद्रोग, प्लीहावृद्धिजनित ज्वर, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका (पेचिश), स्वप्नदोष, शुक्रनिर्बलता, बहुमूत्र, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग नाश होते हैं।

गृहस्थाश्रमीको इस आसनसे हानि होती है, क्योंकि इसके अभ्याससे मूत्रेन्द्रियकी शिरा दबते-दबते निर्बल हो जाती है। संन्यासियों और त्यागियोंके लिये यह आसन बहुत ही कल्याणकारक है।

२-गुप्तासन—जिस साधकका वृषणस्थान दोषपूर्ण हो, जिसे कटिवात या भगन्दर रोग हो और इस कारण जो सिद्धासन न कर सके, उसके लिये गुप्तासन बहुत ही उपयोगी होता है। गुण इसके सिद्धासनके समान ही होते हैं। क्रिया इस प्रकार है—लिङ्गके ऊपर वाम पादके गुल्फको रखे और उसके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर स्थिर बैठ जाय। पादके अग्रभाग, ठोडी, दृष्टि, हाथ आदि अंगोंको सिद्धासनके ही अनुसार रखे। इसे ही गुप्तासन कहते हैं। दाहिने पैरको स्वाधिष्ठानचक्रपर रखनेसे उड्डीयानबन्ध हो जाता है। और उड्डीयानबन्धका साधन सिद्धासनकी अपेक्षा गुप्तासनमें कहीं अधिक अनुकूल होता है। परन्तु आधारचक्रपर बाहरसे दबाव न पड़नेके कारण सुषुम्नाके नीचेके भागका, जहाँसे कुण्डलिनीशक्ति ऊपर उठती है, शोधन नहीं होता। सिद्धासनके अन्य सभी फल इस आसनद्वारा प्राप्त होते हैं।

३-मुक्तासन—दक्षिण और वाम दोनों पैरोंकी एड़ियोंको मिलाकर वृषण और गुदाके मध्यमें रखे और दृष्टि, जालन्धरबन्ध, हाथोंकी स्थिति आदि सिद्धासनके समान ही रखे। यही मुक्तासन कहलाता है। इस आसनका अभ्यास करते समय प्रारम्भमें पैरोंकी नसें खिंचती हैं और पैर भलीभाँति जमीनपर नहीं बैठते। परन्तु थोड़े दिनोंके अभ्याससे यह कठिनाई दूर हो जाती है। मुक्तासनका अभ्यास कर लेनेके बाद सिंहासन, भद्रासन और पश्चिमतानासनके अभ्यासमें सरलता होती है। इस आसनसे नाडियाँ मुलायम होती हैं। मूलबन्धके प्रारम्भिक साधनमें यह आसन बहुत हितकर होता है।

४-भद्रासन—योनिस्थानके दोनों ओर दोनों पैरोंकी एड़ियोंको रखे, दक्षिण भागमें दक्षिण एड़ी और वाम भागमें वाम एड़ी; यही भद्रासन है। मुक्तासनमें पैरोंका अग्रभाग आगे रहता है परन्तु इस आसनमें वह पीछेकी

ओर मुड़ा रहता है। इस आसनको गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसनमें स्थित होकर दोनों हाथोंसे पीठकी ओर निकले हुए पैरोंके अग्रभागको पकड़े और दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनसे पैरोंकी नसें शीघ्र मुलायम हो जाती हैं और मूलबन्ध सहज ही लग जाता है। इसके अभ्याससे मलावरोधसे उत्पन्न व्याधियाँ तथा वातव्याधि दूर होती है। आम, कफ और मेदवृद्धिके रोगियोंको भी इससे बहुत लाभ होता है। अपान-तत्त्वको ऊर्ध्वगामी बनानेमें भी यह आसन सहायक होता है।

५-*सिंहासन*—योनिस्थानमें दक्षिण तरफ वाम गुल्फको रखे और उसके ऊपर वाम पार्श्वमें दक्षिण गुल्फको रखे, दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको फैलाकर घुटनेपर रखे और मुँह खुला रखे। भ्रूमध्यमें दृष्टि रखे। इसे सिंहासन कहते हैं।

इस आसनके अभ्याससे उपर्युक्त तीनों बन्धोंकी सहज ही सिद्धि होती है। जालन्धरबन्ध बिगड़नेपर इस आसनका अभ्यास बहुत ही हितकर होता है। नाड़ियोंको मुलायम करके कुण्डलिनीके जाग्रत् करनेमें यह आसन सहायता पहुँचाता है। शरीरके ज्ञानतन्तुको बलवान् करता है, उदरवातका शमन करता है। इससे आन्त्रकी निर्बलता दूर होती है, पाचनशक्ति बलवान् होती है और मलावरोधजनित रोग दूर होते हैं।

६-*स्वस्तिकासन*—दोनों ओरके जानु और जंघाके बीचमें दोनों पादतलोंको रखकर स्थिर बैठनेको स्वस्तिकासन कहते हैं। इस आसनमें बायाँ पैर नीचे रखे और दाहिना पैर ऊपर। शारीरिक अस्वस्थतामें दूसरे आसनोंके अनुपयोगी होनेपर यही आसन लाभप्रद होता है। निर्बल मनुष्य इस आसनपर अधिक देरतक आसानीसे बैठ सकता है।

७-*पद्मासन*—पहले बायीं जाँघके ऊपर दाहिने पैरको रखे, फिर बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रखे। यही पद्मासन है। परन्तु प्राचीन सम्प्रदायके अनुसार पहले बायाँ पैर रखे और उसके ऊपर दाहिना पैर रखे। इन दोनोंमेंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार जैसा ठीक हो वैसा करे। दोनों एड़ियोंको नाभिके दोनों पार्श्वोंमें अच्छी रीतिसे लगा ले और दोनों जानु जमीनसे लगे रहें, और पृष्ठभागसे दोनों हाथोंको ले जाकर बायें हाथसे बायें पैरके अँगूठेको और दाहिने हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। जालन्धरबन्ध लगाकर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनके अभ्यासके साथ जिह्वाग्रको उलटकर जिह्वामूलमें ले जाय, इससे खेचरीमुद्रा सिद्ध होती है और मूलबन्ध भी स्वभावतः ही लग जाता है, और आधारचक्रका शान्तिपूर्वक सङ्कोच-विकास करते हुए अपानतत्त्वको ऊपर आकर्षित करनेसे वह दृढ़ हो जाता है। इससे कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होती है।

इस आसनसे सुषुम्ना नाडी सीधी रहती है, फुफ्फुसोंकी श्वासोच्छ्वासक्रिया नियमित रीतिसे होने लगती है। इसी कारण प्राणायामके अभ्यासमें अन्य आसनोंकी अपेक्षा यह आसन श्रेष्ठ माना जाता है। इसके अभ्याससे हृदय और फुफ्फुसकी निर्बलता, उदररोग, मलावरोधजनित रोग, रक्तविकार, चर्मरोग, कटिवात, उदरवात, गृध्रसी, आमवात, कास, श्वास, जीर्णज्वर, यकृत्-विकृति, प्लीहाविकृति आदि रोग दूर होते हैं। इस आसनके अभ्यासमें अधिक चलना हानिकर होता है।

८-*कुक्कुटासन*—पद्मासन लगाकर दोनों हाथोंको घुटनों और जंघाओंके मध्यसे नीचेकी ओर निकालकर जमीनपर रखे और हाथोंके दोनों तलोंके आधारपर पद्मासन लगे हुए शरीरको ऊपर उठावे। इस कुक्कुटके समान स्थितिको ही कुक्कुटासन कहते हैं।

अन्त्रकी निर्बलताके कारण दुष्ट अपान वायु जो अन्त्रमें उत्पन्न होकर उदरको फुलाता और मलावरोध करके स्वप्नदोष कराता है उसकी उत्पत्ति इस आसनके अभ्याससे रुक जाती है। लघु अन्त्र बलवान् हो जाते हैं, बृहद् अन्त्रमें भी मलको शीघ्र गति मिलती है। बाहुकी नसें और मांसग्रन्थि दृढ़ होती हैं। सुषुम्नाका मुँह खुल जाता है और अपानतत्त्व ऊर्ध्वगमन करने लगता है।

९-*पश्चिमतानासन*—दोनों पैरोंको दण्डके समान सीधा फैला दे और दोनों एड़ियोंको एक साथ मिला ले। फिर दोनों हाथोंकी तर्जनीके द्वारा पैरोंके अँगूठोंको पकड़कर ललाटको घुटनोंपर रखे। घुटनोंको जमीनसे उठने न दे। इस आसनके अभ्यासमें पहले पैरोंको फैलाकर हाथको लम्बा करके शरीरको बार-बार पैरोंकी ओर झुकाना पड़ता है। प्रतिदिन आधा घण्टा अभ्यास करनेसे आठ-

दस दिनोंमें आसन लग जाता है। पीछे धीरे-धीरे इस आसनकी अवधिको बढ़ाना चाहिये।

इस आसनसे नसें मलरहित होकर मृदु बनती हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, कफ, आम और मेद जल जाता है। नौलिक्रिया करनेमें बहुत सहायता मिलती है। मन्दाग्नि, मलावरोध, अजीर्ण, उदररोग, कृमिविकार, प्रतिश्याय, वातविकार आदि रोग इससे दूर होते हैं। इसके अभ्याससे सुषुम्ना नाडीमेंसे प्राणतत्त्व मस्तिष्कमें पीछेकी ओरसे आने लगता है। यही पश्चिममार्गगमन कहलाता है और इसी कारण इसे पश्चिमतानासन कहते हैं। सिद्धासन, पद्मासनादि आसनोंमें पूर्व-पश्चिम दोनों मार्गोंपर समान असर पड़ता है। भ्रूमध्यमें होकर प्राणतत्त्व ऊर्ध्व सहस्रदलकमलमें गति करे उसे पूर्वमार्ग कहते हैं। दोनों मार्गोंकी अपेक्षा एक ही मार्गपर सारी शक्तिका प्रयोग होनेसे सफलता शीघ्र मिलती है। इसी कारण यह आसन योगमार्गमें बहुत ही लाभदायक माना जाता है।

१०-मयूरासन—दोनों हाथोंके तलोंको एक साथ जमीनपर रखे और दोनों कर्पूर (केहुनी)-को नाभिके पास लगाकर दण्डके समान शरीरको धारणकर ऊपर उठा ले, इस आसनको मयूरासन कहते हैं। अन्य आसनोंके अभ्याससे नाड़ीसमूहके मुलायम होनेपर ही इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। अन्त्रके कठोर होनेपर मयूरासनका अभ्यास करनेसे उदरमें दर्द होने लगता है, और वह बढ़कर अन्त्रमें शोथ उत्पन्न करके नाना रोगोंको पैदा करता है।

इस आसनसे गुल्म, उदररोग, त्वचादोष, कटिवात, कफवृद्धि, कास, श्वास आदि रोग दूर होते हैं। बस्तिक्रिया करनेके पूर्व पाँच-सात मिनटतक इस आसनका कर लेना बहुत ही हितकर होता है।

११-शीर्षासन—पहले जमीनपर एक मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे, फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। इसे शीर्षासन कहते हैं। इसमें सिर नीचे और पैर ऊपर होता है, अतः इसे विपरीतकरणी मुद्रा भी कहते हैं। कोई-कोई शीर्षासनको कपाली नामसे भी पुकारते हैं। इस आसनको पहले एक-दो मिनट करे, फिर बढ़ाते-बढ़ाते एक घण्टातक कर ले। जिस साधकके शरीरमें त्रिधातु सम हो, जो बलवान् और युवा हो, उसके लिये शास्त्रकारोंने इस आसनका अभ्यास बढ़ाकर तीन घण्टेतक करनेको लिखा है। परन्तु यह अवधि जिज्ञासुओंके लिये ही है। आरोग्यता प्राप्त करनेके लिये एक घण्टेसे अधिक यह आसन करना ठीक नहीं होता।

इस आसनमें पैरोंकी ओरसे रक्तका प्रवाह मस्तिष्ककी ओर होने लगता है। इसलिये इस आसनकी क्रिया समाप्त होनेपर आध घण्टेतक शवासन करना चाहिये जिससे रक्तकी गति सम हो जायगी। इस प्रकारके रक्तके आवागमनसे रक्ताभिसरणकी क्रिया बलवान् होती है। मलदोष नष्ट होता है, प्राणतत्त्व सुषुम्नाके द्वारा मूलाधारचक्रकी ओर जानेके लिये प्रयत्न करता है और पुनः रक्ताभिसरणके द्वारा मस्तिष्कमें जानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् हो जाती है। नाद जोरसे उठने लगता है और मनको एकाग्रता प्राप्त होती है।

इस आसनका तीन घण्टेतक नियमपूर्वक छः मासपर्यन्त अभ्यास करनेसे वात, पित्त और कफदोषसे उत्पन्न सब रोग, ज्वर, कास, श्वास, उदररोग, कटिवात, अर्धाङ्ग, ऊरुस्तम्भ, वृषणवृद्धि, नाडीव्रण, भगन्दर, कुष्ठ, पाण्डु, कामला, प्रमेह, अन्त्रवृद्धि आदि रोग दूर हो जाते हैं। परन्तु इस आसनका अभ्यास करते हुए घृत और दूधका पर्याप्त सेवन करना चाहिये, अन्यथा इस विपरीतकरणी मुद्रासे विपरीत ही फलकी प्राप्ति होती है।

जिनका मस्तिष्क निर्बल और उष्ण रहता है, नेत्र सदा लाल रहते हैं, जिन्हें उरःक्षत, क्षय, हृदयकी गतिवृद्धि, नवज्वर, श्वास-रोगका तीक्ष्ण प्रकोप, ऊर्ध्व रक्त-पित्त, वमन, हिक्का, उन्माद, निद्रानाश आदि रोग हों उन्हें शीर्षासन बहुत ही हानिकर होता है। शीर्षासनका अभ्यास प्रातःकाल भोजन करनेके पहले ही करना चाहिये। भोजनके पश्चात् या रात्रिमें इसका अभ्यास करना हानिकर होता है। प्रातःकाल भी एक समय दो बार अभ्यास नहीं करना चाहिये। इस आसनमें मस्तिष्क बहुत तप जाता है, इसलिये सात्त्विक आहारद्वारा मस्तिष्ककी उष्णताको दूर करना चाहिये। इस आसनके करनेके बाद आधे घण्टेतक विश्राम करना चाहिये।

तुरन्त ही मुँह-हाथ धोना, शीतल जलसे स्नान करना, खुली वायुमें घूमना बहुत ही हानिकारक होता है। केवल शवासनमें लेटकर नादानुसन्धान करना चाहिये। शौच जानेके पहले और स्नानके बाद शीर्षासन नहीं करना चाहिये। प्राणायामके अभ्यासके बाद भी शीर्षासन हानिकर होता है। हाँ, शीर्षासनके पहले अन्य आसनोंका अभ्यास किया जा सकता है।

शीर्षासनके अभ्यासमें यदि उष्णताकी वृद्धि होकर ताप आ जाय, तो अभ्यास बन्द करके केवल दूध और घीका सेवन करे, और कुछ न खाय। ओषधिका सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि ज्वरकी ओषधि यकृत् और हृदयकी क्रियाको शिथिल करती है तथा रक्तसञ्चयको दूर करनेमें बाधा डालती है। इसमें शवासन लगाना या शरीरको शिथिल करके आरामकुर्सीपर पड़े रहना अधिक लाभदायक होता है। ऐसे तापके समय भोजन करनेसे वह कुपित होकर विशेष सङ्कटमय हो जाता है।

इस आसनका अभ्यास करते समय बार-बार मस्तकका ऊपर उठाना भी बहुत हानिकर होता है, क्योंकि इससे कभी मस्तिष्ककी शिराओंके फट जानेका भय रहता है। शिराओंके फटनेसे मृत्युतककी आशङ्का हो जाती है। अतः सिरमें रक्तके सञ्चित हो जानेपर ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये जो मस्तिष्ककी शिराको आघात पहुँचावे।

यदि कोई बूढ़ा जिज्ञासु भी शीर्षासनका नियमपूर्वक अभ्यास करे तो एक वर्षके बाद उसके सिरके सफेद बाल काले होने लगेंगे। शारीरिक निर्बलता दूर होने लगेगी, शरीर नीरोग और तेजस्वी हो उठेगा। जो साधक प्राणायामका अधिकारी न हो वह यदि शीर्षासनका नियमित अभ्यास करे तो वह भी सहज ही राजयोगमें प्रवेश कर सकेगा।

इस आसनसे स्वभावतः ही तीनों बन्ध लग जाते हैं, अपानतत्त्व पश्चिम मार्गसे मस्तिष्कमें गमन करने लगता है।

१२-मत्स्येन्द्रासन—बायीं जंघाके मूलमें दाहिने पैरको रखे। दाहिनी एड़ीको नाभिस्थानमें या उससे कुछ दाहिनी ओर लगावे। पैरका अग्रभाग जंघापर रखे। पीछे पीठकी ओरसे बायें हाथको लाकर एड़ीसे तीन इञ्च आगे ऊपरकी ओर पकड़े। हाथका अँगूठा जानुकी ओर रहेगा और कनिष्ठिका एड़ीकी ओर रहेगी। पीछे बायें पैरको दक्षिण जानुसे आगे बाहर निकाले। तब बायें पैरका घुटना हृदयके समीप खड़ा-सा प्रतीत होगा तथा बायें पैरके तलका अग्रभाग थोड़ा-सा दाहिने घुटनेके नीचे लगता रहेगा। मुँहको दाहिनी ओर फिरा ले और दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर रखे। इस आसनको मत्स्येन्द्रपीठ कहते हैं।

इस आसनका दूसरे प्रकारसे भी अभ्यास किया जाता है। पहले दाहिनी जंघापर बायें पैरके अग्रभागको रखे। पीछे दाहिने हाथको पीठकी ओरसे निकालकर उससे बायें पैरको ऊपरसे पकड़े। पीछे दाहिने पैरको बायें घुटनेसे बाहर निकाले और बायें हाथको दाहिने पैरके पीछेसे निकालकर दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। मुँहको बायीं ओर घुमा ले, दृष्टि भ्रूमध्यमें रखे। इसकी सारी क्रियाएँ पहली रीतिके विपरीत होती हैं।

उपर्युक्त दोनों रीतियोंसे समान समयतक अभ्यास करे। केवल एक ही रीतिसे अभ्यास करना हानिकर होता है। पश्चिमतान, मयूरासन आदि आसनोंसे नाडीसमूहको मुलायम बनानेके बाद इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। इसका अभ्यास बहुत कठिन है, परन्तु फल भी बहुत ही दिव्य होता है। प्रातः-सायं एक-एक घण्टेतक नित्य अभ्यास करनेसे एक ही वर्षमें नाडियोंके सम्पूर्ण मलदोष और त्रिधातुजनित सारे रोग जलकर भस्म हो जाते हैं। और दसवें समुद्रनादके खुल जानेसे मनोवृत्ति एकाग्र हो जाती है। इस आसनके अभ्याससे बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो उठती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है; अन्त्र, पार्श्वभाग और मूत्राशयका सङ्कोच होता है और ज्ञानतन्तु अधिकाधिक बलवान् होने लगते हैं। इससे अतिसार, ग्रहणी, मलावरोध, रक्तविकार, कृमि, श्वास, कास, वातरोग, मेदवृद्धि, अन्त्रवृद्धि तथा रस-रक्तादि सप्त धातुओंकी विक्रिया दूर होकर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है।

१३-शवासन—भूमिपर शवके समान चित् लेट रहना। दोनों पैरोंके अग्रभागको मिलाकर ऊपर रखना, पैरकी अँगुलियोंको ऊपर सीधा रखना और हाथोंको सीधा पैरोंकी ओर बढ़ाकर छोड़ देना तथा सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको शिथिल कर देना शवासन कहलाता है।

आसन अथवा प्राणायामके पश्चात् नाडियोंके क्षोभको शमन करके शान्त करनेके लिये इस आसनका उपयोग होता है। साधकको प्रतिदिन अभ्यासके पश्चात् शवासनके द्वारा आधा घण्टा विश्राम करना चाहिये। शवासनमें नसें सीधी रहती हैं और रक्ताभिसरणक्रिया प्रकृतिके अनुकूल होने लगती है। प्राणतत्त्व मस्तिष्ककी ओर गति करने लगता है, जिससे मन शान्त हो जाता है।

इस प्रकार संक्षेपमें मुख्य-मुख्य आसनोंकी क्रियाएँ वर्णन की गयीं और उनके लाभ दिखलाये गये। आसनोंसे अनेकों लाभ होते हैं, परन्तु अनुभवी सद्गुरुके द्वारा ही अभ्यास करनेसे निर्विघ्नतापूर्वक साधक उन्नति-पथपर अग्रसर हो सकता है। पुस्तक-पठनसे भी कुछ लाभ हो सकता है। अतएव हमारे इस लेखसे यदि किसी साधकको कुछ लाभ पहुँचा तो हमारा यह प्रयत्न सफल हो जायगा।

चित्तकी दशाएँ

(लेखक—विद्यामार्तण्ड पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री)

संसारदशा, जाग्रत्-अवस्था

(चित्रसंख्या १ देखिये)

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। जब मनुष्य योगदर्शनके नियमोंके अनुसार ऐसी साधना कर लेता है कि जिससे चित्त पुरुषके इच्छानुसार किसी स्थानमें रोकनेसे वहींपर स्थिर रह जाय, बलात्से विषयान्तरका धावन न करे, उस साधनाका नाम योग है। अतएव योगकी पूर्व अवस्था जाननेके लिये यह संसार-अवस्थाका प्रथम चित्र है।

इस चित्रमें जो दशा चित्तकी दिखायी गयी है, वह सर्वसाधारण मनुष्यके चित्तकी है। यह मनुष्यकी जाग्रत्-अवस्था है। हृदयदेशमें जो सूर्यके आकारके समान आकार देख रहे हो, वह चित्त है। जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें एक साथ ही सम्पूर्ण संसारको स्पर्श कर लेती हैं और सब प्राणी दिनका अनुभव कर लेते हैं, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तियाँ शरीरके सब अङ्गोंपर व्याप्ति कर लेती हैं, शरीर जाग्रत्-अवस्थामें आ जाता है। एवं शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—नेत्र देखने लगता है, कान सुनने लगता है, रसन रसका अनुभव करने लगता है, इत्यादि। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी हस्त-पाद आदि अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो जाती हैं। यह चित्तकी जाग्रत्-अवस्था है। इसके द्वारा जीवात्मा संसारकी सब स्थूल वस्तुओंका अनुभव कर रहा है। यह एक मनुष्यका आकार है। वह एक राजाका चित्र है, उसके आस-पास उसका परिवार दिखाया गया है और उसके अतिरिक्त उसकी सब सम्पत्तियाँ तथा अन्य-अन्य संसारकी वस्तुएँ हैं जिनका अनुभव एवं उपयोग वह कर रहा है। इसी प्रकार मनुष्यको अपनी जाग्रत्-अवस्थाका अनुभव करना चाहिये। यह चित्तकी बाह्य वृत्ति है।

वासनामय जगत्—स्वप्नावस्था

(चित्रसंख्या २ देखिये)

यह चित्तकी दूसरी अवस्था है। दिनकी अवधि पूरी होनेपर आयी। सूर्यनारायण अस्ताचलपर जा रहे हैं। उनकी वे सब किरणें संसारव्यापिनी अब संसारको छोड़कर सूर्यके बिम्बमें लय होने लग रही हैं, जिस सूर्यके सामने दिनमें देखा नहीं जा सकता था, अब उसीको मनुष्य आँख फाड़-फाड़कर देख रहे हैं। एक साधारण गोल अङ्गार पिण्डके समान भगवान् सूर्यदेव दिखायी दे रहे हैं, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाकी अवधि पूरी हो गयी है। दिनके विविध कार्योंके अनुष्ठानकी थकावट और आहारकी मादकताने इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको खींचना आरम्भ कर दिया है और सब अङ्ग शिथिल होते जा रहे हैं, मानो जाग्रत्-अवस्थाका संसार निद्राके अन्धकारमें लीन होता जा रहा है, नेत्र आदि सब इन्द्रियोंके द्वारोंपर निद्राके परदे पड़ते जा रहे हैं, होते-होते सब जाग्रत् संसार लुप्त हो गया

और पुरुष-शरीर काष्ठवत् अवस्थित हुआ शय्यापर पड़ा हुआ है।

वर्तमान फोटो यन्त्रके काँचके समान पुरुषकी सब इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थामें अपने-अपने विषयोंकी छायाको लेकर अन्तःकरणके पटलमें छाप देती हैं। अब वह सब अनुभूत विषयोंकी छाया अन्तःकरणमें है। वे विषय जो जाग्रत्-अवस्थामें जहाँ थे, वहीं रह गये हैं, केवल उनकी छायामात्र अन्तःकरणदेशमें है। इसी छायाको वासना कहते हैं। इस वासनासे स्वप्नावस्थामें जिन विषयोंका प्राणी अनुभव कर रहा है, यह उसका वासनामय जगत् है। उस अवस्थामें भी वह जाग्रत्के समान संसारके सुख-दुःखोंका अनुभव कर रहा है। देखिये चित्रमें—अन्तःकरणके देशमें बाह्य वस्तुओंके सब आकार दिखायी दे रहे हैं। यह चित्तकी वासनामयी अन्तर्वृत्ति है। जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें नाना व्यवसायोंमें चित्त व्यापृत रहता है उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी विविध व्यापारोंमें ग्रस्त रहता है। किसी प्रकार भी विश्राम नहीं है। ये दोनों ही जीवके कर्मानुसार भोगके कारण हैं।

जगत्का अभाव—सुषुप्ति-अवस्था

(चित्रसंख्या ३ देखिये)

यह चित्रकी तीसरी अवस्था है। जब मनुष्यके आहार-विहारके अतिशयसे निद्रामें ही गाढ़ता आ जाती है, उस समय वह सुषुप्ति कहलाती है। इसमें जो जाग्रत्-अवस्थाके अनुभवोंसे स्वप्नावस्थामें वासनाएँ थीं, वे भी सब निद्राकी गाढ़ताके कारण विलुप्त हो गयी हैं। जैसे गाढ़ अँधियारी रात्रिमें सब जगत् अन्धकारमें विलुप्त प्रायः हो जाता है, उसी प्रकार इस सुषुप्ति-अवस्थामें भी सब वासनाओंका अविद्यामें लय हो जाता है। देखिये चित्रके अन्तःकरणदेशको कोई आकार नहीं दिखाता है। यह अन्तःकरणकी वह अवस्था है, जिसमें स्थूल या सूक्ष्म कोई-सा भी भोग नहीं है। केवल आत्माका सुखस्वरूप ही शेष रह जाता है। यह संसारकी ही तीसरी अवस्था होनेपर भी आत्मावबोधकी सुखावस्थाका नमूना है किन्तु अस्थायी है और तमोभिभूत है। जब मनुष्यकी योगसिद्धि हो जाती है और समाधिसे चित्त एकाग्र हो जाता है उस समय वह आत्मस्वरूपके सुखका ही अनुभव करता है, संसारके सुख-दुःखोंसे वह अतीत हो जाता है।

ज्ञानयोग—तुरीय-अवस्था

(चित्रसंख्या ४ देखिये)

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञानविज्ञानात्॥

(सां० का० २)

ज्ञानयोग

इस चित्रमें जो गोलाकार समुद्रका स्वरूप देख रहे हो वह ब्रह्मतत्त्व है, उसमें पन्द्रह योगी अपनी-अपनी योगसिद्धिके अनुसार खड़े हैं। प्रथमसे लेकर १५ वेंतक उनकी दशासे योगारम्भ और योगकी परा सिद्धि दिखायी देती है। जो उनके पृथक्-पृथक् नाम हैं, वे उनकी योगकी दशाके सूचक हैं। जैसे-जैसे योगसाधनाका वेग बढ़ता जाता है, आत्मतत्त्वमें वैसे-ही-वैसे उनका अधिकाधिक प्रवेश होता जा रहा है। इनमें बड़ी-बड़ी तीन कक्षाएँ हैं और उनमें प्रत्येकमें पाँच-पाँच अन्तर्गत कक्षाएँ हैं। १४ वीं कक्षामें सम्प्रज्ञात-समाधि हो जाती है। इस कक्षामें योगीको प्रकृति और पुरुषकी पृथक्-पृथक् प्रतीति हो जाती है और १५ वीं कक्षामें केवल आत्मस्वरूपमें लीन हो जाता है। उसको दूसरी वस्तु दिखायी नहीं देती और न उसको कोई सुख या दुःख प्रतीत होता है। ये योगी केवल प्रकृति और पुरुषकी विवेकख्यातिका ही यत्न करते हैं। उनका कोई देवता या ईश्वर उपास्य नहीं होता। केवल अपने आत्मविवेकका आश्रय रखते हैं। इसी कारण इनका मार्ग स्वावलम्बनमात्र होनेसे कठिन और विलम्बित फल भी होता है। इनकी दशा उस चींटीके समान है, जो किसी चिकनी दीवारपर बार-बार चढ़ती और गिरती है। इनके योगमें अनेक बार पतन होता है और अनेक बार उत्थान होता है।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।

(श्रीमद्भा० स्कं० १०, गर्भस्तुति)

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

(गीता)

किसी जन्ममें इनकी सिद्धि होती है।

भक्तियोग

(चित्रसंख्या ५ देखिये)

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योगसूत्र)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता)

यह चित्र जो आप देख रहे हैं, इसमें भक्तियोगकी साधनाका दृश्य है। यह योगी ईश्वराधीन, ईश्वर-परायण और ईश्वरसर्वस्व है, सारा भरोसा ईश्वरपर रखता है। इसको अपने पतन और उत्थानकी कोई चिन्ता नहीं है। इसकी सम्हाल स्वयं भगवान् अपनी उपर्युक्त प्रतिज्ञाके अनुसार करते हैं। इस मार्गमें साधकको अपनी रक्षाकी कोई चिन्ता नहीं है, योगदर्शनके सिद्धान्तमें पूर्व चित्रमें परिदर्शित ज्ञानयोगसे यह भक्तियोग श्रेष्ठ है।
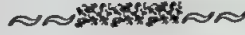
गीताका कर्मयोग

(लेखक—श्रीयुत बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

कर्मयोगका विवेचन प्रधानतया दो ही प्रश्नोंके उत्तरमें परिसमाप्त हो जाता है—(१) किस प्रकारका कर्म करना चहिये, और (२) उसे करनेकी यथार्थ विधि क्या है? प्रस्तुत निबन्धमें हमें यही विचार करना है कि श्रीमद्भगवद्गीता इन प्रश्नोंका उत्तर क्या देती है।

पहले प्रश्नके उत्तरमें भगवद्गीता कहती है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

'इसलिये कौन-सा कर्म करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय करनेके लिये तुम्हारे पास शास्त्र ही प्रमाण है। इस विषयमें शास्त्रकी आज्ञा जानकर तुम्हें उसीके अनुसार कर्म करने चाहिये।'

हमलोग इस जन्मसे पहले असंख्य बार इस संसारमें जन्म ले चुके हैं। उन प्राक्तन जन्मोंमें हमें कभी मनुष्ययोनि, कभी तिर्यग्योनि और कभी कीट-पतङ्ग आदिकी योनि प्राप्त हुई होगी। उन-उन जन्मोंमें हम जो कुछ कर्म कर आये हैं उन्हींके संस्कार इस जन्ममें वासनारूपसे हमारे चित्तमें मौजूद हैं और बहुधा हमें अनुचित कर्म करनेको प्रेरित करते हैं। अध्यात्ममार्गमें आगे बढ़नेके लिये यह आवश्यक है कि हम सारी इच्छाओं और आसक्तियोंसे सर्वथा मुक्त हो जायँ। इच्छा और आसक्तिसे मुक्त होनेका एकमात्र उपाय है शास्त्रविहित कर्म करना। क्योंकि शास्त्रोक्त विधिनिषेधका पालन करनेके लिये मनको काबूमें रखने और उन अनेक कर्मोंसे बचनेकी आवश्यकता है जिनकी तरफ हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। ऐसा करनेसे हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका हमारे चरित्रपर जो प्रभाव पड़ता है वह कमजोर पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा हमारी इच्छाएँ और आसक्तियाँ भी कमजोर हो जाती हैं। इस प्रकार हमने अपने प्राक्तन जन्मोंमें जो निषिद्ध आचरण किये हैं उनके प्रभावसे हम मुक्त हो सकते हैं। इस विषयपर ईशोपनिषद्का वाक्य है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयः सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

'जो मनुष्य विद्या और अविद्या दोनोंको जानता है वह अविद्याके द्वारा मृत्युको लाँघकर विद्याकी सहायतासे शाश्वत आनन्दको प्राप्त कर सकता है।'

'विद्या' का अर्थ है ज्ञान, और 'अविद्या' शब्द यहाँ कर्मका वाचक है। ब्रह्मविद्याका उपदेश ग्रहण करनेके साथ-ही-साथ शास्त्रोक्त कर्म करते रहना भी आवश्यक है। ऊपरके मन्त्रमें यही कहा गया है कि कर्मके द्वारा मनुष्य मृत्युसंसारसागरके पार जा सकता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रोक्त कर्म करनेसे मनुष्य उन अनुचित एवं अन्याय्य प्रवृत्तियोंसे छूट सकता है जो जन्मसे ही उसके साथ हैं और जिनके कारण हमें बार-बार जन्मना और मरना पड़ता है। इस प्रकार अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ही ब्रह्मविद्याकी यथार्थ प्राप्ति होकर हमें ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है—(उपर्युक्त व्याख्या श्रीमद्रामानुजाचार्यकी है। श्रीशङ्कर भगवत्पादने इस मन्त्रकी दूसरे ढंगसे व्याख्या की है)।

वर्तमान जीवनमें हम जो कुछ पुण्य-पाप करते हैं।

उनमेंसे अधिकांशका अच्छा-बुरा फल हमें स्वर्ग अथवा नरकके रूपमें प्राप्त होता है। परन्तु स्वर्ग अथवा नरकमें नियत कालतक रह लेनेके पश्चात् भी हमारे प्राक्तन कर्मोंका थोड़ा-सा अंश शेष रह जाता है जिसका फलभोग हम आगे चलकर करते हैं। यह शेष कर्म ही हमारे इस लोकमें जन्मका हेतु होता है और उसीके अनुसार हम अच्छी-बुरी परिस्थितिमें जन्म लेते हैं। छान्दोग्य उपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रमें यही बात कही गयी है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥

(५।१०।७)

'जिनके अच्छे आचरण होते हैं वे अच्छी योनिमें अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्ययोनिमें जन्म लेते हैं और जिनके मन्द आचरण होते हैं वे कुत्ते, सूअर, चाण्डाल आदि नीच योनियोंमें उत्पन्न होते हैं।'

जिनका ब्राह्मणके घरमें जन्म हुआ है उन्होंने पूर्वजन्ममें एक प्रकारके कर्म किये थे, और जिन्होंने क्षत्रियकुलमें जन्म लिया है उन्होंने दूसरे प्रकारके कर्म किये थे। इसीलिये शास्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्मोंका विधान किया गया है। यही वर्णाश्रम-धर्मका मूल सिद्धान्त है। ब्राह्मणोचित कर्म करनेवाला ब्राह्मण पुण्यका भागी होता है। परन्तु वही कर्म यदि क्षत्रिय करे और क्षत्रियोचित कर्म न करे तो उसे पाप लगता है। इसीलिये जब अर्जुनने कहा—'मैं इस युद्धमें अपने आत्मीयोंको मारनेकी अपेक्षा भिक्षाटन करके जीवन-निर्वाह करना उत्तम समझता हूँ,' तो भगवान्ने उससे कहा, 'भाई! धर्मयुद्धमें अपने स्वजन-बान्धवोंको मारनेपर भी तुम्हें पुण्य ही होगा, क्योंकि तुम क्षत्रिय हो और शास्त्रके अनुसार धर्मयुद्धमें भाग लेना क्षत्रियका धर्म है। भिक्षावृत्तिको शास्त्रोंने ब्राह्मणका कर्म बतलाया है और भिक्षावृत्ति करनेवाला ब्राह्मण पुण्यका भागी होता है। परन्तु यदि कोई क्षत्रिय युद्धक्षेत्रसे भागकर भिक्षाचर्या करने लगे तो वह पापका भागी होगा।'

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

'हे अर्जुन, तुम्हें अपने सहज कर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये, चाहे उस कर्ममें कितने ही दोष क्यों न हों।' अर्थात् 'तुम्हारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है, अतः हिंसारूप दोषसे युक्त होनेपर भी तुम्हें युद्धसे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये।'

भिन्न-भिन्न परिस्थितिमें जो-जो कर्म करने चाहिये उन सबका सविस्तर उल्लेख गीतामें नहीं है। इसका कारण यह है कि गीता कोई स्मृतिग्रन्थ नहीं। स्मृतिग्रन्थोंमें इसका सविस्तर वर्णन मिलता है कि अमुक व्यक्तिको अमुक परिस्थितिमें क्या करना चाहिये। गीताने तो केवल कर्तव्य निश्चित करनेका गुर बता दिया है, वह यह है कि मनुष्य वही कर्म करे जो उसके लिये शास्त्रमें विहिप है। चारों वर्णोंके कर्तव्य क्या हैं यह भी गीताने अलग-अलग संक्षेपमें बता दिया है। यहाँ यह बात बतला देनेकी है कि गीता जन्मसे जातिको मानती है। यदि ऐसी बात न होती तो श्रीकृष्ण अर्जुनको यह कभी नहीं कहते कि 'तुम क्षत्रिय हो, अतः युद्ध करना तुम्हारा 'स्वधर्म' है। यदि तुम युद्धक्षेत्रसे भागकर भैक्ष्यचर्या करने लगोगे तो पापके भागी होओगे।' यदि हम जन्मसे जाति नहीं मानते तो फिर जो कोई भी युद्ध करेगा वही क्षत्रिय कहलायेगा और जो पूजा-अर्चा, यज्ञ-यागादि करेगा और भिक्षावृत्तिसे अपना और अपने कुटुम्बका पालन-पोषण करेगा वही ब्राह्मण कहलायेगा; ऐसी परिस्थितिमें स्वधर्मत्यागका कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा, क्योंकि जो काम वह करना चाहेगा वही उसका स्वधर्म होगा। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

अर्थात् गुण और कर्मके विभागके अनुसार मैंने चारों वर्णोंकी सृष्टि की।

कुछ लोग इस श्लोकार्द्धसे यह आशय निकालते हैं कि वर्तमान जन्मके गुण और कर्मके अनुसार ही किसी मनुष्यकी जाति मानी जानी चाहिये। परन्तु यह अर्थ विचारकी कसौटीपर नहीं ठहरता। क्योंकि यदि प्राक्तन कर्मके अनुसार जाति नहीं मानी जाय तो यह कहना नहीं बन सकता कि चातुर्वर्ण्यके लिये शास्त्रमें बताये हुए कर्मोंको करनेसे मनुष्य पुण्य अथवा पापका भागी होता है। और न यही कहा जा सकता है कि 'अपने सहज (जन्मके साथ लगे हुए) कर्मको मत छोड़ो, ऐसा करनेसे तुम्हें पाप लगेगा।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि ऊपरके श्लोकार्द्धमें 'गुण' और

'कर्म' शब्दसे प्राक्तन गुण और प्राक्तन कर्मका ही ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर हमारे प्राक्तन जन्मके गुण और कर्मके अनुसार ही यह निश्चय करते हैं कि हमारा जन्म किस योनिमें हो। जन्म यदृच्छासे नहीं होता। उपर्युक्त श्लोकार्द्धकी इसी ढंगसे व्याख्या करनेसे गीताके मूल सिद्धान्तके साथ तथा उपनिषद्के उपर्युक्त वाक्यके साथ इसकी संगति बैठ सकती है।

भगवान् हमें शास्त्रविधानोक्त कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं। परन्तु शास्त्रोंमें किन-किन ग्रन्थोंकी गणना है? इसका उत्तर यह है कि वेद, पुराण, स्मृति और इतिहास (रामायण और महाभारत) ही शास्त्रपदवाच्य हैं। वेद हिन्दू-धर्मके मूल स्रोत हैं। परन्तु वेदकी अनेक शाखाएँ अब लुप्त हो गयी हैं। इन लुप्त शाखाओंका तात्पर्य पुराणों, स्मृतियों और इतिहासोंसे जाना जा सकता है, जो वेदवेत्ता ऋषियोंद्वारा प्रणीत हैं और वेदका ही अनुसरण करते हैं। बिना अतीन्द्रिय ज्ञानके यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक जातिमें जन्म पूर्वजन्मके कौन-से कर्मका फल है। और न यही कहा जा सकता है कि इस जीवनमें किस प्रकारका कर्म करनेसे पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके दुष्परिणामसे हम बच सकते हैं। यदि कोई शास्त्रोक्त कर्म हमें अनुचित मालूम होता हो अथवा यदि कोई शास्त्रवर्जित कर्म हमें अच्छा मालूम होता हो तो हमें ऐसा मानना चाहिये कि हमारा यह विचार भ्रममूलक है और हमारी दोषयुक्त बुद्धिका परिणाम है। हमारा मन राग-द्वेषसे भरा है। इसीलिये अच्छी बातें हमें कभी-कभी बुरी मालूम होती हैं और बुरी बातें हमें अच्छी मालूम होने लगती हैं। सत्में असद्बुद्धि और असत्में सद्बुद्धि इसीको कहते हैं। ईश्वरकी आज्ञा कभी अनुचित नहीं हो सकती। जिन ऋषियोंने शास्त्रोंमें ईश्वरीय आदेशोंको संग्रथित किया वे रागद्वेषसे सर्वथा मुक्त थे और उनसे उन आज्ञाओंके समझनेमें भूल नहीं हो सकती थी।

अबतक हमने इस बातको समझनेका यत्न किया कि कर्तव्य कर्मके सम्बन्धमें गीताका क्या आदेश है। उन कर्मोंको करनेकी विधिके सम्बन्धमें भी गीताके उपदेश बहुमूल्य ही नहीं, अपितु संसारके धार्मिक साहित्यमें अनूठे एवं अद्वितीय हैं। पहली बात तो इस सम्बन्धमें यह कही गयी है कि कर्तव्य कर्म भी हमें उन कर्मोंमें आसक्ति छोड़कर करने चाहिये। अर्थात् हमें अपने कर्तव्यका पालन इसीलिये करना चाहिये कि वह हमारा कर्तव्य है, न कि इसलिये कि हमें वह प्रिय है[1]। कर्ममें आसक्ति भी हानिकारक हो सकती है, क्योंकि यदि कोई हमारे उस कर्तव्यपालनमें बाधा पहुँचावेगा तो हम उससे रुष्ट हो जायँगे। दूसरी बात यह है कि हमें फलकी कामनाको अवश्य त्याग देना चाहिये।[2] अपने कर्तव्यका पालन इसीलिये करो कि वह तुम्हारा कर्तव्य है। कर्मका फल ईश्वरके हाथमें है। यदि ईश्वर चाहेंगे तो तुम्हारा उद्योग सफल हो जायगा, अन्यथा तुम्हारी सारी चेष्टाएँ विफल हो जायँगी। परन्तु तुम्हें सफलता मिले या न मिले, तुम्हारे मनमें कभी क्षोभ नहीं होना चाहिये। कर्मयोगी अन्त:करणकी शुद्धिके उद्देश्यसे ही कर्म करता है। यदि शास्त्रोक्त कर्म ठीक तरहसे किये जायँ तो मन कामनाशून्य हो जायगा, संसारासक्ति नष्ट हो जायगी। और ईश्वरके अतिरिक्त कोई दूसरी कामनाकी वस्तु ही नहीं रह जायगी। दूसरोंके हितकी चेष्टा करते समय भी हमें यह सोचना चाहिये कि 'मेरी शक्ति तो सीमित है, मेरी बुद्धि कमजोर है, दूसरोंका दु:ख दूर करनेकी मुझमें सामर्थ्य ही कहाँ है? दूसरोंके कष्टको यथार्थ रीतिसे निवारण करना भी मैं क्या जानूँ? परन्तु भगवान्की शक्ति असीम है। उनकी दयाका कोई थाह नहीं है। मुझे अभिमान एवं मूर्खतावश यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि जिस दु:खको भगवान् दूर नहीं कर सकते उसको मैं दूर कर दूँगा। मेरी समझसे जिस कामके करनेसे किसी दूसरेका कष्ट दूर हो सकता है उसे करनेकी मैं इसीलिये चेष्टा करता हूँ कि मेरे लिये भगवान्की यही आज्ञा है। यदि मैं इस प्रकारकी चेष्टा करूँगा तो मेरी इच्छाएँ कम हो जायँगी और

१. तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर।
(इसलिये तुम्हें सदा कर्तव्य कर्म करना चाहिये, किन्तु आसक्तिरहित होकर।)

२. युक्त: कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
(योगी कर्मफलका त्यागकर शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है।)

मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा।' गीता यह भी कहती है कि कर्म करते हुए हमें आत्माके सच्चे स्वरूपको अर्थात् इस बातको कि वह हमारे शरीर, मन और इन्द्रियोंसे भिन्न है कदापि नहीं भूलना चाहिये। सारे कर्म शरीर, मन और इन्द्रियोंके द्वारा होते हैं। परन्तु अज्ञानी लोग यह समझते हैं कि आत्मा ही सब कुछ करता है। इस अज्ञानका कारण अहङ्कार है।[1] बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह इस अहङ्कारका त्याग करे। यद्यपि कर्ममें किसी प्रकारकी आसक्ति नहीं होनी चाहिये, न फलकी ही इच्छा होनी चाहिये और न कर्तापनका अभिमान होना चाहिये, तथापि कर्मकी सिद्धिके लिये जैसा उत्साह और जितनी चेष्टा आवश्यक है उसमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होनी चाहिये, क्योंकि आदर्श कर्मयोगीको धृति और उत्साहका पुतला होना चाहिये।[2] इसीलिये वह बहुधा दूसरोंकी अपेक्षा अपने कार्यमें अधिक सफल होता है। साधारणतया जो मनुष्य अधिक उत्साही होता है उसकी कर्ममें आसक्ति तथा कर्मफलमें स्पृहा भी देखी जाती है। परन्तु आसक्ति और कामना उसके कार्यकी सिद्धिमें सहायक होनेके बदले उलटी बाधक होती हैं। कर्मयोगी अपनी चेष्टामें किसी प्रकारकी न्यूनता न आने देकर भी सब प्रकारकी आसक्ति और कामनाका त्याग कर देता है। परन्तु जो कुछ वह छोड़ता है उससे उसके कृतकार्य होनेकी सम्भावना बढ़ जाती है।

जो लोग कर्ममात्रको स्वरूपसे छोड़नेके पक्षमें हैं उनका यह कहना है कि प्रत्येक कर्म बन्धनका कारण है, क्योंकि प्रत्येक कर्मका फल हमें भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये वे कर्ममात्रको छोड़नेके पक्षपाती हैं। परन्तु गीता कहती है कि कर्मका सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वथा निश्चेष्ट हो जानेसे जीना भी असम्भव है।[3] इसके अतिरिक्त कर्मके त्यागमात्रसे कोई कर्मफलसे मुक्त नहीं हो सकता। यदि कोई भोजन करना छोड़ दे, परन्तु उसका मन भोजनके चिन्तनमें लगा रहे तो यह चिन्तन ही एक कर्म हो जायगा जिसका फल उसे अवश्य मिलेगा। हमें कर्मका फल क्यों भोगना पड़ता है इसका गूढ़ रहस्य गीता बतलाती है। कर्मके फलभोगमें कारण है हमारी कर्ममें आसक्ति, फलकी कामना और यह भ्रममूलक बुद्धि कि अमुक कर्म हम करते हैं। यदि हम इन तीनों बातोंको छोड़ दें तो हमें कर्मका फल नहीं भोगना पड़ेगा। शास्त्रोक्त कर्म इस पद्धतिसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और इस प्रकारसे किये हुए कर्मोंका फल हमें नहीं भोगना पड़ता। बल्कि इस प्रकारके कर्म हमें पिछले कर्मोंके बन्धनसे भी मुक्त कर देते हैं।

इस प्रकार हमें यह मालूम हो जाता है कि इस लेखके प्रारम्भमें दिये हुए दोनों प्रश्नोंके उत्तरमें गीता क्या कहती है।

कौन-से कर्म करने चाहिये, इसका उत्तर तो गीता यह देती है कि हमें शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये। दूसरा प्रश्न था—कर्म करनेकी यथार्थ विधि क्या है? इसका उत्तर गीता इस प्रकार देती है—'आसक्ति और फलकी इच्छाको त्यागकर कर्म करो। कर्म करते हुए इस बातको याद रखो कि शरीर अथवा इन्द्रियोंसे ही सारे कर्म होते हैं, आत्मा अक्रिय है। किन्तु ऐसा होनेपर भी कर्म करनेमें धृति और उत्साह पूरा होना चाहिये।'

---
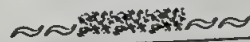
१. अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।
(जो मनुष्य अहङ्कारसे अन्धा हो गया है वही अपनेको कर्ता मानता है।)
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
(तत्त्ववेत्ता योगी यह मानता है कि मैं कुछ नहीं करता।)

२. मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
(सात्त्विक कर्ता वह है जो आसक्तिरहित है, अहंकारसे शून्य है, धैर्य और उत्साहसे पूर्ण है और सिद्धि अथवा असिद्धिमें सम है।)

३. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।
(सर्वथा कर्महीन हो जानेसे तुम जी भी नहीं सकते।)

मेस्मेरिज़्म और हिपनॉटिज़्म

(लेखक—डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर)

मेस्मेरिज़्मका इतिहास

मेस्मेरिज़्मके तत्त्वज्ञानसे हमारे भारतीय ऋषि-महर्षि अपरिचित नहीं थे। पातञ्जलयोगदर्शनके प्रथम सूत्रमें ही यह बतलाया गया है— **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**। चित्तवृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। मनका स्थिर करना ही इस शक्तिका मूल है। मेस्मेरिज़्म और हिपनॉटिज़्म मनकी एकाग्रताहीके सब खेल हैं और एकाग्रतासे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मेस्मेरिज़्म विद्याको दो भागोंमें विभक्त किया गया है—एक Curative Mesmerism अर्थात् रोगनिवारण और दूसरा Phenomenal Mesmerism अर्थात् दिव्य ज्ञान। दोनोंका एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे यहाँ मान्त्रिक चिकित्सक विभूति, चरणामृत, आशीर्वाद देकर और झाड़-फूँककर मेस्मेरिक शक्तिका उपयोग करते आये हैं और अब भी करते हैं। अथर्ववेद मानसोपचारके मन्त्रोंसे भरा पड़ा है।

मनुष्यकी जिस शक्तिसे मेस्मेरिक क्रिया उत्पन्न की जाती है उसे अंग्रेजीमें Will-power अर्थात् 'इच्छाशक्ति' कहते हैं। वेदमें मनकी अपूर्व शक्तिका वर्णन है। मनः- संयम करनेका अभ्यास करना या एकाग्रताका अभ्यास करना ही मनोयोग है।

आधुनिक मेस्मेरिज़्म और हिपनॉटिज़्म

आधुनिक मेस्मेरिज़्मका प्रचार हुए करीब १५० वर्ष हुए हैं। सन् १७३४ में मेस्मर नामका व्यक्ति ऑस्ट्रियाके वीएना (Vienna) नगरमें पैदा हुआ था। डाक्टरी विद्या पढ़कर वह चिकित्साशास्त्रमें बड़ा निपुण हो गया था। उसका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली और आकर्षक था। एक बार एक पादरीको लौह चुम्बकको स्पर्श करके रोग दूर करते हुए देखनेका अवसर मेस्मरको प्राप्त हुआ। बहुत-से रोगियोंपर चुम्बकका आश्चर्यजनक प्रभाव देखकर वह भी रोगोंको चुम्बकसे दूर करने लगा। एक दिन अकस्मात् एक रोगीके अङ्गसे खून बहने लगा। इसके पास उस समय चुम्बक न था। उसने हाथ फेरकर खून बन्द कर दिया। उसी दिनसे उसे विश्वास हुआ कि रोगनिवारक सामर्थ्य हाथोंमें है। उसने यह सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला कि मनुष्यके हाथकी अँगुलियोंके अग्रभागसे विद्युत्प्रवाह—अदृश्य शक्ति निकलती है जो रोगीके शरीरमें प्रविष्ट होकर रोग निवारण करती है। इसका नाम उसने Animal Magnetism (विद्युत्प्रवाह) रखा। यूरोपमें प्रथम ही मेस्मरने इस विद्याका प्रचार किया था, अतएव उसके नामपर ही इस विद्याका नाम मेस्मेरिज़्म प्रचलित हुआ।

सन् १७८० में मेस्मर फ्रांसके पेरिस नगरमें चला आया और यहाँ बड़े धूमधामसे उसकी चिकित्साका प्रचार हुआ। बड़े-बड़े लोग मेस्मरके शिष्य हो गये। अन्धे, लँगड़े, लूले, पक्षाघात (लकवे)-के असाध्य रोगी मेस्मरकी चिकित्सासे निरोगी हो गये। राजघरानोंमें उसकी चिकित्साकी धाक जम गयी और सर्वत्र यूरोपमें उसकी प्रसिद्धि हो गयी। मेस्मरके उत्कर्षको वहाँके नामी डाक्टर सहन न कर सके और उन्होंने ईर्ष्यासे उसके विरुद्ध आन्दोलन किया कि मेस्मर ढोंगी है। फ्रेञ्च सरकारने सन् १७८४ में इसका निर्णय करनेके लिये कमीशन नियुक्त किया। कमीशनमें अधिकांश लोग जडवादी थे। इस कारण उस कमीशनने इस विद्याको मिथ्या बताया। ई० सन् १८२६ में पुनः कमीशन नियुक्त हुआ, उसमें कुछ सत्यशोधक मेम्बर थे। इस कमीशनने मेस्मरके सिद्धान्तकी पुष्टि की और अदृश्य शक्तिको स्वीकार किया। परन्तु मेस्मरके अन्तिम दिन बड़ी दुर्दशामें व्यतीत हुए, यहाँतक कि उसे देशनिकाला दिया गया।

मेस्मरकी मृत्युके बाद जर्मनी और फ्रांसमें इस विद्याका खूब प्रचार होता रहा और अमेरिकामें तो प्रजासत्तात्मक राज्य होनेसे इसका और भी अधिक प्रचार हुआ।

ई० सन् १८३८ में लन्दन यूनिवरसिटी कालेजके डाक्टर इलियटसन (Dr. Elliotson)-ने लन्दनमें मेस्मेरिज़्मका बहुत प्रचार किया। इलियटसन उस

समयके नामाङ्कित और बुद्धिमान् डाक्टर माने जाते थे। इन्होंने ही विलायतमें सर्वप्रथम स्टेथोस्कोप (Stethocope)-का प्रचार किया था। डाक्टर इलियटसनने मेस्मेरिज़्मसे रोगियोंको निद्रित अवस्थामें लाकर बड़े-बड़े आपरेशन किये। इनके प्रयोगोंसे रोगी इतनी प्रगाढ़ निद्रामें चले जाते थे कि रोगियोंको किञ्चिन्मात्र भी वेदना या दर्दका भान ही नहीं होता था।

उसी समय इनके प्रयोगोंका हाल पढ़कर कलकत्तेमें प्रेज़ीडेन्सी सर्जन डाक्टर एसडेलने भी मेस्मेरिज़्म चिकित्सा आरम्भ की और रोगियोंको मूर्च्छित करके वेदनाशून्य बड़े २६१ आपरेशन किये। सन् १७८० से १८५० तक मेस्मेरिज़्म शास्त्रके उत्कर्षका समय था। डाक्टर लोग इस विद्याका मज़ाक उड़ाते थे, फिर भी इस शास्त्रकी प्रगति होती रही। इस समयतक क्लोरोफार्मका आविष्कार नहीं हुआ था। क्लोरोफार्मके आविष्कार होनेसे मेस्मेरिज़्मका प्रचार कम हो गया। क्लोरोफार्मके सुँघानेसे थोड़े ही समयमें मनुष्य बेहोश हो जाता है और कुछ श्रम नहीं करना पड़ता, किन्तु मेस्मेरिज़्मसे किसी-किसी रोगीको गाढ़ निद्रामें लानेके लिये कभी-कभी दो घण्टेतक वेधक दृष्टिसे रोगीपर प्रयोग करना पड़ता था और मार्जन करने पड़ते थे।

ई० सन् १८४१ में मैनचेस्टरके प्रसिद्ध डाक्टर ब्रेडने मेस्मेरिज़्मके सिद्धान्तोंका अध्ययन किया और सिद्ध किया कि मेस्मरका अदृश्य शक्तिके प्रवाह (Animal magnetism)-का सिद्धान्त निरी कल्पना है। डाक्टर ब्रेडका अनुभव यह हुआ कि दूसरोंको प्रभावित करना या कृत्रिम निद्रामें लाना Suggestion या सूचनाशक्तिपर निर्भर है। किसी मनुष्यकी कोई चमकीली वस्तुपर निगाह जमवाकर नेत्रोंके मज्जातन्तुओंको थकान ला देनेकी क्रियासे स्वाभाविक निद्राके समान तन्द्रा उत्पन्न होती है। इस कृत्रिम निद्राका नाम हिपनॉसिस (Hypnosis) है। इसी नामके आधारपर हिपनॉटिज़्म शब्द प्रचलित हुआ। हिपनॉटिज़्मका प्रयोग करनेवालेको हिपनॉटिस्ट (Hypnotist) विधायक या प्रयोगकर्ता कहते हैं।

मेस्मेरिज़्म और हिपनॉटिज़्ममें भेद क्या है?

मेस्मेरिज़्म और हिपनॉटिज़्ममें इतना ही मात्र अन्तर है कि मेस्मेरिज़्ममें हाथ फेरकर और दृष्टि स्थिर करके निद्रा उत्पन्न की जाती है और हिपनॉटिज़्ममें सूचना देकर किसी चमकीली वस्तुपर पात्रकी दृष्टि सधाकर कृत्रिम निद्रा लायी जाती है।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थाका विवेचन

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं कि रात्रिको नींदमें ही उठकर विविध कार्य करते हैं—पत्र लिखते हैं—लेख लिखते हैं और प्रातःकाल जागृत होनेपर लेखादि तैयार देखकर आश्चर्य करते हैं कि यह कार्य किसने किया। उनको इस बातका ज्ञान नहीं रहता कि यह कार्य उन्हींका किया हुआ है। इस स्थितिको Somnambulic (स्वाप्रिक) अवस्था कहते हैं। मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थामें बहिर्मन सो जाता है और अन्तर्मन जागृत रहता है। अन्तर्मनपर कृत सूचनासे वह अत्यधिक प्रभावित होता है। अन्तर्मन ही सब कुछ करता है।

हिपनॉटिक अवस्थामें पात्रको कहा जाय कि तू कुत्ता है तो वह भोंकने लगता है और कुत्तेकी चेष्टा करता है। उसे घाँसलेट सुँघाकर कहा जाय कि यह गुलाबका इत्र है तो वह बड़े प्रेमसे सूँघता है। कागजके टुकड़े मुँहमें देकर कहा जाय कि ये मथुराके पेड़े हैं तो बड़े स्वादसे उन्हें खाने लगता है। उसे आँखें खोलनेकी आज्ञा दी जाय और सूचना दी जाय कि देखो, तुम्हारे सम्मुख समुद्र है, तुम इसमें तैर सकते हो, तो वह कपड़े उतारकर तैरने लगता है। हिपनॉटिज़्ममें आज्ञा या सूचना देकर ज्ञानेन्द्रियोंको भ्रममें डाल सकते हैं। मायिक दृश्य पात्रके सम्मुख उत्पन्न किये जा सकते हैं। इस अवस्थामें उससे कहा जाय कि तू वक्ता है तो वह व्याख्यान देने लगता है। विरोधी सूचना देकर विविध व्यसन, मानसिक रोग, दुराचार आदिको दूर कर सकते हैं।

मेस्मेरिक सुषुप्ति-अवस्था जब किसी सन्धिवातके रोगीमें उत्पन्न हो जाती है जो जागृत-अवस्थामें जरा भी हाथ-पैर नहीं हिला सकता और उसे उस अवस्थामें जोरदार सूचना दी जाय कि तुमको बिल्कुल दर्द नहीं होगा, तुम अपने पैर अच्छी तरह हिला सकते हो, तो जागृत होनेपर वह अपने पैर इसी तरह हिला सकेगा। जागृत होनेपर उसको कोई पीड़ा नहीं मालूम होगी। इसी प्रकार चित्तभ्रम, उन्मादवायु, मज्जाविकार, वातविकार, अर्द्धाङ्गवायु, हिस्टीरिया, न्यूरस्थेनिया (Neurosthenia), उन्निद्ररोग, मस्तिष्ककी निर्बलता, पेटके विकार, सन्धिवात,

१-आरोग्य तेजस्
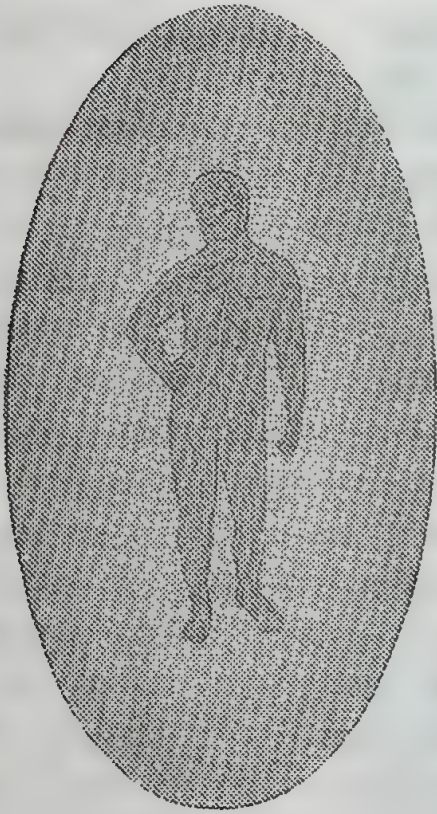
यह चित्र नीरोगी मनुष्यके सूक्ष्म शरीरका है जिसमें प्राणशक्तिका खूब सञ्चार हो रहा है और स्वस्थ तेजस् शरीरसे निकल रहा है।

२-ऑडिलिक फोर्स
(Odylic Force)
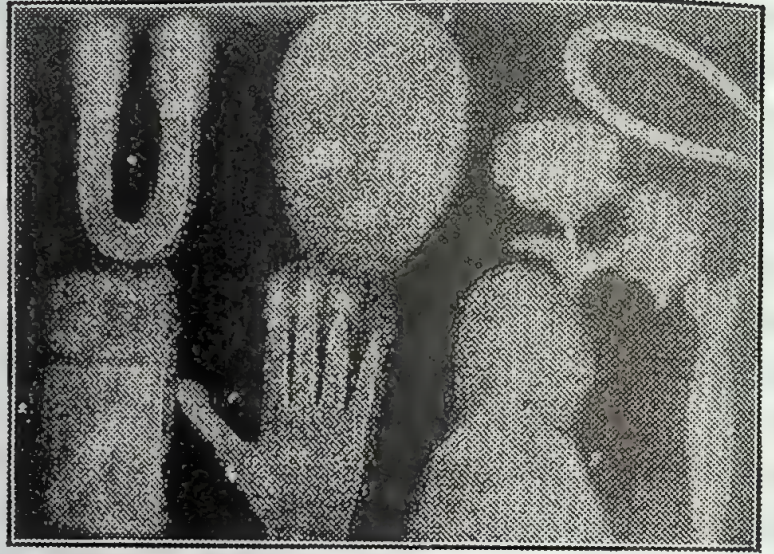
लौह चुम्बक (Magnet),क्रिस्टल (Crystal) , फूल तथा मनुष्यके हाथ और चेहरेसे जो एक विशेष प्रकारका तेज निकलता है उसका यह चित्र है।

३-इच्छा-शक्ति और सूचनाके प्रयोगसे पात्रको पीछे खींचा जा रहा है।
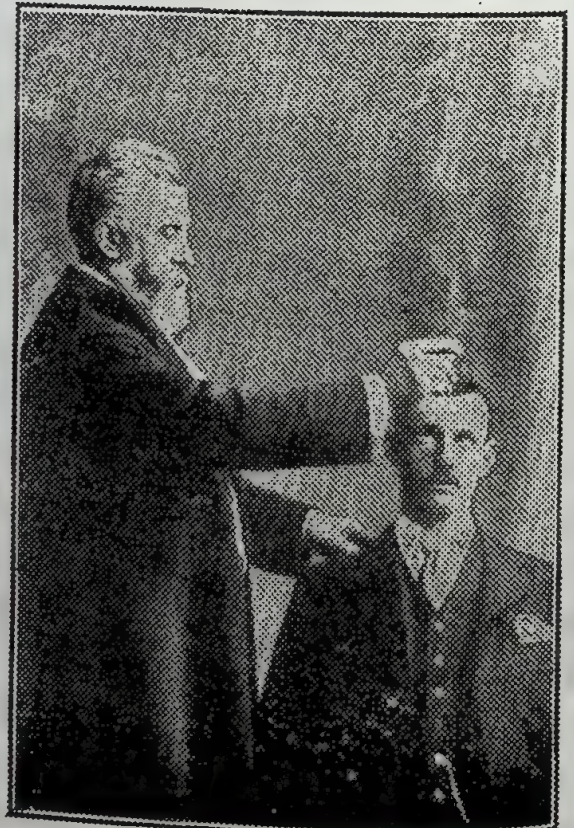
४-डाक्टर ब्रेडका हिप्नॉटिज़्मका तरीका

भिन्न-भिन्न प्रकारके दर्द, सामान्य ज्वर और सिरदर्द आदि रोग मेस्मेरिज़्मसे दूर किये जाते हैं।

मेस्मेरिज़्मकी छः अवस्थाएँ—१-तन्द्रा, २-निद्रा, ३-प्रगाढ़ सुषुप्ति, ४-अनुवृत्ति, ५-दिव्य दृष्टि और ६-प्रत्यग्दृष्टि (अन्तर्दृष्टि) हैं।

साधारण पात्र तीन अवस्थाओंसे अधिक प्रभावित नहीं होते। कोई-कोई उत्तम पात्र चौथी या पाँचवीं अवस्थामें चले जाते हैं और छठी अवस्था तो किसी विरलेमें ही उत्पन्न होती है।

मेस्मेरिज़्म और समाधि

पाँचवीं और छठी अवस्था उत्पन्न होनेपर पात्रको दूरदर्शन और दूरश्रवण होने लगता है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालका उत्तर दे सकता है; यह समाधि- अवस्था ही है। मेस्मेरिज़्मकी इस अन्तर्दृष्टिकी अवस्थामें पहुँचनेपर पात्रके मनका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। रोगनिवारण एवं चमत्कारोंके साथ ही यह विद्या योगाभ्यासका भी दिग्दर्शन कराती है। यदि कोई मनुष्य दूसरोंपर प्रयोग न करके अपने प्राणपर ही प्रयोग करता रहे तो समाधितक पहुँचकर आत्मानुभव कर सकता है।

मेस्मेरिज़्म और प्राणतत्त्व

योगशास्त्रमें प्रसिद्ध प्राण और मेस्मेरिज़्म ये दोनों तत्त्व एक ही हैं, इसलिये मेस्मेरिज़्म विद्याको हम प्राण-विनिमयके नामसे कहेंगे। प्राण ही शरीरका जीवभूत आधार है। प्राणमें विकृति होनेसे ही रोगादि दोष शरीरमें उत्पन्न होते हैं और प्राणकी शुद्धि ही बल, पराक्रम और शरीरके आरोग्यका आधार है।

प्राण-विनिमय (मेस्मेरिज़्म)-से विकृत प्राणको दूर करके शुद्ध प्राणका सञ्चार किया जाता है। जिस मनुष्यका मन पवित्र हो और शरीर स्वस्थ हो वह दूसरोंमें शुद्ध प्राणका सञ्चार कर सकता है। किसी मलीन शरीर और अशुद्ध विचारकी वृत्तिवाले मनुष्यके स्पर्शसे अपने प्राणकी शुद्धता नष्ट होती है। इसीलिये उनका स्पर्श होनेपर स्नानका विधान है। जड और चेतन सब पदार्थोंमेंसे प्राणकी छाया निरन्तर निकला करती है। अतः दूसरोंके पहने हुए वस्त्र, उपयोगमें लायी हुई वस्तुएँ, उच्छिष्ट अन्न-जल आदि भी नहीं ग्रहण करना चाहिये। छूत-छात और भक्ष्याभक्ष्यका विचार इसी सिद्धान्तपर अवलम्बित है। योगशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और स्वरशास्त्रका मेस्मेरिज़्मसे घनिष्ठतम सम्बन्ध है। मानवीय विद्युत्प्रवाहके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिये बड़े-बड़े डाक्टरोंने अनुभव और परीक्षा करके उसका समर्थन किया है।

गत कुछ दिनोंमें फ्रांसके बोर्डो (Bordeaux) नाम नगरमें वैज्ञानिकोंने जो शोध किये हैं उनसे यह सिद्ध हो गया है कि मनुष्यके शरीरसे एक शक्तिशाली प्रवाह निकलता है। प्रत्येक मनुष्य प्राणीकी विद्युत्-शक्ति (Human magnetism) दूसरे मनुष्योंसे सर्वथा भिन्न प्रकारकी होती है। यह विद्युत्-प्रवाह एक प्रकारका हर समय बहनेवाला पदार्थ है और यह शक्ति एक प्राणीसे दूसरे प्राणीमें प्रवेश कर सकती है। इसी सिद्धान्तपर मेस्मेरिज़्म और योगचिकित्सा की जाती है, जिसके उपचारमें आँखों और अंगुलियोंके द्वारा रोगीके शरीरमें विद्युत्-प्रवाह प्रवेश कराया जाता है।

पुराने समयके महापुरुषों तथा देवताओंके चित्र और मूर्तियोंके अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि हरेकके मस्तकके चारों ओर एक गोलाकार आलोक बना हुआ है। महात्मा बुद्धकी एक मूर्ति लङ्कामें है जिसमें आलोककी किरणें साफ-साफ दिखलायी देती हैं। अथर्ववेद और महाभारतमें इसका वर्णन पाया जाता है। प्राचीन समयसे इसको लोग मानते आये हैं। संस्कृतमें इसे तेजस् कहते हैं और अंग्रेजीमें औरा (Aura)।

लन्दनके सेण्ट टॉमस हास्पिटल (St. Thomas Hospital)-के भूतपूर्व विद्युच्छास्त्री डाक्टर डब्लू० जी० किलनर, बी० ए०, एम० बी० ने तेजस् (Aura)-का अनुसन्धान करके रासायनिक क्रियाद्वारा प्रत्यक्ष कर दिखाया है। डाक्टर किलनरने डायसायनीन पदार्थप्रयुक्त काँचकी तख्तीपर एक रासायनिक मिश्रण किया है। अँधेरे स्थानमें उस काँचसे मनुष्यकी ओर देखनेसे उसके आस-पास चारों ओर छः-छः इञ्च चौड़ाईमें आवरण दिखायी देता है। लौह चुम्बकके भी आस-पास आवरण (घेरा) दिखायी देता है। इसी प्रकार मनुष्यके हाथोंसे और नेत्रोंसे भी अदृश्य शक्ति निकलती है और मेस्मेरिज़्मके प्रयोग सिद्ध होते हैं।

चित्र नं० १ में स्वस्थ तेजस् (Healthy Aura)-

का चित्र दिया गया है। यह बिल्कुल बेरंगा होता है और यह असंख्य समानान्तर रेखाओंसे बना हुआ होता है जो सारे शरीरसे बाहर निकलती रहती हैं। यह प्राण-तेजस् जब शरीरके बाहर निकलता है तो गरम जमीनमेंसे जैसे हवा गरमीके दिनोंमें निकलती है वैसे ही यह ऊष्माशक्ति निकलकर दूसरोंके शरीरमें प्रवेश करती है। सूर्यसे हमारे शरीरमें प्लीहा (तिल्ली) प्राणको खींचती है और फिर सारे शरीरमें नस-नाड़ियोंमें उसका सञ्चार होता है। जबतक प्राणकी धारा बराबर बहती रहती है और औराकी लकीरें समानान्तर रहती हैं तबतक मनुष्य हरेक बीमारीसे बचा रहता है। जब प्राणमें विकृति हो जाती है अथवा फर्क पड़ जाता है या प्राणकी कमी हो जाती है तब रोगके कीटाणुओंसे बचना मुश्किल हो जाता है। मेस्मेराइज़र विकृत प्राणको शरीरसे बाहर फेंककर स्वस्थ प्राण-तेजस् उसके शरीरमें डालता है, यही प्राण-विनिमय-मेस्मेरिज़्मका तत्त्व है।

चित्र नं० १ में ढाई फुटतक चारों तरफ छाया-शरीर निकला हुआ है और शरीरकी नस-नाड़ियोंसे स्वस्थ तेजस् बाहर निकल रहा है।

जिसके समीप होनेसे प्रसन्नता और शान्तिका अनुभव हो उसका 'औरा' सात्त्विक समझना चाहिये। जिनके समागममें आलस्य, द्वेष, भय और चिन्ताकी वृद्धि हो उनका 'औरा' तामसिक समझना चाहिये।

विद्युत्प्रवाहद्वारा जीवनरक्षा

बोर्डो नगरमें एक स्त्रीने, जो इस सूक्ष्म शक्तिको अपने शरीरसे अधिकतासे निकाल सकती है, यह प्रयोग करके देखा कि किसी भी मृत मछली, मेढक, खरगोश, सूअर आदि छोटे जीवकी लाशपर दो-तीन सप्ताह नित्यप्रति १५-२० मिनट इस शक्तिप्रवाहको डालनेसे बहुत कालतक वह मृत शरीर न तो सड़ता है और न दुर्गन्धित होता है, वरं सूखकर वर्षोंतक जीवित प्राणी-जैसा मालूम दिया करता है और उसके आकारमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं होता। सबसे अधिक आश्चर्यजनक यह बात है कि वह लाश कभी भी सड़ती नहीं और ऐसा मालूम होता है कि मानो किसी वैज्ञानिकने अन्य उपायोंद्वारा उसे सड़नेसे बचा रखा है।

बड़े-बड़े डाक्टरोंने उस स्त्रीके प्रयोगकी परीक्षा करके उसका समर्थन किया है कि उस स्त्रीके शरीरसे निकालनेवाला सूक्ष्म प्रवाह लाशोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवन-नाशक छोटे-छोटे कीटाणुओंका, जो लाशको सड़ाकर दुर्गन्धित कर देते थे, नाश कर देता था, जिससे मृत शरीरमें सड़नक्रिया पैदा नहीं होने पाती थी। सूक्ष्मदर्शकयन्त्र (Microscope) द्वारा इसकी परीक्षा भी की गयी। छः मृत मछलियाँ उस स्त्रीको प्रयोग करनेके लिये दी गयीं और छः वैसे ही अलग रख दी गयीं। जिन छःपर उस स्त्रीने प्रयोग किया था वे तो सूख गयीं और किसी प्रकार न सड़ीं, न दुर्गन्धित हुईं, और जिन छःपर प्रयोग नहीं किया गया था उनमें हजारों छोटे-छोटे जन्तु दिखलायी दिये। फिर उस स्त्रीको इन सड़े हुए मृत शरीरोंपर प्रयोग करनेको कहा गया। लगभग पन्द्रह-बीस मिनट बाद प्रयोगके पश्चात् जब उन्हीं मृत जीवोंको अणुवीक्षणयन्त्रसे देखा तो हजारों जन्तु मर चुके थे। कुछ दिनोंके प्रयोगसे सब कीड़े मर गये। कितने ही मनुष्य इस प्रयोगद्वारा कुछ दिनोंतक फूलोंपर शक्तिका प्रवाह डालकर उन्हें ताजा रखते हैं और फूल बहुत दिनोंतक नहीं मुरझाते।

इससे यह सिद्ध हो गया कि हमारे शरीरमें विद्युत्-प्रवाह निकलता रहता है और हाथोंकी अँगुलियोंके अग्रभाग और नेत्रोंके छोरसे विशेषरूपसे निकलता है। इसीलिये मेस्मेरिज़्ममें वेधक दृष्टि और हस्तसञ्चालन (मार्जन)-पर विशेष जोर दिया गया है।

(१) लौह-चुम्बक (Magnet), (२) क्रिस्टल (crystal), (३) फूल तथा (४) मनुष्यके हाथ और चेहरेसे जो तेजस् निकलता है, उसे ऑडिलिक फोर्स (Odylic force) कहते हैं। चित्र नं० २ में यह दिखलाया गया है।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक शक्तिका विकास करनेके नियम

१-आत्मविश्वास, २-दृढ़ संकल्पबल, ३-परमार्थबुद्धि, ४-वेधक दृष्टि, ५-स्वस्थ शरीर, ६-धैर्य और दृढ़ता, ७-शुद्ध आहार-विहार और ८-शान्त चित्त।

मेस्मेरिज़्म और हिपनॉटिज़्ममें सिद्धहस्त होनेके लिये उपर्युक्त गुण प्रयोगकर्तामें अवश्य होने चाहिये। बिना आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्पबलके किसी भी कार्यमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

आकर्षणशक्ति बढ़ानेका साधन

प्रातःकाल, जितना जल्दी हो सके, दृष्टिसाधनका अभ्यास एकान्त कमरेमें, अकेले करना चाहिये। शालग्राम, शिवलिङ्ग अथवा दीपककी ज्योतिपर ध्यान और नासिकाग्र अथवा त्रिकुटीदेशमें त्राटक करनेका विधान हमारे योगशास्त्रमें बतलाया गया है। दीपककी ज्योतिपर या नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे नेत्रविकारवाले व्यक्तियोंको हानि पहुँचती है। शालग्राम और शिवलिङ्गपर त्राटक करनेसे नेत्रज्योति बढ़ती है। इस बातका सदा ध्यान रहे कि दूरी दो फुटसे अधिक न हो और अभ्यास शनैः-शनैः बढ़ाया जाय, एकदम नहीं।

दर्पणत्राटकका अभ्यास

दीवालपर दर्पणको टाँग दो। उसके मध्यभागमें चवन्नी बराबर सफेद कागज काटकर चिपका दो। दर्पणसे डेढ़ फुट दूरीपर पट्टे या कुर्सीपर स्थिरतासे बैठ जाओ। आँखोंको न अधिक तानो और न दृष्टिको ही नीचे गिराओ। दर्पणके कागजपर दृष्टिको स्थिर करो। पलकोंको हिलने न दो। एक दृष्टिसे टकटकी बाँधकर देखते रहो, वृत्तिको इस तरह स्थिर करो कि तुम्हारा प्रतिबिम्ब काँचमें न दीखने पावे। प्रथम दिन एक मिनट, दूसरे दिन दो मिनट, इस प्रकार कम-से-कम दस-पन्द्रह मिनटसे आध घण्टेतकका अभ्यास बढ़ा सकते हो। आँखोंको त्रास मालूम हो तो एक दिनका विश्राम देकर पुनः अभ्यास कर सकते हो। अभ्यासके बाद नेत्रोंको ठण्डे जलसे अच्छी तरह धो डालो। इस अभ्याससे निर्बल नेत्र सबल होंगे और आकर्षणबल बढ़ेगा। त्राटकके अभ्यासके समय निम्न मन्त्रोंका बार-बार चिन्तन करो—

मेरे नेत्रोंके ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे हैं। मेरे नेत्र आकर्षक और प्रभावशाली हो रहे हैं। मैं निर्भय हूँ। मैं सिर ऊँचा करके सबके सम्मुख देख सकता हूँ। मेरी मनःशक्ति प्रबल है।

दीर्घ श्वास-प्रश्वास (Deep Breathing)

प्रातःकाल वायुसेवनके लिये जङ्गलमें चले जाओ। किसी ऊँचे टीलेपर या स्थानपर सरलतासे सिर और छाती सीधी करके सुखासनसे मेरुदण्डको सीधा करके बैठ जाओ। मुँह बन्द करके नासिकासे गहरा श्वास लेकर कुछ देर फेफड़ोंमें कुम्भक कर शनैः-शनैः प्रश्वासद्वारा खींची हुई वायुको बाहर निकाल दो। पुनः इसी प्रकार दस-बीस बार करो और यहाँतक अभ्यास बढ़ाओ कि कम-से-कम सौ बार इस श्वासोच्छ्वास-क्रियाको आसानीसे कर सको। पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय निम्न विचारोंपर मनन करो—

मैं सूर्य भगवान्से प्राणशक्तिको श्वसनक्रियाद्वारा शरीरमें खींच रहा हूँ। सूर्यकिरणोंद्वारा प्राणशक्ति मेरे रोम-रोममें प्रविष्ट होकर मुझे बल, उत्साह, जीवनशक्ति और आरोग्य प्रदान कर रही है। मेरे शरीरसे विद्युत्प्रवाह; प्रकाश और किरण निकल रहे हैं। मैं सूर्यके सदृश तेजस्वी बन रहा हूँ।

मार्जन करनेकी रीति (Passes)

मनुष्यके शरीरपर हाथ फेरकर रोग दूर करनेकी प्रथा प्राचीनकालसे चली आती है। अपनी शक्तिको दूसरेमें प्रवेश करनेकी क्रियाको मार्जनक्रिया अथवा पास करना कहते हैं। मार्जन दो प्रकारके होते हैं— विधानमार्जन और विसर्जनमार्जन।

हाथोंकी दोनों हथेलियोंको जोरसे रगड़ो, जबतक कि वे गर्म न हो जायँ। फिर हाथोंको आगे-पीछे खूब हिलाओ और हाथोंकी मुट्ठियोंको खूब जोरसे बन्द करो और खोलो। अब दोनों हाथोंकी हथेलियोंको और अँगुलियोंको मिलाकर तथा अँगूठोंको दूर रखकर एक तकिया रखकर कल्पना करो कि यह मनुष्य है। धीरे-धीरे कपाल, छाती, पेटपरसे उतारते ले जाओ और पैरतक ले जाकर एक तरफ झटक दो (पास स्त्रीके बायीं ओर और पुरुषके दाहिनी ओर देना चाहिये)। इस तरह हाथोंको झिड़क देना चाहिये कि मानो किसी दूषित द्रव्यको शरीरसे निकालकर बाहर फेंक रहे हो। शरीरसे हाथ चार इंच दूरीपर रखना चाहिये। सिरसे पैरतक एक बार ऐसा करना एक मार्जन कहलाता है। दूसरा मार्जन प्रारम्भ करते समय हाथोंको झटकनेके बाद तुरन्त मुट्ठियाँ बन्द करके रोगीके सिरपरसे ले जाना चाहिये और फिर उसी रीतिसे पास करना चाहिये। इस प्रकार पन्द्रह मिनटसे आध घण्टेतक पास देनेका अभ्यास कर लेना चाहिये।

कुछ दिनोंके अभ्याससे अँगुलियोंमें सनसनाहट मालूम होने लगेगी और मालूम होने लगेगा कि अँगुलियोंसे सूक्ष्म प्रवाह निकल रहा है। कभी-कभी

अधिक प्रभावित करनेके लिये रोगीकी अँगुलियोंको स्पर्श करते हुए भी पास देना पड़ता है। एक पासमें तीन मिनटतक समय लग सकता है और जल्दी-जल्दी भी पास दे सकते हैं। इस अभ्यासमें सफलता प्राप्त होनेपर मेस्मेरिज़्मसे रोगीकी चिकित्सा की जा सकती है।

मेस्मेरिज़्मका प्रयोग

प्रथम विधि

जिस मनुष्य या रोगीपर मेस्मेरिज़्म करना हो उसको एक कुर्सीपर बिठा दे। दूसरी कुर्सी उसके सम्मुख एक फुटकी दूरीपर रखकर प्रयोगकर्ता बैठ जाय। जिस पात्रपर प्रयोग किया जाय उसके दाहिने हाथकी अँगुलियोंको अपने बायें हाथसे पकड़कर नजरसे नजर मिलावे और दृढ़ सङ्कल्प करे कि पात्रको निद्रा आ रही है। उसे कहा जाय कि वह टकटकी बाँधकर एक दृष्टिसे पलकोंको बिना झपकाये प्रयोगकर्ताके नेत्रोंकी तरफ देखता रहे। थोड़ी देर बाद आँखोंको खुला रखना पात्रके लिये असम्भव हो जायगा। तब उसे आँखें बन्द करनेकी आज्ञा दी जाय। प्रयोगकर्ता पात्रको समझा दे कि जब आँखें भारी होकर बन्द होने लगें तब बन्द कर ले और स्वस्थतासे सो जाय। पात्रको यह भी समझा दे कि उसपर मार्जन करके शक्तिपात किया जायगा।

इस प्रकार करनेपर थोड़ी देर बाद पात्रकी आँखें भारी हो जायँगी और उसे ऊँघ आने लगेगी। इस समय प्रयोगकर्ताको हाथ धीरेसे छोड़कर विधानमार्जन देना आरम्भ करना चाहिये। दस-पन्द्रह मिनट मार्जन देनेसे पात्र गहरी नींदमें चला जायगा। कभी-कभी पाँच-सात बार प्रयोग करनेपर प्रयोग सफल होता है। किसी-किसीपर एक ही बारमें प्रयोग सफल हो जाता है।

मेस्मेरिक अवस्थाकी परीक्षा

जिसपर मेस्मेरिज़्म किया गया हो उस पात्रका हाथ ऊँचा उठाकर तुरन्त छोड़ दे। यदि लकड़ीके समान एकदम गिर पड़े तो जानो कि उसपर मेस्मेरिज़्मका प्रयोग हो गया है। उसकी आँखोंकी पलक खोलकर देखो। यदि नेत्र ऊपर चढ़े हुए हैं, सफेद दीखने लगे हैं और बीचका तारा घूमने लगे तो समझो कि प्रभाव हो गया है।

यदि पात्र रोगी हो तो जिस अङ्गमें रोग हो उस स्थानपर पाँच-सात मार्जन करके Suggestion—सूचना देनी चाहिये कि तुम्हारे जागृत होनेपर सब दर्द दूर हो जायगा। यदि विश्वदृष्टि उत्पन्न करनी हो तो किसी वस्तुको मुट्ठीमें बन्द करके उसके कपालपर हाथको रखकर कहो कि तुम सूक्ष्म शरीरसे मेरे हाथकी वस्तु देख सकते हो—बतला सकते हो। जब वह बतला दे तो कमरेकी अन्य चीजोंके सम्बन्धमें उससे पूछो। फिर अन्य स्थानोंमें भेजकर वहाँके समाचार प्राप्त करो। फिर विसर्जनमार्जन अर्थात् उलटे पैरसे सिरकी ओरसे कर दो या जोरसे ताली बजाकर जागृत कर दो। मार्जन करनेके बाद हाथोंको ठण्डे जलसे अच्छी तरहसे धो डालना चाहिये। मार्जन देते समय हाथ-पैरको न धोना चाहिये।

दूसरी विधि

पात्रको बिस्तरेपर शरीर शिथिल करके लेट जाने दो। सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले छोड़नेको कह दो। फिर नाकसे श्वास-प्रश्वास करनेको कहो और सिरसे छातीतक मार्जन करते रहो, दस-पन्द्रह मिनटमें ही वह मेस्मेरिक निद्रामें चला जायगा।

हिपनॉटिज़्म

पात्रको सीधा खड़े होनेको कहो। उसको सारे शरीरको बिल्कुल शिथिल करनेको कहो। उसके पीछे खड़े होकर दोनों हाथोंको कन्धोंपर रख दो और दृष्टिको मस्तकके निचले भागपर गर्दनके ऊपर स्थिर करो। पात्रको समझा दो कि पीछे गिरना मालूम हो तो वह रोकनेका प्रयत्न करे। उसे सँभालकर नीचे लिटा दिया जायगा। अब धीरे-धीरे मृदु और प्रभावशाली भाषामें कहो, महाशय! तुम गिर रहे हो-गिर रहे हो—पीछे गिर रहे हो—बड़े जोरोंसे पीछेकी तरफ खिंचे चले आ रहे हो, जब मैं अपने हाथोंको तुम्हारे कन्धोंसे अलग कर लूँगा, तुरन्त ही तुम गिर जाओगे। गिर जाओगे—अवश्य गिर जाओ—गिर जाओ—भयभीत मत होओ। चित्र नं० ३ में इच्छाशक्ति और सूचनासे पीछेकी ओर झुकानेका प्रयोग बतलाया है।

इस प्रयोगसे पात्र पीछे गिर जायगा। उसे सँभालकर नीचे लिटा दो। इसी प्रकार उसके आगे खड़े होकर अपनी एक अँगुलीपर उसकी दृष्टि जमवाकर तुम आगे

झुक रहे हो—आगे झुक रहे हो, यह सूचना बार-बार देकर आगेकी ओर गिरा सकते हो। इसी प्रकार सैकड़ों प्रकारके प्रयोग अपनी विलपावरसे कर सकते हो।

डाक्टर ब्रेडका तरीका

किसी चमकीली वस्तुको पात्रकी आँखोंसे जरा ऊपर मस्तकके पास ले जाकर उसे उसपर दृष्टि स्थिर करनेको कहो और कहो कि तुम्हारी आँखें अब भारी हो रही हैं—बहुत भारी हो रही हैं। अब तुम आँखें बन्द कर लोगे, आँखें बन्द कर लो। अब तुम आँखें नहीं खोल सकते, नहीं खोल सकते—चाहे जितना प्रयत्न करो। सो जाओ, सो जाओ—सो जाओ, गहरी नींदमें चले जाओ—गाढ़ निद्रामें चले जाओ—प्रगाढ़ निद्रा आ रही है—शान्त और मीठी नींद आ रही है। चित्र नं० ४ में डाक्टर ब्रेडका हिपनॉटिज़्मका प्रयोग करनेका तरीका बतलाया है। इस प्रकार हिपनॉटिक निद्रा-अवस्थामें आनेपर तुम दुर्गुण, दुर्व्यसन, सिरदर्द या अन्य बीमारी या कुटेव, मानसिक रोगको (हिपनॉटिज़्मसे) दूर कर सकते हो।

किसीकी इच्छाके विरुद्ध हिपनॉटिज़्म या मेस्मेरिज़्मका प्रयोग नहीं किया जा सकता। हिपनॉटिज़्म या मेस्मेरिज़्मके प्रयोगोंको बार-बार करनेसे हानि नहीं पहुँचती। इस भ्रान्तिको पाठकोंको दूर कर देना चाहिये। बालकोंपर निद्रित अवस्थामें हिपनॉटिज़्मका प्रयोग करके सुसंस्कार उनके कोमल मस्तिष्कपर अंकित किये जा सकते हैं। स्त्री और पुरुष सबमें मेगनेटाइज़ करनेका गुप्त सामर्थ्य है। मनुष्य स्वार्थको भूलकर मानवजातिके हितार्थ जितना अधिक इस शक्तिका सदुपयोग करेगा उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ेगी। इस शक्तिका तमाशा दिखलानेमें कभी उपयोग न किया जाय, न कौतूहलको निवारण करनेके लिये उपयोग करें।

यह सदा स्मरण रखो कि विश्वशक्तिका मूल वही अनन्त शक्ति है जो सर्वशक्ति और सत्ताका उद्गम है। स्मरण रखो कि तुम उस अनन्त शक्तिके अंश हो। अपने मन और शरीरको शुद्ध करके अपनी अन्तरात्माका उस परमपिता परमात्माके साथ, जो तुम्हारे हृदयगुहाके अन्तस्तम प्रदेशमें विराजमान है, सम्बन्ध स्थापित करो। यही सर्व यथार्थ शक्तिका स्थान है।

नेत्र बन्द कर लो, अपने भीतर गहरे उतरो, बाहरकी स्थितिको शनैः-शनैः भूल जाओ। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अजर, अमर, नित्यशुद्ध, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप नारायणका ध्यान करो। अत्यन्त गहरेमें चले जाओ कि जहाँ आनन्दमय प्रकाशके दर्शन होने लगेंगे। यह प्रकाश सारे विश्वका जीवन है।

इस प्रकाशसे तुम्हें जीवन-बल-तेज-आरोग्यदायक शक्ति प्राप्त होगी। नित्यप्रति आध घण्टे अभ्यास करनेसे कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा शरीर आरोग्यदायक शक्तिसे पूर्ण हो जायगा और तुम्हारे शब्द-स्पर्शमात्रसे रोगी आरोग्यसुख-शान्ति लाभ करेंगे। जो दृढ़ निश्चय और परम विश्वासके साथ नारायणको महावैद्य और उपचारकर्ता मानेगा और अपनेको केवल निमित्तमात्र मानकर किसी भी रोगीपर उसके नामपर हाथ फेर देगा तो रोग, शोक, चिन्ता आदिसे पीड़ित मनुष्यको तत्काल शान्ति मालूम होगी और वह शीघ्र चंगा हो जायगा। यह हमारे आर्यशास्त्रकारोंका मेस्मेरिज़्मका सर्वोत्कृष्ट साधन है।

हमारे शास्त्र अन्तरात्माकी ओर अभिमुख होनेको ही योगकला कहते हैं।

प्रेम-सन्देश

सुभग सनेही श्यामसुन्दर सुचन्द्र चारु, हम-सी चकोरिनिकी चाह क्यों निहारैं ना।
वे हैं घनश्याम हम याचक मयूरनिके, नेहको निहारैं ऐसे निपट बिसारैं ना॥
हियरो हमारो एक सो तो नन्दनन्दन पै, ज्ञानकी कथाको सुनैं कौन सो बिचारैं ना।
ऊधो तुम जाय ऐसी कहियो गुबिन्दजू सों, गोपिन गरीबनपै गजब गुज़ारैं ना॥

—गोविन्दराम अग्रवाल

गुरु-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीकेशवदेवजी शर्मा)

इस परिवर्तनशील जगत्‌में यह मनुजदेह परमात्माका बनाया हुआ एक नूतन गृह है। घरमें जैसे बहुत-से द्वार होते हैं तैसे ही इस देहगेहमें नव द्वार हैं—दो नेत्र, दो नासिकाके छिद्र, दो कान, मुख, गुदा और मूत्रेन्द्रिय। श्रुति भी इस प्रकार ही कह रही है। यथा—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।

जैसे घरमें खंभे होते हैं वैसे ही शरीरमें नलियाँरूपी स्तम्भ हैं। घरको बनानेमें जैसे ईंट, चूना और पत्थरोंसे काम लिया जाता है वैसे ही देहरूपी घरमें रुधिर, मांस, हड्डी, मज्जारूपी जल, चूना और ईंटोंसे काम लिया गया है। घरको सुन्दर बनानेके लिये जैसे अस्तरकारी की जाती है, वैसे ही देहगेहके ऊपर चर्मरूप अस्तरकारी की गयी है और भवन बनकर तैयार हो गया है। 'अधुना' नयन-पथके समक्ष ऐसी बिजली-सी चमकी कि इस सदनके बनानेवालेने इस ढंगका नमूना किस प्रकारसे बनाया?

यह साफ़-साफ़ दृष्टिगोचर हो रहा है कि छोटे-से-छोटे शिल्पकारसे लेकर बड़े-से-बड़े इञ्जीनियरतकका कोई-न-कोई उपदेष्टा, गुरु, उस्ताद, टीचर, उपाध्याय वा आचार्य अवश्य है, जिसकी अनुमतिसे यह शरीरभवन बना है।

अहो!!! जिसका पवित्र नाम लेनेसे अन्तःकरणमें एक अद्भुत प्रकारका उल्लास होता है, जिसकी वेद, पुराण, इतिहास भी अत्यन्त प्रशंसा करते हैं वह क्या है? वही तो 'गुरु-तत्त्व' है।

प्रिय पाठक महाशय! गुरु-तत्त्व इतना गहन विषय है कि इसकी मीमांसामें बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियोंकी प्रतिभा भी कुण्ठित हो जाती है। इस कलिकालके भँवरमें भ्रमित हुए इस क्षुद्र जन्तुकी तो '**उद्बाहुरिव वामनः**' की-सी गति हो रही है। तथापि उदधिमें नौकारूढ जन भी इतस्ततः भ्रमण करनेकी चेष्टा करता ही है।

प्रश्न—'गुरु' शब्द किस प्रकृति-प्रत्ययसे निष्पन्न होता है, और उसका लक्षण क्या है?

उत्तर—'गॄ शब्दे' क्र्यादि, और 'गॄ निगरणे' तुदादिगणकी धातुको '**कृग्रोरुच्च**' (१। २५) इस उणादि-सूत्रसे 'कु' प्रत्यय और उकारान्तादेश होनेपर '**उरण् रपरः**' (१। १। ५१) इससे उरादेशानन्तर '**कृत्तद्धितसमासाश्च**' (१। २। ४६) इससे प्रातिपदिक संज्ञाके पश्चात् 'सु' विभक्ति आनेपर 'गुरु' शब्द सिद्ध होता है।

गृणाति, उपदिशति धर्ममिति गुरुः।

गिरत्यज्ञानमिति गुरुः।

यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिरिति गुरुः।

धर्मका जो उपदेश दें, अज्ञानरूपी तमका विनाश कर ज्ञानरूपी ज्योतिसे जो प्रकाश करें, देव, गन्धर्वादिसे जो स्तुत हों, उन्हीं साक्षात् देवकी संज्ञा गुरु है। यह भावार्थ है।

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहमें भगवान् शङ्कराचार्य भी स्वकीय स्वर्णाक्षरोंद्वारा 'गुरु' शब्दका लक्षण अङ्कित करते हैं—

अविद्याहृदयग्रन्थिबन्धमोक्षो यतो भवेत्।
तमेव गुरुरित्याहुर्गुरुशब्देन योगिनः॥ २५७॥

मनु महाराज कहते हैं—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥

(२। १४२)

परन्तु तान्त्रिक महाशय 'गुरु' शब्दके प्रत्येक वर्णका इस रीतिसे अर्थ करते हैं—उनके मतसे गकारका अर्थ सिद्धिदाता, रेफका अर्थ पापनाशक और उकारका अर्थ शम्भु है। अर्थात् जो सिद्धि दे सकते हैं, पापोंके विनाश करनेकी जिनमें क्षमता है और जो मङ्गलकर्ता हैं, उन्हींको गुरु कहते हैं।

अथवा गकारका अर्थ ज्ञान, रेफका अर्थ तत्त्व-प्रकाशक और उकारका अर्थ शिवतादात्म्यप्रद है। अर्थात् जो तत्त्वज्ञानको प्रकट कर शिवके साथ अभिन्न करा देते हैं उन्हें ही गुरु-शब्दसे गुम्फित किया गया है।

हमारे शास्त्रमहोदधि भगवान् वेदव्यासजीने कूर्मपुराणमें दस प्रकारके गुरुओंका उल्लेख किया है—

उपाध्यायः पिता माता ज्येष्ठो भ्राता महीपतिः।
मातुलः श्वशुरश्चैव मातामहपितामहौ।
वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च सर्वे ते गुरवः स्मृताः॥
(कौर्म० उत्तरा० १२।२६)

उपाध्याय, पिता, माता, बड़ा भाई, राजा, मामा, श्वशुर, नाना, बाबा, वर्णज्येष्ठ (ब्राह्मण)—'**वर्णानां ब्राह्मणो गुरु**'-रिति वचनात्—चाचा वा ताऊ ये दस गुरु कहे गये हैं।

उपेत्य अधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः।

जो आचाराङ्ग, सूत्र, कृतादि एकादश और उत्पाद, अग्रायणी आदि चतुर्दशपूर्वक पाठी हों, जो स्वयं पढ़ते हैं और अन्य मुनियोंको पढ़ाते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

उपाध्याय और आचार्यमें इतना अन्तर है—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥
(मनु० २।१४१)

'जो व्यक्ति अपनी जीविकाके निर्वाहके लिये वेदका कोई अंश वा वेदाङ्ग पढ़ाता है वह उपाध्याय कहलाता है'। परन्तु उपाध्याय आचार्यसे छोटा होता है, क्योंकि कल्प एवं उपनिषद्के साथ सम्पूर्ण वेद पढ़ाना आचार्यका काम है। इदानीं थोड़े शब्दोंमें 'आचार्य' शब्दकी विवेचना करते हैं। लिङ्गपुराण और ब्रह्माण्डपुराणमें ऐसा दिग्दर्शन कराया है—

यस्मात् पुरुषादयं माणवो धर्मानाचिनोति शिक्षते स आचार्यः।

स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि।
आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते॥
(ब्रह्माण्ड० पूर्व० ३२।३२)

जो मुनियोंके संघके अधिपति हों और संघके मुनियोंको दीक्षा (शिक्षा), प्रायश्चित्त (दण्डादि) देते हों, उन तपधर्मकर्माचारादि गुणोंके धारण करनेवालेको आचार्यशब्दसे व्यवहृत करते हैं।

अनेक गुरुओंके वर्गमें महर्षि वसिष्ठजीने माता-पिताको ही फर्स्ट क्लासका टिकट देकर आरामकुर्सी देनेकी कृपा की। यथा—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(अ० ३)

पाठको! इस सृष्टिमें मातासे अधिक कष्ट सहनेवाला कोई दृष्टिगोचर नहीं होता जिसने हमें नव मास गर्भमें धारण किया, जब पैदा हुए तब किस लाड़-प्यारसे हमारी सेवा की, हमारे तनिक-से रोगी होनेपर सारी रात्रि जागते-जागते बितायी। स्वयं कष्ट सहे, पर हमें कष्ट न होने दिया। उसके इस कृत्यसे हम जन्म-जन्मान्तर उऋण नहीं हो सकते। उसकी सेवा यथाशक्ति तन-मन-धनसे कीजिये। देखिये, आपस्तम्बधर्मसूत्र क्या आज्ञा दे रहा है—

माता पुत्रस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। (१।१०।२८।९)

नास्ति मातृसमो देवः।

माता पुत्रके लिये बहुत कष्ट उठाती है, अतः माता पतित भी हो जाय तो भी उसकी सेवा करना हमारा धर्म है। पिताको देखिये, उन्होंने किस तरह परिश्रम करके हमारा पालन-पोषण किया, हमें पढ़ाया-लिखाया। जब किसी योग्य हुए तो उनके उपकारको ठुकराकर हमने बोलनातक छोड़ दिया। पाठको! यदि आप निज जननी-जनककी सेवा करेंगे तो आपको निरन्तर सुखका अनुभव होगा। माता-पिताके प्रसन्न रहनेसे सब देवता प्रफुल्लित रहते हैं, इसे धर्मशास्त्र कितने उच्च स्वरसे प्रतिबोधित कर रहा है—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

पितर्याचार्यवच्छुश्रूषा।
नास्ति तातसमो गुरुः।
नास्ति मातुः परो गुरुः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु।
मातृदेवो भव। पितृदेवो भव॥

यद्यपि इन प्रमाणोंसे माता-पिताको उच्च माना है, तथापि—

शरीरमेव मातापितरौ जनयतः।
(आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।१।१५)

मातापितरौ शरीरमेव काष्ठकुड्यादिसमं जनयतः।
आचार्यस्तु सर्वपुरुषार्थक्षमं रूपं जनयति।

अतः महर्षि गौतमने उपदेश किया है—

आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणाम् (गौ० ध० सू० १।३।५६)

अतः आचार्य ही श्रेष्ठ हैं, ऐसा निष्कर्ष निकला। महाभारतमें भी कहा है—

गुरुर्गरीयान् मातृतः पितृतश्चेति मे मतिः।

(शा० १०८।१७)

माता-पितासे गुरुका दर्जा अव्वल है। इसकी यदि और खोज करनी है तो पाणिनि महाराजके निम्नलिखित सूत्रका अवलोडन करनेसे ज्ञात होता है कि—

विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्। (४।३।७७)

—शैषिकप्रकरणमें योनिसम्बन्धसे विद्यासम्बन्धको फर्स्ट क्लासमें बैठाया है, अतः विदित होता है कि विद्यासम्बन्ध योनिसम्बन्धसे मान्य है।

ब्रह्मज्ञानी आचार्यको वेदभगवान् कितना सम्मान देते हैं, इस बातका यदि पता लगाना हो तो शुक्ल यजुर्वेदकी शरण लीजिये, और ब्राह्मणग्रन्थोंसे उसका व्याख्यान पूछिये। देखिये, संहिता क्या सुना रही है—

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान्
गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुः पिता सत्॥

(३२।९)

'गन्धर्व (वेदविद्याका धारण करनेवाला) विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता) उस अमृत ब्रह्मका प्रवचन—खोल-खोलकर व्याख्यान करे, जो ब्रह्म गुहा (बुद्धि या ब्रह्माण्ड)-में स्थित है और जो सत् तथा आनन्दमय है। उसके तीन पद गुहामें निगूढ (अत्यन्त गुप्त) हैं। उन पदोंको जो जान गया वह पिताका भी पिता (गुरु) है।'

ब्रह्मके तीन पदोंका वर्णन करना यद्यपि इस लेखका उद्देश्य नहीं है—वेदके कई स्थानोंपर ब्रह्मके पदोंका और विष्णुके पाद-विक्रमका सविस्तर वर्णन है, तथापि हम इतना इस समयपर संकेत कर सकते हैं कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयको ब्रह्मके तीन पद कहा जाता है। अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका वर्णन किया गया है। विशेष बात, जिसके लिये यह मन्त्र उद्धृत किया गया है, वह यह है कि ब्रह्मज्ञानी महात्माको पिताका गुरु कहा गया है। पिताका गुरु कहनेसे दो अर्थ निकलते हैं और दोनों अर्थोंकी दृष्टिसे ब्रह्मज्ञानी पितादिकोंका गुरु कहलानेका अधिकारी है। यथा—

(क) अपने पितादिके भी गुरु ब्रह्मज्ञानीका पिता यदि ब्रह्मविद्यासे शून्य है अथवा आत्मज्ञानसे विमुख होकर संसारी भोगोंमें व्यस्त है, तो ऐसे पिताको वैराग्यका उपदेश देकर और ब्रह्मविद्याका व्याख्यान समझाकर ब्रह्मज्ञानी पुत्र उसका कल्याण कर सकता है। ऐसा करनेसे पिता शिष्य और पुत्र गुरु होगा—शिष्य-गुरुका सम्बन्ध पिता-पुत्रके समान है। अतः ब्रह्मज्ञानी पुत्र अपने पिता, चाचा, ताऊ, मामा, नाना, माता, नानी, चाची, ताई आदि बड़े-बूढ़ोंको इस नाते 'पुत्र' कह सकता है और 'सुनो वत्स' इस प्रकार कहनेका अधिकारी है। यह है ब्रह्मविद्याका प्रताप जिससे पुत्र पिताका भी पिता (गुरु) बन जाता है। यदि सन्देह हो तो एक छोटा-सा प्रमाण देते हैं, सुनिये। इससे आपको पता लग जायगा कि ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेवाला विद्वान् व्यक्ति सच्चा गुरु क्योंकर कहला सकता है। सामवेदके ताण्ड्यमहाब्राह्मणमें एक प्राचीन ऐतिहासिक घटनाका वर्णन किया गया है जिसमें आङ्गिरस ऋषिने अपने पिताओंको 'पुत्र' कहकर पुकारा था। गाथा इस प्रकार है।

शिशुर्वै आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स अध्यापयन् पितॄन् पुत्रकेत्यामन्त्रयत्, तं पितरोऽब्रुवन्नधर्मं करोषि यो नः पितॄन् सतः पुत्रकेत्यामन्त्रयसे। सोऽब्रवीदहं वाव पिता यो मन्त्रकृदस्मीति। ते देवेष्वपृच्छन्त। ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति। तद्वै सोदजयत्॥

(ताण्ड्यब्राह्मण १३।३।२४)

अङ्गिराका पुत्र छोटी आयुमें ही ऐसा विद्वान् हो गया कि वह मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंसे आगे बढ़ गया और वेदका बड़ा रोचक और वैज्ञानिक व्याख्यान करनेमें प्रसिद्ध हो गया। उसने वेदका व्याख्यान करते हुए अपने पितादि बड़े वृद्धजनोंको 'पुत्रो' कहकर सम्बोधन कर दिया। पितादि वृद्धजनोंको यह दुर्व्यवहार बहुत बुरा प्रतीत हुआ और सहन न कर वे कहने लगे—तू वेदवेत्ता होकर अधर्म करता है। तूने पितादिको पुत्र कहकर सम्बोधन किया, यह न्यायसंगत नहीं है। यह सुनकर आङ्गिरसने कहा, 'मैं निश्चयसे तुम्हारा गुरु हूँ, क्योंकि मैं मन्त्रोंका द्रष्टा और व्याख्याता हूँ।' परन्तु वृद्धपार्टीको इससे सन्तोष नहीं हुआ, वे इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेके लिये देवताओंके पास गये, और सब वृत्तान्त कह व्यवस्था पूछने लगे। देवोंने पूर्वापर विचारकर उत्तर दिया कि यह (आङ्गिरस) निश्चयसे गुरु ही है। क्योंकि यह मन्त्रद्रष्टा वैदिक तत्त्वज्ञानका

प्रभावशाली व्याख्यान करनेवाला है। देवोंके इस फैसलेसे आङ्गिरसका पक्ष सत्य सिद्ध हो गया, और उसकी जीत हुई। यह कथानक इतना प्रसिद्ध और प्रामाणिक है कि राजर्षि मनुने भी अपने नियमोंमें इसको उद्‌धृत किया है और कहा है—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

(मनु० २।१५६)

(ख) दूसरा अर्थ है—दूसरोंके पिताजनोंका पिता (गुरु)। पूर्वोक्त युक्तिप्रमाणसे ही यह भी सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञानी दूसरोंके वृद्धजनोंका भी अपने तत्त्वज्ञानसे उद्धार कर सकता है और इसलिये उनका भी गुरु कहलानेका अधिकारी है। एक प्रमाण इस विषयपर भी प्रकाश डाल रहा है। देखिये, अथर्ववेदकी पिप्पलादशाखामें कैसा स्पष्ट वर्णन किया गया है कि ब्रह्ममें अत्यन्त श्रद्धा रखनेवाले भारद्वाज, सत्यकाम, गार्ग्य, आश्वलायन, कात्यायन और भार्गव, ये छः प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी ऋषि एकत्र होकर बड़े ही विनीतभावसे महर्षि पिप्पलादके चरणोंमें उपस्थित हुए और प्रार्थना करने लगे कि 'भगवन्! हमें ब्रह्मज्ञान दीजिये और हमारी शङ्काओंका कृपा करके समाधान कर दीजिये।' महर्षिने उनकी योग्यता देखकर ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी नियमोंका प्रारम्भिक उपदेश किया और कुछ दिन बाद उनके गूढ़ प्रश्नोंका भी विस्तारपूर्वक समाधान कर दिया। उस अलौकिक व्याख्यानको सुनकर उन तत्त्वज्ञानी ब्रह्मनिष्ठोंको जो आनन्द हुआ और ब्रह्मवेत्ता महर्षि पिप्पलादके चरणोंमें उनकी जो श्रद्धा उत्पन्न हुई और जिस शब्दोंमें उन्होंने कृतज्ञता प्रकाशित की वह इतिहासके पृष्ठोंपर आज भी चमक रही है। वे स्वर्णमय शब्द ये हैं—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।

(प्रश्नोपनिषद् ६।८)

उन्होंने महर्षिकी श्रद्धापूर्वक पूजा की और अत्यन्त प्रतिष्ठा करते हुए यह बोले कि 'भगवन्! आप हमारे सच्चे पिता (गुरु) हैं। भगवन्! आपने हमको अविद्यासागरसे पारकर परले पार पहुँचा दिया है। हमारा बेड़ा पार कर दिया है, हमें कृतार्थ कर दिया है। आप-जैसे परम ऋषियोंको हमारा नमस्कार और बारंबार नमस्कार है।'

अविद्यान्धकारसे पार लगानेवाले तत्त्ववेत्ताको 'गुरु' माननेमें भारद्वाजादि ऋषियोंका प्रमाण पर्याप्त है कि ब्रह्मज्ञानी दूसरोंके पितादिका भी गुरु कहलानेका अधिकारी है।

भारतमें अति प्राचीन कालसे ही दीक्षा-प्रणाली चली आ रही है। प्रत्येक दीक्षामें एक-न-एक गुरुकी आवश्यकता होती ही है। अस्त्र-शस्त्र और मन्त्र-दीक्षादि सभीके एक-एक गुरु होते हैं। गुरुके बिना कोई भी दीक्षा (शिक्षा) नहीं हो सकती। ऋषियों और तान्त्रिकोंने गुरु-शिष्यके विषयमें नाना प्रकारके कर्तव्याकर्तव्योंका निर्णय किया है। उनकी पर्यालोचना करनेसे विदित होता है कि जिस समय यह देश धर्मोन्नतिकी पराकाष्ठातक पहुँच चुका था उस समय इस देशके मनुज गुरुको साधारण मानव नहीं समझते थे। देखिये शिवपुराणकी कैलाससंहितामें गुरुभक्तिकी क्या महिमा गायी है—

यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥

अन्यच्च—

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
तस्माद्धि श्रीगुरोर्भक्तिर्भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी॥

(६।३।४२)

यह स्मरण रहे कि कदापि गुर्वाज्ञा और गुरुद्रोह न करना चाहिये। आपस्तम्बधर्मसूत्र साक्षी दे ही रहा है—

देवद्रोहं गुरुद्रोहं न कुर्यात् सर्वयत्नतः।
कृत्वा प्रमादतो विप्राः प्रणवस्यायुतं जपेत्॥
तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन।

(१।१।१।१५)

जो गुरुद्रोह करते हैं और गुरुको रुष्ट करते हैं उनकी आयु, लक्ष्मी, ज्ञानका नाश हो जाता है। देखिये, क्या मीमांसा हो रही है—

कर्मणा मनसा वाचा गुरोः क्रोधं न कारयेत्।
तस्य क्रोधेन दह्यन्ते आयुःश्रीज्ञानसत्क्रियाः॥

यदि शिव रुष्ट हो जायँ तो गुरुदेव प्रसन्न कर सकते हैं, और यदि किसी हेतु गुरुजी क्षुभित हो जायँ

तो उनको कोई भी प्रसन्न नहीं कर सकता। अतः उनको प्रसन्न रखनेसे हमारे सर्व कार्य सिद्ध हो जाते हैं और वे हमें वैकुण्ठतक भेज सकते हैं। भागवतमाहात्म्यमें उनकी कितनी प्रशंसा की है—

चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम्।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्॥
(१।१८)

प्रिय पाठको! इस लेखके प्रारम्भमें ही निवेदन किया गया था कि नवद्वारात्मक देह-गेह किसने रचा है। यह हमारे परम गुरु परमेश्वर सच्चिदानन्दकन्दकी शिल्पकारीका एक अनोखा नमूना है। उनका कभी विस्मरण नहीं करना चाहिये। यही प्रतिष्ठा विद्यागुरु वा दीक्षागुरुकी है। उनको आप साधारण मनुजकी भाँति न समझें। सुनिये, योगशिखोपनिषद् क्या नादस्वरसे पुकार रहा है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥

इससे यही अनुमान लगाया जाता है कि इस भारतमें हमारे पूर्वज बड़े-बड़े धुरन्धर ब्रह्मवेत्ता होते थे और उन्हींसे यह देश सर्वोन्नत गिना जाता था। इसका हेतु यही है कि उनके अन्दर गुरुभाव, गुरुभक्ति, गुरुश्रद्धा और गुरुस्नेह प्रचुर मात्रामें था।

नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।
इति शम्।

गुरु-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री)

इस असार संसारमें मानवशरीर धारण करनेवालोंको दुरवगाह भवसिन्धुसे पार उतरनेके लिये एक श्रीमद्गुरुपदाम्बुजनौकाको छोड़ दूसरा उपाय नहीं है, यही सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। परन्तु श्रीमद्गुरुदेवका अर्चनादि नहीं जाननेसे गुरु-तत्त्वका पूरा पता लगना असम्भव दीख पड़ता है। श्रीमद्गुरुदेवका नाम प्रायः सब जानते ही हैं, परन्तु बहुत-से लोग अर्चनादि नहीं जानते। उन लोगोंके उपकारार्थ इस विषयपर हम तन्त्रानुसार कुछ संग्रहकर यथामति पाठकोंके सामने उपस्थित करना आवश्यक समझते हैं। साधक ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर रातका वस्त्र छोड़, शुद्ध वस्त्र पहनकर और सब तरहसे शुद्ध होकर तथा स्वस्तिकासन करके शिरस्थ सहस्रदलकमल-कर्णिकामें परम शिवरूप गुरुदेवका ध्यान करें। यथा—मूलाधारमें चतुर्दलकमलकी कर्णिकापर स्थित जो स्वयम्भूलिङ्ग है उसमें सार्द्धत्रिवलयाकार असंख्य विद्युत्कान्तिवाली, विसतन्तुसदृश सूक्ष्मा इडा, पिङ्गला नाडीके मध्य स्थित जो सुषुम्ना नाडी है उसके मध्यमें मुख की हुई कुण्डलिनी है। उसको 'हंसः' मन्त्रसे जगाकर फिर 'हंसः' मन्त्रका जप करें। इस विषयमें अनन्तफल तन्त्रमें लिखा है—

हंसात्मिकां भगवतीं जीवो जपति सर्वदा।
हङ्कारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः॥
अस्याः सम्बोधमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः।

फिर उस स्थानसे उठाकर स्वाधिष्ठानचक्र तथा मणिपूरकचक्रको सुषुम्ना नाडीद्वारा भेदकर और अनाहतचक्रमें जीवात्माके साथ संयोगकर, फिर सुषुम्ना नाडीद्वारा विशुद्धचक्र और आज्ञाचक्रको भेदनकर शिरस्थ सहस्रदलकमल-कर्णिकामें परमशिवरूप गुरुदेवसे संयोग कराकर उन जीवात्मा, परमशिव और कुण्डलिनी इन तीनोंको एक समझकर चन्द्रमण्डलसे स्रवित सुधारसपानसे आनन्दोन्मत्त सदाशिवरूपी श्रीमद्गुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। यथा—

स्वमूर्द्धनि सहस्रारपङ्कजासीनमव्ययम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं शरच्चन्द्रनिभाननम्॥
प्रफुल्लेन्दीवराकारनेत्रद्वयविराजितम्।
शुक्लाम्बरधरं शुक्लगन्धमाल्यानुलेपनम्॥
विभूषितं श्वेतमाल्यैर्वराभयकरद्वयम्।
वामाङ्गगतया शक्त्या सहितं स्वप्रकाशया॥
सुरक्तोत्पलधारिण्या ज्ञानैर्मुदितमानसम्।
शिवेनैक्यं समुन्नीय ध्यायेत्परगुरुं धिया॥

अपने मस्तकके बीच सहस्रदलकमलमें बैठे हुए अविनाशी, स्वच्छ स्फटिक मणिके सदृश कान्तिवाले, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मुखवाले, विकसित कमलके समान विशाल नेत्रवाले, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले, श्वेत गन्ध तथा श्वेत पुष्पकी मालाको धारण करनेवाले, श्वेत चन्दन धारण करनेवाले, दोनों हाथोंमें वराभयमुद्रा धारण करनेवाले तथा वामाङ्गमें लाल कमल धारण किये हुए अपने तेजसे प्रकाशित स्वशक्तिसे युक्त होकर ज्ञानसे प्रसन्न चित्तवाले अपने परम गुरुदेवको सदाशिवके साथ ऐक्य समझकर ध्यान करना चाहिये।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

सहस्रारे महापद्मे किञ्जल्कगणशोभिते।
प्रफुल्लपद्मपत्राक्षीं घनपीनपयोधराम्॥
प्रसन्नवदनां क्षीणमध्यां ध्यायेच्छिवां गुरुम्।
पद्मरागसमाभासां रक्तवस्त्रसुशोभिताम्॥
रक्तकङ्कणपाणिं च रक्तनूपुरशोभिताम्।
स्थलपद्मप्रतीकाशपादद्वन्द्वसुशोभिताम्॥
शरदिन्दुप्रतीकाशरत्नोद्भासितकुण्डलाम्।
स्वनाथवामभागस्थां वराभयकराम्बुजाम्॥

अपने सिरके बीच जो किञ्जल्कसे शोभित सहस्र-पत्रवाला महाकमल है उसमें विकसित कमलपत्रके समान सुन्दर आँखवाली, निविड़ मांसल स्तनवाली, प्रसन्न मुखवाली, कृश कटिवाली, पद्मरागमणिके समान सुन्दर कान्तिवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों हाथोंमें पद्मरागमणि-खचित कङ्कणको धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों चरणोंमें रक्तनूपुरको धारण करनेवाली, स्थल कमलके समान चरणवाली, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मणिके प्रकाशसे प्रकाशयुक्त कुण्डलवाली, हाथोंमें वराभय मुद्रा धारण करनेवाली, अपने स्वामीके वामाङ्गमें विलसित होनेवाली जो महाशक्तिरूपा गुरु है उसको शिरस्थ सहस्रदलकमल-कर्णिकामें ध्यानकर अधोलिखितानुसार उसकी मानसिक मुद्रात्मिका पूजा करनी चाहिये।

लं पृथ्वीतत्त्वात्मकं गन्धं गुरवे समर्पयामि नमः।

यह दोनों हाथोंके कनिष्ठ और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे गन्ध अर्पण करना चाहिये।

हुं आकाशतत्त्वात्मकं पुष्पं गुरवे समर्पयामि नमः।

यह दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठ और तर्जनीकी संयोगात्मक मुद्रासे पुष्प अर्पण करना चाहिये।

यं वायुतत्त्वात्मकं धूपं गुरवे समर्पयामि नमः।

यह दोनों हाथोंके ऊर्ध्वमुख तर्जनी और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे धूप अर्पण करना चाहिये।

इं वह्नितत्त्वात्मकं दीपं गुरवे समर्पयामि नमः।

यह दोनों हाथोंके मध्यमा और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे दीप अर्पण करना चाहिये।

वं अमृततत्त्वात्मकं नैवेद्यं गुरवे समर्पयामि नमः।

यह दोनों हाथोंके अनामिका और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे नैवेद्य अर्पण करना चाहिये। उसके बाद प्राणायामत्रय अधोलिखितानुसार करना चाहिये।

प्रथम प्राणायाम

'ओं' इस मन्त्रसे वा 'ऐं' इस मन्त्रसे ही प्राणायामत्रय सम्पन्न होता है।

दाहिने हाथके अङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर वाम नासापुटसे ४ वा १६ बार मन्त्र जपता हुआ श्वास खींचकर नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण अनामिकासे वाम नासापुटको दबाकर १६ वा ६४ बार मन्त्र जपकर तथा वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण नासापुटसे दक्षिणाङ्गुष्ठ हटाकर ८ वा ३२ बार मन्त्र जपता हुआ तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ श्वास खींचकर रेचक नामक प्राणायाम करे।

द्वितीय प्रकार

पूर्वोक्त प्राणायामका उलटा ही द्वितीय प्राणायाम होता है। दक्षिणानामिकासे वाम नासापुटको दबाकर दक्षिण नासापुटसे ४ वा १६ बार मन्त्र जपता हुआ नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास खींचकर पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिणाङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर १६ वा ६४ बार मन्त्र जप करते हुए वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर वाम नासापुटसे दक्षिण अनामिकाको हटाकर ८ वा ३२ बार मन्त्र जपते हुए तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास निकाल रेचक नामक प्राणायाम करे। प्रथम प्रकार ही तृतीय प्रकारका प्राणायाम होता है। प्रतिपादित प्राणायामत्रय करके फिर मालाका यथाविधि संस्कार कर—

क्लीं माले माले महामाले सर्वसिद्धिस्वरूपिणि। चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ओं कामेश्वर्य्यै नमः।

—इस मन्त्रसे अक्षतादि लेकर पूजा करके 'ऐं' इस गुरु-मन्त्रका अष्टोत्तरशत वा अष्टाधिकसहस्र जपकर—

ओं त्वं माले सर्वदेवानां पूजिता शुभदा मता।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यञ्च धेहि मे॥

—इस मन्त्रसे मालाको प्रणामकर मस्तकपर रखे। इसके बाद पुरुष गुरुदेवके पक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्त्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके दाहिने हाथमें समर्पण करे।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्त्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके वाम हस्तमें अर्पण करे।

उसके बाद—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

—इन तीनों मन्त्रोंसे।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

नमस्ते देवदेवेशि नमस्ते हरपूजिते।
ब्रह्मविद्यास्वरूपायै तस्यै नित्यं नमो नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
उन्मीलितं यया चक्षुस्तस्यै नित्यं नमो नमः॥

—इन दोनों मन्त्रोंसे शिरस्थ सहस्त्रदलकमलकर्णिकागत परम गुरुदेवको प्रणामकर तथा उनसे आज्ञा लेकर सांसारिक कार्यमें लगना चाहिये।

गुरु-तत्त्व

संसारका कोई भी कार्य अनुभवी गुरु या जानकार पथप्रदर्शकके बिना सहज ही सफल नहीं होता। केवल पुस्तकें पढ़नेसे काम नहीं चलता; जो मनुष्य उस कामको करके सफल हो चुका हो, उसकी सलाह आवश्यक होती है और कठिन कार्य हो तो कुछ दिन उसके पास रहकर विनय और सेवासे उसे प्रसन्न रखते हुए उससे सीखना पड़ता है। जब लौकिक कार्योंका यह हाल है तब आध्यात्मिक साधनमें तो गुरुकी बड़ी ही आवश्यकता है। वहाँ तो पद-पदपर गिरनेका डर है। इसलिये प्रत्येक साधकको अनुभवी गुरुके शरण होकर अध्यात्मसाधना करनी चाहिये। भारतीय साधनामें गुरुपरम्परा और गुरुकुलोंका बहुत ऊँचा स्थान है, क्योंकि गुरु बिना ज्ञान नहीं होता। गुरु ही आँखें खोलकर, हाथमें मसाल लेकर विघ्नोंसे बचाकर शिष्यको लक्ष्यस्थानतक सुखसे पहुँचाता है। गुरु और ईश्वरमें कोई भेद नहीं, प्रत्युत शिष्यके लिये तो गुरु ईश्वरसे भी बढ़कर है। यही गुरु-तत्त्व है।

परन्तु आजकल सच्चे गुरु प्रायः नहीं मिलते। असलमें गुरु सदा ही मुश्किलसे मिलते थे। फिर आजकल तो बहुत-से लोभी-लालची और कामी-कपटी लोग गुरु बन गये हैं, इसलिये गुरुवेश कलङ्कित-सा हो गया है। इसलिये बहुत ही सावधानीसे गुरु बनाना चाहिये। गुरुमें इतने गुण अवश्य होने चाहिये—

'स्वभाव शुद्ध हो, जितेन्द्रिय हो, धनका लालच जिसे हो ही नहीं, वेदशास्त्रोंका ज्ञाता हो, सत्यतत्त्वको पा चुका हो, परोपकारी हो, दयालु हो, नित्य जप-तपादि साधनोंको स्वयं (चाहे लोकसंग्रहार्थ ही) करता हो, सत्यवादी हो, शान्तिप्रिय हो, योगविद्यामें निपुण हो, जिसमें शिष्यके पापनाश करनेकी शक्ति हो, जो भगवान्का भक्त हो, स्त्रियोंमें अनासक्त हो, क्षमावान् हो, धैर्यशाली हो, चतुर हो, अव्यसनी हो, प्रियभाषी हो, निष्कपट हो, निर्भय हो, पापोंसे बिलकुल परे हो, सदाचारी हो,

सादगीसे रहता हो, धर्मप्रेमी हो, जीवमात्रका सुहृद् हो और शिष्यको पुत्रसे बढ़कर प्यार करता हो।'

जिनमें ये गुण न हों और निम्नलिखित अवगुण हों, उन्हें गुरु नहीं बनाना चाहिये—

'जो संस्कारहीन हो, वेदशास्त्रोंको जानता-मानता न हो, कामिनी-काञ्चनमें आसक्त हो, लोभी हो, मान, यश और पूजा चाहता हो, वैदिक और स्मार्त कर्मोंको न करता हो, क्रोधी हो, शुष्क या कटुभाषण करता हो, असत्य बोलता हो, निर्दयी हो, पढ़ाकर पैसा लेता हो, कपटी हो, शिष्यके धनकी ओर दृष्टि रखता हो, मत्सर करता हो, नशेबाज, जुआरी या अन्य किसी प्रकारका व्यसनी हो, कृपण हो, दुष्टबुद्धि हो, बाहरी चमत्कार दिखलाकर लोगोंके चित्त हरता हो, नास्तिक हो, ईश्वर और गुरुकी निन्दा करता हो, अभिमानी हो, बुरी सङ्गतिमें रहता हो, भीरु हो, पातकी हो, देवता, अग्नि और गुरुमें श्रद्धा न रखता हो, सन्ध्या-तर्पण, पूजा और मन्त्र आदिके ज्ञानसे रहित हो, आलसी हो, विलासी हो, धर्महीन हो, संन्यासी होकर त्यागी न हो, और गृहस्थ होकर गृहिणीरहित हो, शक्तिहीन हो और वृषलीपति हो।'

स्त्रियोंको किसी भी अन्य पुरुषसे दीक्षित होनेकी या किसी परपुरुषको गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं है। सिद्धमन्त्र स्वामी अपनी पत्नीको दीक्षा दे सकता है। दीक्षा न दे तो भी पति उसका परम गुरु ही है। विधवा स्त्री केवल श्रीपरमात्माको ही गुरु समझकर उन्हींका सेवन करे।

जो धन और कामिनीका लोभी मालूम हो, ऐसे गुरुसे तो सदा दूर ही रहना चाहिये।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आजकल सद्गुरु हैं ही नहीं, उत्कट इच्छा और सच्ची चाह होनेपर संसारसागरसे तारनेवाले सद्गुरु अवश्य ही मिलते हैं।

दीक्षा-तत्त्व

(लेखक—गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी)

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।

(श्रीमद्भागवत)

यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।

(उपनिषद्)

उपर्युक्त पवित्र वचनोंके अनुसार भगवान्ने ब्रह्माजीको हृदयके द्वारा (अपने हृदयसे उनके हृदयमें, वाणी और श्रोत्रद्वारा नहीं) वेदकी शिक्षा दी। यही सर्वप्रथम पवित्र दीक्षा है। साक्षात्कृतधर्मा महर्षिगण पहले इसी प्रकार दीक्षा दिया करते थे। जैसा कि कुलार्णवतन्त्रमें लिखा है—

यथा कूर्मः स्वतनयान्ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेशस्तु मानसः स्यात्तथाविधः॥

नीतिशास्त्रमें भी इसका खुलासा प्रकारान्तरसे किया है—

दर्शनध्यानसंस्पर्शान्मत्सो कूर्मी च पक्षिणी।
शिशून् पालयते नित्यं तथा सज्जनसङ्गतिः॥

वेदमें एक मन्त्र ऐसा है जिसको गुरु अपने शिष्यसे कहकर अपनी उच्च शुद्ध मानसिकादि वृत्तियोंको शिष्यमें दीक्षाके समय स्थापित करता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

ये सारी क्रियाएँ प्राचीन कालमें यथार्थरूपमें होती थीं; तभी तो ध्रुवजीने छः महीनेहीमें भगवान्का साक्षात्कार कर लिया, प्रह्लादजी गर्भमें ही दीक्षित होकर परम भक्त हो गये, परशुराम और विश्वामित्र गर्भमें आनेसे भी पहले संस्कृत (दीक्षित) चरुसे ही अतुल तेजस्वी हुए। यह सब योगका प्रभाव है। इसीसे दीक्षा योगका अङ्ग है और योगीकी निज वस्तु है। पर कलियुगमें वह असम्भव है, इससे आजकल उपदेशमात्र ही होता है।

वह दीक्षा पाँच प्रकारकी है—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती, वेधमयी, साम्प्रदायिकी। जिसमें गुरु शिष्य,

मन्त्र, देश और काल इनका शोधन करके, कुण्ड, मण्डप तथा वेदीका निर्माण करके, स्वस्तिवाचनादिपूर्वक पञ्चरात्राद्यागम-विधिसे उपदेश करें उसको क्रियावती दीक्षा कहते हैं।

जिसमें पुरुषप्रकृतिरूप अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त (अक्ष) वर्णोंको पुरुषप्रकृतिरूप शिष्यके देहमें सृष्टिक्रमसे न्यास करके और संहारक्रमसे उन्हीं वर्णोंको शिष्यके शरीरमें लय करके तथा तत्त्वोंके साथ शिष्यके चैतन्यको परमात्मामें मिलाकर, शिष्यको सकल तत्त्वोंसे युक्त और सकल कल्मषोंसे मुक्त समझकर आगमोक्त विधिसे उपदेश किया जाय उसको वर्णमयी कहते हैं।

जिसमें पैरोंसे लेकर घुटनोंतक प्रतिष्ठाकलाको, नाभिसे कण्ठपर्यन्त विद्याकलाको, कण्ठसे ललाटपर्यन्त शान्तिकलाको, ललाटसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त शान्त्यतीताकलाको शिष्यके देहमें भावना करके और फिर क्रमसे निवृत्तिकलाको प्रतिष्ठाकलामें, प्रतिष्ठाकलाको विद्याकलामें, विद्याकलाको शान्तिकलामें, शान्तिकलाको शान्त्यतीताकलामें संहार करके, शिष्यके शरीरको शुद्ध समझकर, परमात्मासे उत्पन्न हुई सारी कलाओंको फिर शुद्ध शिष्यदेहमें मिलाकर विधिपूर्वक उपदेश किया जाय उसको कलावती कहते हैं। इसीके अन्तर्गत स्पर्शदीक्षा, वाग्दीक्षा और दृग्दीक्षा हैं।

वैधी दीक्षामें शिष्यके मूलाधारचक्रसे क्रमपूर्वक स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरकचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्रपर्यन्त चतुर्दलकमल, षट्दलकमल, दशदलकमल, द्वादशदलकमल, षोडशदलकमल और द्विदलकमलोंके पत्रोंमें वकारसे लेकर सकारतक चार (अक्षर), बकारसे लेकर लकारतक छः, डकारसे लेकर फकारतक दस, ककारसे लेकर ठकारतक बारह, अकारादि सोलह स्वर, और फिर ह-क्ष ये दो अक्षर स्थापन करे। तथा मूलाधारादि चक्रोंमें कुण्डलिनी और कमलोंमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, बिन्दु और नादका ध्यान और उत्तरोत्तर इनका मिलान तथा वेध करे। फिर जीवात्मा और कुण्डलिनीको सर्वोपरि विराजमान परमतत्त्व प्रणवप्रतिपाद्य श्रीभगवान्में मिलाकर और वेधकर उपदेश करे। इसकी यथार्थ विधिक्रिया करनेसे शिष्य पूर्ण बोधवान् भूत, भविष्यत्का जाननेवाला होता है। पर इसको पूर्ण योगी ही कर सकते हैं। यह सब संक्षेपमें ही यहाँ लिखा गया है और सो भी केवल स्वरूपमात्रके दिखानेके लिये। विशेष जिज्ञासा हो तो आचार्योंसे जानना चाहिये। क्योंकि कुण्डलिनीका जाग्रत् करना, कमलोंका खिलाना, चक्रादिका वेध करना सहज कार्य नहीं है।

अब साम्प्रदायिकी दीक्षाका विचार किया जाता है। इसमें पूर्वोक्त चारों दीक्षाओंका सार ले लिया गया है। और यह भगवत्प्रेमको बढ़ानेवाली है। तथा इसीका किसी-न-किसी रूपमें सब वैष्णवाचार्योंमें प्रचार है। इसमें शिष्यको विरक्त होकर भगवद्भक्तिकामनासे शब्दब्रह्म परब्रह्मके ज्ञाता परमभागवत गुरुके आश्रय करनेकी पहले आवश्यकता है। शिष्य दीक्षासे पूर्वदिन शरीरशुद्धिनिमित्त प्रायश्चित्त और उपवास करे। दूसरे दिन गाजे-बाजेके साथ गुरुके मन्दिरमें जाय। वहाँ गुरुको यथासाध्य वस्त्राभूषण, रत्न आदि भेट करे। गुरु सर्वतोभद्रमण्डलका स्थापन कर उसपर कलशस्थापन करे, उसपर कूर्चस्थापन करे, फिर शिष्य वरणसामग्रीको गुरुके चरणोंपर रखकर गुरुका वरण करे। फिर गुरु आवरणसहित भगवान्का पूजन करके भगवत्प्रसादी संस्कृत तुलसीकी कण्ठीको शिष्यके गलेमें बाँधे। फिर शिष्यके ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगावे। तिलकमें भगवन्मन्दिरकी भावना और मध्य बिन्दुमें भगवान्की भावना है। कोई-कोई तिलकमें भगवच्चरणकी भावना करते हैं। और कोई-कोई तिलकको ओंकारका रूप मानते हैं। प्रथम दण्ड अकार, दूसरी ओरका दण्ड उकार, मध्यकी बिन्दु मकार। फिर चक्रादि मुद्राओंको धारण करावे। इन मुद्राओंमें भी श्रीभगवान्के चरणोंमें जो चक्रादि चिह्न हैं उनकी भावना है। ये मुद्रा दो प्रकारकी हैं—शीतल मुद्रा और तप्त मुद्रा। स्वसम्प्रदायानुसार इनको धारण करे। फिर अश्वत्थपत्रपर भगवत्सम्बन्धी नाम लिखकर शिष्यके दक्षिण कानमें कहे। फिर मन्त्र सुनावे। उसका संक्षिप्त प्रकार यह है। पहले शिष्यके नेत्रोंको नवीन वस्त्रसे बाँधे। फिर शिष्यके दाहिने हाथको पकड़कर पूर्वस्थापित कलशके समीप लाकर कलशस्थित भगवान्के चरणोंमें शिष्यसे पुष्पाञ्जलि समर्पण करावे, फिर नेत्र खोल दे (इससे भीतरके नेत्र खुलनेकी भी शिष्य भावना करे)। फिर शिष्य शुद्धासनपर बैठकर गुरुके सम्मुख हाथ जोड़कर '**अज्ञानतिमिरान्धस्य**' इत्यादि गुरुस्तुति

करे। फिर गुरु शिष्यसे कलशस्थ भगवान्‌का पूजन करावे और भूतशुद्धिसे शिष्यके देहकी शुद्धि करे। देनेवाले मन्त्रका ऋष्यादिन्यास करके कुम्भस्थ जलसे शिष्यका मार्जन करे। शिष्य आचमन करे। फिर गुरु अपना और शिष्यका सिर वस्त्रसे ढककर श्रीभगवान्‌का ध्यान करते हुए और अपने हृदय तथा मुखसे निकलती हुई और शिष्यके हृदयमें प्रवेश होती हुई तेजोमयी विद्याकी भावना करके, गुरुके दक्षिण चरणको अपने दक्षिण हाथसे तथा वाम चरणको बायें हाथसे पकड़े हुए शिष्यके दाहिने कानमें तीन बार मन्त्रका उपदेश करे और एक बार बायें कानमें। फिर शिष्य गुरुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करे। फिर एक सौ आठ, अट्ठाईस, आठ बार इच्छानुसार मन्त्रका जप करे। और गुरु, देवता, मन्त्र तथा आत्माकी एकताकी भावना करे। उस दिनसे भगवच्छरणागतिका व्रत करे। देह-गेहादिकी अहंता-ममताको त्यागकर श्रीभगवान्‌में ममता और तद्दास्यमें अहंताको दृढ करे। फिर गुरु और वैष्णवोंका दान, मान, भोजन आदिसे सत्कार करे। इसके अनन्तर शिष्यका पूर्णाभिषेक किया जाता है जिससे दीक्षाविधि पूर्ण होती है और शिष्यको भी दूसरोंको दीक्षित करनेका अधिकार हो जाता है। और उसे गोस्वामिपदवीकी प्राप्ति होती है। जैसा कि योगिनीतन्त्रमें लिखा है।

कृते पूर्णाभिषेके तु गोस्वामित्वमवाप्नुयात्।
गावो मन्त्रा यतस्तेषां निग्रहानुग्रहक्षमः॥

यह साम्प्रदायिकी दीक्षाकी विधि है। इतनी भी शक्ति न हो तो केवल गुरुकी शरणमें आकर उनका पूजन कर उनसे तुलसीकी कण्ठी, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा और नाम लेकर मन्त्र ग्रहण करे और भगवद्भक्त बने।

प्राणायामविषयक मेरा अनुभव

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

इस अनादि संसारमें चार प्रकारके मनुष्य हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। पामर धर्माधर्मको नहीं मानते, विषयी नीतिपूर्वक इहलोक और परलोकके विषयसुखके लिये सकाम कर्म करते हैं, मुमुक्षु विषयोंसे उपराम होकर आत्यन्तिक कल्याणकी जिज्ञासा करते हैं, और मुक्त वे हैं जिन्होंने पारमार्थिक कल्याणको प्राप्त कर लिया है। इनमेंसे पामर, विषयी और मुक्तकी प्रवृत्ति पारमार्थिक कल्याणके लिये नहीं होती। क्योंकि पामरोंके सत्यासत्य-विषयक बुद्धि जाग्रत् नहीं है। विषयीकी सकाम कर्मोंमें ही अलंबुद्धि है और मुक्त जिज्ञासासे अतीत है। अतः केवल मुमुक्षु पुरुष ही अविचल श्रेयकी प्राप्तिकी कामना करते हैं। पूर्वजन्मके शुभाशुभ कर्मोंकी विभिन्नताके अनुसार मुमुक्षु पुरुषोंकी भी वासना और रुचिमें अन्तर होता है। इसीलिये शास्त्रकारोंने अधिकारिभेदसे ज्ञान, कर्म, भक्ति, योगादि अनेक विभिन्न मार्गोंका उपदेश किया है। इनमें राजयोगकी इच्छा करनेवालोंमें जो लोग विक्षेपवृत्तिवाले हैं उन साधकोंके लिये हठयोगका उपदेश किया गया है।

हठयोगका लक्षण शास्त्रकारोंने इस प्रकार किया है—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥

'फुफ्फुसमेंसे उच्छ्‌वासरूपसे बाहर आनेवाले वायुको प्राण और 'ह' कहते हैं, उष्ण होनेके कारण इसका नाम 'सूर्य' भी है। बाहरसे जो वायु श्वासरूपसे भीतर फुफ्फुसोंमें खींचा जाता है वह अपान और 'ठ' है, शीतल होनेके कारण उसे 'चन्द्र' नाम भी देते हैं। इसी सूर्य और चन्द्र अर्थात् प्राणापानकी क्रियाके नियमित संयोगको हठयोग कहते हैं।' इस हठयोगका फल राजयोगकी प्राप्ति है। इसलिये कहा है—

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।

(हठयोगप्रदीपिका)

हठयोगके चार अङ्ग हैं—आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसन्धान। आसनोंके द्वारा नाडियाँ मुलायम होती हैं और शरीरके रोगोंकी निवृत्ति होती है। पश्चात् प्राणायामादि अङ्गोंकी साधनाका अभ्यास किया जाता है। यहींपर प्राणायामके अधिकारीपर विचार करना है।

ब्रह्मचारी, नियमित आहार-विहारवाले, मितभाषी, सत्यवादी, श्रद्धालु, अक्रोधी, धीर, तमाखू, भाँग, गाँजा

आदि मादक वस्तुओंका सेवन नहीं करनेवाले मुमुक्षु ही प्राणायामके अधिकारी हैं। उन्हें सद्गुरुकी सन्निधिमें रहकर अभ्यास करना चाहिये। ब्रह्मचर्यहीन, व्यवहारमें अधिक प्रवृत्त रहनेवाले, सूर्यके तापमें भ्रमण करनेवाले, अग्निसेवी, अधिक श्रम करनेवाले, व्याकरणादि शास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले, पराधीन और यम-नियमका पालन नहीं करनेवाले, जन्मसिद्ध रोगी और दुर्बल हृदयवाले प्राणायामके अधिकारी नहीं हो सकते। ऐसे मुमुक्षुओंमें भी जो बालक और युवक (सातसे लेकर चालीस सालतककी आयुवाले) हैं, जिनके शरीरमें रक्ताभिसरणकी क्रिया बलवती है और जिनके हृदय, फुफ्फुसादि अवयवोंमें जन्मगत कोई न्यूनता नहीं है, वे ही प्राणायामके अधिकारी हैं। प्राचीन कालमें साधकोंको पहले उपासनाकी सिद्धि करवायी जाती थी। तब गुरु योगाभ्यास कराते थे। इससे विघ्नकी सम्भावना कम रहती थी। इतना संरक्षण होनेपर भी यदि दुष्ट प्रारब्ध-दोषसे कदाचित् कोई विघ्न उपस्थित हो जाता था तो अनुभवी आचार्य अनुग्रह करके अपने दृढ संकल्पद्वारा उस विघ्नसे अपने शिष्यको तुरन्त बचा लेते थे। परन्तु कालप्रभावसे आजकल ऐसे योगी दिखायी नहीं देते। आजकल तो यथार्थमें सिद्ध योगी हैं वे तो संसारसम्बन्धसे बिलकुल अलग रहते हैं। और जो अपनेको योगी प्रसिद्ध करते हैं उनमें अधिकांश ऐसे देखनेमें आते हैं जो बोलनेमें तो बड़े कुशल हैं, परन्तु यथार्थ अनुभवसे रहित हैं। इसलिये हठयोगके साधकोंको सद्गुरुकी पहिचानमें भी बहुत बाधा आती है। इस विषयमें मुझे पूज्यपाद ब्रह्मलीन स्वामी परमानन्दजी तीर्थका कहा हुआ एक प्रसङ्ग याद आता है। उसे मैं कल्याणके योग-जिज्ञासु पाठकोंके हितके लिये यहाँ लिखता हूँ।

एक समय स्वामी परमानन्दजीको एक प्रसिद्ध ब्रह्मचारीजी मिले जो हठयोगमें अपनेको कुशल कहते थे। आपने स्वामीजीसे कहा, 'स्वामीजी! यदि आप मेरे आश्रमपर एक वर्ष रहें तो मैं आपको योगाभ्यास सिखा दूँ।' स्वामीजीने उत्तर दिया कि 'महाराज! मुझे आपकी दया चाहिये, मैंने यह नियम कर लिया है कि जिस योगी महापुरुषके शिष्यके शिष्य सिद्धावस्थाको प्राप्त हो गये हों, मैं उनसे योग सीखूँगा। तात्पर्य यह कि आप बीस वर्षोंसे सिद्ध योगी तो कहलाते हैं, परन्तु अबतक आप एक भी शिष्य तैयार नहीं कर सके; तब मुझे आप योग सिखला देंगे, यह मैं कैसे मानूँ?' इसी रीतिसे साधकोंको पहले देख लेना चाहिये कि जिनसे योग सीखना हो उन्होंने किससे सीखा है, वे कैसे योगी थे, और इन्होंने अबतक अपने कितने शिष्योंको योग सिखाकर सिद्ध बनाया है, इनका जीवन पूर्ण सरल है या नहीं। इन सब बातोंपर पहले सोच-विचार करके तब सद्गुरुकी शरण स्वीकार करनी चाहिये। यद्यपि किसीकी टीका करना मैं अच्छा नहीं मानता तथापि अधिकारियोंके हितके लिये मैं अपना कुछ थोड़ा-सा अनुभव और लिखता हूँ जिससे साधक योगविषयक ग्रन्थलेखक, लेख लिखनेवाले या व्याख्यान देनेवालोंकी बातोंमें आकर कष्ट तथा हानि न उठावें।

लगभग तीन वर्ष पहले मैं नासिक गया था। उस समय वहाँ एक ब्रह्मचारीजी आये थे। आपको अनेक बड़े-बड़े अफसरलोग सिद्धयोगी मानकर पूजते हैं। आप कफप्रकोपसे पीड़ित थे। आपने प्राणायामके सम्बन्धमें एक ग्रन्थ भी लिखा है। परन्तु उस ग्रन्थमें कुछ दोष प्रमाणित करनेपर आप निरुत्तर हो गये।*

एक महात्माजी हठयोगके विषयमें लेख लिखा करते हैं। आप ग्रेज्युएट हैं। संस्कृत और वेदान्तके पण्डित हैं तथापि योगी नहीं हैं। आपसे मैं अनेक समय मिला हूँ। एकाध मास साथ भी रहा हूँ, आपके लेख जिन योगाभ्यासियोंने पढ़े होंगे वे तो उनका मर्म समझ गये होंगे। परन्तु योगाभ्यास नहीं जाननेवालोंमें तो आपके विषयमें भ्रम होना सहज ही है।

एक विद्वान् गृहस्थ अपनेको सिद्ध मानते हैं। उनको मैं जानता हूँ। आपकी धर्मपत्नीने दस वर्षोंमें पाँच सन्तानोंको जन्म दिया है। आपके मस्तिष्क, नेत्र, दाँत, फुफ्फुस और मूत्राशयमें विकृति हो गयी है। तथापि आप योगीरूपसे पूजे जाते हैं। योगविषयक

* वर्तमान समयमें बहुत-से पाश्चात्त्य शिक्षाप्राप्त विद्वान् अपनेको सब विषयोंमें निष्णात मान बैठते हैं, किसी अपरिचित विषयका कुछ भी संस्कार न होनेपर भी इस विषयमें लम्बी-चौड़ी हाँकने और लिखने लगते हैं। इसी श्रेणीके कुछ ग्रेज्युएटोंने भी योग नहीं जाननेपर भी योगके ग्रन्थोंपर और योगपर अपनी सम्मति दी है।

साधकोंको लंबे-लंबे उपदेश देते हैं। अभीतक किसीको आपने योगाभ्यास नहीं सिखाया है।

प्रिय साधको! ऐसे महानुभावोंके ग्रन्थ, व्याख्यान या लेखोंसे मोहित होकर गर्तमें न गिरें। सिद्धयोगीका शरीर वृद्धावस्थामें कदाचित् निर्बल हो जाय और अवयवोंकी शक्ति चाहे क्षीण हो जाय, परन्तु वे व्याधिग्रस्त कभी नहीं होंगे। यदि अभ्यास बन्द करनेके पश्चात् रोग हो गया हो, और पुनः अभ्यास करके या सङ्कल्पबलसे रोगको दूर न हटाया हो तो ऐसा हो भी सकता है। परन्तु उनसे भी योगाभ्यास न सीखे। कारण, जिसने अपने रोगको नहीं हटाया, वे शिष्यका रक्षण कैसे कर सकेंगे? अतएव जो क्रियापरायण, उत्साही, निर्लोभी, निष्कामी, मान न चाहनेवाले, सरल स्वभाववाले और पूर्ण सत्यवादी हों, उन्हींसे योग सीखना चाहिये।

मुझे भी पाठक कोई बड़ा साधक या सिद्ध न समझें। मैं तो अभीतक साधक हूँ। तथापि इसलिये लेख लिख रहा हूँ कि मुझसे कम बोधवाले साधकोंको सद्गुरुसे अभ्यास करनेके समय मेरा लेख शायद कुछ सहायता पहुँचावे। लगभग दस वर्ष पहले १५० पृष्ठोंकी एक नोटबुक मैंने लिखी थी और उस समय मेरे पास अनेक ग्रन्थ थे। इस समय मेरे पास वह लिखी हुई नोटबुक या कोई ग्रन्थ नहीं है। और आठ वर्षसे मेरा क्रिया करना भी बन्द है जिससे इस लेखमें अनेकों आवश्यक सूचनाओंका छूट जाना सम्भव है। परन्तु जितना लिखा है, वह शास्त्रसम्मत और अनुभूत है। तथापि साधक लेख पढ़कर बिना गुरुसे पूछे कोई क्रिया न करें, यह मेरी प्रार्थना है।

जिन साधकोंने आसनोंका अभ्यास करके नाडी-समूहको मृदु बना लिया हो, वही प्राणायामके अभ्यासके अधिकारी हैं। उपनिषदों और अनेक ग्रन्थकारोंने लिखा है—

अथासने दृढे योगी प्राणायामं समभ्यसेत्।

जबतक पद्मासन, सिद्धासनादि मुख्य आसनोंमेंसे कोई एक दृढ न हुआ हो, किसी एक आसनसे लगातार दो-तीन घण्टेतक अचल न बैठा जाय, तबतक आसनोंका ही अभ्यास बढ़ावे। आसन दृढ होनेपर प्राणायाम प्रारम्भ करे। प्राणायामका अभ्यास आरम्भ करनेके लिये वसन्त और शरद् ऋतु अनुकूल है। दूसरी ऋतुओंमें आरम्भ करनेमें विघ्नकी सम्भावना रहती है। वसन्त-ऋतुमें स्वाभाविक ही अन्तःस्थित कफ प्रकुपित होकर बाहर निकलने लगता है और शरद् ऋतुमें पित्तप्रकोप होता है। इससे कफदोष शीघ्र जल जाता है। इस हेतुसे ये दोनों ऋतुएँ हितकर हैं। असलमें तो अपनी प्रकृतिका विचार करके ही अभ्यास प्रारम्भ करें। इसी प्रकार जिस देश या स्थानमें स्वाभाविक नित्य कफकी वृद्धि होती हो, ऐसे देश या स्थानमें रहकर योगाभ्यास न करे।

प्राणायामके अभ्यासके लिये निर्वात, स्वच्छ और उपद्रवरहित स्थान होना चाहिये। खुली हवामें प्राणायाम न करे। कारण, वायुके प्रचण्ड आघात लगते रहेंगे, तो प्रस्वेद बाहर नहीं आ सकेगा। प्रस्वेद आनेसे ही नाडियोंकी शुद्धि होती है। इसी प्रकार शरीरपर तैल मर्दन भी न करे, तैल मर्दनसे नाडियोंमें स्थित मल दृढ हो जाता है। वह बाहर जल्दी नहीं निकल सकता। प्राणायामके समय जो प्रस्वेद आवे, उसे शरीरपर मल देना चाहिये। ऐसा करनेसे शरीरमेंसे प्राणतत्त्वका निकलना रुक जाता है और शरीर भी मुलायम बनता है।

प्राचीन ग्रन्थकारोंने प्राणायामका अभ्यास दिनमें चार बार—प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रिके समय नियमपूर्वक करनेकी आज्ञा दी है। और एक-एक बारमें दस प्राणायामसे आरम्भ करके प्रतिदिन पाँच-पाँच बढ़ाते हुए पन्द्रह दिनोंके बाद अस्सी-अस्सी प्राणायाम करनेको लिखा है। इस प्रकार अस्सी प्राणायाम एक बार करनेसे एक दिनमें ३२० प्राणायाम होते हैं। ये तीन सौ बीस प्राणायाम उत्तम करने हों तो इसमें छः घण्टेसे अधिक समय लगेगा। इतना परिश्रम वर्तमान कालके साधकोंके लिये अनुकूल नहीं होगा। ऐसी मेरी समझ है। इसलिये वर्तमान समयमें साधक दस प्राणायामसे आरम्भ करके चालीसतक बढ़ावे। और उत्तम प्राणायाममें प्रवेश होनेके बाद सिर्फ पचीस प्राणायाम करें। कदाचित् किसी समय थकावट मालूम हो तो एकाध दिन चौथाई प्राणायाम कनिष्ठ प्रकारका करके फुफ्फुसको विश्राम दे दें। प्राणायाममें लाँघा बिलकुल न करें। प्राणायामका अभ्यास शान्तिपूर्वक करनेका है। कुम्भकका समय शीघ्रतासे बढ़ानेमें हानि होनेकी सम्भावना है।

प्राणायामका अभ्यास दिनमें दो बार करे। प्रातः-काल सूर्योदयसे पहले शौचसे निवृत्त होकर और सन्ध्याको सूर्यास्तके पश्चात् दो घण्टे बाद। गरमीका मौसिम हो तो अभ्यास कुछ और देरसे प्रारम्भ करे। प्रकृतिदोष, अजीर्ण या थकावटके समय रात्रिका अभ्यास बहुत थोड़ा करे। अन्यथा फुफ्फुसकोष निर्बल हो जायँगे और अपनी शक्तिसे वायुको बाहर नहीं फेंक सकेंगे।

प्राणायामके समय शरीरको सीधा तना हुआ रखे नहीं। फुफ्फुसकोषोंको शिथिल रखे। फुफ्फुसकोष शिथिल रहनेसे वे वायुको अधिक प्रमाणमें धारण कर सकेंगे, जिससे कुम्भक अधिक प्रमाणमें टिक सकेगा। फुफ्फुसकोष कड़े रहेंगे तो पूरक अधिक मात्रामें नहीं होगा और वायुके वेगके आघातसे वे निर्बल भी होंगे जिससे फुफ्फुसकोषोंमें वायु भरा रहेगा, जो दूषित होकर डकाररूपसे बार-बार निकलता रहेगा। ऐसी स्थिति अति हानिकर मानी जाती है। कदाचित् ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित हो तो प्राणायामका अभ्यास बिलकुल बन्द करके आसनोंका और विपरीतकरणी मुद्रा (शीर्षासन)-का अभ्यास करें। ऐसा करनेसे फुफ्फुसकोष पुनः बलवान् हो जायँगे। इसके बाद नादानुसन्धान, त्राटकादिद्वारा राजयोगमें प्रवेश करें। प्राणायाम न करें।

प्राणायाम करनेके समय मूलबन्ध तो आरम्भसे अन्ततक दृढ लगा ही रहना चाहिये। गुदाके ऊपरके भागको दृढतापूर्वक सङ्कुचित रखना यह मूलबन्ध है। इस मूलबन्धसे अपानतत्त्व ऊपरकी ओर आकर्षित होगा। यदि मूलबन्ध दृढ होगा तो मलमूत्रका त्याग नियमित रीतिसे होता रहेगा। मलावरोध नहीं होगा। रक्ताभिसरणक्रिया बलवती बननेसे नाद खुल जायँगे। नाडियाँ मलदोषके जल जानेसे शुद्ध हो जायँगी। कुण्डलिनी जाग्रत् होगी अर्थात् अपानतत्त्व प्राणतत्त्वके साथ मिलकर मस्तिष्कमें प्रवेश करने लगेगा। यदि मूलबन्ध दोषवाला होगा तो फुफ्फुसोंको आघात पहुँचता रहेगा, जिससे वे निर्बल बनते जायँगे। जैसे आल्मारीके किंवाड़में कील लगानेके समय बढ़ई एक तरफसे कील ठोकते हैं और दूसरी तरफसे दृढ आधार रखते हैं। नहीं तो किंवाड़के सन्धिस्थान ढीले पड़ जाते हैं और सारी आल्मारीको नुकसान पहुँचता है। इसी प्रकार मूलबन्ध ठीक न होनेसे फुफ्फुस और शरीरको हानि पहुँचती है। मलावरोध हो जाता है, मल बकरीकी मींगनीकी तरहका बन जाता है। और शरीरमें थकावट मालूम होती है।

पूरक करके तुरन्त जालन्धरबन्ध लगाना चाहिये। मस्तिष्कको झुकाकर चिबुक (ठोडी)-को कण्ठ और धड़के सन्धिस्थानमें इस प्रकार लगावे कि जिससे कण्ठस्थित विशुद्ध चक्रपर दबाव पड़े। इसे जालन्धरबन्ध कहते हैं। यह बन्ध सम्यक् प्रकारसे लगनेपर कण्ठस्थित श्वासमार्गका निरोध होता है, जिससे कुम्भकके समय फुफ्फुसकोषोंमेंसे वायु उछलकर घण्टिकाके ऊपरके भागमें आघात नहीं करती। जालन्धरबन्धसे समस्त शरीरके ज्ञानतन्तु बलवान् होते हैं। कारण, जालन्धरबन्ध (विशुद्धचक्र)-का सम्बन्ध पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जानु (घुटने), ऊरु (जङ्घा), सीवनी, लिङ्ग, नाभि, हृदय, ग्रीवा (विशुद्धचक्रसे नीचेका भाग), कण्ठदेश (विशुद्धचक्रसे ऊपरका भाग), लम्बिका (घण्टिका), नासिका, भ्रू, कपाल, मूर्द्धा (कानके पीछेका भाग) और ब्रह्मरन्ध्र, इन सोलह आधार-स्थानोंके साथ है। यद्यपि ज्ञानतन्तुका केन्द्रस्थान मस्तिष्क है, विशुद्धचक्र नहीं है, तथापि नीचेके अवयवोंका नियमन केन्द्रस्थानके अनुकूल करना और नीचेके अवयवोंका सन्देश ऊपर केन्द्रस्थानमें भेजना, ये दोनों कार्य विशुद्धचक्र करता है। अतः प्राणायामके समय मस्तिष्कको वायुका आघात न पहुँचना जालन्धरबन्धपर ही निर्भर करता है। इससे स्पष्ट है कि जालन्धरबन्ध सुदृढ रहनेसे मस्तिष्क और समस्त ज्ञानतन्तुका रक्षण होता है। जालन्धरबन्ध दूषित होगा तो अनेक स्थानोंमें विकृति होने लगेगी। खास करके नासिका, नेत्र, मस्तिष्क और कण्ठस्थानमें विकार होगा, किसी-किसीको वातप्रकोपजन्य व्याधि भी हो जाती है।

जालन्धरबन्धका अभ्यास करना हो तो पाँच मिनिटसे आरम्भ कर शनैः-शनैः समय बढ़ाना चाहिये। एक साथ अधिक समयतक जालन्धरबन्ध किया जायगा तो गलेके पीछेके भागकी नसमें दर्द हो जायगा। यदि ऐसा हो जाय तो गोघृत अथवा नीलगिरी तेल (Oil Eucalyptus)-की मालिश करनी चाहिये। दो-एक

दिन विश्राम करनेपर दर्द मिट जायगा।

कुम्भकके बाद रेचक करते समय पहले उड्डीयानबन्ध लगाकर जालन्धरबन्ध खोल देना चाहिये। उदरस्थित अन्त्रोंके पीठकी ओर सङ्कोच करनेको उड्डीयानबन्ध कहते हैं। अन्त्रसङ्कोचसे फुफ्फुसोंके कोषोंका भी सङ्कोच होने लगता है, जिससे फुफ्फुसकोष बलवान् होते हैं। इससे त्रिधातुओंके विकारसे उत्पन्न सब रोग नष्ट हो जाते हैं। त्रिधातु सम अवस्थावाले बनते हैं। सुषुम्नामार्ग शुद्ध होकर प्राणतत्त्व ऊर्ध्वगमन करता है। उड्डीयानबन्धको शास्त्रकारोंने 'मृत्युमातङ्गकेसरी' अर्थात् मृत्युरूप हस्तीको पछाड़नेवाला केसरीसिंह बतलाया है। तीनों बन्धोंमें उड्डीयानको उत्तम माना है। उड्डीयानबन्ध दोषयुक्त होगा तो फुफ्फुस और आमाशय निर्बल बन जायगा

इस प्रकार प्राणायामके अभ्यासमें तीनों बन्धोंका उपयोग है। अतः पहलेसे इनका सुदृढ अभ्यास कर लेना चाहिये।

कुम्भकको इतना ही करना चाहिये जितनेमें रेचक धीरे-धीरे किया जा सके। पूरक इस प्रकार करना चाहिये जैसे नलीद्वारा धीरे-धीरे जल खींचा जाता है। पूरक शीघ्रतापूर्वक करनेसे दो प्रकारकी हानि होती है—एक तो इससे फुफ्फुसकोषोंको आघात पहुँचता है और दूसरे कुम्भक अधिक समयतक टिकता नहीं। परन्तु इससे विशेष हानि नहीं होती। रेचक क्रियाको भी शीघ्रतापूर्वक करनेसे फुफ्फुसों और नाडियोंमें क्षोभ उत्पन्न होकर फुफ्फुस, हृदय, नासिका, नेत्र, कर्ण, मस्तिष्क प्रभृति अवयवोंको हानि पहुँचेगी। अतः रेचककी क्रिया आन्तरिक बलसे खूब धीरे-धीरे करनी चाहिये और उसके बाद १-२ सेकण्ड कुम्भक करके तब पुनः पूरक करना चाहिये। बाह्य कुम्भकसे फुफ्फुसकोष अधिक बलवान् बनते हैं।

कुम्भकके समयभेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका होता है—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम प्राणायाममें कुम्भक ५० सेकण्डका होता है, मध्यममें ३३ सेकण्डका और कनिष्ठ प्राणायाममें १६ सेकण्डका होता है। पूरकसे द्विगुण समय रेचकका और रेचकसे द्विगुण समय कुम्भकका होना चाहिये। परन्तु अधिक लाभदायक और ठीक नियम नीचे तालिकामें दिया जाता है—

प्राणायाम	पूरक	कुम्भक	रेचक	बाह्य कुम्भक से० में
१ कनिष्ठ—	४	$१६\frac{१}{२}$	८	१
२ मध्यम—	६	$३३\frac{१}{२}$	१० से १२	२
३ उत्तम—	८	५०	१२ से १६	३

उत्तम प्राणायाममें प्रवेश करनेके बाद भस्त्राप्राणायामके अभ्याससे कुम्भकका समय शीघ्र बढ़ने लगता है और रेचकका समय कुछ कम हो जाता है। क्योंकि फुफ्फुसका कुछ वायु प्राणतत्त्वमें रूपान्तरित हो जाता है। कुम्भकका अभ्यास ५ मिनटसे अधिक हो जाय तो दो बार पूरक करनेके बाद रेचक करना चाहिये। प्राणायाममें पूरकद्वारा जो वायु ग्रहण किया जाता है, वह फुफ्फुसमें जाता है, शरीरके अन्य स्थानोंमें कदापि नहीं जाता। जो दुष्ट वायु आमाशयमें उत्पन्न होता है वह डकाररूपसे निकलता जाता है। जो आँतमें उत्पन्न होता है वह गुदाद्वारा निकल जाता है। यह वायु आहारसे उत्पन्न होता है। फुफ्फुसोंमेंसे नहीं जाता। शास्त्रकारोंने जो पाँच प्रकारके वायु बताये हैं वे सब प्राणतत्त्व हैं। प्राणतत्त्व और वायु दोनोंमें अन्तर है। प्राणतत्त्व वायुका रूपान्तर है। जैसे मिट्टीमेंसे रूपान्तर होकर सुन्दर फल, फूल और प्राणिमात्रके शरीर बने हैं, वैसे ही वायुके सूक्ष्म अंश (सत्त्व)-से प्राणतत्त्व बना है। मिट्टीसे बननेके कारण शरीरको पञ्चभूत या मिट्टीरूप कहा जाता है। वैसे ही प्राणतत्त्व वायुका सत्त्वरूप होनेसे वायु कहलाता है। प्राणतत्त्व और बाह्य विद्युत् दोनोंको एक जाति कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। इस प्राणतत्त्वका दूसरा भेद अपानतत्त्व प्राणतत्त्वके साथ मिलकर सुषुम्नाद्वारा मस्तिष्कमें चढ़ता है। जब वह पूर्व मार्गसे चढ़ता है तब बन्द नेत्रसे भ्रूस्थानमें प्रकाशरूप प्रतीत होता है। नील, लाल, श्वेत, पीला ऐसे भिन्न-भिन्न रंग दीखते हैं। इस रीतिसे प्राणोंको ऊर्ध्वगति करनेकी क्रियाको ही कुण्डलिनीकी जाग्रति कहते हैं। वही अवस्था आगे बढ़नेपर उन्मनी अवस्था और समाधि कहाती है।

उत्तम प्राणायाममें प्रवेश होनेके पश्चात् प्राणतत्त्व सुषुम्णाद्वारा मस्तिष्कमें चढ़ने लगता है। आरम्भमें वह पिपीलिका (चींटी)-के समान धीरे-धीरे सूक्ष्म परिमाणमें ऊपर चढ़ता है। पश्चात् तीनों ग्रन्थिभागके आगे नाडीके शेष भागकी शुद्धि होनेपर मेढककी गतिसे कूदकर ऊपर
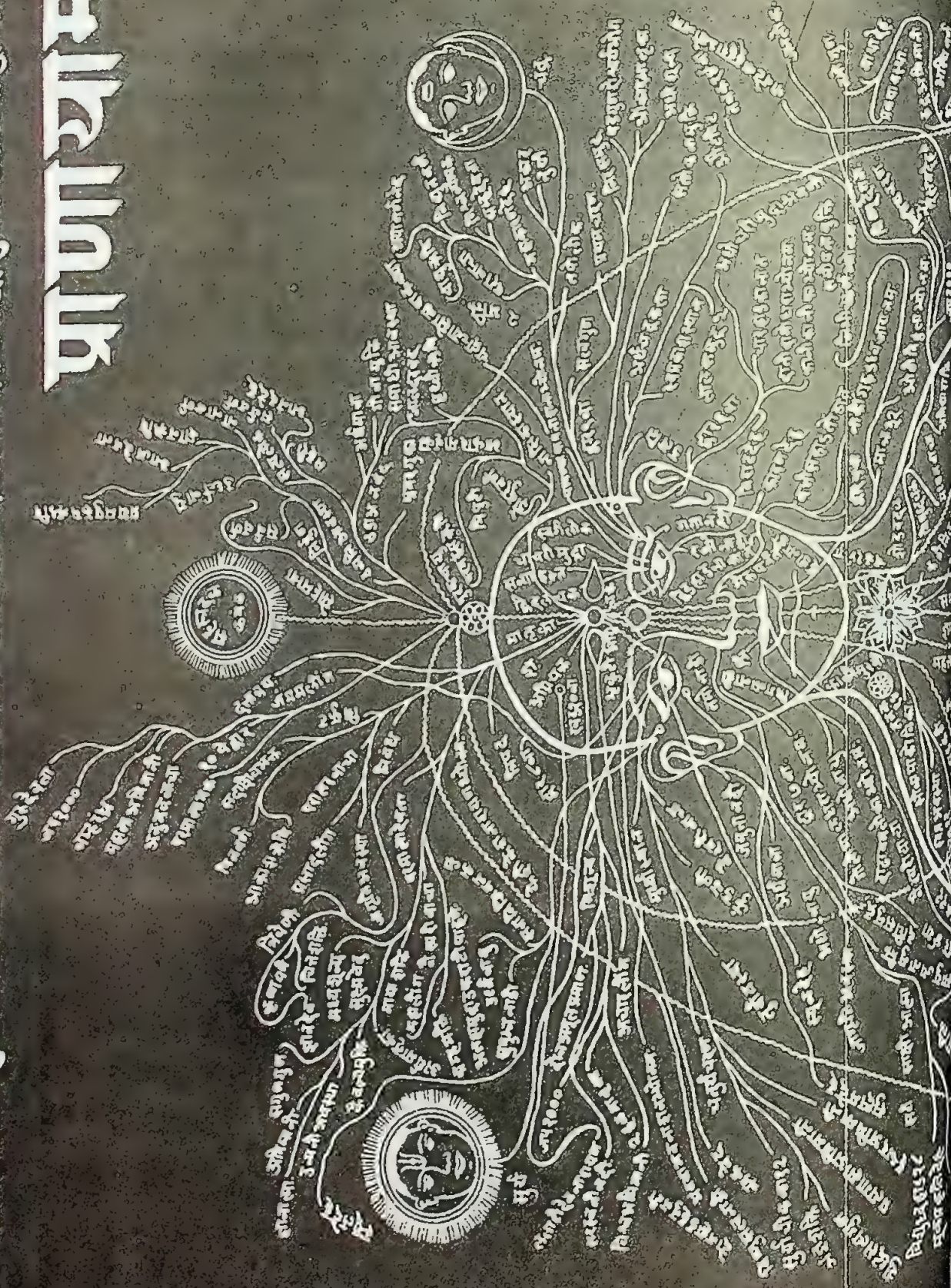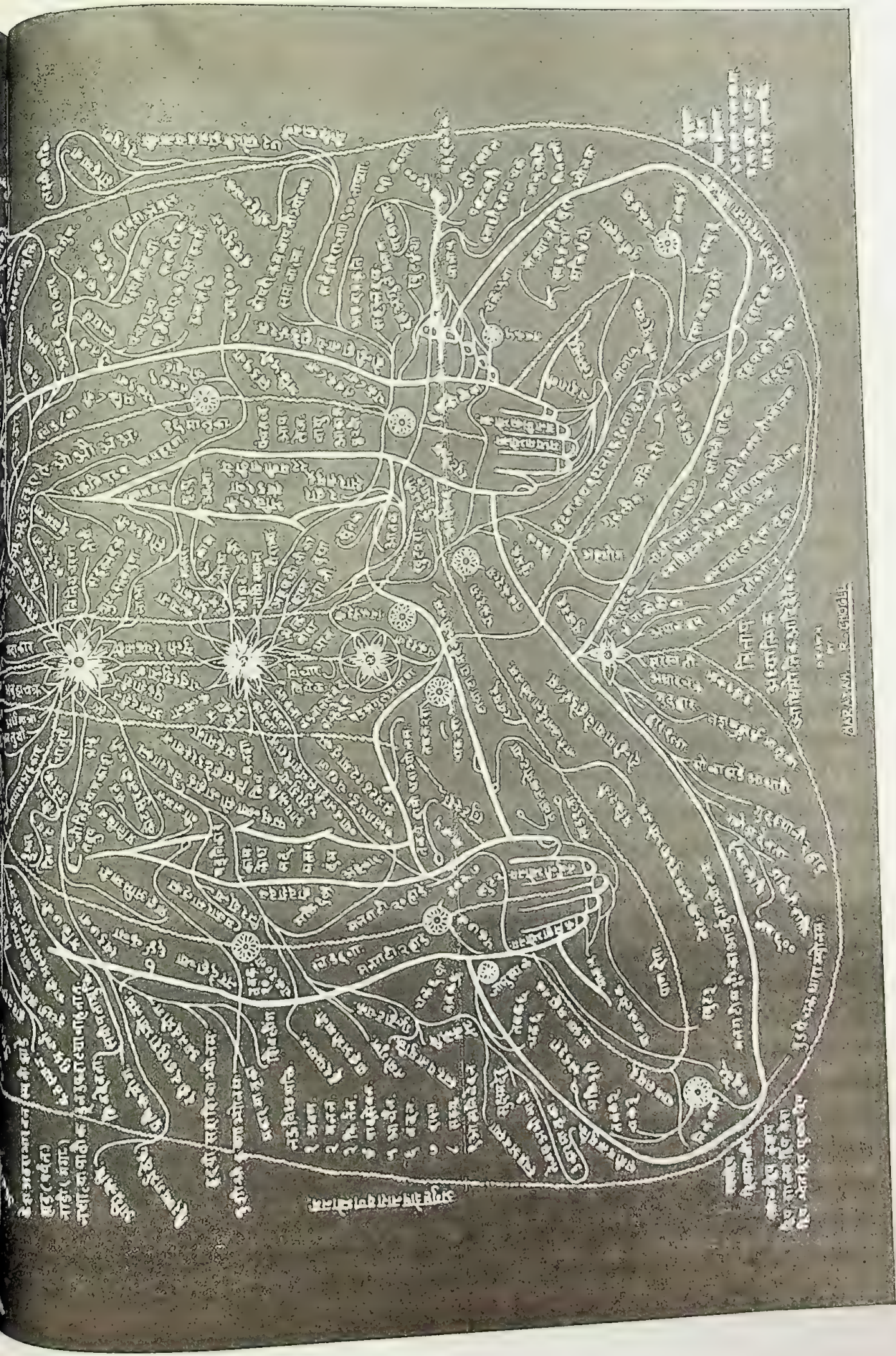
चढ़ने लगता है। और भस्त्राप्राणायामद्वारा कुम्भक बढ़नेसे ग्रन्थियोंके भेदन होनेपर विहङ्गम (पक्षी)-की तरह उड़कर शीघ्र प्राणतत्त्व सहस्रदलकमलमें प्रवेश करता है। जब प्राणतत्त्व मस्तिष्कमें जाने लगता है तब मस्तिष्कमें भारीपन मालूम होता है। कुछ दिनोंके बाद मस्तिष्कका शोधन हो जाता है और सहनशीलता भी बढ़ जाती है, जिससे कष्ट मालूम नहीं होता। एकाध वर्षके बाद जब प्राणतत्त्व अधिक वेगसे गति करने लगता है, तब मनकी एकाग्रता होकर आनन्दका अनुभव होने लगता है।

प्राणायामके अभ्यासके बाद शान्तिके लिये शवासन करना चाहिये और साथ-साथ नादानुसन्धान करना चाहिये। विश्रामके बाद गुनगुनाते हुए जलसे स्नान करके संक्षेपमें सन्ध्या-वन्दना करना चाहिये। तत्पश्चात् भोजन करके शान्तिपूर्वक शास्त्र-श्रवणादि करना चाहिये। रात्रिको भोजन करना मना है। हाँ, अभ्यासके बाद आवश्यकतानुसार गरम किया हुआ दूध ठण्डा करके लेना चाहिये।

शास्त्रकारोंने प्राणायामके ९ प्रकार बतलाये हैं—अनुलोम-विलोम, सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रा, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी। इनमें उत्तम प्राणायाममें प्रवेश होनेतक अनुलोम-विलोम हितकारी है। अनुलोम-विलोमसे दोनों पार्श्वोंकी नसोंका शोधन, दोनों फुफ्फुसोंमें समानरूपसे बलवृद्धि तथा रोगोंका नाश होकर त्रिधातुमें समता आती है।

अनुलोम-विलोम—पद्मासन वा सिद्धासनमें बैठकर मूलबन्ध लगाकर वाम नासापुटसे थोड़ा रेचक करके पूरक करना चाहिये। पश्चात् जालन्धरबन्ध लगाकर कुम्भक करना चाहिये, अन्तमें जालन्धरबन्धको खोलकर और उड्डीयानबन्ध लगाकर दक्षिण नासापुटसे शनैः-शनैः रेचक करना चाहिये। पुनः एक सेकण्ड बाह्य कुम्भक करके दक्षिण पुटसे पूरक करना चाहिये। फिर आन्तरिक बलके अनुसार कुम्भक करके वाम स्वरसे रेचक करना चाहिये। इस प्रकार दो प्राणायाम हो जाते हैं। पुनः एक सेकण्ड बाह्य कुम्भक करके पूर्वानुसार आवृत्ति करनी चाहिये। इस प्रकार एक साथ १० प्राणायाम करना चाहिये। फिर प्रतिदिन ५-५ प्राणायाम बढ़ाकर एक सप्ताहमें उसकी संख्या ४० कर देनी चाहिये। कुम्भकके समय अपने इष्टदेवके मन्त्रका जप करना चाहिये। कुम्भक कभी कम, कभी अधिक, यों अनियमित नहीं करना चाहिये। प्राणायामके समय शरीरको शिथिल, सरल और अचल रखना चाहिये। नेत्र बन्द रखने चाहिये। दक्षिण नासापुटसे रेचक और पूरक करना हो तो दाहिने हाथकी अनामिका और कनिष्ठिकाको बायें नासापुटपर रखे। उसी प्रकार वाम नासापुटसे रेचक और पूरक करना हो तो दाहिने हाथके अङ्गुष्ठसे दक्षिण पुटको बन्द करे।

यदि आरम्भमें १६$\frac{१}{२}$ सेकण्डतक कुम्भक न हो सके तो इससे भी कम समयतक कुम्भक करना चाहिये। अधिक देरतक कुम्भक करनेका हठ नहीं करना चाहिये। कुम्भकका समय सेकण्डके हिसाबसे धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार लगभग ३-४ महीनेमें मध्यम प्राणायाममें प्रवेश हो जायगा और उसके बाद तीन-चार महीने अभ्यास करनेपर उत्तम प्राणायाममें प्रवेश हो जायगा। तत्पश्चात् अन्य कुम्भकोंका अभ्यास देश, काल और प्रकृतिके अनुसार विचारकर करना चाहिये। उत्तम प्राणायामके बाद खेचरीका अभ्यास भी हो सकता है। खेचरीके अभ्याससे कुम्भक जल्दी बढ़ता है।

कोई-कोई आचार्य चालीस प्राणायामका अभ्यास नियमित हो जानेपर कनिष्ठ कुम्भकके समयसे ही महामुद्रा, महाबन्ध और महावेधका अभ्यास कराते हैं। महावेधसे प्राणतत्त्वका शीघ्र ऊर्ध्वगमन होता है; परन्तु यह बलवान् शरीरवालोंके लिये हितकर है, निर्बलोंके लिये हानिकर है। मुद्राओंकी रीति लेखवृद्धिके कारण यहाँ नहीं दी है।

प्रातः-सायं दोनों समय समान क्रिया करनी चाहिये। परन्तु थकावट हो तो रात्रिके समय कम अभ्यास करे। आसन और विपरीतकरणी मुद्रा करना हो तो प्राणायामसे पहले सुबह करे। सायंकालको आसन और विपरीतकरणीका अभ्यास न करे। विपरीतकरणी रात्रिको करना हानिकर भी माना गया है।

सूर्यभेदी—पहले थोड़ा रेचक करके सूर्यनाडी (दाहिने नासापुट)-से पूरक करना चाहिये। फिर

कुम्भक करके चन्द्रनाडी (बायें नासापुट)-से रेचक करना चाहिये। पूर्ववत् जालन्धरादि बन्ध इस प्राणायाममें भी लगाना आवश्यक होता है। इस प्रकारके प्राणायामको सूर्यभेदन प्राणायाम कहते हैं। अनुलोम-विलोममें दोनों नासापुटोंसे पूरक और रेचक होता है, परन्तु इसमें एक ही पुटसे अर्थात् दक्षिणसे पूरक और वामसे रेचक होता है। यही दोनोंमें अन्तर है।

दक्षिण फुफ्फुसका सम्बन्ध यकृत्से होनेके कारण इस प्राणायामसे शरीरमें पित्तवृद्धि होती है तथा उष्णता बढ़ती है जिससे वात और कफका प्रकोप शान्त होता है। कपालदेशमें सञ्चित श्लेष्म, वातवहा नाडियोंके विकार, रक्तदोष, त्वचादोष, उदरकृमि, प्रस्वेदसे उत्पन्न कृमि, कुष्ठादि रोगोंसे उत्पन्न कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्राणायामको गर्मीके दिनोंमें करना अनुकूल नहीं है। तथा पित्तप्रधान प्रकृतिके लोगोंके लिये भी हितकर नहीं है।

उज्जायी—मुखको कुछ झुकाकर कण्ठसे हृदयपर्यन्त शब्द करते हुए वायुको फुफ्फुसमें प्रविष्ट करे। इस प्रकार दोनों नासापुटसे अल्प परिमाणमें वायुको खींचे। फिर पूरक करनेके बाद ४-५ सेकण्ड कुम्भक करके इडा नाडीसे रेचक करे। इस प्राणायाममें पूरक, कुम्भक और रेचक तीनों स्वल्प परिमाणमें ही किये जाते हैं। इसमें जालन्धरादि बन्धोंका लगाना उतना आवश्यक नहीं होता। बैठे, चलते, खड़े हुए या सोकर (शवासनमें) इस प्राणायामका अभ्यास किया जा सकता है। जब शारीरिक विकारके कारण दूसरे प्राणायाम न हो सकें या समय अनुकूल न हो तो एक घण्टेके लगभग उज्जायी प्राणायाम करना चाहिये।

इस प्राणायामसे कफप्रकोप, उदररोग, जलोदर, शोथ, मन्दाग्नि, अजीर्ण, मांस, मेदादि धातुओंके विकार और मलावरोधजनित समस्त रोग दूर हो जाते हैं तथा अग्नि प्रदीप्त होता है।

सीत्कारी—दाँतोंके बीच जिह्वाको बाहर ओष्ठतक निकालकर ओष्ठोंको फुलाकर मुखसे सीत्कार करते हुए वायुका आकर्षण करना सीत्कारी प्राणायाम कहलाता है। इस प्राणायाममें वायु जिह्वाके सहारे भीतर प्रवेश करता है। इसमें ४-५ सेकण्ड कुम्भक करके दोनों नासापुटोंसे शनैः-शनैः रेचक करना चाहिये। इसमें भी बन्धोंका लगाना आवश्यक नहीं होता। परन्तु यदि अधिक देरतक कुम्भक करना हो तो बन्धका लगाना आवश्यक हो जाता है।

इस प्राणायामसे यकृत्में पित्तके उत्पन्न करनेकी क्रियातक हो जाती है। इससे क्षुधा, तृषा, निद्रा और आलस्यादिका त्रास कम हो जाती है। पित्तप्रकोप शमन होता है, शरीर तेजस्वी बनता है। पूरकके वायुसे प्राणतत्त्वको बल मिलता है, अतः शरीरमें निर्बलता नहीं आती।

शीतली—जिह्वाको ओष्ठसे एक अङ्गुल बाहर निकालकर '◡' इस प्रकार पक्षीकी चोंचके समान आकृति बनाकर बाहरसे वायुका आकर्षण करे। फिर कुछ कुम्भक करके दोनों नासापुटोंसे धीरे-धीरे रेचक करे। यह शीतली प्राणायाम कहलाता है। इससे गुल्म, प्लीहा, उदररोग, अतिसार, पेचिश, पित्तवृद्धि, दाह, अम्लपित्त, रक्तपित्त, क्षुधा, तृषा, उन्माद आदि रोग शमन होते हैं। प्रातः-सायं आधे घंटेतक इस प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। शीतकालमें और कफप्रकृतिके मनुष्यके लिये यह प्राणायाम हितकर नहीं है।

भस्त्रा—पद्मासनसे बैठकर बायें नासापुटसे प्राणवायुका वेगसे पूरक करे और बिना कुम्भक किये ही आवाज करते हुए दक्षिण नासापुटसे रेचक करे। लोहारकी भाथीके समान वेगपूर्वक इस विधिसे आठ बार पूरक-रेचक करनेके बाद नवीं बार पूरक करके कुम्भक करे और दृढ जालन्धरबन्ध लगावे। फिर दक्षिण नासापुटसे शनैः-शनैः रेचक करे। रेचक करनेसे पहले ही जालन्धरबन्ध खोल दे और उड्डीयानबन्ध लगा ले। पश्चात् तीन सेकण्ड बाह्य कुम्भक करके उपर्युक्त विधिसे ८ बार वाम पुटसे रेचक करे। फिर नवीं बार दक्षिण पुटसे पूरक करके कुम्भक करे। तत्पश्चात् नियमानुसार रेचक करे। ये दो प्राणायाम हुए। इस प्रकार सव्यापसव्य १२ प्राणायाम करने चाहिये।

इस प्राणायामसे कुम्भक बहुत बढ़ जाता है, परन्तु

यह प्राणायाम अधिक नहीं करना चाहिये। क्योंकि अधिक करनेसे फुफ्फुसकोषपर आघात होनेका पूरा भय है। इस प्राणायामसे त्रिधातुविकृतिसे उत्पन्न सब रोग नष्ट हो जाते हैं। अग्नि प्रदीप्त होता है। सुषुम्नास्थित सब मल नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि तीनोंका भेदन होकर सुषुम्नामेंसे प्राणतत्त्व विहङ्गमगतिसे ऊर्ध्वगमन करने लगता है।

भ्रामरी—सिद्धासन लगाकर नेत्र बन्द कर ले और भ्रूमें लक्ष्य रखे तथा जालन्धरबन्ध लगा ले। इस प्राणायामके समय जालन्धरबन्ध बराबर लगा रहना चाहिये। फिर दोनों नासापुटसे भ्रमरके नादके समान स्वरसहित पूरक करे। पश्चात् ३ सेकण्ड कुम्भक करके शनैः-शनैः आवाजसहित रेचन करे। इस प्रकार १४४ प्राणायाम करे। सुनते हैं भ्रामरी और मूर्छा कुम्भकका बौद्धसम्प्रदायमें अधिक प्रचार है। इस कुम्भकमें पाँच अवस्थाएँ हैं। प्रथमावस्थामें कुछ दिन पूरक करके पश्चात् कुम्भकके समय महामुद्रा की जाती है। नियमपूर्वक तीन सेकण्डका कुम्भक होनेपर पुनः सिद्धासन लगाकर रेचक किया जाता है। पहले बायें पैरसे, पीछे दाहिने पैरसे, पश्चात् दोनों पैर फैलाकर महामुद्रा करके इस प्राणायामका अभ्यास किया जाता है। दूसरे प्राणायामोंके साथ की जानेवाली महामुद्रामें और भ्रामरीके साथकी इस महामुद्रामें कुछ अन्तर है। इस महामुद्राको कोई-कोई साधक ४८ से ७२ तक करते हैं। इसलिये एक वर्षके पश्चात् जानुसे ६ इंच आगे और गुल्फसे १० इंच ऊपरके भागमें कपाल लग जाता है।

पहली अवस्थाकी सिद्धि होनेके बाद दूसरी अवस्थामें खेचरी करके ६ सेकण्डका कुम्भक होता है। और एक समय विधिके अनुसार मस्तिष्कको बायेंसे दाहिनी तरफ घुमाकर जालन्धरबन्ध लगाकर रेचक किया जाता है। इस रीतिसे १४४ कुम्भकमें १४४ बार मस्तिष्कके घुमानेकी क्रिया करनी पड़ती है। इस प्रकार तीसरी, चौथी और पाँचवीं अवस्थामें कुम्भक बढ़ाया जाता है तथा मस्तिष्क भी अधिक समय घुमाया जाता है। मस्तिष्क घुमानेकी क्रियासे मस्तिष्कमें प्राणतत्त्व चारों ओर चक्कर लगाता हुआ प्रतीत होता है। इस प्राणायामकी क्रियाके बाद नाद बहुत जोरसे उठता है। इसलिये मनकी एकाग्रता शीघ्र होती है।

मूर्च्छा—भ्रामरी प्राणायामका अभ्यास पूर्ण होनेपर सिद्धासनमें बैठकर दोनों नासापुटसे पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाना चाहिये। पश्चात् दोनों कान, नेत्र, नासिका और मुँहपर क्रमशः अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिकाको रखकर ६ सेकण्ड कुम्भक करे। पश्चात् नासिकाके छिद्रपरसे अनामिकाको शिथिल कर जालन्धरबन्ध रखते हुए ही शनैः-शनैः दोनों नासापुटोंसे रेचक करे। दूसरे प्राणायामोंके साथ मूर्च्छाप्राणायाम करनेसे कुम्भक अधिक होता है। परन्तु रेचक दोनों नासापुटोंसें किया जाता है। अधिक कुम्भकके लिये उड्डीयानबन्ध लगाया जाता है तथा रेचकके समय जालन्धरबन्ध खोल दिया जाता है।

इस प्राणायाममें रेचकके समय बन्द नेत्रसे भ्रूस्थानमें प्राणतत्त्वका श्वेत, नीला, काला और लाल प्रकाश देखनेमें आता है। इस प्राणायामको एक बार कर लेनेपर भ्रामरीवाले सिद्धासनसे बैठकर तथा अन्य प्राणायामवाले शवासनमें लेटकर भी नादानुसन्धान करते हैं।

इन आठ प्रकारके प्राणायामोंके विषयमें मुझे जैसी जानकारी तथा अनुभव है वैसा यहाँ वर्णन किया गया है। नवें प्राणायाम प्लाविनीके विषयमें सुना है, परन्तु मेरा कुछ निजी अनुभव नहीं रहनेके कारण यहाँ कुछ नहीं लिखा गया। मनुष्य अल्पज्ञ है, अतः बुद्धि-दोषसे प्रमादवश कुछ लिखनेमें भूल हो गयी हो तो पाठक कृपया क्षमा करेंगे। ॐ शम्।

प्राणायामका शरीरपर प्रभाव

(लेखक—स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम)

योगसाधनामें प्राणायामका स्थान

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्॥[1]

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।[2]

(पा० यो० सू० २। ५२)

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।[3]

(व्यासभाष्य)

योगसाधनाके आठ अङ्ग[4] हैं, जिनमें प्राणायाम, चौथा है। आसन इसके पहले आता है और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पीछे। योगका उद्देश्य है शारीरिक एवं मानसिक समता[5] स्थापित करना, जिससे आत्मा शरीर और मनके दासत्वसे छूटकर अपनी अपरिच्छिन्न आनन्दमयी स्थितिको प्राप्त हो जाय। आसन शारीरिक क्रिया है और प्रत्याहार, धारणा आदि मानसिक साधन हैं। प्राणायामकी क्रिया उक्त दोनों प्रकारके साधनोंके बीचका साधन है। यह शारीरिक भी है और मानसिक भी, क्योंकि इससे शरीर और मन दोनोंका निग्रह होता है। योगसाधनामें प्राणायामका विशेष महत्त्व है। शारीरिक दृष्टिसे प्राचीन कालके योगियोंने प्राणायामको इतना गौरव दिया है कि उनमेंसे कुछ लोगोंके मतमें तो शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये तथा उसमें जितने प्रकारके मल इकट्ठे हो सकते हैं उनको निकाल बाहर करनेके लिये किसी और मलशोधक क्रियाकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके मतमें योगसाधनाके लिये जिस शारीरिक समताकी आवश्यकता है वह अकेले प्राणायामसे ही स्थापित हो सकती है। हमने लेखके प्रारम्भमें हठयोगप्रदीपिकाका जो श्लोक उद्धृत किया है उसका यही तात्पर्य है। यदि हम प्राणायामपर आधुनिक दृष्टिसे विचार करें, जैसा कि हमारा प्रस्तुत निबन्धमें करनेका विचार है, तो हमें पता लगेगा कि प्राणायामसे हमारा सारा शरीर ओजस्वी हो सकता है और इस प्रकार हम शारीरिक समता प्राप्त करने तथा उसमें कायम रखनेमें समर्थ हो सकते हैं। इसके लिये हमारे पास पर्याप्त वैज्ञानिक प्रमाण हैं। मानसिक समता स्थापित करनेमें भी प्राणायामको सहायक माना गया है। आधुनिक मानसशास्त्रकोविदोंका मत है कि काम, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, घृणा, शोक, अनुताप आदि मनोविकार[6] ही मानसिक शान्तिको भङ्ग करनेमें

---

१. कुछ योगाचार्योंको प्राणायामके सिवा कोई दूसरा मलशोधक साधन अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि उनके मतमें प्राणायामसे ही शरीरके सारे मल सूख जाते हैं।

२. इससे (प्राणायामके साधनसे) ज्ञानरूप प्रकाशको रोक रखनेवाला आवरण नष्ट हो जाता है।

३. प्राणायामसे बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। इससे सारे मल धुल जाते है और ज्ञानरूप दीपशिखा प्रदीप्त हो जाती है।

४. योगके आठ अङ्ग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—'यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' (पा० यो० सू० २। २९)

५. श्रीमद्भगवद्गीतामें इस शारीरिक एवं मानसिक समताके लिये 'साम्य' एवं 'समता' शब्दोंका प्रयोग किया गया है। उदाहरणतः—

'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।' (६। ३३)

—यहाँ 'योग' और 'साम्य' ये दो शब्द स्पष्टरूपसे पातञ्जलयोगकी ही ओर सङ्केत करते हैं। भगवद्गीताके छठे अध्यायमें

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।' (११)

—इत्यादिसे लेकर २६ वें श्लोकतक पातञ्जलयोगका ही वर्णन किया गया है। दूसरे अध्यायके 'समत्वं योग उच्यते' (४८) इस श्लोकपादमें भी अर्जुनको अपनी शारीरिक एवं मानसिक समताको स्थिर रखते हुए कर्तव्य कर्मका करनेका उपदेश दिया गया है। वास्तवमें तो भगवद्गीताके ये सारे ही उद्धरण मानसिक साम्यको ही बतलाते हैं। परन्तु मानसिक साम्यमें शारीरिक साम्य पहले ही आ जाता है, क्योंकि शरीर और मन निरन्तर एक-दूसरेपर प्रभाव डालते रहते हैं। इसीलिये हमने 'साम्य' और 'समत्व' दोनों ही शब्दोंको शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकारकी समताके अर्थमें लिया है।

६. ये मनोविकार मनुष्यके परमार्थमार्गमें बाधक हैं। इस सम्बन्धमें भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। ... .।

प्रबल हेतु हैं। ये विकार हमारे मनके उस स्तरमें उत्पन्न होते हैं जहाँ चेतनता अथवा ज्ञान अर्धजागृत रहता है। प्राणायामके द्वारा हमारे मस्तिष्कके स्नायुजालपर तथा हमारे मनके बोधपूर्वक व्यापारोंपर ही हमारा अधिकार नहीं हो जाता, बल्कि उससे उपर्युक्त स्तरके भी द्वार खुल जाते हैं, जहाँ हमारा ज्ञान अर्धजागृत रहता है, और उस स्तरपर हमारा अधिकार हो जाता है। यही कारण है कि प्राणायामका साधक अपने मनोविकारोंको दबाकर मानसिक समता स्थापित करनेमें समर्थ होता है। भगवान् पतञ्जलिका जो सूत्र ऊपर लेखके प्रारम्भमें ही उद्‌धृत किया गया है तथा उसपर जो व्यासभाष्यकी अवतरिणका दी गयी है उसका यही आशय है। ऊपरके उद्धरणोंमें इस मानसिक साम्यमें हलचल पैदा करनेवाले कारणोंको 'मल' कहा गया है, क्योंकि वे प्रकाशरूप आत्माको आच्छन्न कर देते हैं। इन मनोमलोंको धोने तथा आत्माको अपने निज स्वरूपमें स्थित करनेके लिये भगवान् पतञ्जलिने प्राणायामको ही साधन बतलाया है और भाष्यकार व्यासजीने भी उनका समर्थन किया है। यहाँ इस बातको जानकर पाठकोंको कौतूहल होगा कि आधुनिक स्नायुचिकित्सक (neuropath) डा० वॉल्गेसीने (Dr. Volgyesi) जो यूरपभरमें अपनी स्नायुचिकित्साके लिये प्रसिद्ध हैं, अपने 'A Message to the Neurotic World' (स्नायुरोगोंसे पीडित जनताके लिये एक सन्देश) नामक ग्रन्थमें जनताके हितके लिये इस बातको स्पष्टरूपसे स्वीकार किया है कि मनोविकारोंका दमन करने और मानसिक तथा शारीरिक समताको प्राप्त करनेके लिये प्राणायाम एक बहुत बड़ा साधन है।

प्रस्तुत निबन्धका विषय 'प्राणायामका शरीरपर प्रभाव' है; किन्तु हमने केवल यह बतानेके लिये प्राणायामसे केवल शरीरको ही लाभ नहीं पहुँचता, संक्षेपमें इस बातकी ओर भी संकेत कर दिया है कि उसका मनपर कैसा प्रभाव पड़ता है। अब हम प्राणायामसे होनेवाले शारीरिक लाभोंका विस्तारसे वर्णन करनेको प्रस्तुत होते हैं। परन्तु ऐसा करनेके पूर्व हम प्राणायामप्रक्रियाकी कुछ मुख्य-मुख्य बातोंका दिग्दर्शन कराना उचित समझते हैं।

प्राणायामकी प्रक्रिया

शारीरिक दृष्टिसे प्राणायाममें केवल श्वासोपयोगी अङ्गोंका ही सञ्चालन एवं व्यापार होता है। प्राणायामका अर्थ है श्वासकी गतिको कुछ कालके लिये रोक लेना। साधारण स्थितिमें श्वासोंकी चाल इस प्रकारकी होती है—पहले श्वासका भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना, फिर रुकना, फिर भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना इत्यादि। प्राणायाममें श्वास लेनेका यह सामान्य क्रम टूट जाता है। श्वास (वायुके भीतर जानेकी क्रिया) और प्रश्वास (बाहर जानेकी क्रिया) दोनों ही गहरे और लम्बे होते हैं और श्वासोंका विराम अर्थात् रुकना तो इतनी अधिक देरतक होता है कि उसके सामने सामान्य स्थितिमें हम जितने कालतक रुकते हैं वह तो नहींके समान और नगण्य ही है। योगकी भाषामें श्वास खींचनेको 'पूरक' कहते हैं, बाहर निकालनेको 'रेचक' और रोक रखनेको 'कुम्भक' कहते हैं। प्राणायाम कई प्रकारके होते हैं और जितने प्रकारके प्राणायाम हैं उन सबमें पूरक, रेचक और कुम्भक भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। पूरक मुँहसे करना चाहिये अथवा नासिकासे, और नासिकासे करनेमें हम दाहिने छिद्रका अथवा बायेंका अथवा दोनोंका ही उपयोग कर सकते हैं। रेचक दोनों नासारन्ध्रोंसे अथवा एकसे ही करना चाहिये। कुम्भक पूरकके भी पीछे हो सकता है और रेचकके भी, अथवा दोनोंके ही पीछे न हो तो भी कोई आपत्ति नहीं। पूरक, कुम्भक और रेचकके इन्हीं भेदोंको लेकर प्राणायामके अनेक प्रकार हो गये हैं*।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन…। कामरूपेण…॥ (३। ३७—३९)

यह काम ही क्रोध है और रजोगुणसे उत्पन्न होता है। जिस प्रकार अग्निको धुआँ ढक देता है और मैलापन दर्पणको धुँधला कर देता है, उसी प्रकार यह काम ज्ञानके प्रकाशको आच्छादित कर देता है। श्रीशङ्कराचार्य इस श्लोकके भाष्यमें इस ज्ञानके आवरणको 'अप्रकाशात्मा' कहते हैं और उसके द्वारा आवृत ज्ञानको 'प्रकाशात्मा' कहते हैं।

* भगवान् पतञ्जलिने आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम, इस प्रकार प्राणायामके चार भेद बतलाये हैं। स्वात्मारामने सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी इन आठ प्रकारके प्राणायामोंका उल्लेख

पूरक, कुम्भक और रेचक कितनी-कितनी देरतक होना चाहिये, इसका भी हिसाब रखा गया है। यह आवश्यक माना गया है कि जितनी देरतक पूरक किया जाय उससे चौगुना समय कुम्भकमें लगाना चाहिये और दूना समय रेचकमें, अथवा दूसरा हिसाब यह है कि जितना समय पूरकमें लगाया जाय उससे दूना कुम्भकमें और उतना ही रेचकमें लगाया जाय। प्राणायामकी सामान्य प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराकर अब हम प्राणायामसम्बन्धी उन खास बातोंपर विचार करेंगे, जिनसे हम यह समझ सकेंगे कि प्राणायामका हमारे शरीरपर कैसा प्रभाव पड़ता है।

पूरक करते समय जब कि साँस अधिक-से-अधिक गहराईके साथ भीतर खींची जाती है, तथा कुम्भकके समय भी, जिसमें बहुधा साँसको भीतर रोकना होता है, आगेकी पेटकी नसोंको सिकोड़कर रखा जाता है। उन्हें कभी फुलाकर आगेकी ओर नहीं बढ़ाया जाता, जैसा कि पाश्चात्त्य लोग बहुधा राय दिया करते हैं। रेचक भी, जिसमें साँसको अधिक-से-अधिक गहराईके साथ बाहर निकालना होता है, पेट और छातीको जोरसे सिकोड़नेसे ही बनता है। कुम्भक करते समय मूलबन्ध साधनेके लिये तो गुदाको सिकोड़ना पड़ता है और उड्डीयानबन्धके लिये पेटको भीतरकी ओर खींचा जाता है तथा जालन्धरबन्धके लिये ठोडीसे छातीको दबाया जाता है। प्राणायामके अभ्यासके लिये कोई-सा उपयुक्त आसन चुन लिया जाता है, जिसमें सुखपूर्वक पालथी मारी जा सके और मेरुदण्ड सीधा रह सके।

एक विशेष प्रकारका प्राणायाम होता है जिसे भस्त्रिका प्राणायाम कहते हैं, उसे खास तौरपर बतलानेकी आवश्यकता है। उसके दो भाग होते हैं, जिनमेंसे दूसरे भागकी प्रक्रिया वही है जो ऊपर कही गयी है। पहले भागमें साँसको जल्दी-जल्दी बाहर निकालना होता है, यहाँतक कि एक मिनटमें २४० साँस बाहर आ जाते हैं। योगमें एक स्वासकी क्रिया होती है जिसे कपालभाति कहते हैं। भस्त्रिकाके पहले भागमें ठीक वैसी ही क्रिया की जाती है।

यहाँतक हम सामान्यरूपसे प्राणायामकी प्रक्रियाकी उन मुख्य-मुख्य बातोंको बतला चुके जिनसे हम, योगसाधनाके इस अंशका हमारे शरीरपर कैसा प्रभाव पड़ता है, समझ सकें, परन्तु प्राणायामसम्बन्धी शरीरविज्ञानको समझनेके पूर्व हमें सामान्य शरीरविज्ञानपर सरसरी तौरपर एक दृष्टि डालनी होगी, जिससे हम प्राणायामसम्बन्धी शरीरविज्ञानको अच्छी तरहसे समझ सकें।

सामान्य शरीरविज्ञान

सामान्य शरीरविज्ञानमें मानवशरीरके अन्दर काम करनेवाले भिन्न-भिन्न अङ्गसमूहोंके व्यापारोंका विचार किया जाता है। इन अङ्गसमूहोंमें प्रधान ये हैं। स्नायु जाल (nervous system), ग्रन्थिसमूह (glandular system), श्वासोपयोगी अङ्गसमूह (respiratory system), रक्तवाहक अङ्गसमूह (circulatory system) और आहारका परिपाक करनेवाला अङ्ग समूह (digestive system)।

सर्वप्रथम स्नायुजालका ही विचार करें। इसे हम एक बड़े बिजलीघरकी उपमा दे सकते हैं जहाँ बिजली पैदा होती है और जिसमें बहुत-से तार लगे रहते हैं जो उस बिजलीघरसे सम्बद्ध प्रत्येक कारखानेकी भिन्न-भिन्न मशीनोंको विद्युत्प्रवाह पहुँचाते हैं। मस्तिष्क (brain), मेरुदण्ड (spinal cord) और उससे सम्बद्ध अन्य स्नायु, इन्हींको बिजलीघर समझना चाहिये। मस्तिष्कसे अथवा मेरुदण्डसे निकलनेवाली शिराएँ ही इस मानवशरीररूपी कारखानेकी कलोंको बिजली पहुँचानेवाले तार हैं। बिजलीसे चलनेवाले प्रत्येक व्यवस्थित कारखानेमें प्रत्येक छोटी-बड़ी मशीन और उन मशीनोंका एक-एक पुर्जा बिजलीघरसे तारोंद्वारा लाये हुए विद्युत्प्रवाहसे सञ्चालित होता है। इसी प्रकार इस मानवशरीररूपी कारखानेके प्रत्येक अङ्गका सञ्चालन मस्तिष्क तथा मेरुदण्डसे निकलनेवाली शिराओंके द्वारा पहुँचायी हुई स्फूर्तिसे होता है। यदि बिजली देनेवाले मूलस्रोत (बिजलीघर)-में ही कोई खराबी हो जाय अथवा तारोंमें प्रवाहित होनेवाले विद्युत्प्रवाहमें ही किसी प्रकारकी रुकावट आ जाय तो शरीरकी सारी क्रियाएँ बन्द हो जायँगी। इसी प्रकार यदि मस्तिष्क तथा स्नायुओंमें कोई

किया है। यह कहना असत्य नहीं होगा कि प्राणायामके अन्य भेद पतञ्जलि अथवा स्वात्माराम सूरिद्वारा उल्लिखित प्राणायामोंके ही भिन्न-भिन्न अङ्गोंको अनेक प्रकारसे सजाकर तैयार किये हुए रूप हैं।

विकार हो जाय अथवा शिराएँ इतनी निर्बल हो जायँ कि वे स्फूर्ति न पहुँचा सकें तो शरीरकी क्रिया बन्द हो जायगी। इस प्रकार शरीरकी क्रियाओंके बन्द हो जानेका क्या परिणाम होगा, यह सामान्य पाठकोंकी समझमें नहीं आ सकता। हमारी पाचनक्रिया, हमारा रक्तसञ्चार, यहाँतक कि हमारा श्वासोच्छ्वास भी उसी स्फूर्तिसे सञ्चालित एवं नियन्त्रित होता है जो इन-इन क्रियाओंसे सम्बन्धित अङ्गोंको मस्तिष्क तथा मेरुदण्डसे प्राप्त होती है। यदि नाडियोंद्वारा सञ्चारित स्फूर्ति प्रवाहित ही न हो अथवा प्रवाहित होकर भी अपने निर्दिष्ट स्थानतक न पहुँचे तो जीवनकी सारी क्रियाएँ बन्द हो जायँगी और कोई आश्चर्य नहीं कि जीवनकी ज्योति भी विलीन हो जाय। स्नायुजालका यह सर्वोपरि माहात्म्य है।

ऊपर बिजलीघरका जो दृष्टान्त दिया गया है उसके सम्बन्धमें एक बात और ध्यानमें रखनेकी है। वह यह है कि बिजलीघरमें बिजली पैदा होती रहे और तार उसे अपने-अपने निर्दिष्ट केन्द्रोंको पहुँचाते रहें, परन्तु यदि बिजलीके प्रवाहमें यथेष्ट शक्ति नहीं है तो उस बिजलीके द्वारा सञ्चालित मशीनें चल नहीं सकेंगी। मशीनको चलानेके लिये बिजलीमें ताक़त भी पूरी होनी चाहिये। मानवशरीररूपी कारखानेमें यह बिजलीकी शक्ति endocrine glands नामक ग्रन्थिसमूहसे स्रवित होनेवाले द्रव पदार्थोंपर निर्भर करती है। सारा स्नायुजाल अच्छी हालतमें होनेपर भी यदि उपर्युक्त द्रव पदार्थ पर्याप्त मात्रामें न मिलें और जिस प्रकारके होने चाहिये वैसे न हों तो स्नायुगत स्फूर्ति और आगे चलकर स्वयं स्नायुसमूह क्षीण हो जायगा। परिणाम यह होगा कि शरीरकी क्रियाएँ और प्राणोंका व्यापार सब मन्द और क्षीण पड़ जायँगे। उदाहरणके लिये इनमेंसे एक ग्रन्थि Thyroid को ही लीजिये। उपर्युक्त endocrine नामक ग्रन्थियोंमें यह सबसे अधिक प्रसिद्ध है, यद्यपि स्त्रियों और पुरुषों दोनोंकी जननेन्द्रियसम्बन्धी ग्रन्थियाँ, तथा वह ग्रन्थि जिससे नाक और कफ स्रवित होता है (pituitary gland) और इसी प्रकारकी अन्य ग्रन्थियाँ भी कम महत्त्वकी नहीं हैं। किसी भी स्वस्थ मनुष्यकी Thyroid ग्रन्थि यदि निकाल ली जाय तो उसकी आँखें पीली पड़ने लगेंगी, गाल पिचकने लगेंगे, मांसपेशियाँ ढीली अथवा क्षीण हो जायँगी, बाल पकने लगेंगे और वह मनुष्य अवस्थासे पूर्व ही वृद्ध हो जायगा। Thyroid को फिरसे लगा दो और उस मनुष्यके अन्दर जवानीकी नयी उमंगें पुनः लहराने लगेंगी। बुढ़ापेके सारे चिह्न मिट जायँगे, वह मनुष्य सीधा चलने लगेगा, सारी वस्तुएँ सुन्दर मालूम होने लगेंगी और जीवन फिरसे सुखमय बन जायगा। इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि endocrine ग्रन्थिसमूहका शरीरविज्ञानमें उतना ही महत्त्व है जितना स्नायुजालका है।

मानवशरीरविज्ञानके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है कि इन दोनों अङ्गसमूहोंको, जो मानवशरीरके अत्यन्त उपयोगी एवं मूल्यवान् अवयव हैं, पर्याप्त मात्रामें रुधिर मिलता रहे। इसके लिये वे रक्तवाहक अङ्गसमूहके आश्रित हैं और जो रुधिर मिले वह अच्छा मिले इसके लिये वे श्वासोपयोगी एवं पाकोपयोगी अङ्गसमूहके अधीन हैं। रक्तवाहक अङ्गसमूहमें इतने अङ्ग हैं—हृदय, हृदयसे अन्य अङ्गोंको रक्त ले जानेवाली (arteries) तथा अन्य अङ्गोंसे वापिस हृदयको रक्त ले आनेवाली (veins) नाड़ियाँ तथा उक्त दोनों प्रकारकी नाडियोंको जोड़नेवाली अति सूक्ष्म शिराएँ। इस अङ्गसमूहका कार्य है मानवशरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें रक्त पहुँचाना। स्नायुजाल तथा Endocrine ग्रन्थिसमूहको यदि यथेष्ट परिणाममें रक्त न मिले तो उनका व्यापार ही शिथिल हो जायगा और परिणाम वही होगा जो ऊपर बताया जा चुका है।

इसी प्रकार रक्तवाहक अङ्गोंमेंसे जो रक्त प्रवाहित हो रहा है वह यदि शुद्ध और उत्तम न हो तो उक्त अङ्गोंके स्वस्थ रहनेसे भी कोई लाभ नहीं है। उदाहरणतः, रक्तमें यदि विषैले तत्त्व भरे हुए हैं तो रक्तवाहक अङ्गोंका ठीक तरहसे काम करना भी अपार्थ ही है। अतः रक्त भी उत्तम होना चाहिये, और इसके लिये शरीर श्वासोपयोगी एवं पाकोपयोगी अङ्गोंके आश्रित है।

उत्तम रक्त वह है जिसमें Oxygen नामक प्राणवर्धक तत्त्व पर्याप्त मात्रामें हो और जिसमें अङ्गोंको परिपुष्ट करनेवाले तत्त्व भी हों। Oxygen हमें उस वायुसे मिलता है जिसे हम साँसके द्वारा भीतर ले जाते हैं और पुष्टिकारक तत्त्व उस अन्न-जलसे जिसे हम आहारके रूपमें ग्रहण करते हैं। हमारे श्वासोपयोगी

अङ्ग जितने स्वस्थ होंगे उतना ही ऑक्सिजन हमारा रक्त ग्रहण कर सकेगा। श्वासकी क्रिया दोषयुक्त होनेसे रक्तमें ऑक्सिजन पर्याप्त मात्रामें नहीं पहुँच सकेगा और जो अङ्ग इस प्रकारके रक्तसे पुष्ट होंगे वे क्रमशः निर्बल और क्षीण हो जायँगे। इसी तरह हम कितने ही स्वादिष्ट एवं पुष्टिकारक पदार्थ खायें-पीयें; किन्तु यदि हमारा पाकोपयोगी अङ्गसमूह ठीक काम नहीं कर रहा है तो उनका परिपाक नहीं होगा और फलतः उनका रस बनकर हमारे शरीरको पुष्ट नहीं कर सकेगा, और उसमेंका बहुत-सा अंश व्यर्थ जायगा जिससे रक्तको पुष्टिकारक तत्त्व बहुत ही स्वल्प परिमाणमें मिलेगा। अतः यदि हम चाहते हैं कि हमें सदा शुद्ध एवं उत्तम रक्त मिलता रहे तो इस बातकी आवश्यकता है कि हमारे श्वासोपयोगी और पाकोपयोगी अङ्ग ठीक तौरसे काम करते रहें।

यदि हमारे श्वासोपयोगी अङ्गसमूह और आमाशय ठीक काम नहीं करेंगे तो ऑक्सिजन तथा पुष्टिकारक तत्त्वोंके न मिलनेसे हमारा रक्त केवल विगुण ही होगा अर्थात् उत्तम नहीं होगा सो बात नहीं है, अपि तु उसमें निरर्थक तत्त्व भर जायँगे जो विषैले होते हैं। हम इसका खुलासा आगे करेंगे। शरीरमें Carbon dioxide नामक गैस निरन्तर बनता रहता है। जिसका रक्तसञ्चार ठीक है उसकी रक्तवाहक नाडियाँ इस विषैले गैसको फेंफड़ोंमें ले जाती हैं और वहाँ उसे नष्ट कर देती हैं। परन्तु यदि रक्तसञ्चार ठीक नहीं हुआ तो यह निरर्थक तत्त्व भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें जमा होकर विष फैलायेगा। इसी प्रकार जिन पदार्थोंको हम खाते-पीते हैं उनके हजम हो जानेपर बहुत-सा निस्सार तत्त्व बच रहता है जो मलके रूपमें बाहर निकल जाता है। हम जो कुछ खाते-पीते हैं उसका परिपाक जितना ही कम होता है और उसका रस जितना ही कम बनता है उतना ही अधिक अंश उसका निरर्थक जाता है। और यदि हमारी आँतें जो शरीररचनाकी दृष्टिसे आमाशयकी नलीके अन्तर्गत ही हैं ठीक तरहसे काम नहीं करतीं तो यह मल बड़ी आँतमें जिसे अंग्रेजीमें colon कहते हैं, अथवा छोटी आँतमें भी कई दिनतक ठहर जाता है और उससे अनेक प्रकारके भयङ्कर विषैले गैस पैदा हो जाते हैं। ये विषैले गैस आँतोंके भीतरसे रक्तके प्रवाहमें घुस जाते हैं और रक्तको विषाक्त कर देते हैं और वह विषाक्त रक्त समस्त अङ्गोंमें सञ्चारित होकर सारे शरीरको दूषित कर देता है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि किस प्रकार फेंफड़ों और आँतोंके द्वारा मलको बाहर निकालनेका काम होता है। गुर्दा भी इसी प्रकारका काम करता है। कुछ निरर्थक तत्त्व जो स्वभावसे ही विषैले होते हैं मूत्रके साथ शरीरके बाहर निकल आते हैं। यदि गुर्देका काम ठीक तरहसे न हो तो ये विषैले तत्त्व शरीरके भीतर ही रह जाते हैं और विशेषकर शरीरकी सन्धियोंमें आश्रय पा जाते हैं। जिन लोगोंको गठियेका रोग होता है उनका गुर्दा अवश्य खराब होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि रक्तका अच्छा होना फेंफड़ों और आमाशयकी निर्दोषतापर निर्भर है। और विषैले तत्त्वोंसे मुक्त होनेके लिये उसे मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंपर निर्भर करना पड़ता है।

यहाँतक हम मानवशरीरके भीतर कार्य करनेवाले मुख्य-मुख्य अङ्गसमूहोंकी कुछ मोटी-मोटी बातें समझ चुके। अब हम इस बातका विचार करेंगे कि इन अङ्ग-समूहोंके कार्यपर प्राणायामका कैसा प्रभाव पड़ता है।

प्राणायामका शरीरपर प्रभाव

मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंमें हम देखते हैं कि आँतें और गुर्दा तो पेटके अन्दर हैं और फेंफड़े छातीके अन्दर हैं। साधारण तौरपर साँस लेनेमें उदरकी मांसपेशियाँ क्रमशः ऊपर और नीचेकी ओर जाती हैं, जिससे आँतों और गुर्देमें भी निरन्तर हलचल और हलकी-हलकी मालिश होती रहती है। प्राणायाममें पूरक एवं रेचक तथा कुम्भक करते समय यह हलचल और मालिश और भी स्पष्टरूपसे होने लगती है। इससे यदि कहीं रक्त जमा हो गया हो तो इस हलचलके कारण उसपर जोर पड़नेसे वह हट सकता है। यही नहीं, आँतों और गुर्देके व्यापारको नियन्त्रणमें रखनेवाले स्नायु और मांसपेशियाँ भी सुदृढ़ हो जाती हैं। इस प्रकार आँतों और गुर्देको प्राणायाम करते समय ही नहीं, बल्कि शेष समयमें भी लाभ पहुँचता है। स्नायु और मांसपेशियाँ जो एक बार मज़बूत हो जाती हैं वे फिर चिरकालतक मज़बूत ही बनी रहती हैं और

प्राणायामसे अधिक स्वस्थ हो जानेपर आँतें और गुर्दा अपना कार्य और भी सफलताके साथ करने लगते हैं।

यही हाल फेंफड़ोंका है। श्वासकी क्रिया ठीक तरहसे चलती रहे, इसके लिये आवश्यकता है श्वासोपयोगी मांसपेशियोंके सुदृढ़ होनेकी और फेंफड़ोंके लचकदार होनेकी। शारीरिक दृष्टिसे प्राणायामके द्वारा इन मांसपेशियों और फेंफड़ोंका संस्कार होता है। छातीको दिनमें कई बार अधिक-से-अधिक फुलानेसे और फेंफड़ोंको अधिक-से-अधिक फैलानेसे इन अङ्गोंको अपना कार्य सन्तोषप्रद रीतिसे करनेकी उत्तम शिक्षा मिलती है। आँतों और गुर्देके समान फेंफड़ोंको भी थोड़ी देरतक साधनेसे उन्हें दिनके शेष भागमें भी अच्छी तरहसे काम करनेके लिये बल मिल जाता है और Carbon dioxide नामक दूषित गैसका भी भलीभाँति निराकरण हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम आँतों, गुर्दे तथा फेंफड़ोंके लिये, जो शरीरसे मलको निकाल बाहर करनेके तीन प्रधान अङ्ग हैं, बड़ी मूल्यवान् कसरत है। आहारका परिपाक करनेवाले और रस बनानेवाले अङ्गोंपर भी प्राणायामका अच्छा असर पड़ता है। अन्न-जलके परिपाकमें आमाशय, उसके पृष्ठभागमें स्थित pancreas नामक ग्रन्थि और यकृत् मुख्यरूपसे कार्य करते हैं और प्राणायाममें इन सबकी कसरत होती है। क्योंकि प्राणायाममें उदर और वक्षःस्थलके बीचका स्नायु, जिसे अंग्रेज़ीमें Diaphragm कहते हैं, और पेटकी मांसपेशियाँ, ये दोनों ही बारी-बारीसे खूब सिकुड़ते हैं और फिर ढीले पड़ जाते हैं जिससे उपर्युक्त पाकोपयोगी अङ्गोंकी एक प्रकारसे मालिश हो जाती है। जिन्हें अग्निमान्द्य और बद्धकोष्ठताकी शिकायत रहती है, उनमेंसे अधिक लोगोंके जिगरमें सदा ही रक्त जमा रहता है और फलतः उसकी क्रिया दोषयुक्त होती है। इस रक्तसञ्चयको हटानेके लिये प्राणायाम एक उत्तम साधन है। प्राणायामसे अस्वस्थ Pancreas को बड़ी अच्छी उत्तेजना मिलती है और उसके दोष दूर होते हैं। हमने अपने चिकित्सासम्बन्धी अनुभवमें कई रोगियोंके पेटसम्बन्धी रोगोंको मुख्यतया प्राणायामके अभ्याससे निर्मूल होते देखा है। पाकोपयोगी अङ्गोंके ठीक तरहसे काम करनेपर रस भी खूब बनता है और रक्तमें आवश्यक पुष्टिकारक तत्त्वोंकी प्रचुरता हो जाती है।

किसी भी मनुष्यके स्वास्थ्यके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी नाडियोंमें प्रवाहित होनेवाले रक्तको ऑक्सिजन प्रचुर मात्रामें मिलता रहे। योगशास्त्रमें बतायी हुई पद्धतिके अनुसार प्राणायाम करनेसे रक्तको जितना अधिक ऑक्सिजन मिल सकता है उतना अन्य किसी व्यायामसे नहीं मिल सकता। इसका कारण यह नहीं है कि प्राणायाम करते समय मनुष्य बहुत-सा ऑक्सिजन पचा लेता है, बल्कि उसके श्वासोपयोगी अङ्गसमूहका इतना अच्छा व्यायाम हो जाता है कि उससे मनुष्यको चौबीस घंटे मदद मिलती है। यह लोगोंका भ्रममात्र है कि प्राणायाममें ऑक्सिजन हमें बहुत अधिक मात्रामें मिलता है। हम समझायेंगे कि उन लोगोंकी यह धारणा भम्रमूलक क्यों है। किसी भी प्राणायामकी पूरी एक आवृत्ति करनेमें कम-से-कम एक मिनट तो लगना ही चाहिये। सामान्यरूपसे साँस लेते समय एक साधारण मनुष्य एक मिनटमें लगभग ७००० घन सेंटीमीटर (अर्थात् ४२७ घन इञ्च) वायु अपने भीतर ले जाता है। वही मनुष्य प्राणायामके समय एक मिनटमें अधिक-से-अधिक ३७०० घन सेंटीमीटर (अर्थात् करीब २२२ घन इञ्च) वायु भीतर ले जा सकेगा। इस प्रकार जितनी हवा हम साधारण परिस्थितिमें भीतर ले जाते हैं उससे कहीं कम हम प्राणायाम करते समय ले जायँगे, और उसी परिमाणमें हम ऑक्सिजन भी कम पचा सकेंगे। अपने 'योगमीमांसा' नामक ग्रन्थमें हम अनुभवमूलक प्रमाणोंके आधारपर यह निर्विवादरूपसे सिद्ध कर चुके हैं कि हम जितना ऑक्सिजन पचाते हैं उसकी मात्रा श्वास रोकनेके कालपर निर्भर नहीं करती। इसलिये जब हम श्वासको आधे ही मिनटके लिये रोकते हैं उस समय भी साधारण परिस्थितिकी अपेक्षा हम बहुत अधिक ऑक्सिजन नहीं पचा जाते। इस प्रकार यह धारणा कि प्राणायामके समय हम अधिक ऑक्सिजन पचाते हैं भ्रमात्मक है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

तब रक्तको ऑक्सिजनसे समृद्ध करनेके लिये प्राणायाम करनेसे क्या लाभ है? इस प्रश्नका उत्तर हम नीचे देते हैं। यद्यपि जितने कालतक मनुष्य

प्राणायाम करता है उतने समयतक वह ऑक्सिजन कम पचाता है, तथापि प्राणायामके अभ्याससे उसके श्वासोपयोगी अङ्ग ऐसे सध जाते हैं कि दिनके शेष भागमें भी श्वासकी क्रिया बहुत उत्तम ढंगसे चलती है और जितना ऑक्सिजन वह सामान्य तौरपर पचाता उससे कहीं अधिक वह दिनभरमें पचा लेगा।

जो लोग अपने श्वासकी क्रियाको ठीक करनेके लिये किसी प्रकारका अभ्यास नहीं करते वे अपने फेंफड़ोंके कुछ अंशोंसे ही साँस लेते हैं, शेष अंश निकम्मे रहते हैं। इस प्रकार निकम्मे रहनेवाले अंश बहुधा फेंफड़ोंके अग्रभाग होते हैं। इन अग्रभागोंमें ही जो निकम्मे रहते हैं और जिनमें वायुका सञ्चार अच्छी तरहसे नहीं होता, राजयक्ष्माके भयङ्कर कीटाणु बहुधा आश्रय पाकर बढ़ जाते हैं। यदि प्राणायामके द्वारा फेंफड़ोंके प्रत्येक अंशसे काम लिया जाने लगे और उनका प्रत्येक छिद्र दिनमें कई बार शुद्ध हवासे धुल जाया करे तो फिर इन कीटाणुओंका आक्रमण असम्भव हो जायगा।

योगके दयालु आचार्योंने प्राणायामके रूपमें हमें एक ऐसा तीक्ष्ण शस्त्र पकड़ा दिया है जिसके द्वारा हम श्वाससम्बन्धी रोगोंको सफलताके साथ दबा सकते हैं। कैसे दुःखकी बात है कि हम भारतवासी इस शस्त्रको उपयोगमें नहीं ले रहे हैं। हमें हजारों और लाखोंकी संख्यामें श्वाससम्बन्धी रोगोंके शिकार होकर कालके गालमें जाना कबूल है, पर हम प्राणायाम-जैसे अव्यर्थ साधनका प्रयोग नहीं करेंगे। हा दुर्दैव! अकेले बम्बई नगरमें प्रतिदिन जितने मनुष्य कालके गालमें जाते हैं उनमेंसे तिहाईसे अधिक मनुष्य श्वाससम्बन्धी रोगोंसे मरते हैं। अभी हालकी स्वास्थ्यसम्बन्धी विज्ञप्तिसे पता लगता है कि बंगालमें एक ही सालके भीतर एक लाख मनुष्य राजयक्ष्मासे पीड़ित होकर मृत्युके ग्रास बन गये। मुझे पक्का विश्वास है कि यदि इस देशके प्रत्येक शिक्षणालयमें छात्रोंको अनिवार्यरूपसे प्राणायामकी शिक्षा दी जाय और जितना द्रव्य इस भयानक रोगकी चिकित्साके निमित्त व्यय किया जाता है उसका एक अंश भी इस रोगनिवारणके कार्यमें लगाया जाय तो यह भयङ्कर जनसंहार अवश्य बहुत कुछ कम हो जाय।

पुनः हम अपने प्रस्तुत विषयपर आते हैं। हम देखते हैं कि प्राणायामके कारण पाकोपयोगी, श्वासोपयोगी एवं मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंकी क्रिया ठीक होनेसे रक्त अच्छा बना रहेगा। यही रक्त विभक्त होकर शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें पहुँच जायगा। यह कार्य रक्तवाहक अङ्गोंका, खासकर हृदयका है। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इस बातको मान गये हैं कि दीर्घ श्वास लेनेका अभ्यास करनेसे हृदयपर हलकी-सी मालिश हो जाती है। प्राणायामकी क्रियामें हृदयके चारों ओर दबाव पड़नेसे जो परिवर्तन होते हैं उन्हें हमने कैवल्यधामकी प्रयोगशालामें ध्यानपूर्वक देखा है। और हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि योगमें प्राणायामकी जो प्रक्रिया बतलायी गयी है वह पाश्चात्य पद्धतिके अनुसार दीर्घ श्वास लेनेकी अपेक्षा इस मालिशमें अधिक सहायक होती है। इस विषयको अच्छी तरहसे समझनेके लिये हम पाठकोंसे अनुरोध करेंगे कि वे हमारे 'योगमीमांसा' नामक अंग्रेजी ग्रन्थको देखें। रक्तसञ्चारसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रधान अङ्ग हृदय है और प्राणायामके द्वारा उसके अधिक स्वस्थ हो जानेसे समस्त रक्तवाहक अङ्ग अच्छी तरहसे काम करने लगते हैं।

परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। भस्त्रिका प्राणायाममें, खासकर उस हिस्सेमें जो कपालभातिसे मिलता-जुलता है, वायवीय स्पन्दन प्रारम्भ होकर मानवशरीरके प्रायः प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गको, यहाँतक कि नाडियों एवं सूक्ष्म शिराओंतकको हिला देते हैं। इस प्रकार प्राणायामसे सारे रक्तवाहक अङ्गसमूहकी कसरत एवं मालिश हो जाती है और वह ठीक तरहसे काम करनेके योग्य बन जाता है।

अब हम स्नायुजाल तथा Endocrine ग्रन्थिसमूहके विषयमें कुछ कहेंगे। रक्तकी उत्तमता और उसके समस्त स्नायुओं और ग्रन्थियोंमें उचित मात्रामें विभक्त होनेपर ही इनकी स्वस्थता निर्भर है। प्राणायाममें खासकर भस्त्रिकाप्राणायाममें, रक्तकी गति बहुत तेज हो जाती है और रक्त भी उत्तम हो जाता है (यह बात किसी शरीरविज्ञानसम्बन्धी प्रयोगशालामें प्रमाणित की जा सकती है)। इस प्रकार प्राणायामसे Endocrine ग्रन्थिसमूहको भी उत्तम और पहलेकी अपेक्षा प्रचुर रक्त मिलने लगता है, जिससे वे पहलेकी अपेक्षा

अधिक स्वस्थ हो जाती हैं। इसी रीतिसे हम मस्तिष्क, मेरुदण्ड, मस्तककी तथा मेरुदण्डकी नाड़ियों तथा अन्य सम्बन्धित नाड़ियोंको स्वस्थ बना सकते हैं।

इस सम्बन्धमें निम्नलिखित बातें अधिक ध्यान देने योग्य हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि शारीरिक शक्तिका मूल स्रोत मस्तिष्क है। मस्तिष्कके बाद दूसरा नम्बर मेरुदण्ड और उससे सम्बन्धित स्नायुओंका है। इन सभी स्नायुओंके, चाहे वे मस्तकके हों, चाहे मेरुदण्डके मुख्य भाग इन केन्द्रीभूत अवयवोंके अन्दर उत्पन्न हुई शक्तिके वाहकमात्र हैं। अतः इस बातको देखना आवश्यक है कि मस्तिष्क, मेरुदण्ड और उससे सम्बन्धित स्नायुओंपर प्राणायामका कैसा प्रभाव पड़ता है।

सभी शरीरविज्ञानविशारदोंका इस विषयमें एक मत है कि साँस लेते समय मस्तिष्कमेंसे दूषित रक्त प्रवाहित होता है और शुद्ध रक्त उसमें सञ्चरित होता है। यदि साँस गहरी हो तो दूषित रक्त एक साथ बह निकलता है और हृदयसे जो शुद्ध रक्त वहाँ आता है वह और भी सुन्दर आने लगे। प्राणायामकी यह विधि है कि उसमें साँस गहरे-से-गहरा लिया जाय, इसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्कसे दूषित रक्त सारा बह जाता है और हृदयका शुद्ध रक्त उसे अधिक मात्रामें मिलता है। योग उड्डीयानबन्धको हमारे सामने प्रस्तुत कर इस स्थितिको और भी स्पष्ट कर देनेकी चेष्टा करता है। इस उड्डीयानबन्धसे हमें इतना अधिक शुद्ध रक्त मिलता है जितना किसी श्वाससम्बन्धी व्यायामसे हमें नहीं मिल सकता। प्राणायामसे जो हमें तुरन्त बल और नवीनता प्राप्त होती है उसका यही वैज्ञानिक कारण है।

मेरुदण्ड एवं उससे सम्बन्धित स्नायुओंके सम्बन्धमें हम देखते हैं कि इन अङ्गोंके चारों ओर रक्तकी गति साधारणतया मन्द होती है। प्राणायामसे इन अङ्गोंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है और इस प्रकार इन अङ्गोंको स्वस्थ रखनेमें प्राणायाम सहायक होता है। हम अभी बतायेंगे कि यह सब कैसे होता है। योगमें कुम्भक करते समय मूल, उड्डीयान और जालन्धर—तीन प्रकारके बन्ध करनेका उपदेश दिया गया है। इन बन्धोंका एक कालमें अभ्यास करनेसे (चित्र देखिये) पृष्ठवंशका, जिसके अन्दर मेरुदण्ड स्थित है, तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंका उत्तम रीतिसे व्यायाम हो जाता है। इन बन्धोंके करनेसे पृष्ठवंशको यथास्थान रखनेवाली मांसपेशियाँ, जिनमें तत्सम्बन्धित स्नायु भी रहते हैं, क्रमशः फैलती हैं और फिर सिमिट जाती हैं जिससे इन पेशियों तथा मेरुदण्ड एवं तत्सम्बन्धित स्नायुओंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है। बन्ध यदि न किये जायँ तो भी प्राणायामकी सामान्य प्रक्रिया ही ऐसी है कि उससे पृष्ठवंशपर ऊपर- की ओर हलका-सा खिंचाव पड़ता है, जिससे मेरुदण्ड तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंको स्वस्थ रखनेमें सहायता मिलती है।

मूल, उड्डीयान और जालन्धरबन्ध
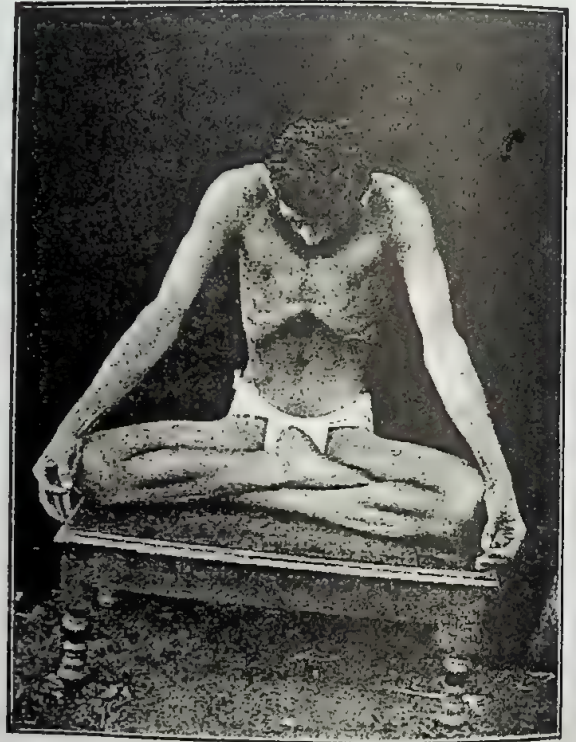
स्नायुजालके स्वास्थ्यपर अच्छा प्रभाव डालनेके लिये तो सबसे उत्तम प्राणायाम भस्त्रिका है। इस प्राणायाममें श्वासकी गति तेज होनेसे शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गकी, जिसमें स्नायुजाल भी शामिल है, मालिश हो जाती है। विस्तारभयसे हम इस सम्बन्धमें अधिक न कहकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि प्राणायामका स्नायुजालपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और स्नायुओंको स्वस्थ रखनेके लिये यह सर्वोत्तम व्यायाम है।

यहाँतक हम यह बता चुके कि प्राणायामका मानवशरीरके अन्दर कार्य करनेवाले मुख्य-मुख्य अङ्गोंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि इनसे अतिरिक्त अङ्गोंपर भी प्राणायामका उतना ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे यह बात प्रमाणित

होती है कि प्राणायाम हमारे शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये सर्वोत्तम व्यायाम है। वास्तवमें भारतके प्राचीन योगाचार्य प्राणायामको शरीरकी प्रत्येक आभ्यन्तर क्रियाको स्वस्थ रखनेका एकमात्र साधन मानते थे।[१] उनमेंसे कुछ तो प्राणायामको शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखनेमें इतना सहायक मानते हैं कि वे इसके लिये अन्य किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते। हम भी अपने निजी अनुभवसे निःसङ्कोच होकर यह कह सकते हैं कि कोई भी व्यायाम प्राणायामके शतांशकी भी बराबरी नहीं कर सकता। वास्तवमें प्राणायामसे शरीरकी आभ्यन्तर क्रियाओंका नियन्त्रण ही नहीं होता अपि तु इस शरीरयन्त्रको जीवन देनेवाले प्रत्येक व्यापारपर अधिकार हो जाता है।

प्राणायामके सम्बन्धमें विरोधपरिहार

पश्चिमके कुछ शरीरविज्ञानविशारद उन सभी व्यायामोंका विरोध करते हैं जिनमें गहरी साँस लेनेका अभ्यास किया जाता है।[२] उनके इन विरोधकी आलोचना किये बिना इस लेखको समाप्त करना उचित नहीं होगा। इन शरीरविज्ञानविशारदोंके नेता डॉ० लिँडहार्ड (Dr. Lindhard) हैं, जो कोपेनहैगन (Copenhagen) विश्वविद्यालय (Denmark)-के (Gymnastic Physiological Laboratorium) (व्यायाम एवं शरीरविज्ञानसम्बन्धी प्रयोगशाला)-में अध्यापनका कार्य करते हैं, और डेनमार्क देशके States Gymnastic Institute (राजकीय व्यायामशाला)-के प्रधान हैं। इन शरीरविज्ञानविशारदोंका विरोध संक्षेपमें यह है—

१. हमारे फेंफड़ोंके छिद्र उतना ही ऑक्सिजन ग्रहण करते हैं जितनेकी उन्हें आवश्यकता होती है। जब शरीर निश्चेष्ट होता है तब इन छिद्रोंकी आवश्यकता सामान्य श्वास-प्रश्वाससे पूर्ण होती है। ऐसी दशामें शरीरके अन्दर ऑक्सिजनको आवश्यकतासे अधिक मात्रामें ले जाना शरीरविज्ञानके सिद्धान्तोंके प्रतिकूल ही नहीं अपि तु युक्तिविरुद्ध भी है।

२. बड़े फेंफड़े और श्वाससम्बन्धी व्यायाम राजयक्ष्मा आदि फेंफड़ेके रोगोंके परिपन्थी न होकर उलटे सहायक होते हैं।

पहली आपत्ति तो प्राणायामके विषयमें घट ही नहीं सकती। ऊपर इस बातको खूब स्पष्ट कर दिया गया है कि प्राणायामके अधिकांश भेदोंमें ऑक्सिजन अधिक मात्रामें हमारे शरीरमें नहीं जाता। अकेले भस्त्रिकाप्राणायामकी बात अलग है। उसके पहले अंशमें, जो कपालभातिसे मिलता-जुलता है, अवश्य ही ऑक्सिजन अधिक मात्रामें हमारे शरीरके अन्दर जाता है। परन्तु ऑक्सिजनकी यह अधिक मात्रा तुरन्त उपयोगमें लानेके लिये होती है। इसके बाद जो कुम्भक और रेचक कुछ देरतक अर्थात् कुछ मिनटतक किये जाते हैं उस समय भीतरके (सूक्ष्म) श्वासोच्छ्वासको यथावस्थित रखनेके लिये और ऑक्सिजनके अभावसे छिद्र निराहार एवं निर्जीव न हो जायँ, इसलिये भी इतना ऑक्सिजन आवश्यक होता है।

दूसरी आपत्तिके सम्बन्धमें यह मानना पड़ेगा कि प्राणायाममें फेंफड़े बड़े हो जाते हैं। परन्तु जो लोग यह कहते हैं कि बड़े फेंफड़े राजयक्ष्माके विरोधी न होकर उलटे सहायक होते हैं, वे लोग आधुनिक चिकित्सकोंके अनुभवकी भी अवहेलना करते हैं। डॉ० श्मीट (Dr. Schmidt)-ने अपने "Physiology of Exercise" (व्यायामविज्ञान) नामक ग्रन्थमें (जिसके लिखनेमें उक्त विद्वान्‌को दो एम० डी० तथा एक पी०-एच० डी० उपाधिधारी विद्वान्‌का सहयोग भी प्राप्त हुआ है) यह साफ शब्दोंमें लिखा है कि ऐसे फेंफड़ोंके ही राजयक्ष्माका शिकार बननेकी सम्भावना रहती है जो पूरी तरहसे बढ़ नहीं पाये हैं। पूरे तौरसे बढ़े हुए फेंफड़े इस रोगके शिकार नहीं बन सकते। डॉ० मेकेंज़ी एम० डी० (Dr. Makenzie, M.D.)-ने, जो पेन्सिल्वेनिया (Pennsylvania) विश्वविद्यालयमें शारीरिक शिक्षा (Physical Education) और व्यायामचिकित्सा (Physical Therapy)-के अध्यापक हैं, अपने "Exercise in Education and

१. लेखके प्रारम्भमें दिया हुआ 'हठयोगप्रदीपिका' का श्लोक देखिये।

२. अवश्य ही प्राणायामकी विधि योगेतर पद्धतियोंके श्वाससम्बन्धी व्यायामोंकी विधिसे बहुत भिन्न है। तथापि प्राणायामकी श्वाससम्बन्धी व्यायाममें ही गणना करनी होगी। साथ ही यह भी देखना है कि गहरा श्वास लेनेमें जो दोष बताये गये हैं वे वास्तवमें ठीक हैं या नहीं।

Medicine" (शिक्षा एवं चिकित्सामें व्यायाम) नामक उत्तम ग्रन्थमें निम्नलिखित वाक्य लिखा है—

ओछे सीनेके बालक, जिन्हें साँस लेनेमें कष्ट होता है, जिनके अन्दर राजयक्ष्माके पूर्व चिह्न प्रकट हो गये हैं तथा जो राजयक्ष्मासे पीड़ित हैं, उन्हें भी व्यायाम (श्वासके व्यायाम)-से सबसे अधिक लाभ होता है।[१] डॉ० बटलर (Dr. Butler) और डॉ० रोजेन्थल (Dr. Rosenthal)-ने भी अपने अनुभवसे डॉ० मेकेंज़ीका समर्थन किया है। डॉ० बटलरने क्षयरोगकी प्रारम्भिक अवस्थाके कई रोगियोंका हाल लिखा है जिन्हें श्वाससम्बन्धी व्यायामसे लाभ हुआ। डॉ० रोज़ेन्थलने प्रारम्भिक यक्ष्मजनित पार्श्वशूलसे पीडित १९ रोगियोंका सविस्तर वृत्तान्त लिखा है जिन्हें श्वाससम्बन्धी व्यायामसे बहुत लाभ हुआ। इन सब प्रमाणोंके सामने रहते हुए यह कहना कि श्वाससम्बन्धी व्यायाम उलटा फेंफड़ोंके यक्ष्मरोगमें सहायक है, निरी मूर्खता है। डॉ० लिंडहार्ड आदि विद्वानोंके लिये तो श्वाससम्बन्धी व्यायाममात्रको बुरा कहना और भी अविवेकताका सूचक है, खासकर जब डॉ० लिंडहार्ड इस बातको स्वीकार करते हैं कि इन व्यायामोंके सम्बन्धमें अभीतक यह प्रमाणित नहीं हुआ है कि उनसे साक्षात् रूपमें हानि होती है। अपने 'Theory of Gymnastics' (व्यायामका सिद्धान्त) नामक उत्तम ग्रन्थके पृष्ठ २५२ पर श्वाससम्बन्धी व्यायामोंकी कड़ी समालोचना करनेके पश्चात् वे लिखते हैं—

'जिन श्वाससम्बन्धी व्यायामोंकी इतनी प्रशंसा की जाती है उनकी निन्दा पढ़कर लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि अभीतक यह प्रमाणित नहीं हुआ है कि उनसे स्पष्टरूपमें अहित होता है। यह बात सर्वथा सत्य है।'[२]

श्वाससम्बन्धी व्यायामोंसे श्वासोपयोगी अङ्गसमूहको तो लाभ होता ही है, किन्तु उनका असली महत्त्व तो इस बातको लेकर है कि उनसे अन्य अङ्गसमूहोंको भी, खासकर स्नायुजालको विशेष लाभ पहुँचता है। इन व्यायामोंको लेकर शरीरविज्ञानविशारदोंमें जो यह युद्ध छिड़ा हुआ है वह इस बातको समझ लेनेपर शान्त हो जायगा। इन लोगोंको एक बात और याद रखनी चाहिये। वह यह है कि पाश्चात्त्य पद्धतिके श्वाससम्बन्धी व्यायाम अभीतक प्रारम्भिक अवस्थामें हैं और बहुधा भ्रममूलक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित हैं। यदि पाश्चात्त्य देशनिवासी यथार्थ विधिसे श्वाससम्बन्धी व्यायाम करना चाहते हैं तो उन्हें योगपद्धतिके अनुसार प्राणायाम करना चाहिये।

प्राणायामका हमारे शरीरपर कैसा प्रभाव पड़ता है, इस बातको सच्चे रूपमें प्रकट करनेके उद्देश्यसे ही हमने इस विषयपर यह प्रबन्ध लिखा है। इस लेखको पढ़कर कोई बिना किसी प्रामाणिक ग्रन्थ अथवा प्रामाणिक गुरुकी सहायताके प्राणायाम करना शुरू न कर दें। प्राणायाम दुधारे खाँड़ेके समान है। इससे लाभ और हानि दोनों हो सकती है, बल्कि इससे लाभ उठानेकी अपेक्षा इसका दुरुपयोग करना सहज है।
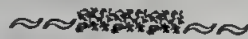
अन्तर्वेदना

(रचयिता—श्रीचन्द्रनाथजी मालवीय 'वारीश')

करुणा करोगे करुणोंपर करुण बन,
करुणेश! शेष करुणाको तब देखूँगा।
करुणाके आकार कहाते करुणाकर हो,
आकर करोड़ों-कर जोड़े जब देखूँगा॥
करुणाकी माया, काया कवि-कल्पना की हुई,
कल्पों कलपते गया, आज अब देखूँगा।
करुणा करो न! कोटि करुण चुए हैं कण,
करुणा-निधान! करुणाको कब देखूँगा॥
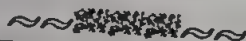
१. "Those who get the most benefit from the exercises (Respiratory exercises) are narrow-chested children—those who have difficulty in, respiration the pretuberculous and even the tuberculous."

२. 'To this condemnation of the much lauded breathing exercises it will probably be objected that it has not yet been proved that thay work direct harm. This is perfectly true.'

स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय

(लेखक— परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वती*)

विश्वपिता विधाताने मनुष्यके जन्मके समयमें ही देहके साथ एक ऐसा आश्चर्यजनक कौशलपूर्ण अपूर्व उपाय रच दिया है जिसे जान लेनेपर सांसारिक, वैषयिक किसी भी कार्यमें असफलताका दुःख नहीं हो सकता। हम इस अपूर्व कौशलको नहीं जानते, इसी कारण हमारा कार्य असफल हो जाता है, आशा भंग हो जाती है, हमें मनस्ताप और रोग भोगना पड़ता है। यह विषय जिस शास्त्रमें है, उसे स्वरोदय-शास्त्र कहते हैं। यह स्वरशास्त्र जैसा दुर्लभ है, स्वरज्ञ गुरुका भी उतना ही अभाव है। स्वरशास्त्र प्रत्यक्ष फल देनेवाला है। मुझे पद-पदपर इसका प्रत्यक्ष फल देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ा है। समग्र स्वरशास्त्रको ठीक-ठीक लिपिबद्ध करना बिलकुल असम्भव है। केवल साधकोंके कामकी कुछ बातें यहाँ संक्षेपमें दी जा रही हैं।

स्वरशास्त्र सीखनेके लिये श्वास-प्रश्वासकी गतिके सम्बन्धमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

कायानगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः।

'देहरूपी नगरमें वायु राजाके समान है।' प्राणवायु 'निःश्वास' और 'प्रश्वास' इन दो नामोंसे पुकारा जाता है। वायु ग्रहण करनेका नाम निःश्वास और वायुके परित्याग करनेका नाम प्रश्वास है। जीवके जन्मसे मृत्युके अन्तिम क्षणतक निरन्तर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया होती रहती है। और यह निःश्वास नासिकाके दोनों छेदोंसे एक ही समय एक साथ समानरूपसे नहीं चला करता, कभी बायें और कभी दाहिने पुटसे चलता है। कभी-कभी एकाध घड़ीतक एक ही समय दोनों नाकोंसे समानभावसे श्वास प्रवाहित होता है। बायें नासापुटके श्वासको इडामें चलना, दाहिनी नासिकाके श्वासको पिंगलामें चलना और दोनों पुटोंसे एक समान चलनेपर उसे सुषुम्नामें चलना कहते हैं। एक नासापुटको दबाकर दूसरेके द्वारा श्वासको बाहर निकालनेपर यह साफ मालूम हो जाता है कि एक नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास-प्रवाह चल रहा है, और दूसरा नासापुट मानो बन्द है; अर्थात् उससे दूसरी नासिकाकी तरह सरलतापूर्वक श्वास बाहर नहीं निकलता। जिस नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास बाहर निकलता हो, उस समय उसी नासिकाका श्वास कहना चाहिये। किस नासिकासे श्वास बाहर निकल रहा है, इसको पाठक उपर्युक्त प्रकारसे समझ सकते हैं। क्रमशः अभ्यास होनेपर बहुत आसानीसे मालूम होने लगता है कि किस नासिकासे निःश्वास प्रवाहित होता है। प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। इस प्रकार रात-दिनमें बारह बार बायीं और बारह बार दाहिनी नासिकासे क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नासिकासे पहले श्वास-क्रिया होती है, इसका एक निर्दिष्ट नियम है। यथा—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये॥

(पवनविजयस्वरोदय)

शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे चन्द्र अर्थात् बायीं नासिकासे, तथा कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिनी नासिकासे पहले श्वास प्रवाहित होता है। अर्थात् शुक्लपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया; सप्तमी, अष्टमी, नवमी; त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा—इन नौ दिनोंमें प्रातःकाल सूर्योदयके समय पहले बायीं नासिकासे, तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंको प्रातःकाल पहले दाहिनी नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होता है और वह ढाई घड़ीतक रहता है। उसके बाद दूसरी नासिकासे श्वास जारी होता है। कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया,

---

* परमहंसजी महाराजके 'योगी गुरु' नामक बंगला ग्रन्थसे यह लेख उनके आज्ञानुसार लेकर छापा गया है। आपके और भी अनेकों ग्रन्थ बहुत ही उपादेय हैं। पुस्तकें 'सारस्वतमठ', पो० कोकिलामुख, जोरहाट (आसाम)-से मिल सकती हैं।

तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी; त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावस्या—इन नौ दिनोंमें सूर्योदयके समय पहले दाहिनी नासिकासे तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंमें सूर्यके उदयकालमें पहले बायीं नासिकासे श्वास आरम्भ होता है और ढाई घड़ीके बाद दूसरी नासिकासे चलता है। इस प्रकार नियमपूर्वक ढाई-ढाई घड़ीतक एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। यही मनुष्य-जीवनमें श्वासकी गतिका स्वाभाविक नियम है।

वहेत्तावद् घटीमध्ये पञ्चतत्त्वानि निर्दिशेत्।
(स्वरशास्त्र)

प्रतिदिन रात-दिनकी ६० घड़ियोंमें ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे निर्दिष्ट क्रमसे श्वास चलनेके समय क्रमशः पञ्चतत्त्वोंका उदय होता है। इस श्वास-प्रश्वासकी गतिको समझकर कार्य करनेपर शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है; फलस्वरूप सांसारिक, वैषयिक सब कार्योंमें सफलता मिलनेके कारण सुखपूर्वक संसार-यात्रा पूरी होती है।

वाम नासिकाका श्वासफल

जिस समय इडा नाडीसे अर्थात् बायीं नासिकासे श्वास चलता हो उस समय स्थिर कर्मोंको करना चाहिये। जैसे अलंकारधारण, दूरकी यात्रा, आश्रममें प्रवेश, राजमन्दिर तथा महल बनाना तथा द्रव्यादिका ग्रहण करना। तालाब, कुआँ आदि जलाशय तथा देवस्तम्भ आदिकी प्रतिष्ठा करना। इसी समय यात्रा, दान, विवाह, नया कपड़ा पहनना, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म, दिव्यौषधसेवन, रसायनकार्य, प्रभुदर्शन, मित्रता-स्थापन एवं बाहर जाना आदि शुभ कार्य करने चाहिये। बायीं नाकसे श्वास चलनेके समय शुभ कार्य करनेपर उन सब कार्योंमें सिद्धि मिलती है। परन्तु वायु, अग्नि और आकाशतत्त्वके उदयके समय उक्त कार्य नहीं करने चाहिये।

दक्षिण नासिकाका श्वासफल

जिस समय पिंगला नाडी अर्थात् दाहिनी नाकसे श्वास चलता हो उस समय कठिन कर्म करने चाहिये। जैसे—कठिन क्रूर विद्याका अध्ययन और अध्यापन, स्त्रीसंसर्ग, नौकादि आरोहण, तान्त्रिकमतानुसार वीरमन्त्रादि-सम्मत उपासना, वैरीको दण्ड, शास्त्राभ्यास, गमन, पशुविक्रय, ईंट, पत्थर, काठ तथा रत्नादिका घिसना और छीलना, संगीत-अभ्यास, यन्त्र-तन्त्र बनाना, किले और पहाड़पर चढ़ना, हाथी, घोड़ा तथा रथ आदिकी सवारी सीखना, व्यायाम, षट्कर्मसाधन, यक्षिणी, बेताल तथा भूतादिसाधन, औषधसेवन, लिपिलेखन, दान, क्रय-विक्रय, युद्ध, भोग, राजदर्शन, स्नानाहार आदि।

सुषुम्नाका श्वासफल

दोनों नाकोंसे श्वास चलनेके समय किसी प्रकारका शुभ या अशुभ कार्य नहीं करना चाहिये। उस समय कोई भी काम करनेसे वह निष्फल होगा। उस समय योगाभ्यास और ध्यान-धारणादिके द्वारा केवल भगवान्को स्मरण करना उचित है। सुषुम्ना नाडीसे श्वास चलनेके समय किसीको भी शाप या वरप्रदान करनेपर वह सफल होता है।

श्वास-प्रश्वासकी गति जानकर, तत्त्वज्ञानके अनुसार, तिथि-नक्षत्रके अनुसार, ठीक-ठीक नियमपूर्वक सब कर्मोंको करनेपर आशाभङ्गजनित मनस्ताप नहीं भोगना पड़ता। परन्तु यहाँ विस्तृतरूपसे इन सब बातोंका वर्णन करनेपर एक बड़ी भारी पुस्तक तैयार हो जायगी। बुद्धिमान् पाठक इस संक्षिप्त अंशको पढ़कर यदि ठीक-ठीक कार्य करेंगे तो निश्चय ही सफल-मनोरथ होंगे।

रोगोत्पत्तिका पूर्णज्ञान और उसका प्रतिकार

पहले हम कह चुके हैं कि शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनके अन्तरसे सूर्योदयके समय पहले बायीं नासिकासे और शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे तीन-तीन दिनके अन्तरसे सूर्योदयके समय पहले दाहिनी नासिकासे निःश्वास प्रवाहित होनेका स्वाभाविक नियम है। परन्तु—

प्रतिपत्तो दिनान्याहुर्विपरीते विपर्ययः।

प्रतिपदा आदि तिथियोंको यदि निश्चित नियमके विरुद्ध श्वास चले तो समझना चाहिये कि निस्सन्देह कुछ अमङ्गल होगा। जैसे, शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको सवेरे नींद टूटनेपर सूर्योदयके समय पहले यदि दाहिनी

नाकसे श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिनसे पूर्णिमातकके बीच गर्मीके कारण कोई पीड़ा होगी और कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिको सूर्योदयके समय पहले बायीं नाकसे श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिनसे अमावस्यातकके अन्दर कफ या सर्दीके कारण कोई पीड़ा होगी, इसमें सन्देह नहीं।

दो पखवाड़ोंतक इसी प्रकार विपरीत ढंगसे सूर्योदयके समय निःश्वास चलता रहे तो किसी आत्मीय स्वजनको भारी बीमारी होगी अथवा मृत्यु होगी या और किसी प्रकारकी विपत्ति आवेगी। तीन पखवाड़ोंसे ऊपर लगातार गड़बड़ होनेपर निश्चय ही अपनी मृत्यु हो जायगी।

शुक्ल अथवा कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन प्रातःकाल यदि इस प्रकार विपरीत ढंगसे निःश्वास चलनेका पता लग जाय तो उस नासिकाको कई दिनोंतक बन्द रखनेसे रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती। उस नासिकाको इस तरह बन्द रखना चाहिये जिसमें उससे निःश्वास न चले। इस प्रकार कुछ दिनोंतक दिन-रात निरन्तर (स्नान और भोजनका समय छोड़कर) नाक बन्द रखनेसे उक्त तिथियोंके भीतर बिलकुल ही कोई रोग नहीं होगा।

यदि असावधानीके कारण निःश्वासमें गड़बड़ीसे कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो जबतक रोग दूर न हो जाय तबतक ऐसा करना चाहिये कि जिससे शुक्ल-पक्षमें दाहिनी और कृष्णपक्षमें बायीं नासिकासे श्वास न चले। ऐसा करनेसे रोग शीघ्र दूर हो जायगा। और यदि कोई भारी रोग होनेकी सम्भावना होगी तो वह भारी न होकर बहुत सामान्य रूपमें होगा और फिर थोड़े ही दिनोंमें दूर हो जायगा। ऐसा करनेसे न तो रोगजनित कष्ट भोगना पड़ेगा और न चिकित्सकको धन ही देना पड़ेगा।

नासिका बन्द करनेका नियम

नाकके छेदमें घुस सके, इतनी-सी पुरानी साफ रुई लेकर उसकी गोल पोटली-सी बना ले और उसे साफ बारीक कपड़ेसे लपेटकर सी ले। फिर इस पोटलीको नाकके छिद्रमें घुसाकर छिद्रको इस प्रकार बन्द कर दे जिसमें उस नाकसे श्वास-प्रश्वासका कार्य बिलकुल ही न हो। जिन लोगोंको कोई शिरोरोग है अथवा जिनका मस्तक दुर्बल हो उन्हें रुईसे नाक बन्द न कर, सिर्फ साफ पतले कपड़ेकी पोटली बनाकर उसीसे नाक बन्द करनी चाहिये।

किसी भी कारणसे हो, जितने क्षण या जितने दिन नासिका बन्द रखनेकी आवश्यकता हो उतने क्षण या उतने दिनोंतक अधिक परिश्रमका कार्य, धूम्रपान, जोरसे चिल्लाना, दौड़ना इत्यादि नहीं करना चाहिये। जो लोग तम्बाकूके बिना बिलकुल न रह सकते हों उन्हें तम्बाकू पीते समय नाकसे पोटली निकाल लेनी चाहिये और फिर तम्बाकू पी लेनेपर नाकके छेदको वस्त्र आदिसे अच्छी तरह पोंछकर उसे पूर्ववत् पोटलीसे बन्द कर देना चाहिये। जब जिस किसी कारणसे नाक बन्द रखनेकी आवश्यकता हो, तभी इन नियमोंका जरूर पालन करना चाहिये। नयी अथवा बिना साफ की हुई मैली रुई कभी नाकमें नहीं डालनी चाहिये।

निःश्वास बदलनेका तरीका

कार्यभेदसे तथा अन्यान्य अनेक कारणोंसे एक नासिकासे दूसरी नासिकामें वायुकी गति बदलनेकी भी आवश्यकता हुआ करती है। कार्यके अनुकूल नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होनेतक, उस कार्यको न करके चुपचाप बैठे रहना किसीके लिये भी सम्भव नहीं। अतएव अपनी इच्छानुसार श्वासकी गति बदलनेकी क्रिया सीख लेना नितान्त आवश्यक है। इसकी क्रिया अत्यन्त सहज है, सामान्य चेष्टासे ही श्वासकी गति बदली जा सकती है।

जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उसके विपरीत दूसरी नासिकाको अंगूठेसे दबा देना चाहिये और जिससे श्वास चलता हो उसके द्वारा वायु खींचना चाहिये। फिर उसको दबाकर दूसरी नासिकासे वायुको निकालना चाहिये। कुछ देरतक इसी तरह एकसे श्वास लेकर दूसरीसे निकालते रहनेसे अवश्य श्वासकी गति बदल जायगी। जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसी करवट सोकर यह क्रिया करनेसे बहुत जल्द श्वासकी गति बदल जाती है और दूसरी नासिकासे श्वास प्रवाहित होने लगता है। इस क्रियाके बिना भी जिस नाकसे

श्वास चलता है, केवल उस करवट कुछ समयतक सोये रहनेसे भी श्वासकी गति पलट जाती है।

इस लेखमें जहाँ-जहाँ निःश्वास बदलनेकी बात लिखी जायगी, वहाँ-वहाँ पाठकोंको इसी कौशलसे श्वासकी गति बदलनेकी बात समझनी चाहिये। जो अपनी इच्छानुसार वायुको रोक सकता है और निकाल सकता है वही पवनपर विजय प्राप्त करता है।

बिना औषधके रोगनिवारण

अनियमित क्रियाके कारण जिस तरह मानवदेहमें रोग उत्पन्न होते हैं, उसी तरह औषधके बिना ही भीतरी क्रियाओंके द्वारा नीरोग होनेके उपाय भगवान्‌के बनाये हुए हैं। हमलोग उस भगवत्प्रदत्त सहज कौशलको नहीं जानते, इसी कारण दीर्घकालतक रोगका दुःख भोगते हैं तथा व्यर्थ ही वैद्य-डाक्टरोंको धन देते हैं। मैंने देश-पर्यटन करते समय सिद्धयोगी महात्माओंसे बिना औषध रोगशान्तिके उपाय सीखे थे, फिर पीछे बहुत बार परीक्षा करके मैंने उनका प्रत्यक्ष फल देखा; इसलिये सर्वसाधारणके उपकारके उद्देश्यसे उनमेंसे कुछ उपायोंको प्रकट कर रहा हूँ। पाठक नीचे लिखे उपायोंको काममें लाकर प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर सकते हैं। इन उपायोंको काममें लानेसे न तो बहुत दिनोंतक रोगकी यन्त्रणा सहनी होगी, न अर्थव्यय करना होगा और न दवाइयोंसे अपने पेटको ही भरना होगा। इस स्वरशास्त्रोक्त कौशलसे जब एक बार मनुष्य नीरोग हो जाता है तब फिर उस रोगके पुनः आक्रमण करनेकी आशंका नहीं रहती। मैं पाठकोंसे परीक्षा करनेका अनुरोध करता हूँ।

ज्वर—ज्वरका आक्रमण होनेपर अथवा आक्रमणकी आशङ्का होनेपर जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उस नासिकाको बन्द कर देना चाहिये। जबतक ज्वर न उतरे और शरीर स्वस्थ न हो जाय तबतक उस नासिकको बन्द ही रखना चाहिये। ऐसा करनेसे दस-पन्द्रह दिनोंमें उतरनेवाला ज्वर पाँच ही सात दिनोंमें अवश्य ही उतर जायगा। ज्वरकालमें मन-ही-मन सदा चाँदीके समान श्वेत वर्णका ध्यान करनेसे और भी शीघ्र लाभ होता है।

सिन्दुवारकी जड़ रोगीके हाथमें बाँध देनेसे सब प्रकारके ज्वर निश्चय ही दूर हो जाते हैं।

अँतरिया ज्वर—श्वेत अपराजिता अथवा पलाशके पत्तोंको हाथसे मलकर, कपड़ेसे लपेटकर एक पोटली बना लेनी चाहिये और जिस दिन ज्वरकी बारी हो उस दिन सवेरेसे ही उसे सूँघने लगना चाहिये। अँतरिया ज्वर बन्द हो जायगा।

सिरदर्द—सिरदर्द होनेपर दोनों हाथोंकी केहुनीके ऊपर धोतीके किनारे अथवा रस्सीसे खूब कसकर बाँध देना चाहिये। इससे पाँच-सात मिनटमें ही सिरदर्द जाता रहेगा। केहुनीपर इतने जोरसे बाँधना चाहिये कि रोगीको हाथमें अत्यन्त दर्द मालूम हो। सिरदर्द अच्छा होते ही बाँहें खोल देनी चाहिये।

एक दूसरे प्रकारका सिरदर्द होता है, जिसे साधारणतः 'अधकपाली' या 'आधासीसी' कहते हैं। कपालके मध्यसे बाँयी या दाहिनी ओर आधे कपाल और मस्तकमें अत्यन्त पीड़ा मालूम होती है। प्रायः यह पीड़ा सूर्योदयके समय आरम्भ होती है और दिन चढ़नेके साथ-साथ यह भी बढ़ती जाती है। दोपहरके बाद घटनी शुरू होती है और शामतक प्रायः नहीं ही रहती। इस रोगका आक्रमण होनेपर जिस तरफके कपालमें दर्द हो, ऊपर लिखे अनुसार उसी तरफकी केहुनीके ऊपर जोरसे रस्सी बाँध देनी चाहिये। थोड़ी ही देरमें दर्द शान्त हो जायगा और रोग जाता रहेगा। दूसरे दिन यदि फिर दर्द शुरू हो और रोज एक ही नासिकासे श्वास चलते समय शुरू होता हो तो सिरदर्द मालूम होते ही उस नाकको बन्द कर देना चाहिये और हाथको भी बाँध रखना चाहिये। 'अधकपाली' सिरदर्दमें इस क्रियासे होनेवाले आश्चर्यजनक फलको देखकर आप चकित रह जायँगे।

शिरःपीड़ा—शिरःपीड़ाग्रस्त रोगीको प्रातःकाल शय्यासे उठते ही नासापुटसे शीतल जल पीना चाहिये। इससे मस्तिष्क शीतल रहेगा, सिर भारी नहीं होगा और सर्दी नहीं लगेगी। यह क्रिया विशेष कठिन भी नहीं है। एक बरतनमें ठण्ढा जल भरकर उसमें नाक डुबाकर धीरे-धीरे गलेके भीतर जल खींचना चाहिये। क्रमशः

अभ्याससे यह क्रिया सहज हो जायगी। शिर:पीड़ा होनेपर चिकित्सक रोगीके आरोग्य होनेकी आशा छोड़ देता है, रोगीको भी भीषण कष्ट होता है; परन्तु इस उपायसे काम लेनेपर निश्चय ही आशातीत लाभ पहुँचेगा।

उदरामय, अजीर्णादि—भोजन, जलपान आदि जब जो कुछ खाना हो वह दाहिनी नाकसे श्वास चलते समय खाना चाहिये। प्रतिदिन इस नियमसे आहार करनेसे वह बहुत आसानीसे पच जायगा और कभी अजीर्णका रोग नहीं होगा। जो लोग इस रोगसे कष्ट पा रहे हैं वे भी यदि इस नियमके अनुसार रोज भोजन करें तो खायी हुई चीज पच जायगी और धीरे-धीरे उनका रोग दूर हो जायगा। भोजनके बाद थोड़ी देर बायीं करवट सोना चाहिये। जिन्हें समय न हो उन्हें ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे भोजनके बाद दस-पन्द्रह मिनटतक दाहिनी नाकसे श्वास चले। अर्थात् पूर्वोक्त नियमके अनुसार रुईद्वारा बायीं नाक बन्द कर देनी चाहिये। गुरुपाक (भारी) भोजन होनेपर भी इस नियमसे वह शीघ्र पच जाता है।

स्थिरताके साथ बैठकर एकटक नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर नाभिकन्दका ध्यान करनेसे एक सप्ताहमें उदरामय रोग दूर हो जाता है।

श्वास रोककर नाभिको खींचकर नाभिकी ग्रन्थिको एक सौ बार मेरुदण्डसे मिलानेसे आमादि उदरामयजनित सब तरहकी पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं और जठराग्नि तथा पाचनशक्ति बढ़ जाती है।

प्लीहा—रातको बिछौनेपर सोकर और सवेरे शय्यात्यागके समय हाथ और पैरोंको सिकोड़कर छोड़ देना चाहिये। फिर कभी इस करवट कभी उस करवट टेढ़ा-मेढ़ा शरीर करके सारे शरीरको सिकोड़ना और फैलाना चाहिये। प्रतिदिन चार-पाँच मिनट ऐसा करनेसे प्लीहा-यकृत् (तिल्ली, लीवर) रोग दूर हो जायगा। सर्वदा इसका अभ्यास करनेसे प्लीहा-यकृत् रोगकी पीड़ा कभी नहीं भोगनी पड़ेगी।

दन्तरोग—प्रतिदिन जितनी बार मल-मूत्रका त्याग करो, उतनी बार दाँतोंकी दोनों पंक्तियोंको मिलाकर जरा जोरसे दबाये रखो। जबतक मल या मूत्र निकलता रहे तबतक दाँतोंसे दाँत मिलाकर इस प्रकार दबाये रहना चाहिये। दो-चार दिन ऐसा करनेसे कमजोर दाँतोंकी जड़ मजबूत हो जायगी। सदा इसका अभ्यास करनेसे दन्तमूल दृढ़ हो जाता है और दाँत दीर्घकालतक काम देते हैं तथा दाँतोंमें किसी प्रकारकी बीमारी होनेका कोई डर नहीं रहता।

स्नायविक वेदना—छाती, पीठ या बगलमें—चाहे जिस स्थानमें स्नायविक वेदना या अन्य किसी प्रकारकी वेदना हो, वेदना मालूम होते ही जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसे बन्द कर देना चाहिये; दो-चार मिनट बाद अवश्य ही वेदना शान्त हो जायगी।

दमा या श्वासरोग—जब दमेका जोरका दौरा हो तब जिस नासिकासे नि:श्वास चलता हो उसे बन्द करके दूसरी नासिकासे श्वास चला देना चाहिये। दस-पन्द्रह मिनटमें जोर कम हो जायगा। प्रतिदिन इस प्रकार करनेसे महीनेभरमें पीड़ा शान्त हो जायगी। दिनमें जितने ही अधिक समयतक यह क्रिया की जायगी उतना ही शीघ्र यह रोग दूर होगा। दमाके समान कष्टदायक कोई रोग नहीं; दमाका जोर होनेपर यह क्रिया करनेसे बिना किसी दवाके बीमारी अच्छी हो जाती है।

वात—प्रतिदिन भोजनके बाद कंघीसे सिर वाहना चाहिये। कंघी इस प्रकार चलानी चाहिये जिसमें उसके काँटे सिरको स्पर्श करें। उसके बाद वीरासन लगाकर अर्थात् दोनों पैर पीछेकी ओर मोड़कर उनके ऊपर दबाकर १५ मिनट बैठना चाहिये। प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद इस प्रकार बैठनेसे कितना भी पुराना वात क्यों न हो निश्चय ही अच्छा हो जायगा। इस प्रकार बैठकर पान-तम्बाकू खानेमें भी कोई हर्ज नहीं। अगर स्वस्थ आदमी इस नियमका पालन करे तो उसके वातरोग होनेकी कोई आशङ्का नहीं रहेगी। कहना न होगा कि रबड़की कंघीका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

नेत्ररोग—प्रतिदिन सवेरे बिछौनेसे उठते ही सबसे पहले मुँहमें जितना पानी भरा जा सके उतना भरकर दूसरे जलसे आँखोंको बीस बार झपटा मारकर धोना चाहिये।

प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद हाथ-मुँह धोते समय कम-से-कम सात बार आँखोंमें जलका झपटा देना चाहिये।

जितनी बार मुँहमें जल डालो, उतनी ही बार आँख और मुँहको धोना मत भूलो।

प्रतिदिन स्नानके वक्त तेल मालिश करते समय सबसे पहले दोनों पैरोंके अँगूठोंके नखोंको तेलसे भर देना चाहिये और फिर तेल लगाना चाहिये।

ये कुछ नियम नेत्रोंके लिये विशेष लाभदायक हैं। इनसे दृष्टिशक्ति सतेज होती है, आँखें स्निग्ध रहती हैं और आँखोंमें कोई बीमारी होनेकी सम्भावना नहीं रहती। नेत्र मनुष्यके परमधन हैं। अतएव प्रतिदिन नियमपालनमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये।

वर्षफलका निर्णय

चैत्रमासकी शुक्ल प्रतिपदा तिथिको प्रातःकाल अर्थात् चान्द्रवर्षके शुरू होनेके समय तथा दक्षिणायन और उत्तरायणके प्रारम्भमें विचक्षण व्यक्तियोंको तत्त्वसाधनके भेदाभेदका निरूपण और निरीक्षण करना चाहिये। यदि उस समय चन्द्रनाडी (वाम नासिकासे श्वास) चलती हो और पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व या वायुतत्त्वका उदय हुआ हो तो समझना चाहिये कि वसुमती सब प्रकारके शस्यसे पूर्ण होगी और देशमें सुकाल होगा। और यदि अग्नितत्त्व या आकाशतत्त्वका उदय हुआ हो तो समझना चाहिये कि पृथ्वीपर भीषण भय और घोर दुर्भिक्ष उपस्थित होगा। उक्त समय यदि सुषुम्ना-नाडीसे श्वास प्रवाहित होता हो तो सब कार्य नष्ट होंगे, पृथ्वीपर राज्यक्रान्ति, महारोग और पीड़ा-यन्त्रणादि उपस्थित होंगे।

मेष-संक्रमणके दिन अर्थात् महाविषुव-संक्रान्तिके दिन प्रातःकाल यदि पृथ्वीतत्त्वका उदय हो तो अतिवृष्टि राज्यवृद्धि, सुभिक्ष, सुख, सौभाग्यकी वृद्धि होगी और पृथ्वी धान्यपूर्ण होगी। जलतत्त्वका उदय होनेपर भी वही फल होगा। यदि अग्नितत्त्वका उदय हो तो दुर्भिक्ष, राष्ट्रविप्लव, अल्पवृष्टि तथा कठिन रोगोंकी उत्पत्ति होगी। वायुतत्त्वका उदय होनेपर उत्पात, उपद्रव, भय, अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि होगी और आकाशतत्त्वका उदय होनेपर मनुष्यको उद्वार, सन्ताप, ज्वर और भय होगा तथा पृथ्वीकी शस्यहानि होगी।

पूर्णे प्रवेशने श्वासे स्वस्वतत्त्वेन सिद्धिदः।

(स्वरोदयशास्त्र)

मेष-संक्रान्तिके समय जब जिस ओरकी नासिका वायुसे पूर्ण हो अथवा निःश्वास-वायु प्रवेश करता हो, उसी समय यदि उसी नासिकामें निर्दिष्ट मतानुसार तत्त्वोंका उदय होता हो तो समझना चाहिये कि उस वर्षका फल शुभ होगा; अन्यथा अशुभ होगा।

यात्रा-प्रकरण

किसी कार्यवश जब किसी स्थानकी यात्रा करनेकी आवश्यकता हो तब जिस ओरकी नाकसे श्वास चलता हो उसी ओरका पैर पहले बढ़ाकर यात्रा करनी चाहिये, इससे शुभ फल प्राप्त होता है।

वामाचारप्रवाहेन न गच्छेत् पूर्व उत्तरे।
दक्षनाडीप्रवाहे तु न गच्छेद् याम्यपश्चिमे॥

(पवनविजयस्वरोदय)

जब बायीं नासिकासे श्वास चलता हो तब पूर्व और उत्तरकी ओर नहीं जाना चाहिये और जब दाहिनी नाकसे श्वास चलता हो तब दक्षिण और पश्चिमकी ओर यात्रा नहीं करना चाहिये। उन-उन दिशाओंमें उस-उस समय यात्रा करनेसे महाविघ्न उपस्थित होता है, यहाँतक कि यात्रा करनेवालेके पुनः घर लौटनेकी सम्भावनातक भी नहीं रहती।

यदि सम्पत्-कार्यके लिये यात्रा करनी हो तो इड़ा नाड़ी (वाम नासिकासे श्वास) चलनेके समय गमन करनेसे शुभ फल प्राप्त होता है। और यदि किसी विषम अर्थात् क्रूर कर्मका साधन करनेके लिये जानेकी आवश्यकता हो तो जिस समय पिंगला नाड़ी चलती हो, उस समय यात्रा करनेसे सिद्धि प्राप्त होगी। चतुर व्यक्ति शुक्र और शनिवारको किसी स्थानमें जाते समय जमीनपर सात बार, और दूसरे किसी दिन यात्रा करते समय ग्यारह बार पृथ्वीपर पैर पटककर यात्रा करते हैं; परन्तु बृहस्पतिके दिन किसी कामसे घरसे बाहर निकलनेके समय आधा ही पैर पृथ्वीपर पटककर यात्रा करनेसे वाञ्छित फल प्राप्त होता है। किसी कामसे यदि शीघ्र गमन करनेकी आवश्यकता हो तो चाहे

शुभ कार्य हो, चाहे शत्रुके साथ कलह हो, चाहे किसी प्रकारकी क्षतिका निवारण करना हो, यात्रा करनेके लिये तत्काल जिस ओरकी नासिकासे निःश्वास चलता हो, उसी ओरके अङ्गपर हाथ रखना चाहिये और फिर उसी ओरका पैर आगे बढ़ाकर, उस समय यदि चन्द्रनाडी चलती हो तो चार बार और सूर्यनाडी चलती हो तो पाँच बार जमीनपर पैर पटककर गमन करना चाहिये। इस नियमसे यात्रा करनेपर उसके साथ किसीका भी कलह नहीं होता और न उसकी कोई हानि होती है; यहाँतक कि उसके पैरमें एक काँटातक नहीं गड़ता। वह व्यक्ति सब प्रकारकी आपत्ति-विपत्तिसे रहित होकर सुख, स्वच्छन्दता और शान्तिके साथ घर वापस आ जाता है—इस शिववाक्यमें कोई सन्देह नहीं।

कोई-कोई स्वरतत्त्ववित् पण्डित कहते हैं कि दूर देशकी यात्रा करनेके लिये चन्द्रनाडी ही मंगलजनक है और समीपके स्थानमें गमन करनेके लिये सूर्यनाडी कल्याणप्रद है। सूर्यनाडी—दाहिनी नाकमें श्वास प्रवेश करते समय यदि यात्रा की जा सके तो शीघ्र ही कार्य सिद्ध होता है—

आक्रम्य प्राणपवनं समारोहेत वाहनम्।
समुत्तरेत् पदं दत्त्वा सर्वकार्याणि साधयेत्॥

(स्वरोदयशास्त्र)

किसी प्रकारकी सवारीपर चढ़कर किसी कार्यके लिये गमन करते समय प्राणवायुको खींचकर यात्रा करनी चाहिये; उस समय जो नासिका चलती हो उसी ओरका पग पहले बढ़ाकर सवारीपर चढ़ना चाहिये; ऐसा करनेसे कार्यसिद्धि होती है। किन्तु वायु, अग्नि, आकाशतत्त्वका उदय होनेपर गमन नहीं करना चाहिये। स्वरज्ञानानुसार यात्रा करनेपर शुभयोग जाननेके लिये ज्योतिषी महाशयका मुँह नहीं ताकना पड़ता।

गर्भाधान

ऋतुसे चौथे दिनसे लेकर सोलहवें दिनतक गर्भधारणका समय है। ऋतुस्नाता स्त्रीको सूर्य-चन्द्रके संयोगकालमें पृथ्वीतत्त्व या जलतत्त्व उदय होनेपर शङ्खवल्ली और गोदुग्ध पान कर स्वामीके वाम पार्श्वमें शयन कर स्वामीसे पुत्रकी कामना प्रकट करनी चाहिये। सूर्यनाडी और चन्द्रनाडीको एकत्र कर गर्भाधान करनेसे पुत्र उत्पन्न होता है। सूर्य-चन्द्रका संयोग करके अर्थात् रात्रिके समय जब पुरुषकी सूर्यनाडी चलती हो और उसी समय यदि स्त्रीकी चन्द्रनाडी चलती हो तब उस समय गर्भाधान करना चाहिये।

विषमाङ्के दिवारात्रौ विषमाङ्के दिनाधिपः।
चन्द्रनेत्राग्नितत्त्वेषु बन्ध्या पुत्रमवाप्नुयात्॥

(स्वरोदयशास्त्र)

जिस समय सुषुम्नानाडी चलती हो अथवा सूर्यनाडी चलती हो, और उसी समय यदि अग्नितत्त्वका उदय हो तो उस समय ऋतुरक्षा होनेपर वन्ध्या नारी भी पुत्रवती होती है। जिस समय सुषुम्नानाडी दाहिनी नासिकासे प्रवाहित हो उस समय गर्भाधान होनेसे पुत्र उत्पन्न होता है; परन्तु वह हीनाङ्ग और कृश होता है। स्त्री-पुरुषके यदि एक ही नाकसे श्वास चलता हो तो गर्भ नहीं रहता। जलतत्त्व उदय होनेके समय गर्भाधान करनेसे, उस गर्भसे जो सन्तान उत्पन्न होता है वह धनी, सुखी और भोगी होता है और उसकी कीर्ति दिग्दिगन्तमें फैलती है। पृथ्वीतत्त्वका उदय होनेपर गर्भ रहनेपर सन्तान अति धनी, सुखी और सौभाग्यशाली होता है। पृथ्वीतत्त्वके उदयकालमें गर्भ रहनेसे पुत्र, और जलतत्त्वके उदयकालमें गर्भ रहनेसे कन्या पैदा होती है। अग्नि, वायु और आकाशतत्त्वके उदय-कालमें गर्भ रहनेपर गर्भपात हो जाता है अथवा उस गर्भसे सन्तान पैदा होते ही मर जाता है।

कार्यसिद्धिकरण

अगर किसी कार्यकी सिद्धिके लिये किसीके पास जाना हो तो जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसी ओरका पैर पहले आगे बढ़ाकर जाना चाहिये। परन्तु वायु, अग्नि अथवा आकाशतत्त्वका उदय होनेपर यात्रा नहीं करनी चाहिये। उसके बाद गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेपर जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसी ओर उस आदमीको, जिससे काम होनेवाला हो, रखकर बातचीत करनी चाहिये। ऐसा करनेसे कार्य अवश्य सिद्ध होता है। नौकरीकी उम्मेदवारीके लिये यदि जाना हो तो इस नियमसे यात्रा करनेसे मनोरथ पूर्ण होता है।

मुकद्दमा आदिके कार्यमें इस नियमके अनुसार न्यायाधीशके पास जाकर इजहार आदि देनेसे मुकद्दमेमें अवश्य जीत होती है। अपने मालिक या उच्चपदस्थ कर्मचारीसे यदि कोई बातचीत करनेकी आवश्यकता हो तो उस समय जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसी ओर उसे रखकर बातचीत करनी चाहिये; ऐसा करनेसे उनका प्रियपात्र बना जा सकता है। नौकरीपेशा आदमियोंके लिये यह कम सुभीतेकी बात नहीं है। ऐसे लोगोंको इस बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

जिस ओरकी नासिकासे श्वास चलता हो, उसी ओरका आश्रय करके जो काम किया जाता है वह सिद्ध होता है। परन्तु—

शत्रु-वशीकरण

—के कार्यमें इसके विपरीत कार्य करना चाहिये। अर्थात् जो नासिका चलती हो, उसके विपरीत पार्श्वमें शत्रुको रखकर बातचीत करनी चाहिये। ऐसा करनेसे घोर शत्रु भी तुम्हारे अनुकूल कार्य करेगा—

उभयोः कुम्भकं कृत्वा मुखे श्वासो निपीयते।
निश्चला च यदा नाडी घोरशत्रुवशं कुरु॥

(पवनविजय—स्वरोदय)

कुम्भक करके मुखद्वारा निःश्वास-वायु पीना चाहिये। ऐसा करते-करते जब निःश्वास-वायु स्थिर हो जाय तब शत्रुका ध्यान करना चाहिये। इस तरह धीरे-धीरे घोर शत्रु भी वशमें हो जाता है। चन्द्रनाडी चलते समय बायीं ओर, सूर्यनाडी चलते समय दाहिनी ओर और सुषुम्ना चलते समय बीचमें रखकर कार्य करनेसे विवादमें जीत होती है—

यत्र नाड्यां वहेद्वायुस्तदन्तः प्राणमेव च।
आकृष्य गच्छेत् कर्णान्तं जयत्येव पुरन्दरम्॥

(योगस्वरोदय)

जिस नाडीमें वायु चलता हो उसमें स्थित प्राणवायुको कानतक खींचकर जिस ओरकी नासिकासे वायु चलता हो उसी ओरका चरण आगे बढ़ाकर गमन करनेसे शत्रुपर विजय प्राप्त होती है।

अग्नि बुझानेका कौशल

हमारे देशमें प्रतिवर्ष आग लगनेसे न मालूम कितने लोगोंका सर्वस्व स्वाहा हो जाता है। निम्नलिखित उपायसे बहुत आसानीसे और आश्चर्यजनक रीतिसे अग्नि बुझायी जा सकती है।

अग्नि लगनेपर जिस ओर उसकी गति हो उस दिशामें खड़ा होकर, जिस नासिकासे निःश्वास चलता हो उस नासिकासे वायु खींचकर नासिकाद्वारा जल पीना चाहिये। एक छोटी लुटियामें चाहे जिससे जल मँगाकर यह कार्य किया जा सकता है। उसके बाद सात रत्ती जल—

उत्तरस्यां च दिग्भागे मारीचो नाम राक्षसः।
तस्य मूत्रपुरीषाभ्यां हुतो वह्निः स्तम्भ स्वाहा॥

—इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अग्निमें डाल देना चाहिये। यह कार्य न करनेपर भी केवल उपर्युक्त उपायसे ही बड़ा लाभ होता है। बहुत बार प्रयोग करके इसका आश्चर्यजनक प्रभाव हमने देखा है। और अनेकोंकी धन-सम्पत्तिकी रक्षा हुई है।

रक्त शुद्ध करनेका कौशल

नियमपूर्वक नित्य 'शीतली' कुम्भक करनेसे कुछ दिनोंमें शरीरका रक्त शुद्ध और शरीर ज्योतियुक्त हो जाता है। 'शीतली' कुम्भकका नियम इस प्रकार है—

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणञ्च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥

(गोरक्षसंहिता)

जिह्वाद्वारा वायुको खींचना चाहिये, अर्थात् दोनों होठोंको सिकोड़कर बाहरकी हवा धीरे-धीरे खींचनी चाहिये। इस प्रकार अपने दमभर हवा खींचकर मुँह बन्द करके लार निगलनेकी तरह हवाको उदरमें भरना चाहिये, फिर क्षणभर उस वायुको कुम्भकद्वारा धारणकर दोनों नाकोंसे उसे निकाल देना चाहिये। इस रीतिसे बार-बार वायु खींचनेसे कुछ दिनमें रक्त साफ और शरीर कामदेवके समान कान्तिपूर्ण हो जाता है। 'शीतली' कुम्भक करनेसे अजीर्ण तथा कफपित्तादि रोग पैदा नहीं होते। चर्मरोग आदिमें रक्तशुद्धिके लिये सालसाका व्यवहार न कर उसके बदले इस क्रियाको करके देखो, सालसाकी अपेक्षा शीघ्र और स्थायी सुफल प्राप्त होता है।

नित्य रात-दिनमें कम-से-कम तीन-चार बार पाँच-सात मिनट स्थिर भावसे बैठकर इस प्रकार मुँहसे वायु खींचना और नासिकाद्वारा निकालना चाहिये। यह क्रिया जितनी अधिक की जायगी उतना ही शीघ्र लाभ होगा, इसमें सन्देह नहीं।

मैले, कूड़ा-करकटसे भरे, दूषित वायुसे पूर्ण स्थानमें, वृक्षके नीचे, मिट्टीके तेलका चिराग जहाँ जलता हो ऐसे घरमें और जब भोजन पचा न हो तब यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। इस बातपर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि वायु-रेचनके बाद हाँफना न पड़े। विशुद्ध वायुपूर्ण स्थानमें स्थिरासनसे बैठकर धीरे-धीरे रेचक और पूरकका कार्य करना चाहिये।

इस प्रक्रियासे कठिन शूल-वेदना तथा छाती, पेट आदिकी कोई भी भीतरी वेदना अवश्य ही दूर हो जाती है।

कुछ उपयोगी सूचनाएँ

(१) ज्वर हो या किसी प्रकारकी वेदना हो, फोड़ा, घाव, चाहे जो हो, किसी भी प्रकारकी बीमारीके लक्षण ज्यों ही मालूम हों, त्यों ही जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उस नासिकाको तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। जितनी देर या जितने दिनतक शरीर स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त न हो जाय, उतनी देर या उतने दिनोंतक उस नाकको बन्द ही रखना चाहिये। इससे शरीर शीघ्र स्वस्थ हो जायगा, अधिक दिन दुःख नहीं भोगना पड़ेगा।

(२) रास्ता चलनेपर या किसी प्रकारका मेहनतका कार्य करनेपर जब शरीर बहुत ही थक जाय, अथवा उस कारणसे धातु गर्म हो जाय तो कुछ देर दाहिने करवट सो जाना चाहिये; इससे शीघ्र ही थोड़े समयमें ही थकावट दूर हो जायगी और शरीर स्वस्थ हो जायगा।

(३) प्रतिदिन भोजनके बाद हाथ-मुँह धोकर कंघीसे सिरके बाल झाड़ने चाहिये। कंघी इस तरह चलानी चाहिये कि उसके काँटे सिरमें स्पर्श करें। इससे शिरःपीड़ा और सिर-सम्बन्धी अन्य कोई बीमारी तथा वात-व्याधि उत्पन्न होनेका भय नहीं रहता। ऐसी कोई पीड़ा यदि होगी तो यह बढ़ेगी नहीं, वरं क्रमशः आराम हो जायगी। बाल शीघ्र नहीं पकेंगे।

(४) यदि कड़ी धूपमें कहीं बाहर जाना हो तो रूमाल, चादर अथवा तौलिया आदिके द्वारा दोनों कानोंको ढक लेना चाहिये। इससे धूपमें चलनेपर धूपजनित कोई दोष शरीरको स्पर्श नहीं करेगा और न शरीर गर्म और दुखी होगा। कानोंको इस तरह ढकना चाहिये कि पूरे कान ढक जायँ और कानमें हवा न लगे।

(५) स्मरण-शक्ति कम हो जानेपर मस्तकके ऊपर एक काठकी कील, उसके ऊपर एक काठका टुकड़ा रखकर धीरे-धीरे उसपर आघात करना चाहिये।

(६) प्रतिदिन आध घंटे पद्मासनसे बैठकर दाँतोंकी जड़में जीभका अग्रभाग दबाकर रखनेसे सब तरहकी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(७) ललाटके ऊपर पूर्णचन्द्रके समान ज्योतिका ध्यान करनेसे आयु बढ़ती है और कुष्ठादि रोग दूर होते हैं। सर्वदा दृष्टिके आगे पीतवर्ण उज्ज्वल ज्योतिका ध्यान करनेसे बिना औषध सब तरहके रोग अच्छे हो जाते हैं और देह वृद्धावस्थाके लक्षणोंसे रहित हो जाती है। सिर गर्म होने या घूमनेपर मस्तकमें श्वेतवर्ण या पूर्णशरच्चन्द्रका ध्यान करनेसे पाँच-सात मिनटमें प्रत्यक्ष फल दिखायी देता है।

(८) प्याससे व्याकुल होनेपर ऐसा ध्यान करना चाहिये कि जीभके ऊपर कोई खट्टी चीज रखी हुई है। शरीर गर्म होनेपर ठण्डी चीजका और शीतल होनेपर गर्म चीजका ध्यान करना चाहिये।

(९) प्रतिदिन दोनों समय स्थिरासनसे बैठकर नाभिकी ओर एकटक देखते हुए नाभिमें वायुधारण और नाभिकन्दका ध्यान करनेसे अग्निमान्द्य, असाध्य अजीर्ण और प्रबल अतिसार इत्यादि सब प्रकारके उदरामय अवश्य आरोग्य हो जाते हैं और परिपाकशक्ति तथा जठराग्नि बढ़ जाती है।

(१०) सवेरे नींद टूटनेपर जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उस ओरका हाथ मुँहपर रखकर शय्यासे उठनेपर मनोकामना सिद्ध होती है।

(११) रक्त अपामार्गकी जड़ हाथमें बाँध रखनेसे भूत-प्रेतादिजनित सब प्रकारके ज्वर नष्ट होते हैं।

(१२) इमलीके पौधेको उखाड़कर उसकी जड़ गर्भिणीके सामनेके सिरके बालोंमें इस तरह बाँध देनी चाहिये कि जिसमें उस जड़की गन्ध उसकी नाकमें जा सके। ऐसा करनेसे गर्भिणी तुरन्त सुखसे प्रसव करेगी। परन्तु प्रसव होते ही बालोंसहित उस जड़को कैंचीसे काटकर फेंक देना चाहिये, अन्यथा प्रसूतीकी नाडीतक बाहर निकल आनेकी सम्भावना रहती है। जिस समय गर्भिणीको प्रसवकी वेदनासे अत्यन्त कष्ट हो उस समय घबराहट छोड़कर इस उपायसे काम लेना चाहिये। श्वेत पुनर्नवाकी जड़का चूर्ण जननेन्द्रियके भीतर देनेसे भी गर्भिणी शीघ्र सुखसे प्रसव कर सकती है।

(१३) जो दिनमें बायीं नासिकासे और रातमें दाहिनी नासिकासे श्वास लेता है, उसके शरीरमें कोई पीड़ा नहीं होती, आलस्य दूर होता है और दिनों-दिन चेतना बढ़ती है। दस-पन्द्रह दिन रुईद्वारा ऐसा अभ्यास करनेसे पीछे अपने-आप ही इसी नियमसे श्वास चलने लगता है।

(१४) प्रातःकाल और तीसरे पहर कागजी नीबूका पत्ता सूँघनेसे पुराना और भीतरी ज्वर छूट जाता है।

(१५) प्रतिदिन एकाग्र होकर श्वेत, कृष्ण और रक्तवर्णादिका ध्यान करनेसे देहके समस्त विकार नष्ट होते हैं। इसी कारण ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हिन्दुओंके नित्य ध्येय हैं। ब्राह्मण नियमितरूपसे त्रिकाल सन्ध्या करनेके कारण सर्वरोगविमुक्त होकर, स्वस्थशरीर होकर जीवनयापन कर सकते हैं। दुःखकी बात है कि आजकल अधिकांश द्विज सन्ध्या आदि करके अपने समयका अपव्यय करना नहीं चाहते। और जो लोग करते हैं वे भी ठीक-ठीक करना नहीं जानते। सन्ध्याका उद्देश्य तो दूर रहा, वे सन्ध्या-गायत्रीका अर्थतक नहीं जानते। प्राणायाम आदि भी विधिपूर्वक नहीं किये जाते। सन्ध्याके संस्कृतवाक्योंको बस पढ़ जानाभर जानते हैं। इसके सिवा सन्ध्यादिके द्वारा वे क्या कर रहे हैं, खाक-पत्थर, सिर-पैर कुछ भी नहीं समझते। हमारा विश्वास है कि भाव हृदयंगम हुए बिना भक्ति नहीं आ सकती। सन्ध्यामें प्राणायामकी जो विधि लिखी है, उसमें प्राणायामकी क्रिया और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवके ध्यानमें क्रमशः लोहित, कृष्ण और श्वेत वर्णका ध्यान—ये दो मुख्य क्रियाएँ होती हैं। इनमेंसे प्रत्येक क्रियामें क्या-क्या गुण हैं, इसे कोई नहीं जानता। फिर त्रिसन्ध्याकी गायत्रीके ध्यानमें भी उन्हीं वर्णोंका ध्यान होता है। हमलोग आर्य ऋषियोंकी सन्ध्या-पूजाका महान् उद्देश्य अपनी स्थूल बुद्धिके कारण नहीं समझ पानेपर भी अपनी सूक्ष्म बुद्धिकी मुन्शियाना चालसे उन सबको पागलका प्रलाप कहकर अस्वीकार कर बैठते हैं। निश्चय जानो-हिन्दू-देवी-देवताओंकी नाना मूर्तियाँ, नाना वर्ण जो शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हैं, व्यर्थ नहीं हैं। सब प्रकारके धर्म-साधन और तपस्याका मूल है—स्वस्थ शरीर। शरीर यदि स्वस्थ न रहा और दीर्घजीवी न हुए तो न धर्मसाधन होगा और न अर्थोपार्जन ही होगा। असीम ज्ञानसम्पन्न आर्य ऋषियोंने शरीर स्वस्थ रखने और परमार्थसाधन करनेके सहज उपायस्वरूप देवी-देवताओंके अनेक वर्णोंका निर्देश किया है। सन्ध्या-उपासनाके समय श्वेत, रक्त और श्यामादि वर्णोंका ध्यान किया जाता है, जिससे वायु, पित्त और कफ इन तीन धातुओंका साम्य होता है और शरीर स्वस्थ रहता है। इसी कारण प्राचीन समयके ब्राह्मण-क्षत्रिय कितने अनियमसे रहनेपर भी स्वस्थ रहते थे और दीर्घजीवी होते थे। प्रातःकाल नींद टूटनेपर शिरःस्थित श्वेत कमलमें श्वेतवर्ण गुरुदेव और रक्तवर्ण उनकी शक्तिका ध्यान करनेकी विधि है। इससे शरीर कितना स्वस्थ रहता है इस बातको विलायती बाबू लोग क्या समझेंगे। जो हो, कोई यदि ब्रह्मा, विष्णु, शिवमूर्ति अथवा गुरु और उनकी शक्तिका ध्यान करके, पौत्तलिक, जड़ोपासक, अथवा कुसंस्काराच्छन्न होकर अन्धतमसमें गिरनेके लिये राजी न हो तो वह नयी सभ्यताके अमल-धवल आलोकमें रहकर ही कम-से-कम श्वेत, रक्त और श्यामवर्णका ध्यान करेगा तो वह भी आशातीत लाभ उठा सकता है। वर्णका ध्यान करनेसे

तो वर्ण और काला होगा नहीं; बल्कि बिस्कुट, पावरोटी खानेवाला जीर्ण-शीर्ण, विवर्ण शरीर स्वर्णसदृश हो जायगा। जो हो, मैं सबसे इस बातकी परीक्षा करनेकी प्रार्थना करता हूँ।

(१६) पुरुषकी दक्षिण नासिकासे और स्त्रीकी वाम नासिकासे निःश्वास चलते समय दाम्पत्य-सम्भोग-सुख भोगना चाहिये। इससे दोनोंका शरीर ठीक रहता है और दाम्पत्य-प्रेम बढ़ता है।

(१७) सम्भोगके बाद स्त्री-पुरुष दोनोंको जीभर शीतल जल पी लेना चाहिये, इससे शरीर स्वस्थ रहता है।

(१८) प्रतिदिन एक तोला घीमें आठ-दस गोल मिर्च तलकर उस घीको पी लेनेसे रक्त शुद्ध और शरीर पुष्ट होता है।

चिरयौवन-प्राप्तिका उपाय

स्वरशास्त्रानुसार थोड़े-से प्रयत्नके द्वारा चिरयौवन प्राप्त किया जा सकता है। यथा—

जिस समय जिस अङ्गसे, जिस नाडीसे श्वास चलता है उस समय उसी नाडीका रोध करना होगा। जो बार-बार श्वासका रोध और मोचन करनेमें समर्थ है, वह दीर्घजीवन और चिरयौवन प्राप्त कर सकता है।

अनाहत कमलकी कर्णिकाके अन्दर अरुणवर्ण सूर्यमण्डल है। सहस्रारस्थित अमाकलासे जो अमृत झरता है, वह उस सूर्यमण्डलमें ग्रस्त हो जाता है। इसी कारण मनुष्यदेहमें वली-पलित और जरा आदि आती है। योगी विपरीतकरणीमुद्रा तथा ऊपर पैर और सिर नीचे करके कौशलसे झरते हुए अमृतकी सूर्यमण्डलमें ग्रसित होनेसे रक्षा करते हैं। इससे उनकी देह वली-पलित और जरा इत्यादिसे रहित और दीर्घकालतक स्थायी होती है। किन्तु—

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न च शास्त्रार्थकोटिभिः।

अर्थात् यह 'गुरुसे ही सीखे जाने योग्य है, शास्त्रार्थसे नहीं।' विपरीतकरणीमुद्राके अतिरिक्त खेचरी-मुद्राद्वारा भी सहज ही उस अमृतकी रक्षा की जा सकती है। खेचरीमुद्राका नियम इस प्रकार है—

रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥

(घेरण्डसंहिता)

'जीभको धीरे-धीरे तालुके अन्दर प्रवेश कराना चाहिये। उसके बाद जीभको ऊपरकी ओर उलटकर कपालकुहरमें प्रवेश कराकर दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थिर करनेपर खेचरीमुद्रा होती है।'

कोई-कोई तालुमूलमें जीभका अग्रभाग स्पर्श कराकर उस्तादी करते हैं। पर बस वहींतक—वास्तविक कुछ नहीं होता। इस प्रकार जीभ रखकर क्या किया जाता है, इस बातको कोई नहीं जानता। खेचरीमुद्राद्वारा ब्रह्मरन्ध्रसे निकलनेवाली सोमधाराका पान करनेसे अभूतपूर्व नशा होता है, सिर घूमता है, नेत्र स्वयं अधमुँदे और स्थिर रहते हैं, भूख-प्यास जाती रहती है, तब खेचरीमुद्रा सिद्ध होती है। खेचरीमुद्राके साधनद्वारा ब्रह्मरन्ध्रसे जो सुधा झरती है, वह साधकके सारे शरीरको प्लावित करती है। इससे साधक दृढकाय, शिथिलता, जरा इत्यादिसे रहित, कामदेवके समान सुन्दर तथा पराक्रमशाली हो जाता है। वास्तविक खेचरीमुद्राका साधन करनेसे साधक छः महीनेमें सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है।

खेचरीमुद्रा सिद्ध होनेपर नाना प्रकारके रसोंका स्वाद मिलता है। स्वाद-विशेषका फल अलग-अलग होता है। दूधका स्वाद अनुभूत होनेपर रोग नष्ट होते हैं और घीका स्वाद मालूम होनेपर अमरत्व प्राप्त होता है।

और भी अनेक उपाय हैं जिनसे शिथिलता, जरा आदिसे रहित होकर यौवन चिरस्थायी बनाया जा सकता है।

षट्कर्म

(लेखक— श्रीकमलाप्रसादसिंहजी)

[इस विषयपर स्वामी श्रीकृष्णानन्दजीका भी एक लेख आया था, जिसमें उनके अपने अनुभवकी बहुत-सी बातें थीं; स्थानाभावसे वह अलग नहीं छापा जा सका, परन्तु उस लेखमेंसे अधिकांश महत्त्वपूर्ण बातें लेकर इस लेखके साथ जोड़ दी गयी हैं। लोककल्याणेच्छु स्वामीजी महाराज इसके लिये क्षमा करें और इस लेखके लेखक भी बुरा नहीं मानें, ऐसी विनीत प्रार्थना है।—सम्पादक]

इस परिदृश्यमान चराचर विश्वप्रपञ्चका उपादान-कारण प्रकृति है। मूलप्रकृति त्रिगुणात्मक होनेसे प्राणिमात्रके शरीर वात, पित्त, कफ इन त्रिधातुओंके नाना प्रकारके रूपान्तरोंके सम्मिश्रण हैं। अतः अनेक शरीर वातप्रधान, अनेक चित्तप्रधान और अनेक कफप्रधान होते हैं। वातप्रधान शरीरोंमें आहार-विहारके दोषसे तथा देशकालादि हेतुसे प्रायः वातवृद्धि हो जाती है। पित्तप्रधान शरीरोंमें पित्तविकृति और कफोल्वण-शरीरोंमें प्रायः कफ-प्रकोप हो जाता है। कफ-धातु विकृत होनेपर दूषित श्लेष्म, आमवृद्धि या मेदका संग्रह हो जाता है। पश्चात् इन मलोंके प्रकुपित होनेसे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होने लगते हैं। इन व्याधियोंको उत्पन्न न होने देनेके लिये और हो गये हों तो उन्हें दूर करके पुनः देहको पूर्ववत् स्वस्थ बनानेके लिये जैसे आयुर्वेदके प्राचीन आचार्योंने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन और वस्ति ये पञ्च कर्म कहे हैं, वैसे ही हठयोगके प्रवर्तक महर्षियोंने साधकोंके कफप्रधान शरीरकी शुद्धिके लिये षट्कर्म निश्चित किये हैं। ये षट्कर्म सब साधकोंको करने ही चाहिये, ऐसा आग्रह नहीं है।

हठयोगकी पुस्तकोंमें षट्कर्मके कर्तव्याकर्तव्यपर विचार किया गया है। हठयोगके षट्कर्मसे जो लाभ होते हैं वे प्राणायामसे भी प्राप्त होते हैं। अन्तर केवल समयका है। परन्तु जिस घरमें गन्दगी इतनी फैल गयी हो कि साधारण झाड़ूसे न हटायी जा सके उसमें कुदाल और टोकरीकी आवश्यकता आ पड़ेगी। इसी प्रकार शरीरके एकत्रित मलको शीघ्र हटानेके लिये षट्कर्मकी आवश्यकता है। इसी कारण—

मेद.श्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् जिस पुरुषके मेद और श्लेष्मा अधिक हों वह पुरुष प्राणायामसे पहले इन छः कर्मोंको करे। और इनके न होनेसे दोषोंकी समानताके कारण न करे।

यही क्यों, स्वात्माराम आगे चलकर षट्कर्मोंको **'घटशोधनकारकम्'** अर्थात् देहको शुद्ध करनेवाले और **'विचित्रगुणसंधायि'** अर्थात् विचित्र गुणोंका सन्धान करनेवाले भी कहते हैं।

यह बात सत्य है कि षट्कर्मोंके बिना ही पहले योगसाधन किया जाता था। समय और अनुभवने दिखाया कि प्राणायामसे जितने समयमें मल दूर किया जाता था उससे कम समयमें षट्कर्मोंद्वारा मल दूर किया जा सकता है। इन कर्मोंकी उन्नति होती गयी। और छःसे ये कर्म दस हो गये। पीछे गुरुपरम्परासे प्राप्त गुप्तविद्या लुप्त होने लगी। तब तो ये कर्म पूरे जाँचे हुए षट्कर्मतक ही परिमित रह गये। इन षट्कर्मोंसे लाभ है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है कि सबकी इधर प्रवृत्ति न हो और सब इन्हें न कर सकते हों।

एक बात और है। वर्तमान समयमें अनेक योगाभ्यासी मूल उद्देश्यको न समझनेके कारण शरीरमें त्रिधातु सम होनेपर भी नित्य षट्कर्म करते रहते हैं और अपने शिष्योंको भी जीवनपर्यन्त नियमित रीतिसे करते रहनेका उपदेश देते हैं। यदि शरीरशुद्धिके लिये अथवा इन क्रियाओंपर अपना अधिकार रखनेके लिये प्रारम्भमें सिखाया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। कारण, भविष्यमें कदाचित् देश-कालपरिवर्तन, प्रमाद या आहार-विहारमें भूलसे वातादि धातु विकृत हो जायँ तो शीघ्र क्रियाद्वारा उनका शमन किया जा सकता है। परन्तु आवश्यकता न होनेपर भी नित्य करते रहनेसे समयका अपव्यय,

शारीरिक निर्बलता और मानसिक प्रगतिमें शिथिलता आ जाती है। चरणदासने इसपर तर्क-वितर्क किये बिना ही अपना अन्तिम निर्णय इस प्रकार दे दिया है—

पहले ये सब साधिये, काया होवे शुद्धि।
रोग न लागे देहको, उज्ज्वल होवे बुद्धि॥

यद्यपि इन षट्कर्मोंकी विधि, अधिकारी और फलका वर्णन हठयोगप्रदीपिकादि ग्रन्थोंमें है तथापि केवल इन पुस्तकोंपरसे सम्यक् बोध नहीं होता, सद्गुरुसे समझ लेनेकी पूरी-पूरी आवश्यकता रहती है। अन्यथा लाभके स्थानमें थोड़ी-सी भूल होनेपर किसी प्रकारका उपद्रव खड़ा हो सकता है। वर्तमान युगमें कलिके प्रभावसे हठयोगकी परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी है। किञ्च भारतमें सामाजिक धर्मपतन, बालविवाह, पाश्चात्त्य दोषयुक्त रिवाजोंको गुणदायी मानकर अपना लेने और आर्थिक अवनतिके कारण शारीरिक व्यवस्थामें भी नि:सत्वताकी वृद्धि हो रही है, जिससे वर्तमानकालीन हठयोगके साधक स्थूल शरीर न होनेपर भी अधिकांश षट्कर्मके अधिकारी होते हैं।

षट्कर्मके नाम

'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थके कर्ता स्वात्माराम योगीने १. धौति, २. वस्ति, ३. नेति, ४. नौलि, ५. कपालभाति और ६. त्राटकको षट्कर्म कहा है। आगे चलकर गजकरणीका भी वर्णन किया है। परन्तु 'भक्तिसागर' ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १. नेति, २. धौति, ३. वस्ति, ४. गजकर्म, ५. न्योली और ६. त्राटकको षट्कर्म कहा है। फिर १. कपालभाति, २. धौंकनी, ३. बाघी और ४. शंखपषाल इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें षट्कर्मोंके अन्तर्गत कर दिया है। दोनोंमें गजकर्म और कपालभातिको षट्कर्मके अन्दर रखनेमें अन्तर पड़ता है। चूँकि ये षट्कर्मके शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

षट्कर्म-साधकको हठयोगमें दर्शाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदि नियमको मानना परमावश्यक है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक—जैसे दूध, घी, घोटा बादाम और मिश्री आदि पुष्ट और लघु पदार्थ तथा परिमित होना चाहिये। एकान्तसेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि आचार-विचारसे समझना चाहिये।

नौलि, नौलिक, नलक्रिया या न्योली

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यत:।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलि: सिद्धै: प्रचक्ष्यते॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कन्धोंको नवाये हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलभ्रमरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-वाम भागोंसे भ्रमानेको सिद्धोंने नौलि-कर्म कहा है।

न्योली पद्मासन सों करे। दोनों पग घुटनोंपर धरे॥
पेट रु पीठ बराबर होय। दहने बायें नलै बिलोय॥
जो गुरु करके ताहि दिखावे। न्योली कर्म सुगम करि पावे॥

(भक्तिसागर)

वास्तवमें दायें-बायें घुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मालूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका कुछ अनुभव किया हुआ है, अत: कुछ यों समझिये। पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, जब शौचस्नान, प्रात:सन्ध्या आदिसे निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हलका हो गया हो तब रेचक कर, वायुको बाहर रोक, बिना देह हिलाये, केवल मनोबलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें चलाना सोचे और तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रात: स्वेद आनेपर्यन्त प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेटकी स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे हृदयतक एक गोलाकार खंभ खड़ा हो गया। यही खंभा जब बँध जाय तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे दायें-बायें घूमने लगती है। इसे चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाटपर भी नाडियोंका द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार न्योली चल जानेपर चलती रहती है। पहले-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है उसको एक

महीनेके भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और मयूरासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जबतक आँत पीठके अवयवोंसे भलीभाँति पृथक् न हो तबतक आँत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदररोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये। अँतड़ीमें शोथ, क्षतादि दोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौलिक्रिया हानि-कारक है।

मैल पेटमें रहन न पावे। अपान वायु तासों वश आवे॥
तापतिली अरु गोला शूल। रहन न पावैं नेक न मूल॥
और उदरके रोग कहावें। सो भी वे रहने नहिं पावैं॥

(भक्तिसागर)

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि-
सन्धापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

यह नौलि मन्दाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्नादिका पाचन और सर्वदा आनन्द करती है और समस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है। यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है।

अँतड़ियोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान जानेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है। धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है। शंखपषाली क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अँतड़ियोंमें घुमाते हुए पायुद्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शंखमें एक ओरसे जल देनेपर घूमकर जल दूसरी राहसे निकल जाता है, नौलि सहायक है। नौलिक्रियाकी नकल यन्त्रोंद्वारा पाश्चात्योंसे अभीतक न बन पड़ी है।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्तिको साफ करनेवाले कर्मको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़, त्रिफला और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है। फिर वस्तिकर्मका अभ्यास करना कहा है।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है। १. पवनवस्ति, २. जलवस्ति। नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मयूरासनसे त्यागनेको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। पवनवस्ति पूरी सध जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको खींचनेका कारण पवन ही होता है। जब जलमें डूबे हुए पेटसे न्योली हो जाय तब नौलिसे जल ऊपर खिंच जायगा।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छः अङ्गुल लम्बी बाँसकी नलीको रखे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुलीके प्रवेश योग्य हो, उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अंगुल गुदामें प्रवेश करे और दो अंगुल बाहर रखे। पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय इतने जलसे भरे हुए टबमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों—पैरकी एड़ियोंको मिलाकर खड़ी रखकर उनपर अपने स्फिच (चूतड़) को रखे और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उक्त आसनसे बैठकर आधाराकुञ्चन करे, जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने आप जल चढ़ने लगेगा। बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिक्रमसे चलाकर त्याग दे। इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, आँव, कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रियविष आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदरके क्षालन (धोने)-को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर खिचड़ी

आदि हलका भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बृहद् अन्त्रमें शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आवेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाड़ियोंद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षणका अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालप्रवेशके बिना ही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं। इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये अन्यथा '**न्यस्तनालः**' (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये। और जलको बाहर निकालनेके लिये खड़ा पश्चिमतान आसन करना चाहिये।

कई साधक तालाब या नदीमेंसे जलका आकर्षण करते हैं, जिससे कभी-कभी जलके साथ सूक्ष्म जहरीले जन्तु आँतोंमें प्रवेशकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न कर देते हैं। किञ्च गङ्गाजी और हिमालयसे निकलनेवाली अनेक बड़ी-बड़ी नदियोंका जल अधिक शीतल होनेके कारण न्यून शक्तिवालोंको इच्छित लाभके स्थानमें हानि पहुँचा देता है। जल अधिक शीतल होनेसे उसे शोषण करनेकी क्रिया सूक्ष्म नाडियोंद्वारा तुरन्त चालू हो जाती है और शीतल जलसे आँव या कफकी उत्पत्ति होती है। अतः टब या अन्य किसी बड़े बरतनमें बैठकर शुद्ध और सहन हो सके ऐसे शीतल जलका आकर्षण करना विशेष हितकर है।

हठयोग, आयुर्वेद और पाश्चात्त्य एलोपैथिक आदि चिकित्साशास्त्रोंकी वस्तिक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। हठयोगमें आन्तरिक बलसे जल खींचा जाता है। आयुर्वेदमें रोगानुसार भिन्न-भिन्न ओषधियोंके घृत, तैल, क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं। पाश्चात्त्योंने इसी क्रियाके लिये एक यन्त्रका आविष्कार किया है जिसे 'एनिमा' या 'डूश' कहते हैं। साबुन मिला हुआ गुनगुना जल, रेड़ीका तेल तथा ग्लीसरीन आदि मलशोधक ओषधि यन्त्रद्वारा गुदाके मार्गसे आँतमें चढ़ाते हैं। पश्चिममें इसकी चाल इतनी बढ़ गयी है कि बहुत लोग तो सप्ताहमें एक बार एनिमा लगाना आवश्यक समझने लगे हैं। इस एनिमाद्वारा वस्तिकर्मके समान लाभ नहीं होता, क्योंकि चढ़ा हुआ सम्पूर्ण जल तो बाहर आ नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि जलका अधिकांश भीतर रहकर भयङ्कर हानि कर देता है। और अपने उद्योग और परिश्रमद्वारा जो जल चढ़ाया जाता है उसमें तथा जो जल यन्त्रद्वारा पेटमें चढ़ाया जाता है उसमें उतना ही अन्तर है जितना दस मील पैदल और मोटरपर टहलनेमें है। इसके अतिरिक्त गरम जल चढ़ानेके कारण वीर्यस्थान और मूत्रस्थानको उष्णता पहुँचती है, जिससे थोड़ी हानि तो बार-बार पहुँचती रहती है। यह दोष हठयोगकी वस्तिमें नहीं है।

यही जु बस्ती कर्म है, गुरु बिनु पावै नाहिं।
लिंग-गुदाके रोग जो, गर्मीके नशि जाहिं॥

(भक्तिसागर)

वस्तिकर्ममें मूलाधारके पीड़ित और प्रक्षालित होनेसे लिङ्ग और गुदाके रोगोंका नाश होना स्वाभाविक है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥

(ह० प्र०)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सप्त धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरणको प्रसन्न करता है। मुखपर सात्त्विक कान्ति छा जाती है।

जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात, पित्त, कफ आदि दोषोंकी वृद्धि और न्यूनता दोनोंको नष्ट कर साम्यरूप आरोग्यताको करता है।' हाँ, एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया करनेवालोंको पहले नेति और धौतिक्रिया करनी ही चाहिये, जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), संग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्तपित्त, भगन्दर, मलाशय और गुदामें शोथ, सन्ततज्वर, आन्त्रसन्निपात (हल्का Typhoid), आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफवृद्धिजनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चालू होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्तिक्रियाके भविष्यमें मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तम्बाकू और चायके व्यसनीको तम्बाकू और चाय पिये बिना शौच नहीं होता वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करनेवालोंकी स्वाभाविक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीरशुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लंबे महीन वस्त्रको गरम जलमें भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले। फिर गुरूपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धोती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे उसे दाढ़ोंसे भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे। फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलनेके पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज साबुनसे धोकर स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचावेंगे।

अनेक साधक बाँसकी नवीन करची (कोईन, भोजपुरी भाषामें) या वटकी बरोह सवा हाथका लेकर पहले जल पी, पीछे शनैः-शनैः निगलनेका अभ्यास करते हैं। सूतकी एक चढ़ाव-उतराववाली रस्सीसे भी धौति साधते हैं। जब-जब निगलते हैं तब-तब जल बाहर निकलने लगता है और करची आदिको भीतर घुसनेमें भी सुभीता होता है।

धौतिकर्ममें कोई-कोई तो लाल वस्त्रका प्रयोग करते हैं और इस क्रियाको दूरसे देखनेवाले यह अफवाह उड़ा देते हैं कि उन्होंने अमुक महात्माको अपनी अँतड़ियाँ और कलेजा निकालकर धोते देखा था—अपनी आँखों देखा था। इससे यद्यपि योगियोंकी मान्यता बढ़ती है तथापि मिथ्यात्वका प्रचार होता है।

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

काया होवे शुद्ध ही, भजें पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहे धोती करम, साधें योगी लोग॥

(भक्तिसागर)

पाश्चात्त्योंने Stomach tube (स्टॉमक ट्यूब) बनाया है। कोई एक-सवा हाथकी रबरकी नली रहती है जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेके कुछ ऊपर हटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाड़ीमें रहा हुआ एकाध अन्नका दाना भी गिरता है। दाँत खट्टा-सा हो जाता है। परन्तु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्रीष्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ,

शुष्क काश, हिक्का, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती। और आवश्यकता न रहनेपर इस क्रियाको प्रतिदिन करनेसे पाचनक्रियामें उपयोगी पित्त और कफ धौति निगलनेके कारण विकृत होकर बाहर निकलते रहेंगे, जिससे पाचनक्रिया मन्द होकर शरीरमें निर्बलता आ जायगी। पित्तप्रकोपसे ग्रहणीकला दूषित होनेपर धौतिक्रिया की जायगी तो किसी समय धौतिका भाग आमाशय और लघु अन्त्रके सन्धिस्थानमें जाकर फँस जायगा। इसी प्रकार धौति फट जानेपर भी उसके फँस जानेका भय रहता है। यदि ऐसा हो जाय तो थोड़ा गरम जल पीकर ब्रह्मदातुन चलानेसे धौति निकलकर बाहर आ जायगी। इन कारणोंसे पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमें धौतिका उपयोग करना अनुचित माना गया है।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूत्रनेति। पहले जलनेति करनी चाहिये। प्रातःकाल दन्तधावनके पश्चात् जो साँस चलती हो, उसीसे चुल्लूमें जल ले और दूसरी साँस बन्दकर जल नाकद्वारा खींचे। जल मुखमें चला जायगा। सिरके पिछले सारे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस कर्मके प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी। अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग नासिकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालनेकी क्रियाको 'जलनेति' कहते हैं। एक समयमें आध सेरसे एक सेरतक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला जा सकता है। एक समय एक तरफसे जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये। जलनेतिसे नेत्रज्योति बलवान् होती है। स्कूल और कॉलिजके विद्यार्थियोंके लिये भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वरमें जलनेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुटसे जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, जो दोष नासिकामें सञ्चित होंगे वे आमाशयमें चले जायँगे। अतः उषःपान तो मुँहसे ही करना चाहिये। जलनेतिके अनन्तर सूत्र लेना चाहिये। महीन सूतकी दस-पन्द्रह तारकी एक हाथ लंबी बिना बटी डोर, जिसका छः-सात इंच लंबा एक प्रान्त बटकर क्रमशः पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोमसे चिकना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध भागको भी इस रीतिसे थोड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे वायु चलती हो उस छिद्रमें लगाकर, और नाकका दूसरा छेद अँगुलीसे बन्दकर, खूब जोरसे बारंबार पूरक करनेसे सूतका भाग मुखमें आ जाता है। तब उसे तर्जनी और अंगुष्ठसे पकड़कर बाहर निकाल ले। पुनः नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमेंसे निकाल ले। कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुखसे खींचकर और दूसरेसे नाकवाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करो। इस क्रियाको 'घर्षणनेति' कहते हैं। इसी प्रकार नाकके दूसरे रन्ध्रसे भी, जब वायु उस रन्ध्रसे चल रहा हो, अभ्यास करो। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है। नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्ध्रद्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है। इस क्रियाके करनेमें किसी प्रकारका भय ह्मनहीं है। सध जानेपर तीसरे दिन करना चाहिये। जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एक-दो सेकंड श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको बन्द करके नेति डालनी चाहिये।

नाक कान अरु दाँतका, रोग न ब्यापै कोय।
उज्ज्वल होवे नैन ही, नित नेती कर सोय॥

(भक्तिसागर)

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालको शुद्ध करती है, दिव्य दृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिरकी सन्धिके ऊपरके सारे

रोगोंको नेति शीघ्र नष्ट करती है।' प्रायः देखा जाता है कि रबरकी या दूसरे प्रकारकी नलिकासे शौकीन लोग नाकद्वारा जल पिया करते हैं। इसकी महत्ता भी लोगोंपर विदित है।

कफसे या नेतिके कारण नासिकाके ऊपरके भागमें दर्द हो , रक्त निकले, या जलन हो तो गोघृत दिनमें दो बार सूँघे। हथेलीमें लेकर एक नासापुट बन्दकर दूसरे नासापुटसे सूँघे, तब घृत ऊपर चढ़ेगा। पाण्डु, कामला, अम्लपित्त, ऊर्ध्व रक्तपित्त, पित्तज्वर, नासिकामें दाह, नेत्रदाह, नेत्राभिष्यन्द (नेत्रोंकी लाली), मस्तिष्कदाह इत्यादि पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमेंसे कोई रोग हो तो इस नेतिका उपयोग न करे। अधिक आवश्यकता हो तो सम्हालपूर्वक करे, परन्तु घर्षणक्रिया न करे। पित्तप्रकोपके समय जलनेतिका उपयोग हितकर है।

त्राटककर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघु पदार्थको तबतक देखे जबतक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटककर्म कहा है।'

त्राटक कर्म टकटकी लागे। पलक पलक सो मिलै न तागे।
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आँख उलटि त्रिकुटीमें आनो। यह भी त्राटक कर्म पिछानो॥
जैसे ध्यान नैनके होई। चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दिवालपर सरसों-बराबर काला चिह्न दे, उसीपर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो जाती है। मेस्मेरिज़्ममें जो शक्ति आ जाती है वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्य है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है। तन्द्रा, आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रखी जाती है।' क्योंकि—

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।

उपनिषदोंमें त्राटकके आन्तर, बाह्य और मध्य— इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकारभेद नहीं है। उक्त तीनों भेदोंका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है।

हृदय अथवा भ्रूमध्यमें नेत्र बन्द रखकर एकाग्रता-पूर्वक चक्षुवृत्तिकी भावना करनेको 'आन्तर त्राटक' कहते हैं। इस आन्तर त्राटक और ध्यानमें बहुत अंशोंमें समानता है। भ्रूमध्यमें त्राटक करनेसे आरम्भमें कुछ दिनोंतक कपालमें दर्द हो जाता है तथा नेत्रकी बरौनीमें चञ्चलता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कुछ दिनोंके पश्चात् नेत्रवृत्तिमें स्थिरता आ जाती है। हृदयदेशमें वृत्तिकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करनेवालोंको ऐसी प्रतिकूलता नहीं होती।

चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वतके तृणाच्छादित शिखर अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर करनेकी क्रियाको बाह्य त्राटक कहते हैं। केवल सूर्यपर त्राटक करनेकी मनाही है। कारण, सूर्य और नेत्र-ज्योतिमें एक ही प्रकारकी शक्ति होनेसे नेत्र-शक्ति सूर्यमें आकर्षित होती रहेगी, जिससे नेत्र दो-ही-तीन मासमें कमजोर हो जायँगे। यदि सूर्यपर त्राटक करना हो तो जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिम्बपर करे। इस प्रकार किसी दूरवर्ती पदार्थपर त्राटक करनेकी क्रियाको 'बाह्य त्राटक' कहते हैं।

काली स्याहीसे कागज़पर लिखे हुए 'ॐ', बिन्दु, किसी देवमूर्ति अथवा भगवान्‌के चित्र, मोमबत्ती या तिलके तेलकी अचल बत्ती या बत्तीके प्रकाशसे प्रकाशित धातुकी मूर्ति, नासिकाके अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर रखनेकी क्रियाको 'मध्य त्राटक' कहते हैं। केवल भ्रूमध्यमें खुले नेत्रसे देखनेकी क्रिया प्रारम्भमें अधिक समय न करो, अन्यथा नेत्रोंकी नाडियाँ निर्बल होकर दृष्टि कमजोर (shortsight) हो जायगी।

इन तीनों प्रकारके त्राटकके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस साधककी पित्तप्रधान प्रकृति हो, जिसके

मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या हृदयमें दाह रहता हो, नेत्रमें फूला, जाला या अन्य कोई रोग हो, वह केवल आन्तर त्राटकका अधिकारी है। यदि वह बाह्य लक्ष्यपर त्राटक करेगा तो नेत्रको हानि पहुँचेगी। जिनकी दृष्टि दूरकी वस्तुओंके लिये कमजोर हो, जिनकी वातप्रधान प्रकृति हो या जिन्हें शुक्रकी निर्बलता हो, वे समीपस्थ मूर्ति आदिपर त्राटक न करें। चन्द्रादि उज्ज्वल लक्ष्यपर त्राटक करें। जिनकी दृष्टि दोषरहित हो, त्रिधातु सम हों, कफप्रधान प्रकृति हो, नेत्रोंकी ज्योति पूर्ण हो, वे 'मध्य त्राटक' करे।

जिनको दो-चार वर्ष पहले उपदंश (Syphilis) या सुजाक (Gonorrhoea) रोग हुआ हो अथवा जो अम्लपित्त, जीर्णज्वर, विषमज्वर, मज्जातन्तुविकृति, पित्ताशयविकृति इत्यादि किसी व्यथासे पीडित हों अथवा तम्बाकू, गाँजा आदिके व्यसनी हों, वे किसी प्रकारका त्राटक न करें। इसी प्रकार मानसिक चिन्ता, क्रोध, शोक, पुस्तकोंका अध्ययन, सूर्यताप या आँचका सेवन करनेवाले भी इस त्राटककी क्रियामें प्रवृत्त न हों।

पाश्चात्त्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल पदार्थादि अपथ्यसेवन करते हुए भी 'मेस्मेरिज़्म' विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक किया करते हैं। परन्तु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं और अनेकों पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्यका पालन किया है वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूह मृदु हो जानेपर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाडियोंको आघात पहुँचते देरी नहीं लगती। त्राटकके जिज्ञासुओंको आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रातःकालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनैः-शनैः बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं। इस व्यायामसे नेत्रकी नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है।

त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है। अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये। तथा रोज़ सुबह त्रिफलाके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये। भोजनमें पित्तवर्धक और मलावरोध (कब्ज़) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे। नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रातःकालमें करे। वास्तवमें त्राटकके अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है। शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है। एकाध वर्षपर्यन्त नियमितरूपसे त्राटक करनेसे साधकके सङ्कल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्यक् प्रकारसे बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फरि युक्तिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

हाथी जैसे सूँडसे जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है। अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये। विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है। प्रतिदिन दन्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अँगुली मुखमें दे उलटी कर दे। क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जलको न्योलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है। पित्तप्रधान पुरुषोंके लिये यह क्रिया हितकर है।

कपालभातिकर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् लोहकारकी भस्त्रा (भाथी)-के समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा कपालभाति नामसे विख्यात है।

जब सुषुम्नामेंसे अथवा फुफ्फुसमेंसे श्वासनलिकाद्वारा कफ़ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुक़ाम) हो गया हो तब सूत्रनेति और धौतिक्रियासे

इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है। इस क्रियासे फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाडियोंमें इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुसकोषोंकी शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है। परन्तु उर:क्षत, हृदयकी निर्बलता, वमनरोग, हृलास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्वरक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें और वर्षा हो रही हो, ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे।

यदि यह क्रिया अधिक वेगपूर्वक की जायगी तो किसी नाडीमें आघात पहुँच सकता है। और शक्तिसे अधिक प्रमाणमें की जायगी तो फुफ्फुसकोषोंमें शिथिलता आ जायगी, जिससे वायुको बाहर फेंकनेकी शक्ति न्यून हो जायगी, जीवनीशक्ति भी क्षीण हो जायगी तथा फुफ्फुसोंमें वायु शेष रहकर बार-बार डकार बनकर मुँहमेंसे निकलता रहेगा।

इस क्रियासे आमाशयमें संगृहीत दूषित पित्त, पाक न होकर शेष रहा हुआ आहाररस और विकृत श्लेष्म जलमें मिश्रित होकर वमनके साथ बाहर आ जाते हैं। कुछ जल आमाशयमेंसे अन्त्रमें चला जाता है। कुछ सूक्ष्म नाडियोंद्वारा रक्तमें मिल जाता है। परन्तु इससे कुछ भी हानि नहीं होती। वह जल मल-मूत्रद्वारसे और प्रस्वेदरूपसे एक-दो घण्टेमें बाहर निकल जाता है। इस क्रियाको करनेवालोंको भोजनमें खिचड़ी अथवा दूध-भात लेना विशेष हितकर है।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमणसे पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात, विषविकार और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करनेके लिये यह क्रिया गुणकारी है।

तीक्ष्ण कफप्रकोप, वमनरोग, अन्त्रनिर्बलता, क्षतयुक्त संग्रहणी, हृदयकी निर्बलता, उर:क्षतादि रोगोंमें यह क्रिया न करे। इसी प्रकार आवश्यकता न होनेपर इस क्रियाको नित्य न करे। शरद्-ऋतुमें स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

सिद्धयोगी

(१)

मोह ममतासे रहता दूर,
क्षणिक कायाकी माया नहीं।
छोह है छातीमें भरपूर,
जीवमें जीवन-समता सही॥

(२)

भरा रहता है सेवाका भाव,
विश्वका सच्चा सेवक वही।
कभी बिचलित क्या करता उसे,
अतुल बल प्रभुता पथसे कहीं॥

(३)

उसे उसका ही रहता ध्यान,
सृष्टि जिसकी मायासे हुई।
भोगसे रखता उसको दूर,
योगकी शक्ति अनूठी नई॥

(४)

योगसे पावन निर्मल ज्ञान,
समझमें आती बातें सही।
कभी छल कलुष क्रोध अभिमान,
छोभ-छाया छू सकती नहीं॥

(५)

साधनाका वह सच्चा कोष,
पूर्ण कर पाता जीवन-यज्ञ।
अमर यश जगमें होते व्याप्त,
समझ सकते क्या उसको अज्ञ॥

(६)

सिद्ध-योगी कहते हैं उसे,
सिद्धियाँ रहतीं जिसके पास।
स्वर्ग-सुखकी न हृदयमें चाह,
प्रलय ताण्डवका जिसे न त्रास॥

जगदीश झा 'विमल'

पादुका-पञ्चक

(लेखक—श्रीरामदयालजी मजुमदार)

[पदरक्षणाधारः पादुका तासां पञ्चकम्]
(१) पद्मम्।
(२) तत्कर्णिकास्थले अ-क-थादि अबलालयं त्रिकोणम्।
(३) तदन्तर्नादबिन्दुमणिपीठमण्डलम्।
(४) तदधःस्थहंसः।
(५) पीठोपरि त्रिकोणम्।
समुदायेन पञ्चसंख्यकम्।

(शिवोक्तम्)

(१) ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम्।
कुण्डलीविवरकाण्डमण्डितं द्वादशार्णसरसीरुहं भजे॥

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुह—सब स्त्री-पुरुषोंके मस्तकके भीतर ब्रह्मरन्ध्रविशिष्ट जो सरसीरुह—अधोमुख सहस्रदल कमल है, उसके उदरमें अर्थात् अधोमुखी सहस्रारकी कर्णिकामें नित्यलग्न—सर्वदा मिलित श्वेत, निर्मल और अत्यन्त अद्भुत, कुलकुण्डलिनीके ऊपर जानेके लिये पथरूप सूक्ष्म छिद्रयुक्त जो काण्ड अथवा नली या चित्रिणी नाम्नी नाडी है, उस चित्रिणी नाडीसे अलंकृत जो ऊर्ध्वमुखी द्वादशवर्ण पद्म है, उस सहस्रदल कमलसे संलग्न द्वादशदल कमलका मैं भजन करता हूँ।

अधोमुखी सहस्रदल कमलके नीचे ऊर्ध्वमुखी द्वादशदल कमल है। हं एवं सः, ये दो पद्मके दल हैं। इन दोनोंकी छः बार आवृत्ति होनेसे बारह वर्ण होते हैं। पद्मके द्वादश वर्ण होनेसे दलोंकी संख्या भी बारह ही है। अवदात—निर्मल शुक्लवर्ण। कुण्डली-विवरकाण्डमण्डित सहस्रारकमलमें स्थित शिवके पास कुलकुण्डलिनीके जानेका मार्गरूप जो छिद्र है—यह चित्रिणीनाडीद्वारा अलंकृत है। जिस तरह मृणालके ऊपर कमल स्थित रहता है, उसी तरह चित्रिणीनाडीरूप मृणाल शोभायमान है।

(२) तस्य कन्दलितकर्णिकापुटे क्लृप्तरेखमकथादिरेखया।
कोणलक्षितहलक्षमण्डलीभावलक्ष्यमबलालयं भजे॥

त्रिकोणके अन्दर श्रीगुरुका ध्यान किया जाता है। इस कारण त्रिकोणका निरूपण करते हैं। सहस्रदल कमल और द्वादशदल कमल जहाँपर मिले हैं, उसी कर्णिकाके आधारभूत स्थानमें अ-क-थादि रेखाओंसे चिह्नित रेखाविशिष्ट जो त्रिकोण है, उस त्रिकोणमें सामने, दाहिने और बायें कोणके ह, ल, क्ष वर्णोंसे घिरी हुई जो अबला अर्थात् शक्ति अवस्थित है, उसका कामकलारूप जो आलस्य है, मैं उस शक्ति-स्थानका भजन करता हूँ। इस अबलालयके सम्बन्धमें यामल कहते हैं—

त्रिबिन्दुः सा त्रिशक्तिः सा त्रिमूर्तिः सा सनातनी।

क्लृप्तरेखमकथादिरेखया—अकारादि षोडश वर्णोंसे रामा रेखा, ककारादि षोडश वर्णोंसे ज्येष्ठा रेखा तथा थकारादि षोडश वर्णोंसे रौद्री रेखा बनी है। इन तीन रेखाओंसे क्लृप्ता अर्थात् चिह्निता रेखा जहाँ है, वही अबलालय है।

कोणलक्षितहलक्षमण्डलीभावलक्ष्यम्—उक्त त्रिकोणके अन्तरालमें अर्थात् सम्मुख, दक्षिण और वाम कोणमें लक्षित अर्थात् प्रकाशित ह, ल, क्ष वर्णोंद्वारा घिरे हुए स्थानरूपमें जिसे लक्ष्य किया जाता है अर्थात् उस रूपमें जिसको जाना जाता है।

त्रिकोणका विशेष ज्ञान हुए बिना सम्यक् ध्यान नहीं होता, इस कारण त्रिकोणका विशेष विवरण अन्यान्य तन्त्रोंमें भी दिया गया है। शाक्तानन्दतरंगिणीमें कहा है, त्रिकोण बायीं ओरसे लिखना चाहिये। बाँयीं ओरसे अ-क-थादि त्रिकोण लिखना चाहिये। त्रिबिन्दु है ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक। अकारसे विसर्गतक ब्रह्मा-रेखा, ककारसे तकारतक विष्णु-रेखा और थकारसे सकारतक शिव-रेखा—त्रिबिन्दुके अनुसार ये तीन रेखाएँ—रजः, सत्त्व और तमोरेखा हैं। ऊपर सत्त्वरेखा, बायें रजोरेखा और दाहिने तमोरेखा है।

कोणलक्षितहलक्षमण्डलीभावलक्ष्यम्—अ-क-थ इस त्रिपंक्तिमें ह-ल-क्ष वर्ण स्थित हैं। ह-ल-क्ष वर्ण त्रिकोणके मध्यमें स्थित हैं।

(३) तत्पुटे पटुतडित्कडारिमस्पर्द्धमानमणिपाटलप्रभम्।
चिन्तयामि हृदि चिन्मयं वपुर्नादबिन्दुमणिपीठमण्डलम्॥

सहस्रार और द्वादशदल पद्म जहाँ मिलते हैं, उस कर्णिकामें त्रिकोण है। इसी त्रिकोणके मध्यमें मणिपीठ है, उसके ऊपर श्रीगुरु हैं। इसीलिये मणिपीठका वर्णन करते हैं। तत्पुटे, त्रिकोणके मध्यमें—त्रिकोणके अन्दर, नीचे शुभ्र नाद, ऊपर रक्तवर्ण बिन्दु और उनके बीचमें मणिपीठ है। त्रिकोणके मध्यमें अवस्थित नादबिन्दुसहित इस मणिपीठमण्डलका ध्यान किया जाता है।

यह मणिपीठ प्रज्वलित विद्युत्समूहके द्वारा प्रकाशित है और दीप्तिमान मणिसमूहके द्वारा गुलाबी रंगको प्राप्त हुआ है। मणिपीठका सर्वाङ्ग मणिमय है। नादबिन्दुसे युक्त यह मणिपीठमण्डल चिन्मय—ज्ञानमय है। रजताचल (कैलास) के साथ निज गुरुका नित्य इसी नादबिन्दुके अन्दर उज्ज्वल सिंहासनपर ध्यान किया जाता है। सहस्रदल कमलके अन्दर स्थित अन्तरात्मा ही मूर्ति धारण किये हुए निज गुरु है।

(४) ऊर्द्ध्वमस्य हुतभुक्शिखात्रयं
तद्विलासपरिबृंहणास्पदम् ।
विश्वघस्मरमहाचिदोत्कटं
व्यामृशामि युगमादिहंसयोः॥

संयुक्त पद्म-कर्णिकामें त्रिकोण है—त्रिकोणके अन्दर, नीचे नाद, ऊपर बिन्दु और बीचमें मणिपीठ है। मणिपीठके ऊपर तीन अग्निशिखाएँ हैं। इन तीन अग्निशिखाओंके प्रकाशसे मणिपीठ प्रकाशित है। ऐसे मणिपीठका ध्यान करना चाहिये।

विश्वभक्षिका-विश्वसंहारिका महादीप्तिशालिनी महाचिति—सबसे अधिक उत्कट उस महाचितिका भी ध्यान करना पड़ता है। तत्पश्चात् मणिपीठके नीचे अर्थात् जिसके ऊपर मणिपीठ है, वह है आदि हंसयुगल। ये हंस प्रकृति-पुरुषरूप हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव हैं रेखा-त्रय और सूर्य, चन्द्र, अग्नि हैं बिन्दुत्रय। विद्युत्-सम्पन्न त्रिकोणके मध्यमें गुरु हैं। आदि हंसयुगलको परमात्मा कहा गया है, यह दीपकलिकाकार जीवात्मारूप हंस नहीं है।

जिस पीठमें श्रीगुरुचरणारविन्दका ध्यान करना चाहिये, उसका निश्चय करके अब ध्यान किस तरह करना होगा, यह कहा जाता है।

मणिपीठस्थ त्रिकोणके मध्यमें नाथचरणारविन्दयुगलका ध्यान करना चाहिये।

(५) तत्र नाथचरणारविन्दयोः कुङ्कुमासवझरीमरन्दयोः।
द्वन्द्वमिन्दुमकरन्दशीतलं मानसं स्मरति मङ्गलास्पदम्॥

श्रीगुरुका चरणारविन्द कुंकुमासव अर्थात् लाक्षारस (महावर) की आभासे युक्त परमामृतकी झरी अर्थात् निर्झर रूप मरन्द या मकरन्दके समान है। जिस तरह चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंसे तापका नाश होता है, उसी तरह चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंके समान शीतल गुरुपद-पद्ममकरन्दके सेवनसे संसार-कोलाहल शान्त हो जाता है।

मंगलास्पदम्, यह मङ्गल या मनोरथसिद्धिका स्थान है। उस गुरुचरणमें मन लगा सकनेपर सब अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं।

(६) निषक्तमणिपादुकानियमिताघकोलाहलं
स्फुरत्किशलयारुणं नखसमुल्लसच्चन्द्रिकम्।
परामृतसरोवरोदितसरोजसद्रोचितं
भजामि शिरसि स्थितं गुरुपदारविन्दद्वयम्॥

मैं मस्तकमें पूर्वोक्त पीठके ऊपर स्थित श्रीगुरुपादपद्मका ध्यान करता हूँ। यह पादपद्म कैसा है? पादपद्मसे संलग्न जो मणिमय पादुका है, जिस पादुकाके मणिपीठ इत्यादिका पाँच स्थानोंके रूपमें वर्णन किया गया है—उस मणिपादुकाका ध्यान करनेसे संसारके पाप-कोलाहलसे सदाके लिये निवृत्ति हो जाती है। जो लोग संसारके पाप-कोलाहलसे अत्यन्त व्यथित हैं, उनके लिये परित्राणका एकमात्र उपाय है इस महावर-सदृश श्रीगुरुपादपद्मका ध्यान करना। भगवान् शङ्कराचार्य इसी बातको ध्यानमें रखकर कहते हैं—

गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्।

मन यदि गुरुके चरणकमलमें नहीं लगा रहा तो और सब किस कामका? बतलाओ तो—

शरीरं सुरूपं ततो वा कलत्रं
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥

'अत्यन्त सुन्दर देह, सुन्दरी भार्या, सर्वत्र विस्तृत निर्मल यश और सुमेरुतुल्य अपरिमित धन है; परन्तु यदि गुरुके पादपद्ममें मन नहीं लगा तो इनसे भी क्या हुआ, ये सभी व्यर्थ हैं।' अन्यत्र वह कहते हैं—

बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते॥

'बाल्यकाल धूलमें खेलनेमें बीत गया, युवाकाल युवतीके पीछे भटकनेमें चला गया, वृद्धावस्था चिन्तामें, अर्थात् क्या किया, क्या हुआ, अन्तमें क्या होगा, इन्हीं चिन्ताओंमें बीत गयी, परब्रह्ममें किसीने मन नहीं लगाया। रे मूढ़ मन! गोविन्दको भजो, गोविन्दको भजो, गोविन्दको भजो! इस परब्रह्ममें मन लगाना ही श्रीगुरुपादपद्मका ध्यान करना है।

पञ्च पादुकाका ध्यान करके उनके ऊपर श्रीगुरुके चरणका ध्यान करनेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। वह गुरुपदकमल नवजात पल्लवसमूहकी तरह रक्तवर्ण है। अहा! नवकिशलयके समान अरुणवर्ण अत्यन्त कोमल यह पादपद्म है। उन चरणकमलोंके नखसमूह निर्मल प्रकाशमान चन्द्रमाके समान हैं। वह परमामृतपूर्ण सरोवरमें खिले हुए पद्मके समान निर्मल—प्रकाशमय है। इसीसे कहा गया है कि श्रीनाथके चरणयुगलसे निरन्तर अमृत झरा करता है। और इस श्रेष्ठ सरोवरमें स्थित नाथचरणयुगल पद्मके समान शोभायमान हो रहे हैं।

इस पादपद्मका बार-बार ध्यान करना चाहिये। ऊपर कमल है, नीचे कमल है। नित्य कर्णिकामें त्रिकोण है। त्रिकोणके नीचे चन्द्रमा, ऊपर सूर्य और बीचमें मणिपीठ है। मणिपीठमें गुरुपादपद्म हैं।

सर्वोपरि ततो ध्यायेत् पश्चिमाननपङ्कजम्।
स्रवन्तममृतं दिव्यं देव्यङ्गे कलनान्तरे॥

इस तरह बृहच्छ्रीके क्रमसे **देव्यङ्गे=गुरुशक्त्यङ्गे।** यामलमें है, **'छत्रं मूर्ध्नि सहस्रपत्रकमलं रक्तं सुधावर्षिणम्।'** सहस्रारमें गुरुपादपद्मका ध्यान करना चाहिये। कहीं ऐसा भी है कि द्वादशदल कमलमें ध्यान करना चाहिये। इस विषयमें गुरु-आज्ञाके अनुसार चलना ही श्रेयस्कर है।

(७) **पादुकापञ्चकस्तोत्रं पञ्चवक्त्राद्विनिर्गतम्।**
षडाम्नायफलं प्राप्तं प्रपञ्चे चातिदुर्लभम्॥

पञ्चवक्त्र महादेवके मुँहसे पादुकापञ्चकस्तोत्र निकला है। शिवोक्त सब स्तोत्रोंको षडाम्नाय कहते हैं; क्योंकि वे षण्मुखद्वारा कहे गये हैं। इन सब स्तोत्रोंके द्वारा प्राप्त मन्त्र निर्धारित कर्मफल होते हैं। किन्तु इस मायारचित संसारमें यह अत्यन्त कष्टसे प्राप्त होता है। जन्मजन्मान्तरके पुण्यके फलसे इसकी प्राप्ति होती है।

पादुकापञ्चकस्तोत्रम्—पद्म, अ-क-थादि त्रिकोण, **नादबिन्दुमणिपीठमण्डलम्**—नीचे हंस एवं पीठके ऊपर त्रिकोण—ये सब मिलकर पाँच हैं।

पञ्चवक्त्राद्विनिर्गतम्—शिवके पाँच वक्त्र (मुँह) हैं। पश्चिममें सद्योजात, उत्तरमें वामदेव, दक्षिणमें अघोर, पूर्वमें तत्पुरुष और मध्यमें ईशान—इनका भक्तिपूर्वक ध्यान किया जाता है।

षडाम्नायफलं प्राप्तम्—पूर्वोक्त पञ्चवक्त्र षण्मुख है, छटा मुख पञ्चमुखके नीचे; यह गुप्त तामस मुख है। **'नीलकण्ठमधोवक्त्रं कालकूटस्वरूपिणम्।' षडाम्नायः—शिवोक्तस्तोत्रसमुदायः।** तन्त्रमें जिस फलका विधान है, वह फल जिसके द्वारा प्राप्त हो।

प्रपञ्चे—लिङ्गसे ब्रह्मतक मायारचित संसारमें। **अति दुर्लभम्**—अत्यन्त दुःखसे जो प्राप्त किया जाय। (श्रीकालीचरणकृत 'अमला' नामक टीकाके अनुसार)।
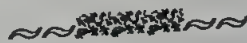
योगसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—पं० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार)

श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगाना ही मुख्य योग है और 'योग' पदका यही मुख्य अर्थ है।

पातञ्जलयोगसूत्र है— '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'। अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं। यह अर्थ ठीक ही है। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णने भी अपने प्रिय शिष्य उद्धवको योगका यही अर्थ समझाया है। 'योग' शब्दके जो अन्य अनेक अर्थ हैं जैसे सन्नहन, उपाय, ध्यान, सङ्गति, युक्ति आदि, वे सब भी चित्तवृत्तिके निरोधके बिना होनेवाले नहीं। इसलिये चित्तवृत्तिनिरोध 'योग' शब्दके सभी अर्थोंमें, मणिमाला या पुष्पमालामें सूत्रके समान, अनुस्यूत है।

अब यह प्रश्न है कि यह चित्तवृत्तिनिरोध कैसे हो? अनन्त जन्मोंसे विषयासक्त बना हुआ यह चित्त कहाँ और कैसे निरुद्ध हो सकता है? प्रत्येक मनुष्य इस बातको जानता है कि विषयमात्र आपत्तियोंका घर है, फिर भी मनुष्य कुत्ते, गधे या बकरेकी तरह विषयोंके पीछे दिन-रात दौड़ा ही करता है, इसका कारण क्या है?

उत्तर यह है कि मनुष्य जबतक देहपर आत्माध्यास करता रहेगा तबतक उसका मन सत्त्वप्रधान होनेपर भी उस मनमें सकल दुःखोंका कारण जो रजोगुण है बढ़ता ही रहेगा, यह नियम है। वही रजोयुक्त मन 'यही मेरा भोग्य है' ऐसा सङ्कल्प करता है। उससे '**अहो रूपं अहो माधुर्यम्**' इत्याकार गुणचिन्तन होता है और उससे ऐसा भोगाभिनिवेश होता है कि उसका वेग सहा नहीं जाता, अति दुस्सह होता है। यह अवस्था अवश्य ही अविद्यामोहित विवेकहीन मनुष्योंकी ही होती है। रजोगुणके वेगसे मोहित अतएव अजितेद्रिय मनुष्य कामके वश हो जाता है। अतः कर्ममात्रको दुःखफलक जाननेपर भी विषय-भोगोंके उपायरूप कर्म ही किया करता है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि अविद्यामोहसे बचनेका क्या उपाय है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा देहादिकोंसे भिन्न है, इसका शास्त्रीय ज्ञानपूर्वक विज्ञान होना चाहिये। यहाँ यह स्मरण रहे कि देहादिकोंसे आत्मा भिन्न है, यह ज्ञान होनेपर भी, पूर्वसंस्कारानुसार रजोगुण और उसके साथी तमोगुणसे चित्तको पुनः विक्षेप हुआ करता है। ऐसी अवस्थामें अनलस और सावधान होकर यह विचारे कि 'ये शब्दस्पर्शादि विषय ही आजतक मुझे फँसाये हुए हैं और इन्होंने ही मुझे अनन्त योनियोंमें बड़ी निर्दयतासे घुमाया है, अब भी यदि मैं सावधान न हुआ तो आत्मसुखसे हाथ धोना पड़ेगा!' विषयोंपर इस प्रकार दोषदृष्टि रखनेवाला साधक विषयोंमें आसक्त नहीं होता। विषयके चिन्तनसे होनेवाला विषयविषयक काम विषयनिष्ठ दोषदर्शनसे निवृत्त हो जाता है।

पर मन बड़ा चञ्चल है, उसका निग्रह करना, '**वायोरिव सुदुष्करम्**' है, जैसा कि श्रीअर्जुनने गीतामें कहा है। इसपर प्रभुचरणोंका यही उत्तर है कि—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

अभ्यास और वैराग्यसे मन काबूमें आ जाता है।

पर निरालम्ब ही मन कैसे स्थिर होगा? कोई-न-कोई आलम्बन तो अवश्य चाहिये। आलम्बन है सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान् श्रीकृष्णका चरणारविन्द—

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥

(श्रीमद्भागवत ३—२८—२१)

'उत्तम प्रकारसे भगवान्‌के उस चरणकमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ज्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर कर दिया है।'

यही आलम्बन है। इससे बढ़कर कोई आलम्बन नहीं। इसमें मनोनिरोध करना मनकी परमगति है।

पर मन यों ही किसीके वशमें नहीं होता, यह बहुत ही प्रबल है। श्रीमद्भागवतमें मनके बलकी यह प्रशंसा है कि—

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसस्सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः॥

अर्थात् और सब देवता मनके वशमें हो गये पर मन किसीके वशमें नहीं हुआ। यह ऐसा भीष्म देव है, बलवानोंसे भी बलवान् है, ऐसे मनको जो वशमें करता है वह देवोंका देव है। यही बात भगवती श्रुतिने भी ठीक ऐसे ही कही है—

मनसो वशे सर्वमिदं बभूव
नान्यस्य मनो वशमन्वियाय।
भीष्मो हि देवः सहसस्सहीयान्।

तथापि शनैः-शनैः दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करनेसे तथा जितासन और जितश्वास होकर श्रीकृष्णचरणोंमें चित्त लगानेके अध्यवसायसे मन श्रीकृष्ण-चरणोंमें स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य, शब्दस्पर्शादि विषयोंका चिन्तन छोड़कर मनको श्रीकृष्णचिन्तनमें अभ्याससे स्थिर करना ही योग है। सनकादिकोंने इसी योगको कहा है, जैसा कि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥

'मेरे शिष्य सनकादिकोंने इसी योगको कहा है कि जिसमें मन सब तरफसे खींचकर मुझमें लगाया जाता है।' भगवत्प्राप्तिका यही योग है।
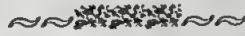
मृत्युञ्जययोग

जिस प्रकार महाभारतमें अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्‌ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्‌से कहा कि प्रभो! मेरी समझसे आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दुःसाध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे सब लोग सहज ही सफल हो सकें। तब भगवान्‌ने उद्धवको भागवतधर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा कि—'अब मैं तुम्हें मङ्गलमय धर्म बतलाता हूँ जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है।' यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम मृत्युञ्जययोग है। भगवान्‌ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनैः-शनैः मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाठ-बाटसे गानवाद्य, कीर्तन आदि करे-करावे। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण

भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर, सबमें समान दृष्टि रखता है वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टांग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे तबतक उक्त प्रकारसे मन-वाणी और शरीरके व्यवहारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्मबुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये। अथवा वह उपराम हो जाता है। हे उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारके मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। हे उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता। क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्यशरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

(श्रीमद्भाग० ११। २९। २२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्‌के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न मनीषी ही हैं।

गीतामें योग, योगी और युक्त शब्दोंके विभिन्न अर्थ

(लेखक—श्रीजयदयाल गोयन्दका)

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) भगवत्प्राप्तिरूप योग—अ० ६। २३—इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है।

(२) ध्यानयोग—अ० ६। १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है।

(३) निष्काम कर्मयोग—अ० २। ४८—योगमें स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समानबुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है।

(४) भगवत्शक्तिरूप योग—अ० ९। ५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है।

(५) भक्तियोग—अ० १४। २६—निरन्तर अव्यभिचार-रूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्द है।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ८। १२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टाङ्गयोग है।

(७) सांख्ययोग—अ० १३। २४—इसमें सांख्ययोगका

स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख है।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) ईश्वर—अ० १०। १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६। ८—ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण-मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) ज्ञानी-भक्त—अ० १२। १४—परमात्मामें मन-बुद्धि लगानेवाला होने तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे ज्ञानी-भक्तका वाचक है।

(४) निष्काम कर्मयोगी—अ० ५। ११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्मयोगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५। २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

(६) भक्त—अ० ८। १४—अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तका वाचक है।

(७) साधक योगी—अ० ६। ४५—अनेकजन्मसंसिद्धि होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधक योगीका वाचक है।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६। १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(९) सकाम कर्मयोगी—अ० ८। २५—वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है।

युक्त

युक्त शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञानी—अ० ६। ८—ज्ञान-विज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है।

(२) निष्काम कर्मयोगी—अ० ५। १२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगीका वाचक है।

(३) सांख्ययोगी—अ० ५। ८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्त्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्ययोगीका वाचक है।

(४) ध्यानयोगी—अ० ६। १८—वशमें किये हुए चित्तके परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(५) संयमी—अ० २। ६१—समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्मपरायण होनेसे यह संयमीका वाचक है।

(६) संयोगसूचक—अ० ७। २२—श्रद्धाके साथ संयोग बतलानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है।

(७) यथायोग्य व्यवहार—अ० ६। १७—यथायोग्य आहार, विहार, शयन और चेष्टा आदि लक्षणवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है।
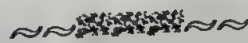
पूर्णयोग

(लेखक—स्वामी श्रीमित्रसेनजी)

योगका अर्थ संयोग, मिलन या मेल है। दोका अथवा बहुतोंका एकमें मिल जाना योग है। यह योगसिद्धि वियोगमें होती है। परन्तु वियोगसे योगमें आना तो फिर वियोगमें जानेके लिये ही है। ऐसा वियोग और योग अर्थात् योग-वियोग ही संसारी जीवन है, जिसमें देश-कालका अधिकार बना रहता है। ईश्वरी जीवनमें पूर्ण योग भी है और पूर्ण वियोग भी। इस जीवनमें आना-जाना अथवा कोई परिवर्तन नहीं है, सभी रूप और सभी अवस्थामें यह योग है। यह निश्चित ही है कि ईश्वरीय सत्तासे रहित कोई भी सत्ता नहीं है। परन्तु जिसमें यह धारणा और ज्ञान है कि सब विस्तार एक ईश्वरमें ही योग पा रहा है, वह तो अपने जीवनके

समस्त विस्तारसे अपने प्रभुमें समाया ही है। उसका संसारी जीवन भी ईश्वरीय जीवन ही है। इस अवस्थाको प्रकट करनेके लिये नदी-सागरका दृष्टान्त प्रसिद्ध है। नदी अपने समुद्रमें पूर्ण योग प्राप्तकर अपने रूप और नामको समुद्रमें मिला रही है। समुद्रमें योग पाकर उसका रूप और नाम समुद्री सत्तामें समा जाता है। और जो नदी अपने समुद्रमें योग नहीं पाती, वह अपने रूप और नामसे अभावमें आ जाती है। मानो अणुका अपने विभुमें योग पाना ही उसकी सत्ताका सत्यतामें बना रहना है।

अब नदीके इस पूर्ण योगपर विचार कीजिये। वह जिस पर्वतसे निकली है, जो उसका जन्मस्थान है, वहींसे वह अपने समुद्रमें योग पा रही है। यह स्थिति मध्यकी है—उसकी अविच्छिन्न धारा उद्गमस्थानसे लेकर समुद्रपर्यन्त समुद्रसे सदा युक्त ही है। आदि, मध्य, अन्त किसी भी अवस्थामें वह योगशून्य नहीं है। यही उसका पूर्ण योग है।

इसी प्रकार साधक भी अपने पूर्णरूपमें और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुमें पूर्ण योग पा रहा है। इसमें स्थूल या सूक्ष्मका भेद ही क्या है? जैसे संसारी दृष्टि अपने सम्मुख जो कुछ है—सब देख रही है, वैसे ही इसमें ईश्वरी सत्ताका देखना है। इसमें अपना देखना सबमें समाया ही है। और ऐसी दृष्टिद्वारा पूर्ण योग ही है। ऐसी स्थूल दृष्टिमें सूक्ष्म दृष्टि भी समायी ही है। पूर्ण आनन्द, पूर्ण उल्लास, पूर्ण उमंग सब पूर्ण-ही-पूर्ण है।

पूर्ण योगका अभिप्राय यह है कि मानो सभी रूपों, सभी नामों और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुजी अपना योग-ही-योग दे रहे हैं। किसी भी रूप, नाम या अवस्थामें तनिक-सी भी कुछ ग्लानि या शंका मनमें आ जाय तो समझना चाहिये कि यही योगसे हीनता है। परन्तु यह ग्लानि, शंका या नहींका बर्ताव भी अपने प्रभुजीका ही पूर्ण दान है। यह भी पूर्ण योगकी पूर्ति और दृढ़तारूप ही है।

हिरण्यकशिपुजी श्रीप्रह्लादजीकी भक्तिमें अवरोध करनेवाले होकर भी अवरोधक नहीं थे, वरं उनकी गहरी दृढ़ताका कारण भी प्रभुजीकी प्रेरणा ही है। यह भी संसारी वियोगकी अवस्थासे पूर्णयोगकी सिद्धिमें पहुँचनेका एक पूर्ण साधन ही है। अपनी प्यारी वस्तुको छीननेवाला ही उस वस्तुमें प्रीति बढ़ानेवाला है।

कृष्णसमीपी पांडवा गले हिमाचल जाय।
कृष्णविरहिनी गोपियाँ मुक्तिधाम लिया पाय॥

पाण्डवोंका योग बाहरी योग था और गोपियोंका योग बाहरीसे भीतरी योगमें समाकर पूर्ण योग सिद्ध हो गया था। इसी प्रकार सभी योग पूर्ण योगमें समाये हैं।

निष्काम कर्मयोगको कब समझेंगे?

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

मैंने गतवर्ष पितृश्राद्धके अवसरपर अमुक व्यक्तिको कितना अच्छी तरह जिमाया था, दक्षिणा भी अच्छी दी थी; पर उस भले आदमीने मेरे प्रति कुछ भी कृतज्ञता प्रकट न की, भोजन करके चुपचाप चला गया, दो शब्द आशीर्वादके भी न कहे; गली-मोहल्लेमें किसीसे मेरी प्रशंसा न की। इसमें सन्देह नहीं कि वह गरीब है, पर ऐसे आदमीको जिमाने या कुछ दान-दक्षिणा देनेसे लाभ क्या। अबकी बार मैं उसे कदापि नहीं न्योतूँगा। यह जो मेरे घरके पास ही दूसरा आदमी रहता है, इससे मुझे अनेक बार काम पड़ता है, फिर इसकी स्थिति भी अच्छी है, बड़े-बड़े आदमियोंमें बैठता है, गप-शप करता है, और जिसके यहाँ एक बार भी दावत आदिमें जीम आता है, उसकी जहाँ-तहाँ खूब प्रशंसा करता है। बस, इस बार श्राद्धके अवसरपर

इसे ही आमन्त्रित करना ठीक होगा। माना कि इसे एक दिनके भोजनादिकी कुछ परवा नहीं, यह काफी समर्थ है; पर इससे क्या, इसे जिमानेका प्रतिफल तो साक्षात् इसी लोकमें मिल जाता है।

× × ×

वह आदमी बीमार पड़ा है, उसकी हालत बहुत खराब है और उसके पास कोई सेवा-शुश्रूषा करनेवाला भी नहीं। उसके पास जाने और उसकी सहायता करनेकी बहुत आवश्यकता है, यह मैं मानता हूँ। पर उसकी सेवा-सहायता करनेकी बात कौन जानेगा। इसके विपरीत मुझे उन सेठ साहबके यहाँ जाना उचित है, उन्हें मामूली जुकाम ही हो रहा है; पर उनकी तबीयतका हाल पूछनेसे कितने ही आदमियोंको यह ज्ञात हो जायगा कि मैं भी दूसरोंके दुःख-सुखकी चिन्ता करता हूँ। वहाँ मुझे करना कुछ भी नहीं पड़ेगा, इस समय तो वहाँ कुछ काम ही नहीं है, और आवश्यकता भी हो तो वहाँ काम करनेवालोंकी कमी क्या है। मैं तो केवल कुछ समय बैठकर चला आऊँगा, बस सेठ साहब खुश हो जायँगे। आगे-पीछे वे मुझे याद करेंगे और मेरा हित-साधन होगा।

× × ×

मैंने उस संस्थाको पाँच सौ रुपयेकी बड़े गाढे समयमें सहायता दी; इससे ही वह जीवित रह सकी, और उसके द्वारा कितने ही बालक-बालिकाओंका भला हो रहा है। पर उसके मैनेजर तो पीछे कभी मुझे जयरामजीकी करने भी नहीं आये। न वहाँ कोई मेरे नामका पत्थर लगा है, न अखबारोंमें ही मुझे धन्यवाद दिया गया है। लोगोंमें मेरे दानकी कुछ भी विज्ञप्ति नहीं हुई। संस्थाके सञ्चालक केवल वर्षान्तमें एक रिपोर्ट निकाल देंगे, उसमें आय-व्ययका हिसाब दिखाते हुए मेरी दी हुई रकमका भी उल्लेख कर देंगे। परन्तु उस रिपोर्टको पढ़ते ही कितने आदमी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं रहा कि ऐसी संस्थाको रुपया देना मिट्टीमें डालना है। मेरे पड़ोसीने होलीके उपलक्ष्यमें यहाँके रईसों और अमीर-उमरावोंको दावत दी, नाच-गान कराया और आतिशबाजी दिखायी; बस, उसकी उदारताकी धूम मची हुई है, जहाँ देखो उसकी वाह-वाह हो रही है। अब मेरी भी समझमें आ गया कि खर्च कहाँ और कैसे करना चाहिये।

× × ×

मैं रोज सबेरे उठकर उच्च स्वरसे 'हरि बोल, हरि बोल' कहता हुआ यमुनास्नान करने जाता हूँ। पीछे रेशमी वस्त्र धारणकर नित्य नियमसे पूजा-पाठ करता हूँ। स्पर्शास्पर्शका पूरा ध्यान रखता हूँ। सायंकाल हर रोज मन्दिरमें दर्शन करने जाता हूँ। आरतीमें शामिल होता हूँ। तो भी भगवान् मुझसे प्रसन्न नहीं होते। इस वर्ष मेरी रिश्तेदारीमें तीन मौतें हो चुकीं। छः महीनेसे मेरी तरक्की नहीं हुई। दो महीनेसे मेरा लड़का बीमार पड़ा है। अब मैं कैसे मानूँ कि यमुनास्नान और पूजा-पाठ आदिसे कुछ लाभ होता है, और यदि कुछ लाभ नहीं तो मैं यह सब कुछ क्यों करूँ, कबतक करूँ?

× × ×

यह हमारी विचारधाराके कुछ नमूने हैं। फिर भी हम अपने-आपको पुण्यभूमि भारतके निवासी या व्रजवासी इत्यादि मानते और कहते हैं। हम अपने निष्काम कर्मयोगके द्वारा महान् उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णके भक्त होनेकी विज्ञप्ति करते हैं। हम समझते हैं कि हम हिन्दू हैं, और हिन्दूधर्म हमारे ही जैसोंके बल-बूते अभीतक टिका हुआ है। हमारी यह धारणा कितनी भ्रममूलक है! और हम श्रीमद्भगवद्गीताके बड़े ही सुन्दर ढंगसे प्रतिपादित निष्काम कर्मयोगको कब समझेंगे, और अपने जीवनमें कब कुछ वास्तविक सुधार करेंगे?

संसार-योग

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

संसार जैसा कुछ दिखायी देता है वैसा नहीं है; यह है आनन्दमय, दिखायी देता है दुःखमय। यही तो माया है और यह माया हमारे एक-एक रग और रेशेमें फैली हुई है। इसी कारणसे संसारकी प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक घटना जैसी है वैसी नहीं दिखायी देती, कुछ भिन्न ही प्रकारकी दिखायी देती है। हमारा शरीर पञ्चमहाभूतोंसे बना है और पञ्चमहाभूतोंका अंश है, पर दिखायी ऐसे देता है मानो पञ्चमहाभूत कोई दूसरी चीज हैं और यह शरीर कोई दूसरी चीज। इस पञ्चमहाभूतात्मक शरीरको जैसा हम समझते हैं वैसा नहीं है, इसका कोई भी भाग इन पञ्चमहाभूतोंसे पृथक् नहीं है। हमारे शरीरमें जो आकाश है वह ऊपरके महाकाशसे सदा मिला हुआ है। हमारे शरीरमें जो पृथ्वीका अंश है वह सदा संसारभरकी पृथ्वीसे अभिन्नतया मिला हुआ है। यह शरीर जिस पृथ्वीपर है उस पृथ्वीसे एक क्षणके लिये भी कभी पृथक् नहीं हो सकता। योगियोंके शरीर पृथ्वीसे अलग होते हैं, पर जिस हालतमें होते हैं उस हालतमें यह पृथ्वी भी अपने पार्थिवरूपसे अलग होती है। हमें जल दिखायी देता है पृथ्वीमें, पर वास्तवमें पृथ्वी जलमें है और जल अग्निके भीतर है जो एक असम्भव बात मालूम होती है। इसी प्रकार अग्नि वायुके भीतर है और वायु आकाशके भीतर। हमें घटमें घटकी मिट्टी आकाशको घेरी हुई दिखायी देती है पर यथार्थमें आकाश घटको घेरे हुए है, यह लम्बी-चौड़ी सम्पूर्ण पृथ्वी एक महान् जलार्णवके बीचमें मिट्टीके एक लोंदेके समान कही गयी है। यह महान् जलार्णव अग्निके उससे-भी बड़े आग्नेयार्णवके भीतर एक सरोवर-सा है और यह आग्नेयार्णव उससे भी कई गुना बड़े वायव्य महार्णवके भीतर है और यह वायव्य महार्णव उससे अनन्तगुण महान् आकाशार्णवके भीतर है। यह आकाशार्णव अविद्या नाम्नी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृतिके भीतर है और यह अपरा प्रकृति परा प्रकृतिके भीतर है और यह परा प्रकृति परमात्माके भीतर है। परमात्मा सारे संसारको घेरे हुए हैं, इनके भीतर ये सब महार्णव हैं और इन सबसे घिरा हुआ हमारा यह संसार है। यह भगवान्से घिरा हुआ है, इसका एक-एक अणु भगवान्से घिरा हुआ है और भगवान् आनन्दमय हैं। इसलिये यह संसार आनन्दमयके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

पर यह दिखायी देता है दुःखमय! इसका कारण क्या है? इसका कारण है माया अर्थात् हमारा अज्ञान—हमारा यह न देख पाना कि यह संसार आनन्दमय भगवान्के भीतर है। जैसे समुद्रके भीतर मछली हो और वह जलके लिये छटपटाये, वैसी ही अवस्था हमलोगोंकी है कि आनन्दमहार्णवके भीतर रहते हुए हमलोग आनन्दके लिये छटपटा रहे हैं! आखिर यह अज्ञान भी कहाँसे आया? इसका उत्तर यही है कि यह हमारे अन्दरसे आया। सर्वव्यापक भगवान्में जो-जो कुछ है उसमें भी स्वभावतः ही वह चैतन्य है जिसमें एक होते हुए भी बहु होनेकी शक्ति है और पूर्णसे पृथक् होकर पृथक्-रूपसे बहु होनेकी जो इच्छा है उस इच्छासे चैतन्यका वह अंश मनसे घिर जाता है। यह जो घिर जाना है इसीको अहंकार कहते हैं। अहंकार और ममकाररूपमें जब यह प्रकट होता है तब चैतन्यका वह अपृथक् होनेपर भी पृथक् बना हुआ अंश बद्ध जीव हो जाता है। उस बद्धतासे अपना वास्तविक स्वरूप वह भूल जाता है। आत्मस्वरूपकी इस विस्मृतिके कारण वह बाह्य स्वरूप—सारे संसार और संसारके प्रत्येक पदार्थको इसी आत्मविस्मृतिके पैमानेसे देखता है और उसे तब संसार जैसा कुछ वास्तवमें है वैसा नहीं दिखायी देता—आनन्दमय संसार

उसे दुःखमय दिखायी देता है और इस दुःखमय संसारमें वह आनन्दको ढूँढ़ता है। अपने-आपको जो भूला हुआ है वह दूसरेको कैसे पहचान सकता है और जो चीज वह चाहता है, जिसकी खोजमें वह भटकता है वह भी उसे ऐसे भटकनेसे कैसे मिल सकती है?

संसारमें जितने उद्योग हो रहे हैं वे सब आनन्दकी खोजके ही उद्योग हैं, चाहे वह बच्चोंका स्कूलोंमें पढ़ना हो या मैदानमें खेलना, युवकोंका ब्याह रचना हो या सन्तानकी आशा करना, धन कमाना हो या नाम कमाना, साँप, बिच्छू और सिंह-व्याघ्रसे डरना हो या उन्हें मार डालनेकी फिक्र करना, मृत्युसे भागना हो या मृत्युके वश होना, युद्ध हारना हो या युद्ध जीतना, राज्यक्रान्ति हो या परराष्ट्रपर आक्रमण करना, व्यापारकी दूकान हो अथवा कल-कारखाना। ये सब बद्ध जीवोंके आनन्दकी खोजके उद्योग हैं। ये उद्योग अच्छे-बुरे कुछ नहीं हैं; इनसे यदि आनन्द मिल जाय तो अच्छे हैं, न मिले तो बुरे हैं। पर जबतक आत्मविस्मृति बनी हुई है, हम अपने-आपको भूले हुए हैं तबतक पहचान भी भूले हुए हैं, रास्ता भी भूले हुए हैं और इसलिये फल भी भूला हुआ ही होता है। इसीलिये यह देखा जाता है कि आत्मविस्मृत कोई भी मनुष्य संसारमें सुखी नहीं हुआ। ऐसे सब प्राणियोंके जीवनोंका अन्तिम अनुभव यही रहा कि जीवन व्यर्थ ही बीता, आनन्दकी खोजमें कहाँ-कहाँ भटके; पर आनन्द मिला नहीं; उलटे दुःख ही बढ़ता गया। इसीलिये यह कहा जाता है कि संसार दुःखमय है, पर दुःखमय है पूर्णसे पृथक् होनेके कारण—पूर्णसे वियोग होनेके कारण। बन्द कोठरीमें, अखिल वायुमण्डलसे पृथक् होते ही, जैसे हमारे प्राण घबराने लगते हैं वैसे ही पूर्ण जो श्रीभगवान् हैं उनसे पृथक् होते ही सर्वांग दुःखसे व्याप्त हो जाता है। पूर्णसे अपूर्णका यह वियोग है—संसारका सारा दुःख विरहदुःख है। संसारका प्रत्येक दुखी प्राणी विरही है, चाहे उसके दुःखका कोई भी प्रकार हो। प्रत्येक दुःख भगवान्का विरह है।

आत्मविस्मृतिके जीवनमें कुछ समयके लिये जो सुख मिलता है जिससे कभी-कभी मनुष्य उद्धत और उन्मत्त भी हो जाते हैं वह तो दुःखका बड़ा ही भयङ्कर स्वरूप है। उससे अच्छा हाल उन लोगोंका है जो बेचारे दुखी हैं, क्योंकि वे उन्मत्त नहीं हैं और संसारको दुःखमय ही मानकर संसारस्वामीकी कुछ सुध लेते हैं। पर इनसे भी अच्छे शायद वे लोग हैं जो संसारके दुःखमात्रको भगवान्के विरहका दुःख मानते हैं, क्योंकि सच्ची बात यही है कि संसारमें जो दुःख है वह भगवान्का विरह ही है। विरही सदा अपने प्रियतमका चिन्तन करता रहता है और चिन्तन ही अपूर्णके पूर्णसे मिलनका मार्ग है।

यह दुःखमय संसार अपने दुःखसे यही सूचित करता है कि वह आनन्दमय भगवान्की ओर जा रहा है और यही कारण है कि यह विश्वजननी अपने उन्हीं सुपुत्रोंको धन्य मानती है जो इस संसारमें उत्पन्न होकर भगवत्साक्षात्कार करके इस संसारका दुःख हरते हैं और इसीलिये ऐसे महात्मा **'सर्वभूतहिते रताः'** कहाते हैं। भूतमात्रका कल्याण यही है कि भगवान्से जो उसका वियोग हो गया है सो फिर भगवान्से योग हो जाय। संसारका सबसे बड़ा कल्याण यही है। जो लोग देशसेवा या संसारसेवा करना चाहते हों वे भगवान्से योग करके सबके वियोग-दुःखको दूर करनेका परम्परासे सिद्ध, मुनि-महात्माओंका जो योग चला आया है उसमें युक्त हों। अन्य सब उद्योग, जिनमें अपने स्वरूपकी पहचान नहीं और इस कारण संसारके रूपकी भी पहचान नहीं, केवल दुःखके ही साधन हैं।

संसार भगवान्का कर्म है। कर्म नाम ही संसारका है। कर्म कहते हैं विसर्गको अर्थात् सृष्टि रचनेको—अपना सङ्कल्प मूर्तिमान् करनेको और उस मूर्तिमें आत्मस्वरूप डालनेको। मूर्ति कर्म है और उस मूर्तिको चैतन्य करना उस कर्मकी परिसमाप्ति है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

यह परिसमाप्ति यही है कि श्रीभगवान्‌के सङ्कल्पसे जो चैतन्यांश निकलकर कामवशात् अहंभावसे बद्ध होकर मूर्तिमान् हुआ वह अपने अंशरूपको जानकर अपने पूर्णरूपके साथ योगयुक्त हो। इस प्रकार यह संसाररूप कर्म—व्यष्टिशः और समष्टिशः—भगवत्सङ्कल्पका मूर्तिमान् रूप है और इसकी परिसमाप्ति श्रीभगवान्‌के साथ इसका योग है। यह योग समस्त विश्वब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर उसको घेरे हुए है। श्रीभगवान्‌की निजसत्तामें तो नित्ययोग है ही, किसी समय भी वियोग नहीं; पर कर्मसत्तामें आत्मविस्मृतिसे जो वियोग हुआ है उसीसे संसार आनन्दमय होकर भी दुःखमय प्रतीत हो रहा है—नित्ययोगके भीतर ही यह विरह-दुःख है। संसारके प्राणिमात्रका दुःख इसी दुःखका अंश है। आत्मविस्मृतिके नष्ट होते ही संसार भगवान्‌से नित्ययुक्त है ही।

आत्मविस्मृतिकी अवस्थामें संसार दुःखमय है। आत्मस्मृति (कल्पना नहीं)-के होते ही संसार आनन्दमय है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के साथ संसारका नित्ययोग प्रकट हो गया। इसी योगके लिये नानाविध भावोंसे संसार तरस रहा है।

योगकी शक्ति

(लेखक—श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती एम्० ए० काव्यतीर्थ)

भारतवर्षके धर्मसम्प्रदायमात्रमें योगका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्यको आध्यात्मिक उन्नतिका पूर्ण अधिकारी बनानेके लिये योगसाधना आवश्यक है; क्योंकि इससे उसका मन उन्नत होता है, शरीर भी स्वस्थ होता है और तब वह अध्यात्ममार्गपर आगे बढ़नेके योग्य होता है। योगकी क्रियाएँ किसी-न-किसी रूपमें बहुत प्राचीनकालसे संसारकी अनेक जातियोंमें प्रचलित देखनेमें आती हैं। पर इनका सुव्यवस्थित रूप केवल भारतकी ही भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक पद्धतियोंमें दिखायी देता है। ये साम्प्रदायिक पद्धतियाँ ब्योरेकी बातोंमें अवश्य ही भिन्न-भिन्न हैं, पर मुख्य बातोंमें प्रायः एक हैं।

इन्हीं योगक्रियाओंके फलस्वरूप अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। पातञ्जलयोगसूत्रोंमें यह लिखा है कि योगकी मूल आरम्भिक बातोंका भी यदि बिल्कुल ठीक तरहसे पालन किया जाय तो ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं कि अनजान मनुष्यको इनके प्राप्त होनेमें सहसा विश्वास ही नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, यदि अपने अन्तःकरणसे स्तेयवृत्ति बिल्कुल निकाल दी जाय तो यह कहा है कि सब प्रकारका वैभव अपने-आप प्राप्त हो जाता है।[1] अहिंसाको जो स्थापित कर दे उसके सामने कोई भी प्राणी वैर-भावका कोई काम ही नहीं कर सकता।[2] योगीके विषयमें ऐसा विश्वास है कि वह चाहे जो कर सकता है। वह अष्ट महासिद्धियोंका स्वामी बन सकता है। वह चाहे जितना छोटा या सूक्ष्म और चाहे जितना बड़ा या स्थूल बन सकता है।

योगियोंके विषयमें कभी-कभी बड़ी अद्भुत बातें सुननेमें आती हैं। उदाहरणार्थ, श्रीमत् शङ्कराचार्यने परकाय-प्रवेश किया था। ऐसी-ऐसी शक्तियोंका होना असम्भव कहकर हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते, जब कि हम यह देखते हैं कि आजकल भी ऐसे लोग हैं जो योगक्रियाओंके बलसे बड़े अद्भुत काम कर दिखाते हैं। योगसाधनके कौशलसे ही ये लोग ऐसे-ऐसे अतिमानुष काम कर दिखाते हैं जैसे तीक्ष्ण तेजाबको पी जाना, मोटी मजबूत लोहेकी जञ्जीरसे अपने-आपको बँधवाकर फिर उसे तोड़ डालना, आसनसहित अधरमें उठना, आकाशमें स्थिर रहना या

१. अस्तेयप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ सर्वरत्नोपस्थितिः।
अर्थात् अस्तेयको स्थापित कर देनेसे साधकके समीप सब प्रकारके वैभवोंकी उपस्थिति होती है।

२. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ सर्ववैरत्यागः।
'अपने अन्तःकरणमें अहिंसाको स्थापित करनेसे उसके समीप सब प्राणी अपना वैरभाव—हिंसाभाव त्याग देते हैं।'

जमीनमें गड़कर भी जीवित रहना इत्यादि। अवश्य ही ऐसी चमत्कृतिजनक शक्तियोंको प्राप्त करना योगका लक्ष्य नहीं है, क्योंकि योगका लक्ष्य तो आध्यात्मिक उन्नति ही है—और कुछ नहीं।

हाँ, ऐसे चमत्कार दिखाना अविश्वासियोंको भय या विश्वास दिलानेके लिये कभी-कभी आवश्यक होता है। बंगालके राजा गोविन्दचन्द्रकी कथा है कि उनकी माता मयनामतीको अपने पुत्रको तथा राज्यकी प्रजाको योगमार्गपर लानेके लिये अपने गुरुसे प्रार्थना करनी पड़ी थी कि यहाँ अलौकिक शक्तिका प्रयोग किया जाय जिसमें राजाको यह विश्वास हो जाय कि योगमें कितना बल है और उसमें श्रद्धा और भक्ति आ जाय। मयनामतीके गुरुका नाम हाडीपा था। वह पञ्चम वर्णके थे, पर महायोगी थे। राजा गोविन्दचन्द्र उन्हें सन्देहकी दृष्टिसे देखता था, यद्यपि राजमाता उनकी शिष्या थीं। मातापर भी उसे अविश्वास हुआ और माताके योगसाधनकी सचाई जाननेके लिये उसने बड़ी क्रूरतासे जाँच की। माताको उबलते हुए तेलमें डाल दिया। अपने कुछ नौकरोंको यह साक्ष्य देनेके लिये तैयार किया कि राजमाता व्यभिचारणी हैं और इन्होंने ही अपने पति (राजा गोविन्दचन्द्रके पिता)-का खून कराया। राजा गोविन्दचन्द्रकी रानियोंने तो अपने पतिको योगी होनेसे बचानेके लिये राजमाताको गुप्त रीतिसे भोजनके साथ जहरतक खिला दिया। राजमाताका शरीर बड़ी क्रूरतासे सड़कोंपरसे घसीटा गया, क्योंकि यह समझा गया कि उनकी मृत्यु हो गयी! पर ये सब जो-जो काण्ड हुए उन सबको राजमाता ऐसे पार कर गयीं जैसे कुछ भी न हुआ हो। यह उनका योगबल था, गुरुकी योगशक्तिका प्रभाव था। अन्तमें राजाने माना, गुरुके और माताके चरणोंपर मस्तक रखा और विरक्त होकर योगकी दीक्षा ली।

नाथ-सम्प्रदायके योगियोंकी अनेक आश्चर्यभरी कथाएँ हैं। ये कथाएँ भारतवर्षकी सब देशी भाषाओंमें लिखी हुई हैं। गोरक्षनाथ, मीननाथ, लुईपाद, कान्हपाद आदि योगियोंकी कथाएँ मध्यकालीन वङ्गीय साहित्यकी खास चीजोंमेंसे हैं। इनमेंसे कुछके ग्रन्थ 'कार्याकार्यविनिश्चय'* (अधिक उपयुक्त नाम 'आश्चर्यकार्याकार्य')-में सुरक्षित हैं। भारतवर्षकी देशी भाषाओंके साहित्योंके ये सबसे प्राचीन नमूने हैं। परन्तु यह बड़े दुःखकी बात है कि इन लोगोंके मतों और दीक्षा-शिक्षाओंको अभीतक लोगोंने ठीक तरहसे नहीं समझा है। कारण यही है कि एक तो योगका विषय है और दूसरे, भाषा भी साङ्केतिक है। अन्य सम्प्रदायोंके योगियों और उनके योगोंकी भी यही बात है। इनको समझना साम्प्रदायिक गुरुपरम्पराके बिना नहीं होता। योगकी साधना भी सिद्ध योगीके तत्त्वावधानमें ही ठीक तरहसे हो सकती है। योगकी कोई क्रिया बिना समझे-बूझे की गयी या उसमें कुछ गलती हो गयी तो बड़े भयङ्कर परिणाम होते हैं, यह तो प्रायः ही देखा जा चुका है। योग्य गुरुओंका तो प्रायः अभाव-सा ही है, पर जो हैं वे भी कम होते जा रहे हैं। फिर भी एक काम तो यह किया जा सकता है कि इस विषयके जितने ग्रन्थ हैं उनका सद्भावयुक्त अध्ययन और सम्यक् पर्यालोचन किया जाय। बहुत-से ग्रन्थ तो अभी हस्तलिखित ही हैं। इनका बहुत शीघ्र संग्रह करके विद्वानोंको यह तो जना ही देना चाहिये कि इन ग्रन्थोंमें क्या-क्या है। यदि इस ढंगसे काम किया जाय तो फिर इन ग्रन्थोंको समझने-समझानेका भी कोई रास्ता निकल सकता है। पर यह बात ध्यानमें रहे कि योगविषयक शिक्षाओंको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि सद्भावसे उनका अध्ययन-आलोचन हो, ऐसी विध्वंस-भावकी आलोचना किस कामकी, जिससे न तो आलोचकको कोई लाभ हो और न यह पता लगे कि उन ग्रन्थोंमें क्या है।

यह अवश्य ही बड़ा शुभ चिह्न है कि आजकल योगके कम-से-कम भौतिक अङ्गके प्रचारका तो कुछ प्रयत्न हो रहा है। योगके प्रतिपादन, प्रचार तथा वैज्ञानिक निदर्शनके लिये निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और 'नियतकालिक' निकल रहे हैं— Fakire and Fakirtum In Alten und Modern Indien

* म० म० हरप्रसाद शास्त्री कृत 'बौद्ध गान ओ दोहा' (बंगीय साहित्यपरिषद्से प्रकाशित) देखिये।

by R. Schmidt (Berlin 1908), Yoga—Personal Hygiene तथा Scientific Yoga Series के अन्य भाग और Pocket Health Series बम्बईके श्रीयोगेन्द्रकृत, Asanas (बम्बई लोनावला—कैवल्य-धामके श्रीकुवलयानन्दकृत), हिन्दू विद्यार्थीभवन लाहौरके श्रीप्रकाशदेवकृत Yoga as the System of Physical Culture and how to defy disease, old age and death, बम्बई-लोनावलाका त्रैमासिक Quarterly Journal of Yoga Mimamsa, Yoga Institute of India का Yoga (योगशास्त्रका सार्वराष्ट्रिक पत्र)।

यह आशा की जाती है कि योगके रोगनिवारक और आरोग्य-बलवर्द्धक स्वरूपका प्रचार होनेसे योगका जो असली अभिप्राय है, अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति, उसकी ओर भी लोगोंका ध्यान जायगा। उपर्युक्त ग्रन्थकारोंमेंसे कुछने इस ओर ध्यान दिलाया भी है। श्रीमत् कुवलयानन्दजीने अपने 'आसन' विषयक ग्रन्थ (पृ० ३५)-में जो बात कही है उसीको दोहराकर हम इस लेखको समाप्त करते हैं—'मानवजातिके लिये योगका एक पूर्ण सन्देश है। मनुष्य-शरीरके लिये एक सन्देश है। एक सन्देश मानव-मनके लिये है और फिर एक सन्देश मानव-आत्माके लिये हैं।'

अनन्ययोग (भक्तियोग)

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने अनन्य भक्त अर्जुनके प्रति मुख्यतया अनन्ययोगका ही उपदेश किया है।

परिभाषा

योगदर्शनके **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** (१।२३), **'यथाभिमतध्यानाद्वा'** (१।३९), **'एकतत्त्वाभ्यासः'** (१।३२) और **'वीतरागविषयं वा चित्तम्'** (१।३७) का समन्वय भी इसी अनन्ययोगमें हो जाता है।

इस अनन्ययोगका मूलोद्देश्य यह है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९।३४)

उपनिषदोंमें और दर्शनशास्त्रके सूत्रग्रन्थोंमें सिद्धान्तकी पुनरावृत्ति करके विषय समाप्त करनेकी जो शैली है, उसीके अनुसार इसी बातको भगवान् अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें पुनः कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

अधिकारी वा साधक

युद्धविजयकांक्षी अर्जुनने रण-निमन्त्रणके अर्थ भगवान् श्रीकृष्णके पादपद्मके समीप बैठकर नारायणी सेनाका परित्याग करके उन्हींको वरण किया, इससे श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका अनन्य प्रेम प्रकट है; और जब वह श्रेयोमार्ग जाननेके लिये शिष्यभावसे रणक्षेत्रमें श्रीकृष्णके शरणागत हुआ,[1] तब उसकी अतुल श्रद्धाका भी परिचय मिलता है।

परन्तु जिस समय गीताके चौथे अध्यायमें भगवान्ने उससे यह कहा कि जब तू तत्त्वज्ञानीजनके निकट जाकर उनको प्रणाम करेगा, उनसे बारंबार पूछेगा और उनकी सेवा करेगा तब वे लोग तुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे,[2] उस समय अनन्य प्रेमी, पूर्ण श्रद्धासम्पन्न वीर पार्थको, जो समरभूमिमें भगवान्के सम्मुख परम अकिञ्चन बनकर श्रेयोमार्गकी जिज्ञासाके लिये निःशस्त्र होकर अत्यन्त आर्तभावसे शरण हुआ था, भगवान्की उक्त बात कुछ भायी नहीं। अतएव वह भगवान्के प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा-भक्ति और दृढ़ विश्वास प्रकट

१. यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ (२।७)
२. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (४।३४)

करनेके लिये परम विनीत भावसे कहने लगा—'आप ही अशेषरूपसे मेरे संशयको दूर कीजिये। आपके सिवा और कोई ऐसा नहीं है, जो मेरे सन्देहका निवारण[१] करे।'

अर्जुन अपने अनन्य प्रेम और अनन्य विश्वासके कारण अनन्ययोग सीखनेका अधिकारी बन गया।

अनन्ययोगीकी महिमा और उसकी संसारमें प्रवृत्ति

अनन्ययोगकी श्रेष्ठता बतलाते हुए भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

'समस्त योगियोंमेंसे, जो श्रद्धालु पुरुष चित्त लगाकर मुझको भजता है, मैं उसे सबसे अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ। तू मुझमें मन लगा, मेरे ही आश्रित रह, इत्यादि।'[२]

इसके उपरान्त पुनः आठवें अध्यायमें कहते हैं—'सदा-सर्वदा मुझमें मन तथा बुद्धि लगाकर, मेरा ध्यान कर और युद्ध कर; निस्सन्देह तू मुझे ही पावेगा।'[३]

यहाँपर यह प्रश्न उठता है कि अनन्ययोगका अनुयायी शास्त्रविहित चारों कर्म[४], जिसे देवता, पितृ, मनुष्यादिकी पूजादिका वर्णन है, किस प्रकार करे। इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् कृष्णने नवें अध्यायमें उपदेश किया है, जो राजविद्या-राजगुह्यके नामसे प्रसिद्ध है।

भगवान् इस राजविद्याकी प्रशंसामें कहते हैं—'विद्याओंमें यह सबसे श्रेष्ठ है, समस्त गोपनीय वस्तुओंमें गोपनीय है, परम पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फल देनेवाली, धर्मयुक्त, सुखसहित अनुष्ठान करनेके योग्य और नाशरहित है। इस धर्म सम्बन्धमें अश्रद्धालु पुरुष मुझे न पाकर आजन्म संसारके मार्गमें भ्रमते रहते हैं।'[५]

अत्यन्त प्रतिभाशाली भगवान्का यह उपदेश, जिससे भक्तोंकी अनन्यता भी बनी रहे और वे लोग सर्वश्रेयो-मार्गानुकूल शास्त्रोक्त कर्म भी करते रहें, नवें अध्यायमें सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है और यही गीताका सार है।

वे महात्मा जो आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मसन्तुष्ट और नित्ययुक्त हैं, उनके लिये तो कोई कार्य है ही नहीं। यथा—

तस्य कार्यं न विद्यते।

युक्तयोगी

इन्हीं युक्त महात्माओंका वर्णन करते हुए नवें अध्यायमें कहा गया है कि ये अनन्ययोगसे अविनाशी परमात्माका ही कीर्तन, पूजन और वन्दन करते रहते हैं। यथा—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

इन तीनों श्लोकोंके रेखाङ्कित पदोंसे पूर्वोद्धृत इस श्लोकका ही सार निकलता है—

---

१. एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ (६। ३९)

२. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६। ४७)
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। (७। १)

३. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ (८। ७)

४. इन चार कर्मोंके लक्षण इस प्रकार हैं—
(१) नित्यकर्म—जिसके न करनेसे पाप होता है, और करनेसे कोई फल नहीं होता।
इस कर्ममें ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देव, अथवा ऋषियज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञका विधान है।
(२) नैमित्तिक—जिसका सदा विधान नहीं, किन्तु जो किसी निमित्तको लेकर किया जाता है।
(३) काम्य—जिसका विधान किसी फलके निमित्त है। इसके दो भेद हैं—(१) जिससे भगवान्‌द्वारा फलकी सिद्धि चाही जाती है और (२) जिससे अन्य देवोंद्वारा सिद्धि चाही जाती है।
(४) प्रायश्चित्त—जिसका विधान पापनाशके लिये है।
नित्यनैमित्तिककाम्यप्रायश्चित्तप्रतिषिद्धभेदाच्चापि पञ्चविधं च भवति, तत्र चत्वारि धर्म्याणि अन्त्यमधर्म्यमिति निश्चयः। (शब्दार्थचिन्तामणिकोश)

५. राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप। अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ (९। २-३)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गीता ९। ३४)

अर्थात् मुझमें चित्त लगा, मेरा भक्त हो, मेरी उपासना कर, मुझको नमस्कार कर, इत्यादि।

अनन्ययोगपथतत्पर युञ्जानयोगी

परन्तु जो नित्ययुक्त नहीं हैं, युञ्जान अवस्था अथवा उससे भी निम्न श्रेणीके अधिकारी हैं, उनके लिये भगवान् श्रीकृष्णने धर्मविहित चारों कर्म करनेका उपदेश नवें अध्यायके सोलहवें श्लोकसे बत्तीसवें श्लोकतक इस प्रकार किया है—

(१) नित्यकर्म

देवकर्म—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

पितृकर्म—

पिताहमस्मि जगतो माता धाता पितामहः।

ऋषियज्ञ—

वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च॥ १७॥

नृयज्ञ—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

भूतयज्ञ*—

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥
(क्षरः सर्वाणि भूतानि)
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनन्ययोगके पथिक भगवान्को ही सब समझकर ये पञ्चमहायज्ञ करें। निर्गुणोपासक ज्ञानी जन '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः**'करके यज्ञ करते हैं, और सगुणोपासक ज्ञानी जन भगवान्की ही भावनासे ये पञ्चयज्ञ करते हैं। ज्ञानी भक्तकी भावना ही यह है— '**वासुदेवः सर्वमिति।**'

(२) निमित्तकर्म

जब वर्षा नहीं होती अथवा अकाल पड़ता है, तब इन्द्रादि देवोंको प्रसन्न करनेके निमित्तिक यज्ञादि कर्म किया जाता है।

भगवान्के अनन्य प्रेमीके लिये इस कर्मके करनेकी विधि यह जानना ही है कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं। यथा—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च॥ १९॥

अर्थात् मैं सूर्यरूपसे तपता हूँ, मैं वर्षा बन्द करता हूँ और उत्पन्न करता हूँ।

अतएव वह उन्हींकी प्रसन्नताके लिये निमित्तकर्म करता है।

(३) काम्य कर्म

(१) भगवान्से चाहना—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(२०-२१)

परन्तु अपने अनन्य प्रेमियोंके लिये भगवान् ऐसे कर्मका निषेध करते हुए कहते हैं कि मैं अपने अनन्य भक्तोंको बिना माँगे स्वयं सब कुछ देता हूँ, और उनकी रक्षा करता हूँ। यथा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

(२) अन्य देवोंसे प्रार्थना—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

वेदोंमें स्वर्गादि भोगैश्वर्यप्राप्त्यर्थ जिन यज्ञोंका विधान है, उनके सम्पादनके निमित्त विशेष वित्तकी आवश्यकता होती है; परन्तु भगवन्निमित्त यज्ञानुष्ठानमें अर्थकी आवश्यकता

* भूतानां भवनधर्माणां सर्वेषां स्थावरजङ्गमानां भावमुत्पत्तिमुद्भवं वृद्धिश्च करोति यो विसर्गस्त्यागः तत्तच्छास्त्रविहितो यागदानहोमात्मकः स इह कर्मसंज्ञितः। (शब्दार्थचिन्तामणिकोश)

ही नहीं पड़ती। दीनबन्धु भगवान्ने अपने प्यारे दीन भक्तोंकी सुलभताके लिये ऐसे सरल साधनका आदेश किया है जिसको परम अकिञ्चन भी कर सकता है। यथा—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

प्रायश्चित्तकर्म

प्रायश्चित्त नामक चतुर्थ कर्मके करनेके लिये अति कष्टसाध्य चान्द्रायणादि व्रतोंकी व्यवस्था है, और अनेक तपोंका विधान है। परन्तु अनन्य भक्तोंके लिये भगवान्ने जो अति सरल साधन बतलाया है, वह सद्यःफलप्रद है, और इन कठिन साधनोंसे नितान्त भिन्न है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

इन सब वेदविहित कर्मोंके करनेमें वर्णव्यवस्थाके कारण विषमता भी है[1] और स्त्री तथा शूद्रके लिये निषेधात्मक वचन भी हैं। इन धर्मग्रन्थोंमें यह कहा गया है कि अमुक यज्ञ क्षत्रिय करे और अमुक यज्ञ वैश्य करे। इसके अतिरिक्त अकेली स्त्री और शूद्रके लिये यज्ञ करनेका अधिकार नहीं बतलाया गया है।[2] परन्तु समदर्शी भगवान्ने किसीके भी लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, और न उन्होंने किसीको अपने अनन्ययोगके सम्पादनसे वञ्चित रखा है। वे कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

फलस्तुति

इस अनन्ययोगकी फलस्तुति इस प्रकार है—

युक्तयोगी

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(गीता ८। १४-१५)

युञ्जानयोगी

जिसका हृदय प्रेमपरिपूर्ण है और जो भगवान्के सगुण रूपके दर्शनार्थ लालायित है, उस अनन्य प्रेमीको दर्शन देकर भगवान् उसके योगक्षेमवाली बात पूरी करते हैं। यथा—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता ८। २२)

योग

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

क्षेम

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

(गीता १२। ६)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

यही 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की बात अनन्य प्रेमियोंको सुलभ है। जो लोग परानिष्ठा—ज्ञानरसमें ही निमग्न हैं, उनके लिये भी भगवान् अनन्ययोग अनिवार्य बताते हैं। यथा—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

(गीता १३। १०)

माहात्म्य

प्रेमाभक्ति, पराभक्ति और परा ज्ञाननिष्ठा ये सब अनन्य योगकी ही भित्तिपर स्थित हैं।

भगवान् सबको समान दृष्टिसे देखते हैं; उनके विशाल हृदयमें ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, राजा-रङ्क और स्त्री-पुरुषका कोई भेदभाव नहीं है। उनका प्रिय और द्वेषी कोई नहीं है। जो भक्तिभावसे उनका भजन करता है वह उनको प्राप्त करता है और वे उसमें निवास करते हैं। यथा—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

ऐसे समदर्शी भगवान्के अनन्ययोगमार्गमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष बिना किसी प्रतिबन्धके प्रविष्ट हो सकता है। और इस पथका पथिक योगयुक्त पुरुष भी सब

१. वेदान्तदर्शनके १। ३। ३४—३८ सूत्रोंपर शाङ्करभाष्य देखिये।
२. शूद्रोंके लिये यह एक विशेष वचन है, सामान्य नहीं—'निषाद स्थपतिं याजयेत्।'

जगह सबको समदृष्टिसे ही देखता है। यथा—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

यही अनन्ययोगका अनन्यमाहात्म्य है।

यह अनन्ययोग विषमतारहित होनेसे राजविद्या है। जिस तरह राजा प्रजाको विषमदृष्टिसे नहीं देखता, उसी तरह यह राजविद्या भी समस्त वर्णोंके लिये समरूपसे सुलभ है। यह राजगुह्य इस कारण है कि यह केवल भक्तोंके ही लिये कही गयी है। यथा—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(गीता १८। ६८)

इससे दुराचारी भी धर्मात्मा बन जाता है, एतदर्थ परम पवित्र है। साकार उपासनासे '**प्रत्यक्षावगमम्**' है। और इसमें सब धर्मोंका निर्वाह है, इसलिये '**धर्म्यम्**' है। सगुण उपासना होनेसे '**सुसुखं कर्तुम्**' है। क्योंकि अव्यक्त उपासनासे अधिकतर क्लेश होता है। यथा—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

(गीता १२। ५)

और भगवान्‌के '**न मे भक्तः प्रणश्यति**'—वचनके अनुसार इस अनन्ययोगसे भक्तोंका नाश नहीं होता। इसीलिये यह अव्यय है।

इसीलिये भगवान्‌ने इस अनन्ययोगकी यह प्रशंसा की है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

सांख्ययोग

(लेखक—प्रो० श्रीलौटूसिंहजी गौतम एम्० ए०, एल० टी०, काव्यतीर्थ, एम० आर० ए० एस०)

संसारमें ऐहिक तथा पारलौकिक सफलताके लिये 'योग' की नितान्त आवश्यकता है। जबतक मनुष्य सच्चा योगी नहीं बनता तबतक उसे अपनी इन्द्रियोंके सदुपयोग करनेकी युक्ति नहीं मालूम होती। और जबतक इन्द्रियाँ ठीक-ठीक उपयुक्त नहीं होतीं तबतक हमें अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त होता। सारे जीवनका प्रधान उद्देश्य है शरीरका ठीक-ठीक संयमन कर उसे उपयोगी बनाना। यह तभी हो सकता है जब हमारी चित्त-वृत्तियोंका उचित निरोधकर उन्हें सन्मार्गमें लगाया जाय। महर्षि पतञ्जलिने योगकी छोटी किन्तु पूर्ण परिभाषा भी की है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' अर्थात् योग है चित्तकी वृत्तियोंका रोकना। लोकमान्य तिलकजीने '**योगः कर्मसु कौशलम्**' अर्थात् कार्य करनेकी पटुताको ही योग माना है। तात्पर्य यह है कि 'योग' की परमावश्यकता सर्वमान्य है।

चित्तकी वृत्तियोंको रोके बिना मनुष्य कुछ कर भी नहीं सकता। उसे सफलताका रहस्य मालूम ही नहीं हो सकता। भारतीय इतिहासकी तो बात ही क्या, यूरोपीय इतिहासमें भी संसारप्रसिद्ध वीर अलक्षेन्द्र, जूलियस सीज़र, नेपोलियन प्रभृतिने एक प्रकारके 'योग' ही द्वारा इतनी सफलता प्राप्त की। योगके बिना कभी किसीको उचित सफलता न मिली। अपने यहाँके अभी कलके वीरशिरोमणि छत्रपति शिवाजीका भक्तियोग इतिहासप्रेमियोंको ज्ञात है। भारतका इतिहास 'योगियों' के जीवनका अमूल्य रत्नागार है। सारांश यह है कि 'योग' की उपयोगितामें किसीको किसी प्रकारका मतभेद नहीं है। और स्थानोंमें, देशोंमें तथा मत-मतान्तरोंमें 'योग' की कुछ सीढ़ियोंतक ही लोग पहुँच पाये। किन्तु भारतकी पवित्र भूमिमें हमारे प्रातःस्मरणीय पितरोंने 'योग' की अन्तिम कलाद्वारा अपने सच्चे स्वरूपका दर्शन पाया था। धन्य है हमारी पवित्र भारतभूमि! अस्तु।

'योग' की अनेक कक्षाएँ तथा अवस्थाएँ हैं—कर्मयोग, भक्तियोग, लययोग आदि-आदि। अधिकारी

अपनी रुचि और विकासके अनुसार किसी भी योगपर आरूढ़ होकर अपना अभीष्ट प्राप्त करता है। ऐतिहासिक विवेचनद्वारा निश्चय है कि अनेक प्रकारके योगोंमें 'सांख्ययोग' उच्चतम है।

साधारणतया 'सांख्य' का अर्थ होता है कपिलाचार्यद्वारा प्रतिपादित सांख्य-शास्त्र। इसका नाम सांख्य इसलिये पड़ा कि उसमें गिने-गिनाये पचीस तत्त्व माने गये हैं— **'संख्यया कृतमिति सांख्यम्'**, अर्थात् गिनानेवाला शास्त्र। पश्चात् सांख्यशास्त्रका अर्थ बहुत व्यापक हो गया और उसमें प्रत्येक प्रकारके तत्त्वज्ञानका समावेश होने लगा।

जिस समय श्रीभगवद्गीताका उदय होने लगा उस समय ऐतिहासिक अनुसन्धानद्वारा ज्ञात होता है कि सांख्यका खूब प्रचार था। सांख्यशास्त्रके सिद्धान्त ऊँचे तर्कोंपर आश्रित हैं। श्रीगीताके सिद्धान्तोंकी सांख्यशास्त्रसे अनेक अंशोंमें समानता अवश्य है, किन्तु श्रीगीता सांख्योंसे बहुत आगे बढ़ गयी है। इसके विशेष विवेचनका यहाँ स्थान नहीं है। हाँ, इतना अवश्य मानना चाहिये कि एक महेश्वरकी स्थापना गीता-गौरवको बहुत आगे ले जाती है। अस्तु, एक शब्द सांख्यपर भी लिखना आवश्यक है।

वास्तवमें सांख्यशास्त्रके पुरुष-प्रकृतिका वर्णन ऋग्वेदमें है। और इसके पश्चात् सांख्यशास्त्रके मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन उपनिषदोंमें भी मिलता है। ऐतिह्यके अनुसार कपिलाचार्य तथा उनके शिष्य आसुरि तथा आसुरिके शिष्य पञ्चशिखतक पुरुष-प्रकृतिके अनादित्वके साथ-साथ ईश्वरका अध्यारोप था। पञ्चशिखके शिष्य ईश्वरकृष्णने प्रकृति और पुरुषके अनादित्वके साथ ईश्वरकी आवश्यकताका अनुभव नहीं किया तबसे आधुनिक सांख्यशास्त्र निरीश्वरवादी है।

कहनेका आशय यह है कि सांख्यके मौलिक सिद्धान्त वेद और उपनिषदोंके हैं और 'सांख्य' का विशिष्ट अर्थ सांख्यदर्शन बहुत पीछे हुआ। प्रथमतः उसमें 'आत्म-अनात्म-विचारसे सब कर्मोंका संन्यास करके ब्रह्मज्ञानमें निमग्न रहनेवाले वेदान्तियोंका भी समावेश किया गया है।'

उसी अर्थमें हम भी सांख्ययोगका प्रयोग करते हैं और यह परमोच्च योगका स्थान है। इसीको 'ज्ञानयोग' और 'संन्यासयोग' भी कहते हैं। यदि हम वास्तविक सांख्य-सिद्धान्तोंकी मीमांसा करते हैं तो हमें पता चलता है कि उनके भीतर गहरा सत्य वर्तमान है। प्रकृति ही सारा प्रपञ्च रचा करती है और पुरुष सत्यतः निर्लेप रहता है। श्रीगीताने भी इस विषयमें अपनी स्पष्ट सम्मति दी है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।

(१३। २९-३०)

अर्थात् जिसने यह जान लिया कि (सब) कर्म सब प्रकारसे केवल प्रकृतिसे ही किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता, कहना चाहिये कि उसने (सच्चे तत्त्वको) पहचान लिया। जब हम भूतोंका पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकतासे (देखने लगे), और इसी (एकता)-से ही (सब) विस्तार देखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है।

जिस समय प्रकृति लज्जित होकर अपनी मायाका विस्तार बन्द करती है तब पुरुष 'कैवल्य' पद प्राप्त करता है। पुरुषकी इस स्वाभाविक स्थितिको सांख्योंने 'युक्तावस्था' बतलाया है। इसी अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषको 'सांख्ययोगी' या ज्ञानयोगी कहते हैं। लोकमान्य तिलकने इसे विरक्त 'कर्मयोगी' माना है। सांख्यका मुक्त पुरुष ही हमारा 'सांख्ययोगी' है। उसे ही त्रिविध दुःखोंसे छुटकारा मिल गया है। उसीकी मुक्तिका साधन है 'सांख्ययोग'। श्रीगीतामें इसका अच्छा और सुन्दर वर्णन है। सांख्ययोगी संसारमें रहता हुआ, सारे कार्योंको करता हुआ न उसमें लिप्त होता है और न उसे फलाशा है। उसे कार्य करनेका भी सांसारिक ज्ञान नहीं है। उसके सब कार्य यों ही नैसर्गिकभावसे हुआ करते हैं। ईश्वरमें वह अभेद-भक्ति रखता है। श्रीगीताके पाँचवें अध्यायमें उसी सांख्ययोगीका वर्णन आया है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(८-९)

अर्थात् योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुषको समझना चाहिये

कि 'मैं कुछ भी नहीं करता' (और) देखनेमें, सुननेमें, स्पर्श करनेमें, रखनेमें, सूँघनेमें, चलनेमें, सोनेमें, साँस छोड़नेमें, बोलनेमें, विसर्जन करनेमें, लेनेमें, आँखोंके पलक खोलने और बन्द करनेमें भी ऐसी बुद्धि रखकर व्यवहार करे कि (केवल) इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बर्तती हैं।

कर्मयोगी तो कार्यमें कुशल होता है। उसे कार्य करनेका ज्ञान होता है अवश्य, किन्तु वह कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करता है, उसे कर्म या फलमें कोई आसक्ति नहीं है। वह कर्मके फलको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण करता है। इससे भी बढ़कर सांख्ययोगी होता है। वह कर्मयोगीकी सब क्रियाएँ करता है, किन्तु उसे करनेतकका भी कोई अहङ्कार नहीं रहता। यद्यपि श्रीगीताने कर्मयोगी और सांख्ययोगीको दो स्वतन्त्र मार्गोंका अनुयायी बताया है किन्तु स्पष्ट है कि 'सांख्ययोगी' की अवस्था उच्चतर और कठिनतर है।

'सांख्ययोग' मननात्मक साधनसे लभ्य होता है, इसमें बाह्य क्रियाओंका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। जब जीवात्मा शास्त्रीय क्रियाओंद्वारा मल और विक्षेपको दूर कर लेता है तब भी परब्रह्म और उसके बीच एक आवरण रह जाता है। इस आवरणके हटनेका साधन है सांख्ययोग, ज्ञानयोग या संन्यासयोग। जब अधिकारी संन्यासयोगपर आरूढ़ हो जाता है तो जीवात्मा सच्चिदानन्द परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर अलिप्त सांसारिक क्रियाएँ करता रहता है। उस समय उसको अपने सच्चे स्वरूपका साक्षात्कार होता है। उस समय—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

अर्थात् उस आत्मज्योतिके साक्षात्कार होनेपर हृदयकी गाँठ टूट जाती है और सब सन्देहोंका निराकरण हो जाता है और उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसी अवस्थाको हमलोग ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। हमारे जैनी भाई उसे ही 'केवली' या 'कैवल्य' पद मानते हैं। इसीको बौद्ध भाई 'निर्वाण' की संज्ञा देते हैं; ईसाई लोग इस अवस्थातक पहुँचे हुएको Holy Spirit या पवित्र कहते हैं। मुसलमान इसे ही 'पहुँचा हुआ' फकीर मानते हैं। सारांश यह है कि सांख्ययोगकी परमोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लिये यह संसार एक लीलास्थल बन जाता है, मानवी जीवन एक नाटकका रूप धारण कर लेता है और मनुष्य जगकर अपनी वास्तविक स्थितिका अनुभव कर लेता है। सांख्ययोगकी उपलब्धि साधारण कार्य नहीं है, अनेक जन्मोंकी कठिन तपस्या और प्रबल संस्कारके पश्चात् अन्तरात्मामें परमात्माकी झलक देख पड़ती है। सारे मानवजीवनका उद्देश्य यही है कि वह अखण्डानन्द प्राप्त करे और तीनों तरहके पापोंका शमन हो जाय; सांख्ययोगद्वारा इस उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है। सांख्ययोगारूढ़ पुरुष वसुधाका रत्न है; वह मानवजातिको आध्यात्मिक भावनासे सुरक्षित रखता है। सांख्ययोगीके लिये संसारकी विभिन्नताएँ एकतामें परिणत हो जाती हैं। **'वासुदेवः सर्वमिति'** अर्थात् ब्रह्म या महेश्वरके अतिरिक्त इस संसारमें दूसरा पदार्थ है ही नहीं, ऐसा मानता हुआ सांख्ययोगी त्रिगुणात्मक संसारसे परे हो जाता है। सांख्ययोगी अपने स्वरूपका दर्शन कर लेनेपर आनन्दसागरमें विहार करता रहता है। सचमुच सांख्ययोगीकी दशा अनुभवगम्य है, किन्तु वर्णनातीत है। भारत-जैसे धर्मप्राण देशके लिये सांख्ययोगकी परमावश्यकता है। यूरोप तथा अमेरिका आदि कर्म एवं भोग-भूमियोंमें भी सांख्ययोगकी आवश्यकता है। यद्यपि यूरोप, अमेरिका प्रभृति देशोंने बाह्य जगत्‌में आशातीत उन्नति की है इनके उड़नखटोला, बिजली, मरणवायु, बेतार-के-तार आदि आविष्कारोंसे जगत् आश्चर्यचकित है। किन्तु 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग' के अभावके कारण पारस्परिक विद्रोह, हिंसा-प्रतिहिंसाके भावोंसे सारा पश्चिमी देश राक्षसी दशामें तड़फड़ा रहा है। न तो उन्हें सच्चा सुख है और न सच्चा ज्ञान; न तो वहाँ है 'कर्मयोग' और न 'सांख्ययोग'। वहाँ है दम्भयुत कार्य। उसका सद्यः फल है पारस्परिक कलह आदि। उन लोगोंने बाहरी जगत्‌में बड़ी ही उन्नति की है। अब आवश्यकता है आन्तरिक उन्नतिकी। क्या हम विश्वास करें कि सच्चे भक्त और कर्मयोगी 'ज्ञानयज्ञ' द्वारा जड़वादग्रस्त संसारको प्रकाशमें लानेका सराहनीय प्रयत्न करेंगे?
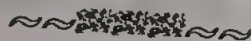
सांख्ययोग

(लेखक—पं० श्रीछज्जूरामजी शास्त्री विद्यासागर)

सांख्य और योग दोनों समान तन्त्र हैं। लिखा भी है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

अर्थात् 'सांख्य तथा योगको दो जानना अविवेक है, पाण्डित्य नहीं।' इसी तरह गौतमप्रवर्तित न्याय और कणादप्रवर्तित वैशेषिक समान तन्त्र हैं। क्योंकि न्याय एक प्रकारसे वैशेषिककी विस्तृत व्याख्या है। अतएव वैशेषिकदर्शनके भाष्यकार प्रशस्तपादापरनामा गौतम ही माने जाते हैं। इसी प्रकार जैमिनिप्रवर्तित पूर्वमीमांसा और व्यासप्रवर्तित उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) दोनों समान तन्त्र हैं। जैसा कि लिखा भी है—

जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ॥

अर्थात् पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें परस्पर कोई विरोध नहीं है। क्योंकि दोनों ही आचार्य गुरु-शिष्य होनेके साथ ही वेदके पारङ्गत विद्वान् थे। अस्तु। सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक महामुनि कपिल आदि विद्वान् माने जाते हैं। उनके ज्ञानोपदेशसे ही सर्वत्र ज्ञानप्रसार हुआ। उनका बनाया हुआ सांख्यदर्शन जगत्प्रसिद्ध है। परन्तु कुछ विद्वान् सांख्यदर्शनको विज्ञानभिक्षुकृत मानते हैं। और कहते हैं कि यदि वर्तमान सांख्यदर्शन कपिलकृत होता तो पूर्वमीमांसा-भाष्यकार शबरस्वामी और वेदान्त-भाष्यकार शङ्कराचार्य अपने भाष्योंमें इन सांख्यसूत्रोंको अवश्य उद्धृत करते, पर ऐसा न करके उन्होंने ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिकाको ही यत्र-तत्र उद्धृत किया है। षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पति मिश्रने भी सांख्यकारिकाओंकी टीका—तत्त्वकौमुदी लिखी है, जिससे सिद्ध होता है कि वर्तमान सांख्यदर्शन कपिलप्रणीत नहीं है। पर दृढ़ प्रमाणाभावसे ये सब युक्तियाँ कल्पितमात्र हैं, क्योंकि विज्ञानभिक्षुने अपने प्रवचनभाष्यमें उपर्युक्त सांख्य-सूत्रोंके पाठान्तर भी दिये हैं। जिससे सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान सांख्यदर्शन कपिलप्रणीत ही है। अस्तु। सांख्यशास्त्रमें पचीस तत्त्व माने हैं, जिनके यथावत् ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है। जैसे कि गौडपादभाष्यमें लिखा है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

अर्थ स्पष्ट है। योगदर्शनके प्रणेता महर्षि पतञ्जलि हैं, जो पुष्यमित्रकालीन व्याकरणभाष्यकार गोनर्ददेशीय पतञ्जलिसे भिन्न तथा बहुत प्राचीन हैं। यह बात योगदर्शनके व्यासभाष्यसे ही स्पष्ट है। यद्यपि भगवान् व्यास अजरामर हैं तथापि कलिके छः सौ वर्ष व्यतीत हो जानेके बाद आप अदृश्य हो गये थे। भगवान् व्यासने महर्षि पतञ्जलिके विषयमें यों लिखा है—

यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधानुग्रहाय

अर्थात् भगवान् पतञ्जलि लोककल्याणार्थ अपने वास्तविक (शेष) रूपको छोड़कर अनेक रूप धारण कर लेते हैं।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

—इस पद्यके द्वारा कुछ विद्वान् योगदर्शन, व्याकरणमहाभाष्य और चरकसंहिता, इन तीनोंका कर्ता एक ही पतञ्जलिको मानते हैं। परन्तु जान पड़ता है कि इस पद्यके लेखकको यह भ्रम नामैक्यसे हुआ है। व्यासप्रणीत योगभाष्यके अनन्तर योगदर्शनपर बीसियों टीका-टिप्पणियाँ अबतक रची जा चुकी हैं। पर इन सबमें विक्रमीय एकादशशतक-मध्यवर्ती धारानरेश भोजराजकृत 'राजमार्तण्ड' और विक्रमीय षोडशशतक-कालीन विज्ञानभिक्षुकृत 'योगवार्तिक' तथा विज्ञान-भिक्षुशिष्य भावागणेशकृत 'योगसूत्रवृत्ति' अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ बने हैं। अस्तु। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, समाधि, इनके द्वारा अतिविकृत, मलिन तथा चञ्चल चित्तको सब विषयोंसे हटाकर ईश्वर-ध्यानमें मग्न करना योगका लक्षण है। जैसा कि लिखा भी है—

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात्स्वभावतः।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥

आत्मासे यहाँ मनका ग्रहण है। अन्य अर्थ स्पष्ट है। योगाभ्यास करनेके लिये वन, गुहा आदिमें जाना आवश्यक है, जैसा कि न्यायदर्शनमें लिखा है—'**अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासः**'(४।२।४०)। '**छज्जूरामवृत्तिः**'—

गृहं परित्यज्य योगाभ्याससम्पादनार्थमरण्यादिषु गन्तव्यम्, गृहे विषयासक्त्या चित्तस्थैर्यासम्भवात्। तथा च भगवद्गीता—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।

अर्थ स्पष्ट है। मुक्तावलीकारने योगी दो प्रकारके माने हैं—युक्त और युञ्जान। युक्तयोगीको बिना ही ध्यानके सदा स्थूल-सूक्ष्म, अव्यवहित-विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान रहता है; युञ्जानको ध्यान धरनेसे। क्लेश-कर्म-विपाक-आशयसे रहित पुरुषको योगमें ईश्वर माना है। अविद्यादि क्लेश हैं। शुभ और अशुभ कर्म हैं। उनका भोग विपाक है। तदनुकूल आशय वासना है। ये सब मनमें रहते हुए भी पुरुषमें माने जाते हैं, क्योंकि वह उन सबके फलका भोक्ता है। जो भोगसे मुक्त है वही ईश्वर है। और वह ईश्वर सर्वोच्च तथा सर्वज्ञ है। उसका ध्यान धरनेसे, जप करनेसे और योगाभ्याससे निर्विघ्नतापूर्वक योगप्राप्ति हो जाती है। जैसा कि लिखा भी है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

अर्थ स्पष्ट है। तदनन्तर वह योगी '**दासोऽहं सोऽहम्**' की तरह पूर्ण परमात्मा ही बन जाता है। क्योंकि योगसे आत्मज्ञान प्राप्त करना ही परम धर्म है। यथा—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

दोनोंका भेदाघटितत्व-प्रकार यह है।

यथाग्निरग्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत्।
तथात्मा साम्यमभ्येत योगिनः परमात्मना॥

और यही परम पुरुषार्थ है। यथा—

एतावदरे खल्वमृतत्वं परमपुरुषार्थत्वं च।

यही बात एक महात्माने भी स्पष्ट की है—

पढ़ना लिखना चातुरी सब गुड़ियनको खेल।
सच्ची मिल गई पिहरसे दई ताकमें मेल॥

नामसङ्कीर्तनयोग*

(लेखक—श्रीश्रीधर विनायक माण्डवगणेश)

मनीं ईश्वराचे चरण। सर्वभावें त्यास शरण।
योजे ऐसे अन्तःकरण। योग म्हणावे त्याला॥

(यथार्थदीपिका)

'मनमें ईश्वरके चरण हों, सब प्रकारसे चित्त उन्हींके शरण हो, ऐसा अन्तःकरण हो जाय, इसीका नाम योग है।'

योगाभ्यासकी जो आवश्यकता होती है वह मनोनाश करके चित्तको ऐसा बना लेनेके लिये होती है। जिस योगके अभ्याससे यह काम बनता है उसे राजयोग कहते हैं। राजयोग जिस क्रमसे प्राप्त होता है उसमें तीन 'क्रमभूमिकाएँ' हैं जिन्हें हठ, लय और मन्त्रयोग कहते हैं। इस क्रमसे चित्त चिन्मय तो हो जाता है, पर इसमें केवल व्यतिरेकज्ञान रहता है अर्थात् उससे जीवन्मुक्त अवस्था नहीं प्राप्त होती। जीवन्मुक्त होनेके

* श्रीश्रीधर विनायक माण्डवगणेशजीके सम्पूर्ण लेखमें हठ, लय, मन्त्र, राज और कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि योगोंके विस्तृत विवरण हैं जो उससे पूर्वके लेखोंमें भी पृथक्-रूपसे आ गये हैं। यह लेख उनके लेखका अंशमात्र है। स्थानाभावसे सम्पूर्ण लेख इस अङ्कमें प्रकाशित नहीं हो सका। इसके लिये लेखक और पाठक क्षमा करें। —सम्पादक

लिये अन्वयज्ञान आवश्यक होता है।

यावन्नानात्मधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥

(श्रीमद्भागवत)

'जबतक पुरुषकी नानात्मधी युक्तियोंसे निवृत्त नहीं होती तबतक वह अज्ञ जागता हुआ भी सोता है, जैसे कोई मनुष्य सोते हुए जागता है।' इसके लिये कर्मयोगकी आवश्यकता होती है। '**त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**' के अनुसार 'काम्यत्याग' और तत्पश्चात् 'सर्वकर्मफलत्याग' अर्थात् ईश्वरार्पण-कर्मके योगसे जब साधक त्यक्तकाम संन्यासी हो जाता है तब वह भागवतधर्मका अधिकारी होता है। ईश्वरभक्तिके अतिरिक्त जिसके और कोई भी इच्छी नहीं होती उसके सब कर्म ईश्वरार्पित हो जाते हैं। 'निर्हेतुक, निरहङ्कार होनेमात्रसे ही ब्रह्मार्पण हो जाता है,' जैसा कि रंगनाथ स्वामीने कहा है। इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और ईश्वरभक्ति अङ्कुरित होती है। इसके अनन्तर सङ्कीर्तनमें रुचि होती है और नवविध भक्तियोगसे तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न होकर श्रीगुरुभजनका अधिकार प्राप्त होता है। श्रीगुरुका स्वरूप बतलाते हैं—

शब्दज्ञाने पारंगत। जो ब्रह्मानन्दे सदा डुल्लत।
शिष्य प्रबोधनीं समर्थ। तो मूर्तिमंत स्वरूप माझें॥

(एकनाथी भागवत)

अर्थात् श्रीगुरु, जो शब्दज्ञानमें पारङ्गत हैं और ब्रह्मानन्दमें सदा घूमते रहते हैं और जो शिष्यको प्रबुद्ध करनेमें समर्थ होते हैं, वह भगवान्के ही मूर्तिमान् रूप हैं। ऐसे गुरुकी शरणमें जाकर ज्ञान प्राप्त करना होता है। ग्रन्थोंके अध्ययनसे केवल रुचि होती है। यथार्थ ज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुसे ही प्राप्त होता है।

युगधर्मके अनुसार इस कलियुगमें 'नाम सङ्कीर्तन' ही मुख्य साधन है—

तात्काल जावया देहाभिमान। अखंड माझें नामस्मरण।
गीत नृत्य हरिकीर्तन। सर्व भूतीं समान मद्भाव॥

(एकनाथी भागवत)

'देहाभिमानके शीघ्र छूटनेके लिये भगवान्का अखण्ड नामस्मरण, गीत-नृत्य, हरि-कीर्तन और सब प्राणियोंमें समान भगवद्भाव ही साधन है।'

हरिकीर्तनसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों ही ग्रन्थियोंका भेदन होकर आत्मस्वरूपका बोध होता है। भगवान् वेदव्यासने महाभारत, वेदान्त-सूत्र और अष्टादश पुराण रचे, पर उन्हें उनसे शान्ति नहीं प्राप्त हुई। तब भगवन्नामकीर्तनरत वीणाधारी श्रीनारदसे उन्होंने शान्तिका मार्ग पूछा। देवर्षिने '**अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः**' कहकर भक्तिके सूत्र बताये और ऐसा ग्रन्थ रचनेको कहा जिसमें श्रीहरिका गुण-कीर्तन हो। तब वेदव्यासने वह ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' लिखा। वेदव्यासके पुत्र सिद्ध योगी श्रीशुकाचार्य कहते हैं—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

'सब शास्त्रोंका आलोडन करके बार-बार जो विचार किया उससे यही निष्कर्ष निकला कि सदा नारायणका ही ध्यान करते रहना चाहिये।'

श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'कीर्तनसे काया ब्रह्मभूत हो जाती है और ऐसा महद्भाग्य उदय होता है कि भगवान् भी भक्तके ऋणी हो जाते हैं।'

इसलिये भक्तियोगकी महिमा अन्य सब योगोंसे विलक्षण है। यह योगमार्ग अन्य मार्गोंकी अपेक्षा सुगम होनेके साथ-साथ इसमें पथप्रदर्शक और उद्धारक स्वयं भगवान् हैं। यदि अनन्य भक्ति हो, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है।
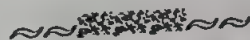
योगनिरूपण

(लेखक—पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री)

जलके बुदबुदेकी तरह विनाशी तथा अनित्य इस संसारमें ऐसा कौन-सा उपाय है जिससे मनुष्यको मनोऽभिलषित सिद्धि अनायास और निश्चयरूपसे शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त हो जाय? विचार करनेपर पता चलता है कि ऐसे केवल दो ही उपाय हैं—या तो मनुष्य कर्मयोग या ज्ञानयोगका अनुसरण करे अथवा ज्ञान-कर्म दोनोंका साथ-साथ अनुसरण करे। भगवान्ने भी स्वयं कहा है कि मैंने मनुष्योंके कल्याणके लिये ज्ञान, कर्म और भक्ति, तीन प्रकारके योग बतलाये हैं। यहाँपर भक्तियोग तीसरा मार्ग मालूम होता है; परन्तु 'भक्तियोग' शब्द करणव्युत्पत्तिसे कर्मयोग और भावव्युत्पत्तिसे ज्ञानयोगको सूचित करता है। अतएव हम इसकी गणना अलग स्वतन्त्र मार्गके रूपमें नहीं करते। इसी तरह मन्त्रयोग भी कर्मयोगसे भिन्न नहीं है।

कर्मयोग दो प्रकारका है—लौकिक तथा शास्त्रीय। लौकिक कर्मयोग यह है कि हवाकी तरह चञ्चल वेगवाले चित्तको दूसरे विषयोंसे खींचकर किसी सरल या कठिन साधनमें लगा दे तथा वहीं उसे सदाके लिये भलीभाँति स्थिर कर दे। इसी कर्मयोगके माहात्म्य या फलस्वरूप हम किसीको संसारमें नीतिचतुर, किसीको वेद-शास्त्रपारङ्गत, किसीको व्याख्या करने या व्याख्यान देनेमें निपुण, किसीको केवल व्यवहारमें चालाक, किसीको परधन और परदारा हरण करनेमें होशियार और किसीको दूसरोंको अपने वशमें करनेमें निपुण पाते हैं। योग ही भूत-भविष्य सभी फलोंका साधक है। यहाँपर कोई यह कह सकता है कि इस तरह 'योग' पदकी व्युत्पत्तिसे किसी भी प्रकारके लौकिक योगमें योगत्व सिद्ध हो जानेपर तो हम चूहों और मृगोंके पकड़नेके लिये सब व्यापार छोड़कर केवल उनके बिलों और माँदोंपर एकाग्रचित्त होकर बैठनेवाली बिल्ली और व्याघ्रादिको, परस्त्री और धन चुरानेके लिये उपाय सोचनेवाले धूर्तप्रवरोंको, लक्ष्य वेधनेके लिये चित्त लगाये हुए धनुर्धारियोंको सूईके महीन छिद्रमें एकाग्रचित्त होकर तागा पोहनेवालोंको भी योगी कह सकते हैं। बात ठीक है, इसमें अयोगी कौन है? परन्तु ऐसा योग तो कीड़े-मकोड़ोंको भी प्राप्त है, इसलिये ज्ञानी लोग इसे योग नहीं कहते।

शास्त्रीय कर्मयोग भी दो तरहका है—निषिद्ध तथा विहित। इनमेंसे किसीका साक्षात् और किसीका परम्परामें अन्तर्भाव होनेके कारण अधिक शङ्काका स्थान नहीं मालूम होता। इनमें पातक, उपपातक और महापातक आदि निषिद्ध हैं, जो प्राणिमात्रको विदित हैं। यदि अनुष्ठेय होनेके कारण किसी प्रकार विहितको योगके अन्तर्गत मान भी लें तो कृतिका अविषय होनेसे निषिद्धको तो कर्मयोग कह ही नहीं सकते। ठीक है; लेकिन निषिद्ध कृतिका अविषय है, यह कौन कहता है? अगर निषिद्धको कृतिका अविषय मान लिया जाय तो प्रायश्चित्तादि सब व्यर्थ हो जायँगे। रम्भाके अङ्गके स्पर्शका प्रायश्चित्त तो कहीं भी कुछ नहीं बतलाया गया है। इतना होनेपर भी यह शास्त्रीय निषिद्ध कर्म योगके अन्तर्गत नहीं आ सकता। क्योंकि यह अनिष्ट फल देनेवाला, लौकिक फल सिद्ध न करनेवाला, तथा आगे कहे जानेवाला योगलक्षणोंसे अलक्ष्य है।

विहित दो प्रकारका है—बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग। जो ज्ञानका परम्परया सहायक होता है वह बहिरङ्ग है। और जो साक्षात् सहायक होता है वह अन्तरङ्ग है। इनमें बहिरङ्गके तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य, जिनका अवलम्बन कर पूर्वमीमांसा-सूत्र, भाष्य तथा वार्तिक इत्यादि ग्रन्थरत्न, कात्यायन वगैरह कल्पसूत्र और मन्वादि धर्मशास्त्र आज भी प्रचलित हैं। इनमें नित्य वह है, जिसे नहीं करनेसे पाप होता है; जैसे ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके लिये पञ्चमहायज्ञ आदिका विधान। नैमित्तिक वह है जिसके नहीं करनेसे पाप होता है और करनेसे फल मिलता है; जैसे ग्रहण-स्नान आदि। काम्य वह है जिसके नहीं करनेसे पाप नहीं होता और करनेसे फल मिलता है; जैसे ज्योतिष्टोम

आदि। काम्यके भी तीन भेद हैं—(१) इस लोकमें फल देनेवाला—जैसे सूखते हुए धान्योंको जिलानेके लिये कारीरी इत्यादि यज्ञ, जिनकी उपयोगिता केवल इसी लोकमें है। (२) इस लोक और परलोक दोनोंमें फल देनेवाला—जैसे धर्म्य विवाहादि इस लोकमें पालन-पोषण इत्यादि प्रत्यक्ष फल देनेवाले तथा परलोक और अनन्त लोककी प्राप्ति करा देनेवाले होते हैं। (३) केवल परलोकमें फल देनेवाला—जैसे ज्योतिष्टोमादि यज्ञ केवल परलोकमें फल देते हैं, क्योंकि स्वर्गादि फलोंको इस देहसे नहीं भोग सकते। अब यदि यह कहा जाय कि निश्चित, आत्यन्तिक अनेक प्रकारके सुखोंसे सम्मिलित, अविनश्वर तथा सर्वोपरि श्रेष्ठ फलकी साधकता इस शास्त्रीय योगमें युक्तियुक्त है; तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति-स्मृति तथा शिष्टानुशासनसे इसका विरोध है। कहा है—'कर्मसे मिला हुआ लोक नष्ट हो जाता है', इसी तरह 'परलोकमें पुण्यसे मिला हुआ लोक नष्ट हो जाता है'। 'ऋषियोंको भी कर्मसे मृत्यु प्राप्त हुई।' इन सब श्रुतियोंसे, तथा 'पुण्य क्षीण हो जानेपर फिर मर्त्यलोकमें जाते हैं'— इस स्मृतिसे तथा 'वैदिक कर्म भी दृष्टकी तरह मालिन्य तथा क्षयसे युक्त है'—इस अनुशासनसे निश्चित है कि शास्त्रीय योग कहे हुए योगके फलोंसे विपरीत फल देनेवाला है। इसीमें मन्त्रयोग भी है। अतएव यह भी योगमें नहीं आता।

अन्तरंगके श्रवण और मनन, ये दो भेद हैं। साक्षात् या परम्परा या परमात्मामें तात्पर्यके निश्चयानुकूल यत्नविशेषको श्रवण कहते हैं तथा शब्दोंसे निश्चित किये हुए अर्थोंमेंसे विपरीत शङ्काके हटानेवाले यत्नविशेषको मनन कहते हैं, जिसे तर्क, ऊह कहते हैं। **'आत्मा वारे द्रष्टव्यः'** इत्यादि श्रुतियोंसे ये दोनों निदिध्यासनसे भिन्न मालूम होते हैं। इसलिये ये दोनों भी अन्तरंग योगरूपताको नहीं पाते हैं। ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि सामान्यतः कर्मयोगकी गणना योगके भीतर नहीं है।

ज्ञानयोग समाधिरूप है, जो **'आत्मा वारे द्रष्टव्यः'** इत्यादि श्रुतिमें 'निदिध्यासन' शब्दसे कहा जाता है। 'ज्ञानयोग' पदसे समाधिका लाभ होना कठिन नहीं है। ज्ञानके लिये तत्त्वोंका साक्षात्कार और तत्त्व-साक्षात्कारके लिये जो 'योग' शब्दकी व्युत्पत्ति की जाती है, उससे समाधिरूप अर्थकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये भगवान् याज्ञवल्क्यने योगको ज्ञानका साधन कहा है; यथा— **'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'**। अर्थात् यह योग उत्तम धर्म है, जिससे आत्माका साक्षात्कार होता है। श्रुति भी है— **'ते ध्यान०'** इत्यादि। 'अर्थात् उन देवताओंने भी जब ध्यानयोग किया तब उन्होंने अपने गुणोंसे छिपी हुई अपनी शक्तिको देखा'। और मुख्य शक्तिसे तो यही योग कहलाता है।

कोई-कोई करण-व्युत्पत्तिसे हठयोगमें 'योग' शब्दका प्रयोग करते हैं। परन्तु हठयोग केवल दैहिक धातुमलको हटाकर कुण्डलिनीसंशोधनद्वारा राजयोगमें ही सहायक होता है। स्वात्माराम योगीने भी कहा है कि केवल राजयोगके लिये ही हठयोगका उपदेश है। इसी तरह दूसरी जगह भी 'योग' पदकी गतिको समझना चाहिये। **'राजदन्तादिषु परम्'**—पाणिनिके इस सूत्रबलसे 'राजयोग' में 'राज' शब्दके बाद 'योग' शब्द रखा गया है। इस योगसिद्धिके अधीन परमपदकी प्राप्तिरूप जो पुरुषार्थ है, उसके साधक योगकी योग्यताकी सिद्धिके लिये इतिहास-पुराणोंमें ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंका वर्णन किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रममें वेदाध्ययन, गृहस्थाश्रममें शास्त्रविहित अनेकानेक धर्म-कर्माचरण एवं वानप्रस्थाश्रममें पापपुञ्जके नाशक कर्म करनेवालेका जब संन्यास— चतुर्थाश्रममें आशा-तृष्णादि मल हट (नष्ट हो) जाता है, तब योगसिद्धिसे परमपदप्राप्तिरूप कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है। इसी बातको याज्ञवल्क्यने कहा है— 'तत्त्वोंकी स्मृतिसे, उपस्थानसे, सत्त्वयोगसे, कर्मोंके परिक्षयसे और सत्कर्मोंके करनेसे सज्जनोंका योग अनायास सिद्ध हो जाता है।' इसी बातको योगी आत्मारामने भी बतलाया है। उनका कहना है— 'उत्साह, साहस, धैर्य, तत्त्वज्ञान, निश्चय (पदार्थोंका) और जनसमूह (संग)-का परित्याग-(एकान्तवास)— इन छःसे योगकी अनायास सिद्धि हो जाती है।' परन्तु इन सब बातोंसे तो यही प्रतीत होता है कि चतुर्थाश्रममें ही योगाभ्यास करना चाहिये। परन्तु ऐसी बात नहीं।

क्योंकि जिस किसी समय, जिस किसी अवस्थामें, जहाँ कहीं, पवित्र, व्याघ्रादिके भयसे शून्य तथा एकान्तदेशमें उत्साही नियमोंपर दृढ़ रहकर योगाभ्यास किया जा सकता है, इसमें कोई रुकावट नहीं। उन्होंने ही कहा है—कोई चाहे जवान, बूढ़ा, बिलकुल बूढ़ा, रोगी और दुर्बल भी क्यों न हो, यदि वह निरालस्य होकर अभ्यास करे तो योगसिद्धि प्राप्त कर सकता है। कर्म करनेवालेको ही सिद्धि प्राप्त होती है, निष्क्रियको नहीं। केवल शास्त्रके पढ़नेसे ही सिद्धि नहीं होती और न सिद्धिका वेष जटादि धारण करनेसे या सिद्धि-सिद्धि चिल्लानेसे होती है। सिद्धिका कारण क्रिया ही है। इसमें किसी तरहका सन्देह नहीं।

वह योग समाधिरूप है और अभ्यास तथा वैराग्यसे होता है। समाधिके दो भेद हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, और वह चित्तवृत्तिनिरोधरूप ही है। महर्षि पतञ्जलिने भी अपने सूत्रमें कहा है—'चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है,' 'चित्तको अभ्यास और वैराग्यसे रोका जाता है।' वितर्क, विचार, आनन्द तथा अनस्मिता (अनहंकार) के अनुगम (ज्ञान)-से सम्प्रज्ञात और विराम (वितर्कादि चिन्ताका परित्याग) प्रत्ययका (उसका बार-बार अभ्यास) अभ्यास (अर्थात् जो वृत्तियाँ उठें, उन्हें नहीं-नहीं कहकर निरन्तर हटाना) कहनेपर जो संस्कार शेष रह जाता है, वही असम्प्रज्ञात है। यदि चित्तवृत्तिके रोकनेको ही योग कहा जाय तो सुषुप्ति, मूर्च्छा और प्रलयमें भी चित्तवृत्तिका निरोध अनिवार्य है और इसलिये वहाँ भी योगका लक्षण चला जायगा, अर्थात् उसे भी योग कह सकते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वहाँपर अभ्यास और वैराग्यसे निरोध नहीं होता। अभ्यास-वैराग्य वहाँ नियमतः नहीं रहते। ऐसी हालतमें तो सम्प्रज्ञातसमाधिको भी योग नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ ध्येयका अवलम्बन करनेवाली चित्तवृत्तिका निरोध नहीं होता—यदि ऐसी शङ्का की जाय तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ वैराग्यके ठीक-ठीक हेतु (कारण) कई एक वृत्तियोंका निरोध अवश्य होता है (इसलिये सम्प्रज्ञातको योग कह सकते हैं)।

वास्तवमें सम्प्रज्ञातसमाधिका दूसरा नाम है निर्बीज समाधि; इसलिये असम्प्रज्ञातसमाधिका यह अङ्ग ही है, न कि अङ्गी। योगाङ्गका भेद बतलानेवाले **'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार०'** इस सूत्रमें यम-नियमादिको समाधिका अङ्ग ही बतलाना ठीक है। समाधिके विभाग बतलानेवाले ग्रन्थका अभिप्राय तो एक ही चीजकी कल्पना अङ्ग और अङ्गी दोनों रूपोंमें करना है। इसलिये इस रास्तेको भी किसी तरह ठीक मान लेना चाहिये।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये पाँचों इस समाधिके बहिरङ्ग संयम हैं और धारणा, ध्यान, समाधि, ये तीनों अन्तरङ्ग संयम हैं। प्रणव, जप, तदर्थभावन और ईश्वर-प्रणिधानादि उपोद्घलक हैं। विभूतियाँ आनुषङ्गिक फल हैं। द्रष्टाके स्वरूपका ज्ञान तथा स्वरूपावस्थिति, ये दोनों मुख्य फल हैं।

यहाँपर यदि कोई यह कहे कि योगाभ्याससे पारलौकिक फलकी सिद्धि होनेपर भी जो प्राणी इस प्रत्यक्ष षाट्कौषिक शरीरके उपभोगके लिये नये-नये, बढ़िया-बढ़िया सुस्वादु पदार्थ चाहनेवाले हैं, उनकी प्रवृत्ति योगाभ्यासमें नहीं होगी तो यह ठीक नहीं। क्योंकि योगसिद्ध व्यक्तिके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इस बातको याज्ञवल्क्यने भी कहा है; यथा—अन्तर्धान (छिप जाना), स्मृति, कान्ति, दृष्टि, शब्दज्ञान, अपना शरीर छोड़कर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाना और अपने इच्छानुकूल चीजोंको बना लेना—ये सब योगसिद्धिके लक्षण हैं। योगी योगके सिद्ध हो जानेपर शरीर छोड़कर मोक्षको पाता है।

योगसम्बन्धी प्रायः सब बातोंको मैंने संक्षेपमें पूरा कर दिया। प्रत्येक विषयको विस्तारसहित जाननेके लिये शिष्टोंद्वारा रचित तत्तद्ग्रन्थोंको देखना अथवा किसी योगसिद्ध महात्मासे समझ लेना चाहिये। इससे अधिक कुछ कहनेका सामर्थ्य मुझ-जैसे विषयादिसे ग्रस्त प्राणीमें नहीं है। ब्रह्मासे स्वीकृत इस योगको पतञ्जलि मुनिने सूत्रद्वारा, व्यासजीने भाष्यद्वारा, वाचस्पतिमिश्रने तत्त्ववैशारदी (टीका)-द्वारा, विज्ञानभिक्षुने वार्तिकद्वारा और भोजराज, भावगणेश, नागोजी भट्ट, रामानन्द, सदाशिव तथा इन्द्र सरस्वती इत्यादि दार्शनिकशिरोमणियोंने अपनी-अपनी

वृत्तियोंद्वारा विस्तृत किया—यह बात किसी विद्वान्से छिपी नहीं है। इसी योगमें सिद्धि पानेवाले सिद्ध पुरुष कहलाते हैं, न कि चाहे जो वेषधारी सिद्ध कहा जाता है। इसी योगके प्रतापसे योगी सिद्धोंने इस लोकमें विलक्षण-विलक्षण कार्योंको किया। यह बात प्रसिद्ध ही है कि वर्षोपाध्यायके शिष्य व्याडि, इन्द्रदत्त तथा वररुचि गुरु-दक्षिणार्थ द्रव्यकी इच्छासे नन्दकराजके शरीरमें घुस गये एवं रति-विज्ञान जाननेके अभिलाषी श्रीशङ्कराचार्य अमरक राजाके शरीरमें घुस गये। इस युगमें योगके एक बाह्य अङ्गके साधनद्वारा आधुनिक राममूर्तिने भी अपनी छातीपर हाथी चढ़ा लिया, तेजीसे चलायी हुई मोटरको हाथसे पकड़कर रोक लिया, बड़ी मजबूत लोहेकी जंजीरको गलेमें डालकर फूलकी मालाकी तरह दो-एक झटकेमें तोड़ डाला। आज भारतवर्ष इस योगाभ्याससे शून्य होकर विषरहित सर्प, नख-रदविहीन केसरी, शापशक्तिसे शून्य ब्राह्मण, कोषरहित राजा, निर्धन वैश्य तथा राखकी ढेरकी तरह दीन-हीन, मृतवत् हो रहा है और पग-पगपर अपमानित हो रहा है। जब हम इस बातका विचार करते हैं तब नेत्र जल भर आते हैं, शरीरके बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, हृदय विदीर्ण हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, चित्त चिन्तासागरमें गोते खाने लगता है। कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करें कहाँ जायँ, किसका आश्रय लें, कौन हमें पुनः नवजीवन प्रदान करेगा! भक्तवत्सल, दयालु भगवन्! अमित दिनोंसे परिचित इस भारतको सहसा छोड़ देना आपके लिये उचित नहीं। किसी तरह साँसभर लेनेवाले, मृतप्राय इस भारतको पुनः जिलानेवाला चौदहों लोकोंमें आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है। आप ही इसे शरण देनेवाले हैं। इसलिये यह आपको ही देखनेकी इच्छा रखता है, आपकी ही पूजा करता है और आपको ही स्मरण करता है और आपकी ही आशापर कण्ठगत प्राणोंको इसने किसी तरह बचा रखा है। क्योंकि आपने यह प्रतिज्ञा की है कि 'मैं सज्जनोंकी रक्षाके लिये, दुष्टोंके नाशके लिये तथा धर्म-संस्थापनके लिये प्रत्येक युगमें आता हूँ।'

योगशिक्षाका महत्त्व

(लेखक—डा० श्री आर० शामशास्त्री, बी० ए०, पी-एच्० डी०)

योग एक मानसशास्त्र है जिसमें मनको संयत करना और पाशविक वृत्तियोंसे खींचना सिखाया जाता है। जीवनकी सफलता, किसी भी क्षेत्रमें संयत मनपर ही निर्भर करती है। मनःसंयमका अभिप्राय है किसी एक समयमें किसी एक ही वस्तुपर चित्तका एकाग्र होना। दीर्घकालतक अभ्यास करनेसे मनका ऐसा स्वभाव बन जाता है। किसी विषयको सोचते या किसी कामको करते हुए मन उसपर एकाग्र रहे, ऐसा अभ्यास करना आरम्भमें तो बड़ा कठिन होता है; पर जब अभ्यास करते-करते वैसा स्वभाव बन जाता है तब उससे बड़ा सुख होता है।

ठीक-ठीक और सुसंगत रीतिसे न सोच सकना या अच्छे ढंगसे कोई काम न कर सकना, विचार और काममें मनकी चञ्चलतासे ही होता है। विद्यार्थी जानते हैं कि मन स्थिर न हो तो कोई बात सीखी नहीं जा सकती, और मजदूर जानते हैं कि अस्थिर मनसे कोई काम नहीं हो सकता। बहुत-से विद्यार्थी जो प्रतिवर्ष विश्वविद्यालयकी परीक्षाओंमें फेल हुआ करते हैं, इसका कारण यही है कि अध्ययनमें मनको एकाग्र करनेकी शक्ति ही उनमें नहीं होती। यही बात सांसारिक विषयोंमें होनेवाली विफलताओंकी है। जबतक मनुष्य अपने विचारणीय विषय या करणीय कार्यमें तन्मय नहीं होता तबतक उसे उसमें सफलता मिल ही नहीं सकती।

मनके इस विशिष्ट धर्मसे योगशास्त्रके प्रणेताने धार्मिक क्षेत्रमें भी काम लिया है। योग स्वयं कोई

धर्मसम्प्रदाय या धर्मविषयक तत्त्वज्ञान नहीं है, प्रत्युत यह संसारके सभी धर्मों और तत्त्वज्ञानोंका सहायक है। इसे किसी धार्मिक सिद्धान्तका प्रचार नहीं करना है। संसारके सभी धर्मवालोंको इसके द्वारा यह शिक्षा मिलती है कि किस प्रकार अपनी-अपनी धर्मविषयक बातोंमें मनको एकाग्र करनेसे शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है।

पातञ्जलयोगसूत्रोंमें जिस विषयका मुख्यतया प्रतिपादन किया गया है वह है 'चित्तवृत्तिनिरोध' अर्थात् अन्य विषयोंसे चित्तको खींचकर एक ही विषयमें एकाग्र करना। मनको एकाग्र करनेकी शक्ति निरन्तर अभ्यास और सांसारिक भोगोंसे मुँह मोड़नेसे प्राप्त होती है। सूत्र २३ और ३९ में पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि ईश्वर-प्रणिधानसे अथवा जिस विषयमें अपनी रुचि हो उसीपर ध्यान जमानेसे ('**यथाभिमतध्यानाद्वा**'), चित्तको स्थिर करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। ईश्वरका इस रूपमें ध्यान किया जा सकता है कि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी सगुण परमेश्वर हैं अथवा इस रूपमें भी ध्यान किया जा सकता है कि वह निर्गुण-निरञ्जन परब्रह्म हैं जिनमें प्रेम, द्वेष, दया, सृष्टि, स्थिति, संहार आदि कोई गुण नहीं हैं। योगदर्शन ईश्वरके विषयमें इतना ही कहता है कि वह कोई ऐसे 'पुरुष हैं जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशयसे नित्यमुक्त हैं' (यो० सू० १। २४)। ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिये कोई यज्ञ-याग या तप-अनुष्ठान योगसूत्रोंमें नहीं बताया गया है। यदि कोई धर्मसम्प्रदाय अपने अनुयायियोंको ऐसी कोई बात बतलाता है तो योगसूत्रोंमें उसका कोई विरोध भी नहीं है; पर योगसूत्र यह अवश्य कहते हैं कि तुम जो कुछ करो उसे सच्चे हृदयसे और तन्मय होकर करो। मेरे विचारमें योगसूत्र तथा अद्वैतप्रतिपादक उपनिषद् ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें कोई साम्प्रदायिकपन नहीं है। इसलिये कोई ईसाई हो, मुसलमान हो, जैन हो, बौद्ध हो या किसी भी मतका माननेवाला हो, इसकी कोई परवा नहीं; यदि वह अपने धर्मका पालन करनेमें यदि योगसूत्रोंकी शिक्षासे काम लेता है तो इसमें उसका बड़ा लाभ है। यही नहीं, बल्कि योगशिक्षासे अर्थकरी विद्याके अध्ययनमें, कृषि और उद्योगधन्धोंमें, सामरिक शिक्षामें, युद्ध, व्यापार और राज्यशासनमें भी काम लिया जाय तो इन क्षेत्रोंमें भी सफलता निश्चित है। यही तो बात है जिससे रोग मनको हर लेता है।

इसमें सन्देह नहीं कि योगसूत्रोंमें जो लक्ष्य सामने रखा गया है वह द्रष्टाका अर्थात् आत्माका अपने स्वरूपमें अवस्थान है। इसका यह मतलब है कि योगसूत्रोंके सिद्धान्तोंका निरन्तर आचरण करनेसे चित्त सांसारिक भोगोंसे विरत होकर निज स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। चित्तवृत्तियोंका यह निरोध किसी भी धर्मसम्प्रदायकी शिक्षाके प्रतिकूल नहीं है। ऐसा स्वरूपावस्थान सांख्य और अद्वैतसिद्धान्तका तो प्रतिपाद्य ही है। सगुण ईश्वरको माननेवाले सम्प्रदायोंमें भी कोई-न-कोई महान् लक्ष्य सामने रहता है ही।

'स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ मन रहता है,' यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकारोंके प्रयासोंकी सफलताके लिये स्वस्थ शरीर इसीलिये आवश्यक है। योगशिक्षामें आहार-बिहारके नियमोंका पालन अत्यन्त आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट ही कहा है कि जो 'युक्ताहारविहार' नहीं हैं उन्हें जीवनमें कोई सफलता नहीं मिल सकती।

योगसूत्रोंके दो भाग हैं—हठयोग और राजयोग। हठयोगमें आसनोंकी शिक्षा है—आसनोंसे आरोग्य और बल प्राप्त होता है। आसनोंकी रचना ऐसी है कि जिससे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गका व्यायाम हो जाय। उदाहरणार्थ, मयूरासनसे सब अँतड़ियोंका व्यायाम हो जाता है, जिससे अपच तथा वायुकी शिकायत नहीं रहती; प्राणायामसे प्राणवायु मिलती है और अशुद्ध वायु निकल जाती है। भगवद्गीताके समान ही हठयोगमें भी मिर्चा, मसाला आदिकी मनाही है। राजस और तामस आहारका सर्वथा त्याग है। मसालेदार पदार्थ खानेवाला राजस मनुष्य उस आहारके कारण क्रोधी, लालची और कामी होता है और तामस आहार करनेवाला मनुष्य आलसी, दीर्घसूत्री और प्रमादी होता है। हठयोगमें जिसे सात्त्विक आहार कहा है उससे सद्गुणोंकी वृद्धि होती है और आरोग्य तथा बल बढ़ता है।

यह कोई न समझे कि योगकी यह शिक्षा योगियोंके लिये ही है, सबके लिये नहीं। 'योगी' शब्दसे अत्यन्त व्यापक अर्थ लिया जाय तो जो कोई संसारमें सदाचारसे रहकर जीवनको सफल करना चाहता है वही योगी है। सभी धर्म यह बतलाते हैं कि सदाचार ही स्वर्गका सुगम मार्ग है। योगमें सदाचारका अर्थ केवल सामाजिक शिष्टाचार नहीं है, बल्कि आहार-विहारका नियम भी है।

आधुनिक सभ्यताकी सब बुराइयोंकी जड़ आहार-विहारके विषयमें किसी मर्यादाका न होना, विषयभोग और अधार्मिकता ही है। सच्चे सदाचारी मनुष्यको संसारके किसी-न-किसी धर्मको मानकर चलनेमें कोई दिक्कत नहीं होती। सदाचार धर्मकी रक्षा करता है और धर्म सदाचारकी। सदाचार और धर्म सदा साथ रहते हैं। विज्ञान भी धर्म या सदाचारका विरोधी नहीं है। यौगिक जीवनका अर्थ, संक्षेपमें, 'शरीरका युक्त व्यायाम, सादा सात्त्विक आहार और सद्विद्याका अध्ययन' है। कोई भी वैज्ञानिक क्या इस प्रकारके जीवनको बुरा बता सकता है?

पौष्टिक आहारके नामपर असंख्य रासायनिक पदार्थ बाजारोंमें बिका करते हैं। शारीरिक व्यायामके नामपर तरह-तरहके खेल स्कूलोंमें खेलाये जाते और कसरतें करायी जाती हैं। पर ऐसे कोई भी कसरती जवान योगीके-से दीर्घायु नहीं होते। योगी कसरतीकी तरह न तो हजार डंड-बैठक लगाता है, न बहुत खाता ही है। शरीर या बुद्धिको बेहिसाब बढ़ाना उसका काम नहीं है। उसे न स्नायुओंको फुलानेकी परवा है, न वजन बढ़ानेवाले खाद्योंकी ही। उसे तो नियमित सात्त्विक आहार चाहिये। योगीका युक्त आहार-विहार ऐसा होता है कि उसका चित्त प्रसन्न, बुद्धि स्थिर और गठा हुआ सुडौल शरीर होता है।

प्रसन्नचित्त और सदाचारी पुरुषको स्वर्गका सुगम, प्रशस्त और समीपका मार्ग मिल जाता है। वह सबका मित्र होता है। वह न किसीका द्वेष करता है, न कोई उससे द्वेष करता है। उसका चेहरा सदा हँसता हुआ होता है। क्रोध या लोभ उसके पास फटकने नहीं पाते। धर्मवीरता और नैतिक धीरतामें वह किसीके पीछे नहीं रहता। यौगिक जीवनके अनुकूल कोई भी काम करनेके लिये उसके सामने संसारका मैदान खाली है। वह कला या विज्ञान सीखकर दूसरोंको सिखा सकता है। वह धन एकत्र कर गरीबोंकी मदद कर सकता है। वह दूसरोंके कल्याणके लिये राजनैतिक नेता या शासक बन सकता है। उसकी जीवनपद्धति ऐसी है कि वह दीर्घायु होता है। उसकी मृत्यु भी बड़ी शान्तिके साथ होती है, क्योंकि परलोक वह अपने सामने देखता है। उसका अपना जीवन ही उसके परलोकके दिव्य स्थानका पर्याप्त मूल्य है।

योगसूत्रोंमें यौगिक जीवनका यह फल है। यह साम्प्रदायिक नहीं है। न इसमें अन्धविश्वासकी कोई बात है। यह सबका उपकारक प्रत्यक्ष योग है।

सन्त-महिमा

सोई दिन लेखे जा दिन संत मिलाप। टेक।
संतके चरन-कमलकी महिमा, मोरे बूते बरनि न जाहि॥ १॥
जल-तरंग जलहीतें उपजे, फिर जलमाहिं समाइ॥ २॥
हरिमें साध साधमें हरि हैं, साधसे अन्तर नाहिं॥ ३॥
ब्रह्मा बिस्नु महेस साध सँग, पाछे लागे जाहिं॥ ४॥
दास गुलाल साधकी संगति, नीच परम पद पाहिं॥ ५॥

—गुलाल साहब

कर्मयोग

(रचयिता—कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरि औध')

(१)

नयन मनुजके सदा सफलता-मुख अवलोकें।
दोनों कर बन परम सुरतरु-फल लोकें॥
उसकी बहती मिले मरु-अवनिमें रसधारा।
वह पाता ही रहे अमर पुरका सुख सारा॥
कैसे? किस साधनके किये? तो उत्तर होगा यही।
सब दिनों कर्मरत जो रहा सिद्धि पा सका है वही॥

(२)

उषा-रागको लसित कर्म-अनुराग बनाता।
कर्म-सूत्रमें बँधा दिवाकर है दिखलाता॥
रजनी-रंजन कर्म-कान्त बन है छवि पाता।
अवनीतलपर सरस सुधा-रस है बरसाता॥
है करती रहती विश्वको विदित कर्मकी माधुरी।
हो तारकावलीसे कलित प्रतिदिन रजनी सुन्दरी॥

(३)

परम पविहृदय मेरु प्रवाहित निर्झर द्वारा।
प्रस्तर-संकुल अवनि-मध्यगत सरिता-धारा॥
फलसे बिलसे बिटप रंग लातीं लतिकाएँ।
सौरभ भरे प्रसून बनती कलिकाएँ॥
देती हैं भवको कर्मकी अनुपमताकी सूचना।
है कर्म परम पावन सरस सुन्दर भावोंसे सना॥

(४)

कैसे मिलते रत्न उदधि-मंथन क्यों होता।
कैसे कार्य-कलाप बीज फल-कृतिके बोता॥
कैसे जड़ता मध्य जीवनीधारा बहती।
कैसे बांछित-सिद्धि साधना-करमें रहती।
कैसे हो वारिद-वृन्द वर वारि बरस पाते कहीं।
जो कर्म न होता तो रसा सरसा हो पाती नहीं॥

(५)

गृहका त्याग न त्यागका कर्मका है कहलाता।
बुरे भावका त्याग त्याग है माना जाता॥
किसी कालमें कर्मत्याग तब होगा कैसे।
बने रहेंगे जब दृगादि जैसे के तैसे॥
तबतक थीं बातें त्यागकी जबतक मल धोती नहीं।
भव-कर्मरता सब इन्द्रियाँ कर्मरहित होती नहीं॥

(६)

कर्महीनता मरण कर्म-कौशल है जीवन।
सौरभरहित सुमन समान है कर्महीन जन॥
तिमिर-भरति अपुनीत इन्द्रियोंका वर रवि है।
कर्म परम पाषाणभूत मानसका पवि है॥
है कर्म-त्यागकी रगोंमें परिपूरित निर्जीवता।
है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता।
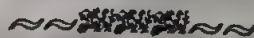
गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) २३३४७२१, फैक्स : २३३६९९७

Code 0616